स्व. आचार्य प्रवर गुरुदेव श्री सोहनलाल जी म.सा.
की पुण्य स्मृति में :-

सूत्रकृताङ्ग सूत्र

शीलांकाचार्य कृत संस्कृत टीकानुवाद सहित



प्रधान सम्पादक
शासन गौरव आचार्य प्रवर श्री सुदर्शन लाल जी म.सा.

प्रधान सम्पादक

शासनगौरव, युवामनीषी,
आचार्य प्रवर श्री सुदर्शनलाल जी म. सा.

✪ पौष बुदी १० वि. सं. २०२९ का प्रभात रवि-रश्मियों के प्रथम अवतरण के समान श्रद्धेय उत्सवराजजी चौधरी एवं श्रीमती भँवरी बाई जी चौधरी के आत्मज श्री पारसमलजी के जन्म ने अध्यात्म के धरातल को धन्य कर दिया ।

✪ बाल्यकाल में बुद्धि से मेधावी, मन से वीतरागी, स्वभाव से मिलनसार, हृदय से निश्छल-निर्मल एवं व्यवहार से ऋजु-मृदु श्री पारसमलजी त्याग-तप-ज्ञान-साधना पथ के महापथिक बन वि. सं. २०४४ माघसुदी १० को बिजयनगर में आर्हती दीक्षा अंगीकार कर आचार्य प्रवर श्रद्धेय सोहनलालजी म. सा. के प्रिय सुशिष्य 'मुनि सुदर्शन' बन गए ।

✪ ध्यान-साधना के पावन प्रतीक, पवित्र-चरित्र के प्रेरणा स्रोत, समरस के प्रशान्त सागर सर्वोदय-तीर्थ के संदेशवाहक, शासनगौरव श्री सुदर्शन मुनिजी ने अहिंसादि पंचशील के अभिभावक व परमार्थ-धर्म के सफल उपदेशक बन विपुल ख्याति अर्जित की ।

✪ हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं एवं व्याकरण, न्याय, दर्शन, आगम, साहित्यशास्त्र आदि का गहन अध्ययन कर अमूर्त विषयों के कुशल विवेचक का विरुद प्राप्त किया। सेवा-संगठन-साधना के सूत्रधार बन जन-जन की आस्था के केन्द्र बने। युवाओं को सामायिक-स्वाध्याय से संपृक्तकर युवावर्ग की श्रद्धा समर्जित की । आगमिक टीकाओं के गहन अध्ययन से अपने ज्ञान-फलक को विस्तार दिया ।

✪ वि. सं. २०५५ की माघ बुदी ६ से आचार्यपद का गुरुतर दायित्व वहन करते हुए 'शासनगौरव', 'युवामनीषी' के विरुद को सार्थक किया । युवाओं, प्रौढ़ों व वयोवृद्धों के मध्य सेतु बन सद्व्यवहार, सद्विचार-सदाचार के अक्षय कोष के रूप में सम्माननीय - स्मरणीय बन गए ।

✪ ✪ ✪

स्व. आचार्य प्रवर गुरुदेव श्री सोहनलाल जी म.सा. की पुण्य स्मृति में

सूत्रकृतांगसूत्र

[प्रथम श्रुत स्कन्ध]

शीलांकाचार्य कृत संस्कृत टीकानुवाद सहित

प्रधान सम्पादक

शासन गौरव आचार्य प्रवर श्री सुदर्शनलाल जी म.सा.

-: टीकानुवादक एवं सम्पादक :-

श्रद्धेय श्री प्रियदर्शन मुनिजी म. सा. – डॉ. छगनलालजी शास्त्री

❑ **आगम**
सूत्रकृताङ्ग सूत्र (प्रथम श्रुतस्कंध)
शीलंकाचार्य कृत टीका हिन्दी अनुवादयुक्त

❑ **निदेशक**
ओजस्वी वक्ता श्रद्धेय प्रियदर्शन मुनिजी म.सा.

❑ **सम्प्रेरिका**
संघ ज्योति साध्वीप्रमुखा श्रद्धेया जयवंतकंवर जी म.सा.
परमविदुषी, श्रद्धेया कमलप्रभा जी म.सा.
साध्वीरत्नत्रयी डॉ. ज्ञानलता जी म.सा.

❑ **परामर्श मण्डल**
शासनगौरव, युवामनीषी, आचार्यप्रवर श्री सुदर्शनलाल जी म.सा.
डॉ. छगनलाल जी शास्त्री
श्री रतनलाल गोखरु

❑ **प्रकाशक**
श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन स्वाध्यायी संघ, गुलाबपुरा
अखिल भारतीय श्री प्राज्ञ जैन युवामण्डल, बिजयनगर

❑ **प्रकाशन वर्ष**
२४ जनवरी, १९९९
माघ शुक्ला ७, संवत् २०५५

❑ **प्रथमावृत्ति** – ११०० प्रतियां

❑ **मूल्य** – २५०/-

❑ मुद्रक एवं कम्प्यूटर सैटिंग
निओ ब्लॉक एण्ड प्रिन्ट्स
पुरानी मण्डी, अजमेर ✆ : 422291

समर्पण

हे धर्मज्योति, हे क्रान्तिदूत,
आचार्यप्रवर तुमको वन्दन ।
हे आशुकवि, यहाँ सरलहृदय–
बन, किया दया का नव गुंजन ॥

पाकर पाद–पद्मों का स्पर्श,
अन्तर को नूतन भाव मिले ।
मैं क्लान्त हृदय चलकर आया,
उसी महा–विटप की छाँव तले ॥

सोऽहम् भाव को जाग्रतकर,
जग–पीड़ा का किया हनन ।
यह कृति समर्पण तुम्हें देव,
मन–मस्तक करता पुनः नमन ॥

जो कलम आपने दी मुझको,
यह उसका, स्वामी ! प्रतिफल है ।
जो भागीरथी बहाई तुमने,
यह रचना उसका कलकल है ॥

– आचार्य सुदर्शन मुनि

प्रकाशकीय

भारतवर्ष सदा से धर्मप्रधान देश रहा है । यहाँ श्रमण एवं ब्राह्मण परम्परा की प्रधानता रही । ब्राह्मण परम्परा वेदानुगामी थी - वेद उसका प्रमुख धर्मशास्त्र था जबकि श्रमण परम्परान्तर्गत बौद्धों के धर्मशास्त्र 'पिटक' एवं जैनों के धर्मशास्त्र 'आगम' कहलाते थे ।

वर्तमान में उपलब्ध आगमों में से ग्यारह अंग शास्त्र भगवान महावीर द्वारा उपदिष्ट एवं उनके प्रधान शिष्यों - गणधरों द्वारा संग्रथित हैं । प्रभु महावीर का विचरण-क्षेत्र मुख्यतः मगध देश (वर्तमान में बिहार राज्य) रहा अतः वहाँ प्रयुक्त होने वाली अर्धमागधी भाषा में इन आगमों का संग्रथन होना स्वाभाविक था । महावीर के काफी समय बाद तक यह आगम - ज्ञान श्रुत-परम्परा से सुरक्षित रहा किन्तु शनैः शनैः स्मृति-दौर्बल्य के कारण उसमें भूल पड़ने लगी अतः देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के समय समस्त आगम-साहित्य को पुस्तकारुढ किया गया ।

आगमों में वर्णित समस्त सिद्धान्तों व उपदेशों की स्पष्टता व विशद व्याख्या के लिए परवर्ती आचार्यों द्वारा चूर्णि, भाष्य एवं टीकाएं लिखी गई । टीका-साहित्य संस्कृत भाषा में था जो अपनी व्याकरणिक जटिलता के कारण कालान्तर में सामान्य जनता के लिए अग्राह्य हो गई - उसका पठन-पाठन अल्प से अल्पतर होता गया । इसका परिणाम हुआ कि अनेक साधु-साध्वी एवं श्रावक-श्राविका आगमिक तत्वज्ञान की जिज्ञासा पूर्ति में असमर्थ रहने लगे । संस्कृत व प्राकृत के ज्ञान की न्यूनता के कारण उन्हें आगमों का मर्म समझने में कठिनाई होने लगी ।

प्रवचन-प्रभाकर श्रद्धेय वल्लभमुनि जी म.सा. ने अपने अन्तेवासी लघु मुनियों व आज्ञानुवर्तिनी साध्वियों को अध्ययन कराते समय इसकी विशेष कमी महसूस की । उनके मन में एक भावना जगी कि क्यों न इन संस्कृत टीकाओं का राष्ट्रभाषा हिन्दी में अनुवाद कराया जाय जो सर्वजन भोग्य बन सके । उस समय उनके विचार-जगत् में एक हलचल रही । लक्ष्यपूर्ति के लिए उन्होंने टीकाओं का संकलन भी कराया किन्तु असमय में ही उनके कालधर्म को प्राप्त हो जाने से, यह विचार, उनके जीवनकाल में मूर्तरूप नहीं ले सका ।

तत्पश्चात् आचार्यप्रवर श्रद्धेय सुदर्शनलाल जी म.सा. एवं ओजस्वी वक्ता श्रद्धेय प्रियदर्शनमुनि जी म.सा. ने भी लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् श्रीमान् डॉ. छगनलाल जी सा. शास्त्री से अध्ययन करते समय यही कमी महसूस की एवं इन टीकाओं का हिन्दी में अनुवाद कराने का अपना विचार स्वाध्याय-शिरोमणि, श्रद्धेय आचार्यप्रवर श्री सोहनलाल जी म.सा. की सेवा में प्रस्तुत किया । श्रद्धेय आचार्य प्रवर ने भी इस कार्य की उपादेयता मानते हुए ग्यारह अङ्गशास्त्रों की शीलंकाचार्य एवं अभयदेव सूरि रचित टीकाओं का अनुवाद प्रकाशित कराने की स्वीकृति प्रदान की ।

श्रद्धेय आचार्यप्रवर श्री सोहनलाल जी म.सा. के शुभाशीर्वाद एवं वर्तमान आचार्यश्री सुदर्शनलाल जी म.सा. व ओजस्वी वक्ता श्रद्धेय प्रियदर्शन मुनि जी म.सा. के परिश्रम का ही यह सुफल है कि तत्काल योजनानुसार कार्य प्रारंभ किया गया एवं विद्वद्वरेण्य श्रद्धेय डॉ. छगनलाल जी सा. शास्त्री के परामर्श व मार्गदर्शनानुसार सूत्रकृताङ्ग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कंध की शीलंकाचार्यकृत टीका का अनुवाद प्रकाश में आया । आगम के पाठकों को इसे समर्पित करते हुए आज हमें अपार हर्ष है ।

प्रस्तुत टीकानुवाद की पांडुलिपि तैयार करने में सुहृदवर श्रीमान् अमोलकचन्द जी सा. हींगड़, अजमेर एवं श्रीमान् महेन्द्रकुमार जी सा. खाबिया, पीसांगन वालों ने समर्पित भाव से परिश्रम किया है। श्रीमान् अमोलकचंद जी सा. ने तो इसका प्रूफ-संशोधन भी किया है । आपके स्नेहपूर्ण सहयोग के लिए हार्दिक आभार प्रकट करते हैं ।

आचार्यप्रवर के अजमेर चातुर्मास में ही यह अनुवाद तैयार हो चुका था एवं आचार्य-पद-चादर-समर्पण समारोह के अवसर पर दिनाङ्क २४ जनवरी, ९९ को इसे लोकार्पित करने का निश्चय किया जा चुका था । इस अल्प अवधि में इसका मुद्रण कार्य संपन्न कर इसे सर्व-जन के लिए उपलब्ध कराने में निओ ब्लॉक एण्ड प्रिण्ट्स के अध्यक्ष श्री जितेन्द्र जी पाटनी 'पिन्टू जी' ने अथक परिश्रम किया है अतः उनके प्रति भी हार्दिक आभार प्रकट करते हैं ।

चातुर्मास काल में पाण्डुलिपि को पुनः पुनः पढ़कर ग्रन्थ की शोभावृद्धि के लिए एवं पाठकों के लिए उपयोगी बनाने की दृष्टि से श्रीमान् विनयकुमार जी बरमेचा, निहालचंद जी सा. चौधरी, रूपचन्द जी सा. बोहरा प्रभृति युवा साथियों ने अपने अमूल्य सुझाव दिए है जिससे इसकी उपादेयता व बहिर्सज्जा अधिक बढ़ गई है अतः उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना मैं अपना कर्त्तव्य मानता हूँ । श्री अ. भा. प्राज्ञ जैन युवा मण्डल के अध्यक्ष श्रीमान् प्रकाशचंद जी सा. जामड़ एवं मंत्री श्रीमान् ज्ञानचंद जी सा. बाफणा व उनके युवा साथियों ने समय-समय पर हमें उत्साहित कर व आवश्यक सहयोग प्रदान कर इसका प्रकाशन संभव बनाया है अतः वे भी धन्यवादार्ह हैं ।

माननीय विद्वद्वरेण्य डॉ. छगनलाल जी सा. शास्त्री का आभार किन शब्दों में व्यक्त करुँ । आप हमारे आत्मीय हैं, इस वृहत् परिवार के एक सृजनशील-चिन्तक के रूप में हमारे मार्गदर्शक हैं । उनकी बहुज्ञता, इस अनुवाद कार्य की संपन्नता में सदैव प्रेरक रही है । स्वास्थ्य की पूर्ण अनुकूलता नहीं होते हुए भी आपका जो पथ-प्रदर्शन मिला उसके प्रति शतशः नमनपूर्वक हार्दिक श्रद्धाभिव्यक्ति करते हुए आभार प्रकट करता हूँ ।

हमारे, अपने आत्मीय, परम गुरुभक्त, श्रद्धा एवं सेवा की साकार प्रतिमा श्रीमान् नितिनकुमारजी कावड़िया (सादड़ी वाले) दिल्ली, श्रीमान् इन्दरचंद जी सा. हरकावत जयपुर, श्रीमान् बुधराज जी सा. लूणावत, बिजयनगर, श्रीमान् जबरचंद जी सा. चोरडिया, मेड़तासिटी, श्रीमान् रोशनलाल जी सा. खटोड़ सेरेरी एवं श्रीमान् ज्ञानचंद जी सा. सिंघवी बिजयनगर वालों का भी हृदय से आभार मानता हूँ जिन्होंने अपने द्रव्य का सद्व्ययकर प्रस्तुत टीकानुवाद को प्रकाश में लाकर अपूर्व श्रुतभक्ति का परिचय दिया है । उनकी जिनवाणी-अनुरक्तता एवं आस्था हमारे लिए अनुकरणीय हैं । उनकी सेवा, स्वाध्याय एवं वात्सल्यभाव के प्रति नमन !

प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से जिन्होंने भी इसके प्रकाशन में अपनी शुभकामनाएं समर्पितकर हमारा उत्साहवर्द्धन किया, उन सभी के प्रति अनेकानेक साधुवादपूर्वक कृतज्ञता-ज्ञापन । इत्यलम् ।

नेमीचन्द खाबिया
मंत्री
श्री श्वे. स्था. जैन स्वाध्यायी संघ,
गुलाबपुरा

गुलाबपुरा
दि. २४.१.९९

सम्पादकीय उद्गार

शासन गौरव, आचार्यप्रवर श्री सुदर्शनलाल जी म.सा.

विश्व के धार्मिक किंवा आध्यात्मिक वाङ्मय में अर्धमागधी जैनागमों का अनेक दृष्टियों से असाधारण महत्त्व है । यह वह अत्यन्त प्राचीन साहित्य है जिसमें मानव की उर्ध्वमुखी चेतना की जीवन्त विकास-यात्रा का लेखा-जोखा है । भौतिक सम्पदा, वैभव और विलासिता में सच्ची शान्ति का अनुभव न कर उस परमशांति के प्रयास और उपलब्धि की वह गाथा इनमें है, जिससे परिश्रान्त मानव को अपने आपका व परमात्मा का साक्षात्कार हुआ, अनुपम निर्वेद और प्रशान्त भाव का अनुभव हुआ ।

ऐहिक और पारलौकिक जीवन का विशद लेखा-जोखा इनमें है । पारलौकिक दृष्टि से जहाँ व्रत, संयम, सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, सन्तोष आदि पवित्र भावों का चित्रण है वहीं सहस्रों वर्षों के जन-जीवन का विस्तृत इतिवृत्त भी इनमें है, अध्यात्म और लोक - इन दोनों ही दृष्टियों से इनमें विपुल अध्येय सामग्री है । यह महनीयता और उपयोगिता ही वह कारण है जिससे भगवान् महावीर के उत्तरवर्ती अनेक आचार्यों और मनीषी संतों ने निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका आदि की दृष्टि से आगमों पर विपुल परिमाण में विवेचन, विश्लेषण एवं व्याख्यामूलक साहित्य का प्रणयन किया । आगमों में संसूचित, संकेतित सिद्धान्तों के बहुमुखी विश्लेषण और विशदीकरण की दृष्टि से आगमों पर रची गई संस्कृत टीकाओं का अत्यन्त महत्त्व है ।

यह बड़े हर्ष का विषय है कि अध्ययन के क्षेत्र में आज व्यापकता का संचार हुआ है । कुछ समय पूर्व अपने स्वीकृत धर्म के अतिरिक्त इतर धर्मों के साहित्य के अध्ययन में लोग अरुचि रखते थे । आज वैसा नहीं है । लोगों में अन्य दर्शनों और धर्म सिद्धान्तों के अध्ययन में अभिरूचि उत्पन्न हुई है । अनेक विश्वविद्यालयों एवं विद्यापीठों में और जैन दर्शन, संस्कृति, धर्म, आगम इत्यादि विषयों पर अनुसंधित्सुवृन्द शोधकार्य में संलग्न है । अनेक विश्वविद्यालयों में जैन पीठ - Jain Chairs संस्थापित हैं । मद्रास विश्वविद्यालय, उदयपुर विश्वविद्यालय, मगध विश्वविद्यालय आदि विद्या-केन्द्रों में जैन-विद्या के विभाग चल रहे हैं, जहाँ विद्यार्थी-अनुसंधानार्थी अध्ययन एवं शोधकार्य में संलग्न हैं । यह अनुकूल समय है जब जैनदर्शन के अनेक सिद्धान्तों पर आश्रित विश्वजनीत विचारों को विद्वद्भोग्य एवं लोकभोग्य बनाया जा सकता है, अत: उच्च कोटि का जैन-साहित्य प्रकाश में आना चाहिए ।

वर्तमान समय में साहित्य का प्रकाशन तो बहुत हो रहा है, पर उसमें आगम एवं आगमों से संबंधित साहित्य अत्यल्प है । दर्शन एवं सिद्धान्त को समझने हेतु आगमिक साहित्य की अत्यधिक आवश्यकता है, किन्तु आगमिक रूचि कम होने से कथा, प्रवचन, भजनादि से परिपूर्ण सामान्य साहित्य ही अधिक दृष्टिगोचर होता है या यों कहा जाये कि आवश्यकता को गौण कर अनावश्यक को अधिक प्रोत्साहन दिया जा रहा है ।

आराध्यदेव श्रद्धेय आचार्यप्रवर पूज्य गुरुदेव श्री सोहनलाल जी म.सा. एवं प्रवचन प्रभाकर श्रद्धेय वल्लभमुनि जी म.सा. की यह हार्दिक अभिलाषा थी कि हमें आगमों के साथ आगमिक टीकाओं का

भी अध्ययन करवाया जाये । पूज्य गुरुदेव श्री ने, श्रद्धेय वल्लभमुनि जी म.सा. के स्वर्गवास के बाद विद्वज्जगत के मूर्धन्य मनीषी डॉ. छगनलाल जी शास्त्री के सम्मुख अपने भावोद्‌गार प्रकट किए । डॉ. शास्त्रीजी ने भी गुरुदेव के आत्मीय एवं भाव विह्वल उद्‌गार को सहज-स्वीकृत कर लिया और अध्यापन में समर्पित हो गए । सर्वप्रथम सूत्रकृताङ्ग सूत्र की शीलाङ्काचार्यकृत टीका का ही अध्ययन प्रारंभ किया गया । इस टीका में आगम का दार्शनिक दृष्टि से विश्लेषण है । टीकाकार ने प्राचीन निर्युक्ति व चूर्णि साहित्य का आधार लेते हुए नए-नए हेतुओं द्वारा आगम के गहन विषय को और अधिक स्पष्टता देते हुए, पुष्ट किया है । वस्तुतः सूत्रकृताङ्ग जैसे ,दार्शनिक आगम को समझने के लिए आचार्य शीलाङ्क की यह टीका अद्वितीय है ।

अध्ययन के दौरान मेरे मन में ऐसा विचारोद्‌भावन हुआ कि ग्यारह अङ्गों पर - जो जैन विद्या के मूल स्रोत है - विशेष कार्य किया जाये । इस सम्बन्ध में विद्वद्-मूर्धन्य, जैन आगम-दर्शन के गहन अध्येता श्रीयुत् डॉ. छगनलाल जी शास्त्री, का जो हमारे अध्यापन में निरत रहे हैं - आज भी है - के समक्ष यह चर्चा चली । उनको मेरा विचार बहुत ही उपयुक्त एवं लाभप्रदलगा । हमने, अपने सभी साधु-साध्वियों के साथ भी इस पर विचार-विमर्श किया ।

इस विचार-मंथन के परिणामस्वरूप सभी को ऐसा समीचीन प्रतीत हुआ कि शीलाङ्काचार्य कृत आचारांग तथा सूत्रकृताङ्ग सूत्र की टीकाओं का तथा अभयदेव सूरि कृत शेष नौ अङ्गों की टीकाओं का हिन्दी-अनुवाद प्रकाश में लाया जाय । हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा है, देश में अधिकतम लोग इसी भाषा में बोलते हैं एवं लिखते-पढ़ते हैं । उत्तर-भारत एवं मध्य-भारत में प्रायः सभी विश्वविद्यालयों में हिन्दी माध्यम से उच्चतम अध्ययन हो रहा है । हिन्दी भाषा में प्रकाशित साहित्य सबके उपयोग में आ सकता है ।

अतएव गत अक्षय तृतीया के पावन-प्रसङ्ग पर श्री भीमसिंह जी संचेती की सुपर सिन्कोटेक्स इण्डिया लि. मिल्स में स्वाध्याय शिरोमणि आशुकविरत्न, आगम वारिधि, परमाराध्य आचार्यप्रवर पूज्य गुरुदेव श्री सोहनलाल जी म.सा. की पुण्य स्मृति में इन टीकाओं के हिन्दी-अनुवाद को प्रकाश में लाने का निर्णय किया । यह महत्त्वपूर्ण कार्य विद्वज्जगत् को बहुत ही उपयोगी लगा, इससे हमें आत्मपरितोष मिला।

सं. २०५५ के अजमेर चातुर्मास में हमारी यह भावना रही कि अध्ययनार्थ श्रीयुत् डॉ. छगनलाल जी शास्त्री का हमें चारों माह योग प्राप्त हो । हमें यह व्यक्त करते हुए आध्यात्मिक उल्लास की अनुभूति होती है कि डॉ. शास्त्री जी ने अपने अन्यान्य कार्यक्रमों को छोड़कर चार ही माह का समय दिया। हमारा अध्ययन तो चला ही, साथ ही साथ डॉ. शास्त्रीजी एवं मुनि प्रियदर्शन जी ने सूत्रकृताङ्ग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कंध की शीलाङ्काचार्य कृत टीका के अनुवाद का कार्य हाथ में लिया । कार्य बहुत विस्तृत था, हम सोचते थे कि क्या यह कार्य चातुर्मासावधि में सम्पन्न हो सकेगा ? किन्तु परमाराध्य गुरुदेवश्री की कृपा से एवं मुनि प्रियदर्शन जी के अथक परिश्रम से यह कार्य बड़े ही समीचीन रूप से सम्पन्न हो गया ।

यह अनुवाद अध्ययन की झलक के रूप में प्रस्तुत है । अध्ययन स्वयं तक ही सीमित न रहे, अन्य आगम-पिपासुओं के लिए भी सहयोगी हो, इस हेतु अनुवाद हृदयंगम करने के साथ लिखित रूप में भी तैयार करने का प्रयास किया है । यह अनुवाद संघसेवा में सहयोगी श्री प्रियदर्शन मुनि जी एवं श्रुताराधना में सहयोगी डॉ. छगनलाल जी शास्त्री के परिश्रम का ही सुपरिणाम है । इस ओर परिश्रम कर आपने श्रुताराधना का अप्रतिम कार्य किया है, एतदर्थ उन्हें हार्दिक साधुवाद । एवं भविष्य में भी दोनों से यही आकांक्षा है कि अध्ययन-अध्यापनरूप श्रुताराधना में निरन्तर अग्रसर हों ।

मुझे ज्यों-ज्यों अवसर मिला, मैंने सम्पूर्ण अनुवाद को आद्योपान्त पढ़ा एवं आवश्यक निर्देश व टिप्पणियां भी दी । मुझे यह लिखते हुए अत्यन्त परितोष होता है कि अनुवाद आधुनिक प्रांजल हिन्दी में व परिनिष्ठित शैली में हुआ है । संस्कृत टीका के साथ पढ़ने वालों को तो इससे विशेष लाभ होगा ही, साथ ही अनुवाद ऐसी प्रवाहशील शैली में किया गया है कि हिन्दी में पढ़ने वाले भी टीकाकार द्वारा उद्घाटित आगमिक रहस्यों को आत्मसात् कर सकेंगे ।

प्रस्तुत ग्रंथ आध्यात्मिक जगत के जिज्ञासुओं के लिए एक संबल सिद्ध होगा । आत्मा की निर्वाणोन्मुखी महनीय यात्रा में यह अपूर्व पाथेय का काम देगा ।

❀ ❀ ❀





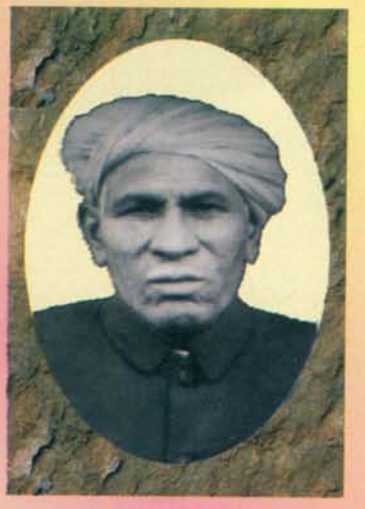
श्रीमान् जबरचंदजी सा. चोरड़िया
एवं ध.प. श्रीमती पिस्ताबाईजी चोरड़िया



श्रीमान् नितिनकुमारजी सा. कावड़िया
एवं ध.प. श्रीमती सज्जनबाईजी कावड़िया



श्रीमान् रोशनलालजी सा. खटोड़
एवं ध.प. श्रीमती चंचलबाईजी खटोड़



श्रीमान् मोहनलालजी सा. लूणावत



श्रीमान् गुलाबचंदजी सा. लूणावत



श्रीमती जेनीबाईजी सिंघवी

हमारे प्रकाशन सहयोगी

1. श्रीमान् जबरचंद जी सा. चोरड़िया, मेड़ता

भैरून्दा निवासी श्रीमान् जीवराज जी सा. चोरड़िया के पौत्र एवं श्रीमान् भंवरलाल जी सा. चोरड़िया के सुपुत्र श्रीमान् जबरचंद जी सा. चोरड़िया एक उदार, कर्मठ एवं धर्मनिष्ठ सुश्रावक हैं जिनका ख्यातनामा नानक वंश के प्रति सदा से समर्पण–भाव रहा है । व्यावसायिक जगत में अपनी प्रामाणिकता एवं कार्यकुशालता से एवं धार्मिक व सामाजिक जगत में अपनी त्याग–प्रधान उदार प्रवृति से स्पृहणीय लोकप्रियता प्राप्त की है। आपकी धर्मपत्नी श्रीमती पिस्ता कंवरबाईजी भी धर्मानुरागिणी महिला है।

आपके चारों सुपुत्र श्रीमान् ज्ञानचंदजी, सुजीतकुमारजी, गौतमचंदजी एवं पदमचंदजी भी आज्ञाकारी, धर्मशील व उत्साही युवा–शाक्तियाँ है। जो मेड़ता, अहमदाबाद व कोयम्बटूर में व्यवसायरत हैं। आपकी दो सुपुत्रियाँ–श्रीमति कमलेश जी सूरिया (भीलवाड़ा) एवं श्रीमती विमलेश जी ओस्तवाल (ब्यावर) भी संस्कारशील एवं श्रद्धासम्पन्न है तथा अपनी धार्मिक रूचि से समाज में अग्रणी स्थान बनाए हुए है।

2. श्रीमान् नितिन कुमार जी सा. कावड़िया, दिल्ली

उसी व्यक्ति का जीवन घन्य है, जिसके मन में स्नेह, सद्भावना, उदारता व तप–त्याग की सात्विक वृत्तियां विद्यमान हों।इस कसौटी पर जब हम् घर्मनिष्ठ सुश्रावक श्रीमान् नितिन कुमार जी सा. कावड़िया का जीवन परखते है तो आपका जीवन परम यशस्वी एवं तेजस्वी दृष्टिगत होता है। आप मूलतः सादड़ी (मरवाड़) के निवासी हैं।

आपके पिता श्रीमान् खूबीलालजी सा. कावड़िया एवं माता श्रीमती कमलाबाई जी करूणा, उदारता एवं धर्मानुरागिता की साकार प्रतिमा थी। आपके सरल स्वभाव, परोपकारी वृत्ति एवं दयालुता की गहरी छाप आपके सुपुत्र श्रीमान् नितिन कुमार जी पर भी पड़ी और आप सत्यनिष्ठा, दृढ़निश्चय एवं कार्यकुशलता से निजी व्यवसाय पटेल आंगडियां एण्ड कं. में निरन्तर उन्नति करते रहे। आपके समान आपकी धर्मपत्नी श्रीमती सज्जनबाई जी भी उदार, धर्मनिष्ठ व परम गुरू भक्त महिला है। आपके काका साहब श्रीमान् संपतराजजी सा. का 'नूतन राजुमणि ट्रांसपोर्ट' नाम से विख्यात व्यवसाय है। आपके सुपुत्र चि. आशीष व सौरभ अच्छे संस्कार वान मेघावी बालक हैं।

3. श्रीमान् रोशनलाल जी सा. खटोड़, सरेरी

परम सेवाशील, सुदृढ आस्था वन्त सुश्रावक श्रीमान् भैरूलाल जी सा. खटोड़ के आत्मज श्रीमान् रोशललाल जी सा. खटोड़ सरेरी बांध (जिला भीलवाड़ा) के निवासी हैं। आप कर्त्तव्यनिष्ठ, उत्साही नवयुवक के रूप में समाज में समादृत है। आपके व्यावसायिक अनुभव, विनम्र व्यवहार एवं सत्यनिष्ठा से आपका 'आनन्द फिलिंग स्टेशन' नाम से पेट्रोल पम्प का व्यवसाय उन्नति पर हैं। युवा–हृदय होने के कारण आप अ. भा. प्राज्ञ जैन युवा मंडल की संचालन–समिति के सदस्य भी हैं।

आपकी माताजी श्रीमती एजनबाई जी भी धर्मशीला महिला थी। आपकी धर्मपत्नी श्रीमती चंचलबाई जी खटोड़ एक आदर्श गृहिणी एवं धर्म कार्यों में पर्याप्त रूचि लेने वाली है। आपका पूरा परिवार परंपरातः आचार्य श्री सोहन लाल जी म. सा. एवं वर्तमान आचार्य श्री सुदर्शनलाल जी म. सा. के प्रति पूर्णतः समर्पित हैं।

4. श्रीमान् बुधराज जी सा. लूणावत, बिजयनगर

बिजयनगर (जिला–अजमेर) की विख्यात फर्म – श्रीमान् मोहनलाल–शोभागमल के मालिक श्रीमान् बुधराज जी लूणावत एक अच्छे धार्मिक, श्रद्धाशील, दूरदृष्टि संपन्न, मधुर भाषी, उदार हृदयी व्यक्ति हैं। आपकी परिश्रमशीलता एवं दृढ़ अध्यवसाय से बिजयनगर, इन्दौर, अहमदाबाद आदि क्षेत्रों में फैला हुआ व्यवसाय निरन्तर प्रगति पर हैं। परिश्रम पूर्वक उपार्जित लक्ष्मी का आप शुभकार्यो में मुक्त दृस्त से सदुपयोग भी करते हैं।

आपके पिता श्रीमान् मोहनलाल जी सा. लूणावत भी परम गुरूभक्त एवं श्रद्धालु सुश्रावक थे। आपके ज्येष्ठ भ्राता श्रीमान् गुलाबचंद जी सा. लूणावत दशाब्दियों तक श्री संघ बिजयनगर के अध्यक्ष रहे एवं पूज्य गुरूवर्य श्री पन्नालाल जी म. सा. द्वारा समुपदिष्ट प्रत्येक संस्था के संचालन में समर्पण भावों से तन–मन–धन से भरपूर सहयोग देते रहे।

श्रीमान् बुधराज जी सा. की धर्मशीला जीवन–संगिनी श्रीमती चांदकंवरबाई जी भी धर्म पर श्रद्धा रखने वाली आदर्श गृहिणी है। आपके सुपुत्र श्री महेन्द्रकुमार जी, श्री सुरेन्द्रकुमार जी, श्री राजेन्द्रकुमार जी व श्री नरेन्द्रकुमार जी भी उत्साही युवाशक्ति है। श्री नानक वंश के प्रति आपके सम्पूर्ण परिवार का पूर्णतः समर्पण–भाव व दृढ श्रद्धा–भक्ति रही है।

5. श्रीमती सोभाग कंवर बाई जी हरकावत

मूलतः किशनगढ़ निवासी स्व. श्रीमान् मोतीसिंह जी सा. हरकावत की धर्मपत्नी श्रीमती सोभागकंवर बाई जी एक आदर्श धर्मानुरागिणी महिला है। आप सेवाशील, उदार हृदयी, बात्सल्य मूर्ति माताजी के रूप में समाज में समाहत हैं। आपके पाँच पुत्रों में से श्रीमान् पारसमल जी सा. हरकावत किशनगढ़ में ही राजकीय सेवाओं में संलग्न है। श्रीमान् इन्दरचंद जी सा. हरकावत ने जयपुर में आकर अपना ज्वेलरी का व्यवसाय प्रांरभ किया एवं श्रीमान् गौतमचंद जी, पदमचंद जी व ज्ञानचंद जी भी आपके साथ वहीं व्यवसाय में संलग्न है। जयपुर के अतिरिक्त विदेशों में भी बैंकाक आदि स्थानों पर आपका व्यवसाय उन्नति पर है। श्रीमान् इन्दरचंद जी सा. श्री सुबोध जैन शिक्षा समिति के कोषाध्यक्ष रहे है तथा वर्तमान में श्री स्वाध्यायी संघ गुलाबपुरा के उपाध्यक्ष पद को सुशोभित कर रहे हैं।

6. श्रीमती जेनीबाई जी सिंघवी, बिजयनगर

बिजयनगर निवासी स्व. भूरालाल जी सा. सिंघवी की धर्मपत्नी श्रीमती जेनीबाई जी सिंघवी धर्मपरायणा आदर्श सुश्राविका है।उन्होने अपने जीवन की नैतिकता से सम्पूर्ण परिवार को दिशा–निर्देश देकर सेवा, संस्कार एवं उदारता के क्षेत्र में अग्रणी बनाया। आपके सुपुत्र श्रीमान् माणकचंद जी सा. का बिजयनगर में 'सर्राफ' का प्रतिष्ठित एवं प्रामाणिक व्यवसाय है। आपके सुपौत्र श्रीमान् ज्ञानचंदजी सिंघवी उदार, कर्मठ एवं धर्मनिष्ठ होनहार युवक हैं । आप सीमेन्ट–व्यवसाय के क्षेत्र में भी अपार प्रगति कर जे.के समूह से सम्मानित हुए हैं। वर्तमान में आप श्री नानक जैन श्रावक समिति बिजयनगर के मंत्री पद पर रहकर समाज–सेवा के क्षेत्र में अग्रणी बने हुए हैं।

प्रस्तावना

परम सत्य की गवैषणा में चिरकाल से मानव चिन्तनशील रहा है, भौतिक सुख, सुविधाएँ, लौकिक अभिसिद्धियाँ, वैभव, समृद्धि आदि के रूप में जो जो आकर्षक उपादान प्राप्त हैं, जिनके पीछे मानव सदा से दौड़ता आ रहा है, आज भी दौड़ रहा है, परमशांति, परमसुख, अव्याबाध आनन्द अथवा तृप्ति के सम्पूरक नहीं बन पाये, यह सब प्राप्त कर लेने पर भी मानव ने अपने को अपूर्ण और अतृप्त माना ।

क्योंकि ये प्रत्यक्ष सरस तो रहे, किन्तु परिणाम में सभी विरस, विपरीत या दुःखप्रवण सिद्ध हुए । चिन्तन का क्रम आगे बढ़ता गया, उसके परिणामस्वरूप मानव ने एक ऐसे दिव्य आध्यात्मिक आनन्द की खोज की, जो परनिरपेक्ष एवं सर्वथा स्वसापेक्ष है । वहाँ सब विषमताएँ, प्रतिकूलताएं तथा क्लेश-परम्पराएं छूट जाती है, उनसे छुटकारा मिल जाता है । अतः उसे मुक्ति या मोक्ष के नाम से अभिहित किया गया है । चिन्तक एवं साधक उसे अवाप्त करने की दिशा में उत्तरोत्तर आगे बढ़े । उसके साधन के रूप में उन्होंने धर्म को उपात्त किया । धर्म को अनेक प्रकार से व्याख्यात किया गया । आत्मा का स्वभाव धर्म है, दुर्गति मे पतित होते जीव को जो बचा ले वह धर्म है, जिससे लौकिक अभ्युदय एवं निःश्रेयस् की सिद्धि हो वह धर्म है। इसका व्यावहारिक विवेचन श्रुत एवं चारित्र-सद्भाव एवं सत् चर्या धर्म है, इस विश्लेषण में समाविष्ट है ।

संसार में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ये चार पुरुषार्थ माने गए है, किसी को भी देखें, वह इन चारों के इर्द गिर्द प्रयत्नशील दृष्टिगोचर होता है, इन चारों को अर्थ एवं काम तथा धर्म एवं मोक्ष इन दो युगलों में बांटा जा सकता है, अर्थ एवं काम नितान्त संसारपरक या भौतिक है, धर्म और मोक्ष आध्यात्मिक या पारमार्थिक हैं । अर्थ और काम जब परमार्थ, अध्यात्म या धर्म एवं मोक्ष से अनुशासित, नियंत्रित होते है, तब वे ऐसी दिशा को अपनाते है, जो विनाश के बदले निर्माण की ओर उन्हें ले जाती है । धर्म के साथ जुड़े तात्विक विमर्श, उहापोह, चिन्तन तथा पर्यालोचन का यह सार है । जहाँ वह इस भाव भूमि के साथ आगे बढ़ा, उसने संसार की शांति, विश्व बन्धुत्व, समत्व और सौहार्द का संप्रसार किया । जहाँ इस आदर्श का परित्याग कर संकीर्ण तथा स्वार्थपरायण विचारधारा को लेकर गतिशीलता बनी, वहाँ धर्म के नाम पर ऐसे रक्तपात बहुल संघर्ष एवं उपद्रव हुए जो धार्मिकता के इतिहास के काले पृष्ठ कहे जा सकते है ।

भारतवर्ष चिरकाल से एक धर्मप्रधान देश रहा है । वैदिक, जैन एवं बौद्ध यहाँ के मुख्य धर्म है, उनके अपने-अपने शास्त्र है, अपने-अपने मन्तव्य है, अपनी-अपनी आचारविधाएं है । वैदिक परम्परानुवर्ती वेदो को अपने परम प्रामाणिक शास्त्र स्वीकार करते है, वेद शब्द विद् धातु से बना है, जिसका अर्थ ज्ञान है । वेदों में ऐहिक, पारलौकिक ज्ञान सम्बन्धी अनेक विषय ऋचाओं एवं मंत्रों में व्याख्यात हुए है । वैदिक धर्मानुयायी ऋक्, यजुः, साम तथा अथर्व इस चतुष्टयी को मानवकृत नहीं मानते, वे उन्हे अपौरुषेय कहते है, अर्थात् वे किसी पुरुष विशेष की रचनाएं नहीं है । परम पिता परमेश्वर ने ऋषियों के अन्तःकरण में ज्ञान का उद्भास किया, जो विविध ऋचाओं और मन्त्रों के रूप में प्रकट हुआ, इसलिए ऋषि मन्त्रस्रष्टा नहीं कहे जाते, मन्त्र द्रष्टा कहे जाते है ।

बौद्धों के प्राचीनतम शास्त्र पिटक कहे जाते है, वे विनय पिटक, सुत्त पिटक एवं अभिधम्म पिटक के नाम से प्रसिद्ध हैं । ये तथागत बुद्ध द्वारा उपदिष्ट हैं, बौद्ध धर्मानुयायियों के अनुसार बुद्ध अर्हत् या सर्वज्ञ थे।

जैन धर्म का प्राचीन साहित्य आगमों के नाम से विख्यात है । आगम का अर्थ वह ज्ञान का विशिष्ट प्रवाह है, जो दीर्घकाल से चला आ रहा हो । आगम सर्वज्ञ तीर्थंकरों द्वारा भाषित है, तीर्थंकरों की एक लम्बी शृंखला है, जो चौबीस-चौबीस की ईकाइयों में बँटी हुई है, उत्सर्पिणी एवं अवसर्पिणी काल से संपृक्त है, वर्तमान अवसर्पिणी के चौबीसवें - अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर ने जो धर्म देशना दी वह जैन आगमों के रूप में हमें प्राप्त है ।

भगवान महावीर का कार्यक्षेत्र मुख्यत: वे भू-भाग रहे, जो मुख्यत: आज के बिहार के अन्तर्गत थे। तब उत्तर भारत में मुख्यत: मागधी, अर्द्ध मागधी तथा शौरसैनी आदि प्राकृत भाषाओं का प्रसार था, मगध जो बिहार का दक्षिणी भाग था-में मागधी प्राकृत प्रचलित थी, उत्तर भारत में-पश्चिमांचल में शौरसेनी प्राकृत का प्रचलन था, जो व्रज मण्डल या मथुरा तक व्याप्त थे, इन दोनों-मागधी एवं शौरसैनी के बीच की जो भाषा थी, उसे अर्द्ध मागधी कहा जाता था, उसमें मागधी एवं शौरसैनी दोनों के लक्षण मिलते थे । इसलिए वह ऐसी भाषा थी जो मागधी, शौरसैनी तथा उसके अन्तर्वर्ती क्षेत्र में रहने वाले लोगों द्वारा समझी जा सकती थी। वह एक प्रकार से प्राकृत क्षेत्र की सम्पर्क भाषा थी, जिसे भाषा विज्ञान में Lingua-Fvanca कहा जाता है। भगवान महावीर अपनी धर्म देशना में अर्द्ध मागधी का ही प्रयोग करते थे । समवायाङ्ग सूत्र में इसका विशेष रूप से उल्लेख है ।[1]

दशवैकालिक वृत्ति[2] में भी लिखा गया है कि चारित्र-धर्माचरण की आकांक्षा-अभिलाषा रखने वाले बालक, स्त्री, वृद्ध, मूर्ख-अपण्डित इन सभी लोगों पर अनुग्रह करने के हेतु तत्त्व दर्शियों ने प्राकृत में सिद्धान्तों का निरूपण किया । धर्मोपदेश में अर्द्ध मागधी के उपयोग का मुख्य आशय यह था कि श्रोतृगण धर्म देशना को सीधे-बिना किसी व्यवधान के या बिना किसी मध्यवर्ती व्याख्याकार के धर्म तत्व को सहज रूप में स्वायत्त कर सके ।

आवश्यक निर्युक्ति में उल्लेख है कि अर्हत्-तीर्थंकर अर्थभाषित-प्रतिपादित करते है, गणधर-धर्मशासन या धर्म संघ के कल्याणार्थ निपुणता-कुशलतापूर्वक सूत्र रूप में उसका संग्रन्थन करते है, इस प्रकार सूत्र का प्रवर्तन होता है ।[3]

भगवान महावीर द्वारा उपदिष्ट तथा उनके प्रमुख अन्तेवासी गणधरों द्वारा संग्रथित उपदेश निम्नांकित १२ अङ्गों के रूप में विभाजित है -

१. आचार, २. सूत्रकृत, ३. स्थान, ४. समवाय, ५. व्याख्या प्रज्ञप्ति, ६. ज्ञाताधर्मकथा, ७. उपासकदशा, ८. अन्तकृद्दशा, ९. अनुत्तरौपपातिकदशा, १०. प्रश्नव्याकरण, ११. विपाक, १२. दृष्टिवाद

---

१. भगवं च णं अद्धमागहीए भाषाए, धम्ममाइक्खइ । सवि य णं अद्ध मागही भासा भासिज्जमाणी तेसिं सव्वेसिं आरियमणारियाणं दुप्पय-चउप्पय-मिय-पसु-पक्खि-सरीसिवाणं अप्पणो हियसिव-सुहय भासत्ताए परिणमई । - समवायाङ्ग सूत्र-३४.२२.२३

२. बाल स्त्री वृद्ध मूर्खाणां नृणां चारित्रकांक्षिणाम् ।
अनुग्रहार्थं तत्त्वज्ञै: सिद्धान्त: प्राकृत: कृत: ॥ - दशवैकालिकवृत्ति, पृष्ठ-२२३

३. अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं ।
सासणस्स हियट्ठाए, तओ सुत्तं पवेत्तइ ॥ - आवश्यक निर्युक्ति ९२ ।

प्राचीन काल में सभी धर्मों के शास्त्रों को शिष्य अपने गुरुओं से श्रवण कर कण्ठस्थ रखते थे, उत्तरोत्तर यह परम्परा चलती रही, वेदों को जो श्रुति कहा जाता है, सम्भवतः उसका यही कारण है क्योंकि वे आचार्य से सुनकर शिष्यों द्वारा स्मरण रखे जाते थे। जैन वाङ्मय को श्रुत कहे जाने के पीछे भी यही हेतु प्रतीत होता है। बौद्धों में भी श्रवण परम्परा से ही शास्त्र स्मृति में रखे जाते रहे, इसके पीछे यह भी कारण रहा हो कि इन सभी परम्पराओं के विरक्त जन-संन्यासी, निर्ग्रन्थ एवं भिक्षु अपने पास परिग्रह रखना पसंद नहीं करते थे, ग्रन्थ संग्रह भी परिग्रह का ही रूप है, यदि शास्त्र कण्ठस्थ हो तो पास में पुस्तकें रखने की कोई आवश्यकता ही नहीं होती। यह इसलिए सम्भव हो सका कि तब लोगों का शारीरिक संहनन बल तथा स्मरणशक्ति उत्कृष्ट कोटि की थी।

भगवान महावीर के निर्वाण के अनन्तर लगभग ५६० वर्ष पर्यन्त यह श्रवण परम्परा द्वारा कण्ठस्थ शैली से शास्त्र स्वायत्तता का क्रम गतिशील रहा, किन्तु आगे व्यतीत होते समय के साथ-साथ लोगों का दैहिक संहनन, शारीरिक शक्ति और स्मृति क्रमशः ह्रसित होने लगी। एक विघ्न और उपस्थित हुआ-मगध में, जो जैनों का मुख्य क्षेत्र था, १२ वर्ष का भीषण दुर्भिक्ष पड़ा। यह तब की बात है जब समग्र उत्तर भारत में सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य का शासन था। समुचित दोष वर्जित भिक्षा प्राप्त होने की स्थितियाँ वहाँ नहीं रही, जैन श्रमण इधर उधर बिखर गये। आहार पानी के अभाव में अनेक दिवंगत हो गए, जैन संघ में एक चिन्ता व्याप्त हुई कि शास्त्र वेत्ता अधिकांश मुनिगण समाप्त हो गए हैं, कहीं ऐसा न हो कि हमारे धर्म की यह दुर्लभ श्रुत सम्पति विलुप्त हो जाये। जो कुछ बचे खुचे मुनिगण है, जिन्हें शास्त्र स्मरण है, उनका सम्मेलन आयोजित किया जाय, तदनुसार आगमों को व्यवस्थित करने हेतु आचार्य स्थूलभद्र के नेतृत्व में पाटलिपुत्र में जैन साधुओं का सम्मेलन आयोजित हुआ, आगमों का पारायण किया गया, उन्हें यथावत् स्मृति में टिकाया गया।

इस सम्मेलन में ग्यारह अङ्गों का संकलन, व्यवस्थापन किया जा सका, बारहवाँ अंग दृष्टिवाद सम्मेलन में उपस्थित किसी भी साधु को स्मरण नहीं था। इतिहास के अनुसार उस समय केवल आचार्य भद्रबाहु ही दृष्टिवाद-चतुर्दश पूर्वों के ज्ञाता थे। वे श्रुत केवली कहे जाते थे। साधना की ओर उनका अत्यधिक झुकाव था, अतएव वे नेपाल में किसी एकांत स्थान में महाप्राण ध्यान की साधना में निरत थे। महाप्राण ध्यान क्या था इस सम्बन्ध में कहीं कोई विवेचन नहीं मिलता। जैन साधनापद्धति में ध्यान का निश्चय ही बड़ा महत्त्व रहा है, आचाराङ्ग सूत्र के प्रथम श्रुत स्कन्ध के नवम अध्ययन में भगवान् महावीर की चर्या का वर्णन है, वहाँ भगवान् द्वारा अनेक प्रकार से ध्यान किये जाने का वर्णन हुआ है। एग्ग पोग्गल निविददिट्ठी - एक पुद्गल पर अपनी दृष्टि को संनिविष्ट कर ध्यान किया जाना आदि वर्णनों से यह सूचित है। ऐसा प्रतीत होता हैं कि आज वे विविध ध्यान पद्धतियाँ सुरक्षित नहीं रह सकी है। यह महाप्राण ध्यान भी संभवतः श्वास प्रक्रिया पर आश्रित ध्यान की एक विशिष्ट साधना रही हो, अस्तु जैन संघ ने यह चिन्तन किया कि सुयोग्य मेधावी श्रमशील मुनियों को उनके पास अध्ययन हेतु भेजा जाय, वे उनसे दृष्टिवाद का ज्ञान प्राप्त करें। कहा जाता है तदनुसार पन्द्रह सौ मुनि इस लक्ष्य से भेजे गए, उनमें पाँच सौ अध्येता थे एवं एक हजार उनकी सेवा करने वाले। बड़े अनुनय विनय के साथ आचार्य भद्रबाहु से ज्ञान प्रदान करने हेतु निवेदन किया, आचार्य ने अनुग्रह कर उन्हें पढ़ाना प्रारम्भ किया।

अध्ययन इतना जटिल था कि अध्ययनार्थी मुनि वहाँ टिक नहीं सके, धीरे-धीरे वहाँ से खिसकने लगे अन्त में एक मात्र स्थूलभद्र ही बचे, जो श्रमपूर्वक अध्ययन में संविरत रहे। दस पूर्वों तक उन्होंने पाठ और अर्थ भली भांति स्वायत्त कर लिया। ग्यारहवें पूर्व का अध्ययन प्रारम्भ होने को था, एक अप्रत्याशित घटना घटी, स्थूलभद्र की बहनें जो साध्वियाँ थी, अपने सहोदर मुनि के दर्शन हेतु वहाँ पहुँची। स्थूलभद्र ने

कुतुहलवश विद्याबल से सिंह का रूप बना लिया साध्वियाँ भयाक्रांत हो उठी, मुनि फिर मानव रूप में आ गए तब वे आश्वस्त हुई ।

जब आचार्य भद्रबाहु को यह घटना विदित हुई तो वे स्थूलभद्र पर बहुत नाराज हुए, उन्होंने उनसे कहा - विद्या प्रदर्शन हेतु नहीं होती । एक जैन मुनि का जीवन लक्ष्य तो अध्यात्म और शांति है, तुमने यह अच्छा नहीं किया, अब आगे अध्ययन नहीं चलेगा । स्थूल भद्र ने अपनी त्रुटि स्वीकार करते हुए बड़ा पश्चाताप किया और निवेदन किया कि उन्हें पूर्वों का बाकी रहा ज्ञान पुनः प्रदान करें । अत्यन्त नम्रता भक्ति और आदर के साथ बार-बार निवेदन करने पर आचार्य भद्रबाहु ने इतना तो स्वीकार किया कि वे अवशिष्टचार पूर्वों का पाठ ज्ञान तो दे देंगे किन्तु अर्थ नहीं देंगे । तदनुसार उन्होंने स्थूलभद्र को चार पूर्व केवल पाठ मात्र पढ़ाये और उनको वापस लौटा दिया ।

इस प्रकार भद्रबाहु के अनन्तर चवदह पूर्वों का परिपूर्ण ज्ञान नहीं रहा, दश तो पाठ और अर्थ दोनों रहे, बाकी के चार पूर्व पाठ मात्र रहे ।

आचार्य स्थूलभद्र के नेतृत्व में आगमों के संकलन का पाटलिपुत्र में जो प्रथम प्रयास हुआ उसे आगमों की प्रथम वाचना कहा जाता है । पाटलिपुत्र में निष्पादित होने के कारण इसे पाटलिपुत्र वाचना के नाम से भी अभिहित किया जाता है । आगमों के संकलन या वाचन का तात्पर्य यह था कि जो कंठाग्र आगम थे, उन्हें मिलाकर ठीक कर लिया जाय, व्यवस्थित कर लिया जाय । वैसा हुआ किन्तु आगमों को कंठाग्र रूप में ही स्वायत्त रखा गया । जैसा ऊपर कहा गया है, जैन आगमों की तरह वेदों को भी श्रुति परम्परा या कंठाग्र रखने का ही क्रम था, वहाँ पुनः संकलन आदि की दृष्टि से कोई प्रयत्न नहीं हुआ, न आवश्यक ही माना गया ।

उसमें एक अन्तर है, वे संस्कृत में निबद्ध है, जो व्याकरण निष्ठ भाषा है । व्याकरण के नियमानुकूल जो संरचना होती है उसमें परिवर्तन की गुंजाइश नहीं रहती । साथ ही साथ वेदों की शब्द रचना को अपरिवर्तित तथा सुस्थिर बनाये रखने हेतु वहाँ विशेष प्रयत्न रहा है । संगीता पाठ, पद-पाठ, क्रमपाठ, जटापाठ तथा घनपाठ के रूप में एक ही मंत्र के उच्चारण के पांच क्रम रहे है, जिनमें बड़ी वैज्ञानिक विधि से मंत्र के उच्चारण क्रम से विभिन्न रूप में प्रयोग रखे गए है, जिससे शब्दों में जरा भी परिवर्तन संभावित नहीं है, उच्चारण क्रम को भी अविच्छिन्न रखने के लिए उदात्त, अनुदात्त, संस्वरित के रूप में वहाँ जो नियमन रहा है, उसका परिणाम यह है कि सैकड़ों वर्ष पूर्व वेदों का जिस रूप में उच्चारण होता था आज भी वैसा होता है । जैन आगमों के साथ एक अन्य स्थिति है, वे अर्द्ध मागधी प्राकृत में है जो लोक भाषा थी, संस्कृत की तरह वह व्याकरण के जटिल नियमों से परिबद्ध नहीं थी । लोकभाषा का ऐसा ही स्वभाव होता है, उसमें व्याकरण के कठोर बंधन नहीं होते, वह लोक प्रवाह के साथ चलती है वैसी भाषा में रचित ग्रन्थों में परिवर्तन होने की संभावना बनी रहती है । यही कारण है कि पाटलिपुत्र वाचना के लगभग २७०-२८९ वर्ष के अनन्तर अर्थात् भगवान् महावीर के निर्वाण के लगभग ८२७-८४० वर्ष के बीच आगमों को व्यवस्थित करने का एक और प्रयास हुआ । संयोगवश तब भी भयानक दुर्भिक्ष की स्थिति आ पड़ी थी, फलतः साधुओं को भिक्षा मिलने में कठिनाई उत्पन्न हुई, उस कारण अनेक जैन साधु दिवंगत हो गए, आगमों के अभ्यास का जो समीचीन क्रम गतिशील था वह विच्छिन्न होने पर जैन संघ में यह विचार उठा कि आगमों को अपने शुद्ध स्वरूप में बनाये रखने हेतु एक साधु सम्मेलन आयोजित किया जाए । तदनुसार आर्य स्कन्दिल जो तब प्रमुख जैन आचार्य थे-के नेतृत्व में मथुरा में जो कभी जैन धर्म का बड़ा केन्द्र रहा साधुओं के सम्मेलन का आयोजन किया गया । भिन्न-भिन्न स्थानों से वे साधु जिन्हें आगम उपस्थित थे, सम्मेलन में आये आगमों का वाचन हुआ, संकलन हुआ तदनुसार आगम सुव्यवस्थित किये गए ।

आगमों के संकलन का यह दूसरा प्रयास था, इसलिए इसे द्वितीय वाचना कहा जाता है । मथुरा में सम्पन्न होने के कारण इसे माथुरी वाचना के नाम से भी अभिहित किया जाता है ।

माथुरी वाचना के समय के आस-पास ही सौराष्ट्र प्रदेश के अन्तर्वर्ती वल्लभी नामक नगर में आचार्य नागार्जुन सूरी के नेतृत्व में आगमों के संकलन व्यवस्थापन का दृष्टिकोण लिए एक सम्मेलन हुआ जिसमें आगम वेत्ता मुनियों द्वारा आगमों का वाचन पाठ मेलन आदि किया गया । आगम सुव्यवस्थित किये गए ।

एक ही काल में दो वाचनाएं होने का एक कारण यह हो सकता है कि किसी एक स्थान पर निकटवर्ती एवं दूरवर्ती सभी मुनियों का पहुंचना संभव न माना गया हो, जैन मुनि नियमतः पादविहारी होते है, वे वाहनों का प्रयोग नहीं करते, चाहे कितनी भी दूरी की यात्रा करनी हो, वे पैदल ही जाते, संभव है उत्तर भारत, पश्चिम भारत एवं पूर्वभारत के मुनि मथुरा पहुँचे हो, मध्यभारत एवं दक्षिण भारत के मुनियों के लिए मथुरा दूरवर्ती स्थान रहा हो, वल्लभी जो किसी समय जैन धर्म का भारत विख्यात केन्द्र था-के मथुरा की अपेक्षा मध्य एवं दक्षिण के मुनियों के निकट होने के कारण वहाँ दूसरा सम्मेलन आयोजित किया गया हो, ऐसा होना सर्वथा व्यावहारिक एवं उपयोगी प्रतीत होता है । यह भी दूसरी वाचना ही कही जाती है । वल्लभी में आयोजित होने के कारण इसे वल्लभी वाचना भी कहा जाता है ।

इस वाचना में भी आगम कण्ठस्थ क्रम में ही रखे गए, किन्तु ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, लोगों की स्मृति और अधिक दुर्बल होने लगी । शारीरिक संहनन में भी वैसी शक्ति नहीं रही, अतः विपुल आगम ज्ञान-तन्मूलक पाठ को स्मृति में अक्षुण्ण बनाये रखना कठिन लगने लगा, विस्मृत होने लगा, तब यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि आगमों की पुनः वाचना की जाय तदनुसार भगवान महावीर के निर्वाण के ९८०-९९३ वर्षों के पश्चात् वल्लभी में मुनि सम्मेलन आयोजित हुआ, उस समय के ख्यातनामा आगमवेत्ता आचार्य श्री देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमण ने सम्मेलन का नेतृत्व किया । सम्मेलन में उपस्थित श्रुतधर-आगमज्ञ मुनियों के समक्ष पिछली दो वाचनाओं के संदर्भ विद्यमान थे । उन्होंने अपनी स्मृति के अनुसार आगमों का वाचन किया, मेलन किया, संकलन किया, उन्होंने मुख्य रूप में माथुरी वाचना को अपने समक्ष रखा । उसके आधार पर कार्य किया ।

विभिन्न श्रमण संघों में कुछ पाठान्तर प्रवृत्त हो गए थे, वाचना भेद भी कहीं-कहीं था, उन सबका समन्वय किया गया, तथा आगमों के पाठ व्यवस्थित किये गए, समन्वय का प्रयत्न करते हुए भी जो-जो पाठ समन्वित नहीं हो सके, वहाँ वाचनान्तर का संकेत कर दिया गया अर्थात् अमुक-अमुक वाचना के अनुसार ये-ये पाठ है । बारहवां अङ्ग दृष्टिवाद किसी भी श्रमण की स्मृति में उपस्थित नहीं था, अतः उसका संकलन नहीं किया जा सका, तथा उसका विच्छेद घोषित कर दिया गया ।

इस वाचना की एक विशेषता यह रही थी कि पूर्ववर्ती दोनों वाचनाओं में जहाँ आगमों को लिपिबद्ध नहीं किया गया, केवल स्मृति के आधार पर ही रखा गया, यहां यह सोचते हुए कि अब स्मृति पूर्ववत् काम नहीं दे पायेगी, आगम लिपिबद्ध किये गये । वर्तमान में जो आगम हमें उपलब्ध है, वे इसी तीसरी वाचना में संकलित आगमों का रूप लिए हुए है ।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि उपलब्ध आगम जैनों की श्वेताम्बर परम्परा द्वारा स्वीकृत है, दिगम्बर परम्परा में इन्हें प्रामाणिक नहीं माना जाता । वहां यह माना जाता है कि भगवान महावीर के निर्वाण के ६८३ वर्ष उपरान्त द्वादशाङ्ग का लोप हो गया, अतः भगवान महावीर द्वारा भाषित शब्दावली के रूप में किसी भी ग्रन्थ को दिगम्बर मान्यता नहीं देते । प्रथम तथा द्वितीय ईस्वी शताब्दी के मध्य में दिगम्बर परम्परा के अन्तर्गत धरसेन नामक प्रमुख आचार्य हुए । ऐसा कहा जाता है कि उन्हें दृष्टिवाद के कुछ अंश का ज्ञान था-स्मृति में वह

उपस्थित था, वे साधना हेतु सौराष्ट्र में गिरनार पर्वत की चन्द्रगुफा में आवास करते थे । दिगम्बर जैन संघ में यह विचार हुआ कि उनसे ज्ञान प्राप्त किया जाय ताकि वह परम्परा लुप्त न हो, इसलिए संघ ने पुष्पदन्त एवं भूत बली नामक दो परम मेधावी मुनियों को अध्ययन हेतु-उनसे ज्ञान प्राप्त करने हेतु भेजा । दोनों मुनियों ने बड़े श्रम एवं लगन के साथ उनसे ज्ञान प्राप्त किया, ज्ञान प्राप्त कर वे लौट आये ।

आगे चलकर इन्हीं पुष्पदन्त एवं भूत बली नामक मुनियों ने ६ भागों में शास्त्र रचना की, जो षड्खण्डागम के नाम से विख्यात है । आचार्य पुष्पदन्त ने एक सौ सत्तर (१७७) सूत्रों में सत्प्ररूपणा की रचना की और आचार्यभूतबली ने छः हजार (६०००) सूत्रों में समग्र अवशिष्ट ग्रन्थ रचा । यह चतुर्दशपूर्व के अन्तर्गत द्वितीय अग्राह्यणी पूर्व के महाकर्मप्रकृति नामक चतुर्थ प्राभृत अधिकार के आधार पर मुख्य रूप से निर्मित हुआ । दिगम्बर आम्नाय में यह आगम तुल्य मान्यता लिए हुए है ।

षट्खण्डागम पर समय-समय पर अनेक आचार्यों ने टीकाओं की रचना की । आठवीं शताब्दी में वीरसेन नामक एक महान् विद्वान् आचार्य हुए उन्होंने षड्खण्डागम पर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण टीका लिखी, जो धवला के नाम से प्रसिद्ध है,वह संस्कृत-प्राकृत मिश्रित भाषा का रूप लिए हुए है, बहत्तर हजार (७२०००) श्लोक प्रमाण है । लगभग आचार्य धरसेन के समय में ही दिगम्बर परम्परा में गुणधर नामक बड़े सुसम्पन्न आचार्य थे, ऐसा माना जाता है कि उन्हें भी द्वादशाङ्ग सूत्र का अंशतः ज्ञान प्राप्त था, उन्होंने कषाय प्राभृत नामक सिद्धान्त ग्रन्थ का प्रणयन किया । आचार्य वीरसेन कषाय प्राभृत पर भी टीका लिखना चाहते ते, लेखन कार्य चालू किया, किन्तु द्विसहस्र श्लोक प्रमाण भाग ही लिख पाये, इस बीच वे दिवंगत हो गए, उनके अवशिष्ट कार्य को उनके विद्वान् शिष्य आचार्य जिनसेन ने पूर्ण किया । यह टीका जय धवला के नाम से प्रसिद्ध है । इसका समग्र कलेवर साठ हजार श्लोक प्रमाण है । जैन कर्मवाद पर षड्खण्डागम अत्यन्त महत्वपूर्ण रचना है ।

अस्तु, ऊपर श्वेताम्बर परम्परा सम्मत जिन आगमों की चर्चा की गई है, श्वेताम्बरों में उनकी संख्या के सम्बन्ध में सब सम्प्रदाय एक मत नहीं है । श्वे. मन्दिर मार्गी सम्प्रदाय में ८४ या ४५ की संख्या में आगम माने जाते है, श्वे. स्थानकवासी, तेरापंथी सम्प्रदाय जो मूर्तिपूजा नहीं मानते ३२ आगम स्वीकार करते हैं -

११ अंग – आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्या प्रज्ञप्ति, ज्ञाताधर्मकथा, उपासक दशा, अन्तकृदशा, अनुत्तरौपपातिक दशा, प्रश्नव्याकरण, विपाक ।

१२ उपाङ्ग – औपपातिक, राज प्रश्नीय, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, सूर्य प्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, निरयावलिया, कल्पावतंसिका, पुष्पिका, पुष्पचूलिका, वृष्णि दशा ।

४ छेद – व्यवहार, वृहत्कल्प, निशीथ, दशाश्रुतस्कन्ध ।

४ मूल – दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, नन्दी, अनुयोगद्वार ।

१ आवश्यक ।

इनमें ११ अङ्ग तथा इक्कीस अङ्ग बाह्य है, जो अङ्गों के साथ विषय आदि की दृष्टि से संबद्ध है। आचार्य आर्य रक्षित सूरी ने विषय, व्याख्या, विवेचन आदि के भेद को दृष्टि में रखते हुए आगमों को चार वर्गों में विभक्त किया, जो अनुयोग कहलाते हैं । जिन आगमों में मुख्य रूप से आचारपरम्परा, व्रतविश्लेषण, सम्यक्ज्ञान दर्शन एवं चारित्र, संयम, तपश्चरण, कषायनिग्रह तथा वैयावृत्य आदि जो मूल गुण है-का विवेचन है, साथ ही साथ समिति, भावना, प्रतिमा, पिण्ड विशुद्धि, प्रतिलेखन, गुप्ति तथा अभिग्रह आदि उत्तर गुणों का वर्णन है, उन्हें चरण करणानुयोग नामक वर्ग में स्वीकार किया गया ।

चरणकरणानुयोग के अन्तर्गत आचाराङ्ग, प्रश्नव्याकरण, दशवैकालिक, निशीथ, व्यवहार, वृहत्कल्प, दशाश्रुतस्कन्ध को परिगृहीत किया गया ।

जिन आगमों में विशेषत: आख्यानों एवं कथाओं के आधार पर दान, शील, क्षमा, आर्जव, मार्दव, दया आदि धर्म के अङ्गों का विवेचन विश्लेषण है, वे धर्म कथानुयोग नामक वर्ग में लिए गये ।

इसमें ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशा, अन्तकृतदशा, अनुत्तरोपपातिदशा तथा औपपातिक, राजप्रश्नीय, निरयावली, कल्पावर्तंसिका, पुष्पिका, पुष्पचूलिका, वृष्णिदशा, विपाक तथा उत्तराध्ययन को लिया गया ।

जिन आगमों में गणित सम्बन्धी विषयों या गणित के आधार पर विषयों का विवेचन है वे गणितनुयोग वर्ग में स्वीकार किये गए इसमें जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, सूर्यचन्द्र प्रज्ञप्ति का समावेश है । जीव अजीव आदि ६६ द्रव्यों तथा वृतांतों का जिन आगमों में विस्तारपूर्वक सूक्ष्म विवेचन हुआ है वे द्रव्यानुयोग के अन्तर्गत आते है ।

इसमें सूत्रकृताङ्ग, स्थानाङ्ग, समवायांङ्ग तथा व्याख्या प्रज्ञाति (भगवती) सूत्र विशेषत: लिए गए है ।

जैन आगम जैन दर्शन सम्मत आचार मर्यादा, तत्वविश्लेषण, व्रतविवेचन, तपश्चरण अध्यात्म साधना एवं जन जन के आत्म सम्मार्जन से सम्बद्ध विषयों का विशद विवेचन लिए हुए है, यह तो इनका अपना महत्त्व है ही, किन्तु साथ ही साथ प्राग्इतिहास कालीन भारतीय समाज, विधि, विधान, रीति, मर्यादा, लोक जीवन, कृषि, वाणिज्य, शासन इत्यादि सामाजिक विषयों का जो अत्यन्त मार्मिक साक्ष्य लिए हुए है वह मानव जाति के विकास की लम्बी कहानी में बहुत ही महत्त्वपूर्ण उपादान प्रस्तुत करते है । भारतीय साहित्य में अर्द्धमागधी आगम एवं पाली त्रिपिटक ही ऐसे ग्रन्थ है, जिनमें केवल राज्य वैभव और सत्ता प्रकर्ष का इतिवृत्त नहीं है वरन् जनसाधारण के जीवन से जुड़ी हुई घटनाएं है, उनमें भी विशेषत: जैन आगम अपना असाधारण महत्त्व लिए हुए है । किसान, मजदूर, व्यापारी, प्रशासक, आरक्षी दल, सैनिक, पाकविद्या, वस्त्र, पात्र, कला, लेखन, लिपि, चित्र, संगीत आदि ललित कलाओं का स्थान-स्थान पर जो सविस्तार वर्णन हुआ है वह मानवीय संस्कृति और इतिहास के अध्ययन में जीवन का साक्ष्य प्रस्तुत करते है अत: जैन आगमों का अध्ययन केवल जैन धर्म में आस्थाशील जनों के लिए ही उपयोगी नहीं है वरन् संस्कृति, धर्म, इतिहास, दर्शन, समाजविज्ञान, भाषाविज्ञान आदि विषयों पर अध्ययन करने वाले जनों के लिए भी बहुत ही उपयोगी है, अब तक इस विषय की ओर अध्येतृवृन्द का-विद्वद् जन का विशेष ध्यान नहीं गया अब इस दिशा के लोगों में व्यापक दृष्टि से उनके अध्ययन का भाव उजागर हुआ है, विशेषत: इस ओर भारतीयों का ध्यान तब आकृष्ट हुआ, जब सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान् डॉ. हरमनजेकोबी आदि ने जैन आगम तथा अर्द्धमागधी आदि के गहन और सूक्ष्म अध्ययन के साथ अपने को जोड़ा तथा इनकी व्यापक उपादेयता से विद्वद्वृन्द को अवगत कराया ।

मेरा एक सहज सौभाग्य बना, मैंने प्राकृत, जैन दर्शन तथा जैन आगमों के अध्ययन में अपने जीवन का महत्वपूर्ण समय लगाया । भारत के प्राकृत, जैन दर्शन एवं अहिंसा के विशिष्टतम अध्ययन अनुसंधान केन्द्र वैशाली शोध संस्थान में मुझे अध्ययन अनुसंधान एवं अध्यापन का सुअवसर प्राप्त हुआ । तदनन्तर श्री वर्ध. स्था. जैन श्रमण संघ के युवाचार्य, सौम्यचेता, विद्वन्मूर्धन्य, प्रबुद्ध आगमज्ञ स्व-श्री मिश्रीमल जी 'मधुकर' ने बतीस आगमों के हिन्दी अनुवाद एवं विवेचन के साथ सम्पादन प्रकाशन की योजना बनाई, जिसके क्रियान्वयन में मेरा सतत योगदान रहा, मैंने उपासकदशाङ्ग सूत्र और जम्बूद्वीप आदि तीन आगमों का विवेचन, विश्लेषण, अनुवाद किया । अधिकांश आगम युवाचार्य श्री के जीवनकाल में ही प्रकाशित हो गए थे । अवशिष्ट आगम उनके स्वर्गवास के उपरान्त शीघ्र ही प्रकाशित हुए । हिन्दी अनुवाद सहित यह आगम बत्तीसी का एक सुन्दर संस्करण बना, जिससे विद्वत् वृन्द ने जगत में बहुत उपयोगी तथा लाभप्रद बताया ।

उसी सन्दर्भ में एक ओर महत्त्वपूर्ण प्रसङ्ग बना स्थानकवासी जैन परम्परा के अन्तरवर्ती श्री नानक आम्नाय के संघनायक स्वाध्याय शिरोमणी, आगम वारिधि, आशुकवि रत्न स्व. आचार्य श्री सोहनलाल जी म. सा. का उनके जीवन के अंतिम चार वर्षों में नैकट्यपूर्ण सान्निध्य प्राप्त रहा। उनके युवा अंतेवासी मुनि श्री सुदर्शनलालजी (वर्तमान में आचार्य श्री सुदर्शन मुनिजी) तथा प्रियदर्शन जी को उनकी छत्र छाया में अध्ययन कराने का मुझे सुअवसर प्राप्त हुआ। संस्कृत, प्राकृत, व्याकरण, साहित्य, दर्शन, काव्य शास्त्र, नीतिशास्त्र, योग शास्त्र आदि अनेक विषयों के साथ-साथ मैंने उनको आगमों का अध्ययन भी करवाया।

स्व. आचार्यश्री सोहनलाल जी की भावना के अनुसार वि. सं. २०५२ को गुलाबपुरा में सूत्रकृताङ्ग पर शीलाङ्काचार्य कृत टीका का अध्ययन चालू कराया जो आचार्य प्रवर के रातोकोट प्रवास में भी चलता रहा। आचार्य प्रवर इससे बड़ी हर्षानुभूति करते थे।

देश विदेश के अनेकों उच्च कोटि विद्वानों ने द्वादशाङ्ग के अंतर्गत सूत्रकृताङ्ग को अत्यधिक महत्वपूर्ण माना है। डॉ. हरमन, डॉ. पिशेल आदि विद्वानों ने भाषा की दृष्टि से आचाराङ्ग और सूत्रकृताङ्ग को प्राचीनतम अर्द्धमागधी प्राकृत का रूप लिए हुए बतलाया है।

सूत्रकृताङ्ग में जैनेतर दार्शनिक मतवादों की जो चर्चा आई है, वह दार्शनिक वाङ्मय तुलनात्मक दृष्टि से बहुत उपयोगी है, यही एक ऐसा आगम है जिसमें जीव, जगत, कर्म आदि के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न दर्शनवादियों के सिद्धान्त निरूपित हुए है।

सूत्रकृताङ्ग में क्रियावाद, अक्रियावाद, अज्ञानवाद, क्षणिकवाद, पंचभूतवाद, आत्मषष्ठवाद आदि का जो विवेचन आया है वह किसी एक-एक दर्शन का विशद स्पष्ट रूप लिए हुए तो नहीं है किन्तु कुछ सांकेतिकताएं वहाँ अवश्य है जिसमें इन सिद्धान्तों की भिन्न-भिन्न दर्शनों के साथ पहचान की जा सकती है।

सूत्रकृताङ्ग में आये विभिन्न दर्शन विषयक विवेचनों से यह प्रकट होता है कि तब तक वर्तमान में जो दर्शन उपलब्ध है अपना परिष्कृत, परिनिष्ठित स्वरूप प्राप्त नहीं कर सके थे। दर्शनों के विकास का संभवतः वह प्रारम्भिक युग था। विभिन्न मतवादी विशेषतः किसी एक सिद्धान्त पर जोर देकर अपना मतवाद खड़ा करते थे। जो भी वर्णन हुआ है, वह अनुसंधित्सुओं को इस सम्बन्ध में और अधिक गहन अध्ययन और अनुसंधान की प्रेरणा प्रदान करते है। विशेषतः शोधकर्ताओं को इस पक्ष पर अधिक ध्यान देना चाहिए। इनके अध्ययन से दर्शन के क्षेत्र की अनेक गुत्थियां सुलझ सकती है।

आगम साहित्य की जैन जगत में सदा से महत्ता और उपयोगिता स्वीकृत रही है, इसी कारण निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीकाओं के रूप में इन पर विपुल व्याख्यात्मक साहित्य रचा गया। निर्युक्तियाँ आर्या-गाथा छन्द में प्राकृत में रचित है, उनमें सूत्र में निश्चित किए हुए-निश्चयात्मक रूप में प्रतिपादित किए हुए अर्थ या तात्पर्य का विवेचन है, विवेचन को बोधगम्य बनाने के लिए अनेक कथानकों दृष्टान्तों का प्रयोग किया गया है, जिनका इनमें केवल उल्लेख प्राप्त होता है, यह बहुत ही सांकेतिक और संक्षिप्त विवेचन लिए हुए है, इन्हें भाष्य और टीकाओं के सहारे के बिना समझा जाना कठिन है। अतः आगमों के टीकाकारों ने आगमों पर टीकाओं के साथ-साथ निर्युक्तियों पर भी प्रायः टीकाएं रची है, एक विशेषता की बात अवश्य है कि पद्यात्मक रूप में संक्षिप्त रचना होने के कारण इन्हें कण्ठाग्र रखना सरल था, अतएव धर्म प्रवचन में इन्हें उद्धृत किया जा सकता था। परम्परा से ऐसा माना जाता है कि आचार्य द्वितीय भद्रबाहु जो अष्टाङ्ग निमित्त और मन्त्र विद्या में निष्णात थे, निर्युक्तियों के रचनाकार थे।

जिस प्रकार निर्युक्तियों की प्राकृत गाथाओं में रचनाएं हुई उसी प्रकार भाष्यों की भी रचनाएं हुई, निर्युक्तियों की भाषा और भाष्यों की भाषा प्राचीन अर्द्धमागधी है। भाष्यों में मुख्यतः निशीथ भाष्य, व्यवहार भाष्य और

बृहत्कल्प भाष्य का बड़ा महत्त्व माना गया है, इनमें अनेकानेक लौकिक कथाएं तथा साधुओं की प्राचीन आचार विधाएं-विचार सरणियाँ आदि का विवेचन है ।

जैन साधु संघ के प्राचीन जीवन दर्शन चर्या तथा विधि विधान आदि को जानने की दृष्टि से ये तीनों भाष्य अध्येतव्य है, निर्युक्तियों और भाष्यों के बाद चूर्णियों का स्थान आता है, इनकी रचनाएं गद्य में हुई । कारण यह रहा हो कि प्राकृत गाथाओं में रचित निर्युक्तियों और भाष्यों में जैन दर्शन-धर्म के सिद्धान्तों को विस्तृत रूप में प्रतिपादित करने की अपेक्षाकृत अधिक सुविधा नहीं रही । चूर्णियाँ गद्य में लिखी गई, अतः यहां वैसा सम्भावित था, साथ ही साथ चूर्णियों में भाषात्मक दृष्टि से एक अभिनव प्रयोग हुआ । उनकी रचना संस्कृत एवं प्राकृत में मिश्रित रूप में हुई, इसे साहित्य में मणि प्रवाल न्याय कहा जाता है, मणियाँ और मूंगे यदि एक साथ मिला दिये जाये तो भी वे अलग-अलग प्रतीत होते है । वैसे ही संस्कृत एवं प्राकृत को मिला दिए जाने के अनन्तर भी उन्हें भिन्न-भिन्न रूप में देखा जा सकता है । चूर्णियों में प्राकृत की प्रधानता रही है । चूर्णियों का कथा भाग प्राकृत में ही लिखा गया है जिसमें धर्मकथा, अर्थकथा, लोककथा आदि के रूप में वर्ण्यविषय लोकजनीन शैली में प्रस्तुत किए गए है । जहाँ-जहाँ अपेक्षित हुआ शब्दों की व्युत्पत्तियाँ भी प्राकृत में दी गई है । यथा प्रसङ्ग संस्कृत प्राकृत के अनेकानेक पद्य भी उद्धृत किए है । चूर्णियों में निशीथ सूत्र और आवश्यक सूत्र की चूर्णि का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है, इनमें पुरातत्व एवं इतिहास की अत्यधिक सामग्री प्राप्त होती है । प्राचीन काल में भिन्न-भिन्न देशों में कैसी-कैसी सामाजिक रीति और रिवाज थे, कैसे-कैसे मेले, पर्व दिन तथा त्यौहार आदि थे, सुभिक्ष, दुर्भिक्ष, व्यापार, व्यवसाय, व्यापार के मार्ग, सामुद्रिक व्यापार, व्यापारियों के काफिले, सार्थवाह, दस्यु, चोर, प्रहरी, रक्षक, भोज्य सामग्री, वस्त्र प्रयोग, आभरण सज्जा, कला, कौशल आदि का चूर्णियों में जो विश्लेषण हुआ है, वह भारतीय विद्या के अध्येताओ के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है । लोक कथा, भाषा विज्ञान आदि की दृष्टि से भी चूर्णि साहित्य का बड़ा महत्व है, अधिकांश चूर्णियो के रचनाकार के रूप में जिनदास गणि महत्तर का नाम विश्रुत है । बताया जाता है कि वे वाणिज्य कुल, कौटिकगण, ब्रजशाखा से सम्बन्धित थे । यद्यपि इनके समय के सम्बन्ध में निश्चित प्रमाण प्राप्त नहीं है, किन्तु विद्वान् छठी ईस्वी शताब्दी के आसपास इनके समय की परिकल्पना करते है । आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग, भगवती, कल्प, व्यवहार, निशीथ, पंचकल्प दशाश्रुत स्कंध, जीत कल्प, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, शरीरपद, जम्बूद्वीप प्रज्ञा, उत्तराध्ययन, आवश्यक सूत्र, दशवैकालिक, नन्दी तथा अनुयोगद्वार-सूत्र पर चूर्णिकाएं प्राप्त होती है ।

आगमों में वर्णित सिद्धान्तों एवं विचारों का विशद विस्तृत विश्लेषण करने हेतु संस्कृत में उन पर टीकाओं के रूप में विपुल साहित्य सर्जन हुआ । संस्कृत का भाषा शास्त्रीय दृष्टि से अपना असाधारण महत्व है । कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक आशय व्यक्त करने का उसमें विलक्षण सामर्थ्य है । दर्शन, तत्व, ज्ञान जैसे विषयों के विशदीकरण में संस्कृत में जो सुविधा और अनुकूलता होती है, वह अन्य भाषा में नहीं है । जैन विद्वान् आग्रहवादी नहीं थे, वे सदा उपयोगितावादी रहे । जो वस्तु जिस कार्य में उपयोगी सिद्ध हो, लाभप्रद हो, उसे स्वीकार करने में उन्होंने कभी मुँह नहीं मोड़ा, यद्यपि जैन परम्परा का मूल साहित्य प्राकृत में है किन्तु विश्लेषणात्मक दृष्टि से जब प्रस्तुत करने का प्रसङ्ग आया तो जैन मनीषियों ने बड़ी रूचि के साथ संस्कृत को अपनाया । चूर्णियों के प्रसङ्ग में जो मणिप्रवाल न्याय से संस्कृत प्राकृत की मिश्रित रूप की चर्चा हुई है, वह इसी दृष्टिकोम की ओर इंगित करती है ।

यहाँ एक बात और विचारणीय है, विद्वद्जनभोग्यत्व की दृष्टि से भी संस्कृत का प्रयोग अपना महत्त्व रखता है । उपमीति भव प्रपञ्च कथा के रचयिता आचार्य सिद्धर्षि ने इस बात का स्पष्टीकरण करते हुए कि उन्होंने अपना ग्रन्थ प्राकृत में न रचकर संस्कृत में क्यों रचा, लिखा है कि संस्कृत के माध्यम से मेरे ग्रंथगतविचार

विद्वानों तक पहुँचेंगे, उन द्वारा चिन्तनार्थ परिगृहीत होंगे, यदि एक भी विद्वान् सत्तत्व को समझ जाय तो सहस्रों साधारण जनों के समझने की दृष्टि से कहीं बढ़कर है । क्योंकि उसके माध्यम से सहस्रों लाखों तक वह बात पहुँचेगी, टीकाकारों के मन में भी कुछ ऐसा रूझान रहा हो । अनेक आचार्यों ने अनेक आगमों पर टीकाओं की रचना की जिनकी अपनी-अपनी दृष्टि से उपयोगिता है ।

आचाराङ्ग और सूत्रकृताङ्ग पर आचार्य शीलाङ्क की टीकाएं है, जैसा ऊपर उल्लेख किया गया है । आचार्यशीलाङ्क ने आगम में आए हुए वादों का सिद्धान्तों का, एवं चिन्तन धाराओं का बड़ी विद्वत्ता के साथ विवेचन किया है, उनकी भाषा में प्रौढ़ता है, वर्णन शैली में गम्भीरता है, और नैयायिकता का संपुट है आगम में आये, सांकेतिक वर्णन टीका के कारण बड़े स्पष्ट और विशद हो गए है ।

टीका के अध्ययन अध्यापन के समय में एक विचार समुत्थित हुआ कि कितना अच्छा हो कि राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्राञ्जल रूप में, अधुनातन शैली में इसका अनुवाद प्रकाशित किया जाय । अध्येता आचार्यश्री सुदर्शनलाल जी म. सा. तथा मुनिश्री प्रियदर्शन जी म. सा. ने इस पर और विशेष बल दिया कि ऐसा होने से आगमों के अध्ययन में निरत जिज्ञासुओं, मुमुक्षुओं तथा विभिन्न विश्वविद्यालयों में प्राकृत एवं जैनोलॉजी का अध्ययन करने वाले छात्रों को भी इससे विशेष लाभ होगा, क्योंकि अनेक विश्वविद्यालयों में सूत्रकृताङ्ग प्राकृत एवं जैनोलॉजी में पाठ्यग्रन्थ के रूप में स्वीकृत है ।

श्री स्थानकवासी जैन स्वाध्यायी संघ के अधिकारियों एवं कार्यकर्ताओं के साथ भी चर्चाएं चली, सभी को यह विचार उपादेय प्रतीत हुआ । अक्षय तृतीया वि. सं. २०५५ पर वर्षीतप पारणों का विशाल आयोजन-शासनगौरव, युवामनीषी, पूज्य आचार्य प्रवर श्री सुदर्शनलाल जी म. सा. के सान्निध्य में श्रीमान् भीमसिंह जी संचेती की मिल सुपर सिन्थेटिक्स लि. में आयोजित हुआ । उस समय नानक आम्नाय के सभी साधु साध्वी वृन्द उपस्थित थे । आचार्य प्रवर के सान्निध्य में एक गोष्ठी आयोजित हुई । जिसमें मुझे भी उपस्थित रहने का सुअवसर प्राप्त हुआ, गोष्ठी में यह चिन्तन चला कि परमाराध्य गुरुदेव आचार्य प्रवर स्व. श्री सोहनलाल जी म. सा. की पुण्यस्मृति में कोई ऐसा साहित्यिक कार्य स्वाध्यायी संघ हाथ में ले जिससे समग्र जैन जगत और जैन विद्या क्षेत्र के लोगो को चिरकाल पर्यन्त लाभ प्राप्त होता रहे ।

चिन्तन मंथन के बाद यह निष्कर्ष निकला कि आचाराङ्ग एवं सूत्रकृताङ्ग इन दो अंगों पर आचार्य शीलाङ्क द्वारा रचित टीकाओं का तथा अवशिष्ट नौ अंगों पर आचार्य अभयदेवसूरी द्वारा रचित टीकाओं के हिन्दी अनुवाद का प्रकाशन आगम वारिधि परम पूज्य गुरुदेव आचार्य श्री सोहनलाल जी म. सा. की पुण्य स्मृति में किया जाये । टीकाओं के हिन्दी अनुवाद का प्रयत्न अब तक बहुत कम हुआ है । सूत्रकृताङ्ग की शीलाङ्काचार्य की टीका का अनुवाद श्रीमद् जवाहिराचार्य के तत्वावधान में पण्डित अम्बिकादत्त जी ओझा द्वारा किया गया काफी समय पूर्व प्रकाशित हुआ जो अब अप्राप्य है । इस लम्बी अवधि में राष्ट्रभाषा हिन्दी का शैली प्रेषणीयता आदि की दृष्टि से बहुमुखी विकास हुआ है । अतः अधुनातन शैली में इसका अनुवाद वर्तमान समय में जन-जन के लिए उपयोगी होगा, यह सोचते हुए ग्यारह अङ्गों की टीकाओं का हिन्दी अनुवाद प्रकाशन का निश्चय किया गया ।

इस सम्बन्ध में गणमान्य जैन आचार्यों, विद्वान् बहुश्रुत मुनियों तथा देश के प्राकृत, जैन आगम एवं दर्शन के विशिष्ट विद्वानों से पत्र व्यवहार किया गया । सभी ने इस कार्य को आवश्यक एवं उपादेय माना तथा सहर्ष सहयोग करने का भाव व्यक्त किया ।

इस संदर्भ में यहाँ चिन्तन चला कि हमें इस कार्य को सूत्रकृताङ्ग की शीलाङ्काचार्य कृत संस्कृत टीका के अनुवाद से प्रारम्भ करना चाहिए, तदनुसार इस कार्य में प्रस्तुत ग्रन्थ माला के प्रधान सम्पादक युवा मनीषी

एवं प्रबुद्ध चिन्तक आचार्य श्री सुदर्शनलाल जी म. सा. का सम्पादन एवं परामर्श के रूप में निरन्तर बहुमूल्य सहयोग प्राप्त हुआ ।

मुनि श्री प्रियदर्शन जी के साथ मैंने इस कार्य को हाथ में लिया, इस संकल्प के साथ कि इस चातुर्मासावधि के भीतर ही इसे परिसमाप्त करना है, हमारा यह सम्मिलित कार्य प्रातः, मध्याह्न, अपरान्ह तीनों समय लगभग चलता रहा और यह व्यक्त करते हुए हर्ष होता है कि चातुर्मासावधि के परिसमापन के लगभग एक मास पूर्व ही यह कार्य भली भाँति सम्पन्न हो गया ।

मूल टीकाकार के भावों को अविच्छिन्न रखते हुए हमने अधुनातन प्राञ्जल हिन्दी में यह अनुवाद प्रस्तुत करने का विनम्र प्रयास किया है । वाक्य संरचना का ऐसा क्रम रखा है कि मूल के बिना भी यदि केवल अनुवाद को ही पढ़ा जाये तो भी भावों में कोई व्यवधान न आये । मूल के साथ पढ़ने वालों के लिए यह अनुवाद उपयोगी होगा ही क्योंकि टीकागत शब्दों को प्रायः यथावत रूप में उपस्थित करते हुए उनके आशय का स्पष्टीकरण किया है । भिन्न-भिन्न भावों को विशद रूप में समझ पाने में सुविधा रहे अतः एक ही अवतरण को अलग-अलग Paragraphs में भी देने का प्रयत्न किया है । दुरुह और जटिलतम भावों को सरलतम शब्दों में प्रकट करने की चेष्टा की गई है । आशा है यह अनुवाद आगमों के जिज्ञासु अभ्यासार्थियों तथा विभिन्न विश्वविद्यालयों एवं विद्यापीठों में प्राकृत एवं जैन शास्त्रों के अध्ययनार्थियों, शोधार्थियों और अनुसंधित्सुओं के लिए उपयोगी सिद्ध होगा, वे इसका साभिरूचि अध्ययन करेंगे ।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि टीकाकार ने प्रत्येक अध्ययन के प्रारम्भ में अपनी ओर से कुछ प्रस्ताविक लिखा है, आगम की मूलगाथाओं की दृष्टि से क्रमानुसार अध्ययन की दृष्टि से उसे लिया जाना अपेक्षित नहीं समझा गया, क्योंकि वह टीकाकार के अपने विचार है अध्येताओं के लिए अध्ययन अधिक भारवाही न बने, सरल एवं सुगम रहे, इस दृष्टि से उनका अनुवाद नहीं दिया गया है ।

मूल, गाथाएं, छाया, संस्कृत टीका एवं टीका के हिन्दी अनुवाद की प्रेसवृति तैयार करने में तत्वानुरागी श्रावकवर्य श्री अमोलकचन्द जी हींगड़ तथा श्री महेन्द्र सिंह जी खाबिया ने बड़ा श्रम किया, इस श्रुतोपासना मूल कार्य में उन्होंने जो हार्दिक सहयोग किया है वे साधुवादार्ह है ।

कार्तिक शुक्ला १५
वि. सं. २०५५

स्थायी पता :
केवल्य धाम
सरदार शहर
जिला चुरु (राजस्थान)

डॉ. छगनलाल शास्त्री
(एम. ए.त्रय, पी.एच.डी.)
काव्यतीर्थ, विद्यामहोदधि, निम्बार्कभूषण
पूर्व प्रोफेसर, रिचर्स इंस्टिट्यूट ऑफ
प्राकृत जैनोलॉजी, अहिंसा, वैशाली बिहार विश्वविद्यालय,
डिपार्टमेन्ट ऑफ जैनोलॉजी, मद्रास विश्वविद्यालय, मद्रास

❀ ❀ ❀

हृदयोद्गार

श्रद्धेय श्री प्रियदर्शन मुनि जी म. सा.

भगवान महावीर की वाणी ग्यारह अङ्गों के रूप में आज भी सुरक्षित है, यह हमारा सौभाग्य है । यह वह वाणी है, जिसमें जन-जन के आत्म-जागरण, कल्याण और श्रेयस् के शाश्वत स्वर मुखरित है । यह वह वाङ्मय है, जो अतीत में मानव जाति के लिए अत्यन्त कल्याणकारी सिद्ध हुआ । आज भी इसमें निरूपित सिद्धान्तों का अवलम्बन लेकर लोग सुख शांति का सही मार्ग प्राप्त कर सकते है। आज जबकि धर्म, अध्यात्म, नीति, सदाचार, ईमानदारी, प्रामाणिकता, सहृदयता जैसे उत्तमोत्तम मानवीय गुण मिटते जा रहे है, आगम निरूपित अहिंसा, सत्य, शौच, अपरिग्रह जैसे सिद्धान्तों के नितान्त प्रसार की आवश्यकता है । सत्य कभी पुरातन नहीं होता, त्रिकालवर्ती होता है, उसकी उपयोगिता भी त्रिकाल वर्तिनी होती है । यह आगम एक ऐसा ही अमृतसाहित्य है, जो सदा सर्वदा जन-जन के उत्थान के पथ पर अग्रसर करने का विलक्षण सामर्थ्य रखता है ।

अपने अध्ययन क्रम के बीच अपने प्रातःस्मरणीय, परम पूज्य गुरुदेव स्व. आचार्य प्रवर श्री सोहनलाल जी म. सा. के सान्निध्य में उनके मुखारबिन्द से आगम तत्व श्रवण करने का मुझे अवसर मिलता रहा, जिससे मेरी आध्यात्मिक जिज्ञासा को न केवल बल ही मिला, समाधान भी मिलता रहा । उन्हीं पूज्य गुरुदेव श्री के असीम अनुग्रह, प्रयास और भावना के परिणामस्वरूप मुझे तथा वर्तमान संघनायक आचार्य प्रवर श्री सुदर्शनलाल जी म. सा. को भारत के ख्यातनामा विद्वान्, संस्कृत, प्राकृत, पाली आदि प्राच्य भाषाओं एवं भारतीय भाषाओं के मूर्धन्यमनीषी डॉ. छगनलाल जी शास्त्री से अध्ययन करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। साहित्य, व्याकरण आदि अन्यान्य विषयों के साथ-साथ आगमों के अन्तर्गत सूत्रकृताङ्ग की शीलाङ्काचार्यकृत संस्कृत टीका का उनसे विशेष रूप से अध्ययन किया । शास्त्रीय रहस्यों के उद्घाटन, गम्भीर तत्वावगाहन तथा विवेचन विश्लेषण की दृष्टि से वास्तव में यह टीका अत्यन्त महत्वपूर्ण है । इसको पढ़ते समय हमारी पीपठिषा एवं जिज्ञासा को और अधिक बल मिला और आगमों के उत्तरोत्तर अध्ययन में रम जाने की प्रेरणा प्राप्त हुई ।

इसी का सुन्दर परिणाम यह आया कि ग्यारह अङ्गों पर लिखी गई संस्कृत टीकाओं के हिन्दी अनुवाद के प्रकाशन की श्वे. स्था. जैन स्वाध्यायी संघ की ओर से योजना तैयार की गई । इससे हिन्दी जगत टीकाकारों के आगम विषयक गहन अध्ययन तथा चिंतन से लाभान्वित हो सकेगा ।

उसी योजना के अन्तर्गत सूत्रकृताङ्ग की टीका के अनुवाद से कार्य प्रारम्भ किया गया । परम श्रद्धेय आचार्य प्रवर श्री सुदर्शनलाल जी म. सा. एवं विद्वद्वरेण्य डॉ. शास्त्रीजी की विशेष रूप से प्रेरणा रही कि इस अनुवाद कार्य में मैं भी साथ रहूँ, तदनुसार डॉ. शास्त्री जी के साथ मैं इस अनुवाद कार्य

में संलग्न हुआ । एक उच्च कोटि के विद्वान् के साथ कार्य करने में बहुत कुछ सीखने को मिलता है, मैंने उनके साथ अनुवाद में जुटे रहकर भाषा शैली, प्रस्तुतिकरण आदि के संदर्भ में अनेक नूतन उपलब्धियाँ अर्जित की । मेरे मन में यह नवोत्साह भी उदित हुआ कि मैं यथासंभव कतिपय अन्य आगमों की टीकाओं का अनुवाद करने विनम्र प्रयास करूँ । मैं मानता हूँ-इससे मुझे अपने ज्ञान को परिमार्जित करने का, मनन, चिंतन एवं अनुशीलन करने का सुन्दर अवसर प्राप्त होगा, जो साधु जीवन के लिए एक वरदान है । श्रुत एवं चारित्र के शाश्वत समाराधन में यह जीवन लग जाए, इससे बड़ा लाभ एक निर्ग्रन्थ मुनि को और क्या हो सकता है ।

जैसा कि प्रस्तावना में डॉ. शास्त्री जी ने व्यक्त किया है, पाठक, स्वाध्यायीगण एवं विद्यार्थीवृन्द मूल के साथ इस अनुवाद का अध्ययन कर लाभान्वित होंगे, ऐसी आशा है ।

आगम की टीका का अनुवाद करते समय पूर्ण सावधानी रखी गई है कि आगम एवं टीकाकार के भाव सुरक्षित रहें, फिर भी यदि अल्पज्ञता के कारण कुछ कमी रह गई हो तो अनन्त सिद्धों की साक्षी से मिच्छामि दुक्कड़म् देते हुए पाठकों से अपेक्षा हैं कि वे कमी की ओर हमें सूचित करें ताकि संशोधन किया जा सके ।

❀ ❀ ❀



परस्परोपग्रहो जीवानाम्

अनुक्रमणिका

			पृष्ठ संख्या
१.	प्रथम अध्ययन - स्वसमयवक्तव्यताधिकार		१ से १२८
	१. प्रथम उद्देशक	१	
	२. द्वितीय उद्देशक	५६	
	३. तृतीय उद्देशक	९२	
	४. चतुर्थ उद्देशक	११४	
२.	द्वितीय अध्ययन - वैतालिय		१३० से १९६
	१. प्रथम उद्देशक	१३०	
	२. द्वितीय उद्देशक	१४९	
	३. तृतीय उद्देशक	१७८	
३.	तृतीय अध्ययन - उपसर्ग परिज्ञा		१९७ से २६१
	१. प्रथम उद्देशक	१९७	
	२. द्वितीय उद्देशक	२१०	
	३. तृतीय उद्देशक	२२४	
	४. चतुर्थ उद्देशक	२४२	
४.	चतुर्थ अध्ययन - स्त्री परिज्ञा		२६२ से ३०५
	१. प्रथम उद्देशक	२६२	
	२. द्वितीय उद्देशक	२८९	
५.	पंचम अध्ययन - नरक विभक्ति		३०६ से ३४२
	१. प्रथम उद्देशक	३०६	
	२. द्वितीय उद्देशक	३२७	
६.	षष्ठम अध्ययन - वीर स्तुति		३४३ से ३६५
७.	सप्तम अध्ययन - सप्तकुशील परिज्ञा		३६६ से ३९२
८.	अष्टम अध्ययन - श्री वीर्याध्ययन		३९३ से ४१४
९.	नवम् अध्ययन - धर्म		४१५ से ४४२
१०.	दशम अध्ययन - सम		४४३ से ४६५
११.	एकादश अध्ययन - श्रीमार्ग		४६६ से ४९३
१२.	द्वादश अध्ययन - समवसरण		४९४ से ५४२
१३.	त्रयोदश अध्ययन - याथातथ्य		५४३ से ५६६
१४.	चतुर्दश अध्ययन - ग्रन्थ		५६७ से ५९४
१५.	पंचदश अध्ययन - आदान		५९५ से ६१७
१६.	षोडश अध्ययन - गाथा		६१८ से ६२७

❀ ❀ ❀

श्रीसूत्रकृतांगसूत्रम् – सटीक भाषानुवाद सहितम्

प्रथमाध्ययनं - स्वसमयवक्तव्यताधिकारः

प्रथम उद्देशकः

बुज्झिज्जत्ति तिउट्टिज्जा, बंधणं परिजाणिया ।
किमाह बंधणं वीरो, किं वा जाणं तिउट्टई ? ॥१॥

छाया – बुध्येतेतित्रोटयेद् बंधनं परिज्ञाय ।
किमाह बंधनं वीरः किं वा जानं स्त्रोटयति ॥१॥

अनुवाद – मनुष्य को चाहिए कि वह बोध प्राप्त करे - सत्य को जाने । उसे यह भी समझना चाहिए कि बन्धन क्या है ? भगवान महावीर ने बन्धन का क्या स्वरूप बतलाया है ? बन्धन या कर्मों के बन्ध को किस प्रकार जान समझकर तोड़ा जा सकता है ?

टीका – अस्य संहितादिक्रमेण व्याख्या - बुध्येतेत्यादि । सूत्रमिदं सूत्रकृताङ्गादौवर्तते । अस्य चाचाराङ्गेन सहायं सम्बन्धः । तद्यथाऽऽचाराङ्गेऽभिहितम् - "जीवो छक्कायपरुवणा यतेसिं वहेण बंधोत्ति" इत्यादि, तत्सर्वं बुध्येतेत्यादि । यदिवेह केषाञ्चिद्वादिनां ज्ञानादेव मुक्त्यवाप्तिरन्येषां क्रियामात्रात्, जैनानान्तूभाभ्यां निः श्रेयसाधिगम इत्येतदनेन श्लोकेनप्रतिपाद्यते तत्राऽपि ज्ञानपूर्विका क्रिया फलवती भवतीत्यादौ बुध्येतेत्यनेन ज्ञानमुक्तम्। त्रोटयेदित्यनेन च क्रियोक्ता । तत्राऽयमर्थो - बुध्येत अवगच्छेत् बोधं विदध्यादित्युपदेशः । किंपुनस्तद्बुध्येतात आह - 'बंधणं' बध्यते जीवप्रदेशैरन्योऽन्यानुवेधरुपतया व्यवस्थाप्यत इति बंधनं, ज्ञानावरणीयाद्यष्टप्रकारं कर्म, तद्धेतवो वा मिथ्यात्वाविरत्यादयः परिग्रहारम्भादयो वा । न च बोधमात्रादभिलषितार्थावाप्तिर्भवतीत्यतः क्रियां दर्शयति - तच्च बंधनं परिज्ञाय विशिष्टया क्रिययासंयमानुष्ठानरुपया त्रोटयेदपनयेदात्मनः पृथक् कुर्य्यात्परित्यजेद्वा। एवञ्चाभिहिते जम्बू स्वाम्यादिको विनेयो बन्धादिस्वरूपं विशिष्टं जिज्ञासुः पप्रच्छ 'किमाह' किमुक्तवान् बंधनं वीरः तीर्थकृत् किंवा जानन् अवगच्छँस्तद्बन्धनं त्रोटयति ततो वा त्रुट्यति ? इति श्लोकार्थः ॥१॥

टीकार्थ – इस सूत्र की संहिता-पदों के स्पष्ट उच्चारण आदि के क्रम से व्याख्या की जा रही है। यह सूत्र-गाथा सूत्रकृतांग के प्रारम्भ में है । इसका आचारांग के साथ संबंध है । आचारांग में कहा गया है "जीव छः कायों के होते हैं-कायिक-शारीरिक दृष्टि से वे ६ प्रकार के होते हैं । उनके वध-हिंसा से कर्मों का बन्ध होता है, इत्यादि । यह सब जानने योग्य है । अथवा एक अभिप्राय यह है 'कई वादी-सैद्धान्तिक ज्ञान से ही मुक्ति प्राप्त होना मानते हैं । दूसरे कई केवल क्रिया से ही मुक्ति मानते है किन्तु जैनों के सिद्धान्तानुसार मोक्ष इन दोनों से-आचार और क्रिया से प्राप्त होता है। यह श्लोक इस भाव को प्रकट करता है । वहाँ भी ज्ञानपूर्वक की गई क्रिया विशेषतः फलप्रद होती है, इसलिए पहले बुज्झिज्जा-बुध्येत् इस शब्द द्वारा ज्ञान का कथन किया गया है । आगे तिउट्टई-त्रोटयेत् शब्द द्वारा क्रिया का उल्लेख है । इसका अभिप्राय यह है कि पुरुष बोध प्राप्त करे, वास्तविकता को जाने । वह किस बात को जाने, ऐसी जिज्ञासा को दृष्टि में रखते हुए कहा गया कि बंधन को जाने। जीव के प्रदेश जहाँ परस्पर अनुवेध रूप से सम्बद्ध होते है, कर्म परमाणुओं

के साथ स्वयं मिल जाते है-संश्लिष्ट हो जाते है, उन्हें अपने में मिला लेते है, उसे बंधन कहा जाता है । ज्ञानावरणीय आदि आठ प्रकार के कर्म है । अथवा मिथ्यात्व अविरति आदि या परिग्रह हिंसा आदि उनके हेतु है यह ज्ञातव्य है । केवल बोध प्राप्त कर लेने मात्र से अभिलषित या वांछित प्रयोजन की प्राप्ति नहीं होती, इसलिए क्रिया का दिग्दर्शन कराते है । बन्धन को जानकर संयत आचरण के अनुरूप विशिष्ट क्रिया द्वारा बंधन को तोड़ना चाहिए, उसे-बंधे हुए कर्म समवाय-कर्म समूह से आत्मा को पृथक् करना चाहिए। ऐसा कहे जाने पर जम्बूस्वामी आदि शिष्य वृन्द ने बन्ध आदि के स्वरूप की विशेष रूप से जिज्ञासा करते हुए पूछा-तीर्थंकर महावीर ने बन्ध किसे कहा अथवा पुरुष क्या जानता हुआ बन्धन को तोड़ता है, अथवा किससे बन्धन टूटता है-इस गाथा का यह अभिप्राय है ।

❀ ❀ ❀

चित्तमंतमचित्तं वा, परिगिज्झ किसामवि ।
अन्नं वा अणुजाणाइ, एवं दुक्खा ण मुच्चइ ॥२॥

छाय – चित्तवन्त मचितं वा परिगृह्य कृशमपि ।
अन्यं वा अनुजानाति, एवं दुःखान्नमुच्यते ॥२॥

अनुवाद – जो मनुष्य चित्तवान-चैतन्ययुक्त-द्विपदचतुष्पद आदि प्राणियों को अथवा अचित्तवान-चैतन्यरहित-स्वर्ण, रजत आदि मूल्यवान अथवा तृण, घास, पुस आदि अति साधारण पदार्थों को भी परिग्रह के रूप में स्वीकार करता है, रखता है, औरों को वैसा करने की-परिग्रह के रूप में ग्रहण करने की आज्ञा देता है वह दुःख से मुक्त नहीं होता, नहीं छूटता ।

टीका – बंधनप्रश्नस्वरुप निर्वचनायाह - इह बंधनं कर्मतद्धेतदो वाऽभिधीयन्ते, तत्र न निदानमन्तरेण निदानिनो जन्मेति निदानमेव दर्शयति, तत्राऽपि सर्वारम्भाः कर्मोपादानरूपाः प्रायश आत्मात्मीयग्रहोत्थाना इति कृत्वाऽऽदौ परिग्रहमेव दर्शितवान् । चित्तमुपयोगो ज्ञानं तद्विद्यते यस्य तच्चित्तवत्-द्विपदचतुष्पदादि, ततोऽन्यदचित्तवत्-कनकरजतादि, तदुभयरुपमपिपरिग्रहं परिगृह्य, कृशमपि स्तोकमपि तृणतुषादिकमपीत्यर्थः, यदिवा कसनं कसः परिग्रहबुद्धया जीवस्य गमन परिणाम इतियावत् तदेवं स्वतः परिग्रहं परिगृह्यान्यान्वाग्राहयित्वागृह्नतोवाऽन्याननुज्ञायदुःखयतीतिदुःखम्-अष्टप्रकारं कर्म तत्फलं वाऽसातोदयादिरूपं तस्मान्नमुच्यत इति । परिग्रहाग्रहएव परमार्थतोऽनर्थमूलं भवति । तथा चोक्तम् -

"ममाहमिति चैष यावदभिमानदाहज्वरः, कृतान्तमुखमेव तावदिति न प्रशान्त्युन्नयः ।
यशः सुख पिपासि तैरयमसावनर्थोत्तरैः, परैरपसदः कुतोऽपि कथमप्यपाकृष्यते" ॥१॥

तथा च-"द्वेषस्यायतनं धृतेरपचयः क्षान्तेः प्रतीपो विधि, र्व्याक्षेपस्य सुहृन्मदस्य भवनं ध्यानस्य कष्टो रिपुः । दुःखस्य प्रभवः सुखस्य निधनं पापस्य वासो निजः, प्राज्ञस्याऽपि परिग्रहो ग्रह इव क्लेशाय नाशाय च ॥"॥२॥

तथा च परिग्रहेष्वप्राप्तनष्टेषु काङ्क्षाशोकौ प्राप्तेषु च रक्षणमुपभोगे चातृप्तिरित्येवं परिग्रहे सति दुःखात्मकाद् बंधनान्नमुच्यत इति ॥२॥

टीकार्थ – बंधनविषयक प्रश्न के स्वरूप का निर्वचन-विवेचन करते हुए कहते हैं -

यहाँ कर्म या कर्म के कारणों को बन्धन कहा गया है । निदान-कारण या हेतु के बिना निदानी का-कार्य का जन्म नहीं होता-वह उत्पन्न नहीं होता, इसलिए यहाँ पहले आगमकार बन्धन का निरुपण करते हैं। सभी आरम्भ-हिंसादिउपक्रम कर्म के उपादान-कारण है । वे आरम्भ मुख्यत: मैं और मेरेपन के भाव से-परिग्रहात्मक बुद्धि से उत्पन्न होते है । अत: प्रारम्भ में परिग्रह का ही दिग्दर्शन कराया गया है ।

जिसमें चित्त-उपयोग, ज्ञान या चेतना का व्यापार विद्यमान होता है, उसे चित्तवान कहा जाता है । द्विपद-दो पैरो वाले, चतुष्पद-चार पैरों वाले प्राणी उसमें समाविष्ट है । उनके अतिरिक्त सोना, चांदी आदि जो चित्त या चेतना व्यापार रहित है वे अचित्त कहलाते हैं । यह दो प्रकार का परिग्रह है । इन दोनों प्रकार के परिग्रहों को ग्रहण करना, रखना, चाहे वह घास पुस जैसा तुच्छ पदार्थ भी हो परिग्रह रखने के अन्तर्गत आता है । परिग्रह की एक व्याख्या यह भी है - किसी पदार्थ के प्रति आकृष्ट होना, परिग्रह बुद्धि से जीव का उसकी ओर गतिशील होना-प्रवृत्त होना भी परिग्रह करे अन्तर्गत है। यो स्वयं जो परिग्रह रखता है, औरों से वैसा करवाता है, जो परिग्रह रखते है उनका अनुमोदन करता है, वह पुरुष दु:ख से-आठ प्रकार के कर्मों और उनके दु:खात्मक फल से मुक्त नहीं हो पाता, परिग्रह में आग्रह रखना-उससे बंधे रहना वास्तव में अनर्थमूलक है ।

कहा गया है-यह मेरा है, यह मैं हूँ, यह अहंकार मूलक दाहज्वर जब तक मनुष्य में बना रहता है, तब तक कृतान्त या यमराज का मुख-मृत्यु ही उसकी शरण है-मृत्युपर्यन्त वह उसमें फँसा रहता है । उसे शांति प्राप्त नहीं होती । जिनमें कीर्ति और सुख की पीपासा-तीव्र अभिलाषा है, जिसका अन्तत: अनर्थ ही फल है, वे इस परिग्रह को जो अपसद-दु:खप्रद है, बड़ी कठिनता से अर्जित करते है । और भी -

यह परिग्रह द्वैष का आयतन-आवासस्थान है, धृति-धैर्य का अपचय-क्षय है, क्षान्ति-क्षमाशीलता का विरोधी है, चैतसिक विक्षेप का-चित्त की चंचलता का मित्र है, मद-गर्व या अहंकार का भवन है, ध्यान का कष्टप्रद शत्रु है, दु:ख का उत्पत्ति हेतु है, सुख का विनाश करता है, पाप का अपना निवास स्थान है-पापपुंज से व्याप्त है । परिग्रह विपरीतग्रह की ज्यों बुद्धिमान पुरुष के लिए कष्टप्रद है, उसका नाश कर डालता है।

जो प्राप्त नहीं हैं, वैसे परिग्रह को पाने की इच्छा बनी रहती है, जो प्राप्त होकर चला जाता है, तब मन में शौक उत्पन्न होता है । प्राप्त परिग्रह की रक्षा करने में भी कष्ट होता है, चित्त में व्याकुलता बनी रहती है, उसका उपभोग करते रहने पर भी तृप्ति नहीं होती-मनुष्य उससे उपरत नहीं होता है । अत: जब तक परिग्रह रहता है, दु:खात्मक-दु:खप्रद बन्धन से छुटकारा नहीं हो पाता ।

❀ ❀ ❀

सयं तिवायए पाणे, अदुवाऽन्नेहिं घायए ।
हणंतं वाऽणुजाणाइ, वेरं वड्ढइ अप्पणो ॥३॥

छाया – **स्वयमतिपातयेत्प्राणानथवाऽन्यैर्घातयेत् ।**
घ्नन्तं वाऽनुजानाति वैरं वर्धयत्यात्मनः ॥३॥

अनुवाद – जो पुरुष प्राणियों का स्वयं अतिपात-हिंसा या घात करता है अथवा औरों द्वारा वैसा करवाता हैं, जो घातकर रहा हो, उसका अनुमोदन करता है, वह उन प्राणियों के साथ अपना शत्रुभाव बढ़ाता है-उन प्राणियों के प्रति उसका यह आचरण शत्रुवत् है ।

टीका – परिग्रहवतश्चावश्यंभाव्यारम्भस्तस्मिँश्च प्राणातिपात इति दर्शयितुमाह - यदिवा-प्रकारान्तरेण बन्धनमेवाह-'संयतीत्यादि', सपरिग्रहवानसंतुष्टो भूयस्तदर्जनपरः समर्जितोपद्रवकारिणी च द्वेषमुपगतस्ततः स्वयमात्मना 'त्रिभ्यो' मनोवाक्कायेभ्य आयुर्बलशरीरेभ्यो वा 'पातयेत्' च्यावयेत् प्राणान् प्राणिनः । अकारलोपाद्वा अतिपातयेत् प्राणानिति । प्राणाश्चामी -

"पञ्चेन्द्रियाणि त्रिविधं बलञ्च, उच्छ्वासनिश्वासमथान्यदायुः ।
प्राणादशैते भगवद्भिरुक्ता स्तेषां वियोगी करणन्तु हिंसा ॥१॥

तथा स परिग्रहाग्रही न केवलं स्वतो व्यापादयति अपरैरपि घातयति घ्नतश्चान्यान् समनुजानीते । तदेवं कृतकारितानुमतिभिः प्राण्युपमर्द्दनेन जन्मांतरशतानुबन्ध्यात्मनोवैरं वर्धयति, ततश्च दुःखपरम्परारुपाद् बंधनान्नमुच्यत इति । प्राणातिपातस्य चोपलक्षणार्थं तान्मृषावादादयोऽपि बन्धहेतवो द्रष्टव्या इति ॥३॥

टीकार्थ – परिग्रह में रत पुरुष के द्वारा आरम्भ समारम्भ अवश्य होते रहते हैं - वह परिग्रह को सुरक्षित रखने और बढ़ाने के लिए अनेक प्रकार के आरम्भ करता रहता हैं । वैसा करने में हिंसा होती हैं, इसी विषय की आगमकार व्याख्या करते हैं -

प्रकारान्तर से सूत्रकार 'सयं' पद से प्रारम्भ होने वाली इस गाथा के द्वारा बन्धन का स्वरूप बतलाते हैं । परिग्रह में रचापचा मनुष्य कभी संतुष्ट-परितृप्त नहीं होता, वह पुनः परिग्रह के अर्जन में-धनादि के संग्रह में तत्पर होता हैं । अपने द्वारा अर्जित परिग्रह में जो उपद्रव-बाधा उत्पन्न करता है-हानि पहुँचाना चाहता है, उसके प्रति वह परिग्रही पुरुष द्वैष करता है, वह मन वाणी और शरीर द्वारा उस प्राणी के प्राणों का व्याघात करता है या उसकी आयु, बल और शरीर इन तीनों का नाश करता है । 'तिवायए' इस पद में अकार का लोप हुआ है, मूलतः यह अतिवायए पद हैं, इसका तात्पर्य प्राणों का अतिपात या क्षय करना है ।

प्राण यह है -

भगवान ने पांच इन्द्रियां, तीन बल, उच्छवास-निच्छवास और आयु ये दस प्राण बतलाये है । इन प्राणों का वियोजन करना हिंसा है ।

जिसका परिग्रह में आग्रह है-अत्यधिक आकर्षण होता हैं, वह केवल स्वयं ही प्राणियों की हिंसा नहीं करता औरों द्वारा भी वैसा करवाता है । जो हिंसा में लगे होते हैं, उनका अनुमोदन करता है । इस प्रकार कृतकारित एवं अनुमोदित-स्वयं करना, दूसरे से करवाना, करते हुए का समर्थन करना, यों तीन प्रकार से प्राणियों की हिंसा करने के फलस्वरूप वह उनसे सैकड़ो जन्मों तक टिकने वाले शत्रुभाव की वृद्धि करता है । उस कारण वह दुःखों की परम्परा से जुड़े हुए बंधन से छूट नहीं पाता। यहाँ प्राणातिपात के उपलक्षण-संसूचन द्वारा मृषावाद असत्य आदि से सम्बद्ध बंधन के कारणों को भी समझना चाहिए ।

❀ ❀ ❀

जस्सिं कुले समुप्पन्ने जेहिं वा संवसे नरे ।
ममाइ लुप्पई बाले अण्णे अण्णेहि मुच्छिए ॥४॥

छाया – यस्मिन्कुले समुत्पन्नौ यै र्वा संवसेन्नरः ।
ममायं लुप्यते बालः, अन्येष्वन्येषु मूर्च्छितः ॥४॥

अनुवाद – मनुष्य जिस कुल में समुत्पन्न हुआ अथवा जिनके साथ वह निवास करता है, उनमें वह यदि ममत्वभाव रखता है तो वह लुप्त पीड़ित या दुःखित होता है । वैसा अज्ञानी पुरुष अन्यान्य वस्तुओं में, सांसारिक पदार्थों में मूर्च्छित-मोह, मूढ़ या आसक्त होता जाता है ।

टीका – पुनबन्धनमेवाश्रित्याह - 'जस्सि' मित्यादि, यस्मिन् राष्ट्रकुलादौ कुले जातो यै र्वा सह पांसुक्रीडितै र्वयस्यैर्भार्य्यादिभि र्वा सह संवसेन्नरः, तेषु मातृपितृभ्रातृभगिनीभार्य्यादिषु ममायमिति ममत्ववान् स्निह्यन् लुप्यते विलुप्यते । ममत्वजनितेन कर्मणा नारकतिर्य्यङ्मनुष्यामरलक्षणे संसारे भ्रम्यमाणो बाध्यते-पीड्यते। कौऽसौ ? बालः-अज्ञः-सद्सद्विवेकरहितत्वात् । अन्येष्वन्येषु च मूर्च्छितोगृद्धोऽध्युपपन्नो ममत्वबहुल इत्यर्थः । पूर्वं तावन्माता पित्रोस्तदनु भार्य्यायां पुनः पुत्रादौ स्नेहवानिति ॥४॥

टीकार्थ – आगे बन्धन को आश्रित-उपलक्षित कर कहते हैं -

जिसमें-राष्ट्रकुलआदि वंशपरम्परा में मनुष्य उत्पन्न होता है, या जिनके साथ बचपन में धूलि में खेला, कूदा उन मित्रों या पत्नि आदि निकटतम् संबंधियों के साथ रहता है, माता-पिता भाई-बहिन पत्नि आदि के प्रति ये मेरे है, उसमें ऐसा ममत्व पैदा हो जाता है, वह उनमें आसक्त हो जाता है, वैसा करता हुआ लुप्त, विलुप्त या दुःखित होता है, ममत्व के कारण जो कर्म बंधते है, उनके परिणामस्वरूप वह नरकगति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति या देवगति मूलक संसार में भटकता रहता है । दुःखित होता रहता है । इसी को स्पष्ट करते हुए टीकाकार अपने आपसे प्रश्न करते है-वह कौन है ? स्वयं उसका उत्तर देते हुए लिखते है-वह बाल है-अज्ञानी है, उसे सत्, असत्-भले बुरे या शुभ अशुभ का विवेक नहीं है । इसका आशय यह है कि ममत्व की अधिकता के कारण वह भिन्न-भिन्न पदार्थों में मूर्च्छित्-मोहमूढ़, गृद्ध-लोलुप, अध्युपपन्न-आसक्त होता जाता है । पहले मातापिता में फिर पति पत्नी में तत्पश्चात् पुत्रआदि में क्रमशः उसका स्नेह या मोह बढ़ता जाता है ।

❀ ❀ ❀

वित्तंसोयरियाचेव, सव्वमेयं न ताणइ ।
संखाए जीवियं चेवं, कम्मुणा उतिउट्टई ॥५॥

छाया – **वित्तं सोदर्य्याश्चैव सर्वमैतन्न त्राणाय ।**
संख्याय जीवितञ्चैव, कर्मणस्तु त्रुटयति ॥५॥

अनुवाद – वित्त, सम्पत्ति, सहोदर-एक माँ से उत्पन्न भाई बहिन आदि कोई भी प्राणी को त्राण नहीं दे सकते, दुःखों से बचा नहीं सकते । जीवन के स्वरूप को जो नश्वर और स्वल्प है जानकर प्राणी कर्मबंधन को तोड़ देता है ।

टीका – साम्प्रतंयदुक्तं प्राक् 'किं वा जानन् बंधनं त्रोटयतीति' अस्यनिर्वचनमाह-वित्तं द्रव्यं तच्च सचित्तमचित्तं वा, तथासोदर्य्याभ्रातृभगिन्यादयः, सर्वमपि चं 'एतद्' वित्तादिकं संसारान्तर्गतस्यासुमतोऽतिकटुकाः शारीर मानसीर्वेदनाः समनुभवतो न त्राणाय रक्षणाय भवतीत्येतत्संख्याय ज्ञात्वा तथा जीवितं च प्राणिनां स्वल्पमिति संख्यायज्ञपरिज्ञया, प्रत्याख्यान परिज्ञया तु सचित्ताचित्तपरिग्रह प्राण्युपघातस्वजनस्नेहादीनि बन्धनस्थानानि प्रत्याख्याय कर्मणः सकाशात् 'त्रुटयति' अपगच्छत्यसौ, तुरवधारणे त्रुटयेदेवेति । यदि वाकर्मणा क्रियया संयमानुष्ठानरुपया बंधनात् त्रुटयति कर्मणः पृथग्भवतीत्यर्थः ॥५॥

टीकार्थ – पहले जो कहा गया कि क्या जानता हुआ प्राणी बन्धन को तोड़ देता है, अब उसी का विश्लेषण करते हुए कहते हैं -

वित्त का अर्थ द्रव्य है, वह सचित्त-सप्राण और अचित्त-अप्राण दो प्रकार का होता है । भाई बहिन आदि तथा सम्पत्ति, वैभव आदि संसार में अत्यन्त कठोर कष्टप्रद शारीरिक मानसिक वेदनाएं अनुभव करते रहते हुए प्राणी को त्राण देने में-उनसे उसको बचाने में समर्थ नहीं होते । इसे जानकर तथा प्राणियों का जीवन अल्पकालीन है, यह समझकर वह ज्ञपरिज्ञा-ज्ञानात्मक चेतना तथा प्रत्याख्यान परिज्ञा-त्यागमूलक चेतना द्वारा सचित्त तथा अचित्त परिग्रह, प्राणियों की हिंसा, पारिवारिकजनों के प्रति ममत्व-मोह ममत्व आदि जो कर्मबंध के स्थान या हेतु है इनका परित्यागकर वह कर्म से टूट जाता है-पृथक् हो जाता हैं, दूर हो जाता है । यहाँ 'तु' शब्द का प्रयोग निश्चयात्मकता के अर्थ में हैं, अर्थात् टूट ही जाता है । इसका यह भी अभिप्राय है - वह कर्म से संयमपालन के अनुरूप क्रिया द्वारा कर्म के बंधन से छूट जाता है, पृथक् हो जाता है ।

❀ ❀ ❀

एए गंथे विउक्कम्म, एगे समणमाहणा ।
अयाणंता विउस्सित्ता, सत्ता कामेहि माणवा ॥६॥

छाया – एतान् ग्रंथान् व्युत्क्रम्य एके श्रमण ब्राह्मणाः ।
अजानन्तो व्युत्सिताः सक्ताः कामेषु मानवाः ॥६॥

अनुवाद – कई श्रमण-अजैन-बुद्ध, अजितकेशकंबल, संजयवेलट्ठिपुत्र आदि श्रमण परम्परा के भिक्षु तथा ब्राह्मण-बृहस्पति आदि के मतानुयायी-ब्राह्मणपरम्परान्तर्वर्ती जन इन सिद्धान्तों का व्युत्क्रम कर-उल्लंघन कर अपने सिद्धान्तों में अनुबद्ध रहते हैं । वे अज्ञानी कामभोगों मे आसक्त बने रहते हैं ।

टीका – अध्ययनार्थाधिकाराभिहितत्वात्स्वसमयप्रतिपादनान्तरं परसमय प्रतिपादनाभिधित्सयाऽऽह -

एतान् अनन्तरोक्तान् ग्रन्थान् व्युत्क्रम्यपरित्यज्यस्वरुचिविरचितार्थेषु ग्रन्थेषु सत्ताः 'सिताः' बद्धाः एके, न सर्वेइतिसम्बन्धः । ग्रन्थातिक्रमश्चैतेषां तदुक्तार्थानभ्युपगमात् । अनन्तरग्रन्थेषु चायमर्थोऽभिहितः तद्यथा-जीवास्तित्वेसति ज्ञानावरणीयादि कर्म बंधनम् । तस्यहेतवो मिथ्यात्वाविरति प्रमादादयः परिग्रहारंभादयश्च, तत् त्रोटनञ्चसम्यग्दर्शनाद्युपायेन मोक्षसद्भावश्चेत्येवमादिकः । तदेवमेके श्रमणाः शाक्यादयो बार्हस्पत्यमतानुसारिणश्च ब्राह्मणाः 'एतान्' अर्हदुक्तान् ग्रन्थानतिक्रम्यपरमार्थमजानानाः विविधम् अनेक प्रकारम् उत् प्राबल्येन सिताः बद्धाः स्वसमयेष्वभिनिविष्टाः । तथाचशाक्याएवं प्रतिपादयन्ति, यथा-सुखदुःखेच्छाद्वेषज्ञानाधारभूतोनास्त्यात्मा कश्चित् किन्तु विज्ञानमेवैकं विवर्तत इति, क्षणिकाः सर्वसंस्काराः इत्यादि । तथा सांख्या एवं व्यवस्थिताः-"सत्त्वरजस्तमसांसाम्यावस्था प्रकृतिःप्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारस्तस्माद्गणश्चषोड़शकः तस्मात् षोडशकादपि पञ्चभूतानि, चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपमित्यादि ।" वैशेषिकाःपुनराहुः-"द्रव्यगुण कर्मसामान्यविशेषसमवायाः षट् पदार्था" इति । तथा नैयायिकाः -प्रमाणप्रमेयादीनां पदार्थानामन्वयव्यतिरेकपरिज्ञानान्निः श्रेयसाधिगमइति व्यवस्थिताः । तथा मीमांसकाः चोदनालक्षणोधर्मो न च सर्वज्ञः कश्चिद्विद्यते मुक्त्यभावश्चेत्येवमाश्रिताः । चार्वाकास्त्वेवमभिहितवन्तो, यथानास्ति कश्चित् परलोकयायी भूतपञ्चकाद्व्यतिरिक्तो जीवाख्यः पदार्थो, नाऽपि पुण्यपापेस्तइत्यादि । एवं चाङ्गीकृत्यैते लोकायतिकाः 'मानवाः' पुरुषाः 'सक्ता' गृद्धा अध्युपपन्नाः कामेषु, इच्छामदनरूपेषु, तथाचोचुः "ऐतावानेव पुरुषोयावानिन्द्रिय-

गोचरः) भद्रे ! वृकपदंपश्ययद् वदन्त्यबहुश्रुताः ? "पिब खाद च साधुशोभने । यदतीतं वरगात्रि ! तन्नते। नहि भीरू ! गतं निवर्तते समुदयमात्रमिदं कलेवरम् । एवं ते तन्त्रान्तरीयाःस्वसमयार्थवासितान्तःकरणाः सन्तो भगवदर्हदुक्तं ग्रन्थार्थमज्ञान परमार्थाः समतिक्रम्य स्वकीयेषु ग्रन्थेषु सिताः-संबद्धाः कामेषु च सक्ता इति ॥६॥

टीकार्थ – प्रथम अध्ययन में स्वसमय-जैनसिद्धान्त के प्रतिपादन के पश्चात् परसमय-जैनेतरसिद्धान्तों के प्रतिपादन का भी समावेश है, अतः अपने सिद्धान्तों के कथन के बाद इतर सिद्धान्तों को बताते हुए आगमकार कहते हैं -

कई पुरुष पहले जिन सिद्धान्तों की चर्चा की है उनका परित्याग कर अपनी रूचि के अनुसार निर्मित ग्रन्थों में आसक्त रहते है, यहाँ गाथा में जो 'एए-एके' शब्द का प्रयोग हुआ है, उसका तात्पर्य यह है कि सब ऐसे नहीं होते, कुछ होते हैं । अपने द्वारा रचित ग्रन्थों के सिद्धान्तों को स्वीकार करने का आशय यह है कि वे पूर्वोक्त ग्रन्थों-जैन ग्रन्थों का अतिक्रमण करते हैं । पूर्वोक्त ग्रन्थों में ऐसा अर्थ-अभिप्राय निरुपित हुआ है- जीवों का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है, ज्ञानावरणीयादि कर्मबंधन है, मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, परिग्रह आरम्भ आदि उसके-कर्मबंध के हेतु है । सम्यग्दर्शन आदि उपायों से वह बन्धन टूटता है । फलतः मोक्ष प्राप्त होता है, कतिय शाक्य-बौद्धानुयायी श्रमण तथा बृहस्पति आदि के सिद्धान्तों का अनुसरण करने वाले ब्राह्मण, तीर्थंकरों द्वारा कहे सभी उपर्युक्त सिद्धान्तों का अतिक्रमण-उल्लंघन कर परमार्थ-परमतत्व या सत्य को नहीं जानते हुए अनेक प्रकार से अपने-अपने सिद्धान्तों में आग्रहपूर्वक बद्ध-आसक्त रहते हैं । शाक्य ऐसा प्रतिपादन करते हैं-

सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और ज्ञान का आधारस्वरूप कोई आत्मा नाम का स्वतन्त्र तत्व नहीं है किन्तु एक विज्ञान का ही विवर्तन-नाना रूपों में परिणयन होता है । सभी संस्कार-पदार्थ क्षणिक-क्षणवर्ती है ।

सांख्यवादियों में विश्वास करने वाले अपने पदार्थों या तत्वों की व्याख्या का इस प्रकार निरूपण करते हैं -

सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण की साम्यावस्था-एक समान स्थिति को प्रकृति कहा जाता है, प्रकृति से महान्-बुद्धि तत्व उत्पन्न होता है । बुद्धि से अहंकार की निष्पत्ति होती है, अहंकार से सोलह तत्वों का समूह आविर्भूत होता है, उससे पांच महाभूत उत्पन्न होते हैं । पुरुषया आत्मा नामक तत्व का स्वरूप चैतन्य या चेतना है ।

वैशेषिक दर्शन में विश्वास रखने वाले बतलाते हैं -

द्रव्य, गुण, कर्म सामान्य, विशेष एवं समवाय ये छः पदार्थ है ।

नैयायिक इस प्रकार प्रतिपादन करते है - अन्वय[1] और व्यतिरेक[2] के ज्ञानपूर्वक प्रमाण प्रमेय आदि के बोध से मोक्ष प्राप्त होता है ।

मीमांसक ऐसा कहते हैं-धर्म का रक्षणप्रेरणा है, प्रेरणा का तात्पर्य अज्ञात अर्थ को ज्ञापित करने वाला वैदिक वाक्य हैं । उस द्वारा धर्म अर्थ आदि का अवबोध होता है । सर्वज्ञनामक कोई पुरुष नहीं है । अर्थात् कोई भी सर्वज्ञ नहीं होता । मुक्ति का सद्भाव-अस्तित्व नहीं है ।

---

१. यत्सत्वे यत्सत्वमन्वयः - जिसके होने पर जो हो, उसे अन्वम कहा जाता है ।

२. यद्यभावे यदभावः व्यतिरेकः - जिसके न होने पर जो न हो, उसे व्यतिरेक कहा जाता है ।

चार्वाक इस प्रकार अपने सिद्धान्तों की व्याख्या करते हैं -

पांचभूतों के अतिरिक्त कोई भी परलोक जाने वाला-मृत्यु के उपरान्त अन्यभव प्राप्त करने वाला आत्मा नाम का पदार्थ नहीं है । न पाप है और न पुण्य है । ऐसे सिद्धान्तों को स्वीकृतकर ये लोकायतिक-इसलोक को ही सब कुछ मानने वाले चार्वाक-इन सिद्धान्तों में विश्वास करने वाले पुरुष कामनाओं में-सांसारिक सुखों की अभिप्सा और भोग आदि में आसक्त लोलुप बने रहते हैं । वे इन शब्दों में एक महिला को संबोधित करते हुए कहते हैं-हे कल्याणी ! ये मानवलोक इतना ही है जितना इन्द्रियों द्वारा दृष्टिगोचर होता है, प्राप्त होता है । *एक मनुष्यमार्ग से निकला । मार्ग में उसके पैर का निशान अंकित हो गया, उसे देखकर अबहुश्रुत-अज्ञानी* पुरुष कह देते है कि ये भेड़िये के पंजे का निशान है । स्वर्ग, आदि भी इसी प्रकार अज्ञानजनित मिथ्याकल्पनाएं है । हे सुन्दरी !-उत्तम देहधारिणी, अच्छा खाओ और पीओ । जो व्यतीत हो गया, वह तुम्हारा नहीं है । हे भोली ! जो चला गया, वो वापस नहीं लौटता । यह शरीर पांच तत्वों का समुदय या सम्मिलित पुंज है ।

इस प्रकार अपने-अपने सिद्धान्तों में जिनका अन्तःकरण अनुवासित-आसक्त है, वे परमार्थ को नहीं जानते । तीर्थंकर भगवान् द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का अतिक्रमणकर-त्यागकर अपने-अपने ग्रन्थों में-सिद्धान्तों में बंधे रहते हैं तथा काम भोगों में लिप्त रहते हैं ।

❀ ❀ ❀

संति पंच महब्भूया, इह मेगेसिमाहिया ।
पुढवी आउ तेऊ वा वाउ आगासपंचमा ॥७॥

छाया – संति पञ्च महाभूतानीहैकेषा माख्यातानि ।
पृथिव्यापस्तेजो वा वायुराकाशपञ्चमानि ॥७॥

अनुवाद – पंचभूतवादी ऐसा प्रतिपादन करते हैं कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश ये पांच महाभूत ही इस जगत में मूल तत्व है ।

टीका – साम्प्रतं विशेषेण सूत्रकार एव चार्वाकमतमाश्रित्याह - संति विद्यन्ते महान्ति च तानि भूतानि च महाभूतानि, सर्वलोकव्यापित्वान्महत्त्वविशेषणम् अनेन् च भूताभाववादिनिराकरणं द्रष्टव्यम् 'इह' अस्मिन् लोके 'एकेषां' भूतवादिनाम् 'आख्यातानि' प्रतिपादितानि तत्तीर्थकृता तै र्वा भूतवादिभि र्बार्हस्पत्यमतानुसारिभिराख्यातानि स्वयमङ्गीकृतान्येषाञ्च प्रतिपादितानि । तानि चामूनि, तद्यथा-पृथिवी कठिनरूपा, आपोद्रवलक्षणाः तेजउष्णरूपं, वायुश्चलनलक्षणः, आकाशं सुषिरलक्षणमिति, तच्चपञ्चमं येषां तानि तथा, एतानि साङ्गोपाङ्गानि प्रसिद्धत्वात् प्रत्यक्ष प्रमाणावसेयत्वाच्च न कैश्चिदपह्नोतुं शक्यानि । ननु च सांख्यादिभिरपि भूतान्यभ्युपगतान्येव, तथाहि सांख्यास्तावदेवमूचुः -सत्वरजस्तमोरूपान्, प्रधानान्महान् बुद्धिरित्यर्थः महतोऽहङ्कारः-अहमिति प्रत्ययः, तस्मादप्यहङ्कारात् षोडशको गण उत्पद्यते, सचायं-पञ्चस्पर्शनादीनि बुद्धीरिन्द्रयाणि, वाक्पाणिपादपायूपस्थरूपाणि पञ्चकर्मेन्द्रियाणि, एकादशंमनः, पञ्चतन्मात्राणि, तद्यथा-गन्ध रस रूपस्पर्शशब्द तन्मात्राख्यानि । तत्र गन्धतन्मात्रात्पृथिवी, गन्धरसरूप-स्पर्शवती । रसतन्मात्रादापो रसरूपस्पर्शवत्यः । रूपतन्मात्रात्तेजो रूपस्पर्शवत् स्पर्शतन्मत्राद्वायुः स्पर्शवान् शब्दतन्मात्रादाकाशं गन्ध रसरूप स्पर्शवर्जितमुत्पद्यत इति । तथा वैशेषिका अपि भूतान्यभिहितवन्तः तद्यथा-पृथिवीत्वयोगात्पृथिवी, साच परमाणु लक्षणा नित्या, द्वयणुकादिप्रक्रमनिष्पन्न कार्य्यरूपतयात्वनित्या । चतुर्दशभिर्गुणै रूपरसगन्ध-

स्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोग विभाग परत्वापरत्व गुरुत्व द्रवत्ववेगाख्यै रूपेता। तथाऽप्त्वयोगादापः, ताश्चरुपरसस्पर्श संख्या परिमाण पृथक्त्व संयोग विभाग परत्वापरत्व गुरुत्वस्वाभाविक द्रवत्व स्नेह वेगवत्यः तासु च रुपं शुक्लमेव, रसोमधुर एव स्पर्शःशीत एवेति । तेजस्त्वाभिसम्बन्धात्तेजः, तच्च रुपस्पर्शसंख्या परिमाण पृथक्त्व संयोगविभागपरत्वापरत्वनैमित्तिकद्रवत्ववेगाख्यैरेकादशभिर्गुणैर्गुणवत् । तत्र रूपं शुक्लं भास्वरंच, स्पर्श उष्णएवेति। वायुत्वयोगाद् वायुः, सचानुष्णाशीतस्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्व वेगाख्यैर्नवभिर्गुणैर्गुणवान्, ह्रत्कम्पशब्दानुष्णशीतस्पर्शलिङ्गः । आकाशमिति पारिभाषिकी संज्ञा एकत्वात्तस्य, तच्च संख्यापरिमाण पृथक्त्व संयोगविभागशब्दाख्यैः षड्भिर्गुणैर्गुणवत्, शब्दलिङ्गञ्चेति । एवमन्यैरपि वादिभिर्भूतसद्भावाश्रयणे किमिति लोकायतिकमतापेक्षया भूतपञ्चकोपन्यास इति ? उच्यते-सांख्यादिभिर्हि प्रधानात् साहङ्कारिकं तथा कालदिगात्मादिकं चान्यदपि वस्तुजातमभ्युपेयते, लोकायतिकैस्तु भूतपञ्चकव्यतिरिक्तं नात्मादिकं किञ्चिदभ्युपगम्यत इत्यतस्तन्मताश्रयणे नैव सूत्रार्थो व्याख्यायतइति ॥७॥

टीकार्थ – सूत्रकार विशेष रूप से चार्वाक सिद्धान्त को उपलक्षित कर कहते हैं –

'ये पांचों समस्त लोक में व्याप्त हैं, इसलिए इनके साथ महत्त्व विशेषण का उपयोग हुआ है, ये महाभूत कहे जाते हैं । इस विवेचन से जो भूतों का अभाव मानते हैं, ऐसे सिद्धान्तवादियों का मत खण्डित हो जाता है-ऐसा समझना चाहिए । इस संसार में भूतवादी, उनके तीर्थंकर-सिद्धान्त प्ररूपक पुरुष अथवा बृहस्पति के सिद्धान्तों का अनुसरण करने वाले पुरुषों में इन्हीं 'पांचमहाभूतों का आख्यान या प्रतिपादन किया है, स्वयं इसको स्वीकार किया है, दूसरों को वैसा करने का उपदेश दिया है । वे पांच महाभूत इस प्रकार है - (१) पृथ्वी का स्वरूप कठिनता या सख्ती लिए हुए हैं । (२) जल द्रव या तरल रूप है, (३) अग्नि का स्वरूप उष्णता है, (४) वायु का लक्षण चलनशीलता या गतिशीलता है (५) आकाश का स्वरूप रिक्तता या खालीपन है। ये भली भाँति प्रसिद्ध हैं । प्रत्यक्षप्रमाण द्वारा जाने जा सकते हैं । इसलिए कोई इन्हें असत्य नहीं कह सकता। सांख्यआदि अन्य दर्शनों ने भी पांच भूतों को स्वीकार किया है । सांख्यदर्शनवेत्ता ऐसा बतलाते हैं-सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण मूलक प्रकृति से महत् तत्व उत्पन्न होता है । महत् का अर्थ बुद्धि है । बुद्धि से अहंकार की उत्पत्ति होती है, अहं-मैं हूँ ऐसी प्रतीति होती हैं, उस अहंकार से सोलह तत्वों का समूह उत्पन्न होता है । जो इस प्रकार है-स्पर्शन आदि पांच ज्ञानेन्द्रियां, वाणी, हाथ, पैर, मलस्थान, मूत्रस्थान ये पांच कर्मेन्द्रिया, ग्यारहवां मन, तथा पांचतन्मात्राऐं । वे तन्मात्राए-गन्धतन्मात्रा, रसतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा और शब्दतन्मात्रा के रूप में है । गन्ध तन्मात्रा से पृथ्वी उत्पन्न होती है, पृथ्वी में गन्ध, रूप, रस और स्पर्श ये चार गुण है। रसतन्मात्रा से जल उत्पन्न होता है, उसमें रस, रूप और स्पर्श ये तीन गुण है । रूपतन्मात्रा में अग्नि उत्पन्न होती है, उसमें रूप और स्पर्श ये दो गुण हैं । स्पर्शतन्मात्रा से वायु उत्पन्न होता है । स्पर्शवायु का गुण है। शब्द तन्मात्रा से आकाश उत्पन्न होता है । वह गन्ध, रस रूप और स्पर्श से रहित है।

वैशेषिक दर्शन में आस्थाशीलजनों ने भी इन भूतों का वर्णन किया है । उनके अनुसार पृथिवीत्व योग से-पृथ्वी धर्म के संबंध से पृथ्वी उत्पन्न होती है । वह नित्य और अनित्य दो प्रकार की है । परमाणु के रूप में-परमाणुविक स्वरूप की अपेक्षा से नित्य है । द्वयणुकादि के क्रम से उसके जो भिन्न-भिन्न कार्य उत्पन्न होते है, उनके अनुसार वह अनित्य है । रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व और वेग इन १४ गुणों से युक्त है । अपत्व-जलत्व के योग से-जलत्व धर्म के संबंध से जल का अस्तित्व है । वह रूप, रस, स्पर्श, संख्या, परिमाण पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व,

स्वाभाविक द्रवत्व स्नेह और वेग नामक १४ गुणों से युक्त है । जल का मूल रूप शुक्लहै । रस मधुर है एवं स्पर्शशीतल है । तेजस्त्व के संबंध से अथवा तेजस्त्व धर्म के योग से तेज या अग्नि की निष्पत्ति होती है । रूप, स्पर्श, संख्या, परिमाण पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, निमित्तजन्य द्रवत्व और वेग ये ११ गुण उसके प्राप्त होते हैं । उसका रूपशुक्ल, भास्वर-द्युतिमय तथा स्पर्श उष्णतायुक्त होता है । वायुत्व के योग से अथवा वायुत्व धर्म के संबंध से वायु का अस्तित्व है, वह अनुष्ण, अशीत-न गरम न उण्डे स्पर्श से युक्त है । संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग परत्व, अपरत्व और वेग ये ९ गुण उसमें पाये जाते हैं । हृदय की कम्पन, शब्द श्रवण, उष्णता और शीतलतारहित स्पर्श द्वारा उसका बोध होता है, आकाश अपने आपमें एक परिभाषिक संज्ञा है । वह एक है । संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग तथा शब्द ये ६ गुण उसके पाये जाते हैं । शब्द उसका लिङ्ग है-शब्द द्वारा उसकी प्रतीति होती है ।

इसी प्रकार अन्य सिद्धान्तवादियों ने भी पांचमहाभूतों का अस्तित्व स्वीकार किया है । तब लोकायतिक या चार्वाक मत की अपेक्षा से ही पांच भूतों का वर्णन क्यों किया गया ? यह प्रश्न उपस्थित होता है ? इसके समाधान रूप में कहा जाता है कि-सांख्य आदि दार्शनिको के अनुसार प्रकृति सेअहंकार आदि की उत्पत्ति होती है, वे काल दिशा तथा आत्माआदि अन्य अनेक पदार्थ स्वीकार करते है तो चार्वाक पांच महाभूतों के अतिरिक्त आत्मा आदि अन्य किन्हीं भी पदार्थों को स्वीकार नहीं करते, अतएव उनके सिद्धान्त की अपेक्षा से ही सूत्र की व्याख्या की गई है ।

❀ ❀ ❀

एएपंच महब्भूया, तेब्भो एगोत्ति आहिया ।
अह तेसिं विणासेणं, विणासो होइ देहिणो ॥८॥

छाया – एतानि पञ्चमहाभूतानि, तेभ्य एकइत्याख्यातवन्तः ।
अथ तेसां विनाशेन, विनाशो भवति देहिनः ॥८॥

अनुवाद – वे चार्वाकसिद्धान्तानुयायी ऐसा कहते हैं कि पहले वर्णित पांचमहाभूत ही मौलिक तत्व है, उनसे-उनके समन्वय, सम्मिलन से आत्मा उत्पन्न होती है । जब इनका विनाश-पार्थक्य हो जाता है-ये अलग-अलग हो जाते हैं तब आत्मा का भी नाश हो जाता है ।

टीका – यथाचैतत् तथादर्शयितुमाह-एएपंच मब्भूया इत्यादि । 'एतानि' अनन्तरोक्तानिपृथिव्यादीनि-पञ्चमहाभूतानियानि, तेभ्यः कायाकारपरिणतेभ्य एकः कश्चिच्चिद्रूपो भूताव्यतिरिक्त आत्माभवति । न भूतेभ्यो व्यतिरिक्तोऽपरः कश्चित् परपरिकल्पितः परलोकानुयायी सुखदुःखभोक्ता जीवाख्यः पदार्थोऽस्तीत्येवमाख्यातवन्तस्ते। तथा (ते) हि एवं प्रमाणयंति-नपृथिव्यादि व्यतिरिक्त आत्माऽस्ति तद्ग्राहकप्रमाणाभावात् प्रमाणञ्चात्र प्रत्यक्षमेव, नानुमादिकं, तत्रेन्द्रियेण साक्षादर्थस्य सम्बन्धाभावाद् व्याभिचार संभवः । सतिच व्यभिचारसंभवे सदृशे च बाधा-संभवे तल्लक्षणमेव दूषितं स्यादिति सर्वत्रानाश्वासः । तथाचोक्तम्-

"हस्तस्पर्शादिवान्धेन विषमेपथिधावता। अनुमान प्रधानेन विनिपातो न दुर्लभः" ?

अनुमानञ्चात्रोपलक्षण मागमादीनामपि, साक्षादर्थसंबंधाभावाद्धस्तस्पर्शनेनेव प्रवृत्तिरिति । तस्मात्प्रत्यक्षमेवैकंप्रमाणं तेन च भूतव्यतिरिक्तस्यात्मनो न ग्रहणं, यत्तु चैतन्यं तेषूपलभ्यते, तद्भूतेष्वेव कायाकारपरिणतेष्वभिव्यज्यते,

मद्याङ्गेषु समुदितेषु मदशक्तिवदिति । तथा न भूतव्यतिरिक्तं चैतन्यं तत्कार्य्यत्वाद्, घटादिवदिति । तदेवं भूतव्यतिरिक्तस्याऽऽत्मनोऽभावाद्भूतानामेव चैतन्याभिव्यक्तिः जलस्य बुद्बुदाभिव्यक्तिवदिति केषाञ्चिल्लोकायतिकानामाकाशस्याऽपि भूतत्वेनाभ्युपगमाद्भूत पञ्चकोपन्यासो न दोषायेति । न नु च यदि भूतव्यतिरिक्तोऽपरः कश्चिदात्माख्यः पदार्थो न विद्यते कथंतर्हिमृत इति व्यपदेश इत्याशङ्क्याह-अथैषां कायाकार परिणतौ चैतन्याभिव्यक्तौ सत्यां तदूर्ध्वं तेषा मन्यतमस्यविनाशेऽपगमे वायोस्तेजसश्चोभयो र्वा देहिनो देवदत्ताख्यस्य विनाशोऽपगमो भवति, ततश्च मृतइति व्यपदेशः प्रवर्तते न पुनर्जीवापगम इति भूताव्यतिरिक्त चैतन्यवादि पूर्वपक्षइति । अत्र प्रतिसमाधानार्थं निर्युक्तिकृदाह -

"पञ्चण्हं संजोए अण्णगुणाणं च चेयणाइगुणो । पंचिंदियठाणाणं ण अण्णमुणियं मुणइ अण्णो ॥३३॥

पञ्चानां पृथिव्यादीनां भूतानां संयोगे कायाकार परिणामे चैतन्यादिक आदिशब्दात् भाषा चङ्क्रमणादिकश्चगुणो न भवतीति प्रतिज्ञा, अन्यादयस्त्वत्र हेतुत्वेनोपात्ताः दृष्टान्तस्त्वभ्यूह्यः सुलभत्वात्तस्य नोपादानम् ।

तत्रेदं चार्वाकः प्रष्टव्यः-यदेतद्भूतानां संयोगे चैतन्य मभिव्यज्यते तत्किं तेषां संयोगेऽपि स्वातन्त्र्य एवाहोस्वित् परस्परापेक्षया पारतन्त्र्य इति ? किंचातः ? । न तावत्स्वातन्त्र्ये, यत आह "अण्णगुणाणंचेति" चैतन्यादन्ये गुणायेषां तान्यन्यगुणानि तथाहि-आधारकाठिन्यगुणापृथिवी, द्रवगुणाआपः, पक्तृगुणंतेजः, चलनगुणोवायुः, अवगाहदानगुणमाकाशमिति यदिवा प्रागभिहिता गन्धादयः पृथिव्यादीनामेकैक परिहान्याऽन्येगुणश्चैतन्यादिति, तदेवं पृथिव्यादीन्यन्यगुणानि । 'च' शब्दो द्वितीयविकल्पवक्तव्यतासूचनार्थः चैतन्यगुणे साध्येपृथिव्यादीनामन्यगुणानां सतां चैतन्यगुणस्य पृथिव्यादीनामेकैकस्याप्यभावान्न तत्समुदायाच्चैतन्याख्योगुणः सिद्ध्यतीति । प्रयोगस्त्वत्र-भूतसमुदायः स्वातन्त्र्ये सति धर्मित्वेनोपादीयते, न तस्य चैतन्याख्योगुणोऽस्तीति साध्योधर्मः, पृथिव्यादीनामन्यगुणत्वात्, यो योऽन्य गुणानां समुदायस्तत्र तत्रा पूर्वगुणोत्पतिर्नभवतीति यथा सिकतासमुदाये स्निग्धगुणस्य तैलस्य नोत्पत्तिरिति, घटपटसमुदाये वा न स्तम्भाद्याविर्भाव इति, दृश्यते च काये चैतन्यं तदात्मगुणो भविष्यति न भूतानामिति। अस्मिन्नेव साध्येहेत्वन्तरमाह "पंचिदियठाणाणंत्ति; पञ्चं च तानि स्पर्शनरसनघ्राण चक्षुः श्रोत्राख्यानीन्द्रियाणि तेषां स्थानानि-अवकाशास्तेषां चैतन्यगुणाभावान्नभूतसमुदाये चैतन्यम्-इदमत्रहृदयं-लोकायतिकानां हि अपरास्यद्रष्टुरनभ्युपगमादिन्द्रियाण्येव द्रष्टृणि, तेषां चयानि स्थानानि उपादानकारणानि तेषामाचिद्रूपत्वान्न भूतसमुदाये चैतन्यमिति । इन्द्रियाणाञ्चामूनिस्थानानि, तद्यथा श्रोत्रेन्द्रियस्याकाशं सुषिरात्मकत्वात्, घ्राणेन्द्रियस्य पृथिवीतदात्मकत्वात् चक्षुरिन्द्रियस्य तेजस्तद्रूपत्वात्, एवं रसनेन्द्रियस्यापः स्पर्शनेन्द्रियस्यवायुरिति । प्रयोगश्चात्रनेन्द्रियाण्युपलब्धिमन्ति, तेषामचेतन गुणारब्धत्वात्, यद्यदचेनगुणारब्धं तत्तदचेतनं यथा घटपटादीनि, एवमपि च भूतसमुदाये चैतन्याभावएवसाधिनोभवति । पुनहेत्वरमाह-"ण अण्णमुणियं अण्णोत्ति" इहेन्द्रियाणि प्रत्येकभूतात्मकानि तान्येवापरस्य द्रष्टुरभावाद् द्रष्टृणि, तेषाञ्च प्रत्येकं स्वविषय ग्रहणादन्यविषये चाप्रवृत्तेर्नान्य दिन्द्रिय ज्ञातमन्यदिन्द्रियं, जानातीति, अतो मया पञ्चाऽपि विषया ज्ञाता इत्येवमात्मकः संकलनाप्रत्ययो न प्राप्नोति, अनुभूयते चायं, तस्मादेकेनैव द्रष्ट्रा भवितव्यम्, तस्यैवच चैतन्यं न भूतसमुदायस्येति । प्रयोगः पुनरेवं-नभूतसमुदाये चैतन्यं तदारब्धेन्द्रियाणां प्रत्येकविषयग्रहित्वे सति संकलना प्रत्यायाभावात्, यदि पुनरन्यगृहीतमप्यन्योगृह्णीयाद् देवदत्तगृहीतं यज्ञदत्तेनाऽपि गृह्येत, न चैतद् दृष्टमिष्टं वेति । ननुच स्वातन्त्र्यपक्षेऽयं दोषः, यदापुनः परस्परसापेक्षाणां संयोगपारतन्त्र्याभ्युपगमेन भूतानामेव समुदितानां चैतन्याख्यो धर्मः संयोगवशादविर्भवति, यथा किण्वोदकादिषुमद्याङ्गेषु समुदितेषु प्रत्येक मविद्यमानाऽपि मदशक्तिरिति, तदा कुतोऽस्यदोषस्यावकाश इति ? अत्रोत्तरंगाथोपात्तचशब्दाक्षिप्तमभिधियतेयत्तावदुक्तं यथा 'भूतेभ्यः परस्परसव्यपेक्षसंयोगभाग्भ्यश्चैतन्यमुत्पद्यते, तत्र विकल्पयामः-किमसौ संयोगः संयोगिभ्यो भिन्नऽभिन्नो

वा ? भिन्नश्चेत्षष्ठभूतप्रसङ्गो, न चान्यत् पञ्चभूतव्यतिरिक्तसंयोगाख्यभूतग्राहकं भवतां प्रमाणमस्तिप्रत्यक्षस्यैवैकस्याभ्युपगमात्, तेन च तस्याग्रहणात्, प्रमाणान्तराभ्युपगमे चतेनैव जीवस्याऽपिग्रहणमस्तु। अथ अभिन्नो भूतेभ्योसंयोगः, तत्राप्येतच्चिन्तनीयम्-किं भूतानि प्रत्येकं चेतनावन्त्य चेतनान्तिवा ? यदि चेतनावन्ति तदा एकेन्द्रियसिद्धिः, तथा (च) समुदास्य पञ्चप्रकारचैतन्यापत्तिः । अथाचितनानि, तत्र चोक्तोदोषो, नहि यद्यत्र प्रत्येकमविद्यमानं तत् तत्समुदाये भव दुपलभ्यते, सिकतासु तैलवदित्यादिना। यदप्यत्रोक्तं-यथामद्याङ्गेष्वविद्यमानाऽपि प्रत्येकं मदशक्तिः समुदाये प्रादुर्भवतीति, तदप्ययुक्तं, यतस्तत्र किण्वादिषुयाच यावती च शक्ति रुपलभ्यते, तथाहि-किण्वेबुभुक्षापनयनसामर्थ्यं भ्रमिजननसामर्थ्यञ्च, उदकाय तृऽपनयन सामर्थ्यमित्यादिनेति, भूतानाञ्च प्रत्येकं चैतन्यानभ्युपगमे दृष्टान्त दार्ष्टान्तिकयोरसाम्यम् । किञ्च-भूतचैतन्याभ्युपगमेमरणाभावो, मृतकायेऽपि पृथिव्यादीनां भूतानां सद्भावात्। नैतदस्ति तत्र मृतकाये वायोस्तेजसो वाऽभावान्मरणसद्भाव इत्यशिक्षितस्योल्लापः, तथाहि-मृतकायेशोफोपलब्धेर्न वायोरभावः, कोथस्य च पक्तिस्वभावस्य दर्शनान्नाग्नेरिति । अथ सूक्ष्मः कश्चिद् वायु विशेषोऽग्निर्वा ततोऽपगत इतिमतिरिति एवञ्च जीव एव नामान्त रेणाभ्युपगतो भवतीति, यत्किञ्चिदेतत् । तथान भूत समुदाय मात्रेण चैतन्याविर्भावः, पृथिव्यादिष्वेकत्र व्यवस्थापितेष्वपि चैतन्यानुपलब्धेः। अथ कायाकारपरिणतौ सत्यां तदभिव्यक्तिरिष्यते, तदपि न यतो लेप्यमयप्रतिमायां समस्तभूतसद्भावेऽपि जडत्वमेवोपलभ्यते । तदेवमन्वयव्यतिरेकाभ्यामालोच्य मानोनायं चैतन्याख्यो गुणो भूतानां भवितुमर्हति । समुपलभ्यते चायंशरीरेषु, तस्मात् पारिशेष्यात् जीवस्यैवायमिति स्वदर्शनपक्षपातं विहायाङ्गीक्रियतामिति । यच्चोक्तं प्राक्-"नपृथिव्यादिव्यतिरिक्तआत्माऽस्मि, तद्ग्राहकप्रमाणाभावान् प्रमाणञ्चात्रप्रत्यक्षमेवैकमित्यादि, तत्र प्रतिविधीयते-यत्तावदुक्तं 'प्रत्यक्ष मे वैकं प्रमाणं नानुमानादिक' मित्येतदनुपासितगुरोर्वचः तथाहि-अर्थाविसावादकं प्रमाणंमित्युच्यते, प्रत्यक्षस्य च प्रामाण्यमेवं व्यवस्थाप्यते-काश्चित्प्रत्यक्षव्यक्तीर्धर्मित्वेनोपादाय प्रमाणयति-प्रमाणमेताः, अर्थविसंवादकत्वाद्, अनुभूत प्रत्यक्ष व्यक्तिवत् न च ताभिरेव प्रत्यक्षव्यक्तिभिः स्वयंविदिताभिः परं व्यवहारयितुमयमीशः, तासां स्वसंविन्निष्ठत्वान्मूकत्वाच्च प्रत्यक्षस्य । तथानानुमानं प्रमाणमित्यनुमाने नैवानुमाननिरासं कुर्वंश्चार्वाकः कथंनोन्मत्तः स्याद? एवं ह्यसौ तदप्रमाण्यं प्रतिपादयेद् यथा-नानुमानं प्रमाणं विसंवादकत्वात्, अनुभूतानुमान व्यक्तिवदिति, एतच्चानुमानम्, अथ पर प्रसिद्धचैतदुच्यते, तदप्ययुक्तं, यतस्तत्परप्रसिद्धमनुमानं भवतः प्रमाणमप्रमाणं वा ? प्रमाणं चेत्कथमनुमानमप्रमाणमित्युच्यते, अथाप्रमाणं कथमप्रमाणेन सता तेन परः प्रत्याय्यते ? परेण तस्य प्रामाण्येनाभ्युपगतत्वादिति चेत्, तदप्यसाम्प्रतं, यदि नामपरो मौढ्यादप्रमाणमेव प्रमाणामित्यध्यवस्यति, किं भवताऽतिनिपुणेनाऽपितेनैवासौ प्रतिपाद्यते ? योह्यज्ञोगुडमेव विषमिति मन्यते किं तस्य मारयितुकायेनाऽपि बुद्धिमता गुड एवदीप्यते ? तदेवं प्रत्यक्षानुमानयोः प्रामाण्याप्रामाण्ये व्यवस्थापयतो भवतोऽनिच्छतोऽपि बलादायातमनुमानस्य प्रामाण्यम् । तथा स्वर्गापवर्गदेवतादेः प्रतिषेधं कुर्वन् भवान् केन प्रमाणेन करोति ? नतावत्प्रत्यक्षेण प्रतिषेधः कर्तुं पार्य्यते, यतस्तत्प्रत्यक्षं प्रवर्तमानं वातन्निषेध विदध्यान्निवर्तमानं वा ? न तावत्प्रवर्तमानं तस्याभावविषयत्वविरोधात् नाऽपिनिवर्तमानं, यतस्तत्त्वनाऽस्ति तेन च प्रतिपत्तिरित्यसंङ्गतं तथाहि-व्यापकविनिवृत्तौ व्याप्यस्याऽपि (वि) निवृत्तिरिष्यते, न चार्वाग्दर्शिप्रत्यक्षेण समस्तवस्तुव्याप्तिः सम्भाव्यते तत्कथं प्रत्यक्षविनिवृत्तौ पदार्थव्यावृत्तिरिति ? तदेवं स्वर्गादेः *प्रतिषेधं कुर्वता चार्वाकेणाऽवश्यंप्रमाणान्तरमभ्युगतम्। तथाऽन्याभिप्रायविज्ञानभ्युपगमादत्र स्पष्टमेव प्रमाणान्तरमभ्युपगतम्,* अन्यथा कथं परावबोधाय शास्त्रप्रणयनमकारि चार्वाकेणेत्यलमति प्रसङ्गेन । तदेवं प्रत्यक्षादन्यदपि प्रमाणमस्ति, तेनाऽऽत्मासेत्स्यति, किंपुनस्तदितिचेद्, उच्यते, अस्त्यात्मा, असाधारणतद्गुणोपलब्धेः, चक्षुरिन्द्रियवत्, चक्षुरिन्द्रियं हिन साक्षादुपलभ्यते, स्पर्शनादीन्द्रिया साधारण रूपविज्ञानोत्पादन शक्त्यात्वनुमीयते, तथाऽऽत्माऽपि पृथिव्याद्यसाधारण

चैतन्य गुणोपलब्धेरस्तीत्यनुमीयते, चैतन्यं च तस्यासाधारणगुणइत्येतत् पृथिव्यादिभूतसमुदाये चैतन्यस्यनिराकृतत्वादवसेयम् । तथाऽस्त्यात्मा, समस्तेन्द्रियोपलब्धार्थसङ्कलनाप्रत्ययसद्भावात्, पञ्चगवाक्षाऽन्याऽन्योपलब्धार्थसंकलनाविधाय्येक देवदत्तवत् । तथाऽऽत्मा, अर्थद्रष्टानेन्द्रियाणि, तद्विगमेऽपि तदुपलब्धार्थस्मरणात्, गवाक्षोपरमेऽपि तद्द्वारोपलब्धार्थस्मर्तृदेवदत्तवत् । तथा अर्थापत्त्याऽप्यात्माऽस्तीत्यवसीयते । तथाहि-सत्यपिपृथिव्यादिभूत समुदाये लेप्यकर्मादौ न सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नादि क्रियाणां सद्भाव इति, अतः सामर्थ्यादवसीयते-अस्तिभूतातिरिक्तः कश्चित्सुख, दुःखेच्छादीनांक्रियाणां समवायिकारणं पदार्थः, सचाऽऽत्मेति, तदेवं प्रत्यक्षानुमानादि पूर्विकाऽन्याऽप्यर्थापत्तिरभ्यूह्या, तस्यास्तिवदं लक्षणम् -

प्रमाणषट्कविज्ञानो, यत्राऽर्थो नान्यथा भवन् । अदृष्टं कल्पयेदन्यं, सार्थापत्तिरुदाहृता ॥१॥

तथाऽऽगमादप्यस्तित्वमवसेयं, सचायमागमः "अत्थिमे आणा उववाइए" इत्यादि । यदिवा किमत्रापरप्रमाणचिन्तया ? सकल प्रमाणज्येष्ठेन प्रत्यक्षेणैवात्माऽस्तीत्यवसीयते, तद्गुणान्य ज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वात्, ज्ञानगुणस्यच गुणिनोऽनन्यत्वात् प्रत्यक्षएवात्मा, रूपादिगुणप्रत्यक्षत्वेनपटादिप्रत्यक्षवत्, तथाहि-अहं सुख्यहंदुःख्येवमाद्यहं प्रत्यक्षग्राह्यश्चात्माप्रत्यक्षः, अहं प्रत्यक्षाय स्वसंविद्रूपत्वादिति । ममेदं शरीरं पुराणंकर्मेति च शरीराद् भेदेन निर्दिश्यमानत्वाद् इत्यादीन्यन्यान्यपि प्रमाणानि जीवसिद्धावभ्यूह्यानीति । तथा यदुक्तं-'न भूतव्यतिरिक्तं चैतन्यं तत्कार्य्यत्वात् घटादिवदि' ति, एतदप्यसमीचीनं, हेतो रसिद्धत्वात्, तथाहि-न भूतानां चैतन्यं कार्य्यं तेषामतद्गुणत्वात्, भूतकार्य्यचैतन्ये संकलनाप्रत्यायासंभवाच्च, इत्यादिनोक्तप्रायम्, अतोऽस्त्यात्मा भूतव्यतिरिक्तो ज्ञानाधार इतिस्थितम् । ननुच किं ज्ञानाधारभूतेनात्मना ज्ञानाद्भिन्नेनाश्रितेन, यावता ज्ञानादेव सर्वसंकलनाप्रत्ययादिकं सेत्स्यति, किमात्मानान्तर्गडुकल्पेनेति, तथाहि-ज्ञानस्यैवचिद्रूपत्वाद् भूतैरचेतनैः कायाकारपरिणतैः सहसम्बन्धे सतिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नक्रियाःप्रादुष्यंति, तथासंकलनाप्रत्ययो भवान्तरगमनं चेति तदेवंव्यवस्थिते किमात्मना कल्पितेनेति ? अत्रोच्यते, नह्यात्मानमेकमाधारभूतमन्तरेणसंकलनाप्रत्ययो घटते । तथाहि-प्रत्येकमिन्द्रियैः स्वविषयग्रहणे सति परविषये चा प्रवृत्तेरेकस्य च परिच्छेतुरभावान्मयापञ्चाऽपिविषयाः परिच्छिन्ना इत्यात्मकस्य संकलनाप्रत्ययस्याभावइति । आलयविज्ञानमेक मस्तीति चेदेवं सत्यात्मनएवमानान्तरंभवता कृतंस्यात् । न च ज्ञानाख्यो गुणो गुणिनमन्तरेण भवतीत्यवश्यमात्मना गुणिनाभाव्यमीति । स च सर्वव्यापी तद्गुणस्य सर्वत्रानुपलभ्ययानत्वात् घटवत् । नाऽपिश्यामाकतन्दुलमात्रोऽङ्गुष्ठपर्वमात्रो वा, तावन्मात्रस्योपात्तशरीरा व्यापित्वात् । त्वक्पर्य्यंतशरीर व्यापित्वेन चोपालभ्यमान गुणत्वात् । तस्मात्स्थितमिदम्-उपात्तशरीरत्वक् पर्य्यन्तव्याप्यात्मेति । तस्य चानादिकर्म सम्बद्धस्य कदाचिदपि सांसारिकास्यात्मनः स्वरूपेऽनवस्थानात् सत्यप्यमूर्त्तत्वे मूर्त्तेन कर्मणा सम्बन्धो न विरुध्यते । कर्म सम्बन्धाच्च सूक्ष्मबादरैकेन्द्रियद्वित्रिचतुष्पञ्चेन्द्रियपर्य्याप्तापर्य्याप्ताद्यवस्था बहुविधाः प्रादुर्भवन्ति । तस्यचैकान्तेन क्षणिकत्वे ध्यानाध्ययनश्रमप्रत्यभिज्ञानाधभावः । एकान्तनित्यत्वे च नारकतिर्यङ्मनुष्यामरगति परिणामाभावः स्यात्, तस्मातस्याद नित्यः स्यान्नित्य आत्मेत्यलमतिप्रसंगेन ॥८॥

टीकार्थ – चार्वाक मत का सूत्रकार "एएपंचमहब्भूया' इस पद को लेते हुए विवेचन करते है-पहले पृथ्वीआदि इन पांच महाभूतों की चर्चा की है, वे जब मिलकर शरीर के रूप में परिणत हो जाते है तो उन पंचमहाभूतों से अभिन्न एक चिद् रूप-ज्ञानस्वरूप आत्मा की उत्पत्ति होती है । उनका कथन है कि इन पांच भूतों के अतिरिक्त दूसरा कोई जीव या आत्मा नामक, पदार्थ, जिसकी दूसरे मतवादी कल्पना करते हैं, परलोक नहीं जाता-मरकर नया जन्म नहीं पाता, सुखदुःख नहीं भोगता । वे इसे इस प्रकार सिद्ध करते हैं-पृथ्वीआदि भूतों के अतिरिक्त-उनके पृथक् आत्मा नामक कोई पदार्थ नहीं है, क्योंकि ऐसा कोई प्रमाण नहीं हैं जो उसका

बोध कराता हो । प्रमाण केवल प्रत्यक्ष ही है । अनुमान, आगम, उपमान आदि जिन्हें अन्य दार्शनिक स्वीकार करते हैं, वे प्रमाण नहीं है, क्योंकि अनुमान आदि प्रमाणों में पदार्थ का-प्रमेय का तद्ग्राहकइन्द्रिय के साथ साक्षात् संबंध नहीं होता, इसलिए वहाँ दोष की संभावना बनी रहती है, तब पदार्थ या प्रमेय का लक्षण बाधित होता है, दूषित हो जाता है, इसलिए वह सर्वत्र अविश्वसनीय होता है । कहा है-एक अन्धा पुरुष विषम-उबड़ खाबड़ मार्ग में हाथ के स्पर्श के सहारे दौड़ता हुआ जाता है, जैसे उसका गिर पड़ना दुर्लभ-असम्भव नहीं होता, उसी प्रकार अनुमान के सहारे चलने वाले या पदार्थों को सिद्ध करने का प्रयास करने वाले पुरुष का सस्खलित होना, चूकना असम्भव नहीं होता । अनुमान के साथ-साथ यहाँ आगम आदि का भी समावेश हो जाता है, क्योंकि वहाँ भी इन्द्रिय के साथ पदार्थ या प्रमेयतत्व का साक्षात् संबंध नहीं होता अतः अंधे के गिर पड़ने के समान वहाँ भी स्खलित हो जाना कठिन नहीं है, वैसी आशंका बनी रहती है, इसलिए केवल प्रत्यक्ष ही एकमात्र तथ्यपरक प्रमाण है ।

उनके अनुसार पांच महाभूतों के अतिरिक्त आत्मा का इन्द्रियों द्वारा साक्षात् ग्रहण नहीं होता । पांचमहाभूतों के समवाय में-उनके मिलने पर जो चैतन्य प्राप्त होता है-अनुभूत होता है, वह देह के रूप में परिणत उन भूतों से ही अभिव्यक्त होता है । जैसे जिन पदार्थों के मिलने से मदिरा बनती है, वे पदार्थ जब मिल जाते हैं, तब उनमें सहज ही मादकता उत्पन्न होती हैं, उसी प्रकार चैतन्य पांचभूतों से पृथक् कोई तत्व नहीं है, क्योंकि वह घट आदि की ज्यों कार्य है, पंचमहाभूत उसके कारण है। इस प्रकार पांचभूतों के अतिरिक्त-भिन्न आत्मा का अस्तित्व न होने के कारण चैतन्य या चेतना शक्ति की अभिव्यक्ति-प्राकट्यतत्वतः पांचमहाभूतों का ही है, उन पर ही टिका हैं । जैसे पानी पर बुद्बुद् आदि अभिव्यक्त होते हैं वैसे आत्मा की भूतों से ही अभिव्यक्ति होती हैं । यहाँ जो पांचमहाभूतों की चर्चा की है, उस पर एक शंका होती है कि पृथ्वी जल अग्नि और वायु ये चार ही भूत माने जाते रहे हैं फिर आकाश को क्यों लिया गया । इसका समाधान करते हुए टीकाकार लिखते हैं-कई चार्वाक मतानुयायी आकाश को भी एक भूत मानते हैं, इसलिए पांचमहाभूतों का उल्लेख करना दोषयुक्त नहीं है ।

यदि पांच महाभूतों से पृथक् आत्मानामक किसी स्वतन्त्र पदर्थ का अस्तित्व नहीं है तो अमुक व्यक्ति मर गया, ऐसा वचन व्यवहार क्यों होता हैं, ऐसी शंका को ध्यान में रखते हुए टीकाकार लिखते हैं-देह के रूप में परिणत पांच महाभूतों से चेतनाशक्ति अभिव्यक्त होती है । वैसा होने के बाद जब उन भूतों में से किसी एक का नाश हो जाता है "वायु या अग्नि अथवा दोनों जब विछिन्न हो जाते हैं तब उदाहरणार्थ देवदत्त नामक व्यक्ति का नाश हो गया, वह मर गया, ऐसा व्यवहार होता है- कहा जाता है, किन्तु पंचभूतों से पृथक् कोई जीव नामक पदार्थ शरीर से चला गया, वस्तुःस्थिति यह नहीं है-वास्तव में ऐसा नहीं होता । यहाँ इसके समाधान में निर्युक्तिकार ने कहा है -

पृथ्वी आदि पांचभूतों के आपस में मिलने पर अथवा देह के रूप में परिवर्तित हो जाने पर उनसे चैतन्य आदि उत्पन्न नहीं हो सकते । चैतन्य के साथ जो आदि शब्द का प्रयोग हुआ है, वह भाषा-बोलना, चंक्रमण-गति, चलना आदि गुणों या कार्यों का बोधक है । जो चैतन्य की तरह पंचभूतों से पैदा नहीं होते। निर्युक्तिकार की यह प्रतिज्ञा-परिज्ञापन है, वे इस रूप में समझाते है । इस गाथा में अन्य आदि शब्द हेतु रूप से प्रयुक्त है, इस सम्बन्ध में पाठकों को दृष्टान्त स्वयं जान लेना चाहिए, क्योंकि वैसा सरलता से प्राप्त हो सकता है, इसलिए यहाँ उसका उल्लेख नहीं किया गया है ।

इस संबंध में चार्वाक से यह पूछा जाना चाहिए-यह प्रश्न किया जा सकता है-इन महाभूतों का आपस में संयोग होने पर चैतन्य-चेतनाशक्ति अभिव्यक्त होती है तो वह क्या इन भूतों का संयोग होने पर ही स्वतन्त्र रूप से प्रकट होती है या उनका आपस में संयोग होने पर परतन्त्रता से प्रकट होती है । ऐसा पूछने का क्या अभिप्राय है, इसका समाधान इस प्रकार है-स्वतन्त्रता से पांचभूतचेतना शक्ति को प्रकट करने में समर्थ नहीं है अर्थात् उनमें से कोई एक भी चैतन्य को प्रकट नहीं कर सकता, उसी बात को दृष्टि में रखते हुए निर्युक्तिकार ने "अण्णगुणाणोचेत्ति" इस शब्द द्वारा यह बताया है कि ये पांचमहाभूत चैतन्यगुणयुक्त नहीं है, उसके अतिरिक्त अन्य गुणों से युक्त हैं । दूसरे शब्दों में पृथ्वी आदि के अपने-अपने गुण हैं, जो चैतन्य से भिन्न है । पदार्थों का आधार बनना, कठिनता का होना पृथ्वी का गुण है । जल का गुण द्रवत्व या तरलपन है, अग्नि का गुण पक्तृत्व-पाचन या पचाने की शक्ति है । वायु का चलन-गतिशीलता गुण है, आकाश का गुण अवगाह-अवकाश या स्थान देश है । अथवा यों कहा जा सकता है-पहले जिनका उल्लेख हुआ है, वे गन्ध आदि गुण क्रमशः एक-एक का परिहार-परित्याग कर पृथ्वी आदि के गुण है । ये गुण चेतना से पृथक् हैं । यों पृथ्वी आदि भूत चेतना से अन्य भिन्न गुण लिए हुए हैं । इस गाथा में जो 'च' शब्द का प्रयोग हुआ हैं वह दूसरे विकल्प से संबंद्ध कथन को सूचित करता है । चार्वाक पृथ्वी आदि से चेतना की उत्पत्ति सिद्ध करना चाहते हैं किन्तु पृथ्वी आदि पांचमहाभूतों के अपने-अपने गुण-चैतन्य से अन्य-इतर है । इस प्रकार जब पृथ्वी आदि में से किसी एक पदार्थ का भी चैतन्य गुण नहीं है, तब उनके मिलने से चैतन्य गुण का उत्पन्न होना सिद्ध नहीं हो सकता । इस बात को प्रयोग-विधि या अनुमान द्वारा समझा जा सकता है । भूत समुदाय-पंचमहाभूत स्वतन्त्र है, इसलिए वे धर्मीपक्ष के रूप में ग्रहण किये जाते हैं, और उन भूतों का गुण चैतन्य नहीं है, यह साध्य धर्म है । पृथ्वी आदि के गुणचैतन्य से अन्य है, दूसरे हैं, यह हेतु है । अन्य गुण युक्त पदार्थों के जो समुदाय या समूह है, उस समुदाय में अपूर्व गुण जो उनमें पहले से विद्यमान नहीं है, उत्पन्न नहीं होता । जैसे बालूका के कणों के समुदाय से तैल उत्पन्न नहीं हो सकता, जो स्निग्धतागुण युक्त है । उसी प्रकार घड़ों और वस्त्रों के समुदाय स्तम्भ आदि उत्पन्न नहीं हो सकते । शरीर में चैतन्य गुण दृष्टिगोचर-अनुभूत होता है, वह आत्मा का ही गुण हो सकता है, पंचभूतों का नहीं ।

इसी बात को सिद्ध करने के लिए निर्युक्तिकार अन्य हेतु उपस्थित करते हैं-स्पर्शन, रसन, घ्राण, नेत्र, कर्ण, संज्ञक पांचइन्द्रियों के जो स्थान या कारण है, उनमें चैतन्यगुण का अभाव है, वे चेतना रहित है । तब भूत समुदाय में चैतन्य असंभावित है । यहाँ कहने का हार्द-अभिप्राय है-चार्वाक इन्द्रियों के अतिरिक्त अन्य किसी को द्रष्टा-देखने वाला, जानने वाला नहीं मानते । उनके सिद्धान्तानुसार इन्द्रिया ही द्रष्टा या ज्ञाता है । उन इन्द्रियों के जो उपादान[१] मूल कारण है, वे अचित्त रूप है-ज्ञानात्मक या चेतनात्मक नहीं है । अतएव चैतन्यभूतसमुदाय का-पांचमहाभूतों का गुण नहीं हो सकता । इन्द्रियों के स्थान-उपादान या मूलकारण इस प्रकार है-श्रोतेन्द्रिय का स्थान आकाश है, क्योंकि श्रोत्रेन्द्रियसुषिर-छिद्र या रिक्तमूलक है । घाणेन्द्रिय या नासिका का मूल कारण पृथ्वी है क्योंकि घ्राणात्मकता की दृष्टि से वह पृथ्वी स्वरूप है । नैत्र का उपादान कारण तेज या अग्नि है, क्योंकि नैत्रेन्द्रिय तेजःस्वरूप या ज्योतिर्मय हैं । इसी प्रकार रसनेन्द्रियका उपादान कारण जल और स्पर्शनेन्द्रिय का पवन है ।

---

१. जो कार्य रूप में परिणत हो, उसे उपादान कारण कहते हैं, जैसे-घट का उपादान कारण मृत्तिका है ।

यहाँ अनुमान का प्रयोग इस विधि से किया जाना चाहिए-इन्द्रियाँ उपलब्धि युक्त नहीं है-उपलब्धि-पदार्थ को स्वायत करने की चेतनात्मक शक्ति इन्द्रियों की नहीं है, क्योंकि उनकी अनिष्पत्ति उन पदार्थों से हुई हैं, जिनका गुणचेतना नहीं है। जो जो अचेतन-चेतनाशून्य पदार्थों से निष्पन्न होते है, वे सब अचेतन गुणयुक्त होते है, जैसे घट-पट आदि। इस प्रकार पांचमहाभूतों में चैतन्य का अभाव या नास्तित्व सिद्ध होता है।

निर्युक्तिकार फिर इसे सिद्ध करने के लिये एक ओर कारण प्रस्तुत करते हैं-इन्द्रियों में से प्रत्येक भूतात्मक-भौतिक स्वरूप लिये हुए है। चार्वाक सिद्धान्तानुसार दूसरा कोई द्रष्टा-ज्ञाता नहीं माना गया है। वे इन्द्रियां ही द्रष्टा हैं। वे पृथक्-पृथक् अपने-अपने विषयों को ग्रहण करती हैं। किसी दूसरी इन्द्रिय द्वारा ज्ञात या ग्रहण किये जाने योग्य विषय को उस इन्द्रिय के अतिरिक्त दूसरी इन्द्रिय नहीं जान पाती। ऐसी स्थिति में मैंने पांचों विषय जाने-पांचों इन्द्रियों के विषय को अनुभव किया। यह संकलनात्मक-समवायात्मक या एकत्वमूलक ज्ञान प्राप्त या अनुभूत नहीं होता किन्तु वैसा वास्तव में जीवन में अनुभूत होता है। इससे यह प्रतीत होता है कि कोई एक इन्द्रियों से भिन्न द्रष्टा या ज्ञाता होना चाहिये। चेतना उसी का गुण है। पांच भूतों का नहीं।

पुनः यहां अनुमान द्वारा एक अन्य विधि से इस विषय को स्पष्ट किया जाता है-पांच भूतों के समुदाय में चेतना गुण नहीं है क्योंकि उन भूतों से निष्पन्न इन्द्रियों में अपने-अपने विषय का ग्राहित्व तो है-वे अपने-अपने से संबंद्ध एक-एक विषय को ग्रहण करती है किन्तु संकलनात्मक-पांचों के समन्वित ज्ञान की प्रतीति वे नहीं कर पाती। यदि किसी एक द्वारा ग्रहण किये हुए-जाने हुए-पदार्थ या अभिप्राय को दूसरा भी जान ले तब तो फिर देवदत्त ने जिस पदार्थ या अभिप्राय को जाना उसे यज्ञदत्त भी जान ले किन्तु ऐसा दृष्टिगोचर नहीं होता क्योंकि एक पुरुष द्वारा ज्ञात अनुभूत पदार्थ को अन्य पुरुष नहीं जान पाता।

इस प्रकार एक शंका उपस्थित की जाती है-स्वतन्त्र रूप से पांच भूतों में से किसी में भी चेतना गुण नहीं है। यह मानने पर तो यह दोष सिद्ध होता है परन्तु जब परस्पर सापेक्षपांच महाभूत मिल जाते हैं तो उनके पारस्परिक संयोग या सम्मिलन के कारण नये रूप में चैतन्य गुण उत्पन्न होता है, जैसे मदिरा के उपादान भूत किण्व और जल आदि में से किसी में यह शक्ति या मादकता नहीं होती पर जब वे परस्पर मिल जाते हैं तो प्रत्येक में अलग-अलग अविद्यमान मद शक्ति उत्पन्न हो जाती है। ऐसा होने पर उपर्युक्त दोष का अवकाश-गुंजाइश कहां रहती है।

इसका उत्तर निर्युक्ति की उपर्युक्त गाथा में उपात्त् प्रयुक्त या आये हुए 'च' शब्द में संनिहित है-जो आपने कहा कि पांचभूतों की पारस्परिक-सापेक्ष-संयोग से चैतन्य उत्पन्न होता है, इसका समाधान हम इस विकल्प द्वारा प्रस्तुत करते हैं बतलाये। पांचमहाभूत जिससे योग के बल चेतना गुण उत्पन्न करते हैं वह संयोग उन संयोगियों से-परस्पर मिलने वाले महाभूतों से भिन्न या पृथक् है अथवा अभिन्न या अपृथक् है। यदि वह संयोग उनसे भिन्न मानते हैं तब तो वह उन पांच के अतिरिक्त एक छठा तत्त्व बन जायेगा किन्तु आपके मतानुसार पांचभूतों के अतिरिक्त संयोग नामक छठा तत्त्व नहीं है-अप्रमाणित है। आप एकमात्र प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं और वह प्रत्यक्ष प्रमाण संयोग को नहीं बतलाता अथवा उससे संयोग का होना सिद्ध नहीं होता। यदि किसी दूसरे प्रमाण द्वारा संयोग का ग्रहण किया जाना स्वीकार करते हैं तो उस दूसरे प्रमाण से जीवों का भी तो ग्रहण किया जा सकता है।

यदि संयोग को पंचभूतों से अभिन्न या पृथक् मानते हों तो भी यह विचारणीय है कि प्रत्येकभूत चेतनायुक्त है अथवा चेतना रहित है। यदि प्रत्येक भूत पांचों भूतों को चेतनामय प्रतिपादित करते हों तब एक इन्द्रिय सिद्ध होती है अर्थात् एक ही इन्द्रिय से चैतन्यवत्ता के कारण भिन्न-भिन्न विषयों को

ग्रहण करने का सामर्थ्य प्राप्त हो जाता है । ऐसी स्थिति में पंचभूतों के समुदाय से निष्पन्न शरीर का चैतन्य पांच प्रकार का संभावित होगा ।

यदि प्रत्येक भूत को अचेतन मानों तो एक कठिनाई उपस्थित होगी-जो गुण पांचों में से किसी एक में विद्यमान नहीं है वह उनके समुदाय में कैसे प्राप्त हो सकता है । जैसे बालू के कणों से तेल उत्पन्न नहीं होता । जिस प्रकार बालू के एक कण में तेल नहीं है वैसे ही मिले हुए बहुत से कणों में भी तेल नहीं हो सकता ।

चार्वाक की ओर से जो यह कहा गया कि-मदिरा के प्रत्येक अंग में विद्यमान न होते हुए भी मद शक्ति मादकता उनके मिलने पर उत्पन्न हो जाती है, यह कहना भी युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि किण्व आदि में मदशक्ति-मादकता किसी न किसी रूप में कुछ होती ही है । किण्व में भूख को मिटाने या दूर करने की शक्ति होती है । उसके सेवन से मस्तक में चक्कर आने लगते हैं । जल में पीपासा शांत करने की शक्ति होती है । अत: मदिरा में रहने वाली मादकता कहीं बाहर से नहीं आती । पांचों भूतों में से किसी में चैतन्य नहीं है ऐसा मानने पर दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में समानता सिद्ध नहीं होती । दृष्टान्त का तात्पर्य किसी विषय को उदाहरण द्वारा प्रस्तुत करना है । दार्ष्टान्तिक का अर्थ उदाहरण में कही गई घटना है । दृष्टान्त में चैतन्य न हो और दार्ष्टान्तिक में उसे बताया जाय तो वे दोनों परस्पर घटित नहीं होते-विपरीत होते हैं । यदि भूतों को चैतन्यमय स्वीकार करते हों तो फिर मरण की स्थिति उपस्थित नहीं हो सकती । मरे हुए शरीर में भी पृथ्वी आदि भूतों का अस्तित्व रहता है । यदि कहो कि ऐसा नहीं होता क्योंकि क्योंकि मृत शरीर में वायु और तेज-अग्नि का अभाव हो जाता है, इसलिए मृत्यु होती है, ऐसा कहना एक अशिक्षित ज्ञान रहित पुरुष का प्रलाप मात्र है क्योंकि मृतशरीर में सूजन पाई जाती है-सूजन का फुलाव वायु से होता है इसलिये मृत शरीर में वायु का अभाव नहीं माना जा सकता । उस शरीर मे पक्ति स्वभाव या पाचन स्वरूपात्मक तेज का कार्य भी है क्योंकि उसमें कोथ या मवाद उत्पन्न होता है । अत: उसमें अग्नि का नास्तित्व नहीं माना जा सकता। यदि यों कहो कि उस मृत शरीर में से ऐसी वायु जो सूक्ष्म है, ऐसी अग्नि जो सूक्ष्म है, जिनमें जीवन की आधायकता-टिकाये रखने की शक्ति है-निकल जाती है, इसलिये मृत्यु होती है । यों कहना तो एक प्रकार से नामान्तर द्वारा जीव या आत्मा को ही स्वीकार करना है । इसलिए यह कोई भिन्न या दूसरी युक्ति नहीं है ।

भूतों के समूह से-उनके मिलने से भी चेतना शक्ति उत्पन्न नहीं हो सकती क्योंकि यदि हम पृथ्वी आदि पांचों तत्त्वों को एक स्थान पर व्यवस्थित कर दें, एक चित्त कर दें तो उनमें से चेतना उपलब्ध नहीं होती, यदि यों कहे कि इन पांच भूतों के देह के रूप में परिणत होने पर ही चेतना अभिव्यक्त होती है, तो यह भी ठीक नहीं लगता क्योंकि दीवार आदि पर चूने आदि का लेप कर देह का आकार बनाया जाय तो उसमें सभी भूतों का अस्तित्व होते हुए भी जड़ता-अचेतना ही उपलब्ध होती है । इस प्रकार अन्वय व्यतिरेक द्वारा आलोचना करने पर चेतनानामक गुण का पांच भूतों में होना सिद्ध नहीं होता यह शरीर में ही समग्र रूप में प्राप्त होता है । आत्मा के शरीर व्याप्ति होने के कारण इसका आत्मा का गुण होना सिद्ध होता है । अपने दर्शन-सिद्धान्त या मत का आग्रह छोड़ कर इसे स्वीकार करें ।

जैसा कि लोकायतिक द्वारा पूर्व में प्रतिपादित हुआ है कि पृथ्वी आदि भूतों के अतिरिक्त, उनसे भिन्न-पृथक् कोई आत्मा नामक तत्त्व नहीं है क्योंकि उस आत्मा का ग्राहक या साधक कोई प्रमाण नहीं मिलता।

प्रमाण केवल प्रत्यक्ष ही है । इसका प्रतिविधान-प्रतिकार यों है । प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है । अनुमान आदि प्रमाण कोटि में नहीं आते । ऐसा कथन उसका हो सकता है जिसने गुरु की उपासना नहीं की हो-गुरु के सानिध्य में बैठकर शास्त्राध्ययन नहीं किया हो । जो अर्थ-पदार्थ या वस्तु का अविसंवादक है-उसे यथार्थ रूप में बतलाता है वह प्रमाण कहा जाता है । प्रत्यक्ष का प्रामाण्य-प्रमाण होना इस प्रकार सिद्ध किया जाता है, किन्हीं प्रत्यक्ष व्यक्तियों को धर्मी या पक्ष के रूप में ले तब उनका प्रामाण्य इस प्रकार सिद्ध किया जाता है-'यह प्रमाण है' क्योंकि ये अर्थ के अविसंवादक है-उसका विसंवाद नहीं करते हैं । उसे अन्यथा प्रतिपादित नहीं करते, उसे यथार्थ रूप में निरूपित करते हैं । जैसे हम किसी व्यक्ति को प्रत्यक्ष रूप में देख रहे हो। जिस व्यक्ति को प्रत्यक्ष रूप में देखा है, जाना है, वह अपनी आत्मा में ज्ञात है किन्तु वह जिसने प्रत्यक्ष देखा-दूसरे व्यक्ति के प्रति वैसा व्यवहार नहीं कर सकता, उसे प्रत्यक्ष नहीं दिखा सकता क्योंकि अपने द्वारा देखा हुआ वह प्रत्यक्ष व्यक्ति देखने वालों के ज्ञान में संनिविष्ट है, प्रत्यक्ष का ज्ञान बोलता नहीं, वह मूक है ।

अनुमान प्रमाण नहीं है-चार्वाक का यह कथन भी अनुमान के आधार पर ही है । फिर वह यदि अनुमान का खण्डन करता है तो वह एक उन्मत्त की सी बात है । यदि ऐसा कहा जाय कि चार्वाक अनुमान को इसलिये अप्रमाण मानता है-प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं कर सकता क्योंकि अनुमान प्रमाण नहीं है । वह अर्थ का विसंवादक है-उसे यथार्थ रूप में नहीं बतलाता । जैसे अनुमान द्वारा किसी व्यक्ति को अनुभूत करना-जानना-किन्तु यह भी एक अनुमान ही है ।

यदि यों कहो कि अन्य दार्शनिक अनुमान को प्रमाण मानते हैं इसलिए उनकी मान्यता के आधार पर हम भी अनुमान का आश्रय लेकर उस अनुमान के आधार पर यहां अनुमान का खण्डन करते हैं, ऐसा कहना युक्तिसंगत नहीं है । यह पूछा जा सकता है कि अन्य दर्शनों में प्रसिद्ध अनुमान आपकी दृष्टि में प्रमाण है या अप्रमाण है । यदि आप उसे प्रमाण मानते हैं तो फिर अनुमान को अप्रमाण कहने की स्थिति नहीं बनती। यदि उसे अप्रमाण मानते हैं तो उसके आधार पर दूसरे को कैसे प्रतीति कराते हो ! यदि कहो कि दूसरा अनुमान को प्रमाण मानता है इसलिये उसे अनुमान प्रतीति कराई जा सकती है-समझाया जा सकता है, यों कहना भी अयुक्तियुक्त है । यदि कोई अन्य पुरुष मूढ़ता वश अप्रमाण को प्रमाण स्वीकार कर लेता है तो आप अत्यन्त निपुण-योग्य-होकर भी उस अप्रमाण के द्वारा उसे प्रतीति कराने का-समझाने का क्यों उपक्रम करते हो ? यदि कोई अज्ञ-ज्ञानशून्य पुरुष गुड़ को ही विष मानता है तो क्या कोई बुद्धिमान उसे मारने के लिये गुड़ देने का प्रयत्न करता है । क्या उसकी अज्ञता के अनुरूप स्वयं भी अज्ञतापूर्ण कार्य करता है ? अतः प्रत्यक्ष को प्रमाण मानना और अनुमान को प्रमाण न मानना यह सिद्ध करते हुए आपके न चाहने पर भी अनुमान का *प्रामाण्य जबरदस्ती आ फटकता है ।*

आपने स्वर्ग और मोक्ष का निषेध किया किस प्रमाण द्वारा आप इसे सिद्ध करते हैं कि नरक और मोक्ष है । प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा इनका निषेध नहीं किया जा सकता । बतलाये प्रत्यक्ष प्रमाण स्वर्ग और मोक्ष में प्रवर्त्तमान होकर उनका प्रतिषेध करता है अथवा निवर्त्तमान होकर उन्हें अस्वीकार करता है ? वह प्रत्यक्ष प्रवर्त्तमान होकर स्वर्ग और नरक का निषेध नहीं कर सकता क्योंकि उसका अभावात्मक वस्तु के साथ विरोध होता है दूसरे शब्दों में जो वस्तु नहीं है उसमें प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति ही कैसे होगी, आप स्वर्ग और मोक्ष का अस्तित्त्व मानते ही नहीं हैं तब प्रत्यक्ष के उनमें प्रवृत्त होने की स्थिति ही नहीं बन सकती । प्रत्यक्ष निवर्त्तमान होकर स्वर्ग और मोक्ष का प्रतिबंध करता है, यह भी संभव नहीं हो सकता क्योंकि स्वर्ग और मोक्ष जब प्रत्यक्ष

द्वारा प्राप्त नहीं है तब प्रत्यक्ष की उनमें निवृत्ति कैसे हो सकती है । इस प्रकार प्रवर्त्तमान और निवर्तमान दोनों ही स्थितियों में प्रत्यक्ष द्वारा उनका निश्चय हो सकना संभव नहीं है ।

वस्तु स्थिति यह है-व्यापक पदार्थ की निवृत्ति होने पर व्याप्य पदार्थ की भी निवृत्ति होना माना जाता है किन्तु जिस प्रत्यक्ष प्रमाण से सम्मुखीन पदार्थ को बताता है, वह समस्त वस्तुओं में व्यापक नहीं है । इसका आशय यह है कि वह समस्त पदार्थों का ज्ञान नहीं करा सकता, वह तो केवल सम्मुखीन का ही ज्ञान कराता है । इसलिये प्रत्यक्ष जब निवृत्त हो जाता है जिस प्रकार वह स्वायत्त नहीं कर पाता है अथवा जिस पदार्थ का प्रत्यक्ष बोध नहीं होता है उसपदार्थ का अस्तित्त्व ही नहीं है उसे कैसे जाना जा सकता है । चार्वाक द्वारा प्रत्यक्ष प्रमाण के माध्यम से जो स्वर्ग आदि का निषेध किया जाता है इससे चार्वाक द्वारा प्रत्यक्ष के अतिरिक्त किसी अन्य प्रमाण का स्वीकृत किया जाना भी सिद्ध होताहै। चार्वाक दूसरे के अभिप्राय को ज्ञान रूप में स्वीकार करता है । इससे उस द्वारा प्रत्यक्ष के अतिरिक्त किसी दूसरे प्रमाण का और माना जाना स्पष्ट हो जाता है । यदि ऐसा नहीं होता तो औरों को अपने सिद्धान्तों का अवबोध कराने के लिये चार्वाक ने शास्त्र की रचना क्यों की ? अस्तु इस विषय को अब और अधिक विस्तृत करना अपेक्षित नहीं है ।

इस विवेचन से यह सिद्ध होता है कि प्रत्यक्ष के अतिरिक्त दूसरा भी प्रमाण है । उस प्रमाण का अस्तित्त्व सिद्ध हो जाता है । वह कौन सा प्रमाण है ? कहा जाता है-आत्मा है-क्योंकि उसका असाधारण-असामान्य या विशिष्ट गुण पाया जाता है । इसके लिये चक्षुइन्द्रिय का उदाहरण दिया जा रहा है । चक्षुइन्द्रिय अत्यन्त सूक्ष्म-बारीक होने के कारण प्रत्यक्ष रूप में उपलब्ध परिज्ञात नहीं होती। स्पर्शन आदि इन्द्रियों द्वारा न प्राप्त हो सकने योग्य रूप विज्ञान-रूप को जानने की क्षमता की अपेक्षा से उसके अस्तित्त्व का अनुमान किया जा सकता है । इसी प्रकार पृथ्वी आदि भूतों में न प्राप्त होने वाली चेतना की अपेक्षा से आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्त्व का अनुमान किया जा सकता है । चेतना आत्मा का असाधारण-असामान्य या एकमात्र गुण है । पृथ्वी आदि पांच भूतों के समवाय में चैतन्य गुण प्राप्त नहीं होता । अतएव आत्मा का अस्तित्त्व है, यह जानने की बात है । निश्चित ही आत्मा है, क्योंकि समस्त इंद्रियां जिन पदार्थों-अभिप्रायों, को जानती है उनका संकलनात्मक-एक साथ मिला हुआ-प्रत्यय ज्ञान या प्रतीति होती है । उदाहरणार्थ-एक भवन में पांच खिड़कियां है । उन द्वारा जाने हुए पांच पदार्थों को एक देवदत्त-एक पुरुष संकलित कर देखता है वैसे ही इन्द्रियों द्वारा परिज्ञान-पदार्थों का संकलनात्मक-सम्मेलनात्मक साक्षात्कार आत्मा करती है, इंद्रिय नहीं करती । इंद्रियों के विगम-विनाश होने पर भी उनके द्वारा जाने हुए पदार्थ आत्मा को स्मरण रहते हैं जैसे खिड़कियों के मिट जाने पर भी उन द्वारा कहे जाने हुए पदार्थ देवदत्त नामक व्यक्ति की स्मृति में रहते हैं ।

अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा भी आत्मा का होना सिद्ध होता है, पृथ्वी आदि पंचभूतों द्वारा दीवाल आदि पर मानवीय आकार बना दे तो भी उसमें सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न आदि क्रियाएं नहीं होती। इससे ऐसा निश्चित होता है कि पांच भूतों के अतिरिक्त कोई ऐसा पदार्थ है जो सुख-दुःख, इच्छा, आदि क्रियाओं का समवायी कारण-जिसके हुए बिना कार्य सिद्ध नहीं होता है । वह पांचभूतों से भिन्न है, वह आत्मा है । इस प्रकार प्रत्यक्ष तथा अनुमान आदि पूर्वक अर्थापत्ति द्वारा भी आत्मा की सिद्धि होती है इसे समझना चाहिये । अर्थापत्ति की परिभाषा इस प्रकार है-छहों प्रमाणों के अनुसार जो पदार्थ किसी अन्य पदार्थ के बिना सिद्ध नहीं हो सकता उसकी सिद्धि के लिये एक अदृष्ट पदार्थ की कल्पना की जाती है, उसे अर्थापत्ति कहा जाता है तथा आगम से भी आत्मा की सिद्धि होती है, यह जानना चाहिये । आगम में उल्लेख है-मेरी आत्मा उपपात-

परलोक में या नवजीवन में जाने वाली है-इत्यादि। आत्मा सिद्ध करने के लिये दूसरे प्रमाण की खोज करने की आवश्यकता ही क्या है । सब प्रमाणों में ज्येष्ठ-वरिष्ठ या उत्तम प्रमाण से ही आत्मा का होना सिद्ध होता है क्योंकि ज्ञान आत्मा का गुण है जो प्रत्यक्ष है । गुण गुणी से भिन्न नहीं होता, ज्ञानरूपी गुण आत्मा रूपी गुणी से भिन्न नहीं है, वह अभिन्न है । इसलिये आत्मा उसी प्रकार प्रत्यक्ष है, जिस प्रकार रूप आदि गुणों के प्रत्यक्ष होने से वस्त्र आदि गुणों का प्रत्यक्ष होता है । मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, इस तरह जो भाषा है वहाँ "मैं" मूलक ज्ञान द्वारा आत्मा का ही ग्रहण प्रत्यक्ष होता है क्योंकि मैं रूप ज्ञान स्वसंविद रूप-आत्मरूप ही है-आत्मा का ही ज्ञान है । यह मेरा शरीर है, यह मेरा पुरातन कर्म है इत्यादि के रूप में जो निर्देशित किया जाता है, उससे आत्मा का शरीर से पार्थक्य बोधित होता है । इसी प्रकार और भी प्रमाण है जिनसे आत्मा की सिद्धि होती है ।

चार्वाक ने यह जो कहा कि चेतना भूतों के अतिरिक्त कुछ नहीं है, भूतों से भिन्न नहीं है क्योंकि वह भूतों का कार्य है जैसे घट आदि मृतिका आदि के कार्य हैं, ऐसा कहना भी असमीचीन-अयुक्तियुक्त है क्योंकि इसमें हेतु की असिद्धता है, चैतन्य भूतों का कार्य नहीं है क्योंकि वह उनका गुण नहीं है यह पहले ही बतला दिया गया है । चैतन्य को यदि भूतों का कार्य माना जायेगा तो पांचों इंद्रियों के या पांचों विषयों के संकलनात्मक या सम्मेलनात्मक ज्ञान की उपलब्धि नहीं हो सकती, इससे सिद्ध होता है कि भूतों से पृथक् आत्मा ही ज्ञान का आधार है ।

एक शंका और की जाती है । ज्ञान की आधारभूत आत्मा को या ज्ञान से भिन्न आत्मा को जानने की क्या आवश्यकता है क्योंकि ज्ञान के सहारे ही सर्वसंकलनात्मक प्रतीति या सम्मेलनात्मक ज्ञान की सिद्धि हो सकती है इसलिये शरीर पर उभरी हुई मेद ग्रंथियां-बसौली की तरह एक निरर्थक आत्मा को मानने की *क्या आवश्यकता है । ज्ञान में ही सब सद सकता है, जो इस प्रकार है-ज्ञान चेतनात्मक है ।* काया के आकार में परिवर्तित चेतना रहित भूतों के साथ उसका संबंध होने पर सुख,दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदि क्रियाओं का प्रादुर्भाव होता है । उसी को संकलना प्रत्यय या सम्मेलनात्मक ज्ञान अवगत होता है । दूसरे भव में भी वही ज्ञान जाता है । इस प्रकार सब विषय व्यवस्थित सुपरिज्ञात हो जाते हैं । फिर आत्मा की परिकल्पना करना क्यों आवश्यक है ?

इसका समाधान यों है-ज्ञान से भिन्न या पृथक् आत्मा को माने बिना ज्ञान का आधारभूत संकलना प्रत्यय या सम्मेलनात्मक ज्ञान हो नहीं सकता । एक-एक इंद्रिय स्व स्व विषय को ही ग्रहण करती है, किसी दूसरी इन्द्रिय के विषय को उससे भिन्न इंद्रिय ग्रहण नहीं करती । ऐसी स्थिति में सब विषयों का परिच्छेद करने वाले जानने वाले-एक आत्मा के अभाव में, मैंने पांचों ही विषयों का अवबोध किया यह संकलनात्मक प्रतीति या ज्ञान नहीं होता ।

यदि कहा जाय कि आलय विज्ञान नामक एक तत्त्व है उससे वह संकलनात्मक ज्ञान हो सकता है तो इसका उत्तर यह है-आपने आत्मा का ही आलय विज्ञान के रूप में नामान्तर कर दिया । वस्तुतः वह आत्मा ही है । ज्ञान संज्ञक गुण गुणी के बिना नहीं टिक सकता इसलिये उसका आत्मारूप गुणी अवश्य वांछित है-वैसा होना चाहिये ।

वह आत्मा सर्वत्र व्याप्त नहीं है क्योंकि उसका गुण ज्ञान सर्वत्र-सब स्थानों पर उपलब्ध नहीं होता । घड़ा इसका उदाहरण है । आत्मा श्यामाक धान्य के दाने के समान है, कुछ लोग ऐसा कहते

हैं, अंगुठे के पर्व-पेरवे के समान हैं ऐसा भी कुछ लोग कहते हैं । ऐसा नहीं हैं क्योंकि यदि आत्मा इतनी छोटी होगी तो उसे स्वपूर्वकृत कर्मवश जो शरीर प्राप्त है उसमें वह व्याप्त नहीं हो सकती । वह आत्मा सब अंगों से लेकर चमड़ी तक में व्याप्त पाई जाती है । इससे ऐसी स्थिति बनती है यह प्रमाणित होता है कि आत्मा समग्र देह में त्वचा पर्यन्त परिव्याप्त है ।

जो आत्मा संसारावस्था में है वह अनादिकाल से कर्मबंध से बंधी हुई है । वह अपने स्वरूप में अनवस्थित है-स्थित नहीं है । अतः अमूर्त होने के बावजूद उसका मूर्त कर्म के साथ संबंध होता है । उसमें कोई बाधा ही नहीं आती । कर्मों के साथ बंधे होने के कारण सूक्ष्म, स्थूल, एकेंद्रिय, द्विइंद्रिय, त्रिइंद्रिय, चतुरिंद्रिय, पंचेंद्रिय पर्याप्त तथा अपर्याप्त आदि बहु प्रकार की स्थिति में से वह गुजरती है ।

यदि आत्मा एकान्त रूप से क्षणिक-क्षणवर्ती हो तो ध्यान, अध्ययन, प्रयत्न और पहचान आदि उसमें घटित नहीं होते-टिक नहीं पाते । यदि उसे एकान्त रूप से नित्य माना जाय तो वह नारक, तिर्यंक्, मनुष्य और देव गति के रूप में परिणत नहीं हो सकती । अतः आत्मा स्यात् नित्य-एक अपेक्षा से नित्य तथा स्यात् अनित्य-एक अपेक्षा से अनित्य है । इस संबंध में और अधिक विस्तार आवश्यक है ।

❀ ❀ ❀

जहा य पुढवीथूमे, एगे नाणाहि दीसइ ।
एवं भो ! कसिणे लोए, विन्नू नाणाहि दीसइ ॥९॥

छाया – यथा च पृथिवीस्तूप एको नानाहि दृश्यते ।
एवं भोः ! कृत्स्नो लोकः विद्वान् नाना हि दृश्यते ॥

अनुवाद – जैसे पृथ्वी का एक स्तूप, समूह या पिंड भिन्न-भिन्न रूपों में दृष्टिगोचर होता है उसी तरह एक ही आत्मा समस्त जगत में भिन्न-भिन्न रूपों में दिखाई देती है ।

टीका – साम्प्रतमेकात्माद्वैतवादमुद्देशार्थाधिकारप्रदर्शितं पूर्वपक्षायितुमाह दृष्टान्तबलेनैवार्थस्वरूपावगतेः पूर्वं दृष्टान्तोपन्यासः, यथेत्युपदर्शने, चशब्दोऽपिशब्दार्थे, स च भिन्नक्रम एके इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः, पृथिव्येव स्तूपः पृथिव्या वा स्तूपः पृथिवीसंघाताख्योऽवयवी, स चैकोऽपि यथा नानारूपः-सरित्समुद्रपर्वतनगरसन्निवेशाद्याधारतया विचित्रो दृश्यते निम्नोन्नतमृदुकठिनरक्तपीतादिभेदेन वा दृश्यते, न च तस्य पृथिवीतत्त्वस्यैतावता भेदेन भेदो भवति, 'एवम्' उक्तरीत्या 'भो' इति परमान्त्रणे कृत्स्नोऽपि लोकः-चेतनाचेतनरूप एको विद्वान् वर्तते इदमत्र हृदयम्-एक एव ह्यात्मा विद्वान ज्ञानपिण्डः पृथिव्यादिभूताद्याकारतया नाना दृश्यते, न च तस्यात्मन एतावताऽऽत्मतत्त्वभेदो भवति, तथा चोक्तम्-

"एक एव हि भूतात्मा, भूते भूते व्यवस्थितः । एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥१॥-

"तथा 'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्चं भाव्यं उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति, यदेजति यन्नेजति यद् दूरे यदु अन्तिके यदन्तरस्य सर्वस्य यत्सर्वस्यास्या बाह्यतः' इत्यात्या द्वैतवादः ॥९॥"

टीकार्थ – अब शास्त्रकार पहले उद्देशक के विवेचन के अन्तर्गत चर्चित एकात्मवाद या अद्वैतवाद को पूर्व पक्ष के रूप में उपस्थित करते हैं ।

दृष्टान्त के सहारे ही पदार्थ का स्वरूप आत्मसात होता है, इसलिये यहां इस सूत्र में पहले दृष्टान्त उपस्थित किया गया है इस गाथा में 'यथा' शब्द का प्रयोग हुआ है वह दृष्टान्त का सूचक है । यहां 'च' शब्द अपि शब्द के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, वह भिन्न क्रम का द्योतक हैं । इसलिये इसे 'एके' पद के बाद में लेना चाहिये ।

गाथा में पृथ्वीस्तूप की चर्चा आई है, वह पृथ्वी स्तूप या पृथ्वी समूह अवयवी है, एक है। किन्तु वैसा होने पर भी सरिता सागर, गिरि, शहर और उपनगर आदि के आधार पर वह भिन्न-भिन्न रूपों में दिखाई देता है अथवा निम्न, उन्नत, मृदु, कठोर, लाल पीला आदि भिन्न-भिन्न रूपों में दृष्टिगोचर होता है। यह होने पर भी-इन भिन्नताओं के बावजूद पृथ्वी रूप तत्त्व में कोई भेद नहीं पड़ता । इसी प्रकार इस चेतनात्मक और अचेतनात्मक लोक मे एक ही ज्ञानमय आत्मा है । इसका अभिप्राय यह है कि एक ही ज्ञानस्वरूप आत्मा पृथ्वी आदि भूतों की आकृतियों में भिन्न-भिन्न प्रकार से देखी जाती है, ऐसा होते हुए भी उस आत्मा के वास्तविक स्वरूप में कोई भिन्नता नहीं होती । कहा गया है एक आत्मा ही समग्र भूतों में विद्यमान है जल में प्रतिबिम्बित चन्द्र जैसे अनेक रूपों में दृष्टिगोचर होता है, वैसे ही वह आत्मा एक होती हुई भी अनेक रूपों में दिखाई देती है [उपनिषदों में कहा गया है - इस जगत में जो अस्तित्त्व में आया, जो आगे अस्तित्त्व में आयेगा वह सब पुरुष या आत्मा ही है । वह आत्मा ही देवत्त्व में अधिष्ठित है, वही प्राणियों के भोग हेतु जगत रूप में अभिवर्द्धित होकर प्रकट होती है । वह गतिशील है, गतिवर्जित है, वही दूर है और वही समीप है । वह सबके अन्तर्गत है और बहिर्गत भी है । यों आत्माद्वैत के सिद्धान्त का विवेचन समाप्त होता है ।

❀ ❀ ❀

एवमेगेत्ति जप्पंति, मन्दा आरम्भणिस्सिआ ।
एगे किच्चा सयं पावं, तिव्वं दुक्खं नियच्छइ ॥१०॥

छाया – एवमेक इति जल्पन्ति मंदा आरंभ निःश्रिताः,
एके कृत्वा स्वयं पापं, तीव्रं दुःखं नियच्छन्ति ।

अनुवाद – अज्ञानयुक्त पुरुष कहते हैं कि सब में एक ही आत्मा है परन्तु जगत की स्थिति यह है कि जो जीव हिंसादि आरंभ समारंभ में आसक्त रहते हैं, पाप कर्म कर वे ही उनके फलस्वरूप दुःख का भोग करते हैं । उनके अतिरिक्त दूसरे दुःख नहीं भोगते ।

टीका – अस्योत्तरदानायाह ।'एव'मिति अनन्तरोक्तात्माद्वैतवादोपप्रदर्शनम् 'एके' केचन पुरुषकारणवादिनो 'जल्पन्ति' प्रतिपादयन्ति, किम्भूतास्ते इत्याह-'मन्दा' जड़ाःसम्यक्परिज्ञानविकलाः, मन्दत्वं च तेषां युक्ति विकलात्माद्वैतपक्षसमाश्रयणात्, तथाहि-यद्येक एवात्मा स्यान्नात्मबहुत्वं ततो ये सत्त्वाः-प्राणिनः कृषीवलादयः 'एके' केचन आरम्भे-प्राण्युपमर्दनकारिणी व्यापरे निःश्रिता आसक्ताः सम्बद्धा अध्युपन्ना ते च संरम्भसमारम्भारम्भैः कृत्वा उपादाय स्वयमात्मना पापमशुभप्रकृतिरूपमसातोदयफलं तीव्रं दुःखं तदनुभवस्थानं वा नरकादिकं नियच्छतीति। आर्षत्वाद्बहुवचनार्थे एकवचनमकारि ततश्चायमर्थो-निश्चयेन यच्छन्त्यवश्यन्तया गच्छन्ति-प्राप्नुवन्ति तएवारम्भासक्ता नान्य इति, एतन्नस्याद् अपित्वेकेनापि अशुभे कर्मणि कृते सर्वेषां शुभानुष्ठायिनामपि तीव्रदुःखाभिसम्बन्धः स्याद्,

एकत्वादात्मन इति, न चैतदेवं दृश्यते । तथाहि-य एव कश्चिदसमञ्जसकारी स एव लोके तदनुरूपा विडम्बना: समनुभवनुपलभ्यते नान्य इति, तथा सर्वगतत्वे आत्मनो बंधमोक्षाद्यभाव:, तथा प्रतिपाद्यप्रतिपादकविवेकाभावाच्छास्त्रप्रणयना भावश्च स्यादिति । एतदर्थसंवादित्वात्प्राक्तन्येव निर्युक्तिकृद्गाथाऽत्र व्याख्यायते, तद्यथा-पञ्चानां पृथिव्यादीनां भूताना मेकत्र कायाकार परिणतानां चैतन्यमुपलभ्यते, यदि पुनरेक एवात्मा व्यापी स्यात्तदा घटादिष्वपि चैतन्योपलब्धि: स्यात्, न चैवं, तस्मान्नैक आत्मा । भूतानाञ्चान्यान्यगुणत्वं न स्यादेकस्यादात्मनोऽभिन्नत्वात् । तथा पंचेद्रियस्थानानां-पंचेद्रियाश्रितानां ज्ञानानां प्रवृत्तौ सत्या मन्येन ज्ञात्वा विदित मन्यो न जानातीत्येतदपि न स्याद् यद्येक एवात्मा स्यादिति ॥१०॥

टीकार्थ – निर्युक्तिकार आत्मा द्वैतवाद का समाधान करते हुए प्रतिपादन करते हैं-इस गाथा में एवं पद आया है, वह पहले निरूपित किये गये आत्माद्वैतवाद को संकेतित करने हेतु है । जो पुरुष ब्रह्म को जगत का कारण बतलाते हैं वे कैसे हैं ? यह बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं कि ऐसा प्रतिपादन करने वाले मंद-बुद्धिहीन या सम्यक् विवेक से विवर्जित है । उन्हें मंद इसलिये कहा गया है कि वे एकात्मवाद के उस सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं जो युक्तिसंगत नहीं है । उसकी युक्तियों से असंगति इस प्रकार है, यदि आत्मा एक ही है, अनेक नहीं है तो ऐसे कई कृषक आदि प्राणी जो जीवों की हिंसा में आसक्त रहते हैं-बंधे रहते हैं-उद्यत रहते हैं वे संरम्भ-प्राणियों की हिंसा का चिंतन तत्परता तथा व्यापादन-हनन करते हैं, पाप कर्म का उपार्जन करते हैं, अशुभ प्रवृत्यात्मक-असाता वेदनीय का उदय होने पर तीव्र दु:ख पाते हैं । अथवा जहां तीव्र दु:ख भोगना पड़ता है ऐसे नरक आदि में जाते हैं । आर्ष-आगमिक प्रयोग होने से बहुवचन में एकवचन आया है, उसका तात्पर्य यह है कि वे निश्चित रूप से अवश्य ही नरक में जाते है । हिंसादि आरम्भ सारम्भ में जो आसक्त-संलग्न हैं वे ही नरक आदि का दु:ख प्राप्त करते हैं, दूसरे नहीं करते । यदि सबमें एक ही आत्मा का अस्तित्त्व होता तो ऐसा नहीं होता अपितु एक आत्मा जो अशुभ कर्म करती है तो शुभ अनुष्ठान करने वाले-पुण्य कर्म करने वाले पुरुषों को भी उसके अशुभ-पाप कर्म का दु:ख भोगना पड़ता, क्योंकि उपर्युक्त मान्यता के अनुसार सब में एक ही आत्मा है । किन्तु ऐसा दृष्टिगोचर नहीं होता । इस लोक में जो असमीचीन या दुषित कर्म करता है, वही उसके फलस्वरूप विडम्बनाओं का अनुभव करता है, दु:ख पाता है, दूसरे नहीं पाते ।

आत्मा का सर्वगतत्त्व-सर्वव्यापित्व स्वीकार करने पर उसके साथ बंध और मोक्ष घटित नहीं होते। प्रतिपादक-जो शास्त्र का प्रतिपादन या उपदेश करता है तथा प्रतिपाद्य-जिसको शास्त्र का उपदेश दिया जाता है फिर उन दोनों की भिन्नता नहीं रहेगी, उपदेष्टा और उपदेश्य का भेद मिट जायेगा । तब शास्त्रों के प्रणयन-सर्जन-की स्थिति ही नहीं बनेगी, उसका अभाव हो जायेगा । प्रस्तुत विषय के साथ संवादिता-समान अर्थयुक्तता के कारण पूर्व उद्धृत निर्युक्ति की गाथा का यहाँ विवेचन किया जाता है-देह रूप में परिणत पृथ्वी आदि पांच भूतों में चेतना पाई जाती है-इस पर यों विचार किया जाय, यदि आत्मा एक ही है, वह सर्वव्यापक है तो घड़े आदि में चेतना पाया जाना सुलभ होगा किन्तु ऐसा नहीं है । घटादि में चैतन्य उपलब्ध नहीं होता, अत: आत्मा एक नहीं है । पृथ्वी आदि भूतों के जो अलग-अलग गुण है यदि सब में आत्मा एक हो तो वे टिक नहीं पायेंगे क्योंकि वे आत्मा से पृथक् नहीं होंगे ।

पांच इन्द्रिय स्थानों से-पांच इन्द्रियों के माध्यम से जो पुरुष जानता है वह ज्ञान उसे ही होता है । किसी दूसरे पुरुष द्वारा जाना हुआ उसके अतिरिक्त अन्य नहीं जान पाता यह स्थिति है । यदि

आत्मा एक हो-सर्वव्यापी हो तो ऐसा नहीं बन पायेगा अर्थात् एक द्वारा जाने हुए को दूसरा भी सहज ही जान लेगा ।

❀ ❀ ❀

पत्तेअं कसिणे आया, जे बाला जे अ पंडिया ।
संति पिच्चा न ते संति, नत्थि सत्तोववाइया ॥११॥

छाया – प्रत्येकं कृत्स्ना आत्मनः ये बाला य च पंडिताः ।
सन्ति प्रेत्य न ते सन्ति, न सन्ति सत्त्वा औपपातिकाः ॥

अनुवाद – इस जगत में जो बाल अज्ञानी पंडित जो ज्ञानी है-उन ज्ञानी अज्ञानी सभी जनों की आत्मा पृथक्-पृथक् है, एक नही हैं । प्रेत्य भाव-मृत्यु के अनन्तर आत्मा का अस्तित्व नहीं रहता और सत्त्वोपपातिका-न प्राणियों का पुनर्जन्म ही होता है-वे परलोकगामी नहीं होते-नहीं जाते ।

टीका – साम्प्रतं तज्जीवतच्छरीरवादिमतं पूर्वपक्षयितुमाह-तज्जीवतच्छरीरवादिनामयमभ्यु-पगमः- यथा पंचभ्यो भूतेभ्यः कायाकार परिणतेभ्यश्चैतन्यमुत्पद्यते अभिव्यज्यते वा तैनैकैकं शरीरं प्रति प्रत्येक मात्मानः 'कृत्स्नाः' सर्वेऽप्यात्मान एवमवस्थिताः, ये 'बाला' अज्ञा ये 'पण्डिताः' सदसद्विवेकज्ञास्तेसर्वे पृथग्वयव-स्थिताः, नह्येकएवात्मा सर्व व्यापित्वेनाऽभ्युपगन्तव्यो, बालपंडिताद्यविभागप्रसंगात्। ननु प्रत्येक शरीराश्रयत्वेनात्म बहुत्वमार्हतानामपीष्टमेवेत्याशङ्क्याह-'सन्ति' विद्यन्ते यावच्छरीरं विद्यन्ते तदभावे तु न विद्यन्ते, तथाहि कायाकारपरिणतेषु भूतेषु चैतन्याविर्भावोभवति, भूत समुदायविघटने च चैतन्यापगमो, न पुनरन्यत्र गच्छच्चैतन्यमुपलभ्यते, इत्येतदेव दर्शयति-'पिच्चा न ते संतीति' 'प्रेत्य' परलोके न ते आत्मानः 'सन्ति' विद्यन्ते परलोकानुयायी शरीराद्भिन्नः स्वकर्मफलभोक्ता न कश्चिदात्माख्यः पदार्थोऽस्तीति भावः । किमित्येवमतआह-'नत्थि सत्तोववाइया' 'अस्ति' शब्दस्तिङन्तप्रतिरूपको निपातो बहुवचने द्रष्टव्यः । तदयमर्थः-'न सन्ति' न विद्यन्ते 'सत्त्वाः' प्राणिन उपपातेन निर्वृत्ता औपपातिकाभवाद्भवान्तरगामिनो न भवन्तीति तात्पर्य्यार्थः । तथाहि तदागमः-"विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीति"। ननु प्रागुपन्यस्तभूतवादिनोऽस्य च तज्जीवतच्छरीरवादिनः को विशेष इति ? अत्रोच्यते, भूतवादिनो भूतान्येव कायाकारपरिणतानि धावनबल्गनादिकां क्रियां कुर्वन्ति, अस्य तु कायाकारपरिणतेभ्यो भूतेभ्यश्चैतन्याख्य आत्मोत्पद्यतेऽभिव्यज्यते वा तेभ्यश्चाभिन्न इत्ययं विशेषः ॥११॥

टीकार्थ – आगमकार तज्जीव तच्शरीरवाद में विश्वास रखने वाले सैद्धान्तिकों को पूर्व पक्ष के रूप में उपस्थित करते हुए कहते हैं -

तज्जीवतच्छरीरवाद दर्शन में आस्था रखने वालों का यह अभिमत है कि देह के रूप में परिणत पृथ्वी आदि पांच महाभूतों से चेतना शक्ति उद्भूत होती है, या अभिव्यक्त होती है । अतः एक-एक शरीर में, एक-एक आत्मा पृथक्-पृथक् रूप में विद्यमान है । सभी आत्माएं इसी रूप में अवस्थित हैं । जो बाल या अज्ञ हैं, ज्ञानवर्जित हैं तथा जो सत् असत् का-शुभाशुभ का भेद जानने हैं, ज्ञानी हैं, वे सभी पृथक्-पृथक् है । कोई एक सब में व्याप्त आत्मा है, ऐसा नहीं स्वीकार करना चाहिये । ऐसा स्वीकार करने से ज्ञानयुक्त और ज्ञान रहित का भेद नहीं हो सकता ।

अर्हत द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों में विश्वास रखने वाले भी प्रत्येक शरीर में अलग-अलग आत्मा मानते हुए 'आत्मबहुत्व' का सिद्धान्त स्वीकार करते हैं । फिर उक्त मतवाद को क्यों उपस्थित करते हो-यह शंका उपस्थित होती है । इस पर कहा जाता है कि जब तक शरीर का अस्तित्व बना रहता है, तब तक ही आत्मा का अस्तित्व रहता है । शरीर के न रहने पर आत्मा भी विद्यमान नहीं रहती क्योंकि देह के आकार में परिणत पांच महाभूतों से चेतना का आविर्भाव होता है । पांच भूतों के समुदाय के विघटित-पृथक्-पृथक् हो जाने पर चेतना का अपगम-विनाश हो जाता है । देह से अलग होकर अन्यत्र जाती हुई चेतना उपलब्ध नहीं होती, दिखाई नहीं देती । तज्जीव व तच्छरीर वादि सैद्धान्तिकों के मत का दिग्दर्शन कराने के लिये आगमकार हैं-

प्रेत्यभाव प्राप्त कर-मरकर परलोक में जाकर अथवा नया जन्म पाकर अपने कर्मों का फल भोग करने वाला देह से पृथक् आत्मा नाम का कोई पदार्थ या तत्त्व नहीं है, ऐसा क्यों है ? इस प्रश्न को सम्मुख रखते हुए कहा गया है-नत्थि सत्थोववाइया-नास्ति सत्वोपपादिता-कोई प्राणी आगे जाकर नये रूप में उत्पन्न नहीं होते, यहां नत्थि-नाऽस्ति में आया हुआ 'अस्ति' शब्द तिङन्त प्रतिरूपक निपात है, उसे बहुवचन में समझाना जाना चाहिये । इसका यह अभिप्राय है कि उपपात-उत्पत्ति या एक भव से दूसरे भव में प्राणी नहीं जाते अर्थात् वे औपपातिक नहीं हैं । तज्जीव तच्छरीरवादियों के सिद्धान्त का यह आशय है, वे अपने आगम या शास्त्र का यों उद्धरण प्रस्तुत करते हैं-यह आत्मा जो विज्ञान धन है-ज्ञानात्मक पिंडवत है । इन भूतों से समुत्थित होकर-आविर्भूत होकर उन्हीं भूतों के विनाश के साथ-साथ विनष्ट हो जाती है । मरण के अनन्तर उसमें संज्ञा या ज्ञान या चेतना अवशिष्ट नहीं रहती।

एक शंका उपस्थित की जाती है-पहले पंचभूतवादी सैद्धान्तिक का मत प्रस्तुत किया गया । उनके सिद्धान्तों की तुलना में तज्जीव तच्छरीरवादी के सिद्धान्तों की क्या विशेषता है ?

इसके समाधान में कहा जाता है-भूतवादी के अनुसार देह के रूप में परिणत भूत ही सब क्रियाएं करते हैं, उन्हीं से आत्मा की उत्पत्ति होती है । तज्जीव तच्छरीरवादी की मान्यता है कि देह के आकार में परिणत भूतों से चैतन्य संज्ञक आत्मा की उत्पत्ति या लब्धि होती है और वह उनसे अभिन्न है, भूतवादी के मत में तज्जीव तच्छरीरवादी का यह अन्तर है ।

❀ ❀ ❀

नत्थि पुण्णे व पावे वा, नत्थि लोए इतो वरे ।
सरीरस्स विणासेणं, विणासो होइ देहिणो ॥१२॥

छाया – नास्ति पुण्यं व पापं वा, नास्ति लोक इतः परः ।
शरीरस्य विनाशेन, विनाशो भवति देहिनः ॥

अनुवाद – वास्तव में न पुण्य का अस्तित्व है और न पाप का ही । जिस लोक में हम हैं उससे पृथक् अन्य कोई भी लोक नहीं है । जब शरीर नष्ट होता है तो उसके साथ आत्मा भी नंष्ट हो जाती है।

टीका – एवं च धर्मिणोऽभावाद्धर्मस्याप्यभाव इति दर्शयितुमाह - पुण्यमभ्युदयप्राप्तिलक्षणं तद्विपरीतं पापमेतदुभयमति न विद्यते, आत्मनो धर्णिणोऽभावात् तदभावाच्च नास्ति अतः अस्माल्लोकात 'परः' अन्यो लोको यत्र पुण्यपापानुभव इति । अत्रचार्थे सूत्रकारः कारण माह-'शरीरस्य' कायस्य विनाशेन भूतविघटनेन

'विनाशः' अभावः देहिन आत्मनोऽप्यभावो भवति यतः, न पुनः शरीरे विनष्टे तस्मादात्मा परलोकं गत्वा पुण्यं पापं वाऽनुभवतीति । अतो धर्मिण आत्मनोऽभावातद्धर्मयोः पुण्यपापयोरप्यभाव इति । अस्मिंश्चार्थे बहवो दृष्टान्ताः सन्ति, तद्यथा-यथा जल बुद्बुदो जलातिरेकेण नापरः कश्चिद्विद्यते तथा भूतव्यतिरेकेण नाऽपरः कश्चिदात्मेति । तथा यथा कदलीस्तम्भस्य बहिस्त्वगपनयने क्रियमाणे त्वङ्मात्रमेव सर्वं नान्तः कश्चित्सारोऽस्ति, एवं भूत समुदाये विघटति सति तावन्मात्रं विहाय नान्तः सारभूतः कश्चिदात्माख्यः पदार्थ उपलभ्यते, यथा वाऽलातं भ्राम्यमाणमतद्रुपमपि चक्रबुद्धि मुत्पादयति, एवं भूत समुदायोऽपि विशिष्टक्रियोपेतो जीवभ्रान्तिमुत्पादयतीति। यथा च स्वप्ने बहिर्मुखाकारतया विज्ञानमनुभूयतेऽन्तरेणैव बाह्यमर्थम्, एवमात्मानमन्तरेण तद्विज्ञानं भूत समुदाये प्रादुर्भवतीति । तथा यथाऽऽदर्शे स्वच्छत्वात्प्रतिबिम्बितो बहिः स्थितोऽप्यर्थोऽन्तर्गतो लक्ष्यते, न चासौ तथा, यथा च ग्रीष्मे भौमेनोष्मणापरिस्पन्दमाना मरीचयो जलाकारं विज्ञानमुत्पादयन्ति, एव मन्येऽपि गन्धर्वनगरादयः स्वस्वरूपेणा तथा भूता अपि तथा प्रतिभासन्ते, तथाऽऽत्माऽपि भूतसमुदायस्य कायाकारपरिणतौ सत्यां पृथगसन्नेव तथा भ्रान्तिं समुत्पादयतीति । अभीषाञ्च दृष्टान्तानां प्रतिपादकानि केचित्सूत्राणि व्याचक्षते, अस्माभिस्तु सूत्रदर्शेषु चिरन्तनटीकायां चादृष्टत्वान्नोल्लिङ्गितानीति। ननु च यदि भूतव्यतिरिक्तः कश्चिदात्मा न विद्यते, तत्कृते च पुण्यापुण्ये न स्तः तत्कथमेतज्जगद्वैचित्र्यं घटते? तद्यथा कश्चिदीश्वरोऽपरो दरिद्रोऽन्यः सुभगोऽपरोदुर्भगः सुखी दुःखी सुरुपो मन्दरूपो व्याधितो नीरोगीति, एवं प्रकारा च विचित्रता किं निबन्धनेति ? अत्रोच्यते, स्वभावात्, तथाहि-कुत्रचिच्छिलाशकले प्रतिमारूपं निष्पाद्यते, तच्च कुंकुमागरुचन्दनादिविलोपनानुभोग मनुभवति धूपाद्यामोदञ्च, अन्यस्मिंस्तु पाषाणखंडे पादक्षालनादि क्रियते, न च तयोः पाषाणखण्डयोः शुभाशुभेऽस्तः यदुदयात्स तादृग्विधावस्थाविशेष इत्येवं स्वाभावाज्जगद्वैचित्र्यं, तथा चोक्तम्-"कण्टकस्य च तीक्ष्णत्वं, मयूरस्य विचित्रता । वर्णाश्च ताम्रचूडानां स्वभावेन भवन्ति हि" इति तज्जीव तच्छरीरवादिमतं गतम् ॥१२॥

टीकार्थ – तज्जीव तच्शरीरवादी के सिद्धान्तानुसार जो पहले बताया गया कि आत्मा जो धर्मी है उसके न रहने पर उसके धर्म का अस्तित्व नहीं रहता । सूत्रकार इसे उपस्थित कहते हैं -

आत्मा जिससे अभ्यदय-उन्नति या अनुकूल सुख समृद्धि प्राप्त करती है उसे पुण्य कहा जाता है । जो पुण्य से उल्टा है अर्थात् जीव जिससे अभ्युदय नहीं पाता, प्रतिकूल-दुःखात्मक परिस्थितियां प्राप्त करता है, उसे पाप कहा जाता है । पुण्य और पाप दोनों का कोई अस्तित्व नहीं है क्योंकि धर्मीरूप आत्मा का ही कोई अस्तित्व नहीं है । तब यह तो धर्म है, इनका अस्तित्व कहाँ से हो । आत्मा का अस्तित्व न होने से इस लोक से पृथक् कोई अन्य लोक भी नहीं है, जहां मनुष्य पुण्य और पाप का फल भोग सके । सूत्रकार इस संबंध में कारण का उपादान करते हैं ।

शरीर रूप में विद्यमान भूतों का विघटन या विनाश होने से, उनके पृथक्-पृथक् हो जाने से आत्मा का भी अभाव हो जाता है, अस्तित्त्व नहीं रहता । अतः देह के विनष्ट हो जाने पर उससे पृथक् होकर आत्मा परलोक जाकर पुण्य व पाप के फल का अनुभव नहीं करती । अतः आत्मा जो धर्मी है, उसका अभाव हो जाने पर उनके पुण्य पाप रूपी धर्मी का भी अभाव हो जाता है यह तज्जीव तच्शरीर वादियों के मत की बात है । इस संबंध में अनेक दृष्टान्त उपस्थित करते हैं । जैसे पानी का एक बुलबुला वस्तुतः पानी से कोई पृथक् पदार्थ नहीं है, उसी प्रकार आत्मा पांच भूतों से कोई अलग पदार्थ नहीं है । जैसे कदलि स्तंभ के तने से छिलके उतारते जाय तो छिलके उतरते जाते हैं। उनसे भिन्न कोई सार रूप पदार्थ उपलब्ध नहीं होता, यही बात भूत समवाय के साथ है ! भूतों के विघटित-विछिन्न-पृथक्-पृथक् हो जाने पर भीतर कोई सारभूत आत्मा नाम

का पदार्थ उपलब्ध नहीं होता। जैसे कोई चिनगारी को गोल घुमावे तो वह ज्योति का चक्र सा प्रतीत होता है किन्तु वास्तव में वैसा नहीं होता। इसी प्रकार भूत समुदाय भी विशिष्ट क्रिया से युक्त होकर जीव या आत्मा की भ्रांति उत्पन्न करता है किन्तु वस्तुतः वैसा कुछ नहीं होता। जिस प्रकार स्वप्न में बाह्य पदार्थों के विद्यमान न होने पर भी उनकी अनुभूति होती है इसी प्रकार आत्मा के न होने पर भी भूत समुदाय में तद् विषयक विज्ञान प्रादुर्भूत होता है, वैसी झलक प्रतीत होती है। दर्पण अत्यन्त स्वच्छ होता है। उसमें प्रतिबिम्बित होने पर बाह्य पदार्थ भी ऐसा लगता है कि वह मानों दर्पण के भीतर रहा हुआ हो किन्तु वास्तव में वैसा नहीं होता-वह दर्पण के भीतर नहीं होता। जैसे ग्रीष्म ऋतु में भूमि की उष्णता से परिस्पंदित होती हुई सूर्य की किरणें जलात्मक विज्ञान उत्पन्न करती है, जलरूप प्रतीत होती है। गन्धर्व नगर आदि अपने-अपने आकार में जैसे होते हैं, उससे भिन्न प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार आत्मा भी पांच भूतों के देह रूप में परिणत होने पर उनसे पृथक् न होती हुई भी पृथक् होने की भ्रांति समुत्पन्न करती है।

कई कई व्याख्याकार इन दृष्टान्तों के प्रतिपादक कतिपय सूत्रों का विश्लेषण-विवेचन करते हैं किन्तु हमने सूत्रादर्शों-सूत्रों की पुरानी प्रतियों में और पुरातन टीकाओं में उन सूत्रों को नहीं देखा है। इसलिये यहाँ उनका उल्लेख नहीं किया गया है।

एक शंका उपस्थित की जाती है कि-यदि पांच भूतों के अतिरिक्त या उनसे पृथक् कोई आत्मा नामक स्वतंत्र पदार्थ नहीं है तो उस द्वारा किये गये पुण्य और पाप भी नहीं हो सकते। फिर यह जगत जिसमें इतनी विचित्रता हैं, किस प्रकार घटित हो सकता है। किनके फलस्वरूप ये विचित्र स्थितियां प्रकट होती हैं। इस जगत में कोई ऐश्वर्यशाली है, कोई दीन हीन है, कोई सौभाग्यशाली है, कोई दुर्भाग्ययुक्त है, कोई सुख सम्पन्न है, कोई दुःख पीड़ित हैं, कोई सुंदर रूप से युक्त है कोई कुरूप है, कोई रोग युक्त है, कोई रोग रहित स्वस्थ है। जगत में यह जो विचित्रताएं हैं वह क्यों घटित होती है।

इस शंका का समाधान करते हुए तच्जीव तच्शरीरवादियों की ओर से कहा जाता है कि यह जो कुछ भी होता है वह स्वभाव से होता है-उसका कारण स्वभाव है। उदाहरणार्थ-कहीं एक पाषाण खण्ड को देव प्रतिमा का रूप दिया जाता है, उस पर कुंकुम, अगर, चन्दन आदि चढ़ाये जाते हैं। उनका विलेपन किया जाता है धूप आदि सुगंधित पदार्थ उपहृत किये जाते हैं। वह इनकी सुगंध आदि पाने का अवसर पाती है। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि वह ऐसा अनुभव करती है। एक दूसरा पाषाण खण्ड है जिस पर लोग पैर आदि धोते हैं। ऐसे निम्न कोटी के कार्यों में जिसका उपयोग होता है। उन दोनों पाषाण खण्डों के साथ कोई पाप पुण्य नहीं जुड़े हैं जिनके उदय से वे वैसी अवस्थाएं प्राप्त कर रहे हैं। अतः यह प्रमाणित होता है कि जगत की विचित्रता का कारण स्वभाव ही है। कहा गया है कांटे में जो तीक्ष्णता है-तीखापन है, मयूर के रूप में जो विलक्षणता है जो विविध रंगमयता है, मुर्गे में जो विचित्र रंग है-इन सबका कारण स्वभाव ही है। यहां तच्जीव तच्शरीरवादियों का सिद्धांत बताया गया है।

❀ ❀ ❀

कुव्वं च कारयं चेव, सव्वं कुव्वं न विज्जई।
एवं अकारओ अप्पा, एवं ते उ पगब्भिआ ॥१३॥

छाया – कुर्वंश्च कारयँ श्चैव, सर्वां कुर्वन्न विद्यते ।
एवमकारक आत्मा, एवं ते तु प्रगल्भिताः ॥

अनुवाद – आत्मा स्वयं कुछ करते हुए नहीं रहती-स्वयं किसी कर्म या क्रिया में उद्यत नहीं होती। न किसी अन्य के द्वारा कोई क्रिया करवाती है । यों वह कुछ भी न करती हुई अवस्थित है । दूसरे शब्दों में वह अकारक-किसी क्रिया की कर्ता नहीं है ।

टीका – इदानीमकारकवादिमताभिधित्सयाऽऽह - 'कुर्वन्निति स्वतन्त्रः कर्ताऽभिधीयते, आत्मनश्चामूर्त्तत्वान्नित्यत्वात् सर्वव्यापित्वाच्च कर्तृत्वानुपपत्तिः, अत एव हेतोः कारयितृत्वमप्यात्मनोऽनुपपन्नमिति, पूर्वश्चशब्दोऽतीतानागतकर्तृत्वनिषेधको द्वितीयः समुच्चयार्थः, ततश्चात्मा न स्वयं क्रियायां प्रवर्तते, नाप्यन्यं प्रवर्तयति, यद्यपि च स्थितिक्रियां मुद्राप्रतिबिम्बोदयन्यायेन [जपास्फटिकन्यायेन च] भुजिक्रियां करोति तथाऽपि समस्तक्रियाकर्तृत्वं तस्य नास्तीत्येतद्दर्शयति - 'सव्वं कुव्वं ण विज्जई' त्ति 'सर्वां' परिस्पन्दादिकां देशाद्देशान्तर प्राप्तिलक्षणां क्रियां कुर्वन्नात्मा न विद्यते, सर्वव्यापित्वेनामूर्तत्वेन चाकाशस्येवात्मनो निष्क्रियत्वमिति, तथा चोक्ताम्-"अकर्ता निर्गुणो भोक्ता, आत्मासाङ्ख्यनिदर्शने" इति । 'एवम्' अनेन प्रकारेणात्माऽकारक इति, 'ते' साङ्ख्याः, तु शब्दः पूर्वेभ्यो व्यतिरेकमाह, ते पुनः साङ्ख्या एवं 'प्रगल्भिताः' प्रगल्भवन्तो धाष्ट्यवन्तः सन्तो भूयोभूयस्तत्र तत्र प्रतिपादयन्ति, यथा "प्रकृतिः करोति, पुरुष उपभुङ्क्ते, तथा बुद्ध्यध्य वसितमर्थं पुरुषश्चेतयते" इत्याद्यकारकवादिमतमिति ॥१३॥

टीकार्थ – अकारकवादियों के सिद्धान्त का विवेचन करने की दृष्टि से आगमकार यहां बतलाते हैं-

यहां जो कुर्वन् पद आया है वह सतृ प्रत्यय का रूप है । उसका तात्पर्य है कि वह स्वतन्त्र कर्तृत्व का द्योतक है । आत्मा अमूर्त-मूर्त या आकार रहित नित्य-नाश रहित और सर्वव्यापी है । इसलिये उसमें कर्तृत्व उत्पन्न नहीं होता-वह कर्त्ता नहीं हो सकती । जब उसमें स्वयं कर्तृत्व नहीं है तो किसी अन्य के द्वारा कारयितृत्व-क्रिया कराया जाना भी निष्पन्न नहीं होता । इस गाथा में पहले जों 'च' शब्द का प्रयोग हुआ है वह आत्मा के अतीतकालीन और भविष्यकालीन कर्त्तापन का प्रतिषेध करता है । दूसरा 'च' शब्द समुच्चयवाचक है । वह पदों को जोड़ता है । अतएव इसका तात्पर्य यह है कि आत्मा स्वयं किसी क्रिया में प्रवृत्त-संलग्न नहीं होती और वह किसी अन्य को किसी क्रिया में संलग्न नहीं कर पाती । 'मुद्रा प्रति बिम्बोदक[1] तथा जपास्फटिक न्याय[2] से वह खाना पीना आदि क्रियाएं करती हुई प्रतीत होती है किन्तु वस्तुतः उसका वहां कर्तृत्व-कर्तापन

---

१. **मुद्राप्रतिबिम्बोदक** – किसी दर्पण में यदि कोई मूर्ति प्रतिबिम्बित हो तो वह अपने वहां विद्यमान या अवस्थित होने का कोई प्रयत्न न करने के बावजूद वह उस दर्पण में अवस्थित प्रतीत होती है । इसी प्रकार आत्मा अपनी स्थिति व्यक्त करने हेतु कोई प्रयत्न नहीं करती, न वह कुछ क्रिया ही करती है किन्तु दर्पण के प्रतिबिम्ब की ज्यों करती हुई सी प्रतीत होती है । इसे मुद्राप्रतिबिम्बोदक न्याय कहा जाता है ।

२. **जपास्फटिक न्याय** – स्फटिक मणि के समीप जपा नामक लता का पुष्प जो लाल रंग का होता है, तब वह स्फटिक मणि भी लाल रंग की ही दृष्टिगोचर होती है, वस्तुतः वह लाल नहीं होती, सफेद ही रहती है किन्तु लाल रंग के पुष्प की प्रतिच्छाया या परिबिम्ब पड़ने से वह लाल जान पड़ती है इस उदाहरण से यह प्रतिपादित किया जाता है कि सांख्य सिद्धान्त के अनुसार यद्यपि आत्मा भोक्तृत्व रहित है-वह कर्मफल भोग नहीं करती परन्तु बुद्धि द्वारा किया जाता भोग, बुद्धि के साथ संसर्ग के कारण आत्मा में प्रतीत होता है इसी कारण आत्मा को भोक्ता माना जाता है । जपास्फटिक न्याय का ऐसा अभिप्राय है ।

नहीं है । अतएव आगमकार 'सव्वं कुव्वं न विज्जई' इन शब्दों द्वारा आत्मा के एक स्थान से अन्य स्थान पर जाना आदि परिस्पंदनात्मक-गत्यात्मक क्रियाओं का करना बतलाते हैं । आत्मा को जब सर्वव्यापी और मूर्त्तत्व रहित माना जाता है तब उसकी स्थिति आकाश जैसी बनती है । आकाश जिस प्रकार निष्क्रिय-क्रिया शून्य है उसी प्रकार वह भी क्रिया विरहित होगी । कहा गया है-सांख्य दर्शन में आत्मा अकर्ता-कर्तृत्वरहित, निर्गुण-सत्व रजस तमस गुण रहित तथा अभोक्ता-कर्मों के फल के भोक्तृत्व से विवर्जित है । दूसरे शब्दों में वह किसी क्रिया का कर्त्ता नहीं है, गुण रहित है, कर्मफल भोग रहित है । इस प्रकार आत्मा का अकारकत्व सिद्ध होता है ।

इस गाथा में 'तु' शब्द का प्रयोग पूर्व वर्णित सिद्धान्तवादियों से सांख्यवादी सैद्धान्तिकों का भेद सूचित करने के लिये हुआ है । वे सांख्य दर्शन में विश्वास रखने वाले जैसा पहले बतलाया गया कि आत्मा को कर्तृत्व रहित बताने की धृष्टता-दुराग्रह या ढीठपन करते हैं तथा स्थान-स्थान पर पुनः-पुनः ऐसा प्रतिपादित करते हैं कि प्रकृति ही क्रियाशील है । पुरुष-आत्मा उस क्रिया के फलका भोक्ता-भोगने वाला है । बुद्धि जिस अर्थ को अध्यवसित-परिज्ञात करती है, आत्मा उसका अनुभव करती है यह अकारकवादियों का मत हैं ।

❀ ❀ ❀

जे ते उ वाइणो एवं, लोए तेसिं कओ सिया ?
तमाओ ते तमं जंति मंदा आरंभनिस्सिया ॥१४॥

छाया – ये ते तु वादिन एवं, लोकस्तेषां कुतः स्यात् ?
तमसस्ते तमो यान्ति, मंदा आरंभनिःश्रिताः ॥

अनुवाद – जो वादी इस प्रकार आत्मा को कर्तृत्व रहित-अकरणशील मानते हैं, उनके सिद्धान्त के अनुसार-यदि उनके सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया जाय तो इस लोक-चार गतियों से युक्त संसार का अस्तित्व ही कैसे सिद्ध हो सकता है-वैसा होने से उसका अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता । ऐसे सिद्धान्त का निरुपण करने वाले मंद-अज्ञान से युक्त हैं । वे हिंसादि आरम्भों में संसक्त-संलग्न है । फलतः वे एक अंधकार से निकलकर दूसरे अंधकार में-एक प्रकार के अज्ञान से निकल कर दूसरे अज्ञान में प्रवृष्ट होते हैं-उत्तरोत्तर अज्ञान प्राप्त करते जाते हैं ।

टीका – साम्प्रतं तज्जीवतच्छरीराकारकवादिनोर्मतं निराचिकीर्षुराह-तत्र ये तावच्छरीराव्यतिरिक्तात्मवादिनः 'एव' मिति पूर्वोक्तया नीत्या भूताव्यतिरिक्तमात्मानमभ्युपगतवन्तस्ते निराक्रियन्ते-तत्र यत्तैस्तावदुक्तम्-'यथा न शरीराद्भिन्नोऽस्त्यात्मे' ति तदसंगतं, यतस्तत्प्रसाधकं प्रमाणमस्ति, तच्चेदम्-विद्यमानकर्तृकमिदं शरीरम्, आदिमत्प्रतिनियताकारत्वात्, इह यद्यदादिमत्प्रतिनियताकारं तत्तद्विद्यमानकर्तृकं दृष्टं, यथा घटः, यच्चाऽविद्यमानकर्तृकं तदादिमत्प्रतिनियताकारमपि न भवति, यथाऽऽकाशम्, आदिमत्प्रतिनियताकारस्य च सकर्तृत्वेन व्याप्तेः, व्यापकनिवृत्तौ व्याप्यस्य विनिवृत्तिरिति सर्वत्र योजनीयम् । तथा विद्यमानाधिष्ठातृकानीन्द्रियाणि करणत्वात्, यद्यदिह करणं तत्तद्विद्यमानाधिष्ठातृकं दृष्टं, यथा दण्डादिकमिति, अधिष्ठातारमन्तरेण करणत्वाऽनुपपत्तिः यथाऽऽकाशस्य, हृषीकाणांचाधिष्ठाताऽऽत्मा, स च तेभ्योऽन्य इति, तथा विद्यमानाऽऽदातृकमिदमिन्द्रियविषयकदम्बकम्, आदानादेयसद्भावात्, इह यत्र यत्राऽऽदानादेयसद्भावस्तत्र तत्र विद्यमान आदाता-ग्राहको दृष्टः, यथा

संदंशकायस्पिण्डयोस्तद्भिन्नोऽयस्कार इति, यश्चात्रेन्द्रियैः करणै र्विषयाणामादाता ग्राहकः स तद्भिन्न आत्मेति, तथा विद्यमानभोक्तृकमिदं शरीरं भोग्यत्वादोदनादिवत्, अत्र च कुलालादीनां मूर्त्तत्वानित्यत्वसंहतत्वदर्शनादात्मापितथैव स्यादिति धर्मि विशेषविपरीतसाधनत्वेन विरुद्धाशंका न विधेया, संसारिण आत्मनः कर्मणा सहान्योऽन्यानुबन्धतः कथञ्चिन्मूर्त्तत्वाद्यभ्युपगमादिति, तथा यदुक्तम् 'नास्ति सत्त्वा औपपातिका' इति तदप्ययुक्तं, यतस्तदहजतिबालकस्य यः स्तनाभिलाषः सोऽन्याभिलाषपूर्वकः, अभिलाषत्वात्, कुमाराभिलाषवत्, तथा बालविज्ञानमन्यविज्ञानपूर्वकं, विज्ञानत्वात्, कुमार विज्ञानवत्, तथाहि-तदहर्जातबालकोऽपि यावत्स एवायं स्तन इत्येवं नावधारयति तावन्नोपरतरुदितो मुखमर्पयति स्तने इति, अतोऽस्ति बालके विज्ञानलेशः, सचान्यविज्ञानपूर्वकः, तच्चान्यद्विज्ञानं भवान्तर विज्ञानं, तस्मादस्तिसत्त्व औपपातिक इति । तथा यदभिहितं, 'विज्ञानघनएवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यतीति, तत्राप्ययमर्थो-'विज्ञानघनो' विज्ञानपिण्ड आत्मा 'भूतेभ्य उत्थायेति प्राक्तन कर्मवशात्तथाविधकायाकारपरिणते भूतसमुदायेतद्द्वारेण स्वकर्मफलमनुभूय पुनस्तद्विनाशे आत्मापि तदनु तेनाकारेण विनश्यापरपर्यायान्तरेणोत्पद्यते, न पुनस्तैरेव सह विनश्यतीति । तथा यदुक्तम्-'धर्मिणोऽभावात्तद्धर्मयोःपुण्यपापयोरभाव' इति, तदप्य समीचीनं, यतो धर्मी तावदनन्तरोक्ति कदम्बकेन साधितः, तत्सिद्धौ च तद्धर्मयोः पुण्यपापयोरपि सिद्धिरवसेया जगद्वैचित्र्यदर्शनाच्च। यत्तु स्वभावमाश्रित्योफलशकलं दृष्टान्तत्वेनोपन्यस्तं तदपि तद्धेतुकर्मवशादेव तथा तथा संवृत्तमिति दुर्निवारः पुण्यापुण्यसद्भाव इति।येऽपि बहवःकदलीस्तम्भादयो दृष्टान्ता आत्मनोऽभावसाधनायोपन्यस्ताःतेऽप्यभिहितनीत्याऽऽत्मनो भूतव्यतिरिक्तस्य परलोकयायिनः सारभूतस्य साधितत्वात् केवलं भवतो वाचालतां प्रख्यापयन्ति इत्यलमतिप्रसंगेन। शेषं सूत्रं विव्रियतेऽधुनेति । तदेवं 'तेषां' भूतव्यतिरिक्तात्मनिह्नववादिनां योऽयं 'लोकः' चतुर्गतिकसंसारो भवाद्भवान्तरगतिलक्षणः प्राक् प्रसाधितः सुभगदुर्भगसुरुपमन्दरूपेश्वरदारिद्र्यादिगत्या जदगद्वैचित्र्यलक्षणश्च स एवम्भूतो लोकस्तेषां 'कुतोभवेत् ?' कयोपपत्या घटेत ? आत्मनोऽनभ्युपगमात्, न कथञ्चिदित्यर्थः, 'ते च' नास्तिकाः परलोकयायि जीवाऽनभ्युपगमेन पुण्यपापयोश्चाऽभावमाश्रित्य यत्किञ्चन कारिणोऽज्ञानरूपात्तमसः सकाशादन्यत्तमो यान्ति, भूयोऽपि ज्ञानावरणादिरूपं महत्तरं तमः सञ्चिन्वन्तीत्युक्तं भवति, यदिवा-तम इव तमो-दुःखसमुद्घातेन सदसद्विवेकप्रध्वंसित्वाद्यातनास्थानं तस्माद्-एवं भूतात्तमसः परतरं तमो यान्ति, सप्तमनरकपृथिव्यां रौरवमहारौरवकालमहाकालाप्रतिष्ठानाख्यं नरकावासं यान्तीत्यर्थः । किमिति ? यतस्ते 'मन्दा' जड़ामूर्खाः, सत्यपि युक्त्युपपन्ने आत्मन्यसदभिनिवेशात्तदभावमाश्रित्य प्राण्युपमर्दकारिणि विवेकिजननिन्दिते आरम्भे-व्यापारे निश्चयेन नितरां वा श्रिताः-सम्बद्धाः, पुण्यपापयोरभाव इत्याश्रित्य परलोकनिरपेक्षतयाऽऽरम्भनिश्रिता इति । तथा तज्जीवतच्छशरीरवादिमतं निर्युक्तिकारोऽपि निराचिकीर्षुराह-'पंचण्ह' मित्यादिगाथा प्राग्वद्-व्याख्यापि॥३३॥ साम्प्रमकारकवादिमतमाश्रित्यायमनन्तर (रोक्त) श्लोको भूयोऽपि व्याख्यायते-ये एते अकारकवादिन आत्मनोऽमूर्त्तत्वनित्यत्वसर्वव्यापित्वेभ्यो हेतुभ्यो निष्क्रियत्वमेवाभ्युपन्नाः तेषां य एष 'लोको' जरामरणशोकाक्रन्दनहर्षादिलक्षणो नरकतिर्यङ्मनुष्यामरगतिरूपः सोऽयमेवम्भूतो निष्क्रिये सत्यात्मन्यप्रच्युतानुत्पन्न स्थिरैकस्वभावे 'कुतः' कस्माद्धेतोः स्यात् ? न कथञ्चित्कुतश्चित्स्यादित्यर्थः, ततश्च दृष्टेष्टबाधारूपात्तमसोऽज्ञानरूपात्ते तमोऽन्तरं-निकृष्टं यातनास्थानं यान्ति, किमिति ? यतो 'मन्दा' जड़ाः प्राण्यपकारकाऽऽरम्भनिश्रिताश्च ते इति ॥ अधुना निर्युक्तिकारोऽकारकवादिमतनिराकरणार्थमाह -

को वेएई अकयं ? कयनासो पंचहा गई नत्थि । देवमणुस्सगयागइ जाईसरणा इयाणं च ॥३४॥

आत्मनोऽकर्तृत्वात्कृतं नास्ति, ततश्चाकृतं को वेदयते ? तथा निष्क्रियत्वे वेदनक्रियाऽपि न घटां प्राञ्चति, अथाकृतमप्यनुभूयेत तथा सत्यकृतागमकृतनाशापत्तिः स्यात्, ततश्च एककृतपातकेन सर्वः प्राणिगणो दुःखितः

स्यात् पुण्येन च सुखी स्यादिति, न चैतद् दृष्टमिष्टं वा, तथा व्यापित्वान्नित्यत्वाच्चात्मनः 'पंचधा' पंचप्रकारा नारकतिर्यङ्मनुष्यामरमोक्षलक्षणा गतिर्न भवेत, ततश्च भवतां सांख्यानां काषायचीवरधारण शिरस्तुण्डमुण्डनदण्डधारणभिक्षाभोजित्वपंचरात्रोपदेशानुसारयमनियमाद्यनुष्ठानं तथा –

"पंचविंशतितत्वज्ञो, यत्र तत्राश्रये रतः । जटी मुण्डी शिखी वापि, मुच्यते नात्र संशयः ॥१॥ इत्यादि

सर्वमपार्थकमाप्नोति तथा देवमनुष्यादिषु गत्यागती न स्यातां, सर्वव्यापित्वादात्मनः, तथा नित्यत्वाच्च विस्मरणाभावाज्जातिस्मरणादिका च क्रिया नोपपद्यते, तथा आदिग्रहणात् 'प्रकृतिःकरोति पुरुष उपभुङ्क्ते' इति भुजिक्रिया या समाश्रिता साऽपि न प्राप्नोति, तस्या अपि क्रियात्वादिति, अथ 'मुद्राप्रतिबिम्बोदयन्यायेन भोग' इति चेद्, एतत्तु निरन्तराः सुहृदः प्रत्येष्यन्ति, वाङमात्रत्वात्, प्रतिबिम्बोदयस्यापि च क्रिया विशेषत्वादेव, तथा नित्ये चाविकारिण्यात्मनि प्रतिबिम्बोदयस्याभावाद्यत्किञ्चिदेतदिति ॥३४॥ ननु च भुजि क्रियामात्रेण प्रति बिम्बोदयमात्रेण च यद्यप्यात्मा सक्रियः तथापि न तावन्मात्रेणास्माभिः सक्रियत्वमिष्यते, किं तर्हि ? समस्त क्रियावत्वे सतीत्येतदाशङ्क्य निर्युक्तिकृदाह –

ण हु अफलथोवणिच्छित कालफलत्तणमिहं अदुमहेऊ । णादुद्धथोव दुद्धत्तणे णगावित्तणे हेऊ ॥३५॥

न हु नैवाफलत्वं द्रुमाऽभावे साध्ये हेतुर्भवति, नहि यदैव फलवां स्तदैव द्रुमः अन्यदात्वद्रुम इतिभावः, एवमात्मनोऽपि सुप्ताद्यवस्थायां यद्यपि कथञ्चिन्निष्क्रियत्वं तथापि नैतावतात्वसौ निष्क्रिय इति व्यपदेशमर्हति, तथा स्तोकफलत्वमपि न वृक्षाऽभावसाधनायालं, स्वल्पफलोऽपि हि पनसादिर्वृक्षव्यपदेशभाग्भवति, एवमात्माऽपि स्वल्पक्रियोऽपि क्रियावानेव, कदाचिदेषा मतिर्भवतो भवेत्-स्तोकक्रियो निष्क्रिय एव, यथैक कार्षापिणधनो न धनित्व (व्यपदेश) मास्कन्दति एवमात्माऽपि स्वल्पक्रियत्वादक्रिय इति, एतदप्यचारू, यतोऽयं दृष्टान्तः प्रतिनियतपुरुषापेक्षया चो (ऽत्रो) पगम्यते समस्त पुरुषापेक्षया वा ? तत्र यद्याद्यः पक्षः तदा सिद्धसाध्यता, यतः सहस्रादिधनवदपेक्षया निर्धन एवासौ, अथ समस्तपुरुषापेक्षया तदसाधु, यतोऽन्यान् जरच्चीवरधारिणोऽपेक्ष्य कार्षापण धनोऽपि धनवानेन, तथाऽऽत्मापि यदि विशिष्टसामर्थ्योपेतपुरुष- क्रियापेक्षया निष्क्रियोऽभ्युपगम्यते न काचित्क्षतिः सामान्यापेक्षया तु क्रियावानेव, इत्यलमतिप्रसंगेन, एवमनिश्चिता- कालफलत्वाख्य हेतु द्वयमपि न वृक्षाऽभावसाधकम् इत्यादि योज्यम्, एवमदुग्धत्वस्तोकदुग्धत्वरूपा वपि हेतू न गोत्वाऽभावं साधयतः, उक्तन्यायेनैव दार्ष्टान्तिकयोजनाकार्येति ॥३५॥१४॥

टीकार्थ – अब तच्जीव तच्शरीरवादी तथा अकारकवादी सिद्धान्तिकों के मत का निराकरण करने के लिये आगमकार बतलाते हैं –

आत्मा को देह से अव्यतिरिक्त या अपृथक् मानने वाले सैद्धान्तिकों के मत का यहां निराकरण किया जाता है-इस संबंध में उन्होंने जो यह प्रतिपादित किया कि देह से आत्मा पृथक् नहीं है यह असंगत है-ऐसा कहने में संगति फलित नहीं होती, क्योंकि आत्मा का देह से पार्थक्य है । इस तथ्य को साबित करने वाला प्रमाण उपलब्ध होता है । वह यह है –

इस देह का कोई कर्त्ता विद्यमान है-किसी कर्त्ता द्वारा यह कृत-निर्मित है, क्योंकि यह सादि-आदियुक्त है, प्रति नियताकार-एक निश्चित आकार लिया हुआ है । इस संसार में जो जो पदार्थ सादि आदियुक्त है तथा जिनके आकार-आकृतियां सुनिश्चित हैं उनका कोई न कोई कर्त्ता विद्यमान-दृष्टिगोचर होता है अर्थात् वे किसी कर्त्ता द्वारा रचित है, घड़ा इसका उदाहरण है । जिस पदार्थ का कोई कर्त्ता विद्यमान दिखाई नहीं देता, जो

किसी द्वारा कृत निर्मित नहीं है, वह आदियुक्त और निश्चित आकारयुक्त नहीं होता, जैसे आकाश इसका उदाहरण है । अतएव जो पदार्थ आदियुक्त तथा निश्चित आकार युक्त होता है उसका सकर्तृक होता है-वह किसी न किसी द्वारा कृत-किया हुआ होता है, यह व्याप्ति है-व्यापकता का सिद्धान्त है । जहां व्यापकता की निवृत्ति होती है-जहां व्यापक नहीं होता, वहां व्याप्य की भी विनिवृत्ति होती है-वहां व्याप्य भी नहीं होता । अतएव यदि देह किसी द्वारा कृत नहीं है तो वह सादि और नियत आकार युक्त भी नहीं हो सकता । इस बात को सब जगह जोड़ना चाहिये और भी-इन्द्रियों का कोई न कोई अवश्य ही अधिष्ठाता है-संचालक है, क्योंकि इन्द्रियाँ करण या साधन का रूप लिये हुए है । इस संसार में जो जो करण-साधन होते हैं, उनका कोई न कोई संचालयिता अवश्य ही होता है । चाक घुमाये जाने के लिये प्रयुक्त कुम्हार का दंड या डण्डा इसका उदाहरण है । दंड साधन है, कुम्भकार इसका अधिष्ठाता या संचालक नहीं होता, वह करण या साधन नहीं हो सकता। आकाश इसका उदाहरण है । आकाश का कोई अधिष्ठायक नहीं है, इसलिये आकाश करण या सादन नहीं है । इन्द्रियों का अधिष्ठायक आत्मा है । वह उन इन्द्रियों से पृथक् है-भिन्न है । उन इन्द्रियों और विषयों का आदाता-ग्राहक, ग्रहण करने वाला कोई अवश्य है क्योंकि वहां आदानादेय भाव-ग्राहक ग्राह्यभाव-ग्रहण करने वाले और ग्रहण किये जाने वाले का संबंध दृष्टिगोचर होता है-प्रतीत होता है। जहां जहां आदानादेय या ग्राहक ग्राह्य भाव होता है वहां आदान या ग्रहण करने वाला कोई न कोई पदार्थ अवश्य होता है । उदाहरण के लिये लौह के पिंड और संडासी को लिया जा सकता है । संडासी को इंद्रिय स्थानीय और लौह पिंड को विषय रूप माना जा सकता है । लुहार उनका अधिष्ठायक या संचालक है । इंद्रिय विषय और उनके ग्राहक आत्मा के साथ इस उदाहरण को जोड़ा जा सकता है।

इसलिये इन्द्रियात्मक या इन्द्रिय रूप करणों या साधनों द्वारा जो विषयों का आदाता या ग्राहक होता है वह उनसे-इन्द्रियों से पृथक् आत्मा है । अर्थात् इस शरीर का भोक्ता-भोग करने वाला कोई अवश्य होना ही चाहिये क्योंकि चावल आदि खाद्य पदार्थ जिस प्रकार भोग्य है उसी प्रकार यह शरीर भी एक भोग्य पदार्थ है । पूर्ववर्ती उदाहरण में आये कुम्भकार पदार्थ मूर्त-मूर्त्तिमान अनित्य-नश्वर तथा अवयवी अवयववान है । इन्हें देखते आत्मा भी मूर्त, नश्वर और अवयववान अंगोपांग युक्त क्यों नहीं है । ऐसी शंका करना युक्ति विरुद्ध है-नहीं करनी चाहिये ? क्योंकि सांसारिक आत्माएं कर्म के साथ बंधी हुई होने से कथञ्चित-एक सीमा तक-एक अपेक्षा से मूर्तत्व आदि से युक्त भी मानी जाती है।

यह जो कहा गया कि प्राणी परलोक में नहीं जाते, नया जन्म नहीं ग्रहण करते, ऐसा कहना भी अयुक्तियुक्त है क्योंकि उसी दिन जन्मे बच्चे में अपनी माँ के स्तनों का दूध पीने की अभिलाषा और चेष्टा दिखाई पड़ती है । यह ज्ञान या प्रवृत्ति अन्य विज्ञानपूर्वक किसी पहले के ज्ञान के कारण होती है क्योंकि जो जो इच्छा उत्पन्न होती है-ज्ञान होता है, उसके पूर्व में अन्य इच्छा और ज्ञान रहते हैं । बालक का ज्ञान उसका उदाहरण है । उसी दिन जन्मा हुआ बालक जब तक यह नहीं जान पाता, नहीं निश्चय कर पाता कि वह यही स्तन है, जो उसका अनुभूतपूर्व है, तब तक वह रूदन छोड़कर उस स्तन में मुंह नहीं लगाता । इससे यह साबित होता है कि बालक में विज्ञान लेश-आंशिक ज्ञान अवश्य है । वह आंशिक ज्ञान अन्य विज्ञानपूर्वक है, अर्थात् उसके पूर्व में अन्य विज्ञान रहा हुआ है। वह अन्य विज्ञान भवान्तर का विज्ञान है । दूसरे भव में प्राप्त ज्ञान या अनुभव के अनुसार है । इससे यह सिद्ध होता है कि प्राणी औपपातिक है-परलोकगामी है, दूसरे भव में जन्म लेता है ।

तज्जीव तच्छरीरवादी सैद्धान्तिकों ने आत्मा के संबंध में जो बतलाया कि वह विज्ञान घन-अत्यन्त विज्ञान समनिम्वत तथा विज्ञान पिंड है, पंचभूतों से समुत्थित आविर्भूत होकर उनका विनाश होने पर विनष्ट हो जाती है, यह ठीक नहीं है । जिस श्रुति का-शास्त्रवाक्य का वे उल्लेख करते हैं उस श्रुति का अभिप्राय इस प्रकार है-विज्ञान घन, विज्ञानपिंड आत्मा पूर्व भव में आचीर्ण कर्मों के अनुसार देह रूप में परिणत पंचमहाभूतों के माध्यम से अपने कर्मों का फल भोग कर, उन भूतों का विनाश हो जाने पर अपने उस रूप से वह विनष्ट हो जाती है और फिर अपर पर्याय-दूसरे देह में-भव में उत्पन्न होती है । उन भूतों के साथ आत्मा विनष्ट हो जाती है, इस श्रुति का ऐसा अभिप्राय नहीं है । साथ ही यह जो कहा गया है कि धर्मी रूप में आत्मा का अस्तित्त्व सिद्ध न होने से धर्म रूप पाप पुण्य का भी अस्तित्व सिद्ध नहीं होता-जब धर्मी आत्मा नहीं है तो पाप पुण्य रूप धर्म कहां से होंगे । ऐसा कहना भी युक्ति संगत नहीं है अभी पहले जो युक्तियां उपस्थित की गई है, उनसे धर्मी रूप आत्मा का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है । जब धर्मी के रूप में आत्मा की सिद्धि हो जाती है तो पाप पुण्य जो उसके धर्म है-वे भी सिद्ध हो जाते हैं, ऐसा समझना चाहिये । तथा इस संसार में विचित्रता विलक्षणता या विविधता दृष्टिगोचर होती है, उससे भी पाप पुण्य का होना सिद्ध होता है ।

तज्जीव तच्छरीरवादी ने स्वभाव का आशय लेकर जगत की विचित्रता सिद्ध करने हेतु पाषाणखण्डों का जो उदाहरण दिया वह भी उपयुक्त नहीं है क्योंकि वह उन पाषाण खण्डों का भोग करने वाले उनके अधिकारियों या मालिकों के कर्मों के प्रभाव से वैसा हुआ है । उनके अनुसार पाप पुण्य का सद्भाव-अस्तित्व मिटाया नहीं जा सकता । आत्मा का अभाव या नास्तित्व सिद्ध करने हेतु केले के तने आदि के जो उदाहरण दिये गये हैं, वे भी केवल कथन मात्र हैं, क्योंकि पहले जो युक्तियां दी गई हैं, उससे परलोक जाने वाले भूतों से पृथक् आत्मा-जो सारभूत है-सिद्ध हो जाता है । इसलिये इस संबंध में और अधिक विस्तार में जाना आवश्यक नहीं है ।

अवशिष्ट सूत्र की व्याख्या करते हुए कहा जाता है । यह संसार चार गतियों के प्राणियों से युक्त है। वह एक भव से दूसरे भव में जाते हैं । कोई सुभग-सौभाग्ययुक्त, कोई दुर्भग-दुर्भाग्ययुक्त, कोई सुरुप-सुन्दर रूप युक्त, कोई मंद रूप-रूप रहित या कुरुप, कोई ऐश्वर्यशाली-धन वैभव सम्पन्न तथा कोई दरिद्र-अभावग्रस्त इत्यादि भिन्न-भिन्न रूपों में उत्पन्न होता है । भूतों से पृथक् आत्मा नामक स्वतन्त्र पदार्थ न मानने वाले तज्जीव तच्छरीरवादियों के सिद्धान्तानुसार यह किस प्रकार हो सकता है। किस युक्ति से घटित होता है । वे आत्मा का अस्तित्त्व नहीं मानते, इसलिये उनके सिद्धान्तानुसार जगत की विचित्रता, विविधरूपता घटित नहीं होती । अत: वे नास्तिक-परभव आदि में आस्था नहीं रखने वाले, ऐसी आत्मा का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते जो परलोकगामी है । अत: वे पुण्य-पाप को भी नहीं मानते । इसलिये जैसा मन में आता है वे करते हैं । वे एक अज्ञानरूप अंधकार से निकल कर, फिर दूसरे अज्ञान मूलक अंधकार में जाते हैं । इसका अभिप्राय यह है वे यों करते हुए ज्ञानावरणीय-ज्ञान को ढंकने वाले कर्म आदि के रूप में महत्तर-बड़े से बड़े अंधकार का संचय करते हैं अथवा जो अंधकार के सदृश्य है उसे यहां तम के रूप में अभिहित किया गया है । नरक आदि के स्थान के लिये, जहां जीवों को घोर कष्ट दिये जाते हैं, जिसके कारण उन स्थानों में नारकीयों का सद्भाव-विवेक नष्ट हो जाता है, यह शब्द प्रयुक्त है, उस अंधकार से-उन नरक स्थानों से निकलकर उस से भी घोर तर अंधकार में-नरकों में प्रयाण करते हैं-उससे आगे वे सप्तम नरक भूमि में जिसमें रौरव, महारौरव, काल, महाकाल, अप्रतिष्ठान संज्ञक नरक खास विद्यमान है, जाते हैं ।

अब प्रश्न उठाया जाता है-वे नरकों में क्यों जाते हैं ? समाधान में कहा जाता है-वे मंद-ज्ञान रहित जड़-बौद्धिक चेतना शून्य है, मूर्ख हैं । आत्मा के युक्तियों द्वारा सिद्ध होने पर भी अपने अभिनिवेश-मिथ्या आग्रह के कारण उसे नहीं मानते हैं और विवेकशील पुरुषों ने प्राणी उपमर्दन-प्राणी हिंसा रूप जिन कार्यों की निंदा की है उसमें वे निश्चित रूपेण लगे रहते हैं । वे पुण्य और पाप कुछ नहीं है-ऐसा मानकर परलोक से सर्वथा निरपेक्ष रहते हुए, उसकी चिन्ता या परवाह न करते हुए आरंभ मिश्रित हिंसा आदि आरंभ समारंभ कार्यों में उद्यत रहते हैं । निर्युक्तिकार ने भी तज्जीवतच्शरीरवादी के सिद्धान्त का निराकरण करते हुए 'पंचण्ह' इत्यादि गाथा का प्रतिपादन किया । वह गाथा पहले की ज्यों यहां पर भी लागू होती है । अब अकारकवादी के सिद्धान्त को आश्रित कर-लेते हुए इस श्लोक की पुनः व्याख्या की जाती है ।

ये अकारकवादी अमूर्तत्व-निराकारता, नित्यत्व, अविनश्वरता तथा सर्वव्यापित्व-सर्वत्र व्यापकता-इन्हें आत्मा का गुण मानते हैं, तदनुसार आत्मा को वे नित्य, अमूर्त सर्वव्यापी कहते हैं । निष्क्रिय मानते हैं । यदि उनके मत को सही माना जाय, आत्मा वस्तुतः निष्क्रिय हो, तो वृद्धावस्था, मृत्यु दुःख, आक्रन्दन-शोक से रोना पीटना तथा हर्ष आदि और नारक तिर्यंच मनुष्य और देव गति रूप यह संसार कैसे संभव हो सकता है । निष्क्रियता से ये बातें कैसे सध सकती है । यदि आत्मा को उत्पत्ति और विनाश रहित, स्थिरतायुक्त तथा एक स्वभाव से विद्यमान माना जाये तो पूर्वोक्त संसार की स्थिति किसी प्रकार नहीं बनती, इसलिये वे अकारकवाद में आस्थावान पुरुष जो दृष्ट-देखी जाती और ईष्ट-चाही जाती-वस्तु के स्वीकारने में बाधा उपस्थित करने वाले एक अज्ञान से निकलकर उससे भी निम्न कोटि के अज्ञान को, यातना स्थान-नरकादि घोर पीड़ा जनक स्थान को प्राप्त करते हैं । ऐसा क्यों होता है, इस पर कहते हैं कि वे मंद एवं जड़ है प्राणियों के अपकार-हिंसा में-उन्हें पीड़ा देने में संलग्न रहते हैं । अब निर्युक्तिकार अकारकवादियों के सिद्धान्त का निराकरण-खण्डन करने हेतु प्रतिपादित करते हैं ।

अकृत्-नहीं किया हुआ कर्म कौन जानता है ? अर्थात् यदि कोई कर्त्ता नहीं है तो उस द्वारा कृत-किया कर्म भी नहीं हो सकता । जो नहीं किया गया है उसे कौन कैसे अनुभव कर सकता है। यदि आत्मा को निष्क्रिय-क्रिया रहित-कतृत्व रहित माना जाय तो अनुकूल प्रतिकूल वेदनीयात्मक सुख दुःख भी घटित नहीं होता । यदि किसी कर्म के न किये जाने पर भी उसका सुख दुःख भोगा जाय तो अकृतागम और कृतनाश के रूप में दोष उपस्थित होते हैं । अकृतागम का तात्पर्य जो कर्म नहीं किये गये है, उनका फल भोगना है। जिसे असम्भव की कोटि में माना जा सकता है तथा कृत कर्म का फल न भोगना कृतनाश दोष के रूप अभिहित होता है । कर्म किया गया हो और फल न भोगा जाय, यह भी असंभव जैसी स्थिति है ।

आत्मा के सर्व व्यापित्व मूलक पक्ष को दृष्टि में रखते हुए कहा जाता है कि वैसा होने से एक प्राणी द्वारा किये गये पाप कर्मों को सब प्राणी भोगे, दुःखी हो तथा किसी एक के द्वारा आचरित पुण्य कार्य से सभी प्राणी सुखी हो-ऐसा होना चाहिये । किन्तु ऐसा दृष्टिगोचर नहीं होता और न ऐसा होना इष्ट-अभीप्सित ही है । आत्मा यदि सर्व व्यापक है वह नित्य है तो नरक गति, तिर्यक् गति, मनुष्य गति देवगति तथा मुक्ति में पांचों सध नहीं सकती । तो आप सांख्य मतालम्बियों द्वारा काषाय वस्त्र धारण किया जाना, मस्तक आदि का मुंडन कराया जाना, दण्ड धारण किया जाना, भिक्षा में प्राप्त भोजन द्वारा निर्वाह करना, पंचरात्र नामक अपने शास्त्र के उपदेशानुरूप यम-अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह-का पालन करना निरर्थक होगा । साथ ही साथ यह जो कहा गया है कि जो पच्चीस तत्त्वों-प्रकृति, महत्, अहंकार, पंचतन्मात्राएं, दस इन्द्रियां, एक

मन, पंचमहाभूत एक पुरुष-आत्मा-को जान लेता है, वह चाहे जिस आश्रम में वास करे, चाहे जटा धारण करे तथा मस्तक मुंडाये रहे अथवा शिखा-चोटी धारण करे निश्चय ही वह मुक्त हो जाता है, मोक्ष पा लेता है, यह कथन भी अपार्थक-निरर्थक होगा ।

आत्मा को सबमें व्यापक मानने से, नित्य मानने से देवयोनि, मनुष्य योनि आदि में जाना, वहां से आना-पुनः किसी योनि में जन्म लेना यह संभव नहीं हो सकता । आत्मा को नित्य मानने से उसे किसी प्रकार की विस्मृति-विस्मरण या भूल नहीं होती । उसमें सब यथावत स्मृति में बना रहता है। ऐसा होने से जाति स्मरण-पूर्व जन्म का ज्ञान आदि क्रिया भी उत्पन्न-निष्पन्न नहीं होती । 'तथा' आदि के प्रयोग से यहां यह तात्पर्य है कि प्रकृति कर्तृ है-जो कुछ क्रिया जगत में की जाती है उसका कर्तृत्त्व प्रकृति में है । पुरुष उसके फल का भोक्ता है । सांख्य में आत्मा को पुरुष कहा जाता है । इसलिये यहाँ इसका तात्पर्य यह है कि प्रकृति द्वारा किये गये कर्मों का फल आत्मा भोगती है । ऐसा सिद्ध नहीं होता क्योंकि भोगना भी एक क्रिया है । आत्मा को सांख्य में निष्क्रिय या अक्रिय माना जाता है । यदि यों कहा जाय कि मुद्रा प्रतिबिम्ब न्याय से आत्मा द्वारा प्रकृतिकृत कर्मों का फल भोगा जाना माना जा सकता है अर्थात् जैसे मुद्रा-मूर्त्ति आदि बाहर रहते हुए भी दर्पण में प्रतिबिम्बित होते हैं, वे दर्पण में रहे हुए प्रतीत होते हैं, उसी तरह भोग क्रिया यद्यपि आत्मा में नहीं होती पर वह दर्पण में प्रतिबिम्बित मूर्त्ति की ज्यों प्रतीत होती है । यह कथन केवल वाक् विलास है, युक्ति शून्य है । इसे आपके वही सुहृदमित्र स्वीकार करेंगे जिन्हें वास्तविकता का बोध नहीं होता । यह भी क्या विचारणीय नहीं है कि दर्पण में प्रतिबिम्ब का उदित होना भी एक प्रकार की क्रिया ही है । जब आत्मा नित्य है-अविकारी-विकार रहित या परिवर्तन रहित है, तो उसमें यह क्रिया कैसे हो सकती है । दर्पण में मूर्त्ति के प्रतिबिम्ब के उदित होने की तरह आत्मा में उस प्रकार की क्रिया का अभाव रहता है, वैसी क्रिया कभी निष्पन्न होती नहीं। यदि ऐसा कहते हो कि आत्मा में भुजि क्रिया-भोगात्मक क्रिया तथा प्रतिबिम्ब का उदय होता है । अतएव इस अपेक्षा से हम आत्मा को सक्रिय मानते हैं तो ठीक है। इतने मात्र से-इस क्रिया की अपेक्षा से हम आत्मा को सक्रिय मान सकते हैं किन्तु इतने मात्र से हम उसे समस्त क्रियाएं करने में सक्षम या समुद्यत नहीं मान सकते । समस्त क्रियाएं करने पर आत्मा को सक्रिय माना जा सकता है । ऐसी आशंका कर निर्युक्तिकार लिखते हैं-

फल का न लगना वृक्ष के अभाव को सिद्ध नहीं करता क्योंकि वृक्ष के यदि फल लगे तो वह वृक्ष कहलाये और फल न लगे तो वह वृक्ष कहलाने योग्य नहीं है, ऐसा नहीं होता । इसी प्रकार यद्यपि आत्मा शयनादि दैहिक स्थितियों में कथंचित-उक्त स्थितियों की अपेक्षा से निष्क्रिय-क्रिया रहित होती है किन्तु इतने मात्र से उसे क्रिया शून्य कहा जाय ऐसा संगत नहीं होता । जिन वृक्षों के थोड़े फल लगते हैं वे वृक्ष के अभाव या अवृक्षत्व के साधक नहीं होते अर्थात् भरपूर फल लगने से ही पृथक् कहा जाय ऐसा नहीं होता। कटहल आदि वृक्षों के बहुत कम फल लगते हैं, पर वे वृक्ष कहे जाते हैं । इसी प्रकार आत्मा यदि स्वल्प क्रियावान हो-थोड़ी क्रियाकर्ती हो तो भी वह क्रियावान-सक्रिय कही जाती है । यदि आप अपना मन्तव्य यों बतलाये कि जिसके थोड़ी क्रिया होती है, वह क्रिया-शून्य ही है, जिसके पास मात्र एक पैसा हो वह धनी नहीं कहा जाता इसी प्रकार आत्मा भी स्वल्प क्रियत्व-थोड़ी क्रियाकारिता के कारण सक्रिय नहीं कही जाती है, वह अक्रिय ही है-यों कहना अचारू-असुन्दर या अनुपयुक्त नहीं है । प्रश्न है आपने यह दृष्टान्त किसी प्रतिनियत-विशेष पुरुष की अपेक्षा से दिया है अथवा समस्त पुरुषों की अपेक्षा से दिया है । यदि आपने किसी ऐसे व्यक्ति

की अपेक्षा से-जिसके पास सहस्रों मुद्रायें हैं, यह दृष्टान्त दिया है तो वह पुरुष, जिसके पास मात्र एक पैसा है सर्वमान्य-जिसे सब स्वीकार करते हैं, अर्थ को ही साबित करता है क्योंकि जिसके पास सहस्रों मुद्राएं हैं उसकी तुलना में वह पुरुष निःसन्देह निर्धन है, जिसके पास मात्र एक पैसा है, यदि आप पुरुषों की अपेक्षा से उस पुरुष को जिसके पास एक पैसा है, निर्धन कहते हैं तो यह सही नहीं है क्योंकि उन पुरुषों की अपेक्षा से जिनके पास एक भी पैसा नहीं है, जो जीर्ण क्षीर्ण वस्त्र धारण किये रहते हैं वह एक पैसा वाला भी धनवान ही है । यदि आप किसी विशिष्ट सामर्थ्योपेत-विशिष्ट शक्ति सम्पन्न पुरुष की क्रिया की दृष्टि से-अपेक्षा से आत्मा को निष्क्रिय या क्रिया शून्य बतलाते हैं तब तो कोई हानि-बाधा नहीं है किन्तु यदि सर्व सामान्य की अपेक्षा से आत्मा को निष्क्रिय बताते हों तो यह संगत नहीं है क्योंकि सर्व सामान्य की अपेक्षा आत्मा सक्रिय-क्रियाशील है । अब प्रस्तुत विषय में और अधिक कहना अति प्रासांगिक होगा-वैसा कहना आवश्यक नहीं है ।

अस्तु, पूर्ववर्ती चर्चा के अनुसार जिस वृक्ष द्वारा फल दिया जाना निश्चित नहीं है और निश्चित रूप से फल नहीं देता-जो अकाल फलत्व-ठीक समय पर फल नहीं देता, आगे पीछे फल देता है उसमें भी वृक्षत्व का अभाव नहीं होता । वह वृक्ष तो है ही । वृक्ष वृक्ष से भिन्न नहीं इत्यादि दृष्टान्त को यहां पोषित करना चाहिये-यथावत समझना चाहिये । इसी प्रकार जो गाय बिल्कुल दूध नहीं देती या जो गाय अल्प मात्रा में दूध देती है वहां गौत्व का अभाव सिद्ध नहीं होता अर्थात् वे गायें ही नहीं हैं, ऐसा नहीं माना जा सकता । गायें तो वे हैं ही । इस उदाहरणों द्वारा तद्गत तथ्य की पोसना करनी चाहिये । तुलनापूर्वक सत्य की स्थापना करना चाहिये ।

❀ ❀ ❀

संति पंच महब्भूया, इहमेगेसिमाहिया ।
आय छट्ठो पुणो आहु, आया लोगे य सासए ॥१५॥

छाया – संति पंच महाभूतानि, इहैकेषामाख्यातानि ।
आत्मषष्ठानि पुनराहु, रात्मा लोकश्च शाश्वतः ॥

अनुवाद – कई वादी-सैद्धान्तिक ऐसा निरूपित करते हैं कि इस जगत में पृथ्वी आदि पांच महाभूत हैं । छठी आत्मा है । वे पुनः यो प्रतिपादन करते हैं कि आत्मा और लोक नित्य हैं ।

टीका – साम्प्रतमात्मषष्ठवादिमतं पूर्वपक्षयितुमाह - 'संति' विद्यन्ते 'पंच महाभूतानि' पृथिव्यादीनि 'इह' अस्मिन् संसारे 'एकेषां' वेद वादिनां सांख्यानां शैवाधिकारिणाञ्च, एतद् आख्यातम् आख्यातानि वा भूतानि, ते च वादिन एवमाहुः-एवमाख्यातवन्तः, यथा 'आत्मषष्ठानि' आत्मा षष्ठो येषां तानिआत्मषष्ठानि भूतानि विद्यन्ते इति, एतानि चात्मषष्ठानि भूतानि यथाऽन्येषां वादिनामनित्यानि तथा नामीषामिति दर्शयति आत्मा 'लोकश्च' पृथिव्यादिरूपः 'शाश्वतः' अविनाशी, तत्रात्मनः सर्वव्यापित्वादमूर्त्तत्वाच्चाकाशस्येव शाश्वतत्वं पृथिव्यादीनां च तद्रुपाप्रच्युतेरविनश्वरत्वमिति ॥१५॥

टीकार्थ – *सूत्रकार अब आत्मषष्ठवादी के सिद्धान्त* को पूर्व पक्ष के रूप में उपस्थित करते हुए कहते हैं । वेद वादी-वेदों में विश्वास करने वाले सांख्य और शिव को परम तत्त्व मानने वाले वैशेषिक ऐसा निरूपित

करते हैं कि इस संसार में पृथ्वी आदि पांच महाभूत हैं । वे बतलाते हैं कि उनके अतिरिक्त छठी आत्मा है। जैसे दूसरे मतवादी इन्हें अनित्य मानते हैं वैसे ये इन्हें अनित्य नहीं मानते । इसी बात का दिग्दर्शन कराने के लिये कहते हैं कि यह पृथ्वी आदि पांच भूतों से निष्पन्न लोक एवं आत्मा शाश्वत हैं-नाश नहीं होता । आत्मा आकाश की ज्यों सर्व व्यापित्व-सर्वत्र व्यापकता लिये हुए है तथा यह अमूर्त्त-मूर्त्तता या आकार रहित है, शाश्वत है । पृथ्वी आदि अपने स्वरूप से प्रच्युत-नष्ट न होने के कारण अविनश्वर हैं ।

❀ ❀ ❀

दुहओ ण विणस्संति, नो य उपरज्जए असं ।
सव्वेऽवि सव्वहा भावा नियत्तीभावमागया ॥१६॥

छाया – द्विधाऽपि न विनश्यंति, नचोत्पद्यतेऽसन् ।
सर्वेऽपि सर्वथा भावाः नियतीभावमागता ॥

अनुवाद – पृथ्वी आदि पांचभूत छठी आत्मा जो पीछे वर्णित हुए हैं, वे किसी हेतु द्वारा या बिना हेतु द्वारा-दोनों ही प्रकार से विनष्ट नहीं होते । जिस पदार्थ का अस्तित्व ही नहीं है, वह कभी उत्पन्न नहीं होता । अर्थात् जो सत् हैं, वही उत्पन्न होता है, सभी पदार्थ नियति भाव या नित्यत्व भाव को लिये हुए हैं-वे नित्य हैं ।

टीका – शाश्वतत्त्वमेव भूयः प्रतिपादयितुमाह - 'ते' आत्मषष्ठाः पृथिव्यादयः पदार्था 'उभयत' इति निर्हेतुकसहेतुकविनाशद्वयेन न विनश्यन्ति, यथा बोद्धानां स्वत एवं निर्हेतुकोविनाशः तथा च ते ऊचुः-

'जातिरेवहि भावानां, विनाशे हेतुरिष्यते । यो जातश्च न च ध्वस्तो, नश्येत् पश्चात्स केन च ? ॥१॥

यथा च वैशेषिकाणां लकुटाटिकारणसान्निध्ये विनाशः सहेतुकः, तेनोभयरूपेणापि विनाशेन लोकात्मनो र्न विनाश इति तात्पर्यार्थः, यदिवा-'दुहओ' त्ति द्विरूपादात्मनः स्वभावाच्चेतनाचेतनरूपान्न विनश्यन्तीति, तथाहि-पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानि स्वरूपापरित्यागतया नित्यानि, 'न कदाचिदनीदृशं जगदि' ति कृत्वा, आत्माऽपि नित्य एव, अकृतकत्वादिभ्यो हेतुभ्यः, तथा चोक्तम् -

"नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः । न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयतिमारुतः ॥१॥

अच्छेद्योऽयमभेद्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते । नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२॥"

एवं च कृत्वा नासदुत्पद्यते, सर्वस्य सर्वत्र सद्भावाद् असति च कारकव्यापाराभावात् सत्कार्यवादः, यदि च असदुत्पद्येत शवरविषाणादेरप्युत्पत्तिःस्यादिति तथा चोक्तम् -

"असदकरणादुपादान ग्रहणात् सर्वसम्भवाऽभावात्। शक्तस्य शक्याकरणात्, कारणभावाच्च सत्कार्यम्॥१॥"

एवं च कृत्वा मृत्पिंडेऽपि घटोऽस्ति, तदर्थिनां मृत्पिण्डोपादानात्, यदि चासदुत्पद्येत ततो यतः कुतश्चिदेवस्यात्, नावस्यमेतदर्थिना मृत्पिंडोपादानमेव क्रियते इति, अतः सदेव कारणे कार्यमुत्पद्यत इति एवं च कृत्वा सर्वेऽपि भावाः-पृथिव्यादय आत्मषष्ठाः 'नियतिभाव' नित्यत्वमागता नाभावरूपतामभूत्वा च भावरूपतांप्रतिपद्यन्ते, आविर्भावतिरोभावमात्रत्वादुत्पत्तिविनाशयोरिति, तथा चाभिहितम्-"नासतो जायते भावो, नाभावो जायते सतः" इत्यादि, अस्योतरं निर्युक्तिकृदाह-'को वेएई' त्यादि प्राक्तन्येवगाथा, सर्वपदार्थ नित्यत्वाऽभ्युपगमे कर्तृत्वपरिणामो

न स्यात्, ततश्चात्मनोऽकर्तृत्वे कर्मबन्धाभावस्तदभावाच्च को वेदयति?न कश्चित्सुखदुःखादिकमनुभवतीत्यर्थः एवं चसति कृतनाशः स्यात् तथा असतश्चोत्पादाऽभावे येयमात्मनः पूर्वभवपरित्यागेनापरभवोत्पत्ति लक्षणा पंचधा गतिरूच्यते सा न स्यात्, ततश्च मोक्षगतेरभावादीक्षादिक्रियाऽनुष्ठान मनर्थकमापद्येत, तथाऽप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावत्वे चात्मनो देवमनुष्यगत्यागती तथा विस्मृतेभावात् जातिस्मरणादिकं च न प्राप्नोति,यच्चोक्तं 'सदेवोत्पद्यते' तदप्यसत्, यतो यदि सर्वथा सदेव कथमुत्पादः ?' उत्पादश्चेत् न तर्हि सर्वथा सदिति, तथा चोक्तम् -

"कर्मगुण व्यपदेशाः प्रागुत्पत्ते र्न सन्ति यत्तस्मात् । कार्यमसद्विज्ञेयं क्रियाप्रवृत्तेश्च कर्तृणाम् ॥१॥"

तस्मात्सर्वपदार्थानां कथञ्चिन्नित्यत्वं सदसत्कार्यवादश्चेत्यवधार्यं, तथा चाभिहितम् -

"सर्वव्यक्तिषु नियतं क्षणे क्षणेऽन्यत्वमथ च न विशेषः। सत्योश्चित्यपचित्यो राकृतिजाति व्यवस्थानात्॥१॥" इति, तथा -

"नान्वयः सहि भेदत्वान्न भेदोऽन्वयवृत्तिः मृद्भेदद्वयसंसर्गवृत्तिर्जात्यन्तरं घटः ॥२॥" ॥१६॥

टीकार्थ – पृथ्वी आदि भूतों की शाश्वता का पुनः प्रतिपादन करते हुए आगमकार कहते हैं-

पृथ्वी आदि पांच महाभूत और छट्ठी आत्मा-ये छहों पदार्थ कभी नष्ट नहीं होते । नाश निर्हेतुक-कारण रहित सहेतुक-कारण सहित-दो प्रकार का है । इन दोनों ही प्रकार से ये पदार्थ विनष्ट नहीं होते । बौद्धों के अनुसार बिना किसी हेतु के स्वतः ही पदार्थों का विनाश हो जाता है । वे कहते हैं-जाति पदार्थों का जन्म या उत्पत्ति ही उनके विनाश का कारण कहा जाता है । जो समुत्पन्न होते ही ध्वस्त नहीं होता-नष्ट नहीं होता, वह तत्पश्चात् किसी कारण द्वारा नष्ट हो सकता है । वैशेषिक दर्शन के आस्थावान जन लकुट-यष्टिका या लाठी आदि के कारण से उनके प्रहार से-आघात या चोट से पदार्थों का जो विनाश होता है उसे सहेतुक कहते हैं, क्योंकि उसके नाश में ये हेतु बने रहते हैं। यह नाश सहेतुक या कारण सहित कहा जाता है क्योंकि लट्ठी आदि कारणों का वहां नाश रूप कार्यों में उपयोग हुआ है । आत्मषष्ठवादियों का यह मन्तव्य है कि इस दोनों प्रकार के सहेतुक और निर्हेतुक नाश द्वारा आत्मा का और लोक का नाश नहीं होता । ऐसा आत्मषष्ठवादियों का अभिप्राय है । अथवा चेतनात्मक स्वभाव युक्त आत्मा तथा अचेतन स्वरूप युक्त पांचभूत अपने स्वरूप से कभी च्युत नहीं होते, नष्ट नहीं होते क्योंकि पृथ्वी, अप-जल, तेज-अग्नि, वायु तथा आकाश अपने स्वरूप का कभी परित्याग नहीं करते-अपने स्वरूप में निमग्न रहते हैं । अतएव वे नित्य हैं तथा यह जगत भी जैसा है, उससे कभी और तरह का नहीं हो जाता, इसलिये नित्य है । आत्मा भी नित्य ही है क्योंकि वह किसी द्वारा की गयी या बनायी गयी नहीं है, गीता में इस संबंध में कहा है-आत्मा को शस्त्र छिन्न-भिन्न नहीं कर सकते, काट नहीं सकते, अग्नि उसे दग्ध नहीं कर सकती-जला नहीं सकती, पानी उसे क्लिन् नहीं कर सकता-भीगो नहीं सकता, वायु उसका शोषण नहीं कर सकती-इसे सुखा नहीं सकती, यह आत्मा अछेद्य-छेदन न किये जाने योग्य है-इसका छेदन नहीं किया जा सकता, यह अभेद्य-भेदन न किये जाने योग्य है, यह अविकार्य-विकृत न होने योग्य है, इसमें कोई विकार या विपरीणमन उत्पन्न नहीं होता, यह नित्य है सर्वगत-सर्वव्यापक है, यह स्थाणु-स्थिरतायुक्त है, चलन-विचलन रहित है, यह सनातन-सदा से चला आता है ।

सत्कार्यवाद की चर्चा करते हुए कहते हैं-पृथ्वी आदिपांच भूत तथा छट्ठी आत्मा नित्य है । इनका सर्वदा अस्तित्व है । इस कारण असद्-जो सत् नहीं है-कभी उत्पन्न नहीं होता-सभी पदार्थ सर्वत्र सत्-विद्यमान है । यदि वे असत् हो तो उनमें कर्त्ता कर्म करण आदि कारकों का व्यापार नहीं हो सकता। इससे सत्कार्यवाद

सिद्ध हो जाता है । यदि असत् पदार्थ भी उत्पन्न हो-असत् से सत् की उत्पत्ति हो तो खरविषाण-गधे के सींग आदि की भी उत्पत्ति संभव है । इसलिये कहा है -

जो पदार्थ जहां या जिसमें विद्यमान नहीं है उसकी उससे उत्पत्ति नहीं हो सकती । जब कोई भी पदार्थ उत्पन्न होता है तो उपादान के ग्रहण की आवश्यकता होती है, उपादान बिना वह नहीं होता। जैसे यदि घड़ा उत्पन्न होता है तो उसे मृतिका रूप उपादान की आवश्यकता होती है । उपादान को ग्रहण करना कार्य की निष्पत्ति आवश्यक होती है । उसके बिना कार्य की निष्पत्ति संभव नहीं है । यदि असत् की उत्पत्ति हो तो उपादान को ग्रहण करने की क्या आवश्यकता रहती है । किसी भी वस्तु से सद् वस्तुएं निकल सकती है-निष्पन्न हो सकती है । यह संभव नहीं है-जिसमें जो सत् है, वही उससे बाहर निकलता है । जिससे जो किया जाना शक्य है, उसी से वह हो सकता है, जिससे जिसका होना शक्य नहीं होता, वह उससे निष्पन्न नहीं हो सकता । वही निष्पन्न होता है जो शक्य है । प्रत्येक कार्य का अपना-अपना कारण है । कारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है । इन सब अपेक्षाओं से कार्य सत् है । उदाहरणार्थ मृतिका पिंड में घट विद्यमान है क्योंकि मृतिका पिंड के ग्रहण से ही घड़ा अस्तित्व में आता है । यदि असत् की उत्पत्ति होती हो तो वह जहां कहीं से हो सकती है, फिर उसके लिये मृतिका पिंड को ग्रहण करना आवश्यक नहीं है । इसलिये जिस कारण में सत् है-कार्य पहले से ही अपना अस्तित्व लिए हुए है, उसी से उसका उत्पन्न होना निश्चित है। इस प्रकार सभी भाव-पदार्थ-पृथ्वी आदि पांचभूत-छठी आत्मा ये सब नित्यत्व लिये हुए है । ये अभाव रूप में परिणत होकर फिर भाव रूप में उत्पन्न नहीं होते, अविर्भाव-तिरोभाव, उत्पत्ति और विनाश का ही रूप है । (गीता में) कहा गया है -

असत् से भाव-सत् उत्पन्न नहीं होता तथा सत् से अभाव या असत् आविर्भूत नहीं होता । निर्युक्तिकार ने इसका उत्तर दिया है । उसमें 'को वेएई' इत्यादि पूर्वोक्त गाथा में विवेचन किया है-यदि समस्त पदार्थ नित्यत्व से अभ्युपगत-स्वीकृत या संलग्न जाने जाय-उन्हें नित्य माना जाय तो कर्तृत्व का परिणाम या सिद्धान्त घटित नहीं होता । आत्मा का यदि कर्तृत्व परिणाम न हो तो उसके कर्मबंध नहीं हो सकता तथा कर्मबंध न होने पर कोई सुख दुःख नहीं भोग सकता । ऐसा होने पर कृतनाश नामक दोष आता है । अर्थात् अपने कृत कर्म का फल प्राणी को भोगना पड़ता है यह सिद्धान्त खंडित होता है । असत् का उत्पाद या उत्पत्ति न मानने पर पूर्व भव का परित्याग कर अन्य भव में उत्पन्न होने वाली आत्मा की जो पांच प्रकार की गति बतलाई गई है, वह नहीं हो सकती । ऐसी स्थिति में मोक्ष गति न होने पर संयमी जीवन को स्वीकार करने के रूप में दीक्षा आदि का अनुष्ठान निरर्थक हो जाता है । आत्मा को अप्रच्युत-एक ही रूप में स्थिर-विनाश रहित, अनुत्पन्न-एक स्वभाव मुक्त मानने पर इसका देवगति, मनुष्य गति आदि में-देवता मानव आदि रूप में जन्म पाना संभव नहीं होता । नित्यत्व के कारण विस्मृति भी नहीं होती, जिससे जातिस्मरण आदि ज्ञान की उत्पत्ति संभव नहीं हो सकती । अतः आत्मा को एकान्तरूपेण नित्य मानना असंगत है-अयर्थाथ है । यह जो कहा कि सत् ही उत्पन्न होता है-यों कहना भी असत् है, अनुपयुक्त है, यदि वह सर्वथा सत् के रूप में विद्यमान है तो उसके उत्पाद या उत्पत्ति की स्थिति कैसे आ सकती है । उत्पत्ति तो उसकी होती है जो नहीं होता । यदि उत्पाद या उत्पत्ति होती है वह सर्वथा सत् नहीं हो सकता । इसलिये कहा है -

जब तक पदार्थों की उत्पत्ति नहीं होती उनके कभी गुण और नाम भी नहीं हो सकते । उदाहरणार्थ जब तक घड़ा उत्पन्न नहीं होता, तब उसके द्वारा जल लाने का कार्य कैसे घटित हो सकता है उसके न होने

पर उसके गुण भी वहां नहीं हो सकते तथा घट आदि के रूप में उनके अभिधान-नाम भी नहीं हो सकते। और घट बनाने की क्रिया में प्रवृत्त भी होते हैं जब घट न हो। घट निष्पन्न हो जाने पर वैसी प्रवृत्ति नहीं होती। इसलिये उत्पत्ति से पहले कार्य असत् हैं, ऐसा जानना चाहिये। सभी पदार्थ कथंचित-किसी अपेक्षा से नित्य और कथंचित-किसी अपेक्षा से अनित्य हैं, ऐसा समझना चाहिये। इसके अनुसार सत् असत् कार्यवाद का सिद्धान्त स्वीकार करना चाहिये। कहा गया है -

सभी व्यक्ति, वस्तुएं या पदार्थ प्रतिक्षण परिवर्तित होते रहते हैं किन्तु उनमें अन्यत्व या भेद प्रतीत नहीं होता। वे मूलतः, स्वरूपतः वैसे ही बने रहते हैं-इसका हेतु यह है कि पदार्थों का अपचय-ह्रास और उपचय-संवर्द्धन या वृद्धि-होता रहता है। अर्थात् वे घटते बढ़ते रहते हैं किन्तु उनकी आकृति और जाति सदैव व्यवस्थित-स्थिर बनी रहती है। तथा कारण के साथ कार्य एकान्त रूप से अभिन्न नहीं है। कारण और कार्य में भेद की प्रतीति होती है पर उनमें एकान्त भेद भी नहीं है। क्योंकि कार्य में कारण अन्वित-अनुगत रहता है। अतः जिस घट का मृत्तिका के साथ भेद और अभेद मूलक संबंध है वह जात्यन्तरीय-अन्य जाति का पदार्थ है। वस्तु स्थिति यों बनती है।

❀ ❀ ❀

पंच खंधे वयंतेगे वाला उ खण जोइणो।
अण्णो अणण्णो णेवाहु हेउयं च अहेउयं ॥१७॥

छाया – पंच स्कन्धान् वदन्त्येके बालास्तु क्षणयोगिनः।
अन्य मनन्यं नैवाहु हेतुकञ्चाहेतुकम् ॥

अनुवाद – कई अज्ञानी पांच स्कन्धों का प्रतिपादन करते हैं जो उनके अनुसार क्षण मात्र स्थायी है। पांच भूतों से अन्य-पृथक्, भिन्न तथा अनन्य-अपृथक्, अभिन्न आत्मा नहीं है। वह न हेतुक-कारण से उत्पन्न होती है तथा न अहेतुक-कारण के बिना ही उत्पन्न होती है, ऐसा उनका अभिमत है।

टीका – साम्प्रतं बौद्धमतं पूर्वपक्षयन्निर्युक्तिकारोपन्यस्तमफलवादाधिकारमाविर्भावयन्नाह - 'एके' केचन वादिनो बौद्धाः 'पंचस्कन्धान्वदन्ति' रूपवेदनाविज्ञान संज्ञासंस्काराख्याः पंचैव स्कन्धा विद्यन्ते नापरः कश्चिदात्माख्यः स्कन्धोऽस्तीत्येवं प्रतिपादयन्ति, तत्र रूपस्कन्धः पृथिवीधात्वादयो रूपादयश्च ? सुखा दुःखा अदुःखसुखा चेति वेदना वेदना स्कन्धः २ रूपविज्ञानं रसविज्ञानमित्यादिविज्ञानं विज्ञान स्कन्धः ३ संज्ञास्कन्धः संज्ञानिमित्तोद्ग्राहणात्मकः प्रत्ययः ४ संस्कारस्कन्धः पुण्यापुण्यादिधर्मसमुदाय इति ५। न चैतेभ्यो व्यतिरिक्तः कश्चिदात्माख्यः पदार्थोऽध्यक्षणाध्यवसीयते, तदव्यभिचारिलिंगग्रहणाऽभावान् नाप्यनुमानेन, न च प्रत्यक्षानुमानव्यतिरिक्तमर्थांविसंवादि प्रमाणआन्तरमस्तीत्येवं बाला इव बालायथाऽवस्थितार्थपरिज्ञानात् बौद्धाः प्रतिपादयन्ति, तथा ते स्कन्धाः 'क्षणयोगिनः परमनिरुद्धः कालः क्षणः क्षणेन योगः-संबंधः क्षणयोगः स विद्यते येषां ते क्षणयोगिनः, क्षणमात्रावस्थायिन इत्यर्थः, तथा च तेऽभिदधतिस्वकारणेभ्यः पदार्थ उत्पद्यमानः किं विनश्वरस्वभाव उत्पद्यतेऽविनश्वर स्वभावो वा ? यद्यविनश्वरस्ततस्तद्व्यापिन्याः क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाया अभावात् पदार्थस्यापि व्याप्यस्याऽभावः प्रसजति, तथाहि यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थतः सदिति, स च नित्योऽर्थ क्रियायां प्रवर्तमानः क्रमेण वा प्रवर्तेत यौगपद्येन वा ? न तावत् क्रमेण, यतो ह्येकस्या अर्थक्रियायाः काले तस्यापरार्थ क्रियाकरणस्वभावो विद्यते

वा न वा ? यदिविद्यते किमिति क्रमकरणम् ? सहकार्यपेक्षयेति चेत् तेन सहकारिणा तस्य कश्चिदतिशयः क्रियते न वा ? यदि क्रियते किं पूर्वस्वभावपरित्यागेन परित्यागेन वा ? यदि परित्यागेन ततोऽतादवस्थयापत्तेरनित्यत्वम्, अथ पूर्वस्वभावापरित्यागेन ततोऽतिशयाऽभावात् किं सहकार्यपेक्षया ? अथ अकिञ्चित्करोऽपि विशिष्ट कार्यार्थपेक्षते, तदयुक्तम्, यतः

"अपेक्षेत परं कश्चिद्यदि कुर्वीत किंचन । यदकिञ्चित्करं वस्तु, किं केनचिदपेक्ष्यते ? ॥१॥"

अथ तस्यैकार्थक्रियाकरणकालेऽपरार्थक्रियाकरणस्वभावो न विद्यते, तथा च सति स्पष्टैव नित्यताहानिः । अथाऽसौ नित्यो यौगपद्येनार्थक्रियां कुर्य्यात् तथा सति प्रथम क्षण एवाशेषार्थक्रियाणां करणात् द्वितीयक्षणेऽकर्तृत्वमायातं, तथा च सैवानित्यता । अथ तस्य तत्स्वभावत्वात्ता एवार्थक्रिया भूयो भूयो द्वितीया दिक्षणेष्वपिकुर्य्यात्, तदसाम्प्रतम् कृतस्य करणाभावादिति । किंच द्वितीयादिक्षणसाध्या अप्यर्थाः प्रथमक्षण एव प्राप्नुवन्ति, तस्य तत्स्वभावत्वात् अतत्स्वभावत्वे च तस्यानित्यत्वापत्तिरिति । तदेवं नित्यस्य क्रमयौगपद्याभ्यामर्थ क्रियाविरहान्न स्वकारणेभ्यो नित्यस्योत्पाद इति । अथानित्यस्वभावः समुत्पद्यते, तथा च सति विघ्नाभावादाया तमस्मदुक्तमशेषपदार्थजातस्य क्षणिकत्वम्, तथाचोक्तम्-

"जातिरेव हि भावानां विनाशे हेतुरिष्यते । यो जासश्च न च ध्वस्तो नश्येत् पश्चात्स केन च" ॥१॥

ननु सत्यप्यनित्यत्वे यस्य यदा विनाशहेतुसद्भावस्तस्य तदा विनाशः, तथा च स्वविनाशकारणापेक्षाणामनित्यानामपि पदार्थानां न क्षणिकत्वमिति एतच्चानुपासितगुरोर्वचः, तथाहि तेन मुद्गरादिकेन विनाशहेतुना घटादेः किं क्रियते? किमत्र प्रष्टव्यम् ? अभावः क्रियते, अत्र च प्रष्टव्यो देवानां प्रियः अभाव इति किं पर्य्युदासप्रतिषेधोऽयमुतप्रसज्यप्रतिषेध इति ? तत्र यदि पर्य्युदासस्ततोऽयमर्थो भावादन्योऽभावो भावान्तरं घटात्पटादिः सोऽभाव इति, तत्र भावान्तरे यदि मुद्गरादि व्यापारो न तर्हि तेन किंचित घटस्य कृतमिति । अथ प्रसज्यप्रतिषेधस्तदाऽयमर्थोविनाशहेतुरभावं करोति, किमुक्तं भवति ? भावं न करोतीति ततश्च क्रियाप्रतिषेध एव कृतःस्यात्, न च घटादेः पदार्थस्य मुद्गरादिना करणं, तस्य स्वकारणैरेव कृतत्वात् अथ भावाभावोऽभावस्तं करोतीति, तस्य तुच्छस्य नीरूपत्वात् कुतस्तत्रकारकारणां व्यापारः ? अथ तत्राऽपि कारकव्यापारो भवेत् खरशृंगादावपि व्याप्रियेरन् कारकाणीति । तदेवं विनाशहेतोरकिंचित्करत्वात् स्वहेतुत एवानित्यताक्रोडीकृतानां पदार्थानामुत्पत्तेर्विघ्नहेतोश्चाभावात् क्षणिकत्वमवस्थितमिति । 'तु' शब्दः पूर्वावादिभ्योऽस्य व्यतिरेकप्रदर्शकः, तमेव श्लोकपश्चार्धेन दर्शयति 'अण्णो अणण्णो' इति । ते हि बौद्धा यथाऽऽत्मषष्ठवादिनः सांख्यादयो भूतव्यतिरिक्तमात्मानमभ्युपगतवन्तो यथा च चार्वाका भूताव्यतिरिक्तं चैतन्याख्यमात्मानमिष्टवन्तस्तथा नैवाहु नैवोक्तवन्तः, तथा हेतुभ्यो जातो हेतुकः कायाकारपरिणतभूतनिष्पादित इतियावत्, तथाऽहेतुकोऽनाद्य पर्यवसितत्वान्नित्य इत्येवं तमात्मानं ते बौद्धाः नाभ्युपगतवन्त इति ॥१७॥

टीकार्थ – अब आगमकार बौद्ध दर्शन को पूर्व पक्ष के रूप में प्रस्तुत करते हुए निर्युक्तिकार द्वारा प्रतिपादित अफलवाद का निरूपण करते हैं -

कई सिद्धान्तवादी-बौद्ध दर्शन को मानने वाले पांच स्कन्धों का प्रतिपादन करते हैं । उनका कथन है कि इस संसार में रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा तथा संस्कार नामक पांच स्कन्ध विद्यमान हैं । इनसे अन्य या पृथक् कोई आत्मा नाम का स्कन्ध-पदार्थ नहीं है । पृथ्वी धातु तथा रूप आदि को रूप स्कन्ध कहा जाता है । सुखानुभूति, दुःखानुभूति और न सुख एवं न दुःख की अनुभूति को वेदना स्कन्ध कहा जाता है । रूप

विज्ञान, रस विज्ञान इत्यादि विज्ञान विज्ञानस्कन्ध कहे जाते हैं। पदार्थों के उदग्राहक-उद्बोधक या सूचक शब्द संज्ञा स्कन्ध कहे जाते हैं। पाप पुण्य आदि धर्म समुदय-समवाय संस्कार स्कन्ध कहे जाते हैं। इनसे व्यतिरिक्त-पृथक् या भिन्न आत्मा नाम का पदार्थ प्रत्यक्ष रूप में अनुभव नहीं किया जाता है। उस आत्मा के साथ अव्यभिचारी-निर्दोष रूप में, नियत रूप में संबंध रखने वाला कोई लिंग भी-चिह्न भी या लक्षण भी प्राप्त नहीं होता। अतः अनुमान प्रमाण द्वारा भी आत्मा का ज्ञान नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष और अनुमान के व्यतिरिक्त-उनके सिवाय उसे सत्य सिद्ध करने वाला अविसंवादी-अविपरीत-सत्य निरूपित करने वाला कोई तीसरा प्रमाण भी विद्यमान नहीं है। अतः वे अज्ञानी बालक की ज्यों पदार्थ के ज्ञान से रहित होकर उपर्युक्त रूप में कथन करते हैं, वे बतलाते हैं कि पांच स्कन्ध क्षणयोगी है। अत्यन्त निरुद्ध या सूक्ष्म काल को क्षण कहा जाता है। उस क्षण के साथ जो संबंध या योग होता है उसे क्षणयोगी के नाम से अभिहित करते हैं, जो पदार्थ उस क्षण के साथ जुड़ता है, संबद्ध होता है वह क्षणयोगी कहा जाता है। वह क्षण मात्र ही अवस्थित रहता है-टिकता है। बौद्ध अपने सिद्धान्त को साबित करने के लिये इस प्रकार प्रतिपादित करते हैं। वे प्रश्न की भाषा में कहते हैं-अपने कारणों से जो पदार्थ उत्पन्न होता है क्या वह नश्वर-विनाशशील स्वभाव लिये होता है या अनश्वर-विनाश रहित स्वभाव युक्त होता है। यदि वह नाश रहित स्वभाव लिये उत्पन्न होता है तो पदार्थ में व्याप्त होकर निष्पन्न होने वाली अर्थक्रिया क्रमशः और एक साथ ही उत्पन्न हो सकती है अतएव व्यापक रूप उस अर्थ क्रिया का अभाव या नास्तित्व होने के कारण व्याप्य-व्याप्त होने योग्य उस पदार्थ का भी अस्तित्व नहीं रहेगा-अभाव होगा। जो अर्थ क्रिया कारी है-जो पदार्थ या वस्तु की क्रिया करने में समर्थ है वही वास्तव में सत् है-वह नित्य है। उसका स्वभाव विनश्वर नहीं होता। एक प्रश्न उपस्थित होता है। वह नित्य पदार्थ अर्थ क्रियाकारिता में प्रवृत्त होता है तो क्या वह एक साथ वैसा करता है या क्रमशः प्रवृत्त होता है। यदि ऐसा कहो कि वह क्रिया करने में क्रमशः प्रवृत्त होता है तो यह संगत नहीं है क्योंकि जिस काल में किसी एक क्रिया करने में जिसकी प्रवृत्ति होती है, जिसमें वह अपने को लगाता है वहां यह प्रश्न खड़ा होता है कि उस समय उसमें अपरक्रिया करण का-दूसरी क्रिया करने का स्वभाव विद्यमान होता है या नहीं। यदि कहो कि वैसा करने का स्वभाव विद्यमान होता है तो वह एक ही साथ अन्य क्रियाओं को भी क्यों नहीं निष्पन्न करता, क्यों वह उनको यथाक्रम या क्रमशः करता है। यदि ऐसा कहो कि उस दर्शन का क्रियमाण क्रिया के अतिरिक्त अन्य क्रिया करने का स्वभाव तो उस काल में विद्यमान रहता है, किन्तु उसकी क्रियाकारिता सहकारी कारणों के साथ जुड़ी है। इसलिये उनकी अपेक्षा से-जैसे-जैसे वे सहकारी कारण मिलते हैं, वह क्रमशः क्रियाएं करता है-एक साथ नहीं करता। ऐसा कहना भी समुचित नहीं है। यह बतलाये कि क्या वह सहकारीकारण उस वस्तु में कुछ अतिशय-विशेष बात पैदा करता है अथवा नहीं करता। यदि वह अतिशय उत्पन्न करता है तो क्या वह उसके पूर्ववर्ती स्वभाव का परित्याग कराकर उत्पन्न होता है या परित्याग कराये बिना ही उत्पन्न होता है। यदि पदार्थ के पूर्ववर्ती स्वभाव का परित्याग करा कर वह अतिशय उत्पन्न होता है तो उस पदार्थ में "अतादवस्त्य"-तदवस्था या अपनी पहली अवस्था या स्वभाव के न रहने के कारण अनित्य सिद्ध हो जाता है। वह नित्य नहीं हो सकता। यदि यों कहा जाय कि उस पदार्थ के पूर्व स्वभाव का परित्याग नहीं होता, तब सहकारीकारण द्वारा उसमें कोई अतिशय-वैशिष्ट्य का अभाव रहता है-उसमें कोई अतिशय उत्पन्न नहीं किया जा सकता। जब ऐसा है तो फिर सहकारी कारण की अपेक्षा ही क्या रह जाती है ? यदि यों कहा जाय कि सहकारी कारण यद्यपि अकिंचित्कर है-कुछ भी नहीं करता किन्तु ऐसा होने के बावजूद विशिष्ट कार्य के लिये उसकी अपेक्षा की जाती है, ऐसा कहना भी अयुक्तियुक्त है। कहा गया है -

जो पदार्थ किसी के लिये कुछ करता है-उपकार करता है-उसी की अपेक्षा की जाती है, आवश्यकता समझी जाती है किन्तु जो कुछ भी नहीं करता-कोई उपकार नहीं करता उसकी अपेक्षा किसी के द्वारा क्यों की जाय-उसकी आवश्यकता कौन किसलिये मानेगा ? यदि यों कहा जाय कि उस पदार्थ का एक क्रिया करते समय उसके अतिरिक्त किसी अन्य क्रिया के करने का स्वभाव नहीं है । इसलिये वह एक क्रिया करने के समय किसी अन्य क्रिया करने का स्वभाव लिए हुए नहीं होता । अर्थात् वह एक क्रिया करते समय कोई दूसरी क्रिया नहीं करता । ऐसा होने से यह स्पष्ट है कि उनमें नित्यत्त्व की हानि होती है । वे नित्य नहीं होते । यदि ऐसा कहा जाय कि वह नित्य पद-युगपत-एक साथ अर्थक्रिया करता है तब जरा विचारें-पहले ही क्षण सब क्रिया हो जाती है तो दूसरे क्षण में उस पदार्थ में अकर्तृत्व-अकर्तापन आता है और अनित्यता आती है । यदि यों कहा जाय कि उस पदार्थ का स्वभाव ऐसा है कि वह द्वितीय आदि आगे के क्षणों में भी अर्थक्रियाओं को पुनः-पुनः करता रहता है तो यह असंगत है-अयुक्तियुक्त है क्योंकि कृत के पुनःकरण का अभाव होता है अर्थात् जो एक बार किया जा चुका हो फिर उसे किया जाना संभव नहीं है । यदि वह एक ही साथ सब क्रियाओं को कर सकता है तो द्वितीय आदि अगले क्षणों में होने वाले पदार्थ भी प्रथम क्षण में ही हो जाते हैं । ऐसा होने का कारण यह है कि द्वितीय आदि क्षणों में निष्पन्न होने वाले पदार्थों की निष्पत्ति का स्वभाव उस प्रथम क्षण में भी है । यदि प्रथम क्षण में वैसा स्वभाव विद्यमान नहीं है तो वह अनित्य है, यह स्पष्टतया सिद्ध हो जाता है । इस प्रकार वह पदार्थ न तो क्रमशः अर्थक्रिया कर सकता है और न एक साथ वैसा करने में सक्षम है, जो पदार्थ नित्य है, उसकी उत्पत्ति अपने कारणों से संभव नहीं होती । यों यदि यह सिद्ध होता है कि अनित्य स्वभाव ही पदार्थों को उत्पन्न करता है तब तो सभी पदार्थ क्षणमात्र स्थायी होंगे क्योंकि अनित्य-नश्वर या क्षण मात्र टिकने वाले ही निष्पन्न हो सकते हैं। इससे हमारे निरूपण-प्रतिपादन के सिद्ध होने में कोई विघ्न या बाधा उपस्थित नहीं होती । कहा गया है कि भावों-पदार्थों की जाति, उत्पत्ति ही उनके विनाश या नश्वरता का हेतु है । जो पदार्थ उत्पन्न हुआ और ध्वस्त नहीं हुआ अर्थात् उत्पन्न होते ही विनष्ट नहीं होता, वह बाद में किसके द्वारा नष्ट होगा-कभी नष्ट नहीं होगा ।

आगे शंका की जाती है-यदि पदार्थों में अनित्यत्व है किन्तु जब जिस पदार्थ के विनाश या ध्वंस का हेतु उपस्थित होता है तब वह पदार्थ विनष्ट हो जाता है । अतएव अपने-अपने विनाश के हेतुओं की अपेक्षा से पदार्थों के नष्ट होने पर भी वे पदार्थ जो अनित्य हैं, उनका क्षणिकत्व सिद्ध नहीं होता-वे क्षण भर टिकते हों-ऐसी स्थिति नहीं बनती !

इसका समाधान करते हुए कहते हैं-यह जो कहा गया है-ऐसे लोगों का वचन है जिन्होंने गुरु की उपासना नहीं की हो-गुरु के सानिध्य में ज्ञानार्जन नहीं किया हो । प्रस्तुत प्रसंग में अधिक पूछने की बात ही क्या है ? वह तो स्वयं स्पष्ट है । कहा जाता है कि अभाव किया जाता है-मूसल आदि से घड़े को फोड़ डालने से उसका अभाव हो जाता है-यों प्रतिपादित करने वाले, देवानांप्रिय-अज्ञानी या मूर्ख से यह पूछा जाना चाहिये कि यहां अभाव शब्द में नय का प्रयोग पर्युदास है या प्रसज्जप्रतिषेध है ? जरा सोचा जाय । यदि वह पर्युदास है तो अभिप्राय एक भाव से दूसरे भाव में जाना या एक भाव को छोड़कर दूसरे भाव में अवस्थित होना होगा, या इसके अनुसार घटाभाव का अर्थ घट से भिन्न पट आदि अभाव होना है । उस स्थिति में अर्थात् घट आदि में यदि मुद्गर का व्यापार होता है, मुद्गर द्वारा उस पर प्रहार किया जाता है तो वह उसका क्या बिगाड़ सकता है अर्थात् वह कुछ भी करने में समर्थ नहीं होता । यदि पर्युदास न मानकर नय का प्रयोग उसके

प्रतिवेध के अर्थ में माने तो यह तात्पर्य होगा कि विनाश का कारण मुद्गर आदि अभाव उत्पन्न करता है उसका क्या आशय होगा । वह किसी भाव को या वस्तु को उत्पन्न नहीं करता । इससे अभाव शब्द के द्वारा क्रिया का ही निषेध किया जाता है । मुद्गर आदि घट आदि किसी पदार्थ को निष्पन्न नहीं करते क्योंकि पदार्थ अपने ही करणों से उत्पन्न हुए हैं । यदि यों कहा जाय कि भावाभाव-भाव के अभाव को न होने को अभाव शब्द से अभिहित किया जाता है तो यो समझना चाहिये कि वह अभाव मुद्गर आदि द्वारा उत्पन्न किया जाता हो, ऐसा नहीं है क्योंकि अभाव अवस्तु दशा है, अरूप है । उसमें कारको का-कार्य उत्पन्न करने वालों का व्यापार-प्रयोग कैसे संभव हो सकता है । यदि अभाव के भी कारकों का उद्यम-प्रयत्न या प्रयोग हो तो ऐसा भी होना चाहिये कि वह गधे के भी सींग उत्पन्न कर सके किन्तु ऐसा कभी होता नहीं इसलिये विनाश के कारण मुद्गर आदि का कुछ भी कारकत्व नहीं है किन्तु अपने स्वभाव से ही पदार्थ अनित्य रूप में उत्पन्न होते हैं । अतएव उनके क्षणिक होने में कोई बाधा नहीं आती वस्तुतः वे क्षणिक हैं ।

प्रस्तुत गाथा में जो 'तु' शब्द का प्रयोग हुआ है वह पहले जिनमतवादियों के सिद्धान्तों की चर्चा की है, उनसे प्रस्तुत मतवादी के सिद्धान्त का भेद ज्ञापित करने के लिये है, प्रस्तुत गाथा के उत्तरार्द्ध-आगे के आधे भाग-अगले दो चरणों में 'अण्णो अणण्णो' शब्दों के द्वारा प्रकट किया गया है । उसका आशय यह है कि सांख्यवादी जिस प्रकार पांच भूत और छठी आत्मा स्वीकार करते हैं तथा साथ ही साथ यह मानते हैं कि आत्मा भूतों से पृथक् नहीं है और चार्वाक आत्मा को पांच भूतों से अपृथक् या अभिन्न मानते हैं । बौद्ध इन दोनों की तरह ही आत्मा का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते । सारांश यह है कि ये शरीर रूप में परिणत पांच भूतों से निष्पन्न अनादि, अनन्त, नित्य आत्मा को स्वीकार नहीं करते ।

❀ ❀ ❀

पुढवी आउ तेऊ य, तहा वाऊ य एगओ ।
चत्तारि धाउणो रूवं, एव माहंसु आवरे ॥१८॥

छाया – पृथिव्यापस्तेजश्च तथा वायुश्चैकतः ।
चत्वारि धातोरूपाणि, एवमाहुरपरे ।

अनुवाद – बौद्धों की एक अन्य परम्परा में ऐसा माना जाता है कि पृथ्वी, जल, अग्नि और पवन ये चार धातु या धातु रूप है । जब ये चारों देह रूप में परिणत होकर एक हो जाते हैं तब वे जीव संज्ञा द्वारा अभिहित होते हैं ।

टीका – तथाऽपरे बौद्धाश्चातुर्धातुकमिदं जगदाहुरित्येतद्दर्शयितुमाह-पृथिवी धातुरापश्च धातुस्तथा तेजो वायुश्चेति धारकत्वात्पोषकत्वाच्च धातुत्वमेषाम् 'एगओ' त्ति, यदैते चत्वारोऽप्येकाकारपरिणतिं विभ्रति कायाकारतया तदा जीवव्यपदेशमश्नुवते । तथा चोचुः-"चातुर्धातुकमिदं शरीम्, न तद्व्यतिरिक्त आत्माऽस्ती" ति । 'एवमाहंसु यावरेत्ति' अपरे बौद्धविशेषा एवम् 'आहुः' अभिहितवन्त इति । क्वचिद् 'जाणगा' इति पाठः । तत्राऽप्ययमर्थो 'जानका' ज्ञानिनो वयं किलेत्यभिमानाग्निदग्धाः सन्त एव माहुरिति सम्बन्धनीयम् । अफलवादित्वं चैतेषां क्रियाक्षण एव कर्तुः सर्वात्मना नष्टत्वात् क्रियाफलेन सम्बन्धाभावादवसेयम् । सर्वएव वा पूर्ववादिनोऽफलवादिनो द्रष्टव्याः कैश्चिदात्मनो नित्यस्याविकारिणोऽभ्युपगतत्वात् कैश्चित्त्वात्मन एवानभ्युपगमादिति । अत्रोत्तरदानार्थ प्राक्तन्येव

निर्युक्तिगाथा ''को वेएइ'' इत्यादि व्याख्यायते, यदि पञ्चस्कन्धव्यतिरिक्तः कश्चिदात्माख्यः पदार्थो न विद्यते ततस्तदभावात्सुखदुःखादिकं कोऽनुभवतीत्यादि गाथा प्राग्वद् व्याख्येयेति। तदेवमात्मनोऽभावाद्योऽयं स्वसंविदितः सुखदुःखानुभवः स कस्य भवत्विति चिन्त्यताम् ? ज्ञानस्कन्धस्यायमनुभव इतिचेन्न, तस्याऽपि क्षणिकत्वात्, ज्ञानक्षणस्य चातिसूक्ष्मत्वात्सुखदुःखानुभवाभावः [क्रियाफलवतोश्च क्षणयोरत्यन्तासंगतेः कृतनाशाकृताभ्यागमापत्तिरिति] । ज्ञानसन्तान एकोऽस्तीति चेत्तस्याऽपि सन्तानिव्यतिरिक्तस्याभावाद् यत्किञ्चिदेतत्। पूर्वक्षण एव उत्तरक्षणे वासनामाधाय विनङ्क्ष्यतीति चेत्, तथा चोक्तम्-

''यस्मिन्नेव हि सन्ताने, आहिता कर्मवासना! फलं तत्रैव सन्धत्ते कार्पासे रक्तता यथा ?''

अत्रापीदं विकल्प्यते-सा वासना किं क्षणेभ्यो व्यतिरिक्ताऽव्यतिरिक्ता वा ? यदि व्यतिरिक्ता, वासकत्वाऽनुपपत्तिः, अथाव्यतिरिक्ता, क्षणवत् क्षणक्षयित्वं तस्याः तदेवमात्माऽभावे सुखदुःखानुभवाभावः स्याद्, अस्ति च सुखदुःखानुभवो, अतोस्त्यात्मेति। अन्यथा पंच विषयानुभवोत्तरकालमिन्द्रियज्ञानानाम् स्वविषयादन्यत्राप्रवृत्तेः संकलनाप्रत्ययो न स्यात्। आलयविज्ञानाद् भविष्यतीति चेदात्मैव तर्हि संज्ञान्तरेणाभ्युपगत इति। तथा बौद्धागमोऽप्यात्मप्रतिपादकोऽस्ति, स चायम् -

''इत एकनवत्तौ कल्पे, शक्त्या मे पुरुषो हतः। तेन कर्म विपाकेन पादे विद्धोऽस्मि भिक्षवः !'' ॥१॥

तथा -

''कृतानि कर्माण्यतिदारुणानि, तनूभवन्त्यात्मनि गर्हणेन। प्रकाशनात्संवरणाच्च तेषामत्यन्तमूलेद्धरणं वदामि॥२॥''

इत्येवमादि। तथा यदुक्तं क्षणिकत्वं साधायता यथा 'पदार्थः कारणेभ्य उत्पद्यमानो नित्यः समुत्पद्यतेऽनित्यो वे'त्यादि, तत्र नित्येऽप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैक स्वभावे कारकाणां व्यापाराभावादतिरिक्ता वाचोयुक्तिरिति नित्यत्वपक्षानुत्पत्तिरेव। यच्च नित्यत्वपक्षे भावताऽभिहितं 'नित्यस्य न क्रमेणार्थक्रियाकारित्वं नाऽपि यौगपद्येनेति' तत्क्षणिकत्वेऽपि समानं, यतः क्षणिकोऽप्यर्थक्रियायां प्रवर्तमानः क्रमेण यौगपद्येनवाऽवश्यं सहकारिकारण सव्यपेक्ष एव प्रवर्तते, यतः सामग्री जनिका, नह्येकं किंचिदिति। तेन च सहकारिणा न तस्य कश्चिदतिशयः कर्तुं पार्य्यते, क्षणस्याविवेकत्वेनानाधेयातिशयत्वात्, क्षणानां च परस्परोपकारकोपकार्य्यत्वानुपपत्तेः सहकारित्वाभावः, सहकार्य्यनपेक्षायां च प्रतिविशिष्टकार्य्यानुपपत्तिरिति। तदेव मनित्यएव कारणेभ्यः पदार्थः समुत्पद्यत इति द्वितीयपक्षसमाश्रयणमेव, तत्राऽपि चेतदालोचनीयं-किं क्षण क्षयित्वेनानित्यत्व माहोस्वित् परिणामानित्यतयेति ? तत्र क्षण क्षयित्वे कारण कार्य्याभावात् कारकाणां व्यापारएवानुपपन्नः कुतः क्षणिकानित्यस्य कारणेभ्य उत्पाद इति ?। अथ पूर्वक्षणादुत्तरक्षणोत्पाद सति कार्य्यकारणभावो भवतीत्युच्यते, तदयुक्तं यतोऽसौ पूर्वक्षणो विनष्टो वोत्तरक्षणं जनयेदविनष्टोवा ? न तावद्विनष्टः तस्यासत्त्वाज्जनकत्वानुपपत्तेः, नाऽप्यविनष्टः, उत्तरक्षणकाले पूर्वक्षणव्यापारसमावेशात्क्षणभंगभंगापत्तेः। पूर्वक्षणो विनश्यंस्तूत्तरक्षण मुत्पादयिष्यिति तुलान्तयोर्नामोन्नामवदितिचेदेवं तर्हि क्षणयोः स्पष्टैवैककालताऽऽश्रिता। तथा हि-याऽसौ विनश्यदवस्था, साऽवस्थातुरभिन्ना उत्पादावस्थाऽप्युत्पित्सोः, ततश्च तयोर्विनाशोत्पादयो यौगपद्याभ्युपगमे, तद्धर्मताऽनुभ्युपगमे, तद्धर्मिणोरपि पूर्वोत्तरक्षणयो रेक कालावस्थायित्वमिति। तद्धर्मताऽनभ्युपगमे च विनाशोत्पादयोरवस्तुत्वापत्तिरिति। यच्चोक्तम्-''जातिरेव हि भावाना मि'' त्यादि, तत्रेदयमिधीयते-यदि जातिरेव-उत्पत्तिरेव भावानां पदार्थानामभावे हेतुस्ततोऽभावकारणस्य सन्निहितत्वेन विरोधेनाघ्रातत्वा दुत्पत्त्यभावः। अथोत्पत्त्युत्तरकालं विनाशो भविष्यतीत्यभ्युपगम्यते, तथा सति उत्पत्तिक्रियाकाले तस्याऽभूतत्वात्पश्चाच्च भवन्ननतर एव भवति न भूयसा कालेनेति किमत्र नियामकम् ? विनाशहेत्वभाव इति चेत् यत उक्तम्-''निर्हेतुत्वाद्विनाशस्य स्वभावादनुबन्धितेति'',

एतदप्ययुक्तं, यतो घटादीनां मुद्गरादिव्यापारानन्तरमेव विनाशो भवन् लक्ष्यते । ननु चोक्तमेवात्र तेन मुद्गरादिना घटादेः किं क्रियते ? इत्यादि, सत्यमुक्त मिदमयुक्तं तूक्तं, तथाहि-अभाव इति प्रसज्यपर्य्युदासविकल्पद्वयेन योऽयं विकल्पितः, पक्षद्वयेऽपि च दोषः प्रदर्शितः सोऽदोष एव । यतः पर्य्युदासपक्षे कपालाख्यभावान्तरकरणे घटस्य च परिणामानित्यतया तद्रूपतापत्तेः कथं मुद्गरादेर्घटादीन् प्रत्यकिंचित करत्वम् ? प्रसज्यप्रतिषेधस्तु भावं न करोतीति क्रियाप्रतिषैधात्मकोऽत्रनाश्रीयते किं तर्हि ? प्रागभावप्रध्वंसाभावेतरेतरात्यन्ताभावानां चतुर्णांमध्ये प्रध्वंसाभाव एवेहाश्रीयते । तत्र च कारकाणां व्यापारोभवत्येव, यतोऽसौवस्तुतः पर्य्यायोऽवस्थाविशेषो नाभावमात्रं, तस्य चावस्थाविशेषस्य भावरूपत्वात्पूर्वोपदेन च प्रवृत्तत्वाद् यएव कपालादेरूत्पादः स एव घटादेर्विनाश इति विनाशस्य सहेतुकत्व मवस्थितम्-अपि च कादाचित्कत्वेन विनाशत्य सहेतुकत्व मवसेयमिति । पदार्थ व्यवस्थार्थश्चावश्यमभाव चातुर्विध्यमाश्रयणीयम् । तदुक्तम्-

"कार्य्यद्रव्यमनादि स्यात् प्रागभावस्यनिन्हवे प्रध्वंसस्य चाभावस्य प्रच्यवेऽनन्ततां व्रजेत्" ?

"सर्वात्मकं तदेकं स्यादन्यापोहव्यतिक्रमे इत्यादि । तदेवं क्षणिकस्य विचाराक्षमत्वात्परिणामानित्यपक्ष एव ज्यायानिति । एवञ्च सत्यात्मा परिणामी ज्ञानाधारोभवान्तरयायी, भूतेभ्यः कथंचिदन्य एव शरीरेण सहान्योऽन्यानुवेधादनन्योऽपि तथा सहेतुकोऽपि, नारकतिर्यङ्मनुष्यामरभवोपादानकर्मणा तथा तथा विक्रियमाणत्वात् पर्यायरूपतयेति । तथाऽऽत्मस्वरूपाप्रच्युतेर्नित्यवाद हेतुकोऽपीति । आत्मनश्च शरीर व्यतिरिक्तस्य साधितत्वात् 'चतुर्धातुक्रमात्रं, शरीर मेवेद् मित्येतदुन्मत्त-प्रलपितमपकर्णयितव्यमित्यलं प्रसंगनेति ॥१८॥

टीकार्थ – अन्य बौद्ध ऐसा मानते हैं कि यह जगत चार धातुओं से निष्पन्न है उसके सिद्धान्त का दिग्दर्शन कराने के लिये आगमकार कहते हैं -

पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन्हें धातु कहा जाता है । शाब्दिक दृष्टि से यह तात्पर्य है कि ये चारों जगत को धारण करते हैं-जगत इन चारों पर टिका है । ये उसके आधार हैं । ये जगत का पोषण करते हैं, इसलिये इन्हें धातु कहा जाता है । जब ये चारों एकाकार परिणति प्राप्त करते हैं-परस्पर मिल कर शरीर के रूप में परिणत हो जाते हैं, तब जीव शब्द द्वारा इन्हें अभिहित किया जाता है । इसीलिये कहा गया है कि यह शरीर चार धातु से निष्पन्न है । उनके व्यतिरिक्त-उनसे पृथक्, कोई आत्मा नामक पदार्थ नहीं है । यह एक अन्य परम्परा के बौद्धों का कथन है कहीं 'जाणगा' पाठ प्राप्त होता है, वहाँ यह अभिप्राय है-वे बौद्ध अपने ज्ञान का अभिमान करते हुए-अहंकार की अग्नि से दग्ध बने हुए, कहते हैं-हम बड़े जानकार हैं-ज्ञानी हैं। ये बौद्धमतानुयायी अफलवादी हैं-फल को नहीं मानते क्योंकि क्रिया करने के क्षण में ही इनके अनुसार कर्त्ता-क्रिया करने वाले का सर्वात्मना-सम्पूर्णरूपेण नाश हो जाता है, अतएव उस कर्त्ता द्वारा की गई क्रिया के फल के साथ अभाव रहता है-संबंध नहीं जुड़ता । यहां यह भी मानना चाहिये कि पहले जिनवादियों की चर्चा की गई है, वे सभी फल में विश्वास नहीं करते । उनमें से कोई नित्य अविकारी आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करते हैं । कई आत्मा का अस्तित्व ही नहीं मानते । यहाँ प्रस्तुत विषय का उत्तर देने के लिये या समाधान करने के लिये पहले कही गई 'को वेयइ' इत्यादि निर्युक्ति गाथा का विश्लेषण किया जाता है ।

यदि पांच स्कन्धों के व्यतिरिक्त कोई आत्मा संज्ञक पदार्थ विद्यमान नहीं है तो बतलाएं, आत्मा का अभाव होने से सुख-अनुकूल वेदनीय, दुःख-प्रतिकूल वेदनीय का अनुभव कौन करता है । आगे निर्युक्ति की *व्याख्या जैसे पहले की गई है, कर लेनी चाहिये-समझ लेनी चाहिये । यदि आत्मा का अभाव है-आत्मा नहीं*

है तो संविदित-स्वतः अपने द्वारा जाने हुए सुख दुःख की अनुभूति कौन कर पायेगा-यह चिन्तन का विषय है । यदि यों कहा जाय कि यह सुख दुःखात्मक अनुभूति विज्ञान स्कंध का विषय है तो भी ऐसा प्रतिपादित करना संगत नहीं लगता क्योंकि विज्ञान स्कन्ध भी क्षणिक है-क्षण स्थायी है । ज्ञान क्षण अति सूक्ष्म होने के कारण सुख-दुःखात्मकता की अनुभूति नहीं कर पाता। जो पदार्थ क्रिया करता है तथा जो पदार्थ उसका फल पाता है, उन दोनों का अत्यन्त भेद होता है। वे परस्पर अत्यन्त संगत होते हैं । ऐसा होने से कृतनाश और अकृतागम नामक दोष जिनकी पहले चर्चा की जा चुकी है, आपके मत में आ जाते हैं । यदि यों कहते हैं कि ज्ञानसंतान-ज्ञान का ताना बाना या सिलसिला एक है अतः ज्ञान संतान जो क्रिया करता है वही उसका फल भोग करता है, इसलिये वहां कृतनाश और अकृतागम दोष नहीं आते-ऐसा कहना भी सुसंगत नहीं है-युक्तियुक्त नहीं है । अतः उस ज्ञान संतान से भी कुछ फल निष्पत्ति नहीं होती । यदि यों कहा जाय कि पूर्व पदार्थ पूर्व क्षण, उत्तर पदार्थ उत्तर क्षण में अपनी वासना को आधारित या स्थापित करके नष्ट हो जाता है तो जैसा कि कहा गया है-जिस ज्ञान संतान में कर्म वासना आहित या अवस्थित रहती है-उसी में फल का संधान होता है उसी में फल पैदा होता है । उदाहरणार्थ जिस कपास में रक्तता-लालिमा होती है, उसी में फल पैदा होता है । यहां भी यह विकल्प उपस्थित होता है कि वह वासना क्या क्षणों से-क्षणिक पदार्थों से पृथक् है, अथवा अपृथक् है । यदि पृथक् है तो उस वासना से वासकत्व उत्पन्न नहीं हो सकता । वह वासना उस क्षणिक पदार्थ को वासित नहीं कर सकती । यदि वह व्यत्तिरिक्त-अपृथक् है, तो क्षण की ज्यों उस क्षणिक के समान वह भी क्षण भर में नष्ट हो जाने वाली है । इसलिये यदि आत्मा का अभाव है, अस्तित्व नहीं है, तो सुखदुःख का भोग नहीं हो सकता किन्तु वास्तविकता यह है कि इस जगत में सुख का, दुःख का परिभोग अनुभूत किया जाता है, अतएव आत्मा का अस्तित्व निश्चय ही सिद्ध होता है । यदि आत्मा का अस्तित्व न हो तो गंध, रूप, रस, स्पर्श एवं शब्द इन पांच विषयों का अनुभव होने के अनन्तर मैंने पांचों ही विषयों को जाना, यह संकलनात्मक ज्ञान प्राप्त नहीं होता क्योंकि प्रत्येक इन्द्रिय का ज्ञान अपने विषय से अन्यत्र-दूसरे स्थान पर या दूसरी इन्द्रिय के विषय तक नहीं जाता । यदि यों कहा जाय कि आलय विज्ञान द्वारा संकलनात्मक-पांचों विषयों का एक साथ सामुदायिक ज्ञान हो जाता है, तो ऐसा कहकर आपने नामान्तर से आत्मा को स्वीकार कर लिया । बौद्ध आगमों में भी आत्मा का प्रतिपादन करने वाला आगम-शास्त्र पाठ है । जैसे एक प्रसंग पर जब बुद्ध के पैर में कांटा चुभ गया, जब भिक्षुओं ने पूछा-ऐसा क्यों हुआ, तब वे कहते हैं कि अबसे इक्यानवें कल्प पूर्व मैंने शक्ति-तीव्र धारदार नोंक वाले शस्त्र से एक पुरुष को आहत किया, हे भिक्षुओं ! उस कर्म के फलस्वरूप मेरे पैर में यह कांटा गड़ा है । और भी कहा है-मानव द्वारा किये हुए अत्यन्त दारुण-निष्करुण या निर्दयतापूर्ण कर्म आत्मगर्हा से-आत्म निन्दा या आत्मालोचन से हल्के हो जाते हैं । उनका प्रकाशन करने से-सबके सामने खुले रूप में बताने से उनके लिये प्रायश्चित और पश्चाताप कर लेने से पुनः उन्हें न करने से उनका सर्वथा मूलोच्छेद या नाश हो जाता है ।

जो यह कहा गया कि पदार्थ क्षणिक है यह सिद्ध करने के लिये बौद्धों ने यह कहा कि अपने कारणों से जो पदार्थ उत्पन्न होता है कि वह पदार्थ नित्य उत्पन्न होता है या अनित्य उत्पन्न होता है, ऐसा विकल्प खड़ा करना समुचित नहीं है क्योंकि जो पदार्थ नित्य होता है वह उत्पत्ति और विनाश से रहित होता है । न वह उत्पन्न होता है और न वह मिटता है । वह स्थिर-सदा एक रूप में स्थित रहता है और एक स्वभावयुक्त होता है । अतः उसमें कारणों का व्यापार हो नहीं सकता । वह कारणों से असंबद्ध होता है, इसलिये नित्यत्व

पदार्थ का उत्पन्न होना मानकर, उत्पद्यमान पदार्थों में नित्यत्व के पक्ष को प्रतिपादन करना अयुक्तियुक्त है । नित्यत्त्व के पक्ष में दोष कथन करते हुए जो आपने यह प्रतिपादित किया कि नित्य पदार्थ न तो क्रमशः-एक के बाद एक यों क्रमानुसार क्रिया कर सकता है और न युगपत-एक ही साथ क्रिया करने में वह समर्थ है । यह दोष आप द्वारा प्रतिपादित क्षणिकत्व के पक्ष में भी एक समान रूप से लागू होता है क्योंकि क्षणिक पदार्थ क्रमशः अथवा युगपत क्रिया के लिये प्रवृत्त होता हुआ क्षणिक पदार्थ भी सहकारी कारणों की आवश्यकता रखता है । उसकी निष्पत्ति के लिये सहकारी कारणों की आवश्यकता आवश्यक रहती है । क्योंकि सामग्री-साधन ही कार्य को निष्पन्न करते हैं । कोई एक पदार्थ निष्पन्न नहीं करता, किन्तु एक बात यह है कि सहकारी कारण क्षणिक पदार्थ में कोई अतिशय या वैशिष्ट्य उत्पन्न नहीं कर सकता क्योंकि क्षणिक पदार्थ विवेकत्व से अनाधेय-विवेक द्वारा जानने योग्य न होने के कारण अतिशयत्व स्थापित करने में योग्य-समर्थ नहीं होता। यह भी है कि क्षणवर्ती पदार्थ परस्पर उपकारक-एक दूसरे का उपकार करने वाला तथा उपकार्य-जिसका उपकार किया जाये-ऐसा भी नहीं होता । ऐसी स्थिति में उनमें सहकारित्व का भी अभाव हो जाता है । वे सहकारी भी नहीं बन पाते । सहकारी की अनपेक्षायें अर्थात उसके सहारे के बिना प्रति विशिष्ट कार्य उत्पन्न नहीं हो सकते। इसलिये पदार्थों को क्षणवर्ती न मानकर अनित्य मानना ही सुसंगत है । पदार्थ अपने कारणों से उत्पन्न होता है । वह अनित्य ही उत्पन्न होता है । ऐसा जो दूसरा पक्ष है, उसे स्वीकार करना भी तर्क संगत नहीं है । इस पक्ष में भी ऐसी आलोचना-उपापोह या चिन्तन किया जाना चाहिये कि पदार्थ क्षणक्षयित्व लिये हुए है अर्थात् क्षणमात्र में उनका क्षय हो जाता है । अतः वे अनित्य हैं अथवा विविध रूपों में वे परिणत होते हैं इसलिये अनित्य हैं । ऐसी स्थिति में यदि यह स्वीकार किया जाय कि पदार्थ क्षणक्षयित्व युक्त है-क्षणभर में नष्ट हो जाते हैं अतः वे अनित्य हैं । ऐसी स्थिति में इस पक्ष-मन्तव्य के अनुसार कोई पदार्थ न तो किसी अन्य पदार्थ का हेतु हो सकता है और न कोई पदार्थ किसी कारण का-किसी कारण द्वारा प्रसूत-उत्पन्न कार्य हो सकता है क्योंकि जब सभी पदार्थों का स्थायित्व क्षणमात्र के लिये हैं तो कौन किसका कारण होगा और कौन किसका कार्य होगा, वैसे क्षणभर में क्षय को प्राप्त होने वाले विनाशशील पदार्थों कारकत्व का व्यापार-व्यवहार भी संभव नहीं होता । ऐसी स्थिति में क्षण में क्षय प्राप्त करने वाले अनित्य पदार्थों की कारणों से निष्पत्ति होती है-वे कारणों से उत्पन्न होते हैं । यह कैसे माना जा सकता है ? यदि यों कहा जाय कि क्षण मात्र के लिये टिकने वाले पूर्ववर्ती पदार्थ से उत्तरवर्ती पदार्थ की निष्पत्ति होती है । इस प्रकार क्षणवर्ती पदार्थ भी आपस में एक दूसरे के कारण बन सकते हैं । कारण कार्य रूप में परिणत हो सकते हैं । यों उनमें आपस में कार्य कारण भाव संभव है-ऐसा मानना भी युक्तिसंगत नहीं है ।

यहां एक प्रश्न उपस्थित होता है कि पूर्ववर्ती क्षणिक पदार्थ स्वयं क्षय प्राप्त कर-विनष्ट होकर उत्तर पदार्थ को समुत्पन्न करता है या क्षय न होकर उसे पैदा करता है । यदि यो कहा जाय कि पूर्ववर्ती पदार्थ स्वयं नष्ट हो जाता है तदुपरान्त वह उत्तर पदार्थ को उत्पन्न करता है तो यह निरुपण भी उचित नहीं है । जो पदार्थ स्वयं मिट जाता है फिर वह दूसरों को किस प्रकार पैदा कर सकता है इस पर यदि यों कहा जाय कि पूर्ववर्ती पदार्थ स्वयं नष्ट न होकर उत्तर वर्ती पदार्थ को निष्पन्न करता है तो यह भी यथार्थ नहीं है-न्यायोचित्त नहीं है क्योंकि उत्तरवर्ती पदार्थ के समय में-विद्यमानता में पूर्व पदार्थ का व्यापार-कार्य, यदि विद्यमान रहता है तो क्षणभंगुर वाद का सिद्धान्त ही कहीं टिक नहीं सकता । इस पर यदि यों कहा जाय कि तुला का एक पलड़ा जैसे अपने आपको नीचा जाता हुआ दूसरे पलड़े को ऊँचा उठाता है, उसी प्रकार पूर्ववर्ती

पदार्थ क्षय प्राप्त करता हुआ उत्तरवर्त्ती पदार्थ को उत्पन्न करता है । यह युक्ति भी औचित्यपूर्ण नहीं है क्योंकि यदि ऐसा मान लेते हो तो यह बिल्कुल साफ है कि आप दोनों पदार्थों की एक ही समय में स्थिति अंगीकार करते हैं, ऐसा करना क्षणभंगवाद के सिद्धान्त के विरुद्ध है, जिस पदार्थ का क्षय होता है उसकी क्षयावस्था उस पदार्थ से पृथक् नहीं होती-अभिन्न होती है । इसी से यह जानना चाहिये कि उत्पन्नमान-उत्पन्न होते हुए पदार्थ की उत्पत्ति की स्थिति भी उस पदार्थ से पृथक् नहीं होती उससे अभिन्न होती है ।

यहां यह विचारणीय है कि उत्पत्ति और क्षय को एक साथ स्वीकार कर लेने पर पूर्व पदार्थ और उत्तर पदार्थ भी जो उनके धर्मी है उनका एक ही समय में अवस्थित होना साबित होगा । यदि उत्पत्ति और क्षय को उन पदार्थों का धर्म न माना जाय तो वे कोई वस्तु ही सिद्ध नहीं होंगे-वस्तु रूप में उनका अस्तित्व ही घटित नहीं होगा । यह जो कहा गया कि पदार्थों का उत्पन्न होना ही उनके नष्ट होने का हेतु है, इसका निराकरण या समाधान इस प्रकार है-यदि पदार्थों की उत्पत्ति ही उनके क्षय का हेतु बने तो फिर किसी पदार्थ की उत्पत्ति होनी ही नहीं चाहिये क्योंकि उनके विनाश या क्षय का हेतु उत्पत्ति उनके समीप ही स्थित है, यदि यों कहा जाय कि उत्पत्ति के अनन्तर पदार्थ का क्षय होता है तो वह क्षय उत्पत्ति के समय में होकर जब उसके बाद हो तो वह उत्पत्ति के अगले ही क्षण में होगा, चिर काल के बाद तो होगा नहीं ? ऐसा क्यों है ? इसका किस प्रकार निराकरण किया जा सकता है । यदि यों कहा जाय कि क्षय का कारण विद्यमान नहीं होता । अत: चिरकाल-लम्बे समय के बाद क्षय नहीं होता, क्योंकि कहा गया है-क्षय का विनाश कारण के बिना ही होता है-वह स्वभावजनित है । ऐसा कहा जाना भी युक्ति संगत नहीं है क्योंकि हम जगत में देखते हैं-मुद्गर-मोगरी आदि द्वारा चोट किये जाने के बाद ही घट आदि का क्षय दृष्टिगोचर होता है । यदि इस पर यों कहो कि हमने पहले ही ऐसा कह दिया है कि मुद्गर आदि घट का क्या बिगाड़ सकते हैं इत्यादि। किन्तु यह तथ्य परक नहीं है । आपने उपर्युक्त बात अवश्य ही कही है किन्तु कहने मात्र से क्या-आपका कथन युक्तियों पर नहीं टिका है क्योंकि अभाव पक्ष में पर्युदास और प्रसज्जप्रतिषेध द्वारा नय का अर्थ मानने पर मुद्गर-घट से पृथक् कपाल-ठिकरियों के रूप में उसके टुकड़े पैदा करता है । घट परिणमनशील है-अनित्य है अत: वह कपाल के रूप में परिवर्तित हो जाता है । इसलिये मुद्गर आदि घट का कुछ नहीं बिगाड़ सकते, यह कैसे हो सकता है ? प्रसज्जप्रतिषेध क्रिया का प्रतिषेध या निषेध करता है वह तो यहां स्वीकार नहीं किया जा सकता किन्तु प्राग्भाव-प्रध्वंसाभाव, अत्यंताभाव और अन्योन्याभाव के रूप में अभाव के जो भेद माने गये हैं उनमें यहां प्रध्वंसाभाव को ग्रहण किया जाता है । प्रध्वंसाभाव में कारकों का व्यापार-व्यवहार या उपयोग होता ही है । वस्तुत: वह किसी पदार्थ का एक पर्याय अर्थात् उसकी एक विशेष अवस्था या स्थिति है, केवल अभाव नहीं है । वह स्थिति या अवस्था भावात्मक है । अत: वह पूर्व अवस्था का क्षय कर उत्पन्न होता है । अतएव कपाल आदि का उत्पन्न होना ही घट का विनष्ट होना है या मिटना है । इससे यह साबित होता है कि विनाश कारण जनित है । वह कारण द्वारा निष्पन्न होता है । वह कादाचित्क है-यदाकदा होता है या कभी कभी होता है-सदैव नहीं होता । इस कारण भी वह हेतुजनित है-यह साबित होता है ।

पदार्थों की यथावत व्यवस्था के निमित्त चार प्रकार के अभावों को मानना अपेक्षित है । कहा है-यदि प्राग्भाव का निह्नव-अस्वीकार करेंगे-प्राग्भाव को नहीं मानेंगे तो कार्य रूप द्रव्य आदि रहित होगा। किसी भी कार्य की आदि या शुरुआत नहीं मानी जा सकेगी यदि प्रध्वंसाभाव को स्वीकार नहीं करेंगे तो वस्तु का प्रच्यव-अन्त नहीं होगा-वह अनन्त हो जायेगी । यदि अन्योन्याभाव का व्यतिक्रम मानेंगे-उसका अस्तित्व स्वीकार

नहीं करेंगे तो एक वस्तु समस्त वस्तुओं के रूप में परिणत होगी । इस प्रकार क्षणिकवाद या क्षणभंगवाद का चिन्तन संगत नहीं है । उस संबंध में विचार करना असंगत है, अतएव वस्तु या पदार्थ परिगमनशील है, इस अपेक्षा से वह अनित्य है । ऐसा मानना उचित है ।

यह आत्मा परिणामी-परिणमनशील है । ज्ञानाधार-ज्ञान का आधार स्वरूप है । यह भवान्तरगामी-अन्य भवों में जाने वाला-स्वकर्मवश नये जन्म प्राप्त करने वाला है । अतएव वह कथंचित-किसी अपेक्षा से भूतों से भिन्न है । वह देह के साथ अन्योन्य वेद द्वारा-परस्पर घुल मिल कर विद्यमान रहता है। इसलिये उससे अनन्य-अभिन्न भी है-पृथक् भी है । वह अपृथक् भी है । वह आत्मा नरक गति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति जिनसे प्राप्त होती है, उन कर्मों के द्वारा भिन्न भिन्न रूपों में परिवर्तित या परिणत होती है । अतः आत्मा अपने स्वरूप से प्रच्युत नहीं होती । उसके अपने स्वरूप का कभी नाश नहीं होता । इसलिये वह नित्य है और अहेतुक-कारणगत परिणमन से रहित है । इस प्रकार आत्मा देह से भिन्न है, यह साबित हो जाने पर भी यह मानना कि वह चार धातुओं से निर्मित है-शरीर मात्र है, यह तो उन्मत्त-पागल के प्रलपित-प्रलाप या असंगत भाषण की ज्यों है, जो एक बुद्धिमान पुरुष द्वारा अश्रव्य है-सुनने योग्य नहीं है ।

❀ ❀ ❀

अगारमावसंतावि अरण्णा वावि पव्वया ।
इमं दरिसणमावण्णा, सव्वदुक्खा विमुच्चई ॥१९॥

छाया – आगारमावसंतोऽपि आरण्या वाऽपि प्रव्रजिताः ।
इदं दर्शनमापन्नाः सर्वदुःखात्प्रमुच्यते ।

अनुवाद – वे अन्य जैनेत्तर दर्शनों में विश्वास रखने वाले कहते हैं कि जो आगार-घर में रहते हैं, गृहस्थ हैं, जो वन में रहते हैं, वानप्रस्थ या तापस है, जो प्रव्रजित हैं-प्रव्रज्या या दीक्षा लेकर मुनि के रूप में परिणत हैं, उनमें से जो भी हमारे सिद्धान्तों को स्वीकार करते हैं, वे सब प्रकार के दुःखों से मिट जाते हैं ।

टीका – साम्प्रतं पंचभूतात्माऽद्वैततज्जीव तच्छरीराकारकात्मषष्ठक्षणिकपंचस्कन्धवादिनामफलवादित्वं वक्तुकामः सूत्रकारस्तेषां स्वदर्शनफलाऽभ्युपगमं दर्शयितुमाह –

अगारं गृहं तद् आवसंतः तस्मिंस्तिष्ठन्तो गृहस्था इत्यर्थः आरण्या वा तापसादयः प्रव्रजिताश्च शाक्यादयः अपिः संभावने इदं ते संभावयन्ति यथा-इदम् अस्मदीपं दर्शनम् आपन्ना आश्रिताः सर्वदुःखेभ्यो विमुच्यन्ते आर्षत्वादेकवचनं सूत्रे कतृं, तथाहि-पंचभूततज्जीवतच्छरीरवादिनामयमाशयः –

यथेदमस्मदीयं दर्शनं ये समाश्रितास्ते गृहस्थाः संतः सर्वेभ्यः शिरस्तुण्डमुण्डन दण्डाजिनजटा काषायचीवरधारणकेशोल्लुञ्चननाग्न्यतपश्चरणकायक्लेशरूपेभ्यो दुःखेभ्यो मुच्यंते, तथा चोचुः "तपांसि यातनाश्चित्राः संयमो भोगवञ्चनम् । अग्निहोत्रादिकं कर्म, बालक्रीडेव लक्ष्यते" इतिसांख्यादयस्तु मोक्षवादिन एवं सम्भावयन्ति– यथा येऽस्मदीयं दर्शनमकर्तृत्वात्माऽद्वैत पंच स्कन्धादिप्रतिपादकमापन्नाः प्रवजितास्ते सर्वेभ्यो जन्मजरामरणगर्भपरम्पराऽनेक शारीरमानसातितीव्रतरासातोदयरूपेभ्यो दुःखेभ्यो विमुच्यंते, सकलद्वन्द्वविनिर्मोक्षं मोक्षमास्कन्दन्तीत्युक्तं भवति ॥१९॥

टीकार्थ – अब आगमकार पंचभूतात्मवाद, आत्माद्वैतवाद, तज्जीवतच्छरीरवाद, अकारकवाद, आत्मषष्ठवाद, क्षणिक पंचस्कन्धवाद-इन सबको निष्फल-मोक्ष प्राप्ति की दृष्टि से अफलप्रद प्रतिपादित करने हेतु-उनका जो अपना अपना मन्तव्य है, पहले उसे प्रकट करते हुए कहते हैं -

अगार का अर्थ घर है, वहां जो निवास करते हैं, वे अगारी या गृहस्थ हैं । जो वन में रहते हैं, वे वानप्रस्थ या तापस हैं तथा जो प्रव्रज्या-उपसम्पदा या दीक्षा स्वीकार किये हुए हैं, उन शाक्य आदि श्रमणों के यहाँ आशय है, वे सब ऐसा विश्वास करते हैं कि जो पुरुष हमारे दर्शन को-हमारे सिद्धान्तों को स्वीकार कर लेते हैं, वे समग्र दुःखों से विमुक्त हो जाते हैं । 'अपि' शब्द यहां संभावना के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। आर्ष प्रयोग होने से बहुवचन के स्थान पर सूत्र में एकवचन आया है। पंचभूतवादी तथा तज्जीवतच्छरीरवादी जनों का ऐसा आशय-अभिप्राय या मन्तव्य है कि जो लोग हमारे दर्शन को अंगीकार करते हैं वे गृहस्थ में रहते हुए सन्यासी के रूप में मस्तक मुंडाना दण्ड और मृगछाला धारण करना, जटाजूट रखना, गेरुएं वस्त्र धारण करना, केश लुंचन करना, नग्न-निर्वस्त्र रहना, तपश्चरण करना इत्यादि दुःखमय-दैहिक क्लेशों से बच जाते हैं । उनका कहना है कि तपस्याएं तो तरह-तरह की यातनाएं-कष्ट हैं । संयम स्वीकार करना सांसारिक भोगों से वंचित रहना है तथा आग्निहोत्र आदि कृत्य बालकों की क्रीड़ा के समान निरर्थक है ।

मोक्षवादी-मोक्ष को स्वीकार करने वाले, सांख्य दर्शन में आस्था रखने वाले जन इस प्रकार संभावित मानते हैं कि अकर्तृत्ववाद-अद्वैतवाद, पंचस्कन्धात्मवाद आदि का प्रतिपादन करने वाले हमारे दर्शन या सिद्धान्तों को स्वीकार कर जो लोग प्रव्रज्रित होते हैं-दीक्षित होते हैं या संन्यास स्वीकार करते हैं वे जन्म, वृद्धावस्था, मृत्यु, बार बार गर्भ में जाने की परम्परा-संसार में आवागमन और अनेक प्रकार के अत्यन्त तीव्र दैहिक और मानसिक कष्टों से छूट जाते हैं । सब प्रकार के द्वन्द्वों से-संकटों से रहित होकर वे मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

❀ ❀ ❀

ते णावि संधिं णच्चा णं, न ते धम्मविओ जणा ।
जे ते उ वाइणो एवं, न ते ओहंतराऽऽहिया ॥२०॥

छाया – ते नाऽपि सन्धिं ज्ञात्वा, न ते धर्मविदो जनाः ।
ये ते तु वादिन एवं न ते ओघन्तरा आख्याताः ॥

अनुवाद – जिनकी पहले चर्चा आई है, वे अन्य दर्शनों में विश्वास करने वाले संधि को नहीं जानते, वे धर्म का तत्व नहीं जानते । वे इस संसार सागर को पार नहीं कर सकते-ऐसा कहा गया है ।

टीका – इदानीं तेषामेवाफलवादित्वाविष्करणायाह - ते-पंचभूतवाद्यायाः नाऽपि नैव सन्धिं छिद्रं विवरं, स च द्रव्यभावभेदाद् द्वेधा, तत्र द्रव्यसन्धिः कुड्यादेः, भावसन्धिश्च ज्ञानावरणादिरूपकर्मविवर रूपः। तमज्ञात्वा ते प्रवृत्ताःणमिति वाक्यालंकारे, यथाऽऽत्मकर्मणोः सन्धि द्विधाभावलक्षणों भवति तथा अबुद्ध्वैव ते वराकादुःखमोक्षार्थमभ्युद्यता इत्यर्थः । यथा त एवंभूतास्तथा प्रतिपादितंलेशतः प्रतिपादयिष्यते च । यदिवा सन्धानं सन्धिं-उत्तरोत्तर पदार्थ-परिज्ञानं, तदज्ञात्वा प्रवृत्ता इति । यतश्चैवमतस्ते न सम्यग् धर्मपरिच्छेदे कर्त्तव्ये विद्वांसो-निपुणाः 'जनाः' पंचभूतास्तित्वादिवादिनो लोका इति । तथाहि-क्षान्त्यादिको दशविधो धर्मस्तमज्ञात्वैवाऽन्यथाऽन्यथा च धर्मं प्रतिपादयन्ति, यत्फलाभावाच्च तेषामफलवादित्वं तदुत्तरग्रंथेनोद्देशक

परिसमाप्तयूवसानेन दर्शयति-'ये ते त्विति' तु शब्दश्चशब्दार्थे, य इत्यस्यानन्तरं प्रयुज्यते। ये च ते एवमनन्तरोक्तप्रकारवादिनो नास्तिकादय:, 'ओघो' भवौघ:संसारस्तत्तरणशीलास्ते न भवन्तीति श्लोकार्थ: ॥२०॥

टीकार्थ – पूर्व वर्णित सिद्धान्तों में विश्वास करने वाले, फल को नहीं मानते । वे अफलवादी हैं, यह व्यक्त करने के लिये आगमकार कहते हैं -

पंच महाभूत आदि में विश्वास करने वाले-उन सिद्धान्तों को प्रतिपादित करने वाले वादी संधि को नहीं जानते । संधि का अर्थ विवर-छिद्र या छेद है । वह विवर-छिद्र द्रव्य और भाव की अपेक्षा से दो प्रकार का होता है-कुड्य-भित्ति या दीवार आदि में जो संधि होती है उसे द्रव्य संधि कहा जाता है । तथा ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के रूप में जो संधि-छिद्र या उसका जोड़ होता है उसे भाव संधि कहा जाता है । वे पूर्व वर्णित अन्य सिद्धान्तवादी उस भाव संधि को न जानते हुए क्रिया में संलग्न है । वे कर्म बंध के स्वरूप को नहीं समझते हुए क्रियाएं करते हैं । यहाँ "णं" शब्द वाक्यालंकार में-वाक्य सज्जा हेतु प्रयुक्त हुआ है । इसका तात्पर्य है कि आत्मा कर्मरहित कैसे हो सकता, कर्मों की संधि से कैसे पृथक् हो सकता है, यह जाने बिना ही वे दु:खों से छूटने के लिये उद्यत होते हैं-प्रयत्नशील होते हैं । वे अन्य दर्शनों में विश्वास करने वाले इस कोटि के हैं । यह संक्षिप्त रूप में पहले प्रतिपादित कर दिया गया है । आगे भी उसका यथा प्रसंग प्रतिपादन किया जायेगा ।

इस गाथा के इस अंश का यों भी अर्थ होता है-संधि का अर्थ उत्तरोत्तर-आगे से आगे अधिक से अधिक पदार्थों का परिज्ञान प्राप्त करना है । वे अन्य दार्शनिक वैसे किये बिना ही अर्थात् पदार्थों का अधिकाधिक ज्ञान अर्जित किये बिना ही कर्म करने में उद्यत होते हैं । पुन: इसी बात को टीकाकार स्पष्ट करते हैं कि-पंचभूतवादी आदि इतर दर्शनों में विश्वासशील जन धर्म को भली भांति जानने में, उसकी वास्तविकता को समझने में समर्थ नहीं होते क्योंकि ये संधि को नहीं जानते-उनको आत्मा के साथ कर्मों के जुड़ने की प्रक्रिया का बोध नहीं होता । क्षान्ति, क्षमाशीलता आदि धर्म के दस लक्षण हैं-धर्म इस प्रकार का है, वे इतर दार्शनिक धर्म के तत्त्व को जान नहीं पाते अत: वे धर्म के स्थान पर अन्यथा-जो धर्म नहीं है ऐसे तत्त्वों का निरूपण करते हैं-व्याख्यान करते हैं, किन्तु उन द्वारा व्याख्यात किये गये धर्म का-धर्म के नाम पर बतलाई गई बातों का कोई फल नहीं होता, अतएव वे अफलवादी कहे गये हैं । उद्देशक के अंतिम आशय को लेते हुए आगमकार 'ये ते त्विति' शब्द द्वारा उसका निरूपण करते हैं । यहाँ पर 'तुं' शब्द 'च' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । इसलिये 'ये' शब्द के अनन्तर उसे लगाना चाहिये । इस प्रकार इस गाथा का तात्पर्य यह है कि-जिन मतों का पहले विवेचन हुआ है, उन्हें मानने वाले-उनका कथन करने वाले नास्तिक आदि इस संसार रूपी समुद्र को लांघ नहीं सकते अर्थात् संशय से जन्म मरण के आवागमन चक्र से विमुक्त नहीं हो सकते ।

❀ ❀ ❀

ते णावि संधिं णच्चा णं, न ते धम्मविओ जणा ।
जे ते उ वाइणो एवं, न ते संसारपारगा ॥२१॥

छाया – ते नाऽपि सन्धिं ज्ञात्वा, न ते धर्मविदो जनाः ।
ये ते तु वादिन एवं न ते संसार पारगाः ॥

अनुवाद – वे अन्य दर्शनों में आस्थावान जन संधि को नहीं जानते । कर्म करने में उद्यत होते हैं, उन्हें धर्म के तत्त्वों का बोध नहीं होता । इस कारण वे संसार सागर को पार नहीं कर सकते ।

❀ ❀ ❀

ते णावि संधिं णच्चा णं न ते धम्मविओ जणा ।
जे ते उ, वाइणो एवं न ते गब्भस्स पारगा ॥२२॥

छाया – **ते नाऽपि संधिं ज्ञात्वा, नते धर्मविदोजनाः ।**
ये ते तु वादिन एवं न ते गर्भस्य पारगा ॥

अनुवाद – वे इतर सिद्धान्त वादी आत्मा और कर्म की संधि या कर्मबन्ध की प्रक्रिया को नहीं समझते। वे धर्म का रहस्य नहीं जानते । वे मिथ्यावादी है-मिथ्यावाद में विश्वास करते हैं । वे गर्भ को-पुनः पुनः संसार में जन्म मरण या आवागमन की परम्परा को लांघ नहीं सकते ।

❀ ❀ ❀

ते णावि संधिं णच्चा णं, न ते धम्मविओ जणा ।
जे ते उ वाइणो एवं, न ते जम्मस्स पारगा ॥२३॥

छाया – **ते नापि संधिं ज्ञात्वा, न ते धर्मविदोजनाः ।**
ये ते तु वादिन एवं न ते जन्मनः पारगाः ॥

अनुवाद – वे अन्य सिद्धान्तवादी कर्म संधान को नहीं समझते, धर्म के स्वरूप का उन्हें बोध नहीं होता वे असत्य सिद्धान्त का निरूपण करते हैं वे जन्म को लांघ नहीं पाते । उन्हें पुनः पुनः जन्म लेना पड़ता है ।

❀ ❀ ❀

ते णावि संधिं णच्चा णं न ते धम्मविओ जणा ।
जे ते उ वाइणो एवं न ते दुक्खस्स पारगा ॥२४॥

छाया – **ते नाऽपि सन्धिं ज्ञात्वा, न ते धर्मविदो जनाः ।**
ये ते तु वादिन एवं न ते दुःखस्य पारगाः ॥

अनुवाद – वे पूर्वोक्त इतरवादी संधि को नहीं जानते । धर्म तत्त्व का उन्हें अवबोध नहीं होता। वे पूर्वोक्त रूप में मिथ्या तत्त्वों का प्रतिपादन करते हैं । वे दुःख को लांघ नहीं सकते । उन्हें बार बार दुःख में पड़ना होता है ।

❀ ❀ ❀

ते णावि संधिं णच्चा णं न ते धम्मविओ जणा ।
जे ते उ वाइणो एवं न ते मारस्स पारगा ॥२५॥

छाया – ते नाऽपि सन्धिं ज्ञात्वा, न ते धर्मविदोजना ।
ये ते तु वादिन एवं न ते मारस्य पारगाः ॥

अनुवाद – जैनेत्तर सिद्धान्तों में आस्थावान पुरुष संधि का स्वरूप नहीं समझते । कर्मबन्ध की प्रक्रिया का उन्हें ज्ञान नहीं होता । वे धर्म का स्वरूप नहीं जानते । मनमाने रूप में क्रियाओं में प्रवृत्त होते हैं । जैसा जंचता है, धर्म के नाम पर मनचाही क्रियाएं करते हैं । वे मृत्यु के पार नहीं जा सकते क्योंकि जो जन्म लेते हैं उन्हें अनिवार्यतः मरना होता है ।

टीका – तथा च न ते वादिनः संसारगर्भजन्मदुःखमारादिपारगा भवन्तीति॥२१/२२/२३/२४/२५॥

टीकार्थ – २१ से २५ तक की गाथाओं का टीकाकार ने सार बताते हुए लिखा है कि जिनकी पहले चर्चा आई है वे मिथ्या सिद्धान्तवादी-असत्य की प्ररूपणा करते हैं । इसलिये वे इस संसार सागर में भटकते हैं, गर्भ में आते हैं, जन्म लेते हैं । तरह-तरह के कष्ट पाते हैं और अन्त में मर जाते हैं । यह क्रम चलता ही रहता है ।

❀ ❀ ❀

नाणाविहाइं दुक्खाइं अणुहोंति पुणो पुणो ।
संसारचक्कवालंमि, मच्चुवाहिजराकुले ॥२६॥त्ति बेमि॥

छाया – नानाविधानि दुःखान्यनुभवन्ति पुनः पुनः ।
संसारचक्रवाले मृत्युव्याधिजराकुले ॥इति ब्रवीमि॥

अनुवाद – वे मिथ्या दर्शनवादी विभिन्न प्रकार के दुःखों को बार बार अनुभव करते हैं । मृत्यु व्याधि, रोग और जरा-वृद्धत्व से परिपूर्ण इस संसार में चक्कर काटते रहते हैं, भटकते रहते हैं ।

टीका – यत्पुनस्ते प्राप्नुवंति तद्दर्शयितुमाह – "नानाविधानि" बहुप्रकाराणि 'दुःखानि असातोदयलक्षणान्यनुभवन्ति पुनः पुनः । तथाहि-नरकेषु करपत्रदारण कुम्भीपाकतप्तायः शाल्मलीसमालिंग नादीनि तिर्य्यक्षुच शीतोष्णदमनाङ्क न ताडनाऽतिभारा रोपणक्षुत्तृडादीनि । मनुष्येषु, इष्ट वियोगानिष्टसंप्रयोगशोका क्रंदनादीनि। देवेषु चाभियोग्येर्ष्याकिल्विषिकत्वच्यवनादीन्यनेकप्रकाराणि दुःखानि ये एवंभूता वादिनस्ते पौनःपुन्येन समनुभवन्ति। एतच्च श्लोकार्धं सर्वेषूत्तर श्लोकार्धेष्वेवयोज्यम्, शेषं सुगमं यावदुद्देशक समाप्तिरिति ॥२६॥

टीकार्थ – पूर्व वर्णित मिथ्या सिद्धान्तवादी जो दुःख अनुभव करते हैं उसका दिग्दर्शन कराते हुए आगमकार कहते हैं -

वे असातोदय-प्रतिकूलवेदनीय के रूप में अनेक प्रकार के दुःखों का अनुभव करते हैं । वे नरकों में आरे द्वारा विदीर्ण किये जाते हैं । कुम्भीपाक में पकाये जाते हैं । गर्म लोहे में लपेट दिये जाते हैं-सटा दिये जाते हैं तथा उनको घोर कंटकपूर्ण शाल्मलि वृक्ष से लिपटाया जाता है । तिर्यंच योनि में उन्हें जन्म लेना पड़ता हैं। वहां सर्दी, गर्मी, दमन, पीड़ा, अंकन, गर्म लोहों से दागा जाना, ताडना-मारपीट तथा अतिभारारोपण-अत्यधिक भार लादा जाना इत्यादि कष्ट तथा भूख प्यास के कष्ट सहन करने पड़ते हैं । मनुष्य योनि में इष्टवियोग-प्रियजनों से, प्रिय वस्तुओं से वियोग-विरह, अनिष्ट संप्रयोग-अवांछित अनभिप्सित जनों से, पदार्थों से संयोग, शोक-

दुःख पूर्ण घटनाएं-आक्रन्दन-विविध दुःखों के परिणाम स्वरूप रूदन-विलाप आदि के रूप में पीड़ाएं प्राप्त करनी होती हैं। देव योनि में आभियोग्य-ऊँचे, नीचे, देवपदों के कारण नीचे पद वालों को व्यथा, ईर्ष्या, अनुत्तम क्रीडाएं-विनोद और पुण्य क्षय के बाद पतन-ये अनेक प्रकार के दुःख वहां भोगने होते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि वे मिथ्या सिद्धान्तवादी बार-बार इन दुःखों का अनुभव करते हैं। इस गाथा के उत्तरार्द्ध को सभी गाथाओं के उत्तरार्द्ध के साथ योजित करना चाहिये। बाकी का सब समाप्ति पर्यन्त सुगम-सुबोध्य है।

❀ ❀ ❀

उच्चावयाणि गच्छंता, गब्भयेस्संति णंतसो।
नायपुत्ते महावीरे, एवमाह जिणोत्तमे ॥२७॥

छाया – **उच्चावचानि गच्छंतो गर्भमेष्यन्त्यनन्तशः।**
ज्ञातपुत्रो महावीर एवमाह जिनोत्तमः॥

अनुवाद – ज्ञातपुत्र-ज्ञातवंशीय भगवान महावीर ने ऐसा प्रतिपादित किया कि पूर्व वर्णित मिथ्यादर्शनवादी उत्तम, अधम गतियों में भटकते हैं तथा पुनः पुनः गर्भ में आते हैं, जन्म लेते हैं और मरते हैं।

टीका – नवरम् ''उच्चावचानी'' ति अधमोत्तमानि नानाप्रकाराणि वासस्थानानि गच्छन्तीति, गच्छन्तो भ्रमन्तो गर्भाद् गर्भमेष्यंति यास्यन्त्यनन्तशो निर्विच्छेदमिति ब्रवीमीति सुधर्मस्वामी जम्बू स्वामिनं प्रत्याह-ब्रवीम्यहं तीर्थंकराज्ञया, न स्वमनीषिकया, स चाहं ब्रवीमि येन मया तीर्थंकरसकाशाच्छ्रुतम् एतेन च क्षणिकवादिनिरासो द्रष्टव्य ॥२७॥

इति समयाख्यप्रथमाध्ययने प्रथमोद्देशकः समाप्तः॥

टीकार्थ – पूर्व प्रसंग का उपसंहार करते हुए आर्य सुधर्मा स्वामी श्री जम्बूस्वामी से कहते हैं कि जिनकी चर्चा की गई है वे अन्य सैद्धान्तिक अधम-नीची, उत्तम-ऊंची, भिन्न भिन्न वास स्थानों में-योनियों में जाते हैं-भटकते हैं। एक गर्भ में आकर दूसरे गर्भ में जाते हैं। अनन्त काल तक अनवच्छिन्न रूप में यह क्रम चलता रहता है। आर्य सुधर्मा स्वामी जम्बू से कहते हैं कि जम्बू ! मैं वैसा ही बोलता हूँ जो तीर्थंकर द्वारा आज्ञप्त है-उनकी आज्ञा में है। मैं अपनी मनीषा से-बुद्धि से कुछ नहीं कहता। मैं वैसा ही कहता हूँ जैसा मैंने तीर्थंकर-धर्म तीर्थ की स्थापना करने वाले प्रभु महावीर से सुना है। इससे क्षणिकवाद का सिद्धान्त स्वयं निरस्त अथवा खंडित हो जाता है क्योंकि जिसने सुना, यदि क्षणिकवाद हो तो सुनने वाला उसी क्षण नष्ट हो गया। आज मैं जो बोल रहा हूँ, वह सुनने वाला कैसे हो सकता हूँ, किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि सुनने वाला और कहने वाला मैं आज उसी रूप में विद्यमान हूँ। जो सुना, वह कह रहा हूँ। इससे क्षणिकवाद का सिद्धान्त मिथ्या सिद्ध होता है।

इस प्रकार समय नामक प्रथम अध्ययन का प्रथम उद्देशक समाप्त हुआ।

❀ ❀ ❀

卐 卐 卐

द्वितीय उद्देशकः

आघायं पुणएगेसिं, ऊववण्णा पुढो जिया ।
वेदयंतिसुहं दुक्खं, अदुवा लुप्पंति ठाणउ ॥१॥

छाया – आख्यातं पुनरेकेषा मुपपन्नाः पृथग्जीवाः ।
वेदयन्ति सुखं दुःख मथवा लुप्यन्ते स्थानतः ॥

अनुवाद – किन्हीं किन्हीं मतवादियों की ऐसी मान्यता है कि जीव सब पृथक् पृथक्-अलग अलग है । वे अलग-अलग ही सुख भोगते हैं तथा अलग-अलग ही दुःख भोगते हैं और अलग-अलग ही एक देह का त्याग कर दूसरी देह में चले जाते-पुनर्जन्म प्राप्त करते हैं ।

टीका – अथ प्रथमाध्ययने द्वितीय उद्देशकः प्रारम्भते-उक्तः प्रथमोद्देशकस्तदनु द्वितीयोऽभिधीयते-तस्य चायमभिसम्बन्धः-इहानन्तरोद्देशके स्वसमयपरसमयप्ररूपणाकृता, इहाप्यध्ययनार्थाधिकारत्वात् सैवाभिधीयते, यदिवाऽनन्तरोद्देशके भूतवादादिमतं प्रदर्श्य तन्निराकरणं कृतं, तदिहापि तदवशिष्टनियतिवाद्यादिमिथ्यादृष्टिमतान्युपदर्श्य निराक्रियन्ते । अथवा प्रागुद्देशकेऽभ्यधायि यथा 'बन्धनं बुध्येत तच्च त्रोटयेदिति' तदेव च बन्धनं नियतिवाद्यभिप्रायेण न विद्यत इति प्रदर्श्यते-तदेवमनेकसम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्य चत्वार्य्यनुयोगद्वाराणि व्यावर्ण्य सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम् -

अस्यचानन्तरपरम्परसूत्रे सम्बन्धो वक्तव्यः तत्रानन्तरसूत्र सम्बन्धोऽयम्-इहानन्तरसूत्रै इदमभिहितं, यथा पंचभूतस्कन्धादिवादिनो मिथ्यात्वोपहतान्तरात्मानोऽसद्ग्रहाभिनिविष्टाः परमार्थावबोधविकलाः ? सन्तः संसारचक्रवाले व्याधिमृत्युजराकुले उच्चावचानि स्थानानि गच्छन्तो गर्भमेष्यन्त्यन्वेषयन्तिवाऽनन्तश इति, तदिहापि नियत्यज्ञानिज्ञानचतुर्विधकर्मापचवादिनां तदेव संसार चक्र बालभ्रमणगर्भान्वेषणं प्रतिपाद्यते । परम्परसूत्रं तु 'बुज्झेज्जे' त्यादि तेन च सहायं संबंधः-तत्र बुध्येतेत्येतत् प्रतिपादितम्, इहापि यदाख्यातं नियतिवादिभिस्तद्बुध्येत, इत्येवं मध्यसूत्रैरपि यथा संभवं सम्बन्धो लगनीय इति । तदेवं पूर्वोत्तरसम्बन्धसम्बद्धस्यास्य सूत्रस्याधुनाऽर्थः प्रतन्यते-पुनः शब्दः पूर्ववादिभ्यो विशेषं दर्शयति । नियतवादिनां पुनरेकेषामेतदाख्यातं, अत्र च 'अविवक्षितकर्मकाअपि अकर्मकाभवन्तीतिख्यातेर्धातोर्भावेनिष्ठा प्रत्ययः, तद्योगे कर्तरि षष्ठी ततश्चायमर्थः -

तैर्नियतिवादिभिः पुनरिदमाख्यातं, तेषामयमाशय इत्यर्थः । तद्यथा-'उपपन्नाः' युक्त्या घटमानका इति॥

अनेनच पंचभूततज्जीवतच्छरीरवादिमतमपाकृतं भवति, युक्तिस्तु लेशतः प्रागदर्शितैव प्रदर्शयिष्यते च । पृथक् पृथक् नारकादिभवेषु शरीरेषु वेति, अनेनाऽप्यात्माऽद्वैतवादिनिरासोऽवसेयः । के पुनस्ते पृथगुपपन्नाः? तदाह-जीवाः प्राणिनः सुख दुःखभोगिनः, अनेन च पंचस्कन्धारिक्तिजीवाभावप्रतिपादकबौद्धमतापक्षेपः कृतो द्रष्टव्यः । तथा ते जीवाः पृथक् पृथक् प्रत्येकदेहे व्यवस्थिताः सुखं दुःखञ्च वेदयन्ति अनुभवन्ति। न वयं प्रतिप्राणि प्रतीतं दुःखानुभवं निह्नुमहे, अनेनचाकर्तृवादिनो निरस्ता भवन्ति । अकर्तर्य्यविकारिण्यात्मनि सुख दुःखानुभवानुपपत्तेरितिभावः तथैवदस्याभिर्नापलप्यते 'अदुवे' ति अथवा ते प्राणिनः सुख दुःखं चानुभवन्ति विलुप्यन्ते उच्छिद्यन्ते स्वायुषः प्रच्याव्यन्तेस्थानात्स्थानान्तरं संक्राम्यन्त इत्यर्थः । ततश्चौपपातिकत्वमप्यस्माभिस्तेषां च निषिध्यत इति श्लोकार्थः ॥१॥

टीकार्थ – प्रथम उद्देशक में जो कहा जा चुका है उससे आगे का दूसरे उद्देशक में बताया जा रहा है। यह प्रथम उद्देशक के साथ संबद्ध है-जुड़ा हुआ है। प्रथम उद्देशक में स्वसमय-अपने सिद्धान्त-जैन दर्शन के सिद्धान्त तथा पर समय-अन्य मतवादियों के सिद्धान्त की प्ररुपणा की गई है। वहीं दूसरे उद्देशक में भी आगे की जाती है अथवा प्रथम उद्देशक का अर्थाधिकार-स्वसमय और परसमय का विवेचन इस दूसरे उद्देशक से सम्बद्ध है। अथवा प्रथम उद्देशक में पंचभूतवादी आदि अन्य सैद्धान्तिकों के मत उपस्थित कर उनका निराकरण या खण्डन किया गया है। अब इस अध्ययन में उनसे अवशिष्ट-बचे हुए नियतिवादी आदि असम्यग्दृष्टि मतवादियों के मत उपस्थित कर उनका निराकरण किया जाएगा अथवा पहले उद्देशक में जो प्रतिपादित किया गया है कि मानव को चाहिये कि वह बंधन का स्वरूप जाने और फिर उसे तोड़े-मिटाये-नष्ट करे, किन्तु नियतिवादी प्रभृति अन्य सैद्धान्तिकों के मतानुसार बन्धन होता ही नहीं है। इस उद्देशक में इसका दिग्दर्शन कराया जायगा। इस प्रकार अनेक सम्बन्धों से जुड़े इस उद्देशक के चार अनुयोग द्वारों का वर्णन करने के अनन्तर बताया जाता है कि सूत्राङ्गम में अस्खलना रहित उच्चारण आदि के गुणों के साथ सूत्र का उच्चारण करना अपेक्षित है।

प्रस्तुत सूत्र का अनन्तर-अव्यवहित-किसी अन्य सूत्र के व्यवधान से रहित, अत्यन्त निकटस्थ सूत्र तथा परम्पर-अन्य सूत्र द्वारा व्यवहित-अन्य सूत्र या सूत्रों के व्यवधान से युक्त सूत्र के साथ संबंध या वक्तव्य-कथन करने योग्य है। अनन्तर सूत्र में यह प्रतिपादित हुआ है कि पंचमहाभूतवाद में आस्था रखने वाले, उनका निरूपण करने वाले तथा पंचस्कन्धवाद की मान्यता में विश्वास रखने वाले वादी जनों की बुद्धि मिथ्यात्व द्वारा विनष्ट हो गई है। यही कारण है कि वे असद्ग्रह-मिथ्यापदार्थों में आग्रह लिये हुए हैं। परमार्थ बोध-वस्तु तत्त्व के सही ज्ञान से विकल-रहित हैं। वे व्याधि-रुग्णावस्था, मृत्यु-मरण तथा जरा-वृद्धत्व से आकुल-पीड़ित होते हुए संसार चक्र में उत्तम, अधम योनियों में जाते हैं, भ्रमण करते हैं, अनन्तोबार एक गर्भ से निकलकर दूसरे गर्भ में जाते रहते हैं। जन्मते मरते रहते हैं। वही बात यहां है। नियतिवादी तथा अज्ञानवादी आदि जो चतुर्विध कर्म को बन्धनप्रद नहीं मानते। वे भी अन्य दर्शनवादियों की ज्यों संसार चक्र में भटकते हैं। एक गर्भ से दूसरे गर्भ में जाते हैं। 'बुज्झिज्जा' आदि यहां परम्पर सूत्र है। उसके साथ इसका सम्बन्ध इस प्रकार है – 'बुज्झिज्जा' आदि सूत्र में प्ररूपित हुआ है कि जीव को बोध प्राप्त करना चाहिये। यहां भी यह जुड़ता है। नियतिवादियों के द्वारा भी यह प्रतिपादित हुआ है कि बोध या ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। इसी प्रकार बीच में सूत्रों के साथ भी इसका संबंध जैसा जहाँ संगत हो-संभव हो जोड़ना चाहिये। इस प्रकार पहले के और आगे के सूत्रों के साथ सम्बन्ध रखने-वाले इस सूत्र का तात्पर्य विस्तृत रूप में यहाँ व्याख्यात किया जाता है। यहां आया हुआ पुनः शब्द पूर्व सैद्धान्तिकों की तुलना में नियतिवादी की विशेषता प्रकट करता है।

व्याकरण के अनुसार जिनके कर्म की अविवक्षा की जाती है-जिनका कर्म विवक्षित-वक्तुं इच्छित-कहे जाने योग्य नहीं होता, वे धातु अकर्मक हो जाते हैं। इसलिये यहां जो 'आख्यात' शब्द आया है-उसमें-भाव में निष्ठा प्रत्यय का प्रयोग हुआ है। वैसा होने पर उसके योग में 'एगेतिं' पद में कर्तृषष्ठी-कर्त्ता में षष्ठी विभक्ति आई है। इस तरह इसका आशय यह होता है कि इन नियतिवादी सैद्धान्तिकों ने ऐसा कहा है अर्थात् उनके कहने का अभिप्राय यह है।

युक्ति द्वारा तर्क एवं न्याय द्वारा-जीवों के अस्तित्व की सिद्धि होती है। इस प्रतिवादन-कथन द्वारा पंचभूतवादी, तज्जीव तच्छरीरवादी सिद्धान्तिकों का मत अपाकृत-निराकृत या खंडित हो जाता है। जिस युक्ति द्वारा पूर्वोक्त सिद्धान्त निराकृत-खंडित होते हैं, उस युक्ति का पहले निरूपण हुआ है। आगे चलकर उसका

और विवेचन किया जायेगा । जीव पृथक् पृथक् नरक आदि भवों में योनियों में अथवा शरीरों में जाते हैं-जन्म लेते हैं । इससे आत्माद्वैतवाद का सिद्धान्त निरसित-निराकृत या खंडित हो जाता है यह समझना चाहिये। युक्ति से पृथक् पृथक् जो उपपन्न-प्राप्त होते हैं या साबित होते हैं वे कौन है ? वे जीव हैं-प्राणी हैं । वे ही सुख-दुःख का अनुभव करते हैं । इस कथन या युक्ति से बौद्धों का वह सिद्धान्त खंडित हो जाता है, जिसके अनुसार वे पंचस्कन्ध के अतिरिक्त जीव का अभाव मानते हैं-जीव का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते हैं । वे जीव पृथक् पृथक् देह-एक-एक देह में व्यवस्थित-टिके हुए रहते हैं तथा सुख-दुःख का वेदन करते हैं-अनुभव करते हैं । वह सुख दुःखात्मक अनुभव जिसे प्रत्येक प्राणी महसूस करते हैं-असत्य नहीं कहा जा सकता । इस प्रतिपादन से उनका मत निरस्त हो जाता है जो जीव या आत्मा का कर्तृत्व स्वीकार नहीं करते क्योंकि आत्मा यदि अकर्ता हो, अविकारी हो तो सुख दुःखात्मक अनुभव नहीं हो सकता । प्राणी सुख-दुःख का अनुभव करते हैं । अपनी आयु पूर्ण हो जाने पर विलुप्त-उच्छिन्न और प्रच्युत हो जाते हैं अर्थात् शरीर के साथ उनका संबंध विलुप्त एवं उच्छिन्न हो जाता है-मिट जाता है और वे एक स्थान का-एक भव का परित्याग कर दूसरे भव में संक्रान्त हो जाते हैं-चले जाते हैं । इसे असत्य नहीं कहा जा सकता । इस प्रकार जीवों के ओपपातिकत्व का-एक भव से दूसरे भव में उपपात होने का-जन्म लेने का या जाने का हम निषेध नहीं करते । यह इस गाथा का तात्पर्य है ।

❀ ❀ ❀

न तं सयं कडं दुक्खं, कओ अन्नकडं च णं ?
सुहं वा जइ वा दुक्खं, सेहियं वा असेहियं ॥२॥
सयं कडं न अण्णेहिं, वेदयंति पुढो जिया ।
संहइअं तं तहा तेसिं, इह मेगेसि आहिअं ॥३॥

छाया – न तत् स्वयं कृतं दुःखं कुतोऽन्यकृतञ्च ?
सुखं वा यदि वा दुःखं, सैद्धिकंवाऽसैद्धिकम् ॥

स्वयं कृतं नाऽन्यैर्वेदयन्ति पृथग्जीवाः ।
सांगतिकं तत्तथातेषामिहैकेषामाख्यातम् ॥

अनुवाद – सांसारिक प्राणी दो प्रकार दुःख भोगते हैं । एक बाहरी कारणों तथा दूसरा बिना कारणों द्वारा । यह दुःख भोग न उनका अपना किया हुआ है और न किसी अन्य द्वारा किया हुआ है । वह तो नियतिकृत है । नियतिवादियों का ऐसा कथन है ।

टीका – तदेवं पंचभूतास्तित्वादिवादी निरासं कृत्वा यत्तैर्नियतिवादिभिराश्रीयते तच्छ्लोकद्वयेन दर्शयितुमाह-यत् तैः प्राणिभिरनुभूयते सुखं-दुःखं स्थानविलोपनं वा न तत् स्वयमात्मना पुरुषकारेण कृतं निष्पादितम् । दुःखमिति कारणे कार्योपचारात् दुःखकारणमेवोक्तम्, अस्य चोपलक्षणत्वात् सुखाद्यपि ग्राह्यम् । ततश्चेद मुक्तं भवति-योऽयं सुख-दुःखानुभवः स पुरुषकारकृतकारण जन्यो न भवतीति, तथा कुतोऽन्येन कालेश्वर स्वभावकर्मादिना च कृतं भवेत् 'ण' मित्यलंकारे, तथाहि-यदि पुरुषकारकृतं सुखाद्यनुभूयेत ततः सेवकवणिक्कर्षकादीनां समाने

पुरुषकारे सति फल प्राप्तिवैसदृश्यं फलाप्राप्तिश्च न भवेत् कस्यचित्तु सेवादिव्यापाराभावेऽपि विशिष्टफलाऽवाप्तिर्दृश्यत इति, अतोन पुरुषकारात्किञ्चिदासाद्यते, किंतर्हि ? नियतेरेवेति । एतच्च द्वितीय श्लोकन्तेऽभिधास्यते । नाऽपि कालः कर्ता तस्यैकरूपत्वाज्जगति फलवैचित्र्यानुपपत्तेः, कारणभेदे हि कार्य भेदो भवति नाऽभेदे, तथाहि- अयमेव हि भेदो भेदहेतु वां घटते यदुत विरुद्धधर्माध्यासः कारणभेदश्च तथेश्वर कर्तृकेऽपि सुख दुःखे न भवतः, यतोऽसावीश्वरो मूर्तोऽमूर्तो वा ? यदि मूर्त्तस्ततः प्राकृतपुरुषस्येव सर्वकर्तृत्वाभावः, अथामूर्त्तस्तथा सत्याकाशस्येव सुतरां निष्क्रियत्वम्, अपि च यद्यसौ रागादिमांस्ततोऽस्मदाद्यव्यतिरेकाद्विश्वस्याकर्तैव, अथाऽसौ विगतरागस्ततस्तत्कृतं सुभगदुर्भगेश्वरदरिद्रादि जगद्वैचित्र्यं न घटां प्रास्वति, ततो नेश्वरः कर्तेति, तथा स्वभावस्याऽपि सुख दुः खादिकर्तृत्वानुपपत्तिः, यतोऽसौ स्वभावः पुरुषाद्भिन्नोऽभिन्नोवा ? यदि भिन्नो न पुरुषाश्रिते सुख दुःखे कर्तुमलं तस्माद्भिन्नत्वादिति । नाऽप्यभिन्नः, अभेदेपुरुष एवस्या त्तस्य चाकर्तृत्व मुक्तमेव । नाऽपि कर्मणः सुखदुखं प्रति कर्तृत्वं घटते, यतस्तत्कर्म पुरुषाद्भिन्न मभिन्नं वा भवेत ? अभिन्नं चेत्पुरुषमात्रतापत्तिः कर्मणः, तत्र चोक्तो दोषः अथ भिन्नं तत्किंसचेतनमचेतनंवा ? यदि सचेतन मेकस्मिन् काये चैतन्यद्वयापत्तिः, अथाचेतनं तथा सति कुतस्तस्यपाषाणखण्डस्येवास्वतंत्रस्य सुख-दुःखोत्पादनं प्रति कर्तृत्वमिति। एतच्चोत्तरत्र व्यासेन प्रतिपादयिष्यत इत्यलं प्रसंगेन, तदेवं सुखं सैद्धिकं सिद्धावपवर्गलक्षणायां भवं यदिवा दुःखमसातोदयलक्षणमसैद्धिकं सांसारिकं, यदिवोभयमप्येतत्सुखदुखंवास्त्रक् चन्दनांगनाद्युपभोगक्रियासिद्धौ भवं तथा कशाताडनाङ्कनादि सिद्धौ भवं सैद्धिकं, तथा असैद्धिकं सुखमान्तरमानन्द रूप माकस्मिकमनवधारितबाह्य निमित्तम् एवं दुःखमपि ज्वरशिरोर्तिशूला- दिरूपमंगोत्थमसैद्धिकं तदेवदुभयमपि न स्वयं पुरुष कारेण कृतं नाऽप्यन्येन केनचित् कालादिना कृतं वेदयन्त्यनुभवन्ति पृथज्जीवाः प्राणिन इति । कथं तर्हि तत्तेषामभूद् ? इति नियतिवादी स्वाभिप्रायमाविष्करोति 'संग इयं' त्ति, सम्यक् स्वपरिणामेन गतिः-यस्य यदा यत्र यत्सुखदुःखानुभवनं सा संङ्गतिर्नियतिस्तस्यां भवं सांङ्गतिकं, यतश्चैवं न पुरुषकारादि कृतं सुख दुःखादि अतस्तत्तेषां प्राणिनां नियतिकृतं सांङ्गतिकमित्युच्यते। 'इह' अस्मिन सुखं दुःखानुभववादे एकेषां वादिनामाख्यातं तेषामयमभ्युपगमः । तथा चोक्तम्-प्राप्व्योनियतिवलाश्रयेण योऽर्थ, सोऽवश्यं भवति नृणा शुभोऽशुभोवा । भूतानां महतिकृतेऽपि हि प्रयत्ले, नाभाव्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाशः ॥२/३॥

टीकार्थ – उपर्युक्त रूप में पंचभूतवादी आदि सैद्धान्तिकों के मत का निरास-निराकरण या खण्डन करके अब आगे दो श्लोकों द्वारा नियतिवादियों के सिद्धान्त का दिग्दर्शन कराते हैं -

जगत में प्राणीवृन्द द्वारा जो सुखात्मक और दुःखात्मक अनुभव किये जाते हैं, वे उनके अपने उद्यम द्वारा कृत नहीं है । उसी प्रकार एक भव से दूसरे भव में जाना-एक योनि से दूसरी योनि में जन्म लेना-यह भी अपने पुरुषार्थ द्वारा निष्पादित किया हुआ नहीं है । यहां इस गाथा में कारण में कार्य का उपचार करके दुःख शब्द द्वारा दुःख के कारण का विधान किया गया है-कथन किया गया है । यह दुःख शब्द उपलक्षण है-सूचक है, अतः इससे सुख आदि को भी लिया जाना चाहिये । इस प्रकार कहने का अभिप्राय यह है कि जो यह सुख दुःखात्मक अनुभूति होती है, वह जीवों के पुरुषकार-पुरषार्थ या उद्यम द्वारा जन्य-उत्पन्न होने योग्य नहीं है । तथा वह काल, परमात्मा, स्वभाव और कर्म आदि अन्यान्य पदार्थों के द्वारा भी कियाहुआ किस प्रकार हो सकता है, अर्थात् इन द्वारा भी वह किया हुआ नहीं है । यहा 'णं' शब्द वाक्यालंकार हेतु प्रयुक्त हुआ है । यदि अपने अपने पुरुषार्थ या उद्यम के फलस्वरूप सुख आदि की अनुभूति-प्राप्ति हो तो नौकर सेठ तथा कृषक आदि का उद्योग या परिश्रम तो समान ही होता है-ये सभी अपने अपने तरीके से मेहनत करते हैं किन्तु ऐसा होने के बावजूद फल भिन्न भिन्न प्रकार का होता है या कभी कभी फल अप्राप्त भी रहता

है, वह मिलता ही नहीं। किसी किसी को तो सेवा आदि कार्य न करने पर भी विशिष्ट फल प्राप्त होता है। ऐसा हम जगत में देखते हैं । इससे यह साबित होता है कि पुरुषार्थ से-उद्यम से कुछ भी प्राप्त नहीं होता किन्तु नियति से ही सुख आदि प्राप्त होते हैं । दूसरे श्लोक के अन्त में इस विषय में प्रतिपादित करेंगे ।

काल, सुख एवं दुःख आदि का कर्ता या विधायक हैं, यह भी संभव नहीं है क्योंकि काल में एक रूपत्त्व है-वह सदा एक ही रूप में रहता है । जगत में फल विचित्र-विभिन्न विभिन्न प्रकार के दिखाई देते हैं, काल की एक रूपता के कारण ऐसा नहीं हो सकता । जब कारण में भेद होता है तब तदनुरूप कार्य में भी भेद होता है । कारण में जब भेद नहीं होता तो कार्य में भेद नहीं आता। विरुद्ध धर्म का आश्रय लेना या कारण का भिन्न होना, इसी से भेद होता है-यही भेद का कारण है।

इसी प्रकार सुख एवं दुःख ईश्वर या परमात्मा द्वारा भी किये हुए नहीं है । प्रश्न उपस्थित होता है कि वह परमात्मा मूर्त्त-सशरीर-शरीर सहित है अथवा अमूर्त-अशरीर या शरीर रहित है । यदि वह मूर्त्त-शरीर सहित है तब तो वह एक साधारण पुरुष जैसा है, उसी की ज्यों वह सब पदार्थों का कर्ता या निष्पादक नहीं हो सकता । यदि अमूर्त-शरीरवर्जित है तो फिर आकाश की ज्यों वह नितान्त क्रियाविहीन है । यदि वह परमात्मा हम लोगों के समान-सांसारिक लोगों की ज्यों रागयुक्त है तो वह जगत का कर्त्ता नहीं माना जा सकता । यदि वह विगतराग-रागवर्जित है तो वह सुभग, सुन्दर, सौम्य तथा दुर्भग, कुरुप-भद्दा ईश्वर धन-सम्पन्न तथा दरिद्र-निर्धन रूप में इस विचित्र विविधतायुक्त जगत की सृष्टि नहीं कर सकता । इसीलिये ईश्वर सृष्टि कर्ता नहीं है ।

स्वभाव भी सुख दुःख का स्रष्टा नहीं हो सकता । एक प्रश्न उपस्थित होता है कि स्वभाव पुरुष से पृथक् है या अपृथक् है । यदि उसे पुरुष से पृथक् मानते हो तो यह साफ है कि वह पुरुष के सुख तथा दुःख को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हो सकता क्योंकि उसका पुरुष से पार्थक्य है । यदि स्वभाव पुरुष से अपृथक् या अभिन्न हो तो वह एक प्रकार से पुरुष ही घटितहोता है, तथा वैसी स्थिति में वह सुख दुःख का स्रष्टा नहीं होता । इस संबंध में कहा भी जा चुका है ।

कर्म भी सुख दुःख का स्रष्टा नहीं हो सकता क्योंकि यहां भी यह सवाल उठता है कि वह कर्म उससे भिन्न या पृथक् है अथवा अभिन्न या अपृथक् है । यदि कर्म को पुरुष से अभिन्न या अपृथक् माना जाय तब तो वह एक प्रकार से पुरुष ही है, अन्य नहीं । अतः उसमें सुख का तथा दुःख का कर्तृत्व सिद्ध नहीं होता । जैसे पहले बतलाया गया है कि उसमें कर्तृत्व मानने से दोष आता है । यदि वह कर्म पुरुष से पृथक् या भिन्न है, तो एक सवाल और खड़ा होता है कि वह सचेतन-चेतनायुक्त अथवा अचेतन-चेतनाविरहित है । यदि उसे सचेतन माने तो एक ही शरीर जीव तथा कर्म दो चेतन प्राणी हैं ऐसा मानना होगा । यदि कर्म चैतन्यरहित है तो वह पत्थर के खण्ड की ज्यों खुद भी पराधीन है-परतंत्र है सुख दुःख का स्रष्टा कैसे हो सकता है । आगे विस्तार से कहेंगे, इसलिये यहां अधिक कहना अपेक्षित नहीं है ।

यहां 'सैद्धिक' शब्द आया है । सिद्धि का तात्पर्य मोक्ष है जो सुख मोक्ष में उत्पन्न होता है उसे सैद्धिक कहा जाता है । संसार का नाम असिद्धि है । संसार में असातावेदनीय कर्म के उदय होने पर जो दुःख आविर्भूत होता है उसे असैद्धिक कहा जाता है अर्थात् सांसारिक दुःख असैद्धिक हैं । अथवा इसे यों समझा जाना चाहिये कि सुख एवं दुःख ये दोनों ही सैद्धिक तथा असैद्धिक दो प्रकार के होते हैं । पुष्प माला, चन्दन, सुन्दर रमणी

आदि के उपभोग की क्रिया या सिद्धि से जो उत्पन्न होते हैं वे सुख सैद्धिक कहे जाते हैं । कोड़े से पीटा जाना, गरम लोहे से दागा जाना आदि सिद्धि या क्रिया द्वारा जो दुःख उत्पन्न होते हैं वे सैद्धिक दुःख कहे गये हैं । जो अकस्मात् उत्पन्न होता है, जिसके बाहरी कारण दिखाई नहीं पड़ते वैसा आन्तरिक आनन्द रूप सुख असैद्धिक सुख कहलाता है । इसी प्रकार बुखार, सिर में दर्द, पेट में शूल आदि के रूप में जो दुःख अपने अंगों से उत्थित होते हैं-उत्पन्न होते हैं वे असैद्धिक दुःख कहे गये हैं । ये दोनों ही प्रकार के सुख एवं दुःख मनुष्य के अपने पुरुषार्थ से उत्पन्न नहीं होते । तथा ये न काल आदि किसी अन्य के द्वारा ही निष्पन्न किये जाते हैं । इन दोनों प्रकार के सुख दुःख को प्राणी पृथक् पृथक् भोगते हैं । सवाल उठता है-ये सुख और दुःख प्राणियों को किस कारण होते हैं ? यह अवगत कराने हेतु नियतिवादी अपना अभिप्राय संगइअं-सांघतिकं शब्द द्वारा बतलाता है ।

सम्यक्-अपने परिणाम से भली भांति जो गति आती है उसे संगति कहा जाता है । इसका आशय यह है कि जब जिस प्राणी को सुख दुःख की अनुभूति करनी होती है वह वैसी स्थिति जिससे उत्पन्न होती है उसे सांघतिक कहा गया है वह नियति है उस नियति द्वारा जो सुख दुःख उत्पन्न होते हैं वे सांघतिक हैं।

यों पूर्वोक्त रूप से जो कहा गया है उसके अनुसार प्राणियों के सुख तथा दुःख उनके अपने पुरुषार्थ या उद्यम द्वारा कृत नहीं हैं किन्तु वे उसकी नियति द्वारा कृत हैं, अतएव वे सांघतिक कहे जाते हैं । यहां सुखात्मक दुःखात्मक अनुभूति के विषय में कतिपय सिद्धान्तवादियों का यह जो विवेचन किया गया है वह उनका स्वीकृत सिद्धान्त है । कहा गया है-शुभ या अशुभ, अच्छा या बुरा जो भी पदार्थ वस्तु प्राप्तव्य है-प्राप्त होने योग्य है, वह नियति के बल से मनुष्य को अवश्य प्राप्त होगी । जो प्राप्त न होने योग्य है, जो अभाव्य है-नहीं होने योग्य है वह प्राणियों द्वारा महान प्रयत्न करने पर भी नहीं होती । जो भावी-होने वाला है, उसका कभी नाश नहीं होगा ।

❀ ❀ ❀

एव मेयाणि जंपंता, बाला पंडिअमाणिणो ।
नियया नियइं संतं, अयाणंता अबुद्धिया ॥४॥

छाया – एवमेतानि जल्पंतो बालाः पण्डितमानिनः ।
नियतानियतं सन्त मजानन्तोऽबुद्धिकाः ॥

अनुवाद – पहले जो चर्चित हुए हैं वे-नियतिवादी अज्ञानी हैं, किन्तु वे अपने आपको पंडित ज्ञानवान मानते हैं, कहते हैं । वास्तव में सुख तथा दुःख एक अपेक्षा से नियत है-निश्चित है तथा एक अपेक्षा से अनियत-अनिश्चित है अर्थात् वे नियतानियत हैं किन्तु इसे नहीं जानते हुए नियतिवादी ऐसा स्वीकार नहीं करते ।

टीका – एवं श्लोकद्वयेन नियतिवादिमतमुपन्यस्यास्योत्तर दानायाह । एवमित्यनन्तरोक्तस्योपप्रदर्शने। एतानि पूर्वोक्तानि नियतिवादाश्रितानि वचनानि जल्पन्तोऽभिदधतो बाला इव बाला अज्ञाः सदसद्विवेक विकला अपि सन्तः पण्डितमानिन आत्मानं पण्डितं मन्तुं शीलं येषां ते तथा किमिति त एव मुच्यन्त ? इति तदाह-यतो 'नियया नियइं संतमिति' सुखादिकं किंचिन्नियतिकृतम् अवश्यंभाव्युदयप्रापितं तथा अनियतम्-आत्मपुरुषकारेश्वरादिप्रापितं सत् नियतिकृतमेवैकान्तेनाश्रयन्ति, अतोऽजानानाः सुखदुःखादिकारणमबुद्धिकाः बुद्धिरहिता

भवन्तीति, तथाहि-आर्हतानां किंचित्सुखदुःखादि नियतित एव भवति, तत्कारणस्य कर्मणः कस्मिंश्चिदवसरे अवश्यंभाव्युदयसद्भावान्नियतिकृतिकृतमित्युच्यते, तथा किंचिदनियतिकृतञ्च-पुरुषकारकालेश्वरस्वभावकर्मादिकृतं, तत्र कथञ्चित् सुखदुःखादेः पुरुषकारसाध्यत्वमप्याश्रीयते, यतः क्रियातः फलं भवति क्रिया च पुरुषकारायत्ता प्रवर्तते, तथा चोक्तम् - ,

"न दैवमिति सञ्चिन्त्य त्यजेदुद्यममात्मनः । अनुद्यमेन कस्तैलं तिलेभ्यः प्राप्तुमर्हति" ? ॥१॥

यत्तु समाने पुरुषव्यापारे फल वैचित्र्यं दुषणत्वेनोपन्यस्तं तददूषणमेव, यतस्तत्राऽपि पुरुषकार वैचित्र्यमपि फल वैचित्र्ये कारणं भवति, समाने वा पुरुष कारे यः फलाभावः कस्यचिद्भवति सोऽदृष्टकृतः, तदपि चाऽस्माभिः कारणत्वेनाश्रितमेव तथा कालोऽपि कर्ता, यतो बकुलचम्पकाशोकपुन्नागनागसहकारादीनां विशिष्ट एव काले पुष्पफलाद्युद्भवो न सर्वदेति, यच्चोक्तं-'कालस्यैकरूपत्वाज्जगद्वैचित्र्यं न घटत' इति, तदस्मान् प्रति न दूषणं यतोऽस्माभिर्न काल एवैकः कतृत्वेनाऽभ्युपगम्यतेऽपितु कर्माऽपि, ततो जगद्वैचित्र्यमित्यदोषः । तथेश्वरोऽपि कर्ता, आत्मैव हि तत्र तत्रोऽत्पत्तिद्वारेणसकलजगद्व्यापनादीश्वरः तस्य सुखदुखोत्पत्तिकर्तृत्वं सर्ववादिनामविगानेन सिद्धमेव । यच्चात्र मूर्त्तामूर्त्तादिकं दूषणमुपन्यस्तं तदेवंभूतेश्वर समाश्रयणे दूरोत्सादितमेवेति । स्वभावास्याऽपि कथंचित् कर्तृत्वमेव, तथाहि आत्मन उपयोग लक्षणत्वमसंख्येयप्रदेशत्वं पुद्गलानां च मूर्त्तत्वं धर्माधर्मास्तिकाययोर्गतिस्थित्युपष्टम्भकारित्वममूर्त्तत्वञ्चेत्येवमादि स्वभावापादितम् । यदपि चात्रात्म व्यतिरेकाव्यतिरेक रूपं दूषणमुपन्यस्तं तद्दूषणमेव, यतः स्वभाव आत्मनोऽव्यतिरिक्तः, आत्मनोऽपि च कर्तृत्वमभ्युपगतमेतदपि स्वभावापादित मेवेति । तथा कर्माऽपि कर्तृ भवत्येव, तद्धि जीव प्रदेशैः सहाऽन्योऽन्यानुवेधरूपतया व्यवस्थितं कथञ्चिच्चात्मनोऽभिन्नं, तद्वशाच्चात्मा नारकतिर्य्यङ्मनुष्यामरभवेषु पर्यटन् सुखदुःखादिकमनुभवतीति । तदेवं नियत्यनियत्योः कर्तृत्वे युक्त्युपपन्ने सति नियतेरेव कर्तृत्वमभ्युपगच्छन्तो निर्बुद्धिकाः भवन्तीत्यवसेयम् ॥४॥

टीकार्थ – शास्त्रकार पूर्वोक्त दो श्लोकों द्वारा नियतिवादियों का मत उपन्यस्तकर-उपस्थापित कर अब उसका समाधान देते हैं -

प्रस्तुत गाथा में नियतिवादी के पूर्वोक्त कथन को उपस्थित करने हेतु 'एवं' शब्द का प्रयोग हुआ है, नियतिवादी-नियतिवाद सम्बन्धी सिद्धान्तों की प्ररूपणा करने वालों को सत्-अस्तित्व जो पदार्थ है, असत्-नास्तित्व-जो पदार्थ नहीं है, इस सम्बन्ध में यथार्थ विवेक नहीं है, वे ज्ञानशून्य है, वे बालक की तरह ज्ञानशून्य हैं, ऐसा होने के बावजूद वे अपने को पंडित-ज्ञानी-मानते हैं । नियतिवादियों को अज्ञानी-ज्ञान शून्य और पंडितमानी-पांडित्य का अभिमान करने वाले क्यों कहा जाता है ? सूत्रकार इस संभावित प्रश्न या जिज्ञासा का समाधान देने हेतु वे नियतानियतं-नियतानियतं का उल्लेख करते हुए बतलाते हैं कि कई सुख-अनुकूल साता मूलक स्थितिया ऐसी हैं जो नियत-निश्चित रूप में होती है क्योंकि वैसा कार्मिक उदय होता है तथा कई अनियत अर्थात् अपने उद्यम अथवा किसी अदृष्ट शक्ति के द्वारा किये जाने से अनियत-अनिश्चित, आकस्मिक होती हैं ऐसा होते हुए भी नियतिवादी सभी सुखो-अनुकूल सातामूलक स्थितियों तथा दुःखों-असातामूलक स्थितियों को एकान्त रूप से-निश्चित रूप से नियतिकृत बतलाते हैं । इस प्रकार वे नियतिवादी सुख एवं दुःख के पर्याय कारण को नहीं जानते, वे बुद्धि रहित हैं । आर्हतों का-तीर्थंकरों एवं सर्वज्ञों का यह अभिमत है कि कई सुख और दुःख ऐसे हैं जो नियति से ही होते हैं-जो नियत है क्योंकि उन सुख दुःखों के कारण जो कर्म हैं, उनका *किसी विशेष अवसर पर-समय पर आवश्यक* रूप में उदय होता है । यों वे हैं तो कर्मों के उदय से निष्पन्न परन्तु किसी विशेष रूप में, विशेष अवसर पर नियत दशा में उदय होने के कारण उन्हें नियति के अन्तर्गत

लिया जाता है । इसलिये वे सुखदुःख नियति कृत हैं ऐसा कहा जाता है । कई सुख दुःख ऐसे हैं जो नियतिकृत नहीं कहे जाते । वे किसी मनुष्य के अपने उद्यम, काल, अदृष्ट स्वभाव तथा कर्म आदि द्वारा निष्पन्न होते हैं । इस दृष्टिकोण को लेते हुए आर्हत-जैन धर्म में विश्वास करने वाले सुख दुःख आदि को किसी अपेक्षा से उद्यम साध्य भी स्वीकार करते हैं अर्थात् वे मानव के परिश्रम या प्रयत्न से होते हैं। इसका हेतु यह है कि कोई भी फल क्रिया से कुछ करने से निष्पन्न होता है-प्रकट होता है तथा क्रिया पुरुषार्थ या उद्यम पर आधारित है । इसीलिए कहा गया है कि जो दैव-भाग्य में लिखा है वही प्राप्त होगा, यह चिंतन कर किसी भी व्यक्ति को प्रयत्न करना नहीं छोड़ना चाहिये क्योंकि उद्यम या प्रयत्न करने से किसी को तिलों में भी तेल उपलब्ध नहीं हो सकता । नियतिवादी ने नियतानियतवाद पर दोषारोपण करते हुए जो कहा कि-अनेक व्यक्तियों का उद्यम या प्रयत्न यद्यपि समान होता है किन्तु फल में भेद या भिन्नता दिखाई देती है । जरा विचार करें, वास्तव में यह दोष नहीं है क्योंकि जितने लोग उद्यम करते हैं, वह उनकी क्षमता, परिस्थिति आदि के अनुसार विचित्रता-भिन्नता लिये हुए होता है । जब उद्यम में भिन्नता होती है तो फिर फल अभिन्न कैसे हो सकता है ? एक समान प्रयत्न करने पर भी कुछ फल मिलता ही नहीं है यह उसके अदृष्ट-पूर्व में किये गये बाधक कर्मों का परिणाम है । वे दृष्टिगोचर नहीं होते इसलिये वह अदृष्ट कहा जाता है । जैन उसको भी सुख एवं दुःख का कारण मानते हैं । इसी प्रकार काल भी एक दृष्टि से कर्तापन लिये हुए है जैसे वकुल, चम्पक, अशोक, फुन्नाग, नाग तथा आम्र आदि वृक्षों के एक ही समय-एक ही ऋतु में फल नहीं लगते । उनके फल आने का अपना पृथक् पृथक् समय है । काल के साथ विशेष रूप से वहां कर्मों का सहयोग घटित होता है । नियतिवादियों ने अपना पक्ष प्रस्तुत करतेहुए जो यह कहा कि काल एक रूपात्मक है, अतः उससे वैचित्र्ययुक्त-विविधताओं से परिपूर्ण जगत उत्पन्न नहीं हो सकता । यह कहना हम लोगों पर दोष रूप में लागू नहीं होता क्योंकि हम केवल काल का ही कर्तृत्व स्वीकार नहीं करते अपितु कर्म का भी कर्तृत्व स्वीकार करते हैं । इसलिये कर्म की विचित्रता-विविधता के फलस्वरूप ही जगत् में विचित्रता या विविधता दृष्टिगोचर होती है इससे हमारे सिद्धान्त में कोई दोष नहीं आता । जो यह कहा गया कि ईश्वर जगत का कर्त्ता है, इस संबंध में हमारा यह प्रतिपादन कि आत्मा ही अपने कर्मों के अनुरूप भिन्न भिन्न प्राणियों के रूप में उत्पन्न होती है इस प्रकार एक अपेक्षा से वह सर्वव्यापक है, उसे ईश्वर भी कहा जा सकता है, वह आत्मा या ईश्वर ही सुख तथा दुःख उत्पन्न होने का कर्त्ता है-वही अपने शुभ कर्मों द्वारा सुख और अशुभ कर्मों द्वारा दुःख उत्पन्न करता है। संसार के सभी मतवादियों के सिद्धान्तों में इस संबंध में कोई विवाद नहीं है । सभी के दृष्टिकोणानुसार यह सिद्ध है । सुख एवं दुःख का कर्त्ता ईश्वर है इसको सदोष साबित करने के लिये, इसका खंडन करने के लिये नियतिवादी ने आत्मा मूर्त-आकारयुक्त है तथा अमूर्त-निराकार है, यह प्रश्न उठाते हुए दोष सिद्ध करने का प्रयास किया है । हम तो आत्मा को ही ईश्वर मानते हैं । उसके अतिरिक्त कोई भिन्न ईश्वर हमारे सिद्धान्तानुसार नहीं है । इसलिये यह दोष हम पर लागू नहीं होता । स्वभाव भी किसी एक अपेक्षा से कर्त्ता है क्योंकि आत्मा उपयोग स्वरूप है, असंख्य प्रदेशात्मक है । पुद्गल मूर्त्त हैं, धर्मस्तिकाय गति में सहायक है तथा अधर्मास्तिकाय स्थिति में सहायक है । ये अमूर्त्त हैं-ये सब स्थितियां-स्वभाव के द्वारा ही निष्पन्न होती हैं । नियतिवादी ने स्वभाव आत्मा से पृथक् है या अपृथक् इत्यादि कहकर स्वभाव के कर्तापन में जो दोषारोपण किया है-दोष दिखलाया है वह भी सिद्ध नहीं होता क्योंकि स्वभाव आत्मा से पृथक् नहीं है । यह हमने अंगीकार किया ही है कि आत्मा कर्त्ता है । इसलिये आत्मा का कर्त्तापन स्वभावजनित ही है । कर्म को भी जो कर्त्ता कहा

गया है वह सही है क्योंकि कर्म या कर्माणु जीव के प्रदेशों के साथ परस्पर घुलमिलकर रहते हैं । अतएव कर्म एक अपेक्षा से जीव से अपृथक् है । कर्म के ही फलस्वरूप आत्मा नरक गति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति और देव गति आदि में जाती है । वहां अपनी-अपनी गति के अनुरूप सुख या दुःख का भोग करती है । इस प्रकार नियति और अनियति इन दोनों का कर्तापन युक्ति एवं तर्क से साबित होता है । जो नियतिवादी केवल नियति में ही कर्तृत्व को स्वीकार करते हैं वे निर्बुद्धिक-बुद्धि रहित हैं, ऐसा जानना चाहिये ।

❀ ❀ ❀

एवमेगे उ पासत्था, ते भुज्जो विप्पगब्भिआ ।
एवं उवट्ठिआ संता, ण ते दुक्खविमोक्खया ॥५॥

छाया – एवमेके तु पार्श्वस्था स्ते भूयो विप्रगल्भिताः ।
एवमुपस्थिताः सन्तो न ते दुःखविमोक्षकाः ॥

अनुवाद – नियतिवादी पूर्वोक्त रूप में एक मात्र नियति को ही सुख तथा दुःख का कर्त्ता मानते हैं, यह उनकी धृष्टता है-दुराग्रह पूर्ण कथन है । वे अपने मन्तव्य के अनुसार पारलौकिक-धर्म तप आदि से सम्बद्ध क्रिया में संलग्न होकर भी दुःख से छुटकारा नहीं पा सकते ।

टीका – तदेवं युक्त्या नियतिवादं दुषियित्वा तद्वादिनामपायदर्शनायाह- एवमिति पूर्वाऽभ्युपगमसंसूचकः, सर्वस्मिन्नपि वस्तुनि नियतानियते सत्येके नियतिमेवाऽवश्यम्भाव्येव कालेश्वरादेर्निराकरणेन निर्हेतुकतया नियतिवादमाश्रिताः । तुरवधारणे, तएवनान्ये, किं विशिष्टाः पुनस्त इति दर्शयति-युक्तिकदम्बकाद्वहिस्तिष्ठन्तीति पार्श्वस्थाः परलोक क्रिया पार्श्वस्था वा, नियतिपक्षसमाश्रयणात्परलोक क्रियावैयर्थ्य, यदि वा-पाश इव पाशः-कर्मबन्धनं, तच्चेह युक्तिविकलनियतिवादप्ररूपणं तत्र स्थिताः पाशस्थाः । अन्येऽप्येकान्तवादिनः कालेश्वरादिकारणिकाः पार्श्वस्थाः पाशस्था वा द्रष्टव्या इत्यादि । ते पुनर्नियतिवादमाश्रित्याऽपि, भूयो विविधं विशेषेण वा प्रगल्भिता धाष्ट्यों पगता परलोक साधिकाषु क्रियाषुप्रवर्तन्ते धाष्ट्यां श्रयणं तु तेषां नियतिवादाश्रयणे सत्येव पुनरपि तत्प्रतिपन्थिनीषु क्रियासु प्रवर्तनादिति। ते पुनरेवमप्युपस्थिताः परलोकसाधिकासु क्रियासु प्रवत्ता अपि सन्तो नात्मदुःखविमोक्षकाः । असम्यक् प्रवृत्तत्वान्नात्मानं दुःखाद्विमोचयन्ति ।गता नियतिवादिनः ॥५॥

टीकार्थ – सूत्रकार युक्ति द्वारा नियतिवाद को सदोष सिद्ध करते हुए उनकी विनाशोन्मुखता का दिग्दर्शन कराते हैं-प्रस्तुत गाथा में आया हुआ-'एवं' शब्द पहले वर्णित नियतिवादी सिद्धान्त की ओर इंगित करता है। वे सभी पदार्थ-वस्तुएं नियत एवं अनियत दोनों प्रकार की होती हैं किन्तु कई पुरुष ऐसे हैं जो काल, ईश्वर आदि को अस्वीकार कर केवल नियति-अवश्यंभाविता या होनहार में ही किसी कारण के बिना कर्त्ता रूप में स्वीकार करते हैं । यहां 'तु' शब्द अवधारण, निश्चितता या जोर देने के अर्थ में है । इसका आशय यह होता है कि नियतिवाद में आस्था रखने वाले उन लोगों का ही ऐसा मन्तव्य है । अन्यों का नहीं । वे नियतिवादी किस प्रकार के होते हैं. इसका स्पष्टीकरण करते हुए आगमकार प्रतिपादित करते हैं कि वे नियतिवादी पार्श्वस्थ हैं । पार्श्वस्थ उन्हें कहा जाता है जो युक्तिकदम्बक-युक्तियों के समूह से बाहर या एक तरफ रहता है-युक्तियों को स्वीकार नहीं करता अथवा एक अर्थ यह भी है कि वे नियतिवादी पारलौकिक धार्मिक क्रिया से बहिर्भूत रहते हैं क्योंकि वे तो नियति में ही सब का कर्तृत्व स्वीकार करते हैं । ऐसा मानने पर उनकी पारलोक विषयक

क्रिया निरर्थक सिद्ध होती है । इस शब्द की एक व्याख्या और है । "पासत्था" पद में आये 'पास' शब्द को पार्श्व के बदले जब पास के रूप में लेते हैं तो उसका अर्थ यह होता है कि यो पास के समान है, पास में अवस्थित है, वे पास कहे जाते हैं । 'पास' का अर्थ कर्मबंधन है । यहां प्रस्तुत विषय युक्ति वर्जित नियतिवाद का प्रतिपादन है । उसमें स्थित नियतिवादी पासत्थ है-कर्मबंध से जकड़े हुए हैं । अन्य वादी, जो एकान्त रूप से काल एवं ईश्वर आदि में ही सबका कर्तृत्व स्वीकार करते हैं वे भी पार्श्वस्थ या पासत्थ है, ऐसा समझना चाहिये । नियतिवादी यद्यपि यह मानते हैं कि सब कुछ नियति से ही फलित होता है । फिर भी वे तरह तरह वैसी क्रियाएं करने में प्रवृत रहते हैं जिनका परलोक साधने से संबंध है । यह उनकी कितनी बड़ी धृष्टता-ढीठपन है । यह कितनी भारी धृष्टता व दुराग्रह है कि नियतिवादी सब कुछ नियति से ही होता है, इस सिद्धान्त को स्वीकार किये हुए है पर क्रियाएं ऐसी करते हैं जो सिद्धान्त से विपरीत है । अतएव परलोक को साधने वाली तथाकथित धर्म क्रियाओं में संलग्न होते हुए भी वे अपनी आत्मा को दुःख से नहीं छुड़ा सकते । कारण यह है कि वे सम्यक्-सत्श्रद्धान युक्त ज्ञान पूर्वक क्रिया में संलग्न नहीं हैं । अतः वे अपनी आत्मा को दुःख से मुक्त नहीं कर सकते । नियतिवाद का विवेचन समाप्त होता है ।

❀ ❀ ❀

जविणो मिगा जहा संता, परिताणेण वज्जिआ ।
असंकियाइं संकंति, संकिआइं असंकिणो ॥६॥
परियाणि आणि संकंता, पासिताणि असंकिणो ।
अण्णाणभयसंविग्गा संपलिंति तहिं तहिं ॥७॥

छाया – जविनोमृगा यथा सन्तः परित्राणेन वर्जिताः ।
अशङ्कितानि शङ्कन्ते शङ्कितान्यशङ्किनः ॥

परित्राणि तानि शंकमानाः पाशितान्यशङ्किनः ।
अज्ञानभयसंविग्नाः सम्पर्य्ययन्ते तत्र तत्र ॥

अनुवाद – वे मृग जो रक्षक रहित है अत्यन्त चपलता युक्त हैं । जिन स्थानों में शंका नहीं की जानी चाहिये, जहां कोई भय आशंकित नहीं है, वहां शंका करते हैं और जहां भय की आशंका है वहां भय नहीं करते । इस प्रकार सुरक्षित स्थान में आशंकित रहने वाले और पासयुक्त-बन्धन युक्त स्थान में अनाशंकित रहने वाले अज्ञानयुक्त भयोद्विग्न मृग अपनी भ्रांति के कारण पासयुक्त स्थान में ही गिरते हैं उसी प्रकार अन्य दर्शनों में विश्वास करने वाले रक्षायुक्त-अनेकांत सिद्धान्त जैसे रक्षा के कवच से युक्त धर्म या दर्शन को छोड़कर एकान्तवाद का आश्रय लेते हैं जो उनके लिये अनर्थकारी सिद्ध होता है ।

टीका – साम्प्रतमज्ञानिमतं दूषयितुं दृष्टान्तमाह – यथा जविनो वेगवन्तः सन्तो मृगा आरण्याः पशवः परि-समन्तात् त्रायते रक्षतीति परित्राणं तेन वर्जिता रहिताः परित्राणविकला इत्यर्थः । यदि वा-परितानं वागुरादिबन्धनं तेन तर्जिता भयं ग्राहिताः सन्तोभयोद्भ्रांतलोचनःसमाकुलीभूतान्तःकरणाः सम्यग् विवेकविकला अशंङ्कनीयानि कूटपाशदिरहितानि स्थानान्यशंकार्हाणि तान्येव शंकन्तेऽनर्थोत्पादकत्वेन गहणन्ति । यानि पुनः शंकार्हाणि, शंका

संजाता येषुयोग्यत्वात्तानि शंकितानि शंङ्कायोग्यानि वागुरादीनि तान्यशंङ्कातनस्तेषु शंङ्कायकुर्वाणाः तत्र तत्र पाशादिके सम्पर्य्ययन्तइत्युत्तरेण सम्बन्धः ॥६॥

पुनरप्येतदेवातिमोहाविष्करणायाह - परित्रायत इति परित्राणं तज्जातं येषु तानि तथा, परित्राणयुक्तान्येव शङ्कमाना अतिमूढ़त्वाद्विपर्य्यस्तबुद्धयः त्रातर्य्यपि भयमुत्प्रेक्षमाणाः तथा पाशितानि पाशोपेतानि-अनर्थापादकान्यशङ्किनस्तेषु शंङ्कामकुर्वाणाः संतोऽज्ञानेन भयेन च संविग्गत्ति सम्यग् व्याप्ताः वशीकृताः शङ्कनीयमशङ्कनीयं वा तथा परित्राणोपेतं पाशाद्यनर्थोपेतं वा सम्यग् विवेकना जानानास्तत्र तत्रानर्थबहुले पाशवागुरादिके बन्धने सम्पर्य्ययन्ते-सम् एकीभावेन परि समन्तादयन्ते यान्ति वा गच्छन्तीत्युक्तं भवति । तदेवं दृष्टान्तं प्रसाध्य नियतिवादाद्येकान्ताज्ञानवादिनो दार्ष्टान्तिकत्वेनाऽऽयोज्याः यतस्तेऽप्येकान्तवादिनोऽज्ञानिका स्त्राणभूताऽनेकान्तवादवर्जिताः सर्वदोषविनिर्मुक्तं कालेश्वरादिकारणवादाऽभ्युपगमेनानाशङ्कनीयमनेकान्तवादमाशङ्कन्ते, शङ्कनीयञ्च नियत्यज्ञानवादमेकान्तं न शङ्कन्ते ते एवंभूताः परित्राणार्हेऽप्यनेकान्तवादे शङ्का कुर्वाणा युक्त्याऽघटमानकमनर्थबहुलमेकान्तवाद मशङ्कनीयत्वेन गृह्णन्तोऽज्ञानावृत्तास्तेषु तेषु कर्मबन्धनस्थानेषु सम्पर्य्ययन्त इति ॥७॥

टीकार्थ – शास्त्रकार अज्ञानियों के सिद्धान्त में दोष बताने हेतु दृष्टान्त का प्रतिपादन करते हैं-

जैसे वेगवान तीव्र गतिशील हिरण आदि जंगली पशु परित्राण से वंचित होते हैं । परित्राण का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ परि-चारों ओर से, त्राण-रक्षा किया जाना है । पशुओं के लिये ऐसा कोई परित्राण या रक्षण का साधन नहीं होता । परित्राण का एक रूप परितान होता है । लगाम आदि बंधन को परितान कहा जाता है । उससे तर्जित भयग्रस्त पशु डर के कारण उद्भान्त लोचन और आकुलित हृदय हो जाते हैं अर्थात् उनकी आँखों में भय व्याप्त हो जाता है । उनका हृदय बेचैन हो जाता है । उन्हें सम्यक् विवेक-भले बुरे का ज्ञान नहीं रहता। वे विवेक शून्य होते हैं । यही कारण है कि वे कूटपाश-बंधन आदि से वर्जित स्थान में जहां शंका नहीं की जानी चाहिये, जो निरापद होते हैं, उसमें वे शंका करते हैं । उनको वे अनर्थोत्पादक-अहित जनक मानते हैं तथा जिन स्थानों में शंका की जानी चाहिये, जहां उन्हें पकड़ने हेतु बंधन आदि लगे रहते हैं, रखे रहते हैं, वहां वे शंका नहीं करते-निडर होकर चले जाते हैं । वे वहां बन्धनों में बंध जाते हैं । आगे की गाथा से इसे यों जोड़ लेना चाहिये ।

सूत्रकार अज्ञानी की अति मोहयुक्त अवस्था को व्यक्त करने के लिये कहते हैं -

अत्यन्त मूर्खता के कारण विवेक शून्य या विपरीत ज्ञानयुक्त व्यक्ति सुरक्षित स्थान में शंका करते हैं भय की आशंका रखते हैं । जहां अनर्थोत्पादक-कष्ट कारक पाश-फंदे, जाल, बन्धन आदि होते हैं वहां वे निशंक रहते हैं । उनकी तुलना उन पशुओं से की जाती है जो शंकनीय स्थानों पर शंका नहीं करते तथा अशंकनीय और रक्षायुक्त स्थान में शंका करते हैं । वे नहीं जानते कि उनके लिये कौन सा स्थान अनर्थकारक है । वे अपने अज्ञान या विवेकशून्यता के कारण जाल में, फंदे में या बंधन में जा पड़ते हैं । यह दृष्टान्त नियतिवादी तथा एकांतरूपेण अज्ञानवादियों के साथ जोड़ना चाहिये । एकान्तवादी उन्हीं अज्ञानी पशुओं की ज्यों है जिनका यहां दृष्टान्तरूप में उल्लेख हुआ है । वे अज्ञानी पुरुष अनेकान्तवाद से जो रक्षा रूप है, रहित हैं । अनेकान्तवाद ऐसा दर्शन है जो सब प्रकार के दोषों से विनिर्मुक्त है-रहित है । अपेक्षा भेद से काल, ईश्वर आदि को भी कारण मानने के कारण शंकायुक्त नहीं है उसमें किसी प्रकार की आशंका नहीं होती, नियतिवाद तथा अज्ञानवाद ऐकान्तिक दृष्टिकोण को लिये हुए हैं। इसलिये वे शंकास्पद है-शंका करने योग्य है । फिर भी वे नियतिवादी

और अज्ञानवादी उनमें शंका नहीं करते, निशंकतया उन्हें अपनाएं रहते हैं। यों वे परित्राण करने वाले अनेकान्तवाद में आशंका रखते हुए उससे भयभीत रहते हुए उस दिशा में आगे न बढ़ते हुए एकान्तवाद-जो तर्क और युक्ति के विरुद्ध है, जो परिणाम में अनर्थोत्पादक है, उसको अशंकनीय-शंका विवर्जित सुरक्षित मानते हुए स्वीकार करते हैं, यों वे कर्म बन्धन के स्थानों में जाते हैं। (२)

❀ ❀ ❀

अह तं पवेज्ज बज्झं, अहे बज्झस्स वा वए।
मुच्चेज्ज पयपासाओ, तं तु मंदे ण देहए ॥८॥

छाया – अथ तं प्लवेत बन्ध मधो बन्धस्य वा व्रजेत्।
मुच्चेत्पदपाशात्तत्तु मन्दो न पश्यति॥

अनुवाद – पूर्वोक्त दृष्टान्त का आगे स्पष्टीकरण करते हुए कहा जाता है कि वह पूर्व वर्णित मृग यदि लगे हुए बंधन के ऊपर से कूद कर चला जाय अथवा बंधन के नीचे से चतुराई से निकल जाय तो वह उस बंधन से छूट सकता है किन्तु उस अज्ञानी की दृष्टि में यह बात नहीं आती। वह ऐसा नहीं करता।

टीका – पूर्वदोषैरपरितुष्यन्नाचार्य्यो दोषन्तरदित्सया पुनरपि प्राक्तन दृष्टान्तमधिकृत्याऽऽह – अथ अनन्तर मसौ मृगस्तत् 'वज्झ' मिति बद्धं बन्धनाकारेण व्यवस्थितं वागुरादिकं वा बन्धनं बंधकत्वाद् बंधमित्युच्यते तदेवभूतं कूटपाशादिकं बन्धनं यद्यसावुपरि प्लवेत तदधस्तादतिक्रम्योपरि गच्छेत, तस्य बध्यादेर्बन्धनस्याधो (वा) गच्छेत् तत एवं क्रियमाणेऽसौमृगः पदे नाशः पदपाशो वागुरादिबन्धनं तस्मान्मुच्येत यदि वा पदं कूटं पाशः प्रतीतस्ताभ्यां मुच्येत, क्वचित्पदपाशादीति पठ्यते, आदिग्रहणाद् वध ताडनमारणादिकाः क्रियाः गृह्यन्ते, एवं संतमपि तमनर्थपरिहरणोपायं मंदोजडोऽज्ञानावृत्तो न देहतीति न पश्यतीति ॥८॥

टीकार्थ – शास्त्रकार पहले दृष्टान्त द्वारा दोषों का दिग्दर्शन कराते हैं। उससे उन्हें संतोष नहीं होता। इसलिये उस दृष्टान्त में ओर दोष दिखाने हेतु वे प्रतिपादन करते हैं –

वागुरा-फंदा, जाल आदि बंधन या बंध कहे जाते हैं। इनमें स्थित-पड़ा हुआ हिरन यदि कुछ कर इन्हें लांघ जाय अथवा चमड़े से बने उस बंधन के नीचे होकर वहां से निकल जाय तो वह उससे बच सकता है। यहां जो 'पद' शब्द आया है उसका एक अभिप्राय कपट भी है। पाश, बन्धन का नाम है जो प्रसिद्ध है। वह मृग इन दोनों से मुक्त हो सकता है अर्थात् कपटपूर्वक चालाकी के साथ पकड़ने के लिये लगाये गये फंदे से-जाल से वह छूट सकता है। कहीं कहीं 'पदपाशादि' ऐसा पाठ आया है। वहां 'आदि' का अभिप्राय वध-बांधना, ताड़ना-पीटना और मारण-जान लेना है। ये क्रियाएं वहां जुड़ती है। वह विवेक विकल अज्ञान युक्त मृग अनर्थ या संकट को दूर करने का उपाय विद्यमान होने पर भी उसे नहीं देखता।

❀ ❀ ❀

अहिअप्पाऽहियपण्णाणे, विसमंतेणुवागते।
स बद्धे पयपासेणं, तथ्य घायं नियच्छइ ॥९॥

छाया – अहिताऽत्माऽहितप्रज्ञानः विषमान्तेनोपागतः।
स बद्धः पदपाशेन तत्र घातं नियच्छति॥

अनुवाद – वह मृग अज्ञानी होने के कारण बुद्धि द्वारा अपना हित-अहित न जानने के कारण अपना अहित-हानि नुकसान करता रहता है । वह उन विषम-ऊंचे नीचे, उबड़-खाबड़ स्थानों में जहां फंदे जाल आदि लगे होते हैं, चला जाता है । उसका पैर बंधन में जकड़ जाता है और वह नष्ट हो जाता है, समाप्त हो जाता है ।

टीका – कूटपाशादिकञ्चापश्यन् यामवस्थामवाप्नोति तां दर्शयितुमाह - स मृगोऽहितात्मा तथाऽहितं प्रज्ञानं बोधो यस्य सोऽहितप्रज्ञानः, सचाहितप्रज्ञानः सन् विषमान्तेन कूटपाशादियुक्तेन प्रदेशेनोपागतः यदि वा विषमान्ते कूटपाशादिके आत्मान मनुपातयेत्, तत्र चासौ पतितो बद्धश्च तेन कूटादिना पदपाशादीननर्थबहुलान् अवस्थाविशेषान् प्राप्तः तत्र बन्धने घातं विनाशं नियच्छति प्राप्नोतीति ॥९॥

टीकार्थ – आगमकार यहां उस मृग की दुर्वस्था का वर्णन करते हुए कहते हैं जो कूटपाश आदि को न देखते हुए उधर बढ़ जाता है-वह पुरुष अहितात्मा है-अपनी आत्मा का हित नहीं करता है, अहित करता है, वह अहित प्रज्ञान है, ऐसी बुद्धि से युक्त है, जो अहित या हानि करती है । वह जाल, फंदे आदि से युक्त ऊँचे नीचे स्थान में चला जाता है और वहां गिर पड़ता है जहां पाश-फंदा आदि लगे होते हैं । वह उनमें बंध जाता है । उसके पैर आदि अंग उसमें फंस जाते हैं । वह अनर्थ कष्ट युक्त अवस्था या दुःख प्राप्त करता है । उसी बंधन में वह विनष्ट हो जाता है-मर जाता है ।

❀ ❀ ❀

एवं तु समणा एगे, मिच्छदिट्ठी अणारिआ ।
असंकिआइं संकंतिः, संकिआइं असंकिणो ॥१०॥

छाया – एवं तु श्रमणा एके मिथ्यादृष्टयोऽनार्याः ।
अशङ्कितानि शङ्कन्ते शंकितान्यशङ्किनः ॥

अनुवाद – उपर के दृष्टान्त के अनुसार कई ऐसे मिथ्यादृष्टि-सम्यक्त्व रहित, अनार्य-उत्तम गुण वर्जित, तथा कथित श्रमण उन अनुष्ठानों में-कार्यों में, जहां कुछ भी शंका नहीं की जानी चाहिये, शंका करते हैं-डरते हैं और जो कार्य शंका करने योग्य हैं-शंकनीय हैं, जिनसे डरना चाहिये उनमें वे शंका नहीं करते ।

टीका – एवं दृष्टान्त प्रदर्श्य सूत्रकार एव दार्ष्टान्तिकमज्ञानविपाकं दर्शयितुमाह - एवमिति यथा मृगा अज्ञानावृत्ता अनर्थमनेकशः प्राप्नुवन्ति तुरवधारणे, एवमेव श्रमणाः केचित् पाखंडविशेषाश्रिता एके न सर्वे, किम्भूतास्त इति दर्शयति-मिथ्या-विपरीता दृष्टिर्येषामज्ञानवादिनां नियतिवादिना वा ते मिथ्यादृष्टयः तथा अनार्य्या आराद्याताः, सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्य्याः न आर्य्या अनार्य्या अज्ञानवृत्तत्वादसदनुष्ठायिन इति यावद् । अज्ञानावृतत्वञ्च दर्शयति-अशङ्कितानि अशङ्कनीयानि सुधर्मानुष्ठानादीनि शङ्कन्ते तथा शङ्कनीयानि अपायबहुलानि एकान्त पक्ष समाश्रयणानि अशंकिनो मृगा इव मूढ चेतसस्तत्तदाऽऽरम्भन्तेयद्यदनर्थाय सम्पद्यत इति ॥१०॥

टीकार्थ – आगमकार ऊपर दृष्टान्त प्रस्तुत कर अब उसका तुलना के रूप में वह सार बतलाते हैं, जो उनका प्रतिपाद्य है -

जिस प्रकार अज्ञान से आवृत्त-ढ़के हुए, अज्ञान युक्त, विवेकशून्य मृग तरह तरह के कष्ट पाते हैं, उसी तरह वे पुरुष जो पाखण्ड विशेष को धर्म के नाम पर अधर्म के सिद्धान्तों को स्वीकार करते हैं, श्रमण कहे

जाते हैं-अनेक प्रकार के अनर्थ, कष्ट, दुःख प्राप्त करते हैं । यहां गाथा में 'तू' शब्द का प्रयोग हुआ है वह अवधारणा-मूलक है । वे श्रमण किस प्रकार के हैं, सूत्रकार यह दिग्दर्शन कराते हैं, जिनकी दृष्टि मिथ्या-असम्यक् या सत्श्रद्धा के प्रतिकूल है-वे मिथ्यादृष्टि कहे जाते हैं । अज्ञानवादी तथा नियतिवादी मिथ्यादृष्टि हैं ।

जो पुरुष समस्त हेय या त्याज्य धर्मों से दूर रहते हैं, उन्हें आर्य कहा जाता है । जो आर्य नहीं हैं उन्हें अनार्य कहा जाता है अर्थात् जो अज्ञान से आवृत्त-ढ़के हुए होने के कारण असत्-अशुभ अनुष्ठान कार्य में लगे रहते हैं वे अनार्य हैं । जिनकी पहले चर्चा की गई है वे अन्य मतवादी इसी अनार्य कोटि में आते हैं । आगमकार यह दिग्दर्शन कराते हैं कि वे अन्यान्य मतवादों में पड़े हुए पुरुष अज्ञान से ढ़के हुए हैं, वे ऐसे हैं कि जहां शंका नहीं की जानी चाहिये, जो शंका के योग्य नहीं हैं, इस प्रकार के उत्तम धार्मिक अनुष्ठानों में, कार्यों में वे शंकाशील बने रहते हैं तथा जो शंका करने योग्य है, जाल, फंदे आदि से युक्त हैं । अज्ञानी पुरुष की दृष्टि से जो एकान्तवाद के विपरीत सिद्धान्त से युक्त हैं । ऐसे स्थानों में शंका नहीं करते निशंक होकर जाते हैं, वे अन्य दर्शनों में विश्वास करने वाले मृग के समान विवेक विकल हैं, अज्ञानी हैं । वे आरंभ-हिंसादि करते हैं जिसका फल अनर्थजनक होता है ॥१०॥

❀ ❀ ❀

धम्मपण्णवणा जा सा, तं तु संकंति मूढगा ।
आरंभाइं न संकंति अवियत्ता अकोविआ ॥११॥

छाया – धर्मप्रज्ञापना या सा तान्तु शङ्कन्ते मूढ़काः ।
आरंभान्न शङ्कन्ते अव्यक्ता अकोविदाः ॥

अनुवाद – वे अन्यतीर्थी-जैन दर्शन के अतिरिक्त अन्य दर्शनों में विश्वास करने वाले जो ज्ञान रहित, विवेक रहित और शस्त्र ज्ञान शून्य हैं वे धर्म की जो सही व्याख्या है, जो सत्य सिद्धान्त है, उनमें शंकाशील रहते हैं और आरम्भ हिंसा आदि में-वैसे सिद्धान्तों में निशंक प्रवृत्त होते हैं ।

टीका – शंकनीयाशंकनीयविपर्य्यासमाह - धर्मस्य क्षान्त्यादिदशलक्षणोपेतस्य या प्रज्ञापना-प्ररूपणा तान्तु इति तामेव शङ्कन्तेऽसद्धर्मप्ररूपणेयमित्येवमध्यवस्यन्ति ये पुनः पापोपादानभूताः समारम्भास्तान्नशङ्कन्ते, किमिति? यतोऽव्यक्ताः मुग्धाः सहजसद्विवेकविकलाः तथा अकोविदा अपंडिताः-सच्छास्त्रावबोधरहिता इति ॥११॥

टीकार्थ – शास्त्रकार शंकनीय-शंका करने योग्य और अशंकनीय-शंका नहीं करने योग्य धर्मों की पारस्परिक विपरीतता का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं -

क्षान्ति, क्षमाशीलता, सहनशीलता आदि जो दस लक्षण युक्त-दस प्रकार के धर्म की जो प्रज्ञापना-प्ररूपणा या सैद्धान्तिक व्याख्या है, वे अज्ञानी उसमें शंकाशील रहते हैं । वे ऐसा मानते हैं कि यह धर्म की नहीं-अधर्म की प्ररूपणा-या विवेचना है । वे उन आरंभजनित-हिंसापूर्ण कार्यों में शंका नहीं करते जो पाप के उपादान भूत-अशुभ बन्ध के कारणभूत हैं । प्रश्न की शैली में वे कहते हैं वे वैसा क्यों करते हैं ? उत्तर रूप में बताते हैं कि वे स्वभाव से ही अव्यक्त-विवेक रहित-मुग्ध-मूढ़ और अयोग्य है । अपण्डित है-पंडा या बुद्धिरहित है । सत्शास्त्रों का ज्ञान नहीं है ।

❀ ❀ ❀

सव्वप्पगं विउक्कस्सं, सव्वं णूमं विहूणिआ ।
अप्पत्तिअं अकम्मंसे, एयमट्ठं मिगे चुए ॥१२॥

छाया – सर्वात्मकं व्युत्कर्षं सर्वं छादकं विधूय ।
अप्रत्ययमकर्मांश एतमर्थं मृगस्त्यजेत् ॥

अनुवाद – आत्मा के तभी कर्म निर्जीर्ण होते हैं-कटते हैं-जब वह लालच, अहंकार, छल, कपट और कपट का त्याग कर देती है, किन्तु अज्ञानरहित जीव पूर्वोक्त दृष्टान्त में कहे गये हिरण के समान है । वह असलियत को नहीं जानता, इसलिये क्रोध आदि का त्याग नहीं करता ।

टीका – ते च अज्ञानावृत्ता यन्नाप्नुवन्ति तद्दर्शनायाह - सर्वत्राऽप्यात्मा यस्याऽसौ सर्वात्मको लोभ स्तं विधूयेति सम्बन्धः । तथा विविध उत्कर्षो गर्वो व्युत्कर्षो, मान इत्यर्थः, तथा 'णूमं' त्ति माया तां विधूय तथा 'अप्पत्तियं' त्ति क्रोधं विधूय, कषायविधूननेन च मोहनीयविधूननमावेदितं भवति तदपगमाच्चाशेषकर्माभावः प्रतिपादितो भवतीत्याह-'अकर्मांश इति न विद्यते कर्मांशोऽस्येत्यकर्मांशः स चाकर्मांशो विशिष्टज्ञानाद् भवति नाऽज्ञानादित्येव दर्शयति-एनमर्थं कर्माभावलक्षणं मृग इव मृगः-अज्ञानी 'चुए' त्ति त्यजेत् । विभक्तिविपरिणामेन वा अस्मादेवंभूतादर्थात् च्यवेत् भ्रश्येदिति ॥१२॥

टीकार्थ – वे अज्ञानयुक्त पुरुष किस वस्तु को प्राप्त नहीं कर सकते, इसका स्पष्टीकरण करने की दृष्टि से आगमकार कहते हैं -

यहां इस गाथा में पहला शब्द 'सव्वप्पगम' आया है, इसका संस्कृत रूप सर्वात्मक होता है। सर्वात्मक का अर्थ लोभ है, क्योंकि वह सर्वत्र-सब में पाया जाता है । वैसे लोभ के अर्थ में यह एक पारिभाषिक शब्द है । उस लोभ के त्याग का यहां सम्बन्ध या अभिप्राय है । विविध प्रकार का तरह तरह का उत्कर्ष-अपने को बहुत ऊंचा या बड़ा मानना या गर्व करना व्युत्कर्ष कहलाता है । उसका आशय मान है । यहां 'णूमं' शब्द माया या छल कपट के अर्थ में आया है उस मान, माया और क्रोध तथा कषायों का विधूनन कर-आत्म बल से उन्हें कंपा कर-उनका परित्याग कर जीव समस्त कर्मों का अपगम कर देता है-क्षय कर देता है । यहाँ कषाय त्याग के प्रतिपादन से मोहनीय कर्म का त्याग भी-समाविष्ट हो जाता है । वह अकर्मांश-कर्मों का अपगम या नाश विशिष्ट ज्ञान से होता है, अज्ञान से नहीं होता । अतएव सूत्रकार बतलाते हैं कि 'एवमट्ठं'-एवं अर्थ-इस कर्म के क्षय रूप अर्थ या प्रयोजन को-करणीय कार्य को अज्ञानी जीव उस मृग के समान छोड़ देता है-उसे कर्ता नहीं । यहां विभक्ति का विपरीणमन कर यह भी अर्थ किया जा सकता है कि अज्ञान युक्त जीव कर्म क्षय रूप लक्ष्य से भ्रष्ट पतित हो जाता है ।

❀ ❀ ❀

जे एयं नाभिजाणंति, मिच्छदिट्ठी अणारिया ।
मिगा वा पासबद्धा ते, घाय मेसंति णंतसो ॥१३॥

छाया – य एतन्नाभिजानन्ति मिथ्यादृष्टयोऽनार्याः ।
मृगा वा पाशबद्धास्ते घात मेष्यन्त्यनन्तशः ॥

अनुवाद – इतर दर्शनवादी जो असम्यग्दृष्टि हैं, आर्य गुणों-उत्तम गुणों से रहित हैं वे इस अर्थ या तथ्य को यथावत नहीं समझ पाते, वे फंदे में फंसे हिरण की ज्यों अनन्त बार घात प्राप्त करते हैं-जन्म मरण में आते जाते हैं ।

टीका – भूयोऽप्यज्ञानवादिनां दोषाभिधित्सयाऽऽह - येऽज्ञानपक्षं समाश्रिता एनं कर्मक्षपणोपायं न जानन्ति, आत्मीयाऽसद्ग्रहगस्ता मिथ्यादृष्टयोऽनार्य्यास्ते मृगा इव पाशबद्धाः घातं विनाशमेष्यन्ति यास्यन्त्यन्वेषयन्ति वा, तद्योग्यक्रियानुष्ठानाद् अनन्तशोऽविच्छेदेनेत्यज्ञानवादिनोगताः ॥१३॥

टीकार्थ – आगमकार अज्ञानवाद में विश्वास करने वाले और उसका प्रतिपादन करने वाले लोगों के दोष बताते हुए प्रतिपादन करते हैं -

जो मनुष्य अज्ञान के पक्ष का आश्रय लिये रहते हैं, जो कर्मक्षपण-कार्यनाश के उपाय-संवर निर्जरात्मक धर्मसाधना को नहीं जानते, विपरीत सिद्धान्तों के साथ दुराग्रहपूर्वक जुड़े रहते हैं, जो असम्यग्दृष्टि हैं, आर्यगुण रहित हैं वे अनन्त काल पर्यन्त-अनन्ताबार उसी प्रकार विनाश को प्राप्त करते हैं जैसे पाशबद्ध- फंदे में बंधा हुआ मृग घात-विनाश योग्य कर्म का अनुसरण कर घात या विनाश को प्राप्त करता है। वे अज्ञानवादी ऐसे हैं ।

❀ ❀ ❀

माहणा समणा एगे, सव्वे नाणं सयं वए ।
सव्वलोगेऽवि जे पाणा न ते जाणंति किंचण ॥१४॥

छाया – ब्राह्मणाः श्रमणा एके सर्वे ज्ञानं स्वकं वदन्ति ।
सर्वलोकेऽपि ये प्राणाः न ते जानन्ति किंचन ॥

अनुवाद – कई ब्राह्मण परम्परा से जुड़े हुए पुरुष तथा कई श्रमण परम्परा से संबद्ध जन सभी अपना अपना ज्ञान प्रतिपादित करतेहैं । अपने अपने ज्ञान को विशेष रूप से व्याख्यात करते हैं । वे ऐसा मानते हैं कि समस्त लोक में प्राणीवृन्द हैं उनमें कुछ भी ज्ञान नहीं है-वे कुछ भी नहीं जानते।

टीका – इदानीमज्ञानवादिनां दूषणोद्विभावयिषयास्ववाग्यन्त्रिता वादिनो न चलिष्यन्तीति तन्मताविष्करणायाह-एके केचन ब्राह्मणविशेषास्तथा 'श्रमणाः' परिव्राजकविशेषाः सर्वेऽप्येते ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानंहेयोपादेयार्थाऽऽविर्भावकं परस्परविरोधेन व्यवस्थितं स्वकमात्मीयं वदन्ति न च तानि ज्ञानानि परस्परविरोधेन प्रवृत्तत्वात्सत्यानि तस्मादज्ञानमेव श्रेयः किं ज्ञानपरिकल्पनयेति, एतदेव दर्शयति-सर्वस्मिन्नपि लोके ये प्राणाः प्राणिनो न ते किञ्चनापि सम्यगपेतवाचं (च्यं) जानन्तीति विदन्तीति ॥१४॥

टीकार्थ – शास्त्रकार अज्ञानवादियों के सिद्धान्त को दोषपूर्ण साबित करने के लिये उनके मन्तव्य की चर्चा करते हैं, जिसके द्वारा अज्ञानवादी अपने ही वचन में बद्ध होकर-निरूत्तर होकर, इधर उधर नहीं जा सकते, अज्ञानवादियों का मन्तव्य है कि यहां कई ब्राह्मण विशेष-ब्राह्मण परम्परा से सम्बद्ध मतवादी और श्रमण परिव्राजक विशेष श्रमण परम्परा से सम्बद्ध साधु सन्यासी ये सभी हेय-त्यागने योग्य तथा उपादेय-ग्रहण करने योग्य सिद्धान्तों को प्रकट करने वाले अपने-अपने ज्ञान का प्रतिपादन करते हैं-निरुपण करते हैं । जिसके द्वारा पदार्थ जाना जाता है, उसे ज्ञान कहा जाता है । उनका-यहां वर्णित श्रमण, ब्राह्मणों का ज्ञान परस्पर विरुद्ध

या असंगत होने के कारण तथ्य परक नहीं है, इसलिये ज्ञान के बदले अज्ञान ही उत्तम है, ज्ञान की परिकल्पना अपेक्षित नहीं है-अनावश्यक है । सूत्रकार आगे और स्पष्ट करते हैं कि समग्र लोक में जितने प्राणी हैं वे कुछ भी सम्यक् यथार्थ या ठीक ठीक नहीं जानते ।

❀ ❀ ❀

मिलक्खू अभिलक्खूस्स, जहा वुत्ताणुभासए ।
ण हेउं से विजाणाइ, भासिअं तऽणुभासए ॥१५॥

छाया – मलेच्छोऽम्लेच्छस्य यथोक्ताऽनुभाषकः ।
न हेतुं स विजानाति भाषितन्त्वनुभाषते ॥

अनुवाद – एक मलेच्छ जन सम्पर्क रहित, संस्कार या शिष्टाचार वर्जित पुरुष, अम्लेच्छ-आर्य या उत्तम पुरुष के कथन का अनुवाद करता है, उसके पीछे पीछे बोल जाता है किन्तु उसके कथन या भाषण का क्या निमित्त है, किस प्रयोजन से वह वैसा करता है, इसे वह नहीं जानता ।

टीका – यद्यपि तेषां गुरुपारम्पर्येण ज्ञानमायातं तदपि छिन्नमूलत्वादवितथं न भवतीति दृष्टान्तद्वारेण दर्शयितुमाह - यथा मलेच्छ आर्य्यभाषाऽनभिज्ञः अम्लेच्छस्य आर्य्यस्य म्लेच्छ भाषानभिज्ञस्य यद् भाषितं तद् अनुभाषते, अनुवदति केवलं, न सम्यक् तदभिप्रायं वेत्ति, यथाऽनया विनक्षयाऽनेन भाषितमिति । न च हेतुं निमित्तं निश्चयेनाऽसौम्लेच्छस्तद्भाषितस्य जानाति केवलं परमार्थ शून्यं तद्भाषितमेवानुभाषत इति ॥१५॥

टीकार्थ – यद्यपि गुरु परम्परा से उन ब्राह्मणों एवं श्रमणों का अपना ज्ञान चला आ रहा है पर वह छिन्नमूल है, उसका कोई ठोस आधार नहीं है । इसलिये वह अवितथ या सत्य नहीं हो सकता। दृष्टान्त द्वारा आगमकार इसे निरूपित करते हैं -

जैसे एक म्लेच्छ जो आर्य की भाषा नहीं जानता-उस भाषा को नहीं समझता, वह म्लेच्छ भाषा को नहीं जानने वाले अम्लेच्छ या आर्य के भाषण का, उसकी बोली का केवल अनुवाद करता है, उसके पीछे पीछे वैसा बोल जाता है, किन्तु आर्य पुरुष की क्या विवक्षा है-वह क्या कहना चाहता है, किस आशय या अभिप्राय से उसे कहा है, वह इसे भलीभांति समझ नहीं पाता । इसी बात को पुनः कहते हैं कि वह म्लेच्छ यह नहीं जानता कि आर्य पुरुष ने निश्चित रूप से किस कारण को लेकर इस भाषा का प्रयोग किया है वह तो अर्थ ज्ञान से रहित केवल उसकी भाषा के शब्दों का अनुसरण मात्र करता है, वैसे ही शब्द बोल जाता है ।

❀ ❀ ❀

एवमन्नाणिया नाणं, वयंतावि सयं सयं ।
निच्छयत्थं न याणंति, मिलक्खुव्व अबोहिया ॥१६॥

छाया – एवमज्ञानिकाः ज्ञानं वदन्तोऽपि स्वकं स्वकम् ।
निश्चयार्थं न जानन्ति म्लेच्छा इवाबोधिकाः ॥

अनुवाद – इस प्रकार ज्ञान रहित ब्राह्मण और श्रमण परम्परा से सम्बद्ध व्यक्ति अपने अपने ज्ञान का प्रतिपादन करते हैं, पर वे सुनिश्चित अर्थ को नहीं जानते । वे उसी तरह बोध रहित-ज्ञान रहित हैं । जिस प्रकार आर्य भाषा के ज्ञान से रहित एक म्लेच्छ आर्य भाषा को केवल अनुवाद मात्र कर पाता है, उसका तात्पर्य नहीं जानता ।

टीका – एवं दृष्टान्तं प्रदर्श्य दृष्टान्तिकं योजयितुमाह । यथा म्लेच्छोऽम्लेच्छस्य परमार्थमजानानः केवलं तद्भाषितमनुभाषते तथा अज्ञानिकाः सम्यग्ज्ञानरहिताः श्रमणाः ब्रह्मणा वदन्तोऽपि स्वीयं स्वीयं ज्ञानं प्रमाणत्वेन परस्परविरुद्धार्थभाषणात् निश्चयार्थं न जानन्ति, तथाहि-ते स्वकीयं तीर्थंकरं सर्वज्ञत्वेन निर्द्धार्य्य तदुपदेशेन क्रियासु प्रवर्तेरन्, न च सर्वज्ञविवक्षा, अर्वाग्दर्शिना ग्रहीतुं शक्यते 'नासर्वज्ञ सर्वज्ञं जानाती' तिन्यायात् । तथा चोक्तम्-

''सर्वज्ञोऽसाविति ह्येतत्तत्कालेऽपि बुभुत्सुभिः । तद्ज्ञानज्ञेयविज्ञानरहितै र्गम्यते कथम्' ॥१।

एवं परचेतोवृत्तीनां दुरन्वयत्वादुपदेष्टुरपि यथावस्थितविवक्षया ग्रहणासम्भवान्निश्चयार्थमजानानाः म्लेच्छवदपरोक्तमनुभाषन्त एव अबोधिका बोध रहिताः केवलमिति, अतोऽज्ञानमेव श्रेय इति । एवं यावद्यावज्ज्ञानाभ्युपगम स्तावत्तावद्गुरुतरदोष-सम्भवः । तथाहि-योऽवगच्छन् पादेन कस्यचित् शिरः स्पृशति तस्य महानपराधो भवति यस्त्वभोगेन स्पृशति तस्मैन कश्चिदपराध्यतीति, एवञ्चाज्ञानमेव प्रधानभावमनुभवति, न तु ज्ञानमिति ॥१६॥

टीकार्थ – अज्ञानवादियों द्वारा अपने पक्ष के समर्थन हेतु दिये जाने वाले दृष्टान्त को प्रस्तुत कर अब दृष्टान्त द्वारा विवेच्यमान तथ्य के साथ आगमकार योजना करते हैं -

जैसे एक म्लेच्छ पुरुष अम्लेच्छ पुरुष-आर्यजन द्वारा प्रकटित भाषा या वाणी का सही सही अर्थ नहीं जानता, वह केवल उसकी अनुवृत्ति या पुनरावृत्तिमात्र करता है, जिनका अभिप्राय जानने की दृष्टि से कुछ भी फलित नहीं होता । वही बात सम्यक् ज्ञान विवर्जित श्रमणो-श्रमण परम्परा के अन्तरवर्ती जैनेत्तरवादियों तथा ब्राह्मणों-ब्राह्मण परम्परा के अन्तरवर्ती तापस-परिव्राजक आदि वादियों पर लागू होती है । यद्यपि वे सब अपने अपने द्वारा प्रतिपादित ज्ञान को प्रामाणिक बतलाते हैं वे जो अभिप्राय या आशय प्रकट करते हैं वह उनमें परस्पर मेल नहीं खाता । एक दूसरे के विपरीत होता है, वे अपने अपने तीर्थंकरों को-सिद्धान्त प्रवर्तकों को सर्वज्ञ मानते हैं । उनके उपदेश के अनुरूप क्रिया में प्रवृत्त होते हैं किन्तु सर्वज्ञ की विवक्षा-वक्तुंइच्छा-अभिप्राय को अर्वाक्दर्शी-मात्र सम्मुखीन या अपने सामने की वस्तु को देखने वाले-बहुत साधारण योग्यता वाले पुरुष नहीं जान पाते । कारण यह है कि सर्वज्ञ को वही जान सकता है जो सर्वज्ञ है । असर्वज्ञ सर्वज्ञ को जान पाने में कभी सक्षम नहीं होता । कहा गया है, जिस पुरुष को सर्वज्ञ के ज्ञान के संबंध में और ज्ञेय-जानने योग्य अर्थ समुदाय के संबंध में ज्ञान नहीं है, यदि उसके समीप सर्वज्ञ उपस्थित भी हो तो वह उन्हें कैसे जान सकता है अर्थात् नहीं जान सकता । चित्त की वृत्तियां दुरन्वय-बड़ी कठिनाई से जानने योग्य होती है । उपदेष्टा-उपदेश देने वाले पुरुष की यथावस्थित विवक्षा-जो पदार्थ जैसे हैं, उनको ठीक उसी रूप में विवक्षित करने की-प्रतिपादित करने की क्षमता को भी जान पाना संभव नहीं होता । इसलिये निश्चित अर्थ को जानने में असमर्थ-उसे यथावत रूप में नहीं जान सकने वाले अज्ञानवादी पहले वर्णित म्लेच्छ की ज्यों केवल अन्य पुरुष की उक्ति का अनुवाद-अनुसरण या अनुवचन मात्र ही कर सकते हैं क्योंकि यथार्थतः वे बोध शून्य है, ज्ञान रहित है । इसीलिये अज्ञान ही श्रेष्ठ है, ऐसा उनका मन्तव्य है । वे ऐसा प्रतिपादित करते हैं कि ज्यों ज्यों

ज्ञान की अभिवृद्धि होती है त्यों त्यों दोष की गुरुता भी बढ़ती जाती है अर्थात् ज्ञानी द्वारा जो जानता है, यदि कोई दोष किया जाता है तो उसे भारी माना जाता है । जो व्यक्ति जान बूझकर दूसरों के मस्तक को अपने पैर से छूता है-उस पर पैर रख देता है तो उसका यह करना भारी अपराध माना जाता है । इसके विपरीत अज्ञान के कारण या भूल से किसी अन्य पुरुष के मस्तक का पैर से स्पर्श कर देता है, उसके सिर के पैर लगा देता हैं, तो उसके अज्ञान के कारण वैसा करना कोई दोष नहीं माना जाता । अतः अज्ञान ही जीवन का मुख्य भाव है-आधार है, ज्ञान नहीं, अज्ञान वादी ऐसा कहते हैं ।

❀ ❀ ❀

अन्नाणियाणं वीमंसा, अण्णाणे ण विनियच्छइ ।
अप्पणो य परं नालं, कुतो अन्नाणुसासिउं ॥१७॥

छाया – अज्ञानिकानां विमर्शः, अज्ञाने न विनियच्छति ।
आत्मनश्च परं नालं कुतोऽन्याननुशासितुम् ॥

अनुवाद – अज्ञानवादियों की यह मीमांसा-आलोचनात्मक प्रतिपादन कि अज्ञान ही सर्वोत्तम है। यह अज्ञान के पक्ष में युक्ति युक्त सिद्ध नहीं होती है । वे अज्ञानवादी अपने इस सिद्धान्त से अपने आपको समझाने में भी-अपने को समाधान देने में भी सक्षम नहीं है-इससे उनका अपना समाधान भी नहीं सध पाता । फिर वे अन्य को किस प्रकार समाधान दे सकते हैं ।

टीका – एवमज्ञान वादिमतमनूद्येदानीं तद्दूषणायाह - न ज्ञानमज्ञानं तद्विद्यते येषान्तेऽज्ञानिनः । अज्ञान शब्दस्य संज्ञा शब्दत्वाद्वा मत्वर्थीयः गौरखरवदरण्यमिति यथा । तेषामज्ञानिनामज्ञानमेव श्रेय इत्येवं वादिनां, योऽयं विमर्शः पर्य्यालोचनात्मको मीमांसा वा मातुं परिच्छेत्तुमिच्छा सा अज्ञाने अज्ञान विषये न 'णियच्छति' न निश्चयेन यच्छति-नावतरति, न युज्यत इति यावत् तथाहि-यैवंभूता मीमांसा विमर्शो वा किमेतज्ज्ञानं सत्यमुतासत्य-मिति ? "यथा अज्ञान मेव श्रेयो, यथा यथा च ज्ञानातिशय स्तथा तथा च दोषातिरेक इति" सोऽयमेवंभूतो विमर्शस्तेषां न युज्यते, एवंभूतस्य पर्य्यालोचनस्य ज्ञानरूपत्वादिति । अपि च-तेऽज्ञानवादिन आत्मनोऽपि परं प्रधानमज्ञानवादमिति शासितुमुपदेष्टुं नालं न समर्थाः तेषामज्ञानपक्षसमाश्रयणेनाज्ञत्वादिति, कुतः पुनस्ते स्वयमज्ञाः सन्तोऽन्येषां शिष्यत्वेनोपगतानामज्ञानवादमुपदेष्टुमलं समर्था भवेयुरिति ? यदप्युक्तम्-"छिन्नमूलत्वान्म्लेच्छानुभाषणवत् सर्वमुपदेशादिकम्" तदप्ययुक्तं यतोऽनुभावणमपि न ज्ञानमृते कर्तुंशक्यते । तथा यदप्युक्तं "पर चेतोवृत्तीनां दुरन्वयत्वादज्ञानमेव श्रेय इति तदप्यसत्, यतो भवतैवाज्ञानमेव श्रेय इत्येवं परोपदेशदानाभ्युद्यतेन परचेतोवृत्तिज्ञानस्याभ्युपगमः कृत इति । तथाऽन्यैरप्यभ्यधायि-"आकारैरिङ्गितैर्गत्या, चेष्टया भाषितेन च ।" नेत्रवक्त्रविकारैश्च गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः" ॥१७॥

टीकार्थ – यों अज्ञानवाद के सिद्धान्त का निरूपण कर आगमकार उसे सदोष साबित करते हुए कहते हैं-जो ज्ञान नहीं है, ज्ञान का अभाव है, उसे अज्ञान कहा जाता है । जिनको अज्ञान होता है वे अज्ञानी कहे जाते हैं अथवा अज्ञान शब्द व्याकरण के अनुसार 'संज्ञा' शब्द है । अतः 'गौरवरवदरण्यं' के नियमानुसार इसमें 'मत्वर्थीय' प्रत्यय हुआ है । अज्ञान ही श्रेयस्कर है, उत्तम है, ऐसा निरूपण करने वाले अज्ञानवादी जो यह पर्यालोचनात्मक-विश्लेषणात्मक मीमांसा-चिन्तनपूर्ण विचार प्रस्तुत करते हैं । जो पदार्थ का निश्चय करने या

उन का निश्चित स्वरूप उपस्थित करने की इच्छा करते हैं, वस्तुतः उनका वह पर्यालोचनात्मक विश्लेषण युक्तियुक्त सिद्ध नहीं होता । अमुक ज्ञान सत्य है अथवा वह असत्य है । उनका ऐसा आलोचनात्मक चिंतन तथा अज्ञान ही श्रेष्ठ है ऐसी विचारणा और ज्यों ज्यों ज्ञान की अभिवृद्धि होती है त्यों त्यों दोष की भी अभिवृद्धि होती है, ऐसा मानना समुचित नहीं है क्योंकि इस प्रकार जो आलोचनात्मक विचार किया जाता है वह भी तो ज्ञानात्मक ही है जिसके आधार पर वह चिंतन आगे बढ़ता है । ऐसी स्थिति में वे अज्ञानवादी अपने द्वारा सर्वोत्तम माने हुए अज्ञानवाद से अपने आपका भी समाधान नहीं कर सकते । यों जब वे स्वयं समाधान नहीं कर पाते तो निःसंदेह वे अज्ञानी हैं तब उनके समीप आकर उनका शिष्यत्व स्वीकार कर जो उनसे ज्ञान पाना चाहते हैं-सैद्धान्तिक शिक्षा पाना चाहते हैं वे उन्हें किस प्रकार शिक्षा दे सकते हैं - उनका समाधान कर सकते हैं । जैसा कि कहा गया है-वे स्वयं ही असमाहित हैं-समाधान रहित हैं । अज्ञानवादियों द्वारा ऐसा भी कहा गया है कि सब उपदेश-सैद्धान्तिक शिक्षा आदि उसी प्रकार निराधार है, जिस प्रकार एक म्लेच्छ द्वारा किया गया आर्य भाषा का अनुवाद-अनुसरण या अनुवचन यह बात अयुक्तियुक्त है क्योंकि किसी दूसरे की भाषा का अनुवाद भी ज्ञान के न होने पर नहीं किया जा सकता.अज्ञानवादी ने जो एक यह बात भी कही कि किसी अन्य की चित्तवृत्ति को जान पाना दुष्कर है-संभव नहीं है । अतएव अज्ञान ही उत्तम है यह कथन भी तर्क एवं युक्ति रहित है क्योंकि जब आप यह कहते हैं कि अज्ञान ही उत्तम है, यह औरों को उपदेश देने हेतु जब आप प्रवृत्त होते हैं तो स्वयं दूसरे की चित्तवृत्ति का ज्ञान होता है ऐसा स्वीकार करना होगा । यदि अन्य की चित्तवृत्ति को नहीं जान सकता तो फिर आपके शिष्य जो आपके पास ज्ञान लेना चाहते हैं-उपदेश लेना चाहते हैं, वे आपकी चित्तवृत्ति को कैसे जान सकते हैं, वे आपके विचार एवं चिन्तन को कैसे आत्मसात कर सकते हैं। फिर आप उनको अज्ञानवाद के सिद्धान्त का उपदेश क्यों देते हैं । दूसरे मतवादी या दार्शनिक भी यह स्वीकार करते हैं कि किसी अन्य की चित्तवृत्ति को जाना जा सकता है समझा जाता है, यह स्पष्ट उदाहरण है-किसी मनुष्य के आकार से, संकेत से, गति से, चेष्टा-क्रिया से, भाषण से, आँख, मुँह आदि के विकार या परिवर्तित रूप से उनका अन्तरमन समझा जा सकता है ।

❀ ❀ ❀

वणे मूढे जहा जन्तू, मूढे णेयाणुगामिए ।
दोवि एए अकोविया, तिव्वं सोयं नियच्छइ ॥१८॥

छाया – वने मूढो यथा जन्तु र्मूढनेत्रनुगामिकः ।
द्वावप्येतावकोविदौ तीव्रं शोकं नियच्छतः ॥

अनुवाद – जंगल में एक दिक्मूढ-जिसे दिग्भ्रम हो गया है, जो पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण दिशाओं को ठीक ठीक नहीं पहचान पा रहा है-चला जा रहा है यदि दूसरा दिग्भ्रान्त प्राणी उसके पीछे-पीछे चलता है तो वे दोनों ही दिग्भ्रम के कारण घोर दुःख प्राप्त करते हैं-अत्यन्त दुःखित होते हैं ।

टीका – तदेवं ते तपस्विनोऽज्ञानिन आत्मनः परेषाञ्च शासने कर्त्तव्ये यथा न समर्थास्तथा दृष्टान्तद्वारेण दर्शयितुमाह -

वनेऽटव्यां यथा कश्चिन्मूढो जन्तुः प्राणी दिक्परिच्छेदं कर्तुमसमर्थः स एवंभूतो यदा परं मूढमेव नेतारमनुगच्छति तदा द्वावप्यकोविदौ सम्यग् ज्ञानानिपुणौ सन्तौ तीव्रमसह्यं स्रोतो गहन शोकं वा नियच्छतो

निश्चयेन गच्छत: प्राप्नुत: अज्ञानावृतत्वादेवं तेऽप्यज्ञानवादिन आत्मीयं मार्गं शोभनत्वेन निर्धारयन्त: परकीयञ्चाशोभनत्वेन जानाना: स्वयं मूढा: सन्त: परानपि मोहयन्तीति ॥१८॥

टीकार्थ – अज्ञानवादी न तो अपने आपको तथा न दूसरे को ही अपने सिद्धान्तों के संदर्भ में समाधान दे पाने में सक्षम हो सकते हैं । आगमकार एक दृष्टान्त द्वारा इस तथ्य का उपपादान करते हैं -

जैसे वन में कोई मूढ़-दिग्भ्रान्त प्राणी दिशाओं का ज्ञान करने में असमर्थ रहताहै और वह किसी अन्य दिग्भ्रान्त प्राणी का अनुसरण करता है-उसके पीछे पीछे चलता है तब वे दोनों ही प्राणी जो मार्ग को भली भांति जानने में कोविद-निपुण या चतुर नहीं है, वे तीव्र असह्य दु:ख को प्राप्त करते हैं अथवा वे घोर जंगल में खो जाते हैं क्योंकि वे अज्ञान से आवृत्त-ढ़के हुए हैं उनका ज्ञान अनावृत्त है । इसी प्रकार वे अज्ञानवादी जो अपने मार्ग को-अपनी सैद्धान्तिक मान्यताओं को शोभन-उत्तम सत्य तथा दूसरे के मार्ग को-सिद्धान्तों को अशोभन-अनुत्तम, असत्य समझते हैं वे स्वयं मूढ़ हैं-मोहग्रस्त हैं और अन्य को मोहग्रस्त बनाते हैं ।

❀ ❀ ❀

अंधो अंधं पहं णिंतो, दूरमद्धाणुगच्छइ ।
आवज्जे उप्पहं जंतू, अदुवा पंथाणुगामिए ॥१९॥

छाया – अन्धोऽन्धं पन्थानं नयन् दूरमध्वान मनुगच्छति ।
आपद्यत उत्पथं जन्तुरथवापन्थानमनुगामिकः ॥

अनुवाद – एक नेत्रहीन पुरुष मार्ग में चल रहा है, दूसरे नेत्रहीन को अपने पीछे लिये जा रहा है। ऐसा करता हुआ वह जहाँ जाना है, वहाँ से दूर निकल जाता है अथवा उत्पथ-उल्टे-रास्ते पर चला जाता है, अथवा किसी और ही रास्ते को पकड़ लेता है ।

टीका – अस्मिन्नेवार्थे दृष्टान्तान्तरमाह- यथाऽन्ध: स्वयमपरमन्धं पन्थानं नयन दूरमध्वानं विवक्षितादध्वन: परतरं गच्छति, तथोत्पथमापद्यते जन्तुरन्ध: । अथवा परं पन्था नमनुगच्छेत्, न विवक्षितमेवाध्वानमनुया-यादिति ॥१९॥

टीकार्थ – शास्त्रकार इसी विषय पर एक दृष्टान्त उपस्थित करते हैं -

जैसे एक अंधा पुरुष स्वयं दूसरे अंधे पुरुष को मार्ग में ले जाता हुआ अपने विवक्षित-अभिप्सित-जिससे जाना उपयुक्त है, उससे दूर निकल जाता है । उत्पथ-उससे भिन्न या उल्टे रास्ते पर चल पड़ता है अथवा किसी दूसरे रास्ते को अपना लेता है किन्तु जिस रास्ते से जाना है, उस रास्ते पर नहीं जाता ।

❀ ❀ ❀

एवमेगे णियायट्ठी, धम्ममाराहगा वयं ।
अदुवा अहम्ममावज्जे ण ते सव्वज्जुयं वए ॥२०॥

छाया – एवमेके नियागार्थिनो धर्माराधकाः वयम् ।
अथवाऽधर्ममापद्येरन् न ते सर्वर्जुकं व्रजेयुः ॥

अनुवाद – पूर्वोक्त इतर दर्शनवादियों में से कई कहते हैं कि हमारे जीवन का लक्ष्य मोक्ष है । हम धर्म की आराधना करते हैं । किन्तु जैसा कहते हैं, वे वैसा करते नहीं, उसके विपरीत करते हैं । अधर्म की ओर बढ़ते हैं । संयम का रास्ता तो बड़ा सरल और सीधा है किन्तु वे उस ओर नहीं जाते-संयम पालन नहीं करते ।

टीका – एवं दृष्टन्तं प्रसाध्य दार्ष्टान्तिकमर्थं दर्शयितुमाह - एवमिति पूर्वोक्तार्थोपप्रदर्शने, एवं भावमूढ़ाः भावान्धाश्चैके आजीविकादयः णियायट्ठी' त्ति नियागो मोक्षः सद्धर्मो वा तदर्थिनः । ते किल वयं सद्धर्माराधका इत्येनं सन्धाय प्रव्रज्याया मुद्यताः सन्तः पृथिव्यम्बुवनस्पत्यादिकायोमपर्देन पचनपाचनादिक्रियासु प्रवृत्ताः सन्तस्तत्स्वयमनुतिष्ठन्ति अन्येषाञ्चेपदिशन्ति येनाऽभिप्रेतायाः मोक्षावाप्तेर्भ्रश्यन्ति । अथवाऽस्तां तावद् मोक्षाभावः, त एवं प्रवर्तमाना अधर्मं पापमापद्येरन् सम्भावनायामुत्पन्नेन लिङ्प्रत्ययेनैतद्दर्शयति एतदपरं तेषामनर्थान्तरं सम्भाव्यते यदुत विवक्षितार्थाभावतया विपरीतार्थावाप्तेः पापोपादानमिति अपि च त एवमसदनुष्ठायिन आजीविकादयो गोशालकमतानुसारिणोऽज्ञानवादप्रवृत्ताः सर्वैः प्रकारैर्ऋजुः-प्रगुणो विवक्षित मोक्षगमनम्प्रत्यकुटिलः सर्वर्जुः-संयमः सद्धर्मो वा तं सर्वर्जुकं ते न व्रजेयुः न प्राप्नुयुरित्युक्तम्भवति । यदि वा-सर्वर्जुकं सत्यं तत्तेऽज्ञानान्धाः ज्ञानापलापिनो न वदेयुरिति एते चाज्ञानिकाः सप्तषष्टिभेदा भवन्ति, ते च भेदा अमुनोपायेन प्रदर्शनीयाः, तद्यथा-जीवदयो नव पदार्थाः सत् असत् सदसत् अवक्तव्यः सदवक्तव्यः असद वक्तव्यः सदसदवक्तव्य इत्येतैः सप्तभिः प्रकारै र्विज्ञातुं न शक्यन्ते, न च विज्ञातैः प्रयोजनमस्ति, भावना चेयम्-सन् जीव इति को वेत्ति ? किं वा तेन ज्ञातेन ? असन् जीव इति को वेत्ति? किं वा तेन ज्ञातेनेत्यादि । एवमजीवादिष्वपि प्रत्येकं सप्त विकल्पाः, नव सप्तकात्रिषष्टिः । अमीचान्ये चत्वार स्त्रिषष्टिमध्ये प्रक्षिप्यन्ते, तद्यथा-सती भावोत्पत्तिरिति को जानाति ? किंवाऽनया ज्ञातया ? एवमसती सदसत्य वक्तव्या भावोत्पत्तिरिति को जानाति ? किंवाऽनया ज्ञातयेति । शेषविकल्पत्रयन्तूत्पत्त्युत्तरकालं पदार्थावयवापेक्षमतोऽत्र न सम्भवतीति नोक्तम् । एतच्चतुष्टय प्रक्षेपात्सप्त षष्टिर्भवति । तत्र सन् जीव इति को वेत्तीत्यस्यायमर्थोन कस्यचिद्विशिष्टं ज्ञानमस्ति योऽतीन्द्रियान् जीवादीनवभोत्स्यते न च तै र्ज्ञातैः किञ्चितफलमस्ति, तथाहि-यदि नित्यः सर्वगतोऽमूर्त्तो ज्ञानादिगुणोपेत एतद्गुणव्यतिरिक्तो वा ततः कतमस्य पुरुषार्थस्य सिद्धिरिति ? तस्मादज्ञानमेवश्रेय इति ॥२०॥

टीकार्थ - आगमकार दृष्टान्त उपस्थित कर व्याख्येय तत्त्व का प्रतिपादन करने हेतु कहते हैं-

प्रस्तुत गाथा के प्रारंभ में 'जो' 'एवं' शब्द आया है, वह पहले बताये गये अर्थ को व्यक्त करने के लिये है पहले जिन आजीवक आदि अन्य तीर्थियों का उल्लेख हुआ है वे वास्तव में भावमूढ़ हैं-उनकी भावना में, चिंतन में मूढ़ता या अज्ञान भरा हुआ है । वे भावान्ध हैं । जैसे एक अंधे व्यक्ति के सामने सब ओर अंधेरा ही अंधेरा रहता है, उसी प्रकारे उनके सामने अज्ञान का अंधेरा फैला रहता है । यहाँ नियाय-नियाग शब्द मोक्ष या सद्धर्म का सूचक है जो उसकी इच्छा करते हैं वे नियागार्थी कहे जाते हैं । वे अन्य तीर्थिक अपने को मोक्षार्थी के रूप में प्रस्तुत करते हैं । हम सत्-यथार्थ या उत्तम धर्म के आराधक हैं, वे ऐसा मानते हैं । तदर्थ वे प्रवज्या स्वीकार करने को उद्यत होते हैं, प्रव्रजित हो जाते हैं, दीक्षा ले लेते हैं । वे दीक्षित हो कर भी पृथ्वी, पानी और वनस्पति काय के जीवों का उपमर्दन या हिंसा करते हुए स्वयं भोजन पकाना, दूसरे से भोजन पकवाना आदि क्रियाओं में प्रवृत्त होते हैं, वैसे कार्य करते हैं, अन्य लोगों को भी वैसा करने का उपदेश देते हैं, वैसा करने वाले मोक्ष प्राप्ति के मार्ग से भ्रष्ट हो जाते हैं अर्थात् उनके ये हिंसामूलक पचन पाचन आदि कार्य कलाप मोक्षमार्ग के प्रतिकूल है, ऐसे कार्य करते हुए उन्हें मोक्ष मिलना तो दूर रहा उल्टे वे पापों का संग्रह करते हैं ।

इस गाथा में 'आवज्जे'-आपद्येरन् पद आया है । वह लिंग लकार में है, संभावना के अर्थ में है, इसके द्वारा आगमकार यह दिग्दर्शन करते हैं कि उन आजीवन मतवादियों के लिये एक अन्य प्रकार का अनर्थ-विपरीत कार्य भी संभावित है । कहने का अभिप्राय यह है कि वे इष्ट-अभीप्सित या चाहे हुए अर्थ को नहीं पाते । उसके प्रतिकूल-विपरीत उल्टे पापमूलक अनर्थ को पाते हैं । इस प्रकार असत् का अनुष्ठान-आचरण करने वाले, अज्ञान ही कल्याण का मार्ग है, ऐसा प्रतिपादन करने वाले गौशालक के नियतिवाद में विश्वास रखने वाले आजीवक आदि संयम के पद को नहीं पा सकते । सद्धर्म का अनुसरण नहीं कर सकते और न मोक्ष आदि के पथ पर आगे बढ़ने के लिये, जो सर्वथा सीधा है, प्रयत्न ही कर सकते हैं । अथवा इसे यों समझा जाना चाहिये-जो अज्ञान के कारण आन्तरिक ज्योति से विहीन हैं, अन्धवत् हैं, ज्ञान को मिथ्या या असत्य बताते हैं । सत्य को नहीं अपना सकते, उसमें अपना जीवन नहीं ढ़ाल सकते जो मोक्ष को स्वायत करने का-पाने का सबसे सीधा रास्ता है । ये अज्ञानवादी अज्ञान को कल्याण या श्रेयस् का मार्ग बताते हैं । उनके ६७ भेद कहे गये हैं उन भेदों को इस प्रकार सत्, असत्, सदसत्, अवक्तव्य, सद्अवक्तव्य, असद्अवक्तव्य, सद्असद्अवक्तव्य इस प्रकार समझना चाहिए । जीव आदि पदार्थ इन विकल्पों द्वारा नहीं जाने जा सकते और उनको जानने से कोई प्रयोजन भी सिद्ध नहीं हो सकता । इनकी संगति यों करनी चाहिये-जीव सत् है यह कौन जानता है, वैसा ज्ञात करने से क्या लाभ है,उसका क्या परिणाम निकलता है । जीव असत् है, इसे कौन जानता है, उसे जानने का क्या प्रयोजन है । इसी प्रकार सद्असद् आदि भेदों के विकल्पों की भी जीव के साथ संगति करनी चाहिये । इसी प्रकार अजीव आदि पदार्थों में भी प्रत्येक के साथ इन विकल्पों की संगति करनी चाहिये । दो नव + सप्तक मिलकर अज्ञान के ६३ भेद होते हैं । इन ६३ भेदों में चार भेदों को और जोड़ा जाना चाहिये- (१) भाव की उत्पत्ति सत् अस्तित्व से होती है यह कौन जानता है, इसके जानने का क्या प्रयोजन है-फल है । (२) भाव की उत्पत्ति असत् से होती है, यह किसे ज्ञात है अथवा इसे ज्ञात करने का क्या प्रयोजन है-क्या परिणाम निकलता है । (३) सदसत् से भाव की उत्पत्ति होती है, इसे कौन ज्ञात करता है, ज्ञात करने से क्या फल है-क्या परिणाम निकलता है । (४) भाव की उत्पत्ति अवक्तव्य से होती है, यह कौन ज्ञात करता है, ज्ञात करने से क्या परिणाम आता है ।

ऊपर जो सात विकल्प वर्णित हुए हैं इनमें से चार विकल्पों को यहां भाव उत्पत्ति के विषय में अभिहित किया गयाहै । बाकी के तीन विकल्पों की चर्चा नहीं की गई है क्योंकि वे तीन विकल्प पदार्थ के उत्पन्न हो जाने के अनन्तर अवयवों की अपेक्षा से लागू होते हैं । भावोत्पत्ति-भावों की उत्पत्ति के विषय में यह संभव नहीं है ।

उपर्युक्त सात विकल्पों में जीव सत् है यह कौन जानता है । यह पहला विकल्प है । इसका अभिप्राय यह है कि जगत में किसी भी प्राणी को ऐसा विशिष्ट ज्ञान नहीं होता । जो अतीन्द्रिय-इन्द्रियातीत जिसे इन्द्रियों से ग्रहण न किया जा सके, ऐसे जीवों एवं अन्य पदार्थों को ज्ञात कर सके, उन्हें ज्ञात करने से कोई प्रयोजन भी सिद्ध नहीं होता क्योंकि जीव चाहे नित्य, सर्वगत-सर्वव्यापि, अमूर्त्त-आकार रहित तथा ज्ञान आदि गुणों से मुक्त हो या इसके विपरीत-प्रतिकूल हो, उसे किसी प्रकार का प्रयोजन या अर्थ सिद्ध नहीं हो सकता । इसलिये वास्तव में अज्ञान ही श्रेयस्कर कल्याणकारी है ।

❀ ❀ ❀

एवमेगे वियक्काहिं, नो अन्नं पज्जुवासिया ।
अप्पणो य वियक्काहिं, अयमंजूहिं दुम्मई ॥२१॥

छाया – एवमेके वितर्काभि र्नाऽन्यं पर्य्युपासते ।
आत्मनश्च वितर्काभिरयमृजुर्हि दुर्मतयः ॥

अनुवाद – वे प्राणी जिनकी बुद्धि दूषित है, सत् तत्त्व को ग्रहण करने का जिनमें गुण नहीं है, जो पहले कहे गये विकल्पों के कारण ज्ञानवादी की पर्युपासना नहीं करते, उसके सान्निध्य से लाभान्वित नहीं होते, वे उन विकल्पों के कारण अज्ञान को ही मोक्ष प्राप्ति का सरल मार्ग स्वीकार करते हैं ।

टीका – पुनरपि तद्दूषणाभिधित्सयाऽऽह - एवमनन्तरोक्तया नीत्या एके केचनाज्ञानिकाः वितर्काभिः मीमांसाभिः स्वोत्प्रेक्षिताभिरसत्कल्पनाभिः परमन्यमार्हतादिकं ज्ञानवादिनं न पर्य्युपासते न सेवन्ते स्वावलेपग्रहग्रस्ताः वयमेव तत्त्वज्ञानाभिज्ञाः नापरः कश्चिदित्येवं नाऽन्यं पर्य्युपासत इति । तथाऽत्मीयैर्वितर्कैरेवमभ्युपगतवन्तो-यथा अयमेव अस्मदीयोऽज्ञानमेव श्रेय इत्येवमात्मको मार्गः अञ्जूरिति निर्दोषत्वाद्व्यक्तः-स्पष्टः परैस्तिरस्कर्तुमशक्यः ऋजुर्वा-प्रगुणोऽकुटिलः यथावस्थितार्थाभिधायित्वात् किमिति (ते) एवमभिदधति ? हि यस्मादर्थे यस्मात्ते दुर्मतयो विपर्य्यस्तबुद्धय इत्यर्थः ॥२१॥

टीकार्थ – शास्त्रकार पुनः अज्ञानवादियों का मत दोष युक्त है, यह बताने हेतु प्रतिपादित करते हैं-

पहले जो नीति-पद्धति या मार्ग बतलाया गया है, उस द्वारा अज्ञानी-अज्ञानवादी अपने ओर से की गई वितर्कणा-मीमांसा आदि के आधार पर निष्पन्न असत्कल्पनाओं के कारण अन्य किसी ज्ञानवादी-अर्हतों की, वैसे महापुरुषों की सेवा नहीं करते । उनका सानिध्य लाभ नहीं करते । वे अहंकार रूपी ग्रह से-मगरमच्छ से ग्रसित हैं । हम ही तत्त्व ज्ञान के अभिज्ञ-विशिष्ट ज्ञाता हैं, अन्य कोई नहीं हैं, ऐसा समझकर अन्य क्रिया की पर्युपासना नहीं करते-सानिध्य लाभ नहीं करते । वे अपने द्वारा की गई कल्पना अथवा वितर्क के कारण ऐसा स्वीकार करते हैं कि हमारा अज्ञानमय मार्ग ही श्रेयस् का मार्ग है, दोष रहित है, अन्य सैद्धन्तिकों द्वारा उसका खण्डन नहीं किया जा सकता । यह ऋजु व्यक्त प्रगुण-उत्तम गुण युक्त तथा अकुटिल-कुटिलता रहित सरल मार्ग है क्योंकि जो पदार्थ जिस रूप में अवस्थित है, उनको वह उसी प्रकार व्याख्यात करना है । फिर एक प्रश्न के साथ उपसंहार करते हैं कि वे अज्ञानवादी ऐसा क्यों कहते हैं ? इसका उत्तर यह है कि वे दुर्मति हैं, उनकी बुद्धि दूषित हैं-विपरीत है-सत्य तथ्य को गृहीत नहीं करती ।

❀ ❀ ❀

एवं तक्काइ साहिंता धम्माधम्मे अकोविया ।
दुःक्खं ते नाइतुट्टंति सउणी पंजरं जहा ॥२२॥

छाया – एवं तर्कैः साधयन्तः धर्माधर्मयोरकोविदाः ।
दुःखन्ते नातित्रोटयन्ति शकुनिः पञ्जरं यथा ॥

अनुवाद – वे अज्ञानवादी जिनका पहले वर्णन किया गया है, वस्तुतः धर्म तथा अधर्म का स्वरूप नहीं जानते किन्तु वे तर्क, न्याय, युक्ति द्वारा अपने सिद्धान्तों को सत्य साबित करने का उपक्रम करते हैं ।

जिस प्रकार पिंजरे में बंधा हुआ पक्षी पिंजरे को तोड़ नहीं सकता-तोड़कर मुक्त नहीं हो सकता, उसी प्रकार वे कर्मों के बंधन को तोड़ नही सकते ।

टीका – साम्प्रतमज्ञानादिनां ज्ञानवादी स्पष्टमेवानर्थाभिधित्साऽऽह - एवं पूर्वोक्तन्यायेन तर्कया स्वकीयविकल्पनया साधयन्तः प्रतिपादयन्तो धर्मे क्षान्त्यादिकेऽधर्मे च जीवोपमर्दापादिते अकोविदा अनिपुणाः दुःखमसातोदयलक्षणं तद्धेतुं वा मिथ्यात्वाद्युपचित कर्मबन्धनं नातित्रोटयन्ति । अतिशयेनैतद्व्यवस्थितं तथा ते न त्रोटयन्ति-अपनयन्तीति । अत्र दृष्टान्तमाह-यथा पंजरस्थः शकुनिः पंजरं त्रोटयितुं पञ्जरबन्धनादात्मानं मोचयितुं नालमेवमसावपि संसारपंजरादात्मानं मोचयितुं नालमिति ॥२२॥

टीकार्थ – अब अज्ञानवादियों का सिद्धान्त अनर्थकारक है, यह स्पष्ट रूप में बताने के लिये ज्ञानवादी कहते हैं -

पूर्वोक्त न्याय के अनुसार अपनी मनगढ़न्त कल्पना द्वारा अज्ञानवादी अपने सिद्धान्तों को सिद्ध करते हैं । वे क्षांति-क्षमाशीलता आदि सिद्धान्तों से युक्त धर्म को तथा प्राणियों की हिंसा से होने वाले पाप को जानने में अकोविद-अनिपुण या असमर्थ है, वे मिथ्यात्व आदि द्वारा होने वाले कर्म बंध को-बंधने वाले कर्मों को तोड़ नहीं सकते । जो दुःख तथा असाता-प्रतिकूल वेदनीय के हेतु हैं । यह सर्वथा निश्चित है कि वे कर्मबंध को तोड़ने में सक्षम नहीं होते । प्रस्तुत विषय को आगमकार दृष्टान्त द्वारा निरूपित करतेहैं-जैसे पिंजरे में स्थित पक्षी उसे तोड़कर पिंजरे के बंधन से अपने को छुड़ाने में सक्षम नहीं होता उसी प्रकार अज्ञानवादी संसार-जन्म मरण या आवागमन के पिंजरे से अपने को छुड़ाने में समर्थ नहीं होता ।

❀ ❀ ❀

सयं सयं पसंसंता गरहंता परं वयं ।
जे उ तत्थ विउस्संति संसारं ते विउस्सिया ॥२३॥

छाया – स्वकं स्वकं प्रशंसन्तो गर्हयंतः परं वचः ।
ये तु तत्र विद्वस्यन्ते संसारन्ते व्युच्छ्रिता ॥

अनुवाद – अन्यतीर्थि-जैनेत्तर सिद्धान्तवादी अपने अपने सिद्धान्तों की प्रशस्ति करते हैं, उन्हें उत्तम बतलाते हैं तथा औरों के वचन वाद या सिद्धान्तों की निन्दा करते हैं, उन्हें अप्रशस्त बतलाते हैं । ऐसा करने में जो अपने वैदूष्य-पांडित्य का प्रदर्शन करते हैं । वे संसार के गाढ़े बन्धन में बंधे हुए या जकड़े हुए हैं ।

टीका – अधुना सामान्येनैकान्तवादिमतदूषणार्थमाह - स्वकं स्वकमात्मीयमात्मीयं दर्शनमभ्युपगतं प्रशंसन्तो वर्णयन्तः समर्थयन्तो वा, तथा गर्हमाणाः निन्दन्त परकीयां वाचं, तथा हि-साङ्ख्याः सर्वस्याविर्भावतिरोभाव वादिनः सर्वं वस्तु क्षणिकं निरन्वयविनश्वरं चेत्येवंवादिनो बौद्धान् दूषयन्ति तेऽपि नित्यस्य क्रमयौगपद्याभ्यामर्थ क्रियाविरहात् साङ्ख्यान्, एव मन्येऽपि द्रष्टव्या इति । तदेवं 'ये' एकान्तवादिनः तुरवधारणे भिन्नक्रमश्च, तत्रैव तेष्वेवाऽत्मीयात्मीयेषु दर्शनेषु प्रशंसांकुर्वाणाः परवाचञ्च विगर्हमाणाः विद्वस्यन्ते विद्वांस इवाऽऽचरन्ति तेषु वा विशेषेणोशन्ति-स्वशास्त्रविषये विशिष्टं युक्तिव्रातं वदन्ति, ते चैवं वादिनः संसारं चतुर्गतिभेदेन संसृति रूपं विविधम् अनेकप्रकारम् उत् प्राबल्येन श्रिताः सम्बद्धाः, तत्र वा संसारे उषिताः संसारान्तर्वर्तिनः सर्वदा भवन्तीत्यर्थः ॥२३॥

टीकार्थ – आगमकार अब सामान्यतः उन सभी मतवादियों के सिद्धान्तों को, जो ऐकान्तिकता में विश्वास करते हैं दोषयुक्त बताने हेतु प्रतिपादन करते हैं -

अन्यायन्य दर्शनों में विश्वास करने वाले व्यक्ति अपने अपने दर्शनों की प्रशंसा करते हैं, वर्णन करतेहैं तथा समर्थन करते हैं, दूसरों के वचनों की, मन्तव्यों की निन्दा करते हैं ।

उदाहणार्थ-समग्र पदार्थों के आविर्भाव-उत्पत्ति तथा तिरोभाव विलय में विश्वास करने वाले सांख्य दर्शन के अनुयायी बौद्धों की निन्दा करते हैं, जो सब पदार्थों को क्षणिक तथा निरन्वय-आगे पीछे के सम्बन्ध से रहित विनश्वर मानते हैं । बौद्ध भी सांख्यवादियों की निन्दा करते हैं । वे कहते हैं कि जो पदार्थ नित्य है, वह अर्थ क्रिया नहीं कर सकता, न तो वह क्रमशः वैसा कर सकता है और न युगपत-एक साथ ही वैसा कर सकता है । इसी प्रकार अन्य दर्शनवादी भी करते हैं, ऐसा समझना चाहिये । यहां पर आया हुआ 'तु' शब्द अवधारण और भिन्न क्रम का सूचक है । वे विभिन्न मतवादी अपने अपने दर्शनों की प्रशंसा करते हैं तथा अन्यों के वादों की विगर्हणा-निन्दा या अवहेलना करते हैं । ऐसा करतेहुए वे परस्पर विद्वेष करतेहुए विद्वानों के समान आचरण करते हैं । वे अपने सैद्धान्तिक पक्ष के समर्थन में विशिष्ट युक्तियां प्रतिपादित करते हैं, ऐसा करने वाले वे सिद्धान्तवादी इस चतुर्गतिमय-चार गतियों से युक्त संसार में विविध प्रकार से-अनेक तरह से गाढ़ बंधनों में बंधते हैं । वे इस संसार में सर्वदा निवास करते हैं चक्कर काटते हैं ।

❀ ❀ ❀

अहावरं पुरक्खायं किरिया वाइदरिसणं ।
कम्मचिंतापणट्ठाणं संसारस्स पवड्ढणं ॥२४॥

छाया – **अथाऽपरं पुराऽऽख्यातं क्रियावादिदर्शनम् ।**
कर्मचिन्ताप्रनष्टानां संसारस्य प्रवर्धनम् ॥

अनुवाद – अन्य तीर्थिकों में एक क्रियावादी दर्शन भी है वहां कर्म की चिन्ता-कर्मवाद विषयक चिन्तन प्रनष्ट है-उपेक्षित है, उस पर विचार नहीं किया जाता । उनका मत संसार को-आवागमन के चक्र को बढ़ाने वाला है ।

टीका – साम्प्रतं यदुक्तं निर्युक्तिकारेणोद्देशकार्थाधिकारे कर्म चयं न गच्छति चतुर्विधं भिक्षु समय इति तदधिकृत्याह - अथेत्यानन्तर्ये, अज्ञानवादिमतानन्तरमिदमन्यत् पुरा पूर्वमाख्यातं कथितम्, किं पुनस्तदित्याहक्रियावादिदर्शनम्, क्रियैव चैत्यकर्मादिका प्रधानं मोक्षाङ्गमित्येवं वदितुं शीलं येषां ते क्रियावादिन स्तेषां दर्शनम् आगमः क्रियावादिदर्शनम्, किं भूतास्ते क्रियावादिन इत्याह-कर्मणि ज्ञानावरणादिके चिन्ता पर्य्यालोचनं कर्म चिन्ता तस्याः, प्रणष्टा-अपगताः कर्मचिन्ताप्रणष्टाः यतस्तेऽविज्ञानाद्युपचितं चतुर्विधं कर्मबन्धं नेच्छन्ति अतः कर्मचिन्ताप्रणष्टाः, तेषाञ्चेदं दर्शनम् दुःखस्कन्धस्य असातोदयपरम्पराया: विवर्धनंभवति । क्वचित्संसारवर्धनमिति पाठः तेह्येवं प्रतिपद्यमानाः संसारस्य बुद्धिमेव कुर्वन्ति नोच्छेदमिति ॥

टीकार्थ – निर्युक्तिकार ने उद्देशक के अर्थाधिकार में जो यह प्रतिपादित किया कि भिक्षुओं के सिद्धान्तानुसार चार प्रकार के कर्म बंधन कारक नहीं होते । उसी संदर्भ को लेकर आगमकार यहां प्रतिपादित करते हैं -

गाथा में आया हुआ 'अथ' शब्द आनन्तर्य-अर्थात् अनन्तरता का बोधक है, अज्ञानवादियों के मत के अनन्तर यह दूसरा क्रियावादियों का दर्शन है जिसका पहले उल्लेख हुआ है । चैत्यकर्म आदि-तद्विषय क्रिया कलाप को जो मोक्ष का मुख्य अंग-उपाय बतलाते हैं, उनका दर्शन क्रियावादी के नाम से अभिहित हुआ है। वे क्रियावादी किस प्रकार के हैं ? ऐसा प्रश्न उठाकर आगमकार कहते हैं-ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के संबंध में चिन्तन-पर्यालोचन आदि करना कर्म चिन्ता कहा जाता है, जिनकी कर्म चिन्ता प्रनष्ट हो गई है, मिट गई है, उन्हें कर्म चिन्ता प्रनष्ट कहा गया है अर्थात् जो ज्ञानावरणीयादि कर्मों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त नहीं करते और मनमाने रूप से क्रियाएं करते हैं, वे कर्म विषयक सत् चिन्तन से रहित हैं । वे-बौद्ध श्रमण आदि अभिज्ञान-ज्ञान के बिना उपचित-संग्रहित, किये गये चार प्रकार के कर्मों को बन्धनकारी नहीं मानते, अतएव वे कर्मचिन्ता प्रनष्ट हैं । उनका यह मन्तव्य दुःखस्कन्ध या असातोदय-अशुभ प्रतिकूल भोग रूप दुःख परम्परा को बढ़ाता है । कहीं कहीं 'संसारवर्धनं' ऐसा पाठ है जिसका तात्पर्य यह है कि जो भिक्षु चार प्रकार के कर्मों को बंधन प्रद नहीं मानते वे संसार की, जन्म मरण या आवागमन की वृद्धि करते हैं ।

❀ ❀ ❀

जाणं का एणऽणाउट्टी, अबुहो जं च हिंसति ।
पुट्ठो संवेयइ परं अवियत्तं खु सावज्जं ॥२५॥

छाया – **जानन् कायेनाना कुट्टी, अबुधो यं च हिनस्ति ।**
स्पृष्टः संवेदयति पर मव्यक्तं खलु सावद्यम् ॥

अनुवाद – जो मनुष्य जानता हुआ शरीर से हिंसा नहीं करता किन्तु मानसिक हिंसा करता है तथा जो पुरुष नहीं जानता हुआ शरीर से हिंसा करता है पर मन से नहीं करता वह केवल स्पर्श मात्र ही कर्मों का बन्ध करता है क्योंकि किये जाते दोनों प्रकार के कर्म बन्ध अव्यक्त-अस्पष्ट है ।

टीका – यथा ते कर्म चिन्तातो नष्टास्तथा दर्शयितुमाह - यो हि जानन् अवगच्छन् प्राणिनो हिनस्ति, कायेन चानाकुट्टी 'कुट्ट छेदने' आकुट्टन माकुट्टः स विद्यते यस्यासावाकुही नाकुट्यनाकुट्टी, इदमुक्तम्भवति-यो हि कोपादेर्निमित्तात् केवलं मनोव्यापारेण प्राणिनो व्यापादयति न च कायेन प्राण्यवयवानां छेदनभेदनादिके व्यापारे वर्तते न तस्यावद्यं तस्य कर्मोपचयो न भवतीत्यर्थः । तथा अबुधोऽजानानः कायव्यापारमात्रेण यञ्च हिनस्ति प्राणिनं, तत्राऽपि मनोव्यापाराभावान्न कर्मोपचय इति । अनेन च श्लोकार्धेन यदुक्तं निर्युक्तिकृता यथा- ''चतुर्विधं कर्म नोपचीयते भिक्षु समय'' इति, तत्र परिज्ञोपचितविज्ञोपचिताख्यं भेदद्वयं साक्षादुपात्तं शेषन्त्वीर्य्यापथस्वप्नान्तिकभेदद्वयं च शब्देनोपात्तं तत्रेरणमीर्य्या-गमनं तत्संबद्धः पन्था इर्य्यापथस्तत्प्रत्ययं कर्मेर्य्यापथम्-एतदुक्तम्भवति पथि गच्छतो यथाकथञ्चिदनभिसन्धेर्यत् प्राणिव्यापादनम्भवति तेन कर्मणश्चयो न भवति तथा स्वप्नान्तिकमिति-स्वप्नएव लोकोक्त्या स्वप्नान्तः स विद्यते यस्य तत्स्वप्नान्तिकं तदपि न कर्मबन्धाय, यथा स्वप्ने भुजिक्रियायां तृप्त्यभावस्तथा कर्मणोऽपीति, कथन्तर्हि तेषां कर्मोपचयो भवतीति ? उच्यते, यद्यसौ हन्यमानः प्राणीभवति हन्तुश्च यदि प्राणीत्येवं ज्ञानमुत्पद्यते तथैनं हन्मीत्येवं च यदि बुद्धिः प्रादुःष्याद् एतेषु च सत्सु यदि कायचेष्टा प्रवर्तते तस्यामपि यद्यसौ प्राणी व्यापाद्यते ततो हिंसा ततश्च कर्मोपचयो भवतीति, एषा मन्यतराभावेऽपि न हिंसा न च कर्मचयः । अत्र च पञ्चानां पदानां द्वात्रिंशद्भङ्गाः भवन्ति, तत्र प्रथमभङ्गे हिंसकोऽपरेष्वेकत्रिंशत्स्वहिंसकः तथा चोक्तम्-

''प्राणी प्राणिज्ञानं घातकचित्तञ्च तद्वता चेष्टा । प्राणैश्च विप्रयोगः पञ्चभिरापाद्यते हिंसा'' ॥१॥

कियेकान्तेनैव परिज्ञोपचितादिना कर्मोपचयो न भवत्येव? भवति काचिदव्यक्तमात्रेति दर्शयितुं श्लोकपश्चार्धमाह- 'पुट्ठो' त्ति तेन केवल मनोव्यापार रूपपरिज्ञोपचितेन केवल कायक्रियोत्थेन वाऽविज्ञोपचितेनेर्यापथेन स्वप्नान्तिकेन च चतुर्विधेनाऽपि कर्मणा स्पृष्ट ईषच्छुप्तः संस्तत्कर्माऽसौ स्पर्शमात्रेणैव परमनुभवति न तत्याधिको विपाकोऽस्ति कुड्यापतितसिकतामुष्टिवत् स्पर्शानन्तरमेव परिशटनीत्यर्थः। अतएव तस्य चयाभावोऽभिधीयते न पुनरत्यन्ताभाव इति । एवञ्च कृत्वा तद् अव्यक्तम् अपरिस्फुटं, खुरवधारणे अव्यक्तमेव स्पष्ट विपाकानुभवाभावात् तदेवमव्यक्तं सहावद्येन-गर्ह्येण वर्तते तत्परिज्ञोपचितादि कर्मेति ॥२५॥

टीकार्थ – वे क्रियावादी कर्म चिन्ता से रहित है, ऐसा जो कहा गया है, उसे स्पष्ट करते हुए आगमकार बतलाते हैं -

जो पुरुष जानता हुआ प्राणियों की हिंसा करताहै किन्तु शरीर द्वारा वह अनाकुट्टी है, उसके कर्म का बंध नहीं होता । 'कुट्ट' धातु छेदन के अर्थ में है । छेदनमूलक कार्य आकुट्टन या आकुट्ट कहा जाता है । उसे जो करता है उसे आकुट्टी कहा जाता है । जो आकुट्टी नहीं है वह अनाकुट्टी की संज्ञा से अभिहित हुआ है । अनाकुट्टी का तात्पर्य अहिंसक या हिंसा वर्जित से हैं । इसका तात्पर्य यह है कि जो व्यक्ति कोप-क्रुद्धता आदि के कारण मात्र अपने मनो व्यापार से-मानसिक क्रिया से प्राणियों का व्यापादन करता है, मारता है, उनकी हिंसा करता है किन्तु वह प्राणियों के अवयवों का, अंगों का छेदन भेदन मूलक व्यापार कार्य नहीं करता है, उन्हें काटकर नष्टकर छिन्न भिन्न नहीं करता है, उसके अवद्य-पाप या अशुभ कर्म का उपचय-संग्रह या बंध नहीं होता । जो पुरुष अबुद्ध है-नहीं जानता है, मन में क्रोधादि विकार नहीं है केवल काय व्यापार से शरीर की क्रिया से प्राणी की हिंसा करता है, वहां मन का व्यापार-मानसिक हिंसा भाव न होने से कर्म का उपचय-बंध-नहीं होता । इस गाथा के आधे भाग में जो यह कहा गया है, निर्युक्तिकार ने इस संबंध में पहले कहा ही है कि भिक्षुओं का यह सिद्धान्त है कि चार प्रकार के कर्म उपचित नहीं होते-संग्रहित या बद्ध नहीं होते, नहीं बंधते । इसमें परिज्ञोपचित्त-जानते हुए भी किये गये, तथा अविज्ञोपचित-न जानते हुए किये गये ये दो भेद श्लोक के पूर्वार्द्ध द्वारा साक्षात् परिगृहीत है-लिये गये हैं तथा अवशिष्ट ईर्यापथ एवं स्वप्नान्तिक इन दो भेदों को 'च' शब्द से लिया गया है । ईरण या ईर्या का अर्थ गमन है । तद्विषयक पथ या मार्ग को ईर्यापथ कहा जाता है, उसके द्वारा जो कर्म बन्ध होता है, वे ईर्यापथ या ईर्यापथिक कहे जाते हैं । इसका अभिप्राय यह है कि रास्ते चलते समय यथा कथंचित अनजाने, जो प्राणी व्यापदन-किसी जीवधारी का घात हो जाता है, उसे कर्म उपचित-बद्ध नहीं होता । स्वप्नान्तिक कर्म भी नहीं बंधता । लोकोक्ति-जनमान्यता के अनुसार-स्वप्न ही स्वप्नान्त कहा जाता है । स्वप्नान्त से जिसका संबंध हो उसे स्वप्नान्तिक कहते हैं । वह स्वप्नान्तिक कर्म भी बंधन कारक नहीं होता । जैसे स्वप्न में किसी ने भोजन किया पर वैसा होने पर वास्तव में तृप्ति या भूख की निवृत्ति नहीं होती । उसी प्रकार स्वप्न या सपने में किये गये प्राणी व्यापादन से कर्म बन्ध नहीं होता । प्रश्न उठाया जाताहै तब उन भिक्षुओं के किस प्रकार कर्म बंध होता है वे कैसे कर्मबन्ध होना मानते हैं ? इस संदर्भ में वे कहते हैं कि जिसे मारा जा रहा है, यदि वह प्राणवान है, जो मार रहा है, हन्ता है उसे उसके प्राणी होने का ज्ञान होताहै तथा हन्ता की यह बुद्धि होती है-सोच होता है कि मैं इसका घात करता हूँ ऐसा सब होने की स्थिति में-ऐसा होने पर यदि हंता अपनी काया से उसे मारने का प्रयत्न करता है, वैसे प्रयत्न के परिणामस्वरूप उस प्राणी का घात हो जाता है, तब वास्तव में हिंसा होती है और तभी कर्म का उपचय या बंध होता है ।

इनमें से किसी एक के भी न होने पर न तो हिंसा ही होती है और न कर्म का बंध ही। यहां जो पांच पद या विकल्प उल्लिखित हुएहैं, उनके बत्तीस भंग बनते हैं । उनमें प्रथम भंग का व्यक्ति ही हिंसक है अवशिष्ट इकतीस भंगों में हिंसा नहीं होती । कहा गया है कि प्राणी, प्राणी के अस्तित्त्व का ज्ञान, हंता की चैतासिक भूमि, उसकी तद् विषयक क्रिया और हन्यमान के प्राणों का वियोग इन पांच विकल्पों से हिंसा की निष्पत्ति होती है । प्रश्न उपस्थित किया जाता है कि क्या परिज्ञोपचित-ज्ञान या जानकारी के साथ की गई प्रवृत्ति-हिंसा से कर्म का उपचय या बंध नहीं होता ? इस पर कहा जाता है-इनसे जो कर्म बंधता है, वह अव्यक्त रूप लिये हुए होता है-बहुत अस्पष्ट या बहुत साधारण होता है । इसका दिग्दर्शन कराने के लिये आगमकार गाथा के उत्तरार्द्ध में बताते हैं कि केवल मानसिक व्यापार रूप परिज्ञोपचित कर्म-जानकारी के साथ किये गये कर्म तथा केवल दैहिक क्रिया द्वारा अविज्ञोपचित-जानकारी या ज्ञान के बिना किये गये कर्म तथा ईर्यापथिक एवं स्वप्नान्तिक कर्म-इन चार प्रकार के कर्मों से प्रवृत्त होने वाला व्यक्ति किंचित स्पर्श रूप कर्म का बंध करता है । इस नाते वह तत्कर्मा-उन कर्मों का कर्ता कहा जाता है, वह उन कर्मों का विपाक या फल स्पर्श मात्र अनुभव करता है, भोगता है। क्योंकि वह अधिकता लिये हुए नहीं होता । एक उदाहरण द्वारा इसे साफ किया जाता है कि जैसे दीवार पर यदि मुट्ठी भरकर बालू फेंकी जाती है तो वह दीवार को छूकर नीचे बिखर जातीहै, उसी प्रकार उपर्युक्त चारों प्रकार के कर्म स्पर्श मात्र के बाद ध्वस्त हो जाते हैं, इस दृष्टि से-स्पर्श मात्र द्वारा परिभुक्त हो जाने के कारण उन कर्मों के उपचय का अभाव कहा जाता है परन्तु उसे अत्यन्ता भाव नहीं कहा जाता । इस प्रकार यों कहा जा सकता है कि वे चार कर्म अव्यक्त है, अपरिस्फुट हैं, अस्पष्टवत है । यहां आया हुआ 'खु' पद अवधारणा मूलक है । अतएव उपर्युक्त चारों प्रकार के कर्म अव्यक्त ही हैं क्योंकि उनका विपाक-फलानुभव स्पष्ट अनुभूत नहीं होता । अतएव अविज्ञोपचितादि कर्म अव्यक्त रूपेण सावद्य है-पाप पूर्ण हैं ।

❀ ❀ ❀

संति मे तउ आयाणा, जेहिं कीरइ पावगं ।
अभिकम्माय पेसाय, मणसा अणुजाणिया ॥२६॥

छाया – **संतीमानि त्रीण्यादानानि, यैः क्रियतेपापकम् ।**
अभिक्रम्य च प्रेष्य च मनसाऽनुज्ञाय ॥

अनुवाद – वे तीन आदान-हेतु या कारण है, जिनसे मनुष्य पाप कर्म करता है-किसी जीव का वध करने हेतु स्वयं उस पर हमला करना, प्रेष्य-नौकर आदि भेजकर उसकी हत्या करवाना तथा मन से हत्या करने की अनुज्ञा देना-अनुमोदन करना ।

टीका'– ननु च यद्यनन्तरोक्तं चतुर्विधं कर्म नोपचयं याति कथंतर्हि कर्मोपचयो भवतीत्येतदाशङ्क्याह-संति विद्यन्ते अमूनि त्रीणि आदीयते स्वीक्रियते अमीभिः कर्मेत्यादानानि, एतदेव दर्शयति यैरादानैः क्रियते विधीयते निष्पाद्यते पापकं कल्मषं, तानि चामूनि तद्यथा-अभिक्रम्येति आभिमुख्येन वध्यं प्राणिनं क्रान्त्वा-तद्घाताभिमुखं चित्तं विधाय यत्र स्वत एव प्राणिनं व्यापादयति तदेकं कर्मादानं अथाऽपरं च प्राणिघाताय प्रेष्यं समादिश्य यत्प्राणिव्यापादनं तद्द्वितीयं कर्मादानमिति, तथाऽपरं व्यापादयन्तं मनसाऽनुजानीत इत्येतत्तृतीयं

कर्मादानं, परिज्ञोपचितादस्यायं भेदः-तत्र केवलं मनसा चिन्तनमिहत्वपरेण व्यापाद्यमाने प्राणिन्यनुमोदन मिति ॥२६॥

टीकार्थ – पहले चतुर्विध कर्मों के उपचित न होने का जो विचार उपस्थित किया गया, उस पर प्रश्न उपस्थित करते हुए कि फिर कर्म का उपचय किस प्रकार होता है, आगमकार उक्त मतवादियों का उस पर मन्तव्य बतलाते हैं -

आदान या कारण तीन हैं । आदान की व्युत्पत्ति इस प्रकार है - जिनके द्वारा कर्म ग्रहण किये जाते हैं या स्वीकार किये जाते हैं, वे आदान कहे जाते हैं । आगमकार इसी का दिग्दर्शन कराते हुए कहते हैं- जिन आदानों-कारणों द्वारा पाप या कल्मष-नीच या अशुभ कर्म किये जाते हैं वे आदान इस प्रकार हैं-वध्य- जिसका वध करना है, उस प्राणी को मारने की इच्छा से स्वयं उसका व्यापादन करना, यह एक या प्रथम कर्मादान है । प्राणी की घात या हत्या हेतु किसी नौकर को भेजकर उसका व्यापादन कराना-वध कराना दूसरा कर्मादान है । जो किसी का व्यापादन कर रहा हो, मार रहा हो, मन से उसका अनुमोदन करना, अनुज्ञा देना- तीसरा कर्मादान है । परिज्ञोपचित कर्म से इसका अन्तर यह हैं कि परिज्ञोपचित में केवल मन से वध करने का चिन्तन होता है पर इसमें किसी अन्य द्वारा वध किये जाते हुए प्राणी के संदर्भ में उसके घात या वध का अनुमोदन किया जाता है ।

❀ ❀ ❀

एते उ तउ आयाणा जेहिं कीरइ पावगं ।
एवं भाव विसोहीए, निव्वाणमभिगच्छइ ॥२७॥

छाया – एतानि तु त्रीण्यादानानि यैः क्रियते पापकम् ।
एवं भावविशुद्धया तु निर्वाण मभिगच्छति ॥

अनुवाद – कर्मबंधन के तीन आदान-कारण हैं जिनके द्वारा पाप कर्मों का-अशुभ कर्मों का बंध होता है । जहां ये तीनों नहीं होते वहां भाव विशुद्ध-अत्यन्त शुद्ध होते हैं । कर्मों का बन्ध नहीं होता वरन् निर्वाण या मुक्ति प्राप्त होती है ।

टीका – तदेवं यत्र स्वयं कृतकारितानुमतयः प्राणिघाते क्रियमाणे विद्यन्ते क्लिष्टाध्यवसायस्य प्राणातिपातश्च तत्रैव कर्मोपचयो नाऽन्यत्रेपि दर्शयितुमाह -

तुरवधारणे, एतान्येव पूर्वोक्तानि त्रीणि व्यस्तानि समस्तानि वा आदानानि यैर्दुष्टाध्यवसायसव्यपेक्षैः पापकं कर्मोपचीयत इति । एवञ्च स्थिते यत्र कृतकारितानुमतयः प्राणिव्यपरोपणम्प्रति न विद्यन्ते तथा भावविशुद्धया अरक्तद्विष्टबुद्ध्या प्रवर्तमानस्य सत्यपि प्राणातिपाते केवलेन मनसा कायेन वा मनोऽभिसन्धिरहितेनोभयेन वा विशुद्धबुद्धेर्न कर्मोपचयः तदभावाच्च निर्वाणं सर्वद्वन्द्वोपरति स्वभावम् अभिगच्छति आभिमुख्येना प्राप्नोतीति ॥२७॥

टीकार्थ – प्राणियों के घात या वध के संदर्भ में स्वयं वैसा करना औरों द्वारा कराना तथा करते हुए का अनुमोदन करना-ये तीन विकल्प होते हैं-कारण होते हैं । इनको लेते हुए क्लिष्ट-क्लेशपूर्ण-क्रोधावेश आदि से युक्त अध्यवसाय से प्राणी का घात किया जाता है वहीं कर्म का अपचय-बंध होता है । अन्यत्र कर्म बंध नहीं होता । इसका दिग्दर्शन कराने के लिये आगमकार कहते हैं -

यहां 'तु' शब्द का प्रयोग अवधारणा के अर्थ में है । अत: इसका अभिप्राय यह है कि पहले कर्मबंध के जो तीन हेतु बताये गये, वे ही व्यस्तरूप में-अलग अलग और समस्त रूप में-एक साथ मिलकर कर्म बंध के कारण है । इनमें दुष्ट-दोषयुक्त, दुराशयपूर्ण अध्यवसाय-प्रयत्न, उपक्रम जुड़ा रहता है, तब इन कारणों द्वारा पाप कर्म का बंध होता है । जहां प्राणी की हिंसा के प्रति कृत, कारित और अनुमोदित-ये तीनों स्थितियां नहीं रहती, राग द्वेषादि से प्रेरित प्रवृत्ति नहीं होती, वहां केवल मन से या देह से अथवा आन्तरिक दु:संकल्प रहित मन और देह से हिंसा हो जाने पर भी भावों के विशुद्ध होने के कारण कर्म जीव सब प्राकर के द्वन्द्वों से-बाधाओं और झंझटों से उपरत-रहित होकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है ।

पुत्तं पिया समारब्भ, आहा रेज्ज असंजए ।
भुंजमाणो य मेहावी, कम्मुणा नोव लिप्पइ ॥२८॥

छाया – पुत्रं पिता समारभ्याहारयेदसंयत: ।
भुञ्जानश्च मेधावी कर्मणा नोपलिप्यते ॥

अनुवाद – किसी घोर विपत्ती के समय गृहस्थ पिता यदि अपना जीवन बचाने हेतु पुत्र का वध कर उसका मांस भक्षण कर ले तो भी वह-वैसा करता हुआ भी कर्मबद्ध नहीं होता, इसी प्रकार कोई मेधावी-राग द्वेष रहित साधु भी मांस भक्षण कर ले तो वह कर्मबद्ध नहीं होगा ।

टीका – भाव शुद्धया प्रवर्तमानस्य कर्मबन्धो न भवतीत्यत्राऽर्थे दृष्टान्तमाह - पुत्रमपत्यं पिता जनक: समारम्भ व्यापाद्य आहारार्थं कस्याञ्चित्तथाविधायामापदि तदुद्धरणार्थपरक्तद्विष्टोऽसंयतो गृहस्थस्तत्पिशितं भुञ्जानोऽपि, च शब्दस्याऽपि शब्दार्थत्वादिति तथा मेघाव्यपि संयतोऽपीत्यर्थ: तदेवं गृहस्थो भिक्षु वा शुद्धाशय: पिशिताश्यपि कर्मणा पापेन नोपलिप्यते नाश्लिष्यत इति । यथाचाऽत्र पितु: पुत्रं व्यापादयतस्तत्रारक्तद्विष्टमनस: कर्मबन्धो न भवति तथाऽन्यस्याऽप्यरक्तद्विष्टान्त:करणस्य प्राणिवधे सत्यपि न कर्मबन्धो भवतीति ॥२८॥

टीकार्थ – भावों की शुद्धि के साथ प्रवृत्त होता है, प्रवृत्ति या क्रिया करता है, उस व्यक्ति के कर्मों का बंध नहीं होता, इस सम्बन्ध में आगमकार अन्य दार्शनिकों का मन्तव्य प्रकट करते हैं-

जैसे कोई गृहस्थ पिता किसी भयावह विपत्ति के समय उससे बचने के लिये अपने पुत्र का हनन कर उसका मांस भक्षण कर ले तो वह राग द्वेष रहित होने के कारण कर्म बद्ध नहीं होता-उससे पाप कर्म नहीं लगते । उसी प्रकार राग द्वेष रहित साधु भी मांस खाता हुआ कर्मोपलिप्त नहीं होता। यहां 'च' शब्द का प्रयोग अपि के अर्थ में है । इसका सार यह है कि चाहे गृहस्थ हो या भिक्षु हो, जिसका आशय-भाव या अभिप्राय शुद्ध होता है, वह आमिष भोजन करता हुआ भी कर्मबद्ध नहीं होता-पाप से उपलिप्त नहीं होता। पुन: उसी बात को स्पष्ट करते हुए कहते हैं-जैसे रागात्मक और द्वेषात्मक भावना से विवर्जित पिता पुत्र का वध करने पर भी कर्मबन्ध नहीं करता उसी प्रकार जिसका अन्त:करण राग और द्वेष से रहित है, उसके द्वारा प्राणी की हिंसा हो जाय तो कर्मबन्ध नहीं होता ।

❀ ❀ ❀

मणसा जे पउस्संति, चित्तं तेसिं ण विज्जइ ।
अणवज्ज मतहं तेसिं, ण ते संवुडचारिणो ॥२९॥

छाया – मनसा ये प्रदुषन्ति चित्तं तेषां न विद्यते ।
अनवद्य मतथ्यं तेषान्नते संवृत चारिणः ॥

अनुवाद – इतरमतवादियों का ऐसा मन्तव्य है कि जो मनुष्य मन द्वारा किन्हीं प्राणियों के साथ द्वेष करते हैं उनका मन निर्मल-मल रहित, दोष रहित नहीं होता । मन से द्वेष करने पर भी पाप नहीं लगता, उनका ऐसा निरूपण-प्रतिपादन, अतथ्य-असत्य या मिथ्या है । वे संवृतचारी-संयम का अनुसरण-अनुपालन करने वाले नहीं हैं ।

टीका – साम्प्रतमेतद्दूषणायाह - ये हि कुतश्चिन्निमित्तात् मनसा अन्तःकरणेन प्रादुःष्यन्ति प्रद्वेष मुपयान्ति तेषां वधपरिणतातां शुद्धं चित्तं न विद्यते तदेवं यत्तैरभिहितं-यथा केवलमनः प्रद्वेषेऽपि अनवद्यं कर्मोपचयाभावइति तत् तेषाम् अतथ्यमसदर्थाभिधायित्वं यतो न ते संवृतचारिणो मनसोऽशुद्धत्वात्, तथाहि-कर्मोपचये कर्तव्ये मन एव प्रधानं कारणं यतस्तैरपि मनोरहित केवल काय व्यापारे कर्मोपचयाऽभावोऽभिहितः, ततश्च यत् यस्मिन् सति भवत्यसति तु न भवति तत्तस्य प्रधानं कारणमिति । ननु तस्याऽपि कायचेष्टारहितस्याकारणत्व मुक्तं, सत्यमुक्त मयुक्तन्तूक्तं यतो भवतैव "एवं भाव विशुद्धया निर्वाणमभिगच्छतीति भणता मनस एवैकस्य प्राधान्य मभ्यधापि तथाऽन्यदप्यभिहितम् ।"

"चित्तमेव हि संसारो रागादिक्लेशवासितम् । तदेव तैर्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते ? ॥"

तथाऽन्यैरप्यभिहितं "मतिविभव ! नमस्ते यत्समत्वेऽपि पुंसाम् । परिणमसि शुभांशैः कल्मषांशैस्त्वमेव। नरक नगरवर्त्मप्रस्थिताः कष्टमेके, उपचित शुभ शक्त्या सूर्य्यसंभेदिनोऽन्ये" । तदेवं भवदभ्युपदमेनैव क्लिष्टमनोव्यापारः कर्मबन्धायेत्युक्तम्भवति । तथेर्य्यापथेऽपि यद्यनुपयुक्तो याति ततोऽनुपयुक्ततैव क्लिष्टचित्ततेति कर्मबन्धो भवत्येव। अथोपयुक्तो याति ततोऽप्रमत्तत्वादबन्धक एव तथा चोक्तम् -

"उच्चालियंमि पाए इरियासमियस्स संकमट्ठाए । वावज्जेज्ज कुलिङ्गी मरेज्ज तं जोग मासज्ज ॥१॥

णेय तस्स तन्निमित्तो बन्धो सुहमोऽवि देसिओ समए । अणवज्जोउ पयोगेण सव्व भावेण सो जम्हा ॥२॥

स्वप्नान्तिकेप्यशुद्धचित्तसद्भावा दीषद् बंधो भवत्येव स च भवताऽभ्युपगतएव "अव्यक्तं तत्सावद्य" मित्यनेनेति । तदेवं मनसोऽपि क्लिष्टस्यैकस्यैव व्यापारे बन्धसद्भावात् यदुक्तं भवता "प्राणीप्राणिज्ञानं" मित्यादि तत्सर्वं प्लवत इति । यदुक्तं" पुत्र पिता समारम्भे त्यादि तदप्यनालोचिताभिधानं यतो मारयामीत्येवं यावन्न चित्तपरिणामोऽभूत्तावन्न कश्चिद् व्यापादयति, एवम्भूतचित्तपरिणतेश्च कथमसंक्लिष्टता ? चित्तसंक्लेशेचाऽवश्यंभावी कर्मबन्ध इत्युभयोः संवादोऽत्रेति । यदपि च तैः क्वचिदुच्यते, यथा "परव्यापादितपिशितभक्षणे पर हस्ताकृष्टाङ्गारदाहा-भाववन्न दोष" इति, यदपि उन्मत्तप्रलपितवदनाकर्णनीयं, यतः परव्यापादिते पिशितभक्षणोऽनुमतिरप्रतिहता तस्याश्च कर्मबन्ध इति । तथा चाऽन्यैरप्यभिहितम् "अनुमन्ता विशसिता संहर्ता क्रयविक्रयी, संस्कर्ता चोपभोक्ताच घातकश्चाऽष्टघातकाः ? यच्च कृतकारितानुमतिरुपमादानत्रयं तैरभिहितं तज्जैनेन्द्रमतलवास्वादनमेव तैरकारीति। तदेवं कर्म चतुष्टयं नोपचयं यातीत्येवं तदभिदधानाः कर्मचिन्तातो नष्टा इपि सुप्रतिष्ठितमिदमिति ॥२९॥

टीकार्थ – अब आगमकार इस सिद्धान्त को सदोष बताने के लिये प्रतिपादन करते हैं -

जो मनुष्य किसी कारण से प्राणियों के साथ अपने मन से द्वेष करते हैं, उनका आशय या परिणाम उन प्राणियों को मारने का होता है इसलिये उनका चित्त निर्दोष नहीं होता, वे जो इस प्रकार कहते हैं कि

केवल मन के द्वारा किसी के प्रति द्वेष करने से कर्म का उपचय-संग्रह या बंध नहीं होता, उनका यह कथन असत्यहै, उनका मन अशुद्ध है-उसमें धार्मिक निर्मलता, पवित्रता नहीं है, इस कारण वे संयम का अनुसरण-आचरण करने वाले नहीं है । वास्तव में कर्मों का बंध करने में सबसे मुख्य कारण मन है, इसलिये पहले जिनवादियों की चर्चा आई है, उन्होंने भी मानसिक व्यापार चिन्तन या संकल्प के बिना केवल दैहिक व्यापार द्वारा-शारीरिक क्रिया द्वारा कर्म का उपचित-बद्ध न होना बताया है । इसलिये जो जिसके होने पर होता है तथा नहीं होने पर नहीं होता, वह उसका प्रधान कारण है । जैसे मन होने पर-मन में शुभ अशुभ संकल्प आने पर कर्म का बंध होता है, वैसा न होने पर कर्मोपचय नहीं होता । अतएव कर्म बन्ध का मुख्य हेतु मन ही है इस पर एक शंका उपस्थित की जाती है-पूर्वोक्तवादी ने दैहिक चेष्टा या उपक्रम के बिना केवल मानसिक व्यापार-मानसिक चिन्तन या संकल्प को कर्मबंध का हेतु न होना कहा है फिर आप ऐसा क्यों कहते हैं कि मन ही कर्म बन्ध का मुख्य हेतु है, वे भी तो मन को ही कर्मोपचय का प्रधान कारण बतलाते हैं ।

इसका समाधान देते हुए आगमकार कहते हैं कि-यद्यपि आपने-उक्त वादी ने यह जरूर कहा है किन्तु आपका कहना युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि आपने ही तो कहा है कि चित्त की विशुद्धि से मोक्ष प्राप्त होता है, ऐसा कहते हुए आपने मन को मोक्ष का प्रधान कारण बतलाया है, तथा आपने और भी कहा है कि जो चित्त राग द्वेषादि संक्लिष्ट भावों से वासित है वही चित्त संसार है-संसार में भटकने का हेतु है । यदि वह चित्त राग आदि से पृथक् हो जाय तो उसे संसार का अन्त कहा जाता है, अर्थात् वह सांसारिक बंधनो से छूटकर मुक्ति तक पहुंच जाता है । अन्य दार्शनिकों ने भी बतलाया है-हे मतिविभव ! - मननशील मन, मैं तुम्हें नमन करता हूँ, यद्यपि सभी पुरुष समत्त्व युक्त है-समान है, किन्तु तुम किसी के शुभ अंशों में और किसी के अशुभ अंशों में परिवर्तित हो जाते हो, यही कारण है कि कोई पुरुष नरक रूपी नगर की ओर जाने वाले रास्ते पर चलता है और कोई अपनी समुचित उत्तम शक्ति-आत्म बल द्वारा सूर्य मंडल का भेदन करता है-मोक्ष प्राप्त कर लेता है । इस प्रकार आपके सिद्धान्त के अनुसार क्लिष्ट मनोव्यापार-अशुभ परिणामयुक्त मानसिक अभिप्राय कर्मबंधन का कारण है ऐसा प्रमाणित होता है । ईर्यापथ में भी यदि व्यक्ति अनुपयुक्त-उपयोग रहित होकर चलता है तो उसे कर्मों का बंध होता है क्योंकि उपयोग नहीं रखना चैतसिक क्लिष्टता है । यदि वह व्यक्ति उपयोग युक्त होकरगमन क्रिया करता है तो उसे कर्मों का बंध नहीं होता, क्योंकि वह चलने में अप्रमत्त-प्रमाद रहित है । कहा है-ईर्यासमिति से युक्त पुरुष जब पृथ्वी पर रखने हेतु अपना पैर उठाता है तो उसके पैर के नीचे आकर यदि कोई सूक्ष्म प्राणी व्यापादित हो जाय-मर जाय तो भी उस व्यक्ति को जरा सा भी पाप का उपलेप नहीं होता, ऐसा शास्त्रों में कहा है । इसका कारण यह है कि वह व्यक्ति सब प्रकार के प्राणियों के रक्षण में उपयोगयुक्त होने के कारण पाप रहित होता है ।

चित्त की शुद्धता के कारण स्वप्नान्तिक स्थिति में भी यत्किंचित कर्मबंध होता ही है, आपने भी यह स्वीकार किया है कि स्वप्नान्तिक दशा में अव्यक्त, अस्पष्ट पाप होता है यों चैतसिक क्लिष्टापूर्ण व्यापार से कर्मबंध होता है, आपने यह कहा है । प्राणी-प्राणीज्ञान इत्यादि की चर्चा की है, यह सब अयुक्तियुक्त है । आपने यह जो प्रतिपादित किया कि घोर विपत्ति के समय राग द्वेष शून्य होकर पिता यदि पुत्र का मांस भक्षण कर लेता है तो भी उसे कर्मबंध नहीं होता, आपका यह कथन भी यर्थाथत: चिन्तन रहित है क्योंकि मैं मारता हूँ, जब तक चित्त में ऐसा परिणाम नहीं होता, तब तक कोई मारने के लिये उद्यत नहीं होता । जरा विचारिये-मैं मारता हूँ, यह चैतसिक परिणाम क्या संक्लेश युक्त नहीं है ? क्या वह असंक्लिष्ट चित्तवृत्ति का द्योतक

है ? चैतसिक संक्लेश या क्लिष्टता से निश्चय ही कर्मों का बंध होता है । इस संबंध में आपके और हमारे विचारों में सहमति है । अतः पुत्र हंता पिता को निष्पाप प्रतिपादित करना अनुचित है ।

उक्तवादी द्वारा किसी अन्य स्थान पर जो यह प्रतिपादित किया गया कि किसी अन्य व्यक्ति के हाथ द्वारा ग्रहण किये गये अंगार से दूसरे का हाथ नहीं जलता, उसी प्रकार दूसरे व्यक्ति के द्वारा व्यापादित प्राणी के आमिष भोजन से पाप बंध नहीं होता-यह कथन भी एक पागल के प्रलाप या बकवास जैसा है-सुनने लायक नहीं है । वास्तविकता यह है कि किसी अन्य व्यक्ति द्वारा व्यापादित प्राणी का भी मांस खाने पर उसमें खाने वाले का अनुमोदन तो अवश्य ही होता है । अनुमोदन होने पर कर्मों का बंधना जरूरी है । अन्य दर्शनवादी भी यह निरुपित करते हैं कि जो पशु को मारने का अनुमोदन करता है, पशु के अवयवों को उछिन्न कर-काटकर पृथक् पृथक् करता है, पशु को मारने हेतु उसे, जहां मारना है उस स्थान पर ले जाता है, पशु को व्यापादन हेतु खरीदता है या बेचता है, पशु का मांस पकाता है, उस मांस को खाता है-ये आठ व्यक्ति हिंसक है जो पशु के घात से पापोपलिप्त होते हैं । पूर्वोक्त मतवादियों ने पशु की हिंसा करना, दूसरे से करवाना तथा करते हुए का अनुमोदन करना-इनमें जो पाप होने का निरूपण किया है वह वीतराग प्रभु के सिद्धान्त को अंशतः उन द्वारा आस्वादित किये जाने का-चखने का संकेत है । इसलिये चार प्रकार के कर्म उपचित नहीं होते, उनका बंध नहीं होता, ऐसा प्रतिपादित करने वाले इतर दर्शनवादी कर्म की चिंता से-कर्म प्रक्रिया के सूक्ष्म चिन्तन से वर्जित है ।

❀ ❀ ❀

इच्चेयाही य दिट्ठीहिं, सातागारवणिस्सिया ।
सरणंति मन्नमाणा सेवंती पावगं जणा ॥३०॥

छाया – इत्येताभिश्च दृष्टिभिः सातगौरवनिश्रिताः ।
शरणमिति मन्यमानाः सेवन्ते पापकं जनाः ॥

अनुवाद – ये मतवादी अपनी इन दृष्टियों या अपने द्वारा स्वीकृत सिद्धान्तों के आधार पर सुखोपभोग तथा यश, कीर्ति, गौरव आदि पाने में लिप्त रहते हैं ।

टीका – अधुनैतेषां क्रियावादिनामनर्थपरम्परां दर्शयितुमाह - इत्येताभिः पूर्वोक्ताभिश्चतुर्विधं कर्म नोपचयं यातीतिदृष्टिभिरभ्युपगमैस्ते वादिनः सातगौरवनिश्रिताः सुखशीलतायामासक्ताः यत्किञ्चनकारिणो यथालब्धभोजिनश्च संसारोद्धरणसमर्थं शरणम् इदमस्यदीयं दर्शन मिति एवं मन्यमाना विपरीतानुष्ठानतया सेवन्ते कुर्वते पापमवद्यम् एवं व्रतिनोऽपि सन्तो जना इव जनाः प्राकृतपुरुषसदृशा इत्यर्थः ॥३०॥

टीकार्थ – आगमकार इन क्रियावादियों के अनर्थमूलक दुष्फलप्रद मन्तव्यों को प्रकट करते हुए कहते हैं -

चार प्रकार के कर्म उपचित नहीं होते-बंधते नहीं । इस सिद्धान्त के आधार पर चलने वाले इतर दर्शनवादी सुख भोग तथा मान प्रतिष्ठा में आसक्त रहते हुए सब कुछ करते हैं । उचित अनुचित का ध्यान नहीं रखते। जैसा उपलब्ध हो जाता है वैसा भोजन कर लेते हैं । एषणीय अनैषणीय आदि का जरा भी ध्यान नहीं रखते। वे ऐसा मानते हैं कि उनका दर्शन-उन द्वारा स्वीकृत सिद्धान्त ही संसार सागर से उद्धार कराने वाले हैं । अपनी

ऐसी मान्यता के साथ वे विपरीत-धर्मविरुद्ध अनुष्ठान-कार्य करते हैं, यों वे पाप कर्म का सेवन करते हैं-पापबद्ध होते हैं, वे इस प्रकार व्रतधारी होते हुए भी अपने दृष्टिकोण के अनुसार तथा कथित व्रतों का पालन करते हुए भी प्राकृत-साधारण या सामान्य मनुष्यों के सदृश ही हैं ।

❀ ❀ ❀

जहा अस्साविणिं णावं, जाइअंधो दुरुहिया ।
इच्छई पारमागंतुं अंतरा य विसीयई ॥३१॥

छाया – यथा आस्ताविणीं नावं जात्यन्धोदुरुह्य ।
इच्छति पारमागन्तु मन्तरा च विषीदति ॥

अनुवाद – जन्म से ही अंधा पुरुष एक ऐसी नाव पर चढ़कर, जो छिद्रयुक्त है, जिसमें पानी चू चू कर आ रहा है, नदी को पार करना चाहता है परन्तु उस नौका द्वारा वह उसे पार नहीं कर सकता । बीच में ही पानी में डूब जाता है और मर जाता है ।

टीका – अस्यैवार्थस्योपदर्शकं दृष्टान्तमाह - आ-सामन्तात्स्रवति तच्छीला वा आस्राविणी सच्छिद्रेत्यर्थः, तां तथाभूतां नावं यथा जात्यन्धः समारुह्यः पारं तटमागन्तुं प्राप्तुमिच्छत्यसौ, तस्याश्चस्राविणीत्वेनोदकप्लुतत्वाद् अन्तराले जलमध्ये एव विषीदति वारिणि निमज्जति तत्रैव च पञ्चत्वमुपयातीति ॥३१॥

टीकार्थ – इस आशय का स्पष्टीकरण करने हेतु आगमकार दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं-जिस नौका में चारों ओर से जल चू चू कर आ रहा हो, इसे आस्राविणी नौका कहा जाता है । आस्राविणी का अर्थ सछिद्र-छिद्रो से युक्त है । ऐसी नौका पर आरूढ़ होकर एक जन्म से अंधा व्यक्ति नदी को लांघना चाहता है किन्तु नौका के छिद्रयुक्त होने के कारण नौका में चू चू कर जल आते रहने के कारण वह जल से आपूर्ण हो जाती है और वह पुरुष जल के मध्य में ही निमग्न हो जाता है-डूब जाता है और पंचत्व को प्राप्त हो जाता है-मर जाता है ।

❀ ❀ ❀

एवं तु समणा एगे, मिच्छ दिट्ठी अणारिया ।
संसारपारकंखी ते, संसार अणु परियट्टंति ॥३२॥

छाया – एवन्तु श्रमणा एके मिथ्यादृष्टयोऽनार्य्याः ।
संसार पारकांक्षिणस्ते संसार मनुपर्य्यटन्ति ॥

अनुवाद – इसी तरह कई ऐसे तथाकथित श्रमण, जिनका दृष्टिकोण असम्यक् होता है, जो अनार्य उत्तम कर्म विवर्जित होते हैं, वे अपने वैसे दृष्टिकोण और आचार के लिए संसार सागर को पार करना चाहते है किन्तु वे पार नहीं कर सकते, उसमें भटकते रहते हैं ।

टीका – साम्प्रतं दार्ष्टान्तिकयोजनार्थमाह - एवमिति यथाऽन्धः सच्छिद्रां नावं समारूढः पारगमनाय नालं तथा श्रमणा एके शाक्यादयो मिथ्या विपरीता दृष्टिर्येषान्ते मिथ्यादृष्टयस्तथा पिशिताशनानुमतेरनार्य्याः स्वदर्शनानुरागेण

संसारपापकांक्षिणो मोक्षाभिलाषुकाः अपि सन्तस्ते चतुर्विधकर्मचयानभ्युपगमेनाऽनिपुणत्वाच्छासनस्य संसारमेव चतुर्गतिसंसरणरूपमनुपर्य्यटन्ति भूयो भूयस्तत्रैव जन्मजरामरणदौर्गत्यादिक्लेशमनुभवन्तोऽनन्तमपि कालमासते न विवक्षित मोक्षसुखमाप्नुवन्ति, इति ब्रवीमीति पूर्ववदिति ॥३२॥ इति सूत्र कृताङ्गे समयाख्याध्ययनस्य द्वितीयोद्देशकः समाप्तः ।

टीकार्थ - इस दृष्टान्त को विवेचनीय तत्त्व के साथ योजित करने हेतु आगमकार कहते हैं-जिस प्रकार एक अंधा पुरुष छिद्रयुक्त नौका पर समारूढ़ होकर-चढ़कर नदी पार करना चाहता है किन्तु वह वैसा करने में असमर्थ रहता है, इसी प्रकार जिनका दृष्टिकोण सत् तत्त्व के विपरीत-असम्यक् या मिथ्या होता है जो मांसाहार का समर्थन करते हैं । ऐसे अनार्य-आर्यगुण रहित, उत्तम शील आचार आदि से वर्जित बौद्ध परम्परा के भिक्षु अपनी मान्यताओं में आसक्त रहतेहुए संसार को पार करना चाहते हैं-जन्म मरण से छूटकर मोक्ष कासुख प्राप्त करना चाहते हैं परन्तु जैसा पहले वर्णित हुआ है, उनके मन्तव्य में चार प्राकर के कर्मबन्ध को स्वीकार नहीं किया जाता, ऐसा होने के कारण-ऐसा प्रतिपादित करने के कारण वे संसार को पार करने में-आवागमन के चक्र से निकलने में सक्षम नहीं होते-वे चार गतियों से युक्त संसार में भटकते रहते हैं । वे पुनः पुनः-इस जगत में जन्म, वृद्धावस्था, मृत्यु तथा दुर्गति आदि कष्टों को भोगते हुए अनन्तकाल पर्यन्त संसार में पर्यटन करते रहते हैं । विवक्षित-अभीप्सित, मोक्ष का सुख प्राप्त नहीं कर सकते हैं । ऐसा मैं कहता हूँ यह पूर्ववत् समझना चाहिये ।

सूत्रकृताङ्ग सूत्र के समयाख्य-समय नामक प्रथम
अध्ययन का द्वितीय उद्देशक
समाप्त हुआ ।

❀ ❀ ❀

卐 卐 卐

तृतीय उद्देशकः

जं किंचि उ पूइकडं, सड्ढी मागंतु मीहियं ।
सहस्संतरियं भुंजे दुपक्खं चेव सेवइ ॥१॥

छाया – यत्किञ्चित्पूतिकृतं श्रद्धावताऽऽगन्तुकेभ्य ईहितं ।
सहस्रान्तरितं भुञ्जीत द्विपक्षञ्चैव सेवते ॥

अनुवाद – जो आहार, आधाकर्मी आहार की एक कणिका से भी युक्त है, अपवित्र है । श्रद्धालु श्रमणोपासक द्वारा श्रमणों के लिये जो बनाया गया है, उस आहार को एक सहस्र घरों का-एक हजार घरों की दूरी पर भी जो घर हो, वहां जाकर भी जो लेता है, वैसे आहार का सेवन करता है, वह श्रमण-साधु, गृहस्थ-दोनों पक्षों का सेवन करता है ।

टीका – अथ प्रथमाध्ययने तृतीयोद्देशक आरम्यते - द्वितीयोद्देशकानन्तरं तृतीयः समारभ्यते अस्य चायमभिसम्बन्धः-अध्ययनार्थाधिकारः स्वसमयपरसमयप्ररूपणेति, तत्रोद्देशकद्वयेन स्वपरसमयप्ररूपणा कृता अत्राऽपि सैव क्रियते । अथवाऽऽद्ययोरुद्देशकयोः कुदृष्टयः प्रतिपादिताः तद्दोषाश्च तदिहाऽपि तेषामाचारदोषः प्रदर्श्यत इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्य चत्वार्य्यनुयोगद्वाराणि व्यावर्ण्यास्खलित गुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं तच्चेदम्।

अस्य चानन्तरसूत्रेण सहायं सम्बन्ध-इहानन्तरोद्देशकपर्य्यन्तसूत्रेऽभिहितम् "एवं तु श्रमणा एके" इत्यादि तदिहाऽपि सम्बध्यते, एके श्रमणाःयत्किञ्चित् पूतिकृतं भुञ्जानाः संसार पर्य्यटन्तीति । परम्परसूत्रे त्वभिहितं बुञ्झिज्ज" इत्यादि, यत्किञ्चित्पूतिकृतं तद्बुध्येतेति । एवमन्यैरपि सूत्रै रूत्प्रेक्ष्यसम्बन्धो योज्यः । अधुना सूत्रार्थः प्रतन्यते यत्किञ्चिदिति आहारजातं स्तोकमपि आस्तां तावत्प्रभूतं तदपि पूतिकृतमाधाकर्मादिसिक्थेनाप्युपसृष्टम् आस्तानातावदाधाकर्म तदपि न स्वयंकृतमपितुश्रद्धावताऽन्येन भक्तिमताऽपरान् आगन्तुकानुद्दिश्य ईहितं चेष्टितं निष्पादितं तच्च सहस्रान्तरितमपि यो भुञ्जीत अध्यवहरेदसौ द्विपक्षं गृहस्थपक्षं प्रव्रजितपक्षञ्चासेवते । एतदुक्तम्भवति-एवम्भूतमपि परकृत मपरागन्तुकयत्यर्थं निष्पादितं यदाधाकर्मादि तस्य सहस्रान्तरितस्यापियोऽवयवस्तेनाप्युपसृष्ट माहारजातं भुञ्जानस्य द्विपक्षसेवन मापद्यते किं पुनः य एते शाक्यादयः स्वयमेव सकलमाहारजातं निष्पाद्य स्वयमेवचोपभुञ्जते ? ते च सुतरां द्विपक्षसेविनो भवन्तीत्यर्थः । यदि वा द्विपक्ष मिति ईर्य्यापथः साम्परायिकञ्च, अथवा पूर्वबद्धाः निकाचिताद्यवस्थाः कर्मप्रकृतीर्नयत्यपूर्वाश्चादत्ते, तथाचागमः "आहारकम्मं णं भुंजमाणे समणे कइ कम्मपगडीओ बंधइ ? गोयमा ! अट्ठकम्मपगडीओ बंधइ सिढिलबंधणबद्धाओ धणियबंधणबद्धाओ करेइ चियाओ करेइ उवचियाओ करेइ हस्सठिइयाओ दीहठिइयाओ करेइ' इत्यादि, ततश्चैवं शाक्यादयः परतीर्थिकाः स्वयूथ्या वा आधाकर्म भुञ्जानाः द्विपक्षमेवाऽऽसेवन्त इति सूत्रार्थः ॥१॥

टीकार्थ – अब प्रथम अध्ययन का तीसरा उद्देशक प्रारंभ किया जाता है ।

द्वितीय उद्देशक आख्यात किया जा चुका है । अब इसके बाद तृतीय उद्देशक शुरु किया जाता है । इसका अभिसंबंध-पूर्वा पर संबंध इस प्रकार है -

प्रथम अध्ययन का अर्थाधिकार या विवेच्य विषय स्वसमय-अपने जैनधर्म के सिद्धान्त तथा परसमय-अन्यवादियों के सिद्धान्त को प्ररूपित करना है । इसलिये प्रथम अध्ययन के दो उद्देशकों में स्वसमय तथा परसमय

का निरूपण हुआ है । इस उद्देशक में भी वैसा ही होगा अथवा पूर्ववर्ती दो उद्देशकों में कुदृष्टि-मिथ्यादृष्टिवादियों का प्रतिपादन किया गया है । उनके दोषों का दिग्दर्शन कराया गया है। अब यहां इस उद्देशक में उनके आचारगत दोष प्रदर्शित किये जा रहे हैं । इस संबंध से प्रस्तुत इस उद्देशक के चार अनुयोग द्वारों को प्रतिपादित कर अस्खलित-बोलने में स्खलना न करना, न अटकना आदि गुणों के सात सूत्र का उच्चारण करना चाहिये । वह सूत्र इस प्रकार है-उसका अभिप्राय इस प्रकार है -

इस सूत्र का अनन्तर-पिछले सूत्र के साथ संबंध यह है । पिछले उद्देशक के अन्तिम सूत्र में एवं तु समणाएगे' ऐसा कहा गया है, उस कथन का संबंध यहां भी होता है । इसलिये इसका अभिप्राय यह हुआ कि कोई श्रमण जो थोड़ा भी पूतिकृत-अपवित्र-अशुद्ध आहार का सेवन करते हैं वे संसार में पर्यटन करते हैं, भटकते हैं । परम्परित सूत्र से 'बुज्झिज्झ' इत्यादि कहा गया है-जिसका तात्पर्य है मनुष्य को बोध प्राप्त करना चाहिये । अत: जो आहार स्वल्प रूप में आधा कर्मी आदि दोषों से युक्त है । श्रमण को चाहिये कि वह इसका बोध प्राप्त करे । उसके संबंध में सही जानकारी हासिल करे। यह संबंध यहां जोड़ना चाहिये । इसी प्रकार अन्य सूत्रों के साथ भी इस सूत्र का संबंध स्वयं अवगत कर लेना चाहिये । अब उस सूत्र का तात्पर्य प्रकट किया जाता है-जिस आहार में आधा कर्म आदि दोष बहुलतया प्राप्य हो उसकी तो बात ही क्या जो आहार दोष युक्त आहार की एक कणिका से भी युक्त हो एवं किसी श्रद्धाशील गृहस्थ ने मुनियों के भिक्षार्थ आने की संभावना मानते हुए उनके निमित्त बनाया हो । स्वयं चाहे उसने नहीं पकाया हो फिर भी वैसे आहार को जो मुनि एक सहस्र घरों का अन्तर रखते हुए भी ग्रहण करता है-खाता है, वह गृहस्थ एवं साधु दोनों के पक्षों का सेवन करता है । तात्पर्य यह है कि जो आहार आगन्तुक श्रमणों के लिये श्रद्धावान गृहस्थ ने तैयार किया हो । उस आहार की एक कणिका से भी युक्त आहार कोई श्रमण एक सहस्र घरों का अन्तर देकर भी यदि खाता है तो वह साधु एवं गृहस्थ दोनों पक्षों का सेवन करता है । ऐसी स्थिति में उन बौद्ध परम्परा के भिक्षुओं तथा अन्य परम्पराओं के श्रमणों-तापसों की तो बात ही क्या ? उनके लिये तो कहा ही क्या जाय ? वे तो स्वयं सम्पूर्ण आहार तैयार करवाते हैं और उसका सेवन करते हैं । वे तो साधु और गृहस्थ दोनों के पक्षों का सर्वथा सेवन करते हैं ।

अथवा द्विपद की व्याख्या यों भी की जाती है-ईर्यापथ तथा साम्परायिक द्विपद-दो पक्ष हैं अथवा इसे यों समझा जाय, पहले कहे गये पूतिकृत-अशुद्ध या सदोष आहार का सेवन करने वाला पुरुष पहले बांधी हुई, कर्म प्रकृतियों को निकाचित आदि अवस्थाओं में परिणत करता है तथा पुन: नूतन कर्म प्रकृतियां बांधता है ।

आगम में 'आहाकम्मं' आधा कर्म इत्यादि के विषय में कहा गया है जो इस प्रकार है-हे भगवन! जो श्रमण आधा कर्म आहार का सेवन करता है वह कितनी कर्म प्रकृतियों का बंध करता है । यह प्रश्न गणधर गौतम ने प्रभु महावीर से किया । भगवान महावीर ने उत्तर दिया "गौतम ! वह श्रमण आठ कर्म प्रकृतियों का बंध करता है, वह शिथिल बन्धन में बंधे हुए कर्मों को सघन-दृढ़ बंधन में परिणत करता है, वह कर्मों का चय और उपचय करता है जो प्रकृति ह्रस्व स्थिति युक्त है उसे दीर्घ स्थितियुक्त बनाता है अर्थात् जिन कर्मों की स्थिति स्वल्प होती है उन्हें विस्तीर्ण करता है। इसके अनुसार जो सांख्य भिक्षु आदि परतीर्थि एवं स्वयूथिकजन साधु एवं गृहस्थ दोनों के पक्षों का सेवन करते हैं ।

❀ ❀ ❀

तमेव अवियाणंता, विसमंसि अकोविया ।
मच्छावेसालिया चेव उदगस्सऽभियागमे ॥२॥
उदगस्स पभावेण, सुक्कं सिग्घंतमिंति उ ।
ढंकेहि य कंकेहि य, आमिसत्थेहिं ते दुही ॥३॥

छाया – तमेवाविजानन्तो विषमे ऽकोविदाः ।
मत्स्याः वैशालिकाश्चैवोदकस्याभ्यागमे ।

उदकस्य प्रभावेण शुष्कं स्निग्धं तमेत्यतु ।
ढङ्कैश्च कङ्कैश्चामिषार्थिभिस्ते दुःखिनः ॥

अनुवाद – जो पुरुष-भिक्षु आधा कर्म आहार स्वीकार करने में क्या क्या दोष होते हैं नहीं जानते। चार गतियों के संबंध में जिन्हें कोई ज्ञान नहीं है, जो आठ प्रकार के कर्मों के स्वरूप समझने में अकोविद-अयोग्य है और आधा कर्म आहार का सेवन करते हैं वे उन वैशालिक मत से-बड़ी बड़ी मछलियों या विशाल नामक, जाति वाली मछलियों की ज्यों दुःखित होते हैं जो पानी की बाढ़ आने पर-जल तरंगों के अत्यधिक उच्छलित होने पर, जल के बहाव के कारण शुष्क आर्द्र स्थान पर पहुंच जाती हैं जहां ढंक और कंक आदि मांस भक्षी जन्तु खाने को उद्यत रहते हैं ।

टीका – इदानीमेतेषां सुखैषिणां माधाकर्मभोजिनां कटुकविपाकाविर्भावनाय श्लोकद्वयेन दृष्टान्तमाह-तमेबाधाकर्मोपभोगदोषमजानानाः विषम अष्टप्रकार कर्मबन्धो भवकोटिभिरपि दुर्मोक्षः चतुर्गतिसंसारोवा तस्मिन्नकोविदाः कथमेष कर्मबन्धो भवति कथं वा न भवति, केनोपायेन संसारार्णवस्तीर्य्यत इत्यत्रा कुशला स्तस्मिन्नेव संसारोदरे कर्मपाशावपाशिताः दुःखिनो भवन्तीति । अत्र दृष्टान्तमाह-यथा मत्स्याः पृथुरोमाणो विशालः समुद्रस्तत्र भवाः वैशालिकाः विशालाख्यविशिष्टजात्युद्भवा वा वैशालिकाः विशाला एव वा वैशालिकाः वृहच्छरीरास्ते एवम्भूताः महामत्स्या उदकस्याभ्यागमे समुद्रवेला (या मागता) यां सत्यां प्रबलमरुद्वेगोद्भूतोतुङ्गकल्लोलमालापनुन्नाः सन्त उदकस्य प्रभावेन नदीमुखमागताः पुनर्वेलाऽपगमे तस्मिन्नुदके शुष्के वेगेनैवागपते सति बृहत्वाच्छरीरस्य तस्मिन्नेव धुनीमुखे विलग्ना अवसीदंत आमिषगृध्नुभिर्ढङ्कैः कङ्कैश्च पक्षिविशेषै रन्यैश्च मांसवसार्थिभिर्मत्स्यबन्धादिभि र्जीवन्त एव विलुप्यमानाः महान्तं दुःखसमुद्घातमनुभवन्तोऽशरणाः घातं विनाशं यान्ति प्राप्नुवन्ति । तुरवधारणे, त्राणाभावाद्विनाशमेव यान्तीति श्लोकद्वयार्थः ॥२॥३॥

टीकार्थ – इस समय उन पुरुषों का शास्त्रकार दो गाथों में प्रस्तुत दृष्टान्त द्वारा निरूपण करते हैं-जो सुखैषी है-सुख चाहते हैं । आधा कर्म आहार का सेवन करते हैं और उसका कटुविपाक या कडवा फल प्राप्त करते हैं -

आधाकर्म आहार के सेवन से क्या दोष होते हैं, जो यह नहीं जानते, वे करोड़ों भवों में भी जिनसे छुटकारा पाना कठिन है, ऐसे आठ प्रकार के कर्मबन्धन को भी जानने में असमर्थ होते हैं । चार गतियों से मुक्त संसार का स्वरूप वे नहीं जानते, कर्मबन्ध किस प्रकार होता है, किस प्रकार नहीं होता तथा इस संसार रूपी समुद्र को किस प्रकार लांघा जाता है, यह जिन्हें ज्ञान नहीं है, वे कर्मों के फंदे में फंसे हुए संसार रूपी

समुद्र में भटकते हुए दुःख पाते रहते हैं । इस संबंध में आगमकार दृष्टान्त उपस्थित करते हैं-समुद्र में उत्पन्न एक पृथुरोमयुक्त-मोटे बालों से युक्त विशाल नामक विशिष्ट जाति से संबद्ध अथवा विशाल-वृहत् शरीर युक्त मछली समुद्र में तरंगे उठने पर वायु के प्रबल वेग से टकराती हुई तरंगों से ऊँचे उठती जल की लहरों से ताड़ित होकर नदी के किनारे पर चली आती है और तरंगों के वापस हट जाने पर जब वहां आया हुआ जल शीघ्र ही सूख जाता है, तब वह मछली अपने शरीर की विशालता के कारण नदी तट पर ही पड़ी रह जाती है । मांसभक्षी ढंक एवं कंक आदि जन्तुओं तथा मांस तथा वसा-चर्बी के लोभी मनुष्यों द्वारा जिन्दी ही छिन्न भिन्न कर दी जाती है-काटी जाती है । उसे कोई शरण देने वाला-रक्षक नहीं होता । वह कष्ट पाती हुई मर जाती है। यहां 'तु' शब्द एवं के अर्थ में है । इसलिये त्राण या कोई त्राणप्रद-शरण देने वाला रक्षक न होने से वह नाश को प्राप्त करती है । इन दो गाथाओं का यह अभिप्राय है ।

❀ ❀ ❀

एवं तु समणो एगे वट्टमाणसुहेसिणो ।
मच्छा वेसालिया चेव, घातमेस्संति णंतसो ॥४॥

छाया – एवन्तु श्रमणा एके वर्तमान सुखैषिणः ।
मत्स्याः वैशालिकाश्चेव घातमेष्यन्त्यनन्तशः ॥

अनुवाद – इसी प्रकार जो श्रमण-वर्तमान सुखों की इच्छा-कामना से युक्त होते हैं, वे वैशालिक मत्स्य की तरह इस संसार में अनन्त बार घात प्राप्त करते हैं--जन्मते मरते हैं ।

टीका – एवं दृष्टान्तमुपदर्श्य दार्ष्टान्तिके योजयितुमाह-यथैतेऽनन्तरोक्ताः मत्स्या स्तथा श्रमणाः श्राम्यन्तीति श्रमणा एके शाक्यपाशुपतादयः स्वयूथ्या वा किम्भूतास्त इति दर्शयति-वर्तमान मेव सुख माधाकर्मोपभोगजनित मेषितुं शीलं येषान्ते वर्तमानसुखैषिणः समुद्रवायसवत् तत्कालावाप्तसुखलवाऽऽसक्तचेतसोऽनालोचिताधाकर्मोप-भोगजनितातिकटुकदुःखौघानुभवाः, वैशालिकमत्स्या इव घातं विनाशम् एष्यन्ति अनुभविष्यन्ति अनन्तशोऽरहट्टघटीन्यायेन भूयो भूयः संसारोदन्वति निमज्जनं कुर्वाणाः न ते संसाराम्भोधेः पारगामिनो भविष्यन्तीत्यर्थः ॥४॥

टीकार्थ – पहले दो गाथाओं में जो दृष्टान्त प्रतिपादित किया गया अब आगमकार उस द्वारा-प्रतिपाद्य-निरूपणीय सार बतलाते हैं –

जिस प्रकार वैशालिक-विशालकाययुक्त मत्स्य नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार सांख्य, पाशुपत आदि भिक्षु अथवा कई स्वयूथिक श्रमण नाश को प्राप्त करते हैं । जो श्रम करता है-तपश्चरण करता है उसे श्रमण कहा जाता है । सांख्य, पाशुपत आदि तथा स्वयूथिक किस प्रकार के श्रमण हैं, आगमकार यह दिग्दर्शन कराते हैं-वर्तमान काल में जिनसे सुख मिलता है, अनुकूलता प्राप्त होती है, इस प्राकर के आधाकर्म दोषयुक्त आहार के सेवन में वे सुख मानते हैं । जैसे समुद्र का कौआ तत्काल प्राप्त होने वाले तुच्छ सुख में आसक्त रहता है, उसी प्रकार सांख्य तथा पाशुपत आदि भिक्षु तात्कालिक तुच्छ सुखों में-भोगों मेंआसक्त रहते हैं । वे कोई चिन्तन किए बिना आधाकर्मी आहार का उपभोग करते हैं, परिणामस्वरूप अत्यन्त कठोर दुःखों को वे पाते हैं । पहले कहे गये विशाल देह युक्त मत्स्य के समान वे नाश प्राप्त करते हैं । जैसे रहट्ट के घड़े, कुएं के पानी में बार बार डूबते हैं-उतराते हैं-ऊपर आते हैं । यह क्रम निरन्तर चलता रहता है--कभी बंद नहीं होता। उसी प्रकार वे संसार सागर में भटकते रहते हैं, कभी उसे पार नहीं कर पाते ।

❀ ❀ ❀

इणमन्नं तु अन्नाणं, इह मेगेसि माहियं ।
देवउत्ते अयं लोए, बंभउत्तेति आवरे ॥५॥

छाया – इदमन्यत्त्वज्ञान मिहैकेषा माख्यातम् ।
देवोप्तोऽयं लोकः ब्रह्मोप्त इत्यपरे ॥

अनुवाद – पहले जो अज्ञान चर्चित हुआ है उसके अतिरिक्त एक दूसरा अज्ञान भीहै जिसके अनुसार कुछेक वादी ऐसा कहते हैं कि यह लोक किसी देव के द्वारा कृत या रचित है, दूसरे वादी कहते हैं कि इसकी उत्पत्ति ब्रह्मा से हुई है ।

टीका – साम्प्रमपराज्ञाभिमतोप प्रदर्शनायाह-इदमिति वक्ष्यमाणं, 'तु' शब्दः पूर्वेभ्यो विशेषणार्थः । अज्ञानमिति मोह विजृम्भणम् इह अस्मिन् लोके एकेषां न सर्वेषाम् आख्यातम् अभिप्रायः, किं पुनस्तदाख्यातमिति? तदाह-देवेनोप्तो देवोप्तः, कर्षकेणेव बीजवपनं कृत्वा निष्पादितोऽयं लोक इत्यर्थः । देवै र्वा गुप्तो-रक्षितो देवगुप्तो देवपुत्रो वेत्येवमादिकमज्ञानमिति । तथा ब्रह्मणा उप्तो ब्रह्मोप्तोऽयंलोक इत्यपरे एवं व्यवस्थिताः । तथा हि तेषामयमभ्युपगमः-ब्रह्मा जगत्पितामहः स चैक एव जगदादावासीत्तेन च प्रजापतयः सृष्टाः तैश्च क्रमेणैतत्सकलं जगादिति ॥५॥

टीकार्थ – अब आगमकार अन्य अज्ञानियों का मत प्रतिपादित करने हेतु कहते हैं -

इस गाथा में जो 'इदं' शब्द का प्रयोग हुआ है । इससे आगे प्रतिपादित किये जाने वाले मतो का ज्ञापन होता है । गाथा में 'तु' शब्द का प्रयोग पूर्वोक्त मतों की अपेक्षा इसकी विशेषता प्रकट करने के हेतु है । अर्थात् पहले प्रतिपादित मतों से भिन्न यह मत जो वक्ष्ययाण है-कहा जायेगा अज्ञान या मोह से प्रसूत है । इस श्लोक में सभी का नहीं किन्तु किन्हीं का ऐसा निरूपण है । विषय की स्पष्टता के लिये वह किस प्रकार आख्यात हुआ है-यह प्रश्न उपस्थित करते हुए आगमकार कहते हैं वे अन्य मतवादी-प्रस्तुत सिद्धान्त में विश्वास करने वाले मानते हैं कि जैसे कृषक बीज बोता है तथा उससे वह धान्य आदि पैदा करता है, उसी तरह किसी देव ने इस लोक को निष्पन्न-उत्पन्न किया है अथवा कतिपय देवों द्वारा यह लोक गुप्त-रक्षित है-देव इसकी रक्षा करते हैं । गाथा के तृतीय चरण में देव के साथ आये 'उत्' शब्द का प्राकृत व्याकरण के नियमानुसार पुत्र अर्थ भी होता है । इसका अर्थ यह है कि यह लोक देव का पुत्र है । पुत्र जैसे पिता से उत्पन्न होता है वैसे ही यह देव से उत्पन्न है । इस प्रकार अज्ञानवादियों का ऐसा अभिमत है । दूसरे कहते हैं कि यह लोक ब्रह्मा से उक्त-निष्पादित या उत्पादित है । उनका यह मन्तव्य है कि ब्रह्मा संसार के पितामह है । उनके अनुसार वे जगत के आदि-प्रारंभ में एक ही थे उन्होंने प्रजापतियों की सृष्टि की तथा प्रजापतियों ने क्रमशः समस्त जगत को रचा-बनाया ।

❀ ❀ ❀

ईसरेण कडे लोए, पहाणाइ तहावरे ।
जीवाजीवसमाउत्ते, सुहदुक्खसमन्निए ॥६॥

छाया – ईश्वरेण कृतो लोकः प्रधानादिना तथाऽपरे ।
जीवाजीवसमायुक्तः सुखदुःखसमन्वितः ॥

अनुवाद – दूसरे सिद्धान्तवादी ऐसा कहते हैं कि यह लोक ईश्वर द्वारा कृत-रचित है। सांख्य दर्शनवादी कहते हैं कि यह लोक प्रधान या प्रकृति आदि द्वारानिर्मित है। यह जीव, अजीव, सुख एवं दुःख से समायुक्त है।

टीका – तथेश्वरेण कृतोऽयं लोक एवमेक ईश्वरकारणिका अभिदधति, प्रमाणयन्ति च ते-सर्वमिदं विमत्यधिकरणभावापन्नं तनुभुवनकरणादिकं धार्मित्वेनोपादीयते, बुद्धिमत्कारणपूर्वक मितिसाध्यो धर्मः, संस्थानविशेषत्वादिति हेतुः। यथा घटादिरिति दृष्टान्तोऽयं यद्यत्संस्थान विशेषवत्तत्तद् बुद्धिमत्कारणपूर्वकं दृष्टं यथा देवकुलकूपादीनि। संस्थान विशेषवच्च मकराकरनदीधराधरधराशरीरकरणादिकं विवादगोचरापन्नमिति, तस्माद् बुद्धिमत्कारणपूर्वकं, यश्च समस्तस्यास्य जगतः कर्ता स सामान्यपुरुषो न भवतीत्यसावीश्वर इति। तथा सर्वमिदं तनुभुवनकरणादिकं धर्मित्वेनोपादीयते, बुद्धिमत्कारणपूर्वकमिति साध्यो धर्मः कार्य्यत्वाद् घटादिवत्। तथा स्थित्वा प्रवृत्तेर्वास्यादिवदिति। तथाऽपरे प्रतिपन्ना यथा-प्रधानादिकृतो लोकः, सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः सा च पुरुषार्थ प्रति प्रवर्तते। आदिग्रहणाच्च "प्रकृतेमहान् ततोऽहङ्कारस्तस्माच्च गणः षोडशक स्तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्चभूतानी" त्यादिकया प्रक्रियया सृष्टिर्भवतीति। यदि वा आदि ग्रहणात्स्वभावादिकं गृह्यते, ततस्वायमर्थः स्वभावेन कृतो लोकः कण्टकादि तैक्ष्ण्यवत्। तथाऽन्ये नियतिकृतो लोको मयूराङ्गरुहवदित्यादिभिः कारणैः कृतोऽयं लोको' जीवाजीवसमायुक्तो जीवैरुपयोगलक्षणैस्तथाऽजीवैःधर्माधर्माकाशपुद्गलादिकैः समन्वितः समुद्रधराधरादिक इति। पुनरपि लोकं विशेषयितुमाहसुखमानन्दरूपं दुःखमसातोदयरूपमिति ताभ्यां समन्वितो युक्त इति ॥६॥

टीकार्थ – ईश्वर को जगत का कारण मानने वाले मतवादी ऐसा कहते हैं कि यह लोक ईश्वर द्वारा रचित है, वे अपनी बात को सप्रमाण सिद्ध करने के लिये प्रतिपादित करते हैं कि तनु-देह भुवन तथा इंद्रिय आदि के संबंध में भिन्न भिन्न सिद्धान्तवादियों के भिन्न भिन्न अभिमत हैं। अतः वे सब विवादास्पद हैं। ये विवादपूर्ण विषय-पदार्थ जो पक्ष है, किसी बुद्धिमत्ता युक्त कारणपूर्वक या किसी बुद्धिमान कर्त्ता के द्वारा रचित है, यह साध्य है, क्योंकि उसके अपने संस्थानविशेष हैं-विशिष्ट प्रकार के अवयव या अंग हैं, यह हेतु है, जिस जिस वस्तु की संस्थान रचना या आंगिक निर्माण विशेष प्रकार का होता है, वह वस्तु किसी बुद्धिमान कर्ता द्वारा निष्पादित या रचित होती है जैसे देवकुल-देवस्थान, कूप-कुंआ आदि विशेष प्रकार के संस्थान लिये हुए हैं। इसलिये वे किसी बुद्धिमान कर्ता द्वारा ही रचित हैं। इसी तरह विवाद गोचर-विवादपूर्ण या चर्चास्पद विषय समुद्र, नदी, पहाड़, पृथ्वी और देह आदि भी विशेष संस्थान या अवयव युक्त है। ऐसा होने से वे किसी बुद्धिमान स्रष्टा द्वारा सृष्ट-कृत या निष्पादित है। जो इस समस्त जगत का स्रष्टा है, वह सामान्य पुरुष नहीं हो सकता। ईश्वर ही हो सकता है। शरीर, भुवन, इन्द्रिय आदि बुद्धिमान कर्ता द्वारा निष्पादित है क्योंकि घट आदि की तरह वे कार्य है देह और इंद्रियां-उसके अंगोपांग किसी बुद्धिमान कर्ता के द्वारा रचित हैं क्योंकि वे वसूले आदि के समान अपने अपने कार्यों में प्रवृत्तिशील होते हैं।

दूसरे मतवादी-सांख्य सिद्धान्तवादी प्रतिपादित करते हैं कि यह लोक प्रधान-प्रकृति आदि के द्वारा रचा गया है। सत्व, रज एवं तम-इन तीनों गुणों की साम्यावस्था-समान अवस्थिति प्रकृति कही जाती है। वह पुरुष-आत्मा के अर्थ या प्रयोजन-भोग और मोक्ष के लिये क्रिया में प्रवृत्त होती है। यहां प्रधान के साथ जो आदि शब्द का प्रयोग हुआ है उसका यह आशय है कि प्रकृति से महान या बुद्धि तत्त्व पैदा होता है। बुद्धि तत्त्व से अहंकार, अभिमान या अहं का अनुभव उत्पन्न होता है। अहंकार से सोलह तत्त्व पैदा होते हैं। उन

सोलह में से पांच से-पंचतन्मात्राओं से पांच महाभूत पैदा होते हैं । इस प्रक्रिया द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति होती है । अथवा यहां 'आदि' शब्द के प्रयोग से स्वभाव आदि को लिया जाता है । तदनुसार इसका अभिप्राय यह होता है कि कंटक-कांटे में तैक्ष्ण्य-तीक्ष्णता या तीखापन स्वभावजनित है । उसी तरह समस्त जगत स्वभाव से उत्पन्न है किसी कर्त्ता द्वारा रचित नहीं है । दूसरे मतवादी ऐसा कहते हैं कि जैसे मोर के अंग रूह-रोम पंख आदि चित्र-विचित्र रूप में नियति द्वारा निर्मित है । उसी प्रकार यह समग्र लोक नियति से ही उत्पन्न हुआ है । इस प्रकार पहले बतलाये गये ईश्वर आदि कारणों से निष्पन्न यह लोक उपयोग-ज्ञान या चेतनायुक्त जीवों और धर्म अधर्म, आकाश पुद्गल आदि अजीवों एवं समुद्र, पर्वत आदि से समन्वित-समायुक्त या परिपूर्ण है। फिर भी लोक का वैशिष्ट्य बताने के लिये आगमकार कहते हैं कि आनन्दात्मक सुख तथा असाता प्रतिकूल वेदनीय के उदय से प्राप्त दुःख इन दोनों से यह लोक परिव्याप्त है ।

❀ ❀ ❀

सयंभुणा कडे लोए इति वुत्तं महेसिणा ।
मारेण संथुया माया, तेण लोए असासए ॥७॥

छाया – स्वयम्भुवा कृतो लोक इत्युक्तं महर्षिणा ।
मारेण संस्तुता माया तेन लोकोऽशाश्वतः ॥

अनुवाद – कुछ मतवादी ऐसा कहते हैं कि स्वयंभू-विष्णु द्वारा यह लोक कृत या रचित है। ऐसा हमारे महर्षि-महान ऋषि ने कहा है, यमराज ने माया की रचना की । इस प्रकार यह लोक अनित्य है ।

टीका – किञ्च-'सयंभुणा' इत्यादि, स्वयम्भवतीति स्वयम्भूः विष्णुरन्यो वा । सचैक एवादावभूत्, तत्रैकाकी रमते, द्वितीयमिष्टवान्, तच्चिन्तानन्तरमेव द्वितीया शक्तिः समुत्पन्ना तदन्तरमेव जगत्सृष्टिरभूदिति एवं महर्षिणा उक्तम् अभिहितम् । एवं वादिनो लोकस्य कर्तारमभ्युपगतवन्तः । अपि च तेन स्वयम्भुवा लोकं निष्पाद्यातिभारभयाद्यमाख्यो मारयतीति मारो व्यधायि, तेन मारेण संस्तुता कृता प्रसाधिता माया, तथा च मायया लोकाः म्रियन्ते । न च परमार्थतो जीवस्योपयोगलक्षणस्य व्यापत्तिरस्ति अतो मायैषा यथाऽयं मृतः । तथाचाऽयं लोकोऽशाश्वतः अनित्यो विनाशीति गम्यते ॥७॥

टीकार्थ – जो स्वयं होता है-किसी दूसरे द्वारा उत्पन्न नहीं किया जाता अर्थात् जिसका अस्तित्त्व स्वयं निष्पन्न है वह स्वयंभू कहा जाता है, वह विष्णु है अथवा अन्य कोई । आदि में-शुरु में वे एक ही थे, रमणशील थे, उन्होंने दूसरे की अभिप्सा की, उनके चिन्तन के अनन्तर एक अन्य शक्ति उत्पन्न हुई उसके बाद इस सारे जगत की सृष्टि हुई । हमारे महर्षि ने ऐसा अभिहित किया है, इस प्रकार लोक की निष्पत्ति मानने वाले मतवादी लोक का सृष्टा स्वीकार करते हैं । फिर वे यों प्रतिपादित करते हैं कि स्वयंभू ने लोक को निष्पन्न किया तो सही किन्तु अत्यन्त भार के डर से-लोक उत्तरोत्तर बढ़ता ही ना जाय इस भय से जगत को मारने वाले मार-यमराज को उत्पन्न किया । यमराज ने माया की रचना की । उस माया से ही लोग मरते हैं । उपयोग लक्षणात्मक जीव का परमार्थतः-वास्तव में कभी व्यापत्ति-विनाश नहीं होता । इसलिये अमुक व्यक्ति मर गया यह केवल माया है । वास्तव में सत्य नहीं है । इस प्रकार यह लोक अशाश्वत, अनित्य और विनाशशील है, ऐसा प्रतीत होता है ।

❀ ❀ ❀

माहणा समणा एगे आह अंडकडे जगे ।
असो तत्त मकासी य, अयाणंता मुसं वदे ॥८॥

छाया – ब्राह्मणाः श्रमणा एके आहुरण्डकृतं जगत् ।
असौ तत्त्व मकार्षीच्चा जानन्तो मृषा वदन्ति ॥

अनुवाद – कपितय ब्राह्मण परम्परान्तर्वर्ति तथा श्रमण परम्परान्तवर्ति वादी ऐसा कहते हैं कि यह जगत अंडे से निर्मित हुआ है । ब्रह्मा ने तत्त्व समूह का सर्जन किया, उसी का परिणाम यह जगत है । ऐसा कहने वाले वास्तव में अज्ञानी हैं । वे तथ्य या सत्य तथ्य को नहीं जानते और वे मिथ्या-असत्य ही कहते हैं ।

टीका – अपि च ब्राह्मणा धिग्जातयः श्रमणाः त्रिदण्डिप्रभृतय एके केचन पौराणिकाः न सर्वे, एवम्, आहु रुक्तवन्तो, वदन्ति च यथा-जगदेतच्चराचर मंडेन कृत मण्डकृत मण्डाज्जात मित्यर्थः । तथाहि ते वदन्ति-यदा न किञ्चिदपि वस्त्वासीत् पदार्थ शून्योऽयं संसार स्तदा ब्रह्माऽप्सुअण्ड मसृजत् तस्माच्च क्रमेण वृद्धात् पश्चाद् द्विधाभावमुपगतादूर्ध्वाधो विभागोऽभूत् । तन्मध्ये च सर्वाः प्रकृतयोऽभूवन्, एवं पृथिव्यप्तेजो वाय्वाकाशसमुद्रसरित्पर्वतमकराकरसंनिवेशादिसंस्थितिरभूदिति । तथा चोक्तम्-

"आसीदिदं तमोभूतयप्रज्ञातमलक्षणम्। अप्रतर्क्य मविज्ञेयं, प्रसुप्तमिव सर्वतः" ?

एवम्भूते चाऽस्मिन् जगति असौ ब्रह्मा, तस्य भाव स्तत्त्वं पदार्थजातं तदण्डादिक्रमेण अकार्षीत् कृतवान् इति । ते च ब्राह्मणादयः परमार्थमजानानाः सन्तो मृषा वदन्त एवं वदन्ति। अन्यथा च स्थितं तत्त्वमन्यथा वदन्तीत्यर्थः ॥८॥

टीकार्थ – ब्राह्मण का अर्थ धिग जातीय अर्थात् जो जाति या जन्म की दृष्टि से स्वयं को सर्वोच्च मानते औरों को हीन मानते हैं, वे विप्र, श्रमण-श्रमण परम्परा के अन्तरवर्ती त्रिदण्डी आदि तापस, जिनमें से सब नहीं तथा पौराणिक-पुराणों में विश्वास रखने वाले कहते हैं कि यह चल, अचल जङ्गम स्थावर जगत अंडे से उत्पन्न हुआ हैं । वे आगे कहते हैं कि जब कोई वस्तु विद्यमान नहीं थी, यह संसार पदार्थ शून्य था तब ब्रह्मा ने जल में अंडा छोड़ा, वह अंडा क्रमशः बढता गया, फिर वह दो खण्डों में विभक्त हो गया । उसके परिणाम स्वरूप उर्ध्व-ऊपर का लोक तथा अधः-नीचे का लोक ये दो विभाग उत्पन्न हुए, उनमें सभी प्रकार की प्रजा-प्राणी उत्पन्न हुए । इस प्रकार पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, समुद्र, नदी एवं पर्वत आदि की निष्पत्ति हुई । वे ऐसा भी कहते हैं कि जगत की रचना से पहले यह संसार तमो भूत-अंधकारमय तथा अप्रग्यात-ज्ञान शून्य तथा अलक्षण-लक्षण रहित था । उस समय यह संसार अप्रतर्क्य-अतर्कणीय-तर्क द्वारा अविचारणीय अज्ञेय-ज्ञान का अविषय, न जानने योग्य तथा सब ओर से प्रसुप्त-सोया हुआ सा था । जब जगत ऐसी स्थिति में था तब ब्रह्मा ने अंडे की उत्पत्ति की और उसके प्रयोग क्रम से इस जगत का निर्माण किया । परमार्थ-वास्तविक तथ्य को नहीं जानने वाले ब्राह्मण आदि परम्पराओं के सिद्धान्तवादी इस जगत को ब्रह्मा द्वारा कृत या रचित मानते हैं । जो सत्य से परे हैं, वास्तविकता तो ओर है किन्तु वे उससे भिन्न रूप में प्रतिपादित करते हैं। इस गाथा का ऐसा अभिप्राय है ।



सएहिं परियाएहिं, लोयं बूया कडेति य ।
तत्तं ते ण विजाणंति ण विणासी कयाइवि ॥९॥

छाया – स्वकैः पर्यायैर्लोक मब्रुवन् कृतमिति च ।
तत्त्वन्ते न विजानन्ति न विनाशी कदाचिदपि ॥

अनुवाद – पहले जिनका वर्णन आया है वे देवकृत सृष्टिवाद आदि में विश्वास करने वाले अन्य तीर्थि अपनी इच्छानुरूप-जैसा मन में आता है, जगत को किसी द्वारा रचित बतलाते हैं। वे तत्त्व- वास्तविकता को नहीं जानते हैं । यह जगत कभी भी विनाश को प्राप्त नहीं होता-कभी भी सर्वथा मिटता नहीं ।

टीका – अधुनैतेषां देवोप्तादिजगद्वादिनामुत्तरदानायाऽऽह - स्वकैः स्वीकयैः पर्य्यायै रभिप्रायै र्युक्तिविशेषै रयंलोकः कृत इत्येव मब्रुवन् अभिहितवन्तः । तद्यथा देवोप्तो ब्रह्मोप्त ईश्वरकृतः प्रधानादिनिष्पादितः स्वयम्भुवा व्यधायि तन्निष्पादितमायया म्रियते तथाण्डजञ्चायं लोक इत्यादि । स्वकीयाभिरूपपत्तिभिः प्रतिपादयन्ति यथाऽस्मदुक्तमेव सत्यं नान्यदिति । ते चैवंवादिनो वादिनः सर्वेऽपि तत्त्वं परमार्थं यथावस्थितलोकस्व भावं नाभि (नवि) जानन्ति न सम्यग् विवेचयन्ति, यथाऽयं लोको द्रव्यार्थतया न विनाशीति-निर्मूलतः कदाचन । नचायमादित आरम्भ केनचित् क्रियतेऽपित्वयं लोकोऽभूद्भवति भविष्यति च । तथाहि-तत्तावदुक्तं यथा 'देवोप्तोऽयं लोक' इति तदसंगतम् । यतो देवोप्तत्वे लोकस्य न किञ्चित्तथाविधं प्रमाण मस्ति, नचाप्रमाणक मुच्यमानं विद्वज्जमननांसि प्रीणयति । अपि च - किमसौ देव उत्पन्नोऽनुत्पन्नो वा लोकं सृजेत ? न तावदनुत्पन्नस्तस्य खरविषाणस्येवासत्त्वात्क-रणाभावः । अथोत्पन्नः सृजेत् तत्किं स्वतोऽन्यतो वा ? यदि स्वतएवोत्पन्न स्तथासति तल्लोकस्यापिस्वतएवोत्पत्तिः किं नेष्यते ? अथान्यतउत्पन्नः सन्लोककरणाय, सोऽप्यन्योऽन्यतः सोऽप्यन्योऽन्यतइत्येवमनवस्था लता नभोमण्डल व्यापिन्यनिवारितप्रसरा प्रसर्पतीति । अथाऽसौ देवोऽनादित्वान्नोत्पन्न इत्युच्यते, इत्येवंसति लोकोऽप्यनादिरस्तु, को दोषः ? किञ्च असावनादिः सन्नित्योऽनित्यो वा स्यात ? यदि नित्यस्तदातस्य क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधान्नकर्तृत्वम्, अथाऽनित्यस्तथासति स्वतएवोत्पत्यनन्तरं विनाशित्वादात्मनोऽपि न त्राणाय, कुतोऽन्यत्करणम्प्रति तस्य व्यापारचिन्तेति ? तथा किममूर्तो मूर्त्तिमान्वा ? यद्यमूर्त्तस्तदाऽऽकाशवदकर्तैव। अथ मूर्त्तिमान्, तथासति प्राकृत पुरुषस्येवोपकरणसव्यपेक्षस्य स्पष्टमेव सर्वजगदकर्तृव्य मिति । देवगुप्त देवपुत्रपक्षौ त्वतिफल्गुत्वादपकर्णयितव्याविति एतदेव दूषणं ब्रह्मोप्तपक्षेऽपि दृष्टव्यं तुल्ययोगक्षेमत्वादिति तथा यदुक्तं- 'तनुभुवनकरणादिकं विमत्यधिकरणभावापन्नं विशिष्ट बुद्धि मत्कारणपूर्वकं कार्य्यत्वाद् घटादिवदिति, तदयुक्तं तथा विध विशिष्ट कारण पूर्वकत्वेन व्याप्त्यसिद्धेः, कारणपूर्वकत्वमात्रेण तु कार्य्यं व्याप्तं कार्य्य विशेषोपलब्धौ कारणविशेष प्रतिपत्तिर्गृहीतप्रतिबन्धस्यैव भवति, नचात्यन्तादृष्टे तथा प्रतीतिर्भवति । घटे तत्पूर्वकत्वं प्रतिपन्नमिति चेद् युक्तं तत्र घटस्य कार्यविशेषत्व प्रतिपत्तेः, नत्वेवं सरित्समुद्रपर्वतादौ बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वेन सम्बन्धो गृहीत इति । नन्वतएव घटादिसंस्थानविशेषदर्शनवत् पर्वतादावपि विशिष्टसंस्थानदर्शनाद् बुद्धिमत्कारण पूर्वकत्वस्य साधनं क्रियते, नैतदेवं युक्तं, यतो नहि संस्थानशब्द प्रवृत्तिमात्रेण सर्वस्य बुद्धिमत्कारणपूर्वक त्वावगतिर्भवति, यदि तु स्याद् मृद्विकारत्वाद् वल्मीकस्याऽपि घटवत् कुम्भकार कृतिः स्यात्, तथा चोक्तम्-

"अन्यथा कुम्भकारेण मृद्विकारस्य कस्यचित् । घटादेः करणा त्सिद्धचेद् वल्मीकस्याऽपि तत्कृतिः । ?

इति, तदेवं यस्यैव संस्थान विशेषस्य बुद्धिमत्कारण पूर्वकत्वेन सम्बन्धो गृहीतस्तद्दर्शनमेव तथाविधकारणानुमापकम्भवति न संस्थानमात्रमिति। अपिचघटादिसंस्थानां कुम्भकार एवं विशिष्टः कर्तोपलक्ष्यते

नेश्वरः यदि पुनरीश्वरः स्यात किं कुम्भकारेणेति? नैतदस्ति, तत्राऽपीश्वर एव सर्वव्यापितया निमित्तकारणत्वेन व्याप्रियते, नन्वेवं दृष्टहानि रदृष्टकल्पना स्यात् । तथा चोक्तम्-

शस्त्रौषधादिसम्बन्धाच्चैत्रस्य व्रणरोहणे । असम्बद्धस्य किं स्थाणोः' कारणत्वं न कल्प्यते ? ।१।

तदेवं दृष्टकारणपरित्यागेनादृष्टपरिकल्पना न न्याय्येति । अपिच-देवकुलावटादीनां यः कर्ता स सावयवोऽव्याप्यनित्यो दृष्टः तद् दृष्टान्तसाधितश्चेश्वर एवम्भूत एव प्राप्नोति, अन्यथाभूतस्य च दृष्टान्ताभावाद् व्याप्त्यसिद्धेर्नानुमानमिति । अनयैव दिशा स्थित्वा प्रकृत्त्यादिकमपि साधन मसाधन मायोज्यं तुल्य योगक्षेमत्वादिति। यदपिचोक्तं 'प्रधानादिकृतोऽयंलोक" इति तदप्यसङ्गतं, यतस्तत्प्रधानं किं मूर्त्तममूर्तंवा ? यद्यमूर्त्तं नततो मकराकरादेर्मूर्तस्योद्भवो घटते, न ह्याकाशादिकञ्चिदुत्पद्यमान मालक्ष्यते, मूर्तामूर्तयोः कार्य्यकारणविरोधादिति । अथ मूर्त्तं तत्कुतः समुत्पन्न ? न तावत्स्वतो, लोकस्याऽपि तथोत्पत्तिप्रसङ्गात् । नाप्यन्यतोऽनवस्थापत्तेरिति । यथाऽनुत्पन्नेमेवप्रधानाद्यनादिभावेनाऽऽस्ते तद्वल्लोकोऽपि किं नेष्यते ? अपिच- सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रधानमित्युच्यते, नचाविकृतात्प्रधान्महदादे रुत्पत्तिरिष्यते भवद्भिः, नच विकृतं प्रधान व्यपदेश मास्कन्दतीत्यतो न प्रधानान्महदादेरुत्पत्तिरिति । अपिच अचेतनायाः प्रकृतैः कथं पुरुषार्थं प्रति प्रवृत्तिः ? येनाऽत्यनो भोगोपपत्त्या सृष्टिः स्यादिति, प्रकृतेरयं स्वभाव इति चेदेवं तर्हि स्वभाव एव वलीयान् यस्तामपि प्रकृतिं नियमयति, तत एव च लोकोऽप्यस्तु किमदृष्टप्रधानादिकल्पनयेति ? । अथादिग्रहणात् स्वभावस्याऽपि कारणत्वं कैश्चिदिष्यत इति चेदस्तु, न हि स्वभावोऽभ्युपगम्यमानौ नः क्षति मातनोति । तथाहि-स्वोभावः स्वभावः स्वकीयोत्पत्तिः सा च पदार्थाना मिष्यत एवेति । तथा यदुक्तं "नियतिकृतोऽयंलोक" इति तत्राऽपि नियमनं नियति र्यद्यथा भवनं नियतिरित्युच्यते, सा चालोच्यमाना न स्वभावादतिरिच्यते । यच्चाऽभ्यधायि-स्वयम्भुवोत्पादितो लोक' इति तदप्यसुन्दरमेव, यतः स्वयम्भूरिति किमुक्तम्भवति ? किं यदाऽसौभवति तदा स्वतन्त्रोऽन्यनिरपेक्ष एव भवति, अथानादिभवनात्स्वयम्भूरिति व्यपदिश्यते ? तद्यदि स्वतन्त्रभवनाऽभ्युपगमस्तद्वल्लोकस्यापि भवनं किं नाऽभ्युपेयते ? किं स्वयम्भुवा ? अथाऽनादि स्ततस्तस्याऽनादित्वे नित्यत्वं नित्यस्यचैकरूपत्वात्कर्तृत्वाऽनुपपत्तिः, तथा वीतरागत्वात्तस्य संसार वैचित्र्यानुपपत्तिः, अथ सरागोऽसौ ततोऽस्मदाद्यव्यतिरेकात्सुतरां विश्वस्याकर्ता। मूर्तामूर्तादिविकल्पाश्च प्राग्वदायोज्या इति । यदपि चात्राऽभिहितम्-'तेन मारः समुत्पादितः, स च लोकं व्यापादयति' तदप्यकर्तृत्वस्यभिहितत्वात्प्रलापमात्र मिति । तथा यदुक्तम् "अण्डादिक्रमजोऽयं लोक" इति तदप्यसमीचीनं, यतो यास्वप्सु तदण्डं निसृष्टं ताः यथाऽण्डमन्तरेणाभूवन् तथा लोकोऽपि भूत इत्यभ्युपगमे न काचिद् बाधा दृश्यते तथाऽसौ ब्रह्मा यावदण्डं सृजति तावल्लोकमेव कस्मान्नोत्पादयति ? किमनया कष्टया युक्त्यसङ्गतया चाण्डपरिकल्पनया ? एवमस्त्विति चेत् तथा केचिदभिहितवन्तो यथा ब्रह्मणो मुखाद् ब्राह्मणाः समजायन्त बाहुभ्यां क्षत्रिया उरुभ्यां वैश्याः पद्भ्यां शूद्रा इति, तदप्ययुक्तिसङ्गतमेव, यतो न मुखा दे: कस्यचिदुत्पत्तिर्भवन्त्युपलक्ष्यते। अथाऽपि स्यात्तथासति वर्णानामभेदः स्याद्, एकस्मादुत्पत्तेः । तथा ब्राह्मणानां कठतैत्तिरीयककलापादिकश्च भेदो न स्याद्, एकस्मान्मुखादुत्पत्तेः । एवञ्चोपनयनादिसद्भावो न भवेद् भावे वा स्वस्रादिग्रहणापत्तिः स्याद् एवमाद्यनेकदोष दुष्टत्वादेवं लोकोत्पत्ति र्नाभ्युपगन्तव्या । ततश्च स्थितमेतत्-त एवं वादिनो लोकस्यानाद्यपर्य्यवसित स्योर्ध्वाधश्चतुर्दशरज्जुप्रमाणस्य, वैशाखस्थानस्थकटिन्यस्तकरयुग्मपुरुषाकृतेरधोमुखमल्लकाकारसप्तपृथि व्यात्मकाधोलोकस्य, स्थालाकारासंख्येयद्वीप समुद्राधारमध्यलोकस्य, मल्लकसमुद्रकाकारोर्ध्वलोकस्य, धर्माधर्माकाशपुद्गलजीवात्मकस्य, द्रव्यार्थतया नित्यस्य, पर्य्यायापेक्षया क्षणक्षयिणः, उत्पाद्व्ययध्रौव्यापादितद्रव्यसतत्त्व-स्यानादिजीवकर्मसम्बन्धापादितानेकभवप्रपञ्चस्याष्टविधकर्मविप्रमुक्ताऽऽत्म लोकान्तोपलक्षितस्य तत्त्वमजानानाः मृषा वदन्तीति ।।९।।

टीकार्थ – इस संसार को देव आदि द्वारा रचित बताने वाले वादियों के सिद्धान्तों के निराकरण हेतु आगमकार कहते हैं –

पहले चर्चित अन्य दर्शनों में विश्वास करने वाले वादी अपनी अच्छा से-मनचाही युक्तियों द्वारा इस जगत को रचा हुआ बतलाते हैं । उनमें से कई इसे देवोप्त-देवकृत, कई ब्रह्मोप्त-ब्रह्मा द्वारा रचित, तथा कई ईश्वरकृत-ईश्वर रचित बतलाते हैं । कई इसे प्रकृति आदि द्वारा निष्पादित और कई स्वयंभू द्वारा निर्मित कहते हैं । जो इसे स्वयंभू द्वारा रचित मानते हैं वे कहते हैं कि यह उसी स्वयंभू द्वारा निष्पादित माया से मरण प्राप्त करता है, नष्ट होता है । कई इसको अण्डे से पैदा होना बतलाते हैं। वे वादी अपनी-अपनी उपेपत्तियो-युक्तियों एवं तर्कों के सहारे कहते हैं कि हमने जो कहा है वही सत्य है, औरों का कहा सत्य नहीं है । वास्तव में यह पूर्व वर्णित सिद्धान्तवादी सत्य तथ्य को नहीं जानते। उन्हें यह ज्ञात नहीं है कि इस लोक का क्या स्वभाव है । इसकी वे भली भांति विवेचना नहीं कर पाते ।

वस्तुः स्थिति यह है कि यह लोक कभी भी एकान्तरूपेण सर्वथा नाश प्राप्त नहीं करता-नहीं मिटता क्योंकि द्रव्य रूप से वह सदा विद्यमान रहता है, न ऐसा ही है कि आदि में-शुरु शुरु में या पहले पहल किसी ने इसकी रचना की हो क्योंकि यह लोक पहले भी विद्यमान था, वर्तमान में भी विद्यमान है और भविष्य में भी विद्यमान रहेगा ।

देवोप्तवादी-देव द्वारा लोक की सृष्टि होना मानने वाले इस लोक को देवकृत कहते हैं । यह बिल्कुल अयुक्तियुक्त है क्योंकि इस लोक का किसी देव ने सर्जन किया हो । इस संबंध में कोई भी प्रबल समर्थ प्रमाण प्राप्त नहीं होता । जिस बात का कोई प्रमाण नहीं होता उससे विद्वानों-ज्ञानियों के मन को संतोष नहीं होता। वे उसे स्वीकार नहीं करते । दूसरी शंका यह खडी होती है कि जिस देव ने इस लोक की रचना की वह देव स्वयं उत्पन्न होकर इस लोक का सर्जन करता है अथवा अनुत्पन्न-उत्पन्न हुए बिना ही उसे बनाता है। यहां यह समझने की बात है कि वह उत्पन्न हुए बिना इस संसार की रचना नहीं कर सकता क्योंकि जो उत्पन्न ही नहीं है-विद्यमान ही नहीं है उसका खरविषाण-गधे के सींग की ज्यों कोई अस्तित्त्व ही नहीं होता । जब स्वयं का ही कोई अस्तित्त्व नहीं है तो औरों की क्या सृष्टि करेगा । यदि ऐसा मानो कि वह देव उत्पन्न होकर सृष्टि की रचना करता है तो इसका समाधान क्या होगा । बतलायें ? क्या वह अपने आप ही उत्पन्न होता है अथवा किसी अन्य के द्वारा उत्पन्न किया जाता है । यदि ऐसा मानते हो कि उसकी उत्पत्ति स्वयं ही होती है तो फिर इस लोक को भी स्वयं ही उत्पन्न होता हुआ क्यों नहीं मान लेते । यदि ऐसा मानते हो कि वह देव किसी अन्य से उत्पन्न होकर इस लोक की रचना करता है तो वह दूसरा देव किसी अन्य तीसरे देव से उत्पन्न होगा । वह तीसरा किसी चौथे देव से उत्पन्न होगा, यह उत्पत्ति का क्रम आगे से आगे चलता जायगा, कहीं पर जाकर नहीं रुकेगा । इस प्रकार अनवस्था दोष आयेगा, वह अनवस्थारूपी लता-बेल अनिवारित-बिना रुके हुए आगे से आगे प्रसर्पण-विस्तार पाती हुई या फैलाव करती हुई समस्त गगन मण्डल को आपूर्ण कर देगी-भर देगी, यों सबका मूल कारण कोई भी प्रमाणित नहीं हो पायेगा। यदि ऐसा कहा जाये कि वह देव अनादि है, उसका कोई आदि या प्रारंभ नहीं है, इसलिये वह उत्पन्न नहीं होता, तब विचार किया जाये इसी प्रकार इस जगत को अनादित क्यों न मान लिया जाय । एक प्रश्न और उपस्थित होता है कि जिस देव ने इस लोक की रचना की, वह नित्य है या अनित्य । यदि उसे नित्य मानते हो तो उसका अर्थ क्रिया के साथ विरोध होगा । नित्य पदार्थ अर्थ क्रियाकारी नहीं होता । वह युगपत्-एक साथ क्रियाएं नहीं कर सकता

और न वह क्रमशः क्रियाएं कर सकता । यदि वह देव अनित्य है तो उत्पत्ति के अनन्तर स्वयं विनाशशील होने के कारण वह अपना भी त्राण-रक्षा करने में सक्षम नहीं है फिर वह दूसरे की उत्पत्ति या निष्पत्ति हेतु उद्यम किस प्रकार कर सकता है । फिर सवाल खड़ा होता है जिस देव ने इस जगत की रचना की वह मूर्त्त है अथवा अमूर्त्त । यदि वह अमूर्त्त है-निराकार है तो वह आकाश की तरह अकर्ता है । आकाश निराकार है, उसमें किसी प्रकार का कर्तृत्व नहीं है, वही देव के साथ घटित होगा । यदि वह मूर्त्त है तो कार्य की निष्पत्ति हेतु एक साधारण पुरुष को जैसे उपकरणों की-साधनों की आवश्यकता होती है उसे भी साधनों की आवश्यकता होगी। साधन कहां से आयेंगे । ऐसी स्थिति में वह समस्त लोक का सर्जक नहीं है, यह बिल्कुल साफ है ।

पांचवी गाथा के तीसरे चरण में 'देवउत्ते' पद आया है । उसके प्राकृत की दृष्टि से देवगुप्त एवं देवपुत्र दो रूप बनते हैं । इनकी पहले चर्चा आई है । यह अत्यन्त 'फल्गु'-नगण्य या तुच्छ होने के कारण सुनने योग्य भी नहीं है । यही दोष ब्रह्मोप्त पक्ष में भी लागू होता है क्योंकि वह भी देवगुप्त पक्ष के सदृश ही है। जो ईश्वर को जगत का कारण मानते हैं वे शरीर भुवन और इंद्रियों के सम्बन्ध में जिन्हें विभिन्न मतवादियों ने अपने अपने मन्तव्यों के अनुसार व्याख्यात किया हैं, वे प्रतिपादित करते हैं कि ये किसी विशिष्ट बुद्धिमान स्रष्टा द्वारा बनाये गये हैं जैसे घट किसी के द्वारा बनाया गया है। उनका यह कथन अयुक्तियुक्त है क्योंकि किसी विशिष्ट कारण में, कार्य की व्याप्ति स्वीकार नहीं की जाती किन्तु वह कारण में ही स्वीकार की जाती है । जो पुरुष यह जानता है कि अमुक व्यक्ति अमुक कार्य करता है, दूसरा नहीं कर सकता । वह व्यक्ति उस कार्य को देखकर उसे करने वाले विशिष्ट व्यक्ति का अनुमान कर सकता है, अन्दाजा लगा सकता है। पर जो पदार्थ अत्यन्त अदृष्ट है, सर्वथा दृष्टिगम्य नहीं है, उसमें ऐसी प्रतीति नहीं हो सकती । दूसरे शब्दों में जिसकी रचना करता हुआ कोई व्यक्ति कभी भी किसी के द्वारा दृष्टिगोचर नहीं हुआ, उस वस्तु को देखकर उसके विशिष्ट रचनाकार का अनुमान नहीं किया जा सकता । यदि यह कहा जाय कि घट को देखकर उसके रचयिता कुम्भकार का अनुमान किया जाता है जो एक विशिष्ट जाति का पदार्थ है, इसी प्रकार जगत को देखकर उसके विशिष्ट कर्ता ईश्वर का अनुमान किया जा सकता है यह भी युक्ति संगत-तथ्य पूर्ण नहीं है क्योंकि घट एक विशेष प्रकार का कार्य है । कुम्भकार जो उसका स्रष्टा है, उसे कर्ता हुआ-घट को बनाता हुआ प्रत्यक्ष देखा जाता है । अतः घट को देखकर कुम्भकार का अनुमान किया जाना सही है । ऐसा किया जाना संगत है किंतु जगत को देखकर ईश्वर का अनुमान नहीं किया जा सकता क्योंकि घट का निर्माण करता हुआ कुम्भकार जैसे प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है उस प्रकार नदी, सागर पहाड़ आदि का निर्माण करता हुआ कोई बुद्धिमान कर्ता-ईश्वर कदाऽपि दृष्टि गम्य नहीं होता । अतः जगत को देखकर उसके विशिष्ट बुद्धिमान स्रष्टा का अनुमान नहीं किया जा सकता । यदि कहा जाय कि विशिष्ट संस्थान-आकारयुक्त होने से घट आदि पदार्थ एक बुद्धिमान रचयिता द्वारा रचित है, इसी प्रकार विशिष्ट संस्थान युक्त होने के कारण पर्वत आदि पदार्थ भी बुद्धिमान स्रष्टा द्वारा सर्जित है, यह साबित किया जा सकता है, ऐसा कहना भी युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि विशिष्ट संस्थान या अंगोपांग की रचना होने से ही सभी पदार्थ बुद्धिमान स्रष्टा द्वारा रचित हो, यह प्रतीत नहीं होता। यदि ऊपर के कथन को माना जाय तो बल्मीक-मिट्टी का जमा स्तूप-ढेर भी जो मृत्तिका का विकार हैं घट के सदृश कुम्भकार द्वारा ही रचित होना-चाहिए जैसे कुंभकार मृत्तिका से घट आदि पदार्थों की रचना करता है । उसे देखकर ऐसा प्रतिपादित नहीं किया जा सकता कि जो जो पदार्थ मृत्तिका से निर्मित है । उन

सबका सृष्टा कुम्भकार है क्योंकि ऐसा प्रतिपादित करने से-मानने से बल्मीक-बांबी-मिट्टी का जमा स्तूप-ढ़ेर भी कुम्भकार द्वारा रचित सिद्ध होगा । जो तथ्यपूर्ण नहीं है । इसी प्रकार संस्थान रचना को देखने मात्र से यह नहीं कहा जा सकता कि जो जो संस्थान या अवयव रचनायुक्त है, वे सभी बुद्धिमान स्रष्टा द्वारा सर्जित है। वास्तविकता यह है कि जिस संस्थान रचना का बुद्धिमान रचनाकार द्वारा रचित होना जाना जा चुका है। उसी संस्थान रचना को देखकर उसके विशिष्ट रचयिता का अनुमान किया जा सकता है । केवल संस्थान रचना मात्र को देखकर अनुमान नहीं किया जा सकता है । संस्थान रचना को देखकर रचनाकार ईश्वर का भी अनुमान नहीं किया जा सकता क्योंकि घटादि पदार्थों की संस्थान रचना का विशिष्ट रचयिता कुम्भकार ही दृष्टि गोचर होता है-ईश्वर दृष्टिगोचर नहीं होता । यदि घट का भी स्रष्टा ईश्वर ही है तो कुम्भकार को मानने की क्या आवश्यकता है । यदि ऐसा कहा जाय कि ईश्वर सर्वव्यापी है अतः निमित्त रूप से घटादि की रचना में भी उसका व्यापार-प्रवर्तन होता है तो इससे दृष्ट-जो प्रत्यक्ष दिखाई देता है, उसकी हानि विनाश या अप्राप्ति एवं अदृष्ट-जो दिखाई नहीं देता उसकी कल्पना का प्रसंग उपस्थित होता है । स्थिति यह है, घट का रचयिता कुम्भकार प्रत्यक्ष उपलब्ध है, दृष्टिगोचर है, उसे न मानना-अस्वीकार करना दृष्ट हानि है और घट का निर्माण करता हुआ ईश्वर कदापि दृष्टिगोचर नहीं होता उसे घट का निमित्त मानना अदृष्ट की परिकल्पना है ।

कहा गया है चैत्र नामक व्यक्ति का व्रण-घाव औजार द्वारा ऑपरेशन तथा दवा के लेप आदि द्वारा ठीक होता है । अतः उसके घाव के मिटने में, ठीक होने में औजार और दवा ही कारण है, दूसरे पदार्थ कारण नहीं है । स्थाणु-एक ठूंठ को जिसका उस घाव के अच्छे होने में कुछ भी संबंध नहीं है उसे उस घाव के अच्छे होने का कारण क्यों नहीं मान लेते । इसलिये जिस पदार्थ का जो कारण दृष्टिगोचर होता है, उसे उसका कारण स्वीकार न कर, जो उसका कारण ही नहीं है, उसे उसका कारण मान लेना न्याय्य नहीं है । न्याय तथा युक्तिपूर्ण नहीं है । इसी संदर्भ में जो देवकुल-देवस्थान, आवट्ट-कुंआ या गड्ढा आदि का जो रचयिता है वह संस्थान अवयव सहित है, अव्यापक और अनित्य है ऐसा दृष्टिगोचर होता हैं इसलिए उनके दृष्टान्त से जिस ईश्वर को प्रमाणित करते हैं, वह संस्थान अवयव सहित है, अव्यापक और अनित्य है ऐसा दृष्टि गोचर होता है । इसलिये उनके दृष्टान्त में जिस ईश्वर को प्रमाणित करते हैं वह संस्थान युक्त-अंगोपांग युक्त अव्यापक-व्यापकता रहित तथा नित्यत्व रहित सिद्ध होता है । इसके प्रतिकूल अर्थात् संस्थान वर्जित-अवयव रहित, व्यापक, तथा नित्य ईश्वर को सिद्ध करने के लिये कोई दृष्टान्त प्राप्त नहीं किया जा सकता । अनुमान द्वारा वैसा सिद्ध नहीं किया जा सकता । जिस प्रकार यह कार्यत्व रूप हेतु ईश्वर को प्रमाणित करने हेतु सक्षम नहीं है-इससे ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती । इसी प्रकार पहले स्थित होकर प्रवृत्त होना आदि जो हेतु बताये गये हैं वे भी ईश्वर को सिद्ध नहीं कर सकते । ऐसा यहां समझ लेना चाहिये क्योंकि वे हेतु भी कार्यत्व रूप हेतु के सदृश ही है, वे अभिप्सित अर्थ के साधक नहीं हैं । जो यह पहले कहा कि यह लोक प्रकृति आदि द्वारा रचित है, वह भी युक्ति संगत नहीं है ।

प्रश्न उपस्थित होता है कि प्रकृति मूर्त्त-साकार है या अमूर्त-निराकार है । यदि वह अमूर्त-निराकार है तो उससे मूर्त्त-साकार समुद्र आदि उत्पन्न नहीं हो सकते, अमूर्त्त आकार इसका उदाहरण है, जिससे कोई भी वस्तु उत्पन्न होती हुई दृष्टिगोचर नहीं होती । अतः मूर्त और अमूर्त का आपस में कार्य कारण भाव सिद्ध नहीं होता अर्थात् अमूर्त्त मूर्त्त की निष्पत्ति में कारण नहीं बन सकता । यदि प्रकृति मूर्त्त-साकार है तो वह किससे

उत्पन्न हुई यह प्रश्न उठता है । वह स्वयं ही उत्पन्न हुई हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसका स्वयं उत्पन्न होना माना जाय तो यह लोक भी स्वयं उत्पन्न हुआ ऐसा क्यों नहीं माना जा सकता । यह भी नहीं कहा जा सकता कि यह प्रकृति किसी अन्य से उत्पन्न है क्योंकि ऐसा मानने पर यह उत्पत्ति क्रम आगे से आगे बढ़ता जायगा । ऐसा होने से अनवस्था दोष आयेगा । इसलिये जैसे प्रकृति को अनुत्पन्न और अनादि मानते हो इसी तरह लोक को भी अनुत्पन्न अनादि क्यों नहीं माना जा सकता । सत्त्व, रज और तम-इन तीन गुणों की साम्यावस्था को आप प्रकृति कहते हैं । उस अविकृत-विकार रहित प्रकृति से महत् आदि पदार्थों की उत्पत्ति मानना आपको इष्ट नहीं है-वैसा आप नहीं मानते । विकृत-विकार युक्त प्रकृति से ही जगत की उत्पत्ति होती है, ऐसा आप प्रतिपादित करते हैं किन्तु जो विकृत-विकार रहित है वह प्रकृति नहीं हो सकती, इसलिये प्रकृति से महत् आदि तत्त्वों की उत्पत्ति मानना अयुक्तियुक्त है । प्रकृति अचेतन-चेतना रहित है, तब वह पुरुष-आत्मा का अर्थ-प्रयोजन सिद्ध करने के लिये कैसे संप्रवृत्त हो सकती है जिस द्वारा आत्मा का भी भोक्तृत्व सिद्ध होकर सृष्टि की रचना संभव हो सके। यदि ऐसा कहा जाय कि अचेतन होने के बावजूद प्रकृति का-पुरुष का प्रयोजन सिद्ध करने हेतु प्रवृत्त होना स्वभाव है, ऐसा मानने पर तो प्रकृति से स्वभाव ही बलवत्तर होगा क्योंकि वह प्रकृति को भी अपने नियमन-नियंत्रण में रखता है । ऐसी स्थिति में आप स्वभाव को ही जगत का कारण क्यों नहीं मान लेते फिर अदृष्ट प्रकृति आदि की कल्पना की क्या सार्थकता है । यदि आप ऐसा कहते हो कि आदि शब्द द्वारा स्वभाव को भी कोई एक जगत का कारण मानते हैं, उनको वैसा मानने दो, कोई हर्ज नहीं। स्वभाव को जगत का कारण स्वीकार करने पर आर्हतों-जैनों की मान्यता में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती क्योंकि स्व-अपने भाव को अर्थात् अपनी उत्पत्ति को स्वभाव कहा जाता है । पदार्थों का उत्पन्न होना जैन भी मानते हैं । नियतिवाद में आस्थावान जनों ने जो प्रतिपादित किया कि यह लोक नियति द्वारा निष्पादित है, ऐसा उनके इस पक्ष में भी-ऐसा मानने में भी कोई दोष नहीं आता क्योंकि जो पदार्थ जैसा है उसका वैसा होना-उस रूप में नियत होना नियति है । चिन्तन करने पर यह नियति स्वभाव के अतिरिक्त और कुछ हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता । पहले जो यह प्रतिपादित किया गया कि यह लोक स्वयंभू द्वारा प्रतिपादित किया गया, यह भी संगत नहीं है । स्वयंभू क्या है ? उसका क्या तात्पर्य है। विचार करें । स्वयंभवति इति स्वयंभू-जो स्वयं होते हैं वे स्वयंभू कहलाते हैं । इसके अनुसार जब वे स्वयंभू होते हैं-स्वयं अस्तित्व भावापन्न होते हैं उस समय क्या किसी अन्य कारण की अपेक्षा के बिना ही स्वतंत्र रूप से वैसा होते है ? क्या इसलिये वे स्वयंभू कहलाते हैं, क्या इसीलिये अनादि है यदि वे अपने आप होने के कारण स्वयंभू कहलाते हैं तो इसी प्रकार इस लोक का भी स्वयं-अपने आप उत्पन्न होना, क्यों नहीं स्वीकार कर लेते, तब स्वयंभू को मानने की क्या आवश्यकता रहती है । यदि वे स्वयंभू अनादि होने के कारण स्वयंभू कहलाते हैं तो फिर वे लोक के स्रष्टा नहीं हो सकते क्योंकि जो अनादि होता है, वह नित्य होता है, जो नित्य होता है एक रूपात्मक होता है । अतएव वैसे नित्य स्वयंभू लोक के सर्जक हो सके, यह संभव नहीं है । यदि कहो वे स्वयंभू-वीतराग-रागादि शून्य है, यदि ऐसा है तो इस विचित्रतायुक्त जगत के रचयिता नहीं हो सकते । यदि वीतराग के विपरीत उन्हें सराग-रागादि सहित मानते हैं तो वे हम सांसारिक लोगों के समान ही है, विश्व के कर्ता नहीं हो सकते। इसी प्रकार मूर्त्त, अमूर्त्त आदि विकल्पों का भी समाहार कर लेना चाहिये जो यह कहा गया कि स्वयंभू ने यमराज की उत्पत्ति की, यमराज ही लोक को मारता है, यह भी एक प्रकार से प्रलाप ही है क्योंकि यह कहा जा चुका है कि स्वयंभू इस संसार का स्रष्टा हो नहीं सकता । किसी ने जो यह प्रतिपादित

किया कि यह संसार अण्डे से निकला है, क्रमशः प्रकट हुआ है, ऐसा कहना भी न्याय संगत नहीं है। क्योंकि जिस पानी में अंडा पैदा किया, वह पानी तो अंडे के बिना पहले से ही उत्पन्न था, तभी तो उसमें अंडा निधापित किया जा सका। उसी प्रकार यह जगत भी अंडे के बिना ही उत्पन्न हुआ, ऐसा मानने में कोई बाधा नहीं आती। ब्रह्मा जब तक अंडे का निर्माण करते हैं तब तक इसलोक का ही निर्माण क्यों नहीं कर देते हैं। अतः यह अंडे की कष्ट कल्पना अयुक्तियुक्त है। इसका क्या प्रयोजन है ? यदि ऐसा कहते हो कि अंडे के बिना ही ब्रह्मा इस लोक की सृष्टि करते हैं। खैर ऐसा ही सही। फिर एक बात है किसी ने कहा है कि ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, जंघाओं से वैश्य तथा पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए। यह प्रतिपादन भी युक्तिसंगत नहीं होता क्योंकि मुख आदि से किसी का उत्पन्न होना उपलक्षित नहीं होता-दृष्टिगोचर नहीं होता। यदि ऐसी ही बात हो तो ब्राह्मणादि वर्णों का परस्पर अभेद होगा। वे भिन्न भिन्न नहीं रहेंगे क्योंकि वे एक ही ब्रह्मा से उत्पन्न हैं। इसके साथ साथ ब्राह्मणों का कठ, तैतिरीयक तथा कलाप आदि भेद नहीं हो सकेंगे क्योंकि जब सभी ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हुए तो फिर भेद कैसा ? इसके अतिरिक्त ब्राह्मणों का उपनयन संस्कार, विवाह संस्कार आदि भी संभव नहीं होंगे। ऐसा होने पर अपनी बहिन के साथ पाणिग्रहण करना भी मान्य होगा। इस प्रकार अनेक दोष होने के कारण ब्रह्मा के मुख आदि से लोक की उत्पत्ति मानना स्वीकार करने योग्य नहीं है। इसलिये यह साबित होता है कि पूर्वोक्त-पहले चर्चित मतवादी इस लोक का वास्तविक स्वरूप नहीं जानते हैं। अतएव वे मिथ्या प्रतिपादित करते हैं (यह लोक उर्ध्व-ऊपर अधः नीचे, चतुर्दश रज्जु प्रमाण है। इसका आकार वैशाखास्थान-रंगशाला या नाट्यशाला में कमर पर हाथ रखकर नृत्य करने हेतु खडे हुए पुरुष के समान है। यह जगत नीचे मुख किये हुए औधें रखे हुए सिकोरे के समान आकार युक्त अधोपर्ती सात लोको से समायुक्त है। असंख्यात द्वीप तथा सागरों के आधार स्थल थाली के समान आकार वाले मध्य लोक से युक्त है। सिकोरों की पेटी के समान इसके ऊपरी भाग में उर्ध्व लोक है। इस लोक में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, एवं जीवास्तिकाय परिव्याप्त है। ये तदात्मक है, द्रव्यार्थिक नय के अनुसार द्रव्यत्व की दृष्टि से यह नित्य है तथा पर्यायात्मक दृष्टि से क्षणक्षयी-क्षण क्षण परिवर्तित होने वाला है। यह उत्पाद, व्यय एवं ध्रोव्य-ध्रुवता से युक्त है। अतएव यह द्रव्य स्वरूप है। जीव और कर्म अनादि काल से संबद्ध हैं। अतएव यह लोक अनेक प्रकार के भव प्रपंचों से-जन्म मरणादि-आवागमन आदि से जुड़ा है। आठ प्रकार के कर्मों से रहित मुक्ति प्राप्त जीव लोकाग्र में-इसके अन्त में अवस्थित है। जगत के इस यथार्थ स्वरूप को जो नहीं जानते वे इतर मतवादी असत्य भाषण करते हैं-मिथ्या तत्त्वों का प्रतिपादन करते हैं।)

❀ ❀ ❀

अमणुन्नसमुप्पायं, दुक्खमेव विजाणिया ।
समुप्पायमजाणंता, कहं नायंति संवरं ? ॥१०॥

छाया – **अमनोज्ञसमुत्पादं दुःखमेव विजानीयात् ।**
समुत्पादमजानन्तः कथं ज्ञास्यन्ति संवरम् ॥

अनुवाद – अमनोज्ञ-अशुभ कर्म से ही दुःख उत्पन्न होता है जो व्यक्ति दुःख के उत्पन्न होने का कारण नहीं जानते। वे दुःख के संवरण-नाश का उपाय कैसे जान सकते हैं।

टीका – इदानीमेतेषामेव देवोप्तादिवादिनामज्ञानित्वं प्रसाध्य तत्फलदिदर्शयिषयाऽऽह – मनोऽनुकूलं मनोज्ञं-शोभनमनुष्ठानं न मनोज्ञ ममनोज्ञम् असदनुष्ठानं तस्मादुत्पादः प्रादुर्भावो यस्य दुःखस्य तदमनोज्ञसमुत्पादम्, एवकारोऽवधारणे, स चैवं संबन्धनीयः अमनोज्ञसमुत्पादमेव दुःखमित्येवं विजानीयादवगच्छेत्प्राज्ञः । एतदुक्तम्भवति-स्वकृतासदनुष्ठानादेव दुःखस्योद्भवो भवति नान्यस्मादिति, एवं व्यवस्थितेऽपि सति अनन्तरोक्तवादिनोऽसदनुष्ठानोद्भवस्य दुःखस्य समुत्पादमजानानाः सन्तोऽन्यत ईश्वरादे र्दुःखस्योत्पादमिच्छन्ति, ते चैव मिच्छन्तः कथं केन प्रकारेण दुःखस्य संवरं दुःखप्रतिघात हेतुं ज्ञास्यन्ति । निदानोच्छेदेन हि निदानिन उच्छेदो भवति । ते च निदानमेव न जानन्ति, तच्चाजानानाः कथं दुःखोच्छेदाय यतिष्यन्ते ? यत्नवन्तोऽपि च नैव दुःखोच्छेदनमवाप्स्यन्ति, अपि तु संसार एव जन्मजरामरणेष्टवियोगाद्यनेकदुःखवाताघाताःभूयोभूयोऽरहट्टघटीन्यायेनानन्तमपि कालं सस्थास्यन्ति ॥१०॥

टीकार्थ - इस समय देवोप्तवाद आदि में विश्वास रखने वाले अन्यतीर्थिकों का अज्ञानित्व-अज्ञानी पन सिद्ध कर अब आगमकार उनको जो फल प्राप्त होता है, उसका दिग्दर्शन कराते हुए कहते हैं -

जो मन के अनुकूल-मन को अच्छा लगने वाला होता है, उसे मनोज्ञ कहते हैं । मनोज्ञ का तात्पर्य शोभन-सुहावना या सुन्दर है । जो मनोज्ञ नहीं है उसे अमनोज्ञ कहा जाता है, अमनोज्ञ का अर्थ असत् अनुष्ठान या अशुभ कर्म है । जिस अमनोज्ञ कर्म या असत् अनुष्ठान से जो उत्पन्न होता है उसे अमनोज्ञ समुत्पाद कहा जाता है । 'एवं' शब्द यहां अवधारणा के अर्थ में है । उसका सम्बन्ध इस तरह जोड़ना चाहिये-असत् अनुष्ठान या अशुभ कर्म करने से ही दुःख पैदा होता है । ज्ञानी या बुद्धिमान को यह समझना चाहिये-इसका अभिप्राय यह है कि अपने द्वारा कृत-आचारित असत् अनुष्ठान-अशुभ कर्म से ही दुःख की निष्पत्ति होती है । किसी अन्य से नहीं होती । ऐसी स्थिति होने के बावजूद पूर्व वर्णित मतवादी ऐसा नहीं मानते कि असत् अनुष्ठान से दुःख उत्पन्न होता है । वे ईश्वर आदि अन्य पदार्थों, हेतुओं द्वारा दुःख का उत्पन्न होना मानते हैं । इस प्रकार दुःख का निष्पन्न होना मानने वाले दुःख के विनाश का कारण कैसे जान सकते हैं । कार्य का नाश तभी होता है जब कारण का नाश हो, किन्तु वे अन्य सैद्धान्तिक दुःखोत्पत्ति के यथार्थ हेतु को नहीं जानते, जब वे दुःख के कारण को नहीं जानते तो दुःख के उच्छेद के लिये किस प्रकार प्रयत्न कर सकते हैं । यदि वे दुःख नाश का प्रयत्न भी करें तो उनका दुःख मिट नहीं सकता । वरन् जन्म, वृद्धावस्था, मृत्यु, प्रिय वियोग आदि अनेक प्रकार के दुःख समूह से आहत होते हुए वे 'अरहट्टघट्टी न्याय' से अनवरत चक्कर काटने वाले रहंट के घड़ों की तरह अनन्तकाल तक संसार में पड़े रहेंगे ।

❀ ❀ ❀

सुद्धे अपावए आया, इहमेगेसिमाहियं ।
पुणो किडुापदोसेणं सो तत्थ अवरज्झई ॥११॥

छाया – शुद्धोऽपापक आत्मा, इहैकेषामाख्यातम् ।
पुनः क्रीडाप्रद्वेषेण स तत्रापराध्यति ॥

अनुवाद – किन्हीं मतवादियों का इस संसार में ऐसा मन्तव्य है कि आत्मा शुद्ध है, अपापक-पापरहित है, किन्तु वह क्रीडाप्रद्वेष-राग तथा द्वेष भाव के कारण अपराध करती है-कर्म बद्ध होती है ।

टीका – साम्प्रतं प्रकारान्तरेण कृतवादिमतमेवोपन्यस्यन्नाह- इह अस्मिन् कृतवादिप्रस्तावे त्रैराशिकाः गोशालकमतानुसारिणो येषामेकविंशतिसूत्राणि पूर्वगत त्रैराशिकसूत्रपरिपाट्या व्यवस्थितानि। ते एवं वदन्ति यथाऽयमात्मा शुद्धो मनुष्यभव एवशुद्धाचारो भूत्वा अपगताशेषमलकलङ्को मोक्षेऽपापको भवति-अपगता शेषकर्मा भवतीत्यर्थः । इदमेकेषां गोशालकमतानुसारिणामाख्यातम्। पुनरसावात्मा शुद्धत्वाकर्मकत्व राशिद्वयावस्थो भूत्वा क्रीडया प्रद्वेषेणवा स तत्र मोक्षस्थ एव अपराध्यति रजसा श्लिष्यते । इदमुक्तं भवति-तस्य हि स्वशासन पूजा मुपलभ्यान्यशासनपराभव ञ्चोपलभ्य क्रीडोत्पद्यते-प्रमोदः सञ्जायते, स्वशासनन्यक्कार दर्शनाच्च द्वेषः, ततोऽसौ क्रीडाद्वेषा भ्यामनुगतान्तरात्मा शनैः शनैर्निर्मलपटवदुपभुज्य मानो रजसा मलिनीक्रियते । मलीयसश्च कर्मगौरवाद्भूयः संसारेऽवतरति । अस्याञ्चावस्थायां सकर्मकत्वा तृतीयराश्यवस्थो भवति ॥११॥

टीकार्थ – अब आगमकार एक अन्य प्रकार से कृतवादियों के मत को प्रतिपादित करते हुए बतलाते हैं -

यहां - इस जगत में जो आत्मा की तीन राशियां या अवस्थाएं बतलाते हैं उन्हें त्रैराशिक कहा जाता है । गौशालक के सिद्धान्तानुयायी ऐसा आत्मा की तीन राशियां मानते हैं । इन श्रमणों के पूर्वगत त्रैराशिक सूत्रों की परिपाटी के अनुरुप इक्कीस सूत्र हैं । वे ऐसा कहते हैं कि यह आत्मा मनुष्य भव-मानव की योनि में ही शुद्ध आचारवान होकर समग्र मल कलंक-कर्मकालिमा से विमुक्त होकर निष्पाप हो जाती है । मोक्ष पा लेती है । उसके समस्त कर्म अपगत हो जाते हैं । ऐसा कतिपय गौशालक मत अनुयायी प्रतिपादित करते हैं। इस तरह वह आत्मा शुद्धत्त्व, अकर्मत्व रूप दो राशियों में-अवस्थाओं में स्थित होकर पुनः राग अथवा द्वेष के कारण मोक्ष में ही कर्मरज से-कार्मण पुद्गलों से लिप्त हो जाती है । इसका अभिप्राय यह है कि उसे अपने शासन, धर्म सम्प्रदाय की पूजा-सत्कार और दूसरों के धर्म सम्प्रदाय का तिरस्कार-अनादर देख कर प्रमोद हर्ष उत्पन्न होता है तथा अपने धर्म सम्प्रदाय का तिरस्कार देखकर द्वेष होता है । इस प्रकार वह आत्मा राग द्वेष से लिप्त हो जाती है । जैसे उपभोग करने से-काम में लेने से निर्मल वस्त्र-साफ कपड़ा मलिन हो जाता है, उसी प्रकार क्रमशः वह आत्मा कर्मों की रज से-कर्म पुद्गलों से मलिन हो जाती है । यों कर्म मलिन होकर आत्मा कर्मों के भारीपन के कारण पुनः संसार में अवतरित होती है-जन्म लेती है । इस अवस्था में, कर्म युक्त होने के कारण आत्मा तीसरी राशि की अवस्था को अर्थात् सकर्मावस्था-कर्मयुक्त अवस्था को पा लेती है ।

❀ ❀ ❀

इह संवुडे मुणी जाए, पच्छा होइ अपावए ।
वियडंबु जहा भुज्जो, नीरयं सरयं तहा ॥१२॥

छाया – इह संवृतो मुनिर्जातः पश्चाद्भवत्यपापकः ।
विकटाम्बु यथा भूयो नीरजस्कं सरजस्कं तथा ॥

अनुवाद – कोई एक प्राणी इस संसार में-मनुष्य जीवन में संवृत-संवर, यम नियम युक्त होता हुआ अपापक-पापरहित मुनि धर्म अपनाता है, किन्तु जैसे स्वच्छ पानी आगे जाकर मलिन-गंदा हो जाता है । उसी प्रकार वह पुरुष भी पापाचरण से मलिन हो जाता है ।

टीका – अधुनैतद्दूषयितुमाह – किञ्च-इह अस्मिन् मनुष्यभवे प्राप्तः सन् प्रव्रज्यामभ्युपेत्य संवृतात्मा-यम नियमरतो जातः सन् पश्चादपापो भवति-अपगताशेषकर्म कलङ्को भवतीति भावः । ततः स्वशासनं प्रज्वाल्य मुक्त्यवस्थो भवति । पुनरपि स्वशासनपूजादर्शनान्निकारोपलब्धेश्च रागद्वेषोदयात् कलुषितान्तरात्मा विकटाम्बुवद् उदकवन्नीरजस्कं सद्गतोद्धतरेणुनिवहसम्पृक्तं सरजस्कं-मलिनं भूयो यथा भवति तथाऽयमप्यात्माऽनन्तेन कालेन संसारो द्वेगाच्छुद्धाचारवस्थो भूत्वा ततो मोक्षावाप्तौ सत्यामकर्मावस्थो भवति । पुनः शासनपूजानिकारदर्शनाद्रागद्वेषोदयात् सकर्मा भवतीति । एवं त्रैराशिकानां राशित्रयावस्थो भवत्यात्मेत्याख्यातम् । उक्तञ्च-

"दग्धेन्धनः पुनरुपैति भवं प्रमथ्य, निर्वाणमप्यनवधारितभीरूनिष्ठम् ।
मुक्तः स्वयं कृतभवश्च परार्थशूरस्त्वच्छासनप्रतिहतेष्विह मोहराज्यम् ? ॥१२॥

टीकार्थ – अब आगमकार इस मत को दोषमुक्त बताने हेतु कहते हैं –

जो प्राणी मनुष्य जीवन प्राप्त कर प्रव्रज्या-दीक्षा स्वीकार करता है संवृतात्मा-संवर युक्त यम नियम निरत होता है । पश्चात् वह अपाप-पाप रहित हो जाता है । उसका समस्त कर्मकलंक-कर्मदोष मिट जाता है-वह कर्मावरण रहित हो जाता है । इसके पश्चात् अपने शासन को-धर्म संघ को प्रवज्वलित कर-उज्जवल बनाकर उसकी प्रभावना कर मुक्तावस्था पा लेता है, किन्तु फिर अपने धर्म शासन की पूजा प्रतिष्ठा सम्मान देखकर रागयुक्त होता है तथा तिरस्कार या अपमान देखकर द्वेष युक्त होता है । इस प्रकार राग द्वेष के उत्पन्न होने से उसकी आत्मा कलुषित होती है । जैसे निर्मल जल पहले स्वच्छ होता है, फिर वह हवा के द्वारा उडाये गये रजकणों के संयोग से मलिन-गंदा हो जाता है । इसका तात्पर्य यह है कि अनन्त काल के अनन्तर जीव संसार से विरत होकर शुद्ध आचार के परिपालन में संलग्न होता है तथा वैसा होता हुआ वह मोक्ष को प्राप्त करता है-कर्म रहित हो जाता है किन्तु वह पुनः अपने शासन या सम्प्रदाय की प्रशस्ति देखकर राग करता है तथा अवहेलना देखकर द्वेष करता है । राग द्वेष के कारण वह कर्म सहित हो जाता है । इस प्रकार त्रैराशिक सिद्धान्त में आत्मा तीन राशियों या अवस्थाओं को प्राप्त करती है । कहा गया है – हे प्रभु ! आपके शासन को नहीं मानने वाले पुरुषों पर मोह का कैसा साम्राज्य छाया है । वे अज्ञानी निरुपित करते हैं कि मुक्त-कर्मों से छूटा हुआ जीव पुनः संसार मेंआता है । मोह के प्रभाववश ही वे ऐसा कहते हैं । जो काठ जल जाता है, वह पुनः नहीं जलता। इसी प्रकार संसार का प्रमथनकर जो जीवमुक्त हो जाता है, वह फिर संसार में नहीं आता किन्तु वे अन्य सैद्धान्तिक ऐसा मानते हैं कि मुक्त होने पर भी जीव पुनः संसार में आता है, कैसा आश्चर्य है । ऐसे लोग दूसरे को मुक्ति दिलाने का दुःसाहस करते हैं ।

❀ ❀ ❀

एताणुवीति मेहावी, बंभचेरेण ते वसे ।
पुढोपावाउया सव्वे, अक्खायारो सयंसयं ॥१३॥

छाया – एताननुचिन्त्य मेधावी, ब्रह्मचर्ये न तेवसेयुः ।
पृथक् प्रावादुकाः सर्वे आख्यातारः स्वकं स्वकम् ॥

अनुवाद – मेधावी-बुद्धिमान-धर्मतत्त्ववेत्ता इन अन्य तीर्थियों के सिद्धान्तों पर अनुचिन्तन कर यह निश्चित माने कि ये ब्रह्मचर्य-संयम का पालन नहीं करते हैं तथा ये सभी प्रावादुक-अपने वाद को ही यथार्थ मानते हुए उसे प्रतिपादित करते हैं, उत्तम बतलाते हैं ।

टीका – एतान् पूर्वोक्तान् वादिनोऽनुचिन्त्य मेधावी प्रज्ञावान् मर्य्यादाव्यवस्थितो वा एतदवधारयेत् यथा-नैते राशित्रयवादिनो देवोप्तादिलोक वादिनश्च ब्रह्मचर्य्ये तदुपलक्षिते वा संयमानुष्ठाने वसेयुः अवतिष्ठेरन्निति। तथाहि-तेषामयमभ्युपगमो यथा स्वदर्शनपूजानिकारदर्शनात् कर्म बंधो भवति एवञ्चावश्यं-तद्दर्शनस्य पूजया तिरस्कारे ण वोभयेन वाभाव्यं तत्सम्भवाच्च कर्मोपचयस्तदुपचयाच्च शुद्धयभावः शुद्धयभावाच्च मोक्षाभावः । न च मुक्तानामपगताशेषकर्मकलङ्काना कृतकृत्यानामवगताशेषय-थावस्थितवस्तुतत्त्वाना समस्तुति निन्दानामपगता-त्मात्मीयपरिग्रहाणां रागद्वेषानुषङ्गः तदभावाच्च कुतः पुनः कर्मबन्धः ? तद्बशाच्च संसारावरतरणमित्यर्थः । अतस्ते यद्यपि कथञ्चिद् द्रव्यब्रह्मचर्य्ये व्यवस्थिता स्तथापिसम्यगज्ञानाभावान्न ते सम्यगनुष्ठानभाज इति स्थितम् ।अपि च सर्वेऽप्येतेप्रावादुकाः स्वकं स्वकम् आत्मायमात्मीयं दर्शनं स्वदर्शनानुरागादाख्यातारः शोभननत्वेन प्रख्यापयितार इति नच तत्र विदितवेद्येनास्था विधेयेति ॥१३॥

टीकार्थ – इन पूर्वोक्त प्रावादुकों पर, उनके सिद्धान्तों पर अनुचिन्तन कर-विचारकर बुद्धिमान पुरुष-ज्ञानी व्यक्ति यह निश्चय करे कि ये त्रैराशिकवादी-आत्मा की तीन राशियां या अवस्थाएं मानने वाले एवं इस लोक को देवोप्त-देव द्वारा रचित माने वाले ब्रह्मचर्य में अथवा संयम के अनुसरण-अनुपालन में संलग्न नहीं हैं । इन लोगों का यह अभ्युपगम-मन्तव्य है कि अपने धर्म शासन की-सम्प्रदाय की पूजा प्रशस्ति, प्रतिष्ठा तथा निकार-तिरस्कार या अवहेलना देखने से मुक्त जीवों को कर्मों का बंध होता है किन्तु स्थिति यह है कि इनके दर्शन की पूजा-कीर्ति, प्रशस्ति तथा निकार-तिरस्कार या अपमान ये दोनों ही हुए बिना नहीं रहते-कहीं न कहीं तो होते ही रहते हैं और वैसा होने पर कर्म का उपचय-संग्रह या बंध अवश्य होगा । कर्मोपचय से शुद्धि का अभाव होगा-शुद्धि मिटेगी । शुद्धि का अभाव या अपगम होने से मोक्ष का भी अभाव होगा-मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकेगा । अतः यह सिद्धान्त समीचीन नहीं है क्योंकि जिनके समस्त कलंक-कालिमा नष्ट हो गई है तथा जो समग्र पदार्थों का सच्चा स्वरूप जानते हैं, जो कृतकृत्य हो चुके हैं-जिन्हें जो करना था, वह सब कर चुके हैं, जो स्तुति तथा निंदा को एक समान समझते हैं, यह मैं हूं-यह मेरा है ऐसा परिग्रहात्मक भाव जिनका अपगत हो चुका है, ऐसे मुक्त जीवों में राग द्वेष उत्पन्न होना कभी संभव नहीं होता । जब उनमें रागद्वेष हीन हो-तो कर्मबंध कैसे हो सकता है । कर्मबंध न होने से मोक्षगत जीव पुनः संसार में कैसे आ सकते हैं। अतएव इस असत् या मिथ्या सिद्धान्त में विश्वास करने वाले वे परमतवादी यद्यपि द्रव्य रूप में कथञ्चित् संयम का अनुपालन करते हैं किन्तु ज्ञान के सम्यक् न होने पर वे जिसमें प्रवृत्त हैं, वह अनुष्ठान भी संयम नहीं होता । अपने अपने दर्शन-सिद्धान्तों के प्रति अनुराग होने के कारण ये सभी ऐसा कहते हैं कि हमारे सिद्धान्त सबसे अच्छे हैं किन्तु विदितवेद्य-जानने योग्य तत्त्व को जिसने जान लिया हो-वस्तु स्वरूप को यथावत रूपेण समझ लिया हो, उसको इन मतवादियों के सिद्धान्तों में श्रद्धा नहीं करनी चाहिये ।

❀ ❀ ❀

सए सए उवट्ठाणे, सिद्धिमेव न अन्नहा ।
अहो इहेव वसवत्ती सव्वकामसमप्पिए ॥१४॥

छाया – स्वके स्वके उपस्थाने सिद्धिमेव नान्यथा ।
अध इहैव वशवर्ती सर्वकाम समर्पितः ॥

अनुवाद – अपने-अपने सिद्धान्तों के उपस्थान-अनुष्ठान उनके अनुसरण से ही सिद्धि प्राप्त होती है । किसी अन्य प्रकार से नहीं । मोक्ष प्राप्ति से पहले मनुष्य को वशवर्ती-अपनी इंद्रियों व मन को वश में कर रहना चाहिये । इस प्रकार उसकी समस्त कामनाएं-इच्छाएं पूर्ण होंगी ।

टीका – पुनरन्यथा कृतवादिमतमुपदर्शयितुमाह ते कृतवादिनः शैवैक दण्डि प्रभृतयः स्वकीये स्वकीये उपतिष्ठन्त्यस्मिन्नित्युपस्थानं-स्वीकयमनुष्ठानं दीक्षा गुरु चरण शुश्रूषादिकं तस्मिन्नेव सिद्धिम् अशेष सांसारिकप्रपञ्चरहितस्वभावामभिहितवन्तो नान्यथा नाऽन्येन प्रकारेण सिद्धिरवाप्यत इति तथाहि-शैवाः दीक्षात एव मोक्ष इत्येवं व्यवस्थिताः एकदण्डिकास्तु पञ्चविंशतितत्त्वपरिज्ञानान्मुक्तिरित्यभिहितवन्तः तथाऽन्येऽपि वेदान्तिकाः ध्यानाध्ययनसमाधिमार्गानुष्ठानात् सिद्धिमुक्तवन्त इत्यवमन्येऽपि यथास्वं दर्शनान्मोक्षमार्गं प्रतिपादयन्तीति । अशेष द्वन्द्वोपरमलक्षणायाः सिद्धि प्राप्ते रधस्तात् प्रागपि यावदद्यापि सिद्धिप्राप्ति र्न भवति तावदिहैव जन्मन्यस्मदीयदर्शनोक्तानुष्ठानानुभावादष्टगुणैश्वर्य्यं सद्भावो भवतीति दर्शयति आत्मवशे वर्तितुं शीलमस्येति वशवर्ती वशेन्द्रिय इत्युक्तम्भवति । नह्यसौ सांसारिकैः स्वभावैरभिभूयते सर्वे काम । अभिलाषा अर्पिताः सम्पन्ना यस्य स सर्वकामसमर्पितो यान् यान् कामान् कामयते तेऽस्य सर्वे सिद्धयन्तीति यावत्, तथाहि सिद्धेरारादष्टगुणैश्वर्य्यलक्षणा सिद्धि र्भवति । तद्यथा अणिमा, लघिमा महिमा प्राकाम्य मीशित्वं वशित्वमप्रतिघातित्वं यत्र कामा वसायित्वमिति ॥१४॥

टीकार्थ – आगमकार कृतवादियों के सिद्धान्त को अन्यथा-एक और प्रकार से बताने हेतु कहते हैं-

वे कृतवादी शैव-शिव को परम देव मानने वाले तथा एक दण्डी-एक दण्ड रखने वाले आदि अपने अपने सिद्धान्तों का यों प्रतिपादन करते हैं कि स्वीय अनुष्ठान-अपने धार्मिक उपक्रम, दीक्षा ग्रहण करना, गुरु के चरणों की सेवा करना आदि अपने अपने अनुष्ठानों से ही मनुष्य समग्र सांसारिक प्रपंचों-झंझटों या दुःखों से रहित होकर मोक्ष प्राप्त करता है । किसी अन्य प्रकार के अनुष्ठान से सिद्धि प्राप्त नहीं होती । शैव मतानुयायी दीक्षा से ही मुक्ति स्वीकार करते हैं तथा एक दण्डी पच्चीस तत्त्वों के ज्ञान से मोक्ष होना स्वीकार करते हैं-प्रतिपादित करते हैं । अन्य वेदान्ती यों निरुपण करते हैं कि ध्यान, अध्ययन तथा समाधि का अभ्यास-अनुष्ठान करने से सिद्धि प्राप्त होती है । इसी प्रकार अन्यान्य दार्शनिक सिद्धान्तों में विश्वास करने वाले व्यक्ति अपने-अपने सिद्धान्तों को मोक्ष का पक्ष-उनके अनुसरण से मोक्ष प्राप्त होना बतलाते हैं । वे कहते हैं कि मोक्ष-जहां सब प्रकार के द्वन्द्व-दुःख समाप्त हो जाते हैं, के पूर्व इसी जन्म में हमारे सिद्धान्तों के अनुसरण-अनुपालन से आठ प्रकार के ऐश्वर्यों से युक्त सिद्धि प्राप्त होती है । आगमकार इसी बात को यों कहते हैं-जो व्यक्ति आत्मवश-अपने वश में या नियन्त्रण में रहता है, जो इन्द्रियों के वश में नहीं होता, वह पुरुष सांसारिक स्वभाव से अभिभूत-सांसारिक स्थितियों से प्रभावित नहीं होता । उसके सब काम-अभिलाषाएं पूर्ण होती है। वह पुरुष जो जो काम-कामनाएं-इच्छाए करताहै वे सब सफल हो जाती हैं । उस व्यक्ति को मोक्ष प्राप्त होने से पूर्व आठ प्रकार की ऐश्वर्य शालिनी सिद्धियां उपलब्ध होती है जो अणिमा-अपनी देह को परमाणुओं के सदृश सूक्ष्म बना देना, लघिमा-अपनी देह को रूई के समान हल्का बना लेना, महिमा-अपनी देह को बड़ी से बड़ी कर लेना, प्राकाम्य-अपनी इच्छा को सफल करना ईषित्व-देह और मन पर पूरा अधिकार या नियंत्रण पा लेना, वशित्व-प्राणियों को अपने वश में कर लेना, अप्रतिघातित्व-किसी भी वस्तु द्वारा न रोका जा सकना तथा यत्रकामावशायित्व-जिस वस्तु का भोग करने की इच्छा हो, उसे इच्छापूर्ति तक नष्ट न होने देना, इस प्रकार है ।

❀ ❀ ❀

सिज्झायते अरोगा य, इहमेगेसिमाहियं ।
सिद्धिमेव पुरोकाउं, सासए गढिया नरा ॥१५॥

छाया – सिद्धाश्चतेऽरोगाश्च इहैकेषामाख्यातम् ।
सिद्धिमेव पुरस्कृत्य, स्वाशये ग्रथिताः नराः ॥

अनुवाद – अन्य तीर्थिक सिद्धि को प्राप्त होना अपने सिद्धान्तों में ग्रथित-गूंथा हुआ मानते हैं- उन्हीं से वह निकलती है या प्राप्त होती है । वे कहते हैं कि हमारे सिद्धान्तों के अनुसरण से जो सिद्धि प्राप्त करते हैं, वे अरोग-रोग रहित या दुःख रहित होते हैं ।

टीका – तदेवमिहैवास्मदुक्तानुष्ठायिनोऽष्टगुणैस्वर्य्यलक्षणा सिद्धिर्भवत्यमुत्र चाशेष द्वन्द्वोपरमलक्षणा सिद्धिर्भवतीति दर्शयितुमाह – ये ह्यस्मदुक्त मनुष्ठानं सम्यगनुतिष्ठन्ति तेऽस्मिन् जन्मन्यष्टगुणैश्वर्य्यरूपां सिद्धिमासाद्य पुनर्विशिष्ट समाधियोगेन शरीरत्यागं कृत्वासिद्धाश्च अशेषद्वन्द्वरहिता अरोगा भवन्ति, अरोगग्रहणञ्चोपलक्षणम् अनेक शारीरमानसद्वन्द्वै र्न स्पृश्यन्ते शरीरमनसोरभावादिति । एवम् इह अस्मिन् लोके सिद्धिविचारे वा एकेषां शैवादीनामिदमाख्यातं, ते च शैवादयः सिद्धिमेव पुरस्कृत्य मुक्तिमेवाङ्गीकृत्य स्वकीये आशये स्वदर्शनाभ्युपगमे ग्रथिताः संबद्धा अध्युपपन्नास्तदनुकूलाः युक्तीः प्रतिपादयन्ति । नराः इव नराः प्राकृतपुरुषाः शास्त्रावबोधविकलाः स्वाभिप्रेतार्थसाधनाय युक्तीः प्रतिपादयन्ति एवं तेऽपि पण्डितम्मन्याः परमार्थमजानानाः स्वाग्रहप्रसाधिकाः युक्ती रुद्घोषयन्तीति, तथा चोक्तम्-आग्रही वत निनीषति युक्तिं, तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा । पक्षपातरहितस्य तु युक्तिर्यत तत्र मतिरेति निवेशम् ॥१॥१५॥

टीकार्थ – वे अन्य तीर्थिक इस प्रकार कहते हैं कि-हमारे कथन का-सिद्धान्तों का जो अनुष्ठान-अनुपालन करते हैं उनको इसी जन्म में आठ गुणात्मक ऐश्वर्यमूलक सिद्धि उपलब्ध होती है तथा परलोक में मोक्ष प्राप्त होता है । जहां सब प्रकार के द्वन्द्व-प्रपंच, झंझट दूर हो जाते हैं । आगमकार इसी बात का दिग्दर्शन कराते हैं-

वे अन्यमतवादी निरुपित करते हैं कि जो व्यक्ति हमारे दर्शनमें बताए हुए नियमों का आचारों का भली भांति पालन करते हैं वे इसी जन्म में अष्ट गुणात्मक ऐश्वर्यमूलक सिद्धि प्राप्त करते हैं । फिर विशिष्ट समाधि योग को साधकर, देह का परित्याग कर सिद्धत्त्व प्राप्त कर लेते हैं । वे इस प्रकार समग्र द्वन्द्व रहित-क्लेश रहित, अरोग-दुःख रहित हो जाते हैं । यहां 'अरोग' शब्द उपलक्षण है, सांकेतिक है । तात्पर्य यह है कि उन लोगों को अनेक प्रकार के दैहिक और मानसिक दुःख स्पर्श नहीं करते क्योंकि उनके देह और मन का अभाव हो जाता है अर्थात् वे देह से और मन से अतीत हो जाते हैं । शैव आदि इस प्रकार सिद्धि के संबंध में अपना मन्तव्य बताते हैं । वे सिद्धि को आगे रखते हैं, उसी को मुख्य रूप में प्रस्तुत करते हैं, अपने सिद्धान्तों में आसक्ति लिये रहते हैं और तदनुकूल युक्तियों द्वारा उनका निरूपण करते हैं । जैसे शास्त्र ज्ञान से शून्य एक सामान्य पुरुष अपने चाहे हुए प्रयोजन को साधने के लिये युक्तियों का प्रयोग करता है, उसी तरह वे शैव आदि जिन्हें परमार्थ का बोध नहीं है, जो अपने को पंडित या ज्ञानी मानते हैं, वे अपने आग्रहपूर्ण मन्तव्य को सिद्ध करने हेतु युक्तियां लगाते हैं। कहा गया है-एक आग्रही-अपनी बद्धमूल धारणा पर अडा हुआ पुरुष अपनी मान्यता के अनुसार युक्ति को ले जाना चाहता है, उसे वैसा मोड़ देना चाहता है, किन्तु वह पुरुष जिसे कोई पक्षपात या आग्रह नहीं है वह उसी अर्थ-अभिप्राय या तत्त्व को जो युक्ति युक्त होता है, स्वीकार करता है।

❀ ❀ ❀

असंवुडा अणादीयं भमिहिंति पुणोपुणो ।
कप्पकालमुवज्जंति ठाणा आसुरकिव्विसिया ॥१६॥त्तिबेमि॥

छाया – असंवृता अनादिकं भ्रमिष्यन्ति पुनः पुनः ।
कल्पकालमुत्पद्यन्ते स्थाना आसुरकिल्विषिका ।इति ब्रवीमि॥

अनुवाद – वे असंवृत-संवर रहित, इंद्रिय विजय रहित अर्थात् इन्द्रियों के वश में विद्यमान अन्य तीर्थिक पुनः पुनः संसार में भ्रमण करते रहते हैं । वे बाल तप-अज्ञानपूर्ण तप के प्रभाव से बहुत समय तक असुर योनियों में उत्पन्न होते हैं, किल्विषिक देव होते हैं ।

टीका – साम्प्रतमेतेषामनर्थप्रदर्शनपुरःसरं दूषणमिधित्सयाऽऽह-ते हि पाखंडिकाः मोक्षाभिसन्धिनासमुत्थिता अपि असंवृता इन्द्रिय नो इन्द्रियैरसंयताइहाप्यस्माकं लाभ इन्द्रियानुरोधेन सर्वविषयोपभोगाद् अमुत्र मुक्त्यवाप्तेः तदेवं मुग्धजनं प्रतारयन्तोऽनादिसंसारकान्तारं भ्रमिष्यन्ति पर्य्यटिष्यन्ति स्वदुश्चरितोपात्तकर्मपाशावशापि (पाशि) ताः पौनः पुण्येन नरकादियातनास्थानेषुत्पद्यन्ते । तथाहि-नेन्द्रियैरनियमितै रशेषद्वन्द्वप्रच्युतिलक्षणा सिद्धिरवाप्यते । याऽप्यणिमाद्यष्टगुण लक्षणैहिकी सिद्धिरभिधीयते साऽपि मुग्धजनप्रतारणाय दम्भकल्पैवेति । याऽपि च तेषां बालतपोऽनुष्ठानादिना स्वर्गावाप्तिः साऽप्येवंप्राया भवतीति दर्शयति । कल्पकालं प्रभूतकालम् उत्पद्यन्ते संभवन्ति आसुराः-असुर स्थानोत्पन्ना नागकुमारादयः तत्राऽपि न प्रधाना किन्तर्हि ? किल्विषिकाः अधमाः प्रेष्यभूता अल्पर्धयोऽल्पभोगाः स्वल्पायुः सामर्थ्याद्युपेताश्च भवन्तीति । इति उद्देशक परिसमाप्माप्त्यर्थे, ब्रवीमीति पूर्ववत १६/७५ इति समयाख्याध्ययनस्य तृतीयोद्देशकः समाप्तः ।

टीकार्थ – आगमकार अब उन-अन्य तीर्थिकों के सिद्धान्तों की निरर्थकता का दिग्दर्शन कराते हुए उन्हें दोषयुक्त प्रतिपादन करने हेतु कहते हैं -

वे पाखण्डी मोक्ष मार्ग में उद्यत होकर भी असंवृत-संवर रहित होते हैं । इन्द्रिय और मन को वश में नहीं रख पाते, असंयत होते हैं । वे ऐसा मानते हैं कि इस लोक में भी हमें लाभ है, सुख है, क्योंकि इन्द्रियों के अनुरोध से-इन्द्रियों की प्रेरणा से, सब विषयों का उपभोग करने से परलोक में मोक्ष प्राप्त होता है । वे यो मुग्ध जनों को-भोले भाले लोगों को प्रतारित करते हुए-ठगते हुए इस अनादि संसार रूपी वन में भटकते रहते हैं । वे अपने दुष्चरित्र-दुराचरण के कारण कर्मों के फंदे में बंधकर बार-बार नरक आदि कष्ट पूर्ण स्थानों में पैदा होते हैं क्योंकि इंद्रियों को नियमित-नियंत्रित किये बिना मोक्ष-जहां समस्त दुःख निवृत्त हो जाते हैं, प्राप्त नहीं होता । वे जो अणिमा आदि अष्ट विध ऐहिक-इस संसार से संबद्ध सिद्धियों का जो वर्णन करते हैं, वे भी भोले भाले-सीधे लोगों को प्रतारित करने हेतु दंभ मात्र ही है । उन विपरीत धर्माचरण में लग्न पुरुषों को असम्यक् तप के प्रभाव से जो स्वर्ग की प्राप्ति होती है, उसका दिग्दर्शन कराते हुए कहते हैं कि-वे बहुत समय तक नागकुमार आदिअसुर स्थानों में अल्प ऋद्धि, अल्प आयु, अल्प शक्ति युक्त अधम-निम्न कोटिक प्रेष्य भूत-सेवक वृत्ति युक्त देव के रूप में पैदा होते हैं । मुख्य देव के रूप में नहीं होते । इति शब्द उद्देशक की पूर्ति के अर्थ में है । ब्रवीमि-बोलता हूँ-यह शब्द पहले की ज्यों है-इसका आशय वही है जो पहले वर्णित हुआ है ।

समय अध्ययन का तीसरा उद्देशक समाप्त हुआ ।

❀ ❀ ❀

卐 卐 卐

चतुर्थ उद्देशकः

एते जिया भो ! न सरणं, बाला पंडियमाणिणो ।
हिच्चाणं पुव्वसंजोयं, सिया किच्चोवएसगा ॥१॥

छाया – **एते जिताः भोः ! न शरणं बाला पंडितमानिनो ।**
हित्वा तु पूर्वसंयोगं सिताः कृत्योपदेशकाः ॥

अनुवाद – शिष्य को संबोधित कर आगमकार कहते हैं कि अन्य दर्शनों में विश्वास करने वाले ये काम, क्रोध, मोह, लोभ, मोहादि से पराजित हैं । संसार से जन्म मरण से बचने में इनके पास कोई शरण नहीं है । इनके लिये कहीं टिकाव नहीं है । ये वस्तुतः अज्ञानी है किन्तु अपने को पंडित-ज्ञानी मानते हैं । पूर्व संयोग-अपने बन्धुबान्धवों के सम्बन्ध का परित्याग कर घर छोड़कर भी परिग्रह आदि में आसक्त रहते हैं तथा गृहस्थ के कार्यों का उपदेश देते हैं ।

टीका – उक्तस्तृतीयोद्देशकः अधुना चतुर्थः समारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः – अनन्तरोद्देशकेऽध्ययनार्तत्वात्स्वपरसमयवक्तव्यतोक्तेहापि सैवाभिधीयते, अथवाऽनन्तरोद्देशके तीर्थिकानां कुत्सिताचारत्वमुक्तमिहाऽपि तदेवाभिधीयते । तदनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्योपक्रमादीनि चत्वार्यनुयोगद्वाराण्यभिधाय सूत्रानुगमेसूत्रमुच्चारणीयं तच्चेदम् –

अस्य चानन्तरसूत्रेण सहायं सम्बन्धः तद्यथा, अनन्तरसूत्रेऽभिहितं-'तीर्थिका असुरस्थानेषु किल्विषिकाः जायन्त' इति, किमिति ? यत एते जिताः परीषहोपसर्गैः, परम्परसूत्रसम्बन्धस्त्वयम्-आदाविदमभिहितं 'बुध्येत त्रोटयेच्च' ततश्चैतदपि बुध्येत-यथैते पञ्चभूतादिवादिनो गोशालकमतानुसारिणश्च जिताः परीषहोपसर्गैः कामक्रोधलोभमानमोहमदाख्येनारिषड्वर्गेण चेति एव मन्यैरपि सूत्रैः सम्बन्धः उत्प्रेक्ष्यः तदेवं कृतसम्बन्धस्यास्य सूत्रस्येदानीं व्याख्याप्रतन्यते । 'एत' इति, पञ्चभूतैकात्मतज्जीवतच्छरीरादिवादिनः कृतवादिनश्च गोशालकमतानुसारिणस्त्रैराशिकाश्च जिता अभिभूता रागद्वेषादिभिः शब्दादिविषयैश्च तथा प्रबलमहामोहोत्थाज्ञानेन च, भो इति विनेयामन्त्रणम् एवंत्वं गृहाण यथैते तीर्थिकाः असम्यगुपदेशप्रवृत्तत्वान्न कस्यचिच्छरणं भवितुमर्हन्ति न कञ्चित् त्रातुं समर्था इत्यर्थः किमित्येवं यतस्ते बालाइव बालाः यथा शिशवः सदसद्विवेक वैकल्याद् यत् किञ्चनकारिणो भाषिणश्च तथैतेऽपि स्वयमज्ञाः सन्तः परानपि मोहयन्ति । एवम्भूता अपि च सन्तः पण्डितमानिन, इति । क्वचित् पाठो 'जत्थ बालेऽवसीयइ' त्ति, यत्र अज्ञाने बालः अज्ञोलग्नः सन् अवसीदति, तत्र ते व्यवस्थिताः यतस्ते न कस्यचित् त्राणाये ति । यच्च तै र्विरुपमाचरितं तदुत्तरार्धेन दर्शयति-हित्वा त्यक्त्वा णमिति वाक्यालङ्कारे पूर्वसंयोगो धनधान्यस्वजनादिभिः संयोगस्तं त्यक्त्वा किल वयं निःसङ्गाः प्रव्रजिता इत्युत्थाय पुनः सिताः-बद्धाः परिग्रहारम्भेष्वासक्तास्ते गृहास्थाः तेषां कृत्यं करणीयं पचनपाचनकण्डनपेषणादिको भूतोपमर्दकारी व्यापार स्तस्योपदेशस्तं गच्छन्तीति कृत्योपदेशगाः कृत्योपदेशका वा । यदिवा 'सिया' इति आर्षत्वाद् बहुवचनेन व्याख्यायते स्युः भवेयुः कृत्यं-कर्त्तव्यं सावद्यानुष्ठानं तत्प्रधानाः कृत्याः-गृहस्थास्तेषामुपदेशः-संरम्भसमारम्भारम्भरूपः स विद्यते येषान्ते कृत्योपदेशिकाः प्रव्रजिता अपि सन्तः कर्त्तव्यै गृहस्थेभ्यो न भिद्यन्ते गृहस्था इव तेऽपि सर्वावस्थाः पञ्चशूनाव्यापारोपेता इत्यर्थः ॥१॥

टीकार्थ – तीसरे उद्देशक का वर्णन किया जा चुका है । अब चौथा उद्देशक प्रारंभ कर रहे हैं । इस उद्देशक का पूर्वापर संबंध यह है-पूरे उद्देशक में प्रथम अध्ययन का अर्थाधिकार-विषय निरूपण रहा, जो स्वसमय

परसमय वक्तव्यता मूलकथा - जिसमें स्वसमय-जैन सिद्धान्त, पर समय-जैनेत्तर तीर्थिकों के सिद्धान्तों की चर्चा रही है, वही इस उद्देशक में भी प्रतिपादित की जाती है, अथवा अनन्तर-आगे के उद्देशक में अन्य मतवादियों के कुत्सित, दूषित-दोषपूर्ण आचार का वर्णन किया है । यहां भी उस संदर्भ में विवेचन है । इन संबंधों से युक्त इस उद्देशक में उपक्रम आदि चार अनुयोगों का वर्णन करते हुए सूत्रानुगम से-सूत्रोच्चारण या सूत्र पाठ की विधि के अनुरूप बोलना चाहिये । वह सूत्र इस प्रकार है-इस सूत्र का पीछे के सूत्र के साथ यह संबंध है । पीछे के सूत्र में कहा गया है कि पर तीर्थिक असुर स्थानों में-योनियों में उत्पन्न होते हैं। वे किल्विषिक देव होते हैं । किल्विषिक-तुच्छ क्रीडा कलाप युक्त । इसी विषय को एक प्रश्न उठाते हुए आगे बढ़ाते हैं कि वे ऐसे क्यों होते हैं ? उसका समाधान-निराकरण करते हुए कहते हैं कि वे परतीर्थिक परीषह-अपने आप उत्पन्न होने वाले कष्ट तथा उपसर्ग-दूसरों द्वारा दिये जाने वाले कष्ट या यातना से पराजित होते हैं । पिछले सूत्र के साथ इसका यह संबंध है । पहले पहल यह भी कहा गया कि बोध-ज्ञान प्राप्त करना चाहिये और वैसा करके कर्मों के बन्धन को तोड़ना चाहिये-नष्ट करना चाहिये । अतः यहां यह भी जानना चाहिये कि पहले चर्चित पंचभौतिक आदि वादों में विश्वास करने वाले तथा गौशालक मतानुयायी नियतिवादी आदि अन्य तीर्थिक परीषह, उपसर्ग, काम, क्रोध, लोभ, मान, मोह तथा मद-अहंकार आदि षड् रिपुओं से-छः शत्रुओं से पराजित हैं । इसी प्रकार दूसरे सूत्रों के साथ भी संबंध समझना चाहिये यों अनन्तर सूत्रों से सम्बद्ध या जुड़े हुए इस सूत्र का विस्तार से यहां विवेचन किया जाता है ।

पंचभूतवादी, एकात्मवादी, तज्जीवतच्छरीरवादी, कृतवादी, त्रैराशिक, गौशालक मतानुयायी-नियतिवादी-ये सभी राग, द्वेष आदि दुषित भाव, शब्द आदि इंद्रिय विषय तथा प्रबल महामोहजनित अज्ञान द्वारा पराजित हैं । गाथा में 'भो' शब्द शिष्य को संबोधित करने के लिये आया है । यथा-हे शिष्य ! तुम्हें यह जानना चाहिये कि ये परमतावलम्बी असत्-सत्य के प्रतिकूल उपदेश देने में प्रवृत्त है । इसलिये वे दूसरों का त्राण करने में कैसे समर्थ हो सकते हैं, ऐसा क्यों कहते हैं ? ऐसा इसलिये कहते हैं कि ये मतवादी बालकों की ज्यों ज्ञानशून्य हैं । जैसे शिशु-भोले अज्ञानी बालक सत्, असत् के विवेक वैकल्प-ज्ञान शून्यता के कारण सब कुछ कह डालते हैं । उन्हें ऐसा करते सत् असत् या उचित अनुचित का जरा भी विवेक नहीं रहता । इसी प्रकार ये मतवादी अज्ञानी हैं । खुद अज्ञानी होते हुए दूसरों को मोह मूढ़ बनाते हैं । इतना ही नहीं अज्ञानी होकर भी अपने को पंडित या ज्ञानी बताने का दंभ करते हैं ।

कहीं-कहीं 'जत्थ बालोऽवसीयई' यत्र वालो अवसीदति' ऐसा पाठ है । इसका अभिप्राय यह है कि जैसे अज्ञान में संलग्न-अज्ञानयुक्त बालक अवसन्न होता है-दुःखित होता है, पीड़ित होता है, वैसे ही ये अज्ञानवर्ती मतवादी क्लेशाविष्ट होते हैं । वे किसी को त्राण या सहारा नहीं दे सकते । किसी की रक्षा नहीं कर सकते।

ये अन्य मतावलम्बी जो सत्य के प्रतिकूल आचरण करते हैं उस संबंध में इस गाथा के उत्तरार्द्ध में प्रतिपादन किया गया है । 'णं' शब्द यहां वाक्यालंकार या वाक्यसज्जा के अर्थ में है । ये अन्य वादी धन्यधान्य, बंधु बान्धवादी सम्बन्धियों का परित्याग कर कहते हैं-हमने आसक्ति छोड़ दी है । पारिवारिक आदि किसी के साथ हमारा लगाव नहीं है । हमने प्रव्रज्या स्वीकार कर ली है । ऐसा कहते हुए वे मोक्ष पाने की दिशा में उद्यतता दिखाते हैं किन्तु वे परिग्रह तथा आरंभ समारम्भ मूलक हिंसा में संलग्न रहने वाले गृहीजनों के कर्त्तव्य का अर्थात् पकाना, पकवाना, कूटना, पीसना आदि जीवों के लिये विनाशकारी कर्मों का उपदेश देते हैं । इस गाथा में 'सिया' पद आर्ष है उसे बहुवचन मानकर व्याख्या की जाती है । इसका अभिप्राय यह है

कि वे अन्य मतवादी ऐसे हैं । 'कृत' शब्द कर्त्तव्य अथवा सावद्य-सपाप अनुष्ठान या अभिप्राय लिये हुए है। जो मुख्य रूप से वैसा सावद्य अनुष्ठान करतेहैं वे भी 'कृत्य' कहे जाते हैं । यों यह 'कृत्य' शब्द गृहस्थों का सूचक है । ये परमतवादी गृहस्थों को संरम्भ, समारम्भ, आरम्भ मूलक-क्रमशः क्रियोपक्रियोमूलक हिंसापूर्ण कार्यों का उपदेश देते हैं । इसलिये वे कृत्योपदेशक कहे गये हैं । यद्यपि वे बाह्यरूपेण प्रव्रज्या धारण किये हुए होते, किन्तु वास्तव में गृहस्थों से भिन्न नहीं होते, वरन् उनके सदृश ही उनकी स्थिति होती है । तथा वे पंचशूना-चुल्ली-चूल्हा, पेसणी-चक्की, उपस्कर-झाडू, कंडनी-ऊंखली तथा उपकुम्भ-जल स्थान-इन द्वारा जो मनुस्मृति में गृहस्थों के घर मेंपांच बूचड़खाने बतलाये गये हैं, हिंसा करते हैं।

❀ ❀ ❀

तं च भिक्खू परिन्नाय, वियं तेसु ण मुच्छए ।
अणुक्कसे अप्पलीणे मज्झेण मुणि जावए ॥२॥

छाया – तञ्च भिक्षुः परिज्ञाय विद्वांस्तेषु न मूर्च्छेत् ।
अनुत्कर्षोऽप्रलीनः मध्येन मुनि र्यापयेत् ॥

अनुवाद – विद्वान्-ज्ञानवान् भिक्षु अन्य मतवादियों को जानकर-उनके स्वरूप को समझकर उनमें मूर्च्छा न करे, उस ओर आसक्त न बने । किसी भी तरह अपने ज्ञान व संयम आदि का मद-अहंकार न करे। औरों-अन्य मतवादियों के साथ संसर्ग-सम्पर्क न करे तथा तटस्थ वृत्ति से रहे ।

टीका – एवम्भूतेषु च तीर्थिकेषु सत्सु भिक्षुणा यत्कर्तव्यं तद्दर्शयितुमाह - तं पाखण्डिकलोकम-सदुपदेशदानाभिरतं 'परिज्ञाय' सम्यगवगम्य यथैते मिथ्यात्वोपहतान्तरात्मनः सद्विवेकशून्याः नात्मने हितायालं नान्यस्मै इत्येवं पर्यालोच्य, भावभिक्षुः संयतो 'विद्वान्' विदितवेद्यः तेषु 'न मूर्छयेत्' न गार्ध्यं विदध्यात्, न तैः सह संपर्कमपि कुयादित्यर्थः । किं पुनः कर्तव्य मिति पश्चार्द्धेन दर्शयदि-'अनुत्कर्षवानिति' अष्टमदस्थानानामन्यतमेनाप्युत्सेकमकुर्वन् तथा अप्रलीनः असंबद्धस्तीर्तिकेषु गृहस्थेषु पार्श्वस्थादिषु वा संश्लेषमकुर्वन् मध्येन रागद्वेषयोरन्तरालेन संचरन् मुनिः जगत् त्रयवेदी यापयेद् आत्मनं वर्तयेत् । इदमुक्तम्भवति-तीर्थिकादिभिः सह सत्यपि कथञ्चित्सम्बन्धे त्यक्ताहङ्कारेण तथा भावतस्तेष्वप्रलीयमानेनारक्तद्विष्टेन तेषु निन्दामात्मनश्च प्रशंसां परिहरता मुनिनाऽऽत्मा यापयितव्य इति ॥२॥

टीकार्थ – इस प्रकार के अन्य मतवादियों के प्रति साधु का जो कर्त्तव्य है, उसे प्रकट करने के लिये आगमकार बतलाते हैं -

पाखण्डी-धर्मविराधक, मतवादी असत् का-मिथ्या सिद्धान्तों का उपदेश देने में अनुरत हैं । इन मिथ्या दृष्टियों का चित्त मिथ्यात्व से मलिन-दूषित है तथा सद्विवेक-सद्ज्ञान से रहित है । इसलिये ये अपना तथा औरों का हित साधने में कल्याण करने में अक्षम है । यह जानकर विद्वान-वस्तुतत्त्ववेत्ता, सत्य का यथार्थ स्वरूप जानने वाला संयमरत भाव भिक्षु-भिक्षु धर्म का सांगोपांग परिपालन करने वाला साधक उन अन्य मतवादियों के साथ कोई आसक्ति न रखे, उनसे सम्पर्क भी न करे ।

उनके प्रति एक भावभिक्षु-मुनि का कैसा व्यवहार हो, इस गाथा के उत्तरार्द्ध में प्रतिपादित किया गया है -

तीनों लोकों को जानने वाला, आठ प्रकार के मदस्थानों में से किसी एक का भी सेवन न करने वाला, तद्विरहित रहने वाला, अन्यमतवादी गृहस्थ एवं पार्श्वस्थ आदि के साथ सम्बन्ध न रखे। तटस्थवृत्ति केसाथ रागद्वेष रहित होकर व्यवहार करे। इसका तात्पर्य यह है कि परमतवादी आदि किसी के साथ यदि कभी संयोगवश संबंध हो जाय तो साधु अहंकार का परित्याग कर उनके साथ भावात्मक दृष्टि से संबंध न रखता हुआ राग या द्वेष न करता हुआ अपने गुणों की प्रशस्ति और उनकी निन्दा न करता हुआ समय को बिताये, व्यवहार करे।

❀ ❀ ❀

सपरिग्गहा य सारंभा, इहमेगेसि माहियं ।
अपरिग्गहा अणा रंभा, भिक्खू ताणं परिव्वए ॥३॥

छाया – सपरिग्रहाश्च सारम्भा इहैकेषामाख्यातम् ।
अपरिग्रहाननारम्भान् भिक्षु स्त्राणं परिव्रजेत् ॥

अनुवाद – कई अन्य मतवादी कहते हैं कि सपरिग्रह-परिग्रह रखने वाले तथा सारम्भ-हिंसादि आरंभ समारम्भ करने वाले जीव मोक्ष प्राप्त करते हैं किन्तु भावभिक्षु उन्हीं से त्राण पाये-उन्हीं की शरण में जाये, जो परिग्रह रहित और आरम्भ समारम्भ हिंसादि से सर्वथा दूर हो।

टीका – किमिति ते तीर्थिकास्त्राणाय न भवन्तीति दर्शयितुमाह - सह परिग्रहेण धनधान्यद्विपद चतुष्पदादिना वर्तन्ते तदभावेऽपि शरीरोपकरणादौ मूर्च्छावन्तः सपरिग्रहाः, तथा सहारम्भेण जीवोपमर्दादिकारिणा व्यापारेण वर्तन्त इति तदभावेऽप्यौद्देशिकादिभोजित्वात् सारम्भाः-तीर्थिकादयः, सपरिग्रहारम्भकत्वैनैव च मोक्षमार्गं प्रसाधयन्तीति दर्शयति-इह परलोकचिन्तायाम् एकेषां केषाञ्चिद् आख्यातं भाषितं, यथा किमनया शिरस्तुण्डमुण्डनादिकया क्रियया ? परं गुरोरनुग्रहात् परमाक्षरावाप्ति स्तद्दीक्षावाप्ति वा यदि भवति ततो मोक्षो भवतीत्येवं भाषमाणास्ते न त्राणाय भवन्तीति। ये तु त्रातुं समर्थास्तान् पश्चार्द्धेन दर्शयति-अपरिग्रहाः न विद्यन्ते धर्मोपकारणादृते शरीरोपभोगाय स्वल्पोऽपि परिग्रहो यषां ते अपरिग्रहाः, न विद्यते सावद्य आरम्भो येषां तेऽनारम्भाः ते चैवंभूताः कर्मलघवः स्वयं यानपात्रकल्पाः संसार महोदधेर्जन्तूत्तारणसमर्थास्तान् भिक्षुः भिक्षणशील उद्देशिकाद्यपरिभोजी त्राणं शरणं परि-समन्ताद् व्रजेद् गच्छेदिति ॥३॥

टीकार्थ – अन्य मतवादी अपना तथा दूसरों का रक्षण क्यों नहीं कर सकते। इसका दिग्दर्शन कराने हेतु आगमकार कहते हैं -

जो धन, धान्य, द्विपद-दो पैरों वाले प्राणी, चतुष्पद-चार पैरों वाले प्राणी आदि के रूप परिग्रह रखते हैं वे सपरिग्रही कहलाते हैं। धन धान्य आदि बाह्य सम्पत्ति के न होने के बावजूद जो देह और उपकरणादिक में मूर्च्छा-आसक्ति रखते हैं वे भी सपरिग्रही हैं। जो जीवों के उपमर्द-विनाश या हिंसा आदि कार्य करते हैं वे सारम्भ कहलाते हैं। जो जीवों के विनाश से सम्बद्ध कार्य न करने पर भी औदेशिक-अपने लिये बनाए हुए आहार का सेवन करते हैं, वे भी सारम्भ है। इतर मतवादियों का मन्तव्य है कि सपरिग्रह और आरम्भ व्यक्ति भी मोक्ष मार्ग की आराधना करते हैं। आगमकार इस संबंध में बतलाते हैं –

परलोक के संबंध में किन्हीं की यह मान्यता है कि मस्तक और दाढ़ी मूंछ मुंडाने की क्या आवश्यकता है। गुरु की कृपा से परम् अक्षर की अवाप्ति-उपलब्धि तथा दीक्षा की प्राप्ति हो जाने पर मोक्ष प्राप्त हो जाता

है । इस प्रकार बोलने वाले, अपने सिद्धान्तों का बखान करने वाले अन्य तीर्थि संसार सागर से किसी को त्राण देने में-शरण देने में या किसी की रक्षा करने में सक्षम नहीं है ।

गाथा के उत्तरार्द्ध में शास्त्रकार इसे स्पष्ट करते हैं-जो पुरुष धर्मोपकरण के सिवाय अपने शरीरोपभोग के लिये-शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये जरा भी परिग्रह नहीं रखते तथा जो सावद्य-सपाप आरम्भ हिंसादि कार्य नहीं करते, वे कर्म लघु-हल्के कर्मों वाले-जिन्होंने अपने सघन कर्म पुंज को अधिकांशतः उच्छिन्न-निर्जीण कर डाला है । संसार सागर से जीवों को पार लगाने के लिये उद्धार करने के लिये नौका के तुल्य समर्थ है । इसलिये औद्देशिक आदि सदोष आहार का अपरिभोजी शुद्ध भिक्षान्न जीवी भिक्षु-भाव भिक्षु ऐसे ही सत्पुरुषों की शरण में सर्वतोभावेन जाये ।

❀ ❀ ❀

कडेसु घासमेसेज्जा, विऊ दत्तेसणं चरे ।
अगिद्धो विप्पमुक्को अ ओमाणं परिवज्जए ॥४॥

छाया – कृतेषु ग्रासमेषयेत्, विद्वान् दत्तैषणां चरेत् ।
अगृद्धो–विप्रमुक्तश्च अपमानं परिवर्जयेत् ॥

अनुवाद – विद्वान्-ज्ञान सम्पन्न मुनि अन्य द्वारा तैयार किये गए आहार की गवेषणा करे-शुद्धाशुद्ध की खोज करे । दत्त-दिये हुए आहार को ही लेने की इच्छा रखे । आहार में गृद्ध-मूर्छित, आसक्त न बने, राग द्वेष न करे, तथा किसी अन्य के अपमान-तिरस्कार का परिवर्जन करे-दूसरे का अपमान न करे ।

टीका – कथं पुनस्तेनापरिग्रहेणानारम्भेण च वर्तनीय मित्येतद्दर्शयितुमाह – गृहस्थैः परिग्रहारम्भद्वारेणाऽऽत्मार्थं ये निष्पादिता ओदनादयस्ते कृता उच्यन्ते तेषु कृतेषु परकृतेषु परनिष्ठितेष्वित्यर्थः अनेन च षोडशोद्गमदोष परिहारः सूचितः, तदेवमुद्गमदोषरहितं ग्रस्यत इति ग्रासः-आहार स्तमेवंभूतम् अन्वेषयेत् मृगयेद् याचेदित्यर्थः । तथा विद्वान् संयम करणैकनिपुणः परैराशंसादोषरहितै र्यन्निःश्रेयसबुद्धया दत्तमिति, अनेन षोडशोत्पादनदोषाः परिगृहीताः द्रष्टव्याः सदेवम्भूते दौत्यधात्रीनिमित्तादि दोषरहिते आहारे स भिक्षुः एषणां ग्रहणैषणां चरेदनुतिष्ठेदिति। अनेनाऽपि दशैषणादोषाः परिगृहीता इति मन्तव्यं, तथा अगृद्धः अनध्युपपन्नोऽमूर्च्छित स्तस्मिन्नाहारे रागद्वेषविप्रमुक्तः अनेनाऽपि च ग्रासैषणा दोषाः पञ्च निरस्ता अवसेयाः । स एवम्भूतो भिक्षुः परेषामपमानं-परावमदिर्शित्वं परिवर्जयेत् परित्यजेत् न तपोमदं ज्ञानमदञ्च कुर्य्यादितिभावः ॥४॥

टीकार्थ – अपरिग्रही और अनारम्भी साधु को कैसे वर्तन करना चाहिये-व्यवहार करना चाहिये, रहना चाहिये, यह दिखाने हेतु आगमकार कहते हैं -

गृहस्थ ने परिग्रह तथा आरंभ द्वारा आत्मार्थ-अपने लिये जो चांवल-भात आदि भोजन बनाया हो उसे कृत् अर्थात् दूसरे के द्वारा उसके अपने लिये बनाये गये आहार में से साधु भिक्षा लेने की इच्छा करे । यहां 'कृत आहार' शब्द का ग्रहण सोलह प्रकार के उद्गम दोषों के परिहार का संसूचक है । जो ग्रसित किया जाता है, उगाला जाता है, या खाया जाता है, उसे ग्रास कहते हैं । आहार ग्रास कहलाता है । विवेकशील साधु उद्गम दोष वर्जित आहार का अन्वेषण-गवेषण करे । संयम के परिपालन में कुशल-जागरूक मुनि उसी आहार को लेने की इच्छा करे जो अन्य व्यक्ति किसी आशंसा-प्रत्युपकार की आशा आदि के बिना निःश्रेयस-आत्मकल्याण

की दृष्टि से दे । इस कथन द्वारा यहां सोलह प्रकार के उत्पादन दोष परिगृहीत हैं, यह समझना चाहिये । अतएव वह भिक्षु दौत्य-दूत कार्य, गृहस्थों का संदेश पहुंचाना, धातृ-धाय का कार्य, गृहस्थ के बच्चों को लाड़ प्यार करना आदि तथा नैमित्तिक आदि दोषों से वर्जित आहार ग्रहण करने की इच्छा करे । इस कथन से दस प्रकार के एषणादोष परिगृहीत होते हैं । यह मानना चाहिये, जानना चाहिये । साधु आहार में अमूर्च्छित-अनासक्त रहे। राग द्वेष से विप्रमुक्त-विवर्जित रहे, इस कथन से पांच प्रकार के ग्रासैषणा दोषों का निरसन या परिवर्जन हो जाता है । इस प्रकार वर्तन करता हुआ, रहता हुआ मुनि दूसरों का अपमान न करे । अपनी तपस्या और ज्ञान का अहंकार न करें ।

❀ ❀ ❀

लोगवायं णिसामिज्जा, इहमेगेसि माहियं ।
विपरीयपन्नसंभूयं, अन्नउत्तं तयाणुयं ॥५॥

छाया – लोकवादं निशामयेद् इहैकेषामाख्यातम् ।
विपरीतप्रज्ञासम्भूत मन्योक्तं तदनुगम् ॥

अनुवाद – कई कहते हैं कि लोकवादियों का-पौराणिक सिद्धान्तों में विश्वास करने वालों का कथन सुनना चाहिये किन्तु वास्तविकता यह है कि उन लोकवादियों या पौराणिकों का मन्तव्य विपरीत बुद्धि से उत्पन्न है । वह अन्य मतवादियों के मत की तरह ही मिथ्या है-असत्य हैं ।

टीका – एवं निर्युक्तिकारेणोद्देशकार्थाधिकाराभिहितं 'किच्चुवमायचउत्थे' इत्येतप्रदर्श्येदानीं परवादिमत मेवाद्देशार्थाधिकाराभिहितं दर्शयितुमाह –

लोकानां पाषाण्डिनां पौराणिकानां वा वादो लोकवादः-यथा स्वमभिप्रायेणान्यथा वाऽभ्युपगमस्तं निशामयेत शृणुयाज्जानीयादित्यर्थः तदेव दर्शयति 'इह' अस्मिन् संसारे एकेषां केषाञ्चिदिदमाख्यात मभ्युपगमः । तदेव विशिनष्टि विपरीता परमार्थादन्यथाभूता या प्रज्ञा तया सम्भूतं समुत्पन्नं तत्त्वविपर्यस्तबुद्धि ग्रथितमिति यावत्, पुनरपि विशेष यति-अन्यै रविवेकिभिर्यदुक्तं तदनुगं यथा वस्थितार्थ विपरीतानुसरिभिर्यदुक्तं विपरीतार्थाभिधायितया तदनुगच्छतीत्यर्थः ॥५॥

टीकार्थ – निर्युक्तिकार ने उद्देशकों का अर्थाधिकार-अभिप्राय बतलाते हुए प्रतिपादित किया है कि वे परतीर्थि गृहस्थों के समान हैं । यह चौथे उद्देशक का अर्थाधिकार है । उसे कहकर अब परवादियों के सिद्धान्त की चर्चा करते हैं । चतुर्थ उद्देशक का भी यह अर्थाधिकार है । पाखण्डियों या पौराणिकों का वाद-सिद्धान्त या मत लोकवाद कहा जाता है अथवा अपनी इच्छानुसार स्वीकार किये गये विपरीत मन्तव्य को लोकवाद कहते हैं । इस लोकवाद का श्रवण करना चाहिये । ऐसा अभिप्राय है । शास्त्रकार इसका दिग्दर्शन कराते हुए कहते हैं कि इस संसार में कई लोगों का इस प्रकार का सिद्धान्त है । उसका विशेष रूप से दिग्दर्शन कराते हुए वे बताते हैं कि वह लोकवाद ऐसे व्यक्तियों द्वारा रचित है जो पारमार्थिक दृष्टि से विपरीत बुद्धियुक्त है तथा जिनका ज्ञान यथार्थ तत्वज्ञान से उल्टा है । फिर शास्त्रकार पुनः लोक के सम्बन्ध में कहते हैं कि अन्य अविवेकी-विवेक शून्य मतवादियों ने असत्य अर्थ या तत्त्व का प्रतिपादन किया है । लोकवाद भी उसी का अनुगामी है । इसका तात्पर्य यह है कि जो अविवेकी-अज्ञानी मतवादी पदार्थों का सत्य स्वरूप न बतलाकर

विपरीत स्वरूप बतलाते हैं, मिथ्या अर्थ प्रतिपादित करते हैं । उनके समान ही लोकवाद भी विपरीत अर्थ-असत्य तत्त्व प्रतिपादित करता है । वह उन्हीं का अनुगामी है-उन्हीं का अनुगमन या अनुसरण करता है ।

❀ ❀ ❀

अणंते निइए लोए सासए, ण विणस्सती ।
अंतवं णिइए लोए इति धीरोऽतिपासइ ॥६॥

छाया – अनन्तो नित्यो लोकः शाश्वतो न विनश्यति ।
अन्तवान्नित्यो लोक इति धीरोऽतिपश्यति ॥

अनुवाद – यह लोक अनन्त-अन्तरहित, नित्य-नाशरहित तथा शाश्वत-सदा रहने वाला है । यह कभी विनष्ट नहीं होता । यह लोक अन्तवान-शांत या सीमित और नित्य है । ऐसा कुछ दुस्साहसी मतवादी देखते हैं, मानते हैं ।

टीका – तमेव विपर्य्यस्तबुद्धिरचितं लोकवादं दर्शयितुमाह-नास्यान्तोऽस्तीत्यनन्तः न निरन्वयनाशेन नश्यतीत्युक्तं भवतीति, तथाहि यो यादृगिह भवे स तादृगेव परभवेऽप्युत्पद्यते, पुरुषः पुरुष एवाङ्गना अङ्गनैवेत्यादि यदि वा अनन्तोऽपरिमितो निरवधिक इति यावत् तथा नित्य इति अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावो लोक इति तथा शश्वद्भवतीति शाश्वतोद्व्यणुकादि कार्य्यद्रव्यापेक्षयाऽशश्वद्भवन्नपि न कारणद्रव्यं परमाणुत्वं परित्यजतीति तथा न विनश्यतीति दिगात्माकाशाद्यपेक्षया । तथाऽन्तोऽस्यास्तीत्यन्तवान् लोकः 'सप्तद्वीपा वसुन्धरे' ति परिमाणोक्तेः, सच तादृक परिमाणो नित्य इत्येवं धीरो कश्चित्साहसिकोऽन्यथाभूतार्थ प्रतिपादनाद् व्यासादिरिवाति पश्यतीत्यतिपश्यति । तदेवंभूतमनेकभेद भिन्नं लोकवादं निशामयेदिति प्रकृतेन सम्बन्धः । तथा "अपुत्रस्य न सन्ति लोकाः ब्राह्मणाः देवाः" श्वानो यक्षाः गोभिर्हतस्य गोघ्नस्य वा न सन्ति लोका" इत्येवमादिकं निर्युक्तिकं लोकवादं निशामयेदिति ॥६॥

टीकार्थ – विपरीत बुद्धियुक्त वादियों द्वारा रचित लोकवाद का दिग्दर्शन कराने हेतु आगमकार कहते हैं, जिसका कभी अन्त नहीं होता, उसे अनन्त कहा जाता है । इसका अभिप्राय यह है कि इस लोक का निरन्वय-नाश नहीं होता जो इस भव में जैसा है पर भव में भी वह वैसा ही उत्पन्न होता है जैसे पुरुष पुरुष के रूप में तथा अङ्गना-स्त्री स्त्री के रूप में ही होती है अथवा यह लोक अनन्त अर्थात् अन्त या परिमाण रहित है, अवधि रहित है । यह लोक नित्य अर्थात् उत्पत्ति विनाश रहित है, स्थिर है तथा एक स्वभाव-सदा एक स्वभाव में रहने वाला है एवं यह सदा विद्यमान रहता है, इसलिये शाश्वत है । यह लोक द्व्यणुक दो परमाणुओं के मिलित रूप आदि कार्य द्रव्य की अपेक्षा से यद्यपि शाश्वत नहीं है किन्तु इसका कारण द्रव्य परमाणु कभी भी अपने परमाणुत्त्व को नहीं छोड़ता। वह सदैव परमाणु के रूप में विद्यमान रहता है । अतः यह लोक शाश्वत है । इस लोक का कभी नाश नहीं होता । यह बात दिक्-दिशा, आत्मा आदि की अपेक्षा से कही गई है । अन्तवान उसे कहा जाता है-जिसका अन्त होता है या सीमा होती है । यह लोक अन्तवान है क्योंकि लोक स्थित पृथ्वी सप्त द्वीपा-सात द्वीप युक्त है । पौराणिक ऐसा परिमाण बतलाते हैं, एतत् परिमाण युक्त लोक नित्य है। इस प्रकार पदार्थों का मिथ्या स्वरूप निरूपित करने के कारण व्यास सदृश पौराणिकों को धीर या दुस्साहसी कहा जाना संगत है । लोकवाद के मन्तव्यों को सुनना चाहिये । प्रस्तुत गाथा के साथ यह जोड़े ।

पुत्ररहित पुरुष के लिये कोई लोक नहीं है-उसकी सद्गति नहीं होती । ब्राह्मण देवस्वरूप है। कुत्ते यक्ष है । गायों द्वारा जो मारा गया हो या जो गायों की हत्या करता है उसे कोई लोक नहीं मिलता इत्यादि लोकवाद के न्याय युक्ति शून्य मन्तव्यों को सुनना चाहिये । ऐसा कई लोग कहते हैं ।

❀ ❀ ❀

अपरिमाणं वियाणाई, इहमेगेसि माहियं ।
सव्वत्थ सपरिमाणं, इति धीरोऽतिपासई ॥७॥

छाया – अपरिमाणं विजानाति, इहैकेषा माख्यातम् ।
सर्वत्र सपरिमाणमिति धीरोऽति पश्यति ॥

अनुवाद – कतिपय मतवादियों का मन्तव्य है कि अपरिमाण-परिमाण रहित या अतीन्द्रिय पदार्थों को जानने वाला कोई एक पुरुष अवश्य है किन्तु वह परिमित पदार्थों को ही जानता है । सबको नहीं जानता। कोई सर्वज्ञ नहीं होता ।

टीका – किञ्च न विद्यते परिमाणम् इयत्ता क्षेत्रतः कालतो वा यस्य तदपरिमाणं, तदेवम्भूतं विजानाति कश्चित्तीर्थिकतीर्थकृत, एतदुक्तम्भवति अपरिमितज्ञोऽसावतीन्द्रियद्रष्टा, न पुनः सर्वज्ञ इति, यदि वा-अपरिमितज्ञ इत्यभिप्रेतार्थातीन्द्रियदर्शीति, तथा चोक्तम्-

"सर्वं पश्यतु वा मा वा इष्टमर्थन्तु पश्यतु । कीटसंख्यापरिज्ञानं तस्य नः क्वोपयुज्यते ?"

इति 'इह' अस्मिंल्लोके एकेषां सर्वज्ञापन्हववादिनाम् इदमाख्यातम् अयमभ्युपगमः, तथा सर्वक्षेत्रमाश्रित्य कालं वा परिच्छेद्यं कर्मतापन्नमाश्रित्य सहपरिमाणं-सपरिच्छेदं धीः-बुद्धिः तया राजत इति धीर इत्येवमसौ अतीव पश्यतीत्यतिपश्यति, तथाहि-ते ब्रुवते दिव्यं वर्षसहस्रमसौ ब्रह्मा स्वपिति तस्यामवस्थायां न पश्यत्यसौ तावन्मात्रञ्च कालं जागर्ति तत्र च पश्यत्य सावितिं, तदेवम्भूतो बहुधा लोकवादः प्रवृत्तः ॥७॥

टीकार्थ – क्षेत्र या काल की दृष्टि से जिसकी कोई सीमा नहीं होती उसे अपरिमाण कहा जाता है। अन्यतीर्थि जिसे तीर्थंकर मानते हैं, वह अपरिमाण-परिमाणरहित या सीमातीत पदार्थों को जानता है । अपरिमाण का अभिप्राय यह है कि वह परिमाण रहित-इंद्रियों द्वारा अग्राह्य-अतीन्द्रिय पदार्थों को देखता है किंतु परिमित रूप में ही । वह सर्वज्ञ नहीं है । दूसरे शब्दों में अन्य तीर्थियों का तीर्थंकर अपरिमित ज्ञानी कहा जाता है पर वह अतीन्द्रिय पदार्थों को ही जो मोक्षादि के लिये उपयोगी है, देखता है । जगत के समस्त पदार्थों को वह नहीं देखता । वे अन्यमतवादी ऐसा प्रतिपादन करते हैं कि हमारे तीर्थंकर सब पदार्थों को देखे या न देखे, उससे क्या बनता है । ईष्ट-अभिप्सित या उपयोगी अर्थ को ही देखना चाहिये । कीडों की संख्या की गिनती हमारे किस काम की । इस लोक में कोई सर्वज्ञ नहीं है । ऐसा विश्वास करने वाले परमतवादियों का यह सिद्धान्त है । वे कहते हैं कि धीर पुरुष सब देश स्थान-सब समय में परिमित पदार्थों को ही देखता है । वे आगे कहते हैं-ब्रह्मा एक हजार दिव्य वर्ष-देवताओं के वर्ष तक शयन करते हैं । उस अवस्था में वे कुछ नहीं देखते । उतने ही समय तक वे जागृत रहते हैं, तब वे देखते हैं । इस प्रकार लोक अनेक रूपों में प्रवृत है ।

❀ ❀ ❀

जे केइ तसा पाणा, चिट्ठंति अदु थावरा ।
परियाए अत्थि से अज्जू, जेण ते तसथावरा ॥८॥

छाया – ये केचित् त्रसाः प्राणा स्तिष्ठन्त्यथवा स्थावराः ।
पर्य्यायोऽस्ति तेषा मज्जू येन ते त्रसस्थावराः ॥

अनुवाद – इस जगत में जितने त्रस-गतिशील या त्रास पाते प्रतीत होने वाले एवं स्थावर-स्थितिशील-अचल प्राणी हैं वे निश्चय ही एक दूसरे के पर्याय में जाते हैं । कभी त्रस प्राणी स्थावर के रूप में उत्पन्न होते हैं एवं कभी स्थावर त्रस के रूप में परिणत होते हैं ।

टीका – अस्य चोत्तरदानायाह-ये केचन त्रस्यन्तीति त्रसाः द्वीन्द्रियादयः प्राणाः प्राणिनः सत्त्वा स्तिष्ठन्ति त्रसत्वमनुभवन्ति, अथवा स्थावराः स्थावर नामकर्मोदयाद् (याः) पृथिव्यादयस्ते, यद्ययं लोकवादः सत्यो भवेत् यथा यो यादृगस्मिन् जन्मनि मनुष्यादिः सोऽन्यस्मिन्नपि जन्मनि तादृगेव भवतीति, ततः स्थावराणां त्रसानाञ्च तादृशत्वे सति दानाध्ययनजपनियमतपोऽनुष्ठानादिकाः क्रियाः सर्वा अप्यनर्थिका आपद्येरन् । लोकेनाऽपि चान्यथात्व मुक्तं तद्यथा-"स वै एष शृगालो जायते यः सपुरीषो दह्यते" तस्मात् स्थावरजङ्गमानां स्वकृतकर्मवशात् परस्पर संक्रमणाद्यनिवारितमिति । तथा "अनन्तो नित्यश्च लोकः" इति यदभिहितं, तत्रेदमभिधीयते-यदि स्वजात्यनुच्छेदेनास्य नित्यताऽभिधीयते ततः परिणामानित्यत्वमस्मदभीष्ट मेवाभ्युपगतं न काचित् क्षतिः, अथाप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावत्वेन नित्यत्वमभ्युपगम्यते तन्न घटते, तस्याध्यक्षबाधितत्वात्, नहि क्षणभाविपर्य्यायानालिङ्गितं किञ्चिद्वस्तु प्रत्यक्षेणा वसीयते, निष्पर्य्यायस्य च खपुष्पस्येवासद्रूपतैव स्यादिति । तथा शश्वद्भवनं कार्य्यद्रव्यस्याऽऽकाशात्मादेश्चाविनाशित्वं यदुच्यते द्रव्यविशेषापेक्षयातदप्यसदेव, यतः सर्वमेव वस्तूत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तत्वेन निर्विभागमेव प्रवर्तते, अन्यथा वियदरन्दिस्येव वस्तुत्वमेव हीयेतेति । तथा यदुक्तम् 'अन्तवान् लोकः सप्तद्वीपावच्छिन्नत्वादित्येतन्निरन्तराः सुहृदः प्रत्येष्यन्ति न प्रेक्षापूर्वकारिणः, तद्ग्राहकप्रमाणाभावादिति । तथा यदप्युक्तम् 'अपुत्रस्य न सन्ति लोका इत्यादीत्येतदपि बालभाषितं, तथाहि किं पुत्रसत्तामात्रेणैव विशिष्टलोकावाप्तिरुत तत्कृतविशिष्टानुष्ठानात् ? तद्यदि सत्तामात्रेण ततः इन्द्रमहकामुकगर्तावराहादिभि वर्याप्ताः लोकाः भवेयुः, तेषां पुत्रबहुत्वसम्भवात् अथानुष्ठानमाश्रीयते, तत्र पुत्रद्वये सत्येकेन शोभनमनुष्ठित मपरेणाशोभनमिति तत्र का वार्ता ? स्वकृतानुष्ठानञ्च निष्फलमापद्येतेत्येवं यत्किञ्चिदेतदिति। तथा 'श्वानो यक्षा' इत्यादि युक्ति विरोधित्वादनाकर्णनीयमिति । यदपि चोक्तम् 'अपरिमाणं विजानाती' ति तदपि न घटामियर्ति यतः सत्यायपरिमितज्ञत्वे यद्यसौ सर्वज्ञो न भवेत् ततो हेयोपादेयोपदेशदानविकलत्वान्नैवासौ प्रेक्षापूर्वकारिभिराद्रियेत, तथाहि-तस्य कीटसंख्यापरिज्ञानमप्युपयोग्येव, यतो यथैतद्विषयेऽस्यापरिज्ञानमेव मन्यत्राप्या (पीत्या) शङ्कया हेयोपादेये प्रेक्षापूर्वकारिणः प्रवृत्ति र्न स्यात् । तस्मात् सर्वज्ञत्वमेष्टव्यम् । तथा तदुक्तं 'स्वापबोध विभागेन परिमितं जानाति' त्येतदपि सर्वजनसमानत्वे यत्किञ्चिदिति । तदापि च कैश्चिदुच्यते यथा "ब्रह्मणः स्वप्नावबोधयो र्लोकस्य प्रलयोदयौ भवत" इति तदप्य युक्ति संगतमेव प्रतिपादितं चैतत्प्रागेवेति न प्रतन्यते। नचात्यन्तं सर्वजगतउत्पादविनाशौविद्येते 'न कदाचिदनीदृशं जगदि' तिवचनात् । तदेवमनन्तादिकं लोकवादं परिहृत्य यथावस्थित वस्तुस्वभावाविर्भावनं पश्चार्द्धेन दर्शयति-ये केचन त्रसाः स्थावराः ना तिष्ठन्त्यस्मिन् संसारे तेषां स्वकर्म परिणत्याऽस्त्यसौ पर्य्यायः 'अंजू' इति प्रगुणोऽव्यभिचारी तेन पर्य्यायेण स्वकर्मपरिणतिजनितेन ते त्रसाः सन्तः स्थावराः सम्पद्यन्ते, स्थावराअपि च त्रसत्व मश्नुवते तथा त्रसा स्त्रसत्वमेव स्थावराः स्थावरत्वमेवानुवन्ति न पुन र्यो यादृगिह स तादृगेवामुत्रापि भवतीत्ययं नियम इति ॥८॥

टीकार्थ – शास्त्रकार इसका समाधान करते हुए प्रतिपादित करते हैं -

जो त्रस्त होते हैं, भय प्राप्त करते हैं, वैसा करते प्रतीति का विषय बनते हैं, उन्हें त्रस कहा जाता है। द्वीन्द्रिय आदि प्राणी त्रस श्रेणी में आते हैं। वे त्रसत्व-पीड़ा का अनुभव करते हैं। जिन प्राणियों के स्थावर नाम कर्म का उदय होता है वे पृथ्वी आदि प्राणी स्थावर श्रेणी में आते हैं। जो मनुष्य आदि प्राणी एक भव में जैसे हैं, आगे के भाव में भी वैसे ही होते हैं, उसी रूप में जन्म लेते हैं, लोकवादी ऐसा मानते हैं। यदि इसे सच माना जाय तो दान, अध्ययन-ज्ञानार्जन जप-भगवद्स्मरण तप आदि सभी क्रियाएं अनर्थक या निरर्थक होंगी किन्तु ऐसा नहीं होता। लोकवादी द्वारा भी जीवों को अन्यथात्व-दूसरे रूप में उत्पन्न होना कहा जाता है। उदाहरणार्थ-ऐसा कहा गया है कि जिस पुरुष का विष्ठासहित दाह होता है, वह पुरुष गीदड़ के रूप में जन्म लेता है। अत: स्थावर एवं जंगल प्राणी स्वकृत कर्मों के अनुसार एक दूसरे के रूप में उत्पन्न हो सकते हैं। त्रस स्थावर हो सकते हैं तथा स्थावर त्रस हो सकते हैं। लोकवादी जो यह कहते हैं कि यह लोक अनन्त तथा नित्य है। इसका समाधान इस प्रकार है -

पदार्थों का स्व-स्वजाति की अपेक्षा से नाश नहीं होता। इस दृष्टि से यदि जगत को नित्य कहा जाय तो इसमें कोई हानि नहीं है। ऐसा स्वीकार करने पर तो जैन दर्शन सम्मत्त परिणामी नित्यत्व का सिद्धान्त ही स्वीकृत हो जाता है। यदि ऐसा न मानकर आप पदार्थों को उत्पत्ति रहित, विनाश रहित, स्थिर, एक स्वभावयुक्त स्वीकार करते हुए जगत को नित्य कहते हो, तो यह सत्य नहीं है क्योंकि वहां ऐसा कोई भी पदार्थ दृष्टिगोचर नहीं होता, जो उत्पत्ति विनाश रहित हो, स्थिर हो और सदा एक स्वभावयुक्त हो। अत: आपका यह मन्तव्य प्रत्यक्ष प्रमाण से भी बाधित है, असिद्ध है। इस जगत में ऐसा एक भी पदार्थ दिखाई नहीं देता जो प्रतिक्षण उत्पन्न होने वाले पर्यायों से या अवस्थाओं से युक्त न हो। पर्याय या अवस्था वर्जित पदार्थ आकाश के कुसुम की ज्यों असत् स्वरूप ही-अस्तित्वहीन ही सिद्ध होगा। यदि कार्य रूप द्रव्य को, आकाश एवं आत्मा आदि को अविनश्वर कहते हो तो यह भी द्रव्य विशेष की अपेक्षा से सत्य से परे है क्योंकि जगत में सभी पदार्थ उत्पाद-उत्पत्ति, व्यय-विनाश तथा ध्रौव्य-ध्रुवता, स्थिरता या शाश्वतता इन तीनों से युक्त होकर विभागरहित ही-अविभक्त रूप में ही प्रवृत्त होते हैं। यदि ऐसा स्वीकार न किया जाय तो आकाश कुसुम की तरह पदार्थ का वस्तुत्व-अस्तित्व ही न रहे। लोकवादियों ने जो यह कहा कि सप्तद्वीपमयी पृथ्वी से युक्त होने के कारण यह लोग सान्त-अन्तसहित हैं, यह भी आपके अज्ञानी मित्र ही स्वीकार कर सकते हैं। जो विचारपूर्वक-विवेकपूर्वक कार्य करते हैं, वे इसे स्वीकार नहीं कर सकते क्योंकि इसे साबित करने वाला कोई प्रामाण उपलब्ध नहीं है। लोकवादियों ने जो यह प्रतिपादित किया कि पुत्र रहित पुरुष के कोई लोक नहीं है, यह भी बालभाषित-अज्ञानी बालक द्वारा कहे हुए की ज्यों अयुक्तियुक्त है। यदि पुत्र के होने मात्र से विशिष्ट लोक प्राप्त हो या पुत्र के द्वारा किये हुये विशिष्ट अनुष्ठान या कार्य ऐसा हो, पुत्र के सद्भाव मात्र से यदि विशिष्ट लोक की प्राप्ति हो तो समस्त लोक कुत्तों और सुअरों से भर जायगा क्योंकि इनके बहुत पुत्र होते हैं। पुत्र द्वारा किये हुए शुभ-पुण्यात्मक अनुष्ठान-कार्य से विशिष्ट लोक की प्राप्ति होती है, ऐसा स्वीकार करते हो तो यह भी समुचित नहीं है क्योंकि मान लो एक पिता के दो पुत्र हैं। एक ने शुभ-पुण्यात्मक अनुष्ठान किया हो तथा अन्य ने अशुभ-पापयुक्त अनुष्ठान किया हो तो वह पिता क्या पुण्यानुष्ठान करने वाले पुत्र के कारण उत्तम लोक में जायगा अथवा पापनुष्ठान करने वाले पुत्र के कारण अधम लोक में जायगा। साथ ही साथ ऐसा भी होगा कि उस पिता ने स्वयं जो कर्म किये हों, वे तो बिल्कुल निष्फल हो जायेंगे। इसलिये पुत्रहीन के लिये

कोई लोक नहीं है-यह कथन अज्ञानपूर्ण है । यह जो कहा गया कि कुत्ते यक्ष है यह तो स्पष्ट ही युक्ति विरुद्ध है, सुनने योग्य भी नहीं है । लोकवादी जो ऐसा कहते हैं कि तीर्थंकर अपरिमाण-परिमाण रहित या अपरिमित पदार्थों को जानते हैं किन्तु वे सर्वज्ञ-सब कुछ जानने वाले नहीं है । यह भी यथार्थ-सत्य नहीं है । यदि अपरिमित पदार्थदर्शी होते हुए भी जो पुरुष सर्वज्ञ नहीं होता वह हेय-छोड़ने योग्य और उपादेय- ग्रहण करने योग्य स्वीकार करने योग्य, पदार्थों के सम्बन्ध में उपदेश देने में कभी समर्थ नहीं हो सकता, अतः बुद्धिमान पुरुषों द्वारा वह आदरणीय नहीं है । वैसे पुरुष का कीड़ों की संख्या का ज्ञान भी फिर उपयोगी ही होगा क्योंकि उसके बारे में किसी बुद्धिमान पुरुष द्वारा की गई आशंका कि जैसे वह कीड़ों के संबंध में नहीं जानता, उसी प्रकार अन्य पदार्थों के संबंध में भी नहीं जानता होगा । अतः उसके द्वारा हेय-त्यागने योग्य, उपादेय-ग्रहण करने योग्य विषय में कही हुई बात में कोई प्रवृत नहीं हो सकता क्योंकि उसका ज्ञान अयथायथ है अतः सर्वज्ञ की मान्यता आवश्यक है ।

यह तो प्रतिपादित किया गया कि ब्रह्मा सुप्तावस्था में कुछ नहीं जानते, वे जागृतावस्था में ही जानते हैं । यह बात भी कोई विलक्षण नहीं है क्योंकि सभी प्राणी ऐसे ही होते हैं क्योंकि वे सुप्तावस्था में कुछ नहीं जानते । वे जागृत अवस्था में-जब वे जगे हुए होते हैं, तभी सभी जानते हैं। लोकवादियों ने जो यह बतलाया कि ब्रह्मा के शयन करने पर जगत का प्रलय हो जाता है और उनके जागृत होने पर उदय होता है, यह भी युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि इस संबंध में पहले विवेचन किया गया है । अतः यहां उसका विस्तार करना आवश्यक नहीं है । वास्तव में इस जगत का कभी भी अत्यन्त विनाश नहीं होता, न कभी अत्यन्त उत्पाद ही होता है। यह जगत कभी भी अन्यथा-किसी और तरह का नहीं होता । ऐसा कथन है । यह जगत् अनन्त है इत्यादि लोकवादियों के द्वारा कही हुई बातों को छोड़कर आगमकार पदार्थ के सही स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए प्रस्तुत गाथा के उत्तरार्द्ध में कहते हैं।

इस जगत में जो भी त्रस, स्थावर-चर-अचर प्राणी हैं, वे स्व स्व-अपने अपने द्वारा किये गये कर्मों का फल भोगने के लिये अवश्य ही एक पर्याय से दूसरे पर्याय में जाते हैं । यह सुनिश्चित है-आवश्यक है । त्रस प्राणी अपने कर्म भोग के लिये स्थावर पर्याय में जाते हैं । स्थावर प्राणी के रूप में उत्पन्न होते हैं तथा स्थावर प्राणी त्रस पर्याय में जाते हैं-त्रस प्राणियों के रूप में उत्पन्न होते हैं, किन्तु त्रस प्राणी आगामी जन्म में त्रस के रूप में जन्म लेते हैं तथा स्थावर प्राणी स्थावर के रूप में ही पैदा होते हैं अर्थात् जो प्राणी इस जन्म में जैसा होता है वे अगले जन्म में भी वैसा ही उत्पन्न होता है, यह नियम नहीं है ।

❀ ❀ ❀

उरालं जगतो जोगं, विवज्जासं पलिंतिय ।
सव्वे अक्कंतदुक्खा य, अओ सव्वे अहिंसिया ॥९॥

छाया – **उदारं जगतो योगं विपर्य्यासं पल्ययन्ते ।**
सर्वेऽकान्तदुःखाश्च, अतः सर्वेऽहिंसिता ॥

अनुवाद – जो औदारिक प्राणी हैं उनकी अवस्थिति स्थूलता लिये हुए हैं । सभी प्राणी एक अवस्था का परित्याग कर दूसरी अवस्था में जाते रहते हैं । सभी प्राणी अकान्त दुःख है-दुःख को अप्रिय मानते हैं। इसलिये किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिये ।

टीका – अस्मिन्नेवार्थे दृष्टान्ताभिधित्सयाऽऽह - 'उराल' मिति स्थूल मुदारं 'जगत' औदारिकजन्तुग्रामस्य योगं व्यापरं चेष्टामवस्थाविशेषमित्यर्थः, औदारिकशरीरिणो हि जन्तवः प्राक्तनादवस्थाविशेषाद् गर्भकललार्बुदरुपाद् विपर्य्यासभूतं बालकौमारयौवनादिकमुदारं योगं परि समन्तादयन्ते गच्छन्तिपर्य्ययन्ते, एतदुक्तं भवति-औदारिक शरीरिणो हि मनुष्यादे र्बालकौमारादिकः काल कृतोऽवस्था विशेषोऽन्यथाचान्यथा च भवन् प्रत्यक्षेणैव लक्ष्यते, न पुनयाहिक् प्राक् ताहगेव सर्वदेति, एवं सर्वेषां स्थावरजङ्गमानामन्यथाऽन्यथा च भवनं द्रष्टव्यमिति । अपि च सर्वे जन्तव आक्रान्ता अभिभूताः दुःखेन शारीरमानसेनासातोदयेन दुःखाक्रान्ताः सन्तोऽन्यथाऽवस्थाभाजो लभ्यन्ते, अतः सर्वेऽपि यथाऽहिंसिताः भवन्ति तथा विधेयम् । यदिवा-सर्वेऽपि जन्त वः अकान्तम् अनभिमतं दुःखं येषान्तेऽकान्तदुःखाः 'च' शब्दात् प्रियसुखाश्च अतस्तान् सर्वान् न हिंस्यादित्यनेन चान्यथात्वदृष्टान्तो दर्शितो भवत्युपदेशश्च दत्त इति ॥९॥

टीकार्थ – सांसारिक प्राणी भिन्न भिन्न अवस्थाओं में परिवर्तित होते रहते हैं । इस तथ्य को स्पष्ट करने हेतु आगमकार दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं -

औदारिक शरीर युक्त जीव योग व्यापार या अवस्था विशेष की दृष्टि से उदार-स्थूल होते हैं। वे गर्भ, कलाल, अर्बुद रूप पूर्वतन अवस्थाओं का परित्याग कर बाल्यावस्था, कौमारावस्था तथा यौवनावस्था आदि प्राप्त करते हैं, जो स्थूल हैं । कहने का अभिप्राय यह है कि औदारिक शरीर युक्त मनुष्य आदि प्राणियों की कालकृत-समय पर विकसित कौमार्य आदि अवस्थाएं भिन्न भिन्न हैं, यह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है किन्तु जो पहले-पूर्वजन्म में जैसा होता है वह आगे भी सदा वैसा ही होता रहे, ऐसा दिखाई नहीं देता । इसी प्रकार स्थावर जंगम आदि सभी प्राणी भिन्न भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त करते हैं, यह समझना चाहिये । संसार में जितने भी प्राणी हैं, वे सब दैहिक और मानसिक आदि दुःखों से उत्पीडित है तथा वे भिन्न-भिन्न अवस्थाएं प्राप्त करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं । अतएव उन प्राणियों की हिंसा नहीं करनी चाहिये-जिस प्रकार हिंसा न हो इसका ध्यान रखा जाना चाहिये अथवा सभी प्राणियों को दुःख अप्रिय है तथा सुख प्रिय है । अतएव किसी की भी-सभी की हिंसा नहीं करनी चाहिये । अतएव इस पद्य द्वारा प्राणियों का अन्यथाभाव बतलाया गया है तथा उनकी हिंसा न करने का उपदेश दिया गया है ।

❀ ❀ ❀

एयं खु नाणिनो सारं, जन्न हिंसइ किंचण ।
अहिंसासमयं चेव, एतावंतं वियाणिया ॥१०॥

छाया – **एतत् खलु ज्ञानिनः सारं यन्न हिनस्ति कञ्चन ।**
अहिंसासमतांश्चैव तावद्विजानीयात् ॥

अनुवाद – ज्ञानी-ज्ञान सम्पन्न पुरुष के लिये यही सारयुक्त बात है कि वह किसी की हिंसा न करे। अहिंसा और समता-समत्व भावना, सब को एक समान मानना यही सत्य है, ग्राह्य है ।

टीका – किमर्थं सत्त्वान् न हिंस्यादित्याह-शुखधारणे, एतदेव ज्ञानिनो विशिष्ट विवेकवतः सारं न्याय्यं यत् कञ्चन प्राणिजातं स्थावरजङ्गमं वा न हिनस्ति न परितापयति । उपलक्षणञ्चैतत् तेन न मृषा ब्रूयान्नादत्तं गृह्णीयान्नाब्रह्माऽऽसेवेत न परिग्रहं परिगृहणीयान्न नक्तं भुञ्जीतेत्येतद्ज्ञानिनः सारं यन्न कर्माश्रवेषु

वर्तत इति । अपि च अहिंसया समता अहिंसासमता ताञ्चैतावद्विजानीयात्, यथा मम मरणं दुःख ञ्चाप्रियमेवमन्यस्यापि प्राणि लोक स्येति । एवकारोऽवधारणे, इत्येवं साधुना ज्ञानवता प्राणिनां परितापनाऽपद्रावणादि न विधेय मेवेति ॥१०॥

टीकार्थ – प्राणियों की हिंसा क्यों नहीं करनी चाहिये, इसका समाधान प्रस्तुत करते हुए आगमकार कहते हैं –

इस गाथा में "खु" शब्द आया है । वह अवधारणा के अर्थ में है । ज्ञानी-विशिष्ट विवेकसम्पन्न पुरुष के लिए यहीं सार युक्त बात हैं-उचित है, करणीय है कि वह स्थिति शील, गतिशील किन्हीं भी प्राणियों की हिंसा न करे । उन्हें यातना या पीडा न दे । यहां हिंसा न करना उपलक्षण है-संकेत रूप है । इससे यह भी समझना चाहिये कि विवेकशील पुरुष असत्य भाषण न करे, अदत्त वस्तु न ले, अब्रह्मचर्य न सेवे, परिग्रह का संग्रह न करे, तथा रात्रि भोजन भी न करे । ज्ञान प्राप्त करने का यही सार है-उपयोगिता है कि मनुष्य कर्माश्रवों में न पड़े । अहिंसा के कारण जो समत्व भाव पैदा होता है, उसे यथावत समझे । जैसे मुझे मरना अप्रिय लगता है-दुःखजनक लगता है, उसी प्रकार सभी प्राणियों को वह अप्रिय है । यह जानकर विवेकशील मुनि प्राणियों को परितापन-पीड़ा, अपद्रावण-कष्ट न दे । उन्हें पीडित और परितप्त न करे ।

❀ ❀ ❀

वुसिए य विगयगेही, आयाणं सं (सम्म) रक्खए ।
चरिआसण सेज्जासु भत्तपाणे अ अंत सो ॥११॥

छाया – व्युषितश्च विगतगृद्धि रादानं सम्यग्रक्षेत ।
चर्य्यासन शय्यासु भक्तपाने चान्तशः ॥

अनुवाद – साधु समाचारी में अवस्थित-साधु आचार का सम्यक् परिपालयिता मुनि आहार आदि में लिप्सा रहित रहे । वह ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र की भली भांति रक्षा करे । उन्हें अक्षुण्ण रखे । चलने-फिरने तथा खाने-पीने के संबंध में सदा उपयोग के साथ बरते ।

टीका – विविधम्-अनेक प्रकार मुषितः स्थितो दशविधचक्रवालसमाचार्य्यां व्युषितः, तथा विगता अपगता आहारादौ गृद्धिर्यस्याऽसौ विगतगृद्धिः साधुः एवंभूतश्चादीयते स्वीक्रियते प्राप्यते वा मोक्षो येन तदादानीयं-ज्ञानदर्शनचारित्रत्रयं तत्सम्यग् रक्षयेद् अनुपालयेत् यथा यथा च तस्य वृद्धिर्भवति तथा तथा कुर्य्यादित्यर्थः । कथं पुनश्चारित्रादि पालितं भवतीति दर्शयति-चर्य्यासनशय्यासु, चरणं चर्य्या-गमनं साधुना हि सति प्रयोजने युगमात्रदृष्टिना गन्तव्यं, तथा सुप्रत्युपेक्षिते सुप्रमार्जिते चासने उपवेष्टव्यं तथा शय्यायां बसतौ संस्तारके वा सुप्रत्युपेक्षितप्रमार्जिते स्थानादि विधेयं, तथा भक्तपाने चान्तशःसम्यगुपयोगवता भाव्यम् इदमुक्तं भवति ईर्य्याभा-षैषणाऽऽदाननिक्षेपप्रतिष्ठापनासमितिषूपयुक्तेनान्तशो भक्तपानं यावदुद्गमादिदोष रहित मन्वेषणीय मिति ॥११॥

टीकार्थ – साधु समाचारी दस प्रकार की बतलाई गई है । उसे तलवार के समान तीक्ष्ण कहा गया है । उसमेंअवस्थित-उसका पालन करने वाला व्युषित कहलाता है । जिसकी आहार आदि में गृद्धि या लोलुपता मिट जाती है वह विगत गृद्धि-लोलुपता रहित या लिप्साहीन कहा जाता है । जो मुनि इन दोनों गुणों से, जिनसे मोक्ष प्राप्त होता है, युक्त है वह ज्ञान, दर्शन और चारित्र की भली भांति रक्षा करे, अनुपालन करे । जैसे जैसे

उसकी वृद्धि-संवर्धन-विकास हो वह उसी प्रकार के कार्य करे । चारित्र आदि का पालन किस प्रकार हो सकता है, यह प्रश्न उपस्थित करते हुए शास्त्रकार बतलाते हैं-चलना या गमन करना चर्या कहलाता है । प्रयोजन होने पर-आवश्यक होने पर साधु कहीं जाये तो वह युग मात्र दृष्टि रखकर चले । सुप्रत्युपेषित-भली भांति देखकर सुप्रमार्जित-भली भाँति प्रमार्जित कर-झाड़कर, आसन पर बैठे । अपनी शैय्या स्थान संस्तारक-बिछौना आदि को भली भांति देखकर, प्रमार्जित कर, उन पर स्थित हों उसी प्रकार खाने पीने में भी वह सम्यक् उपयोग रखे, जागरूक रहे । कहने का अभिप्राय यह है कि साधु ईर्या भाषा, आदान निक्षेप और प्रतिष्ठापन मूलक समितियों में सदैव उपयोग-जागरूकता रखता हुआ उद्गम आदि दोषों से रहित आहार पानी का अन्वेषण करे। भली भांति खोज खबर कर भिक्षा स्वीकार करे ।

❀ ❀ ❀

एतेहिं तिहिं ठाणेहिं, संजए सततं मुणी ।
उक्कसं जलणं णूमं, मज्झत्थं च विगिंचए ॥१२॥

छाया – एतेषु त्रिषु स्थानेषु संयतः सततं मुनिः ।
उत्कर्षं ज्वलनं छादकं मध्यस्थञ्च विवेचयेत् ॥

अनुवाद – मुनि तीनों स्थानों-ईर्या समिति, आदान निक्षेप समिति तथा एषणा समिति में सदैव संयत रहता हुआ-जागरूक या प्रमाद रहित रहता हुआ क्रोध, अहंकार, माया तथा लोभ का परित्याग करे ।

टीका – पुनरपि चारित्रशुद्ध्यर्थं गुणानधिकृत्याह-एतानि-अनन्तरोक्तानि त्रीणि स्थानानि, तद्यथा ईर्य्या समितिरित्येकं स्थानम् आसनं शय्येत्यनेनादानभाण्डमात्रनिक्षेपणा समिति रित्येतच्च द्वितीयं स्थानं भक्तपान मित्यनेनैषणासमितिरूपात्ता भक्तपानार्थञ्च प्रविष्टस्य भाषणसम्भवाद्भाषा समिति राक्षिप्ता । सति चाहारे उच्चार प्रस्रवणादीनां सद्भावात् प्रतिष्ठापनासमितिरप्यायातेत्येतच्च तृतीयं स्थानमिति, अत एतेषु त्रिषु स्थानेषु सम्यग्यतः संयत आमोक्षाय परिव्रजेदित्युत्तरश्लोकान्ते क्रियेति । तथा सततम् अनवरतम् मुनिः सम्यक् यथावस्थितजगत्त्रयवेत्ता उत्कृष्यते आत्मा दर्पाध्यातो विधीयतेऽनेनेत्युत्कर्षो मानः तथा आत्मानं चारित्रं वा ज्वलयति दहतीति ज्वलनः क्रोधः तथा 'णूम' मिति गहनं मायेत्यर्थः तस्या अलब्धमध्यत्वादेवमभिधीयते, तथा आसंसारमसुमतां मध्ये अन्तर्भवतीति मध्यस्थो लोभः, च शब्दः समुच्चये, एतान् मानादींश्चतुरोऽपि कषायांस्तद्विपाकाभिज्ञो मुनिः सदा विगिंचएत्ति विवेचयेदात्मनः पृथक् कुर्य्यादित्यर्थः । ननु चान्यत्रागमे क्रौध आदावुपन्यस्यते, तथा क्षपकश्रेण्या मारूढ़ो भगवान क्रोधादीनेव संज्वलनान् क्षपयति तत्किमर्थमागम प्रसिद्धं क्रम मुल्लङ्घ्यादौ मानस्योपन्यास इति ? अत्रोच्यते, माने सत्यवश्यं भावी क्रोधः कोधे तु मानः स्याद्वा न वेत्यस्यार्थस्य प्रदर्शनायान्यथा क्रम करणमिति ॥१२॥

टीकार्थ – शास्त्रकार चारित्र की शुद्धि हेतु अपेक्षित गुणों के संबंध में प्रकाश डालते हुए बतलाते हैं-पूर्वोक्त कहे गये तीन स्थानों में साधु को चाहिये कि वह सदा संयम-अप्रमाद या जागरूक भाव के साथ वर्तन करे । उन तीनों में ईर्यासमिति पहला स्थान है । आसन व शय्या शब्द से आदान एवं भाण्ड निक्षेपण समिति का कथन किया है । यह दूसरा स्थान है । भक्त पान शब्द द्वारा एषणा समिति का प्रतिपादन हुआ है । आहार पानी लेने हेतु गृहस्थ के घर में प्रवृष्ट साधु द्वारा भाषण किया जाना-बोल जाना भी संभव है ।

अतः यहा भाषा समिति का भी आक्षेप जानना चाहिये-भाषा समिति को भी ले लेना चाहिये आहार करने पर उच्चार-मलत्याग, प्रस्रवण-मूत्र त्याग के रूप में शौचादि क्रिया भी संभव है । इसलिये यहां प्रतिस्थापना समिति भी आ जाती हैं । यह तीसरा स्थान है । इन तीनों स्थानों में साधु संयम के साथ वर्तन करता हुआ मुक्ति लाभ पर्यन्त उस ओर गतिशील रहे । उत्तरवर्ती श्लोक की क्रिया से संबन्ध जोड़ना चाहिये । तीनों लोकों को यथावत रूप में जानने वाला साधु उत्कर्ष-मान या अहंकार का त्याग कर दे । जिससे आत्मा दर्पाध्मात्-दर्प अग्नि से सुलग उठती है, जो आत्मा तथा चारित्र को जलाता है उसे ज्वलन कहा जाता है, वह क्रोध है, उसका भी मुनि परित्याग कर दे। माया को 'ण्हूम' कहा जाता है क्योंकि इसका मध्य-बीच जाना नहीं जा सकता, वह गहन है । (मुनि उसका भी त्याग करे) । आसंसार-संसार पर्यन्त-यावज्जीवन जो प्राणियों के मध्य में रहता है उसे मध्यस्थ कहा जाता है, वह लोभ है क्योंकि वह प्राणियों का कभी साथ नहीं छोड़ता । वे मुनि उसका परित्याग करे। प्रस्तुत गाथा में 'च' शब्द का प्रयोग हुआ है । अतः चार प्रकार की कषायों का जो फल जानता है, वह मुनि सदा के लिये आत्मा से इन्हें पृथक् कर दे ।

यहां एक शंका उपस्थित होती है । अन्यत्र आगमों में सब कहीं क्रोध का वर्णन हुआ । क्षपक श्रेणी में आरूढ़ भगवान संज्वलनात्मक, क्रोध आदि का ही क्षपण-विनाश करते हैं । तब शास्त्रों में प्रसिद्ध इस क्रम को लांघ कर यहां पहले मान का प्रतिपादन क्यों किया गया ।

इसका निराकरण करते हुए कहते हैं कि मान होने पर अवश्य ही क्रोध होता है परन्तु क्रोध होने पर मान होना संभावित भी है और असंभावित भी है । इस बात को ज्ञापित करने के लिये यहां क्रमोल्लंघन हुआ है ।

❀ ❀ ❀

समिए उ सया साहू, पंच सं वर संवुडे ।
सिएहिं असिए भिक्खू, आमोक्खाय परिव्वएज्जासि ॥१३॥त्तिबेमि॥

छाया – समितस्तु सदा साधुः पञ्चसंवरसंवृत्तः ।
सितेष्वसितो भिक्षु रामोक्षाय परिव्रजेदिति ।इति ब्रवीमि॥

अनुवाद – समित-समिति से युक्त पंचसंवर संवृत्त-पांच संवरों से सुरक्षित होता हुआ साधु-भिक्षणशील मुनि गृहस्थों में मूर्च्छागृद्धि या आसक्ति न रखे । वह मुक्ति पाने तक अनवरत संयम का पालन करे । यह मैं कहता हूँ । श्री सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी से कहते हैं, ऐसा मैं बोलता हूँ ।

टीका – तदेवं मूलगुणानुत्तरगुणांस्वोपदर्श्याधुना सर्वोपसंहारार्थमाह-तुरवधारणे, पञ्चभिः समितिभिः समित एव साधुः तथा प्राणातिपातादि-पञ्चमहाव्रतोपेतत्वात्पञ्चप्रकारसंवरसंवृत्तः तथा मनोवाक्काय-गुप्तिगुप्तः, तथा गृहपाशादिसु सिताः बद्धाः अवसक्ताः गृहस्थास्तेष्वसितः-अनवबद्धस्तेषु मुर्च्छामकुर्वाणः पंकाधारपंकजवत्तत्कर्मणाऽदिह्यमानो भिक्षुः-भिक्षण शीलो भावभिक्षोः आमोक्षाय अशेषकर्मापगमलक्षणमोक्षार्थमपि समन्तात् व्रजेः संयमानुष्ठानरतो भवेस्त्वमिति विनेयस्योपदेशः । इतिः अध्ययन समाप्तौ । ब्रवीमीति गणधर एवमाह यथा तीर्थकृतोक्तं तथैवाहं ब्रवीमि, न स्वमनीषिकयेति । गतोऽनुगमः । साम्प्रतं नया स्तेषामयमुप-संहारः ।

''सव्वेसिं पि नयाणं, बहुविधवक्तव्यं निसामित्ता । तं सव्वणयविशुद्धं जं चरणगुणट्ठिओ साहू'' ? ॥१३॥८८॥

इति सूत्रकृताङ्गे समयाख्यं प्रथमाध्ययनं समाप्तम् ।

टीकार्थ – शास्त्रकार मूल गुणों एवं उत्तरगुणों का वर्णन कर अब उनका उपसंहार करते हुए प्रतिपादन करते हैं –

यहां 'तु' शब्द अवधारणा के अर्थ में है । मुनि सदैव पांचों समितियों से युक्त होकर उनका भली भांति पालन करता हुआ वर्तन करे । वह प्राणातिपात विरमण-हिंसा से वरति, अहिंसा आदि पांच महाव्रतों का परिपालन करता हुआ, पांच संवरों से गुप्त रहे, आत्मा को सुरक्षित रखे, दोष न आने दे। साथ ही साथ वह अपने मन, वचन, शरीर से भी सदा गुप्त रहे--उन्हें असत् प्रवृत्ति में न जाने देकर आत्मरक्षण करे । पारिवारिक फंदे में फंसे हुए गृहस्थों में वह आसक्त न रहे जैसे पंक-कीचड़ में रहता हुआ भी पंकज-कमल उससे अलिप्त रहता है, उसी तरह गृहस्थों के सम्पर्क में रहता हुआ भी साधु उनमें आसक्त न बने । भिक्षणशील-भिक्षा द्वारा जीवन निर्वाह करने वाला भाव भिक्षु जब तक मुक्ति प्राप्त न हो जाय, समस्त कर्मों का क्षय न हो जाय, तब तक संयम के अनुष्ठान में-अनुपालन में संलग्न रहे । यह शिष्य को उद्दिष्ट कर उपदेश है । यहां 'इति' शब्द आया है । वह अध्याय की समाप्ति का सूचक है । ब्रवीमि क्रिया गणधर के साथ जुड़ी है । वे कहते हैं-तीर्थंकर ने जैसा कहा, जैसा मैंने सुना, वही कहता हूँ । स्वमनीषिका-अपनी बुद्धि या मन की इच्छा से नहीं कहता । अनुगम-सिद्धान्त निर्वचन समाप्त हुआ। अब नयों का उपसंहार है । सब नयों की बहुविध वक्तव्यता है-वे अनेक प्रकार उसी को सर्वनय विशुद्ध-सब नयों की दृष्टि से निर्दोष समझना चाहिये । जिन्हें चरण-गुण स्थित-सम्यक् ज्ञान और क्रिया में वर्तनशील साधु विशुद्ध मानते हैं ।

श्री सूत्रकृताङ्ग सूत्र का समय नामक प्रथम अध्ययन समाप्त हुआ ।

❀ ❀ ❀

卐 卐 卐

द्वितीय वैतालिय अध्ययनं

प्रथम उद्देशकः

संबुज्झह किं न बुज्झह ? संबोही खलु पेच्च दुल्लहा ।
णो हूवणमंति राइओ, नो सुलभं पुणरावि जीवियं ॥१॥

छाया – संबुध्यध्वं किं न बुध्यध्वं ? संबोधिः खलु प्रेत्य दुर्लभा ।
नो हूप नमन्ति रात्रयः, नो सुलभं पुनरपि जीवितम् ।

अनुवाद – भव्य जनों को संबोधित कर कहा जाता है-आप बोध को प्राप्त करें । ऐसा क्यों नहीं करते ? इस जगत से चले जाने के बाद बोध प्राप्त करना दुर्लभ है-दुर्गम है । जो रातें बीत जाती हैं, फिर वे लौट कर नहीं आती । जो जीवन चला जाता है, वह फिर सुलभ नहीं रहता ।

टीका – साम्प्रतं सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतंसूत्र मुच्चारणीयं तच्चेदम् - तत्र भगवान् आदि तीर्थंकरों भरततिरस्कारागतसंवेगान् स्वपुत्रानुद्दिश्येदमाह, यदि वा सुरासुरनरोरगतिरश्चः समुद्दिश्य प्रोवाच यथा-संबुध्यध्वं यूयं ज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणे धर्मे बोधं कुरुत, यतः पुनरेवंभूतोऽवसरो दुरापः तथाहि मानुषं जन्म तत्राऽपि कर्मभूमिः पुनरार्यदेशः सुकुलोत्पत्तिः सर्वेन्द्रियपाटवं श्रवणश्रद्धादिप्राप्तौ सत्यां-स्वसंवित्त्यवष्टम्भेनाह-किं न बुध्यध्वमिति, अवश्यमेवंविधसामग्र्यवाप्तौ सकर्णेन तुच्छान् भोगान् परित्यज्य सद्धर्मे बोधो विधेय इति भावः, तथाहि "निर्वाणादि सुखप्रदे नरभवे जैनेन्द्रधर्मान्विते, लब्धे स्वल्पमचारु कामजसुखं नो सेवितुं युज्यते ।

वैदूर्य्यादिमहोपलौघनिचिते प्राप्तेऽपि रत्नाकरे लातुं स्वल्प मदीप्ति काचशकलं किं साम्प्रतं साम्प्रतम्"?

अकृतधर्माचरणानान्तु प्राणिनां संबोधिः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रानाप्तिलक्षणा प्रेत्य परलोकगतानां खलु शब्दस्यावधारणार्थत्वाद् सुदुर्लभैव । तथाहि-विषयप्रमादवशात् सकृद् धर्माचरणाद भ्रष्टस्यानन्तमपि कालं संसारे पर्य्यटनमभिहितमिति । किञ्च हुरित्यवधारणे, नैवातिक्रान्तारात्रयः उपनमन्ति पुनर्ढौकन्ते, नह्यतिक्रान्तो यौवनादिकालः पुनरावर्तत इति भावः तथाहि-

"भवकोटीभिरसुलभं मानुष्यं प्राप्य कः प्रमादो मे नहि गतमायुर्भूयः प्रत्येत्यपि देवराजस्य" ?

नो नैव संसारे सुलभं सुप्रापं संयमप्रधानं जीवितं, यदि वा जीवितम् आयुस्त्रुटितं सत् तदेव सन्धातुं न शक्यत इति वृत्तार्थः संबोधश्च प्रसुप्तस्यसतोभवतिस्वापश्च निद्रोदये, निद्रासंबोयोश्च नामादिश्चतुर्द्धा निक्षेपः तत्र नामस्थापने अनादृत्यद्रव्यभावनिक्षेपं प्रतिपादयितुं निर्युक्तिकृदाह-

"दव्वं निद्दावेओ दंसणणाणतवसंजमा भावे । अहिगारो पुण भणियो, नाणे तवदंसण चरिन्ते ॥४२॥

इह च गाथायां द्रव्यनिद्राभाव संबोधनश्च दर्शितः तत्राद्यन्तग्रहणेन भावनिद्राद्रव्य बोधयोस्तदन्तर्वर्तिनोर्ग्रहणं द्रष्टव्यं, तत्र द्रव्यनिद्रानिद्रावेदो वेदन मनुभवः दर्शनावरणीय विशेषोदय इति यावत्, भावनिद्रातुज्ञानदर्शनचारित्रशून्यता। तत्र द्रव्यबोधो द्रव्यनिद्रया सुप्तस्य बोधनं, भावे भावविषये पुनर्बोधो दर्शनज्ञान चारित्रतपःसंयमाः द्रष्टव्या। इह च भावप्रबोधेनाधिकारः स च गाथापश्चार्द्धेन सुगमेन प्रदर्शित इति । अत्र च निद्राबोधयोर्द्रव्यभावभेदाच्चत्वारो भङ्गा योजनीया इति ॥४३॥

टीकार्थ – सूत्रागम के अनुसार स्खलनारहित आदि गुणों का पालन करते हुए सूत्र का उच्चारण करना चाहिये । आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव, भरत चक्रवर्ती द्वारा तिरस्कृत अपने पुत्रों को जिन्हें वैराग्य उत्पन्न हो गया था, उन्हें उद्दिष्ट कर कहते हैं अथवा सुर, असुर, मनुष्य, उरग-नाग और तिर्यञ्च प्राणियों को संबोधित कर कहते हैं कि-हे भव्य जीवों ! तुम धर्म का बोध प्राप्त करो, जो सम्यक्ज्ञान, सम्यक्दर्शन एवं सम्यक् चारित्र रूप है क्योंकि फिर वैसा अवसर प्राप्त होना दुर्लभ है । मनुष्य योनि, साथ ही साथ कर्म भूमि, आर्य देश और उत्तम कुल में उत्पत्ति-आवास तथा सर्वेन्द्रिय पाटव-सब इन्द्रियों की अपने अपने कार्यों में कुशलता-सक्षमता यह सब प्राप्त होना बहुत कठिन है ।

सुनने की उत्सुकता और श्रद्धा का उद्गम आदि देखकर भगवान् अपने विचार व्यक्त करते हुए कहते हैं कि तुम लोग सम्यक्ज्ञान, सम्यक्दर्शन, सम्यक्चारित्र का बोध-ज्ञान क्यों नहीं प्राप्त करते । एक बुद्धिमान पुरुष को जिसे पूर्वोक्त सामग्री प्राप्त है, तुच्छ-नगण्य विषयों के सेवन का परित्याग कर सच्चे धर्म का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये । जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्रतिपादित मोक्ष रूप सच्चा आनंद प्रदान करने वाला धर्म जो इस मनुष्य भव में प्राप्त है, वहां तुच्छ-नगण्य, असुन्दर-वस्तुवृत्त्या दुःखप्रद कामभोग का सेवन करना उचित नहीं है । वैडूर्य आदि मणियों से आपूर्ण समुद्र प्राप्त हो जाय तो फिर निस्तेज, नगण्य कांच के टुकड़े को लेना कहां तक उचित है । कदापि उचित नहीं । जिस पुरुष ने धर्म का आचरण नहीं किया, उसे परलोक में सम्बोधि-ज्ञान, दर्शन, और चारित्र की प्राप्ति दुर्लभ है । इस गाथा में 'खलु' शब्द अवधारणामूलक है । जो पुरुष सांसारिक भोगों के सेवन में पड़कर एक बार भी धर्म के आचरण से भ्रष्ट हो जाता है तो वह अनन्त काल पर्यन्त इस संसार में पर्यटन करता रहता है । आगमों में ऐसा कहा है । यहां 'हू' शब्द का प्रयोग अवधारणा के अर्थ में है । जो रातें अतिक्रान्त हो गई-चली गई, वे फिर लौटकर वापस नहीं आती जो यौवन-जवानी आदि का समय अतिक्रान्त हो गया-चला गया वह वापिस नहीं लौटता-कहा गया है -

कोटि-करोड़ों भवों-जन्मों के बाद भी जिसका प्राप्त होना असुलभ है ऐसे मनुष्य भव को प्राप्त करके भी हाय ! मैं क्यों प्रमाद कर रहा हूँ । जो आयुष्य व्यतीत हो गया, वह फिर लौटकर नहीं आता, चाहे इन्द्र का ही क्यों न हो । इस जगत में संयम प्रधान-जिसमें संयम की मुख्यता हो, ऐसा धर्मिष्ठ जीवन सुलभ और सुप्राप्य नहीं है । टूटी हुई आयु-आयु के धागे का संधान नहीं किया जा सकता । उसे फिर जोड़ा नहीं जा सकता । इस वृत्त-पद्य का यह अर्थ है ।

संबोध शब्द का अर्थ जागना है । जो पुरुष प्रसुप्त होता है-गाढ़ी नींद में सोया हुआ होता है उसको संबोध-जागरण होता है वह जागता है । निद्रा के उदय होने पर स्वाप-शयन होता है । निद्रा और संबोध के नाम आदि चार निक्षेप होते हैं । इनमें नाम निक्षेप व स्थापना को छोड़कर निर्युक्तिकार द्रव्य निक्षेप और भाव निक्षेप को स्पष्ट करते हुए बतलाते हैं । इस गाथा में द्रव्य निद्रा और भाव संबोध व्यक्त किये गये हैं । द्रव्य निद्रा आदि है और भाव प्रबोध अन्त है । अतः आदि और अंत के ग्रहण से उनके मध्य में भाव निद्रा और द्रव्य संबोध का भी ग्रहण करना चाहिये । दर्शनावरणीय कर्म के उदय से जो निद्रा का अनुभव होता है वह द्रव्य निद्रा है तथा ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की शून्यता-इनसे रहित होना भाव निद्रा है । द्रव्य निद्रा में सुप्त पुरुष का जागृत होना द्रव्य बोध है तथा ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप तथा संयम को स्वायत्त करना भाव बोध हैं, यहां भाव प्रबोध का ही वर्णन है । यह इस गाथा के उत्तरार्द्ध द्वारा भलीभांति प्रकट है । यहां द्रव्य और भाव भेद की अपेक्षा से निद्रा एवं बोध से चार भेद समझ लेने चाहिये ।

❀ ❀ ❀

डहरा बुड्ढा य पासह गब्भत्था वि चयंति माणवा ।
सेणे जह वट्टयं हरे एवं आउखयंमि तुट्टई ॥२॥

छाया – **दहराः वृद्धाश्च पश्यत गर्भस्था अपि त्यजन्तिमानवाः ।**
श्येनो यथा वर्तिकां हरेदेवमायुःक्षये त्रुट्यति ॥२॥

अनुवाद – भगवान ऋषभ कहते हैं-यह संसार ऐसा है कि बालक, वृद्ध तथा गर्भस्थ मनुष्य भी इस जीवन को छोड़ देते हैं, मर जाते हैं । जरा देखो, विचार करो । जैसे बाज वर्तक-बटेर पक्षी के प्राण हर लेता है-मार डालता है । उसी प्रकार आयु क्षीण होने पर मृत्यु जीवन को झपट लेती है ।

टीका – भगवानेव सर्वसंसारिणां सोपक्रमत्वादनियतमायुरुपदर्शयन्नाह-डहराः बाला एव केचन जीवितं त्यजन्ति तथा वृद्धाश्च गर्भस्था अपि एतत्पश्यत यूयं, केते ? मानवाः मनुष्याः तेषामेवोपदेशदानार्हत्वान्मानवग्रहणं, बहवपायत्वादायुषः सर्वास्वप्यवस्थासु प्राणी प्राणांस्त्यजतीत्युक्तं भवति, तथाहि त्रिपल्योपमायुष्कस्यापि पर्य्याप्त्यनन्तरमन्तमुहूर्तेनैव कस्य चिन्मृत्युरुपतिष्ठतीति । अपि च "गर्भस्थं जायमान" मित्यादि । अत्रैव दृष्टान्तमाह-यथा श्येनः पक्षिविशेषो वर्त्तकं तित्तिरजातीयं हरेद् व्यापादयेद् एवं प्राणिनः प्राणान् मृत्युरपहरेत्, उपक्रमकारणमायुष्क मुपक्रामेत्, तदभावे वा आयुष्यक्षये त्रुट्यति व्यवच्छिद्यते जीवानां जीवितमितिशेषः ॥२॥

टीकार्थ – समस्त सांसारिक जीवों की आयु सौपक्रम-उपक्रम सहित होने के कारण नियत-निश्चित नहीं है-यह दिग्दर्शन कराते हुए भगवान ऋषभ कहते हैं -

कोई शैशव में ही अपने जीवन को त्याग देते हैं तथा कई वृद्ध होकर मृत्यु को प्राप्त होते हैं और कई ऐसे भी हैं जो गर्भ में ही चले जाते हैं । यह देखो ! इस पर विचार करो । यों जीवन को त्याग करने वाले वे कौन हैं ? वे मानव हैं । यद्यपि सभी प्राणियों की यही स्थिति है तथापि मनुष्य ही उपदेश देने योग्य होते हैं । इसलिये यहां मनुष्यों को ही ग्रहण किया गया है । इसका अभिप्राय यह है कि आयु बहुत ही अपायों-विघ्न बाधाओं से पूर्ण हैं । इसलिये सभी अवस्थाओं में प्राणी प्राण त्याग कर जाते हैं-मर जाते हैं । कई ऐसे प्राणी हैं जो त्रिपल्योपम आयु प्राप्त करके भी पर्याप्ति के अनन्तर ही अन्तर्मुहूर्त में मर जाते हैं, अपनी जीवन लीला का संवरण कर जाते हैं । इसलिये कहा गया है कि कोई गर्भ में ही, कोई जन्मते ही अपने प्राण छोड़ देते हैं ।

इस विषय का स्पष्टीकरण करने के लिये आगमकार एक दृष्टान्त उपस्थित करते हैं-जैसे बाज तित्तिर जातीय तीतर नामक पक्षी या बटेर को मार डालता है, उसी प्रकार मृत्यु प्राणियों के प्राणों का अपहरण कर लेती है । आयुष्य के क्षय का जब कारण उपस्थित हो जाता है तो प्राणियों का जीवन टूट जाता है, व्यवच्छिन्न हो जाता है-नष्ट हो जाता है ।

❀ ❀ ❀

मायाहिं पियाहिं, लुप्पइ, नो सुलहा सुगई य पेच्चओ ।
एयाइं भयाइं पेहिया, आरम्भा विरमेज्ज सुव्वए ॥३॥

छाया – **मातृभिः पितृभि र्लुप्यते नो सुलभा सुगतिश्च प्रेत्य ।**
एतानि भयानि प्रेक्ष्य आरंभाद्विरमेत सुव्रतः ॥

अनुवाद – संसार में कई ऐसे लोग हैं जो मां बाप आदि के मोह में पड़कर संसार में भटकते हैं। मरने पर-जीवन लीला के समाप्त हो जाने पर उन्हें सद्गति प्राप्त नहीं होती । इसलिये माता पिता का मोह आदि भय है । सुव्रत-उत्तम रूप से व्रतों का पालन करने वाला पुरुष इन भयों को देखकर आरम्भ से-हिंसा से निवृत्त रहे ।

टीका – तथा कश्चिन्मातापितृभ्यां मोहेन स्वजनस्नेहने च न धर्मम्प्रत्युद्यमं विधत्ते, स च तैरेव माता-पित्रादिभिः लुप्यते संसारे भ्राम्यते, तथाहि-

''विहितमलोहमहोमहन्मातापितृ पुत्रदार बन्धुसंङ्गम । स्नेहमय मसुमतामदः किं बन्धनं शृङ्खलं खलेन धात्रा''?

तस्य च स्नेहा कुलितमानसस्य सदसद्विवेकविकलस्य स्वजनपोषणार्थं यत्किञ्चन कारिण इहैव सद्भिर्निन्दितस्य सुगतिरपि प्रेत्य जन्मान्तरे नो सुलभा, अपितु मातापितृव्यामोहितमनसस्तदर्थं क्लिश्यतो विषयसुखेप्सोश्च दुर्गतिरेव भवतीत्युक्तम्भवति । तदेवमेतानि भयानि भयकारणानि दुर्गतिगमनादीनि, 'पेहिय' त्ति प्रेक्ष्य आरम्भात् सावद्यानुष्ठानरूपाद् विरमेत् सुवतः सन् सुस्थितो वेति पाठान्तरम् ॥३॥

टीकार्थ – कोई मनुष्य माँ बाप तथा पारिवारिक जनों के स्नेह में, मोह में पड़कर धर्म के प्रति उद्यत नहीं रहता । उस दिशा में प्रयत्नशील नहीं रहता । माता-पिता आदि पारिवारिक जन उसे संसार में परिभ्रमण कराते हैं । उनके कारण वह संसार में भटकता है । अतएव कहा है-खल-दुष्ट विधाता ने जीवों को बंधन में डाले रखने हेतु माता-पिता, पुत्र पुत्री, स्त्री, बन्धु-बान्धव मूलक शृंखला-जंजीर की रचना की है । तथापि ये जंजीर लोहे की बनी हुई नहीं है किन्तु उससे भी कहीं ज्यादा मजबूत है । माँ बाप और कुटुम्बी जनों के मोह मे पड़ा मनुष्य सत्, असत् के विवेक से रहित हो जाता है । वह अपने पारिवारिक लोगों का परिपोषण करने हेतु निम्न से निम्न कार्य करने को उतारु हो जाता है । अतः इस लोक में सज्जन पुरुषों द्वारा वह निदिंत होता है-सज्जन-सद्धर्मानुरागी पुरुषों की दृष्टि में उसकी प्रतिष्ठा नहीं रहती । परलोक में भी वह सद्गति-उत्तम गति नहीं पाता । अभिप्राय यह है कि माँ बाप आदि कुटुम्बीजनों के मोह में जो ग्रस्त रहता है, वैषयिक सुखों की अभिप्सा लिये रहता है तथा स्वजनों के लिये-उनके सुख के लिये तरह तरह के कष्ट झेलता है। वह दुर्गति को प्राप्त करता है । सुव्रत-सुष्ठुव्रत युक्त पुरुष इस प्रकार दुर्गति आदि भयोत्पादक कारणों को देखता हुआ आरम्भ-हिंसा आदि से निवृत्त रहे-दूर रहें ।

❀ ❀ ❀

जमिणं जगती पुढो जगा, कम्मेहिं लुप्पंति पाणिणो ।
समयेव कडेहिं गाहइ, णो तस्स मुच्चेज्जऽपुट्ठयं ॥४॥

छाया – यदिदं जगति पृथज्जगाः, कर्मभिर्लुप्यन्ते प्राणिनः ।
स्वयमेन कृतै गार्हते, नो तस्य मुच्येदस्पष्टः ॥

अनुवाद – इस संसार में जो प्राणी सावद्य-सपाप कर्मों के आचरण का त्याग नहीं करते, उनकी बड़ी दुर्वस्था होती है । पृथक् पृथक स्थानों में, योनियों में निवास करने वाले प्राणी अपने द्वारा कृत कर्मों के फल भोग हेतु नरक आदि यातनामय स्थानों में जाते हैं । वे अपने कर्मों का फल भोग बिना वहां से छूट नहीं सकते।

टीका – अनिवृत्तस्य दोषमाह-यद् यस्माद निवृत्तानामिदं भवति, किं तत् ? जगति 'पुढो' त्ति, पृथग्भूता:-व्यवस्थिता: सावद्यानुष्ठानोपचितै: कर्मभि: विलुप्यन्ते नरकादिषु यातनास्थानेषु भ्राम्यन्ते, स्वयमेव च कृतै: कर्मभिर्नेश्वराद्यापादितै:, गाहते नरकादिस्थानानि यानि तानि वा कर्माणि दु:ख हेतूनि गाहते-उपचिनोति, अनेन च हेतुहेतुमद्भाव: कर्मणामुपदर्शितो भवति, न च तस्य अशुभाचरितस्य कर्मणो विपाकेन अस्पृष्ट: अच्छुप्तो मुच्यते जन्तु:, कर्मणामुदयमननुभूय तपोविशेषमन्तरेण दीक्षा प्रवेशादिना न तदपगमं विधत्त इति भाव:॥४॥

टीकार्थ – जो प्राणी सावद्य-पापयुक्त कार्यों से दूर नहीं होते उनके दोष प्रकट करने हेतु शास्त्रकार कहते हैं -

जो पुरुष सावद्य कार्यों से निवृत्त नहीं होतें-पृथक् नहीं होते उनकी ऐसी दशा होतीहै । उनकी क्या दशा होती है ? यह प्रश्न उपस्थित कर वे प्रतिपादित करते हैं कि जगत में पृथक् पृथक् निवास करने वाले प्राणी अपने पापपूर्ण कार्यों द्वारा संचित कर्मों के परिणामस्वरूप नरकादि यातनामय स्थानों में भटकाये जाते हैं। वे प्राणी अपने द्वारा किये गये कर्मों के परिणामस्वरूप नरक आदि यातनामय-दु:खमय स्थितियां प्राप्त करते हैं । ईश्वर आदि किसी अन्य कारण से यह नहीं होता । अपने दु:खों का अपने कर्मों के साथ कार्य कारण भाव संबंध है । कर्म कारण है । दु:ख कार्य है । यह बतलाया गया है । प्राणी अपने द्वारा किये गये कर्मों का फल भोगे बिना उनसे छुटकारा नहीं पा सकता । वह अपने उदय में आये कर्मों का फल भोग किये बिना तथा विशेष तपश्चरण एवं दीक्षा ग्रहण आदि के बिना उन कर्मों का अपगम-नाश नहीं कर सकता ।

❀ ❀ ❀

देवा गंधव्वरक्खसा, असुरा भूमिचरा सरीसिवा ।
राया नरसेट्ठिमाहणा, ठाणा तेवि चयंति दुक्खिया ॥५॥

छाया – **देवा: गन्धर्व राक्षसा: असुरा: भूमिचरा: सरीसृपा: ।**
राजानो नरश्रेष्ठि ब्राह्मणा: स्थानानि तेऽपि त्यजन्ति दु:खिता: ॥

अनुवाद – इस संसार में देवता, गंधर्व, राक्षस, असुर भूमि पर विचरणशील प्राणी सरिसृप, रेंगने वाले जंतु, राजा, साधारण मनुष्य श्रेष्ठिजन तथा ब्राह्मण ये सभी दु:खित होकर मृत्युकाल में अपने-अपने स्थानों का परित्याग कर चले जाते हैं ।

टीका – अधुना सर्वस्थानानित्यतां दर्शयितुमाह - देवा: ज्योतिष्क सौधर्माद्या:, गन्धर्वराक्षस यो रूप लक्षणत्वादष्ट प्रकारा: व्यन्तरा: गृह्यन्ते । तथा असुरा: दशप्रकारा: भवनपतय:, ये चाऽन्ये भूमिचरा: सरीसृपाद्या: तिर्यञ्च: तथा राजान: चक्रवर्तिनो बलदेववासुदेवप्रभृतय: तथा नरा: सामान्यमनुष्या: श्रेष्ठिन: पुरमहत्तरा: ब्राह्मणाश्चैते सर्वेऽपि स्वकीयानि स्थानानि दु:खिता: सन्त स्त्यजन्ति, यत: सर्वेषामपि प्राणिनां प्राणपरित्यागे महद् दु:खं समुत्पद्यत इति ॥५॥

टीकार्थ – इस संसार में जितने भी प्राणियों के आवास के-जीवित रहने के जितने भी स्थान हैं, योनियां हैं, वे सभी अनित्य-नश्वर हैं । यह दिग्दर्शन कराने हेतु आगमकार कहते हैं -

ज्योतिष्क, सौधर्म आदि देवगण, गंधर्व एवं राक्षस आठ प्रकार के व्यन्तर देव, दस प्रकार के भवनपति देव, पृथ्वी पर चलने वाले प्राणी, सरीसृप-पेट के बल रेंगने वाले तिर्यञ्च, बलदेव, वासुदेव तथा चक्रवर्ती आदि

विशिष्ट जन एवं साधारण पुरुष, नगर के श्रेष्ठिजन तथा ब्राह्मण आदि सभी बड़े दुःख के साथ अपने-अपने स्थानों को छोड़कर चले जाते हैं । प्राण त्याग करते समय सभी प्राणियों को अत्यन्त कष्ट होता है ।

❀ ❀ ❀

कामेहि ण संथवेहि गिद्धा, कम्मसहा कालेण जंतवो ।
ताले जह बंधणच्चुए एवं आउक्खयंमि तुट्टती ॥६॥

छाया – कामेषु संस्तवेषु गृद्धा, कर्मसहाः कालेन जन्तवः ।
तालं यथा बन्धनाच्च्युतमेव मायुःक्षये त्रुटयति ॥

अनुवाद – कामभोगों में-सांसारिक विषयों में तृष्णायुक्त पारिवारिक जनों में आसक्त प्राणी समय आने पर अपने कृत कर्मों का फल भोगते हुए आयु क्षय होने पर उसी प्रकार समाप्त हो जाते हैं जैसे ताड़ का बंधा हुआ फल बंधन के छूट जाने पर गिर जाता है ।

टीका – किञ्च 'कामेहिं' इत्यादि, कामैरिच्छामदनरूपैस्तथा संस्तवै पूर्वापरभूतैः गृद्धा अध्युपपन्नाः सन्तः कम्मसहेत्ति कर्मविपाकसहिष्णवः कालेन कर्मविपाककालेन जन्तवः प्राणिनो भवन्ति । इदमुक्तं भवति-भोगेष्सोर्विषयासेवनेन तदुपशममिच्छत इहामुत्र च क्लेश एव केवलं न पुनरूपशमावाप्तिः तथाहि-

"उपभोगोपायपरो वाञ्छति यः शमयितुं विषय तृष्णाम् । धावत्याक्रमितुमसौ पुरोऽपराह्णे निजच्छायाम्"?

नच तस्य मुमूर्षोः कामैः संस्तवैश्च त्राणमस्तीति दर्शयति-यथा तालफलं बन्धनाद् वृन्तात्च्युतमत्राणमवश्यं पतति एवमसावपि स्वायुषः क्षये त्रुट्यति जीवितात् च्यवत इति ॥६॥

टीकार्थ – इच्छा मदन रूप काम-विषय भोग की तृष्णा से युक्त तथा पूर्ववर्ती एवं पश्चात्वर्ती सम्बन्धी जनों में आसक्त प्राणी अपने कर्म उदित होने पर उनका फल भोगते हैं । इसका आशय यह है कि विषय सेवन की इच्छा में संलग्न पुरुष विषयों द्वारा-भोगों द्वारा अपनी तृष्णा को मिटाना चाहता है, शांत करना चाहता है । वह इस लोक में तथा परलोक में कष्ट ही प्राप्त करता है । उनकी तृष्णा कभी शांत नहीं होती । इसलिये कहा गया है कि जो व्यक्ति भोगपरायण-भोग संलग्न रहकर विषय तृष्णा को शांत करना चाहता है, वह मानव अपराह्न में-मध्याह्न के पश्चात् अपनी छाया को आक्रान्त करने हेतु-पकड़ने हेतु मानो दौड़ता है । मरणशील मानव की काम भोग द्वारा तथा परिचित जनों एवं पदार्थों द्वारा त्राण नहीं होता । वे उसके शरण नहीं बनते, आगमकार इसका दिग्दर्शन करते हुए कहते हैं कि जैसे बंधन से वृक्ष के वृन्तया-तन्तु से च्युत छूटा हुआ ताड़ का फल अवश्य ही गिर जाता है कोई भी उसे गिरने से रोक नहीं सकता, उसी प्रकार जब प्राणी का आयुष्य क्षीण हो जाता है तो वह अपने जीवन से च्युत हो जाता है-मर जाता है ।

❀ ❀ ❀

जे यापि बहुस्सुए सिया, धम्मियमाहणभिक्खुए सिता ।
अभिणूमकडेहिं मुच्छिए तिव्वं ते कम्मेहिं किच्चती ॥७॥

छाया – येचाऽपि बहुश्रुताःस्युः धार्मिक ब्राह्मणभिक्षुकाः स्युः ।
अभिच्छादककृतै र्मूर्च्छिता स्तीव्रं ते कर्मभिः कृत्यन्ते ॥

अनुवाद – मनुष्य चाहे कितने ही बहुश्रुत-प्रचुर शास्त्राध्ययन किये हुए हों, धार्मिक-धर्म परायण हों, ब्राह्मण हों, चाहे भिक्षु-श्रमण हों, यदि वे मायायुक्त कार्यों में संलग्न रहते हैं तो अपने कर्मों के फलस्वरूप अत्यन्त दुःखित होते हैं ।

टीका – ये चाऽपि बहुश्रुताः शास्त्रार्थपारगाः तथा धार्मिकाः धर्माचरणशीलाः तथा ब्राह्मणाः भिक्षुकाः भिक्षाटनशीलाः स्युः भवेयुः, तेऽप्याभिमुख्येन 'णूम' न्ति कर्म माया वा तत्कृतैरसदनुष्ठानै र्मूर्च्छिताः गृद्धाः तीव्रमत्यर्थं मत्र च छान्तसत्वाद् बहुवचनं द्रष्टव्यम् त एवम्भूताः कर्माभिः सद्वेद्यादिभिः कृत्यन्ते छिद्यन्ते पीड्यन्त इति यावत् ॥७॥

टीकार्थ – जो बहुश्रुत-शास्त्र तत्त्व के पारगामी हैं, धार्मिक-धर्म का आचरण करते हैं, ब्राह्मण तथा भिक्षुक है-भिक्षा द्वारा जीवन निर्वाह करने वाले साधु हैं, फिर भी वे यदि माया-छलना या प्रवञ्चना युक्त कार्यों में आसक्त हैं, तो वे सातावेदनीय-अनुकूल या सुखात्मक एवं असातावेदनीय-प्रति-कूल या दुःखात्मक कर्मों से उत्पीडित होते हैं । यहां छान्दस या आर्ष प्रयोग की दृष्टि से "किच्चती"-कृत्यते को बहुवचन में लेना चाहिये ।

❀ ❀ ❀

अह पास विवेगमुट्ठिए, अवितिन्ने इह भासई धुवं ।
णाहिसि आरं कओ परं वेहासे कम्मेहिं किच्चती ॥८॥

छाया – अथ पश्य विवेकमुत्थितोऽवितीर्ण इह भाषते ध्रुवम् ।
ज्ञास्यस्यारं कुतः परं विहायसि कर्मभिः कृत्यते ॥

अनुवाद – शिष्यों को या श्रोतृगण को संबोधित कर शास्त्रकार कहते हैं - देखो ! कई अन्य तीर्थि उत्थित होते हैं-परिग्रहादि युक्त अनित्य संसार का परित्याग कर प्रव्रजित होते हैं, किन्तु संयम का सम्यक् पालन न करने के कारण संसार सागर को पार नहीं कर सकते । वे मोक्ष की बात तो करते हैं किन्तु उसको प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं करते हैं । तुम उनका आश्रय लेकर इस लोक और परलोक को कैसे जान पाते हों, वे अन्यतीर्थि बीच में ही अपना लक्ष्य पूरा किये बिना ही अपने कर्मों द्वारा काटे जाते हैं-पीड़ित किये जाते हैं ।

टीका – साम्प्रतं ज्ञान दर्शन चारित्र मन्तरेण नापरो मोक्षमार्गोऽस्तीति त्रिकाल विषयत्वात्सूत्रस्यागामितीर्थिक-धर्मप्रतिषेधार्थ माह-अथेत्यधिकारान्तरे, बह्वादेशे एकादेशे इति । अथेत्यनन्तरमेतच्च पश्य, कश्चित्तीर्थिको विवेकं परित्यागं परिग्रहस्य परिज्ञानं वा संसारस्याश्रित्य उत्थितः प्रवज्योत्थानेन, स च सम्यक् परिज्ञानाभावादवितीर्णः संसारसमुद्रं ततीर्षुः केवलमिह संसारे प्रस्तावे वा शाश्वतत्वात् ध्रुवो मोक्षस्तं तदुपायं वा संयमं भाषत एव न पुन र्विधत्ते तत्परिज्ञानाभावादिति भावः । तन्मार्गे प्रपन्नस्त्वमपि कथं, ज्ञास्यसि आरम् इह भवं कुतो वा परं परलोकं, यदि वा आरमिति गृहस्थत्वं परमिति प्रवज्यापर्य्यायम्, अथ वा आरमिति संसारं परमिति मोक्ष मेवं भूतश्चाऽन्योप्युभयभ्रष्टः 'वेहासि' त्ति अन्तराले उभयाभावतः स्वकृतैः कर्मभिः कृत्यते पीड्यते ॥८॥

टीकार्थ – सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन एवं सम्यक् चारित्र के अतिरिक्त कोई भी मोक्ष का मार्ग न भूत में था न वर्तमान में है और न भविष्य में होगा । ऐसा शास्त्रों में कहा है । इसलिये ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र से पृथक् तत्त्व को मोक्ष प्राप्ति का मार्ग बताने वाले अन्य तीर्थि जो आगे होंगे, उनका प्रतिषेध करते हुए आगमकार बतलाते हैं-

इस गाथा में आया हुआ 'अथ' शब्द अधिकार या आदेश का भाव लिये हुए है ।

शिष्य को संबोधित कर भगवान कहते हैं-कई अन्य तीर्थि संसार को अनित्य समझ कर परिग्रह का परित्याग कर प्रव्रज्या ग्रहण करते हैं । मोक्ष प्राप्ति हेतु उद्यत होते हैं । वे संसार को पार-संसार रूपी समुद्र को लांघना चाहते हैं किन्तु सम्यग्ज्ञान के अभाव में मोक्ष या इसकी प्राप्ति के साधन संयम की केवल चर्चा करते हैं । उस संबंध में केवल बात बनाते हैं किंतु उसका अनुसरण नहीं करते क्योंकि वैसा करने का उन्हें ज्ञान नहीं है । हे शिष्य ! तुम भी यदि उन द्वारा बताये हुए मार्ग पर चलोगे तो आर-इस भव और परभव को-इस लोक को और परलोक को कैसे जान सकोगे । अथवा आर का अर्थ गृहस्थ का धर्म, संसार का धर्म भी होता है, उसके पार कैसे जा सकोगे-प्रव्रज्या स्वीकार कर किस तरह उसे पार कर सकोगे, अथवा आर का एक अर्थ संसार है और पार का अर्थ मोक्ष है । इन दोनों को तुम कैसे जान सकोगे । जो पुरुष अन्य मतवादियों के रास्ते पर चलता है वह दोनों ओर से भ्रष्ट होकर बीच में ही कर्मों द्वारा काटा जाता है-उत्पीडित किया जाता है ।

❀ ❀ ❀

जइ वि य णगिणे किसे चरे, जइ विय भुंजिय मासमंतसो ।
जे इह मायाइ मिज्जई, आगंता गब्भाय णंतसो ॥९॥

छाया – यद्यपि च नग्नः कृशश्चरेद्, यद्यपि च भुञ्जीत मासमन्तशः ।
य इह मायादिना मीयते, आगन्ता गर्भायानन्तशः ॥

अनुवाद – जो मनुष्य माया-छलना प्रवंचना आदि कषायों से युक्त है, वह चाहे नग्न-वस्त्र विहीन होकर रहे, तप आदि से कृश-दुर्बल होकर विचरण करे, चाहे एक एक महिने के बाद खाये-मास खमण तप करे, तो भी वह अनन्तकाल तक गर्भ में आता है, आवागमन के चक्र में भटकता है ।

टीका – ननु च तीर्थिका अपि केचन निष्परिग्रहास्तथा तपसा निष्टप्तदेहाश्च तत्कथं तेषां नो मोक्षावाप्तिरित्येतदाशङ्क्याह-यद्यपि तीर्थिकः कश्चित् तापसादिस्त्यक्तबाह्यगृहवासादिपरिग्रहत्वात् निष्किञ्चनतया नग्नः त्वक्त्राणाभावाच्च कृशः चरेत् स्वकीय-प्रव्रज्यानुष्ठानं कुर्य्यात् यद्यपि च षष्ठाष्ठमदशमद्वादशादि तपो विशेषं विधत्ते यावद् अन्तशो मासं स्थित्वाभुङ्क्ते तथापि आन्तर कषाया परित्यागान्न मुच्यते इति दर्शयति-यः तीर्थिक इह मायादिना मीयते, उपलक्षणत्वात् कषायैर्युक्त इत्येवं परिच्छिद्यते, असौ गर्भाय गर्भार्थं मा समन्तात् गन्ता यास्यति, अनन्तशो निरवधिकं कालमिति, एतदुक्तं भवति-अकिञ्चनोऽपि, तपोनिष्टप्तदेहोऽपि कषाया परित्यागान्नरकादिस्थानात् तिर्य्यगादिस्थानं गर्भाद् गर्भ मनन्तमपि कालमग्निशर्मवत् संसारे पर्य्यटतीति ॥९॥

टीकार्थ – कई एक अन्य मतवादी निष्परिग्रह-परिग्रहरहित होते हैं । तप द्वारा शरीर को तपा डालते हैं । फिर भी उनको मोक्ष की अवाप्ति-उपलब्धि क्यों नहीं होती ? शास्त्रकार यह शंका उठाकर प्रतिपादन करते हैं ।

यद्यपि कई एक परतीर्थिक-तापस आदि परम्पराओं से संबद्ध बाहरी रूप में परिग्रह का परित्याग कर अकिंचन बन जाते हैं । वस्त्र त्याग कर नग्न रहते हैं, कष्ट से कृश-दुर्बलकाय होते हैं । अपने द्वारा स्वीकृत

प्रव्रज्या-दीक्षा का-तद्गत नियमों का अनुष्ठान करते हैं । दो दिन की, तीन दिन की, चार दिन और पांच दिन की तपस्या करते हैं अन्ततः वे एक मास तक का तप करते हैं । इसके बावजूद यदि वे अपने भीतरी कषाय-क्रोध मान माया लोभ का नाश नहीं कर पाते, इनको नहीं जीत पाते तो, मोक्ष नहीं पा सकता । शास्त्रकार यह दिग्दर्शन कराते हैं कि -

जो प्राणी इस लोक में माया आदि से समायुक्त है, वे अनन्त काल तक गर्भ में आते रहते हैं । जन्म और मृत्यु को प्राप्त करते रहते हैं । यहा माया से अन्य कषाय भी उपलक्षित है । कहने का अभिप्राय है कि जो व्यक्ति अकिंचन है-परिग्रह की दृष्टि से जिनके पास कुछ भी नहीं है, जिनका शरीर तप से परितप्त है, किन्तु यदि वे कषाय विजय नहीं कर पाते-क्रोध आदि को नहीं छोड़ पाते, तो वे नरक वास आदि की यातनाएं-पीड़ाएं सहन करते हैं । वहां से निकलकर फिर तिर्यञ्च योनि में जाते हैं । पुनश्च बारम्बार गर्भकाल प्राप्त करते हैं और मरते हैं । जैसे अग्निशर्मा नामक व्यक्ति को इसी प्रकार संसार में भटकना पड़ा था उसी तरह इन व्यक्तियों को भी इस संसार में भटकना पड़ता हैं ।

❀ ❀ ❀

पुरिसो रम पावकम्मुणा, पलियंतं मणुयाण जीवियं ।
सन्ना इह काममुच्छिया, मोहं जंति नरा असंवुडा ॥१०॥

छाया – पुरुष ! उपरम पाप कर्मणा, पर्य्यन्तं मनुजानां जीवितम् ।
सन्ना इह काममूर्च्छिताः मोहं यान्ति नरा असंवृताः ॥

अनुवाद – हे पुरुष ! तुम पाप कर्मों में उद्यत न बनो, उन्हें छोड़ो । समझो ! मनुष्यों का जीवन पर्यन्त-अन्त युक्त या नश्वर है । जो मनुष्य इस संसार में या सांसारिक काम भोगों में आसक्त-लिप्त तथा मूर्च्छित-खोया हुआ है । एवं हिंसा आदि पाप कृत्यों से निवृत्त नहीं है । वह मोह को प्राप्त होता है । मोह मूढ़ बन जाता है ।

टीका – यतो मिथ्यादृष्ट्युपदिष्टतपसाऽपि न दुर्गतिमार्गनिरोधोऽतोमदुक्त एवं मार्गे स्थेयमेतद्धर्ममुपदेशं दातुमाह-'पुरिसो' इत्यादि, हे पुरुष ! येन पापेन कर्मणाऽसदनुष्ठानरूपेण त्वमुपलक्षितस्तत्राऽसकृत्प्रवृत्तत्वात् तस्मादुपरम निवर्तस्व । यतः पुरुषाणां जीवितं सुबह्वपि त्रिपल्योपमान्तं संयम जीवितं वा पल्योपमस्यान्तः-मध्येवर्तते तदप्यूनां पूर्वकोटि मिति यावत् । अथवा परिसमन्तादन्तोऽस्येति पर्य्यन्तं सान्तमित्यर्थः यच्चैवं तद्गतमेवावगन्तव्यम् । तदेवं मनुष्याणां स्तोकं जीवितमवगम्य यावत्तन्न पर्य्येति तावद्धर्मानुष्ठानेनसफलं कर्त्तव्यं, ये पुनर्भोगस्नेहपङ्केऽवसन्ना मग्ना 'इह' मनुष्यभवे संसारे वा कामेषु इच्छामदनरूपेषु मूर्च्छिता अध्युपन्ना ते नराः मोहं यान्ति-हिताहितप्राप्तिपरिहारे मुह्यन्ति, मोहनीयं वा कर्म चिन्वन्तीति संभाव्यते एतदसंवृतानां हिंसास्थानेभ्योऽनिवृत्तानामसंयतेन्द्रियाणाञ्चेति ॥१०॥

टीकार्थ – आगमकार बतलाते हैं कि मिथ्या दृष्टि जिन तपों का उपदेश करते हैं, उनसे दुर्गति के मार्ग का निरोध नहीं होता । अतः हमारे द्वारा निरूपित मार्ग में ही स्थिर रहना चाहिये । इसी तथ्य को प्रकट करते हुए वे कहते हैं -

हे पुरुष ! तुम निरन्तर अशुभ कार्यों में संलग्न रहकर जिस पाप कर्म में ग्रस्त हो, उससे निवृत्त बनो-हटो, क्योंकि मनुष्यों का जीवन अत्यधिक भी हो तो वह तीन पल्योपम से बढ़कर नहीं होता । पुरुषों का

संयमी जीवन पल्योपम के बीच ही होता है । वह भी ऊन-कुछ कम पूर्व कोटि तक ही होता है । मनुष्यों का जीवन नश्वर है । उसे गत-गया हुआ या बीता हुआ ही समझना चाहिये । अतएव यह मनुष्य जीवन स्वल्प है-अल्पकाल स्थायी है । यह जानकर जब तक वह समाप्त नहीं हो जाता तब तक धार्मिक कृत्यों के आचरण द्वारा उसे सफल बनाना चाहिये । जो मनुष्य मनुष्य जीवन प्राप्त कर इस संसार में आकर भोगों के कीचड़ में फंसे रहते हैं तथा काम वासनामेंआसक्त रहते हैं वे मोह मूढ़ होते हैं । उनको अपना वास्तविक हित-श्रेयस पाने का और अहित-अश्रेयस छोड़ने का ज्ञान नहीं होता । ऐसे पुरुष मोहनीय कर्म का बंध करते हैं । जो व्यक्ति हिंसा आदि पाप पूर्ण कार्यों से अनिवृत रहते हैं, अटते नहीं, जिनकी इंद्रियां संयम रहित होती है, वे भी मोहनीय कर्म का संग्रह करते हैं ।

❀ ❀ ❀

जययं विहराहि जोगवं, अणुपाणा पंथा दुरुत्तरा ।
अणुसासणमेव पक्कमे वीरेहिं संमं पवेइयं ॥११॥

छाया – यतमानो विहर योगवान, अणुप्राणाः पन्थानो दुरुत्तराः ।
अनुशासनमेव प्रकामेद्, वीरैः सम्यक् प्रवेदितम् ॥

अनुवाद – मानव तुम यतनापूर्वक-जागरूकता के साथ, योगवान-मन, वचन एवं काय योगों को गुप्त रखते हुए अथवा समिति गुप्ति से युक्त होते हुए विचरण करो । यह पथ-मार्ग अनुप्राण-सूक्ष्मप्राणियों से भरा हुआ है । उपयोग के बिना यह दुरुत्तर-कठिनाई से पार किये जाने योग्य है । शास्त्रों में जो अनुशासन-संयम पालन का विधिक्रम बतलाया गया है, उसी के अनुसार संयम का अनुसरण करना चाहिये। सभी तीर्थंकरों नेऐसा प्रवेदित किया है-उपदेश दिया है, आदेश दिया है ।

टीका – एवञ्च स्थिते यद्विधेयं तद्दर्शयितुमाहस्वल्पं जीवितमवगम्य विषयांश्च क्लेश प्रायानवबुध्य छित्वा गृहपाशबन्धनं यतमानः यत्नं कुर्वन् प्राणिनामनुपरोधेन विहर उद्युक्त विहारी भव । एतदेव दर्शयति-

योगवानिति संयमयोगवान् गुप्तिसमितिगुप्त इत्यर्थः । किमित्येवं, यतः अणवः सूक्ष्माः प्राणाः प्राणिनो येषु पथिषु ते तथा ते चैवं भूताः पन्थानोऽनुपयुक्तैर्जीवानुपमर्देन दुस्तराः दुर्गमा इति अनेन ईर्य्यासमितिरुपक्षिप्ता। अस्याश्चोपलक्षणार्थत्वाद अन्यास्वपि समितिषु सततोपयुक्तेन भवितव्यम् अपि च अनुशासनमेव यथागमभेव सूत्रानुसारेण संयमं प्रति क्रामेद् एतच्च सर्वैरेव वीरैः अर्हद्भिः सम्यक् प्रवेदितं प्रकर्षेणाख्यातमिति ॥११॥

टीकार्थ – उपर्युक्त स्थिति में मानव का जो कर्त्तव्य है, उसे प्रकट करने हेतु आगमकार बतलाते हैं -

हे पुरुष ! तू अपने जीवन को स्वल्प-अल्पकालिक तथा विषयों को क्लेशप्रायः-अधिकांशतः कष्टपूर्ण जानकर गृहपासबन्धन-गृहस्थी के जाल को काट डालो, यत्नापूर्वक प्राणियों की हिंसा न करते हुए विहरण शील बनो । शास्त्रकार यही बतलाते हैं-वे कहते हैं कि हे पुरुष ! तुम गुप्ति गुप्त और समिति समित बनो-गुप्तियों और समितियों का अनुपालन करो । ऐसा क्यों ? इसलिये कि ये मार्ग, रास्ते, सूक्ष्म-बहुत छोटे छोटे प्राणियों से आपूर्ण है-भरे हुए हैं । उपयोग के बिना इन्हें पार करना कठिन है क्योंकि वैसा हुए बिना उन रास्तों में जीवों का उपमर्द-व्यापादन या हिंसा हुए बिना नहीं रहती ।

यों प्रतिपादित कर आगमकार ने ईर्या समिति की ओर संकेत किया है । वह ईर्या समिति तो उपलक्षण मात्र है । इससे अन्य सभी समितियों को लेना चाहिये । शास्त्रों में जैसी रीति बतलाई है, उसी प्रकार संयम का पालन करना चाहिये । सभी तीर्थंकरों ने इसी बात पर बल दिया है ।

❀ ❀ ❀

विरया वीरा समुट्ठिया, कोहकाय रियाइपीसणा ।
पाणे ण हणंति सव्वसो, पावाओ विरयाऽभिनिव्वुडा ॥१२॥

छाया – विरताः वीराः समुत्थिताः क्रोधकातरिकादिपीषणाः ।
प्राणिनो न घ्नन्ति सर्वशः पापाद्विरता अभिनिर्वृताः ॥

अनुवाद – जो व्यक्ति हिंसा आदि पाप कार्यों से विरत-निवृत्त है-समुत्थित है, हिंसादि-पापकर्मों को छोड़कर ऊपर उठे हुए हैं तथा क्रोध, अहंकार माया-छलना तथा लोभ का परित्याग कर मन से, वचन से तथा शरीर से प्राणियों का व्यापादन नहीं करते हैं वे सब पापों से रहित होते हैं तथा मोक्ष प्राप्त जीव के सदृश ही शांत होते हैं ।

टीका - अथ क एते वीरा इत्याह-'विरया' इत्यादि, हिंसानृतादि पापेभ्यो ये विरताः विशेषेण कर्म प्रेरयन्तीति वीराः, सम्यगारम्भ परित्यागेनोत्थिताः समुत्थिताः, ते एवंभूताश्च, क्रोध कातरिकादि-पीषणाः, तत्र क्रोधग्रहणान्मानो गृहीतः, कातरिका माया तद्ग्रहणाल्लोभो गृहीतः, आदिग्रहणाच्छेषमोहनीय परिग्रहः तत्पीषणास्तदपनेतारः तथा प्राणिनो जीवान् सूक्ष्मेतरभेदभिन्नान् सर्वशोमनोवाक्काय-कर्मभिर्न घ्नन्ति न व्यापादयन्ति। पापाच्चसर्वतः सावद्यानुष्ठानरू-पाद्विरताः, निवृत्ताः ततश्च अभिनिर्वृत्ताः क्रोधाद्युपशमेन शांतिभूताः, यदि वा अभिनिर्वत्ता इव अभिनिर्वृत्ताः मुक्ता इव द्रष्टव्या इति ॥१२॥

टीकार्थ – जिनकी पहले चर्चा आई है, उस तरह विचरणशील वीर पुरुष कौन है ? इसे स्पष्ट करने के लिये आगमकार बतलाते हैं । जो पुरुष हिंसा तथा असत्य आदि पापों से विरत है-हटे हुए हैं तथा जिन्होंने विशेष रूप से कर्मों का उच्छेद-कर दिया है एवं आरम्भ-हिंसा आदि का त्याग कर संयम के पालन में तत्पर हैं । जिन्होंने क्रोध और माया का नाश कर दिया है अर्थात् जो क्रोध, मान, माया, लोभ तथा शेष मोहनीय आदि कर्मों का नाश कर चुके हैं, जो मानसिक, वाचिक और कायिक कर्म द्वारा प्राणियों का व्यापादन नहीं करते हैं, जो पाप युक्त कार्यों से हटे हुए हैं, क्रोध आदि के शांत हो जाने से जिनका जीवन शांतिपूर्ण है, वे मुक्तात्मा के सदृश सुख युक्त हैं । यहां क्रोध के ग्रहण से मान का तथा माया के ग्रहण से लोभ का एवं आदि शब्द से अवशिष्ट मोहनीय कर्मों का ग्रहण हैं ।

❀ ❀ ❀

णवि ता अहमेव लुप्पए, लुप्पंति लो अंसि पाणिणो ।
एवं सहिएहिं पासए, अणिहे से पुट्ठे अहियासए ॥१३॥

छाया – नाऽपि तैरहमेव लुप्ये, लुप्यन्ते लोके प्राणिनः ।
एवं सहितः पश्येत् अनिहः स स्पृष्टोऽधिसहेत ॥

अनुवाद – यथार्थ दृष्टा, विवेक सम्पन्न पुरुष यह चिन्तन करे कि शैत्य, उष्णता, आदि परीषहों से केवल मैं ही उत्पीड़ित नहीं होता हूँ । कष्ट नहीं पाता हूँ किन्तु जगत में और भी प्राणी हैं जो इन परीषहों से दु:खित होते हैं । अत: मुझे इनको क्रोध, असहिष्णुता आदि से रहित होकर सहना चाहिये।

टीका – पुनरप्युदेशान्तरयाह-परीषहोपसर्गा एतद्भावनापरेण सोढव्या: नाहमेवैकस्तावदिह शीतोष्णादिदु: ख विशेषैर्लुप्ये पीड्ये अपित्वन्येऽपि प्राणिन: तथाविधास्तिर्य्यङ्मनुष्या: अस्मिंल्लोके लुप्यन्ते अतिदु:सहै र्दु: खै: परिताप्यन्ते, तेषाञ्च सम्यग्विवेकाभावान्न निर्जराख्याफलमस्ति, यत: "क्षान्तं न क्षमया गृहोचितसुखं त्यक्तं न संतोषत:, सोढ़ा: दु:सहशीतताप पवन क्लेशा: न तप्तं तप: । ध्यातं वित्तमहर्निशं नियमितप्राणै र्न तत्त्वं परं, तत्तत्कर्म कृतं सुखार्थिभिरहो तैस्तै: फलैर्वञ्चिता:" ? तदेवं क्लेशादि सहनं सद्विवेकिनां संयमाभ्युपगमे सति गुणायैवेति, तथाहि-"काश्र्यं क्षुत्प्रभवं कदन्नशनं शीतोष्णयो: पात्रता, पारुष्यञ्च शिरोरूहेषु शयनं मह्यास्तले केवले । एतान्येव गृहे वहन्त्यवनतिं तान्युन्नतिं संयमे, दोषाश्चाऽपि गुणा: भवन्ति हि नृणां, योग्ये पदे योजिता:? एवं सहितोज्ञानादिभि: स्वहोत वा आत्महित: सन् पश्येत् कुशाग्रीयया बुद्धया पर्य्यालोचयेदनन्तरोदितं, तथा निहन्यत इति निह: न निहोऽनिह: क्रोधादिभिरपीडित: सन् स महासत्त्व: परीषहै: स्पष्टोऽपि तान् अधिसहेत मन: पीडां न विदध्यादिति, यदिवा अनिह इति तप:संयमे परीषहसहने चानिगूहितबलवीर्य्य: शेष: पूर्ववदिति ॥१३॥

टीकार्थ – विवेकी पुरुष यह चिन्तन कर परीषहों और उपसर्गों को सहन करे कि ठंडक तथा गर्मी आदि के द्वारा मैं ही अकेला पीडित नहीं होता किंतु संसार में और भी अनेक पशु पक्षी मनुष्य आदि प्राणी है जो इनसे पीड़ित होते हैं । वे प्राणी सम्यक्ज्ञानरहित हैं । इसलिये कष्ट सहते हुए भी वे निर्जरा-कर्मों के निर्जरण मूलक फल को नहीं पा सकते । अतएव किसी ज्ञानी की यह उक्ति है कि एक व्यक्ति सोचता है कि मैंने सर्दी गर्मी आदि के दु:खों को तो बर्दास्त किया किन्तु शांत-शांति युक्त भावना से नहीं किन्तु आसक्ति-दुर्बलतावश-मजबूरी से सहन किया । मैंने गृहस्थ के सुख को छोड़ा तो सही किन्तु संतोष के कारण नहीं किन्तु इच्छाओं की अपूर्ति के कारण । मैंने सर्दी गर्मी और हवा के असह्य दु:ख झेले परन्तु तप की भावना से नहीं । मैंने अहर्निश धर्म का चिन्तन किया किंतु द्वन्द्व रहित होकर-शांत चित्त होकर परम तत्त्व का-परमात्म स्वरूप का चिन्तन नहीं किया । मैंने सुख पाने के लक्ष्य से वे सभी कर्म किये जो तपस्वी मुनिगण करते हैं किन्तु मुझे उनका फल नहीं मिला ।

संयम का पालन करने वाले उत्तम चिन्तनशील पुरुष जो कष्ट सहते हैं वे उनके गुण के लिये कल्याण के लिये या हित के लिये होता है अतएव किसी विद्वान कवि ने कहा है-भोजन न मिलने से शरीर में जो कृशता-दुबलापन आता है । तुच्छ अन्न के भोजन से ठंड तथा गर्मी के दु:ख को सहने से जो कष्ट होता है तेल न लगाने से बालों में जो रूक्षता आती है तथा बिस्तर के बिना शुष्क भूमि पर सोने से असुविधा होती है-ये बातें एक गृहस्थ के लिये अवन्नति-पतन या दु:ख के चिह्न माने जाते हैं जब कि वे ही एक संयमी मुनि के लिये उन्नतिप्रद समझे जाते हैं । इससे यह साबित होता है कि योग्य-समुचित स्थान पर स्थापित दोष भी गुण बन जाते हैं । अत: ज्ञान आदि संयुक्त आत्मकल्याण परायण मुनि उपर्युक्त तथ्यों पर चिन्तन करता हुआ क्रोध आदि को नियन्त्रित करे । अत्यन्त धैर्यशील या सहिष्णु बनकर ठंड गर्मी आदि परीसहों को बर्दास्त करे । शैत्य, उष्णता आदि द्वारा बाधाएं पैदा होने पर मन में किसी भी प्रकार का शोक न करे । ऐसा मुनि तप संयम के अनुसरण में तथा परीषहों को सहने से अपने आत्मबल का गोपन न करे । उसे अव्यक्त न रखे-प्रकट करे ।

❀ ❀ ❀

धूणिया कुलियं व लेववं किसए देह मणासणाइहिं ।
अविहिंसामेव पव्वए अणुधम्मो मुणिणा पवेदितो ॥१४॥

छाया – धूत्वा कूड्यं व लेपवत् कर्शयेद्देह मनशनादिभिः ।
अविहिंसामेव प्रव्रजेदनुधर्मो मुनिना प्रवेदितः ॥

अनुवाद – जैसे एक दीवार पर गोबर, मिट्टी आदि का सघन लेप लगा हो, उसे गिराकर-हटाकर दीवार कृश या पतली कर दी जाती है उसी प्रकार मुनि को चाहिये वह अनशन आदि तप द्वारा अपनी देह को कृश करे । अहिंसा धर्म का अनुसरण करे । भगवान महावीर ने यही प्रतिपादित किया है ।

टीका – अपि च 'धूणिया' इत्यादि, धूत्वा विधूकुलियं कडणकृतं कुड्यं लेपवत् सलेपम् अयमत्रार्थः – यथा कुड्यं गोयमादिलेपेन सलेपं जाघट्यमानं लेपामगमात्कृशं भवति, एवमनशनादिभि र्देहं कर्शयेद् अपचित मांस शोणितं विदध्यात् तपदचयाच्च कर्मणोऽपचयो भवतीति भावः । तथा विविधा हिंसा विहिंसा न विहिंसा अविहिंसा तामेव प्रकर्षेण व्रजेत् अहिंसा प्रधानो भवेदित्यर्थः, अनुगतो मोक्षम्प्रत्यनुकूलो धर्मोऽनुधर्मः असावहिंसा लक्षणग्रीषहोपसर्गसहनलक्षणश्च धर्मो मुनिना सर्वज्ञेन प्रवेदितः कथित इति ॥१४॥

टीकार्थ – गोबर तथा मृतिका आदि से लिप्त भित्ति-दीवार से जैसे लेप हटाकर उसे कृश-पतला कर दिया जाता है उसी प्रकार अनशन आदि तपश्चरण द्वारा मुनि को अपना शरीर कृश करना चाहिये । शरीर के मांस, रक्त आदि को सुखा देना चाहिये । इसका आशय यह है कि शरीर के मांस, रक्त आदि जब कृश या न्यून होने लगते हैं तो कर्म भी कृश या क्षीण होने लगते हैं । यहां विहिंसा शब्द आया है जो विविध प्रकार की हिंसा के अर्थ में है । उसे न करना अविहिंसा कहा जाता है। मुनि का यह कर्त्तव्य है कि वह अविहिंसा धर्म का पूर्णरूपेण पालन करे । वह अपने जीवन में अहिंसा को प्रधानता देकर वर्तनशील रहे । जो धर्म मोक्ष के अनुगत या अनुकूल होता है, उसे अनुधर्म कहा जाता है । यह अहिंसा है, परिषह एवं उपसर्गों को समभावपूर्वक सहना करना है । सर्वज्ञ प्रभु ने इन्हीं को धर्मवत् बतलाया है ।

❀ ❀ ❀

सउणी जह पंसुगुंडिया, विहुणिय धंसयई सियं रयं ।
एवं दवि ओवहाणवं, कम्मं खवइ तवस्सिमाहणे ॥१५॥

छाया – शकुनिका यथा पांसुगुण्ठिता, विधुय ध्वंसयति सितं रजः ।
एवं द्रव्य उपधानवान् कर्म क्षयपति तपस्वी माहनः ॥

अनुवाद – जैसे एक शकुनि-पक्षिणी अपनी देह पर लगी हुई रज को झाड़कर गिरा देती है उसी प्रकारउपधानवान्-उत्तम व्रत युक्त तपस्वी-तपश्चरणशील साधक अपने कर्मों को क्षीण-ध्वस्त कर डालता है।

टीका – किञ्च, शकुनिका पक्षिणी यथा पांसुना रजसा अवगुण्ठिता खचिता सती अङ्गं विधूय कम्पयित्वा तद्रजः सितमवबद्धं सत् ध्वंसयति अपनयति, एवं द्रव्यों भव्यों मुक्तिगमनयोग्यो मोक्षम्प्रत्युप सामीप्येन दधातीत्युपधानमनशनादिकिं तपः तदस्यास्तीत्युपधानवान् स चैवंभूतः कर्म ज्ञानवरणादिकं क्षपयति अपनयति तपस्वी साधुः 'माहण'' त्ति मा वधीरिति प्रवृत्ति र्यस्य स प्राकृत-शैल्या माहणेत्युच्यते ॥१५॥

टीकार्थ – गाथा में आया हुआ सउणी-शकुनी या शकुनिका पक्षिणी का बोधक है । जैसे एक पक्षिणी अपने शरीर पर लगे हुए रजकणों को कंपाकर-छिलाकर-झाड़कर गिरा देती है, उसी प्रकार अहिंसा धर्म का परिपालक मुक्तिगमन योग्य-मोक्ष पाने का अधिकारी उपधान-अनशन आदि तपोमय व्रतयुक्त साधु ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का क्षय कर देता है । उपधान उसे कहा है जो उप + समीपे + धीयते अर्थात् मोक्ष के समीप जीव को स्थापित करता है । अनशन आदि तप इसमें आते हैं । गाथा में 'माहन' शब्द आया है । 'माहन' उसे कहा जाता है जिसमें प्राणी की हिंसा की प्रवृत्ति नहीं होती । प्राकृत में माहन का माहण हो जाता है।

❀ ❀ ❀

उट्ठिय मणगार मेसणं, समणं ठाणठिअं तवस्सिणं ।
डहरा बुड्ढा य पत्थए, अवि सुस्से ण य तं लभेज्ज णो ॥१६॥

छाया – उत्थित मनगारमेषणां श्रमणं स्थानस्थितं तपस्विनम् ।
दहराः वृद्धाश्च प्रार्थयेयुरपि शुष्येयु र्न च तं लभेयुः ॥

अनुवाद – गृहत्यागी तथा एषणा के परिपालन में उत्थित-तत्पर संयमी, तपस्वी, साधु के समीप, उसके माता, पिता, पुत्र, पौत्रादि पारिवारिक जन आकर यह अभ्यर्थना करे कि दीक्षित जीवन का परित्याग कर घर चलो, वे ऐसा करते करते थक भी जांय तो भी वे मुनि को आकृष्ट नहीं कर सकते-लुभा नहीं सकते।

टीका – अनुकूलोपसर्गमाह-'उट्ठिये' त्यादि, अगारं गृहं तदस्य नास्ती त्यनगारः तमेवंभूतं संयमोत्थाने-नैषणां प्रत्युत्थितं-प्रवृतं, श्राम्यतीति श्रमणस्तं, तथा स्थानस्थितम् उत्तरोत्तर विशिष्ट संयम स्थानाध्यासिनं तपस्विनं विशिष्ट तपोनिष्टप्तदेहं तमेवंभूतमपि कदाचित् दहराः पुत्रनप्त्रादयः वृद्धाः पितृमातुलादयः उन्निष्क्रामयितुं प्रार्थयेयु र्याचेरन्, त एव मूचुः-भवता वयं प्रतिपाल्याः न त्वामन्तरेणास्माकं कश्चिदस्ति, त्वं चाऽस्माकमेक एव प्रतिपाल्यः (इति) भणन्तस्ते जना अपि शुष्येयुः श्रमं गच्छेयुः न च तं साधुं विदितपरमार्थं लभेरन् नैवात्मसात्कुर्य्युः नैवात्मवशगं विदध्युरिति ॥१६॥

टीकार्थ – आगमकार अब अनुकूल उपसर्ग-औरों की तरफ से आने वाले विघ्न की चर्चा करते हुए कहते हैं -

अगार का अर्थ घर है । जिसके घर नहीं होता उसे अणगार कहा जाता है । एक ऐसा साधु है जो घर का त्याग कर चुका है, संयम धारण किये हुए हैं, एषणा के पालन में तत्पर है, तप में उद्यत है, उत्तरोत्तर विशिष्ट संयमाचरण में संलग्न होता हुआ, विशिष्ट तपश्चरण द्वारा अपनी देह को परितप्त कर रहा है । उस मुनि के पास कभी उसके पुत्र, पोते आदि वृद्ध पिता मामा आदि आकर यह प्रार्थना करे कि हम आप द्वारा प्रतिपाल्य हैं-आप द्वारा हमारा पालन पोषण किया जाना चाहिये-देख रेख की जानी चाहिये । आपके अतिरिक्त हमारा कोई सहारा नहीं है, आप ही हमारे प्रतिपालक हैं-ऐसा कहते कहते वे चाहे परिश्रान्त हो जाय-सूख जाय-थक जाय तो भी परमार्थवेत्ता-जीवन के परम लक्ष्य मोक्ष को जानने वाले मुनि को वे अपना वशवर्ती-आधीन नहीं बना सकते अर्थात् उसे आकृष्ट नहीं कर सकते ।

❀ ❀ ❀

जइ कालुणियाणि कासिया जइ रोयंति य पुत्तकारणा ।
दवियं भिक्खूं समुट्ठियं, णो लब्भंति ण संठवित्तए ॥१७॥

छाया – यदि कारूणिकानि कुर्य्युः यदि रुदन्ति च पुत्रकारणात् ।
द्रव्यं भिक्षुं समुत्थितं न लभन्ते न संस्थापयितुम् ॥

अनुवाद – साधु के माता पिता आदि रिश्तेदार उसके समीप आकर यदि ऐसा वचन बोले जो करुणा पैदा करते हों अथवा ऐसे कार्य करे जिससे मन में दया भी आ जाय अथवा पुत्र के लिये रूदन करने लगे तो भी वे संयम में तत्पर साधु को भ्रष्ट नहीं कर सकते । पुनः गृहस्थ जीवन में नहीं ला सकते ।

टीका – किञ्च यद्यपि ते माता पिता पितृ पुत्र कलत्रादयः तदन्तिके समेत्य करुणाप्रधानानि विलापप्रायाणि वचांस्यनुष्ठनानि वा कुर्य्युः, तथाहि-

"णाह पिय कन्त सामिय, अइवल्लह दुल्लहोऽसि भुवणंमि ।
तुह विरहमिन य निक्किव । सुण्णं सव्वंवि पडिहाइ ?"

"सेणी गामो गोट्ठी गणो व तं जत्थ होसि संहिणहितो ।
दिहई सिरिए सुपुरिस ! । किं पुण नियय घरद्दारं" ॥२॥

तथा यदि "रोयंति य" त्ति, रुदन्ति पुत्रकारणं सुतनिमित्तं कुलवर्धनमेकं सुत मुत्पाद्य पुनरेवं कर्तुमर्हसीति। एवं रुदन्तो यदि भणन्ति तं भिक्षुं रागद्वेषरहितत्वान्मुक्तिगमन योग्य त्वाद्वा द्रव्यभूतं सम्यक् संयमोत्थानेनोत्थितं तथापि साधुं न लप्स्यन्ते न शक्नुवन्ति प्रव्रज्यातो भ्रंशयितुं भावाच्यावयितुं नाऽपि संस्थापयितुं गृहस्थभावेन द्रव्यलिङ्गाच्यावयितुमिति ॥१७॥

टीकार्थ – मुनि के माता-पिता, पुत्र, स्त्री आदि रिश्तेदार उसके समीप आकर यदि ऐसा विलापपूर्ण वचन बोले जो करुणागर्भित हों या रोने लगे या ऐसे कार्य करे जिससे मन में दया पैदा हो जैसे साधु की संसार पक्षीया पत्नी उसे कहने लगे कि-हे नाथ ! हे प्रिय ! हे कान्त ! हे स्वामिन् ! हे अति वल्लभ !- अत्यन्त प्यारे ! तुम घर में दुर्लभ हो गये हो-हमें प्राप्त नहीं हो । हे निष्कृत ! कृपाहीन-निर्दयी ! तुम्हारे विरह में सब कुछ सूना लगता है । हे सत्पुरुष ! तुम जिस श्रेणी, ग्राम या गोष्ठी में जहां भी सन्निहित होते हों- उपस्थित होते हों, वे सब तुम्हारी श्री-शोभा से दीप्त हो उठते हों-फिर तुम्हारा घर तुमसे दीप्त-प्रकाशित हो, इसमें आश्चर्य ही क्या है ? पुत्र के लिए रोती हुई वह कहे कि अपने कुल के वर्धन-विस्तार या विकास के लिए एक पुत्र उत्पन्न कर पीछे तुम संयम का मार्ग स्वीकार करना । सारांश यह है कि इस प्रकार रोते हुए-कहते हुए पारिवारिक जन रागद्वेष रहित मोक्षगमन के संयम पालन में संलग्न उत्तम साधु को प्रव्रज्या से, ग्रहण किये हुए संयम साधना मूलक मार्ग से भ्रष्ट-पतित नहीं कर सकते । वे उसे पुनः गृहस्थ में लाकर द्रव्यलिंग से भी-साधु के बाह्य वेश में भी च्युत नहीं कर सकते ।

❀ ❀ ❀

जइविय कामेहि लाविया, जइणेज्जाहि ण बंधिउं घरं ।
जइ जीविय नावकंखए णो लब्भंति ण संठवित्तए ॥१८॥

छाया – यद्यपि च कामै र्लावयेयुः यदि नयेयुर्बध्वा गृहम् ।
यदि जीवितं नावाकांक्षेत नो लप्स्यन्ति न संस्थापयितुम् ॥

अनुवाद – यदि मुनि के रिश्तेदार उसे काम भोगों का प्रलोभन दे, यदि वह घर जाने को तैयार न हो तो उसे बांधकर ले जाय, तो भी मुनि को असंयत जीवन की वांछा नहीं करनी चाहिये। ऐसा होने पर वे रिश्तेदार इसे अपने नियन्त्रण में नहीं ला सकते । गृहस्थ नहीं बना सकते ।

टीका – अपि च 'जइवि' इत्यादि, यद्यपि ते निजास्तं साधुं संयमोत्थानेनोत्थितं कामैरिच्छामदनरूपै लवियन्ति, उप निमन्त्रयेयुरुपलोभयेयुरित्यर्थः, अनेनानुकूलोपसर्गग्रहणं, तथा यदि नयेयु बंध्वा गृहं 'ण' मिति वाक्यालंकारे । एव मनुकूलप्रतिकूलोपसर्गैरभिद्रुतोऽपि साधुः यदि जीवितं नाभिकाङ्क्षेद् यदि जीविताभिलाषी न भवेदसंयमजीवितं वा नाभिनन्देत् तपस्ते निजा स्तं साधु 'णो' लब्भंति' त्ति, न लभन्ते न प्राप्नुवन्ति आत्मसात्कर्तुं 'ण संठवित्तए' त्ति नाऽपि गृहस्थभावेन संस्थापयितुमलमिति ॥१८॥

टीकार्थ – एक मुनि जो संयम साधना में तत्पर है, यदि उसके रिश्तेदार उसके समीप आकर उसे कामभोगों का लालच दें, यों वे उसके लिये अनुकूल उपसर्ग प्रस्तुत करे उसके न मानने पर यदि वे उसको बांधकर घर ले जाए, यों वे प्रतिकूल उपसर्ग उपस्थित करें अर्थात् अनुकूल एवं प्रतिकूल दोनों प्रकार के उपसर्गों से अभिद्रुत-आक्रान्त-उत्पीड़ित होकर भी साधु को चाहिये कि वह जीवन की इच्छा नहीं करे-परवाह नहीं करे । यदि वह असंयममय जीवन का अभिनन्दन नहीं करता, उसे पसन्द नहीं करता तो उसके पारिवारिक जन उसे अपने वश में नहीं कर सकते तथा वे उस मुनि को गृहस्थ में स्थापित नहीं कर सकते-वापस उसको गृही नहीं बना सकते । इस प्रस्तुत गाथा में 'णं' शब्द वाक्यालङ्कार के रूप में आया है ।

❀ ❀ ❀

सेहंति य णं ममाइणो–मायपिया य सुयाय भारिया ।
पोसाहि ण पासओ तुमं लोग परंपि जहासि पोसणो ॥१९॥

छाया – शिक्षयन्ति च ममत्ववन्तः माता पिता च सुताश्चभार्य्या ।
पोषय नः दर्शक स्त्वं लोकं परमपि जहासि पोषय नः ॥

अनुवाद – मुनि के माता-पिता, पुत्र-पत्नी आदि संबन्धी जन उसके पास आते हैं और उसे यों समझाते हैं-देखो ! तुम दर्शक-सूक्ष्म दृष्टा हो । सब बातों को गहराई से जानते हो । इसलिये हमारा पोषण करो । तुम हमारा पालन न कर परलोक बिगाड़ रहे हो इसलिए आओ हमारा पालन करो ।

टीका – किञ्च ते कदाचिन्मातापित्रादयस्तमभिनव-प्रव्रजितं 'सेहंति' त्ति, शिक्षयन्ति, णमिति वाक्यालङ्कारे "ममाइणो" त्ति, ममायमित्येवं स्नेहालवः, कथं शिक्षयन्तीत्यत आह-पश्य नः अस्मानत्यन्तदुःखितॉंस्त्वदर्थं पोषकाभावाद्वा, त्वञ्च यथावस्थितार्थपश्यकः-सूक्ष्मदर्शी सश्रुतिक इत्यर्थः, अतः नः अस्मान् पोषय प्रति जागरणं कुरु, अन्यथा प्रव्रज्याम्युपगमेनेहलोकस्त्यक्तो भवता, अस्मत्प्रतिपालनपरित्यागेन च परलोकमपि त्वं त्यजसि इति दुःखितनिजप्रतिपालनेन च पुण्यावाप्ति रेवेति, तथाहि-

"या गतिः क्लेशदग्धानां गृहेषु गृहमेधिनाम् । विभ्रतां पुत्रदारॉंस्तु तां गतिं व्रज पुत्रक" ॥१९॥

टीकार्थ – एक नये दीक्षा लिये साधु के पास उसके मां-बाप आदि रिश्तेदार आते हैं, समझाते हैं। यहाँ 'णं' शब्द वाक्यालंकार के रूप में प्रयुक्त है । मुनि के रिश्तेदार-यह हमारा है-यों सोचकर उसे स्नेहभाव से शिक्षा देते हैं । आगमकार बतलाते हैं वे कैसे शिक्षा देते हैं-समझाते हैं-वे यों कहते हैं-कि देखो ! तुम्हारे

लिये हम अत्यन्त दुःखी हैं । तुम्हारे अतिरिक्त हमारा कोई पोषक-पालन पोषण करने वाला नहीं है । तुम इस बात को भली भांति समझते हो । तुम पश्यक-सूक्ष्मदर्शी-स्थितियों को बारीकी से समझने वाले तथा तुम सश्रुतिक-सुशिक्षित-विद्वान हो । अतः हमारा पोषण करो-प्रति जागरण-देखरेख करो नहीं तो जरा सोचो तुमने दीक्षित होकर अपने इस लोक को नष्ट कर दिया है और हमारा प्रतिपालन करना छोड़कर तुम अपना परलोक भी बिगाड़ रहे हो । अपने दुःखित परिवार के लालन पालन से पुण्य प्राप्त होता है । इसलिये पुत्र को सम्बोधित कर शास्त्र में कहा है ।

हे पुत्र ! गृहस्थ अपने पुत्र और स्त्री का पालन करने हेतु क्लेश से दग्ध है-अत्यन्त दुःख सहकर उनका पालन पोषण करते हैं । यह गृहस्थों की गति या जीवन पद्धति है । तुम भी उसी पर चलो ।

❀ ❀ ❀

अन्ने अन्नेहिं मुच्छिया मोहं जंति नरा असंवुडा ।
विसमं विसमेहिं गाहिया ते पावेहिं पुणोपगब्भिया ॥२०॥

छाया – **अन्येऽन्यैर्मूर्च्छिताः मोहं यान्ति नरा असंवृताः ।**
विषमं विषमैर्ग्राहिताः, ते पापैः पुनः प्रगल्भिताः ॥

अनुवाद – कई ऐसे असंवृत-संवर रहित, संयम से दुर्बल मुनि होते हैं जो अपने रिश्तेदारों के समझाने से पारिवारिक जनों में मूर्च्छित-मोहासक्त हो जाते हैं । संयम को छोड़ देते हैं । यों असंयत पुरुषों द्वारा उसे असंयम ग्रहण करा दिया जाता है । असंयममय संसार में घसीट लिया जाता है । वे धृष्टतापूर्ण पाप कर्म करने में लग जाते हैं ।

टीका – एवं तैरुपसर्गिताः केचन कातराः कदाचिदेतत्कुर्य्यरित्याह-'अन्ने' इत्यादि, अन्ये केचनाल्पसत्त्वाः अन्यैः मातापित्रादिभिः मूर्च्छिता अध्युपपन्नाः सम्यग्दर्शनादि व्यतिरेकेण सकलमपि शरीरादिकमन्यदित्यन्य ग्रहणं ते एवम्भूता असंवृताः नराः मोहं यान्ति सदनुष्ठाने मुह्यन्ति, तथा संसारगमनैकहेतुभूतत्वाद् विषम असंयम स्तं विषयैरसंयते रून्मार्गप्रवृत्तत्वेनाऽपायाभीरूभी, रागद्वेषै र्वा अनादिभवाभ्यस्ततया दुश्छेद्यत्वेन विषमैः ग्राहिताः असंयमं प्रति वर्तिता स्ते चैवम्भूताः पापै कर्मभिः पुनरपि प्रवृत्ताः प्रगल्भिताः धृष्टतां गताः, पापकं कर्मकुर्वन्तोऽपि न लज्जन्त इति ॥२०॥

टीकार्थ – कोई ऐसे कायर होते हैं जो माता पिता आदि रिश्तेदारों द्वारा अनुकूल उपसर्ग उपस्थित किये जाने पर, जैसा कर बैठते हैं-आगमकार उसका निरूपण करते हुए बतलाते हैं –

कई अल्प पराक्रमी-मंद आत्मबलयुक्त पुरुष माता पिता आदि पारिवारिक जनों में-सांसारिक पदार्थों में आसक्त होकर मोहमूढ़ हो जाते हैं । सम्यक्दर्शन, सद्अनुष्ठान आदि से विचलित हो जाते हैं । वास्तव में सम्यक्दर्शन आदि के अतिरिक्त इस जगत के सभी पदार्थ, यहां तक कि अपनी काया भी अपनी नहीं है, अन्य हैं । इसलिये यहां आत्मा केअतिरिक्त सभी को अन्य कहा गया है । जीव के संसार में अनेक आवागमन के चक्र में पड़ने का मुख्य कारण असंयम है । अतएव यहां असंयम को विषम कहा गया है । जो पुरुष असत्य मार्ग पर चलते हैं, अपने विनाश का जिन्हें डर नहीं है, ऐसे संयम रहित जनों द्वारा असंयम में लाए हुए, वापस गृहस्थ में धकेले हुए पुरुष धृष्टतापूर्वक पाप करने में लग जाते हैं । राग द्वेष का सांसारिक जीवों में अनादिकाल

से अभ्यास चलता आ रहा है । इसलिये इन्हें छिन्न भिन्न करना कठिन है । अतएव राग द्वेष को यहां विषम कहा गया है । राग द्वेष के कारण या उनसे प्रेरित होकर असंयत जीवन स्वीकार किये वे कायर पुरुष धृष्टता के साथ पाप कर्मों का आचरण करने लगते हैं । इसका अभिप्राय यह है कि उन्हें पाप करते जरा भी शर्म नहीं आती ।

❀ ❀ ❀

तम्हा दवि इक्ख पंडिए, पावाओ विरतेऽभिनिव्वुडे ।
पणए वीरं महाविहिं सिद्धिपहं णेआउयं धुवं ॥२१॥

छाया – तस्माद् द्रव्य ईक्षस्व पण्डितः पापाद्विरतोऽभिनिर्वृतः ।
प्रणताः वीराः महावीथीं सिद्धिपथं नेतारं ध्रुवम् ॥

अनुवाद – हे पुरुष ! तुम विवेकशील हो, पाप से विरत हो, अभिनिर्वृत-प्रशांत हो । अतः तुम सत्य का ईक्षण करो-देखो ! जो वीर पुरुष कर्मों को विदीर्ण करने में समर्थ होते है वे उस मार्ग पर चलते हैं जो निश्चय ही मोक्ष में पहुँचाता है-जो सिद्धि-सिद्धत्त्व प्राप्त कराने का पथ है ।

टीका – यत एवं ततः किं कर्त्तव्य मित्याह-यतो मातापित्रादि मूर्च्छिताः पापेषु कर्मसु प्रगल्भाः भवन्ति तस्माद् द्रव्यभूतो भव्यः मुक्ति गमन योग्यः, रागद्वेषरहितो वा सन् ईक्षस्व तद्विपाकं पर्य्यालोचय । पंडितः सद्विवेकयुक्तः पापात् कर्मणोऽसदनुष्ठानरूपाद् विरतः निवृत्तः क्रोधादिपरित्यागाच्छान्तीभूत इत्यर्थः तथा प्रणताः प्रह्वीभूताः वीराः कर्मविदारण समर्थाः महावीथिं महामार्गं तमेव विशिनष्टि-सिद्धिपथं ज्ञानादिमोक्षमार्ग, तथा मोक्षम्प्रति नेतारं प्रापकं ध्रुवमव्यभिचारिण मित्येतदवगम्य स एव मार्गोऽनुष्टेयः नासदनुष्ठानप्रगल्भै-र्भाव्यमिति ॥२१॥

टीकार्थ – माँ-बाप आदि पारिवारिक जनों में मोहासक्त होकर आत्मबल रहित पुरुष संयम से पतित हो जाते हैं । अतः वैसी स्थिति में क्या करना चाहिये आगमकार निरूपण करते हैं -

माँ-बाप आदि से मोहासक्त पुरुष पापाचरण में धृष्ट-धीठ हो जाते हैं । इसलिये तुम मुक्तिपथ पर गमनशील रहते हुए राग द्वेष का विवर्जन करते हुए उस राग द्वेष के नतीजे समझो उत्तम विवेक-सद्ज्ञान से युक्त तथा पापानुष्ठान से निवृत्त होकर क्रोधादि का त्याग करो, शांत बनो । कर्म को उच्छिन्न करने में जो पुरुष समर्थ होते हैं वे ही वास्तव में वीर होते हैं । वे महामार्ग का-महान पथ को स्वायत्त करते हैं । उस महामार्ग की विशेषता बताते हुए आगमकार कहते हैं -

वह महा पथ ज्ञान का-मोक्ष का रास्ता है । वह मोक्ष तक ले जाता है । वह ध्रुव-निश्चित है, यह अवगत कर उसी मार्ग का अनुष्ठान-अनुसरण करना चाहिये । पापकर्म में धृष्ट-निर्लज्ज नहीं बनना चाहिये।

❀ ❀ ❀

वेयालियमग्गमागओ, मणवयसा कायेण संवुडो ।
चिच्चा वित्तं च णायओ, आरंभं च सुसंवुडे चरे ॥२२॥त्तिबेमि॥

छाया – वैदारकमार्गमागतो मनसा वचसा कायेन संवृतः ।
त्यक्त्वा वित्तञ्च ज्ञातीनारम्भञ्च सुसंवृतश्चरेत ॥इति ब्रवीमि॥

अनुवाद – जो कर्मों को उच्छिन्न करने में समर्थ है उस मार्ग का अवलम्बन कर मनोगुप्ति, वाक्गुप्ति और कायगुप्ति से युक्त बनकर धन, पारिवारिक जन तथा आरंभ समारंभ का परित्याग कर उसे उत्तम संयमी बनकर विचरण करना चाहिये ।

टीका – पुनरप्युपदेशदानपूर्वकमुपसंहरन्ताह-'वेयालियमग्गं' इत्यादि, कर्मणा विदारणमार्गमागतो भूत्वा तं तथाभूतं मनोवाक्कायसंवृत्तः पुनः त्यक्त्वा परित्यज्य वित्तं द्रव्यं तथा ज्ञातीश्च स्वजनाश्च तथा सावद्यारम्भञ्च सृष्टु संवृत इन्द्रियैः संमानुष्ठानं चरेदिति ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥२२॥ इति वैतालीय द्वितीयाध्ययनस्य प्रथमोद्देशकः समाप्तः ।

टीकार्थ – आगमकार पुनः उपदेश देते हुए इस उद्देशक का समापन करते हुए कहते हैं कि जो मार्ग कर्मों का विदारण करने में समर्थ है उस पर चलते हुए मन वचन और काय से गुप्त-मानसिक, तथा वाचिक अमत्त प्रवृत्ति से विरत रहते हुए सम्पत्ति, पारिवारिक जन तथा पापयुक्त कार्यों का परित्याग कर इन्द्रियों का वशवर्ती न होते हुए संयम के पथ पर चलना चाहिये । श्री सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी से ऐसा कहते हैं ।

वैतालीय नामक दूसरे अध्ययन का प्रथम उद्देशक परि–समाप्त होता है ।

❀ ❀ ❀

卐 卐 卐

द्वितीय उद्देशकः

टीका – अथ द्वितीयाध्ययने द्वितीय उद्देशकःप्रारम्भते । प्रथमानन्तरं द्वितीयः समारभ्यते-अस्य चायमभिसम्बन्धः इहानन्तरोद्देशके भगवता स्वपुत्राणां धर्मदेशनाऽभिहिता, तदिहापि सैवाध्ययनार्थाधिकरत्वाद् अभिधीयते । सूत्रस्य सूत्रेण सम्बन्धोऽयम्-अनन्तरोक्तसूत्रे बाह्यद्रव्यस्वजनारम्भ परित्यागोऽभिहितः, तदिहाप्यान्तरमान परित्याग उद्देशार्थाधिकारसूचितोऽभिधीयते । तदनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशक स्यादिसूत्रम् -

टीकार्थ – पहले उद्देशक के समाप्त हो जाने के पश्चात् अब दूसरा उद्देशक शुरू किया जा रहा है। इसका पहला उद्देशक के साथ यह संबंध है कि पहले में आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभ ने अपने पुत्रों के समक्ष धर्म का निरूपण किया । इस दूसरे उद्देशक में भी वही धर्म निरूपण है । इसका अर्थाधिकार या विवेच्य विषय धर्मोपदेश है । सूत्र के साथ जैसा पहले कहा है संबंध इस प्रकार है-जो व्यक्ति विवेकशील है उसे बाह्य पदार्थों से तथा पारिवारिक जनोंसे आरंभ समारम्भ से संबंध छोड़ देना चाहिये । इस सूत्र में यह प्रतिपादन किया जाता है कि विद्वान या विवेकशील पुरुष को चाहिये कि वह आन्तरिक अभिभाव का त्याग कर दे । ऐसा उद्देशक के अर्थाधिकार से भी संकेतित है । इस उद्देशक का प्रथम सूत्र इस प्रकार है -

तयसं व जहाइ से रयं, इति संखाय मुणी ण मज्जई ।
गोयन्नतरेण माहणे, अह सेयकरी अन्नेसी इंखिणी ॥१॥

छाया – त्वचमिव जहाति स रजः इति संख्याय मुनिर्नमाद्यति ।
गोत्रान्यतरेण माहनोऽथाश्रेयस्कर्य्यन्येषा मीक्षिणी ॥

अनुवाद – जिस प्रकार एक सर्प अपनी केंचुल का परित्याग कर देता है, उसी प्रकार अपने आठ प्रकार के कर्मों की रज को त्याग देता है । यह समझता हुआ, हृदयंगम करता हुआ संयमी साधक अपने गौत्र-उच्चकुल आदि का घमंड नहीं करते । दूसरों की अवहेलना-निन्दा नहीं करते । ऐसा करने से श्रेयस का-आत्म कल्याण का नाश होता है ।

टीका – यथा उरगः स्वां त्वच मवश्यं परित्यागार्हत्वात् जहाति परित्यजति, एवमसावपि साधुः रज इवरजः रज इव रजः अष्ट प्रकारं कर्म तद् अकषायित्वेन परित्यजतीति । एवं कषायाभावो हि कर्माभावस्य कारणमिति संख्याय ज्ञात्वा मुनिः कालत्रयवेदी, न माद्यति मदं न याति मदकारणं दर्शयति-गोत्रेण काश्यपादिना अन्यतरग्रहणात् शेषाणि मदस्थानादि गृह्यन्त इति, 'माहण' त्ति साधुः, पाठान्तरं वा 'जेविउ' त्ति, यो विद्वान् विवेकी स जाति कुललाभादिति नं माद्यतीति, न केवलं स्वतो मदो न विधेयः जुगुप्साऽप्यन्वेषां न विधेयेति अथ अनन्तरमसौ अश्रेयस्करी पापकारिणी इंखिणी' त्ति निन्दा अन्येषा मतो न कार्य्येति । "मुणी ण मज्जइ" इत्यादिकस्य सूत्रवयवस्य सूत्रस्पर्शं गाथा द्वेयन निर्युक्तिकृदाह-

"तवसंजमणाणेसुवि, जइ माणो वज्जिओ महेसीहिं अत्तसमुक्करिसत्थं किं पुण ही ला उ अन्नेसिं ?॥४३॥

जइ ताव निज्जरमओ, पडिसिद्धो अट्ठ माण महणेहिं । अविसेसमयट्ठाणा परिहरिव्वा पयत्तेणं ॥४४॥

वेयालियस्स णिज्जुत्ती सम्पत्ता । तपःसंयम ज्ञानेष्वपि आत्मसमुत्कर्षणार्थम् उत्सेकार्थं यः प्रवृत्तो मानः यद्यसावपि तावद् वर्जितः व्यक्तो महर्षिभिः महामुनिभिः किं पुनर्निन्दाऽन्येषां न त्याज्येति । यदि तावन्निर्जरायदोऽपि

मोक्षैकगमनहेतुः प्रतिषिद्धः अष्टमानमथनैरर्हद्भिः अवशेषाणि तु मदस्थानानि जात्यादीनि प्रयत्नेन सुतरां परिहर्तव्यानीति गाथाद्वयार्थः ॥४३॥४४॥ ?

टीकार्थ – उरग-उर-छाती से चलने वाला, रेंगने वाला सर्प, जिस प्रकार अपनी केंचुल को छोड़ देता है क्योंकि यह छोड़ने ही लायक होती है, उसी प्रकार संयताचारी साधक धूली कणों की तरह अपने आठ प्रकार के कर्मों को त्याग देते हैं । वे कर्म बंध नहीं करते क्योंकि वे कषाय रहित होते हैं । जब जब जीवन में कषाय का अभाव हो जाता है तभी जीवन में कर्मों का अभाव घटित होता है । मुनि जो भूत, वर्तमान और भविष्य इन तीनों कालों को जानते हैं । यह समझते हुए मद के वशगत नहीं होते-अहंकार नहीं करते।

आगमकार मद या अहंकार का कारण बतलाते हुए प्रतिपादित करते हैं-काश्यप आदि गौत्र मद स्थानों के-अहंकार के कारण होते हैं । यहां जो अन्यतर शब्द आया है । वह अन्यान्य गौत्रों के सूचन हेतु है, जो अहंकार पैदा करते हैं । इन गौत्रों में उत्पन्न व्यक्ति अपने को औरों से ऊँचा मानते हैं तथा अहंकार में धुत्त रहते हैं ।

'माहन' शब्द साधु के लिये आया है । कहीं-कहीं, 'जेविऊ' यह पाठ प्राप्त होता है जिसका आशय यह है कि साधु जाति, कुल और लाभ का अहंकार नहीं करते । साधु को अहंकार तो करना ही नहीं चाहिये वरन् किसी अन्य की निन्दा या अपकीर्ति भी नहीं करनी चाहिये । आगमकार यह दिग्दर्शन कराते हैं । यहां 'अथ' शब्द आया है जो अनन्तर का बोधक है । अन्य की निन्दा पाप उत्पन्न करती है-उससे अशुभ का बंध होता है । इसलिये कभी किसी की निन्दा नहीं करनी चाहिये ।

निर्युक्तिकार गाथा के अवयव-आशय का संस्पर्श करने वाली दो गाथाएँ यहा उपस्थित करते हैं -

महान् साधकों ने जब आत्मोत्कर्ष को संवर्द्धन करने वाले तपश्चरण, संयम और ज्ञान के अभिमान का भी परित्याग कर दिया है तब औरों की निन्दा करने का परित्याग करने की तो फिर बात ही क्या है ? वह तो सर्वथा छोड़ने योग्य है ही । उसका तो वे सहज ही त्याग कर देते हैं । निर्जरा-मोक्ष गमन का-मुक्ति पाने का एकमात्र हेतु है । आठ प्रकार के मान का मथन करने वाले अर्हतो ने उसके मद को भी वर्जित किया है अर्थात् उसका भी अभिमान नहीं करना चाहिये तो फिर जाति जन्म आदि अन्य मत स्थानों की-उच्च जन्म जाति के आधार पर किये जाने वाले अहंकार की तो बात ही क्या है ? प्रयत्नपूर्वक इनका परित्याग कर देना चाहिये । यह दोनों गाथाओं का अर्थ है ।

❀ ❀ ❀

जो परिभवई परं जणं, संसारे परिवत्तई महं ।
अदु इंखिणिया उ पाविया, इति संखाय मुणी ण मज्जई ॥२॥

छाया – **यः परिभवति परं जनं, संसारे परिवर्तते महत् ।**
अथ ईक्षणिका तु पापिका, इति संख्याय मुनि र्न माद्यति ॥

अनुवाद – जो मनुष्य किसी दूसरे मनुष्य का परिभव-तिरस्कार या अपमान करता है, वह बहुत समय तक इस संसार सागर में भटकता रहता है । दूसरों की निन्दा से पाप संचित होता है, यह जानकर मुनि मदोन्मत्त नहीं होते, किसी की निंदा नहीं करते हैं ।

टीका – साम्प्रतं पर निन्दादोषमधिकृत्याह-'जो परिभवई' इत्यादि, यः कश्चिद विवेकी 'परिभवति' अवज्ञयति, परं जनं' अन्यं लोकम् आत्मव्यतिरिक्तं स तत्कृतेन कर्मणा 'संसारे' चतुर्गतिलक्षणे भवोदधावरघट्ट घटीन्यायेन 'परिवर्त्तते' भ्रमति 'महद्' अत्यर्थं महान्तं वा कालं, क्वचित् 'चिरम्' इति पाठः, 'अदु त्ति अथ शब्दो निपातः निपातानामनेकार्थत्वात् अत इत्यस्यार्थे वर्तते, यतः परपरिभवादात्यन्तिकः संसारः अतः 'इंखिणिया' परनिन्दा तु शब्दस्यैवकारार्थत्वात् 'पापिकैव' दोषवत्येव, अथवा स्वस्थानादधमस्थाने पातिका, तत्रेह जन्मनि सुधरो दृष्टान्तः, परलोकेऽपि पुरोहितस्यापि श्वादिषूत्पत्तिरिति, इत्येवं 'संख्याय' पर निन्दां दोषवतीं ज्ञात्वा मुनि र्जात्यादिभिः यथाऽहं विशिष्टकुलोद्भवः श्रुतवान् तपस्वी भवांस्तु मत्तो हीन इति न माद्यति ॥२॥

टीकार्थ – आगमकार ओरों की निन्दा करने से जो दोष होते हैं, उनका स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं -

जो विवेक रहित पुरुष किसी अन्य व्यक्ति का परिभव करता है-अवज्ञा करता है, अपमान करता है-वह उस परिभव से उत्पन्न हुए कर्म के फलस्वरूप बहुत समय तक चतुर्गतिमय संसार में रहट के घड़ों की तरह चक्कर काटता रहता है । कहीं कहीं 'चिरं' पाठ मिलता है । यहां जो 'अथ' शब्द आया है वह निपात सूचक है । निपात अनेक अर्थों के द्योतक होते हैं । अतः 'अथ' यहां अतः शब्द के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। दूसरों का परिभव या अपमान करने के फलस्वरूप आत्यन्तिक-अत्यधिक भवभ्रमण करना होता है । यही कारण है कि परनिन्दा पापिका-पापपूर्ण हैं या दोषवती-दोषपूर्ण है । वह जीव को अपने उत्तम स्थान से निम्न स्थान में पहुँचा देती है । यहां 'तु' शब्द एवं के अर्थ में आया है । इसका तात्पर्य यह है कि दूसरों की निन्दा पाप को ही पैदा करती है । परनिन्दा पाप को उत्पन्न करने वाली है । इस संबंध में सूअर का एक दृष्टान्त है, एक ऐसा दृष्टान्त भी है कि एक पुरोहित आगे के भव में कुत्ते की योनि में जन्म लेता है । दूसरों की निन्दा करना पाप का हेतु है । यह समझकर मुनि को अपने विशिष्ट कुल में उत्पन्न होने, शास्त्रवेत्ता होने, तपस्वी होने का मद नहीं करना चाहिये । किसी को यह भी नहीं बोलना चाहिये कि तुम मुझसे हीन हो-तुच्छ हो।

❀ ❀ ❀

जे यावि अणायगे सिया, जे विय पेसगपेसए सिया ।
जे मोणपयं उवट्ठिए, णो लज्जे समयं सयाचरे ॥३॥

छाया – यश्चाप्यनायकः स्याद् योऽपि च प्रेष्यप्रेष्यः स्यात् ।
यो मौनपद मुपस्थितो नो लज्जेत समतां सदा चरेत् ॥

अनुवाद – एक ऐसा व्यक्ति जो अनायक है-जिसका कोई दूसरा स्वामी नहीं है, जो चक्रवर्ती है, एक ऐसा व्यक्ति है जो प्रेष्य प्रेष्य है-नौकर का भी नौकर है, वे दोनों ही यदि संयम के पथ पर आते हैं-मुनिधर्म स्वीकार करते हैं तो उन्हें परस्पर लज्जा-उच्च हीन भाव छोड़कर समभाव से वर्तन करना चाहिये ।

टीका – मदाभावे च यद्विधेयं तद्दर्शयितुमाहं - यश्चापि कश्चिदास्तांतावद् अन्यो न विद्यते नायकोऽस्येत्यनायकः -स्वयं प्रभुश्चक्रवर्त्यादिः 'स्यात्' भवेत्, यश्चापि प्रेष्यस्यापि प्रेष्यः-तस्यैव राज्ञः कर्मकरस्यापि कर्मकरः,य एवम्भूतो मौनीन्द्रं पद्यते-गम्यते मोक्षो येन तत्पदं-संयस्तम् उप-सामीप्येन स्थितः उपस्थितः-समाश्रितः सोऽप्यलज्जमान उत्कर्षमकुर्वन् वा सर्वाःक्रियाः-परस्परतो वन्दनप्रति वन्दनादिकाः विधत्ते, इदमुक्तं भवति-

चक्रवर्तिनाऽपि मौनीन्द्रपदमुपस्थितेन पूर्व मात्मप्रेष्यमपि वन्दमानेन लज्जा न विधेया इतरेण चोत्कर्ष इत्येवं 'समतां' समभावं सदा भिक्षुश्चरेत्-संयमोद्युक्तो भवेदिति ॥३॥

टीकार्थ – औरों का तो कहना ही क्या ? जो स्वयं प्रभु सबका स्वामी चक्रवर्ती सम्राट् है, जिसके ऊपर कोई नायक नहीं है, दूसरी ओर जो नौकर का भी नौकर है, उस सम्राट् के कर्मचारी का भी सेवक है, वे दोनों ही-चक्रवर्ती और सोवक यदि मोक्षप्रद मुनि व्रत को स्वीकार कर लेते हैं-संयम का पथ अपना लेते हैं तो उन्हें लज्जा का परित्याग कर-उच्च नीच का भेद छोड़कर अपने उत्कर्ष-ऊंचे पद का गर्व न करते हुए तथा पूर्व में सेवक रहे व्यक्ति को नीचा न मानते हुए लज्जा छोड़कर परस्पर वंदन नमस्कार आदि सभी क्रियाओं को भली भांति करना चाहिये । कहने का अभिप्राय यह है कि चाहे चक्रवर्ती सम्राट भी क्यों न हो, किन्तु संयम ले लेने के बाद अपने से पहले दीक्षा लिये नौकर को भी जो अब साधु है, वन्दन-नमस्कार करने में शर्म महसूस नहीं करनी चाहिये । न दूसरों के समक्ष अपना उत्कर्ष-बडप्पन का अभिमान प्रकट करना चाहिये किन्तु सदैव समत्त्व भाव का आश्रय लेकर साधु को संयम की आराधना में तत्पर रहना चाहिये ।

❀ ❀ ❀

सम अन्नयरंभि संजमे, संसुद्धे समणे परिव्वए ।
जे आवकहासमाहिये दविए काल मकासीपंडिए ॥४॥

छाया – समोऽन्यतरस्मिन् संयमे संशुद्धः श्रमणः परिव्रजेत् ।
यावत् कथा समाहितो द्रव्यः काल मकार्षीत् पण्डितः ॥

अनुवाद – सम-समत्त्व भाव युक्त, शुद्ध संयम में अवस्थित सत् असत् के विवेक में निपुण तपश्चरण शील मुनि अपने संयम स्थान में स्थित होता हुआ साधनामय जीवन में अविचल रहता हुआ प्रव्रज्या का-मुनि जीवन का भली भांति पालन करता रहे ।

टीका – क्व पुनर्व्यवस्थितेन लज्जामदो न विधयावितिं दर्शयितुमाह- 'समे' ति समभावोपेनः सामायिकादौ संयमे संयमस्थाने वा षट्स्थानपतितत्वात् संयमस्थानानामन्यतरस्मिन् संयमस्थाने छेदोपस्थापनी यादौ वा, तदेव विशिनष्टि-सम्यक्शुद्धे सम्यक् शुद्धौ वा 'श्रमणः' तपस्वी लज्जामद परित्यागेन समानमना वा 'परिव्रजेत्' संयमोद्युक्तो भवेत्, स्यात्-कियन्तं कालम् ? यावत् कथा-देवदत्तो यज्ञदत्त इति कथां यावत्, सम्यगाहित आत्मा ज्ञानादौ येन स समाहितः समाधिना वा शोभनाध्यवसायेन युक्तः, द्रव्यभूतो रागद्वेषादिरहितः मुक्तिगमनयोग्य तथा वा भव्यः स एवम्भूतः कालमकार्षीत् 'पंडितः' सदसद्विवेककलितः, एतदुक्तं भवति-देवदत्त इति कथा मृतस्यापि भवति अतो याव-मृत्युकालं ताव ल्लज्जामदपरित्यागो पेतेन संयमानुष्ठाने प्रवर्त्तितव्यमिति स्यात् ॥४॥

टीकार्थ – साधु को किसी भी स्थिति मे रहते हुए अहंकार नहीं करना चाहिये और अपना बडप्पन मानते हुए शर्म नहीं करनी चाहिये । यह दिग्दर्शन कराने हेतु आगमकार कहते हैं -

समत्त्व भाव युक्त सामायिक आदि संयम स्थान में अवस्थित षट्स्थान विभक्त-छः भागों में बंटे हुए किसी एक संयम स्थान में विद्यमान अथवा छेदोपस्थापनीय आदि चारित्र में स्थित तपश्चरणशील मुनि शुद्ध आचारशील-व्रतशील भिक्षु लज्जा तथा अहंकार का परित्याग कर अपने मन में समानता पूर्ण वृत्ति लिये साधना में तत्पर रहें । फिर प्रश्न उपस्थित करते हुए विषय को आगे बढ़ाया जाता है कि वह साधु कितने समय तक ऐसा

करे ? उसका निराकरण करते हुए बताया जाता है कि-जब तक देवदत्त या यज्ञदत्त हैं, जगत में इस प्रचलित कथा के अनुरूप जब तक जीवित रहे तब तक ज्ञानाराधना आदि में अपनी आत्मा को संस्थित करते हुए शुभ अध्यवसाय पूर्वक संयम का अनुपालन करे-अनुसरण करे । इस प्रकार द्रव्याभूत राग द्वेष विवर्जित, मोक्षगमन योग्य तथा सत् असत् के विवेक से युक्त साधु यावज्जीवन संयम का पालन करे । कहने का आशय यह है कि मरने के बाद भी देवदत्त नाम का व्यक्ति था, ऐसी बात संसार में चलती रहती है । इसलिये यहां कहा गया है कि जब तक मौत का समय न आये तब तक मुनि लज्जा और मद का परित्याग करता हुआ संयम की साधना में संप्रवृत्त रहे ।

❀ ❀ ❀

दूरं अणुपस्सिया मुणी, तीतं धम्ममणागयं तहा ।
पुट्ठे फरुसेहिं माहणे, अवि हण्णू समयंमि रीयइ ॥५॥

छाया – दूरमनुदृश्य मुनिरती तं धर्मयनागतं तथा ।
स्पृष्टः परुषै महिनः अपि हन्यमानः समये रीयते ॥

अनुवाद – अतीत, वर्तमान तथा भविष्य का वेत्ता तथा दूरद्रष्टा-मोक्ष को समझने वाला मुनि परुष-कठोर वाक्यों द्वारा स्पृष्ट, प्रताडित तथा दण्ड आदि के द्वारा आहत-मारा पीटा जाता हुआ भी संयम पथ पर गतिशील रहें ।

टीका – किमालम्ब्यैतद्विधेयमिति, उच्यते - दूरवर्त्तित्वात दूरो-मोक्षस्त मनु-पश्चात् तं दृष्ट्वा यदि वा दूरमिति दीर्घकालम् 'अनुदृश्य' पर्यालोच्य 'मुनिः' कालत्रयवेत्ता दूरमेव दर्शयति-अतीतं 'धर्मं' स्वभावं-जीवानामुच्चावचस्थानगतिलक्षणं तथा अनागतं च धर्मं-स्वभावं पर्यालोच्य लज्जामदौ न विधेयौ, तथा 'स्पृष्टः' छुप्तः 'परुषैः' दण्डकशादिभिर्वाग्भिर्वा 'माहणे' त्ति मुनिः 'अविहण्णू' त्ति अपि मार्यमाणः स्कन्दशिष्यगणवत् 'समये' संयमे 'रियते' तदुक्तमार्गेण गच्छतीत्यर्थः, पाठान्तर वा 'समयाऽहियासए' त्ति समतया सहत इति ॥५॥

टीकार्थ – किस पदार्थ का अवलम्बन लेकर साधु ऐसा करे, आगमकार इस पर प्रकाश डालते हुए बतलाते हैं -

दूरवर्ती होने के कारण मोक्ष को दूर शब्द द्वारा अभिहित किया गया है अथवा दीर्घ काल या लम्बे समय को दूर कहा जाता है । अतएव तीनों कालों के वेत्ता-वर्तमान, भूत और भविष्य के द्रष्टा मुनि को दूर अर्थात् मोक्ष को देखकर तथा दूरवर्ती समय का चिन्तन कर लज्जा एवं अभिमान नहीं करना चाहिये । दूरवर्ती काल को सोचने का क्या अभिप्राय है यह प्रश्न उपस्थित कर आगमकार बतलाते हैं -

अतीत या बीता हुआ समय जो प्राणियों के स्वभाव या धर्म से जुड़ा रहा उसके परिणाम स्वरूप वे ऊँची नीची गतियों में जाते हैं । यह मुनि को देखते रहना है । साथ ही साथ भविष्य पर भी उसे दृष्टि रखनी है । दोनों का स्वरूप समझते रहना है । ऐसा करता हुआ मुनि लज्जा या अभिमान न करे । दण्ड-लट्ठी, कशा-चाबुक आदि द्वारा मारा, पीटा जाता हुआ कठोर वाणी द्वारा घर्षित किया जाता हुआ भी वह स्कन्धक मुनि के शिष्य की ज्यों आगमों में निरूपित संयम पथ का अनुसरण करता जाये। यहां 'समयाहियासए' यह पाठान्तर

भी प्राप्त होता है जिसका अर्थ यह है कि मुनि समत्त्वभावपूर्वक ऊपर जो विघ्न बाधाएं-आपत्तियां बतलाई गई है, उन्हें सहता जाये ।

❀ ❀ ❀

पण्णसमत्ते सया जए समताधम्म मुदाहरे मुणी ।
सुहुमे उ सया अलूसए णो कुज्झे णो माणि माहणे ॥६॥

छाया – प्रज्ञासमाप्तः सदा जयेत् समताधर्म मुदाहरेन्मुनिः ।
सूक्ष्मे तु सदाऽलूषकः नो क्रुध्येन्नो मानी माहनः ॥

अनुवाद – प्रज्ञा समाप्त-जिसने प्रज्ञा या विवेक आत्मसात् किया है, ऐसा बुद्धिशील साधु सदैव कषायादि आत्म शत्रुओं को पराजित करे, वह समताधर्म का-समस्त प्राणी मात्र की समानता का, उनकी हिंसा न करने का उपदेश करे । वह कभी भी अपने संयम में बाधा न आने दे । वह कदापि क्रोध न करे । अभिमान न करे ।

टीका – पुनरप्युपदेशान्तरमाह - प्रज्ञायां समाप्तः-प्रज्ञा समाप्तः-पटुप्रज्ञः, पाठान्तरं वा 'पण्हसमत्थे' प्रश्न विषये प्रत्युत्तरदानसमर्थः 'सदा' सर्वकालं जयेत्, जेयं कषायादिकमिति शेषः । तथा समया समता तया धर्मम्-अहिंसादिलक्षणम् 'उदाहरेत्' कथयेत् 'मुनिः' यतिः सूक्ष्मे तु-संयमे यत्कर्त्तव्यं तस्य 'अलूषकः' अविराधकः, तथा न दृन्यमानो वा पूज्यमानो वा क्रुध्येन्नापि 'मानी' गर्वितः स्यात् 'माहणो' यतिरिति ॥६॥

टीकार्थ – आगमकार फिर दूसरे प्रकार से उपदेश देते हैं, जिसने प्रज्ञा को भली भांति प्राप्त कर लिया है, जो पूर्णतः बुद्धिशील है, विवेकी हैं, उन्हें प्रज्ञासमाप्त कहा जाताहै । यहां पर 'पण्हसम्मत्थे-प्रश्न समर्थः' यह अन्य पाठ भी प्राप्त होता है । इसका अभिप्राय 'किसी प्रश्न का उत्तर देने में सक्षम पुरुष होता है । साधक जीतने योग्य कषायों को जीते । अहिंसा आदि धार्मिक सिद्धान्तों को समत्त्वभाव के साथ उपदिष्ट करे । वह संयमात्मक साधना की कभी विराधना न करे । वह यदि हन्यमान हो-मारा जाता हो, तो भी क्रोध न करे और पूज्यमान या सम्मानित हो तो भी अभिमान न करे ।

❀ ❀ ❀

बहजणणमणंमि संवुडो सव्वट्ठेहिं णरे अणिस्सिए ।
हृदएव सया अणा विले धम्मं पादुरकासी कासवं ॥७॥

छाया – बहुजननमने संवृत्तः सवार्थैर्नरोऽनिश्रितः ।
हृदइव सदाऽनाविलो धर्मं प्रादुरकार्षीत्काश्यपम् ॥

अनुवाद – धर्म बहुत जनों द्वारा नमन करने योग्य-आदर करने योग्य या स्वीकार करने योग्य है। साधक उसके परिपालन में सदैव जागरूक रहता हुआ, धन वैभव आदि बाह्य पदार्थों में आसक्त न होता हुआ, सरोवर की तरह सदा निर्मल होकर, काश्यप गोत्रीय भगवान महावीर द्वारा उपदिष्ट धर्म को प्रकट करें । स्वयं उसका पालन करे-औरों को भी वैसा करने हेतु प्रेरित करें ।

टीका – अपि च बहून् जनान् आत्मानं प्रति नामयति-प्रह्वीकरोति तै र्वा नम्यते-स्तूयते बहुजननमनो धर्मः, स एव बहुभिर्जनैरात्मीयात्मीयाशयेन यथाऽभ्युपगम प्रशंसया स्तूयते प्रशस्यते, कथम् ? अत्र कथान कं राजगृहे नगरे श्रेणिको महाराजः, कदाचिदसौ चतुर्विधबुद्ध्युपेतेन पुत्रेण अभयकुमारेण सार्धमास्थानस्थितस्ताभि स्ताभिः कथाभिरासाञ्चक्रे, तत्र कदाचिदेवम्भूता कथाऽभूत् तद्यथा-इहलोके धार्मिकाः वहवः उताधार्मिका इति? तत्र समस्तपर्षदाऽभिहितम् यथाऽत्राधार्मिकाः बहवो लोकाः धर्मं तु शतानामपि मध्ये कश्चिदेवैकोविधत्ते, तदाकर्ण्याभयकुमारेणोक्तं-यथा प्रायशो लोकाः सर्व एव धार्मिकाः, यदि न निश्चयो भवतां परीक्षा क्रियताम्, पर्षदाऽप्यभिहितम् एवमस्तु, ततोऽभयकुमारेण धवलेतर-प्रासादद्वयं कारितम्, घोषितं च डिण्डिभेन नगरे, यथा यः कश्चिदिह धार्मिकः स सर्वोऽपि धवलप्रासादं गृहीतबलिः प्रविशतु, इतरस्त्वितरमिति, ततोऽसौ लोकः सर्वोऽपि धवलप्रासादमेव प्रविष्टो निर्गच्छंश्च कथं त्वं धार्मिकः ? इत्येवं पृष्टः कश्चिदाचष्टे-यथाऽहं कर्षकः अनेक शकुनिगणः मद्धान्यकणैरात्मानं प्रीणयति खलक समागमधान्य कण भिक्षा दानेन च धर्म इति, अपरस्त्वाह यथा हं ब्राह्मणः षट्कर्माभिरतः तथा बहुशौचस्नानादिभिर्वेदविहितानुष्ठानेनपितृदेवाँस्तर्पयामि, अन्यः कथयति यथाऽहं वणिक्कुलोपजीवी भिक्षादानादि प्रवृत्तः, अपरस्त्विदमाह यथाऽहं कुलपुत्रकः न्यायागतं निर्गतिकं कुटुम्बकं पालयाम्येव, तावत् श्वपाकोऽपीदमाह-यथाऽहंकुलक्रमागतं धर्ममनुपालयामिति मन्निश्रयाश्च बहवः पिशितभुजः प्राणान् संधार यन्ति, इत्येवं सर्वोऽप्यात्मीयमात्मीयं व्यापार मुद्दिश्य धर्मे नियोजयति, तत्रापरमसितप्रासादं श्रावकद्वयं प्रविष्टम्, तच्च किमधर्माचरणंभवद्भ्यामकारीत्येनं पृष्टं सत् सकृन्मद्यनिवृत्तिभङ्गव्यलीकमकथयत् तथा साधव एवात्र परमार्थ तो धार्मिकाः यथागृहीतप्रतिज्ञानिर्वाहणसमर्थाः, अस्माभिस्तु –

"अवाप्यमानुषं जन्म, लब्धवा जैनञ्च शासनम् । कृत्वा निवृत्तिं मद्यस्य सम्यक् साऽपि न पालिता" ॥१॥

अनेन व्रतभङ्गेन मन्यमाना अधार्मिकम् । अधमाधममात्मानं, कृष्णप्रासादमाश्रिताः ॥२॥

तथाहि –

लज्जागुणौघजननीं जननी मिवार्यां । मत्यन्तशुद्धहृदया मनुवर्तमानाः ॥
तेजस्विनः सुख मसूनपि संत्यजन्ति । सत्यव्रतव्यसनिनो न पुनः प्रतिज्ञाम् ॥३॥

वरं प्रवेष्टु ज्वलितं हुताशनं न चाऽपि भग्नं चिरसंचित व्रतम् ।
वरं हि मृत्युः सुविशुद्ध चेतसो न चाऽपि शीलस्खलितस्य जीवितम् ॥४॥

इति तदेवं प्रायशः सर्वोऽप्यात्मानं धार्मिकं मन्यत्त इति कृत्वा बहु जननमनो धर्म इति स्थितम् । तस्मिंश्च संवृत्तः समाहितः सन् नरः पुमान् सर्वार्थैः बाह्याभ्यन्तैरर्धनधान्यकलत्रममत्त्वादिभिः अनिश्रितः अप्रतिबद्धः सन् धर्मं प्रकाशितवानित्युत्तरेण सह सम्बन्धः निदर्शनमाह-हृदइव स्वच्छाम्भसा भृतः सदा अनाविलः अनेकमत्स्यादि जलचर संक्रमेणाप्यनाकुलोऽकलुषो वा क्षान्त्यादिलक्षणं धर्मं प्रादुरकार्षीत् प्रकटं कृतवान् यदि वा एवं विशिष्ट एव काश्यपं तीर्थङ्करसम्बन्धिनं धर्मं प्रकाशयेत् छान्दसत्वाद् वर्तमाने भूत निर्देश इति ॥७॥

टीकार्थ – जो बहुत लोगों को अपनी ओर झुका देता है-आकृष्ट कर लेता है अथवा जो उन द्वारा प्रशंसित होता है उसे बहुजन नमन कहा जाता है । वह धर्म है क्योंकि धर्म को ही बहुत से लोग अपनी अपनी भावना तथा वृत्ति के अनुरूप प्रशंसित करते हैं । प्रश्न उठातेहुए कहा गया है-किस प्रकार ? इसका समाधान करते हुए एक कथानक प्रस्तुत किया जाता है-

राजगृह नगर में श्रेणिक नामक राजा राज्य करता था । एक दिन की बात है । वह अपने पुत्र अभयकुमार के साथ जो चतुर्विध बुद्धि सम्पन्न था, राजसभा में बैठा था । अनेक प्रकार की कथाओं से मनोविनोद कर

रहा था । तभी एक प्रसंग उपस्थित हुआ कि इस लोक में धर्मिष्ट लोग अधिक हैं या अधर्मिष्ट अधिक हैं। इस पर सभासदों की राय पूछे जाने पर सभी ने यह कहा कि संसार में अधार्मिक पुरुष ही अधिक हैं । सौ में से कोई एकाध ही ऐसा होगा जो धर्म का पालन करता हो। यह श्रवण कर अभयकुमार बोला-आप सभी धर्मिष्ट हैं । यदि इस बात को निश्चित न समझते हों-इसमें संदेह लगता हो तो आप जांच कर लें । सभासदों ने यह स्वीकार किया ।

तदन्तर अभयकुमार ने एक धवल-सफेद तथा एक कृष्ण-काला ऐसे दो महल बनाये । उसने नगर में यह घोषित करवाया कि जो भी कोई धार्मिक हो वे सभी पूजोपकार का सामान लेकर सफेद महल में प्रवेश करें तथा जो अपने को धार्मिक न मानते हों वे काले महल में जांय । उसके बाद सभी लोग सफेद महल में चले गये । जब वे उस महल से बाहर निकलने लगे तो उनसे प्रश्न किया गया कि तुम लोग किस प्रकार धार्मिक हो, ऐसा पूछे जाने पर किसी ने कहा-मैं कृषक हूँ । बहुत से पक्षी मेरे धान्य के कणों से अपनी तुष्ठि-तृप्ति करते हैं तथा खलिहान से प्राप्त धान्य में से मैं भिक्षा देता हूँ जिससे मुझे धर्म लाभ होता है । अतः मैं धार्मिक हूँ । दूसरे ने कहा-मैं ब्राह्मण हूँ । पितृगण और देवगण का तर्पण करता हूँ । अतः मैं धार्मिक हूँ । दूसरा कहने लगा-मैं वणिक कुलोपजीवी हूँ । मैं व्यापार द्वारा अपना निर्वाह करता हूँ । भिक्षादान आदि कार्य करता हूँ । अतः मैं धार्मिक हूँ । दूसरे ने कहा-मैं कुलपुत्र हूँ-खानदानी रईस हूँ, न्यायानुगत, इतर आश्रय से रहित अपने कुटुम्ब का लालन पालन करता हूँ । इसलिये मैं धार्मिक हूँ । आखिर में एक श्वपाक-चांडाल ने भी कहा कि मैं अपने कुल क्रमागत अपने ही वंश में पीढ़ियों से चले आते धर्म का पालन करता हूँ । तथा मेरे आश्रय में रहने वाले बहुत से मांसभोजी मेरे सहारे जीते हैं । अतः मैं धार्मिक हूँ । यों सभी लोग अपने-अपने व्यवसाय में-कार्यकलाप में धर्म की स्थापना करने लगे किन्तु उन्हीं लोगों मेंसे दो श्रमणोपासक काले महल में संप्रविष्ट थे । उनसे जब यह प्रश्न किया गया कि आपने कौन सा पाप कृत्य किया है । इस पर वे लोग बोले-हमने मदिरा पान के त्याग का नियम लिया था । एक बार उसे भंग कर दिया । वास्तव में मुनि गण ही इस संसार में सही मायने में धर्मिष्ट हैं क्योंकि वे अपने द्वारा स्वीकार किये गये नियमों का पालन करने में सक्षम हैं । कितने दुःख की बात है कि हम लोगों ने मानवभव प्राप्त किया, जैन शासन मिला। मदिरा पीने का परित्याग करके भी अपनी प्रतिज्ञा को नहीं निभा सके । इस प्रकार नियम को तोड़ा, व्रत को भंग किया, इसलिये हम अपने आपको अधार्मिक और अधम से अधम, नीच से नीच समझकर काले महल में प्रविष्ट हुए क्योंकि प्रतिज्ञा लज्जा आदि उत्तम गुणों की जननी है-उन्हें उत्पन्न करती है । वह शुद्ध हृदय युक्त पूजनीया मां के समान है । उसका अनुसरण करने वाले तेजस्वी, आत्म शौर्य के धनी, सत्यव्रत का एक हृदय से अनुसरण करने वाले पुरुष अपने प्राण सुखपूर्वक त्याग देते हैं परन्तु ली गई प्रतिज्ञा का त्याग नहीं करते-नहीं छोड़ते । धधकती हुई अग्नि में प्रवेश कर जांय यह उत्तम है किन्तु चिर संचित-बहुत काल से संयोजे हुए व्रत को भंग करना अच्छा नहीं है । सुविशुद्ध चेत्ता-उत्तम चित्तयुक्त पुरुष की मृत्यु अच्छी है किंतु जो व्यक्ति शील से स्खलित-पतित हो गया हो उसका जीना अच्छा नहीं है ।

यों सभी लोग अक्सर अपने आपको धार्मिष्ठ समझते हैं । इस प्रकार धर्म को जो बहुत जन नमन कहा गया है, वह ठीक ही है । धर्म में जागरूक होता हुआ मानव धन, सम्पत्ति, धान्य अनेक पदार्थ, कलत्र, स्त्री तथा मन के अन्तरवर्ती ममत्व आदि में आसक्त न होकर-न बंधकर जीवन में धर्म को साकार करता है, सही माने में वह धार्मिक है । उत्तरगाथा का इससे संबंध है ।

इस विषय में एक दृष्टान्त और दिया जाता है । एक तालाब निर्मल जल से भरा है, वह अनेक जल जीवी प्राणियों के संचरण से भी मलिन-मैला या गंदा नहीं होता, इसी प्रकार साधु संसार में रहते हुए भी मलिन-दूषित नहीं होते । शांति, क्षमाशीलता आदि दस लक्षण युक्त धर्म को अपने जीवन में साकार करते हैं । साधु इसी प्रकार जीवन जीता हुआ तीर्थंकर देव द्वारा निरूपितधर्म को प्रकाशित करे । इस गाथा में छान्दस या आर्ष प्रयोग के नाते वर्तमान काल में भूतकाल का निर्देश हुआ है ।

❀ ❀ ❀

बहवे पाणा पुढ़ो सिया पत्तेयं समयं समीहिया ।
जो मोणपदं उवट्ठिये, विरतिं तत्थ अकासि पंडिए ॥८॥

छाया – बहवः प्राणाः पृथक् श्रिताः प्रत्येकं समतां समीक्ष्य ।
यो मौनपदमुपस्थितो विरतिं तत्रा कार्षीत् पण्डितः ॥

अनुवाद – इस जगत में बहुत से प्राणी है जो अलग अलग अपने अपने स्थानों में रहते हैं। विवेकी मुनि उन सबको समत्त्व भाव से देखता है । संयम के पथ पर अवस्थित रहता है, उसे चाहिये कि वह प्राणियों की हिंसा से विरत रहे-पृथक् रहे ।

टीका – स बहुजननमने धर्मे व्यवस्थितो यादृग धर्मं प्रकाशयति तद्दर्शयितुमाह-यदि वोपदेशान्तरमेवाधिकृत्याह-'बहवे' इत्यादि, बहवः अनन्ताः प्राणाः दशविधप्राणभाक्त्वात्तद भेदोपचारात् प्राणिनः पृथगिति पृथिव्यादिभेदेन सूक्ष्मबादरपर्य्याप्तका पर्य्याप्तनरकगत्यादिभेदेन वा संसारमाश्रिताः तेषाञ्च पृथगाश्रितानामपि प्रत्येकं समतां दुःखद्वेषित्वं सुखप्रियत्वञ्च समीक्ष्य दृष्ट्वा यदिवा समतां माध्यस्थ्यमुपेक्ष्य (त्य) यो मौनीन्द्रपदमुपस्थितः संयममाश्रितः स साधुः तत्र अनेनभेदभिन्नप्राणिगणे दुःख द्विषि सुखामिलाषिणि सति तदुपघाते कर्त्तव्ये विरतिमकार्षीत कुर्या द्वेति, पापाङ्गीनः पापानुष्ठानाद् दवीयान् पण्डित इति ॥८॥

टीकार्थ – एक साधु जो बहुत से लोगों द्वारा वन्दनीय है, वह धर्म को जिस प्रकार प्रकाशित करता है उसका दिग्दर्शन कराते हुए आगमकार कहते हैं –

दस प्रकार के प्राणों को धारण करने के कारण प्राण धारियों का प्राणों के साथ अभेद संबंध आरोपित है । अतः यहाँ उन्हें प्राण कहा गया है । इस जगत में अनन्त प्राणी निवास करते हैं जो पृथ्वी आदि के भेद से सूक्ष्म, बादर-स्थूल, पर्याप्त-पर्याप्तिप्राप्त, अपर्याप्त-पर्याप्ति वर्जित एवं नरक आदि विभिन्न गतियों में स्थित इत्यादि के रूप में वे परस्पर भिन्न भिन्न हैं । यद्यपि ये पृथक् पृथक् रहते हैं किंतु इनमें से प्रत्येक प्राणी दुःख के साथ द्वेष करता है और सुख के साथ राग करता है, वह दुःख नहीं चाहता, सुख चाहता है, यह सभी प्राणियों में एक जैसी वृत्ति है, इसे जानकर तथा सब प्राणियों के प्रति मध्यस्थ-तटस्थ भाव रखता हुआ एवं संयम मार्ग पर विघ्न रूप मे उपस्थित अशुभ अनुष्ठान से दूर रहता हुआ विवेकशील-ज्ञानी पुरुष दुःख द्वेषी और सुखाभिलाषी भिन्न भिन्न रूपों में अवस्थित प्राणियों की हिंसा से निवृत्त रहे ।

❀ ❀ ❀

धम्मस्स य पारए मुणी आरंभस्स य अंतए ठिए ।
सोयंति य णं ममाइणो णो लब्भंति णियं परिग्गहं ॥९॥

छाया – धर्मस्य च पारगो पुनि रारम्भस्य चान्तके स्थितः ।
शोचन्ति च ममतावन्तः नो लभन्ते निजं परिग्रहम् ॥

अनुवाद – जो पुरुष धर्म के पारगामी हैं-धर्म तत्त्व के जानकार है, उस पर चलने वाले हैं, जो आरम्भ-हिंसादि से दूरवर्ती हैं वे वस्तुतः मुनि हैं । जो व्यक्ति ममता में ग्रस्त रहते हैं, परिग्रह-धन-दौलत के लिये तड़फते रहते हैं वे शोकान्वित होते हुए भी परिग्रह को प्राप्त नहीं कर पाते ।

टीका – अपि च धर्मस्य श्रुतचारित्रभेदभिन्नस्य पारं गच्छतीति पारगः सिद्धान्तपारगामी सम्यक्चारित्रानुष्ठायी वेति, चारित्रमधिकृत्याह-'आरम्भस्य' सावद्यानुष्ठान रूपस्य 'अन्ते' पर्यन्ते तदभावरूपे स्थितो मुनिर्भवति ये पुननैंवं भवन्ति ते अकृतधर्माः मरणे दुःखे वा समुत्थिते आत्मानंशोचन्ति, णमिति वाक्यालङ्कारे, यदिवेष्टमरणादौ अर्थनाशे वा 'ममाइणो' त्ति ममेद-महमस्य स्वामीत्येवमध्यवसायिनः शोचन्ति शोचमाना अप्येते 'निजम' आत्मीयं परि समन्तात् गृह्यते आत्मसात्क्रियत इति परिग्रहः । हिरण्यादिरिष्ट-स्वजनादिर्वा तं नष्टं मृतं वा 'न लभन्ते' न प्राप्नुवन्तीति, यदि वा धर्मस्यं पारगं मुनिमारम्भस्यान्ते व्यवस्थितमेनमागत्य 'स्वजनाः' मातापित्रादयः शोचन्ति 'ममत्वयुक्ताः' स्नेहालवः न च ते लभन्ते निजमप्यात्मीय परिग्रहबुद्धया गृहीत मिति ॥९॥

टीकार्थ – धर्मश्रुत-ज्ञान, चारित्र-आचार भेद से दो प्रकार का है । जिसने ऐसे धर्म को पार किया है अर्थात् जो धर्म के सिद्धांतों का सम्यक्वेत्ता है, भली भांति जानता है-जो शुद्ध चारित्र का धार्मिक चर्या का अनुसरण करता है, वह मुनि कहा जाता है । चारित्र को अधिकृत कर कहा जाता है कि जो आरम्भ-सावद्य अनुष्ठान रूप पाप कृत्यों के अभाव में अवस्थित रहता है, वैसे असत् कर्म नहीं करता है, वह पुरुष मुनि है। किंतु ऐसा नहीं करने वाले लोग भी हैं वे धर्माचरण नहीं करते। मृत्यु या संकट उपस्थित होने पर आत्मा को शोकान्वित बनाते हैं । यहां इस गाथा में 'णं' शब्द वाक्यालंकार के रूप में प्रयुक्त हुआ है । इष्ट-अभिप्सित या प्रिय की मृत्यु या धन का नाश होने पर ये मेरे हैं, मैं इनका स्वामी हूँ, ये क्या हो गया, यों अवसाद पूर्वक चिन्तन करने वाले उनके लिये बहुत शोकान्वित होते हैं किंतु शोक करने के बावजूद वे अपने नष्ट हुए परिग्रह आदि को प्राप्त नहीं कर सकते । परिग्रह उसे कहा जाता है जो चारों ओर से अपने अधीन किया है, स्वायत्त कियाजाता है या ग्रहण किया जाता है । सोनाआदि पदार्थ तथा पारिवारिक जन परिग्रह में आते हैं, जो स्वर्ण आदि पदार्थ नष्ट हो गये, जो पारिवारिक जन मृत्यु को प्राप्त हो गये, उन्हें प्राप्त नहीं किया जा सकता अथवा धर्म के पारगामी-तत्त्व वेत्ता आचारनिष्ट एवं हिंसा आदि आरंभ के अनासेवी मुनि के समीप आकर उसके माता पिता आदि रिश्तेदार अपना ममत्त्व दिखलाते हैं, स्नेह दिखलाते हैं । उन मुनि द्वारा घर छोड़ दिये जाने के कारण वे शोक प्रकट करते हैं । उस मुनि को वे अपना परिग्रह, अपनी सम्पत्ति समझते हैं किंतु वे उसे पाने में समर्थ नहीं होते।

❀ ❀ ❀

इह लोग दुहावहं विऊ परलोगे य दुहं दुहावहं ।
विद्धंसणधम्ममेव तं इति विज्जं कोऽगार मावसे ॥१०॥

छाया – इहलोकदुःखावहं विद्याः परलोके च दुःखं दुःखावहम् ।
विध्वंसनधर्ममेव तद् इति विद्वान् कोऽगार मावसेत् ॥

अनुवाद – परिग्रह जिसमें स्वर्ण, रजत आदि सम्पत्ति तथा कुटम्बी संबंधी जनों का समावेश है, इस लोक तथा परलोक में दुःखप्रद है । ये सभी मिट जाने वाले हैं । इस तथ्य को-सच्चाई को जो जानता है-ऐसा कौन व्यक्ति है जो घर में रहना, गृहस्थ या सांसारिक जीवन बिताना अपने लिये अच्छा समझे ।

टीका – अत्रान्तरे नागार्जुनीयास्तु पठन्ति "सोऊण तयं उवट्ठियं केइ गिही विग्घेण उट्ठिया । धम्ममि अणुत्तरे मुणी, तंपि जिणिज्ज इमेण पंडिए ॥१॥ एतदेवाह-इह अस्मिन्नेव लोके हिरण्यस्वजनादिकं दुःखमावहति। 'विउ' त्ति विद्याः जानीहि, तथाहि-

अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानाञ्च रक्षणे । आये दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थं दुःखभाजनम्" ॥१॥

तथाहि-

"रेवापयः किसलयानि च सल्लकीनां विन्ध्योपकण्ठविपिनं स्वकुलञ्च हित्वा ।
किं ताम्यसि द्विप! गतोऽसि वशं करिण्याः, स्नेहो निबन्धनमनर्थपरम्परायाः" ॥२॥

परलोके च हिरण्य स्वजनादि ममत्वापादित कर्मजं दुःखं भवति, तदप्यपरं दुःखमावहति, तदुपादान कर्मोपादानादितिभावः । तथैवदुपार्जितमपि विध्वंसनधर्मं विशरारुस्वभावं गत्वरमित्यर्थः इत्येवं विद्वान जानन् कः सकर्ण अगारवासं गृहवासभावसेत् गृहपाशमनुबध्नीयादिति । उक्तञ्च

"दाराः परिभवकाराः बन्धुजनो बंधनं विषं विषयाः। कोऽयं जनस्य मोहो ? ये रिपवस्तेषु सुहृदाशाः ॥१०॥

टीकार्थ – नागार्जुनीय वाचना के अनुसार यहां 'सोऊण' इत्यादि पाठ है अर्थात् कोई सांसारिक पुरुष मुनि को आया जानकरउनके लिये विघ्न उपस्थित करने हेतु आये, कहे तो अनुत्तर-जिससे बढ़कर दूसरा कोई नहीं है, ऐसे उत्तम धर्म के परिपालन में विद्यमान विवेकशील मुनि इस प्रकार उनको जीत ले, निरुत्तर कर दे, इसी बात को सूत्रकार विवेचन करते हैं -

स्वर्ण आदि बहुमूल्य पदार्थ तथा कुटुम्ब एवं परिवार के लोग इस लोक में भी दुःखप्रद है इसे समझे। कहा है-धन का अर्जन करने में उसे कमाने में बड़ा दुःख-बड़ी तकलीफें सहनी होती है, उसकी रक्षा करने में भी कष्ट होता है "यों उसके आय-आने में, व्यय-खर्चने में या जाने में बहुत कष्ट होता है । यह धन तो दुःखों का पात्र है, धिक्कार योग्य है । भोग के संदर्भ में हाथी को संबोधित कर कहा गया है -

हे गज ! तुम्हें रेवा नदी का जल, सल्लकी वृक्ष के पत्ते और अपना सुन्दर कुल प्राप्त है । इन सबको छोड़कर तुम एक हथिनी के प्रति कामुकतावश होकर दुःखित हो रहे हो-परितप्त हो रहे हो । संसार में यह भौतिक स्नेह ही अनर्थ की जड़ है । स्वर्ण आदि धन, वैभव के प्रति ममत्त्व में ग्रस्त रहने से परलोक में भी दुःख प्राप्त होता है । वह दुःख फिर नये दुःख को पैदा करता है क्योंकि उस दुःख वश व्यक्ति फिर निम्न कार्य करता है । उनका फल भी तो दुःखजनक ही होता है । जो धन कमाया है, वह भी सदा नहीं रहता। स्थिर नहीं रहता, नष्ट हो जाता है । जो इस बात को जानता है वैसा कौन विवेकी-ज्ञानी गृहस्थ जीवन को अच्छा समझेगा । गृहस्थ के फंदे में अपने का बांधने हेतु उद्यत होगा । कहा है -

स्त्रियां परिभव-अपमान का कारण होती हैं । बंधु बांधव जन बंधन है-उनके मोह से व्यक्ति कर्मों से बंधता है । सांसारिक भोग जहर के समान है, ऐसा होते हुए भी मनुष्य कितना मोहछन्न है। उनमें, जो वास्तव में उसके शत्रु हैं मित्र की सी आशा रखता है ।

❀ ❀ ❀

महयं परिगोव जाणिया जावि य वंदणपूयणा इहं ।
सुहुमे सल्ले दुरुद्धरे विउमंता पयहिज्ज संथवं ॥११॥

छाया – महान्तं परिगोपं ज्ञात्वा याऽपि च वंदनपूजनेह ।
सूक्ष्मे शल्ये दुरुद्धरे विद्वान परिजह्यात् संस्तवम् ॥

अनुवाद – एक मुनि यह जानकर कि सांसारिक प्राणियों के साथ परिचय करना एक प्रकार से महान-बड़े भारी कीचड़ में फंसना है । उनके साथ सम्पर्क संसर्ग न जोड़े । अपने वंदन पूजन को जो उसे प्राप्त है, देखकर गर्व न करे क्योंकि गर्व करना एक सूक्ष्म-बारीक शल्य-कांटा है जिसे उद्धृत कर पाना-निकाल पाना बहुत कठिन है ।

टीका – पुनरप्युपदेशमधिकृत्याह-'महान्तं, संसारिणां दुस्त्यजत्वान्महता वा संरम्भेण परिगोपणं परिगोपः द्रव्यतः पंङ्कादिः भावतोऽभिष्वङ्ग तं 'ज्ञात्वां' स्वरूपतः तद्विपाकतो वा परिच्छिद्य याऽपि च प्रव्रजितस्य सतो राजादिभिः कायादिभि वंन्दना वस्त्रपात्रादिभिश्च पूजना तां च 'इह' अस्मिन् लोके मौनीन्द्रे वा शासने व्यवस्थितेन कर्मोपशमजं फलमित्येवं परिज्ञायोत्सेको न विधेयः, किमिति ? यतो गर्वात्मकमेतत्सूक्ष्मं शल्यं वर्त्तते, सूक्ष्मत्वाच्च 'दुरुद्धरं' दुःखेनोद्धर्तुं शक्येत, अतः 'विद्वान्' सदसद्विवेकज्ञस्तत्तावत् 'संस्तवं' परिचयमभिष्वङ्गं 'परिजह्यात्' परित्यजेदिति । नागार्जुनीयास्तु पठन्ति -

''पलिमंथ महं वियाणिया, जाऽविय वंदणयूयणा इह । सुहुमं सल्लं दुरुद्धरं, तंपि जिणे एएण पंडिए'' ॥१॥

अस्य चायमर्थः-साधोः स्वाध्यायध्यानपरस्यैकान्तनिःस्पृहस्य योऽपि चायं परैः वन्दनापूजनादिकः सत्कारः क्रियते असावपि सदनुष्ठानस्य सदृते वां महान् पलिमन्थो-विघ्नः, आस्तां तावच्छब्दादिष्वभिष्वङ्ग, तमित्येवं परिज्ञाय तथा सूक्ष्म शल्यं दुरुद्धरं च अतस्तमपि 'जयेद्' अपनयेत् पण्डितः 'एतेन' वक्ष्यमाणेनेति ॥११॥

टीकार्थ – सूत्रकार पुनः उपदेश देने के संदर्भ में प्रतिपादित करते हैं -

सांसारिक प्राणी के लिये परिचय का त्याग करना बहुत ही कठिन है । अतएव यहां परिचय को महान कहा गयाहै अथवा महान संरम्भ के अर्थ में यहाँ 'महत्' शब्द का प्रयोग हुआ है । जो प्राणियों को अपने से ग्रस्त कर लेता है-फंसा लेता है उसे परिगोप कहा जाता है । वह द्रव्य परिगोप व भाव परिगोप के रूप में दो प्रकार का हैं । द्रव्य परिगोप पंक या कीचड़ कहा गया है । सांसारिक प्राणियों के साथ जो परिचय संसर्ग या आसक्त भाव रखा जाता है, उसे भाव परिगोप कहा जाता है । मुनि इसकी वास्तविकता को हृदयंगम कर इसका परित्याग करे । प्रव्रजित-दीक्षित साधनारत् मुनि को राजा, सामन्त आदि देह आदि से वन्दन करे, प्रणमन करे, वस्त्र तथा पात्र द्वारा सम्मान करे-सत्कार करे, मुनि जो भगवान वीतराग के धर्मशासन में अवस्थित है-यह माने कि यह उसके कर्मों के उपशम का फल है । जिसके परिणाम स्वरूप इस संसार में सम्मान आदि प्राप्त हो रहे हैं । अतः वह उनका गर्व-अभिमान न करे । गर्व क्यों न करे ? ऐसा सवाल उठाकर इसे पुनः स्पष्ट किया जाता है-क्योंकि गर्व एक ऐसा सूक्ष्म तीक्ष्ण कांटा है कि उसे उद्धृत कर पाना-निकाल पाना बहुत कठिन है । इसलिये जो मुनि सत् असत् के विवेक से युक्त है कभी संस्तव-प्रशस्ति, मान सम्मान प्राप्त कर घमंड न करे । नागार्जुनीय वाचना में इस गाथा के स्थान पर 'पलिमंथ' इत्यादि गाथा पढ़ी जाती है । उसका अभिप्राय यह है कि-विवेकशीलपुरुष जो सर्वथा स्पृहा-आकांक्षा से वर्जित हो, स्वाध्याय परायण और ध्यानानुरक्त

हो, अन्य लोगों द्वारा किये गये वंदन पूजन-सम्मान सत्कार आदि को सदनुष्ठान-उत्तम आचरण और उत्तम गति में बहुत बड़ा विघ्न समझकर उसका परित्याग कर दे । जब वंदन पूजन आदि भी उत्तम कार्य और उत्तम गति में बाधाजनक है तब फिर शब्द आदि इन्द्रियों के भोग्य विषयों में आसक्त होने की बात ही क्या है ? वे तो अत्यन्त विघ्नकारक है ही । विवेकशील पुरुष उस सूक्ष्म-अत्यन्त बारीक और दुरुद्धर-कष्ट से निकाले जा सकने योग्य कांटे को निकाल फेंके जिसका उपाय आगे कहा जा रहा है ।

❀ ❀ ❀

एगे चरे (र) ठाण माणसे, सयणे एगे (ग) समाहिये सिया ।
भिक्खू उवहाणवीरिए वइगुत्ते अज्झत्तसंवुडो ॥१२॥

छाया – एकश्चरेत् स्थानमासने शयन एकः समाहितः स्यात् ।
भिक्षुरुपधानवीर्य्यः वाग्गुप्तोऽध्यात्मसंवृत्तः ॥

अनुवाद – एक भिक्षु जो वचन एवं मन द्वारा गुप्त हो-वाचिक और मानसिक दृष्टि से पाप कार्यों से निवृत्त हो, तपश्चरण में पराक्रमशील हो, अध्यात्मलीन हो, स्थान, आसन एवं शयन इनमें एकाकी जीवनयापन करता हुआ धर्म ध्यान में अनुरत रहे-एकाकी विचरण करे ।

टीका – एकोऽसहायो द्रव्यत एकल्लविहारी भावतो राग द्वेषरहितश्चरेत् तथा स्थानं कायोत्सर्गादिकम् एक एव कुर्य्यात्, तथा आसनेऽपि व्यवस्थितोऽपि रागद्वेषरहित एव तिष्ठेत् एवं शयनेऽप्येकाक्येव समाहितः धर्मादिध्यानयुक्तः स्यात् भवेत् । एतदुक्तं भवति सर्वास्वप्यवस्थासु चरणस्थानासनशयनरुपासु रागद्वेषविरहात् समाहित एव स्यादिति । तथा भिक्षणशीलो भिक्षुः उपधानं तपस्तत्र वीर्य्यं यस्य स उपधान वीर्य्यः-तापस्यनिगूहितबलवीर्य्य इत्यर्थः । तथा वाग्गुप्तः सुपर्य्यालोचिताभिधायी अध्यात्मं मनस्तेन संवृत्तो भिक्षु र्भवेदिति ॥१२॥

टीकार्थ – एक साधु असहाय-दूसरे की सहायता न लेता हुआ द्रव्य दृष्टि से एकल विहारी तथा भावत्मक दृष्टि से रागद्वेष रहित होकर विचरण करे । वह एकाकी रहता हुआ, कायोत्सर्ग आदि की साधना करे । वह आसन पर स्थित होता हुआ रागद्वेष विवर्जित रहे । सोता हुआ भी एकाकी ही धर्मध्यान से युक्त रहे । कहने का अभिप्राय यह है कि वह भिक्षणशील साधु चलने बैठने एवं खड़े होने तथा सोने आदि सभी स्थितियों में राग द्वेष से रहित होकर धर्मादि ध्यान में लीन रहे । वह तप की आराधना में अपना आत्म पराक्रम विशेष रूप से प्रकट करे । वह वाक्गुप्त रहे । भली भांति पर्यालोचनाचिन्तन विमर्श आदि कर वाक्य बोले। अपने मन को नियंत्रण में रखे ।

❀ ❀ ❀

णो पीहे ण याव पंगुणे, दारं सुन्नध रस्स संजए ।
पुट्ठे ण उदाहरे वयं, ण समुच्छे णो संथरे तणं ॥१३॥

छाया – नो पिदध्यान्न यावत् प्रगुणयेद्द्वारं शून्यगृहस्यभिक्षुः ।
पृष्टो नो दाहरेद्वाचं न समुर्च्छिद्या न्नो संस्तरेत्तृणम् ॥

अनुवाद – साधु किसी सूने घर का दरवाजा न खोले और न बन्द ही करे । कोई कुछ पूछे तो कुछ न कहे । उस घर का कूडा कचरा साफ न करे और वहां विश्राम के लिये तृण घास फूस न बिछाये।

टीका – किञ्च केनचिच्छयनादिनिमित्तेन शून्यगृहमाश्रितो भिक्षुः तस्य गृहस्य द्वारं कपाटादिना न स्थगयेन्नापि तच्चालयेत् यावत् 'न यावपंगुणे' त्ति 'नोद्घाटयेत्' तत्रस्थोऽन्यत्र वा केनचिद्धर्मादिकं मार्गं वा पृष्टः सन् सावद्यां वाचं नोदाहरेन्नब्रूयात् । आभिग्रहिको जिन कल्पिकादिर्निरवद्यामपि न ब्रूयात्, तथा न समुच्छिन्द्यात् तृणानि कचवरं च प्रमार्जनेन नापनयेत् नाऽपि शयनार्थी कश्चिदाभिग्रहिकः तृणादिकं संस्तरेत् तृणैरपि संस्तारकं न कूर्य्यात् किं पुनः कम्बलादिना ? अन्यो वा शुषिरतृणं न संस्तरेदिति ॥१३॥

टीकार्थ – साधु सोने आदि के निमित्त किसी सूने घर का आश्रय ले तो उस घर के दरवाजे को किवाड लगाकर बन्द न करे तथा उसके किवाड को न हिलावे । यदि उसके किवाड आदि बन्द हो तो उन्हें न खोले । वहां या कई और जगह ठहरे हुए साधु से कोई मार्ग आदि पूछे तो वह सावद्य-पापयुक्त, दोषयुक्त वचन न बोले । यदि अभिग्रह धारी जिन कल्पी साधु हो तो वह निखद्य-अवद्य या पाप रहित वचन भी न बोले । वह साधु उस मकान के घास फूस, कूडा करकट आदि को झाड़ बुहार कर दूर न करे । कोई भी अभिग्रहधारी साधु अपने सोने के लिये घास फूस का बिछौना न लगाये। फिर कम्बल आदि की तो बात ही कहां है । कोई और साधु भी सुषिर-पौले व मुलायम घास फूस का बिछौना न बिछाये ।

❀ ❀ ❀

जत्थऽत्थमिए अणाउले समविसमाइं मुणीऽहियासए ।
चरगा अदुवावि भेरवा अदुवा तत्थ सरीसिवा सिया ॥१४॥

छाया – यत्रास्तमितोऽनाकुलः समविषमाणि मुनिरधिसहेत ।
चरका अथवाऽपि भैरवाः अथवा तत्र सरीसृपाः स्युः ॥

अनुवाद – चारित्र निष्ठ पुरुष जहां सूर्य अस्त हो जाय-छिप जाये वहीं अनाकुलभाव से क्षोभ रहित होकर निवास करे । वह स्थान सम विषम-समतल उबड़ खाबड जैसा भी अनुकूल प्रतिकूल हो वह उसे सहन करे-काम में ले । यदि उस स्थान पर डांस, मच्छर हो, भय जनक प्राणी हो, सरिसृप-पेट के बल रेंगने वाले सांप आदि प्राणी हो तो भी वहीं निवास करे ।

टीका – तथा भिक्षुर्यत्रैवास्त मुपैति सविता तत्रैव कायोत्सर्गादिना तिष्ठतीति यत्रास्तमितः तथाऽनाकुलः समुद्रवन्नक्रादिभिः परीषहोपसर्गैरक्षुभ्यन् समविषमाणि शयनासनादीन्यनुकूलप्रतिकूलानि, मुनिः यथावस्थित-संसारस्वभाववेत्ता सम्यग् अरक्त द्विष्टतयाऽधिसहेत तत्र च शून्य गृहादौ व्यवस्थितस्य तस्य चरतीति चरकाः दंशमशकादयः अथवाऽपि भैरवाः भयानकाः रक्षः शिवादयः अथवा तत्र सरीसृपाः स्युः भवेयुः तत्कृतांश्च परीसहान् सम्यगधिसहेतेति ॥१४॥

टीकार्थ – संयम साधना में अभिरत पुरुष, जहां सूरज छिप जाये उसी जगह कायोत्सर्ग आदि करके निवास करते हैं । अतएव कहा जाता है कि सूर्य जहां अस्त हो साधु वहीं पर परीसहों एवं उपसर्गो से व्याकुल न होता हुआ निवास करे । जैसे समुद्र मकर आदि से क्षोभ प्राप्त नहीं करता हुआ प्रशांत बना रहता है । वहां बैठने तथा सोने आदि के स्थान प्रतिकूल-दुविधापूर्ण तथा अनुकूल-सुविधाजनक हो तो भी संसार के सत्य स्वरूप का परिज्ञाता मुनि राग, द्वेष से विवर्जित होकर-उनसे ऊंचा उठकर वह सब सहन करे । उस सूने घर आदि स्थानों में टिके हुए साधु को यदि डांस, मच्छर आदि प्राणी, भय जनक भूत प्रेत, शृंगाल, सर्प आदि प्राणियों द्वारा कष्ट उत्पन्न हो तो वह उसे सम्यक्-बिना घबराये स्थिरता और धीरतापूर्वक सहन करे ।

❀ ❀ ❀

तिरिया मणुया य दिव्वगा, उवसग्गा तिविहाऽहियासिया ।
लोमादीयं ण हारिसे, सुन्नगारगओ महामुणी ॥१५॥

छाया – तैरश्चान् मानुषाँश्च दिव्यगान् उपसर्गान् त्रिविधानधिसहेत ।
रोमादिकमपि न हर्षयेत् शून्यागारगतो महामुनिः ॥

अनुवाद – सूने घर में टिका हुआ महामुनि-महान् आत्मा पराक्रम शील साधु वहां उपस्थित होने वाले पशु पक्षी विषयक, मानव विषयक तथा देव विषयक उपसर्गों तथा विघ्न-बाधाओं को सहन करे । भय से उसका एक रोम भी-बाल भी न काँपे ।

टीका – साम्प्रतं त्रिविदोपसर्गाधिसहनमधिकृत्याह-तैरश्चाः सिंह व्याघ्रादिकृतः तथा मानुषा अनुकूल-प्रतिकूलाः सत्कारपुरस्कारदण्डकशाताडनादिजनिताः तथा दिव्यगा इति व्यन्तरादिना हास्यप्रद्वेषादिजनिताः एवं त्रिविधानप्युसर्गान् अधिसहेत् तोपसर्गै र्विकारं गच्छेत्, तदेव दर्शयति-लोमादिकमपि न हर्षयेद् भयेन रोमोद्गममपि न कुर्य्यात् यदि वा एव मुपसर्गास्त्रिविधा अपि 'अहियासिय' त्ति अधिसोढ़ाः भवन्ति यदि रोभोद्गमादिकमपि न कुर्य्यात् । आदि ग्रहणात् दृष्टिमुखविकारादिपरिग्रहः, शून्यागारगतः शून्यगृहव्यवस्थितस्य चोपलक्षणार्थत्वात् पितृवनादिस्थितो वा महामुनि र्जिनकल्पिकादिरिति ॥१५॥

टीकार्थ – साधु को तीन प्रकार के उपसर्ग सहने चाहिये । इस विषय को प्रस्तुत करते हुए आगमकार कहते हैं -

शेर बाघ आदि तिर्यक् प्राणियों द्वारा किया गया उपसर्ग तैरश्च-तिर्यक्योनिकृत कहलाता है । मनुष्यों द्वारा दिया गया सत्कार पुरस्कार-आदर सम्मान आदि के रूप में अनुकूल तथा लट्ठी, चाबुक आदि द्वारा ताडन के रूप में प्रतिकूल उपसर्ग मानुष् उपसर्ग कहलाता है तथा व्यन्तर, भूत, प्रेत, देव, आदि द्वारा हास्य, विनोद, द्वेष, पीडा आदि रूप में किया गया उपसर्ग दिव्य या दिव्यग कहलाता है । इन तीनों प्रकार के उपसर्गों को सहन करे । इनसे विकार प्राप्त न करे । मन में या शरीर में विपरीतता अनुभव न करे । इसलिये आगमकार कहते हैं कि ऐसी स्थिति में उसके रोम तक में भी अवसाद या पीडा व्याप्त न हो । दूसरे शब्दों में साधु इन उपसर्गों के आने पर डर से अपनी रोम भी न कंपाये । तभी वह साधु ऐसे त्रिविध उपसर्गों को सहन कर सकता है यदि उनके आने पर उसके एक रोम में भी भय न व्यापे । यहां आदि शब्द के प्रयोग से उपर कहे गये आदि प्राणियों का विकृत रूप में देखना एवं विकृत मुख आदि का ग्रहण है । यहां सूने घर में रहना उपलक्षण मात्र है । अतएव श्मशान आदि भय जनक स्थानों में टिके हुए जिन कल्पी मुनि के संबंध में भी यही बात समझनी चाहिये । यहां महामुनि शब्द जिन कल्पी के लिये आया है ।

❀ ❀ ❀

णो अभिकंखेज्ज जीवियं, नोऽविय पूयणपत्थए सिया ।
अब्भत्थ मुविंति भेरवा सुन्नागारगयस्स भिक्खुणो ॥१६॥

छाया – नाभिकांक्षेत जीवितं नाऽपि च पूजनपार्थकः स्यात् ।
अभ्यस्ता उपयंति भैरवाः शून्यागारगतस्य भिक्षोः ॥

अनुवाद – साधु उपर्युक्त उपसर्गों, विघ्न-बाधाओं से उत्पीडित व्यथित होकर जीवन की कामना न करे तथा सत्कृत-सम्मानित होकर पूजा सम्मान महिमा-प्रशस्ति आदि की अभ्यर्थना न करे । यों पूजा-प्रतिष्ठा तथा जीवन से निरपेक्ष, सूने घर में टिके हुए साधु को भय जनक उपसर्ग सहने का अभ्यास हो जाता है ।

टीका – किञ्च स तै भैरवै रुपसर्गैरुदीर्णैस्तोतुद्यमानोऽपि जीवितं नाभिकाङ्क्षेत जीवित निरपेक्षेणोपसर्गः सोढव्य इति भावः न चोपसर्गसहनद्वारेण पूजाप्रार्थकः प्रकर्षाभिलाषी स्यात् भवेत्, एवञ्च जीवितपूजानिरपेक्षेणासकृत् सम्यक् सह्यमाणा भैरवाः भयानकाः शिवापिशाचादयोऽभ्यस्तभावं स्वात्मतामुपसामीप्येन यान्ति गच्छन्ति तत्सहनाच्च भिक्षोः शून्यागारगतस्य नीराजित वारणस्येव शीतोष्णादिजनिता उपसर्गाः सुसहा एव भवन्तीति भावः ॥१६॥

टीकार्थ – साधु उपर्युक्त भीषण उपसर्गों से उत्पीड़ित होता हुआ भी जीवन की आकांक्षा न करे । वह जीवन से निरपेक्ष रहता हुआ उसके चले जाने की परवाह नहीं करता हुआ उपसर्गों को सहता जाय यह अभिप्राय है । उपसर्गों-विघ्न बाधाओं और कठिनाइयों को सहने से सम्मान मिलेगा यों सोचकर वह यश प्रतिष्ठा और बढ़ाई की आकांक्षा न करे । यों जीवन और मान सम्मान की जरा भी अपेक्षा न रखता हुआ साधु बार बार भय जनक पिशाच, शृंगाल आदि द्वारा जनित उपद्रवों को सहता है । वह उपसर्गों को सहने में इतना अभ्यस्त हो जाता है कि वे भूत प्रेत आदि उसे आत्मीयवत् लगते हैं । उन उपसर्गों को यों बर्दाश्त करने से सूने घर में टिका हुआ वह साधु शीतलता-सर्दी, उष्णता-गर्मी आदि से उत्पन्न उपसर्गों को मद विह्वल हाथी की ज्यों आराम से सहन कर लेता है ।

❀ ❀ ❀

उवणीयतरस्स ताइणो भयमाणस्स विविक्कमासणं ।
सामाइय माहु तस्स जं, जो अप्पाण भए ण दंसए ॥१७॥

छाया – उपनीततरस्य तायिनो भजमानस्य विविक्तमासनम् ।
सामायिक माहुः तस्य यद्य आत्मानं भये न दर्शयेत् ॥

अनुवाद – जो साधु उपनीततर है-जिसने अपनी आत्मा को ज्ञान आदि के समीप पहुंचा दिया है जो त्रायी-असत् कर्म से निवृत्त होकर अपना तथा औरों को निवृत्त कर दूसरों का त्राण करता है, रक्षा करता है, उपकार करता है । विविक्त-एकांत स्त्री, नपुंसक आदि से विवर्जित स्थान में निवास करता है तीर्थंकरों ने ऐसे मुनि को सामायिक चारित्र कहा है । ऐसे मुनि को किसी भी स्थिति में भयभीत नहीं होना चाहिये।

टीका – पुनरप्युपदेशान्तरमाह - उप सामीप्येन नीतः प्रापितो ज्ञानादावात्मा येन स तथा अतिशयेनोपनीत उपनीततरस्तस्य,'तायिनः' परात्मोपकारिणः त्रायिणो वा सम्यक्पालकस्य, तथा 'भजमानस्य' सेवमानस्य 'विविक्तं' स्त्री पशुपण्डकविवर्जितम् आस्यते स्थीयते यस्मिन्निति तदासनं वसत्यादि, तस्यैवम्भूतस्य मुनेः 'सामायिकं' समभावरूपं सामायिकादि चारित्रमाहुः सर्वज्ञाः 'यद्' यस्मात् ततश्चारित्रिणा प्राग्वस्थितस्वभावेन भाव्यम्, यश्चात्मानं 'भये' परिषहोपसर्गजनिते 'न दर्शयेत्' तद्भीरु र्न भवेत् तस्य सामीयिकमाहुरिति सम्बन्धनीयमं ॥१७॥

टीकार्थ – आगमकार फिर दूसरा उपदेश देते हैं - जिस पुरुष ने अपने आपको ज्ञान आदि के उप-समीप, नीत-पहुंचा दिया है, वह उपनीत कहा जाता है । जो अत्यधिक उपनीत होता है, उसे उपनीततर कहा

जाता है । जो उपनीततर है और जो तायी-त्रायी, त्राता है अर्थात् अपना और दूसरों का उपकारक है, अथवा जो अपने आपका तथा औरों का सम्यक्-भली भांति पालक है, पालन करता है, जो स्त्री पशु और नपुंसक वर्जित स्थान में निवास करता है, सर्वज्ञों ने ऐसे मुनि का समभाव रूप सामायिक चारित्र आख्यात किया है। यहां आये हुए 'आसन' शब्द का अर्थ इस प्रकार है जिस पर स्थित होते हैं उसे आसन कहा जाता है । बसति आदि का उसमें समावेश है । चारित्र शील साधक को पूर्वोक्त रूप में अपने स्वभाव को सुवस्थित कर देना चाहिये । जो साधु परीषह एवं उपसर्ग जनित प्रतिकूलता से डरता नहीं, सर्वज्ञों ने उसका सामायिक चारित्र कहा है । यह यहां योजित कर लेना चाहिये ।

❀ ❀ ❀

उसिणोदगतत्तभोइणो, धम्मट्ठियस्स मुणिस्स हीमतो ।
संसग्गि असाहु राइहिं, असमाही उ तहागयस्सवि ॥१८॥

छाया – उष्णोदकतप्तभोजिनो धर्मस्थितस्य मुने ह्रीमतः ।
संसर्गोऽसाधू राजभि रसमाधिस्तु तथागतस्याऽपि ॥

अनुवाद – उष्ण जल-गर्म पानी को बिना शीतल किये हुए पीने वाले धर्म स्थित-श्रुत एवं चारित्रमूलक धर्म के आराधक ह्रीमान-असंयम से लज्जा करने वाले-असंयत आचरण से झेंपने वाले मुनि का राजा आदि से संसर्ग करना, उनके साहचर्य में रहना अच्छा नहीं है क्योंकि उससे उन्नत आचारशील साधु की भी समाधि भंग हो जाती है ।

टीका – किञ्च मुनेः 'उष्णोदकतप्तभोजिनः' त्रिदण्डोद् वृत्तोष्णोदकभोजिनः, यदि वा-उष्णं सन्न शीतिकुर्यादिति तप्तग्रहणं, तथा श्रुत चारित्राख्येधर्मे स्थितस्य 'ह्रीमतो' त्ति ह्रीः-असंयमं प्रति लज्जा तद्वतोऽसंयमजुगुप्सावत इत्यर्थः, तस्यैवम्भूतस्य मुनेराजादिनिः सार्द्धं यः 'संसर्गः' सम्बन्धोऽसावसाधुः अनर्थोदयहेतुत्वात् 'तथागतस्यापि' यथोक्तानुष्ठायिनोऽपि राजादिसंसर्गवशाद् 'असमाधिरेव' अपध्यानमेव स्यात्, न कदाचित् स्वाध्यायादिकम्भवेदिति ॥१८॥

टीकार्थ – जो साधु तीन बार जिसे उबाला गया हो ऐसे उष्ण जल का पान करता है अथवा उष्ण जल को शीतल बनाये बिना जो पीता है (यह सूचित करने के लिये ही यहां 'तप्त' शब्द का प्रयोग हुआ है) श्रुत एवं चारित्र धर्म में जो वर्तनशील रहता है, असंयत आचरण से जो झेंपता है या घृणा करता है, ऐसे मुनि का राजा आदि के साथ सम्पर्क-साहचर्य अच्छा नहीं होता क्योंकि उससे अनर्थ पैदा होते हैं । जो मुनि शास्त्र प्रतिपादित आचार का परिपालन करता है, राजा आदि के संसर्ग या साहचर्य से, उसको भी असमाधि-अपध्यान हो जाता है, उसके स्वाध्याय आदि की संभावनाएं मिट जाती हैं । अतः राजा आदि का साहचर्य त्यागने योग्य है ।

❀ ❀ ❀

अहिगरणकडस्स भिक्खुणो, वयमाणस्स पसज्झ दारूणं ।
अट्ठे परिहायती बहु अहिगरणं न करेज्ज पंडिए ॥१९॥

छाया – अधिकरणकरस्य भिक्षोः वदतः प्रसह्यदारुणाम् ।
अर्थः परिहीयते बहु अधिकरणं न कुर्यात्पण्डितः ॥

अनुवाद – जो साधु अधिकरण-कलह करता है तथा प्रकट रूप में दारुण-कठोर वचन बोलता है उसका अर्थ-जीवन का लक्ष्य मोक्ष तथा उसे प्राप्त करने का मार्ग संयम परिहीन हो जाता है-नष्ट हो जाता है । इसलिये पंडित-ज्ञानी या विवेकशील साधक कलह कदापि न करे ।

टीका – परिहार्यदोषप्रदर्शनेन अधुनोपदेशाभिधित्सयाऽऽह - अधिकरणं कलहस्तत्करोति तच्छीलश्चैत्यधिकरणकरः तस्यैवम्भूतस्य भिक्षो स्तथाधिकरण करीं दारुणां वा भयानकां वा 'प्रसह्य' प्रकटमेव वाचं ब्रुवतः सतः 'अर्थो' मोक्षः तत्कारणभूतो वा संयमः स बहु 'परिहीयते' ध्वंसमुपयाति, इदमुक्तं भवति बहुना कालेन यदर्जितम् विप्रकृष्टेन तपसा महत्पुण्यं तत्कलहं कुर्वतः परोपधातिनीं च वाचं ब्रुवतः तत्क्षणमेव ध्वंसमुपयाति, तथाहि-

'जं अज्जियं समीखल्लएहिं तवनियमबंभमइएहिं । मा हु तयं कलहंता छड्डे अह सागपत्तेहिं' ॥१॥ इत्येवं मत्वा मनागप्यधिकरणं न कुर्यात 'पंडितः' सदसद्विवेकीति ॥१९॥

टीकार्थ – जो दोष त्यागने योग्य है, उनका दिग्दर्शन कराकर सूत्रकार उपदेश देते हैं -

अधिकरण का अर्थ कलह है, वैसा करने का जिसका स्वभाव होता है उसे अधिकरणकर कहा जाता है । जो साधु कलहशील है, जिससे कलह उत्पन्न होता है, वह प्रकट रूप में ऐसी दारूण-कठोर या भयंकर वाणी ही बोलता है, वैसा करने वाले का मोक्ष या मोक्षका हेतु संयम ध्वस्त हो जाता है-मिट जाता है । यहां कहने का अभिप्राय यह है कि जो कलह करता है, ऐसी वाणी बोलता है जिससे दूसरे का चित्त दुःखित होता है, उसका बहुत समय में कठिन तपश्चरण द्वारा अर्जित पुण्य तत्काल नष्ट हो जाता है क्योंकि तप, नियम और ब्रह्मचर्य द्वारा जो पुण्यार्जन किया है, उसे कलह द्वारा नष्ट मत करो-ज्ञानीजन ऐसी शिक्षा देते हैं । अतएव सत् और असत् का जो विवेक रखता है, वह ज्ञानी पुरुष मनाक्-जरा भी कलह न करे ।

❀ ❀ ❀

सीओदगपडिदुगुंछिणो, अपडिण्णस्स लवावसप्पिणो ।
सामाइयमाहु तस्स जं, जो गिहिमत्तेऽसणं न भुंजती ॥२०॥

छाया – शीतोदक प्रतिजुगुप्सकस्य, अप्रतिज्ञस्य लवावसर्पिणः ।
सामायिकमाहु स्तस्य यत् यो गृह्यमत्रेऽशनं न भुंक्ते ॥

अनुवाद – जो श्रमण शीतोदक-शीतल, सचित जल से घृणा करता है तथा जो मन में किसी प्रकार की प्रतिज्ञा-निदान या कामना नहीं रखता, जिनसे कर्मों का बंध होता है, ऐसी प्रवृत्ति से दूर रहताहै, सर्वज्ञों ने उस श्रमण को सामायिकस्थ-समभाव के रूप में आख्यात किया है, जो गृहस्थों के पात्र में भोजन नहीं करता उसको भी समभावक कहा गया है ।

टीका – तथा शीतोदकम् अप्रासुकोदकं तत्प्रतिजुगुप्सकस्याप्रासुकोदक परिहारिणः साधोः न विद्यते प्रतिज्ञा निदानरूपा यस्य सोऽप्रतिज्ञोऽनिदान इत्यर्थः, लवं कर्म तस्मात् अवसप्पिणोत्ति अवसर्प्पिणः यदनुष्ठानं कर्मबन्धोपादोनभूतं तत्परिहारिण इत्यर्थः तस्यैवम्भूतस्य साधोर्यस्माक् यत् 'सामायिकं' समभावलक्षणमाहुः

सर्वज्ञाः, यश्च साधुः 'गृहमात्रे' गृहस्थभाजने कांस्यपात्रादौ न भुङ्क्ते तस्य च सामायिक-माहुरिति सम्बन्धनीयमिति ॥२०॥

टीकार्थ – जो साधु-श्रमण अप्रासुक-सचित जल से घृणा करता है-सचित जल का सेवन नहीं करता जो प्रज्ञा-निदान नहीं करता, जो लव-कर्म का अवसर्पण करता है-उससे पृथक् रहता है अर्थात् जो प्रवृत्ति कर्मबंध की हेतुभूत है, उसका त्याग करता है, सर्वज्ञों ने वैसे श्रमण को सामायक-समभावरूप कहा है। जो श्रमण गृहस्थों के कांसी आदि के बतनों में भोजन नहीं करता-सर्वज्ञों ने उसे भी सामायक, समभावरूप कहा है।

❀ ❀ ❀

ण य संखय माहु जीवियं तहवि य बालजणो पगब्भइ ।
बाले पावेहिं मिज्जती इति संखाय मुणी ण मज्जती ॥२१॥

छाया – न च संस्कार्य्यं माहुर्जीवितं तथाऽपि च बालजनः प्रगल्भते ।
बालः पापै र्मीयते इति संख्याय मुनि र्न माद्यति ॥

अनुवाद – सर्वज्ञों ने कहा है कि टूटा हुआ जीवन (जीवन का धागा) फिर नहीं जोड़ा जा सकता है तो भी अज्ञानी प्राणी धृष्टता पूर्वक पापकर्म करता है-असत् कार्य करने में बड़ा ढ़ीठ बना रहता है, वह अज्ञानी पुरुष पापी है। यह समझकर मुनि कभी मद-अहंकार नहीं करता।

टीका – किञ्च-न च, नैव जीवितम् आयुष्कं कालपर्यायेण त्रुटितं सत् पुनः 'संखय' मिति संस्कर्त्तुं तन्तुवत्सन्धातुं शक्यते इत्येव माहस्तद्विदः, तथापि-एवमपि व्यवस्थिते 'बालः' अज्ञो जनः 'प्रगल्भते' पापं कुर्वन् धृष्टो भवति, असदनुष्ठानरतोऽपि न लज्जत इति, स चैवम्भूतो बालस्तैरसदनुष्ठानापादितैः 'पापैः' कर्मभिः 'मीयते' तद्युक्त इत्येवं परिच्छिद्यते, म्रियते वा मेयेन धान्यादिना प्रस्थकवदिति, एवं 'संख्याय' ज्ञात्वा 'मुनिः' च यथावस्थितपदार्थानां वेत्ता 'न माद्यतीति' तेष्वसदनुष्ठानेष्वहं शोभनः कर्त्तेत्येवं प्रगल्भमानो मदं न करोति ॥२१॥

टीकार्थ – जो जीवन के रहस्यों को जानते हैं, वैसे विद्वान पुरुषों ने बताया है कि काल के पर्याय से टूटा हुआ प्राणियों का जीवन टूटे हुए धागों की ज्यों फिर जोड़ा नहीं जा सकता-गया हुआ जीवन लौटाया नहीं जा सकता फिर भी अज्ञानी पुरुष बड़ी धृष्टता-ढ़ीठपन के साथ पाप करता है। वह असत्-बुरे कर्म करता हुआ भी लज्जित नहीं होता-वैसा करते उसे शर्म नहीं आती। वह अज्ञानी प्राणी अशुभ प्रवृत्तियों से उत्पन्न पापों के कारण पापी माना जाता है, जैसे फसल निकालने के बाद प्रस्थक-कोठा अनाज आदि द्वारा भर दिया जाता है। उसी प्रकार वह अज्ञ प्राणी पापों से भर जाता है। यह देखकर पदार्थों के सत्य स्वरूप का ज्ञाता मुनि यह जानता हुआ कि पाप पूर्ण प्रवृत्तियां करने वाले लोगों में मैं ही एक ऐसा हूँ जो सदनुष्ठान या उत्तम कार्य कर रहा हूँ। यह सोच कर मद-अहंकार नहीं करता। मैं धर्मनिष्ठ हूँ, उत्तम कर्म करता हूँ, अन्य मनुष्य असद् अनुष्ठानकारी है, ऐसा अभिमान करना पाप है। अतः मुनि को अभिमान नहीं करना चाहिये।

❀ ❀ ❀

छंदेण पले इमा पया, बहुमाया मोहेण पाउडा ।
वियडेण पलिंति माहणे, सीउण्ह वयसाऽहियासए ॥२२॥

छाया – छन्दसा प्रलीयन्ते इमाः प्रजाः बहुमायाः मोहेन प्रावृत्ताः ।
विकटेन प्रलीयते माहनः शीतोष्णं वचसाऽधिसहेत ॥

अनुवाद – बहुत प्रकार की माया-छलना या प्रवञ्चना करने वाले मोहाच्छन्न लोग अपनी ही इच्छा से-वासना द्वारा नरक आदि गतियां प्राप्त करते हैं किन्तु साधु मोक्ष का लक्ष्य लिये अपने निश्छल-निर्मल कर्मों द्वारा संयम में तत्पर रहते हैं । वे मन, वचन और कर्म द्वारा ठंड, गर्मी आदि समभावपूर्वक सहते हैं ।

टीका – उपदेशान्तरमाह - 'छन्दः' अभिप्रायस्तेन तेन स्वकीयाभिप्रायेण कुगतिगमनैकहेतुना 'इमाः प्रजाः' अयं लोकस्तासु गतिषु प्रलीयते, तथाहिछागादिवधमपि स्वाभिप्रायग्रहग्रस्ताः धर्मसाधनमित्येवं प्रगल्भमाना विदधति, अन्ये तु संधादिकमुद्दिश्य दासीदासधनधान्यादिपरिग्रहं कुर्वन्ति, तथाऽन्ये मायाप्रधानैः कुक्कुटैरकृदुत्प्रोक्षणश्रोत्रस्पर्शनादिभिर्मुग्धजनं प्रतारयन्ति, तथाहि-

"कुक्कुटसाध्यो लोको नाकुक्कुटतः प्रवर्त्तते किञ्चित् । तस्माल्लोकस्यार्थे पितरमपि स कुक्कुटं कुर्यात् ॥१॥"

तथेयं प्रजा 'बहुमाया' कपटप्रधाना, किमिति ? यतो मोहः अज्ञानं तेन 'प्रावृता' आच्छादिता सदसद्विवेकविकलेत्यर्थः, तदेतदवगम्य 'माहणे' त्ति साधुः 'विकटेन' प्रकटेनामायेन कर्मणा मोक्षे संयमे वा प्रकर्षेण लीयते प्रलीयते, शोभन भावयुक्तो भवतीति भावः तथा शीतं च उष्णं च शीतोष्णं शीतोष्णा वा अनुकूलप्रतिकूलपरीषहास्तान् वाचा कायेन मनसा च करणत्रयेणाऽपि सम्यगधिसहेत इति ॥२२॥

टीकार्थ – प्रजाजन-लोग अपने अपने अभिप्राय या परिणाम के अनुसार भिन्न भिन्न गतियाँ प्राप्त करते हैं । उनके दुर्गति में जाने का एकमात्र कारण उनका अपना (अशुभ) परिणाम या भाव ही है। कई ऐसे लोग भी हैं जो बकरे आदि प्राणियों का हनन करना अपने सिद्धान्तानुरुप धर्म का हेतु मानते हैं । वे बड़ी धृष्टता के साथ वैसा करते हैं । कई ऐसे दूसरे अन्य लोग भी हैं जो अपने संघ आदि के प्रयोजन हेतु दास-दासी, धन-धान्य आदि का जो परिग्रह है, संग्रह करते हैं । कई ऐसे व्यक्ति है जो अपनी देह पर बार-बार पानी के छींटे देते हैं, कानों को स्पर्श करते हैं । इस प्रकार की प्रवञ्चना पूर्ण प्रवृत्तियों द्वारा वे भोले-भाले लोगों को ठगते हैं । वे ऐसा कहते हैं कि यह लोक कुक्कुट साध्य है । 'कुक्कुट' यहां कपटपूर्ण कार्यों के संकेत हेतु प्रयुक्त है । उनके अनुसार कपट या छलके बिना कोई भी कार्य नहीं होता । अतः लौकिक स्वार्थ हेतु अपने पिता के साथ भी कपटपूर्ण व्यवहार करना चाहिये । यह प्रजा-लोग कपटप्रधान है क्योंकि ये मोह का अज्ञान से प्रावृत-ढ़के हुए हैं । यही कारण है कि वे सत् और असत् के विवेक-ज्ञान से रहित हैं । साधु यह जानकर-ऐसे निरुपण की व्यर्थता समझ कर तत्पर रहता है । इसका आशय यह है कि वह शुभ भाव युक्त रहता है । वह ठंडे, गर्म, अनुकूल तथा प्रतिकूल सभी परिषहों को मन, वचन और शरीर द्वारा समभाव से सहन करता है ।

❀ ❀ ❀

कुजए अपराजिए जहा, अक्खेहिं कुसलेहिं दीवयं ।
कडमेव गहाय णो कलिं नो तीयं नो चेव दावरं ॥२३॥

छाया – कुजयोऽपराजितो यथाऽक्षैः कुशलो दीव्यन् ।
कृतमेव गृहीत्वा नो कलिं नो त्रैतं नो चैव द्वापरम् ॥

अनुवाद – जो द्यूतकार-जुआरी द्यूत क्रीड़ा में अपराजित है-किसी से नहीं हारता वह द्यूत क्रीड़ा करता हुआ कृत नामक स्थान सतयुग को स्वायत्त करता है, जिसे जुए में सर्वोत्तम माना जाता है वह कलियुग, द्वापर या त्रेता नामक स्थानों को ग्रहण नहीं करता । उसी तरह एक विवेकशील पुरुष सर्वज्ञ प्ररूपित सर्वोत्तम कल्याणकारी धर्म को ही ग्रहण करता है-स्वीकार करता है, शेष स्थानों को छोड़ देता है ।

टीका – अपि च कुत्सितो जयोऽस्येति कुजयो द्यूतकारः, महतोऽपि द्यूतजयस्य सद्भि र्निन्दितत्वादनर्थहेतुत्वाच्च कुत्सितत्वमिति, तदेव विशिनष्टि-अपराजितोदीव्यन् कुशलत्वादन्येन न जीयते, अक्षैः वा पाशकैः दीव्यन् क्रीडंस्तत्पातज्ञः कुशलो निपुणः यथाऽसौ द्यूतकारोऽक्षैः पाशकैः कपर्दकैर्वा रममाणः 'कडमेवे' त्ति चतुष्कमेव गृहीत्वा तल्लब्धजयत्वात्तेनैव दीव्यति, ततोऽसौ तल्लब्धजयः सन्न कलिं एककं नाऽपि त्रैतं त्रिकं च नाऽपि द्वापरं द्विकं गृह्णातीति ॥२३।

टीकार्थ – जिस व्यक्ति की विजय या जीत निन्दा जनक होती है और लोग जिसकी भर्त्सना करते हैं उसे कुजय कहा जाता है । कुजय का अर्थ द्यूतकार या जुआरी है । द्यूतकार जुए में बहुत कुछ विजय कर लेने पर भी पुरुषों द्वारा निन्दित होता है, क्योंकि द्यूतगत विजय अनर्थ का हेतु है । इसलिये वह निन्दनीय है। आगमकार ने यहां द्यूतकार के लिये एक 'अपराजित' विशेषण का प्रयोग किया है । उसका अभिप्राय यह है कि जो द्यूतकार द्यूतकला में निपुण होने के कारण दूसरे द्यूतकारों से जीता नहीं जाता, वह अपराजित कहा जाता है । द्यूत कला में कुशल द्यूतकार पासों द्वारा या कोड़ियों द्वारा जुआ खेलता हुआ चौथे स्थान को पा लेता है । सर्वाधिक सफलता पा लेता है, उसे 'कृत' कहा जाता है । वह उसकी विजय का सूचक है । यों खेलता हुआ जुआरी कृत नामक स्थान द्वारा प्रभावापन्न विजयशील हो जाता है । वह फिर अन्य तीन स्थानों को नहीं पाता । प्रथम कलयुग, द्वितीय द्वापर तृतीय त्रेता उपमा के रूप में-यहां ये तीन युग गृहीत है । यह ज्ञातव्य है कि कृत का अर्थ सतयुग होता है ।

❀ ❀ ❀

एवं लोगंमि ताइणा बुइए जे धम्मे अणुत्तरे ।
तं गिण्ह हियंति उत्तमं कडमिव से सऽवहाय पंडिए ॥२४॥

छाया – एवं लोके त्रायिणोक्तो यो धर्मोऽनुत्तरः ।
तं गृहाण हितमित्युत्तम कृतमिव शेष मपहाय पंडितः ॥

अनुवाद – इस प्रकार इस लोक में त्रायी-सबके त्राता धर्मोपदेश द्वारा सबकी रक्षा करने वाले, पापों से बचाने वाले सर्वज्ञ प्रभु द्वारा जो धर्म कहा गया है, वह अनुत्तर है-सर्वश्रेष्ठ है, श्रेयस्कर है । यह समझ कर उसे ही प्राप्त करो, ग्रहण करो । जैसे एक कुशल द्यूतकार नीचे के तीनों स्थानों को छोड़कर उपर के 'कृत' स्थान को स्वायत्त करता है ।

टीका – दार्ष्टान्तिकमाह - यथा द्यूतकारः प्राप्तजयत्वात् सर्वोत्तमं दीव्यं श्चतुष्कमेव गृह्णाति एवमस्मिन् लोके मनुष्य लोके तायिना त्रायिणा वा सर्वज्ञेनोक्तो योऽयंधर्मः क्षान्त्यादिलक्षणः श्रुतचारित्राख्यो वा नास्योत्तरः अधिकोऽस्तीत्यनुत्तरः तमेकान्तहितमिति कृत्वा सर्वोत्तमञ्च गृहाण विस्रोतसिकारहितः स्वीकुरु, पुनरपि निगमनार्थं तमेव दृष्टान्तं दर्शयति-यथा कश्चिद् द्यूतकारः कृतं कृतयुगं चतुष्कमित्यर्थः शेषमेककादि अपहाय त्यक्त्वादीव्यन्

गृह्णाति एवं पण्डितोऽपि साधुरपि शेषं गृहस्थकुप्रावचनिकपार्श्वस्थादिभावमपहाय सम्पूर्णं महान्तं सर्वोत्तमं धर्मं गृह्णीयादिति भावः ॥२४॥

टीकार्थ – दृष्टान्त का सार बतलाते हुए कहते हैं-एक कुशल द्यूतकार विजय प्राप्ति का साधन मानकर सर्वोत्तम चौथे पासे को ही-चौक को ही स्वीकार करता है, उसी तरह इस मनुष्य लोक में समस्त प्राणियों के परित्राता सर्वज्ञ प्रभु द्वारा प्रतिपादित क्षांति-क्षमाशीलता आदि और गुणयुक्त श्रुत चारित्रमूलक सर्वश्रेष्ठ धर्म को ही एकान्तः निश्चित रूप में हितकर श्रेयस्कर समझो-स्वीकार करो। आगमकार फिर उसी स्थान को निगमन के रूप में उपस्थापित करते हैं कि-एक द्यूतकार द्यूतक्रीडा करता हुआ प्रथम, द्वितीय, तृतीय स्थान को छोड़कर कृत नामक चतुर्थ स्थान को ही गृहीत करता है, इसी प्रकार विवेकशील साधु, गृहस्थ कुप्रावचनिक-कुत्सित या मिथ्या सिद्धान्तों का प्रवचन करने वाले-उपदेश करने वाले तथा पार्श्वस्थ-धर्म से बहिर्भूत या बहिष्कृत जनों को छोड़कर-उन द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का त्याग कर सबसे महान् सर्वज्ञ द्वारा प्रतिपादित धर्म को ग्रहण करे-उसका परिपालन करे।

❀ ❀ ❀

उत्तर मणुयाण आहिया, गामधम्मा (म्म) इह मे अणुस्सुयं ।
जंसी विरता समुट्ठिया कासवस्स अणुधम्म चारिणो ॥२५॥

छाया – उत्तराः मनुजानामाख्याताः ग्रामधर्मा इह मयानुश्रुतम् ।
येभ्यो विरताः समुत्थिताः काश्यपस्यानुधर्मचारिणः ॥

अनुवाद – आर्य सुधर्मा स्वामी अपने प्रमुख अंतेवासी जम्बू आदि शिष्य समुदाय को सम्बोधित कर कहते हैं कि ग्रामधर्म-इंद्रियों के विषय सांसारिक भोगों का सेवन, ये मानवों के लिये उत्तर-कठिनाई से जीते जा सकने योग्य कहे गये हैं। मैंने आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव द्वारा सम्प्रेरित एवं प्रभु महावीर द्वारा प्रतिपादित यह तथ्य श्रवण किया है। उन सांसारिक भोग वासना मय विषयों का परित्याग कर जो संयम के अनुसरण में समुत्थित जागरूकतापूर्वक प्रयत्नशील हैं, वे भगवान महावीर के द्वारा प्ररूपित धर्म का अनुसरण करने वाले हैं।

टीका – पुनरप्युपदेशान्तरमाह - उत्तराः प्रधानाः दुर्जयत्वात, केषाम् ? उपदेशार्हत्वान्मनुष्याणामन्यथा सर्वेषामेवेति, के ते ? ग्रामधर्माः शब्दादिविषयाः मैथुनरूपा वेति, एवं ग्राम धर्मा उत्तरत्वेन सर्वज्ञैराख्याताः मयैतदनु पश्चाच्छ्रुतमेतच्च सर्वमेव प्रागुक्तं यच्च नक्ष्यमाणं तन्नाभेयेनाऽऽदितीर्थकृता पुत्रानुद्दिश्याभिहितं सत् पाश्चात्यगणधराः सुधर्मस्वामिप्रभृतयः स्वशिष्येभ्यः प्रतिपादयन्ति, अतो मयैतदनुश्रुतमित्यनवद्यम् । यस्मिन्निति कर्मणि ल्यप्लोपे पञ्चमी सप्तमी वेति यान् ग्रामधर्मान् आश्रित्य ये विरताः संयमरूपेणोत्थिताः समुत्थितास्ते काश्यपस्य ऋषभस्वामिनो वर्धमानस्वामिनो वा सम्बन्धी यो धर्मस्तदनुचारिणः तीर्थकरप्रणीतधर्मानुष्ठायिनो भवन्तीत्यर्थः ॥२५॥

टीकार्थ – आगमकार फिर और उपदेश देते हुए प्रतिपादित करते हैं -

उत्तर का अर्थ प्रधान है। जिसे तैर पाना या लांघ पाना कठिन होता है, वह उत्तर कहा जाता है। अतएव वह दुर्जय है। प्रश्न उपस्थित कर विषय को आगे बढ़ा रहे हैं किसके लिये ? इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि मनुष्यों के लिये क्योंकि मनुष्य ही उपदेशार्ह-उपदेश देने योग्य या उपदेश के पात्र हैं। ऐसा

नहीं हो तो ये दुर्जेयता सबके लिये लागू हो जाय । दुर्जेय कौन है ? कहा गया है-ग्रामधर्म दुर्जय है । 'शब्द' आदि विषय एवं अब्रह्मचर्य आदि को ग्राम धर्म कहा गया है । अतएव आर्यसुधर्मा कहते हैं कि मैंने यह सुना है । तीर्थंकर ऐसा प्रतिपादित करते रहे हैं कि ग्रामधर्म दुर्जेय है । यह सब जो पहले प्रतिपादित हुआ, नाभि के पुत्र भगवान ऋषभदेव ने अपने पुत्रों को उद्दिष्टकर निरूपित किया था । तत्पश्चात् श्री सुधर्मास्वामी आदि पश्चातवर्ती गणधरों ने अपने शिष्यों को बतलाया था । इसीलिये मैंने यह सुना है, ऐसा जो संकेत किया है उसमें कोई दोष नहीं है । ऐसा समझना चाहिये । यहां 'जंसी-यस्मिन्' इस पद में कर्म में ल्यप् का लोप होकर पंचमी या सप्तमी विभक्ति का प्रयोग होता है, इसके अनुसार यहां यह अभिप्राय है कि जो पुरुष इन ग्राम धर्मों या विषय भोगों से निवृत्त है, अथवा यहां पंचमी के अर्थ में सप्तमी होने से इसका अभिप्राय यह है कि इन ग्राम धर्मों से जो निवृत्त हैं और संयम में सम्यक् समुत्थित हैं । वे आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव द्वारा संप्रवृत्त तथा चरम तीर्थंकर प्रभु महावीर द्वारा प्रतिपादित धर्म का अनुसरण करते हैं । इसका यह आशय है ।

❀ ❀ ❀

जे एय चरंति आहियं नाएणं महया महेसिणा ।
ते उट्ठिय ते समुट्ठिया अन्नोन्नं सारंति धम्मओ ॥२६॥

छाया – य एनं चरन्त्याख्यातं, ज्ञातेन महता महर्षिणा ।
ते उत्थितास्ते समुत्थिता अन्योऽन्यं सारयन्ति धर्मतः ॥

अनुवाद – जो पुरुष महान महर्षि-परम उच्च कोटि के दृष्टा, ज्ञाता-सर्वदर्शी, सर्वज्ञानी ज्ञातपुत्र-ज्ञातवंशीय, क्षत्रिय कुल में उत्पन्न भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित धर्म का परिपालन करते हैं वे ही साधना के मार्ग में उत्थित-उठे हुए हैं, समुत्थित-सम्यक् उस दिशा में उद्यमशील हैं वे ही धर्म के पथ से हटने की स्थिति में एक दूसरे को धर्म में टिके रहने की प्रेरणा देते हैं ।

टीका – किञ्च ये मनुष्या एनं प्रागुक्तं धर्मं ग्रामधर्म-विरतिलक्षणं चरन्ति कुर्वन्ति आख्यातं ज्ञातेन ज्ञातपुत्रेण 'महये' त्ति महावियस्य ज्ञानस्यानन्य भूतत्वान्महान् तेन तथाऽनुकूलप्रतिकूलोपसर्गसहिष्णुत्वान्महर्षिणा श्री वर्धमानस्वामिना आख्यातं धर्मं ये चरिन्त तएव संयमोत्थानेन कुतीर्थिक परिहारेणोत्थिताः तथा निह्नवादिपरिहारेण तएव सम्यक् कुमार्गदेशना परित्यागेनोत्थिताः समुत्थिता इति, नाऽन्ये कुप्रावचनिकाः जमालिप्रभृतयश्चेति भावः त एव च यथोक्तधर्मानुष्ठायिनः अन्योऽन्यं परस्परं धर्मतो धर्ममाश्रित्य धर्मतो वा भ्रश्यन्तं सारयन्ति चोदयन्ति पुनरपि सद्धर्मेप्रवर्तयन्तीति ॥२६॥

टीकार्थ – केवल ज्ञान का विषय महान है-अत्यन्त विस्तृत है, ज्ञान ज्ञानी से भिन्न नहीं होता। इस अपेक्षा से केवल ज्ञान और महावीर की वास्तव में भिन्नता सिद्ध नहीं होती । अतएव भगवान महावीर को महान कहा गया है । ऐसी ज्ञानमयी महत्ता से युक्त अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गों को सहिष्णुतापूर्वक सहन करने वाले ज्ञातवंशीय प्रभु वर्धमान ने ग्राम धर्मों के परिवर्जन का उपदेश देते हुए सद्धर्म का निरूपण किया है । उसका जो अनुसरण करते हैं मिथ्यासिद्धान्तों के प्ररूपक अन्यतीर्थियों द्वारा प्रतिपादित धर्म का त्याग करते हैं वे ही यथार्थतः संयम में सम्यक् धर्म में संप्रवृत्त हैं । वे ही साधक निन्हवों द्वारा-मिथ्यातत्त्व प्ररूपकों द्वारा

कुमार्ग के उपदेश से हटे रहते हैं-दूर रहते हैं । कुप्रावचनिक-मिथ्यादर्शन में विश्वास करने वाले, उसका उपदेश करने वाले, जमाली आदि अन्य सिद्धान्तवादी ऐसे असत्य पूर्ण मार्ग से हटे हुए नहीं हैं-दूर नहीं हैं । उपरोक्त सत्य सिद्धान्त में संप्रवृत्त पुरुष ही यथोक्त धर्म का-वीतरागभाषित धर्म का अनुष्ठान करते हैं, पालन करते हैं। वे एक दूसरे को धर्म में-धर्माराधना में सुस्थिर बने रहने की प्रेरणा देते हैं अथवा धर्म से हटते हुए, गिरते हुए को पुनः धर्म में प्रवृत्त करते हैं ।

❀ ❀ ❀

मा पेह पुरा पणामए, अभिकंखे उवधिं धूणित्तए ।
जे दूमण तेहि णो णया, ते जाणंति समाहि माहियं ॥२७॥

छाया – मा प्रेक्षस्व पुरा प्रणामकान्, अभिकांक्षेद् उपधिं धूनयितुम् ।
ये दुर्मनसस्तेषु नो नतास्ते जानन्ति समाधिमाख्यात् ॥

अनुवाद – पहले जिन शब्दादि विषयों का भोग किया है, उन्हें याद नहीं करना चाहिये । माया-छलना या प्रवञ्चना एवं आठ प्रकार के कर्मों को अपनी आत्मा से दूर करने की अभिकांक्षा-इच्छा करनी चाहिये। जो व्यक्ति शब्दादि विषयों में जो मन को दूषित-कुत्सित बनाते हैं, आसक्त नहीं है, वे अपने आत्मस्वरूप में विद्यमान, समाधि-उज्जवल ध्यानमय धर्म को जानते हैं ।

टीका – किञ्च दुर्गतिं संसारं वा प्रणामयन्ति प्रह्वी कुर्वन्ति प्राणिनां प्रणामकाः शब्दादयो विषयास्तान् पुरा पूर्वं भुक्तान् मा प्रेक्षस्व मा स्मर, तेषां स्मरणमपि यस्मान्महते अनर्थाय, ऽनागतांश्च नोदीक्षेत नाकाङ्क्षेदिति, तथा अभिकाङ्क्षेत् अभिलषेदनारतं चिन्तयेदनुरुपमनुष्ठानं कुर्य्यात् किमर्थमिति दर्शयति-उपधीयते ढौक्यते दुर्गतिं प्रत्यात्मा येनासावुपधिः माया अष्टप्रकारं वा कर्म तद् हननान अपनयनायाभिकाङ्क्षेदिति सम्बन्धः, दुष्टधर्मम्प्रत्युपनताः कुमार्गानुष्ठायिन स्तीर्थिकाः यदि वा 'दूमण' त्ति, दुष्टमनः कारिण उपतापकारिणो वा शब्दादयो विषया स्तेषु ये महासत्त्वाः न नताः न प्रह्वीभूताः तदाचारानुष्ठायिनो न भवन्ति ते सन्मार्गानुष्ठायिनो जानन्ति विदत्ति समाधिं रागद्वेषपरित्यागरूपं धर्मध्यानञ्च आहितम् आत्मनि व्यवस्थितम्, आ समन्ताद्धितं वा त एव जानन्ति नाऽन्य इति भावः ॥२७॥

टीकार्थ – जो प्राणियों को दुर्गति में डालते हैं या संसार में भटकाते हैं, उन्हें 'प्रमाणक' कहा जाता है । शब्दादिविषय प्रणामक कहे गये हैं, क्योंकि वे ही जीवधारियों को निम्नगति में पहुँचाते हैं, उन्हीं के कारण जीवधारी संसार में चक्कर काटते रहते हैं । जिन विषयों का पहले सेवन किया हो, उन्हें याद नहीं करना चाहिये क्योंकि वैसा करने से बड़ा अनर्थ होता है । वे भविष्य में फिर प्राप्त हों ऐसी अभिलाषा भी नहीं करनी चाहिये। सदैव अनुरूप अनुष्ठान-आत्मोन्नति में उपयोगी कार्यों का चिंतन करना चाहिये । ऐसा क्यो ? इस प्रश्न के समाधान में आगमकार प्रतिपादित करते हैं कि आत्मा जिसके द्वारा दुषित गति में-निम्नगति में जाती है उसे उपधि कहा जाता है । उपधि से माया या आठ कर्मों का संसूचन होता है । साधु उनका हनन-नाश करने की या उन्हें दूर करने की अभिकांक्षा करे, उन्हें मिटाना चाहे । जो महासत्व-आत्मबल के धनी उत्तम पुरुष हैं, वे दुष्ट-दोषयुक्त धर्म में, कुमार्ग पर चलने वाले अन्य मतवादियों में मन को दूषित-कुत्सित बनाने वाले शब्दादि भोग्य विषयों में आसक्त नहीं रहते । वैसे कर्मों का आचरण नहीं करते तथा सन्मार्ग का, सत्यमूलक धर्म का परिपालन करते हैं । वे ही अपनी आत्मा में विद्यमान राग द्वेष परित्यागमूलक समाधि या धर्मध्यान

को यथावत समझते हैं, अनुभव करते हैं । वे ही चारों ओर से-सब ओर से अपना हित-श्रेयस या कल्याण क्या है, इसे जानते हैं । अन्य नहीं जानते ।

❀ ❀ ❀

णो काहिए होज्ज संजए, पासणिए णय संपसारए ।
णच्चा धम्मं अणुत्तरं कयरिरिए णयावि मामए ॥२८॥

छाया – नो काथिको भवेत्संयतः नो प्राश्निको न च संप्रसारकः ।
ज्ञात्वा धर्म मनुत्तरं कृतक्रियो न चाऽपि मामकः ॥

अनुवाद – संयत-संयमाराधक पुरुष काथिक न बने-धर्म विरुद्ध कथा वार्ता न करे । वह प्राश्निक न हो-सांसारिक प्रश्नों का उत्तर न दे, भविष्य वाणी न करे । संप्रसारक-वर्षा होने या धन कमाने के उपाय न बताये । वह अनुत्तर-सर्वोत्तम धर्म को जानकर संयम का परिपालन करे, किसी भी वस्तु पर ममत्त्व न रखे।

टीका – तथा संयतः प्रव्रजितः कथया चरतिकाथिकः गोचरादौ न भवेद् यदि वा विरुद्धां पैशून्यापादनीं स्त्रयादिकथां वा न कुर्य्यात् तथा प्रश्नेन राजादिकिंवृत्तरूपेण दर्पणादिप्रश्ननिमित्तरूपेण वा चरतीति प्राश्निको न भवेत्, नाऽपि संप्रसारकः देववृष्ट्यर्थकाण्डादिसूचककथाविस्तारको भवेदिति किं कृत्वेति दर्शयति-ज्ञात्वा अवबुध्य नास्योत्तरो विद्यत इत्यनुत्तरस्तं श्रुतचारित्राख्यं धर्मं सम्यगवगम्य तस्य हि धर्मस्यैतदेवफलं यदुत विकथानिमित्तपरिहारेण सम्यक् क्रियावान् स्यादिति, तद्दर्शयति कृता स्वभ्यस्ता क्रिया संयमानुष्ठानरूपा येन स कृतक्रियः तथाभूतश्च न चाऽपि मामको ममेदमहमस्य स्वामीत्येवं परिग्रहाग्रही भवेदिति ॥२८॥

टीकार्थ – प्रव्रजित-आर्हंति श्रमण दीक्षा में दीक्षित संयताचारी साधक भिक्षा आदि के समय कथा न करे अथवा पैशुन्य-चुगली आदि असत् कथन तथा स्त्री सम्बन्धी-अब्रह्मचर्य विषय कथोपकथन न करे । यदि कभी कोई राजा आदि अपने राज्य, देश, आदि के संबंध में प्रश्न करे तो एक ज्योतिषी की ज्यों उसके प्रश्न का फलादेश न कहें । देववृष्टि-मेघों द्वारा की जाने वाली वर्षा तथा धन प्राप्ति के उपाय भी एक संयमी न बतलाये । वह श्रुत एवं चारित्रधर्म को सर्वोत्तम जाने तथा संयम का अनुष्ठान करे क्योंकि लोकोत्तर-सर्वोत्तम-मोक्षमूलक धर्म को जानने का यही फल है । विकथा-निरर्थक एवं विपरीत कथा एवं निमित्त भाषण-भविष्यवाणी आदि कार्यों का परित्याग कर सम्यक् क्रिया-धार्मिक या आध्यात्मिक क्रिया के अनुसरण में तत्पर रहे । अमुक वस्तु मेरी है, मैं उसका मालिक हूँ, इस तरह कहता हुआ परिग्रहाग्रही-परिग्रह का आग्रह रखने वाला न बने।

❀ ❀ ❀

छन्नं च पसंस णो करो, नय उक्कोसपगास माहणे ।
तेसिं सुविवेग माहिये पणया जेहिं सुजोसियं धुयं ॥२९॥

छाया – छन्नं च प्रशस्यं च न कुर्य्यान्नचोत्कर्षं प्रकाशं माहनः ।
तेषां सुविवेक आहितः प्रणताः यै सुजुष्टं धुतम् ॥

अनुवाद – माहण-अहिंसा प्रधान साधक क्रोध, अभिमान, माया और लोभ में प्रवृत्त न हो । जिन साधकों ने अष्टविध कर्मों का जिससे ध्वंस होता है, ऐसा संयम स्वीकार किया है, उन्हीं का उत्तम-श्रेष्ठ विवेक, ज्ञान संसार में समादृत है । वे ही धर्म में संलग्न हैं ।

टीका – किञ्च 'छन्नं' त्ति माया तस्या: स्वाभिप्रायप्रच्छादनरूपत्वात् ता न कुर्य्यात् । च शब्द: उत्तरापेक्षया समुच्चयार्थ:, तथा प्रशस्तये सर्वैरप्यविगानेनाद्रियत इति प्रशस्यो लोभस्तं च न कुर्य्यात्, तथा जात्यादिभिर्मदस्थानैर्लघुप्रकृतिं पुरुषमुत्कर्षयतीत्युत्कर्षको मानस्तमपि न कुर्य्यादिति संबंध: तथाऽन्तर्व्यवस्थितोऽपि मुखदृष्टिभ्रूभङ्गविकारै: प्रकाशीभवतीति प्रकाश: क्रोधस्तञ्च 'माहणे' त्ति साधु र्न कुर्य्यात्, तेषां कषायाणं यैर्महात्मभि: विवेक: परित्याग: आहितो जनति स्तएव धर्मम्प्रति प्रणता इति । यदि वा तेषामेव सत्पुरुषाणां सुष्ठु विवेक: परिज्ञानरूप: आहित: प्रथित: प्रसिद्धिं गत: त एव च धर्मं प्रति प्रणता: यै महासत्वै: सुष्ट जुष्टं सेवितं धूपतेऽष्टप्रकारं कर्मतद्रूपं संयमानुष्ठानं, यदि वा यै: सदनुष्ठायिभि: 'सुजोसिअं' त्ति सुष्टु क्षिप्तं धूननार्हत्वाद् धूतं कर्मेति ॥२९॥

टीकार्थ – 'छन्न' शब्द माया के लिये है । अपने अभिप्राय का प्रच्छादन करना-उसे छिपाना माया है । संयमी माया का अनुसरण न करे । इस गाथा में आया हुआ 'च' शब्द आगामी पदार्थों के समुच्चय के लिये हैं । सब लोग जिसका अविगान-आपत्ति के बिना आदर करते हैं, उसे प्रशस्य कहा जाता है । यह लोभ का नाम है, लोभ नहीं करना चाहिये । उत्कर्ष शब्द मान का वाचक है जिनकी प्रकृति छोटी होती है-वैचारिक स्तर नीचा होता है, उसे जाति आदि मदस्थान मत्त बना देते हैं । वह उनसे पागल जैसा हो जाता है । एक संयताचारी मुनि ऐसा न करे । प्रकाश लोभ का नाम है क्योंकि वह मानव के भीतर रहता हुआ भी मुख, दृष्टि, भृकुटी भंग आदि विकारों से प्रकाशित होता है-व्यक्त होता है । संयमी क्रोध न करे । जिन महापुरुषों ने इन कषायों का परिवर्जन किया है, परित्याग किया है, वे ही सही माने में धर्म में प्रवृत्त हैं । धर्म के आराधक हैं । उन्हीं सात्विक पुरुषों का सद्ज्ञान-विवेक संसार में विश्रुत हुआ है-प्रसिद्ध हुआ है तथा वे ही धर्म में संलीन हैं । जिन महापुरुषों ने अष्टविध कर्मों का नाश करने वाले संयम को जीवन में भली भांति अपनाया है अथवा सत्कर्म में निरत जिन महापुरुषों ने आठ प्रकार के कर्मों को भलीभांति अपगत कर दिया है, वे ही धर्म के आराधक हैं । यहां कर्मों को जो 'धुत' कहा गया है उसका तात्पर्य उनके धूनन या क्षेपण करने योग्य अर्थ के साथ जुड़ा है ।

❀ ❀ ❀

अणिहे सहिए सुसंवुडे धम्मट्ठी उवहाणवीरिए ।
विहरेज्ज समाहिइंदिए अत्तहियं खु दुहेण लब्भइ ॥३०॥

छाया – **अस्निह: सहित: सुसंवृत: धर्मार्थी उपधानवीर्य्य: ।**
विहरेत्समाहितेन्द्रिय: आत्महितं दु:खेन लभ्यते ॥

अनुवाद – संयमी पुरुष किसी भी वस्तु में स्नेह या आसक्ति न रखे । जिन कार्यों से अपना श्रेयस-कल्याण सधे उनमें सदैव संलग्न रहे । वह अपनी इन्द्रियों एवं मन को गुप्त-पापों से रहित रखता हुआ धर्म की साधना में निरत रहे । वह तपश्चरण में अपना आत्म पराक्रम प्रकट करे तथा अपनी इन्द्रियों को वश में करके संयमानुष्ठान में अग्रसर रहे क्योंकि आत्मकल्याण बड़ी कठिनाई से सधता है ।

टीका – अपि च स्निह्यत इति स्निह: नस्निह: अस्निह: सर्वत्र ममत्त्व रहित इत्यर्थ:, यदि वा परीषहोपसर्गैर्निहन्यत इति निह: न निहोऽनिह: उपसर्गैरपराजित इत्यर्थ:, पाठान्तरं वा 'अणहे' त्ति नास्याघमस्तीत्यनघो निरवद्यानुष्ठायीत्यर्थ: सह हितेन वर्तत इति सहित: सहितो युक्तो वा ज्ञानादिभि: स्वहित: आत्महितो वा

सदनुष्ठानप्रवृत्तेः, तामेव दर्शयति-सुष्ठु संवृतः इन्द्रियनोइन्द्रियैर्विस्रोतसिकारहित इत्यर्थः तथा धर्मः श्रुतचारित्राख्यः तेनाऽर्थः प्रयोजनं स एवार्थः तस्यैव सद्भिरर्थ्यमानत्वाद् धर्मार्थः स यस्याऽस्तीति धमार्थी तथा उपधानं तपस्तत्र वीर्यवान् स एवंभूतो विहरेत् संयमानुष्ठानं कुर्यात् समाहितेन्द्रियः संयतेन्द्रियः कुत एवं ? यत आत्महितं दुःखेनासुमता संसारे पर्य्यटता अकृतर्मानुष्ठानेन लभ्यते अवाप्यत इति तथाहि -

"न पुनरिदमतिदुर्लभमगाधसंसारजलधिविभ्रष्टम् । मानुष्यं खद्योतकतडिल्लताविलसितप्रतिमम् ॥"

तथाहि युगसमिलादिदृष्टान्तनीत्या मनुष्यभव एव तावद् दुर्लभः तत्राऽप्यार्य्यक्षेत्रादिकं दुरापमिति अत आत्महितं दुःखेनावाप्यत इति मन्तव्यम् । अपि च -

भूतेषुजङ्गमत्वं तस्मिन् पञ्चेन्द्रियत्वमुत्कृष्टम् । तस्मादपि मानुष्यं, मानुष्येऽप्यार्थदेशश्च ॥१॥

देशे कुलं प्रधानं कुले प्रधाने जाति रुत्कृष्टा । जातौ रूप समृद्धी रूपे च बलं विशिष्टतमम् ॥२॥

भवति बले चायुष्कं प्रकृष्टमायुष्कतोऽपि विज्ञानम् । विज्ञाने सम्यक्त्वं सम्यक्त्वे शीलसंप्राप्तिः ॥३॥

एतत्पूर्वश्चायं समासतो मोक्ष साधनोपायः । तत्र च बहु सम्प्राप्तं भवद्भिरल्पञ्च संप्राप्यम् ॥४॥

तत्कुरुतोद्यम मधुमानदुक्तमार्गे समाधि मास्थाय । त्यक्त्वा सङ्गमनार्य्यं कार्य्यं सद्भिः सदाश्रेयः ॥५इति॥३०॥

टीकार्थ – जो पुरुष किसी वस्तु के साथ विशेष आसक्ति या लगाव रखता है उन्हें 'स्निह' कहा जाता है । जो किसी वस्तु के सात स्नेह नहीं करता-अनासक्त रहता है उसे 'अस्निह' कहा जाता है । अथवा परीषह और उपसर्गों द्वारा जो पराभूत होता है, उसे 'निह' कहा जाता है । जो इनसे पराभूत या पराजित नहीं हो सकता उसे 'अनिह' कहा जाता है । संयमीसाधक परीषहों एवं उपसर्गों से कभी पराजय प्राप्त न करे । उनसे अपराजित रहे-यहां ऐसा आशय है । इस स्थान पर 'अणहे' पाठान्तर भी पाया जाता है । इसका तात्पर्य यह है कि साधु पापर्जित-निरवद्य कर्मों का अनुष्ठान करे । वह अपने आत्महित में निरत रहे । अथवा ज्ञानादि से समायुक्त रहे अथवा सत्कर्मों के अनुसरण में, निरत होकर आत्मकल्याण सम्पादित करे-साधे । सदनुष्ठान एवं सदाचरण में प्रवृत्त होने के संदर्भ में आगमकार कहते हैं कि वह अपनी इन्द्रिय और नोइन्द्रिय द्वारा सांसारिक भोगों की तृष्णा से सर्वथा विरत रहे अर्थात् उनमें वैसी तृष्णा न व्यापे । साधु श्रुत और चारित्रमूलक धर्म को ही अपने जीवन का प्रयोजन समझे क्योंकि सत्पुरुष वे ही हैं जो सद्धर्म की अभ्यर्थना करते हैं । एक संयमी साधक तपश्चरण में आत्म पराक्रम प्रकट करे । अपनी इन्द्रियों पर नियंत्रण रखता हुआ, संयम पथ का अनुसरण करे क्योंकि संसार सागर में भटकते हुए प्राणी को धर्म की साधना के बिना आत्मा का हित या श्रेयस प्राप्त नहीं होता । कहा गया है -

यह मनुष्य भव-मनुष्य योनि में जन्म, जुगनु की रोशनी और बिजली की चमक की तरह अत्यन्त चंचल है, अस्थिर है । यदि इस अपार संसार सागर में कोई गिर पड़ा, चला गया तो फिर उसे पाना अत्यन्त कठिन है । जैसा युग समिल का दृष्टान्त संसार में प्रचलित हैं ।[१] तदनुसार कीली और जुएं का तो कभी न कभी परस्पर संयुक्त होना संभव हो जाय किंतु मनुष्य भव दुष्कर है । वैसा हो भी जाय तो आर्यक्षेत्र में जन्म पाना और भी दुर्लभ है । अतः आत्महित-आत्म कल्याण प्राप्त होना बहुत कठिन है । संसार के प्राणियों में जंगम-गतिशील-चलने फिरने में सक्षम प्राणी श्रेष्ठ है । उनमें भी पंचेन्द्रिय उत्तम है । पंचेन्द्रिय में भी मनुष्य

१. समुद्र में पंहले कीली को फेंक दिया गया फिर जुएं को डाल दिया गया । दोनों तरंगों द्वारा बहाए जाते हुए कभी न कभी मिल जाए । कीली जुएं में प्रविष्ट हो जाये । यह संभव है किन्तु पुण्यहीन द्वारा मनुष्य भव प्राप्त किया जाना दुष्कर है ।

जन्म की अपनी विशेषता है । मनुष्य भव में आकर भी आर्य देश में जन्म पाना अति उत्तम है । वहां भी कुल की प्रधानता है । उसमें भी जाति की अपनी विशेषता है अर्थात् उत्तम कुल, उत्तम जाति पाना बहुत ऊंची बात है । वैसा होने पर भी रूप-दैहिक सौंदर्य, सुभगता तथा समृद्धि प्राप्त करना और भी मुश्किल है, वैसा हो जाये तो बल-शक्ति प्राप्त होना और विशेषता लिये हुए है । बल तो प्राप्तहुआ किन्तु लम्बा आयुष्य नहीं मिला तो उसकी उपयोगिता नहीं सधती । अतः लम्बे आयुष्य की भी अपनी महत्ता है । आयु में भी विज्ञान की प्राप्ति महत्त्वपूर्ण है । विज्ञान-विशिष्ट जानकारी के अन्तर्गत सम्यक्त्व-सत्श्रद्धान का प्राप्त होना श्रेष्ठ है, ऐसा होने पर शील की प्राप्ति-सदाचरण की साधना उत्तम है । क्रमशः इन्हीं पदार्थों को प्राप्त करना मोक्ष का साधन है, संक्षेप में यह समझना चाहिये । आप लोगों ने पदार्थों में से बहुत कुछ प्राप्त कर लिया है । अब थोड़ा सा प्राप्त करना अवशिष्ट रहा है । अतः समाधिनिष्ट होकर अनार्य-अनुत्तम, अधर्मिष्ट जनों की संसर्ग छोड़कर सत्पुरुषों को सदैव आत्मश्रेयस की ओर ले जाने वाले कार्य करने चाहिये ।

❀ ❀ ❀

णहि णूण पुरा अणुस्सुतं अदुवा तं तह णो समुट्ठियं ।
मुणिणा सामाइ आहियं, नाएणं जगसव्वदंसिणा ॥३१॥

छाया – नहि नूनं पुराऽनुश्रुतमथवा तत्तथा नो समनुष्ठितम् ।
मुनिना सामायकाद्याख्यातम्, ज्ञातेन जगत्सर्वदर्शिना ॥

अनुवाद – ज्ञातपुत्र सर्वज्ञ प्रभु महावीर ने सामायिक-समत्वभाव, समाधि आदि का कथन किया है। निःसंदेह पूर्व में जीव ने, प्राणी जगत ने उसे यथावत नहीं सुनाया, सुनकर उस पर गौर नहीं किया उसका अनुसरण नहीं किया ।

टीका – एतच्च न प्राणिभिः कदाचिदवाप्तपूर्व मित्येतद्दर्शयितुमाह-यदेतत् मुनिना जगतः सर्वभावदर्शिना ज्ञातपुत्रीयेण सामायिकादि आहितम् आख्यातं तत् नूनं निश्चितं नहि नैव पुरा पूर्व जन्तुभिः अनुश्रुतं श्रवणपथ मायातम् अथवा श्रुतमपि तत्सामायकादि यथाऽवस्थितं तथा नाऽनुष्ठितं, पाठान्तरं वा 'अवितह' त्ति, अवितथं यथावन्नानुष्ठित मतः कारणादसुमतामात्महितं सुदुर्लभ मिति ॥३१॥

टीकार्थ – आगमकार प्राणियों द्वारा सामायिक आदि के पहले कभी नहीं सुने जाने की चर्चा करते हुए कहते हैं –

संसार के समग्र भावों के दृष्टा-सर्वदर्शी, सर्वज्ञानी ज्ञातपुत्र भगवान महावीर ने जो सामायिक आदि का आख्यान, निरूपण किया है । निश्चय ही प्राणियों ने उसे पूर्वकाल में कदापि नहीं सुना । यदि सुना भी तो जिस प्रकार उसका अनुसरण किया जाना चाहिये वैसा नहीं किया, इस गाथा में 'अवितहं' ऐसा पाठान्तर पाया जाता है । उसके अनुसार यह अभिप्राय है कि प्राणियों ने प्रभु महावीर द्वारा प्रतिपादित सामायिक आदि का अवितथ-सत्यरूप में, यथावत रूप में, अनुष्ठान नहीं किया, तदनुसार आचरणशील नहीं बने । यही कारण है कि प्राणियों के लिये आत्महित आत्मकल्याण दुर्लभ कहा गया है ।

❀ ❀ ❀

एवं मत्ता महंतरं धम्ममिणं सहिया बहूजणा ।
गुरुणो छंदाणुवत्तगा विरया तिन्न महोघ माहियं ॥३२॥त्तिबेमि॥

छाया – एवं मत्वा महदन्तरं धर्ममेनं सहिताः बहवो जनाः ।
गुरोश्छन्दानुवर्तकाः विरता स्तीर्णाः महोघ माख्यातम् ॥इति ब्रवीमि॥

अनुवाद – आत्मकल्याण की प्राप्ति बहुत दुष्कर है । इस संदर्भ में अर्हत-तीर्थंकर द्वारा प्ररूपित धर्म सब धर्मों में उत्तम है-इससे आत्महित की प्राप्ति सुकर है, यह जानकर गुरु की आज्ञा का अनुवर्त्तन करने वाले, उन द्वारा उपदिष्ट पथ पर चलने वाले, सांसारिक भोगों एवं वासनाओं से विरत रहने वाले सत्पुरुषों ने इस संसार सागर को पार किया है । ऐसा मैं कहता हूँ ।

टीका – पुनरप्युपदेशान्तर मधिकृत्याह - एवम् उक्तरीत्या आत्महितं सुदुर्लभं मत्वा ज्ञात्वा धर्माणाञ्च महदन्तरं धर्मविशेषं कर्मणो वा विवरं ज्ञात्वा यदि वा 'महंतरं' ति, मनुष्यार्य्यक्षेत्रादिकमवसरं सदनुष्ठानस्य ज्ञात्वा एनं जैनं धर्मं श्रुतचारित्रात्मकं सह हितेन वर्तन्त इति सहिताः ज्ञानादियुक्ता बहवो जनाः लघु कर्माणः समाश्रिताः सन्तो गुरुराचार्य्यादेस्तीर्थङ्करस्य वा छन्दानुवर्तकास्त दुक्तमार्गानुष्टायिनो विरताः पापेभ्यः कर्मभ्यः सन्तस्तीर्णाः महौधमपारं संसारसागरमेव माख्यातं मया भवता भपरैश्च तीर्थकृद्भिरन्येषाम् इति शब्दः परिसमाप्त्यर्थं ब्रवीमीतिपूर्ववत् ॥३२॥

वैतालीयस्य द्वितीयोद्देशकः समाप्तः ।

टीकार्थ – आगमकार पुनः दूसरे प्रकार से उपदेश देते हुए कहते हैं -

जैसा पहले वर्णित हुआ है, आत्महित-आत्मा का कल्याण साधना बहुत कठिन है । यह जानकर जिन्होंने सब धर्मों के पारस्परिक अन्तर को-भेद को समझते हुए उत्तम श्रेयस्कर धर्म को आत्मसात् किया अथवा कर्मों के अन्तर को जानकर-विविध कर्मों की विविध फल प्रदत्ता को समझकर श्रेष्ठ आचरण योग्य सत्पुरुष, आर्य क्षेत्र जैसे अनुकूल अवसरों को समझकर श्रुत चारित्र रूप, सर्वज्ञ प्रतिपादित धर्म को स्वीकार किया । ज्ञानादि-ज्ञान, आचार की साधना द्वारा अपने कर्मों को हल्का किया । अपने गुरु, आचार्य, तीर्थंकरों द्वारा बताए हुए पथ का अनुसरण करते हुए पाप कर्मों की निवृत्ति की, ऐसे पुरुषों ने इस अपार संसार सागर को तीर्ण किया-पार किया । यह मैंने आप लोगों को कहा है । अन्य तीर्थंकरों ने भी ऐसा कहा है । यहां 'इति' शब्द समाप्ति के अर्थ में है । 'ब्रवीमि'-बोलता हूँ । यह पहले की तरह है वैसे ही इसे योजित कर लेना चाहिये ।

वैतालिय नामक दूसरे अध्ययन का दूसरा उद्देशक समाप्त होता है ।

❀ ❀ ❀

卐 卐 卐

तृतीय उद्देशकः

टीका – अथ वैतालीयाध्ययनस्य तृतीयोद्देशकस्य प्रारंभः - उक्तो द्वितीयोद्देशकः, साम्प्रतं तृतीयः समारभ्यते अस्य चायमभिसम्बन्धः-इहानन्तरोद्देशकान्ते विरता इत्युक्तं, तेषां च कदाचित्परीषहाः समुदीर्ण्येरन् अतः तत्सहनं विधेयमिति, उद्देशकार्थाधिकारोऽपि निर्युक्तिकारणाभिहितः यथाऽज्ञानोपचितस्य कर्मणोऽपचयो भवतीति, सच परीषहसहनादेवेत्यतः परीषहाः सोढव्या इत्येनेन सम्बन्धेनाऽऽयातस्यास्योद्देशकस्यादिसूत्रम् ।

टीकार्थ – वैतालीय अध्ययन का तीसरा उद्देशक है । द्वितीय उद्देशक समाप्त हो चुका है । अब तीसरा उद्देशक शुरु किया जाता है । इन दोनों का परस्पर संबंध इस प्रकार है । दूसरे उद्देशक के अंत में प्रतिपादित किया गया है कि पापों से-अशुभ कर्मों से विरत पुरुष संसार रूपी समुद्र को पार कर जाते हैं । अब इस उद्देशक में यह निरूपित किया जायेगा कि साधु के समक्ष कभी परीषह और उपसर्ग उदीर्ण हो-उपस्थित हो तो उनको सहना चाहिये क्योंकि वैसा करने से ही अज्ञान प्रसूत कर्म नष्ट होते हैं ।

निर्युक्तिकार इस तृतीय उद्देशक का अर्थाधिकार आख्यात करते हुए कहते हैं कि-परीषह और उपसर्गों को सहने से अज्ञान प्रसूत कर्मों का अपचय-अपगम या नाश होता है । अतः साधु को उन्हें सहन करना चाहिये। यह तीसरा उद्देशक यही बताने के लिये हैं । इसका पहला सूत्र यह है -

संवुडकम्मस्स भिक्खुणो, जं दुक्खं पुट्ठं अबोहिए ।
ते संजमओऽवचिज्जई, मरणं हेच्च वयंति पंडिया ॥१॥

छाया – संवृत्तकर्मणः भिक्षोः यद्दुःखं स्पृष्ट मबोधिना ।
तत्संयमतोऽवचीयते मरणं हित्वा व्रजन्ति पंडिताः ॥

अनुवाद – जिस श्रमण ने कर्मों को संवृत कर दिया है-अष्ट विध कर्मों का आगमन रोका दिया है । उसके अज्ञान के कारण जो कर्म बंधे हुए हैं । वे संयम के अवसरण से-पालन से क्षीण हो जाते हैं, वैसे पंडित-ज्ञानी, विवेकी पुरुष मृत्यु को पार कर मोक्ष को स्वायत्त कर लेते हैं ।

टीका – संवृतानि निरुद्धानि कर्माणि अनुष्ठानि सम्यगनुपयोगरूपाणिवा मिथ्यादर्शनाविरति प्रमाद कषाय योगरूपाणि वा यस्य भिक्षोः साधोः स तथा तस्य यद् दुःख मसद्वेद्यं तदुपादानं वाऽष्टप्रकारं कर्म स्पृष्टमिति बद्धस्पृष्ट निकाचितमित्यर्थः तच्चात्र अबोधिना अज्ञानेनोपचितं सत् संयमतो मानीन्द्रोक्तात् सप्तदशरूपादनुष्ठानाद् अपचीयते प्रतिक्षणं क्षय मुपयाति एतदुक्तं भवति यथा तटाकोदरसंस्थितमुदकं निरुद्धापरप्रवेशद्वारं सदादित्यकरसम्पर्कात् प्रत्यहमपचीयते एवं संवृताश्रवद्वारस्य भिक्षोरिन्द्रिय योगकषायम्प्रति संलीनतया संवृतात्मनः सतः संयमानुष्ठानेन चानेकभवाज्ञानोपचितं कर्म क्षीयते, ये च संवृतात्मानः सदनुष्ठायिनश्च ते हित्वा त्यक्त्वा मरणं मरण स्वभाव मुपलक्षणत्वाज्जातिजरामरण शोकादिकं त्यक्त्वा मोक्षं व्रजन्ति पंडिताः सदसद्विवेकः, यदिवा पण्डिता सर्वज्ञा एवं वदन्ति यत् प्रागुक्तमिति ॥१॥

टीकार्थ – जिस भिक्षु ने-मुनि ने कर्मों का विरोध-संवरण कर दिया है, अथवा सम्यक् अनुपयोग रूप अनुष्ठान द्वारा मिथ्यादर्शन अविरति, प्रमाद, कषाय एवं भोग रूप कर्मों को रोक दिया है, उस भिक्षु को

अज्ञान के कारण जो दु:ख-असत् वैद्य या प्रतिकूल वेदनीय अथवा दु:ख के कारण रूप अष्ट विध कर्म बद्ध स्पृष्ट एवं निकाचित रूप से उपचित-संग्रहित हुए हैं वे तीर्थंकर प्रतिपादित सप्तदशविध संयम के अनुसरण या प्रतिपालन में प्रतिक्षण नष्ट होते जाते हैं । कहने का अभिप्राय यह है कि जिस सरोवर में पानी आने का नाला बन्द है उसमें पहले से एकत्रित जमा हुआ जल सूर्य की किरणों से प्रतिदिन घटता जाता है-सूखता जाता है । उसी प्रकार जिस साधक ने आश्रव द्वार को संवृत-अवरुद्ध कर दिया है। इंद्रियों के योग-प्रवृत्ति तथा कषायों को रोकने में जो सदा जागृत रहता है, उस संवृत्तात्मा साधक के अनेक जन्मों में अज्ञान द्वारा संचित कर्म संयम के अनुष्ठान-अनुसरण से क्षीण हो जाते हैं । जो साधक संवृतात्मा एवं सदाचरणशील हैं, वे मृत्यु को-मरणधर्मा मनुष्य भव को छोड़कर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं । यहां उपलक्षण से मरण के साथ-साथ जाति, जरा, शोक आदि भी लिये हैं अर्थात् उनको भी वह छोड़ जाता है । सदा के लिये उनसे छूट जाता है जिनमें सत् और असत् का भेद करने का विवेक या ज्ञान होता है उन्हें पंडित कहा जाता है । वे पंडित-सर्वज्ञ ऐसा कहते हैं।

❀ ❀ ❀

जे विन्नणाहिऽजोसिया, संतिन्नेहिं समं वियाहिया ।
तम्हा उड्ढंति पासहा अदक्खु कामाइ रोगवं ॥२॥

छाया – ये विज्ञापनाभिर्जुष्टाः संतीर्णैः समं व्याख्याताः ।
तस्माद् ऊर्ध्वं पश्यत अद्राक्षुः कामान् रोगवत् ॥

अनुवाद – जो पुरुष स्त्रियों से जुष्ट-सेवित नहीं हैं, वे मुक्त पुरुषों के तुल्य है । स्त्री परित्याग-विषय वासना के परित्याग के अनन्तर ही मुक्ति प्राप्त होती है, यह जानना चाहिये । जिस पुरुष ने काम भोगों को रोग के समान समझा है, वे मुक्त पुरुषों के समान हैं ।

टीका – येऽपि च तेनैव भवेन न मोक्षमाप्नुवन्ति तानधिकृत्याह - ये महासत्त्वाः कामार्थिभि र्विज्ञाप्यन्ते यास्तदर्थिन्यो वा कामिनं विज्ञापयन्ति ता विज्ञापनाः स्त्रिय स्ताभिः अजुष्टाः असेविताः क्षयं वा अवसायलक्षणमतीतास्ते सन्तीर्णै, मुक्तैः समं व्याख्याताः, अतीर्णा अपि संतो यतस्ते निष्किञ्चनतया शब्दादिषु विषयेष्वप्रतिबद्धाः संसारोदन्वत स्तटोपान्तवर्तिनो भवन्ति, तस्माद् उर्ध्वमिति मोक्षं योषित्परित्यागाद्वोर्ध्वं यद् भवति तत्पश्यत यूयम् । ये च कामान् रोगवद् व्याधिकल्पान् अद्राक्षुः दृष्टवन्तस्तेसंतीर्णसमाः व्याख्याताः तथा चोक्तम् -

"पुप्फफलाणं च रसं सुराइ मंसस्य महिलियाणं च । जाणंता जे विरया ते दुक्करकारए वंदे ॥१॥"

तृतीयपादस्य पाठान्तरं वा "उड्ढं तिरियं अहे तहा" ऊर्ध्वमिति सौधर्मादिषु तिरियमिति तिर्यग्लोके, अध इति भवनपत्यादौ ये कामास्तान् रोगवद् अद्राक्षु र्ये ते तीर्णकल्पाः व्याख्याता इति ॥२॥

टीकार्थ – जो पुरुष इसी भव में मुक्ति प्राप्त नहीं करते, उनके संबंध में आगमकार कहते हैं -

कामासक्त पुरुष जिसके प्रति अपनी कामना प्रकट करता है या जो कामसेवन हेतु किसी कामी पुरुष के समक्ष अपना अभिप्राय स्पष्ट करती है, उसे विज्ञापना कहा जाता है । विज्ञापना का तात्पर्य स्त्रियों से है। जो सत्पुरुष स्त्रियों से सेवित नहीं है अथवा जो दूसरे शब्दों में स्त्रियों के माध्यम से विनाश स्वरूप क्षय को प्राप्त नहीं हैं-उनमें अनासक्त होने के कारण अक्षयस्वरूप है, वे मुक्ति प्राप्त पुरुषों के समान बतलाये गये हैं। यद्यपि संसार रूपी सागर को पार नहीं किया तो भी वे अकिंचन होने के कारण तथा शब्द आदि इंद्रिय भोगों

में आसक्त नहीं होने के कारण संसार रूपी समुद्र के किनारे के निकट पहुंच हुए हैं । यह जानने योग्य है कि स्त्री संसर्ग के परित्याग के पश्चात् ही मुक्ति प्राप्त होती है । जिस पुरुषों ने काम भोगों को रोग के समान समझा है, वे मुक्त पुरुष के समान बतलाये गये हैं । कहा भी है-जिन्होंने पुष्प तथा फल का रस, मदिरा, मांस एवं महिलाओं को जानकर उन्हें अनर्थ का हेतु समझकर छोड़ दिया है, उन दुष्कर-कठोर कर्म करने वाले पुरुषों को वन्दन करता हूँ।

यहां तीसरे चरण में 'उड्ढं तिरियं अहेतहा' ऐसा पाठान्तर भी पाया जाता है जिसका यह तात्पर्य है कि उर्ध्व-सौधर्मादि-देवलोक में, तिर्यक् लोक मे एवं अधः-भवनपति आदि लोक में जो काम भोग विद्यमान है, उन्हें जो पुरुष रोग के तुल्य समझते हैं, वे उन पुरुषों के सदृश हैं जिन्होंने संसार सागर को पार कर दिया है ।

❀ ❀ ❀

अग्गं वणिएहिं आहियं, धारंती राईणिया इहं ।
एवं परमा महव्वया अक्खाया उ सराइभोयणा ॥३॥

छाया – अग्रं वणिग्भि राहितं धारयन्ति राजान इह ।
एवं परमानि महाव्रतानि आख्यातानि सरात्रिभोजनानि ॥

अनुवाद – वणिक् जनों-व्यापारियों द्वारा लाये हुए उत्तम रत्नों तथा वस्त्रों आदि को नृपति-गण धारण करते हैं इसी प्रकार आचार्यों-गुरुओं द्वारा आख्यात-निरूपित रात्रि भोजन परित्याग सहित पांच उत्तम महाव्रतों को मुनिगण धारण करते हैं-स्वीकार करते हैं, पालन करते हैं ।

टीका – पुनरप्युपदेशान्तरमधिकृत्याह - 'अग्रं' वर्यं प्रधानं रत्नवस्त्राभरणादिकं तद्यथा वणिग्भिर्देशान्तराद् 'आहितम्' ढौकितं राजानस्तत्कल्पा ईश्वरादयः 'इह' अस्मिन्मनुष्यलोके 'धारयन्ति' बिभ्रति एवमेतान्यपि महाव्रतानि रत्नकल्पानि आचार्यैराख्यातानि प्रतिपादितानि नियोजितानि 'सरात्रिभोजनानि' रात्रिभोजन विरमणषष्ठानि साधवो बिभ्रति, तुशब्दः पूर्वरत्नेभ्यो महाव्रतरत्नानां विशेषापादक इति, इदमुक्तं भवति यथा प्राधानरत्नानां राजान एव भाजनमेवं महाव्रत रत्नानामपि महासत्वा एव साधवो भाजनं नान्ये इति ॥३॥

टीकार्थ – आगमकार आगे और उपदेश देते हुए प्रतिपादित करते हैं-व्यापारियों द्वारा दूसरे देशों से लाये हुए बहुमूल्य रत्न, वस्तु, अलंकार आदि को नृपतिगण तथा ऐश्वर्यशाली सम्पन्न जन इस लोक में धारण करते हैं, इसी प्रकार आचार्यों द्वारा आख्यात-प्रतिपादित नियोजित रात्रि भोजन विरमण सहित पांच महाव्रत-छः व्रत धारण करते हैं । इस गाथा में 'तु' शब्द पूर्वोक्त रत्नों की अपेक्षा महाव्रत रूपी रत्नों की विशेषता सूचित करता है। इसका अभिप्राय यह है कि जैसे उत्तम-बहुमूल्य रत्नों के राजा ही पात्र होते हैं-वे ही धारण करने योग्य होते हैं उसी प्रकार महाव्रत रूपी रत्नों के महासत्त्व-महान् आत्मबल के धनी साधु ही पात्र होते हैं अन्य नहीं ।

❀ ❀ ❀

जे इह सायाणुगा नरा अज्झोववन्ना कामेहिं मुच्छिया ।
किवणेण समं पगब्भिया, न वि जाणंति समाहिमाहितं ॥४॥

छाया – ये इह सातानुगाः नराः अध्युपपन्नाः कामेषु मूर्च्छिताः ।
कृपणेन समं प्रगल्भिताः नाऽपि जानन्ति समाधिमाख्यातम् ॥

अनुवाद – इस संसार में जो पुरुष सातानुगामी-सुख के पीछे चलने वाले हैं, समृद्धि वैभवादि में अध्युपपन्न-आसक्त हैं तथा विषय भोग में मूर्च्छित हैं, जो कृपण-दयनीय इंद्रिय भोगों में लोलुप जनों के समान है वे धृष्टतापूर्वक विषय वासना के सेवन में लगे रहते हैं । ऐसे लोग समझाये जाने पर भी धर्म ध्यान को आत्मसात नहीं कर पाते ।

टीका – किञ्च ये नरा लघुप्रकृतयः 'इह' अस्मिन् मनुष्यलोके सातं सुखमनुगच्छन्तीति सातानुगा सुखशीला ऐहिकामुष्मिकापायभरवः समृद्धिरससातागौरवेषु 'अध्युपपन्ना गृद्धाः' तथा 'कामेषु' इच्छामदनरूपेषु 'मूर्च्छिता' कामोत्कटतृष्णाः कृपणो दीनो वराकक इन्द्रियैः पराजितस्तेन समाःतद्वत्कामासेवने 'प्रगल्भिताः' धृष्टतां गताः, यदि वा किमनेन स्तोकेन दोषेणासम्यक्प्रत्युपेक्षणादिरूपेणास्मत्संयमस्य विराधनं भविष्य त्येवं प्रमादवन्तः कर्तव्यष्ववसीदन्तः समस्तमपि संयमं पटवन्मणिकुट्टिमवद्धा मलिनी कुर्वन्ति, एवम्भूताश्च ते 'समाधिं' धर्मध्यानादिकम् 'आख्यातं' कथित मपि न जानन्तीति ॥४॥

टीकार्थ – इस मनुष्य लोक में जो मानव लघु प्रकृति-तुच्छ या हीन प्रकृति युक्त होते हैं, एहिक एवं पारलौकिक दुःखों से संत्रस्त होते हुए भौतिक सुखों के पीछे चलते रहते हैं, जो समृद्धि रस साता एवं गौरव में आसक्त रहते हैं-विषय भोगों में उत्कट, तीव्र तृष्णायुक्त हैं, वे इंद्रियों से पराजित-उनके वशीभूत-दीन आत्मबल रहित पुरुष के समान धृष्टतापूर्वक सांसारिक भोगों के सेवन में लगे रहते हैं अथवा जो पुरुष ऐसा समझते हैं कि प्रतिलेखनादि समितियों का भली भांति परिपालन नहीं करना तो एक छोटा सा दोष है। उससे हमारा संयम कैसे नष्ट हो सकता है, ये उनका प्रमाद है । वे इस प्रकार करते हुए रत्नों से खचित प्रांगण की ज्यों निर्मल संयम को मलिन कर डालते हैं । ऐसे लोग कहने पर भी-सावधान किये जाने पर भी धर्मध्यान आदि का महत्त्व नहीं समझते

❀ ❀ ❀

वाहेण जहावविच्छए, अबले होइ गवं पचोइए ।
से अंतसो अप्पथामए, नाइवहइ अबले विसीयति ॥५॥

छाया – वाहेन यथावक्षितोऽबलो भवति गौ प्रचोदितः ।
सोऽन्तसोऽल्पस्थामा नातिवहत्यबलो विषीदति ॥

अनुवाद – जैसे एक गाडीवान एक कमजोर बैल को कोडे या चाबुक से पीटकर चलने को प्रेरित करता है, किंतु वह बैल दुर्बलता के कारण कठिन मार्ग को पार नहीं कर सकता । वह अल्प शक्तियुक्त-कमजोर होने के कारण विषम मार्ग-कीचड़ आदि में फंसकर दुःख पाता है, भार वहन नहीं कर सकता ।

टीका – पुनरप्युपदेशान्तरमधिकृत्याह - 'व्याधेन' लुब्धकेन 'जहा व' त्ति यथा 'गव' न्ति मृगादिपशुर्विविधमनेकप्रकारेण कूटपाशादिना क्षतः पर वशीकृतः श्रमं वा ग्रहितः प्राणोदितोऽप्यबलो भवति, जातश्रमत्वात् गन्तुमसमर्थः, यदिवा वाहयतीति वाहः शाकटिकस्तेन यथावदवहन् गौ विविध प्रतोदादिना क्षतः प्रचोदितोऽप्यबलो विषमपथादौ गन्तुमसमर्थो भवति, 'सचान्तशः' मरणान्तमपि यावदल्पसामर्थ्यो नातीव वोढुं शक्नोति, एवम्भूतश्च 'अबलो' भारं वोढुम समर्थः तत्रैव पङ्कादौ विषीदतीति ॥५॥

टीकार्थ – आगमकार अब इसी विषय में दूसरा उपदेश देते हुए कहते हैं –

मृग आदि पशु शिकारी द्वारा कूटपाश-फंदे आदि के प्रयोग से जब अनेक तरह से घायल हो जाता है-थक जाता है, दुर्बल हो जाता है तब वह अनेक प्रकार से प्रेरित किये जाने पर भी परिश्रांति के कारण चल नहीं सकता अथवा 'वाह' शब्द का अर्थ वहन कराने वाला हैं । यह गाडीवान का बोधक है । जैसे एक गाड़ीवान गाड़ी को यथावत-यथाविधि या ठीक ठीक नहीं चला रहा हो-चाबुक मार मार कर बैल को आगे बढ़ने के लिये प्रेरित करता हो, दुर्बलता के कारण वह बैल विषम-ऊँचे नीचे, उबड़ खाबड़ भाग में चल नहीं सकता वह मरणान्त कष्ट पाकर भी-जी जान लगाकर भी दुर्बलता के कारण उस भार को ढ़ोने में असमर्थ रहता है । वही कीचड़ आदि विषम स्थानों में फंस जाता है और विषाद पाता है, दुःखी होता हैं ।

❀ ❀ ❀

एवं कामेसणं विऊ अज्जसुए पयहेज्ज संथवं ।
कामी कामे ण कामए लद्धेवावि अलद्ध कण्हुई ॥६॥

छाया – एवं कामेषणायां विद्वान् अद्यश्च प्रजह्यात्संस्तवम् ।
कामी कामान्न कामये ल्लब्धान्वाऽप्यलब्धान् कुतश्चित् ॥

अनुवाद – जो पुरुष कामैषणा-विषय वासनामूलक कार्यों की खोज में चतुर-चालाक होता है वह आज या कल कामभोगों का परित्याग कर दे, मात्र ऐसा सोचा जा सकता है किन्तु उनका परित्याग नहीं कर सकता । अतः काम भोग की कामना करनी ही नहीं चाहिये । जो कामभोग प्राप्त हैं उनको अप्राप्त की ज्यों मानकर उनके प्रति निस्पृह-निराकांक्ष हो जाना चाहिये ।

टीका – दार्ष्टान्तिक माह - 'एवम्' अनन्त रोक्तया नीत्या कामानां शब्दा दीनां विषयाणां या गवेषणा प्रार्थना तस्यां कर्त्तव्यायां 'विद्वान' निपुणः काम प्रार्थना सक्तः शब्दादिपङ्के मग्नः स चैवंभूतोऽद्यश्वो वा संस्तवं परिचयं काम सम्बन्धं प्रजह्यात् किलेति, एव मध्यवसाय्येव सर्वदाऽवतिष्ठते न च तान् कामान् अबलो बलीवर्दवत् विषमं मार्गं त्युक्तु मलं, किञ्च-नचैहिकामुष्मिकापायदर्शितया कामीभूत्वोपनतानपि कामान् शब्दादिविषयान् वैरस्वामिजम्बूनामादिवद्वाकामयेद भिलषेदिति, तथा क्षुल्लककुमारवत् कुत श्चिन्निमित्तात् "सुट्ठुगाइय" मित्यादिना प्रतिबुद्धो लब्धानपि प्राप्तानपि कामान् अलब्धसमान् मन्यमानो महासत्त्वतया तन्निस्पृहो भवेदिति ॥६॥

टीकार्थ – आगमकार पूर्व वर्णित दृष्टान्त का सार बतलाते हुए निरूपित करते हैं –

जैसा पहले वर्णन किया गया-जो पुरुष शब्दादि इंद्रिय संबंधी भोगों की गवैषणा में निपुण-चतुर या चालाक होता है अर्थात् काम की अभ्यर्थना में आसक्त होता है, वह शब्द आदि विषयों के कीचड़ में फंस जाता है, वह आज या कल काम भोग को त्याग दे-ऐसा विचार मात्र किया जा सकता है किंतु कमजोर बैल जैसे विषम मार्ग को नहीं छोड़ सकता, उसी प्रकार वह काम भोगों का त्याग नहीं कर सकता । कामयुक्त-काम्य पदार्थों की सुविधायुक्त होकर भी ऐहिक और पारलौकिक कष्टों को देखता हुआ महासत्व-आत्मबलयुक्त पुरुष प्राप्त शब्दादि इंद्रिय भोगों की उसी प्रकार इच्छा न करे जैसा जम्बूस्वामी एवं वज्रस्वामी आदि ने किया था । किसी भी निमित्त से प्रतिबोध प्राप्त छुल्लक कुमार की ज्यों प्राप्त विषय भोगों को अप्राप्त के समान समझकर वह उनसे निस्पृह, निराकांक्ष रहे-उनकी चाह न करे ।

❀ ❀ ❀

मा पच्छ असाधुता भवे, अच्चेही अणुसास अप्पगं ।
अहियं च असाहु सोयती से थणति परिदेवती बहु ॥७॥

छाया – मा पश्चादसाधुता भवे दत्येह्यनुशाध्यात्मानम् ।
अधिकञ्चासाधुः शोचते स स्तनति परिदेवतेबहु ॥

अनुवाद – मृत्यु के पश्चात् बुरी गति प्राप्त न हो, यह सोचकर मानव सांसारिक भोगों से अपनी आत्मा को दूर कर दे और उसे यह शिक्षा दे कि वैसा करने वाला असाधु-साधनारहित धर्मानुष्ठान विवर्जित पुरुष बहुत शोक करता है-विलाप करता है, चिल्लाता है ।

टीका – किमिति काम परित्यागो विधेय इत्याशङ्क्याह-मा पश्चात् मरणकाले भवान्तरे वा कामानुषङ्गाद् असाधुता कुमतिगमनादिरूपाभवेत् प्राप्नुयादिति, अतो विषयासङ्गादात्मानम् अत्येहि त्याजय तथा आत्मानञ्च अनुशाधि आत्मनोऽनुशास्तिं कुरु तथा हे जीव ! यो हि असाधुः असाधुकर्मकारी हिंसाऽनृतस्तेयादौ प्रवृत्तः सन् दुर्गतौ पतितः अधिकम्अत्यर्थमेव शोचति स च परमाधार्मिकैः कदर्थ्यमानः तिर्य्यक्षुवः क्षुधादिवेदनाग्रस्तोऽत्यार्थं स्तनति सशब्दं निःश्वसिति तथा परिदेवते विलपति आक्रन्दति सुंवह्विति हा मातर्म्रियत इति, त्राता नैवाऽस्ति साम्प्रतं कश्चित् किं शरणं मे स्यादिह दुष्कृतचरितस्य पापस्य । इत्येवमादीनि दुःखान्यसाधुकारिणः प्राप्नुवन्तीत्यतो विषयानुषङ्गो न विधेय इत्येव मात्मनोऽनुशासनं कुर्विति सम्बन्धनीयम् ॥७॥

टीकार्थ – काम वासना का परित्याग क्यों करना चाहिये । इसका निराकरण करते हुए आगमकार कहते हैं -

काम भोगों में आसक्ति युक्त-तन्मय रहने के कारण मरणकाल में तथा दूसरे भव में दुर्गति न हो, घोर यातना न भोगनी पड़े, इस हेतु विषय वासनाओं से अपने को पृथक् रखना चाहिये । अपनी आत्मा को इस प्रकार जागृत करना चाहिये कि-हे आत्मन् ! जो हिंसा, असत्य, चोरी आदि असत् कर्म करता है वह असाधु-अनाचार युक्त पुरुष बुरी गति में-नरक में जाकर परमाधार्मिक देवों द्वारा उत्पीडित किया जाता है, अत्यन्त शोकान्वित होता है । वह तिर्यञ्च योनि पाकर भूख से व्याकुल रहता हुआ अत्यन्त क्रंदन करता है, तथा रोता हुआ विलाप करता हुआ कहता है-माँ ! मैं मर रहा हूँ । इस समय ऐसा कोई नहीं है जो मेरी रक्षा करें । मैंने बहुत पाप किया है । मुझ पापी को इस समय कौन शरण-त्राण दे सकता है । पापकर्मा पुरुष इस प्रकार अत्यन्त दुःख भोगते हैं । अतएव विषय संसर्ग नहीं करना चाहिये । अपनी आत्मा को ऐसी शिक्षा दो ।

❀ ❀ ❀

इह जीविय मेव पासहा, तरुण एवा (णेवा) ससयस्स तुट्टती ।
इतर वासे य बुज्झह गिद्धनरा कामेसु मुच्छिया ॥८॥

छाया – इह जीवितमेव पश्यत तरुण एव वर्षशतस्य त्रुटयति ।
इत्वरवासञ्च बुध्यध्वं गृद्धनराः कामेषु मूर्च्छिना ॥

अनुवाद – इस मनुष्य लोक में अपने जीवन की ओर देखो । एक मनुष्य शतायु होकर के भी युवावस्था में ही टूट जाता है-मर जाता है । यह जीवन थोड़े के समय का निवास है, ऐसा समझो। यह सब देखते हुए गृद्ध-अत्यन्त लोलुप क्षुद्र जन ही विषय भोग में मूर्च्छित-आसक्त रहते हैं ।

टीका – किञ्च इह अस्मिन् संसारे आस्तां तावदन्यज्जीवितमेव सकलसुखास्पदमनित्यताघ्रातम् आवीचिमरणेन प्रतिक्षणं विशरारुस्वभावं, तथा सर्वायुःक्षय एव वा तरुण एव वा युवैव वर्षशतायुरप्युपक्रमतोऽध्यसान निमित्तादिरुपादायुषः त्रुट्यति प्रच्यवते यदिवा साम्प्रतं सुवहवप्यायुर्वर्षशतं तच्च तस्य तदन्ते त्रुट्यति तच्च सागरोपमापेक्षया कतिपयनिमेष प्रायत्वात् इत्वरवासकल्पं वर्तते स्तोकनिवासकल्पमित्येवं बुध्यध्वं यूयं तथैवंभूतेऽप्यायुषि नराः पुरुषाः लघुप्रकृतयः कामेषु शब्दादिषु विषयेषु गृद्धा अध्युपपन्नाः मूर्च्छिताः तत्रैवासक्तचेतसो नरकादियातनास्थान माप्नुवन्तीति शेषः ॥८॥

टीकार्थ – इस जगत में और चीजों की बात ही क्या ? पहले अपने जीवन की तरफ देखो। जो सब सुखों का स्थान है, जिस पर सभी सुख टिके हुए हैं, यह जीवन अनित्य है । आवीचि मरणवत-समुद्र की तरंगे जैसे प्रतिक्षण ऊपर उठती जाती है, नष्ट होती जाती है, उसी प्रकार प्रतिक्षण आयुष्य नष्ट होता है। समग्र आयु क्षीण हो जाने पर अथवा अध्यवसान-निमित्त स्वरूप उपकरण के कारण कोई सौ वर्ष की आयु वाला पुरुष भी जवानी में ही चला जाता है, अथवा इस मनुष्य लोक में सबसे दीर्घ आयु सौ वर्ष की मानी जाती है, वह भी सौ वर्ष बीत जाने पर समाप्त हो जाती है । वह सागरोपमकाल की तुलना में एक निमिष के तुल्य ही है । इसलिये यह संसार थोड़े दिनों के आवास के सदृश है-ऐसा समझो । आयु की जब ऐसी स्थिति है तो लघु प्रकृति-हीन या तुच्छ स्वभावयुक्त व्यक्ति ही इन शब्दादि इंद्रिय विषयों में मूर्च्छित रहते हैं-आसक्त रहते हैं । फलतः नरक आदि यातना स्थानों में दुर्गति में जाते हैं ।

❀ ❀ ❀

जे इह आरंभनिस्सिया, आतदंडा (ड) एगंतलूसगा ।
गंता ते पावलोगयं, चिररायं आसुरियं दिसं ॥९॥

छाया – य इह आरंभनिश्रिता आत्मदण्डा एकान्तलूषकाः ।
गंतारस्ते पापलोककं चिररात्र मासुरीं दिशम् ॥

अनुवाद – इस संसार में जो पुरुष आरंभ निसृत-हिंसा आदि आरंभ समारंभ में आसक्त आत्मदण्ड-पापकर्मों द्वारा आत्मा के लिये दंडप्रद, दुःखप्रद तथा एकान्ततः जीव हिंसक हैं, वे चिरकाल तक पापमय लोकों में जाते हैं । असुर अथवा (यदि बाल तप का आचरण किया हो तो) देव योनि में भी वे असुर नामक निम्न कोटि के देवता होते हैं ।

टीका – अपि च ये केचन महामोहाकुलितचेतसः इह अस्मिन् मनुष्य लोके आरम्भे हिंसादि के सावद्यानुष्ठानरूपे निश्चयेन श्रिताः संबद्धा अध्यपपन्नास्ते आत्मानं दण्डयन्तीत्यात्मदण्डकाः तथैकान्तेनैवजन्तूनां लूषकाः हिंसकाः सदनुष्ठानस्य वा ध्वंसकाः ते एवंभूताः गन्तारो यास्यन्ति पापं' लोकं पापकारिणां यो लोको नरकादिः चिररात्रम् इति प्रभूतं कालं तन्निवासिनो भवन्ति तथा बालतपश्चरणादिना यद्यपि तथाविधदेवत्वापत्तिः तथापि असुराणामियमासुरीतां दिशं यान्ति अपरप्रेष्याः किल्विषिकाः देवाधमाः भवन्तीत्यर्थः ॥९॥

टीकार्थ – महामोह से जिनका चित्त आकुलित है, वे इस मनुष्य लोक में सावद्य-पापयुक्त हिंसा आदि कार्यों में निश्चय ही आसक्त रहते हैं, वे अपनी आत्मा को दण्डित करते हैं-असत् कर्मों द्वारा दुःखित बनाते हैं । एकान्त रूपेण वे प्राणियों के प्राण लूटते हैं, हिंसक हैं । वे सत् अनुष्ठान-उत्तम कार्यों के विध्वंसक-

नाशक हैं । वे नरक आदि पापी जनों के स्थानों-लोकों में जाते हैं । वे वहां दीर्घकाल तक निवास करते हैं। यदि वे बालतपश्चरण-अज्ञानपूर्ण तपस्या आदि के प्रभाव से देवत्व भी प्राप्त करते हैं तो वे असुर विषयक दिशा को ही जाते हैं अर्थात् वे अन्य देवों के प्रेष्य-नौकरों के रूप में निम्न कोटि के किल्विषिक देव होते हैं ।

❀ ❀ ❀

ण य संखय माहु जीवितं तहवि य बालजणो पगब्भई ।
पच्चुप्पन्नेन कारियं, को दट्ठुं परलोय मागते ॥१०॥

छाया – न च संस्कार्य्य माहु जीवितं तथापि च बालजनः प्रगल्भते ।
प्रत्युत्पन्ने कार्य्यं को दृष्ट्वा परलोक मागतः ॥

अनुवाद – ज्ञानियों-सर्वज्ञ पुरुषों ने बताया है कि यह जीवन संस्कार करने योग्य-साधने योग्य नहीं है, फिर भी बालजन-अज्ञानी लोग पाप कार्य करने में प्रगल्भ बने रहते हैं-बड़ी धृष्टता करते हैं। वे ऐसा कहते हैं कि हमको तो वर्तमान के सुखों से ही प्रयोजन है, परलोक को देखकर यहाँ कौन आया है-किसने परलोक को देखा है ।

टीका – किञ्च न चे नैव त्रुटितं जीवितमायुः संस्कर्त्तुं संधातुं शक्यते एवमाहुः सर्वज्ञाः तथाहि-'दण्डकलियं' करिन्ता वच्चंति हु राइओ य दिवसा य । आउं संवेल्लंता गता य ण पुणो निवत्तंति''॥१॥

तथापि एवमपि व्यवस्थिते जीवानामायुषि बालजनो अज्ञो लोको निर्विवेकतया असदनुष्ठाने प्रवृत्तिं कुर्वन् प्रगल्भते धृष्टतां याति असदनुष्ठानेनाऽपि न लज्जत इत्यर्थः सचाज्ञो जनः पापानि कर्माणि कुर्वन् परेण चोदितो धृष्टतया अलीकपाण्डित्याभिमानेनेदमुत्तरमाह-प्रत्युत्पन्नेन वर्तमान कालभाविना परमार्थसता अतीतानागतयोर्विनष्टानुत्पन्नत्वेनाविद्यमानत्वात् कार्य्यं प्रयोजनं प्रेक्षापूर्वकारिभिस्तदेव प्रयोजनसाधकत्वादादीयते, एवञ्च सतीहलोक एव विद्यते न परलोक इति दर्शयति कः पर लोकं दृष्ट्वेहायातः तथा चोचुः-

पिव खाद च साधु शोभने !यदतीतं वरगात्रि ! तन्न ते । नहि भीरु !गतं निवर्तते समुदयमात्रमिदं कलेवरम् ॥१॥

तथा एतावानेव पुरुषो यावानिन्द्रियगोचरः । भद्रे वृकपदं पश्य यद् वदन्त्यबहुश्रुताः ॥२॥इति॥१०॥

टीकार्थ – सर्वज्ञ पुरुषों ने बतलाया है कि त्रुटित-टूटी हुई आयु जोड़ी नहीं जा सकती । कहा जाता है कि-दिन और रात्रि, दण्ड और घड़ी के प्रमाण से आयु को क्षीण करते जाते हैं । जो आयु बीत जाती है, वह फिर लौटकर नहीं आती । यद्यपि प्राणियों की आयु की ऐसी अवस्थिति है, तो भी अज्ञान और अविवेक के कारण जीव अशुभ कर्मों के अनुष्ठान में लगा रहता है । प्रगल्भता पूर्वक-धृष्टता के साथ पाप पूर्ण प्रवृत्तियों में लगे रहते हैं । वे अशुभ कर्मों को करते हुए भी लज्जित नहीं होते । वैसा करते उन्हें जरा भी संकोच नहीं होता । उन पाप कर्मा पुरुषों को वैसे पाप कार्य करते हुए देखकर यदि कोई व्यक्ति उन्हें वैसा न करने की शिक्षा देता है तो वे अपने झूठे पांडित्य का घमण्ड करते हुए जवाब देते हैं कि-हमको तो वर्तमान काल से मतलब है क्योंकि वर्तमान काल में जो पदार्थ हैं वे ही वास्तव में सत्य है । भूत और भविष्य के पदार्थ सत्य नहीं है । भूतकाल के पदार्थ विनष्ट हैं और भविष्य के अनुत्पन्न है । अतः वे दोनों ही अविद्यमान हैं । बुद्धिमान व्यक्ति वर्तमान के पदार्थों को ही मानते हैं क्योंकि उन्हीं से उनके प्रयोजन सिद्ध होते हैं । अतएव उनका कथन है कि यह लोक ही सत् है-वास्तव में इसी का अस्तित्त्व हैं । परलोक के होने में कोई प्रमाण नहीं है । कौन

परलोक को देखकर आया है । उन्होंने श्लोक भी कहा है-हे शोभने ! सुन्दर देहशीले ! उत्तमोत्तम पदार्थ खाओ, पीओ आनन्द करो । जो व्यतीत हो गया वह तुम्हारा नहीं है । हे भोली ! गई हुई वस्तु वापस लौटकर नहीं आती तथा यह शरीर भी पांच महाभूतों का समुदाय मात्र है । इसलिये हे भद्रे ! जितना दृष्टिगोचर होता है, उतना ही यह पुरुष है, आत्मा है । लोक है । परन्तु अबहुश्रुत-अज्ञानी लोग जिस प्रकार पृथ्वी पर मनुष्य के पदचिह्न को अंकित देखकर भेड़िये के पद चिह्न की असत्य कल्पना करते हैं ।

❀ ❀ ❀

अदक्खुव दक्खुवाहियं, (तं) सद्दहसु अदक्खुदंसणा ।
हंदि हु सुनिरुद्धदंसणो मोहणिज्जेण कडेण कम्मुणा ॥११॥

छाया – अपश्यवत् ! पश्य व्याहृतं श्रद्धत्स्व अपश्य दर्शन ।
गृहाण सुनिरुद्ध दर्शनः मोहनीयेन कृतेन कर्मणा ॥

अनुवाद – हे अपश्यवत-चक्षु रहित अंधतुल्य अज्ञानी पुरुष तुम सर्वदृष्टा, सर्वज्ञाता भगवान द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों में श्रद्धा करो, श्रद्धाशील बनो, अपश्यदर्शन-असर्वज्ञ पुरुषों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को स्वीकार करने वाले पुरुषों, अपने आप द्वारा किये गये कर्म से जिसकी सम्यक् ज्ञानात्मक दृष्टि अवरुद्ध हो गई है वे सर्वज्ञ प्रतिपादित दर्शन-सिद्धान्तों को नहीं मानते, इसे समझो ।

टीका – एवमैहिकसुखाभिलाषिणा परलोकं निन्हुवानेन नास्तिकेन अभिहिते प्रत्युत्तरप्रदानायाह-पश्यतीति पश्यो न पश्योऽपश्योऽन्धस्तेन तुल्यः कार्य्यकार्य्याविवेचित्वाद-धवत्त स्यामंत्रणं हेऽपश्यवत् अन्धसदृश ! प्रत्यक्षस्यैवैकस्याभ्युपगमेन कार्य्याकार्य्यानभिज्ञ ! पश्येन सर्वज्ञेन व्यहृतम् उक्तं सर्वज्ञानगमं श्रद्धत्स्व प्रमाणीकुरु प्रत्यक्षस्यैवैकस्याभ्युपगमेन समस्तव्यवहार विलोपेनहन्त हेतोऽसि, पितृ निबन्धन स्याऽपि व्यवहारस्यासिद्धेरिति तथा अपश्यकस्य असर्वज्ञस्याभ्युपगतं दर्शनं येनासावपश्यकदर्शनस्तस्याऽऽमन्त्रणं हेऽपश्यकदर्शन ! स्तवोऽर्वाग्दर्शी भवांस्तथाविधदर्शनप्रमाणश्च सन् कार्य्याकार्य्याविवेचितया अन्धवदभविष्यद् यदि सर्वज्ञाभ्युपगमं नाकरिष्यत् यदि वा अदक्षो वा अनिपुणो वा दक्षो वा निपुणो वा यादृश स्तादृशो वा अचक्षुर्दर्शनमस्यासावचक्षुर्दर्शनः केवलदर्शनः सर्वज्ञस्तस्याद्यदवाप्यते हितं तत् श्रद्धत्स्व इदमुक्तं भवति अनिपुणेन निपुणेन वा सर्वज्ञदर्शनोक्तं हितं श्रद्धातव्यम्। यदिवा हेऽदृष्ट ! हे अर्वाग्दर्शन ! द्रष्ट्रा अतीतानागतव्यवहितसूक्ष्मपदार्थदर्शिना यद् व्याहृतम् अभिहितम् आगमे तत् श्रद्धत्स्व हे अदृष्टदर्शन ! अदक्षदर्शन ! इति वा असर्वज्ञोक्तशासनानुयायिन् । तमात्मीयमाग्रहं परित्यज्य सर्वज्ञोक्ते मार्गे श्रद्धानं कुर्विति तात्पर्य्यार्थ । किमिति सर्वज्ञोक्ते मार्गे श्रद्धानमसुमान्न करोति येनैवमुपदिश्यते? तिन्निमित्तमाह-हंदीत्येवंगृहाण हु शब्दो वाक्यालङ्कारे सृष्टु अतिशयेन निरुद्ध मावृतं दर्शनं सम्यगवबोधरूपं यस्य स तथा केनेत्याह-मोहयतीति मोहनीयं मिथ्यादर्शनादि ज्ञानावरणादिकं वा तेन स्वकृतेन कर्मणा निरुद्ध दर्शनः प्राणी सर्वज्ञोक्तं मार्गं न श्रद्धते अतः सन्मार्ग श्रद्धानम्प्रति चोद्यत इति ॥११॥

टीकार्थ – सांसारिक सुख की अभिप्सा करने वाले तथा परलोक को असत्य कहने वाले नास्तिकवादी के कथन का उत्तर देते हुए आगमकार कहते हैं -

जो देखता है, उसे पश्य कहा जाता है । जो नहीं देखता-अन्धा है उसे अपश्य कहा जाता है । जो पुरुष कार्य-करने योग्य, अकार्य-न करने योग्य के विवेचित्व-विचार या चिन्तन से शून्य है, वह एक अंधे

के समान है । वैसे पुरुष को संबोधित कर कहा गया है कि हे अन्ध तुल्य पुरुष ! एकमात्र प्रत्यक्ष को प्रमाण मानने के कारण कार्य और अकार्य के ज्ञान से रहित पुरुष तुम सर्वज्ञ द्वारा व्याहृत-निरुपित आगमों में श्रद्धाशील बनो । एकमात्र प्रत्यक्ष को ही प्रमाण के रूप में स्वीकृत करने से समस्त व्यवहार लुप्त हो जाते हैं फिर तुम्हारा स्वयं का क्या अस्तित्व होगा क्योंकि प्रत्यक्ष को ही एक मात्र प्रमाण स्वीकार करने पर कौन किसका पिता है, कौन किसका पुत्र है इत्यादि व्यवहार भी नहीं टिक सकता । असर्वज्ञपुरुष द्वारा कथित दर्शन को स्वीकार करने वाले ! पहले पहल तो ऐसा है तुम स्वयं अर्वागदर्शी-मात्र सम्मुखीन पदार्थ को देखने वाले हों, उस पर भी मात्र एक प्रत्यक्ष को ही प्रमाण रूप में स्वीकार करने वाले दर्शन में विश्वास करते हो, ऐसी स्थिति में यदि तुम सर्वज्ञ द्वारा प्रतिपादित आगम को स्वीकार नहीं करोगे तो कार्य तथा अकार्य की विवेचिता-विवेक से रहित होकर नेत्रहीन पुरुष के तुल्य हो जाओगे अथवा हे अन्य दर्शन में आस्थाशील पुरुष ! चाहे तुम अदक्ष-दक्षता या निपुणता रहित हो अथवा दक्ष-दक्षता या निपुणता सहित हो, कैसे भी क्यों न हो, तुमको अचक्षुदर्शन-केवल दर्शन एवं केवल्य ज्ञान के धनी पुरुष द्वारा जो हित-आत्म कल्याण का मार्ग प्राप्त है उसमें श्रद्धा करनी चाहिये । कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य निपुण हो या अनिपुण हो, सर्वज्ञ द्वारा प्ररुपित हितमय-कल्याणप्रद दर्शन में श्रद्धा रखनी चाहिये । अथवा हे अदृष्ट-अर्वागदर्शिन ! अतीत-भूत, अनागत-भविष्य व्यवधानयुक्त तथा सूक्ष्म पदार्थों के दृष्टा सर्वज्ञ पुरुष ने जो व्याहृत-अभिहित किया है उसमें श्रद्धाशील बनो । हे अदृष्ट दर्शन! हे अदक्ष दर्शन ! असर्वज्ञों द्वारा प्रतिपादित दर्शन का अनुसरण करने वाले! तुम अपने आग्रह का परित्याग कर सर्वज्ञ द्वारा भाषित मार्ग में श्रद्धा करो । यह तात्पर्यार्थ है ।

कहते हैं प्राणी सर्वज्ञ द्वारा भाषित मार्ग में श्रद्धा क्यों नहीं करता जिसे उदिष्टकर इस प्रकार उपदेश कर रहे हो । इसका कारण बताते हुए आगमकार कहते हैं-यहां गाथा में 'हु' शब्द वाक्यालंकार के अर्थ में आया है । जिस पुरुष का दर्शन, सम्यक्ज्ञान अत्यन्त अवरुद्ध हो गया है उसे निरुद्ध दर्शन कहा जाता है । फिर प्रश्न उठाते हैं कि किसके द्वारा उसका ज्ञान अवरुद्ध हो गया है । फिर प्रश्न उठाते हैं कि किसके द्वारा उसका ज्ञान अवरुद्ध हो गया है । उसका समाधान करते हुए कहते हैं कि प्राणी जिससे मोह मूढ़ बनते हैं, उस मिथ्या दर्शन आदि तथा ज्ञानावरणीयादि स्वकृत कर्मों द्वारा जिसका ज्ञान अवरुद्ध हो गया वह सर्वज्ञ भाषित मार्ग में श्रद्धाशील नहीं होता । अतः आगमकार उस मार्ग में श्रद्धा करने की प्रेरणा देते हैं ।

❀ ❀ ❀

दुक्खी मोहे पुणो पुणो, निव्विंदेज्ज सिलोगपूयणं ।
एवं सहितेऽहिपासए आयतुले पाणेहिं संजए ॥१२॥

छाया – दुःखी मोहं पुनः पुनर्निर्विन्देत श्लोकपूजनम् ।
एवं सहितोऽधिपश्येद् आत्मतुल्यान् प्राणान् संयतः ॥

अनुवाद – दुःखयुक्त प्राणी पुनः पुनः मोहमूढ़ बनता है । साधु अपने श्लोक-कीर्ति, स्तुति, पूजा-सम्मान का परित्याग कर दे । ज्ञान आदि से युक्त संयताचारी साधु सभी प्राणियों को आत्मतुल्य-अपने समान समझे ।

टीका – पुनरप्युपदेशान्तरमाह-दुःखम् असातवेदनीयमुदयप्राप्तं तत्कारणं वा दुःखयतीति दुःखं तदस्याऽस्तीति दुःखी सन् प्राणी पौनः पुन्येन मोहं याति सदसद्विवेकविकलो भवति । इदमुक्तं भवति-असातोदयाद् दुःखमनुभवन्नार्त्तो

मूढस्तत्तत्करोति येन पुनः पुनः दुःखी संसारसागरमनन्तमभ्येति, तमेवंभूतं मोहं परित्यज्य सम्यगुत्थानेनोत्थायनिर्विद्येत जुगुप्सयेत् परिहरेदात्मश्लाघां स्तुतिरूपां तथा पूजनं वस्तादि लाभरूपं परिहरेद् एवमनन्तरोक्तया नीत्या प्रवर्तमानः सह हितेन वर्तत इतिसहितो ज्ञानादियुक्तो वा संयतः प्रव्रजितोऽपरप्राणिभिः सुखार्थिभिः आत्मतुलामात्मतुल्यतां दुःखाप्रियत्व सुख प्रियत्वरूपामधिकं पश्येत्, आत्म तुल्यान् सर्वानपि प्राणिनः पालयेदिति ॥१२॥

टीकार्थ – शास्त्रकार पुनः दूसरे प्रकार से प्रतिपादित करते हैं -

जो असातावेदनीय कर्म उदयावस्था को प्राप्त होते हैं उन्हें दुःख कहा जाता है अथवा उसका कारण दुःख कहा जाता है । जो प्राणी को अप्रिय या बुरा लगता है, वह उसे दुःख समझता है । वह दुःख जिसे होता हो वह प्राणी दुःखी कहा जाता है । दुःखित प्राणी पुनःपुनः मोहमूढ बनता है, वह सत्, असत् के विवेक से रहित होता है, कहने का अभिप्राय यह है कि असातवेदनीय कर्म के उदय से पीडित होकर मोह मूढ जीव ऐसा कर्म करता है, जिससे वह पुनः पुनः दुःख प्राप्त करता है । जिसका कोई अंत नहीं ऐसे संसार सागर को प्राप्त करता है, उसमें भटकता है । अतः विवेकशील पुरुष इस प्रकार के मोह का परित्याग कर सम्यक् उत्थान से उत्थित होकर-सम्यकज्ञान के बल पर सच्चर्याशील बनकर अपनी स्तवना-प्रशंसा वस्त्रादि द्वारा मान सम्मान आदि का परित्याग करे ।

इस पूर्वोक्त रीति-पद्धति से प्रवृत्त होता हुआ अपने आत्मकल्याण में लीन रहता हुआ ज्ञानादि सम्पन्न साधु अन्य सभी प्राणियों को अपनी आत्मा के समान ही सुखप्रिय लगते हैं तथा दुःख अप्रिय लगते हैं-ऐसा समझे । कहने का अभिप्राय यह है कि साधु सभी प्राणियों को अपने तुल्य ही सुखप्रिय तथा दुःखद्वेषी माने, उनका पालन करे-हिंसादि द्वारा हानि न पहुँचाये ।

❀ ❀ ❀

गारं पिअ आवसे नरे, अणुपुव्वं पाणेहिं संजए ।
समता सव्वत्थ सुव्वते देवाणं गच्छे स लोगयं ॥१३॥

छाया – अगार मप्यावसन्नर आनुपूर्व्या प्राणेषु संयतः ।
समतां सर्वत्र सुव्रतो देवानां गच्छेत्स लोकम् ॥

अनुवाद – जो पुरुष अगार-गृह में निवास करता हुआ भी क्रमशः आगार धर्म को प्राप्त करता हुआ-श्रमणोपासक के व्रतों को ग्रहण करता हुआ प्राणियों की हिंसा से पृथक् होता है, निवृत्त होता है, वह सर्वत्र समत्वभाव रखता है । वैसा उत्तम व्रत युक्त पुरुष देवताओं के लोक में जाता है ।

टीका – किञ्च अगारमपि गृहमप्यावसन् गृह वासमपि कुर्वन् नरो मनुष्यः अनुपूर्वमिति आनुपूर्व्या श्रवणधर्मप्रतिपत्त्यादिलक्षणया प्राणिषु यथा शक्त्या सम्यक् यतः संयत तदुपमर्दान्निवृत्तः किमिति ? यतः समता स्वभावः आत्मपरतुल्यता सर्वत्र यतौ गृहस्थे च यदि वैकेन्द्रियादौ श्रूयतेऽभिधीयते आर्हते प्रवचने, ताञ्च कुर्वन् स गृहस्थोऽपि सुव्रतः सन् देवानां पुरन्दरादीनां लोकं स्थानं गच्छेत्, किं पुन र्यो महासत्त्वतया पञ्चमहाव्रतधारी यतिरिति ॥१३॥

टीकार्थ – जो पुरुष घर में भी निवास करता हुआ-गृहस्थ जीवन में भी रहता हुआ क्रमशः श्रावक धर्म को स्वीकार करता है, यथाशक्ति-अपने सामर्थ्य अनुरूप प्राणियों की हिंसा से विरत होता है, आर्हत प्रवचनोक्त-

सर्वज्ञ निरूपित सिद्धान्तानुसार जो यति-साधु गृहस्थ से लेकर एकेंद्रिय प्राणियों तक- सबके प्रति समता समत्व भाव रखता है वह उत्तम व्रत युक्त पुरुष गृहस्थ होता हुआ भी इन्द्रादि देवों के लोक में जाता है । फिर उन साधुओं का तो कहना ही क्या जो पंचमहाव्रत पालक है । महासत्व- आत्म पराक्रम के महान धनी हैं ।

❀ ❀ ❀

सोच्चाभगवाणुसासणं सच्चे तत्थ करेज्जुवक्कमं ।
सव्वत्थ विणीयमच्छरे उच्छं भिक्खु विसुद्धमाहरे ॥१४॥

छाया – श्रुत्वा भगवदनुशासनं सत्ये तत्र कुर्य्यादुपक्रमम् ।
सर्वत्र विनीतमत्सरः उञ्छं भिक्षु र्विशुद्ध माहरेत् ॥

अनुवाद – भगवान-सर्वज्ञ प्रभु द्वारा प्ररूपित अनुशासन-धर्म सिद्धान्त श्रवण कर उसमें बताये गये सत्य संयम में उपक्रमशील-समुद्यत होना चाहिये । किसी के साथ मत्सर-ईर्ष्या नहीं करनी चाहिये, इस प्रकार वर्तनशील साधु को शुद्ध आहार ग्रहण करना चाहिये ।

टीका – अपि च ज्ञानैश्वर्य्यादिगुणसमन्वितस्य भगवतः सर्वज्ञस्य शासनम् आज्ञामागमं वा श्रुत्वा अधिगम्य तत्र तस्मिन्नागमे तदुक्ते वा संयमे सद्भ्यो हिते सत्ये लघुकर्मा तदुपक्रमं तत्प्राप्त्युपायं कुर्य्यात्, किंभूतः सर्वत्रापनीतो मत्सरो येन स तथा सोऽरक्तद्विष्टः क्षेत्रव (वा) स्तूपधिशरीरनिष्पिपासः, तथा उच्छंन्ति भैक्ष्यं विशुद्धं द्विचत्वारिंशद्दोषरहितमाहरं गुह्णीयादभ्यवहरेदिति ॥१४॥

टीकार्थ – ज्ञान, ऐश्वर्य आदि गुणों से समन्वित-सहित, सर्वज्ञप्रभु के द्वारा उपदिष्ट आगम या आज्ञा का श्रवण कर लघु कर्मी-हलुकर्मी पुरुष सत्पुरुषों के लिये हितप्रद उस आगम या आगमोक्त संयम पथ को अंगीकार करने का उपक्रम-उद्यत-या उपाय करे । यह प्रश्न उठाते हुए कि कैसा उपक्रम करे? कहा जाता है सभी पदार्थों में मत्सर-ईर्ष्या रहित, क्षेत्र, घर, उपधि एवं शरीर आदि में तृष्णा विवर्जित एवं समस्त पदार्थों में रागद्वेष शून्य होकर संयम में उद्यमशील बने, साधु बयालीस प्रकार के दोषों से रहित शुद्ध आहार ग्रहण करे सेवन करे ।

❀ ❀ ❀

सव्वं नच्चा अहिट्ठए धम्मट्ठी उनहाणवीरिए ।
गुत्ते जुत्ते सदा जए आयपरे परमायतट्ठिते ॥१५॥

छाया – सर्वं ज्ञात्वाऽधितिष्ठेत् धर्मार्थ्युपधानवीर्य्यः ।
गुप्तो युक्तः सदा यतेतात्मपरयोः परमायतस्थितः ॥

अनुवाद – साधु समग्र पदार्थों को जानकर अर्हत् प्ररूपित-सर्वसंवर मूलक धर्म का आश्रय ले। धर्म को ही अपने जीवन का प्रयोजन-परम लक्ष्य माने । तपश्चरण में अपनी शक्ति प्रगट करे । मानसिक वाचिक एवं शारीरिक प्रवृत्तियों को असत् कर्मों से बचाये रके । वह सदैव स्वपर कल्याण में यत्नशील रहे । अन्ततः मोक्ष की अभिलाषा रखे ।

टीका – किञ्च सर्वमेतद्धेयमुपादेयञ्च ज्ञात्वा सर्वज्ञोक्तं मार्गं सर्वं संवररूपम् अधितिष्ठेत् आश्रयेत् धर्मेणार्थो धर्म एव वाऽर्थः परमार्थेनान्यस्यानर्थरूपत्वात् धर्मार्थः स विद्यते यस्यासौ धर्मार्थी धर्मप्रयोजनवान्

उपधानं तपस्तत्र वीर्य्यं यस्य स तथा अनिगूहित बलवीर्य्य इत्यर्थः तथा मनोवाक्कायगुप्तः सुप्रणिहितयोग इत्यर्थः तथा युक्तो ज्ञानादिभिः सदा सर्वकालं यतेताऽऽत्यनि परस्मिंश्च । किंविशिष्टः सन् ? अत आह परम् उत्कृष्ट आयतो दीर्घः सर्वकालभवनान्मोक्षः तेनार्थिकः तदभिलाषी पूर्वोक्त विशेषणविशिष्टो भवेदिति ॥१५॥

टीकार्थ – साधु हेय-त्यागने योग्य उपादेय-स्वीकार करने योग्य पदार्थों को जानकर सर्वसंवर रूप धर्म मार्ग को ग्रहण करे, जो सर्वज्ञों द्वारा उपदिष्ट है । वह धर्म को ही अपने जीवन का प्रयोजन-ध्येय समझे अथवा वह धर्म को ही एकमात्र अर्थ-जीवन के लिये वास्तविक पदार्थ समझे क्योंकि धर्म के अतिरिक्त अन्य सभी अनर्थ है-आत्मा के लिये अप्रयोजन भूत है । उपधान तप का नाम है । साधु उसमें अपना पराक्रम कम न करे-उसमें अधिकाधिक आत्म पुरुषार्थ का उपयोग करे । वह मन, वचन और शरीर से गुप्तियुक्त रहे । दूसरे शब्दों में सुप्रणिहित योग-अपने मानसिक, कायिक, वाचिक योगों को असत् से निवृत्त तथा सत् में प्रवृत्त बनाये रखे । वह ज्ञानादि से युक्त होता हुआ सदैव स्वपर कल्याण में यत्नशील रहे । प्रश्न उपस्थित करते हुए आगे कहते हैं कि वह कैसा होकर यह करे ? जो सबसे दीर्घ है उसे परमायत कहा जाता है तथा जो सब काल में अवस्थित रहता है वह परमायत है, वह मोक्ष हैं, साधु सदा मोक्षाभिलाषी रहता हुआ इन इन विशेषताओं से जुड़ा रहे जिनका पहले उल्लेख हुआ है ।

❀ ❀ ❀

वित्तं पसवो य नाइओ तं बाले सरणं ति मन्नइ ।
एते मम तेसुवी अहं नो ताणं सरणं न विज्जई ॥१६॥

छाया – वित्तं पशवश्च ज्ञातयस्तद् बालः शरण मिति मन्यते ।
एते मम तेष्वप्यहं नो त्राणं शरणं न विद्यते ॥

अनुवाद – बाल-अज्ञानी पुरुष वित्त-धन दौलत तथा ज्ञातिजन-पारिवारिक वृन्द को अपनी शरण मानता है । वह ऐसा समझता है कि ये सब मुझे दुःख से बचा लेंगे, मेरी रक्षा करेंगे । तथा मैं इनकी रक्षा करूंगा। किन्तु वास्तविकता यह है कि उसकी रक्षा नहीं कर सकते ।

टीका – पुनरप्युपदेशान्तरमाह - 'वित्तं' धनधान्यहिरण्यादि 'पशवः' करितुरगगोमहिष्यादयो ज्ञातयः स्वजनाः मातापितृपुत्रकलत्रादयः तदेत द्वित्तादिकं बालः अज्ञः शरणं मन्यते तदेव दर्शयति ममैते वित्तपशुज्ञातयः परिभोगे उपयोक्ष्यन्ते तेषु चार्जनपालन संरक्षणदिना शेषोपद्रवनिराकरण द्वारेणाहं भवामीत्येवं बालोमन्यते न पुनर्जानीते यदर्थं धनमिच्छन्ति तच्छरीरमशाश्वतमिति । अपि च "रिद्धी सहावतरला रोगजराभंगुरं हयसरीरं । दोण्हंपि गमणसीलाण किच्चिरं होज्ज संबंधो ?" तथा-

"मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च । प्रतिजन्मनि वर्त्तेन्ते कस्य माता पिताऽपि वा ?"

एतदेवाह-नो नैव वित्तादिकं संसारे कथमपि त्राणं भवति नरकादौ पततो नाऽपि रागादिनोपद्रुतस्य क्वचिच्छरणं विद्यत इति ॥१६॥

टीकार्थ – आगमकार इस संबंध में दूसरा उपदेश देने हेतु प्रतिपादित करते हैं -

धन-धान्य, हिरण्य एवं स्वर्ण-इन्हें वित्त कहा जाता है हस्ति, अश्व, गौ, महिषी आदि को पशु कहा जाता है । मां, बाप, बेटा और पत्नी आदि स्वजनवृन्द को ज्ञाति कहा जाता है । अज्ञानी प्राणी इन धनधान्यादि

पदार्थों को अपनी शरण मानता है । इसी बात का दिग्दर्शन कराते हुए कहते हैं-ज्ञान रहित प्राणी ऐसा समझता है कि धन पशु तथा स्वजनवृन्द मेरे परिभोग हेतु-सांसारिक सुखोपभोग के संदर्भ में उपयोगी होंगे । मैं उपार्जन-धन कमा कर इनका पालन करता हुआ, समस्त उपद्रवों का निराकरण करुंगा, उन्हें मिटाऊंगा । वास्तव में जिस शरीर के निमित्त धन वैभव की कामना की जाती है, वह शरीर विनश्वर है-क्षणभंगुर है, वह मूर्ख इस बात को नहीं जानता । कहा है कि-ऋद्धि, धन सम्पत्ति स्वभाव से ही चंचल-अस्थिर है तथा यह शरीर बीमारी और बुढ़ापे द्वारा नश्वर है-रोग और वृद्धावस्था इसे नष्ट कर देते हैं । इन दोनों गमनशील पदार्थों का परस्पर संबंध कब तक बना रह सकता है । माता एवं पिता विविध जन्मों में सहस्रों बार हुए हैं । पुत्र और पत्नी भी सैंकड़ों बार हुए हैं । यह तो प्रत्येक जन्म में होते ही रहते हैं । वास्तव में कौन किसकी माता है और कौन पिता है ? आगमकार इसी बात को फिर कहते हैं कि संसार में धन आदि कभी भी किसी की रक्षा नहीं कर सकते । नरक में गिरते हुए राग आदि में उपद्रुत-अभिभूत प्राणी के लिये कहीं भी शरण नहीं है-उसे कोई भी नहीं बचा सकता ।

❀ ❀ ❀

अब्भागमितंमि वा दुहे, अहवा उक्कमिते भवंतिए ।
एगस्स गती य आगती, विदुमंता सरणं ण मन्नई ॥१७॥

छाया – अभ्यागते वा दुःखे, ऽथवोत्क्रान्ते भवान्तिके ।
एकस्य गतिश्चागतिः विद्वान् शरणं न मन्यते ॥

अनुवाद – जब किसी प्राणी पर किसी प्रकार का दुःख आता है तो वह अकेला ही उसे भोगता है अथवा उपक्रमवश जब उसका आयुष्य नष्ट हो जाता है, मरने लगता है, तो वह एकाकी ही परलोक में जाता है, इसलिये विद्वान-ज्ञानीजन किसी को अपना शरण नहीं मानते ।

टीका – एतदेवाह पूर्वोपात्तासातवेदनीयोदयेनाभ्यागते दुःखे सत्येकाक्येव दुःख मनुभवति, न ज्ञातिवर्गेण वित्तेन वा किञ्चित् क्रियते । तथा च

"सयणस्सवि मज्झगओ रोगाभिहतो किलिस्सइ इहेगो । सयणोविय से रोगं न विरंचइ नेव नासेइ ?"

अथवा उपक्रमकारणै रुपक्रान्ते स्वायुषि स्थितिक्षयेण वाभवान्तरे भवान्तिके वा मरणे समुपस्थिते सति एकस्यैवासुमतो गतिरागतिश्च भवति विद्वान विवेकी यथावस्थितसंसारस्वभावस्य वेत्ता ईषदपि तावत् शरणं न मन्यते कुतः सर्वात्मना त्राणमिति तथाहि-

"एकस्य जन्म मरणे गतयश्च शुभाशुभाः भवावर्ते । तस्मादाकालिकाहितमेकेनैवात्मनः कार्य्यम् ?"

"एक्को करेइ कम्मं फलमवि तस्सिक्कओ समणुहवइ । एक्को जायइ मरइ य परलोयं एक्कओ जाइ?"॥१७॥

टीकार्थ – आगमकार इसी तथ्य को निरूपित करते हैं -

पूर्व जन्म में संचित असातवेदनीय कर्मों के उदय से जब प्राणी के ऊपर दुःख आता है, तब वह एकाकी ही उसे भोगता है । उस समय वित्त-धन दौलत अथवा ज्ञातिवर्ग-पारिवारिक जन उसकी जरा भी सहायता नहीं कर सकते । अतएव कहा है-रोगाभिहत-बीमारी से पीड़ित जीव अपने कुटुम्बी जनों के बीच में रहता हुआ

भी एकाकी ही दुःख भोगता है, उसके रिश्तेदार उसकी बीमारी को न तो घटा सकते हैं और न मिटा सकते हैं अथवा उपक्रम के कारणों से जब किसी प्राणी का आयुष्य नष्ट हो जाता है, पूर्ण हो जाता है या उसका आयुष्य अपनी अवधि पूर्ण होने पर समाप्त हो जाता है, यों जब मृत्युकाल उपस्थित हो जाता है-वह मरण प्राप्त कर लेता है, तब एकाकी ही परलोक में जाता है । वहां से पुनः इस लोक में भी अकेला ही आता है । विद्वान-विवेकशील पुरुष संसार के स्वभाव को यथावतरूप में जानता है-वास्तव में जैसा वह है, उसे वैसा ही समझता है । वह धन आदि को अपना जरा भी रक्षक नहीं मानता, फिर सम्पूर्णतः रक्षक मानने की तो बात ही कहां ? कहा है-इस संसार में जीव का जन्म और मरण अकेले का ही होता है । इस भवचक्र में वह अकेला ही शुभ अशुभ गतियों में जाता है । अतः मृत्यु पर्यन्त जीव को एकाकी ही अपने हित साधन में आत्मकल्याण में जुटे रहना चाहिये । जीव अकेला ही कर्म करता है और अकेला ही उसका फल भोग करता है। अकेला ही उत्पन्न होता है और अकेला ही मरता है, अकेला ही परलोक जाता है ।

❀ ❀ ❀

सव्वे सयकम्मकप्पिया अवियत्तेण दुहेण पाणिणो ।
हिंडंति भयाउला सढ़ा, जाइ जरा मरणेहि ऽभिदुता ॥१८॥

छाया – सर्वे स्वककर्मकल्पिता अव्यक्तेन दुःखेन प्राणिनः ।
हिंडंति भयाकुलाः शठाः जातिजरामरणैरभिद्रुताः ॥

अनुवाद – संसार में समग्र प्राणी अपने अपने कर्मों के अनुसार भिन्न भिन्न अवस्थाओं में विद्यमान हैं । सभी अव्यक्त-अलक्षित दुःख से पीड़ित हैं जन्म, वृद्धावस्था तथा मृत्यु से अभिद्रूत है-आक्रान्त है। वे शठ-अज्ञानी दुर्जन जीव पुनः पुनः इस संसार में भटकते हैं ।

टीका – अन्यच्च सर्वेऽपि संसारोदरविवरवर्त्तिनः प्राणिनः संसारे पर्य्यटन्तः स्वकृतेन ज्ञानावरणीयादिना कर्मणा कल्पिताः सूक्ष्मबादर पर्य्याप्तकापर्य्याप्तकैकेन्द्रियादिभेदेन व्यवस्थिताः तथा तेनैव कर्मणैकेन्द्रियाद्यवस्थायाम् अव्यक्तेन अपरिस्फुटेन शिरः शूलाद्यलक्षितस्वभालवेनोपलक्षणार्थत्वात् प्रव्यक्तेन च दुःखेन असातावेदनीयस्वभावेन समन्विताः प्राणिनाः पर्य्यटन्ति अरहट्टघटीयन्त्रन्यायेन तास्वेव योनिषु भयाकुलाः शटकर्मकारित्वात् शठाः भ्रमन्ति जातिजरामरणैरभिद्रुताः गर्भाधानादिभिर्दुःखैः पीडिता इति ॥१८॥

टीकार्थ – दूसरी बात यह है कि संसार के उदर रूपी विवर-बिल या गुफा में निवास करने वाले प्राणी इस जगत में पर्यटन करते हुए-भटकते हुए स्वकृत ज्ञानावरणीयादि कर्मों के फलस्वरूप सूक्ष्म, स्थूल, पर्याप्त, अपर्याप्त, एकेन्द्रिय आदि भिन्न भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त करते हैं । इन अवस्थाओं में विद्यमान् वे प्राणी शिरः शूल-मस्तक पीड़ा आदि अपरिस्फुट-अव्यक्त दुःखों से पीडित होते हैं । यहां अलक्षित दुःख उप लक्षण है । उसका अभिप्राय यह है कि वे असातवेदनीय के उदय के परिणामस्वरूप प्रव्यक्त स्पष्ट रूप से प्रतीयमान दुःखों से भी पीड़ित होते हैं । वे रहट की तरह बार बार योनियों में चक्कर काटते रहते हैं । वे शठ कर्म-दुष्टता युक्त कर्म करते हैं । इसलिये शठ कहे गये हैं । वे भय से व्याकुल रहते हैं । जन्म, वृद्धावस्था और मौत से अविद्रूत-आक्रान्त रहते हैं, वे बार बार गर्भ में आते हैं, संसार में दुःख पाते हैं ।

❀ ❀ ❀

इणमेव खणं विजाणिया, णो सुलभं बोहिं च आहियं ।
एवं सहिएऽहिपासए आह जिणो इणमेव सेसगाः ॥१९॥

छाया – इममेव क्षणं विज्ञाय नो सुलभं बोधिञ्च आख्यातम् ।
एवं सहितोऽधिपश्येद् आह जिन इदमेव शेषकाः ॥

अनुवाद – सहित-आत्महित प्रद ज्ञान आदि से युक्त मुनि यह चिंतन करे कि मोक्ष की साधना का यह मानव जीवन ही एक मौका है । सर्वज्ञ पुरुषों ने यह कहा है कि बोधि-सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना सुलभ नहीं है-वह आसानी से नहीं मिल पाता । आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभ ने यही उपदेश दिया था और दूसरे तीर्थंकरों ने भी इसी का निरूपण किया ।

टीका – 'किञ्च' इदमः प्रत्यक्षासन्नवाचित्वात् इमं द्रव्यक्षेत्रकालभावलक्षणं क्षणमवसरं ज्ञात्वा तदुचितं विधेयं, तथाहि-द्रव्यं जङ्गमत्व पंचेन्द्रियत्वसुकुलोत्पत्तिमानुष्यलक्षणं क्षेत्रमप्यार्य्यदेशार्धषड्विंशति जनपद लक्षणं कालोऽप्यवसर्पिणी चतुर्थारकादिः धर्मप्रतिपत्तियोग्यलक्षणः भावश्च धर्मश्रवण तच्छ्रद्धानचारित्रावरणकर्म क्षयोपशमाहितविरतिप्रतिपत्त्युत्साहलक्षणः तदेवंविधं क्षणम् अवसरं परिज्ञाय तथा बोधिञ्च सम्यग्दर्शनावाप्तिलक्षणां नो सुलभामिति एवमाख्यातमवगम्य तदवाप्तौ तदनुरुपमेव कुर्य्यादिति शेषः अकृतधर्माणां पुनर्दुर्लभा बोधिः, तथाहि-

"लद्धेल्लियं च वोहिं अकरेंतो अणागयं च पत्थेंतो । अन्नं दाइं वोहिं लब्भिसि कयरेण मोल्लेणं ?"

तदेवमुत्कृष्टतोऽपार्धपुद्गलपरावर्त्तप्रमाणकालेन पुनः सुदुर्लभा बोधिरित्येवं सहितो ज्ञानादिभिरधिपश्येत् बोधिसुदर्लभत्वं पर्य्यालोचयेत्, पाठान्तरं वा अहियासएति, परीषहानुदीर्णान् सम्यग् अधिसहेत एतच्चाह जिनोरागद्वेषजेता नाभेयोऽष्टापदे स्वान् सुतानुद्दिश्य, तथाऽन्येऽपि इदमेव शेषकाः जिना अभिहितवन्त इति ॥१९॥

टीकार्थ – गाथा में आया हुआ 'इण' इदं शब्द प्रत्यक्ष और समीप का बोधक है । अतएव इस द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव को मोक्ष साधन का अवसर समझकर मनुष्य को चाहिये कि वह उचित-करणीय कार्य करे । जंगम-गतिशील के रूप में पंचेन्द्रिय प्राणी के रूप में होना, उत्तम-सदाचरणयुक्त कुल में पैदा होना, मनुष्यत्व पाना-यह द्रव्य है । साढ़े पच्चीस जनपद परिमित आर्य देश क्षेत्र है । अवसर्पिणी कालचक्र तथा चतुर्थ आरक इत्यादि धर्म प्राप्ति के योग्य काल है । धर्म का श्रवण, उसमें श्रद्धोत्पत्ति-आस्था, दृढ़ विश्वास तथा चारित्रावरणीय कर्म के क्षयोपक्षम से प्रसूत विरति को ग्रहण करने में उत्साह-यह अनुकूल अवसर है । ऐसा शुभ अवसर प्राप्त हुआ है, यह जानकर तथा सम्यक्दर्शन की प्राप्ति आसान नहीं है, इस शास्त्रीय कथन को समझकर वह साधक जिसे सम्यक्दर्शन प्राप्त है, तदनुरुप धर्माराधनामय कार्य करे । जिन्होंने धर्म का अनुष्ठान नहीं किया है उन्हें बोधि प्राप्त होना सुलभ नहीं है क्योंकि कहा है-जो ज्ञान प्राप्त हुआ है उसके अनुसार कार्य नहीं करते हुए तथा जो अनागत-अप्राप्त है उसकी अभ्यर्थना करतेहुए तुम कौन सी कीमत चुकाकर उस दूसरे ज्ञान को प्राप्त करोगे । अतः ज्ञान आदि से युक्त पुरुष को यह चिन्तन करना चाहिये कि उत्कृष्ट अर्ध पुद्गल परावर्त काल तक पुनः बोध प्राप्त करना कठिन है । मुनि बोध के दुर्लभपन को सदा ध्यान में रखे। यहां अहिपासए के स्थान पर अहियासए ऐसा पाठान्तर भी प्राप्त होता है । उसका अभिप्राय यह है कि साधु उत्पन्न हुए परीषहों को भलीभांति-स्थिरतापूर्वक सहे । नाभिनंदन आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभ ने यह सिद्धान्त अष्टापद पर्वत पर अपने पुत्रों को उद्दिष्ट कर प्रतिपादित किये थे । अन्य तीर्थंकरों ने भी ऐसा ही कहा है।

❀ ❀ ❀

अभिविंसु पुरावि भिक्खवो आएसावि भवंति सुव्वता ।
एयाइं गुणाइं आहु ते कासवस्स अणुधम्मचारिणो ॥२०॥

छाया – अभूवन् पुराऽपि भिक्षवः ! आगामिनश्च भविष्यंति सुव्रताः ।
एतान् गुणान् आहुस्ते काश्यपस्यानुधर्मचारिणः ॥

अनुवाद – जो तीर्थंकर पूर्वकाल में हो चुके हैं, जो आगे होंगे, उन सभी सुव्रत-उत्तम व्रतयुक्त महापुरुषों ने तथा भगवान् ऋषभ एवं भगवान् महावीर के अनुयायियों ने इन्हीं गुणों-सिद्धान्तों द्वारा मोक्ष प्राप्त होता है सिद्ध होता है, प्राप्त होता है, ऐसा बतलाया है ।

टीका – 'एतदाह'-हेभिक्षवः साधवः ! सर्वज्ञः स्वशिष्यानेवयामन्त्रयति येऽभूवन् अतिक्रान्ताः जिनाः सर्वज्ञाः आएसाविति, आगमिष्याश्च ये भविष्यन्ति तान् विशिनष्टि सुव्रताः शोभनव्रताः अनेनेदमुक्तं भवति तेषामपि जिनत्वं सुव्रतत्वादेवायातमिति ते सर्वेऽप्येतान् अनन्तरोदितान् गुणान् आहुः अभिहितवन्तः नाऽत्र सर्वज्ञानां कश्चिन्मतभेद इत्युक्तं भवति । ते च काश्यपस्य ऋषभस्वामिनो वर्द्धमानस्वामिनो वा सर्वेऽप्यनुचीर्णधर्मचारिण इति । अनेन च सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मक एक एव मोक्षमार्ग इत्यावेदितं भवतीति ॥२०॥

टीकार्थ – सर्वज्ञ प्रभु अपने अन्तेवासियों को सम्बोधित कर कहते हैं -

हे भिक्षुओं ! हे साधुओं ! अतीत में जो सर्वज्ञ हो चुके हैं तथा आगे होंगे, वे सभी सुव्रत-शोभव्रत-उच्च कोटि के व्रतों से युक्त रहे हैं । कहने का आशय है कि उनको जो सर्वज्ञत्व-केवल ज्ञान प्राप्त हुआ वह सुव्रतों-उत्तम व्रतों के पालन से ही हुआ । उन सर्वज्ञों ने उन गुणों को जिनका पहले वर्णन हुआ है, मोक्ष का साधन बताया है । इस सम्बन्ध में सर्वज्ञों में परस्पर कोई मतभेद नहीं है। वे सभी भगवान ऋषभदेव तथा काश्यप गोत्रीय भगवान महावीर द्वारा अनुचीर्ण-आचरित धर्म का ही अनुसरण करने वाले थे । इससे यह प्रकट किया गया है कि सम्यक्ज्ञान, सम्यक्दर्शन, सम्यक्चारित्र ही मोक्ष का मार्ग है ।

❀ ❀ ❀

तिविहेणवि पाण माहणे, आयहिते अणियाणसंवुडे ।
एवं सिद्धा अणंतसो, संपइ जे अ अणागयावरे ॥२१॥

छाया – त्रिविधेनाऽपि प्राणान् माहन्यादात्महितोऽनिदानसंवृतः ।
एवं सिद्धा अनन्तशः संप्रति येचानागता अपरे ॥

अनुवाद – मन, वचन और शरीर से प्राणियों का हनन-हिंसा नहीं करनी चाहिये । आत्महित में संप्रवृत रहकर स्वर्ग आदि की अभिलाषा से हटकर संयम का परिपालन करना चाहिये, ऐसा करते हुए अनन्त जीवों ने सिद्धत्त्व प्राप्त किया है-वे मुक्त हुए हैं । वर्तमान में भी होते हैं और भविष्य में भी होंगे ।

टीका – अभिहितांश्च गुणानुद्देशत आह त्रिविधेन मनसा, वाचा, कायेन यदि वा कृतकारितानुमति वां प्राणिनो दशविधप्राणभाजोमाहन्यादिति प्रथममिदं महाव्रतम् अस्य चोपालक्षणार्थत्वाद् एवं शेषाण्यपि द्रष्ट द्रष्टव्यानि, तथा आत्मने हित आत्महितः तथा नाऽस्य स्वर्गावाप्त्यादि लक्षणं निदान मस्तीत्यनिदानः तथेन्द्रिय नोइन्द्रियमनोवाक्कायैर्वा संवृत स्त्रिगुप्तिगुप्त इत्यर्थः, एवम्भूतश्चाऽवश्यं सिद्धिमेवाप्नोतीत्येतद्दर्शयति-एवम्

अनन्तरोक्तमार्गानुष्ठानेनानन्ता: सिद्धाअशेषकर्मक्षयभाज: संवृत्ता: विशिष्टस्थानभाजो वा तथा सम्प्रति वर्तमाने काले सिद्धिगमनयोग्ये सिद्ध्यन्ति अपरे वा अनागते काले एतन्मार्गानुष्ठायिन एव सेत्स्यन्ति, नापर: सिद्धिमार्गोऽस्तीति भावार्थ: ॥२१॥

टीकार्थ – आगमकार पूर्व वर्णित गुणों का उल्लेख करते हुए कहते हैं-मन, वचन और शरीर द्वारा अथवा कृतकारित और अनुमोदन द्वारा यों तीन योग और तीन करण द्वारा दसविध प्राणधारक प्राणियों का हनन व्यापादन नहीं करना चाहिये । यह प्रथम महाव्रत है । इसके उपलक्षण द्वारा अवशिष्ट चार महाव्रतों को भी जान लेना चाहिये । जो आत्मा के लिये हित-कल्याण में संलग्न है, वैसा आत्मकल्याणार्थी अनिदान-स्वर्ग प्राप्ति आदि की अभिलाषा या संकल्प से वर्जित पुरुष इन्द्रिय, नोइन्द्रिय, मन, वचन तथा काया-इन्हें गुप्त रखे, असत् कार्यों से दूर रखे-बचाये रहे । जो ऐसा करता है वह अवश्य ही सिद्धि को प्राप्त करता है । इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि पूवोक्त-पहले कहे गये मार्ग का अनुसरण करते हुए अनन्त पुरुषों ने अपने कर्मों का क्षय किया, सिद्धत्व प्राप्त किया । दूसरे शब्दों में विशिष्ट-अलौकिक अनुपम स्थान का लाभ किया । वर्तमान समय में भी सिद्धि प्राप्त करने योग्य क्षेत्र में साधक पूर्व वर्णित उपायों द्वारा सिद्धि प्राप्त करते हैं-मुक्ति लाभ करते हैं । भविष्यकाल में भी उस पथ का अनुसरण करते हुए अनन्त जीव सिद्ध होंगे । इससे अलग कोई सिद्धि का पथ नहीं है ।

❀ ❀ ❀

एवं से उदाहु अणुत्तरनाणी अणुत्तरदंसी अणुतरणाण दंसणधरे ।
अरहा नायपुत्ते भगवं वेसालिए वियाहिए ॥२२॥त्तिबेमि॥

छाया – एवं स उदाहृतवान्ननुत्तर ज्ञान्यनुत्तरदर्शी अनुत्तरज्ञान दर्शनधरो ।
अर्हन् ज्ञातपुत्रो भगवान् वैशालिक आख्यातवानिति ॥इति ब्रवीमि ॥

अनुवाद – अणुत्तर ज्ञानी-सर्वोत्तम ज्ञान के स्वामी, अणुत्तर दर्शनी-सर्वोत्तम दर्शन के स्वामी, उत्तम ज्ञान, उत्तम दर्शन के धारक, अर्हत्-देवाधिपूज्य ज्ञातपुत्र भगवान महावीर ने वैशालीनगरी में यह उपदेश दिया था । ऐसा मैं कहता हूँ ।

टीका – एतच्च सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिप्रभृतिभ्य: स्वशिष्येभ्य: प्रतिपादयतीत्याह-'एवंसे' इत्यादि, एवम् उद्देशकत्रयाभिहितनीत्या स ऋषभस्वामी स्वपुत्रानुद्दिश्य उदाहृतवान् प्रतिपादितवान् । नाऽस्योत्तरं प्रधानमस्तीत्यनुत्तरं तच्च तज्ज्ञानञ्च अनुत्तरज्ञानं तदस्याऽस्तीत्यनुत्तरज्ञानी स तथाऽनुतरदर्शी, सामान्य-विशेष परिच्छेदकावबोधस्वभाव इति बौद्धमतनिरासद्वारेण ज्ञानाधारं जीवं दर्शयितुमाह-अनुत्तरज्ञानदर्शनधर इति, कथञ्चिद्भिन्नज्ञानदर्शनाधार इत्यर्थ: । अर्हन् सुरेन्द्रादिपूजार्हो ज्ञातपुत्रो वर्द्धमान स्वामी ऋषभस्वामी वा भगवान् ऐश्वर्य्यादिगुणयुक्तो विशाल्यांनगर्य्यां वर्धमानोऽस्माकमाख्यातवान् ऋषभस्वामीवा विशालकुलोद्भवत्वाद् वैशालिक: तथा चोक्तम् –

"विशाला जननी यस्य विशालं कुलमेव वा विशालं वचनं चास्य तेन वैशालिको जिन: ?"

एवमसौ जिन आख्यातेति । इति शब्द: परिसमाप्त्यर्थो ब्रवीमीति उक्तार्थो नय: पूर्ववदिति ॥२२॥

टीकार्थ – आर्य सुधर्मा श्री जम्बू आदि अपने शिष्यों को जो कहते हैं, वह बताने हेतु आगमकार प्रतिपादित करते हैं –

पहले वर्णित तीन उपदेशकों में जो बातें कही गई हैं वे आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव द्वारा अपने पुत्रों को कही थी । जिससे उत्तम-बढ़कर दूसरा नहीं होता उसे अनुत्तर कहा जाता है । जो ज्ञान सबसे उत्तम होता है उसे अनुत्तर ज्ञान कहा गया है । भगवान् का वैसा अनुतर ज्ञान था, अतएव भगवान अनुत्तर ज्ञानी थे, उसी प्रकार वे अणुत्तर दर्शनी थे । सामान्य और विशेष को प्रकाश करने वाला जो ज्ञान है वे तत्स्वभाव रूप थे । अब बौद्धमत का निरसन करने की दृष्टि से बतलाते हैं-ज्ञान का आधार जीव है-अर्थात् जीव ज्ञान का धारक है । भगवान अनुत्तर ज्ञान और दर्शन के धारक थे । इसका तात्पर्य यह है कि भगवान अपने से कथंचित भिन्न ज्ञान और दर्शन के आधार थे । इन्द्र आदि देवों द्वारा पूजनीय भगवान ऋषभ के प्रतिनिधि स्वरूप ज्ञात पुत्र भगवान महावीर ने विशाला या वैशाली नगरी में हमें उपदेश दिया । वैशालिय का एक रूप वैशालिक भी होता है जिसका तात्पर्य विशाल कुल में उत्पन्न होना है । कहा गया है-भगवान महावीर की माता त्रिशला विशाला-परम सौभाग्यशीला थी । उनका कुल विशाल-अत्यंत उच्च था । उनका वचन-प्रवचन विशाल-अत्यन्त उत्तम था । इसलिये वैशालिक (जिन-जिनेश्वर) तीर्थंकर कहलाये । यहां इति शब्द परि समाप्ति के अर्थ में आया है । ब्रवीमि-बोलता हूं-यह शब्द पूर्वोक्त निरूपण के साथ जोड़ना है ।

॥ तृतीय उद्देशक समाप्तम् ॥

॥ उसकी समाप्ति के साथ उसका दूसरा वैतालिय अध्ययन परिपूर्ण हुआ ॥

❀ ❀ ❀

卐卐卐

तृतीयोपसर्गपरिज्ञाध्ययनं

प्रथम उद्देशकः

सूरं मण्णइ अप्पाणं, जाव जेयं न पस्सती ।
जुज्झंतं दढधम्माणं, सिसुपालो व महारहं ॥१॥

छाया – **शूरं मन्यत आत्मानं यावज्जेतारं न पश्यति ।**
युध्यन्तं दृढ़धर्माणं शिशुपाल इव महारथम् ॥

अनुवाद – कायर पुरुष तभी तक अपने को शूर-बहादुर मानता है, जब तक वह जेता-विजयशील पुरुष को नहीं देखता । जब वह विजयशील पुरुष को देखता है तो वह वैसे ही ध्वस्त हो उठता है जैसे दृढ़ धर्मा महारथी कृष्ण को देखकर शिशुपाल हो उठा था ।

टीका – कश्चिल्लघुप्रकृतिः सङ्ग्रामे समुपस्थिते शूर मात्मानं मन्यते-निस्तोयाम्बुद इवात्मश्लाघा प्रवणो वाग्भिर्विस्फूर्जन् गर्जति, तद्यथा-न मत्कल्पः परानीके कश्चित् सुभतोऽस्तीति, एवं तावद्गर्जति यावत् पुरोऽवस्थितं प्रोद्यतासिं जेतारं न पश्यति, तथा चोक्तम् -

"तावद्गजः प्रस्तुतदानगण्डः करोत्यकालाम्बुदगर्जितानि ।
यावन्न सिंहस्य गुहास्थलीषु लाङ्गूलविस्फोटरवं शृणोति ॥१॥"

न दृष्टान्तमन्तरेण प्रायो लोकस्यार्थावगमो भवतीत्यतस्तदवगतये दृष्टान्तमाह-यथा माद्रीसुतः शिशुपालो वासुदेवदर्शनात्प्राग् आत्मश्लाघा प्रधानं गर्जितवान्, पश्चाच्च युग्यमानं-शस्त्राणि व्यापारयन्तं दृढः-समर्थो धर्मः स्वभावः सङ्ग्रामाभङ्गरूपो यस्य स तथा तं महान् रथोऽस्येति महारथः, स च प्रक्रमादत्र नारायणस्तं युध्यमानं दृष्ट्वा प्राग्गर्जना प्रधानोऽपि क्षोभं गतः, एवंभुत्तरत्र दार्ष्टान्तिकेऽपि योजनीयमिति । भावार्थस्तु कथानकाद वसेयः, तच्चेदम्-वसुदेवसुसाएँसुओ दमघोषणराहिवेण महीए । जाओ चउब्भुओऽभुयबलकलिओ कलहपत्तट्ठो ॥१॥ दट्ठूण तओ जणणी चउब्भुयं पुत्तमब्भुयमणग्घं । भयहरिसविम्हयमुही पुच्छईणेमित्तियं सहसा ॥२॥ णेमित्तिएण मुणिऊण साहियं तीइ हट्ठहिययाए । जह एस तुब्भ पुत्तो महाबलो दुज्जओ समरे ॥३॥ एयस्स य जं दट्ठूण होइ साभावियं भुयाजुयलं । होही तओ चिय भयं सुतस्स ते णत्थि संदेहो ॥४॥ सावि भयवेविरंगी पुत्तं दंसेइ जाव कण्हस्स । तावच्चिय तस्य ठियं पयइत्थं वरभुयाजुयलं ॥५॥ तो कण्हस्स पिउच्छा पुत्तं पाढ़ेइ पाय पीढंमि । अवराह खामणत्थं सोवि सयं से खमिस्सामि ॥६॥ सिसुवालो वि हु जुव्वणमएण नारायणं असब्भेहिं । वयणेहिं भणई सोविहु खमई खमाए समत्थोवि ॥७॥ अवराहसए पुण्णे वारिज्जंतो ण चिट्ठई जाहे । कण्हेण तओ छिन्नं चक्केणं उत्तमंगं से ॥८॥ साम्प्रतं सर्वजन प्रतीतं वार्तमानिकं दृष्टान्त माह -

टीकार्थ – कोई लघु प्रवत्ति-हीन स्वभावयुक्त पुरुष सङग्राम का समय उपस्थित होने पर अपने को बहादुर मानता हुआ, उसी तरह खूब गर्जता है जैसे जल रहित मेघ गड़गड़ाता है, वह कहता है कि शत्रु की सेना में मेरे सदृश कोई भी योद्धा नहीं है, किन्तु उसकी यह गर्जना तभी तक चलती है, जब तक खड्ग हाथ में लिए किसी विजयी पुरुष को अपने आगे खड़ा नहीं देखता । कहा गया है-मद जल से जिसका कपोल

स्थल आर्द्र है, वह हाथी अकाल मेघ-असमय में आये बिना मौसम के बादल की ज्यों तभी तक गर्जता है, जब तक वह गुफा में से सिंह से पूछ फटकारने के शब्द को नहीं सुनता । दृष्टान्त के बिना सामान्य जन अभिप्राय को प्रायः समझ नहीं पाते, इसलिए एक दृष्टान्त प्रस्तुत किया जाता है । शिशुपाल जो माद्री का बेटा था, कृष्ण को देखने से पूर्व अपनी बढ़ाई करता हुआ खूब गरज रहा था किन्तु जब उसने शस्त्रों से प्रहार करते हुए दृढ़धर्मा-युद्ध में दृढ़ स्वभावयुक्त, संग्राम में कभी भग्न नहीं होने वाले, अडिग रहने वाले महारथी नारायण-श्री कृष्ण को देखकर क्षोभ को प्राप्त हुआ था । जैसा कहा गया है-वह पहले अपनी अत्यधिक प्रशंसा करने में लगा था, वह सब भूल गया । इसी प्रकार आगे बताये जाने वाले दृष्टान्त से इसका आशय जोड़ लेना चाहिए । आगे के कथा भाग से इसका भाव जुड़ा हुआ है । वह कथा भाग इस प्रकार है -

दमघोष राजा के वसुदेव की बहिन के गर्भ से शिशुपाल नामक पुत्र जन्मा । वह चार भुजा युक्त था। अद्‌भुत पराक्रमशील और कलहप्रिय था । उसकी माता ने जब इस चारभुजा युक्त अद्‌भुत बलशाली पुत्र को देखा तो एक ओर हर्षित हुई तथा दूसरी ओर भय से कांप उठी । उसने फलादेश जानने हेतु ज्योतिषी को बुलाया । ज्योतिषी ने चिंतन विमर्श कर हृष्ट हृदया-प्रसन्न चेतसका माद्री से कहा-तुम्हारा यह पुत्र अत्यधिक शक्तिशाली और युद्ध में अपराजेय होगा, किंतु जिसे देखकर तुम्हारे पुत्र की, जैसे कि साधारणतः सबके होती है, दो ही भुजाएं रह जावे तो समझ लेना उसी पुरुष से उसको भय होगा । मैं जो कहता हूँ, इसमें कोई संदेह नहीं है । यह सुनकर माद्री बहुत डर गई । उसने अपने पुत्र को कृष्ण को दिखलाया, ज्यों ही कृष्ण ने उसकी ओर दृष्टिपात किया उसके दो ही भुजाएं रह गई, जैसे हर आदमी के होती हैं । तब कृष्ण की भुआ माद्री ने अपने पुत्र को कृष्ण के चरणों में गिराकर उससे अभ्यर्थना की कि यदि यह कभी अपराध भी करे तो तुम उसे क्षमा करना । कृष्ण ने प्रतिज्ञा की कि मैं इसके सौ अपराध क्षमा करूंगा । इसके बाद शिशुपाल युवा हुआ। वह यौवन के गर्व से उन्मत्त होकर श्रीकृष्ण को अपशब्द कहने लगा, गाली देने लगा । यद्यपि श्रीकृष्ण उसको दण्ड देने में सक्षम थे, किन्तु अपने द्वारा की गई प्रतिज्ञा के अनुसार वे उसके अपराधों को माफ करते गए। यों जब शिशुपाल सौ अपराध कर चुका तब कृष्ण ने उसे फिर ऐसा न करने हेतु बहुत समझाया, मना किया किन्तु वह रोकने पर भी नहीं माना-गालियाँ देता रहा । तब श्रीकृष्ण ने चक्र द्वारा उसका शिर उच्छिन्न कर डाला, काट दिया ॥१॥

❀ ❀ ❀

पयाता सूरा रणणीसे, संगाममम्मि उवट्ठिते ।
माया पुत्तं न याणाई, जेएण परिविच्छए ॥२॥

छाया – प्रयाताः शूरा रणशीर्षे संग्राम उपस्थिते ।
माता पुत्रं न जानाति जेत्रा परिविक्षतः ॥

अनुवाद – युद्ध के छिड़ जाने पर शौर्य का अभिमान करने वाला एक कायर पुरुष भी युद्ध में अग्रसर होता है, किन्तु दुस्सह संग्राम में वह भय भ्रान्त हो जाता है, घबरा उठता है । जहाँ माता अपने पुत्र को अपनी गोद में गिरते हुए भी नहीं जान पाती, वैसी हड़बडाहट की स्थिति में वह कायर पुरुष, विजेता द्वारा छिन्न भिन्न घायल होकर दीन बन जाता है ।

टीका – 'पयाया' इत्यादि, यथा वाग्भिर्विस्फूर्जन्तः प्रकेषेण विकल पादपातं 'रण शिरशि' संग्राममूर्धन्य ग्रानी के याता-गताः के ते ? - 'शूराः' शूरं मन्याः-सुभटाः ततः सङ्ग्रामे समुपस्थिते पतत्परानीकसुभटयुक्त हेति सङ्गते सति तत्र च सर्वस्या कुली भूतत्वात् 'माता पुत्रं न जानाति' कटीतो भ्रश्यन्तं स्तनन्धयमपि न सम्यक् प्रतिजागर्न्तीत्येवं मातापुत्रीये सङ्ग्रामे परानीकसुभटेन जेत्रा चक्र कुन्तनाराचशक्त्यादिभिः परिः-समन्तात् विविधम्-अनेक प्रकारं क्षतो-हतश्छिन्नो वा यथाकश्चिदल्पसत्वो भङ्गमुपयाति दीनो भवतीतियावदिति ॥२॥ दार्ष्टान्तिकमाह -

टीकार्थ – अब लोक प्रसिद्ध एक वर्तमान कालिक दृष्टान्त दिया जाता है-कई अपने को वीर समझने वाले पुरुष अपनी वाणी द्वारा अपनी प्रशंसा करते हुए, गरजते हुए एवं विकट चाल चलते हुए युद्ध के शीर्ष-अग्रभाग में पहुँच जाते हैं, परन्तु जब युद्ध शुरु हो जाता है तो सामने आते शत्रु सेना के बहादुर सैनिक अपने शस्त्रों द्वारा प्रहार करने लगते हैं, तब सभी आकुल हो उठते हैं, घबरा उठते हैं, यहां तक कि माता अपनी गोद से गिरते हुए दूध चूश्वने वाले शिशु तक का ध्यान नहीं रख पाती, इस तरह संग्राम में शत्रु सेना के योद्धाओं द्वारा चक्र, कुन्त-भाले, नाराच-तीक्ष्ण बाण तथा शक्ति आदि तरह-तरह के शस्त्रों द्वारा क्षत विक्षत-घायल हुआ वह अल्पसत्त्व कायर पुरुष दीन हीन हो जाता है ।

❀ ❀ ❀

एवं सेहेवि अप्पुट्ठे, भिक्खायरियाअकोविए ।
सूरं मण्णति अप्पाणं, जाव लूहं न सेवए ॥३॥

छाया – **एवं शिष्योऽप्यस्पृष्टो भिक्षाचर्याऽकोविदः ।**
शूरं मन्यत आत्मानं यावद्रूक्षं न सेवते ॥

अनुवाद – जिस प्रकार अल्पसत्व कायर पुरुष जब तक शत्रु सेना के योद्धाओं द्वारा क्षत विक्षत नहीं किया जाता तभी तक अपने को वीर मानता है । इसी प्रकार भिक्षाचर्य में अकुशल, अयोग्य तथा परीषहों द्वारा अस्पृष्ट अपीड़ित नवदीक्षित साधु भी तभी तक अपने को वीर मानता है, जब तक संयम का सेवन नहीं करता।

टीका – 'एव' मिति प्रकान्तपरामर्शार्थः यथाऽसौ शूरंमन्य उत्कृष्टिसिंहनाद पूर्वकं सङ्ग्रामशिरस्युपस्थितः पश्चाज्जेतारं वासुदेव मन्यं वा युध्यमानंदृष्ट्वा दैन्य मुपयाति, एव 'शैक्षकः' अभिनव प्रव्रजितः परीषहैः । अच्छुप्तः किं प्रव्रज्यायां दुष्करमित्येवं गर्जन्' भिक्षाचर्यायां' भिक्षाटने 'अकोविदः' अनिपुणः, उपलक्षणार्थत्वादन्यत्रापि साध्वाचारेऽभिनवप्रव्रजितत्वाद् प्रवीणः, स एवम्भूत आत्मानं तावच्छिशुपालवत् शूरं मन्यते यावज्जेतारमिव 'रूक्षं' संयमं कर्मसंश्लेषकारणाभावात् 'न सेवते' न भजत इति, तत्प्राप्तौ तु बहवो गुरु कर्माणोऽल्पसत्त्वा भङ्गमुपयान्ति ॥३॥

टीकार्थ – अब दृष्टान्त का सार कहा जाता है-इस गाथा में आया हुआ 'एवं' शब्द प्रस्तुत अर्थ को सूचित करता है जिस प्रकार अपने को बहादुर समझने वाला वह पुरुष जोर से सिंह नाद-गर्जन करता हुआ युद्ध के अग्रभाग में पहुँच जाता है परन्तु वहाँ युद्ध करते हुए किसी वासुदेव या अन्य किसी योद्धा को देखकर दैन्य को प्राप्त हो जाता है, इसी प्रकार जिसके परीषहों का संस्पर्श नहीं हुआ है-जिसे परीषहों का सामना करने का अवसर नहीं आया है, जो भिक्षाचर्या में अनिपुण है-अकुशल है, यहां उपलक्षण से यह भी समझा

जाना चाहिए कि भिक्षाचारी की तरह अन्य आचारों में भी अभिनव दीक्षित होने के कारण अनिपुण है । प्रव्रजित जीवन का पालन करना क्या कठिन है, इस प्रकार जो गरजता है वह अपने आपको शिशुपाल की तरह तभी तक शूरवीर मानता है जब तक उसका विजयी पुरुष की तरह संयम से सामना नहीं होता-संयम का सेवन नहीं करता । इस गाथा में संयम को लूहं-रूक्षं कहा गया है, क्यों कि जैसे सूखे या सूखे स्थान पर कोई वस्तु चिपकती नहीं, उसी प्रकार जहां जीवन में संयम होता है वहां कर्म नहीं चिपकते । उस संयम की प्राप्ति होने पर-उस संयम का पालन करने का मौका आने पर बहुत से गुरुकर्मा-भारी कर्मों वाले अल्पसत्व-आत्म बल विहीन प्राणी भग्न हो जाते हैं, टूट जाते हैं ।

❀ ❀ ❀

जया हेमंत मासंमि, सीतं फुसइ सव्वगं ।
तत्थ मंदा विसीयंति, रज्जहीणा व खत्तिया ॥४॥

छाया – यदा हेमंतमासे शीतं स्पृशति सर्वाङ्गम् ।
तत्र मन्दा विषीदन्ति राज्यहीना इव क्षत्रियाः ॥

अनुवाद – जैसे हेमंत ऋतु-मार्गशीर्ष, पौष के महिनों में सर्दी सब अंगों में छा जाती है, उस समय मन्द मूर्ख जीव राज्यहीन-राज्य से च्युत क्षत्रिय की ज्यों विषाद का अनुभव करते हैं, दुःखित होते हैं ।

टीका – संयमस्य रूक्षत्वप्रतिपादनाद्याह-'जया हेमंते' इत्यादि 'यदा' कदाचित् 'हेमन्त मासे' पौषादौ 'शीतं' सहिमकणवातं 'स्पृशति' लगति 'तत्र' तस्मिन्न सह्ये शीतस्पर्शे लगति सति एके 'मन्दा' जड़ा गुरु कर्माणो 'विषीदन्ति' दैन्यभाव मुपयान्ति 'राज्यहीना' राज्यच्युताः यथा-क्षत्रिया राजान इवेति ॥४॥ उष्णपरीषह मधिकृत्याह –

टीकार्थ – संयम रूक्ष है, यह प्रकट करने के लिए कहा जाता है-जब कभी हेमन्त ऋतु के पौष आदि (मार्गशीर्ष व पौष) मास में हिम कणों से-ओस की बून्दों से युक्त पवन के साथ सर्दी लगने लगती है, उस समय असह्य शीत के स्पर्श से-न सही जा सकने योग्य सर्दी के कारण कतिपय मन्द-अज्ञानी, गुरुकर्मा-कर्मों से भारी पुरुष, इस प्रकार दीनता का अनुभव करते हैं । जैसे राज्य से च्युत हुआ क्षत्रिय राजा अनुभव करता हो ।

❀ ❀ ❀

पुट्ठे गिम्हाहितावेणं, विमणे सुपिवासिए ।
तत्थ मंदा विसीयंति, मच्छा अप्पोदए जहा ॥५॥

छाया – स्पृष्टो ग्रीष्माभितापेन विमनाः सुपिपासितः ।
तत्र मन्दाः विषीदन्ति मत्स्या अल्पोदके यथा ॥

अनुवाद – ग्रीष्म ऋतु के ज्येष्ठ आषाढ़ महिनों में जब भीषण गर्मी पड़ने लगती है, उस समय उस गर्मी के अभिताप से पीडित पिपासित नवदीक्षित मुनि विमनस्क-खिन्न हो जाता है, उस समय मंद-अज्ञानी पुरुष इस प्रकार विषाद का-दुःख का अनुभव करते हैं जैसे अल्प जल में मछलियाँ विषण्ण-दुःखित हो जाती हैं ।

टीका – 'ग्रीष्मे' ज्येष्ठाषाढाख्ये अभितापस्तेन 'स्पृष्टः' छुप्तो व्याप्तः सन् 'विमनाः' विमनस्कः, सुष्ठु पातुमिच्छा पिपासा तां प्राप्तो नितरां तृड्भिभूतो बाहुल्येन दैन्यमुपयातीति दर्शयति 'तत्र' तस्मिन्नुष्णपरीषहोदये 'मन्दा' जड़ा अशक्ता' विषीदन्ति' यथा पराभङ्गमुपयान्ति, दृष्टान्तमाह-मत्स्या अल्पोदके विषीदन्ति, गमनाभावान्मरणमुपयान्ति, एवं सत्त्वाभावात्संयमात् भ्रश्यन्त इति, इदमुक्तं भवति-यथा मत्स्या अल्पत्वादुदकस्य ग्रीष्माभितापेन तप्ता अवसीदन्ति, एवमल्पसत्वाश्चारित्रप्रतिपत्तावपि जल्लमलक्लेदक्लिन्नगात्रा बहिरुष्णाभितप्ताः शीतलान् जलाश्रयान् जलधारा-ग्रहचन्दनादीनुष्णप्रतिकारहेतूननुस्मरन्ते-व्याकुलितचेतसः संसमानुष्ठानं प्रति विषीदन्ति ॥

टीकार्थ – ग्रीष्म-ज्येष्ठ व आषाढ मास में जो गर्मी पड़ती है, उसे ग्रीष्माभिताप कहा जाता है । उस ग्रीष्माभिताप से स्पृष्ट-व्याप्त पुरुष विमनस्क-खिन्न या उदास हो जाता है, तथा प्यास से अत्यन्त पीड़ित होकर दीन बन जाता है । सूत्रकार इसी का दिग्दर्शन कराते हुए बतलाते हैं कि इस तरह गर्मी के परीषह के उदित होने पर आत्मबल विवर्जित मूर्ख प्राणी, बड़े विषाद का अनुभव करते हैं । दृष्टान्त देकर इसे समझाते हैं कि-जैसे मछलियां स्वल्प जल में ग्रीष्मऋतु की गर्मी से तप्त होकर दुःख को प्राप्त होती हैं, कहीं बाहर न जाने के कारण वहीं मर जाती हैं, उसी प्रकार अल्पसत्व-अत्यधिक न्यून आत्मबल युक्त असक्त पुरुष चारित्र स्वीकार करके भी जब वे मल और पसीने से सिक्त हो जाते हैं, बाहर की गर्मी से तप्त हो जाते हैं, तब ठण्डे पानी के सरोवर या जल के फव्वारे, चन्दन आदि गर्मी को मिटाने वाले पदार्थों को याद करते हैं । उनका चित्त व्याकुल हो उठता है वे संयम का परिपालन करने में विषाद का अनुभव करते हैं ।

❀ ❀ ❀

सदा दत्तेसणा दुक्खा, जायणा दुप्पणोल्लिया ।
कम्मत्ता दुब्भगा चेव, इच्चाहंसु पुढोजणा ॥६॥

छाया – सदा दत्तैषणा दुखं याञ्चा दुष्प्रणोद्या ।
कर्मार्ताः दुर्भगाश्चैवेत्याहुः पृथग्जनाः ॥

अनुवाद – साधु को दूसरे द्वारा दिये जाते पदार्थ की एषणा-गवैषणा करने का सदा दुःख बना रहता है, क्योंकि अनेषणीय पदार्थ लेना उसके लिए वर्जित है । याञ्चा-याचना भी परीषह है, जिसे सहन करना कठिन है, ऐसा होते हुए भी पृथक् जन-साधारण लोग जो संयम का महत्व नहीं जानते, साधु को देखकर कहते हैं कि ये कैसे भाग्यहीन है, अपने पूर्वकृत कर्मों का कष्टपूर्ण फल भोग रहे हैं ।

टीका – साम्प्रतं याञ्चापरीषहमधिकृत्याह-'सदादत्त' इत्यादि, यतीनां 'सदा' सर्वदा दन्तशोधनाद्यपि परेण दत्तम् एषणीयम्-उत्पादाद्येषणादोषरहितमुपभोक्तव्यमित्यतः क्षुधादिवेदनार्त्तानां यावज्जीवं परदत्तैषणा दुःखं भवति, अपि चेयं 'याञ्चा' याञ्चापरीषहोऽल्पसत्वैर्दुःखेन 'प्रणोद्यते' त्यज्यते, तथा चोक्तम् -

"खिज्जई मुहलावण्णं वाया घोलेइ कंठमज्झंमि । कह कहकहेइ हिययं देहित्ति परं भणंतस्स ॥१॥

छाया-क्षीयते मुखलावण्यं वाचा गिलाते (घूर्णति) कण्ठमध्ये, कहकहकहित हृदयं देहीति परंभवतः॥१॥

गतिभ्रंशो मुखे दैन्यं गात्रस्वेदो विवर्णता । मरणे यानि चिह्नानि, तानि चिह्नानि याचके ॥१॥"

इत्यादि, एवं दुस्त्यजं याञ्चापरीषहं परित्यज्य गताभिमाना महासत्त्वा ज्ञानाद्यभिवृद्धये महापुरुषसेवितं पन्थान मनुव्रजन्तीति । श्लोकपश्चार्द्धेनाऽऽक्रोश परीषहं दर्शयति-"पृथग्जनाः' प्राकृत पुरुषा अनार्यकल्पा 'इत्येव

माहु:' इत्येव मुक्तवंत:, तद्यथा-ये एते यतय: जल्लाविलदेहा लुञ्चित शिरस: क्षुधादिवेदना ग्रस्तास्ते एवे पूर्वाचरितै: कर्मभिरार्त्ता: पूर्वस्वकृतकर्मण: फल मनुभवन्ति, यदिवा-कर्मभि:-कृष्यादिभिरार्त्ता: तत्कर्तुमसमर्था उदिग्ना सन्तोयतय: संवृत्ता इति, तथैते दुर्भगा: सर्वेणैव पुत्रदारादिना परित्यक्ता निर्गतिका: सन्त: प्रव्रज्यामभ्युपगता इति ॥६॥

टीकार्थ – साधु के लिए यह अपेक्षित है कि वह किसी अन्य द्वारा प्रदत्त दंतशोधन-दतौन आदि वस्तु का भी अन्वेषण करे, वह निर्दोष हो इसकी खोज करे। उसके लिए उत्पाद एषणा आदि दोषों से रहित आहार ही स्वीकार्य या सेवन करने योग्य है। इसलिए भूख आदि की वेदना से युक्त साधु को अन्य द्वारा प्रदत्त वस्तु की गवैषणा करने की कठिनाई यावज्जीवन झेलनी पड़ती है। भिक्षा की याचना करना भी एक प्रकार से कष्ट ही है। जिनमें आत्मबल की कमी होती है, वैसे जीव उसे सहन नहीं कर पाते। इसलिए ज्ञानी जनों ने कहा है कि जो पुरुष किसी से कुछ याचना करता हुआ यह कहे कि मुझे अमुक वस्तु दो, उसके मुख का लावण्य-आभा क्षीण हो जाती है, उसकी वाणी गले के बीच में ही अटक जाती है। उसका हृदय व्याकुल हो जाता है। उसकी गति चाल विकृत हो जाती है, मुख पर दीनता छा जाती है, देह से पसीना छूटने लग जाता है। उसका वर्ण फीका पड़ जाता है। इस प्रकार मृत्यु के समय में मनुष्य में जो-जो निशान दिखाई देते हैं, वे सब याचना करने वाले पुरुष में परिलक्षित होते हैं। याचना रूप परीषह जिसे सह पाना बहुत कठिन है उसे सहने वाले निरभिमान, आत्मबल के धनी जीव ही ज्ञानादि की वृद्धि हेतु उस पथ पर चलते हैं, जिस पर महापुरुष चलते रहे हैं।

सूत्रकार प्रस्तुत गाथा के उत्तरार्द्ध में आक्रोश परीषह के सम्बन्ध में कहते हैं-साधारण लोक जिनकी वृत्ति अनार्यों जैसी होती है साधु को देखकर कहने लगते है कि इन साधुओं के शरीर पर मैल परिव्याप्त है, मस्तक के केश लुंचित है, भूख आदि की पीड़ा से युक्त है इस प्रकार ये अपने द्वारा पहले-पूर्व जन्म में किए गए पापों का फल भोग रहे हैं। ये खेती आदि जीविकोपार्जन के कार्यों में अपने को असमर्थ पाकर साधु हो गए है, ये लोग दुर्भग-अभागे हैं, स्त्री पुरुष आदि पारिवारिक वृन्द तथा अन्य सब पदार्थों से रहित एवं आश्रय विहीन होने के कारण इन्होंने प्रव्रज्या स्वीकार की है।

❀ ❀ ❀

एते सद्दे अचायंता, गामेसु णगरेसु वा।
तत्थ मंदा विसीयंति, संगामंमिव भीरूया ॥७॥

छाया – एताँश्च्छब्दानशक्नुवन्तो ग्रामेषु नगरेषु वा।
तत्र मंदा विषीदन्ति संग्राम इव भीरूका: ॥

अनुवाद – गांवों, शहरों या उनके बीच स्थानों में ऐसे निन्दापूर्ण शब्दों को सुनकर मन्द-मन्दबुद्धि, विवेक रहित साधु इस प्रकार विवाद-शोक करने लगते है, दु:खित हो जाते हैं, जैसे युद्ध में कायर पुरुष होते हैं।

टीका – 'एतान्' पूर्वोक्तानाक्रोशरूपान् तथा चौर चारिकादिरूपान शब्दान् सोढुम शकनुवन्तो ग्रामनगरादौ तदन्तराले वा व्यवस्थिता: 'तत्र' तस्मिन् आक्रोशे सति 'मन्दा' अज्ञा लघु प्रकृतयो 'विषीदन्ति' विमनस्का

भवन्ति संयमाद्वा भ्रश्यन्ति, यथा भीरवः 'संग्रामे' रणशिरसि चक्रकुन्तासि शक्ति नारा चाकुले रतत्पटहशङ्खझल्ल रीनादगम्भीरे समाकुलाः सन्तः पौरूषं परित्यज्यायशः पटहमङ्गीकृत्य भज्यन्ते, एवमाक्रोशादिशब्दाकर्णनादल्प सत्त्वाः संयमे विषीदन्ति ॥७॥ वध परीषह मपि कृत्याह -

टीकार्थ – जो पुरुष लघुप्रकृति-तुच्छ स्वभाव युक्त होते हैं, मूर्ख होते है वे गांव, शहर या उनके बीच के भाग में पहले कहे गए निन्दामूलक तथा चौर्य, व्यभिचार आदि के आरोप से युक्त शब्द सुनकर उनको सहने में असमर्थ, अक्षम हो जाते हैं, खिन्न हो जाते हैं, संयम् के मार्ग से पतित हो जाते हैं । जैसे युद्ध में कायर पुरुष चक्र, कुन्त-भाले, असि-तलवार शक्ति-तीक्ष्ण नोकयुक्त, त्रिशूल आदि शस्त्र एवं बाण आदि से आकुल तथा वहाँ बजते हुए पटः ढोल नगारे, शंख झालर आदि की गडगडाहट से घबराकर अपने पौरूष-साहस का परित्याग करते हुए अपकीर्ति स्वीकार कर भाग उठते हैं । इसी प्रकार आक्रोश युक्त शब्दों को सुनकर अल्पसत्व-अत्यन्त न्यून आत्म पराक्रमयुक्त, साहसहीन साधु संयम् पालन में विषाद करते हैं-घबरा उठते हैं, उसे छोड़ भागते हैं ।

❀ ❀ ❀

अप्पेगे खुधियं भिक्खुं, गुणी डंसति लूसए ।
तत्थ मंदा विसायंति, तेउपट्ठा व पाणिणो ॥८॥

छाया – अप्येकः क्षुधितं भिक्षुं सुनीदंशति लूषकः ।
तत्र मंदाः विषीदंति तेजस्पृष्टा इव प्राणिनः ॥

अनुवाद – क्षुधित-भूखयुक्त या आहारापेक्षी साधु को भिक्षा हेतु घूमते समय कोई क्रूर कुत्ता आदि काटले तो उस समय मन्द विवेक रहित साधु एस प्रकार दुःखी हो जाते है, जैसे आग से छू जाने पर प्राणी व्याकुल हो उठते है ।

टीका – 'अप्पेगे' इत्यादि, अपिः संभावने एकः कश्चिच्छ्वादिः लूषयतीति लूषकः प्रकृत्यैव क्रूरो भक्षकः खुधियंति क्षुधितं-बुभुक्षितं भिक्षामट्टन्तं भिक्षुं 'दशति' भक्षयति दशनैरङ्गावयवं विलुम्पति, 'तत्र' तस्मिन् श्वादिभक्षणे सति 'मंदा' अज्ञा अल्पसत्त्वतया 'विषीदन्ति' दैन्यं भजन्ते, यथा 'तेजसा' अग्निना 'स्पृष्टा' दह्यमानाः 'प्राणिनो' जन्तवो वेदनार्त्ताः सन्तो विषीदन्ति गात्रं संकोचयन्त्यार्तध्यानोपहता भवन्ति, एवं साधुरपि क्रूर सत्त्वैरभिद्रुतः संयमाद् भ्रश्यत इति, दुःसहत्वाद्ग्रामकण्टकानाम् ॥८॥ पुनरपि तानाधिकृत्याह -

टीकार्थ – इस गाथा में 'अपि' शब्द संभावना मूलक है । कोई कुत्ता आदि प्राणी स्वभाव से ही क्रूर होता है । वह भूख से युक्त आहारार्थी भिक्षा के लिए भ्रमण करते हुए किसी साधु को काटने लगे, अपने दांतों से उसके अंगों को विदीर्ण करने लगे तब कुत्ते आदि के द्वारा काटे जाते समय मन्द-बुद्धि विवेक शून्य साधु दीन हो जाते है, भय से घबरा जाते है । जिस प्रकार आग से जलते हुए प्राणी पीड़ा से आर्त-व्यथित होकर शोक करने लगते हैं, अपने अंगों को सिकोड़ते हुए आर्त्तध्यान करते हैं, उसी तरह वे साधु भी निर्दय प्राणियों से अभिद्रूत-आक्रान्त होकर संयम से भ्रष्ट हो जाते हैं, क्योंकि गाँवों से ऐसे विघ्नों को सहना बड़ा मुश्किल होता है ।

❀ ❀ ❀

अप्पेगे पडिभासंति, पडिपंथिय मागता ।
पडियारगता एते, जे एते एव जीविणो ॥९॥

छाया – अप्येके प्रतिभाषन्ते प्रातिपथिकतामागताः ।
प्रतिकारगता एते य एते एवं जीविनः ॥

अनुवाद – जिसका साधुओं से द्रोह होता है-जो साधुओं से डाह करते हैं वे उन्हें देखकर कहते हैं कि भिक्षा पर जीवन चलाने वाले ये अपने द्वारा पहले किये गए पापों का दुष्फल भोग रहे हैं ।

टीका – 'अपि' संभावने, 'एके' केचनापुष्टधर्माणः-अपुण्यकर्माणः 'प्रतिभाषन्ते' ब्रुवते, प्रतिपथः -प्रतिकूलत्वं तेन चरन्ति प्रातिपथिकाः-साधुविद्वेषिणस्तद्भावमागताः कथञ्चित्प्रातिपथे वा दृष्टा अनार्या एतद् ब्रुवते, सम्भाव्यत एतदेवं विधानां, तद्यथा-प्रतीकारः-पूर्वाचरितस्य कर्मणोऽनु भवस्तमेके गताः प्राप्ताः स्वकृतकर्मफल भोगिनो 'य एते' यतयः 'एव जीविन' इति परगृहान्यटन्ति अतोऽन्त प्रान्तभोजिनोऽदत्तदाना लुञ्चितशिरसः सर्वभोगवञ्चिता दुःखितं जीवन्तीति ॥९॥

टीकार्थ – इस गाथा में 'अपि' शब्द संभावना के अर्थ में है कहीं अपुष्ट धर्मा-पापी जन जो साधुओं के विरुद्ध चलते हैं, तथा जो किसी कारण वश उनसे द्रोह-द्वेष करते हैं, अथवा जो असतपथगामी अनार्य हैं वे कहते हैं कि ये साधु भिक्षा के लिए अन्य लोगों के घरों में भटकते हैं, अन्तप्रान्त भोजी- बचे खुचे भोजन का सेवन करते हैं, दूसरे द्वारा दिया हुआ आहार ग्रहण करते हैं मस्तक के बालों को लोचते हैं, सब प्रकार के भोगों से रहित हैं, दुःख पूर्ण जीवन बिताते हैं, ये अपने द्वारा पहले किए हुए पाप कर्मों का फल भोगते हैं, अनार्य पुरुषों द्वारा साधु के प्रति ऐसा कहा जाना संभव है ।

❀ ❀ ❀

अप्पेगे वई जुंजंति, नगिणा पिंडोलगाहमा ।
मुंडा कंडूविणट्ठंगा उज्जला असमाहिता ॥१०॥

छाया – अप्येके वचो युजन्ति नग्नाः पिण्डोलगा अधमाः ।
मुंडाः कण्डूविनष्टाङ्गा उज्जला असमाहिताः ॥

अनुवाद – कई लोग जिन कल्प आदि की साधना में निरत मुनि को देखकर कहते हैं-ये नग्न हैं परपिण्डप्रार्थी-दूसरों द्वारा दत्त आहार लेते हैं ये अधम है, मुण्डित-केश रहित हैं, कण्डु रोग-खुजली आदि की बीमारी से इनके अंग जर्जर हैं, ये मैल से भरे हैं तथा विभत्स हैं-इन्हें देखकर घृणा आती है ।

टीका – किञ्च-अप्येके केचन कुसृति प्रसृता अनार्या वाचं युञ्जन्ति-भाषन्ते, तद्यथा-एते जिन कल्पिकादयो नग्नास्तथा 'पिंडोलग'त्ति परपिण्ड प्रार्थका अधमाः-मलाविलत्वात् जुगुप्सिता 'मुण्डा' लुञ्चितशिरसः, तथा क्वचित्कण्डू-कृतक्षतै रेखाभिर्वा विनष्टाङ्गा-विकृतशरीराः, अप्रतिकर्म शरीरतया वा क्वचिद्रोग सम्भवे सनत्कुमारवद्विनष्टाङ्गास्तथोद्गतो जल्लः शुष्कप्रस्वेदो येषां ते उज्जलाः तथा 'असमाहिता' अशोभना बीभत्सा दुष्टा वा प्राणि नाम समाधि मुत्पादयन्तीति ॥१०॥ साम्प्रदमेतद्भाषकाणां विपाकदर्शनायाह -

टीकार्थ – कुमार्गगामी कई अनार्य-अनाचरणशील व्यक्ति ऐसा कहते हैं कि ये जिन कल्पी आदि साधु नग्न रहते हैं दूसरों के पिण्ड-अन्न के प्रार्थी-अभ्यर्थीया याचक हैं, दूसरों से मांगकर खाते हैं, ये मैले कुचैले हैं,

अधम हैं, जुगुप्सित-घृणास्पद हैं, और लुंचित मस्तक हैं । खुजली आदि की बीमारी से कहीं-कहीं इनके घाव हैं, खुजलाने से बनी रेखाओं के कारण इनके अंग विकृत हो गए हैं, शरीर के प्रतिकर्म-स्नान, प्रक्षालन आदि न करने से रोगों की उत्पत्ति के कारण सनत्कुमार की तरह इनके अंग नष्ट हो गए हैं, अपनी देह पर सूखे हुए पसीने के कारण ये बड़े गंदे घिनौने हैं । दूषित हैं, ये प्राणियों के लिए असमाधि अशांति पैदा करते हैं ।

❀ ❀ ❀

एवं विप्पडिवन्नेगे, अप्पणा उ अजाणया ।
तमाओ ते तमंजंति, मंदा मोहेण पाउड़ा ॥११॥

छाया – एवं विप्रतिपन्ना एक आत्मनात्वज्ञाः ।
तमसस्ते तमो यांति मंदाः मोहेन प्रावृताः ॥

अनुवाद – इस प्रकार विप्रतिपन्न-संमार्ग, धर्ममार्ग या धार्मिक पुरुषों के साथ द्रोह करने वाले, स्वयं ज्ञान रहित मोहाच्छन्न अज्ञानी व्यक्ति एक अज्ञान से निकलकर दूसरे अज्ञान में प्रविष्ट होते जाते हैं ।

टीका – 'एवम्' अनन्तरोक्तनीत्या 'एके' अपुण्यकर्माणो 'विप्रतिपन्नाः' साधु सन्मार्गद्वेषिणः 'आत्मना' स्वयमज्ञाः तुशब्दादन्येषां च विवेकिनां वचन मकुर्वाणाः सन्तस्ते 'तमसः' अज्ञानरूपादुत्कृष्टं' तमो 'यान्ति' गच्छन्ति, यदि वा-अधस्तादप्यधस्तनीं गतिं गच्छन्ति, यतो 'मन्दा' ज्ञानावरणीयेनावष्टब्धाः' तथा 'मोहेन' मिथ्यादर्शन रूपेण 'प्रावृता' आच्छादिताः सन्तः खिङ्गप्रायाः साधुविद्वेषितया कुमार्गगा भवन्ति, तथा चोक्तम् -

''एकं हि चक्षुरमलं सहजं विवेकस्तद्वद्भिरेव सह संवसतिर्द्वितीयम् ।

एतद् द्वयं भुवि न यस्य स तत्त्वतोऽन्धस्तस्याप् मार्गचलने खलु कोऽपराधः ?॥१॥११॥ दंशमशक परीषह मधिकृत्याह -

टीकार्थ – कई ऐसे अपुण्य कर्मा-पापी लोग हैं, जो पहले कहे अनुसार साधुओं से तथा सन्मार्ग से द्रोह करते हैं, वे स्वयं ज्ञान रहित हैं । इस गाथा में 'तु' शब्द आया है, जिसका आशय यह है कि वे अन्य ज्ञानियों का कहना भी नहीं मानते, वे अविवेकी जीव एक अज्ञानात्मक अंधकार से निकलकर उससे भी भारी अज्ञानमय अंधकार को पाते हैं । अथवा वे निम्न से निम्न गति में जन्म लेते हैं, क्योंकि वे ज्ञानावरणीय कर्म से आवृत्त हैं तथा मिथ्या दर्शनात्मक मोह से आछन्न हैं । वे अज्ञानान्ध पुरुष साधु से द्रोह करने के कारण कुमार्ग सेवी हैं । कहा गया है - सहज, स्वाभाविक, विवेक ज्ञान एक अमल् निर्मल नेत्र है । विवेक युक्तजनों के साथ रहना उनका संग करना नेत्र है, जिसके ये दोनों नेत्र नहीं होते, इस भूमण्डल पर वस्तुतः वही अन्धा है । वह यदि अपमार्ग-बुरे रास्ते पर चलता है तो उसकी क्या गलती है ।

❀ ❀ ❀

पुट्ठो य दंसमसएहिं, तणफासमचाइया ।
न ये दिट्ठे परे लोए, जइ परं मरणं सिया ॥१२॥

छाया – स्पृष्टश्च दंशमशकै – स्तृणस्पर्शमशक्नुवन्तः ।
न मया दृष्टः परो लोकः, यदि परं मरणं स्यात् ॥

अनुवाद – डांसों और मच्छरों द्वारा स्पृष्ट-आक्रांत होता हुआ तथा तृण शैय्या-घास फूस के बिछौने के रूखे-कठोर स्पर्श को नहीं सह सकता हुआ एक साधु सोचने लगता है कि मैंने परलोक को साक्षात् देखा नहीं है किन्तु इस कष्ट से मरण या मृत्यु तुल्य पीडा को तो मैं प्रत्यक्ष ही देख रहा हूँ ।

टीका – क्वचित्सिन्धुत्ताम्रलिप्तकोङ्कणादिके देशे अधिका दंश मशका भवन्ति तत्र च कदाचित्साधुः पर्यटंस्तैः "स्पृष्टश्च" भक्षितः तथा निष्किञ्चनत्वात् तृणेषु शयानस्तत्स्पर्श सोढुमशक्नुवन् आर्त्तः सन् एवं कदाचिच्चिन्तयेत्, तद्यथा-परलोकार्थ मेतद्दुष्करमनुष्ठानं क्रियमाणं घटते, न चासौ मया परलोकः प्रत्यक्षेणोपलब्धः, अप्रत्यक्षत्वात्, नाप्यनुमानादिनोपलभ्यत इति, अतो यदि परं ममानेन क्लेशाभितापेन मरणं स्यात्, नान्यत्फलं किञ्चनेति ॥१२॥ अपिच -

टीकार्थ – सिन्धु, ताम्रलिप्त, तथा कोंकण आदि प्रदेशों में डांस और मच्छर बहुतायत से होते हैं। वहां विहरणशील साधु कदाचित डांसों और मच्छरों द्वारा स्पृष्ट हों, काटा जाए तथा निष्परिग्रही होने के कारण घास फूस के बिछौने पर सोया हुआ तिनकों के कठोर स्पर्श को न सह सके तो वह आर्त-दुःखित धैर्य रहित होकर ऐसा भी सोच सकता है कि यह जो मैं कठोर कर्म कर रहा हूँ, यह तो तभी उचित हो सकता है, जब परलोक का अस्तित्व हो । परलोक को मैंने नहीं देखा है, वह प्रत्यक्ष नहीं है । अनुमान आदि अन्य प्रमाणों द्वारा भी वह उपलब्ध, प्राप्त या सिद्ध नहीं होता । ऐसी स्थिति में यदि मेरी मृत्यु हो जाय तो वही उसका फल होगा उसके अतिरिक्त अन्य कोई फल नहीं होगा ।

❀ ❀ ❀

संतता केस लोएणं, ' बंभचेरपराइया ।
तत्थ मंदा विसीयंति, मच्छा विट्ठा व केयणे ॥१३॥

छाया – संतप्ताः केशलुञ्चनेन, ब्रह्मचर्यपराजिताः ।
तत्र मंदाः विषीदन्ति मत्स्याः विद्धा इव केतने ॥

अनुवाद – केशों के लुंचन से संतप्त-दुःखित, पीडित तथा ब्रह्मचर्य से पराजित-ब्रह्मचर्य पालन में अपने को असमर्थ मानते हुए मंद-अज्ञानी पुरुष जाल में फंसी मछलियों की ज्यों विषाद का अनुभव करते हैं ।

टीका – समन्तात् तप्ताः सन्तप्ताः केशानां 'लोच' उत्पाटनं तेन, तथाहि सरूधिर केशोत्पाटने हि महती पीडोपपद्यते, तया चाल्पसत्त्वाः विस्त्रोतसिकोभजन्ते तथा 'ब्रह्मचर्य' वस्तिनिरोधस्तेन च 'पराजिताः' पराभग्नाः सन्तः 'तत्र' तस्मिन् केशोत्पाटनेऽति दुर्जय कामोद्रेके वा सति 'मंदा' जडा-लघु प्रकृतयो विषीदन्ति संयमानुष्ठानं प्रति शीतली भवन्ति, सर्वथा संयमाद् वा भ्रश्यन्ति, यथा मत्स्याः 'केतने' मत्स्य बन्धने प्रविष्टा निर्गतिकाः सन्तो जीविताद् भ्रश्यन्ति, एवं तेऽपि वराकाः सर्वंकषकामपराजिताः संयमजीवितात् भ्रश्यन्ति ॥१३॥

टीकार्थ – केशों का उत्पाटन-उपाड़ना या उखाड़ना लोच कहा जाता है । केशों को उखाड़ते समय खून भी आ जाता है, इसलिए वैसा करते हुए बहुत पीड़ा होती है । अतएव कई आत्मबलरहित पुरुष केशों के लुँचन से पीडित होकर दीन बन जाते हैं । काम के उद्रेग को रोकना ब्रह्मचर्य कहा जाता है, उससे पराजित-उसके परिपालन में असमर्थ ओछी प्रकृति वाले अज्ञानी पुरुष जब केशों के लुंचन का समय आता है तथा

काम का वेग उमड़ता है, तब संयम के अनुसरण में शीतल-शिथिल हो जाते हैं, अथवा वे संयम से सर्वथा भ्रष्ट-पतित हो जाते हैं, जैसे जाल में फंसी हुई मछली उसमें से बाहर निकलने का रास्ता न पाकर उसी में मर जाती है । उसी तरह वे अभागे सर्वविजयी-सबको जीतने वाले काम से पराजित-पराभूत होकर, हारकर संयम मय जीवन से पतित हो जाते हैं ।

❀ ❀ ❀

आयदंड समायारे, मिच्छासंठिये भावणा ।
हरिसप्प ओ समावन्ना, केई लूसंतिऽनारिया ॥१४॥

छाया – आत्मदंड समाचाराः मिथ्यासंस्थित भावनाः ।
हर्ष प्रद्वेष मापन्नाः केऽपिलूषयंत्यनार्य्याः ॥

अनुवाद – जिससे आत्मा दंडभागी-पापत्मक कर्मों का बंध करने वाली होती है, ऐसे विपरीत आचरण के अनुगामी, धर्म से विपरीत चित्तवृत्ति युक्त, राग द्वेष से विकृत कई अनार्य पुरुष साधु को पीडित करते हैं।

टीका – किञ्च-आत्मा दण्ड्यते-खण्ड्यते हितात् भ्रश्यते येन स आत्मदण्डः 'समाचारः' अनुष्ठानं येषामनार्याणां ते तथा, तथा मिथ्या-विपरीता संस्थितास्वाग्रहारूढ़ा भावना-अन्तःकरणवृत्तियेंषां ते मिथ्यासंस्तित भावनामिथ्यात्वोपहतदृष्टय इत्यर्थः हर्षश्च प्रद्वेषश्च हर्षप्रद्वेषं तदापन्ना रागद्वेषसमाकुला इति यावत्, त एवम्भूता अनार्याः-सदाचारं साधुं क्रीडया प्रद्वेषेण वा क्रूरकर्मकारित्वात् 'लूषयन्ति' कदर्थयन्ति दण्डादिभिर्वाग्भि-र्वेति ॥१४॥ एतदेव दर्शयतुमाह –

टीकार्थ – जिससे आत्मा दंड की भागी बनती है, या अपने कल्याण से भ्रष्ट होती है, दूर हटती है, वैसे आचार को आत्म दंड कहा जाता है । जो अनार्य पुरुष ऐसा करते हैं, वे आत्म दण्ड समाचार कहे जाते हैं, जिनकी चित्त की वृत्ति विपरीत है या अपने असत् मिथ्या आग्रह में ग्रस्त है वे मिथ्या दृष्टि पुरुष मिथ्या संस्थित भावना कहलाते हैं, जो हर्ष-प्रसन्नता तथा द्वेष-दुष्टता से युक्त है, दूसरे शब्दों में जो रागद्वेषसमाकुल-राग और द्वेष से भरे हुए हैं ऐसे अनार्य पुरुष अपने चैतसिक विनोद के लिए अथवा द्वेष वश क्रूर कर्मा होने के कारण लट्ठी आदि के प्रहार-आघात द्वारा अथवा गाली गलौच द्वारा सदाचरण शील साधु को कष्ट देते हैं।

❀ ❀ ❀

अप्पेगे पलियंतेसिं, चारो चोरोत्ति सुव्वयं ।
बंधंति भिक्खुयं बाला, कसायवयणेहि य ॥१५॥

छाया – अप्येके पर्य्यंते चोरश्चौर इति सुव्रतम् ।
बध्नन्ति भिक्षुकं बालाः कषाय वचनैश्च ॥

अनुवाद – बाल-कतिपय ज्ञान शून्य पुरुष अनार्य देश के आसपास विहरणशील उत्तम व्रत युक्त साधु को यह गुप्तचर है या चोर है, रस्सी आदि द्वारा बाँध देते हैं, कषाय पूर्ण-क्रोध पूर्ण कठोर वचन कहकर उसे दुःखित करते हैं ।

टीका – अपि संभावने, एके अनार्या आत्मदण्ड समाचारा मिथ्यात्वोपहत बुद्धयो रागद्वेषपरिगता: साधुं 'पलियंतेसिं' ति अनार्य देश पर्यन्ते वर्तमानं 'चारो' त्ति चारोऽयं "चौर:" अयं स्तेन इत्येवं मत्वासुव्रतं कदथयन्ति, तथाहि-'बध्नन्ति' रज्ज्वादिना संयमयन्ति 'भिक्षुकं' भिक्षण शीलं 'बाला' अज्ञा: सद सद्विवेक विकला: तथा 'कषाय वचनैश्च' क्रोधप्रधानकटुकवचनैऽच निर्भर्त्सयन्तीति ॥१५॥

टीकार्थ – इस गाथा में 'अपि' शब्द संभावनार्थक है, अर्थात् ऐसा होना भी संभव है, यह सूचित करने के लिए इसका प्रयोग हुआ है जिससे आत्मा परलोक में दण्डित होती है, दु:ख प्राप्त करती है, ऐसे अनाचार सेवी मिथ्यात्व से विध्वस्त बुद्धि युक्त राग द्वेष के वशगत कई अनार्य पुरुष साधु को अनार्य देश के आस पास विहरण शील देखकर यह गुप्तचर है या चोर है ऐसा मानते हुए उसे उत्पीडित करते हैं, वे उसे रस्सी आदि से बांधकर व्यथित करते हैं । सत् और असत्-भले बुरे के विवेक से रहित वे अज्ञजन क्रोधपूर्ण कटुवचनों द्वारा साधु की निर्भत्सना करते हैं उसे डराते धमकाते हैं ।

❀ ❀ ❀

तत्थ दंडेण संवीते, मुट्ठिणा अदु फलेण वा ।
नातीणं सरती बाले, इत्थी वा कुद्धगामिणी ॥१६॥

छाया – **तत्र दंडेन संवीतो मुष्टिनाऽथवा फलेन वा ।**
ज्ञातीनां स्मरति बाल: स्त्रीवत् क्रुद्धगामिनी ॥

अनुवाद – उस अनार्य देश के आस पास विहरण शील साधु अनार्य जनों द्वारा डंडे से, मुक्के से या किसी बड़े फल से ताडित किया जाता है तो वह अपने ज्ञाति जनों को-पारिवारिक बन्धुबान्धवों को उसी तरह याद करने लगता है जैसे क्रोधवश घर से भागी हुई स्त्री अपने ज्ञातिजनों को स्मरण करती है ।

टीका – अपि च-'तत्र' तस्मिन्नार्य देशपर्यन्ते वर्त्तमान: साधुरनार्यै: 'दण्डेन' यष्टिना मुष्टिना वा 'संवीत:' प्रहतोऽथवा 'फलेन वा' मातुलिङ्गादिना खड्गादिना वा स साधुरेवं तै: कदर्थ्यमान: कश्चिदपरिणत: 'बाल:' अज्ञो 'ज्ञातीनां' स्वजनानां स्मरति, तद्यथा-यद्यत्र मम कश्चित् सम्बन्धी स्यात् नाहमेवम्भूतां कदर्थनामवाप्नुयामिति दृष्टान्तमाह-यथा स्त्री क्रुद्धा सती स्वगृहात् गमनशीला निराश्रया मांसपेशीव सर्वस्पृहणीया तस्करादिभिरभिद्रुता सती जातपश्चात्तापा ज्ञातीनां स्मरति एवमसावपीति ॥१६॥

टीकार्थ – उस अनार्य देश के आसपास विचरणशील साधु को जब अनार्यजन लाठी, मुक्के, मातुलिंग आदि फल तथा खड्ग आदि से मारने लगते हैं, तब पीड़ा अनुभव करता हुआ वह अपरिपक्व कच्चा साधु अपने पारिवारिक जनों को याद करता है, वह सोचने लगता है कि यहाँ मेरा कोई सम्बन्धी इस जगह मौजूद होता तो मेरी यह बुरी हालत नहीं होती, इस संबंध में एक दृष्टान्त है-जैसे एक स्त्री क्रोध में आकर अपने घर से निकल पड़ती है, भाग जाती है । जिस तरह मांस सब लोगों के लोभ का आकर्षण का हेतु है, उसी तरह चोर, दुष्ट आदि उसे स्पृहणीय मानकर उसके पीछे हो जाते हैं तब वह पछताती हुई अपने परिवार के लोगों को याद करती है, उसी प्रकार वह अज्ञानी साधु भी उक्तस्थिति में अपने रिश्तेदार को याद करता है।

❀ ❀ ❀

एते भो कसिणा फासा, फरूसा दुरहियासया ।
हत्थी वा सरसंवित्ता, कीवा वसगया गिहं ॥१७॥त्तिबेमि

छाया – एते भोः ! कृत्स्नाः स्पर्शाः परुषाः दुरधिसह्याः ।
हस्तिन इव शर संवीता क्लीवा अवशाः गताः ग्रहम् ।इति ब्रवीमि॥

अनुवाद – शिष्यों ! पहले कहे गए उपसर्ग असह्य और दुःखप्रद है, उनसे उद्वेलित होकर कायर पुरुष पुनः गृहस्थ में आ जाते हैं । जैसे बाण से आहत हाथी युद्ध भूमि को छोड़कर भाग जाता है उसी प्रकार आत्मबल रहित पुरुष घबराकर संयम् का परित्याग कर देते हैं, ऐसा मैं कहता हूँ ।

टीका – उपसंहारार्थमाह-भो इति शिष्यामन्त्रणं, य एत आदितः प्रभृति दंश मशकादयः पीडोत्पादकत्वेन परीषहा एवोपसर्गा अभिहिता 'कृत्सनाः' संपूर्णा बाहुल्येन स्पृश्यन्ते-स्पर्शेन्द्रियेणानुभूयन्त इति स्पर्शाः, कथम्भूताः ? 'परुषाः' परुषैरनार्यैः कृतत्वात् पीडाकारिणः, ते चाल्पसत्त्वैर्दुःखेनाधिसह्यन्ते तांश्चा सहमाना लघुप्रकृतयः केचनाश्लाघामङ्गीकृत्य हस्तिन इव रणशिरसि ''शरजाल संविताः'' शरशताकुला भङ्गमुपयान्ति एवं 'क्लीबा' असमर्था 'अवशाः' परवशाः कर्मायत्ता गुरुकर्माणः पुनरपि गृहमेव गताः, पाठान्तरं वा 'तिव्वसट्ठे'त्ति तीव्रैरूपसर्गैरभिद्रुताः 'शठाः' शठानुष्ठानाः संयमं परित्यज्य ग्रहं गताः इति ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥१७॥ उपसर्ग परिज्ञायाः प्रथमोद्देशक इति -

टीकार्थ – प्रस्तुत गाथा में 'भो' शब्द शिष्यों के संबोधन में आया है, जो डांस मच्छर आदि पीड़ा जनक उपसर्ग वर्णित किये गये हैं, वे सभी स्पर्शेन्द्रिय द्वारा अनुभव किये जाते हैं, इसलिए वे स्पर्श कहलाते हैं । वे सभी कष्ट अनार्य पुरुषों द्वारा दिये जाते हैं, वे पीड़ा उत्पन्न करते हैं, अल्प पराक्रमी प्राणी उन्हें सह नहीं सकते, कई ओछी प्रकृति के पुरुष अपनी बढ़ाई करते हुए पहले तो संयम स्वीकार कर लेते हैं, किन्तु बाणों की चोटों से आहत हाथी जैसे युद्ध भूमि से भाग खड़ा होता है, उसी तरह वे पुरुष भी पूर्व वर्णित परीषहों को सहने में असक्त होकर फिर गृहस्थ में लौट आते हैं वे वास्तव में गुरु कर्मों-भारी कर्मों वाले हैं, कहीं कहीं 'तिव्वसढे'-तीव्रशठ यह पाठ मिलता है । इसका तात्पर्य यह है कि तीव्र कठोर उपसर्गों से उत्पीडित तथा असत आचरणशील शठ-दुष्ट पुरुषों ने संयम का परित्याग कर घर को प्रस्थान किया-फिर गृहस्थ बन गये, यह मैं कहता हूँ ।

उपसर्ग परिज्ञा संज्ञक तृतीय अध्ययन का पहला उद्देशक समाप्त हुआ ।

❀ ❀ ❀

卐卐卐

द्वितीयः उद्देशकः

उक्तः प्रथमोद्देशक, साम्प्रतं द्वितीयः समारभ्यते-अस्य चायमभिसम्बन्धः इहोपसर्गपरिज्ञाध्ययने उपसर्गाः प्रतिविपादयिषिताः ते चानुकूलाः प्रतिकूलाश्च, तत्र प्रथमोद्देशके प्रतिकूलाः प्रतिपादिताः, इह त्वनुकूलाः प्रतिपाद्यन्त इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्याऽऽदिसूत्रम् -

अब तृतीय अध्ययन का द्वितीय उद्देशक प्रारम्भ किया जाता है ।

पहला उद्देशक वर्णित किया जा चुका है, अब दूसरा उद्देशक शुरु किया जा रहा है, इस दूसरे उद्देशक का पहले उद्देशक के साथ संबंध है । यह उपसर्ग परिज्ञा अध्ययन है । इसमें उपसर्गों का स्वरूप बताना अभिप्सित है । उपसर्ग दो प्रकार के हैं-प्रतिकूल और अनुकूल । प्रतिकूल उपसर्गों का वर्णन प्रथम उद्देशक में आ चुका है । इस उद्देशक में अनुकूल उपसर्गों का वर्णन किया जा रहा है । इस दूसरे उद्देशक का पहले से यही संबंध है । इसका प्रथम सूत्र इस प्रकार है -

अहिमे सुहुमा संगा, भिक्खुणं जे दुरुत्तरा ।
जत्थ एगे विसीयंति, ण चयंति जवित्तए ॥१॥

छाया – अथेमे सूक्ष्माः सङ्गाः भिक्षूणां ये दुरुत्तराः ।
तत्रैके विषीदंति न शक्नुवन्ति यापयितुम् ॥

अनुवाद – प्रतिकूल उपसर्ग कहे जाने के अनन्तर अब अनुकूल उपसर्ग प्रतिपादित किये जाते हैं । ये बड़े सूक्ष्म होते हैं । भिक्षु बड़ी कठिनता से इन उपसर्गों को लांघ सकते हैं, बर्दास्त कर सकते हैं, किन्तु कई पुरुष इन उपसर्गों से विषण्ण-विकृत हो जाते हैं, वे अपने संयम जीवन का पालन करने में असमर्थ हो जाते हैं ।

टीका – 'अथ' इति आनन्तर्ये, प्रतिकूलोपसर्गानन्तरमनुकूलाः प्रतिपाद्यन्त इत्यानन्तर्यार्थः ते 'इमे' अनन्तरमेवाभिधीय माना प्रत्यक्षासन्नवाचित्वादिदमाऽभि धीयन्ते, ते च 'सूक्ष्माः' प्रायश्चेतोविकारकारित्वेन नान्तराः, न प्रतिकूलोपसर्गा इवबाहुल्येनशरीरविकारकारित्वेन प्रकटतया बादरा इति, 'सङ्गा' मातापित्रादिसम्बन्धाः य एते 'भिक्षूणां' साधूनामपि 'दुरुत्तरा' दुर्लङ्घ्या-दुरतिक्रमणीया इति, प्रयोजीवितविघ्नकरैरपि प्रतिकूलोपसर्गै रूदीर्णैर्माध्यस्थ्यमवलम्बयितुं महापुरुषैः शक्यम्, एतेत्वनुकूलोपसर्गास्तानप्युपायेन धर्माच्याववयन्ति, ततोऽमी दुरुत्तरा इति, 'यत्र' येषूपसर्गेषु सत्स 'एके' अल्पसत्वाः सदनुष्ठानं प्रति 'विषीदन्ति' शीतलविहारित्वं भजन्ते सर्वथा वा-संयमं त्यजन्ति, नैवात्मानं संयमानुष्ठानेन 'यापयितुं'-वर्तयितुं तस्मिन् वा व्यवस्थापयितुं 'शक्नुवन्ति' समर्था भवन्तीति ॥१॥

टीकार्थ – प्रस्तुत गाथा में 'अथ' शब्द अनन्तर का अर्थ बोधित करने हेतु अभिहित हुआ है। प्रतिकूल उपसर्ग कहने के अनन्तर अब अनुकूल उपसर्ग कहे जाते हैं । यह बताना इसका लक्ष्य है । यहां 'इमे' 'इदं' शब्द का जो प्रयोग आया है, वह प्रत्यक्ष तथा समीपवर्ती वस्तु का वाचक है, जिससे वे अनुकूल उपसर्ग गृहीत किये गए हैं, जो आगे बताये जायेंगे ।

पारिवारिक जनों का स्नेहात्मक उपसर्ग बाहरी शरीर को विकृत नहीं करता वरन् वह चित्त को विकृत करता है, बिगाड़ता है । इसलिए उसे सूक्ष्म-आन्तरिक कहा जाता है, प्रतिकूल उपसर्ग जिस प्रकार व्यक्त रूप

में बाह्य शरीर को विकृत करते हैं, उस प्रकार ये उपसर्ग बाहरी शरीर को विकृत नहीं करते, इसलिए ये स्थूल नहीं है, यहां 'संघ' पद आया है जो माता-पिता आदि रिश्तेदारों के संबंध का सूचक है । रिश्तेदारों के संबंध को लांघ पाना साधु पुरुषों के लिए भी कठिन है, प्रतिकूल उपसर्ग जो जीवन को संकट में, विपत्ति या कठिनाई में डाल देते हैं जब आते हैं तो यहाँ सत्व-आत्मबल के धनी पुरुष मध्यस्थ वृत्ति-तटस्थ भाव स्वीकार कर लेते हैं । उनसे प्रभावित नहीं होते, किन्तु अनुकूल उपसर्गों के उपस्थित होने पर तटस्थ भाव स्वीकारना दुष्कर है, अनुकूल उपसर्ग महापुरुषों को भी धर्म से पतित कर देते हैं । अतएव आगमकार ने अनुकूल उपसर्गों को दुस्तर या दुर्लघ्य-जिन्हें पारकर पाना कठिन है कहा है । जब अनुकूल उपसर्ग उपस्थित होता है तो आत्म शक्ति विहीन पुरुष शीतल विहारी-संयम के परिपालन में शिथिल, अस्थिर या ढीले हो जाते हैं । अथवा संयम का सर्वथा परित्याग कर देते हैं, वे संयमपूर्वक जीवन निर्वाह करने में असमर्थ हो जाते हैं ।

❀ ❀ ❀

अप्पेगे नायओ दिस्स, रोयंति परिवारिया ।
पोषणे वाय । पुट्ठोऽसि, कस्स ताय ! जहासि णे ? ॥१॥

छाया – अप्येके ज्ञातयो दृष्ट्वा रुवन्ति परिवार्य्य ।
पोषय नस्तात ! पोषितोऽसि कस्य तात ! जहासि नः ॥

अनुवाद – साधु के रिश्तेदार साधु को देखकर उसे घेर लेते हैं और रोने लगते हैं-वे उसे कहते हैं-तात ! तुम हमारा क्यों परित्याग कर रहे हो हमने तुम्हारा लालन पालन किया है, अब तुम हमारा परिपोषण करो, पालन करो ।

टीका – तानेव सूक्ष्मसङ्गान् दर्शयितुमाह-'अपि:'संभावने'एके'तथाविधा'ज्ञातव्य:'स्वजना मातापित्रादय: प्रव्रजन्ते प्रव्रजितं वा 'दृष्ट्वा' उपलभ्य 'परिवार्य' वेष्टयित्वा रुदन्ति रूदन्तो वदन्ति च दीनं यथा-बाल्यात् प्रभृति त्वमस्माभि: पोषितो वृद्धानां पालको भविष्यतीति कृत्वाततोऽधुना "न:" अस्मानपित्वं 'तात' ! पुत्र पोषय पालय, कस्य कृते-केन कारणेन कस्यं वा बलेन तातास्मान् त्यजसि ? नास्माकं भवन्तमन्तरेण कश्चित्राता विद्यत इति ॥२॥ किञ्च -

टीकार्थ – आगमकार उन सूक्ष्म संबंधों को प्रकट करने के लिए कहते हैं-प्रस्तुत गाथा में 'अपि' शब्द संभावना के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । इसका आशय यह है कि इस गाथा मे जो बात कही गई है, वह संभव है-ऐसा होता है, मां बाप तथा उनके सदृश पारिवारिक जन प्रव्रजित-दीक्षित होते हुए या दीक्षा ग्रहण किये हुए साधु को देखकर उसे घेर लेते हैं, रोने लगते हैं, और दीनता दयनीता के साथ कहने लगते हैं पुत्र! हमने बाल्यकाल से ही तुम्हारा पालन इसलिए किया कि हमारे बूढ़े होने पर तुम सेवा करोगे । अब तुम हमारा पालन करो । तुम किस कारण से या किसके सहारे हमें छोड़ रहे हो । हे तात ! तुम्हारे अतिरिक्त हमारा दूसरा कोई रक्षक नहीं है ।

❀ ❀ ❀

पिया ते थेरओ तात ! ससा ते खुड्डिया इमा ।
भायरो ते सगा तात ! सोदरा किं जहासि णे ? ॥३॥

छाया – पिता ते स्थविरस्तात ! स्वसा ते क्षुल्लिकेयम् ।
भ्रातरस्ते स्वकास्तात ! सोदराः किं जहासि नः ॥

अनुवाद – पारिवारिक जन साधु से कहते हैं कि तात ! ये तुम्हारे पिता वृद्ध हैं, तुम्हारी यह बहिन अभी छोटी है, ये तुम्हारे सहोदर-एक माँ के पेट से जन्मे भाई हैं ! तुम हमारा क्यों परित्याग कर रहे हो।

टीका – हे 'तात' ! पुत्र ! पिता 'ते' तव 'स्थविरो' वृद्धः शतातीकः 'स्वसा' च भगिनी तव 'क्षुल्लिका' लघ्वी अप्राप्तयौवना 'इमा' पुरोवर्तिनी प्रत्यक्षेति, तथा भ्रातरः 'ते' तव स्वका 'निजास्तात' ! 'सोदरा' एकोदराः किमित्यस्मान् परित्यजसीति ॥३॥

टीकार्थ – हे तात ! हे पुत्र ! तुम्हारे पिता वृद्ध हैं, उनकी उम्र सौ वर्ष से भी ज्यादा है । तुम्हारी यह-सामने खड़ी बहिन छोटी है, अभी युवती नहीं हुई है । ये तुम्हारे सोदर-एक ही माँ के उदर से जन्मे हुए सगे भाई तुम्हारे समक्ष हैं । तुम हमारा परित्याग क्यों कर रहे हो ।

❀ ❀ ❀

मायरं पियरं पोस, एवं लोगो भविस्सति ।
एवं खु लोइयं ताय !, जे पालंति य मायरं ॥४॥

छाया – मातरं पितरं पोषय, एवं लोको भविष्यति ।
एवं खलु लौकिकं तात ! ये पालयन्ति च मातरम् ॥

अनुवाद – हे तात ! माता पिता का पोषण करो । ऐसा करने से ही तुम्हारा परलोक सुधरेगा । यही लोकाचार है । इसी तरह लोग अपने मां बाप का पालन पोषण करते हैं ।

टीका – तथा 'मायरमि'त्यादि, 'मातरं' जननीं तथा 'पितरं' जनयितारं 'पुषाण' बिभृहि, एवं च कृते तवेहलोकः परलोकश्च भविष्यति, तातेदमेव "लौकिकं" लोकाचीर्णम्, अयमेव लौकिकः पन्था यदुत-वृद्धयोर्मातापित्रोः प्रति पालमिति, तथा चोक्तम् -

"गुरवो यत्र पूज्यन्ते, यत्र धान्यं सुसंस्कृतम् । अदन्त कलहो यत्र, तत्र शक्र ! वसाम्यहम् ॥१॥" इति ॥४॥ अपि च -

टीकार्थ – हे पुत्र ! तुम अपनी मां और बाप का पालन करो । माँ बाप का पालन करने से तुम्हारा आगे का लोक सुधरेगा । हे तात ! अपने बूढ़े मां बाप का पालन करना ही लौकिक पथ है, लोकाचार है। कहा गया है-पुराणों में लक्ष्मी और इन्द्र के संवाद में लक्ष्मी इन्द्र से कहती है, जहां गुरुजनों की, बड़ों की पूजा होती है, सत्कार होता है, तथा संस्कार पूर्वक, पवित्रता पूर्वक अन्न पकाया जाता है, रसोई बनती है तथा जहां वाक् कलह-बोलचाल में झगड़ा नहीं होता, हे इन्द्र ! मैं वहीं निवास करती हूँ ।

❀ ❀ ❀

उत्तरा महुरुल्लावा, पुत्ता हे तात ! खुड्डुया ।
भारिया ते णवा तात ! मा सा अन्नं जणं गमे ॥५॥

छाया – उत्तराः मधुरालापाः पुत्रास्ते तात ! क्षुद्रकाः ।
भार्य्या ते नवा तात ! मा साऽन्यं जनं गच्छेत् ॥

अनुवाद – हे तात ! उत्तरोत्तर-एक के बाद एक क्रमशः जन्मे हुए तुम्हारे पुत्र छोटे-छोटे हैं, मधुर भाषी हैं । तुम्हारी स्त्री नवयुवती है, कहीं ऐसा न हो वह किसी दूसरे के यहां चली जाए ।

टीका – 'उत्तराः' प्रधानाः उत्तरोत्तर जाता वा मधुरो-मनोज्ञ उल्लापः-आलापो येषां ते तथाविधाः पुत्राः 'ते' तव 'तात' पुत्र ! 'क्षुल्लका' लघवः तथा 'भार्या' पत्नी ते 'नवा' प्रत्यग्रयौवना अभिनवोढा वा मा असौ त्वया परित्यक्ता सती अन्यं जनं गच्छेत्-उन्मार्गगामिनी स्याद्, अयं च महान् जनापवाद इति ।

टीकार्थ – हे तात ! तुम्हारे पुत्र बड़े उत्तम-अच्छे हैं, अथवा एक के बाद एक क्रमशः उत्पन्न हुए हैं । वे नन्हें नन्हें हैं । तुम्हारी पत्नी नवयुवती है तुम्हारे से परित्यक्त हुई-छोड़ी हुई, छोड़ी गई वह किसी अन्य पुरुष के यहाँ न चली जाए, यदि वह उन्मार्ग गामिनी होकर-उल्टा रास्ता अपनाकर वैसे कर ले तो संसार में बड़ी निन्दा होगी ।

❀ ❀ ❀

एहि ताय ! घरं जामो, मा य कम्मे सहा वयं ।
वितियंपि ताय ! पासामो, जामु ताव सयं गिहं ॥६॥

छाया – **एहि तात ! गृहं यामो मा त्वं कर्मसहा वयम् ।**
द्वितीयमपि तात ! पश्यामो यामस्तावत्स्वकं गृहम् ॥

अनुवाद – हे तात् ! हमारे साथ आओ, घर चले । अब घर में तुम्हें कोई काम नहीं करना होगा। तुम्हारे सब काम हम ही निपटा देंगे । एक बार तो काम से घबरा कर घर छोड़ आये, पर दूसरी बार ऐसा नहीं होगा । तुम्हारे सारे कार्य हम करते रहेंगे । अपने घर चलो ।

टीका – अपि च जानीमो वयं यथा त्वं कर्मभीरूस्तथापि 'एहि' आगच्छ गृहं 'यामो' गच्छामः । मा त्वं किमपि साम्प्रतं कर्मकृथाः, अपि तु तव कर्मण्युपस्थिते वयं सहायका भविष्यामः-साहाय्यं करिष्यामः एक वारं तावद् गृह कर्मभि र्भग्नस्त्वं तात ! पुनरपि द्वितीयं वारं 'पश्यामो' द्रक्ष्यामो यदस्माभिः सहायैर्भवतो भविष्यतीत्यतो 'यामो' गच्छामः तावत् स्वकं गृहं कुर्वेतदस्मद्वचनमिति ॥६॥ किञ्च –

टीकार्थ – पारिवारिक जन कहते हैं-हे तात् ! हम जानते हैं, तुम कर्म भीरू हो-घर के काम से डरते हो, तथापि आओ, घर चले । अब से आगे तुम कोई काम न करना । कार्य उपस्थित होने पर-काम करने का अवसर आने पर हम तुम्हारे सहायक होंगे, सहायता करेंगे । हे तात ! एक बार घर के काम से घबराकर तुम घर छोड़ गए, किन्तु दूसरी बार हम तुम्हारे सहायक होने का-तुम्हारे कार्यों में पूरी मदद करने का ध्यान रखेंगे इसलिए अपने घर चलो । हमारा कहना मानो ।

❀ ❀ ❀

गंतुं ताय ! पुणो गच्छे, ण तेषा समणो सिया ।
अकामगं परिक्कम्मं, को ते वारेउमरिहति ? ॥७॥

छाया – **गत्वा तात ! पुनरागच्छेर्नतेनाश्रमणः स्याः ।**
अकामकं पराक्रमन्तं कस्त्वां वारयितुमर्हति ॥

अनुवाद – हे तात ! एक बार घर चलकर फिर वापस लौट आना । ऐसा करने से तुम अश्रमण नहीं हो जाओगे-तुम्हारा श्रामण्य मिट नहीं जायेगा । पुनश्च घर में कामना या आसक्ति के बिना निःसंग भाव से पराक्रम-उद्यम करते हुए तुम्हें वहाँ कौन रोक सकता है ।

टीका – 'तात' पुत्र ! गत्वा गृहं स्वजनवर्गं दृष्ट्वा पुनरागन्ताऽसि, नच 'तेन' एतावता गृह गमन मात्रेण त्वमश्रमणो भविष्यसि, 'अकामगं' ति अनिच्छन्तं गृहव्यापारेच्छारहितं 'पराक्रमन्तं' स्वाभिप्रेतानुष्ठानं कुर्वाणं कः 'त्वां' भवन्तं 'वारयितुं' निषेधयितुम् 'अर्हति' योग्यो भवति, यदिवा-'अकामगं' ति वार्द्धकावस्थायां मदनेच्छाकामरहितं संयमानुष्ठानं प्रति कस्त्वामवसरे प्राप्ते कर्मणि प्रवृत्तं वारयितुमर्हतीति ॥७॥

टीकार्थ – हे तात ! घर जाकर, अपने पारिवारिक जनों को देखकर फिर लौट आना । केवल घर जाने मात्र से तुम श्रामण्य रहित नहीं हो जाओगे-वैसा करने मात्र से तुम्हारा साधुत्व नष्ट नहीं होगा। गृह व्यापार में-गृहस्थ के कार्यों में इच्छा रहित-अनासक्ति पूर्वक, अपने अभिप्रेत-अभिरूचि के अनुसार उद्यत रहते हुए तुम्हें कौन रोक सकता है ? अथवा वृद्धावस्था आने पर जब तुम्हारी काम वासना अपगत हो जायेगी, तब संयम की साधना में पराक्रमशील उद्यमशील होते तुम्हें कौन निवृत्त कर सकता है ।

❀ ❀ ❀

जं किंचि अणगं तात ! तंपि सव्वं समीकतं ।
हिरण्णं ववहाराई, तंपि दाहामु ते वयं ॥८॥

छाया – **यत् किंचिदृणं तात ! तत्सर्वं समीकृतम् ।**
हिरण्यं व्यवहारादि तदपि दास्यामोवयम् ॥

अनुवाद – हे तात तुम्हारे ऊपर जो कर्ज था, वह हमने परस्पर समीकृत कर लिया है-बाँटकर ले लिया है अब तुम्हें व्यवहार के लिए जितने धन की जरूरत होगी वह हम देंगे ।

टीका – अन्यच्च-'तात' पुत्र ! यत्किमपि भवदीयमृणजातमासीत्तत्सर्वमस्माभिः सम्यग्विभज्य 'समीकृतं' समभागेन व्यवस्थापितं, यदि वोत्कटं सत् समीकृतं-सुदेयत्वेन व्यवस्थापितं, यत्त 'हिरण्यं' द्रव्यजातं व्यवहारादावुपयुज्यते, आदि शब्दात् अन्येन वा प्रकारेण तवोपयोगं यास्यति तदपि वयं दास्यामः, निर्धनोऽहमिति मा कृथा भयमिति ॥८॥ उपसंहारार्थमाह -

टीकार्थ – हे तात ! तुम पर जो कर्ज था, हमने वह समीकृत कर दिया है-आपस में बराबर-बराबर बाँटकर व्यवस्थित कर दिया है । अथवा जो तुम पर उत्कट-भारी ऋण था, उसे हमने सुदेय बना दिया है ऐसी व्यवस्था कर दी है कि वह आसानी से चुकाया जा सके । अब से आगे तुम्हें वैयक्तिक आवश्यकता, व्यवसाय आदि अन्यान्य कार्यों में उपयोग हेतु जो धन अपेक्षित होगा, वह सब हम देंगे । अतः तुम कभी मन में यह डर न लाना कि मैं धन हीन हूँ, प्रस्तुत विषय का उपसंहार करते हुए आगे कहते हैं ।

❀ ❀ ❀

इच्चेव णं सुसेहंति, कालुणीय समुट्ठिया ।
विबद्धो णाइसंगेहिं, ततोऽगारं पहावइ ॥९॥

छाया – इत्येव सुशिक्षयन्ति कारुण्य समुपस्थिताः ।
विबद्धो जाति सङ्गैस्ततोऽगारं प्रधावति ॥

अनुवाद – करुणा समुत्थित-अपने में उठते हुए करुणा पूर्ण भावों के साथ पारिवारिक वृन्द उत्तम शिक्षा देते हैं-आग्रह करते हैं । तब स्वजन वर्ग की आसक्ति में बद्ध मोह मूढ़ वह साधु संयम मय जीवन को तिलांजली देकर घर में चला जाता है ।

टीका – णमिति वाक्यालङ्कारे 'इत्येव' पूर्वोक्तया नीत्या माता पित्रादयः कारुणिकैर्वचोभिः करुणामुत्पादयन्तः स्वयं वा दैन्यमुपस्थिताः 'तं' प्रव्रजितं प्रव्रजन्तं वा सुसे हंति 'त्ति सुष्ठु शिक्षयन्ति व्युद्ग्राहयन्ति, स चापरिणत धर्माऽल्पसत्त्वो गुरुकर्मा ज्ञाति सङ्गैर्विबद्धो-मातापितृपुत्रकलकत्रादि मोहितः ततः 'अगारं' गृह प्रति धावति-प्रव्रज्यां परित्यज्य गृहपाशमनुबध्नानीति ॥९॥

टीकार्थ – यहाँ णं शब्द वाक्यालङ्कार के रूप में प्रयुक्त है, जैसा पहले वर्णित हुआ, उस प्रकार माँ, बाप आदि रिश्तेदार कारुणिक करुणार्द्र वचनों द्वारा साधु के मन में करुणा उत्पन्न करते हुए अथवा स्वयं दैन्यभाव से युक्त होते हुए उसे शिक्षा देते हैं, उससे आग्रह करते हैं, उसके हृदय में अपनी बात जमाते हैं । अपरिणत धर्मा-अपरिपक्व धर्मयुक्त कच्चा, वह साधु, अल्पसत्व-अत्यधिक आत्मबलहीन एवं गुरुकर्मा, कर्मों से भारी होने के कारण अपने माता-पिता पुत्र इत्यादि के मोह में युक्त पारिवारिक जनों की आसक्ति में बद्ध होकर घर की ओर दौड़ जाता है, प्रव्रजित जीवन का त्याग कर गृहपाश में गृहस्थी के फंदे में बंध जाता है ।

❀ ❀ ❀

जहा रुक्खं वणे जायं, मालुया पडिबंधई ।
एव णं पडिबंधंति, णातओ असमाहिणा ॥१०॥

छाया – यथा वृक्षं वने जातं मालुका प्रतिबध्नाति ।
एवं प्रतिबध्नंति ज्ञातयोऽसमाधिना ॥

अनुवाद – जैसे वन में उत्पन्न वृक्ष को मालुका-बेल प्रतिबद्ध कर लेती है, बाँध लेती है, उसके चारों ओर लिपट जाती है, उसी प्रकार पारिवारिक जन असमाधि-अस्थिरता अशांति उत्पन्न कर उसे बांध लेते हैं । अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं ।

टीका – किञ्चान्यत्-यथा वृक्षं 'वने' अटव्यां 'जातम्' उत्पन्नं 'मालुया' वल्ली 'प्रतिबध्नाति' वेष्टयत्येवं 'णं' इति वाक्यालङ्कारे 'ज्ञातयः' स्वजनाः 'तं' यतिं असमाधिना प्रतिबध्नन्ति, ते तत्कुर्वन्ते येनास्या समाधिरूत्पद्यत इति, तथा चोक्तम् -

"अमित्रो मित्तवेसेणं, कंठे घेत्तूणं रोयइ । मा पित्ता ! सोग्गइ जाहि, दोवि गच्छामु दुग्गइं ॥१॥ अपि च-

छाया - अमित्रं मित्र वेषेण कण्ठे गृहित्वा रोदिति, मा मित्र सुगतीर्याद्वावपिगच्छावोदुर्गतिम्ट

टीकार्थ – इस गाथा में ण शब्द वाक्यालङ्कार में आया है । जैसे वन में उत्पन्न वृक्ष को वल्ली-लता प्रतिबद्ध कर लेती है, वेष्ठित कर लेती है, उसे घेर लेती है उसी प्रकार पारिवारिक जन साधु में मानसिक अस्थिरता अशांति उत्पन्न कर उसे प्रतिबद्ध कर लेते हैं । वे ऐसा करते हैं जिससे उस साधु का मन अशांत-

अस्थिर हो जाता है । कहा है सम्बन्धी जन वास्तव में मित्र या हितकारक नहीं हैं । वे अमित्र हैं-अहित करने वाले हैं । किन्तु मित्र की ज्यों गले में बांह डालकर रोते हैं, मानो वे कहते हो कि मित्र ! सद्गति की ओर, उत्तम गति की ओर कदम मत रखो, आओ, हम तुम दोनों दुर्गति की दिशा में बढ़ चले ।

❀ ❀ ❀

विबद्धो नातिसंगेहिं, हत्थीवावी नवग्गहे ।
पिट्ठतो परिसप्पंति, सुयगोव्व अदूरए ॥११॥

छाया – विबद्धो ज्ञातिसंगैर्हस्तीवाऽपि नवग्रहे ।
पृष्ठतः परिसर्पन्ति सूतगौरिवादूरगा ॥

अनुवाद – जो पुरुष अपने पारिवारिक जनों के मोह में बंधकर संयममय जीवन का परित्याग कर देता है, पुनः अपने घर में चला जाता है, उसके स्वजन वृन्द नये पकड़े हुए हाथी के समान उसकी बड़ी अच्छी तरह देखभाल करते हैं, उसके पीछे लगे रहते हैं, जैसे नवप्रसूता गाय अपने बछड़े के नजदीक लगी रहती है, उसी प्रकार उसके रिश्तेदार उसके नजदीक रहते हैं ।

टीका – विविध बद्धः-परवशीकृतः विबद्धो ज्ञातिसङ्गैः-मातापित्रादि सम्बन्धैः, ते च तस्य तस्मिन्नवसरे सर्वमनुकूलमनुतिष्ठन्तो धृतिमुत्पादयन्ति हस्तिवापि 'नवग्रहे' अभिनवग्रहणे, (यथा स) धृत्युत्पादनार्थमिक्षुशकलादिभिरूपचर्यते, एवमसावपि सर्वानुकूलैरूपायैरूपचर्यते, दृष्टान्तान्तरमाह-यथाऽभिनवप्रसूता गौर्निजस्तनन्धयस्य 'अदूरगा' समीपवर्तिनी सती पृष्ठतः परिसर्पति, एव तेऽपि निजा उत्प्रव्रजितं पुनर्जातमिव मन्यमानाः पृष्ठतोऽनुसर्पन्ति-तन्मार्गानुयायिनो भवन्तीत्यर्थः ॥११॥

टीकार्थ – माता-पिता आदि के संबंध से-तद्गत आसक्ति के कारण वह विविध रूप में बंधा हुआ साधु परवश, परतन्त्र हो जाता है । अपने पर अपना अधिकार खो देता है । वे सम्बन्धी जन तब उसके प्रति अनुकूल-प्रिय व्यवहार करते हुए उसे परितुष्ट संतुष्ट करने का प्रयास करते हैं । जिस प्रकार नये पकड़े हुए हाथी को परितुष्ट करने हेतु पकड़ने वाले उसे गन्ने के टुकड़े आदि मीठी चीजें खिलाकर उसकी परिचर्या करते है, उसी प्रकार पारिवारिक गण अनुकूल-उसके मन को भाने वाले उपायों द्वारा उसकी परिचर्या करते हैं, इस संबंध में एक ओर दृष्टान्त दिया जा रहा है-जिस प्रकार नव प्रसूता गाय अपने बछड़े के निकट रहती हुई उसके पीछे-पीछे दौड़ती फिरती है, उसी प्रकार परिवार के लोग भी संयम छोड़कर आए हुए उस साधु को नवजात-नये जन्मे हुए की तरह उसके पीछे पीछे फिरते हैं । वह जिस रास्ते से जाता है, उसी से वे जाते हैं-उसके अनुकूल बने रहते हैं ।

❀ ❀ ❀

एते संगा मणूसाणं, पाताला व अतारिमा ।
कीवा जत्थ य किस्संति, नाइसंगेहिं मुच्छिया ॥१२॥

छाया – एते सङ्गाः मनुष्याणां पाताला इवातार्याः ।
क्लीबाः यत्र क्लिश्यन्ति ज्ञाति सङ्गैर्मूर्च्छिताः ॥

अनुवाद – पारिवारिक जनों की आसक्ति, या स्नेह को लांघ पाना मनुष्यों के लिए उसी तरह कठिन है, जिस प्रकार समुद्र के पार उतरना । क्लीव-पौरूषहीन, आत्म बलरहित पुरुष संबंधियों के मोह से मूर्च्छित होकर अपना आपा भूलकर कष्ट पाते हैं ।

टीका – सङ्गदोषदर्शनायाह-'एते' पूर्वोक्ताः सज्यन्त इति सङ्गा-मातृ पित्रादिसम्बन्धाः कर्मोपादान हेतवः, मनुष्यणां 'पाताला इव' समुद्रा इवाप्रतिष्ठितभूमितलत्वात् ते 'अतारिम' त्ति दुस्तराः, एवमेतेऽपि सङ्गा अल्पसत्त्वैर्दुःखेनातिलङ्घ्यन्ते, 'यत्र च' येषु सङ्गेषु 'क्लीबा' असमर्थाः 'क्लिश्यन्ति' क्लेशमनुभवन्ति, संसारान्तर्वर्तिनो भवन्तीत्यर्थः, किंभूताः ? 'ज्ञातिसङ्गै' पुत्रादिसम्बन्धैः 'मूर्च्छिता' गृद्धा अध्युपपन्नाः सन्तो, न पर्यालोचयन्त्यात्मानं संसारान्तर्वर्तिनमेवं क्लिश्यन्तमिति ॥१२॥ अपिच -

टीकार्थ – जो आसक्त कर लेते हैं, जीव को आकृष्ट कर लेते हैं, बांध लेते हैं, वे सङ्ग कहे जाते हैं, माता पिता आदि स्वजनों के साथ रहे संबंध को सङ्ग कहते हैं । वह जीव को कर्मबंधन में बांधने का हेतु है जैसे पाताल-तलरहित अगाध समुद्र को मनुष्य तैरकर पार नहीं कर सकते, उसी प्रकार इन आसक्तियों को अल्पसत्व-आत्मबलहीन जीव लांघ नहीं सकते, पार नहीं कर सकते, मातापिता आदि की आसक्ति में बंधे हुए वे क्लीव-पुरुषार्थहीन व्यक्ति कष्ट भोगते हैं । वे सदा संसार में पड़े रहते हैं, पुनः वे कैसे हैं ? ऐसा प्रश्न उठाकर इसे स्पष्ट किया जाता है, वे पुत्र आदि के संबंधों में मूर्च्छित, गृद्ध लोलुप जीव संसार में पड़कर कष्ट पाते हुए अपनी आत्मा के संबंध में जरा भी पर्यालोचन, चिन्तन, मनन आदि न करते हुए क्लेश भोगते रहते हैं ।

❀ ❀ ❀

तं च भिक्खू परिन्नाय, सव्वे संगा महासवा ।
जीवियं नावकंखिज्जा, सोच्चा धम्ममणुत्तरं ॥१३॥

छाया – **तं च भिक्षुः परिज्ञाय सर्वे सङ्गा महाश्रवाः ।**
जीविते नावकाङ्क्षेत, श्रुत्वा धर्ममनुत्तरम् ॥

अनुवाद – संबंधी जनों के साथ रही आसक्ति को भली भांति जानकर साधु उसका परित्याग कर दे, क्योंकि ये सभी सम्बन्ध महाआश्रव-कर्म बांधने के बड़े द्वार है श्रोत है । साधु अनुत्तर-सर्वोत्तम, अर्हत प्ररूपित धर्म का श्रवण कर असंयम मय जीवन की आकांक्षा न करे ।

टीका – 'तं च' ज्ञातिसङ्गं संसारैकहेतुं भिक्षुर्ज्ञपरिज्ञया (ज्ञात्वा) प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेत् । किमिति ?, यतः 'सर्वेऽपि' ये केचन सङ्गास्ते 'महाश्रवा' महान्ति कर्मण-आश्रवद्वाराणि वर्तन्ते । ततोऽनुकूलैरूपसर्गैरुपस्थितैरसंयम जीवितं-गृहावासपाशं 'नाभिकाङ्क्षेत' नाभिलषेत्, प्रतिकूलैश्चोपसर्गैः सद्भिर्जीविताभिलाषी न भवेद्, असमञ्जसकारित्वेन भवजीवितं नाभिकाङ्क्षेत् । किं कृत्वा? 'श्रुत्वा' निशम्यावगम्य, कम् ?-धर्मं श्रुतचारित्राख्यं, नास्योत्तरोऽस्तीत्यनुत्तरं-प्रधानं मौनीन्द्रमित्यर्थः ॥१३॥

टीकार्थ – स्वजनों की आसक्ति का दोष बताने हेतु सूत्रकार प्रतिपादित करते हैं-'स्वजन वर्गों से संसर्ग रखना, उनमें आसक्त बने रहना, संसार में आवागमन का मुख्य हेतु है । साधु ज्ञ परिज्ञा द्वारा उसे जाने, प्रत्याख्यान परिज्ञा द्वारा उसका प्रत्याख्यान-परित्याग करे क्योंकि जितने संग-संबंध हैं, वे कर्मों के आने के बहुत बड़े आश्रवद्वार हैं । इसलिए अनुकूल-प्रिय या मन को अच्छे लगने वाले उपसर्गों के आने पर साधु संयम रहित जीवन या गृह

पाश रूपी फंदे में बंधने की आकांक्षा न करे । यदि प्रतिकूल-अप्रिय उपसर्ग आए तो जीवन की कामना न करे। प्राणों की बाजी लगाकर उसका सामना करे । वह असत् कर्म का अनुसरण करते हुए सांसारिक जीवन जीने की इच्छा न रखे । क्या करके ? क्या सुन करके ? यह प्रश्न उठाते हुए कहा जाता है कि श्रुत-सम्यक्-ज्ञान, चारित्र-सम्यक् आचार मूलक धर्म जो सर्वोत्तम है, तीर्थंकर भाषित है, उसे सुनकर वह ऐसा करे ।

❀ ❀ ❀

अहिमे संति आवट्टा, कासवेणं पवेइया ।
बुद्धा जत्थावसप्पंति, सीयंति अबुहा जहिं ॥१४॥

छाया – अथेमे सन्त्यावर्ताः काश्यपेन प्रवेदिताः ।
वृद्धाः यत्रापसर्पन्ति सीदन्त्यबुधाः यत्र ॥

अनुवाद – पूर्वोक्त विवेचन के अनन्तर अब आवर्त-भंवर या चक्र वर्णित होंगे, जो काश्यप गोत्रीय श्रमण भगवान महावीर द्वारा प्रवेदित-प्ररूपित या व्याख्यात हुए हैं । बुद्ध-बोध युक्त पुरुष, ज्ञानी जन उनसे दूर रहते हैं । अबुद्ध-अज्ञानी पुरुष उसमें फँस जाते हैं और कष्ट पाते हैं ।

टीका – अन्यच्च-'अथे' त्यधिकारान्तरदर्शनार्थः, पाठान्तरं वा 'अहो' इति, तच्च विस्मये, 'इमे' इति एते प्रत्याक्षासन्नाः सर्वजनविदितत्वात्, 'सन्ति' विपन्ते वक्ष्यमाणा आवर्तयन्ति-प्राणिनं भ्रमयन्तीत्यावर्ताः, तत्र द्रव्यावर्ताः नद्यादेः भावावर्तास्तूत्कटमोहोदयापादितविषयाभिलाषसंपादकसंपत्प्रार्थनाविशेषाः, एते चावर्ताः 'काश्यपेन', श्री मन्महावीरवर्द्धमानस्वामिना उत्पन्नदित्यज्ञानेन 'आ (प्र) वेदिताः' कथिताः प्रतिपादिताः 'यत्र' येषु सत्सु 'बुद्धा' अवगतत्त्वा आवर्तविपाकवेदिनस्तेभ्यः 'अपसर्पन्ति' अप्रमत्ततया तद्दूरगामिनो भवन्ति, अबुद्धास्तु निर्विवेकतया येष्ववसीदन्ति-आसक्तिं कुर्वन्तीति ॥१४॥ तानेवावर्तान् दर्शयितुमाह -

टीकार्थ – यहां जो "अथ" शब्द का प्रयोग हुआ है, वह दूसरे अधिकार प्रकरण का बोध कराने हेतु है । 'अथ' के स्थान में पाठान्तर के रूप में "अहो" भी प्राप्त होता है । अहो विस्मय या आश्चर्य का द्योतक है । जो प्राणियों को संसार में आवर्तित करता है-घूमाता है, चक्कर कटवाता है, उसे आवर्त्त कहा जाता है उनका आगे विवेचन किया जायेगा । इस गाथा में जो "इमे" शब्द का प्रयोग हुआ है वह सूचित करता है कि वे आवर्त सर्व विदित है-सब उन्हें जानते हैं, वे प्रत्यक्ष हैं सन्निकट वर्ति हैं । आवर्त दो प्रकार के हैं-द्रव्यावर्त एवं भावावर्त । नदी आदि की भ्रमियां-भँवर द्रव्यावर्त हैं। उत्कट-तीव्र महामोहनीय कर्म के उदय से आपादित-उत्पन्न विषय भोगों की अभिलाषा को पूर्ण करने वाली संपत्ति की अभ्यर्थना भावावर्त है । जिन्हें दिव्य ज्ञान-सर्वज्ञत्व प्राप्त था, उन प्रभु महावीर ने आवर्त का स्वरूप आप्रवेदित-आख्यात किया है । तदनुसार जो बुद्ध-विवेकशील जन आवर्तों की फल निष्पत्ति जानते हैं, वे उनके उपस्थित होने पर अप्रमत्त-प्रमाद शून्य, जागरूक रहते हैं, उनसे दूरगामी हो जाते हैं-हट जाते हैं किन्तु अबुद्ध-अतत्त्ववेत्ता अविवेकवश उनमें आसक्त होकर अत्यधिक दुःख भोगते हैं । उन आवर्तों का दिग्दर्शन कराने हेतु सूत्रकार निरूपित करते हैं -

❀ ❀ ❀

रायाणो रायऽमच्चा य, माहणा अदुव खत्तिया ।
निमंतियंति भोगेहिं, भिक्खूयं साहुजीविणं ॥१५॥

छाया – राजानो राजमात्याश्च ब्राह्मणा अथवा क्षत्रियाः ।
निमन्त्रयन्ति भोगैर्भिक्षुकं साधुजीविनम् ॥

अनुवाद – नृपति गण उनके अमात्य - मंत्रीवृन्द, ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय ये सभी साधुजीवि-जीवन में शुद्ध संयम पूर्ण आचार का पालन करने वाले मुनि को भोगमय जीवन में प्रत्यावृन्त होने हेतु, लौटने हेतु आमंत्रित करते हैं ।

टीका – 'राजानः' चक्रवर्त्यादयो 'राजामात्याश्च' मन्त्रिपुरोहितप्रभृतयः तथा ब्राह्मणा अथवा 'क्षत्रिया' इक्ष्वाकुवंशजप्रभृतयः, एते सर्वेऽपि 'भौगैः' शब्दादिभिर्विषयैः 'निमन्त्रयन्ति' भोगोपभोगं प्रत्यभ्युपगमं कारयन्ति कम् ? भिक्षुकं 'साधुजीविणमि' ति साध्वाचारेण जीवितुं शीलमस्येति (साधुजीवी तं) साधुजीविमिति, यथा ब्रह्मदत्तचक्रवर्तिना नानाविधैर्भोगैश्चित्रसाधुरूपानिमन्त्रित इति । एवमन्येऽपि केन चित्सम्बन्धेन व्यवस्थिता यौवनरूपादिगुणोपेतं साधुं विषयोद्देशेनोपनिमन्त्रयेयुरिति ॥१५॥

टीकार्थ – चक्रवर्ती और बड़े-बड़े नृपतिवृन्द, मंत्री, पुरोहित आदि तथा ब्राह्मण और उनमें इक्ष्वाकु आदि वंशों में उत्पन्न उत्तम क्षत्रिय-ये सभी शब्दादि विषयों के माध्यम से आमंत्रित करते हैं। भोगोपभोगमय जीवन को स्वीकार करने हेतु अनुरोध करते हैं । विषय के स्पष्टीकरण हेतु प्रश्न उपस्थित करते हुए कहते हैं-किसे आमंत्रित करते हैं ? साधुजीवी-शुद्ध आचार-आचार पूर्ण जीवन जीने वाले भिक्षु या मुनि को आमंत्रित करते हैं । जैसे ब्रह्मदत्त नामक चक्रवर्ती ने चित्र नामक मुनि को नाना प्रकार के भोगों द्वारा आकृष्ट कर उन्हें भोगने हेतु आमंत्रित किया था । उसी प्रकार किसी सम्बंधों में व्यवस्थित-जुड़े हुए अन्य पुरुष भी यौवन सौन्दर्य आदि गुणयुक्त पुरुष को सांसारिक भोगों के उद्देश्य में उपनिमंत्रित-गृही जीवन में लौटने हेतु आमंत्रित करते हैं ।

❀ ❀ ❀

हत्थऽस्सरहजाणेहिं, विहारगमणेहि य ।
भुजं भोगे इमे सग्घे, महारिसी ! पूजयामु तं ॥१६॥

छाया – हस्त्यश्वरथयानै र्विहारगमनैश्च ।
भुंक्ष्व भोगानिमान् श्लाघ्यान्महर्षे पूजयामस्त्वाम् ॥

अनुवाद – पूर्व वर्णित भूपति आदि मुनि को सम्बोधित कर कहते हैं-हे महर्षे ! आप हाथी, घोड़े, रथ आदि विविध यानों पर आरूढ़ होकर विहरण करे-उद्यान आदि में विचरण करे । श्लाघ्य-प्रशंसनीय उत्तम भोगों को भोगे । चलिए हम आपका पूजन-सम्मान, सत्कार करे ।

टीका – एतदेव दर्शयितुमाह-हस्त्यश्वरथयानैः तथा 'विहारगमनैः' विहरणं क्रीडनं विहारस्तेन गमनानि विहारगमनानि-उद्यानादौ क्रीडया गमनानीत्यर्थः, चशब्दादन्यैश्चेन्द्रियानुकूलैर्विषयैरूपनिमन्त्रयेयुः तद्यथा-भुङ्क्ष्व' भोगान्' शब्दादिविषयान् 'इमान्' अस्माभिर्दौकितान् प्रत्यक्षासन्नान् 'श्लाघ्यान्' प्रशस्तान् अनिन्द्यान् 'महर्षे' साधो ! वयं विषयोपकरणढौकनेन 'त्वां' भवन्तं 'पूजयामः' सत्कारयाम इति ॥१६॥ किञ्चान्यत् -

टीकार्थ – उपर्युक्त भाव को अभिव्यक्त करने हेतु सूत्रकार प्रतिपादित करते हैं-यह संभावित है कि राजा आदि मुनि के समीप आकर उन्हें आमंत्रित करे, उनसे आग्रह करे कि हाथी, घोड़े रथ आदि यानों पर

सवार होकर आप बाग बगीचों में क्रीड़ा, मनोविनोद आदि के निमित्त-चित्त बहलाने हेतु विहरण करे-घूमें। यहां जो च शब्द का प्रयोग हुआ है उसका अभिप्राय यह है हम लोगों द्वारा उपस्थापित-अर्पित श्लाघ्य-प्रशस्त अनिन्द्य उत्तमोत्तम शब्दादि विषयों का उपभोग करे। हे महर्षे ! हम लोग विषयोपकरण-भोगोपभोग की सामग्री प्रस्तुत करते हुए आपका सम्मान सत्कार करते हैं।

❀ ❀ ❀

वत्थगंधमलंकारं, इत्थीओ समणाणि य।
भुंजाहिमाइं, भोगाइं आउसो ! पूजयामु तं ॥१७॥

छाया – वस्त्रगन्धमलंकारं स्त्रियः शयनासने च।
भुंक्ष्वेमान् भोगान् आयुष्मन् पूजयामस्त्वाम् ॥

अनुवाद – हे चिरंजीव ! वस्त्र, गंध-सुगन्धित पदार्थ, अलंकार-आभूषण, रमणियाँ, शय्या आदि भोग्य पदार्थों का आप भोग करें। हम आपका सम्मान करते हैं, सत्कार करते हैं।

टीका – 'वस्त्रं' चीनांशुकादि 'गन्धा' कोष्टपुटपाकादयः, वस्त्राणि च गन्धाश्च वस्त्रगन्धमिति समाहारद्वन्द्वः तथा 'अलङ्कारम्' कटककेयूरादिकं तथा 'स्त्रियः' प्रत्यग्रयौवनाः 'शयनानि' च पर्यङ्कतूली प्रच्छदपटोपधानयुक्तानि, इमान् भोगानिन्द्रियमनोऽनुकूलानस्माभिर्ढौकितान् 'भुङ्क्ष्व' तदुपभोगेन सफलीकुरू, हे आयुष्मन् ! भवन्तं 'पूजयामः' सत्कारयाम इति ॥१७॥

टीकार्थ – यहां वस्त्र और गंध दोनों से मिलकर बना वस्त्र गंध पद समाहारार्थक द्वन्द्व समास है। चीनाशुक-रेशम आदि वस्त्र, गंध-कोष्ट पुटपाक आदि सुगन्धित पदार्थ, कटक-कडे, केयूर-बाजूबन्द या भुजबन्द आदि गहने, यौवनवती रमणियां तथा रूई से भरे बिछौने तकियों आदि से युक्त पलंग-इन भोगों का आप उपभोग करें, ये इन्द्रियों और मन को आल्हादित करने वाले हैं, हमारे द्वारा आपके सम्मुख उपस्थापित है, इनका उपयोग कर इन्हें सफल बनाये। हे चिरंजीव ! हम आपका पूजन-सत्कार सम्मान करते हैं।

❀ ❀ ❀

जो तुमे नियमो चिण्णो, भिक्खूभावंमि सुव्वया।
आगारमावसंतस्स, सव्वो संविज्जए तहा ॥१८॥

छाया – यस्त्वया नियमश्चीर्णो भिक्षुभावे सुव्रत।
अगारमावसतस्तव सर्वः संविद्यते तथा ॥

अनुवाद – हे उत्तमव्रत धारिन् ! आप भिक्षु भाव में आर्हती दीक्षा स्वीकार कर जिन नियम-महाव्रतादि के परिपालन में लगे हुए हैं, गृहवास-घर में रहते हुए भी वे सब उसी तरह से रह पायेंगे, परिपालित होते रहेंगे।

टीका – अपि च-यस्त्वया पूर्वं 'भिक्षुभावे' प्रव्रज्यावसरे 'नियमो' महाव्रतादिरूपः 'चीर्णः' अनुष्ठितः इन्द्रियनोइन्द्रियोपशमगतेन हे सुव्रत ! स साम्प्रतमपि 'अगारं' गृहम् 'आवसतः' गृहस्थभावं सम्यगनुपालयतो भवतस्तथैव विद्यत इति, न हि सुकृतदुष्कृतस्यानुचीर्णस्य नाशोऽस्तीति भावः ॥१८॥ किञ्च –

टीकार्थ – हे उत्तम व्रत धारिन्-मुनिवर्य प्रव्रज्या-दीक्षा लेकर आपने मन और इन्द्रिय में जो शांति प्राप्त की है, जिन महाव्रतादि नियमों का परिपालन करने में लगे हैं, वे गृहस्थ के रूप में रहते हुए भी-गृही जीवन का अनुपालन करते हुए भी वे वैसे ही बने रहेंगे, क्योंकि मनुष्य द्वारा संचित पुण्य पाप कभी नष्ट नहीं होते।

❀ ❀ ❀

चिरं वूइज्जमाणस्स, दोसो दाणिं कुतो तव ? ।
इच्चेव णं निमंतेंति, नीवारेण व सूयरं ॥१९॥

छाया – चिरं विहरतः दोष इदानीं कुतस्तव ।
इत्येव निमन्त्रयन्ति नीवारेणेव सूकरम् ॥

अनुवाद – मुनिवर्य ! आप चिरकाल से-बहुत समय से संयम का परिपालन करते आ रहे हैं, अब भोगमय जीवन स्वीकार करने पर भी आपको दोष नहीं लग सकता । यों भोग भोगने हेतु आमंत्रित कर लोग एक मुनि को उसी तरह सांसारिक जाल में फंसा लेते हैं, जैसे नीवार-चावल के दानों के लोभ से लोग सुअर को जाल में फंसा लेते हैं ।

टीका – चिरं प्रभूतं कालं संयमानुष्ठाने 'दूइज्जमाणस्स' त्ति विहरतः सतः 'इदानी' साम्प्रतं दोषः कुतस्तव ?, नैवास्तीति भावः, इत्येवं हस्त्यश्वरथादिभिर्वस्त्रगंधालङ्कारादिभिश्च नानाविधैरूपभोगोपकरणैः करणभूतैः 'ण' मिति वाक्यालङ्कारे 'तं' भिक्षुं साधुजीविनं 'निमन्त्रयन्ति' भोगबुद्धिं कारयन्ति दृष्टान्तं दर्शयति-तथा 'नीवारेण' व्रीहिविशेषकणदानेन 'सूकरं' वराहं कूटके प्रवेशयन्ति एवं तमपि साधुमिति ॥१९॥

टीकार्थ – पूर्ववर्णित राजा आदि साधु से अनुरोध करते हैं कि मुनिवर्य ! आप बहुत समय से संयम का अनुष्ठान-परिपालन करते हुए आ रहे हैं । अब यदि आप भोग भोगें तो कोई दोष नहीं है, यों कहते हुए वे लोग हाथी, घोड़े, रथ आदि यान वाहनों तथा वस्त्र, सुगंधित पदार्थ एवं आभूषण आदि तरह तरह के भोगोपयोगी साधनों द्वारा उस साधु में भोगमय भावना-बुद्धि पैदा करते हैं, जो संयमपूर्वक अपना जीवन यापन कर रहा है । इस संबंध में एक दृष्टान्त उपस्थित किया है कि जैसे नीवार-एक विशिष्ट जाति के चावलों के दानों का लोभ दिखाकर सुअर को फंदे में फांस लिया जाता है, उसी तरह साधु को भी वे लोग असंयम के फंदे में फंसा लेते हैं ।

❀ ❀ ❀

चोइया भिक्खचरियाए, अचयंता जवित्तए ।
तत्थ मंदा विसीयंति, उज्जाणंसि व दुब्बला ॥२०॥

छाया – चोदिताः भिक्षुचर्य्यायाऽशक्नुवन्तो यापयितुम् ।
तत्र मंदाः विषीदन्ति उद्यान इव दुर्बलाः ॥

अनुवाद – वे मंद अज्ञानी पुरुष जिन्होंने साधु का बाना अपना रखा है, उस साधु समाचारी का पालन नहीं कर सकते, जिसके पालन हेतु आचार्य आदि गुरुजनों ने जिन्हें प्रेरित किया । फलतः वे उसी तरह संयम का परित्याग कर देते हैं, जैसे ऊँचे मार्ग पर गमनोद्यत दुर्बल - क्षतिहीन बैल गिर पड़ते हैं ।

टीका – अनन्तरोपन्यस्तवार्तोपसंहारार्थमाह-भिक्षूणां-साधूनामुद्युक्त विहारिणां चर्या दशविधचक्रवाल सामाचारी इच्छामिच्छेत्यादिका तया चोदिताः - प्रेरिता यदिवा भिक्षुचर्यया करणभूतया सीदन्तश्चोदिताः-तत्करणं प्रत्याचार्यादिकैः पौनः पुन्येन प्रेरितास्तच्चोदनामशक्नुवन्तः संयमानुष्ठानेनात्मानं 'यापयितुं' वर्तयितुमसमर्थाः सन्तः 'तत्र' तस्मिन् संयमे मौक्षैकगमनहेतौ भवकोटिशतावाप्ते 'मन्दा' जडा 'विषीदन्ति' शीतलविहारिणो भवन्ति. तमेवाचिन्त्यचिन्तामणिकल्पं महापुरुषानुचीर्णं संयमं परित्यजन्ति, दृष्टान्तमाह-ऊर्ध्वं यानमुद्यानं-मार्गस्योन्नतो भाग उद्वङ्ग मित्यर्थः तस्मिन् उद्यानशिरसि उत्क्षिप्तमहाभरा उक्षाणोऽतिदुर्बला यथाऽवसीदन्ति-ग्रीवां पातयित्वा तिष्ठन्ति नोत्क्षिप्तभरनिर्वाहका भवन्तीत्येवं तेऽपि भावमन्दा उत्क्षिप्तपञ्चमहाव्रतभारं वोढुमसमर्थाः पूर्वोक्तभावावर्तैः पराभग्ना विषीदन्ति ॥२०॥ किञ्च -

टीकार्थ – आगमकार अब पूर्व वर्णित बातों का उपसंहार कर प्रतिपादित करते हैं -

शास्त्रीय विधि के अनुसार विचरणशील साधु के लिए दस प्रकार की समाचारी का विधान है, जो तलवार की तेजधार के समान बड़ी तीक्ष्ण और दुर्वह है, जिसका 'इच्छा मिच्छा' इत्यादि द्वारा निरूपण हुआ है, उसे भिक्षुचर्या कहा जाता है । उस भिक्षाचर्या का पालन करने हेतु गुरु आदि प्रेरित करते रहते हैं, अथवा उस भिक्षुचर्या के अनुसरण में साधकों को कष्ट पाता देखकर आचार्य आदि पुनः पुनः प्रेरित करते हैं, किन्तु कतिपय साधु उस प्रकार की प्रेरणा पाकर भी उस कठोरता को सहन करने में अपने को असमर्थ पाते हैं । संयम का पालन करतें हुए साधु जीवन का सम्यक् निर्वाह करने में असमर्थ अज्ञानी पुरुष उस संयम के परिपालन में शिथिल हो जाते हैं, जो करोड़ों भवों के पश्चात् प्राप्त हुआ, जो मोक्ष प्राप्ति का मुख्य साधन है । वे मन्द-जड़ या अज्ञानी उस संयम का परित्याग कर देते हैं, जिसका महापुरुष आचरण करते रहे हैं, जो चिन्तामणि रत्न के सदृश अचिन्त्य प्रभावयुक्त है । इस संबंध में एक दृष्टान्त प्रस्तुत किया जाता है-उत् + यान = उद्यान-मार्ग के उच्च भाग को उद्यान कहा जाता है । जो बैल भारी बोझ से दबे हुए हों, शक्तिहीन हों, उस उच्च भाग की ओर आगे बढ़ते हुए, हारकर अपनी गर्दन को नीचे कर बैठ जाते हैं । अपने पर लादे हुए बोझ को ढोने में वे अक्षम हो जाते हैं, उसी प्रकार वे अज्ञानी व्यक्ति भी अपने द्वारा स्वीकृत पांच महाव्रतात्मक भार को ढोने में-उसको लेकर साधना के उच्चमार्ग में आगे बढ़ते रहने में असमर्थ हो जाते हैं । पहले स्त्री आदि जिन भाववर्तों का वर्णन हुआ है, उनसे विचलित होकर संयम का परित्याग कर देते हैं ।

❀ ❀ ❀

अचयंता व लूहेणं, अवहाणेण तज्जिया ।
तत्थ मंदा विसीयंति, उज्जाणंसि जरग्गवा ॥२१॥

छाया – अशक्नुवन्तो रूक्षेण, उपधानेन तर्जिताः ।
तत्र मंदाः विषीदन्ति उद्याने जरद्गवाः ।

अनुवाद –, त्याग मय जीवन का निर्वाह करने में असमर्थ, तपश्चरण से तर्जित-भयभीत, डरने वाले मंद अज्ञानी पुरुष संयम के उच्च पथ पर आगे बढ़ते हुए उसी तरह विषण्ण या परिश्रान्त हो जाते हैं, जैसे ऊँचे रास्ते पर आगे बढ़ता हुआ वृद्ध बैल ।

टीका – 'रूक्षेण' संयमेनात्मानं यापयितुमशक्नुवन्तः तथा 'उपधानेन' अनशनादिना सबाह्याभ्यन्तरेण तपसा 'तर्जिता' बाधिताः सन्तः तत्र संयमे मन्दा विषीदन्ति 'उद्यानशिरसि' उद्वङ्गमस्तके 'जीर्णो' दुर्बलो गौरिव, यूनोऽपि हि तत्रावसीदनं सम्भाव्यते किं पुनर्जरद्गवस्येति जीर्णग्रहणम्, एवमावर्तमन्तरेणापि धृतिसंहननोपेतस्य विवेकिनोऽप्यवसीदनं सम्भाव्यते, किं पुनरावर्तैरूपसर्गितानां मन्दानामिति ॥२१॥

टीकार्थ – रूक्ष का तात्पर्य संयम है । रूक्ष का सामान्य अर्थ रूक्खा या नीरस होता है । भौतिक सुख चाहने वालों के लिए संयम भी नीरस है । जो पुरुष उस संयम का पालन करने में अक्षम है, अनशन आदि बाह्य तथा स्वाध्याय ध्यानादि आभ्यन्तर विविध तपश्चरण से भय खाते हैं, डरते है, वे अज्ञानी संयमपथ पर आगे बढ़ने में उसी तरह विषाद का अनुभव करते है जैसे ऊँचे मार्ग पर चढ़ता हुआ कमजोर वृद्ध बैल क्लेशाविष्ट होता है । ऊँचे मार्ग पर चढ़ते हुए तो युवा बैल को भी अवसाद- कष्ट होना सम्भावित है । इसी भाव का दिग्दर्शन कराने हेतु यहां जरग्गवा-जरद्गव-जीर्णपद का प्रयोग हुआ है । जो पुरुष धैर्यशील, दृढ़संहनन युक्त तथा विवेकशील होते है वे भी आवर्तो-विघ्नों द्वारा अवसन्न पीडित हो जाते हैं । फिर जिनकी ऊपर चर्चा आई है, उनका तो कहना ही क्या ।

❀ ❀ ❀

एवं निमंतणं लद्धुं, मुच्छिया गिद्ध इत्थीसु ।
अज्झोववन्ना कामेहिं चोइज्जंता गया गिहं ॥२२॥तिबेमि॥

छाया – एवं निमन्त्रणं लब्धवा मूर्च्छिताः गृद्धाः स्त्रीषु ।
अध्युपपन्नाः कामेषु चोद्यमानाःगता गृहम् ॥

अनुवाद – जैसा पहले वर्णित हुआ है-पारिवारिक जन आदि द्वारा उपस्थापित भोग भोगने का आमन्त्रण प्राप्त कर काम भोग में लोलुप, स्त्रियों में विमुग्ध-आसक्त सांसारिक विषयों में अध्युपपन्न-उस ओर आकृष्ट पुरुष संयम पालन हेतु गुरु आदि द्वारा प्रेरणा किये जाने पर भी वे गृहस्थ में चले जाते हैं ।

टीका – 'सर्वोपसंहारमाह-'एवं' पूर्वोक्तया नीत्या विषयोपभोगोपकरणदान पूर्वकं 'निमन्त्रणं' विषयोपभोगं प्रति प्रार्थनं 'लब्ध्वा' प्राप्य 'तेषु' विषयोपकरणेषु हस्त्यश्वरथादिषु 'मूर्च्छिता' अत्यन्तासक्ताः तथा स्त्रीषु 'गृद्धा' दत्तावधाना रमणीरागमोहिताः तथा 'कामेषु' इच्छामदनरूपेषु 'अध्युपपन्नाः' कामागतचित्ताः संयमेऽवसीदन्तोऽपरेणोद्युक्तविहारिणा नोद्यमानाः-संयमं प्रति प्रोत्साह्यमाना नोदनां सोढुमशक्नुवन्तः सन्तोगुरुकर्माणः प्रव्रज्यां परित्यात्पसत्त्वा गृहं गतागृहस्थीभूताः इतिः परिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥२२॥

टीकार्थ – जो जीव कर्मों से भारी होते हैं, जैसा पहले वर्णन किया गया है, जब उनके समक्ष हाथी, घोड़े, रथ आदि सांसारिक विषय भोग सम्बन्धी सामग्री उपस्थापित करते हुए लोगों द्वारा भोग भोगने की अभ्यर्थना की जाती है, तब वे उनमें अत्यन्त आसक्त होते हुए स्त्रियों के प्रति लोलुप बने हुए अत्यन्त कामासक्त बनते हुए संयम के पालन में शिथिल हो जाते हैं, उस समय शास्त्रीय मर्यादापूर्वक संयम का परिपालन करने वाले किसी मुनि द्वारा प्रेरित किये जाने पर भी वे उत्साहित नहीं होते, संयम पालन में समर्थ नहीं होते, वे आत्मपराक्रम रहित पुरुष प्रव्रजित-संयम में दीक्षित जीवन का परित्याग कर फिर गृहस्थ बन जाते हैं । इति शब्द यहाँ समाप्ति का सूचक है, ब्रवीमि बोलता हूँ यह पूर्ववत यहाँ योजनीय है ।

उपसर्ग परिज्ञा अध्ययन का द्वितीय उद्देशक समाप्त हुआ ।

❀ ❀ ❀

卐 卐 卐

तृतीयः उद्देश्यकः

उपसर्गपरिज्ञायां उक्तो द्वितीयोद्देशकः, साम्प्रतं तृतीयः समारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः-इहानन्तरोद्देशकाभ्यामुपसर्गा अनुकूलप्रतिकूलभेदेनाभिहिताः, तैश्चाध्यात्मविषीदनं भवतीति तदनेन प्रतिपाद्यत इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादिसूत्रम् -

अब तृतीय अध्ययन का तृतीय उद्देशक प्रारम्भ किया जाता है ।

उपसर्ग परिज्ञा का दूसरा अध्ययन कहा जा चुका है, अब तीसरा अध्ययन शुरु किया जाता है । इसका पहले के उद्देशकों के साथ संबंद्ध है, पहले के दो उद्देशको में अनुकूल और प्रतिकूल-दो प्रकार के उपसर्ग बताये गए हैं, उन उपसर्गों द्वारा अध्यात्म विषीदन-ज्ञान और वैराग्य का नाश होता है । इस तृतीय उद्देशक में यह बताया जायेगा । तीसरे उद्देशक के अवतरण का यह कारण है । उसका पहला सूत्र यों है -

जहा संगामकालंमि, पिट्ठतो भीरू वेहइ ।
वलयं गहणं णूमं, को जाणइ पराजयं ? ॥१॥

छाया – यथा संग्रामकाले पृष्ठतो भीरूः प्रेक्षते ।
वलयं गहन माच्छादकं को जानाति पराजयम् ।

अनुवाद – शौर्य विहीन-कायर पुरुष संग्राम का समय उपस्थित हो जाने पर अपने बचाव के लिए गड्ढा या कोई गुप्त स्थान देखता है । वह मन ही मन सोचता है कौन जानता है ? युद्ध में किसकी पराजय हो, अतः संकट के समय अपने बचाव के लिए पहले से ही छिपने की जगह देख लेनी चाहिए।

टीका – दृष्टान्तेन हि मन्दमतीनां सुखेनैवार्थावगतिर्भवतीत्यत आदावेव दृष्टान्तमाह-यथा कश्चिद् 'भीरूः' अकृतकरणः 'संग्रामकाले' परानीकयुद्धावसरे समुपस्थिते 'पृष्टतः प्रेक्षते' आदावेवापत्प्रतीकारहेतु भूतं दुर्गादिकं स्थानमवलोकयति । तदेव दर्शयति-'वलय' मिति यत्रोदकं वलयाकारेण व्यवस्थितम् उदक रहिता वा गर्ता दुःखनिर्गमप्रवेशा, स्तथा 'गहनं' धवादिवृक्षैः कटिसंस्थानीयं 'णूमं' ति प्रच्छन्नं गिरिगुहादिकं, किमित्यसावेवमवलोकयति ?, यत एवं मन्यते-तत्रैवम्भूते तुमुलसङ्ग्रामे सुभटसङ्कुले को जानाति कस्यात्र पराजयो भविष्यतीति? यतो दैवायत्ताः कार्यसिद्धयः, स्तोकैरपि बहवो जीयन्त इति ॥१॥

टीकार्थ – दृष्टान्त या उदाहरण से मन्दमति-कमजोर बुद्धि युक्त पुरुषों को आसानी से किसी विषय का ज्ञान होता है । अतः सूत्रकार दृष्टान्त द्वारा अपना प्रतिपाद्य उपस्थित करते हैं -

जैसे युद्ध कला में अनिष्णात डरपोक पुरुष शत्रु की फौज के साथ युद्ध चालू हो जाने के पहले बचने के लिए किसी दुर्ग-जहां कठिनाई से पहुँचा जा सके, ऐसे स्थान की टोह करता है, सूत्रकार उन्हीं दुर्गम स्थानों का दिग्दर्शन कराते हैं-जहां वलयाकार या गोल आकार में पानी टिका होता है, वैसा स्थान, जल विहीन गड्ढा आदि स्थान जहां घुस पाना और जहां से निकल पाना मुश्किल होता है, अथवा जो स्थान धव आदि वृक्षों से मनुष्य की कटि पर्यन्त आवृत्त हो-ढका हो तथा छिपी हुई पर्वत की गुफा आदि हो । इस तरह की जगह वह पहले खोजता है, देखता है, यह प्रश्न उठाते हुए कि वह क्योंकि इन स्थानों को देखता है.। यह प्रश्न उपस्थित करते हुए सूत्रकार यह समाधान देते है कि वह डरपोक आदमी यह सोचता है कि इस भयजनक

युद्ध में बहुत बड़े-बड़े शौर्यशाली योद्धा एकत्रित हैं अतएव कौन जाने किसकी इसमें पराजय हो, क्योंकि कभी-कभी ऐसा होता है कि थोड़े पुरुष भी बुहसंख्यक जनों पर विजय प्राप्त कर लेते है, कार्य की सफलता देव के अधीन है ।

❀ ❀ ❀

मुहुत्ताणं मुहुत्तस्स, मुहुत्तो होइ तारिसो ।
पराजियाऽवसप्पामो, इति भीरू उवेहई ॥२॥

छाया – मुहूर्त्ताणां मुहूर्तस्य मुहूर्तो भवति तादृशः ।
पराजिता अवसर्पाम इति भीरू रूपेक्षते ॥

अनुवाद – बहुत से मुहूर्तों में या कोई एक ही मुहूर्त में ऐसी घड़ी आ सकती है जो जय या पराजय को संभव बना दे । इसलिए हम पराजित होकर जहां जा सके, छिप सके, ऐसे स्थान को भीरू-कायर जन पहले से ही देखे रखते हैं ।

टीका – किञ्चमुहूर्त्तानामेकस्य वा मुहूर्तस्यापरो 'मुहूर्तः' कालविशेषलक्षणोऽवसरस्तादृग् भवति यत्र जयः पराजयो वा सम्भाव्यते, तत्रैवं व्यवस्थिते पराजिता वयम् 'अवसर्पामो' नश्याम इत्येतदपि सम्भाव्यते अस्मद्विधानामिति भीरूः पृष्ठत आपत्प्रतीकारार्थं शरणमुपेक्षते ॥२॥ इति श्लोकद्वयेन दृष्टान्तं प्रदर्श्य दार्ष्टान्तिकमाह-

टीकार्थ – बहुत से मुहूर्तों में अथवा किसी एक ही मुहूर्त में कोई ऐसा काल विशेष-अवसर आ सकता है, जिसमें जय या पराजय संभावित हो जाय-घटित हो जाय ऐसी स्थिति में, पराजित होकर भागकर हमें कहीं छिपना पड़े, ऐसा सोचकर भीरू-डरपोक व्यक्ति पहले ही आगे आने वाली आपत्ति का प्रतीकार करने हेतु शरण-रक्षा योग्य स्थान की गवैषणा करता है, ढूंढता है । इन दो दृष्टान्तों को प्रदर्शित कर सूत्रकार अब उनका सारांश प्रकट करते हैं ।

❀ ❀ ❀

एवं तु समणा एगे, अबलं नच्चाण अप्पगं ।
अणागयं भयं दिस्स, अविकप्पंतिमं सुयं ॥३॥

छाया – एवं तु श्रमणा एक अबलं ज्ञात्वाऽऽत्मानम् ।
अनागतं भयं दृष्ट्वाऽवकल्पयन्तीदं श्रुतम् ॥

अनुवाद – कई श्रमण यह सोचकर कि जीवन पर्यन्त हम संयम पालन में समर्थ नहीं हो सकेंगे, आगामी काल में संभावित कष्टों से बचने के लिए वे अन्यश्रुत लोकोपयोगी शास्त्रों का अभ्यास कर अपनी रक्षा का साधन बनाते हैं ।

टीका – 'एवम्' इति यथा सङ्ग्रामं प्रवेष्टुमिच्छुः पृष्ठतोऽवलोकयति-किमत्र मम पराभग्नस्य वलयादिकं शरणं त्राणाय स्यादिति ?, एवयेव 'श्रमणाः' प्रव्रजिता 'एके' केचनादृढमतयोऽल्पसत्त्वा आत्मानम् 'अबलं' यावज्जीवं संयमभारवहनाक्षमं ज्ञात्वा अनागतमेव भयं 'दृष्ट्वा' उत्प्रेक्ष्य तद्यथा-निष्किञ्चनोऽहं किं मम वृद्धावस्थायां ग्लानाद्यवस्थायां दुर्भिक्षे वा त्राणाय स्यादित्येवमाजीविका भयमुत्प्रेक्ष्य 'अवकल्पयन्ति' परिकल्पयन्ति मन्यन्ते-

इदं व्याकरणं गणितं ज्योतिष्कं वैद्यकं होराशास्त्रं मन्त्रादिकं वा श्रुतमधीतं ममावमादौ त्राणाय स्यादिति ॥३॥ एतच्चैतेऽवकल्पयन्तीत्याह -

टीकार्थ – जिस प्रकार एक कायर पुरुष जो युद्ध में प्रविष्ट होना चाहता है-संग्राम में सैनिक के रूप में भाग लेना चाहता है तो वह पहले ही देखता है कि हार जाने के बाद ऐसा कौनसा वलय, गड्ढा आदि स्थान मेरी रक्षा हेतु उपयोगी होगा । इसी प्रकार वह साधु जिसका चित्त स्थिर नहीं होता, जिसमें यथेष्ट आत्मबल नहीं होता, जीवन पर्यन्त संयम का पालन करने में अपने आपको असमर्थ समझ कर आगामी काल में संभावित भय या कठिनाईयों के विषय में सोचता है कि-मैं निष्किञ्चन-अकिंचन हूँ, मेरे पास कुछ भी नहीं है, जब बुढ़ापा आयेगा, रूग्णता आदि ग्लानावस्था उत्पन्न होगी, कभी दुर्भिक्ष हो जायेगा तो मेरी कौन रक्षा करेगा । यों जीविका साधन के भय से वह विचार करता है कि व्याकरण, गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद, होराशास्त्र, मंत्रशास्त्र आदि जो मेरे द्वारा अधीत है, संकट के समय मुझे त्राण देंगे, मेरी रक्षा करेंगे । वे आत्मबल विहीन पुरुष और भी कल्पना करते हैं, जो सूत्रकार इस प्रकार बतलाते हैं ।

❀ ❀ ❀

को जाणइ विऊवातं, इत्थीओ उदगाउ वा ।
चोइज्जंता पवक्खामो, ण णो अत्थि पकप्पियं ॥४॥

छाया – को जानाति व्यापातं स्त्रीत उदकाद्वा ।
चोद्यमाना प्रवक्ष्यामो न नोऽस्ति प्रकल्पितम् ॥

अनुवाद – संयम का पालन करने में जिसका चित्त अस्थिर या विचलित होता है, वह सोचने लगता है कि कहीं स्त्री के प्रसंग में मैं संयम से डिग जाऊँ अथवा सचित्त पानी के प्रयोग से अपने को रोक न पा सकने के कारण साधुत्व से भ्रष्ट हो जाऊं, यह कौन जानता है ? मेरे पास कुछ संग्रहित द्रव्यादि भी नहीं है । इसलिए मैंने जो लौकिक शास्त्रों का अध्ययन किया है, उन्हीं के द्वारा संकट के समय में मैं किसी तरह निर्वाह कर सकूंगा ।

टीका – अल्पसत्त्वाः प्राणिनो विचित्रा च कर्मणां गतिः बहुनि प्रमादस्थानानि विद्यन्ते अतः 'को जानाति?' कः परिच्छिनत्ति 'व्यापातं' संयमजीवितात् भ्रंशं, केन पराजितस्य मम संयमाद् भ्रंशः स्यादिति, किम् 'स्त्रीतः' स्त्रीपरिषहात् उत 'उदकात्' स्नानाद्यर्थमुदकासेवनाभिलाषाद् ?, इत्येवं ते वराकाः प्रकल्पयन्ति, न 'नः' अस्माकं किञ्चन 'प्रकल्पितं' पूर्वोपार्जितद्रव्यजातमस्ति यत्तस्यामवस्थायामुपयोगं यास्यति, अतः 'चोद्यमानाः' परेण पृच्छ्यमाना हस्तिशिक्षाधनुर्वेदादिकं कुटिलविण्टलादिकं वा 'प्रवक्ष्यामः' कथयिष्यामः प्रयोक्ष्याम इत्येवं ते हीनसत्त्वाः सम्प्रधार्य व्याकरणा दौ श्रुते प्रयतन्त इति, न च तथापि मन्दभाग्यानामभिप्रेतार्थवाप्तिर्भवतीति तथा चोक्तम् -

"उपशमफलाद्विद्यावीजात्फलं धनमिच्छतां, भवति विफलो यद्यायासस्तदत्र किमद्भुतम् ? । न नियतफलाः कर्तुर्भावाः फलान्तरमीशते, जनयति खलु व्रीहेर्बीजं न जातु यदाङ्कुरम् ॥१॥ इति ॥४॥ उपसंहारार्थमाह -

टीकार्थ – आत्मबलविहीन-अभागे पुरुष ऐसा सोचते हैं कि प्राणियों में पराक्रम-आत्मबल स्वल्प होता है, कर्मों की गति बड़ी विचित्र होती है, न जाने कब क्या घटित हो जाए, प्रमाद आने के भी अनेक हेतु हैं । ऐसी स्थिति में यह कौन जान सकता है कि किस विघ्न से पराजित होकर मैं संयम से भ्रष्ट हो

जाऊँ । न जाने स्त्री परीषह से मेरा संयम नष्ट हो जाए अथवा स्नान आदि के लिए जल सेवन की अभिलाषा से मैं साधुत्व से पतित हो जाऊं । वे अविवेकीजन ऐसी परिकल्पना करते हुए सोचते हैं कि हमारे पास पहले से अर्जित कोई धन नहीं है, जो संयम से गिर जाने पर हमारे निर्वाह में हमें सहारा दे । अत: किन्हीं के पूछने पर हम हस्ति शिक्षा, धनुर्वेद आदि विद्याऐं तथा कुटिल विण्टल-टेड़े-मेढे कठिन प्रश्नों को समाहित करने के विधिक्रम उन्हें बतलायेंगे, कहेंगे, प्रयोग करेंगे । ऐसा निश्चयकर वे हीनसत्त्व-आत्मबलविहीन पुरुष व्याकरण आदि विषयों के अध्ययन में प्रयत्नशील होते हैं, परिश्रम करते हैं, किन्तु उन मंद भाग्यों-अभागों के अभिप्सित प्रयोजन की इससे पूर्ति नहीं होती । कहा है-विद्या रूपी बीज, जो उपशम-शांतिरूपी फल उत्पन्न करता है, उससे जो मनुष्य धन रूपी फल चाहता है, उसका परिश्रम आदि विफल हो, व्यर्थ सिद्ध हो तो इसमें कौनसा आश्चर्य है । पदार्थों का, कार्यों का फल नियत-निश्चित होता है, इसलिए जिस पदार्थ का जो फल है, उससे भिन्न फल वह अपने कर्ता को नहीं दे सकता । चावल के बीज से जौ का पौधा कभी पैदा नहीं हो सकता। अब सूत्रकार उपसंहार करते हुए कहते हैं ।

❀ ❀ ❀

इच्चेव पडिलेहंति, वलया पडिलेहिणो ।
वितिगिच्छसमावन्ना, पंथाणं च अकोविया ॥५॥

छाया – इत्येवं प्रतिलेखंति, वलय प्रतिलेखिनः ।
विचिकित्सासमापन्नाः पथश्चाकोविदाः ॥

अनुवाद – जिस प्रकार युद्ध का अवसर आने पर डरपोक व्यक्ति छिपने के स्थान को खोज लेने का विचार करते हैं उसी प्रकार संशय युक्त अकोविद-ज्ञान शून्य पुरुष सोचते हैं कि संयम से भ्रष्ट हो जाने पर लौकिक विद्याएँ हमें त्राण देंगी-उन द्वारा हम अपनी रक्षा कर पायेंगे, जीवन निर्वाह कर लेंगे ।

टीका – 'इत्येवमि' ति' पूर्वप्रक्रान्तपरामर्शार्थः, यथा भीरवः सङ्ग्रामे प्रविविक्षवो वलयादिकं प्रति उपेक्षिणो भवन्तीति, एवं प्रव्रजिता मन्दभाग्यतया अल्पसत्वा आजीविकाभयाद्व्याकरणादिकं जीवनोपायत्वेन 'प्रत्युपेक्षन्ते । परिकल्पयन्ति, किम्भूताः ? विचिकित्सा-चित्तविप्लुतिः-किमेनं संयम भारमुत्क्षिप्तमन्तं नेतुं वयं समर्थाः उत नेतीव्येवम्भूता, तथा चोक्तम् -

"लुक्खमणुण्हमणिययं कालाइक्कंतभोयणं विरसं । भूमीसयणं लोओ असिणाणं बंभचेरं च ॥१॥"

छाया - रुक्षमनुष्ठामनियतं कालातिक्रान्तं भोजनं विरसम् । भूमिशयनं लोचोऽस्नानं ब्रह्मचर्यं च ॥१॥

तां समापन्नाः- समागताः, यथा पन्थानं प्रति 'अकोविदा' अनिपुणाः, किमयं पन्था विवक्षितं भू भागं यास्यत्युत नेतीत्येवं कृतचित्तविप्लुतयो भवन्ति, तथा तेऽपि संयमभारवहनं प्रति विचिकित्सां समापन्ना निमित्तगणितादिकं जीविकार्थं प्रत्युपेक्षन्त इति ॥५॥ साम्प्रतं महापुरुषचेष्टिते दृष्टान्तमाह -

टीकार्थ – इच्चेव-इत्येवम् यह पद पूर्वप्रक्रान्त-पहले कही गई बात के संसूचन हेतु है । जैसे डरपोक आदमी, जो युद्ध में हिस्सा लेना चाहते हैं समरांगण में संकट उपस्थित होने पर अपने छिपने के लिए गड्ढा आदि गुप्त स्थानों की खोज करते हैं, टोह करते हैं । इसी तरह कई आत्म पराक्रम विहीन प्रव्रजित-दीक्षित साधु अपने मन्द भाग्य-बदकिस्मत के कारण आजीविका के भय से जीवन निर्वाह की दृष्टि से व्याकरण आदि

विद्याओं की परिकल्पना करते हैं । उन द्वारा हमारा गुजारा हो सकेगा ऐसा सोचते हैं । वे साधु किस प्रकार के हैं । यह प्रश्न उपस्थित करते हुए बतलाते हैं-चित्त की विप्लुति-चंचलता को विचिकित्सा कहा जाता है। उन साधुओं के मन में विचिकित्सा-संदेह विद्यमान रहता है कि जो संयम भार हमने ले रखा है, उसे अंत तक ले जाने में, संभाल पाने में हम समर्थ हो पायेंगे या नहीं ? कहा है एक भिक्षु को पहले तो, यदि भोजन मिलता है तो वह रूखा सूखा ठंडा बासी होता है, वैसा भी कभी कभी नहीं मिल पाता । कभी कभी खाने का समय गुजर जाने के बाद प्राप्त होता है और वह भी विरस-रस रहित, स्वाद शून्य । श्रमण को जमीन पर सोना पड़ता है तथा अपने केशों का लुञ्चन करना होता है उन्हें उत्पादित करना होता है । कभी भी जीवन पर्यन्त स्नान नहीं करना होता है और ब्रह्मचर्य का परिपालन करना होता हैं । इस कठिन-क्लेश पूर्ण कार्य कलापों को देखकर अपने संयम जीवन को अन्त तक निभा सकने के संबंध में कई साधु संशयापन्न हो जाते हैं-संदेह करने लगते हैं । जैसे कोई अज्ञ राहगीर राह पर चलता हुआ यह संदेह करता है कि यह रास्ता जहाँ मुझे जाना हैं वहाँ जायेगा या नहीं । उनका चित्त अस्थिर हो जाता है इसी प्रकार अपने संयम के भार का, अभीष्ट का अन्त तक निर्वाह कर पाने के संदर्भ में कई कायर आत्मबलहीन साधु संदेह करते हैं तथा वे निमित्तशास्त्र, ज्योतिषविद्या तथा गणितादि द्वारा अपनी जीविका चला लेंगे, ऐसी आशा करते हैं । अब सूत्रकार महापुरुषों के चेष्टित संबंध में दृष्टान्त द्वार आख्यान करते हैं ।

❀ ❀ ❀

जे उ संगाम कालंमि, नाया सूरपुरंगमा ।
णो ते पिट्ठमुवेहिंति, किं परं मरणं सिया ? ॥६॥

छाया – ये तु संग्रामकाले ज्ञाताः शूरपुरङ्गमाः ।
नो ते पृष्ठ मुत्प्रेक्षन्ते, किं परं मरणं स्यात् ॥

अनुवाद – ज्ञात-प्रसिद्धि प्राप्त तथा सुरपुरंगम-शौर्यशील पराक्रमी जनों में अग्रगामी, संग्रामकाल में युदध के अवसर पर ऐसा नहीं सोचते कि पराजित या विपन्न हो जाने पर हम अपना बचाव कैसे करेंगे वे यही सोचते हैं कि युद्ध में मर जाने से बढ़कर तो ओर कोई बात नहीं है ।

टीका–ये पुनर्महासत्त्वाः, तुशब्दो विशेषणार्थः 'सङ्ग्रामकाले' परानीकयुद्धावसरे 'ज्ञाताः' लोकविदिताः, कथम् ? 'शूरपुरङ्गमाः' शूराणामग्रगामिनो युद्धावसरे सैन्याग्रस्कन्धवर्तिन इति, त एवम्भूताः सङ्ग्रामं प्रविशन्तो 'न पृष्ठमुत्प्रेक्षन्ते' न दुर्गादिकमापत् त्राणाय पर्यालोचयन्ति ते चाभङ्गकृतबुद्धयः, अपि त्वेवं मन्यन्ते-किमपरत्रास्माकं भविष्यति ? यदि परं मरणं स्यात्, तच्च शाश्वतं यशः प्रवाहमिच्छतामस्माकं स्तोकं वर्तत इति, यथा चोक्तम्-

"विशरारूभिरविनश्वरमपि चपलैः स्थास्नु वाञ्छतां विशदम् ।
प्राणैर्यदि शूराणां भवति यशः किं न पर्याप्तम् ? ॥१॥"॥६॥

तदेवं सुभटदृष्टान्तं प्रदर्श्य दार्ष्टान्तिकमाह -

टीकार्थ – इस गाथा में जो 'तु' शब्द का प्रयोग हुआ है, वह पूर्व वर्णित भीरू पुरुष की अपेक्षा इस गाथा में वर्णित किये जाने वाले शौर्यशील पुरुष की विशिष्टता बताने हेतु है । जो पुरुष अत्यन्त पराक्रमी हैं, शत्रुसेना के साथ झूंझने में जो लोक में प्रसिद्ध हैं युद्ध छिड़ जाने पर जो सेना के अग्रभाग में रहते हैं वे,

तब आगे होने वाली किसी बात का चिंतन नहीं करते । संकट के समय-संयोग वश यदि पराजय हो जाय तो अपने त्राण के लिए किसी दुर्ग आदि के विषय में पर्यालोचन नहीं करते, युद्ध से भाग छूटने का विचार तो उनके मन में आता ही नहीं । वे यह जानते हैं कि समरभूमि में यदि अधिक से अधिक कोई हानि हो सकती है, तो वह मृत्यु है । उससे बढ़कर कुछ नहीं होता। मृत्यु हम लोगों के लिए-सदैव सत्कीर्ति की इच्छा लिए रहती है, एक तुच्छ या नगण्य वस्तु है । कहा है-मनुष्यों के प्राण नश्वर एवं अस्थिर है, उन्हें कुर्बान कर अविनश्वर चिरकाल स्थायी तथा उज्जवल यश स्वायत्त करने की जिन वीरों के मन में अभिवाञ्छा होती है, तो क्या यह प्राण दे देने की तुलना में अधिक मूल्यवान नहीं है । इस प्रकार सुभट-शूरवीर योद्धा का दृष्टान्त प्रस्तुत कर अब सार बतलाते हैं ।

❀ ❀ ❀

एवं समुट्ठिए भिक्खू, वोसिज्जाऽगारबंधणं ।
आरंभं तिरियं कट्टु, अत्तत्ताए परिव्वए ॥७॥

छाया – एवं समुत्थितो भिक्षुः, व्युत्सृज्यागारबन्धनम् ।
आरम्भं तिर्य्यक् कृत्वा, आत्मत्वाय परिव्रजेत् ॥

अनुवाद – जो भिक्षु-श्रमण अगार बन्धन-गृहस्थ के बंधन का तथा आरम्भ-हिंसादि सावद्य कर्मों का व्युत्सर्जन-त्यागकर संयम पालन में तत्पर हुआ है, वह आत्मत्म के लिए, परमात्म साक्षात्कार के लिए अथवा मोक्ष प्राप्ति हेतु संयम का पालन करे ।

टीका – यथा सुभटा ज्ञाता नामतः कुलतः शौर्यतः शिक्षातश्च तथा सन्नद्धवद्धपरिकराः करगृहीतहेतयः प्रतिभटसमितिभेदिनो न पृष्ठतोऽवलोकयन्ति, एवं 'भिक्षुरपि' साधुरपि महासत्त्वः परलोकप्रतिस्पर्द्धिनमिन्द्रिय कषायादिकमरिवर्गं जेतुं सम्यक्-संयमोत्थानेनोत्थितः, तथा चोक्तम् -

"कोहं माणं च मायं च, लोहं पंचिंदियाणि य । दुज्जयं चेवमप्पाणं, सव्वमप्पे जिए जियं ॥१॥"

छाया - क्रोधःमानश्च माया च लोभः पंचेन्द्रियाणि च । दुर्जयं चैवात्मनां सर्वमात्मनि जितेजितम् ॥१॥

किं कृत्वा समुत्थित इति दर्शयति-'व्युत्सृज्य'त्यक्त्वा'अगार बन्धनं'गृहपाशं तथा'आरम्भं'सावद्यानुष्ठानरूपं 'तिर्यक्कृत्वा अपहस्त्य आत्मनो भाव आत्मत्वम्-अशेषकर्मकलङ्करहितत्वं तस्मै आत्मत्वाय, यदिवा-आत्मा-मोक्षः संयमो वा तद्भावस्तस्मै-तदर्थं परि-समन्ताद्व्रजेत्-संयमानुष्ठानक्रियायां दत्तावधानो भवे दित्यर्थः ॥७॥

टीका – नाम, वंश, शौर्य और शिक्षा-युद्ध विषयक योग्यता द्वारा जो संसार में प्रसिद्ध है, जिन्होंने हाथों में शस्त्र धारण कर रखे हैं, युद्ध के लिए कमर कस रखी है विपक्षी शत्रुसेना को छिन्नभिन्न करने में जो तत्पर हैं, वे युद्ध के समय पीछे की ओर मुडकर नहीं देखते । उसी प्रकार महासत्त्व-प्रचुर आत्मबल के धनी साधु भी परलोक को मिटाने वाले-जन्म मरण से छुड़ाने वाले, इन्द्रिय और कषाय आदि शत्रुओं को विजित करने वाले संयम के भार को स्वीकार कर समुत्थित होते हैं, संयम साधना में कृत संकल्प होते हैं उद्यत होते हैं, तब वे पीछे की ओर नहीं देखते । कहा है क्रोध, अभिमान, माया, प्रवचंना-लोभ तथा पांच इन्द्रियाँ दुर्जेय हैं । इन्हें जीत पाना बहुत कठिन है, पर एक आत्मा को जीत लेने पर ये सबके सब विजित हो जाते हैं, जीत लिए जाते हैं ।

प्रश्न उपस्थित कर विषय के स्पष्टीकरण हेतु बतलाते हैं-वे साधु क्या करते हुए समुत्थित हैं ? अगार बंधन-गृहस्थ के पाश-झाल या फंदे का परित्याग कर सावद्य पापयुक्त कार्यों का परिवर्जन कर संयम के पालन हेतु वे समुत्थित हैं । आत्मा का भाव आत्मत्व कहा जाता है । समग्र कर्मों के कलंक-कालिमा से रहित हो जाना आत्मत्व है । तदर्थ साधु को सावधान एवं जागरूक होकर रहना चाहिए अथवा आत्मत्व मोक्ष या संयम का नाम है, सूचक है । अत: साधु को मोक्ष प्राप्ति हेतु संयम पालने में सब ओर से सब प्रकार से संप्रवृत्त रहना चाहिए । उसे संयमानुसरण-क्रिया में अत्यन्त सजग रहना चाहिए । इसका यह अभिप्राय है ।

❀ ❀ ❀

तमेगे परिभासंति, भिक्खूयं साहुजीविणं ।
जे एवं परिभासंति, अंतए ते समाहिए ॥८॥

छाया – तमेके परिभाषन्ते, भिक्षुकं साधु जीविनम् ।
य एवं परिभाषन्ते, अन्तके ते माधेः ॥

अनुवाद – उत्तम संयताचार के साथ अपने जीवन निर्वाह में संलग्न साधु के संबंध में कई परमतानुयायी आक्षेप वचन कहते हैं, जिनकी आगे चर्चा होगी, किन्तु वे आक्षेप पूर्ण कथन समाधि मार्ग से दूरवर्ती हैं ।

टीका – निर्युक्तौ यदभिहितमध्यात्मविषीदने तदुक्तम्, इदानीं परवादिवचनं द्वितीयमर्थाधिकारमधिकृत्याह 'मिति साधुम् 'एके' ये परस्परोपकाररहितं दर्शनमापन्ना अय: शलाकाकल्पा:, ते च गोशालक मतानुसारिण आजीविका दिगम्बरा वा, त एवं वक्ष्यमाणं परि-समन्ताद्भाषन्ते तं भिक्षुकं साध्वाचारं साधु शोभनं परोपकारपूर्वक जीवितुं शीलमस्य स साधुजीविनमिति, 'ये' ते अपुष्टधर्माण 'एवं' वक्ष्यमाणं 'परिभाषन्ते' साध्वाचारनिन्दां विदधति त एवंभूता 'अन्तके' पर्यन्ते दूरे 'समाधे:' मोक्षाख्यात्सम्यग्ध्यानात्सदनुष्ठानात् वा वर्तन्त इति ॥८॥ यत्ते प्रभाषन्तेतदर्शयितुमाह –

टीकार्थ – निर्युक्ति में बताया जा चुका है कि संयम स्वीकार करने के पश्चात् भीरू पुरुष के चित्त में विषीदन-दु:ख उत्पन्न होता है, वह किस प्रकार होता है ? यह पूर्ववर्ती गाथाओं में प्रतिपादित किया जा चुका है । अब परमतानुयायी साधुओं के संबंध में क्या-क्या आक्षेप करते हैं, यह इस दूसरे अर्थाधिकार में है । आगमकार उस संबंध में बतलाते हैं-जैसे अयशलाकायें-लोहे की शलाकायें परस्पर नहीं मिलती पृथक-पृथक रहती हैं इसी तरह अलग-अलग विहरण करने वाले, ऐसे दर्शन में विश्वास रखने वाले, जहाँ एक दूसरे का उपकार करना अविहित है, कतिपय अन्यतीर्थिक, आजीविक दर्शन में आस्थाशील गौशालक मतानुयायी या दिगम्बर परम्परानुगत मतवादी उत्तम आचार युक्त परोपकार पूर्ण जीवन जीने वाले साधुओं के विषय में आक्षेप पूर्ण वचन बोलते हैं, जो आगे वक्ष्यमाण-आगे कहे जायेंगे ।

वे साधुओं के आचार की निन्दा-भर्त्सना करते हैं । वे समाधि मोक्षानुगत सम्यक ध्यान से या सत् अनुष्ठान से दूरवर्ती हैं । वे अन्यमतानुयायी जो आक्षेप पूर्ण वचन बोलते हैं, उनके विषय में शास्त्रकार प्रतिपादित करते हैं ।

❀ ❀ ❀

संबद्धसमकप्पा उ, अन्नमन्नेसु मुच्छिया ।
पिंडवायं गिलाणस्स, जं सारेह दलाह य ॥९॥

छाया – **सम्बद्धसमकल्पास्तु, अन्योऽन्येषु मूर्च्छिताः ।**
पिण्डपातं ग्लानस्य, यत्सारयत ददध्वञ्च ।

अनुवाद – वे अन्य तीर्थिक साधुओं पर आक्षेप लगाते हुए कहते हैं कि इनका कल्प-आचार गृहीजनों के तुल्य है । जैसे गृहस्थ अपने पारिवारिक जनों में परस्पर मूर्च्छित आसक्त रहते हैं । उसी प्रकार ये साधु हैं । तभी तो ये रुग्ण साधु के लिए भोजन लाकर देते हैं ।

टीका – सम्-एकीभावेन परस्परोपकार्योपकारितया च 'बद्धाः' पुत्रकलत्रादिस्नेहपाशैः सम्बद्धा-गृहस्थास्तैः समः-तुल्यः कल्पो-व्यवहारोऽनुष्ठानं येषान्ते सम्बद्धसमकल्पा-गृहस्थानुष्ठानतुल्यानुष्ठाना इत्यर्थः तथाहि-यथा गृहस्थाः परस्परोपकारेण माता पुत्रे पुत्रोऽपि मात्रादावित्येवं 'मूर्च्छिता' अध्युपपन्नाः, एवं भवन्तोऽपि 'अन्योऽन्यं' परस्परतः शिष्याचार्याद्युपकारक्रियाकल्पनयामूर्च्छिताः, तथाहि-गृहस्थानामयं न्यायो यदुत-परस्मै दानादिनोपकार इति न तु यतीनो, कथ मन्योऽन्यं मूर्च्छिता इति दर्शयति-पिंडपातं भैक्ष्यं 'ग्लानस्य' अपरस्य रोगिणः साधोः यद्-यस्मात् 'सारेह' त्ति अन्वेषयत, तथा 'दलाह्य' त्ति ग्लानयोग्यमाहारमन्विष्य तदुपकारार्थं ददध्वं, च शब्दादाचार्यादि वैयावृत्यकरणाद्युपकारेण वर्तध्वं, ततो गृहस्थ समकल्पा इति ॥९॥ साम्प्रतमुपसंहारव्याजेन दोष दर्शनायाह –

टीकार्थ – जो परस्पर एकीभाव-उपकार्य, उपकारिता के रूप में बद्ध हैं, बंधे हुए हैं, वे संबद्ध कहे जाते हैं । गृहस्थ पुत्र, स्त्री आदि के स्नेह पाश में-आसक्ति के जाल में बंधे हुए होते हैं । इसलिए वे संबद्ध हैं, उन गृहीजनों के सदृश जिनका कल्प-आचार व्यवहार है, वे सम्बद्ध-सम कल्प कहे जाते हैं । दूसरे शब्दों में जो गृहस्थों के समान अनुष्ठान या कार्य करते हैं वे सम्बद्ध समकल्प हैं । गृहस्थ जिस प्रकार पारस्परिक उपकार द्वारा माता पुत्र में तथा पुत्र माता आदि में आसक्त-मोहित रहते हैं, उसी तरह आप भी शिष्य आचार्य आदि के प्रति उपकारपूर्ण कार्यों द्वारा आपस में मूर्च्छित आसक्त रहते हैं । यह गृहीजनों जैसा व्यवहार है । वे औरों का दान आदि द्वारा उपकार करते हैं, संयती पुरुषों का-साधुओं का यह व्यवहार नहीं है । आप साधु वृन्द किस प्रकार परस्पर मूर्च्छित-आसक्त रहते हैं, यह बतलाते हुए कहते हैं आप लोग रुग्ण साधु के लिए आहार की गवेषणा करते हैं, लाते हैं उसे देते हैं । यहां च शब्द का प्रयोग हुआ है । उसका तात्पर्य यह है कि आप आचार्य आदि का वैयावृत्य सेवा द्वारा उपकार करते हैं । अतः कल्प या आचार की दृष्टि से गृहस्थों के समान हैं । अब अन्य मतवादियों द्वारा कहे गये आक्षेप वचनों को समाप्त करते हुए सूत्रकार दोष निरुपणार्थ कहते हैं ।

❀ ❀ ❀

एवं तुब्भे सरागत्था, अन्न मन्न मणुव्वसा ।
नट्ठसप्पहसब्भावा, संसारस्स अपारगा ॥१०॥

छाया – **एवं यूयं सरागस्था, अन्योऽन्यमनुवशाः ।**
नष्टसत्पथसद्भावाः, संसारस्यापारगाः ॥

अनुवाद – अन्य मतावलम्बी साधुओं के प्रति आक्षेप पूर्ण वचन बोलते हुए कहते हैं कि आप सरागस्थ-राग में, रागात्मक सम्बन्धों में अवस्थित हैं, पारस्परिक आसक्तियों से जुड़े हैं, सत्पथ और सद्भाव शून्य हैं, शुद्ध साधना मय मार्ग पर नहीं चलते, आपके भाव अशुद्ध हैं । आप संसार के भव चक्र के अपारगामी हैं-उसे पार नहीं कर सकते ।

टीका – 'एवं' परस्परोकारादिना यूयं गृहस्था इव सरागस्थाः-सह रागेण वर्तत इति सरागः-स्वभावस्तस्मिन् तिष्ठन्तीति ते तथा, 'अन्योन्यं' परस्परतो वशमुपागताः-परस्परायत्ताः, यतयो हि निःसङ्गतया न कस्यचिदायत्ता भवन्ति, यतो गृहस्थानामयं न्याय इति, तथा नष्टः-अपगतं सत्पथः-सद्भावः-सन्मार्ग परमार्तो येभ्यस्ते तथा । एवम्भूताश्च यूयं 'संसारस्य' चतुर्गतिभ्रमणलक्षणस्य 'अपारगा' अतीरगामिन इति ॥१०॥ अयं तावत्पूर्व पूक्षः अस्य च दूषणायाह -

टीकार्थ – एक दूसरे के उपकारी या सहयोगी आप गृहस्थों की ज्यों सरागस्थ-रागात्मक प्रवृत्ति या व्यवहार में वर्तनशील हैं । जो राग युक्त होता हैं उसे सराग कहा जाता है । वैसे स्वभाव में जो स्थित होता है, वह सरागस्थ है । आप परस्पर-एक दूसरे के वशगत रहते हैं, जो समुचित नहीं है क्योंकि संयति वृन्द मुनिगण निःसंग-संग वर्जित या आसक्ति रहित होते है । वे किसी के आयत्त-अधीन नहीं होते । एक दूसरे के वशगत रहना-अधीन रहना गृहस्थों का व्यवहार है जीवन पद्धति है । आप सत्पथ-अध्यात्म मार्ग और सद्भाव-परमार्थ से अपगत हैं, वंचित हैं । संसार-चार गतियों में परिभ्रमण के आप पारगामी नहीं हैं आपका संसार में जन्म मरण-आवागमन मिट नहीं सकता ।

यह पूर्व पक्ष है । उसका दोष दिखलाते हुए कहते हैं -

❀ ❀ ❀

अह ते परिभासेज्जा, भिक्खु मोक्खविसारए ।
एवं तुब्भे पभासंता, दुपक्खं चेव सेवह ॥११॥

छाया – अथ तान् परिभाषेत, भिक्षु र्मोक्षविशारदः ।
एवं यूयं प्रभाषमाणाः दुष्पक्षञ्चैव सेवध्वम् ॥

अनुवाद – अन्य मतवादियों द्वारा आक्षेप युक्त वचन कहे जाने पर मोक्ष विशारद-मोक्ष धर्म के विवेचक, साधना निष्णात मुनि उनसे कहते कि आप लोग इस प्रकार आक्षेप लगाते हुए दुपक्ख दुष्पक्ष-असत्पक्ष का सेवन कर रहे हैं, असत्य का प्रतिपादन कर रहे हैं ।

टीका– 'अथ' अनन्तरं 'तान्' एवं प्रतिकूलत्वेनोपस्थितान् भिक्षुः 'परिभाषेत्' ब्रूयात्, किम्भूतः ? 'मोक्ष विशारदो' मोक्षमार्गस्य-सम्यग्दर्शनचारित्ररूपस्य प्ररूपकः, 'एवम्' अनन्तरोक्त यूयं प्रभाषमाणाः सन्तः दुष्टः पक्षो दुष्पक्षः असत्प्रतिज्ञाभ्युपगमस्तमेव सेवध्वं यूयं, यदिवा-रागद्वेषात्मकं पक्षद्वयं सेवध्वं यूयं, तथाहि-सदोषस्याप्यात्मीयपक्षस्य समर्थनाद्रागो, निष्कलङ्कस्याप्यस्मदभ्युपगमस्य दूषणाद्द्वेषः, अथै (थवै) वं पक्षद्वयं यूयं, तद्यथा वक्ष्यमाणनीत्या बीजोदकोद्दिष्टकृतभोजित्वाद्गृहस्थाः यतिलिङ्गाभ्युपगमात्किल प्रव्रजिताश्चेत्येवं पक्ष द्वयासेवनं भवतामिति, यदिवा-स्वतोऽसदनुष्ठानमपरञ्च सदनुष्ठायिनां निन्दनमितिभावः ॥११॥

टीकार्थ – पूर्वोक्त रूप में प्रतिकूलता के साथ उपस्थित होने वाले, व्यवहार करने वाले अन्य मतवादियों से साधु यों कहे ।

मोक्ष विशारद-मोक्ष मार्ग के सम्यक्-दर्शन एवं सम्यक्-चारित्र रूप मोक्ष दर्शन के प्ररूपक-व्याख्याता साधु पूर्वोक्त रूप में प्रतिकूलता के साथ उपस्थित-आक्षेपपूर्ण वचन भाषी अन्य मतवादियों से कहे कि यों बोलने वाले आप तो दुपक्ख-दुष्पक्ष का सेवन करते हैं दुष्ट-दोष युक्त पक्ष दुष्पक्ष कहा जाता है । उसका आशय असत् प्रतिज्ञा या सिद्धान्त का स्वीकार है ।

गाथा में प्रयुक्त दुपक्ख का दूसरा अर्थ, उसकी संस्कृत छाया-द्विपक्ष के अनुसार दो पक्ष भी है। तदनुसार राग और द्वेष रूप दो पक्षों का आप सेवन करते हैं। यद्यपि आपका पक्ष दोषपूर्ण है, फिर भी उसके साथ संलग्न मोह के कारण आप उसका समर्थन करते हैं। यह आपका अपने पक्ष के प्रति राग हैं। हमारा सिद्धान्त निष्कलंक निर्दोष है, फिर भी आप उसे दोष युक्त बतलाते हैं, यह आपका उसके प्रति द्वेष है। अथवा आप लोगों द्वारा दो पक्षों के सेवन का एक ओर रूप भी है। आप लोग वक्ष्यमाण-जो आगे कहे जाएँगे सचित्त बीज, उदक पानी, उद्दिश्यकृत-आपके निमित्त, आपके निमित्त उद्देश्य से बनाये गये भोजन का सेवन करने के कारण आप गृहस्थ हैं, गृही तुल्य हैं। साधु का बाना धारण किये रहने से साधु सदृश हैं। यह आप द्वारा द्विपक्ष सेवन है। अथवा आप लोग स्वयं असत् अनुष्ठान सावद्य कर्म करते हैं तथा जो सत् अनुष्ठान-निरवद्य, पापरहित उत्तम कार्य करते हैं उसकी निन्दा करते हैं। यह भी एक प्रकार से द्विपक्ष सेवन है। यह तात्पर्य है।

❀ ❀ ❀

तुब्भे भुंजह पाएसु, गिलाणो अभिहडंमि या।
तं च बीओदगं भोच्चा, तमुद्दिसादि जं कडं ॥१२॥

छाया – यूयं भुङ्ध्वं पात्रेषु ग्लान अभ्याहृते यत्।
तच्च बीजोदकं भुक्त्वा समुद्दिश्यादियत् कृतम् ॥

अनुवाद – आक्षेप लगाते हुए अन्य तीर्थी कहते हैं।

आप लोग पात्रों में-कास्य आदि धातु निर्मित बर्तनों में भोजन करते हैं तथा ग्लान रुग्ण साधु के खाने हेतु गृहस्थों के यहां से भोग्य सामग्री मंगवाते हैं। बीज, सचित, उदक-जल का सेवन करते हैं एवं ओद्देशिक अपने लिए बनाया गया आहार लेते हैं।

टीका – आजीविकादीनां परतीर्थिकानां दिगम्बराणां चासदाचारनिरूपणायाह-किल वयमपरिग्रहतया निष्किञ्चना एवमभ्युपगमं कृत्वा यूयं भुङ्ग्ध्वं 'पात्रेषु' कांस्यपात्र्यादिषु गृहस्थ भाजनेषु, तत्परिभोगाच्च तत्परिग्रहोऽवश्यंभावी, तथाऽऽहारादिषु मूर्च्छां कुरुध्वमित्यतः कथं निष्परिग्रहाभ्युपगमो भवतामकलङ्क इति, अन्यच्च 'ग्लानस्य' भिक्षाटनं कर्तुमसमर्थस्य यदपरैर्गृहस्थैरभ्याहृतं कार्यते भवद्भिः, यतेरानयनाविकाराभावाद् गृहस्थानयने च यो दोषसद्भावः स भवतामवश्यंभावीति, तमेव दर्शयति-यच्च गृहस्थैर्बीजोदकाद्युपमर्देनापादित माहरं भुक्त्वा ग्लानमुद्दिश्योद्देशकादि 'यत्कृतं' यन्निष्पादितं तदवश्यं युष्मत् परिभोगायावतिष्ठते। तदेवं गृहस्थगहे तद्भाजनादिषु भुञ्जानास्तथा ग्लानस्य च गृहस्थैरवे वैयावृत्तयं कारयन्तो यूयमवश्यं बीजोदकादिभोजिन उद्देशिकादिकृतभोजिनश्चेति ॥१२॥किञ्चान्यत् -

टीकार्थ – आजीवक आदि पर तीर्थिक तथा दिगंम्बर आदि परम्परावर्ती जनों के असत्-प्रतिकूल आचार का प्रतिपालन करने हेतु उन्हें सम्बोधित कर सूत्रकार कहते हैं। आप लोगों का यह प्रतिपादन है कि हम लोग अपरिग्रही हैं। अतएव निष्किंचन-अकिंचन हैं, पर ऐसा कहते हुए, स्वीकार करते हुए भी आप लोग गृहस्थों के काँसी आदि पात्रों में भोजन करते हैं उनके पात्रों में भोजन करने के कारण आपको उस परिग्रह का दोष लगता है। इतना ही नहीं आप लोग आहारादि में मूर्च्छा आसक्ति रखते हैं। अतः आप लोगों द्वारा अपने आपको निष्परिग्रह-परिग्रह रहित मानना किस प्रकार निर्दोष निष्कलंक कहा जा सकता है। भिक्षाटन

करने में-भिक्षार्थ जाने में असमर्थ रुग्ण साधु के लिए आप गृहस्थों द्वारा भोजन मंगवाते हैं । साधु को गृहस्थों द्वारा भोजन मंगवाने का अधिकार नहीं है । इसलिए गृहस्थों द्वारा लाये गये आहार के सेवन से जो दोष होता है वह आपको अवश्य लगता है । इसी बात का दिग्दर्शन कराते हुए सूत्रकार कहते हैं बीज सचित धान्य, सचित जल के उपमर्दन - आरम्भ-समारंभ द्वारा जो आहार तैयार करते हैं, उसका आप सेवन करते हैं, ग्लान रुग्ण साधु के निमित्त जो औद्देशिक आहार तैयार होता है वह भी आप लोगों के परिभोग में-उपभोग में आता है। इस प्रकार गृहस्थों के घर में, उनके पात्र आदि में भोजन करते हुए तथा रुग्ण साधु की गृहस्थों द्वारा सेवा कराते हुए आप अवश्य बीज-सचित धान्य उदक-सचित जल आदि का सेवन करते हैं, औद्देशिक आहार का भोजन करते हैं ।

❀ ❀ ❀

लित्ता तिव्वाभितावेणं, उज्झिआ असमाहिया ।
नातिकंडूइयं सेयं, अरुयस्सावरज्झती ॥१३॥

छाया – लिप्ताः तीव्राभितापेन, उज्झिता असमाहिताः ।
नातिकण्डूयितं श्रेयोऽरूषोऽपराध्यति ॥

अनुवाद – आप तीव्र अभिताप से-कठोर कर्मों से लिप्त-बद्ध हैं, उज्जित है-विवेक रहित हैं, और असमाहित है, समाधि रहित हैं । घाव को ज्यादा खुजलाना श्रेयस्कर नहीं होता, क्योंकि ऐसा करने से उसमें दोष पैदा हो जाता है ।

टीका – योऽयं षड्जीवनिकायविराधनयोद्दिष्टभोजित्वेनाभिगृहीतमिथ्यादृष्टितया च साधुपरिभाषणेन च तीव्रोऽभिताप:-कर्मबन्धरुपस्तेनोपलिप्ताः-संवेष्टि तास्तया 'उज्झिय' त्ति सद्विवेकशून्या भिक्षापात्रादि त्यागात्परगृहभोजितयोद्देशकादिभोजित्वात् तथा 'असमाहिता' शुभाध्यवसायरहिताः सत्साधुप्रद्वेषित्वात्, साम्प्रतं दृष्टान्तद्वारेण पुनरपि तद्दोषाभिवित्सयाऽऽह-यथा 'अरुषः' व्रणस्याति-कण्डूयितं-नखैर्वि लेखनं न श्रेयो-न शोभनं भवति, अपि त्वपराध्यति-तत्कण्डूयनं व्रणस्य दोषमावहति, एवं भवन्तोऽपि सद्विवेकरहिताः वयं किलनिष्किञ्चना इत्येवं निष्परिग्रहतया षड्जीवनिकाय रक्षणभूतं भिक्षापात्रादिकमपि संयमोपकरणं परिहतवन्तः, तदभावाच्चाश्यंभावी, अशुद्धाहारपरिभोग इत्येवं द्रव्यक्षेत्रकालभावान पेक्षणेन नातिकण्डूयितं श्रेयो भवतीति भावः ॥१३॥

टीकार्थ – छः कायों के जीवों की विराधना-हिंसा द्वारा आप लोगों के निमित्त भोजन तैयार किया जाता है, वह औद्देशिक आहार है । उसका सेवन करना, आग्रहपूर्वक मिथ्यादृष्टि गृहित किये रहना, साधुओं की निन्दा करना, इन द्वारा आप कर्मबन्ध के रूप में तीव्र अभिताप से-संतप्तता से लिप्त हैं-परिबद्ध हैं । सम्यकज्ञान से-सद्विवेक से रहित है, क्योंकि आप भिक्षा हेतु पात्र नहीं रखते, औरों के घरों में भोजन कर लेते हैं, औद्देशिक आहार का सेवन कर लेते हैं । सत्साधुओं का-संयम नियमानुसार आचरणशील साधुओं के साथ द्वेष करते हैं अतः आप शुभ अध्यवसाय रहित हैं । सूत्रकार उन अन्यमतवादियों के दोष प्रकट करने हेतु दृष्टान्त द्वारा कहते हैं, जिस प्रकार व्रण-घाव को ज्यादा खुजलाना श्रेयस्कर नहीं होता, क्योंकि वैसा करने से घाव में खराबी पैदा हो जाती है, आप लोग सद्ज्ञान-यथार्थ विवेक से विवर्जित हैं, यह परूपणा करते हैं कि हम परिग्रह रहित हैं, अकिंचन हैं, कहते तो ऐसा है पर छः काया के जीवों की रक्षा के निमित्त साधन स्वरूप भिक्षा पात्र आदि का भी जो संयममय जीवन के उपकरण है, त्याग कर देते हैं, इस तरह संयमोपकरणों का त्याग करने से अशुद्ध आहार का परिभोग

अवश्यंभावी है-अवश्य करना ही होता है । अतः द्रव्य क्षेत्र काल तथा भाव की अपेक्षा न करते हुए व्रण को अत्यधिक खुजलाने की ज्यों, संयम के उपकरणों का भी परित्याग कर देना श्रेयस्कर नहीं है ।

❀ ❀ ❀

तत्तेण अणुसिट्ठा ते, अपडिन्नेण जाणया ।
ण एस णियए मग्गे, असमिक्खा वती किती ॥१४॥

छाया – तत्त्वेनानुशिष्टास्तेऽप्रतिज्ञेन जानता ।
न एस नियतो मार्गोऽसमीक्ष्य वाक्कृतिः ।

अनुवाद – तत्वानुशिष्ट-यथार्थ तत्व वेत्ता व्याख्याता, हेय और उपादेय पदार्थों को यथावत् समझने वाला सम्यक्दृष्टिमुनि को सत् शिक्षा देते हुए कहता है कि आप लोगों ने जिस मार्ग को स्वयत्त किया है वह नियत, न्यायसंगत, उचित नहीं है आप जो सत्साधुओं पर आक्षेप करते हैं वे भी सभी क्षण चिंतन विवेचन से रहित है ।

टीका – अपि च-'तत्त्वेन' परमार्थेन मौनीन्द्राभिप्रायेण यथावस्थितार्थ प्ररूपणया ते गोशालकमतानुसारिण आजीविकादयः बोटिका वा 'अनुशासिताः' तदभ्युपगमदोष दर्शन द्वारेण शिक्षां ग्राहिताः, केन ?-अप्रतिज्ञेन' नास्य मयेदम-सदपि समर्थनीयमित्येवं प्रतिज्ञा विद्यते इत्यप्रतिज्ञो-रागद्वेषरहितः साधुस्तेन 'जानता' हेयोपादेय पदार्थ परिच्छेद केनेत्यर्थः, कथमनुशासिता इत्याह-योऽयं भवद्भिरभ्युपगतो मार्गो यथा यतीनां निष्किञ्चनतयोपकरणा भावात् परस्परत उपकार्योपकारकभाव इत्येष 'न नियतो' न निश्चितो न युक्तिसङ्गतः अतो येयं वाग् यथा-ये पिण्डपातं ग्लानस्याऽऽनीय ददति ते गृहस्थाकल्पा इत्येषा 'असमीक्ष्या-निहिता' अपर्यालोच्योक्ता, तथा कृतिः' करण मपि भवदीयमसमीक्षितमेव, यथा चापर्यालोचित करणतया भवति भवदनुष्ठानस्य तथा नातिकण्डूयितं इत्यनेन प्राग्लेशतः प्रतिपादितं, पुनरपि सदृष्टान्तं तदेव प्रतिणदयति ॥१४॥ यथा प्रतिज्ञातमाह -

टीकार्थ – वास्तव में जो सत्य है, जिनेन्द्र प्रभु के अभिप्राय से अनुरूप है अर्थात् जो पदार्थ जैसा है, उसको उसी तरह से प्ररूपित करना तत्व है, उस द्वारा गौशालकमतानुयायी आजीवकों को तथा दिगम्बरों को अनुशासना-शिक्षा दी जाती है । उनके अभिमत में दोष बतलाकर उन्हें सत्य अर्थ ग्रहण कराया जाता है, समझाया जाता है, किसके द्वारा शिक्षा दी जाती है ? यह प्रश्न उपस्थित करते हुए कहा जाता है कि अप्रतिज्ञपुरुष द्वारा शिक्षा दी जाती है । मिथ्याअर्थ भी मेरे द्वारा समर्थनीय है, ऐसी भावना प्रतिज्ञा कहलाती है, जिसके वह नहीं होती, उसे अप्रतिज्ञ कहा जाता है । जो रागद्वेष से रहित है वह अप्रतिज्ञ है, जो हेय और उपादेय पदार्थों के परिच्छेदक है, पहचान करने में सक्षम है, उन द्वारा शिक्षा दी जाती है, कैसे शिक्षा दी जाती है ? यह बतलाया जा रहा है-आप लोगों ने जो यह सिद्धान्त स्वीकार किया है कि साधु किञ्चिंचन होता है इसलिए उसे उपकरण बिल्कुल नहीं रखने चाहिए, न उनमें परस्पर उपकार्य उपकार भाव होता है-एक दूसरे का उपकार सेवा या परिचर्या नहीं करनी चाहिए । आपका यह मन्तव्य नियत-निश्चित या युक्ति संगत नहीं है । आप जो यह कहते है कि रुग्ण साधु को जो आहार लाकर देते हैं वे गृहस्थ के सदृश होते हैं । यह आपका अपर्यालोचित-पर्यालोचन या चिंतन रहित प्रतिपादन है । आप जो कार्य करते हैं वे भी पर्यालोचन चिंतन शून्य है । तेहरवीं गाथा में 'नातिकं डू इय सेयं'-नातिकण्डूयितंश्रेयं' इस पद द्वारा जो कहा गया है, उसे दृष्टान्त द्वारा बतलाया जाता है।

सूत्रकार अपने पूर्व विवेचनोपक्रम के अनुसार कहते हैं ।

❀ ❀ ❀

एरिसा जा वई एसा, अग्गवेणु व्व करिसिता ।
गिहिणो अभिहडं सेयं , भुंजिउं ण उ भिक्खुणं ॥१५॥

छाया – ईदृशी या वागेषा, अग्रवेणुरिव कर्षिता ।
ग्रहिणोऽभ्याहृतं श्रेयः, भोक्तुं न तु भिक्षूणाम् ॥

अनुवाद – गृहस्थ द्वारा अभ्याहृत-लाये हुए आहार का सेवन करना साधु के लिए श्रेयस्कर है, किन्तु साधु के द्वारा लाये हुए आहार का सेवन करना श्रेयस्कर नहीं है । यह कथन युक्तिरहित है । वह इसी प्रकार दुर्बल-सार रहित है जैसे बांस का आगे का भाग बहुत पतला व कमजोर होता है ।

टीका – येयमीदृक्षा वाक् यथा यतिना ग्लानस्यानीय न देयमित्येषा अग्रे वेणुवद् वंशवत् कर्षिता तन्वी युक्त्यक्षमत्वात् दुर्बलेत्यर्थः, तामेव वाचम् दर्शयति-'गृहिणां' गृहस्थानां यदभ्याहृतं तद्यतेर्भोक्तु 'श्रेयः' श्रेयस्करं न तु भिक्षूणां सम्बन्धीति, अग्रेतनुत्वं चास्या वाच एवं द्रष्टव्यं-यथा गृहस्थाभ्याहृतं जीवोपमर्देन भवति, यतीनां तूद्गमादिदोषरहिता मिति ॥१५॥

टीकार्थ – साधु को किसी ग्लान-रुग्ण साधु के लिए आहार लाकर नहीं देना चाहिए, यह कथन बांस के अग्रभाग के समान पतला अर्थात् युक्ति रहित होने के कारण दुर्बल सारहीन है । इसी वचन का शास्त्राकार दिग्दर्शन करते हुए कहते हैं कि – गृहस्थ द्वारा अभ्याहृत-लाये हुए आहार का सेवन करना साधु के लिए श्रेयस्कर है, किन्तु साधु द्वारा लाये हुए आहार का सेवन करना श्रेयस्कर नहीं है । यह वचन बांस के अग्रभाग के समान कृश दुर्बल या सार रहित है, क्योंकि गृहस्थों द्वारा लाया हुआ आहार जीवों के उपमर्दन या व्यापादन से संपृक्त होता है तथा साधुओं द्वारा लाया हुआ आहार उदाम आदि दोष शून्य होता है ।

❀ ❀ ❀

धम्मपन्नवणा जा सा, सारंभा ण विसोहिआ ।
ण उ एयाहिं दिट्ठीहिं, पुव्वमासिं पग्गप्पिअं ॥१६॥

छाया – धर्म प्रज्ञापना या सा सारम्भाणां विशोधिका ।
न त्वेताभि र्दृष्टिभिः पूर्व मासीत्प्रकल्पितम् ॥

अनुवाद – साधुओं का दान आदि द्वारा उपकार करना चाहिए । यह धर्म प्रज्ञापना-धर्मदेशना गृहस्थों के लिए श्रेयस्कर है, साधुओं के लिए नहीं । इसी कारण इसे पहले प्रतिपादित नहीं किया गया ।

टीका – किञ्च-धर्मस्य प्रज्ञापना-देशना यथा यतीनां दानादिनोकर्तव्यमित्ये वम्भूता या सा 'सारम्भाणां' गृहस्थानां विशोधिका, यतयस्तु स्वानुष्ठानेनैव विशुध्यन्ति, न तु तेषां दानाविकारोऽस्तीत्येतत् दूषयितुं प्रक्रमते-'न तु' नैवैताभिर्यथा गृहस्थेनैव पिण्डदानादिना यतेर्ग्लानाद्यवस्थायां मुपकर्तव्यं नतु यतिभिरेव परस्परमित्येवम्भूताभिः युष्मदीयाभिः 'दृष्टिभिः' धर्मप्रज्ञापनाभिः 'पूर्वम्' आदौ सर्वज्ञैः 'प्रकल्पिते' प्ररूपितं प्रत्याख्यापितमासीदिति, यतो नहि सर्वज्ञा एवम्भूतं परिफल्गुप्रायमर्थं प्ररूपयन्ति यथा-असंयतैरेषणाद्यनुपयुक्तै ग्लानादेर्वैयावृत्त्यं विधेयं न तूपयुक्तेन संयतेनेति, अपिच-भवद्भिरपि ग्लानोपकारोऽभ्युपगत एव, गृहस्थ प्रेरणादनुमोदनाच्च, ततो भवन्तस्तत्कारिण स्तत्प्रद्वेषिणश्चेत्थापन्नमिति ॥१६॥ अपिच -

टीकार्थ – दान आदि देकर साधुओं का उपकार करना चाहिए, यह धर्मप्रज्ञापना, धर्मोपदेश गृहस्थों के लिए विशोधक-उन्हें पवित्र करने वाला है, साधुओं को नहीं, क्योंकि साधु अपने संयम मूलक अनुष्ठानों से ही शुद्ध होते हैं, अतः उन्हें दान देने का अधिकार नहीं है । इस सिद्धान्त को सदोष बताने के लिए सूत्रकार प्रतिपादित करते हैं कि रुग्णता आदि की स्थिति में गृहस्थों को ही आहार आदि द्वारा साधु का उपकार करना चाहिए, परिचर्या करनी चाहिए किन्तु साधुओं को आपस में ऐसा उपकार नहीं करना चाहिए । आपके इस दृष्टि के अनुरूप सर्वज्ञों ने पूर्व समय में कभी धर्म देशना नहीं की, क्योंकि सर्वज्ञमहापुरुष ऐसे अत्यन्त तुच्छ नगण्य अर्थ की प्ररूपणा नहीं करते । जैसे एषणा आदि में उपयोग नहीं रखने वाले असंयत पुरुष ही रुग्ण आदि साधु का वैयावृत्य-सेवा परिचर्या करे, किन्तु उपयोग रखने वाले संयत पुरुष ऐसा न करे । सर्वज्ञों की ऐसी देशना नहीं हो सकती । आप लोग भी गृहस्थ को रुग्ण साधु की सेवा परिचर्या करने की प्रेरणा करते हैं । इस कार्य का इस प्रकार अनुमोदन करने से रोगी साधु का उपकार करना आप स्वीकृत कर ही लेते हैं, यों आप रोगी साधु का उपकार करते भी हैं और उस कार्य का विरोध भी करते हैं ।

❀ ❀ ❀

सव्वाहिं अणुजुत्तीहिं, अचयंता जवित्तए ।
ततो वायं णिराकिच्चा, ते भुज्जोवि पगब्भिया ॥१७॥

छाया – सर्वाभि रनुयुक्तिभिरशक्नुवन्तो यापयितुम् ।
ततो वादे निराकृत्य ते भूयोऽपि प्रगल्भिताः ॥

अनुवाद – अन्य मतानुयायी सभी प्रकार की युक्तियों द्वारा जब अपने मन्तव्य को स्थापित करने में समर्थ नहीं होते, तब वे वाद का निराकरण कर-परित्याग कर दूसरे प्रकार से अपना पक्ष सिद्ध करने की धृष्टता करते हैं ।

टीका – ते गोशालकमतानुसारिणो दिगम्बरा वा सर्वाभिरर्थानुगताभिर्युक्तिभिः सर्वैरेव हेतुदृष्टान्तैः प्रमाण भूतैरशक्नुवन्तः स्वपक्षे आत्मानं 'यापयितुम्' संस्थापयितुम् 'ततः' तस्माद्युक्तिभिः प्रतिपादयितुम् सामर्थ्या भावाद् 'वादंनिराकृत्य' सम्यगहेतुदृष्टान्तैर्यो वादो-जल्पस्तं परित्यज्य ते तीर्थिका 'भूयः' पुनरपि वाद परित्यागे सत्यपि 'प्रगल्भिता' धृष्टतां गता इदमूचुः तद्यथा -

"पुराणं मानवो धर्मः साङ्गो वेदश्चिकित्सितम् । आज्ञासिद्धानि चत्वारि, न हन्तव्यानिहेतुभिः ॥१॥"

अन्यच्च किमनया बहिरङ्गया युक्त्याऽनुमानादिकयाऽत्र धर्म परीक्षणे विधेये कर्तव्यमस्ति, यतः प्रत्यक्ष एव बहुजनसंमतत्वेन राजाद्याश्रयणाच्चायमेवास्मदभिप्रेतो धर्मः श्रेयन्नापर इत्येवं विवदन्ते, तेषामिदमुत्तरम्-न ह्यत्र ज्ञानादि साररहितेन बहुनाऽपि प्रयोजनमस्तीति, उक्तं च-

"ऐरंडकट्ठरासी जहा य गोसीसचंदनपलस्स । मोल्ले न होज्ज सरिसो कित्तियमेत्तो गणिज्जंतो ॥१॥"

छाया - एरण्ड काष्ठ राशिर्यथा च गोशीर्ष चन्दन पलस्य, मूल्येन न भवेत् सदृशः कियन्मात्रो गण्यमानः ।

तहवि गणणातिरेगो जह रासी सो न चंदन सरिच्छो । तह निव्विण्णाणमहाजणोवि सोज्झे विसंवयति ॥२॥

छाया - तथापि गणनातिरेको यथा राशी स न चन्दन सदृशः, तथा निर्विज्ञानमहा जनोऽपि मूल्ये विसंवदते ।

एक्को सचक्खुगो जह अंधलयाणं सएहिं बहुएहिं । होइ वरं दट्ठव्वो णहु ते बहुगा अपेच्छंता ॥३॥

छाया - एकः सचक्षुष्को यथा अन्धानांशतै बहुभिर्भवति वरं द्रष्टव्यो नैव बहुका अप्रेक्षमाणाः ।

एवं बहुगावि मूढाणपमाणं जे गइं ण याणंति । संसार गमण गुविलं विडणस्स य बंधमोक्खस्स ॥४॥"

छाया - एवं बहुका अपि मूढ़ा न प्रमाणं ये गतिं न जानन्ति, संसारा गमनं वक्रो निपुणयोर्बंधमोक्षयोश्च ।

इत्यादि ॥१७॥ अपिच -

टीकार्थ – गौशालक के सिद्धान्तवादी तथा दिगम्बर परम्परानुगतवादी समग्र अर्थानुरूप-साध्य पदार्थानुषङ्गी-युक्तियों द्वारा अर्थात् प्रमाणभूत हेतु एवं दृष्टान्तादि द्वारा जब अपने पक्ष में अपने को संस्थापित-प्रतिष्ठित करने में समर्थ नहीं होते, तब वाद का परित्याग कर अर्थात् सम्यक हेतु एवं दृष्टान्तों पर आधारित परस्पर वाद रूप जल्प को छोड़कर अपना पक्ष स्थापित करने की धृष्टता करते हैं, और ऐसा कहते हैं कि-पुराण, मानव धर्म-मनुप्रणीत स्मृति आदि धर्मशास्त्र, साङ्गवेद-अंगो सहित वेद तथा चिकित्सा शास्त्र-आयुर्वेद, ये चार आज्ञा सिद्ध-ईश्वरीय आज्ञा से प्रमाणित शास्त्र है । इसलिए तर्क द्वारा इनका हनन-खण्डन नहीं करना चाहिए। धर्म की परीक्षा के संदर्भ में युक्ति एवं अनुमान आदि बाह्य साधनों की क्या आवश्यकता है, क्योंकि अनेकानेक लोगों द्वारा स्वीकृत तथा राजा महाराजाओं द्वारा सम्मानित होने से प्रत्यक्ष ही हमारा धर्म श्रेष्ठ है, दूसरा नहीं। अन्य तीर्थि इस प्रकार विवाद करते हैं । दुस्साहस पूर्वक कहते हैं । उनको इस प्रकार उत्तर देना चाहिए । ज्ञानादि सार रहित धर्म बहुत हैं । बहुत लोगों द्वारा माना जाता हो तो भी उससे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता । कहा है-एरण्ड के काठ की राशि-ढेर चाहे कितना ही बड़ा हो किन्तु वह मूल्य में एक पल परिमाण गोशीर्ष चन्दन के बराबर भी नहीं होता । जैसे एरण्ड के काठ की राशि गणना या परिमाण में, अधिक होने के बावजूद थोड़े से चन्दन के बराबर भी नहीं होती, उसी तरह विज्ञान रहित-अज्ञानी पुरुष संख्या में बहुत हो तो भी वे विज्ञानयुक्त-विवेकयुक्त थोड़े से भी लोगों के बराबर नहीं होते । जैसे नेत्रवान एक पुरुष भी सैकड़ों चक्षुहीन पुरुषों से उत्तम होता है, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष एक भी हो तो वह सैकड़ों अज्ञानी जनों से उत्तम होता है । जो बन्ध, मोक्ष तथा संसार की गति को नहीं जानते वे अज्ञानी पुरुष संख्या में बहुत अधिक हों तो भी धर्म के संदर्भ में प्रमाणभूत नहीं माने जा सकते ।

❀ ❀ ❀

राग दोसाभिभूयप्पा, मिच्छत्तेण अभिद्दुता ।
आउस्से सरणं जंति, टंकणा इव पव्वयं ॥१८॥

छाया – रागद्वेषाभिभूतात्मानः, मिथ्यात्वेनाभिद्रुताः ।
आक्रोशान् शरणं यान्ति टङ्कण इव पर्वतम् ॥

अनुवाद – रागद्वेष से जिनकी आत्मा अभिभूत है-जो रागद्वेष से भरे हैं, मिथ्यात्व से अभिद्रुत- आक्रान्त हैं ऐसे अन्य सिद्धान्तवादी जब तत्व चर्चा में पराभूत हो जाते हैं तो आक्रोश, अपशब्द मारपीट आदि का आश्रय लेते हैं । जैसे टंकण-पर्वतों पर निवास करने वाली अनार्य जाति के लोग युद्ध में पराजित होकर पर्वत की शरण लेते हैं ।

टीका – रागश्च-प्रीतिलक्षणो द्वेषश्च-सद्विपरीतलक्षणस्ताभ्यामभिभूत आत्मा येषां परतीर्थिकानां ते तथा, 'मिथ्यात्वेन' विपर्यस्ताव बोधेना तत्त्वाध्यवसायरूपेण 'अभिद्रुता' व्याप्ता: सद्युक्तिभिर्वादं कर्तुमसमर्था: क्रोधानुगा 'आक्रोशान्' असभ्यवचन रूपाँस्तथा दण्डमुष्टयादिभिश्च हनन व्यापारं 'यान्ति' आश्रयन्ते । अस्मिन्नेवार्थे प्रतिपाद्ये दृष्टान्तमाह यथा 'टङ्कणा' मलेच्छविशेषा दुर्जया यदा परेण बलिना स्वनीकादिनाऽभिद्रूयन्ते तदा ते नानाविधैरप्यायुधैर्योध्धुमसमर्था: सन्त: पर्वतं शरण माश्रयन्ति, एवं तेऽपि कुतीर्थिका वादपराजिता: क्रोधाद्युपहतदृष्टय आक्रोशादिकं शरणमाश्रयन्ते, न च ते इदमाकलय्य प्रत्याक्रोष्टव्या:, तद्यथा –

अक्कोसहणण मारणधम्मब्भंसाण बाल सुलभाणं । लाभं मन्नइ धीरो जहुत्तराणं अभावंमि ॥१॥" ॥१८॥ किञ्चान्यत् –

छाया – आक्रोशहनन मारण धर्मभ्रंशानां, बाल सुलभानां, लाभं मन्यते धीरो यथोन्तराणामभावे ।

टीकार्थ – प्रीति को राग कहा जाता है । उसके विपरीत अप्रीति को द्वेष कहा जाता है । राग और द्वेष से जिनकी आत्मा अभिभूत-दबी हुई है जो विपर्यस्त-मिथ्याअवबोध द्वारा अभिद्रूत है-परिव्याप्त है, वे अन्य मतवादी जब न्यायपूर्ण युक्तियों द्वारा वाद-तत्व चर्चा करने में समर्थ नहीं होते तब असभ्य, अशिष्ट वचन बोलने लगते हैं, तथा दण्डों-मुक्कों द्वारा मारपीट तक करने को तैयार हो जाते हैं । इस बात को समझाने हेतु सूत्रकार दृष्टान्त द्वारा कहते हैं । दुर्जेय-बड़ी कठिनाई से जीते जा सकने योग्य टंकण नामक किसी अनार्य जाति विशेष के लोग जब किसी प्रबल पुरुष की सेना द्वारा भगा दिए जाते हैं तब वे बहुत प्रकार के शस्त्रधारियों से लड़ने में असमर्थ होकर पर्वत की शरण लेते हैं । इसी प्रकार वे कुतीर्थिक-कुत्सित, मिथ्या सिद्धान्तों में विश्वास करने वाले इतरमतवादी वाद में-तत्त्व चर्चा में पराजित हो जाते हैं तब वे क्रोधादि से उपहत होकर, गुस्से में आकर आक्रोश, अपशब्द, गाली गलौच आदि की ही शरण लेते हैं । यह देखकर उनका गाली द्वारा प्रतिकार नहीं करना चाहिए । आक्रोश, हनन, मारना या धर्म भ्रंश ये तो बाल सुलभ-बच्चों जैसे छिछले कार्य हैं, धैर्यशील पुरुष इन बातों का उत्तर न देने में ही लाभ मानते हैं ।

❀ ❀ ❀

बहुगुणप्पगप्पाइं, कुज्जा अत्तसमाहिए ।
जेणऽन्ने णो विरूज्झेज्जा, तेण तं तं समायरे ॥१९॥

छाया – वह गुण प्रकल्पानि कुर्य्यादात्मसमाधिकः ।
येनाऽन्यो न विरुध्येत तेन तत्तत् समाचरेत् ॥

अनुवाद – अन्य तीर्थी के साथ जब मुनि वाद करे-तत्वचर्चा करे, तब वह आत्म समाधि युक्त रहे, चित्तवृत्ति को प्रशांत बनाये रखे । अपने पक्ष की सिद्धि और पर पक्ष की असिद्धि हो, ऐसी प्रतिज्ञा हेतु ओर उदाहरण आदि का विधिवत् प्रतिपादन करे । वह ऐसा सम्भाषण उपक्रम करे, जिससे अन्य पुरुष अपने विरोधी न बने ।

टीका – 'बहवो गुणा:' स्वपक्षसिद्धि परदोषोद्भावनादयो माध्यस्थ्यादयो वा प्रकल्पन्ते-प्रादुर्भवन्त्यात्मनि येष्वनुष्ठानेषु तानि बहुगुण प्रकल्पानि-प्रतिज्ञा हेतु दृष्टान्तोपनयनिगमनादीनि माध्यस्थ्यवचन प्रकाराणि वा अनुष्ठानानि साधुर्वादकाले अन्यदा वा 'कुर्यात्' विदध्यात्, स एव विशिष्यते-आत्मन: 'समाधि:' चित्त स्वास्थ्यं यस्य

स भवत्यात्मसमाधिकः, एतदुक्तं भवति-येन येनोपन्यस्तेन हेतुदृष्टान्तादिना आत्मसमाधिः-स्वपक्षसिद्धिलक्षणो माध्यस्थ्य वचनादिना वा परानुपघातलक्षणः समुत्पद्यते तत् तत् कुर्यादिति, तथा येनानुष्ठितेन वा भाषितेन वा अन्य तीर्थिको धर्म श्रवणादौ वाऽन्यं:प्रवृत्तो 'न विरुध्येत' न विरोधं गच्छेत्, तेन पराविरोधकारणेन तत्त विरुद्धमनुष्ठानं वचनं वा 'समाचरेत्' कुर्यादिति ॥१९॥

टीकार्थ – जिन उपक्रमों से अपने पक्ष की सिद्धि तथा अन्य पक्ष में दोषोत्पत्ति हो, अथवा अपने में माध्यस्थ्य-पक्षपातरहित तटस्थता आदि उत्पन्न हो, उन्हें बहुगुण प्रकल्प कहा जाता है । उसके अन्तर्गत प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण उपनय और निगमन आदि है अथवा मध्यस्थता युक्त वचन प्रकार-वाणी बोलना बहुगुण प्रकल्प कहा जाता है । अतः साधु किसी के साथ वाद या चर्चा करते समय या अन्य समय ऐसा ही करे, ऐसे साधु की विशेषता का प्रतिपादन करते हुए सूत्रकार कहते हैं-जिसका चित्त प्रसन्न प्रशांत होता है, उस मुनि को आत्मसमाधिक कहा जाता है । तात्पर्य यह है कि जिन हेतु दृष्टान्त आदि के उपयोग द्वारा आत्म समाधि-अपने पक्ष की सिद्धि होती है अथवा जिस माध्यस्थ भावयुक्त वचन के कहने से दूसरे के मन में किसी प्रकार की पीड़ा उत्पन्न न हो साधु ऐसा करे । धर्म श्रवण आदि करने में उद्यत-प्रवृत्त अन्य मतावलम्बी तथा दूसरे व्यक्ति जिस उपक्रम या भाषण से दूसरे अपने विरोधी न बने साधु वैसा ही करे, वैसा ही बोले ।

❀ ❀ ❀

इमं च धम्ममादाय, कासवेण पवेइयं ।
कुज्जा भिक्खू गिलाणस्स, अगिलाए समाहिए ॥२०॥

छाया – इमञ्च धर्ममादाय काश्यपेन प्रवेदितम् ।
कुर्याद् भिक्षु ग्लानस्य अग्लान्या समाहितः ॥

अनुवाद – काश्यप गौत्रीय प्रभु महावीर द्वारा प्ररूपित इस धर्म को स्वीकार कर मुनि प्रशांत चित्त होता हुआ ग्लान रुग्ण साधु की अग्लान भाव से मन में जरा भी ग्लानि या घृणा न लाते हुए सेवा, परिचर्या करे ।

टीका – तदेवं परमतं निराकृत्योपसंहारद्वारेण स्वमतस्थापनायाह-'इम' मिति वक्ष्यमाणं दुर्गतिधारणाद्धर्मम् 'आदाय' उपादाय गृहीत्वा 'काश्यपेन' श्री मन्महावीरवर्द्धमानस्वामिनोत्पन्नदिव्यज्ञानेन सदैव मनुजायां पर्षदि प्रकर्षेण यथा वस्थितार्थं निरूपणद्वारेण वेदितं प्रवेदितं, च शब्दात्परमतं च निराकृत्य, भिक्षणशीलो भिक्षुः 'ग्लानस्य' अपटोरपरस्य भिक्षोर्वैयावृत्यादिकं कुर्यात् 'कथं कुर्याद् ?' एतदेव विशिनष्टि-स्वतोऽप्यग्लानतया यथा शक्ति 'समाहितः' समाधिं प्राप्त इति, इद मुक्तं भवति यथा यथाऽऽत्मनः समाधिरुपद्यते न तत्कारणेन अपारवसंभवात् योगा विषीदन्तीति तथा यथा तस्य च ग्लानस्य समाधिरुत्पद्यते तथा पिण्डपातादिकं विधेयमिति ॥२०॥

टीकार्थ – जैसा पूर्व में वर्णित हुआ-इतरमतवादियों के मतों का खण्डन कर अब आगमकार समाप्ति के प्रसंग में अपने पक्ष की स्थापना करने हेतु कहते हैं । दुर्गति में पतित होते प्राणियों को धर्म बचाता है, यह आगे वर्णन किया जायेगा । दिव्यज्ञान-केवलज्ञान उत्पन्न होने पर भगवान् महावीर ने देवों और मानवों की परिषद् में सद्धर्म की प्ररुपणा की थी । यहां गाथा में प्रयुक्त 'च' शब्द से यह सूचित होता है, कि इतर मतवादियों के सिद्धान्तों का खण्डन करके उन्होंने धर्म की प्ररुपणा की थी । इस धर्म को अङ्गीकार कर भिक्षणशील-भिक्षोपजीवी साधु दूसरे अपटुः-असमर्थ, अशक्त, रुग्ण साधु का वैयावृत्त-सेवा परिचर्या करे, कैसे करे ? यह बतलाते हैं-स्वयं अग्लान-ग्लानि रहित, घृणा रहित समाहित-समाधियुक्त होकर वैसा करे, इसका तात्पर्य यह है कि जिस

प्रकार अपनी आत्मा को समाधि उत्पन्न होती है, वैसा नहीं करने से अपटुता अयोग्यता के कारण साधु स्वयं असमर्थ हो जाता है । ऐसा होने से उसका कार्य यथाविधी नहीं चल पाता । अतएव जिस प्रकार अपनी आत्मा को समाधि उत्पन्न हो, रुग्ण की आत्मा को समाधि उत्पन्न हो, उसी प्रकार आहारादि उसे देना चाहिए ।

❀ ❀ ❀

संखाय पेसलं धम्मं, दिट्ठिमं परिनिव्वुडे ।
उवसग्गे नियामित्ता, आमोक्खाए परिव्वएज्जाऽसि ॥२१॥त्तिबेमि॥

छाया – संख्या पेशलं धर्मं, दृष्टिमान् परिनिर्वृतः ।
उपसर्गान् नियम्य आमोक्षाय परिव्रजेदिति ब्रवीमि ॥

अनुवाद – दृष्टिमान-पदार्थ के सत्यस्वरूप का द्रष्टा, परिनिर्वृत-प्रशांत मुनि इस पेशल-उत्तम धर्म को जानकर उपसर्गों को सहता हुआ मोक्ष प्राप्त करने तक संयम का प्रतिपालन करे । मैं ऐसा कहता हूँ ।

टीका – किं कृत्वैत द्विधेयमिति दर्शयितुमाह-'संखाये'त्यादि, संख्याय-ज्ञात्वा कं ? 'धर्मं' सर्वज्ञ प्रणीतं श्रुतचारित्राख्य भेदभिन्नं 'पेशलम्' इति सुश्लिष्टं प्राणिनामहिंसादि प्रवृत्त्या प्रीतिकारणं, किम्भूतमिति दर्शयति-दर्शनं दृष्टिः सद्भूतपदार्थगतासम्यग्दर्शनमित्यर्थः सा विद्यते यस्यासौ दृष्टिमान् यथावस्थितपदार्थ परिच्छेद वानित्यर्थः, तथा 'परिनिर्वृतो' रागद्वेष विरहाच्छान्ती भूतस्तदेवं धर्म पेशलं परिसंख्याय दृष्टिमान् परिनिर्वृत उपसर्गाननुकूल प्रतिकूलान्नियम्य-संयम्यसोढा नोपसर्गैरूपसर्गितोऽसमञ्जसं विदध्यादित्येवम् 'आमोक्षाय' अशेषकर्मक्षय प्राप्तिं यावत् परि-समन्तात् व्रजेत्-संयमानुष्ठानोद्युक्तो भवेत् परिव्रजेद्, इतिः परिसमाप्त्यर्थे, ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥२१॥

उपसर्ग परिज्ञायास्तृतीयोद्देशकः समाप्त ॥३॥

टीकार्थ – क्या करके साधु को इस प्रकार करना चाहिए । इसका दिग्दर्शन कराने हेतु सूत्रकार कहते हैं-साधु को, सर्वज्ञ प्रतिपादित श्रुत एवं चारित्र रूप धर्म को जानकर आत्मसात् करे कि वह सुगठित-सुव्यवस्थित-व्रतादि परिभाषित है, अहिंसा आदि में प्रवृत होने के कारण प्राणियों के लिए प्रीतिप्रद है ऐसा करना चाहिए ज्यों आगे बतलाया जा रहा है, वह साधु कैसा है ? यह बतलाते हैं-पदार्थों के यथार्थ या सत्यस्वरूप को देखना उसमें विश्वास करना सम्यक दर्शन है, उसे दृष्टि कहा जाता है । वह जिसमें विद्यमान है उसे दृष्टिमान कहते है । दूसरे शब्दों में जो पुरुष पदार्थों के वास्तविक स्वरूप को जानता है, वह दृष्टिमान है, वैसे पुरुष को परिनिर्वृत कहा जाता है । यों उत्तम धर्म को जानकर, पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का द्रष्टा शांत प्रशांत भावापन्न मुनि अनुकूल एवं प्रतिकूल उपसर्गों को सहन करे । उपसर्गों को सहने में बाधा, कठिनाई उत्पन्न होने पर वह कोई ऐसा कार्य न करे जो उचित न हो, इस प्रकार वह मुनि जब तक समस्त कर्मों के क्षय के परिणाम स्वरूप मोक्ष को प्राप्त न हो जाय तब तक संयम के अनुष्ठान में भलीभांति उद्युक्त-तत्पर रहे । इति शब्द यहाँ समाप्ति के अर्थ में आया है । ब्रवीमि पहले की ज्यों योजनीय है ।

उपसर्ग परिज्ञा का तीसरा उद्देशक समाप्त हुआ ।

❀ ❀ ❀

卐 卐 卐

चतुर्थः उद्देशकः

अस्य चायममिसम्बन्धः, इहानन्तरोद्देशके अनुकूलप्रतिकूलोपसर्गाः प्रतिपादिताः तैश्च कदाचित्साधुः शीलात् प्रच्याव्येतत्तस्य च स्खलितशीलस्य प्रज्ञापनाऽनेन प्रतिपाद्यते इति, अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादिमे सूत्रम्-

इसका पूर्व उद्देशक के साथ यह सम्बन्ध है-पिछले उद्देशक में अनुकूल एवं प्रतिकूल परिषहों का प्रतिपादन किया गया है। उन उपसर्गों से अभिद्रुत होकर साधु का शील में भ्रष्ट-पतित हो जाना भी आशंकित है। शील से-संयम से पतित साधु जो उपदेश देता है, वह इस उद्देशक में वर्णित है इस सम्बन्ध में आयात-समुपस्थित इस उद्देशक का यह पहला सूत्र है।

आहंसु महापुरिसा, पुव्विं तत्ततवोधणा।
उदएण सिद्धिमावन्ना, तत्थ मंदो विसीयति ॥१॥

छाया – आहुर्महापुरुषाः पूर्वं तप्ततपोधनाः।
उदकेन सिद्धिमापन्ना स्तत्र मन्दो विषीदति॥

अनुवाद – कतिपय मंद विवेकहीन पुरुष ऐसा आख्यात करते हैं कि पूर्वकाल में ऐसे तप्त तपोधन-उग्र तपश्चरणशील महापुरुष हुए हैं, जिन्होंने उदक-सचित्त जल का सेवन करते हुए सिद्धि प्राप्त की। यह सुनकर अज्ञजन सचित्त जल के सेवन में प्रवृत्त हो जाते हैं, अंततः दुःखित होते हैं।

टीका – केचन अविदितपरमार्था 'आहुः' उक्तवन्तः किं तदित्याह-यथा 'महापुरुषाः' प्रधानपुरुषा वल्कलचीरितारागणर्षि प्रभृतयः 'पूर्वं' पूर्वस्मिन् काले तप्तम्-अनुष्ठितं तप एव धनं येषां ते तप्ततपोधनाः-पञ्चाग्न्यादितपोविशेषेण निष्टप्तदेहाः, त एवम्भूताः शीतोदक परिभोगेन, उपलक्षणार्थं त्वात् कन्दमूलफलाद्युप भोगेन च 'सिद्धिमापन्नाः' सिद्धिं गताः, 'तत्र' एवम्भूतार्थसमाकर्णने तदर्थसद्भावावेशात् 'मंदः' अज्ञोऽस्नानादित्याजितः प्रासुकोदक परिभोगभग्नः संयमानुष्ठाने विषीदति, यदिवा तत्रैव शीतोदक परिभोगे विषीदति लगति निमज्जतीतियावत्, न त्वसौ वराक एवमव धारयति, यथा तेषां तापसादि व्रतानुष्ठायिनां कुतश्चिज्जातिस्मरणादिप्रत्ययादाविर्भूत सम्यग्दर्शनानां मौनीन्द्र भाव संयम प्रतिपत्या अपगत ज्ञानावरणीयादिकर्मणां भरतादीनामिव मोक्षावाप्तिः न तु शीतोदक परिभोगादिति ॥१॥ किञ्चान्यत् -

टीकार्थ – जिन्हें परमार्थ-परम तत्त्व विदित नहीं है, जो उसे नहीं जानते, वे अज्ञानी हैं। वे क्या कहते हैं, यह बतलाते हैं। वे कहते हैं कि पहले के समय में वल्कल चीरी, तारागण ऋषि आदि महापुरुष हुए, जिन्होंने तप रूप धन का अर्जन किया, पंचाग्नि आदि तपस्याओं द्वारा अपने शरीर को परितप्त किया। उन्होंने शीतल जल एवं कन्द, मूल, फल आदि का सेवन करते हुए सिद्धि प्राप्त की। यह श्रवण कर, इसे सत्य मानकर कोई पुरुष, जो प्रासुक-अचित, गर्म जल पीने से, स्नान न करने से आकुल हो, घबराया हुआ हो, संयम पालन में दुःख अनुभव करने लगता है, अथवा शीतलजल आदि उपयोग में लेने लगता है। वह अभागा यह नहीं सोचता कि उक्त तापस आदि व्रतों का पालन करते थे। किसी कारण वश उन्हें जाति स्मरण ज्ञान हुआ, अपना पूर्व जन्म याद आया। उन्होंने सम्यक् दर्शन प्राप्त किया। सर्वज्ञ प्ररूपित भावसंयम आत्मसात् किया। उनके ज्ञानावरणीय आदि कर्म नष्ट हुए। फलतः उन्हें भरत आदि की ज्यों मोक्ष प्राप्त हुआ, शीतल जल का सेवन करने से नहीं।

❀ ❀ ❀

अभुंजिया नमी विदेही, रामगुत्ते य भुंजिआ ।
बाहुए उदगं भोच्चा, तहा नारायणे रिसी ॥२॥

छाया – अभुक्त्वा नमिर्वैदेही रामगुप्तश्चभुक्त्वा ।
बाहुक उदकं भुक्त्वा तथा तारागण ऋषिः ॥

अनुवाद – कोई अज्ञजन साधु को साधना पथ से विचलित करने के लिए कहता है विदेह देश के अधिपति नमीराजा ने भोजन न करते हुए सिद्धत्व प्राप्त किया । रामगुप्त आहार का सेवन करते हुए मुक्त हुआ तथा बाहुक ने शीतल-सचित्त जल का सेवन करते हुए मुक्ति प्राप्त की एवं तारागण ऋषि ने भी उदक का सेवन करते हुए मोक्ष पाया ।

टीका – केचन कुतीर्थिकाः साधुप्रतारणार्थमेवमूचुः, यदिवा स्ववर्ग्याः शीतलविहारिण एतद् वक्ष्यमाण-मुक्तवन्तः, तद्यथा-नमीराजा विदेहो नाम जनपदस्तत्र भवा वैदेहाः-तन्निवासिनो लोकास्तेऽस्य सन्तीति वैदेही, स एवम्भूतो नमी राजा अशनादिकमभुक्त्वा सिद्धिमुपगतः तथा रामगुप्तश्च राजर्षिराहादिकं 'भुक्त्वैव' भुञ्जान एवसिद्धिं प्राप्त इति तथा बाहुकः शीतोदकादिपरिभोगं कृत्वा तथा नारायणो नाम महर्षिः परिणतोदकादिपरिभोगात्सिद्ध इति ॥२॥ अपिच -

टीकार्थ – कई मिथ्या दर्शन में आस्थाशील पुरुष साधु को प्रतारित करने हेतु धोखा देने के लिए यों कहते हैं, अथवा स्ववर्ग्य-अपने ही वर्ग या परम्परानुगत शिथिलाचारी वक्ष्यमाण रूप में कहते हैं विदेह नाम का एक विशेष देश-जनपद है । उसमें जो लोग निवास करते हैं उन्हें 'वैदेह' कहा जाता है । वे लोग जिसके अधीन या वशगत है वह वैदेही कहा जाता है, अर्थात् विदेह देश में रहने वाले लोगों के राजा नमी ने अशन आदि आहारों का परित्याग कर सिद्धि प्राप्त की । राजर्षि रामगुप्त ने आहार करते हुए सिद्धत्व पाया। बाहुक ने शीतल जल-सचित्त पानी आदि का परिभोग करते हुए मुक्ति प्राप्त की । नारायण नामक महर्षि ने परिणत उदक, अचित पके जल आदि का सेवन करते हुए मोक्ष की उपलब्धि की ।

❀ ❀ ❀

आसिले देविले चेव, दीवायण महारिसी ।
पारासरे दंग भोज्जा, बीयाणि हरियाणि य ॥३॥

छाया – आसिलो देवलश्चैव, द्वैपायनो महाऋषिः ।
पराशर उदकं भुक्त्वा बीजानि हरितानि च ।

अनुवाद – आसिल, देविल, द्वैपायन एवं पाराशर नामक बड़े-बड़े ऋषियों ने सचित्त जल, बीज एवं हरी वनस्पतियों का सेवन करते हुए सिद्धत्व प्राप्त किया ।

टीका – आसिलो नाम महर्षिस्तथा देविलो द्वैपायनश्च तथा पराशराख्य इत्येव मादयः शीतोदकबीजहरितादिपरिभोगादेव सिद्धा इति श्रूयते ॥३॥

टीकार्थ – आसिल नामक महर्षि तथा देवल, द्वैपायन एवं पाराशर संज्ञक ऋषि गण ने सचित्त जल बीज एवं हरी वनस्पतियों का उपभोग करते हुए सिद्धि प्राप्त की । ऐसा सुना जाता है ।

❀ ❀ ❀

एते पुव्वं महापुरिसा, आहिता इह संमता ।
भोच्चा बीओदगं सिद्धा, इति मेयमणुस्सुअं ॥४॥

छाया – एवे पूर्वं महापुरिसषा आख्याता इह सम्मताः ।
भुक्त्वा बीजोदकं सिद्धा इति मयानुश्रुतम् ॥

अनुवाद – पूर्ववर्ती समय में ये महापुरुष विख्यात थे, जैनशास्त्रों में भी ये अभिमत हैं । इन्होंने बीज और सचित्त जल का सेवन करते हुए मुक्ति प्राप्त की ।

टीका – एतदेव दर्शयितुमाह-एते पूर्वोक्ता नम्यादयो महर्षयः 'पूर्वमि' ति पूर्वस्मिन्काले त्रताद्वापरादौ 'महापुरुषा' इति प्रधानपुरुषा आ-समन्तात् ख्याताः आख्याताः-प्रख्याता राजर्षित्वेन प्रसिद्धिमुपगता इहापि आर्हते प्रवचने ऋषिभाषितादौ केचन 'सम्मता' अभिप्रेता इत्येवं कुतीर्थिकाः स्वयूथ्या वा प्रोचुः, तद्यथा-एते सर्वेऽपि बीजोदकादिकं भुक्त्वा सिद्धा इत्मेतन्मया भारतादौ पुराणे श्रुतम् ॥४॥ एतदुपसंहारद्वापरेण परिहन्नाह –

टीकार्थ – पहले जो प्रतिपादित किया गया है, उसी का दिग्दर्शन कराते हुए सूत्रकार कहते हैं "ये पूर्वोक्त नमी आदि महर्षि त्रेता, द्वापर युगों में महापुरुषों अर्थात् प्रधान पुरुषों या उच्च पुरुषों के रूप में प्रख्यात रहे हैं । राजर्षि के रूप में इन्होंने प्रसिद्धि प्राप्त की थी । ऋषिभाषित आदि आर्हत प्रवचन में भी इनमें से कतिपय सम्मत-अभिमत या स्वीकृत हैं । ऐसा मिथ्यादर्शनवादी अथवा अपने यूथ या परम्परानुवर्ती मिथ्यावादी कहते हैं । तदनुसार ये सभी बीज, सचित्त जल आदि का भोग करते हुए सिद्ध हुए, ऐसा महाभारत आदि पुराणों में सुना जाता है । इसका उपसंहार करते हुए सूत्रकार कहते हैं ।

❀ ❀ ❀

तत्थ मंदा विसीअंति, बाहच्छिन्ना व गद्दभा ।
पिट्ठतो परिसप्पंति, पिट्ठसप्पी य संभमे ॥५॥

छाया – तत्र मन्दाः विसीदन्ति वाहच्छिन्ना इव गर्दभाः ।
पृष्ठतः परिसर्पन्ति पृष्ठसर्पी च संभ्रमे ॥

अनुवाद – मिथ्यादृष्टियों द्वारा कही गई बातों का श्रवणकर कई मंद-अज्ञानी जन संयम का पालन करने में इस प्रकार कष्ट का अनुभव करते हैं जैसे भारी बोझे से लदे हुए गधे उस भार को लेकर चलने में दुःखित होते हैं । जैसे लकड़ी के टुकड़ों का सहारा लिए पृष्टसर्पी-पीठ को सरकाते सरकाते घसीटते-घसीटते चलने वाला पंगु पुरुष संभ्रम-आग लग जाने आदि के रूप में भय उपस्थित होने पर भागते हुए लोगों के पीछे-पीछे चलने का उद्यम करता है पर चल नहीं पाता ।

टीका – 'तत्र' तस्मिन् कुश्रुत्युपसर्गोदये 'मन्दा' अज्ञा नानाविधोपायसाध्यं सिद्धिगमनमवधार्य विसीदन्ति संयमानुष्ठाने न पुनरेतद्विदन्त्यज्ञाः, तद्यथा-येषां सिद्धिगमनमभूत् तेषां कुतश्चिन्निमित्तात् जातजातिस्मरणादि प्रत्यायानामवाप्तसम्यग्ज्ञानचारित्राणामेव वल्कलचीरिप्रभृतीनामिव सिद्धिगमनभूत्, न पुनः कदाचिदपि सर्वविरतिपरिणामभावलिङ्ग मन्तरेण शीतोदकबीजाद्युपभोगेन जीवोपमर्दप्रायेण कर्मक्षयोऽवाप्यते विषीदने दृष्टान्तमाह-वहनं वाहो-भारोद्वहनं तेन छिन्नाः-कर्षितास्त्रुटिता रासभा इव विषीदन्ति, यथा रासभा गमनपथ एव प्रोज्झितभाराः

निपतन्ति, एवं तेऽपि प्रोज्झ्य संयमभारं शीतल विहारिणो भवन्ति, दृष्टान्तान्तरमाह-यथा 'पृष्ठसर्पिणो' भग्नगतयोऽग्न्यादिसम्भ्रमे सत्युद्भ्रान्तननयना: समाकुला: प्रनष्टजनस्य 'पृष्ठत:' पश्चात्परिसर्पन्ति नाग्रगामिनो भवन्ति, अपि तु तत्रैवान्यादिसम्भ्रमे विनश्यन्ति, एवं तेऽपि शीतलविहारिणो मोक्षं प्रति प्रवृता अपि तु न मोक्षगतयो भवन्ति अपि तु तस्मिन्नेव संसारे अनन्तमपि कालं यावदासत इति ॥५॥ मातान्तरं निराकर्तुं पूर्वपक्षयितुमाह-

टीकार्थ – कुश्रुत-मिथ्याज्ञान उपदिष्ट करने वाले मिथ्यादृष्टि वादियों के उपर्युक्त प्रतिपादनात्मक उपसर्ग के उदित-उपस्थित होने पर अज्ञ जन, मोक्ष तो अनेक प्रकार के उपायों द्वारा साध्य है, हम से वे कैसे बन पडेंगे यों सोचकर संयम का पालन करने में कष्ट का अनुभव करते हैं । वे अज्ञानी यह नहीं जानते कि जिन उक्त पुरुषों ने मोक्ष प्राप्त किया, उनको किसी कारण वश जाति स्मरण आदि पूर्वजन्म के ज्ञान के प्रकट होने से सम्यक् दर्शन और चारित्र प्राप्त हुआ, जिससे वे मुक्त हुए । वल्कलचीरी आदि ने इसी तरह मोक्ष प्राप्त किया । सर्वविदित-सर्वत्याग मूलक-आत्म परिणाम एवं भाव संयम के बिना जीवों के विनाश-हिंसा से संयुक्त सचित्त जल के पान एवं बीजादि के उपभोग से कर्म क्षयात्मक मोक्ष कदापि उपलब्ध नहीं हो सकता ।

मिथ्यादृष्टि मतवादियों के उपदेश से संयम पालन में जो कष्ट अनुभव करने लगते हैं, उन जीवों के संबंध में शास्त्रकार दृष्टान्त के माध्यम से बतलाते हैं 'वाह' भार का नाम है उसे ढोने में लेकर चलने में एक कमजोर गधा जैसे पीड़ा अनुभव करता है, उसी प्रकार उक्त साधु संयम का परिपालन करने में दु:खानुभूति करता है, वह गधा रास्ते में ही भार को गिरा डालता है, खुद भी गिर पड़ता है, उसी प्रकार उक्त साधु भी संयम के भार का परित्याग कर शिथिलाचारी हो जाते हैं, इस संबंध में सूत्रकार एक ओर दृष्टान्त देते हैं- जैसे भीषण अग्नि लग जाने पर एक पंगु-लंगड़ा घबरा उठता है, उसकी आँखे चुंधिया जाती है । वह आग के डर से भागने वाले लोगों की तरह उद्यम करता है किन्तु वह आगे नहीं बढ़ पाता, वही अग्नि आदि द्वारा जलकर भस्म हो जाता है, नष्ट हो जाता है । उसी प्रकार शिथिलाचारी पुरुष मोक्ष के मार्ग पर चलने हेतु उद्यत होकर भी वहाँ तक पहुँच नहीं पाता । वह अनन्त काल पर्यन्त इस संसार में भटकता रहता है ।

❀ ❀ ❀

इहमेगे उ भासंति, सातं सातेण विज्जती ।
जे तत्थ आरियं मग्गं, परमं च समाहिए (यं) ॥६॥

छाया – इहैके तु भाषन्ते सातं सातेन विद्यत ।
ये तत्र आर्य्य मार्गं परमञ्च समाधिकम् ॥

अनुवाद – कई मिथ्यादर्शनवादी ऐसा कहते हैं कि सुख से सुख प्राप्त होता है, वे अज्ञ हैं । परम समाधिजनक-आध्यात्मिक शांतिप्रद वीतराग प्रतिपादित आर्यमार्ग-सम्यकज्ञानदर्शन चारित्रमूलक मोक्ष पथ का जो त्याग कर देते हैं, वे अविवेकी हैं ।

टीका – मतान्तरं निराकर्तुं पूर्वपक्षयितुमाह-'इहे'ति मोक्षगमनविचारप्रस्तावे 'एके' शाक्यादय: स्वयूथ्या वा लोचादिनोपतप्ता:, तुशब्द: पूर्वस्मात् शीतोदकादिपरिभोगाद्विशेषमाह, 'भाषन्ते' ब्रुवते मन्यन्ते वा क्वचित्पाठ:, किं तदित्याह-'सातं' सुखं 'सातेन' सुखेनैव 'विद्यते' भवतीति, तथा च वक्तारो भवन्ति-

"सर्वाणि सत्त्वानि सुखे सानि, सर्वाणि दु:खाच्च समुद्विजन्ते । तस्मात्सुखार्थी सुखमेव दद्यात्, सुख प्रदाता लभते सुखानि ॥१॥"

युक्तिरप्येवमेव स्थिता, यतः कारणानुरूपं कार्यमुत्पद्यते, तद्यथा शालिबीजाच्छाल्यङ्कुरो जायते न यवाङ्कुर इत्येवमिहत्यात् सुखान्मुक्तिसुखमुपजायते, न तु लोचादिरुपात् दुःखादिति, तथा ह्यागमोऽप्येवमेव व्यवस्थितः-

"मणुण्णं भोयणं भोच्चा, मणुण्णां समणासणं । मणुण्णंसि अगारं सि, मणुण्णं झयए मुणी ॥१॥"

छाया - मनोज्ञं भोजनं भुक्त्वा मनोज्ञे शयनासने । मनोज्ञेगारे मनोज्ञं ध्यायेन्मुनिः ॥२॥

तथा

"मृद्वी शय्या प्रातरूत्थाय पेया, भक्तं मध्ये पानकं चापराह्णे । द्राक्षाखण्डं शर्करा चार्द्धरात्रे, मोक्षश्चान्ते शाक्य-पुत्रेण दृष्टः ॥१॥

इत्यतो मनोज्ञाहारविहारादेश्चित्तस्वास्थ्यं ततः समाधिरूत्पद्यते समाधेश्च मुक्त्यवाप्तिः, अतः स्थितमेतत्-सुखेनैव सुखावाप्तिः न पुनः कदाचनापि लोचादिना कायक्लेशेन सुखावाप्तिरिति स्थितं, इत्येवं व्यामूढमतयो ये केचन शाक्यादयः 'तत्र' तस्मिन्मोक्षविचारप्रस्तावे समुपस्थिते आराद्यातः सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्यो मार्गो जैनेन्द्रशासनप्रतिपादितो मोक्षमार्गस्तं ये परिहरन्ति, तथा च 'परमं च समाधिं' ज्ञानदर्शनचारित्रात्मकं ये त्यजन्ति तेऽज्ञाः संसारान्तर्वर्तिनः सदा भवन्ति, तथाहि-यत्तैरभिहितं-कारणानुरूपं कार्यमिति, तन्नायमेकान्तो, यतः शृङ्गाच्छरो जायते गोमयाद्वृश्चिको गोलोमाविलोमादिभ्यो दूर्वेति, यदपि मनोज्ञाहारादिकमुपन्यस्तं सुखकारणत्वेन तदपिविशूचिकादिसंभवाद् व्यभिचारीति, अपिच-इदं वैषयिकं सुखं दुःखप्रतीकारहेतुत्वात् सुखाभासतया सुखमेव न भवति, तदुक्तम् -

"दुःखात्मकेषु विषयेषु सुखाभिमानः, सौख्यात्मकेषु नियमादिषु दुःखबुद्धिः । उत्कीर्णवर्णपद पङ्क्तिरिवान्यरूपा, सारूप्यमेति विपरीतगतिप्रयोगात् ॥१॥"

इति, कुतस्तत्परमानन्दरूपस्यात्यन्तिकस्य मोक्षसुखस्य कारणं भवति, यदपि च लोचभूशयनभिक्षाटन परपरिभवक्षुत्पिपासादंशमशकादिकं दुःखकारणत्वेन भवतोपन्यस्तं तदत्यन्ताल्पसत्त्वानाम परमार्थदृशां, महापुरुषाणां तु स्वार्थाध्युपगमप्रवृत्तानां परमार्थचिन्तैकतानानां महासत्त्वतया सर्वमेवैतत्सुखायैवेति तथा चोक्तम् -

तणसंथारनिविण्णोवि मुनिवरो भट्ठरागमयमोहो । जं पावइमुत्तिसुहं कत्तो तं चक्कवट्टीवि ?॥१॥

तथा ।

छाया-तृण संस्तरनिषण्णोऽपि मुनिवरो भ्रष्टरागमदमोहः। यत्प्राप्नोति मुक्तिसुखं कुतस्तत् चक्रवर्त्त्यपितश ॥

"दुखं दुष्कृतसंक्षयाय महतां क्षान्तेः पदं वैरिणः, कायस्याशुचिता विरागपदवी संवेगहेतुर्जरा ।

सर्वत्याग महोत्सवाय मरणं जातिः सुहृत्प्रीतये, संपद्भिः परिपूरितं जगदिदं स्थानं विपत्तेः कुतः ? ॥१॥"

इति, अपिच-एकान्तेन सुखेनैव सुखेऽभ्युपगम्यमानेविचित्रसंसाराभावः स्यात्, तथा स्वर्गस्थानां नित्यसुखिनां पुनरपि सुखानुभूतेस्तत्रैवोत्पत्तिः स्यात्, तथा नारकाणां च पुनर्दुःखानुभवात्तत्रैवोत्पत्तेः, न नानागत्या विचित्रता संसारक्य स्यात्, नचैतत् दृष्टमिष्टं चेति ॥६॥ अतोव्यपदिश्यते -

टीकार्थ – मतान्तर का निराकरण करने हेतु सूत्रकार उसे पूर्व पक्ष के रूप में उपस्थित करते हुए कहते हैं-मोक्षप्राप्ति के विचार के सन्दर्भ में शाक्यादि मतवादी तथा केश लुंचन आदि के परिषह से पीडित स्वयूथ्य-अपने परंपरानुवर्ती जनों का कहना है । यहां प्रस्तुत गाथा में तु शब्द पूर्व वर्णित सचित्त जल आदि के परिभोग की विशेषता बताने का सूचक है । तदनुसार वे प्रतिपादित करते हैं कि सुख से ही सुख मिलता है । सभी प्राणी सुख में अभिरत रहते हैं, दुःख से उद्वेजित होते हैं-व्यथित होते हैं । इसलिए सुखार्थी-जो सुख

चाहता हो, वह सुख ही देवे । सुख देने वाले को ही सुख मिलता है । ऐसा युक्ति युक्त भी है क्योंकि कारण के अनुरूप ही कार्य होता है । जैसे शालि-वासमती आदि उत्तम कोटि के चांवलों के बीज से वैसा ही चांवल का पौधा अंकुरित होता है, जौ का नहीं । अतः इस लोक के सुख से परलोक में मोक्ष-सुख की प्राप्ति होती है । केश-लुंचन आदि कष्टप्रद कार्यों से मोक्ष नहीं मिलता । आगम में ऐसा कहा है-मनोज्ञ-प्रिय, रूचिकर आहार, मनोहर शय्या, आसन और घर में मुनि मनोज्ञ-सुन्दर, सुखप्रद ध्यान ध्याए । और भी कहा है-मुनि को मृद्वी-मृदुल, मुलायम शय्या पर सोना चाहिए, प्रातः उठकर दूध आदि पेय पदार्थ पीने चाहिए, मध्यान्ह में चांवलों का भोजन करना चाहिए, अपराह्न-तीसरे पहर में पानक-आसव, मद्य आदि का पान करना चाहिए। अर्धरात्रि के समय द्राक्षा-दाख या किशमिश और मिश्री का सेवन करना चाहिए । इससे अन्ततः मोक्ष प्राप्त होता है । ऐसा शाक्य वंशीय बुद्ध ने देखा है-साक्षात्कार किया है ।

मनोज्ञ, आहार, विहार आदि से चित्त में प्रसन्नता उत्पन्न होती है । प्रसन्नता के परिणाम स्वरूप एकाग्रता आती है, चित्त एकाग्र या सुस्थिर होता है । उससे मुक्ति प्राप्त होती है । इससे यह सिद्ध होता है कि सुख से ही सुख मिलता है । केश लुंचन आदि काय-क्लेश प्रद कार्यों से, दुःखों से मोक्ष- छुटकारा नहीं होता । इस प्रकार प्ररूपित करने वाले शाक्य-बौद्ध आदि मतवादी मोक्षात्मक चिन्तन के संदर्भ में समग्र हेय-त्यागने योग्य धर्मों से दूरवर्ती जैनेन्द्र शासन में जैन आम्नाय में से प्रतिपादित, परमशान्तिप्रद, सम्यक ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र मूलक मोक्षमार्ग का परित्याग कर देते हैं । वे अज्ञ हैं-मूर्ख हैं । वे सदा भव चक्र में भटकते रहते हैं। उन्होंने जो प्रतिपादित किया कि कारण के अनुरूप ही कार्य होता है, यह ऐकान्तिक-अत्यन्त निश्चित नहीं है क्योंकि ऐसा देखा जाता है शृंग-सोंग नामक वनस्पति से शर-सरकंडा पैदा होता है । गोबर से बिच्छु उत्पन्न होता है । गाय तथा भेड़ के बालों से दूब पैदा होती है ।

मनोज्ञ-उत्तम, स्वादिष्ट आहार को जो सुख का हेतु बतलाया गया है, वह भी दोषपूर्ण-त्रुटिपूर्ण है क्योंकि उससे विशुचिका-हैजा आदि रोग भी उत्पन्न हो सकते हैं । वास्तव में वैषयिक-सांसारिक भोग जनित सुख प्रतीत होता है, वह सुख है ही नहीं । कहा है-दुःखात्मक विषयों में सुख मानना तथा सौख्यात्मक-तत्त्वतः सुखप्रद व्रत-नियम आदि में दुःख समझना उसी प्रकार विपरीत या उलटी बात है, जैसे उत्कीर्ण-उकेरे हुए, खोदे हुए वर्णों-अक्षरों व पदों की अन्य रूपा-उलटी पंक्ति उस उत्कीर्ण अक्षरमय पंक्ति को उलटा रखने से अक्षरों का रूप सीधा दिखाई देता है । इस तरह यहां विवक्षित सुख-दुःख को उलट कर देखना-समझना होगा। इसलिए दुःखात्मक विषय भोग परमानन्द स्वरूप ऐकान्तिक-सर्वथा निश्चित, आत्यन्तिक-संपूर्णतया अवस्थित मोक्ष-सुख का कारण किस प्रकार हो सकते हैं । केश लुंचन, भूमि पर शयन, भिक्षा याचना, दूसरों द्वारा किये गये अपमान को सहना, क्षुधा, तृषा, डांस, मच्छर आदि का कष्ट-इनको आपने जो दुःख के हेतु कहा है, जिनका हृदय अत्यन्त दुर्बल है, जो परमार्थ-मोक्ष मार्ग के द्रष्टा नहीं हैं । जो महासत्व-महापुरुष परमार्थ को जानते हैं, उसकी चिन्ता में, उसे प्राप्त करने के प्रयत्न में तत्पर रहते हैं, जो आत्म कल्याण की साधना में प्रवृत्त हैं, उनके लिए ये सब दुःख रूप नहीं हैं, क्योंकि उनमें बहुत बड़ी आत्मशक्ति होती है, जिनके प्रभाव से ये सब सुख साधन का स्वरूप ले लेते हैं । कहा है राग, अहंकार तथा मोह वर्जित मुनि घास फूस के बिछौने पर सोया हुआ भी जिस परम आनन्दमय मोक्ष, सुख का अनुभव करता है, चक्रवर्ती सम्राट भी उसे कहा जा सकता है। और भी कहा है-महापुरुष दुःख से व्यथित नहीं होते किन्तु वे यह जानकर बड़े सुखी होते हैं कि दुःख के आ जाने के कारण पापों का क्षय होता है । क्षमा-क्षमाशीलता या सहनशीलता से बैर

शान्त होता है। देह की अशुचिता-मलिनता वैराग्य का पथ है, जरा-वृद्धावस्था संवेग-तितिक्षा का हेतु है, समग्र पदार्थों का त्याग वह महान् उत्सव है जिसके लिए मर मिटना अत्यन्त आनन्दप्रद है। जन्म से तो केवल अपने सुहृद जनों के लिए ही प्रीति प्रद है। महापुरुषों के लिए यह सारा संसार संपत्तियों से परिपूरित है। इसमें विपत्ति या दुःख के लिए जगह ही कहां है।

एकान्त रूपेण सुख से ही सुख उत्पन्न होता है, यह मानने पर इस विचित्रता पूर्ण-विभिन्नतामय-जगत् की स्थिति ही नहीं बनती क्योंकि जो स्वर्ग में निवास करते हैं, वे नित्य सुखी हैं-अनवरत् सुख भोग करते हैं। सुख भोग के कारण उनकी पुनः उत्पत्ति स्वर्ग में ही होनी चाहिए। नरक में निवास करने वाले जीव दुःख ही दुःख भोगते हैं, इस कारण उनकी पुनः उत्पत्ति नरक में ही होनी चाहिए। नरक में निवास करने वाले जीव दुःख ही दुःख भोगते हैं, इस कारण उनकी पुनः उत्पत्ति नर्क में होनी चाहिए। इस कारण अपने-अपने कर्मों के अनुसार जीव के नाना गतियों में जाने के परिणाम स्वरूप जगत् की जो विचित्रता है, वह घटित नहीं हो सकती। ऐसा होना न तो शास्त्र संगत है और न अभीप्सित ही।

❀ ❀ ❀

मा एयं अवमन्नंता, अप्पेणं लुंपहा बहुं।
एतस्स (उ) अमोक्खाए, अओहारिव्व जूरह ॥७॥

छाया – मैनमवमन्यमाना अल्पेन लुम्पथ बहु।
एतस्यत्वमोक्षे अयोहारीव जूरयथ ॥

अनुवाद – तुम इसकी-सद्धर्म की अवमानना तिरस्कार मत करो। तुच्छ, नगण्य वैषयिक सुख से लुब्ध होकर इस मोक्ष सुख की उपेक्षा मत करो। यदि असत्पक्ष का तुम त्याग नहीं करोगे तो स्वर्ग आदि का त्याग कर लोहा लेने वाले वणिक् की ज्यों पछताओगे।

टीका – 'एवम्' आर्य मार्ग जैनेन्द्र प्रवचनं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रमोक्षमार्ग प्रतिपादकं 'सुखं सुखेनैव विद्यते' इत्यादिमोहेन मोहिता 'अवमन्यमानाः' परिहरन्तः 'अल्पेन' वैषयिकेण सुखेन मा 'बहु' परमार्थसुखं मोक्षाख्यं 'लुम्पथ' विध्वंसथ, तथाहि-मनोज्ञाऽऽहारादिना कामोद्रेकः, तदुद्रेकाच्च चित्तास्वास्थ्यं न पुनः समाधिरिति, अपि च 'एतस्य' असत्पक्षाभ्युपगमस्य 'अमोक्षे' अपरित्यागे सति 'अयोहारिव्व जूरह' ति आत्मानं यूयं कदर्थयथ, केवलं, यथाऽसौ अयसो-लोहस्याऽऽहर्त्ता अपान्तराले रूप्यादिलाभे सत्यपि दूरमानीतमितिकृत्वा नोज्झितवान्, पश्चात् स्वावस्थानावाप्तावल्पलाभे सति जूरितवान्-पश्चात्तापं कृतवान् एवं भवन्तोऽपि जूरयिष्यन्तीति ॥७॥

टीकार्थ – सुख से ही सुख मिलता है, इस मोहोत्पादक मन्तव्य से मोहित होकर-विमूढ़ बनकर तुम तीर्थंकर प्ररूपित सम्यक्दर्शन ज्ञान, चारित्रमय मोक्षमार्ग की अवमानना-अवहेलना करते हुए तुच्छ सांसारिक भोगों के लोभ से मोक्ष के पारमार्थिक-आध्यात्मिक आनन्द को लुप्त विध्वंस्त मत करो, उसे मत खोओ क्योंकि मनोज्ञ, आहार आदि द्वारा काम का-भोग वासना का उद्रेक-उभार होता है। उससे चैतसिक स्वस्थता मिट जाती है, आत्म समाधि प्रतिहत होती है। यदि इस असत्पक्ष मिथ्या सिद्धान्त का परित्याग नहीं करोगे तो लौह लिये चलने वाले वणिक् की ज्यों अपने को केवल कदर्थित उत्पीड़ित करोगे-लोह का भार लेकर चलने वाले वणिक् ने मार्ग के बीच चांदी, सोना आदि मिलने पर भी यह कहकर कि मैं इस लोहे को कितनी दूर से लिये आ रहा हूं, अब इसे कैसे त्याग दूँ, उसने लोहे को नहीं छोड़ा। बाद में अपने स्थान पहुँचकर जब लोहे को बेचा

तो बहुत कम कीमत लेकर वह झूरने लगा-फूट-फूटकर रोने लगा, पछताने लगा । आप भी उसी तरह रोयेंगे, पछतायेंगे ।

❀ ❀ ❀

पाणाइवाते वट्टंता, मुसावादे असंजता ।
अदिन्नादाणे वट्टंता, मेहुणे य परिग्गहे ॥८॥

छाया – प्राणातिपाते वर्तमानाः मृषावादेऽसंयताः ।
अदत्तादाने वर्तमानाः मैथुने च परिग्रहे ॥

अनुवाद – आप प्राणातिपात जीवधारियों का प्राणोच्छेद-व्यापादन या हिंसा करते हैं । असत्य भाषण करते हैं, अदत्त-बिना दी हुई वस्तु का आदान-ग्रहण करते हैं, जो चोरी है । अब्रह्मचर्य एवं परिग्रह का संचय करते हैं । इस प्रकार वर्णन करते हुए आप संयताचारी नहीं हैं ।

टीका – पुनरपि 'सातेन सात' मित्येवंवादिनां शाक्यानां दोषोद्भिावयिषयाह-प्राणातिपातमृषावादादत्तादान मैथुनपरिग्रहेषु वर्तमाना असंयता यूयं वर्तमानसुखैषिणोऽल्पेन वैषयिकसुखाभासेन पारमार्थिकऐकान्तात्यान्तिकं बहु मोक्षसुखं विलुम्पथेति, किमिति ? यतः पचनपाचनादिषु क्रियासु वर्तमानाः सावद्यानुष्ठानारम्भ तया प्राणातिपातमाचरथ तथा येषां जीवानां शरीरोपभोगो भवद्भिः क्रियते तानि शरीराणि तत्स्वामिभिरदत्तानीत्यदत्तादानाचरणं तथा गोमहिष्यजोष्ट्रादिपरिग्रहात्तन्मैथुनानुमोदनादब्रह्मेति तथा प्रव्रजिता वयमित्येवमुत्थाय गृहस्थाचरणानुष्ठान्मृषा वादः तथा धनधान्यद्विपदचतुष्पदादिपरिग्रहात्परिग्रह इति ॥८॥ साम्प्रतंमतान्तरंदूषणाय पूर्व पक्षयितुमाह-

टीकार्थ – सुख से ही सुख प्राप्त होता है, इस मत में विश्वास रखने वाले बौद्ध भिक्षुओं के सिद्धान्त में दोष उद्विभावित करने हेतु-बताने हेतु सूत्रकार प्रतिपादित करते हैं-आप लोग प्राणातिपात-जीवों की हिंसा, मृषावाद-असत्यभाषण अदत्तादान-चौर्य, मैथुन-अब्रह्मचर्य एवं परिग्रह-धन वैभव में वर्तमान- संलग्न रहने के कारण असंयत-संयमरहित हैं । वर्तमान सुखैषी वर्तमानकालीन सुखाभिलाषा में अभिरत है । तुच्छ वैषयिक सुख के लिए जो वस्तुतः सुख न होकर सुख का आभास मात्र है, पारमार्थिक-परमार्थयुक्त वास्तविक ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक मोक्ष-सुख को विलुप्त कर रहे हैं, मिटा रहे हैं । भोजन पकाना, पकवाना आत्यन्तिक मोक्ष सुख को विलुप्त कर रहे हैं, मिटा रहे हैं । भोजन पकाना, पकवाना आदि क्रियाओं में संलग्न रहकर सावद्य प्रवृत्ति से जुड़ते हुए आप जीवों की हिंसा करते हैं । जिन जीवों के शरीर का उपभोग करते हैं, आहार आदि के रूप में उपयोग करते हैं, वे शरीर उनके स्वामियों-मालिकों द्वारा आप को अदत्त हैं-नहीं दिये गये हैं, उन्हें काम में लेकर आप अदत्तादान-चौर्य का आचरण करते हैं । आप पर चोरी का अपराध सिद्ध होता है । गाय, भैंस, बकरी, ऊँट आदि रखकर उन द्वारा सेवित अब्रह्मचर्य का अनुमोदन करते हैं । हम प्रव्रजित दीक्षित हैं, यों कहते हुए आप संयम में समुत्थित हैं-उद्यत हैं, पर गृहस्थों के आचरणों का अनुष्ठान करते हैं । गृहस्थों की ज्यों आचरणशील है । यह आप द्वारा मृषावाद-असत्य भाषण का परिसेवन है । धन, धान्य द्विपद-दो पैरों वाले प्राणी, दास, दासी आदि, चतुष्पद-चौपाये पशु आदि के रूप में परिग्रह रखते हैं, इसलिए परिग्रह सेवी हैं । अब अन्य मत को सदोष बताने हेतु सूत्रकार पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थित करते हैं -

❀ ❀ ❀

एवमेगे उ पासत्था, पन्नवंति अणारिया ।
इत्थीवसं गया बाला, जिणसासणपरम्मुहा ॥९॥

छाया – एवमेके तु पार्श्वस्थाः प्रज्ञापन्त्यनार्य्याः ।
स्त्रीवशङ्गता बालाः जिन शासनपराङ्मुखाः ॥

अनुवाद – कतिपय अनार्य पार्श्वस्थ-सद्धर्म से बहिर्भूत अथवा अपने यूथ या धार्मिक आम्नाय से पृथक् भूत अज्ञानी स्त्रियों के वशगामी-स्त्रियों में आसक्त पुरुष ऐसा कहते हैं, जो आगे दी गाथाओं में वक्ष्य माण है ।

टीका – तु शब्दः पूर्वस्माद्विशेषणार्थः, 'एवमि' ति वक्ष्यमाणयानीत्या, यदि वा प्राक्तन एव श्लोकोऽत्रापि सम्बन्धनीयः, एवमिति प्राणातिपातादिषु वर्तमाना 'एके' इति बौद्धविशेषा नील पटादयो नाथवादिकमण्डलप्रविष्टा वा शैवविशेषाः सदनुष्ठानात् पार्श्वे तिष्ठन्तीति पार्श्वस्थाः, स्वयूथ्या वा पार्श्वस्थावसन्न कुशीलादयः स्त्री परीषह पराजिताः, त एवं 'प्रज्ञापयन्ति' प्ररूपयन्ति अनार्याः अनार्यकर्मकारित्वात्, तथाहि ते वदन्ति –

"प्रियादर्शनमेवास्तु, किमन्यैर्दर्शनान्तरैः ? । प्रप्यते येन निर्वाणं, सरागेणापि चेतसा ॥१॥"

किमित्येवं तेऽभिदधतीत्याह-'स्त्रीवशंगताः' यतो युवतीनामाज्ञायां वर्तन्ते 'बाला' अज्ञा राग द्वेषोपहतचेतस इति, रागद्वेषजितो जिनास्तेषां शासनम्-आज्ञा कषायमोहोपशमहेतुभूता तत्पराङ्मुखाः संसारभिष्वङ्गिणो जैनमार्ग विद्वेषिणः 'एतद्' वक्ष्य माणमूचुरिति ॥९॥

टीकार्थ – प्रस्तुत गाथा में 'तु' शब्द का जो प्रयोग हुआ है, वह पहले कहे गए मत से विशेषता सूचित करने हेतु है । इसके अनुसार कई मिथ्यादृष्टि वक्ष्यमाण नीतिका-पद्धति का आश्रय लेकर कहते हैं । इनका यह तात्पर्य है, अथवा पूर्ववर्ती गाथा का ही यहाँ सम्बन्ध जोड़ना चाहिए, अर्थात् प्राणातिपात-जीवों के व्यापादन आदि में अभिरत कतिपय बौद्ध मतानुयायी अथवा नीले कपड़े पहनने वाले नाथ सम्प्रदाय से सम्बद्ध विशिष्ट शैव जो सद् अनुष्ठान-सद् धर्म के आचरण से पृथक रहने के कारण पार्श्वस्थ हैं, वे अथवा अपनी परम्परा से बहिर्भूत अवसन्न-अवसादयुक्त, कुशील-शील रहित पुरुष स्त्री परीषह से पराभूत होकर इस प्रकार कहते हैं । वे अनार्य-अनुत्तम या अधमकर्म करने के कारण अनार्य हैं । वे प्रतिपादित करते हैं हमें तो प्रिया-प्रिय लगने वाली रमणी के दर्शन होने चाहिए । दूसरे दर्शनों से हमें क्या ? प्रिय-प्रीतिमयी रमणी के दर्शन से रागयुक्त चित्त होते हुए भी निर्वाण प्राप्त होता है । वे ऐसा क्यों कहते हैं, यह बतला रहे हैं । वे अज्ञ रागद्वेष से उपहत-उत्पीडित चित्तयुक्त स्त्रियों के वशगत हैं । अतएव वे नवयुवती स्त्रियों की आज्ञा का अनुसरण करते हैं । रागद्वेष विजेता पुरुष को जिन कहा जाता है । ऐसे जिनेन्द्र प्रभु की आज्ञा से जिसके द्वारा कषाय और मोह शांत होता है, विमुख होकर संसार में ग्रस्त रहते हैं, जैन मार्ग में विद्वेष करते हैं, आगे की गाथाओं में जैसा कहा गया है वे ऐसी बातें करते हैं ।

❀ ❀ ❀

जहा गंडं पिलागं वा, परिपीलेज्ज मुहुत्तगं ।
एवं विन्नवणित्थीसु, दोषो तत्थ कओ सिआ ? ॥१०॥

छाया – यथा गण्डं पिटकं वा परिपीडयेत मुहुर्तकम् ।
एवं वीज्ञापनीस्त्रीषु दोषस्तत्र कुतः स्यात् ॥

अनुवाद – वे कहते हैं कि जैसे गंड या पिलाग-फोड़े या फुन्सी को परिपीडित कर-दबाकर उसका मवाद निकाल देने से कुछ देर के लिए सुख मिलता है, इसी तरह सम्पर्क की अभ्यर्थना करने वाली स्त्रियों के साथ समागम करने से खेद की शांति होती है, इस कार्य में दोष किस प्रकार हो सकता है ।

टीका – यदूचुस्तदाह-यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः, 'यथा' येन प्रकारेण कश्चित् गण्डी पुरुषो गण्डं समुत्थितं पिटकं वा तज्जातीयकमेव तदाकूतोपशमनार्थं 'परिपीड्य' पूयरूधिरादिकं निर्गाल्य मुहुर्तमात्रं सुखितो भवति, न च दोषेणानुषज्यते, एवमत्रापि 'स्त्रीविज्ञापनायां' युवतिप्रार्थनायां रमणीसम्बन्धे गण्डपरिपीडन कल्पे दोषस्तत्र कुतः स्यात ?, न ह्येतावता क्लेदापगममात्रेण दोषो भवेदिति ॥१०॥

टीकार्थ – पूर्ववर्ती गाथा में जिनका संकेत किया गया है उन इतरमतवादियों ने जो प्रतिपादित किया है, इस गाथा द्वारा उसे बतलाया जाता है -

यहां आया हुआ 'जहा-यथा' शब्द उदाहरण बतलाने हेतु है । जैसे वह पुरुष जिसके शरीर में कोई फोड़ा फुंसी या कोई व्रण-घाव है, वह उसे दबाकर उसका मवाद तथा विकृत रक्त निकाल कर मुहुर्तभर के लिए सुखित होता है, सुख का अनुभव करता है, फोड़े को दबाने में किसीप्रकार का दोष नहीं होता, उसी तरह एक नवयुवती द्वारा अभ्यर्थना किए जाने पर उसके साथ फोड़े को दबाने की ज्यों, समागम करने से दोष कैसे हो सकता है । स्त्री के समागम द्वारा अपने क्लेश-खेद या खिन्नता को मिटाने मात्र से कोई दोष नहीं लगता।

❀ ❀ ❀

जहा मंधादए नाम, थिमिअं भुंजती दगं ।
एवं विन्नवणित्थीसु, दोसो तत्थ कओ सिया ? ॥११॥

छाया – **यथा मन्धादनो नाम स्तिमितं भुङ्क्ते दकम् ।**
एवं विज्ञापनीस्त्रीषु, दोषस्तत्र कुतः स्यात् ॥

अनुवाद – वे अन्य तीर्थी ऐसा कहते हैं कि जैसे मंधादन-भेड़ स्तिमित-बिना हिलाये कम्पाए पानी पीती है, जिससे किसी जीव का उपघात नहीं होता इसी तरह अभ्यर्थना करने वाली स्त्रियों के साथ समागम करने से किसी को कोई दुःख न होने कारण दोष नहीं लगता ।

टीका – स्यात्तत्र दोषो यदि काचित्पीड़ा भवेत्, न चासाविहास्तीति दृष्टन्तेन दर्शयति-'यथे' त्ययमुदाहरणोपन्यासार्थः, 'मन्धादन' इति मेषः नाम शब्दः सम्भावनायां यथा मेषः तिमितम् अनालोडयन्नुदकं पिबत्यात्मानं प्रीणयति, न च तथाऽन्येषां किञ्चनोपघातं विधत्ते, एवमत्रापि स्त्रीसम्बन्धे न काचिदन्यस्त्र पीड़ा आत्मनश्च प्रीणनम्, अतः कुतस्तत्र दोषः स्यादिति ॥११॥

टीकार्थ – वे अन्य मतवादी ऐसा कहते हैं कि समागम की अभ्यर्थना करने वाली नारी के साथ समागम करने से यदि किसी को कोई तकलीफ होती तो अवश्य ही उसमें दोष होता, परन्तु ऐसा न होने से इसमें कोई दोष नहीं है, इस बात को दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं-यहां यथा शब्द का प्रयोग दृष्टान्त को सूचित करने के लिए है । 'मन्धादन' भेड़ का नाम है । नाम शब्द यहाँ सम्भावना को सूचित करने के अर्थ में है। कहने का अभिप्राय यह है कि जैसे भेड़ आलोड़न के बिना-हिलाये बिना जल पीती है, तृप्त होती है, वह अन्य किन्हीं जीवों को कुछ भी पीड़ा नहीं देती, इसी प्रकार स्त्री संबंध में किसी को पीड़ा नहीं होती, अपने को परितृप्ति मिलती है, इसलिए इसमें दोष कैसे हो सकता है ।

❀ ❀ ❀

जहा विहंगमा पिंगा, थिमिअं भुंजती दगं ।
एवं विन्नवणित्थिसु, दोसो त कओ सिआ ! ॥१२॥

छाया – यथा विहङ्गमा पिङ्गा, स्तिमितं भुङ्क्ते दकम् ।
एवं विज्ञापनीस्त्रीषु दोषस्तत्र कुतः स्यात् ॥

अनुवाद – जैसे पिंग नामक पक्षिणी स्तिमित बिना हिलाये कम्पाये पानी पीती है, उसके द्वारा वैसा किये जाने से किसी प्राणी को कष्ट नहीं होता ओर वह तृप्त हो जाती है, उसी प्रकार अभ्यर्थता करने वाली स्त्रियों के साथ सम्बन्ध करने से किसी प्राणी को कोई दुःख नहीं होता, इसलिए इसमें दोष कहां से हो सकता है ।

टीका – अस्मिन्नेवानुपघातार्थे दृष्टान्तबहुत्वख्यापनार्थं दृष्टान्तान्तमाह 'यथा' येन प्रकारेण विहायसा गच्छतीति विहंगमा-पक्षिणो-पिंगे ति कपिञ्जला साऽऽकाश एवं वर्तमानाः 'तिमितं' निभृतमुदकमापिबति, एवमत्रापि दर्भप्रदानपूर्विकया क्रियया अरक्तद्विष्टस्य पुत्राद्यर्थं स्त्रीसम्बन्धं कुर्वतोऽपि कपिञ्जलाया इव न तस्य दोष इति, साम्प्रतमेतेषां गण्डपीडनतुल्यं स्त्रीपरिभोगं मन्यमानानां तथैडकोदकपानसदृशं परपीडाऽनुत्पादकत्वेन परात्मनोश्च सुखोत्पादकत्वेन किल मैथुनं जायत इत्यध्यवसायिनां तथा कपिञ्जलोदकपानं यथा तडागोदकासंस्पर्शेन किल भवत्येमरक्तद्विष्टतया दर्भाद्युत्तारणात् स्त्रीगात्रासंस्पर्शेन पुत्रार्थं न कामार्थं ऋतुभिगामितया शास्त्रोक्त विधानेन मैथुनेऽपि न दोषानुषङ्गः, चोचुस्ते -

"धर्मार्थं पुत्रकामस्य स्वदारेष्वधिकारिणः । ऋतुकाले विधानेन, दोषस्तत्र न विद्यते ॥१॥"

इति एवमुदासीनत्वेन व्यवस्थितानां दृष्टान्तेनैव निर्युक्तिकारो गाथात्रयेणोत्तरदानायाह -

जहणाम मंडलग्गेण सिरं छेत्तू ण कस्सइ मणुस्सो । अच्छेज्ज पराहुत्तो किंनाम ततो ण घिप्पेज्जा ?॥५३॥

जहवा विसगंडूसं कोई घेत्तूण नाम तुण्हिक्को । अण्णेण अदीसंतो किं नाम ततो न व मरेज्जा ! ॥५४॥

जहा नाम सिरिघराओ कोइ रयणाणि घेत्तूणं । अच्छेज्ज पराहुतो किं णाम ततो न घेप्पेज्जा ॥५५॥

यथा [ग्रन्थाग्रन्थम् ३७००] नाम कश्चिन्मण्डलाग्रेण कस्यचिच्छिरश्छित्त्वा पराङ्मुखस्तिष्ठेत, किमेतावतोदासीन भावावलम्बनेन 'न गृह्णेत्' नापराधी भवेत् ? । तथा-तथा कश्चिद्विषगण्डूषं 'गृहीत्वा' पीत्वा नाम तूष्णींभावं भजेदन्येन चादृश्यमानोऽसौ किं नाम 'ततः' असावन्यादर्शनात् न म्रियते ? । तथा-यथा कश्चित् श्रीगृहाद्भाण्डागाराद्रत्नानि महार्घाणि गृहीत्वा पराङ्मुखस्तिष्ठेत, किमे-तावताऽसौ न गृह्णेतेति ? । अत्र च यथा-कश्चित् शठतया अज्ञतया वाशिरश्छेदविषगण्डुषरत्नापहाराख्ये सत्यपि दोषत्रये माध्यस्थ्यमवलम्बेत, न च तस्य तदवलम्बनेऽपि निर्दोषतेति, एवंमत्राप्यवश्यंभाविरागकार्ये मैथुने सर्वदोषास्पदे संसारवर्द्धके कुतो निर्दोषतेति, तथा चोक्तम् -

"प्राणिनां बाधकं चैतच्छास्त्रे गीतं महर्षिभिः । नलिकातप्तकणक्प्रवेशज्ञाततस्तथा ॥१॥

मूलं चैतदधर्मस्य, भवभावप्रवर्धनम् । तस्माद्विद्वान्नवत्याज्यमिदं पापमनिच्छता ॥२॥

इति निर्युक्तिगाथात्रयतात्पर्यार्थः ॥ साम्प्रतं सूत्रकार उपसंहार त्याजेन गण्डपीडनादिदृष्टान्तवादिनां दोषोद्भिभावयिषयाह -

टीकार्थ – समागम की अभ्यर्थना करने वाली स्त्री के साथ संसर्ग करने में कोई प्राणी हिंसा मूलक दोष नहीं होता, इस विषय में बहुत दृष्टान्त यहाँ उपस्थित किये जाते हैं-जिस प्रकार आकाश में विहरणशील कपिञ्जल नामक पक्षिणी-चिड़िया आकाश में रहकर बिना हिलाए डुलाये जल पी लेती है, उसी प्रकार जो पुरुष राग-द्वेष शून्य बुद्धि से युक्त आदि संतान की उत्पत्ति के लिए स्त्री की देह को बर्बादी से ढककर उसके पास संबंध करता है उसे उस कपिञ्जल नामक पक्षिणी की तरह दोष नहीं लगता । यहाँ अब्रह्मचर्य के संबंध में अन्य तीर्थिकों की मान्यताएं कही गई हैं-कई प्रतिपादित करते हैं कि जैसे फोड़े को दबाकर मवाद या विकृत रक्त निकाल दिया जाता है-उसी प्रकार स्त्री के साथ सम्बन्ध किया जाता है । कई कहते हैं कि जैसे भेड़ दूसरे को कष्ट न देती हुई जल पीती है, उसी प्रकार अन्यों को पीड़ा न देते हुए अपने तथा दूसरे के लिए स्त्री पुरुष दोनों के लिए अब्रह्मचर्य सुखप्रद है । इसी प्रकार एक मान्यता यह है कि कपिञ्जल नामक चिड़ियाँ अपनी चोंच के आगे के हिस्से के अतिरिक्त अपने अन्य अंगों द्वारा सरोवर के पानी को नहीं छूती हुई उसे पीती है, इसी प्रकार जो पुरुष राग द्वेष शून्य बुद्धि द्वारा स्त्री की देह को दर्भ आदि से ढ़ककर उसके गात्र का स्पर्श न करते हुए पुत्र हेतु न कि कामवासना पूर्ति हेतु शास्त्र विहित नियमानुसार ऋतु काल में समागम करता है, उसको दोष नहीं लगता । उन्होंने कहा है अपनी स्त्री पर अपना अधिकार रखने वाले, पुरुष द्वारा धर्म हेतु पुत्रोत्पत्ति के लक्ष्य से ऋतुकाल में समागम करना शास्त्रीय विधान है, उसमें दोष नहीं होता ।

इस प्रकार धर्माराधना से उदासीन-विरक्त रहने वाले अन्य मतवादियों का निर्युक्तिकार तीन गाथाओं द्वारा दृष्टान्त के रूप में निराकरण करने हेतु उत्तर देने के लिए प्रतिपादित करते हैं –

यदि कोई पुरुष खड्ग द्वारा किसी का मस्तक उच्छिन्न कर फिर पराङ्मुख होकर स्थित हो जाय तो क्या उस द्वारा यों उदासीनता या पराङ्मुखता के अवलम्बन से उसका वह अपराध मिट जाता है ? जैसे कोई पुरुष जहर का घूंट पी ले ओर वह किसी के देखे बिना चुपचाप रहे तो क्या औरों द्वारा न देखे जाने से वह मर नहीं जायेगा ? उसी प्रकार कोई मनुष्य किसी वैभवशाली धनी पुरुष के खजाने से बेशकीमती जवाहरात चुराकर पराङ्मुख हो जाय, वहाँ से हट जाय तो क्या वह चोर समझकर गिरफ्तार नहीं किया जायेगा ।

यहाँ कहने का अभिप्राय यह है कि यदि कोई पुरुष शठतावश किसी का मस्तिष्क उच्छिन्न कर दें, जहर पी ले अथवा जवाहरात चुरा ले-ऐसा कर वह मध्यस्थ वृत्ति या तटस्थता स्वीकार कर ले तो वह निर्दोष-निरपराध नहीं हो सकता, इसी प्रकार अब्रह्मचर्य जो राग प्रसूत है, समस्त दोषों का हेतु है-संसारवर्धक है-जन्म मरण के चक्र को बढ़ाने वाला है, किसी भी तरह निर्दोष-दोष रहित नहीं हो सकता । इस सम्बन्ध में विद्वानों ने कहा है कि शास्त्र में अब्रह्मचर्य को प्राणियों का बाधक विध्वसंक बताया है – जैसे एक नली के भीतर तपी हुई आग के कण डालने से उसके भीतर की वस्तुएं नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार अब्रह्मचर्य के सेवन से आत्मशक्ति विनष्ट हो जाती है । अब्रह्मचर्य सेवन अधर्म-पाप का मूल है, संसार में आवागमन को बढ़ाता है । जो पुरुष पाप की इच्छा नहीं करता है उसे जहर से पूर्ण अन्न का ज्यों परित्याग कर देना चाहिए। निर्युक्ति की इन तीन गाथाओं का यह तात्पर्य या भावार्थ है ।

अब सूत्रकार इस प्रकरण का उपसंहार करते हुए फोड़े से मवाद निकालने की जो अब्रह्मचर्य को सुखद बताने वाले लोगों के मन्तव्य को दोष युक्त साबित करने हेतु कहते हैं ।

❀ ❀ ❀

एव मेगे उ पासत्था, मिच्छदिट्ठी अणारिया ।
अज्झोववन्ना कामेहिं, पूयणा इव तरुणए ॥१३॥

छाया – एव मेके तु पार्श्वस्थाः मिथ्यादृष्टयोऽनार्य्याः ।
अध्युपपन्नाः कामेषु पूतना इव तरुणके ॥

अनुवाद – वे पुरुष पार्श्वस्थ है-धर्म मार्ग से विमुख है, मिथ्यादृष्टि है-इनकी श्रद्धा या आस्था असत्य पर टिकी हुई है, वे अनार्य है-अधम कर्मयुक्त है, काम भोग में अध्युपन्न-आसक्त हैं, जैसे पूतना-डाकण बालों पर आसक्त रहती है-अपना विषाक्त स्तनपान कराकर मार डालती है ।

टीका – 'एव' मिति गण्डपीडनादिदृष्टान्तबलेन निर्दोषं मैथुनमिति मन्यमाना 'एके' स्त्रीपरीषह पराजिताः सदनुष्ठानात्पार्श्वे तिष्ठन्तीति पार्श्वस्था नाथवादिकमण्डलचारिणः, तुशब्दात् स्वयूथ्या वा, तथा मिथ्या-विपरीता तत्त्वाग्राहिणी दृष्टिः-दर्शनं येषां ते यथा, आरात्-दूरे याता-गताः सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्याः न आर्या अनार्याः धर्मविरुद्धानुष्ठानात्, त एवंविधा 'अध्युपपन्ना' गृध्नव इच्छामदनरूपेषु कामेषु कामैर्वा करणभूतैः सावद्यानुष्ठानेष्विति, अत्र लौकिकं दृष्टान्तमाह-यथा वा 'पूतना' डाकिनी 'तरुणके' स्तनन्धयेऽध्युपपन्ना, एवं तेऽप्यनार्याः कामेष्विति, यदिवा 'पूयण'त्ति गडुरिका आत्मीयेऽपत्येऽध्युपपन्ना, एवं तेऽपीति, कथानकं चात्र-तथा किल सर्वपशूनामपत्यानि निरूदके कूपेऽपत्य स्नेहपरीक्षार्थं क्षिप्तानि, तत्र चापरा मातरः स्वकीयस्तनन्धयशब्दाकर्ण नेऽपि कूपतटस्थां रूदन्त्यस्तिष्ठन्ति, उरभ्री त्वपत्यातिस्नेहेनान्धा अपायमनपेक्ष्य तत्रैवात्मानं क्षिप्तवतीत्ययोऽपरमशुभ्यः स्वापत्येऽध्युपपन्नेति, एवं तेऽपि ॥१३॥ कामाभिष्वङ्गिणां दोषमाविष्कुर्वन्नाह –

टीकार्थ – जो फोड़े को दबाकर उसका मवाद निकालने के समान अब्रह्मचर्य को निर्दोष मानते हैं वे धर्म विमुख पुरुष स्त्री परिषह से पराजित हैं-हार चुके हैं, वे सत् अनुष्ठान-उत्तम कार्य से दूर हैं । वे नाथ आदि शब्दों द्वारा अभिहित किये जाने वाले मण्डल में विचरणशील हैं । यहां 'तु' शब्द का जो प्रयोग हुआ है, वह सूचित करता है कि कतिपय स्वयूथिक अपने परम परावृति किन्तु धर्म विमुख जन इस सिद्धान्त का अनुसरण करते हैं । उनकी दृष्टि वस्तु के यथार्थ स्वरूप को ग्रहण नहीं करती, विपरीत रूप को ग्रहण करती है । वे मिथ्या दृष्टि हैं ।

जो पुरुष समस्त हेय-त्याग योग्य धर्मों से दूर रहता है उसे आर्य कहा जाता है । पहले जिन मतवादियों का उल्लेख हुआ है वे आर्य नहीं है, अनार्य है क्योंकि वे धर्म विरुद्ध आचरण करते हैं । ऐसे-इस प्रकार के सिद्धान्तों में विश्वास करने वाले पुरुष काम वासना एवं भोग में अत्यन्त आसक्त हैं, अथवा वे काम भोगों द्वारा पाप पूर्ण अनुष्ठान या आचरण में संलग्न हैं, इस सम्बन्ध में एक लौकिक-लोक प्रसिद्ध दृष्टान्त है । जैसे पूतना डाकण स्तनपायी बालकों पर आसक्त रहती है उसी तरह वे अनार्यजन काम भोगों में आसक्त रहते हैं, अथवा पूतना भेड़ का भी नाम है । जैसे एक भेड़ अपने बच्चों पर आसक्त-विमोहित रहती है, उसी तरह वे अनार्य जन विषय भोगों में विमोहित रहते हैं । भेड़ अपने बच्चों पर किस प्रकार आसक्त रहती है इस सम्बन्ध में एक कथानक है । किसी समय जानवरों के सन्तति विषयगत प्रेम की परीक्षा करे हेतु उन सभी के बच्चों को ऐसे कुएँ में रख दिया गया जिसमें पानी नहीं था उस समय उन बच्चों की माताएं कुएँ के तट पर खड़ी

हुयी अपने बच्चों के शब्द सुनकर रोती रही किन्तु भेड़ अपने बच्चों के प्यार में अंधी होकर मौत की परवाह न करती हुई उस कुएँ में कूद पड़ी । इससे सभी जानवरों की अपेक्षा भेड़ का अपने बच्चों के प्रति अधिक प्रेम है यह साबित हुआ । उसी प्रकार पूर्वोक्त अन्य मतवादियों का काम भोग में अत्यधिक आसक्ति भाव सिद्ध होता है ।

सूत्रकार काम में मोहित रहने वाले पुरुषों का दोष बताने हेतु प्रतिपादित करते हैं ।

❀ ❀ ❀

अणागयमपस्संता, पच्चुप्पन्नगवेसगा ।
ते पच्छा परितप्पंति, खीणे आउंभि जोव्वणे ॥१४॥

छाया – **अनागतमपश्यन्तः प्रत्युपन्नगवेषकाः ।**
ते पश्चात् परितप्यन्ते क्षीणे आयुषि यौवने ॥

अनुवाद – जो पुरुष अनागत-भविष्य में होने वाले क्लेशों को दुःखों को नहीं देखते, उस ओर ध्यान नहीं देते । प्रत्युतपन्ना-वर्तमान में होने वाले सुखों की गवेषण करते हैं-उनकी खोज में तत्पर रहते हैं, वे जवानी के चले जाने पर तथा आयु के क्षीण होने पर पछताते हैं ।

टीका – 'अनागतम्' एष्यत्कामानिवृत्तानां नरकादियातनास्थानेषु महत् दुःखम् 'अपश्यन्तः' अपर्यालोचयन्तः, तथा 'प्रत्युत्पन्नं' वर्तमानमेव वैषयिकं सुखाभासम् 'अन्वेषयन्तो' मृगयमाणा नानाविधैरूपायैर्भोगान्प्रार्थयन्तः ते पश्चात् क्षीणे स्वायुषि जातसंवेगा यौवने वाऽपगते 'परितप्यन्ते' शोचन्ते पश्चात्तापं विदधति, उक्तं च-

"हतं मुष्टिभिराकाशं, तुषाणां कण्डनं कृतम् । यन्मया प्राप्य मानुष्यं, सदर्थे नादरः कृतः ॥१॥"

तथा -

"विहवाबलेवनडिएहिं जाइं कीरंति जोव्वणमएणं । वयपरिणामे सरियाइं ताइं हिअए खुडुक्कंति॥१॥१४॥

छाया - विभवाबलेपनटितैर्यानि व क्रियन्ते यौवनमदेन । वयः परिणामे स्मृतानि तानि हृदयं व्यथन्ते ॥१॥

टीकार्थ – जो मनुष्य काम भोग से निवृत्त नहीं हैं, उनका जिन्होंने परित्याग नहीं किया है, जो नर्क आदि स्थानों में, जो दुःख सहन करने पड़ते हैं उन पर जिनकी निगाह नहीं है, जो सुख के आवास मात्र वर्तमान कालीन वैशेषिक सुखों की भिन्न-भिन्न उपायों द्वारा अभ्यर्थना करते हैं, वे जवानी के बीत जाने पर-आयु के क्षीण हो जाने पर दुःखित होकर विरक्त होकर पछताते हैं, शोक करते हैं, वे कहते हैं मनुष्य जन्म पाकर हमने सत-उत्तम धार्मिक कार्यों का आदर नहीं किया, वह हमारा ऐसा अज्ञान पूर्ण कार्य था मानों हम मुक्के से आकाश को तड़ित करते रहे तथा चाँवल निकालने हेतु धान्यहीन भूसे को कूटते रहे । धन के गर्व, जवानी के मद के कारण जो उत्तम कार्य नहीं किये गये, उम्र बीत जाने पर याद आते हैं तब हृदय अत्यन्त उद्विग्न हो उठता है।

❀ ❀ ❀

जेहिं काले परिक्कंतं, न पच्छा परितप्पए ।
ते धीरा बंधणुम्मुका, नावकंखंति जीविअं ॥१५॥

छाया – यैः काले पराक्रान्तं, न पश्चात् परितप्यन्ते ।
ते धीरा बन्धनोन्मुक्ताः, नावकाङ्क्षन्ति जीवितम् ॥

अनुवाद – जिस समय धर्म की आराधना में पराक्रम-उद्यम किया जाना चाहिए जिन पुरुषों ने वैसा किया वे बाद में पश्चाताप नहीं करते, उन्हें पछतावा नहीं करना पड़ता, वे बन्धन मुक्त, धीर-आत्मबल युक्त पुरुष संयम रहित जीवन की आकांक्षा नहीं करते ।

टीका – ये तूत्तमसत्त्वतया अनागतमेव तपश्चरणादावुद्यमं विदधति न ते पश्चाच्छोचन्तीति दर्शयितुमाह- 'यैः' आत्महितकर्तृभिः 'काले' धर्मार्जनावसरे 'पराक्रान्तम्' इन्द्रियकषायपराजयायोद्यमोविहितो न ते 'पश्चात्' मरण काले वृद्धावस्थायां वा 'परितप्यन्ते' न शोकाकुला भवन्ति, एकवचननि र्देस्तु सौत्रश्च्छान्दसत्वादिति, धर्मार्जनकालस्तु विवेकिनां प्रायशः सर्व एव यस्मात्स एव प्रधानपुरुषार्थः, प्रधान एव च प्रायशः क्रियमाणो घटां प्राञ्चति, ततश्च ये बाल्यात्प्रभृत्यकृतविषयासङ्गतया कृततपश्चरणाः ते 'धीराः' कर्म विदारण सहिष्णवो बन्धनेन-स्नेहात्मकेन कर्मणा चोद्-प्राबल्येन मुक्ता नावकाङ्क्षन्ति' असंमजीवितं, यदिवा-जीविते मरणे वा निःस्पृहाः संयमोद्यममतयो भवन्तीति ॥१५॥ अन्यच्च -

टीकार्थ – जो मनुष्य उत्तम सत्व-उच्च पराक्रमशील होते हैं वे पहले ही तपश्चरण आदि में उद्यम करते हैं । उन्हें बाद में पछताना नहीं पड़ता । इसका दिग्गदर्शन कराने हेतु सूत्र का प्रतिपादित करते हैं, आत्महित-आत्मकल्याण साधित करने वाले जिन पुरुषों ने धर्म अर्जित करने की वेला में इन्द्रियों तथा कषायों को जीतने हेतु उद्यम किया वे बाद में-मरते समय या बुढ़ापे में परितप्त-शोकाकुल नहीं होते। यहाँ प्रयुक्त परितप्य-परितप्यन्ते पद में एक वचन निर्देश सूत्र होने के कारण आर्ष प्रयोग है, ऐसा समझना चाहिए । जो पुरुष विवेकशील है उनके लिए प्रायः सारा ही समय धर्म अर्जित करने का है क्योंकि धर्म का अर्जन ही मुख्य पुरुषार्थ है । अतः मुख्य पुरुषार्थ के लिए उद्यत रहना-प्रयत्नशील रहना सर्वोत्तम है। जो मानव बचपन से ही सांसारिक विषय भोगों के सम्पर्क में न आते हुये तप में प्रवृत्त रहते हैं वे कर्मों को विदीर्ण करने में-उच्छिन्न कर डालने में समर्थ होते हैं, उनमें वैसा आत्मबल होता है । वे मानव स्नेहात्मक-मोहयुक्त बंधन से अत्यन्त विमुक्त रहते हैं, असंयम मय जीवन की कामना नहीं करते अथवा वे जीवन या मृत्यु में जरा भी स्प्रीहा-अभिलाषा न रखकर संयम पालन में दत्तचित्त हैं ।

❀ ❀ ❀

जहा नई वनेयरणी, दुत्तरा इह संमता ।
एं लोगंसि नारीओ, दुरूत्तरा अमईमया ॥१६॥

छाया – यथा नदी वैतरणी दुस्तरेह सम्मता ।
एवं लोके नार्य्यो दुस्तरा अमतिमता ॥

अनुवाद – जैसे वैतरणी नदी दुस्तर है उसे पार कर जाना बहुत कठिन है उसी तरह मतिहीन-विवेक रहित पुरुष के लिए स्त्रियां दुस्तर है ।

टीका – यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः, यथा वैतरणी नदीनां मध्येऽत्यन्तवेगवाहित्वात् विषमतटत्वाच्च 'दुस्तरा' दुर्लङ्घया 'एवम्' अस्मिन्नपि लोके नार्यः 'अमतिमता' निर्विवेकेन हीनसत्त्वेन दुःखनोत्तीर्यन्ते तथाहि - ताः हावभावैः कृतविद्यानपि स्त्रीकुर्वन्ति, तथा चोक्तम् -

"सन्मार्गे तावदास्ते प्रभवति पुरुषस्तावदेवेन्द्रियाणां, लज्जां तावद्धिधत्ते विनयमपि समालम्बते तावदेव ।

भ्रूचापाक्षेपमुक्ताः श्रवणपथजुषो नील पक्ष्माण एते, यावल्लीलावतीनां न हृदि धृतिमुषो दृष्टि बाणाः पतन्ति ॥१॥

तदेवं वैतरणीनदीवत् दुस्तरा नार्यो भवन्तीति ॥१॥ अपिच् -

टीकार्थ – इस गाथा में जहां-यथा शब्द उदाहरण को सूचित करने के लिए प्रयोग में आया है । नदियों में वैतरणी नदी अत्यन्त वेगयुक्त है-बड़ी तेजी से बहती है, विषम तटयुक्त है-उसके किनारे बड़े विषम या उबड़-खाबड़ है । अतः उसे लाँघ पाना बहुत कष्टकर है । इसी प्रकार इस लोक में आत्म पराक्रम शून्य एवं विवेकहीन पुरुषों द्वारा स्त्रियाँ दुस्तर है-उनको लांघ पाना या उनसे बच पाना बहुत मुश्किल है । वे हाव भाव-कामुक चेष्टाओं द्वारा कृतविद्य-जिन्होंने गहन विद्याध्ययन किया है वैसे पुरुषों को भी अपने काबू में कर लेती हैं, कहा गया है कि मनुष्य तभी तक सन्मार्ग पर टिका रह सकता है, अपनी इन्द्रियों पर नियंन्त्रण बनाये रख सकता है, तभी तक लज्जाशील बना रह सकता है जब तक लीलावती-विविध लीलाओं में कुशल स्त्रियों द्वारा भृकुटि रूपी धनुष को कानों तक आकृष्ट कर छोड़े गये नील पक्ष युक्त-नीले या काले पलक युक्त दृष्टि बाण उस पर नहीं गिरते । अतएव स्त्रियों को लाँघ पाना-उनसे पार पाना उसी तरह दुस्तर-कठिन है जैसे वैतरणी नदी को पार कर पाना दुस्तर है।

❀ ❀ ❀

जेहिं नारीण संजोगा, पूयणा पिट्ठतो कता ।
सव्वमेयं निराकिच्चा, ते ठिया सुसमाहिए ॥१७॥

छाया – यैर्नारीणां संयोगाः पूजना पृष्ठतः कृता ।
सर्व मेतन्निराकृत्य ते स्थिताः सुसमाधिना ॥

अनुवाद – जिन पुरुषों ने स्त्रियों के संयोग-सन्सर्ग और काम विभूषा-काम शृंगार छोड़ दिये हैं वे ही समग्र उपसर्गों का निराकरण कर, तिरस्कार कर अथवा उन्हें जीतकर उत्तम समाधि पूर्वक रहते हैं ।

टीका – 'यैः' उत्तमसत्त्वैः स्त्रीसङ्गविपाकवेदिभिः पर्यन्तकटवो नारीसंयोगाः परित्यक्ताः, तथा तत्सङ्गार्थमेव वस्त्रालङ्कारमाल्यादिभिरात्मनः 'पूजना' कामविभूषा 'पृष्ठतःकृता' परित्यक्तेत्यर्थः, 'सर्वमेतत्' स्त्री प्रसङ्गादिकं क्षुत्पिपासादिप्रतिकूलोपसर्गं कदम्बकं च निराकृत्य ये महापुरुषसेवितपन्थानं प्रति प्रवृत्तास्ते सुसमाधिनास्वस्थचित्तवृत्तिरूपेण व्यवस्थिताः, नोपसर्गैरनुकूलप्रतिकूलरूपैः प्रक्षोभ्यन्ते, अन्ये विषयाभिष्वाङ्गिण स्त्र्यादिपरीषहपराजिता अङ्गारोपरिपतितमीनवद्रागाग्निना दह्यमाना असमाधिना तिष्ठन्तीति ॥१७॥

स्त्र्यादिपरीषहपराजयस्य फलं दर्शयितुमाह -

टीकार्थ – जो पुरुष स्त्रियों के सन्सर्ग के कटुफल प्रद विपाक को जानते हैं । ऐसा कर जिन्होंने स्त्री ससंर्ग का परित्याग कर दिया है, स्त्री संसर्ग हेतु ही सुन्दर वस्त्र अलंकार आभूषण तथा पुष्पमाला द्वारा अपने शरीर को विभूषित किया जाता है, उस काम विभूषा का जिन्होंने परित्याग कर दिया है, वे पुरुष स्त्री संसर्ग भूख प्यास आदि अनुकूल एवं प्रतिकूल उपसर्गों को, विघ्नों को जीतकर उस धर्म मार्ग में प्रवृत्त हैं जो महापुरुषों द्वारा सेवित है । उनकी चित्त वृत्ति स्वस्थ प्रसन्न रहती है, वे उत्तम समाधि युक्त रहते हैं । वे अनुकूल-

मनप्रिय: तथा प्रतिकूल-अप्रिय उपसर्गों से कभी अस्थिर नहीं बनते । अन्य पुरुष जो विषयलोलुप हैं, स्त्री आदि परीषहों से पराभूत हो चुके हैं, वे आग के अंगारे पर पड़ी हुई मछली की तरह रागाग्नि में प्रज्वलित होते हुए अशांति में रहते हैं । स्त्री आदि के परीषह को जीतने का क्या फल होता है, यह प्रकट करने के लिए सूत्रकार कहते हैं ।

❀ ❀ ❀

एते ओघं तरिस्संति, समुद्दं ववहारिणो ।
जत्थ पाणा विसन्नासि, किच्चंति सयकम्मुणा ॥१८॥

छाया – एते ओघं तरिष्यन्ति समुद्रं व्यवहारिणः ।
यत्र प्राणाः विषण्णाः कृत्यन्ते स्वककर्मणा ॥

अनुवाद – प्रिय और अप्रिय उपसर्गों को पराभूत कर, महापुरुषों द्वारा सेवित आध्यात्मिक पथ पर गतिशील, धीर स्थिर चेत्ता पुरुष उस संसार को पार कर जाते हैं जिसमें पडे हुए जीव अपने द्वारा आचीर्ण कर्मों के प्रभाव से तरह-तरह के क्लेश भोगते हैं । जैसे एक व्यवहारी-सामुद्रिक व्यवसायी समुद्र को पार कर जाता है, वैसे ही वे अध्यात्म के पथिक जन्म मरण को लांघ जाते हैं ।

टीका – य एते अनन्तरोक्ता अनुकूलप्रतिकूलोपसर्गजेतार एके सर्वेऽपि 'ओघं' संसारं दुस्तरमपि तरिष्यन्ति, द्रव्यौघदृष्टान्तमाह-'समुद्रं' लवणसागरमिव यथा 'व्यवहारिणः' सांयात्रिका यानपात्रेण तरन्ति, एवं भावौघमपि संसारं संयमयानपात्रेण यतयस्तरिष्यन्ति, तथा तीर्णास्तरन्ति चेति, भावौघमेव विशिनष्टि-'यत्र' यस्मिन् भावौघे संसारसागरे 'प्राणाः' प्राणिनः स्त्रीविषयसङ्गाद्विषण्णाः सन्तः 'कृत्यन्ते' पीड्यन्ते 'स्वकृतेन' आत्मनाऽनुष्ठितेन पापेन 'कर्मणा' असद्वेदनीयोदयरूपेण ति ॥१८॥

साम्प्रतमुपसंहारव्याजेनोपदेशान्तरदित्सयाह -

टीकार्थ – पहले जो अनुकूल एवं प्रतिकूल उपसर्गों को पराभूत करने वाले पुरुषों का वर्णन आया है, वे इस औघ-दुस्तर-जिसे पार करना कठिन है, संसार को पार कर जायेंगे । इस सम्बन्ध में द्रव्य औघ का दृष्टान्त कहा जा रहा है-लवण समुद्र में जैसे व्यवहारी-सांघयात्रिक या समुद्री व्यापारी यान पात्र-जहाज द्वारा समुद्र को तैरते हैं, उसी प्रकार भाव औघ-संसार रूपी समुद्र को संयमरूपी जहाज द्वारा संयतिगण-मुनिवृन्द तैर जायेंगे, पार कर देंगे, पहले भी पार किया है, तथा अब भी करते हैं । भाव औघ का विशेष रूप से यह विवेचन है, जिस भाव औघ रूप संसार सागर में प्राणी स्त्री विषयक भोगविलास के कारण विषाद युक्त होते हुए अपने द्वारा किए गए पाप कर्म से असद्वेदनीय के उदय के कारण पीड़ा पाते हैं, यातना सहते हैं ।

अब सूत्रकार इस प्रकरण का उपसंहार करते हुए दूसरा उपदेश देते है ।

❀ ❀ ❀

च भिक्खू परिण्णाय, सुव्वते समिते चरे ।
मुसावायं च वज्जिज्जा, अदिन्नादाणं च वोसिरे ॥१९॥

छाया – तञ्च भिक्षुः परिज्ञाय सुव्रतः समिश्चरेत् ।
मृषावादञ्च वर्जयेददत्तादनञ्च वुत्सृजेत् ॥

अनुवाद – पूर्ववर्ती गाथाओं में जो कहा गया है, भिक्षु उन्हें परिज्ञात कर जानकर उत्तम व्रत तथा समिति से युक्त होता हुआ मृषावाद्-असत्य तथा अदत्तादान-चौर्य का व्युत्सर्जन करे-त्याग करे ।

टीका – तदेवद्यत्प्रागुक्तं यथा-वैतरणीनदीवत् दुस्तरा नार्यो यैः परित्यक्तास्ते समाधिस्थाः संसारं तरन्ति, स्त्रीसङ्गिनश्च संसारान्तर्गताः स्वकृतकर्मणा कृत्यन्त इति तदेवत्सर्वं भिक्षणशीलो भिक्षुः 'परिज्ञाय' हेयोपादेयतया बुध्ध्वा शोभनानि व्रतान्यस्य सुव्रतः पञ्चाभिः समितिभिः समित इत्यनेनोत्तरगुणावेदनं कृतमित्येवंभूतः 'चरेत्' संयमानुष्ठानं विदध्यात्, तथा 'मृषावादम्' असद्भूतार्थभाषणं विशेषेण वर्जयेत्, तथा 'अदत्तादानं' च व्युत्सृजेद्' दन्तशोधनमात्रमप्यदत्तं न गृह्णीयात्, आदिग्रहणान्मैथुनादेः परिग्रह इति, तच्च मैथुनादिकं यावज्जीवमात्महितं मन्यमानः परिहरेत् ॥१९॥ अपरव्रतानामहिंसाया वृत्तिकल्पत्वात् तत्प्राधान्यख्यापनार्थमाह –

टीकार्थ – पहले ऐसा वर्णन आया है कि स्त्रियाँ वैतरणी नदी की तरह दुस्तर है-वैतरणी नदी की तरह उन्हें लाँघ पाना उनके वश में न आना कठिन है । जिन्होंने उनका परित्याग कर दिया हैं, वे समाधिस्थ-आत्म समाधि में लीन पुरुष संसार को पार कर जाते हैं । जो स्त्रियों का संग करते हैं-उनमें आसक्त रहते हैं, वे संसार में रहते हुए अपने कर्मों द्वारा काटे जाते हैं, पीडित किये जाते हैं । इन हेय, उपादेय बातों को जानकर स्त्री संसर्ग को त्याज्य और संयम को आदरणीय समझकर उत्तम व्रतों एवं समितियों से समित होता हुआ संयम की साधना करे । यहाँ समितियों द्वारा समित होने का उल्लेख उत्तर गुणों के कथन हेतु किया गया है । यों वर्तनशील साधु मृषावाद-असद् भाषण का परिवर्जन करे, अदत्तादान-चौर्य का व्युत्सर्जन-त्याग करे, दांत कुरेदने के लिए एक तिनका मात्र भी बिना दिया हुआ ग्रहण न करे । यहां आए हुए आदि शब्द से अब्रह्मचर्य आदि का ग्रहण अभिप्सित है । अतः अपने आत्म कल्याण हेतु साधु जीवन पर्यन्त अब्रह्मचर्य आदि का सेवन न करे ।

अहिंसा अन्य व्रतों के लिए बाड़ के तुल्य है, उसकी प्रधानता बताने के लिए सूत्रकार कहते हैं ।

❀ ❀ ❀

उड्ढमहे तिरियं वा, जे केई तसथावरा ।
सव्वत्थ विरतिं कुज्जा, संति निव्वाणमाहियं ॥२०॥

छाया – ऊर्ध्वं मध स्तिर्य्यक्षु ये केचित् त्रसस्थावराः ।
सर्वत्र विरतिं कुर्य्यात् शान्तिनिर्वाणमाख्यातम् ॥

अनुवाद – उर्ध्व-ऊपर, अध-नीचे तथा तिर्यक्-तिरछे दिग्भागों में जो त्रस-गतिशील तथा स्थावर-स्थितिशील-चर, अचर प्राणी स्थित है, उनकी हिंसा में सर्वत्र, सर्वथा-सब प्रकार से निवृत रहना चाहिए, ऐसा करने से जीव को शांतिमय निर्वाण मोक्ष प्राप्त होता है, ऐसा सर्वज्ञों द्वारा कहा गया है ।

टीका – ऊर्ध्वमधस्तिर्यक्ष्वित्यनेन क्षेत्रप्राणातिपातो गृहीतः, तत्र ये केचन त्रसन्तीति त्रसा-द्वित्रिचतुः पञ्चेन्द्रियाः पर्याप्तापर्याप्तकभेदभिन्नाः, तथा तिष्ठन्तीति स्थावराः-पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः सूक्ष्मबादरपर्याप्तकापर्याप्तक भेदभिन्ना इति, अनेन च द्रव्यप्राणातिपातो गृहीतः, सर्वत्र काले सर्वास्ववस्थास्वित्यनेनापि कालभावभेदभिन्नः प्राणातिपात उपात्तो द्रष्टव्यः तदेवं चतुर्दशस्वपि जीवस्थानेषु कृतकारितानुमतिभिर्मनोवाक्कायैः प्राणातिपातविरतिं कुर्यादित्यनेन पादोनेनापि श्लोकद्वयेन प्राणातिपातविरत्यादयो मूलगुणाः ख्यापिताः, साम्प्रतमेतेषां सर्वेषामेव मूलोत्तरगुणानां फलमुद्देशेनाह-'शान्तिः' इति कर्मदाहोपशमस्तदेव च 'निर्वाण' मोक्षपदं यद् 'आख्यातं' प्रतिपादितं सर्वद्वन्द्वापगमरूपं तदस्यावश्यं चरणकरणानुष्ठायिनः साधोर्भवतीति ॥२०॥ समस्ताध्ययनार्थोपसंहारार्थमाह-

टीकार्थ – यहां पर उर्ध्व, अध और तिर्यक् कहकर क्षेत्र प्राणातिपातका-क्षेत्रगत हिंसा का ग्रहण किया गया है, जो प्राणी त्रास पाते हैं, त्रस्त होते प्रतीत होते हैं वे त्रस कहे जाते हैं, द्विइन्द्रिय, त्रिइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय पर्याप्त, तथा अपर्याप्त ये उनके भेद हैं, जो प्राणी चलते फिरते नहीं, सदा स्थिर या अडोल रहते हैं वे स्थावर कहलाते हैं । उन स्तिति शील प्राणियों में पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति, सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त और अपर्याप्त के रूप में भेद होते हैं, यहां त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा का प्रतिषेध करते हुए द्रव्य प्राणातिपात का ग्रहण किया गया है, सब समय में अर्थात् सभी स्थितियों में प्राणियों की हिंसा नहीं करनी चाहिए, ऐसा प्रतिपादित कर काल एवं भाव के भेद से प्राणातिपात का ग्रहण किया गया है-चवदह जीव स्थान माने गए हैं । उनमें तीनकरण-कृत कारित और अनुमोदित, तीन योग-मन, वचन तथा काय द्वारा, प्राणातिपात से-जीव हिंसा से निवृत्त हो जाना चाहिए । ऐसा प्रतिपादित कर एक चरण कम दो गाथाओं द्वारा प्राणातिपात आदि मूल गुणों का निरूपण किया गया है । उन समग्र मूलगुणों और उत्तर गुणों का फल प्रतिपादित करने हेतु चतुर्थचरण में कहा है कि कर्म रूप दाह-जलन के उपशम को शांति कहा जाता है । शांति ही निर्वाण या मोक्ष पद है-वहां समस्त दु:ख निवृत हो जाते हैं, चरण करण का-सम्यक् चारित्र का परिपालन करने वाले साधु को वह अवश्य ही प्राप्त होता है।

समस्त अध्ययन के अर्थ-अभिप्राय का उपसंहार करते हुए कहते हैं ।

❀ ❀ ❀

इमं च धम्ममादाय, कासवेण पवेदितं ।
कुज्जा भिक्खू गिलाणस्स, अगिलाए समाहिए ॥२१॥

छाया – इमञ्च धर्ममादाय काश्यपेन प्रवेदितम् ।
कुर्य्याद् भिक्षुर्ग्लानस्याग्लानतया समाहितः ॥

अनुवाद – काश्यप गौत्रीय भगवान महावीर द्वारा प्रवेदित इस धर्म को अंगीकार कर साधु समाधियुक्त रहता हुआ ग्लान-रुग्ण साधु की अग्लान भाव से मन में घृणा या ग्लानि न लाते हुए सेवा करे।

टीका – 'इमं च धम्मिं'त्यादि, 'इम' मिति पूर्वोक्तं मूलोत्तरगुण रूपं श्रुतचारित्राख्यं वा दुर्गतिधारणात् धर्मम् 'आदाय' आचार्योपदेशेन गृहीत्वा किम्भूतमितितदेव विशिनष्टि-'काश्यपेन' श्री मन्महावीरवर्धमानस्वामिनासमुत्पन्नदिव्यज्ञानेन भव्यसत्त्वाभ्युद्धरणाभिलाषिणा 'प्रवेदितम्' आख्यातं समधिगम्य 'भिक्षुः' साधुः परीषहोपसर्गैरतर्जितो ग्लानस्यापरस्य साधोर्वैयावृत्त्यं कुर्यात्, कथमिति ? स्वतोऽग्लानतया यथाशक्ति 'समाहित' इति समाधिं प्राप्तः, इदमुक्तं भवति-कृतकृत्योऽहमिति मन्यमानो वैयावृत्यादिकं कुर्यादिति ।

टीकार्थ - साधु मूल गुणात्मक तथा उत्तर गुणमय श्रुतचारित्र रूप तथा दुर्गति निवारक धर्म को आचार्य गुरु के उपदेश से ग्रहण कर रुग्ण साधु का वैया वृत्य करे । वह धर्म कैसा है ? यह प्रतिपादित करने हेतु उसकी विशेषता दिखलाते हैं । जिन्हें दिव्य ज्ञान उत्पन्न हुआ उन प्रभु महावीर, वर्धमान ने इस धर्म को प्रवेदित किया-आख्यात किया, इसे समाधिगत-प्राप्त कर साधु परीषहों और उपसर्गों से व्यथित-अधीर न होता हुआ अन्य रुग्ण साधु का वैयावृत्य-सेवा करे । किस प्रकार करे ? यह बतलाते हैं-स्वयं अग्लान भाव से-स्वयं ग्लान न होते हुए, घृणा न करते हुए यथाशक्ति समाधिस्थ-आत्मस्थ होता हुआ वैसा करे । कहने का आशय यह

है कि साधु यह मानता है कि मैं यह करता हूँ कृतकृत्य हूँ, अपना उत्तरदायित्व निभा रहा हूं, रुग्ण साधु की सेवा परिचर्या करे ।

❀ ❀ ❀

संखाय पेसलं धम्मं, दिट्ठिमं परिनिव्वुडे ।
उवसग्गे नियामित्ता, आमोक्खाए परिव्वएज्जासि ॥२२॥त्तिबेमि॥

इति उवसग्ग परिन्नाणामं तइयं अज्झयणं सम्मत्तं ॥गाथाग्रं २५६॥

छाया – संख्याय पेशलं धर्मं दृष्टिमान् परिनिर्वृतः ।
उपसर्गान् नियम्य आमोक्षया परिव्रजेत् ॥

अनुवाद – दृष्टिमान-सम्यग्दृष्टि, पेसल-शांत, परिनिर्वृत-मोक्ष, में अनुरक्त इस धर्म को भली भांति समझकर उपसर्गों को नियंत्रित करता हुआ-झेलता हुआ मोक्ष प्राप्त होने तक संयम का अनुसरण करे ।

टीका – 'संख्याये' ति सम्यक् ज्ञात्वा स्वसम्मत्या अन्यतो वा-श्रुत्वा 'पेशलं'-ति मोक्षगमनं प्रत्यनुकूलं, किं तद् ?-'धर्मं' श्रुतचारित्राख्यं 'दृष्टिमान्' सम्यग्दर्शनी 'परिनिर्वृत' इति कषायोपशमाच्छीतीभूतः परिनिर्वृत कल्पो वा 'उपसर्गान्' अनुकूलप्रतिकूलान् सम्यग् 'नियम्य' अतिसह्य 'आमोक्षाय' मोक्षं यावत् परि-समन्तात् 'व्रजेत्' संयमानुष्ठानेन गच्छेदिति, इतिः परिसमाप्त्यर्थे, ब्रवीमीति पूर्ववत्, नय चर्चाऽपि तथैवेति ॥२२॥

टीकार्थ – अपनी सम्मति-बुद्धि या विवेक से जानकर या अन्य से श्रवण कर मोक्षानुकूल श्रुतचारित्र मूलक धर्म को स्वायत्त कर, सम्यग्दर्शन युक्त, कषायों के उपशम से प्रशांत अथवा परिनिर्वृकल्प-मुक्त तुल्य पुरुष प्रिय एवं अप्रिय उपसर्गों को सहता हुआ मोक्ष प्राप्त करने तक संयम का परिपालन करे । इति शब्द यहाँ समाप्ति द्योतक है, ब्रवीमि बोलता हूँ, यह पद पूर्ववत् योजनीय है । नय चर्चा भी पहले की ज्यों ही है ।

उपसर्ग परिज्ञा का चौथा उद्देशक समाप्त हुआ,
तथा उसकी समाप्ति के साथ यह तीसरा अध्ययन पूरा हुआ ।

❀ ❀ ❀

चतुर्थं स्त्री परिज्ञाध्ययनं

प्रथम उद्देशकः

जे मायरं च पियरं च, विप्पजहाय पुव्व संयोगं ।
एगे सहिते चरिस्सामि, आरतमेहुणो विवित्तेसु ॥१॥

छाया – यः मातरं च पितरं च विप्रहाय पूर्वसंयोगम् ।
एकः सहितश्चरिष्यामि आरतमैथुनो विविक्तेषु ॥

अनुवाद – एक पुरुष विरक्तिवश दीक्षा ग्रहण करता है और यह चिन्तन करता है कि मैं माता पिता आदि गृहस्थगत पूर्व संबंधों का परित्याग कर अब्रह्मचर्य वर्जित रहता हुआ-ब्रह्मचर्य का पालन करता हुआ, ज्ञान दर्शन और चारित्र पूर्वक विविक्त-एकांत पवित्र स्थान में विचरण करूँगा । (स्त्रियाँ-उसको छल पूर्वक वशगत करने का प्रयत्न करती हैं)

टीका – अस्य चायमनन्तरसूत्रेण सह सम्बन्धः, तद्यथा अनन्तरसूत्रेऽभिहितम्, आमोक्षाय परिव्रजेदिति, एतच्चाशेषाभिष्वङ्गवर्जितस्य भवतीत्यतोऽनेन तदभिष्वङ्गवर्जनममिधीयते, 'यः' कश्चिदुत्तमसत्त्वो 'मातरं पितरं' जननी जनयितारम्, एतद्ग्रहणादन्यदपि भ्रातृपुत्रादिकं पूर्वसंयोगं तथा श्वश्रूश्वशुरादिकं पश्चात्संयोगं च 'विप्रहाय 'त्यक्त्वा, चकारौ समुच्चयार्थौ, 'एको' मातापित्राद्यभिष्वङ्गवर्जितः कषायरहितो वा तथा सहितो ज्ञानदर्शनचारित्रैः स्वस्मै वा हितः स्वहितः-परमार्थानुष्ठानविधायी 'चरिष्यामि' संयमं करिष्यामीत्येवं कृतप्रतिज्ञः, तामेव प्रतिज्ञां सर्वप्रधानभूतां लेशतो दर्शयति - 'आरतम्' उपरतं मैथुनं-कामाभिलाषो यस्यासावारतमैथुनः, तदेवम्भूतो 'विविक्तेषु' स्त्रीपशुपण्डकवर्जितेषु स्थानेषु चरिष्यामीत्येवं सम्यगुत्थानेनोत्थाय विहरतीति, क्वचित्पाठो 'विवित्तेसित्ति' 'विविक्तं' स्त्रीपण्डकादिरहितं स्थानं संयमानुपरोध्येषितुं शीलमस्य तथेति ॥१॥ तस्यैवं कृतप्रतिज्ञस्य साधोर्यद्भवत्यविवेकि स्त्रीजनात्तद्दर्शयितुमाह –

टीकार्थ – पूर्व सूत्र के साथ इस अध्ययन का सम्बन्ध इस प्रकार है-पूर्व सूत्र में वर्णित हुआ है कि साधु मोक्ष प्राप्त करने तक अपने परिव्रजित-दीक्षित जीवन का परिपालन करे, किन्तु वह मोक्ष तो उस पुरुष को प्राप्त होता है, जो समस्त अभिष्वङ्ग मोह का परित्याग कर देता है । अतः इस अध्ययन में मोहवर्जन का विवेचन किया जाता है ।

जो कोई उत्तम सत्त्व-पवित्र भावना युक्त साधु माता-पिता, भ्राता, पुत्र आदि अपने पूर्ववर्ती सम्बन्धियों एवं सासश्वसुर आदि पश्चात्वर्ती सम्बन्धियों का परित्याग कर, उन सबके सम्बन्ध में विवर्जित होकर एकाकी अथवा कषाय रहित, ज्ञान दर्शन एवं चारित्र सम्पन्न आत्महित या परमार्थ के अनुष्ठान में अभिरत होकर ऐसी प्रतिज्ञा किये हुए है कि संयम का पालन करूँगा, वह प्रतिज्ञा सर्वप्रधान सर्वोत्तम है । शास्त्रकार अंशतः उसका प्रतिपादन करते हैं । वह साधु जिसकी कामभिलाषा-काम भोग की वासना मिट गई है, जो 'स्त्री' पशु तथा नपुंसक वर्जित स्थानों में विचरेगा, 'ऐसी प्रतिज्ञा कर सम्यक् चारित्र का परिपालन करता हुआ विचरणशील है, उसके प्रति विवेक शून्य स्त्रियाँ क्या करती हैं यह बतलाते हैं, यहाँ कहीं विवित्तेसि ऐसा पाठ प्राप्त होता

है, जिसका यह अभिप्राय है कि साधु विविक्त-एकांत या स्त्री, पशु, नपुंसक रहित स्थान का शील पालन हेतु अन्वेषण करता है । ऐसे कृत प्रतिज्ञ-प्रतिज्ञाशील या संयमोन्मुख साधु के प्रति अविवेकिनी स्त्रियों द्वारा क्या किया जाता है, यह कहते हैं ।

❀ ❀ ❀

सुहुमेणं तं परिक्कम, छन्नपएण इत्थिओ मंदा ।
उव्वायंपि ताउ जाणंसु जहा लिस्संति भिक्खुणो एगे ॥२॥

छाया – सूक्ष्मेण तं परिक्रम्य छन्नपदेन स्त्रियो मन्दाः ।
उपायमपि ताः जानन्ति यथा श्लिष्यन्ति भिक्षव एके ॥

अनुवाद – मंद-विवेकशून्य स्त्रियाँ किसी बहाने से साधु के समीप आकर कपटपूर्ण या रहस्य पूर्ण शब्द द्वारा उसे संयम से भ्रष्ट करने का प्रयास करती हैं । वे यह भी जानती है कि किस प्रकार कोई साधु उनसे क्लिष्ट-उनमें आसक्त हो सकता है ।

टीका – 'सुहुमेणं' इत्यादि, 'तं' महापुरुषं साधुं 'सूक्ष्मेण' अपरकार्यव्यपदेशभूतेन ''छलपदेने''त्ति छद्मना-कपटजालेन 'पराक्रम्य' तत्समीपमागत्य, यदिवा-पराक्रम्ये'ति शीलस्खलनयोग्यतापत्त्या अभिभूय, काः?-'स्त्रियः' कूलवालुकादीनामिव मागधगणिकाद्या नानाविधकपटशतकरणदक्षा विविधविब्बोकवत्यो भाक्षमन्दाः-कामेन्द्रेकविधायितया सदसद्विवेकविकलाः समीपमागत्य शीलाद् ध्वंसयन्ति, एतदुक्तं भवति-भ्रातृपुत्रव्यपदेशेन साधु समीपमागत्य संयमाद् भ्रंशयन्ति, तथा चोक्तम् -

''पियपुत्त भाइकिडगा णत्तूकिडगा य सयणकिडगा य । एते जोव्वणकिडगा पच्छन्नपई महिलियाणं ॥१॥''

छाया - प्रियपुत्रभातृक्रीडका नप्तृक्रीडकाश्च स्वजनक्रीडकाश्च एते यौवनक्रीडकाः प्राप्ताः प्रच्छन्नपतयो महिलानां ॥१॥

यदिवा-छन्नपदेनेति-गुप्ताभिधानेन, तद्यथा -

''काले प्रसुप्तस्य जनार्दनक्ष्य, मेघान्धकारासु च शर्वरीषु ।
मिथ्या न भाषामि विशालनेत्रे ! ते प्रत्यया वे प्रथमाक्षरेषु ॥१॥''

इत्यादि, ताः स्त्रियो मायाप्रधानाः प्रतारणोपायमपि जानन्ति-उत्पन्नप्रतिभतया विदन्ति, पाठान्तरं वा ज्ञातवत्यः, यथा 'श्लिष्यन्ते' विवेकिनोऽपि साधव एके तथाविधकर्मोदयात् तासु सङ्गमुपयान्ति ॥२॥ तानेव सूक्ष्म प्रतारणोपायान् दर्शयितुमाह -

टीकार्थ – महापुरुष-महनीय साधु का स्त्रियाँ किसी बहाने से-कपट से उसके पास आकर, शील से भ्रष्ट कर देती हैं । अथवा उस महापुरुष को ब्रह्मचर्य से स्खलित होने योग्य बनाकर पतित कर देती हैं। जैसे कपट-छलपूर्ण कार्य करने में कुशल अनेक प्रकार से कामोद्वेग-काम वासना उत्पन्न करने वाली सत असत के विवेक से रहित मन्द-अज्ञानवती मागध गणिका-मगध देशीय वेश्या आदि नारियों ने कुल बालुक आदि तापसो को शील से-ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट कर डाला था उसी तरह स्त्रियाँ साधु को शील से पतित कर डालती हैं । अभिप्राय यह है कि भाई-पुत्र आदि के विष से औरते साधु के निकट आकर उसे संयम से गिरा देती हैं । कहा है-प्रिय पुत्र भाई, नाती आदि कौटुम्बिक सांसारिक सम्बन्धों का बहाना बनाकर गुप्त रूप से पति को बनाना स्त्रियों की रीति है, वे गुप्त नाम द्वारा षडयन्त्र रचती है निम्नांकित श्लोक इसका उदाहरण है -

"काले प्रसुप्तस्य जनार्दनस्य, मेघान्धकारासु च शर्वरीषु । मिथ्या न भाषामि विशाल नेत्रे ! ते प्रत्यया ये ग्रथमाझरेषु ॥

इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार है-जनार्दन-भगवान या सूर्य नारायण के सो जाने पर, अस्त हो जाने पर आकाश छाये बादलों के अन्धकार से युक्त रातों में ये विशाल नेत्रे-बड़ी-बड़ी आँखों वाली प्रिय मैं झूठ नहीं बोलता । इस श्लोक के प्रत्येक चरण के शुरुआत के अक्षर का + मे + मि = कामेन् ते अर्थात् मैं तुम्हारी कामना करता हूँ । माया प्रधान-छल करने में निपुण स्त्रियाँ प्रत्युत्पन्नमति होने के कारण प्रतारण करने के-ठगने के उपायों को जानती हैं जिससे विवेकशील साधु भी वैसे कर्मोदय के कारण उनमें आसक्त हो जाते हैं ।

❀ ❀ ❀

पासे भिसं णिसीयंति अभिक्खणं पोसवत्थं परिहिंति ।
कायं अहेवि दंसंति, बाहु उद्धट्टु कक्खमणुव्वजे ॥३॥

छाया – पार्श्वे भृशं निषीदन्ति, अभीक्ष्णं पोषवस्त्रं परिदधति ।
कायमधोऽपि दर्शयति बाहुमुद्धृत्य कक्षामनुव्रजेत् ॥

अनुवाद – स्त्रियाँ साधु को प्रतारित करने हेतु उनके समीप बहुत बैठती हैं तथा काम वासना पैदा करने वाले सुन्दर वस्त्र, गीले होने का बहाना बनाकर अभीक्षण-निरन्तर पहनने का उपक्रम करती हैं । कामोद्दीपन हेतु शरीर के निम्न भाग का प्रदर्शन करती हैं तथा अपनी बाँह ऊँची उठाकर काँख दिखलाती हुई साधु के समक्ष आती हैं ।

टीका – 'पार्श्वे' समीपे' भृशम्' अत्यर्थमरूपपीडमतिस्नेहमाविष्कुर्वन्तयो' निषीदन्ति' विश्रम्भमापादयितुमुपविशन्तीति, तथा कामं पुष्णातीति पोषं-कामोत्कोचकारि शोभनमित्यर्थः तच्च तद्वस्त्रं पोषवस्त्रं तद् 'अभीक्ष्णं' अनवरतं तेन शिथिलादिव्यपदेशेन परिदधति, स्वाभिलाषमावेदयन्त्यः साधुप्रतारणार्थं परिधान शिथिलीकृत्य पुनर्निबध्नन्तीति, तथा 'अधःकायम्' ऊर्वादिकमनङ्गोछीपनाय 'दर्शयन्ति' प्रकटयन्ति, तथा 'बाहुमुध्धृत्य' कक्षामादर्श्य 'अनुकूलं' साध्वभिमुखं 'व्रजेत्' गच्छेत् । सम्भावनायां लिङ्, सम्भाव्यते एतदङ्गप्रत्यङ्गसन्दर्शकत्वं स्त्रीणामिति ॥३॥ अपिच-

टीकार्थ – साधु को ठगने हेतु स्त्रियाँ जो उपाय करती हैं उन्हें बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं - स्त्रियाँ अपना अत्यधिक प्रेम व्यक्त करने हेतु एवं विश्वास पैदा करने हेतु साधु के निकट अधिक बैठती हैं । जो वस्त्र कामवासना को पुष्ट करता है उसे पोश वस्त्र कहा जाता है उस कामोत्तेजक सुन्दर वस्त्र को स्त्रियाँ शिथिल-ढीला आदि का बहाना बनाकर बार-बार पहनती हैं । तात्पर्य यह है कि अपना कामुक मनोभाव प्रकट करती हुयी साधु को ठगने हेतु अपने वस्त्र को शिथिल कर बार-बार बाँधती हैं । साधु में काम वासना जगाने हेतु वे अपने जंघा आदि अंगों का प्रदर्शन करती हैं । अपनी बाहें ऊँची कर कांख का प्रदर्शन करते हुए साधु के समक्ष आती हैं । यहाँ सम्भावना के अर्थ में लिङ्ग लकार का प्रयोग है । उससे यह संकेतित होता है कि सम्भवतया स्त्रियाँ साधु को अपने अंग प्रत्यंग दिखलाये ।

❀ ❀ ❀

सयणासवेहिं जोगेहिं इत्थिओ एगता णिमंतंति ।
एयाणि चेव से जाणे, पसाणि विरूवरूवाणि ॥४॥

छाया – शयनासनेन योग्येन स्त्रिय एकदा निमन्त्रयन्ति ।
एतानि चैव स जानीयात् पाशान् विरूपरूपान् ॥

अनुवाद – कभी स्त्रियाँ एकान्त स्थान में उत्तम शयन-उत्तम पलंग तथा उत्तम आसन पर बैठने हेतु आमन्त्रित करती हैं । तत्वदर्शी साधु इन उपक्रमों को नाना प्रकार के पार्श्व-बन्धन या जाल समझे।

टीका – 'सयणासणे' इत्यादि, शय्यतेऽस्मिन्निति शयनं-पर्यङ्कादि तथाऽऽस्यतेऽस्मिन्नित्यासनम्-आसंदकादीत्येवमादिना 'योग्येन' उपभोगार्हेण कालोचित्तेन 'स्त्रियो' योषित 'एकदा' इति विविक्तदेशकालादौ 'निमन्त्रयन्ति' अभ्युपगमं ग्राहयन्ति, इदमुक्तं भवति-शयनासनद्युपभोगं प्रति साधुं प्रार्थयन्ति, 'एतानेव' शयनासननिमन्त्रणरूपान् स साधुर्विदितवेद्यः परमार्थदर्शी 'जानीयाद्' अवबुध्येत स्त्रीसम्बन्धकारिणः पाशयन्ति बध्नन्तीति पाशास्तान् 'विरूपरूपान्' नानाप्रकारानिति । इदमुक्तं भवति-स्त्रियो ह्यासन्नगामिन्यो भवन्ति, तथा चोक्तम् –

'अंबं' वा निंबं वा अब्भासगुणेण आरूहइ वल्ली । एवं इत्थीतोवि य जं आसन्नतमिच्छन्ति ॥१॥

छाया - आम्रं वा निम्ब बाभ्यासगुणेनारोहति वल्ली । एवं स्त्रियोऽपि य एवासन्नस्तमिच्छंति ॥१॥

तदेवम्भूताः स्त्रियो ज्ञात्वा न ताभिः सार्धं साधुः सङ्गं कुर्यात्, यतस्तदुपचारादिकः सङ्गो दुष्परिहार्यो भवति, तदुक्तम् –

''जं इच्छसि घेत्तुं जे पुव्विं तं आमिसेण गिण्हाहि । आमिसपास निबद्धो काहिइ कज्जं अकज्जे वा ॥१॥

॥४॥ किञ्च –

छाया - यान् ग्रहीतुमिच्छसि तानाभिषेण पूर्वंगृहाण । यदाभिषपाशनिबद्धः करिष्यति कार्यमकार्यं वा ॥१॥

टीकार्थ – जिसके ऊपर शयन किया जाता है-सोया जाता है उसे शयन कहा जाता है । जिस पर बैठते है उसे आसन कहते हैं । आसन्दक-कुर्सी आदि आसन में आते हैं । स्त्रियाँ एकान्त स्थान तथा अनुकूल समय देखकर इन उपभोग्य वस्तुओं को ग्रहण करने हेतु साधु से अनुरोध करती हैं । इसका अभिप्राय यह है कि स्त्रियाँ इनका उपभोग करने हेतु साधु से अभ्यर्थना करती हैं किन्तु विदितवेद्य, जानने योग्य तथ्यों का ज्ञाता, परमार्थ दृष्टा साधु यह समझे कि यह आसन शयन आदि के ग्रहण हेतु किये गये आमन्त्रण स्त्रियों के साथ फँसाने वाले नाना प्रकार के बन्धन या जाल हैं । आशय यह है कि स्त्रियाँ आसंगवृत्ति-पास में स्थित पुरुष की कामना करती हैं । चाहे आम का पेड़ हो या नीम का, बेल (लता) स्वभाव से ही जो भी पास होगा उस पर चढ़ती है । इसी प्रकार स्त्री जो भी पुरुष पास में हो उसकी अभिलाषा करती है । साधु यह समझ कर उसका संग न करे, सहचर्य में न रहे । स्त्रियों के द्वारा प्रदर्शित सेवा परिचर्या के कारण उनके साथ जो आसक्ति बन जाती है, उसे छोड़ पाना बहुत कठिन है । कहा गया है यदि तुम स्त्रियों के रूप में कुछ ग्रहण करना चाहते हो-लेना चाहते हो उसे मछलियों को पकड़ने हेतु फैलाये गये जाल के काटें में लटकती माँस की बोटी के समान समझो उसके लोभ के जाल में फंसकर प्राणी कार्य अकार्य सब कुछ करने में तत्पर हो जाता है ।

❀ ❀ ❀

नो तासु चक्खु संधेज्जा, नोवि य साहसं समभिजाणे ।
णो सहियंपि विहरेज्जा, एवमप्पा सुरक्खिओ होइ ॥५॥

छाया – न तासु चक्षुः संदध्यात् नाऽपि च साहसं समभिजानीयात् ।
न सहितोऽपि विहरेदेवमात्मा सुरक्षितो भवति ॥

अनुवाद – जैसा पहले उल्लेख हुआ है साधु स्त्रियों पर अपनी नजर न डाले । उन द्वारा अभ्यर्थित दुष्कर्म करने का साहस न करे तथा उनके साथ गाँव आदि में विहार न करे । इस प्रकार करते हुए साधु की आत्मा सुरक्षित रहती है, पापों से बची रहती है ।

टीका – 'नो' नैव 'तासु' शयनासनोपनिमन्त्रणपाशावपाशिकासु स्त्रीषु 'चक्षुः' नेत्रं 'सन्दध्यात्' सन्धयेद्वा न तदृष्टौ स्वदृष्टिं निवेशयेत्, सति च प्रयोजने ईषदवज्ञया निरीक्षेत, तथा चोक्तम् –

''कार्येऽपीषन्मतिमान्निरीक्षते योषिदङ्गमस्थिरया अस्निग्धया दृशाऽवज्ञ या ह्यकुपितोऽपि कुपित इव॥१॥

तथा नापि च साहसम्-अकार्यकरणं तत्प्रार्थनया 'समनुजानीयात्' प्रतिपद्येत्, तथा ह्यतिसाहसमेतत्सङ्ग्रामावतरण वद्यन्नरकपातादिविपाकवेदिनोऽपि साधोर्योषिदासङ्गनमिति, तथा नैव स्त्रीभिः सार्धं ग्रामादौ 'विहरेत्' गच्छेत्, अपिशब्दात् न तानिः सार्धं विविक्तासनो भवेत्, ततो महापापस्थानमेतत् यतीनां यत् स्त्रीभिः सहसाङ्गत्यमिति, तथा चोक्तम् –

''मात्रा स्वस्त्रा दुहित्रा वा, न विविक्तासनो भवेत् । बलवानिन्द्रियग्रामः, पण्डितोऽप्यत्र मुह्यति ॥१॥''

एवमनेन स्त्रीसङ्गवर्जनेनात्मा समस्तापायस्थानेभ्यो रक्षितो भवति, यतः-सर्वावा यानां स्त्रीसम्बन्धः कारणम् अतः स्वहितार्थी तत्सङ्गं दूरतः परिहरेदिति ॥५॥ कथं चैताः पाशा इव पाशिका इत्याह –

टीकार्थ – स्त्रियाँ साधु को फाँसने के लिए शय्या-आसन आदि स्वीकार करने का उससे अनुरोध करती हैं । उसका यह अनुरोध साधु को फँसाने का जाल है । ऐसी स्त्रियों पर साधु अपनी नजर न डालें। उनकी नजर से अपनी नजर न मिलाये । यदि आवश्यकतावश उनकी ओर देखना पड़े तो अवज्ञापूर्ण दृष्टि से देखे । कहा है विवेकशील पुरुष स्त्री से काम पड़ने पर उसके देह पर स्नेह रहित-तटस्थ दृष्टि से देखे भी, क्रोध न होने पर भी वह ऐसा लगे मानो क्रोधित हो । स्त्री के अनुरोध पर साधु उसके साथ कुत्सित कृत्य करना अंगीकार न करे । जीवन संग्राम में उतरे, नर्क रूपी विपाक-फल के ज्ञाता साधु का स्त्री से संसर्ग करना बड़ा दुस्साहस पूर्ण-अनुचित कार्य है । साधु गाँव आदि में स्त्रियों के साथ विहार न करे । यहाँ 'अपि' शब्द का जो प्रयोग आया है वह स्त्रियों के साथ एकान्त में न बैठने का सूचक है । स्त्रियों की संगति करना-उनके सम्पर्क में रहना साधु के लिए अत्यन्त पाप जनक है । कहा गया है अपनी माता, बहिन या अपनी बेटी के साथ भी एकान्त स्थान में नहीं बैठना चाहिए क्योंकि यह इन्द्रिय ग्राम-इन्द्रियों का समूह या इन्द्रियां बड़ी शक्तिशाली है । पण्डित-ज्ञानी भी उसके वश में होकर विमोहित हो जाता है । इस प्रकार स्त्रियों के संग-संसर्ग का वर्जन करने से आत्मा सभी अपाप स्थानों से-विनाश के हेतु से बच जाती है क्योंकि सब प्रकार उपायों का कारण स्त्रियों के साथ संबंध जोड़ना ही है । इसलिए स्वहितार्थी-आत्मा का कल्याण चाहने वाला पुरुष दूर से ही उसके संग का त्याग करे ।

❀ ❀ ❀

आमंतिय उस्सविया भिक्खुं आयसा निमंतंति ।
एताणि चेव से जाणे, सद्दाणि विरूवरूवाणि ॥६॥

छाया – आमन्त्र्य संस्थाप्य भिक्षुमात्मना निमन्त्रयन्ति ।
एताँश्चैव स जानीयात्, शब्दान् विरूपरूपान् ॥

अनुवाद – कामुक स्त्रियाँ साधु को संकेत करती हैं कि हम अमुक स्थान पर आपके पास आयेंगी। वे तरह-तरह की बातों से अपने प्रति साधु में विश्वास पैदा करती हैं । फिर वे साधु को भोग हेतु आमन्त्रित करती हैं । विवेकशील साधु स्त्रियों के वैसे शब्दों को विविध प्रकार के बन्धनों के तुल्य समझे ।

टीका – 'आमंतिय' इत्यादि, स्त्रियो हि स्वभावेनैवाकर्त्तव्य प्रवणाः साधुमामन्त्र्य यथाऽहममुकस्यां वेलायां भवदन्तिमागमिष्यामीत्येवं सङ्केतं ग्राहयित्वा तथा 'उस्सविय' त्ति संस्थाप्योच्चावचैर्विश्रम्भजनकैरालापैर्विश्रम्भे पातयित्वा पुनरकार्यकरणायात्मना निमन्त्रयन्ति, आत्मानोपभोगेन साधुमभ्युपगमं कारयन्ति । यदिवा-साधोर्भयापहरणार्थं ता एव योषितः प्रोचुः, तद्यथा-भर्तारमामन्त्र्यापृच्छ्याहमिहाऽऽयाता, तथा संस्थाप्य-भोजनपादधावनशयनादिकया क्रिययोपचर्य ततस्तवान्तिकमागतेत्यतो भवता सर्वा मद्भर्तृजनितामाशङ्कां परित्यज्य निर्भयेन भाव्यमित्येवमादिकवैचोभिर्विश्रम्भमुत्पाद्य भिक्षुमात्मना निमन्त्रयन्ते, युष्मदीयमिदं शरीरकं यादृक्षस्य क्षोदियसोगरीयसो वा कार्यस्य क्षमं तत्रैव नियोज्यतामित्येवमुपप्रलोभयन्ति, स च भिक्षुरवगतपरमार्थः एतानेव 'विरुपरूपान्' नानाप्रकारान् 'शब्दादीन्' विषयान् तत्स्वरूपनिरूपणतो ज्ञपरिज्ञया जानीयात् यथैते स्त्रीसंसर्गापादिताः शब्दोदयो विषया दुर्गतिगमनैकहेतवः सन्मार्गार्गलारूपा इत्येवमवबुध्येत, तथा प्रत्याख्यानपरिज्ञया च तद्विपाकावगमेन परिहरेदिति ॥६॥ अन्यच्च

टीकार्थ – स्त्रियाँ पाश या फन्दे की ज्यों कैसे फंसा लेती है, सूत्रकार यह प्रतिपादित करते हैं-स्त्रियों का ऐसा स्वभाव है कि ये अकर्तव्य-न करने योग्य कार्य में प्रवण-तत्पर रहती हैं । वे साधु को आमन्त्रित करती हैं अमुक समय मैं आपके पास आऊँगी, इस प्रकार संकेत देकर वह ऊँचे नीचे वचनों द्वारा साधु को अपने विश्वास में लेती हैं फिर अपने साथ अकार्य करने हेतु उसे आमन्त्रित करती हैं, उसे अपने साथ उपभोग करने हेतु तैयार करती हैं । अथवा साधु के भय का अपहरण करने हेतु-उसका भय दूर करने के लिए वे कहती हैं कि मैं अपने पति को पूछकर यहां आयी हूँ । अपने पति को खाना खिलाकर, उनके पैर धोकर, उन्हें बिछौने पर सुलाकर आपके पास आयी हूँ अतः आप मेरे पति की आशंका न कर निडर रहे । इस प्रकार के वचनों द्वारा वह साधु के मन में विश्वास पैदा कर अपने साथ सम्भोग करने हेतु आमन्त्रित करती हैं । वे कहती हैं मेरा यह शरीर आपका ही है । जिस किसी छोटे-बड़े काम के यह लायक हो, उसे काम में ले। यह कहकर स्त्रियाँ साधु को लुभाती हैं । किन्तु परमार्थवेत्ता साधु यह प्रज्ञा-ज्ञान द्वारा स्त्री सम्बन्धी इन भिन्न प्रकार के शब्दों को समझे कि ये दुर्गति में जाने के हेतु हैं उत्तम मार्ग में आगे बढ़ते हुए पुरुष के लिए आगल की ज्यों रुकावट है । इनका फल बुरा होता है । यह समझकर वह प्रत्याख्यान परिज्ञा-त्यागोन्मुख विवेक द्वारा इन्हें छोड़ दे ।

❀ ❀ ❀

मणबंधेणेहिं णेगेहिं, कलुण विणीयमुवगसित्ताणं ।
अदु मंजुलाइ भासंति, आणवयंति भिन्नकहाहिं ॥७॥

छाया – मनोबन्धनैरनेकैः करुणविनीतमुपश्लिष्य ।
अथ मञ्जुलानि भाषन्ते, आज्ञापयन्ति भिन्नकथाभिः ॥

अनुवाद – स्त्रियाँ साधु के चित्त को आकृष्ट करने के लिए उद्यमशील होती हैं, वे करुणोत्पादक वचन बोलकर-विनीत भावपूर्वक साधु के निकट आती हैं, मंजुल, मधुर, भाषण करती हैं, मीठी बोली बोलती हैं । कामवासना विषयक आलाप संलाप द्वारा साधु को अपनी ओर आकृष्ट करती हैं ।

टीका - मनो बध्यते यैस्तानि मनोबन्धनानि-मञ्जुलालापस्निग्धावलोकनाङ्गप्रत्यङ्गप्रकटनादीनि, तथा चोक्तम् -

"णाह पिय कंत सामिय दइय जियाओ तुमं यह पिओत्ति । जीए जीयामि अहं पहवसि तं मे सरीरस्स॥१॥"

छाया - नाथ कान्त प्रिय स्वामिन्दयित ! जीवितादपि त्वं मम प्रियइति । जीवति जीवामि अहं प्रभुरसि त्वं मे शरीरस्य ॥१॥

इत्यादिभिरनेकैः प्रपञ्चैः करुणालापविनयपूर्वकं 'उवगसित्ताणं'ति उपसंश्लिष्यसमीपमागत्य 'अथ' तदनंतरं 'मञ्जुलानि' पेशलानि विश्रम्भजनकानि कामोत्कोचकानि वा भाषन्ते, तदुक्तम् -

"मितमहुररिभियजंपुल्लएहि ईसीकडक्खहसिएहिं । सविगारेहि वरागं हिययं पिहियं मयच्छीए ॥१॥"

छाया - मितमधुररिभितजल्पार्द्रेरीषत्कटाक्षहसितैः । सविकारैर्वराकं हृदयं पिहितं मृगाक्ष्याः ॥१॥

तथा 'भिन्नकथाभी' रहस्यालापैर्मैथुनसम्बन्धैर्वचोभिः साधोश्चित्तमादाय तमकार्यकरणं प्रति 'आज्ञापयन्ति' प्रवर्तयन्ति, स्ववशं वा ज्ञात्वा कर्मकरवदाज्ञां कारयन्तीति ॥७॥ अपिच -

टीकार्थ – जिनसे मन बंध जाता है, आकृष्ट हो जाता है उनको मनोबन्धन कहा जाता है । मंजुल आलाप-मीठे वचन बोलना, स्निग्ध अवलोकन-प्यार भरी नजर से देखना और अपनी देह के अंगों उपांगों को दिखलाना इत्यादि मन को बाँधने वाले हैं । कहा गया है 'नाथ ! प्रिय ! कान्त ! स्वामिन! दैव ! तुम मुझे मेरे जीवन से भी अधिक प्रिय हो । मैं तुम्हारे जीने से जीवित हूँ । आप मेरी देह के प्रभु-स्वामी हैं, इत्यादि अनेक प्रवंचना पूर्ण वचन तथा करुणाजनक आलाप और विनय के साथ वे साधु के पास आकर विश्वासोत्पादक, कामोत्पादक, मधुर भाषण करती है । जैसा कहा गया है मृगाक्षी-मृग के से नेत्रों वाली स्त्री का हृदय परिमित-सीमित मधुर भाषण मीठी बोली से सिक्त कटाक्ष हाव भाव तथा मन्द मुस्कान युक्त विकारों से ढका होता है । स्त्रियाँ रहस्यपूर्ण आलाप भोग वासना पूर्ण वार्तालाप से साधु के मन को अपरित कर उसको अपने साथ दुष्कर्म करने में प्रवृत करती हैं अथवा साधु को अपने वश में हुआ जानकर नौकर की तरह हुक्म चलाती हैं ।

❀ ❀ ❀

सीहं जहा व कुणिमेणे, निब्भयमेगचरंति पासेणं ।
एवित्थियाउ बंधंति, संकुडं एगतियमणगारं ॥८॥

छाया – सिंहं यथा मांसेन निर्भयमेकचरं पाशेन ।
एवं स्त्रियो बन्धन्ति संवृतमेकतयमनगारम् ॥

अनुवाद – शिकारी निर्भीक होकर विचरण करने वाले शेर को आमिष-मांस का प्रलोभन देकर पाश में-जाल में बद्ध कर लेते हैं उसी प्रकार स्त्रियाँ मन-वचन शरीर द्वारा गुप्त रहने वाले-पापकृत्य से बचने वाले साधु को अपने काबू में कर लेती हैं ।

टीका – 'सींह जहे'त्यादि, यथेति दृष्टन्तोपदर्शनार्थे यथा बन्धनविधिज्ञाः सिंहं पिशितादिनाऽऽमिषेणोप प्रलोभ्य 'निर्भयं' गतभीकं निर्भयत्वादेव एकचरं 'पाशेन' गलयन्त्रादिना वन्धन्ति बद्ध्वा च बहुप्रकारं कदर्थयन्ति, एवं स्त्रियोनानाविधैरूपायैः पेशलभाषणादिभिः 'एगतियन्ति' कञ्चन तथाविधम् 'अनगारं' साधुं 'संवृतमपि' मनोवाक्कायगुप्तमपि 'बध्नन्ति' स्ववशं कुर्वन्तीति, संवृतग्रहञ्च स्त्रीणां सामर्थ्योपदर्शनार्थं, तथाहि-संवृतोऽपि ताभिर्बध्यते, किं पुनरपिरोऽसंवृत इति ॥८॥ किञ्च -

टीकार्थ – इस गाथा में जहां यथा शब्द दृष्टांत को सूचित करने के लिए आया है, जैसे शेर को पकड़ने का उपाय जानने वाले पुरुष निर्भय होकर अकेले घूमने वाले सिंह को आमिष-मांस आदि का प्रलोभन देकर गले के फन्दे आदि द्वारा बद्ध कर लेते हैं । बांधकर उसे बहुत तरह से कदर्थित पीड़ित करते हैं । इसी प्रकार स्त्रियाँ तरह-तरह के उपायों एवं मीठी बोली, आदि से साधु को, जो मन वचन एवं शरीर द्वारा अपने आपको गुप्त रखता है-पापों से बचाए रखता है, अपने काबू में कर लेती हैं । यहाँ संवुड-संवृत पद स्त्रियों का सामर्थ्य, सशक्तता बताने हेतु प्रयुक्त हुआ है । अर्थात् संवृत-संवरयुक्त साधु भी उनके द्वारा आकृष्ट हो जाता है किसी दूसरे की तो बात ही क्या जो असंवृत-संवर रहित हो ।

❀ ❀ ❀

अह तत्थ पुणो णमयंती, रहकारो व णेमि आणुपुव्वीए ।
बद्धे मिए व पासेणं, फंदंते वि ण मुच्चए ताहे ॥९॥

छाया – अथ तत्र पुनर्नमयन्ति, रथकार इव नेमिमानुपूर्व्या ।
बद्धो मृग इव पाशेन स्पन्दमानोऽपि न मुच्यते तस्मात् ॥

अनुवाद – रथकार जैसे रथ की नेमि को क्रमशः नम्र बनाता है, नवाता है, झुकाता है, उसी प्रकार स्त्रियाँ साधु को अपने वशगत बनाकर अपनी ओर नत करती हैं, झुकाती जाती हैं, जैसे जाल में बंधा हुआ हिरण दुःख से छटपटाता है पर वह जाल से छूट नहीं सकता, उसी तरह स्त्री के जाल में फंसा हुआ साधु प्रयत्न करने पर भी उससे छुटकारा नहीं पा सकता ।

टीका – 'अथ' इति स्ववशीकरणानन्तरं पुनस्तत्र-स्वाभिप्रेते वस्तुनि 'नमयन्ति' प्रह्वं कुर्वन्ति, यथा- 'रथकारो' वर्धकिः 'नेमिकाष्ठं' चक्रबाह्यभ्रमिरूपमानुपूर्व्या नमयति, एवं ता अपि साधुं स्वकार्यानुकूल्ये प्रवर्तयन्ति, स च साधुर्मृगवत्, पाशेन बद्धो मोक्षार्थं स्पन्दमानोऽपि ततः पाशान्नमुच्यत इति ॥९॥ किञ्च -

टीकार्थ – स्त्रियां साधु को अपने अधीन बनाने के बाद अपने अभिप्रेत-अपने इच्छित कार्य की दिशा में झुका लेती है । रथकार जैसे पहिये के बाहर के गोलाकार नेमि को क्रमशः झुकाता है, नवाता है, उसी प्रकार स्त्रियाँ भी साधु को क्रमशः अपने अनुकूल बनाती हैं, अपने अनुकूल प्रिय कार्यों में प्रवृत्त करती हैं। स्त्री के जाल में बंधा हुआ वह साधु फंदे में फंसे हुए हिरण की तरह उससे मुक्त होने का प्रयत्न करने पर भी मुक्त नहीं हो पाता ।

❀ ❀ ❀

अह सेऽणुतप्पई पच्छा, भोच्चा पायसं व विसमिस्सं ।
एवं विवेगमादाय, संवासो नवि कप्पए दविए ॥१०॥

छाया – अथ सोऽनुतप्यते पश्चात् भुक्त्वा पायसमिव विषमिश्रम् ।
एवं विवेकमादाय संवासो नाऽपि कल्पते द्रव्ये ॥

अनुवाद – जैसे जहर से मिली हुई खीर खाकर मनुष्य बाद में अनुतप्त होता है, पछताता है, इसी प्रकार मनुष्य स्त्री के वशगत होकर बात में अनुताप करता है, पछतावा करता है । इस बात को समझते हुए मोक्ष पथ गामी साधु के लिए नारी के साथ एक स्थान में रहना अकल्प्य है ।

टीका – 'अह से' इत्यादि, अथासौ साधुः स्त्रीपाशावबद्धो मृगवत् कुटके पतितः सन् कुटुम्बकृते अहर्निशं क्लिश्यमानः पश्चादनुतप्यते, तथाहि-गृहान्तर्गतानामेतदवश्यं सम्भाव्यते, तद्यथा -

कोद्धयओ को समचित्तु काहो वणाहिं काहो दिज्जउ वित्त को उग्घाडउ परिहियउ ।
परिणीयउ को व कुमारउ पडियतो जीव खडप्फडेहि पर बंधई पावह भारओ ॥१॥

छाया - क्रोधिकः कः समचित्तः कथं उपनय कथं ददातु वित्तं कः उद्घाटकः परिहृतः ।
परिणीतः को वा कुमारकः पतितो जीव खण्डस्फैटैः प्रबध्नातिपापभारं ॥

तथा तत् -

"मया परिजनस्यार्थे, कृतं कर्म सुदारूणम् । एकाकी तेन दह्येऽहं, गतास्ते फल भोगिनः ॥१॥"

इत्येवं बहु प्रकारं महामोहात्मके कुटुम्बकूटके पतिता अनुतप्यन्ते, अमुमेवार्थं दृष्टान्तेन स्पष्टयति-यथा कश्चिद्विषमिश्रं भोजनं भुक्त्वा पश्चात्तत्र कृतावेगाकुलितोऽनुतप्यते, तद्यथा-किमेतन्मया पापेन साम्प्रतेक्षिणा सुखरसिकतया विपाककटुकमेवम्भूतं भोजनमास्वादितमिति, एवमसावपि पुत्रपौत्रदुहितृजामातृस्वसृभ्रातृव्यभागिनेयादीनां भोजन परियनालङ्कारजातमृतकर्मतद्व्यापृतचिकित्साचिन्ताकुलोऽपगतस्वशरीरकर्तव्यः प्रनष्टैहिकामुष्मिकानुष्ठानोऽहर्निशं तद्व्यापारव्याकुलितमतिः परितप्यते, तदेवम् अनन्तरोक्तया नीत्या विपाकं स्वानुष्ठानस्य " आदाय" प्राप्य, विवेकमिति वा क्वचित्पाठः, तद्विपाकं विवेकं वा 'आदाय'-गृहीत्वा स्त्रीभिश्चारित्रपरिपन्थिनीभिः सार्धं संवासोऽवश्यं विवेकनामपि सदनुष्ठानविघातकारीति ॥१०॥ स्त्रीसम्बन्धदोषानुपदर्श्योपसंहरन्नाह -

टीकार्थ – कूट पाश में-जाल में या फंदे में बद्ध मृग जैसे कष्ट पाता है, उसी तरह नारी के जाल में बंधा हुआ साधु अपने कौटुम्बिक जनों के लिए-उनके पालन पोषण के निमित्त अहर्निश-रात दिन कष्ट भोगता हुआ अनुतप्त होता है-पछताता है । गृहस्थ में रहने वाले पुरुषों के सामने ऐसी बातें अवश्य आती है। जैसे कौन क्रोधी स्वभाव का है, किसके चित्त में समता है, किसे कैसे अपने वश में करूँ, अमुक व्यक्ति मुझे किस प्रकार धन दे, किस दानी को मैंने छोड़ दिया है, कौन परिणीत-विवाहित है, कौन कुमार-कुँआरा है, इस प्रकार प्राणी खडबडाहट-घबराहट के साथ जल्दबादी आतुरता दिखाता हुआ भारी पापों का बंध करता है । फिर पछताता हुआ कहता है कि मैंने परिजन-कुटुम्ब के लिए उसका पालन पोषण करने हेतु अनेक दारूण, कुत्सित, नीच कर्म किए । उन असत् कर्मों के कारण मैं एकाकी जल रहा हूँ, दुःख भोग रहा हूँ । मेरी कमाई का फल भोगने वाले न जाने कहाँ चले गए । इस प्रकार अनेक प्रकार से वह महामोह से परिपूर्ण कुटुम्ब के फंदे में पड़ा हुआ पछताता है । सूत्रकार दृष्टान्त द्वारा इसका स्पष्टीकरण करते हैं -

जैसे कोई आदमी जहर से मिला हुआ भोजन खाकर, फिर जहर के आवेग से-जहर का शरीर में असर फैलने पर व्याकुल होकर पछताता है कि वर्तमान में सुख रसिक-जिह्वा लोलुप बनकर मुझ पापी ने ऐसा

भोजन क्यों किया जो परिणाम में कष्ट देने वाला है, उसी प्रकार नारी के बंधन में बंधा हुआ पुरुष भी बेटा, पोता, बेटी, जामाता, बहिन, भतीजा, भांजा आदि के हेतु खान पान शादी विवाह गहने जात कर्म-जन्मोत्सव, मृतकर्म-मरणोपलक्ष्य में किये जाने वाले जातीयकृत्य तथा पारिवारिक जनों की बीमारी में इलाज आदि की चिन्ता से व्यथित होकर वह अपने देह के लिए जो करणीय है, वह भी भूल जाता है-अपने शरीर की भी चिन्ता नहीं कर पाता । वह ऐहिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के सत्कार्य से रहित होकर अपने परिवार के पालन पोषण के कार्य में ही सदैव आकुल और चिन्तित रहता हुआ पश्चाताप करता है । ऊपर वर्णित फल विपाक पर विचार कर, पाठान्तर में विवेगं-विवेक पद के अनुसार विवेक को गृहीत कर चारित्र में विघ्न करने वाली नारियों के साथ एक स्थान में आवास करना विवेकशील पुरुषों के सदुष्ठान-उत्तम सच्चारित्र मूलक उपकर्मों का विघातक-विनाशक होता है ।

स्त्री के सम्बन्ध में सम्भावित दोषों का दिग्दर्शन कराकर सूत्रधार अब उनका उपसंहार करते हुए कहते हैं ।

❀ ❀ ❀

तम्हा उ वज्जए इत्थी, विसलित्तं व कंटगं नच्चा ।
ओए कुलाणि वसवत्ती, आघाते ण सेवि णिग्गंथे ॥११॥

छाया – तस्मात्तु वर्जयेत् स्त्रीः, विषलिप्तमिव कण्टकं ज्ञात्वा ।
एकः कुलानि वशवर्ती आख्याति न सोऽपि निग्रन्थः ॥

अनुवाद – साधु स्त्रियों को जहर से सने हुए कांटे के समान जानकर दूर से ही उनका परित्याग कर दे । जो स्त्रियों का वशवर्ती होकर-उनके चंगुल में फंसकर गृहस्थों के घर अकेला जाकर धर्मोपदेश करता है, वह वास्तव में निर्ग्रस्थ-साधु नहीं है ।

टीका – यस्मात् विपाककटुः स्त्रीभिः सह सम्पर्कस्तस्मात्कारणात् स्त्रियो वर्जयेत् तु शब्दात्तदालापमपि न कुर्यात्, किंवदित्याह-विषोपलिप्तं कण्टकमिव 'ज्ञात्वा' अवगम्य स्त्रियं वजयेदिति अपिच-विषदिग्धकण्टकः शरीरावयवे भग्नः सन्ननर्थमा पादयेत् स्त्रियक्तु स्मरणादपि, तदुक्तम् -

"विषस्य विषयाणां च, दूरमत्यन्तमन्तरम् । उपभुक्तं - विषं हन्ति, विषयाः स्मरणादपि ॥१॥"

तथा

"वरि विस खइयं न विसयसुहु इक्कसि विसिण मरंति । विसयामिस पुण घारिया नर नर एहि पडंति॥१॥"

छाया - वरंविषं जग्धं न विषयसुखं एकशो विषेण म्रियते । विषयामिषघातिताः पुनर्नरा नरकेषुपतन्ति ॥१॥

तथा 'ओजः' एकः असहायः सन् 'कुलानि' गृहस्थानां गृहाणि गत्वा स्त्रीणां वशवर्ती तन्निर्दिष्टवेलागमनेन तदानुकूल्यं भजमानो धर्ममाख्याति योऽसावपि 'न निर्ग्रन्थो' न सम्यक् प्रव्रजितो, निषिद्धाचरणसेवनादवश्यं तत्रापायसम्भवादिति, यदा पुनः काचित्कुतश्चिन्निमित्तादागन्तुमसमर्था वृद्धा वा भवेत्तदाऽपरसहायसाध्वभावे एकाक्यपि गत्वा अपरस्त्रीवृन्दमध्यगताया: पुरुषसमन्विताया वा स्त्रीनिन्दाविषयजुगुप्साप्रधानं वैराग्यजननं विधिना धर्मं कथयेदपीति ॥११॥ अन्वयतिरेकाभ्यामुक्तोऽर्थः सुगमो भवतीत्यभिप्रायवानाह -

टीकार्थ – स्त्रियों का संपर्क, संसर्ग परिणाम में कटु-कठोर फलप्रद होता है । इसलिए परिवर्जन परित्याग करना चाहिए । यहाँ इस गाथा में प्रयुक्त 'तु' शब्द से यह संकेत किया गया है कि स्त्रियों से आलाप, संलाप-बातचीत नहीं करनी चाहिए । किसकी तरह ? इसे स्पष्ट करते हुए बतलाते हैं कि स्त्रियों को जहर से सने हुए कांटे के समान समझकर उनका परित्याग करना चाहिए । जहर से सना हुआ कांटा तो शरीर के किसी अंग में टूट जाय तो वह अनर्थ-पीड़ा पैदा करता है किन्तु स्त्रियाँ स्मरण मात्र से ही अनर्थ पैदा करती हैं । इसलिए कहा है कि विष और विषय का आपस में इतना अन्तर है, विष तो खाने पर प्राणों का नाश करता है, किन्तु विषय याद करते ही प्राणों को हर लेता है । विष या जहर खाना अच्छा है किन्तु विषय का सेवन करना अच्छा नहीं है क्योंकि विष खाने से तो प्राणी एक ही बार मौत की पीड़ा पाता है किन्तु विषयरूपी आमिष-मांस का सेवन करने से मनुष्य नरक में बार-बार गिरता है और यातनाएं भोगता है । जो पुरुष स्त्री के अधीन होकर उसे अपने अनुकुल बनाने के लिए उसके कथनानुसार एकाकी उसके घर जाकर धर्म का आख्यान करता है, वह निर्ग्रन्थ-सम्यक् प्रव्रजित या सच्चा साधु नहीं है क्योंकि जिन आचरणों का निषेध किया गया है, उनका सेवन करने से उसका पतित होना संभावित है । यदि कोई महिला किसी कारणवश साधु के स्थान में आने में असमर्थ हो, अथवा कोई वृद्धा हो तो दूसरे सहयोगी साधुओं के न होने पर साधु एकाकी भी उसके पास जाकर अन्य स्त्रियों से परिवेष्टित-घिरी हुई अथवा पुरुषों से युक्त महिला को वैराग्य उत्पन्न करने वाले धर्म का उपदेश करे, जिसमें स्त्री निन्दा एवं सांसारिक भोगों की निन्दा मुख्य रूप से हो ऐसा करने में कोई आपत्ति नहीं है ।

अन्वय-जिसके होने पर जिसका होना तथा व्यतिरेक-जिसके न होने पर जिसका न होना (यत् सत्वे यत सत्वं-अन्वयः, यत् असत्वे, यत् असत्वं-व्यतिरेकः) इस पद्धति द्वारा परिकथित अर्थ सुगम-आसान होता है, इस अभिप्राय से सूत्रकार कहते हैं ।

❀ ❀ ❀

जे एयं उंछं अणुगिद्धा, अन्नयरा हुंति कुसीलाणं ।
सुत्तवस्सिएवि से भिक्खू, नो विहरे सह णमित्थीसु ॥१२॥

छाया – **य एतदुञ्छमनुगृद्धा अन्यतरास्ते भवन्ति कुशीलानाम् ।**
सुपतस्व्यपि स भिक्षुः न विहरेत् सार्धं स्त्रीभिः ॥

अनुवाद – जो पुरुष स्त्री संसर्ग जैसे निन्द्य कर्म में संलग्न है, वे कुशील है-सदाचरणहीन है। अतः साधु यदि उत्कृष्ट तपस्वी हो तो भी उसे नारियों के साथ विहार-मेल मिलाप नहीं करना चाहिए।

टीका – 'जे एयं उंछ' मित्यादि, 'ये' मन्दमतयः पश्चात्कृतसदनुष्ठानाः साम्प्रतेक्षिण एतद्-अनन्तरोक्तम् उंछन्ति जुगुप्सनीयं गर्ह्यं तदत्र स्त्रीसम्बन्धादिकं एकाकिस्त्रीधर्मकथनादिकं वा द्रष्टव्यं, तदनु-तत्प्रति ये 'गृद्धा' अध्युपपन्ना मूर्च्छिताः, ते हि 'कुशीलानां' पार्श्वस्थावसन्नकुशीलसंसक्त यथाच्छन्दरूपा णामन्यतरा भवन्ति, यदिवा-काथिकपश्यकसम्प्रसारकमामकरूपाणां कुशीलानामन्यतरा भवन्ति, तन्मध्यवर्तिन स्तेऽपि कुशीला भवन्तीत्यर्थः, यत एवमतः 'सुतपक्व्यपि' विकृष्टतपोनिष्टप्ततदेहोऽषि भिक्षुः 'साधुः आत्महितमिच्छन्' 'स्त्रीभिः' 'समाधिपरिपन्थिनीभिः सह 'न विहरेत्' क्वचिद्दछेन्नापि सन्तिष्ठेत्, तृतीयार्थे सप्तमी, णमिति वाक्यालङ्कारे, ज्वलिताङ्गारपुञ्जवद्व्रतः स्त्रियो वर्जयेदितिभावः ॥१२॥ कतमाभिः पुनः स्त्रीभिः सार्धं न विहर्तव्यमित्येतदाशङ्क्याह –

टीकार्थ – जो मन्दमति-बुद्धिहीन पुरुष सद् अनुष्ठान-सद्आचरण का परित्याग कर वर्तमान सुख की ओर टकटकी लगाए, स्त्री संसर्ग आदि कार्यों में जो पहले वर्णित हुए हैं, तथा एकाकी गृहस्थ के घर जाकर किसी नारी को धर्मोपदेश देना आदि निन्दा योग्य कार्यों में जुड़े रहते हैं, वे पार्श्वस्थ-अवसन्न कुशील ससंक्त तथा यथा छंद रूप कुशीलों में से कोई एक है। अथवा कायिक, पश्यक सम्प्रसारक तथा मामक संज्ञक कुशीलों में से कोई एक है। अथवा उनके मध्य रहने से वे कुशील हैं-स्त्री सम्पर्क आदि निन्दा योग्य कर्मों का आचरण करने से साधु कुशील हो जाता है। जिस साधु ने उत्कृष्ट तपश्चरण द्वारा अपनी देह को परितप्त किया है, वह भी यदि अपना हित-आत्म कल्याण चाहता है तो समाधि-चारित्र धर्म की परिपंथिनी-उसमें विघ्न करने वाली या उसका नाश करने वाली स्त्रियों के साथ कहीं न जाए, कहीं न ठहरे। यहाँ तृतीया विभक्ति के अर्थ में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग हुआ है, 'ण' शब्द वाक्य के अलंकार का सूचक है। साधु स्त्री को जलते हुए अंगारों के पुञ्ज की ज्यों दूर से ही त्याग दे, इस गाथा का यह आशय है।

किन स्त्रियों के साथ विहरण नहीं करना चाहिए, इस आशंका के निराकरण हेतु सूत्रकार कहते हैं।

❀ ❀ ❀

अवि धयराहि सुण्हाहिं, धातीहिं अदुव दासीहिं ।
महतीहि वा कुमारीहिं, संथवं से न कुज्जा अणगारे ॥१३॥

छाया – अपि दुहितृभिः स्नूषाभिः धात्रीभि रथवा दासीभिः ।
महतीभिर्वा कुमारीभिः संस्तवं स न कुर्य्यादनगारः ॥

अनुवाद – चाहे अपनी पुत्री हो, पुत्र वधु हो, धातृ-बच्चों को दूध पिलाने वाली धाय हो, दासी हो, बड़ी स्त्री हो, छोटी कन्या हो तो भी उसके साथ साधु को संस्तव-परिचय नहीं करना चाहिए।

टीका – अपिशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, 'धूयराहि' त्ति दुहितृभिरपि सार्धं नविहरेत तथा 'स्नुषाः' सुतभार्यास्ताभिरपि सार्धं न विविक्तासनादौस्थातव्यं, तथा 'धात्र्यः' पञ्चप्रकाराः स्तन्यदादयो जननी कल्पास्तामिश्च साकं न स्थेयं, अथवाऽऽसतां तावदपरा योषिता य अप्येता 'दास्यो' घटयोषितः सर्वापसदास्ताभिरपि सह सम्पर्कं परिहरेत्, तथा महतीभिः कुमारीभिर्वाशब्दाल्लध्वीभिश्च सार्धं 'संस्तवं' परिचयं प्रत्यासत्तिरूपं सोऽनगारो न कुर्यादिति, यद्यपि तस्यां दुहितरिस्नुषादौ वा न चित्तान्यथात्वमुत्पद्यते तथापि च तत्र विविक्तासन दावपरस्य शङ्कोत्पद्यते अतस्तच्छङ्कानिरासार्थं स्त्री सम्पर्कः परिहर्तव्य इति ॥१३॥ अपरस्य शङ्का यथोत्पद्यते तथा दर्शयितुमाह-

टीकार्थ – प्रस्तुत गाथा में 'अपि' शब्द का प्रत्येक पद के साथ संबन्ध है। साधु अपनी संसार पक्षीया पुत्री के साथ भी कहीं न जाये। पुत्र की पत्नि स्नुषा कही जाती है, उनके साथ भी एकान्त स्थान आदि में न बैठे। धाय पांच प्रकार की होती है। जिन्होंने शैशवावस्था में स्तन्यपान कराया हो-दूध चुसवाया हो, सेवा परिचर्या की हो, जो मातृतुल्य होती है, उनके साथ भी साधु एकांत स्थान में न रहे। दूसरी स्त्रियों की तो बात ही क्या है ? जो पानी भरने वाली निम्न कोटि की महिलाएं हैं उनके साथ भी साधु सम्पर्क न रखे, चाहे बड़ी स्त्री हो, चाहे छोटी कन्या हो, यहाँ आये हुए 'वा' शब्द के अनुसार कोई साध्वी हो तो उनके साथ भी साधु अपना संस्तव-परिचय न करे। यद्यपि अपनी कन्या या अपने बेटे की बहु के साथ एकांत में बैठने से साधु का चित्त विकृत न भी हो तो भी अन्य लोगों को एकान्त में साधु को महिला के साथ बैठा हुआ

देखकर शंका पैदा हो सकती है, इसलिए उस शंका के निरास-निवृत्ति हेतु उसे स्त्री के सम्पर्क का परिहार-परित्याग कर देना चाहिए ।

साधु को स्त्री के साथ देखकर दूसरे के मन में जिस प्रकार शंका उत्पन्न होती है, उसका दिग्दर्शन कराते हुए शास्त्रकार निरूपण करते हैं ।

❀ ❀ ❀

अदुणाइणं च सुहीणं वा, अप्पियं दट्ठू एगता होति ।
गिद्धा सत्ता कामेहिं, रक्खणपोसणे मणुस्सोऽसि ॥१४॥

छाया – अथ ज्ञानीनां सुहृदां वा दृष्ट्वा एकदा भवति ।
गृद्धाः सत्त्वाः कामेषु रक्षणपोषणे मनुष्योऽसि ॥

अनुवाद – किसी महिला को एकांत में साधु के पास स्थित देखकर उसके पारिवारिक जनों एवं सम्बन्धियों के चित्त में बड़ी पीड़ा पैदा होती है । वे सोचते हैं कि जिस प्रकार दूसरे सामान्य जन कामासक्त संलग्न रहते हैं, उसी तरह ये साधु काम में गृद्ध-मूर्च्छित हैं । फिर वे उससे यहाँ तक कहते हैं-तुम इसके आदमी हो, इससे संशक्त हो, फिर इसका पालन पोषणं क्यों नहीं करते ।

टीका – 'अदुणाइणम्' इत्यादि, विविक्तयोषिता सार्धमनगारमथैकदा दृष्ट्वा योषिज्जातीनां सुहृदां वा 'अप्रियं चित्तदुःखासिका भवति, एवं च ते समाशङ्केरन्, यथा-सत्त्वाः-प्राणिन इच्छामदनकामैः 'गृद्धा' अध्युपपन्नाः, तथाहि-एवम्भूतोऽप्ययं श्रमणः स्त्रीवदनावलोकनासक्तचेताः परित्यक्तनिजव्यापारोऽनया सार्धं निर्हीकस्तिष्ठति, तदुक्तम् -

"मुण्डं शिरो वदन मेतदनिष्टगन्धं, भिक्षाशनेन भरणं च हतोदरस्य । गात्रं मलेन मलिनं गतसर्वशोभं, चित्रं तथापि मनसो मदनेऽस्ति वाञ्छा ॥१॥"

तथातिक्रोधाध्मातमानसाश्चैवमूचुर्यथा-रक्षणं पोषणं चेति विगृह्य समाहारद्वन्द्वस्तस्मिन् रक्षणपोषणे सदाऽऽदरं कुरु यतस्त्वमस्याः 'मनुष्योऽसि' मनुष्यो वर्तसे, यदि वा यदि परं वयमस्या रक्षणपोषणव्यापृतास्त्वमेव मनुष्यो वर्तसे, यतस्त्वयैव सार्धमियमेकाकिन्यहर्निशं परित्यक्तनिजव्यापारातिष्ठतीति ॥१४॥ किञ्चान्यत् -

टीकार्थ – एकाकिनी नारी के साथ एकांत में अवस्थित साधु को देखकर उस नारी के स्वजातीय जन और रिश्तेदार मन में बड़े दुःखित होते हैं । वे यह आशंका करते हैं, संदेह करते हैं कि जैसे अन्य व्यक्ति काम भोगों में लुब्ध है, उसी प्रकार यह साधु भी काम लोलुप है, क्योंकि यह अपने सभी कार्यों का परित्याग कर सदैव इस नारी के मुख को निर्लज्जता से देखता हुआ इसके साथ बैठा रहता है । कहा है-जिसका सिर मुंडा हुआ है, जिसमें मुँह से अनिष्ट गंध-बदबू आती है, भिक्षा से प्राप्त अन्न द्वारा जो अपना पेट भरता है, सारा शरीर मैल से गंदा और शोभारहित है, तो भी कितना बड़ा आश्चर्य है कि इसकी मन की वाञ्छा काम भोग में संशक्त है । उस औरत के जाति के लोग गुस्से में आकर कहते हैं तुम इसके मनुष्य हो, मालिक हो, इसका रूचिपूर्वक पालन पोषण करो । अथवा हम तो केवल इसकी रक्षा तथा पालन पोषण व्यापृत है-लगे हैं तुम्हीं इसके आदमी हो, पति हो-क्योंकि तुम्हारे ही साथ यह अपने सारे कार्य छोड़कर दिन रात अकेली बैठी रहती है ।

❀ ❀ ❀

समणंपि दट्ठुदासीणं, तत्थवि ताव एगे कुप्पंति ।
अदुवा भोयणेहिं णत्थेहिं, इत्थीदोसं संकिणो होंति ॥१५॥

छाया – श्रमणमपि दृष्ट्वोदासीनं, तत्रापि तावदेके कुप्यन्ति ।
अथवा भोजनैर्न्यस्तैः स्त्रीदोषशङ्किनो भवन्ति ॥

अनुवाद – उदासीन विरक्त और तपस्वी साधु को भी एकान्त में किसी नारी के साथ देखकर कतिपयजन क्रुद्ध हो जाते हैं और वे उस स्त्री में दोष की आशंका करने लगते हैं । उन्हें लगता है कि यह स्त्री साधु को चाहती है । इसलिए तरह-तरह के आहार उसे देती है ।

टीका – श्राम्यतीति श्रमणः-साधुः अपि शब्दोभिन्नक्रमः तम् 'उदासीनमपि' रागद्वेषविरहान्मध्यस्थमपि दृष्ट्वा, श्रमणग्रहणं तपः-खिन्नदेहोपलक्षणार्थं, तत्रैवम्भूतेऽपि विषयद्वेषिण्यपि साधौ तावदेके केचन रहस्यस्त्री जल्पनकृतदोषत्वात्कुप्यन्ति यदि वा पाठान्तरं ''समणं ढट्ठूणुदासीणं'' 'श्रमणं' प्रव्रजिते 'उदासीनम्' परित्यक्त निजव्यापारं स्त्रिया सह जल्पन्तं 'दृष्ट्वा' उपलभ्य तत्राप्येके केचन तावत् कुप्यन्ति, किं पुनः कृतविकार मितिभावः, अथवा स्त्रीदोषशङ्किनश्च ते भवन्ति, ते चामी स्त्रीदोषाः 'भोजनैः' नानाविधैराहारैः 'न्यस्तैः'साध्वर्थमुपकल्पितैरेतदर्थमेव संस्कृतैरियमेनमुपचरित तेनायमहर्निशमिहागच्छतीति, यदि वा भोजनैः श्वशुरादीनां न्यस्तैः अर्धदत्तैः सद्भिः सा वधूः साध्वागमनेन समाकुलीभूता सत्यन्यस्मिन् दातव्येऽन्यद्दद्यात्, ततस्ते स्त्रीदोषाशङ्किनो भवेयुर्यथेयं दुःशीलाऽनेनैव सहास्त इति, निदर्शनमत्र यथा-कयाचिद्भध्वा ग्राममध्यप्रारब्धनट-प्रेक्षणैकगतचित्तया पतिश्वशुरयोर्भोजनार्थमुपविष्टयोस्तण्डुला इतिकृत्वा राइकाः संस्कृता दत्ताः, ततोऽसौ श्वशुरेणोपलक्षिता, निजपतिना क्रुद्धेन ताडिता, अन्यपुरुषागतचित्तेत्याशङ्क्य स्वगृहान्निर्धाटितेति ॥१५॥ किञ्चान्यत् –

टीकार्थ – जो श्रम करता है-संयम मूलक साधना में आत्मपराक्रमी होता है, तप करता है, उसे श्रमण कहा जाता है, अर्थात् साधु को श्रमण कहते हैं । यहां 'अपि' शब्द भिन्न कुम का द्योतक है । जो पुरुष राग द्वेष से विरहित है,-मध्यस्थ, तटस्थ भावयुक्त है, तप से जिसका शरीर खिन्न परिश्रान्त है, जो सांसारिक काम भोग मय सुख का द्वेषी है, उसे बुरा मानता है, इस कोटि के साधु को भी किसी औरत के साथ एकांत में बातचीत करते हुए देखकर कुछ लोग कुपित हो जाते हैं, यहाँ प्रयुक्त समण-श्रमण शब्द तपस्या से खिन्न शरीर का द्योतक है । 'समण' ढट्ठूणु दासीणं-श्रमणं दृष्ट्वा उदासीनं ऐसा पाठान्तर प्राप्त होता है, तदनुसार जो साधु अपना कार्य त्यागकर स्त्री के साथ आलाप संलाप करता है, उसे देखकर कई क्रोधित हो जाते है, जब राग द्वेष रहित तपसेवी साधु को भी औरत के साथ एकांत में बातें करते देखकर लोग कुपित हो जाते हैं, तो फिर जिस साधु के मन में स्त्री के संग से विकृति पैदा हो गई है, उसकी तो बात ही क्या ? अथवा औरत के साथ एकांत में बातें करते देखकर लोग उस औरत में दोष की आशंका करते हैं । वे दोष यों हैं-यह स्त्री तरह-तरह के भोज्य पदार्थ इस साधु के लिए उपकल्पित कर-बनाकर इसे देती है । इसी कारण यह साधु दिन रात यहाँ आता जाता है । यह स्त्री अपने श्वसुर आदि को आधा भोजन परोसकर साधु के आते ही चंचल चित्त हो जाती है । श्वसुर को जो पदार्थ परोसना हो, उसके बदले दूसरा परोस देती है । तो लोग उस औरत पर शंका करते हैं कि यह चरित्रहीन औरत इस साधु के साथ संबद्ध है । इस संबंध में एक निदर्शन-उदाहरण है-कोई स्त्री खाने बैठे हुए अपने श्वसुर एवं पति को भोजन परोस रही थी, किन्तु उसका मन उस समय गांव के बीच होने वाले नटों के नृत्य खेल आदि देखने में लगा था, इसलिए उसने चांवलों के बदले राई उबाल

कर पकाकर अपने श्वसुर तथा पति को परोस दी । श्वसुर ने सारी बात समझ ली । उसके पति ने कुपित होकर उसे पीटा तथा यह आशंका कर कि इसका चित्त किसी अन्य पुरुष में लगा है, उसे घर से निकाल दिया ।

❀ ❀ ❀

कुव्वंति संथवं ताहिं पब्भट्ठा समाहिजोगेहिं ।
तम्हा समणा ण समेंति, आएहियाए सण्णिसेज्जाओ ॥१६॥

छाया – कुर्वन्ति संस्तवं ताभिः प्रभ्रष्टाः समाधियोगेभ्यः ।
तस्मात् श्रमणाः न संयन्ति आत्महिताय संनिषद्याः ॥

अनुवाद – जो पुरुष समाधि एवं योग से भ्रष्ट होते हैं, वे ही नारियों से संस्तव-परिचय बढ़ाते हैं, श्रमण-सच्चे साधु अपना आत्महित सोचते हुए स्त्रियों के स्थान पर नहीं जाते ।

टीका – 'कुव्वंति' त्यादि, 'ताभिः' स्त्रीभिः-सन्मार्गार्गलाभिः सह 'संस्तवं' तद्गृहगमनालापदानसम्प्रेक्षणादिरूपं परिचयं तथा विधमोहोदयात् 'कुर्वन्ति' विदधति, किम्भूताः?-प्रकर्षेण भ्रष्टाः स्खलिताः 'समाधियोगेभ्यः' समाधिः धर्मध्यानं तदर्थं तत्प्रधाना वा योगा-मनोवाक्कायव्यापारास्तेभ्यः प्रच्युता शीतलविहारिण इति, यस्मात् स्त्री संस्तवात्समाधियोगपरिभ्रंशो भवति तस्मात्कारणात् 'श्रमणाः' सत्साधवो 'न समेन्ति' न गच्छन्ति, सत् शोभना सुखोत्पादकतयाऽनुकूलत्वान्निषद्या इव निषद्याः स्त्रीभिः कृता माया, यदिवास्त्रीवसतीरिति, 'आत्महिताय' स्वहितं मन्यमानाः, एतच्च स्त्रीसम्बन्धपरिहरणं तासामप्यैहिकामुष्मिकापायपरिहाराद्धितमिति, क्वचित्पश्चार्द्धमेवं पठ्यते- "तम्हा समणा उ जहाहि अहिताओ सन्निसेज्जाओ" अयमस्यार्थः-यस्मात्स्त्रीसम्बन्धोऽनर्थाय भवति, तस्मात् हे श्रमण ! साधो ! तुशब्दो विशेषणार्थः, विशेषेण संनिषद्या-स्त्रीवसतीस्तत्कृतोपचाररूपा वा माया आत्महिताद्धेतोः 'जहाहि' परित्यजेति ॥१६॥ किं केचनाभ्युपगभ्यापि प्रव्रज्यां स्त्रीसम्बन्धं कुर्युः ?, येनैवमुच्यते, ओमित्याह

टीकार्थ – स्त्रियाँ सन्मार्ग-धर्म के उत्तम मार्ग में बाधा पैदा करने वाली हैं । वे कपाटों में लगने वाली आगल की ज्यों है । उनके आवास पर जाना, उनके साथ बातचीत करना, उनसे दान लेना, उन्हें देखना, परिचय करना ये सब तद्विषयक मोहोदय के कारण लोगों में होता है । जो व्यक्ति स्त्रियों के साथ परिचय बढ़ाते हैं, वे किस प्रकार के हैं । इसका समाधान उपस्थित करते हुए कहते हैं कि वे समाधि-धर्मयोग से तथा योग-समाधिमूलक मानसिक, वाचिक एवं कायिक व्यापार से भ्रष्ट हैं, वे शिथिल विहारी हैं, नारियों के साथ परिचय बढ़ाने से समाधियोग विनष्ट हो जाता है । अतएव उत्तम कोटि के साधु स्त्रियों की माया प्रवञ्चना में नहीं पड़ते। जो सुख उत्पन्न करने के कारण, अनुकूल होने के कारण, निषद्या-आवास स्थान के सदृश है उसे निषद्या कहा जाता है, वह स्त्रियों का आवास स्थान निषद्या कहा जाता है, आत्म कल्याणेच्छु साधु वहाँ नहीं जाते । नारियों के संबंद्ध त्याग का जो उपदेश दिया गया है, वह स्त्रियों को भी ऐहिक व पारलौकिक हानि से बचाने के कारण आत्मा का हित करने वाला है । इस गाथा के उत्तरार्द्ध में 'तम्हा समणा उ जहाहि अहिताओ सन्नि सेज्जाओ' यह पाठान्तर है-जिसका अर्थ यह है कि-स्त्री संबंद्ध अनर्थ का कारण है, इसलिए स्त्रियों के निवास स्थान तथा उनके द्वारा प्रदर्शित सेवा परिचर्या रूप माया को आत्महित के निमित्त त्याग दे । क्या कोई प्रव्रज्या-श्रमण दीक्षा स्वीकार कर के भी नारी के साथ संबंद्ध कर सकते हैं ? जिससे ऐसा कहा जाता है, उत्तर में कहा गया है कि हाँ, कर सकते हैं ।

❀ ❀ ❀

बहवे गिहाइं अवहट्टु, मिस्सीभावं पत्थुया य एगे ।
धुवमग्गमेव पवयंति, वया वीरियं कुसीलाणं ॥१७॥

छाया – बहवो गृहाणि अवहत्य मिश्रीभावं प्रस्तुताश्च एके ।
ध्रुवमार्गमेव प्रवदन्ति वाचा वीर्य्यं कुशीलानाम् ॥

अनुवाद – बहुत से ऐसे लोग होते हैं जो दीक्षा लेकर भी अंशतः गृहस्थ एवं अंशतः साधु के आचार का सेवन-पालन करते हैं । वे अपने इस मिश्रणमय आचार को ही मोक्ष का पथ बतलाते हैं । कुशील-कुत्सित आचारयुक्त जनों की वाणी में ही पराक्रम होता है, कार्य में नहीं ।

टीका – 'बहवः' केचन गृहाणि 'अपहत्य' परित्यज्य पुनस्तथाविधमोहोदयात् मिश्रीभावम् इति द्रव्यलिङ्गमात्रसद्भावाद्भावतस्तु गृहस्थसमकल्पा इत्येवम्भूता मिश्रीभावं 'प्रस्तुताः' समनुप्राप्ता न गृहस्था एकान्ततो नापि प्रव्रजिताः, तदेवम्भूता अपि सन्तो ध्रुवो-मोक्षः संयमो वा तन्मार्गमेव प्रवदन्ति, तथाहि-ते वक्तारो भन्ति यथाऽयमेवास्मदारब्धो मध्यमः पन्थाः श्रेयान्, तथाहि-अनेन प्रवृतानां प्रव्रज्यानिर्वहणं भवतीति, तदेतत्कुशीलानां वाचा कृतं वीर्य नानुष्ठान कृतं, तथाहि ते द्रव्यलिङ्गधारिणो वाङ्मात्रेणैव वयं प्रव्रजिता इति ब्रुवते नतु तेषां सातगौरवविषयसुखप्रतिबद्धानां शीतलविहारिणां सदनुष्ठानवृतं वीर्यमस्तीति ॥१७॥ अपिच

टीकार्थ – बहुत से ऐसे व्यक्ति हैं, जो गृहस्थ जीवन का परित्याग करके भी पुनः तथा विध मोहोदय के कारण वे मिश्र अवस्था को स्वीकार कर लेते हैं । वे द्रव्यलिंग-बाह्यवेश को ग्रहण करने मात्र से साधु हैं तथा गृहस्थ के सदृश आचरण करने से गृहस्थ हैं । इस प्रकार वे मिश्र मार्ग को स्वीकार किए हुए हैं । वे न तो एकांततः-निश्चित रूप में, पूर्ण रूप में गृहस्थ ही हैं और न एकांततः साधु ही हैं । ऐसा होते हुए भी वे अपने द्वारा परिगृहीत मार्ग को ही ध्रुव-मोक्ष या संयम का मार्ग बतलाते हैं । वे ऐसा कथन करते हैं कि-हमने जो इस मध्यममार्ग-बीच के रास्ते का अनुसरण करना शुरु किया है वही रास्ता सबसे उत्तम हैं-क्योंकि उस मार्ग पर चलने वाले पुरुष के प्रव्रजित संयम जीवन का भली भांति निर्वाह होता है, किन्तु यह तो उन शील रहित जनों की वाणी का ही वीर्य-पराक्रम है, आचरण का नहीं क्योंकि द्रव्यलिंग धारी-केवल वेश मात्र से साधु बने हुए पुरुष वाणी द्वारा अपने को प्रव्रजित बतलाते हैं किन्तु उनमें वैसा आचार नहीं है । वे साता गौरव और विषय सुख में प्रतिबद्ध-बंधे हुए हैं, शिथिल विहारी हैं, उनमें सद् अनुष्ठान-संयम मूलक आचार में पराक्रम दिखाने का सामर्थ्य नहीं है ।

❀ ❀ ❀

सुद्धं खति परिसाए, अह रहस्संमि दुक्कडं करेंति ।
जाणंति, य णं तहाविहा, माइल्ले महासढेऽयंति ॥१८॥

छाया – शुद्धं रौति परिषदि, अथ रहसि दुष्कृतं करोति ।
जानन्ति च तथाविदो मयावी महाशठ इति ॥

अनुवाद – साध्वाचरित पुरुष सभी में ऐसा आख्यान करता है कि मैं शुद्ध हूँ । शुद्ध संयम का पालन करता हूँ, किन्तु वह एकान्त में छिपकर दुष्कृत्-पाप सेवन करता है । उसकी शारीरिक चेष्टाएं आदि जानने वाले पुरुष यह समझते हैं कि यह छली है-बड़ा शठ-दुष्ट, मूर्ख है ।

टीका – स कुशीलो वाङ्मात्रेणाविष्कृतवीर्यः 'पर्षदि' व्यवस्थितो धर्मदेशनावसरे सत्यात्मानं 'शुद्धम्' अपगतदोषमात्मानमात्मीयानुष्ठानं वा 'रौति' भाषते अथानन्तरं 'रहस्ये' कान्ते 'दुष्कृतं' पापं तत्कारणं वाऽसदनुष्ठानं 'करोति' विदधाति, तच्च तस्यासदनुष्ठानं गोपायतोऽपि 'जानन्ति' विदन्ति, के ?-तथारूपमनुष्ठानं विदन्तीति तथाविदः-इङ्गिताकारकुशला निपुणास्तद्विद इत्यर्थः यदि वा सर्वज्ञाः एतदुक्तं भवति-यद्यप्यपरः कश्चिदकर्तव्यं तेषां न वे त्ति तथापि सर्वज्ञा विदन्ति, तत्परिज्ञानेनैव किं न पर्याप्तं ?, यदि वा-मायावी महाशठश्चायमित्येवं तथा विदस्तद्विदो जानन्ति, तथाहि-प्रच्छन्नाकार्यकारी न मां कश्चिज्जानात्येवं रागान्धो मन्यते, अथ च तं तद्विदो विदन्ति, तथा चोक्तम् -

"न य लोणं लोणिज्जइ ण य तुप्पिज्जइ घयं व तेल्लं वा । किह सक्को वंचेऊं अत्ता अणुहूय कल्लाणो ॥१॥" ॥१८॥ किञ्चायत् -

छाया - न च लवणं लयणीयते न म्रक्ष्यते घृतं चतैलं च । किं शक्यो वंचयितुं मात्माऽनुभूताकल्याणः ॥

टीकार्थ – वह कुशील-आचारहीन पुरुष वाणी मात्र से अपना पराक्रम प्रकट करता है । धर्मदेशना के अवसर पर वह अपने को तथा अपने आचरण को शुद्ध निर्दोष बतलाता है, परन्तु वह एकांत में दुष्कृत-पाप या पापजनक असत् कार्य करता है, यद्यपि वह अपने असत्-अपवित्र अनुष्ठान आचार को गोपित करता है-छिपाता है, तो भी लोग उसे जान जाते हैं । कौन जान पाते हैं ? यह प्रश्न उठाते हुए बतलाते हैं कि जो पुरुष आङ्गिक चेष्टा एवं आकार-भाव भङ्गी को जानने में कुशल है वे उसके असत् आचरण को जान लेते हैं, अथवा सर्वज्ञ-सर्वज्ञाता सर्वद्रष्टा महापुरुष उसे जानते हैं । कहने का आशय यह है कि उस चरित्रहीन पुरुष के दूषित कार्यों को चाहे अन्य लोग न जाने परन्तु सर्वज्ञ पुरुष तो जान ही लेते हैं । क्या सर्वज्ञ पुरुष जो यह जानते हैं, वह क्या उनके असत् अनुष्ठान के सूचन के लिए पर्याप्त नहीं हैं अथवा उसके स्वरूप को, कार्य कलाप को जानने वाले पुरुष यह देखते हैं कि यह मायावी-छली प्रपञ्ची है, महाशठ-बड़ा दुष्ट है, राग से अन्धा बना हुआ है, छिप-छिपकर बुरे कार्य करता है तथा अपने मन में यह समझता है कि मुझे कोई नहीं जानता, किन्तु जानने वाले तो जान ही लेते हैं । कहा है-नमक की लवणता-खारापन तथा घृत व तेल की स्निग्धता-चिकनापन छिपाया नहीं जा सकता । उसी प्रकार दुष्कर्म करने वाली आत्मा को छिपाया नहीं जा सकता ।

❀ ❀ ❀

सयं दुक्कडं च न वदति, आइट्ठोवि पकत्थति बाले ।
वेयाणुवीइ मा कासी, चोइज्जंतो गिलाइ से भुज्जो ॥१९॥

छाया – स्वयं दुष्कृतं च न वदति, आदिष्टोऽपि प्रकत्थते बालः ।
वेदानुवीचि मा कार्षीः चोद्यमानो ग्लायति स भूयः ॥

अनुवाद – द्रव्यलिंगी-साधु का बाना धारण करने वाला बाल-अज्ञानी जन स्वयं अपना दुष्कृत या पाप अपने आचार्य या गुरु से नहीं कहता । दूसरा वैसी प्रेरणा करे तो वह अपनी ही तारीफ करने लगता है। जब उसे गुरुजन कहते हैं कि तुम अब्रह्मचर्य का सेवन मत करो तो वह ग्लानि पूर्ण हो जाता है ।

टीका – 'स्वयम्' आत्मता प्रच्छन्नं यद्दुष्कतं कृतं तदपरेणाचार्यादिना पृष्टो न 'वदति' न कथयति, यथा अहमस्याकार्यस्य कारीति, स च प्रच्छन्नपापो मायावी स्वयमवदन् यदा परेण 'आदिष्टः' चोदितोऽपि

सन् 'बालः' अज्ञो रागद्वेषकलितो वा 'प्रकत्थते' आत्मानं श्लाघमानोऽकार्यमपलपति, वदति च-यथाऽहमेवम्भूतमकार्यं कथं करिष्ये इत्येवं धार्ष्ट्यात्प्रकत्थते, तथा वेदः-पुंवेदोदयस्तस्य 'अनुवीचि' आनुकूल्यं मैथुनाभिलाषं तन्मा कार्षीरित्येवं 'भूयः' पुनः चोद्यमानोऽसौ 'ग्लायति' ग्लानिमुपयाति-अकर्णश्रुत विधत्ते, मर्मबिद्धो वा सखेदमिव भाषते, तथा चोक्तम् -

"सम्भाव्यमानपापोऽहमपापेनापि किं मया ? । निर्विषस्यापि सर्पस्य, भृशमुद्विजते जनः ॥" इति॥१९॥ अपिच-

टीकार्थ – चरित्रहीन पुरुष मुख्यतः अपने द्वारा छिपाकर किया गया पाप आचार्य आदि के पूछने पर नहीं बताता । वह कहता है कि मैंने वैसा बुरा कृत्य नहीं किया है । वह प्रच्छन्न पापी-छिपकर पाप करने वाला मायावी-छली, स्वयं तो कहता ही नहीं, जब अन्य कोई कहने हेतु प्रेरित करता है तो वह अज्ञ, रागद्वेष से युक्त व्यक्ति अपनी बढ़ाई करता हुआ कहता है कि मुझ पर बुरे कार्य का आरोप लगाया जाता है वह मिथ्या है । वह बड़ी धृष्टता ढ़ीठपन के साथ कहता है कि मैं ऐसा असत् कार्य किस प्रकार कर सकता हूँ । यहाँ प्रयुक्त वेद शब्द पुरुष वेद के उदय का सूचक है । उसके अनुरूप मैथुन की इच्छा को अनुवीचि कहा जाता है । इसलिए गुरु आदि द्वारा यह कहे जाने पर कि तुम अब्रह्मचर्य सेवन की वाञ्छा मत करो, वह चरित्र हीन पुरुष ग्लानि युक्त हो जाता है, अथवा इस बात को अनसुनी कर देता है, अथवा उस बात का उसके मर्म स्थल पर बड़ा आघात सा होता है, वह बात उसके मन में चुभ जाती है । वह खिन्न हो उठता है और बोलता है कि जब मुझमें पाप की संभावना-आशंका की जाती है तब अपाप-पाप रहित होने से मुझे क्या लाभ क्योंकि लोग निर्विष सांप से भी बहुत डरते हैं ।

❀ ❀ ❀

ओसियावि इत्थिपोसेसु, पुरिसा इत्थिवेयखेदन्ना ।
पण्णासमन्निता वेगे, नारीणं वसं उवकसंति ॥२०॥

छाया – **उषिता अपि स्त्रीपोषेषु पुरुषाः स्त्रीवेदखेदज्ञाः ।**
प्रज्ञासमन्विता एके नारीणां वशमुप कर्षन्ति ॥

अनुवाद – जो पुरुष स्त्रियों के पालन पोषण का कार्य कर भुक्त भोगी है, सब देख परख चुके हैं, स्त्रियाँ बड़ी मायावनी होती है यह जान चुके हैं, जो प्रज्ञाशील हैं वे स्त्रियों के वशीभूत नहीं होते ।

टीका – स्त्रियं पोषयन्तीति स्त्रीपोषका-अनुष्ठानविशेषास्तेषु 'उषिता अपि' व्यवस्थिता अपि 'पुरुषा' मनुष्या भुक्तभोगिनोऽपीत्यर्थः, तथा-'स्त्रीवेदखेदज्ञाः सीवेदो मायाप्रधान इत्येवं निपुणा अपि तथा प्रज्ञया औत्पत्तिक्यादिबुद्ध्या समन्विता-युक्ता अपि 'एके' महामोहान्धचेतसो 'नारीणां' स्त्रीणांसंसारावतरणवीथीनां 'वशं' तदायत्तमानुप-सामीप्येन 'कर्षन्ति' व्रजन्ति, यद्यत्ताः स्वप्नायमाना अपि कार्यमकार्यं वा ब्रुवते तत्तत्कुर्वते, न पुनरेतज्जानन्ति यथैता एवम्भूता भवन्तीति, तद्यथा -

"एता हसन्ति च रूदन्ति च कार्य होतार्विश्वासयन्ति च नरं न चविश्वसन्ति ।
तस्मान्नरेण कुलशीलसमन्वितेन, नार्मः श्मशानघटिका इव वर्जनीयाः ॥१॥"

तथा -

"समुद्रवीचीव चलस्वभावाः, सन्ध्याभ्ररेखेवमुहूर्त रागाः ।
स्त्रियः कृतार्थाः पुरुषं निरर्थकं, निष्पीडितालक्तकवत्यजन्ति ॥२॥"

अत्र च स्त्री स्वभावपरिज्ञाने कथानकमिदम् तद्यथा-एको युवा स्वगृहान्निार्गत्यवैशिकं कामशास्त्रामध्येतु पाटलिपुत्रं प्रस्थितः, तदन्तराले अन्यतरग्रामवर्तिन्यैकया योषिताऽभिहितः, तद्यथा-सुकुमारपाणिपादः शोभनाकृतिस्त्वं क्व प्रस्थितोऽसि ?, तेनापि यथास्थितमेव तस्याः कथितं तया चोक्तम् -वैशिकं पठित्वा ममध्येनागन्तव्यं, तेनापि तथैवाभ्युपगतम्, अधीत्य चासौ मध्येनायातः, तथा च स्नान भोजनादिना सम्यगुपचरितो विविधहावभावैश्चापहृतहृदयः संस्तां हस्तेन गृह्णाति, ततस्तया महताशब्देन फूत्कृत्य जनागमनावसरे मस्तके वारिवर्धनिका प्रक्षिप्ता, ततो लोकस्य समाकुले एवमाचष्टे-यथाऽयं गले लग्नेनोदकेन मनाक् न मृतः, ततो मयोदकेन सिक्त इति । गते च लोके सा पृष्टवती-किं त्वया वैशिकशास्त्रोपदेशेन स्त्रीस्वभावानां परिज्ञातमिति ? एवं स्त्रीचरित्रं दुर्विज्ञेयमिति नात्रास्था कर्तव्येति, तथा चोक्तम् -

"हसन्यद्वाच्यन्यत्कर्मण्यन्यत्पुरोऽथ पृष्ठेऽन्यत् । अन्यत्तव मम चान्यत् स्त्रीणां सर्वं किमप्यन्वत् ॥१॥"

॥२०॥ साम्प्रतमिहलोक एव स्त्रीसम्बन्धविपाकं दर्शयितुमाह -

टीकार्थ – स्त्री का पोषण करने के लिए जो कार्य किये जाते हैं वे स्त्री पोष या पोषक कहे जाते हैं । वैसे कार्यों में जो प्रवृत्त हो चुके हैं वे उनके दोषों को जान गये हैं, जो स्त्री वेग-स्त्री जाति की प्रवृति को जानते हैं अर्थात् स्त्री स्वभाव से ही माया प्रधान होती है । इसकी प्रवृति छलयुक्त होती है, ऐसा जानने में कुशल हैं, जो औत्पादिक-प्रति उत्पन्नमति आदि से युक्त है, ऐसे भी कतिपय पुरुष अत्यधिक महा मोह से अन्ध बनकर संसार में आवागमन के मार्ग स्वरूप स्त्रियों के वश में हो जाते हैं । स्त्रियाँ सपने में भी जो बोलती है, सत् असत् जो भी कार्य करने हेतु उनसे कहती हैं वे उसे करते हैं । वे स्त्रियों के स्वरूप को नहीं जानते। स्त्रियाँ कार्य हेतु-अपना काम कराने के लिए कभी हंसती हैं और कभी रोती हैं । पुरुष को अपने प्रति विश्वास दिलाती हैं किन्तु खुद कभी उस पर भरोसा नहीं करती । इसलिए उच्च कुल एवं उत्तम आचारयुक्त पुरुष सुनसान हाट की ज्यों स्त्रियों का परिवर्जन करे । कहा है समुद्र की विचियाँ-लहरें जिस तरह चंचल-अस्थिर होती हैं उसी तरह स्त्रियों का स्वभाव चंचल होता है । जैसे सन्ध्या के समय आकाश गत बादल में राग-लालिमा रहती है उसी तरह औरतों का भी राग-अनुरक्ति या प्रेम कुछ ही देर रहता है । औरतें जब पुरुष से अपना मतलब पूरा करा लेती हैं जैसे महावर का रंग निकालकर रूई को फैंक दिया जाता है उसी तरह वे पुरुष को छोड़ देती हैं । स्त्री के स्वभाव को यहाँ एक कथानक द्वारा प्रस्तुत किया जाता है । एक नौजवान वैश्विक कामशास्त्र अर्थात् नारी के स्वभाव को प्रकट करने वाले शास्त्र के अध्ययन के लिए अपने घर से निकला और पाटलिपुत्र की ओर जाने लगा यात्रा-मार्ग के बीच आये किसी गांव में वहाँ की औरत ने उनसे कहा तुम्हारे हाथ पैर सुकोमल है, तुम्हारी आकृति भी खूबसूरत है, तुम कहाँ जा रहे हो, उस नौजवान ने जो बात थी उसे बता दी । उस औरत ने उसे कहा कि कामशास्त्र का अध्ययन पूरा कर इसी रास्ते से आना । कामशास्त्र का अध्ययन कर वह नौजवान उसी रास्ते में आया । औरत से मिला । औरत ने उसका स्नान, खान-पान द्वारा भलीभाँति आतिथ्य किया, सेवा की । अपने हाव भाव-नाज नखरों और कटाक्षों-तिरछी निगाहों से उसका मन आकृष्ट कर लिया। वह पुरुष उस औरत पर आसक्त हो गया । उस युवक ने जब औरत का हाथ पकड़ना चाहा तब वह जोर से चिल्लायी । जब लोग आने लगे तब उसने उस युवक पर जल से भरा घड़ा

उंडेल दिया । इसके बाद जब लोगों की बड़ी भीड़ इकट्ठी हो गयी तब वह कहने लगी कि इसके गले के भीतर पानी लग गया था । विपरीत जल सेवन जनित दोष-रोग पैदा हो गया था । यह मरणासन्न था । यह देखकर मैंने इसको पानी से स्नान करा दिया, इस पर पानी का घड़ा उंडेल दिया । जब एकत्रित भीड़ छँट गई तब वह नौजवान से पूछने लगी कि कामशास्त्र का अध्ययन कर तुमने नारी के स्वभाव का क्या ज्ञान प्राप्त किया, क्या इतना ही सीखा ? वास्तव में औरत के चरित्र को जान पाना बहुत मुश्किल है । इसलिए पुरुष को औरत के स्वभाव पर कभी भरोसा नहीं करना चाहिए । कहा गया है कि औरतों के दिल में कुछ और होता है, पीछे कुछ और होता है, जबान पर कुछ और होता है, सामने कुछ और होता है, पीछे कुछ और होता है । तुम्हारे लिए कुछ अन्य मेरे लिए उससे भिन्न कुछ और ही होता है अर्थात् किन्हीं दो पुरुषों के प्रति उसका एक जैसा मानस नहीं होता । वास्तव में औरतों का सब कुछ ओर ही या भिन्न ही होता है ।

❀ ❀ ❀

अवि हत्थपादछेदाए, अदुवा वद्धमंसउक्कंते ।
अवि तेय साभितावणाणि, तच्छिय खारसिंचणाइं च ॥२१॥

छाया – अपि हस्तपादच्छेदाय, अथवा वर्धमांसोत्कर्त्तनम् ।
अपि तेजसाऽभितापनानि तक्षयित्वा क्षारसिञ्चनानिच ॥

अनुवाद – जो पुरुष पर नारी का सेवन करते हैं उनके हाथ पैर छिन्न कर दिये जाते हैं-काट दिये जाते हैं । उनकी चमड़ी और माँस उधेड़ दिये जाते हैं । अग्नि द्वारा उन्हें परितप्त किया जाता है और उनके अंग काट कर उन घावों पर नमक आदि का क्षार युक्त जल डाला जाता है ।

टीका – स्त्रीसम्पर्कों हि रागिणां हस्तपादच्छेदाय भवति, 'अपिः' सम्भावने सम्भाव्यत एतन्मोहातुराणां स्त्रीसम्बन्धाद्धस्तपादच्छेदादिकम्, अथवा वर्धमांसोत्कर्तन मपि 'तेजसा, अग्निना' अभितापनानि 'स्त्री सम्बन्धिभिरूत्ते-जितै राजपुरुषैर्भट्टित्रकाण्यपि क्रियन्ते पारदारिकाः, तथा वास्यादिना तक्षयित्वा क्षारोदकसेचनानि च प्रापयन्तीति ॥२१॥ अपिच-

टीकार्थ – परस्त्री गमन करने वाले रागयुक्त कामी पुरुषों के हाथ पैर काट दिए जाते हैं । इस गाथा में अपि शब्द सम्भावना के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । अर्थात परस्त्री में मोहित, आतुर पुरुष के हाथ पैरों का काटा जाना सम्भावित है । अथवा पर स्त्री लोलुप पुरुषों की चमड़ी व माँस का छिन्न-भिन्न किया जाना सम्भावित है । स्त्री के पारिवारिक जनों द्वारा उत्प्रेरित राजपुरुष परस्त्रीगामियों को भट्टी आदि पर चढ़ाकर परितप्त करते हैं तथा वसूला आदि से उनकी देह को छीलकर उस पर क्षार युक्त जल छिड़कते हैं ।

❀ ❀ ❀

अदु कण्णणासच्छेदं, कंठच्छेदणं तितिक्खंती ।
इति इत्थ पावसंत्तता, नय बिंति पुणो न काहिंति ॥२२॥

छाया – अथ कर्णनासिकाच्छेदं कण्ठच्छेदनं तितिक्षन्तो ।
इत्यत्र पापसन्तप्ताः, न च ब्रुवते न पुनः करिष्यामः ॥

अनुवाद – पाप सन्तप्त-पापों से पीड़ित पुरुष अपने पाप के बदले अपने कर्ण, नासिका तथा कण्ठ का छेदन सहन करते हैं अर्थात् उनके कान, नाक और गला काट दिये जाते हैं । जिस पर भी वे मन में ऐसा निश्चय नहीं करते कि अब आगे से ऐसा पापपूर्ण कृत्य नहीं करेंगे ।

टीका – अथ कर्णनासिकाच्छेदं तथा कण्ठच्छेदनं च 'तितिक्षन्ते' स्वकृतदोषात्सहन्ते इति, एवं बहुविधां विडम्बनाम् 'अस्मिन्नेव' मानुषे च जन्मनि पापेन-पापकर्मणा संतप्ता नरकातिरिक्तां वेदनामभवन्तीति न च पुनरेतदेवम्भूतमनुष्ठानं न करिष्याम इति ब्रुवत इत्यवधारयन्तीतियावत्, तदैवमैहिकामुष्मिका दुःख विडम्बना अप्यङ्गीकुर्वन्ति न पुनस्तदकरणतया निवृत्तिं प्रतिपद्यन्त इति भावः ॥२२॥ किञ्चान्यत् -

टीकार्थ – पापाचारी पुरुष अपने द्वारा किये गये पापाचार के परिणामस्वरूप कान नाक व कण्ठ का छेदन, ऐसा कष्ट सहन करते हैं । वे पापी अपने पाप कर्म से संतप्त होकर नर्क के अतिरिक्त इस लोक में भी अनेक तरह की यातनायें भोगते हैं किन्तु वे अपने मन में ऐसा दृढ़ संकल्प नहीं कर पाते कि हम आगे ऐसा दुष्कर्म नहीं करेंगे इस प्रकार पापी मनुष्य इस लोक में ओर परलोक में दुःख तथा विडम्बना और दुर्गति स्वीकार करते हैं किन्तु पापकर्म-दुष्कर्म करने से निवृत्त नहीं होते।

❀ ❀ ❀

सुतमेवमेगेसिं, इत्थीवेदेति हु सुयक्खायं ।
एंवपि ता वदित्ताणं, अदुवा कम्मुणा अवकरेंति ॥२३॥

छाया – श्रुतमेतदेवमेकेषां, स्त्रीवेद इति हु स्वाख्यातम् ।
एवमपि ताउक्त्वा अथवा कर्मणा अपकुर्वन्ति ॥

अनुवाद – स्त्री वेग-स्त्रियों की प्रवृत्ति बहुत बुरी होती है ऐसा सुना है, लोग ऐसा कहते हैं । कामशास्त्र भी ऐसा कहता है । उन सबके कथनानुसार स्त्रियाँ कहने को तो ऐसा कह देती हैं कि हम ऐसा नहीं करेंगी किन्तु वे अपकार करती हैं ।

टीका – 'श्रुतम्' उपलब्धं गुर्वादेः सकाशाल्लोकतो वा 'एतद्' इति यत्पूर्वमाख्यातं, तद्यथा-दुर्विज्ञेयं स्त्रीणां चित्त दारूणः स्त्रीसम्बन्धविपाकः तथा चलस्वभावाःस्त्रियो दुष्परिचारा अदीर्घप्रेक्षिण्यः प्रकृत्या लघ्व्यो भवन्त्यात्मगर्विताश्च 'इति' एवमेकेषां स्वाख्यातं भवति लोकश्रुतिपरम्परया चिरन्तनाख्यायिकासु वा परिज्ञातं भवति स्त्रियं यथावस्थितस्वभावतस्तत्सम्बन्धविपाकतश्च वेदयति-ज्ञापयतीति स्त्रीवेदो-वैशिकादिकं स्त्रीस्वभावा विर्भावकं शास्त्रमिति, तदुक्तम्-

दुर्ग्राह्यं हृदयं यथैव वदनं यदूर्णातर्गतं, भावः पर्वतमार्गदुर्गविषमः स्त्रीणां न विज्ञायते ।
चितं पुष्करपत्रतोयतरलं नैकत्र सन्तिष्ठते नार्यो नाम विषाङ्कुरैरिव लता दोषैः सम वर्धिता ॥१॥''

अपिच-

''सुट्ठुविजियासु सुट्ठुवि पियासु सुट्ठुविय पियासु सुट्ठुविय लद्धपसरासु । अडईसु महिलियासु य वीसंभो नेव कायव्वो ॥१॥

छाया - सुष्ठु विजितासु सुष्ठ्वपि प्रीतासु सुष्ठ्पि च लब्धप्रसरासु । अटकीषु महिलासु च विश्वम्भो नैवकार्यः ॥

उब्भेउ अंगुली सो पुरिसो सयलंभि जीवलोयम्मि । कामं तएण नारी जेण न पत्ताइं दुक्खाइं ॥२॥

छाया - उर्ध्वयतु अंगुलिं स पुरुषः सकले जीवलोके । कामयता नारीवेंषमपि कुर्वन्ति नवरं यस्यालं चैव कामैः ॥

अह एयाणं पगई सव्वस्स करेंति वेमणस्साइं । तस्स ण करेंति णवरं जस्स अलं चेव कामेहिं ॥३॥''

किञ्च-अकार्यमहं न करिष्यामीत्येवमुक्त्वापि वाचा 'अदुव' त्ति तथापि कर्मणा-क्रियया 'अपकुर्वन्ति' इति विरूपमाचरन्ति, यदि वा अग्रतः प्रतिपद्यापि च शास्तुरेवापकुर्वन्तीति ॥२३॥ सूत्रकार एव तत्स्वभावाविष्करणायाह-

टीकार्थ – पहले जो कहा गया है वह सब हमने गुरुजन आदि से तथा लोगों से भी सुना है । स्त्रियों के चित्त को समझ पाना बहुत कठिन है । उनके साथ सम्पर्क रखने का फल भी बड़ा दारूण-कष्टप्रद होता है । स्त्रियों का स्वभाव चंचल होता है । उनकी सेवा कर पाना बहुत कठिन है । स्त्रियाँ दूरदर्शी नहीं होती हैं । उनकी प्रकृति बड़ी तुच्छ-नीची होती है, वे बड़ी गर्वान्वित होती है । ऐसा कई कहते हैं । लौकिक श्रुति परम्परा से भी यह सुना जाता है-लोगों को ऐसा कहते सुनते हैं । पुरानी कथाओं से भी ऐसा मालूम होता है । स्त्रियों के स्वभाव और संसर्ग का फल विवेचक कामशास्त्र में स्त्री वेग कहा जाता है । इस शास्त्र में स्त्रियों के स्वभाव का वर्णन है । इस शास्त्र में बतलाया गया है कि दर्पण पर पड़ा मुख का प्रतिबिम्ब दूरग्राही होता है उसे पकड़ पाना सम्भव नहीं होता । उसी तरह स्त्रियों के हृदय को भी पकड़ा नहीं जा सकता, समझा नहीं जा सकता । स्त्रियों का अभिप्राय पहाड़ के दुर्गम रास्ते के समान गहन होने के कारण जाना नहीं जा सकता । उनका चित्त कमल के पत्ते पर पड़ी हुई पानी की बूंद की तरह बहुत तरल-चंचल या अस्थिर होता है । इसलिए वह एक जगह नहीं टिकता । जैसे जहर के अंकुर से जहरीली बेल पैदा होती है उसी तरह औरतें दोषों के साथ पैदा हुई हैं । अच्छी तरह विजित-जीती हुई, स्वायत्त की हुई, अत्यन्त प्रसन्न या साफ सुथरी या अत्यन्त परिचित अटवी-वनभूमि तथा स्त्री में विश्वास नहीं करना चाहिए । इस सारी दुनिया में कोई आदमी क्या उंगली उठाकर यह कह सकता है कि उसने स्त्री की कामना कर यातनायें न भोगी हो । स्त्रियों की ऐसी प्रवृत्ति है कि वे केवल उस पुरुष का तिरस्कार नहीं करती हैं जिसे वे चाहती हैं । बाकी सबका तिरस्कार-अपमान कर देती हैं । स्त्रियाँ वचन द्वारा ऐसा आश्वासन देकर के भी वे अब आगे ऐसे कार्य नहीं करेगी, अपने वचन के विपरीत वैसा आचरण करती हैं अथवा शिक्षा देने वाले के सामने तो वे उसकी बात मान लेती हैं किन्तु बाद में उसी का अपकार-बुरा करती हैं ।

❀ ❀ ❀

अन्नं मणेण चिंतेति, वाया अन्नं च कम्मुणा अन्नं ।
तम्हा ण सद्दह भिक्खू, बहुमायाओ इत्थिओ णच्चा ॥२४॥

छाया – अन्यन्मनसा चिन्तयन्ति वाचा अन्यच्च कर्मणाऽन्यत् ।
तस्मान्न श्रद्दधीत भिक्षुः बहुमायाः स्त्रियोः ज्ञात्वा ॥

अनुवाद – स्त्रियां अपने मन में कुछ ओर ही सोचती है, तथा वचन द्वारा कुछ ओर ही बोलती है। कर्म द्वारा वे कुछ ओर ही करती है । इसलिए भिक्षु (मुनि) स्त्रियों को अत्यधिक मायायुक्त छलपूर्ण जानकर उनमें विश्वास न करें ।

टीका – पातालोदरगम्भीरेण मनसाऽन्यच्चिन्तयन्ति तथा श्रुतिमात्रपेशलया विपाकदारूणया वाचा अन्यद्भाषन्ते तथा 'कर्मणा' अनुष्ठानेनान्यन्निष्पादयन्ति, यत एवं बहुमायाः स्त्रिय इति, एवं ज्ञात्वा 'तस्मात्' तासां 'भिक्षुः' साधुः 'न श्रद्दधीत' तत्कृतया मायया आत्मानं प्रतारयेत्, दत्तावैशिकवत्, अत्र चैतत्कथानम्-दत्तावैशिक एकया गणिकया तैस्तैः प्रकारैः प्रतार्यमानोऽपि तां नेष्टवान्, ततस्तयोक्तम्-किं मया दौर्भाग्यकलङ्काङ्कितया जीवन्त्या प्रयोजनम् ?, अहं त्वत्परित्यक्ताऽग्निं प्रविशामि, ततोऽसाववोचत्-मायया इदमप्यस्ति वैशिके, तदाऽसौ पूर्वसुरङ्गामुखे काष्ठसमुदयं कृत्वा तं प्रज्वाल्य तत्रानुप्रविश्य सुरङ्गया गृहमागता, दत्तकोऽपि च इदमपि अस्ति वैशिके इत्येवमसौ विलपन्नपि वातिकैश्चितायां प्रक्षिप्तः, तथापि नासौ तासु श्रद्धानं कृतवान् एवमन्येनापि न श्रद्धातव्यमिति॥२४॥ किञ्चान्यत्-

टीकार्थ – सूत्रकार स्त्रियों का स्वभाव प्रकट करने हेतु प्रतिपादित करते हैं । स्त्रियाँ पाताल के उदर की ज्यों अपने अत्यन्त गम्भीर-गहरे मन में कुछ अन्य सोचती है और ऐसी वाणी द्वारा सम्भाषण करती है, ऐसा बोलती है जो सुनने में रूचि लगती है किन्तु परिणाम में दारूण व कष्टकर होती है । वे कर्म द्वारा कुछ ओर ही करती हैं, वे बहुत मायावती-छल प्रधान होती हैं । अतएव साधु को चाहिए कि वे उन पर विश्वास न करें । उनकी माया प्रवंचना द्वारा अपनी आत्मा को वंचित न होने दे । धोखे में न आने दे । जैसे दत्ता वैशक नामक पुरुष स्त्री की माया से धोखे में नहीं आये । एक कथानक है, दत्ता वैशक नामक पुरुष को प्रतारित करने के लिए-ठगने के लिए एक गणिका ने तरह-तरह के उपाय किये किन्तु उसने उसकी कामना नहीं की। उसके बाद गणिका ने कहा मैं दुर्भाग्य के कलंक से अंकित हूँ-बड़ी अभागिनी हूँ-बदकिस्मत हूँ अब जीवित रहने से मुझे क्या लाभ आपने मेरा परित्याग किया मुझे स्वीकार नहीं किया । अतः मैं अग्नि में प्रवेश करूंगी। यह सुनकर दत्तावैशक बोला कि स्त्रियाँ छलपूर्वक आग में भी प्रवेश कर सकती है । उसके बाद गणिका ने पहले से बनायी हुई सुरंग के द्वार पर काष्ठ राशि एकत्रित कर चिता बनवाकर उसमें प्रविष्ठ होकर आग लगवा ली व सुरंग द्वारा अपने घर पहुँच गयी इस पर दत्तक ने कहा कि स्त्रियाँ ऐसी छलना प्रवंचना भी करती हैं, वह ऐसा कह ही रहा था कि कुछ सिरफिरे धूर्त या पागल उसको विश्वास कराने के लिए उसे चित्ता पर फेंकने को उद्यत हुए । वह इस पर विलाप करने लगा, शोक करने लगा, पर वे सिरफिरे नहीं माने उसको चिता में डाल दिया फिर भी उसने स्त्रियों पर विश्वास नहीं किया इसी तरह ओरों को भी स्त्रियों पर विश्वास नहीं करना चाहिए ।

❀ ❀ ❀

जुवती समणं बूया विचित्तलंकार वत्थगाणि परिहित्ता ।
विरत्ता चरिस्सहं रुक्खं, धम्ममाइक्ख णे भयंतारो ॥२५॥

छाया – युवतिः श्रमणं ब्रूयाद् विचित्रालङ्कारवस्त्रकाणि परिधाय ।
विरता चरिष्याम्यहं रूक्षं धर्ममाचक्ष्व नः भयत्रातः ॥

अनुवाद – कोई नवयौवना तरह-तरह के आवरण आभूषण धारण कर साधु से कहे कि आप संसार के जन्म मरण के भय से रक्षा करने वाले है । मैं वैराग्ययुक्त होकर संयम का पालन करूंगी । आप मुझे धर्म सुनायें, धर्मोपदेश दे ।

टीका – 'युवति' अभिनव यौवना स्त्री विचित्रवस्त्रालङ्कारविभूषितशरीरा मायया श्रमणं ब्रूयात्, तद्यथा-विरता अहं गृहपाशात् न ममानुकूलो भर्ता मह्यं वाऽसौ न रोचते परित्यक्ता वाऽहं तेनेत्येतत् 'चरिष्यामि'

करिष्याम्यहं 'रूक्ष' मिति संयमं, मौनमिति वा क्वचित्पाठः तत्र मुनेरयं मौनः-संयमस्तमाचरिष्यामि, धर्ममाचक्ष्व 'णे' त्ति अस्माकं हे भयत्रातः !, यथाऽहमेवं दुखानां भाजनं न भवामि तथा धर्ममावेदयेति ॥२५॥ किञ्चान्यत्-

टीकार्थ – कोई नवयुवती तरह-तरह के वस्त्रों और गहनों से अपनी देह को सजाकर छल-पूर्वक साधु से कहे कि गृहस्थ जीवन से मुझे वैराग्य हो गया है, मेरा पति मेरे अनुकूल नहीं है-मेरे कहे अनुसार नहीं चलता अथवा मैं उसे पसन्द नहीं करती अथवा उसने मेरा परित्याग कर दिया है । अतः मैं संयम का पालन करूँगी। कहीं मौनम पाठ प्राप्त होता है । मुनि के भाव को मौन कहा जाता है उसका आशय संयम से है । वह स्त्री कहती है मैं मौन-संयम का धर्म का परिपालन करूंगी । इसलिए संसार के आवागमन के भय से छुटकारा दिलाने वाले साधु तुम मुझे धर्म सुनाओ, धर्म की शिक्षा दो जिनसे मैं सांसारिक दुःखों की भाजन-पात्र न बन सकूँ ।

❀ ❀ ❀

अदु साविया पवाएणं, अहमंसि साहम्मिणी य समणाणं ।
जतुकुंभे जहा उवज्जोई संवासे विदू विसीएज्जा ॥२६॥

छाया – अथ श्राविका प्रवादेन, अहमस्मि साधर्मिणी श्रमणानाम् ।
जतुकुम्भः यथा उपज्योति, संवासे विद्वान् विषीदेत ॥

अनुवाद – स्त्री श्राविका-श्रमणिकोपासिका होने का बहाना बनाकर यह कहकर कि मैं साधर्मिका-सद्धर्माचरणशीला हूँ, साधु के समीप आती है । जैसे अग्नि के पास रखा हुआ जलकुम्भ लाख का घड़ा गल जाता है उसी प्रकार स्त्री के संग से, सहचर्य से विद्वान पुरुष भी, विज्ञ साधु भी विषाद प्राप्त करता है, अपने पथ से विचलित हो जाता है ।

टीका – अथवानेन "प्रवादेन" व्याजेत साध्वन्तिकं योषिदुपसर्पेत्-यथाऽहं श्राविकेतिकृत्वा युष्माकं श्रमणानां साधर्मिणीत्येवं प्रपञ्चेन नेदीयसी भूत्वा कूलवालुकमिव साधुं धर्माद्भ्रंशयति, एतदुक्तं भवति-योषित्सान्निध्यं ब्रह्मचारिणो महतेऽनर्थाय, तथा चोक्तम् -

"तज्ज्ञानं, तच्च विज्ञानं, तत्तपः स च संयमः । सर्वमेकपदे भ्रष्टं, सर्वथा किमपि स्त्रियः ॥१॥"

अस्मिन्नेवार्थे दृष्टान्तमाह-यथा जातुषः कुम्भो 'ज्योतिषः' अग्नेः समीपे व्यवस्थित उपज्योतिर्वर्ती 'विलीयते' द्रवति, एवं योषितां 'संवासे' सान्निध्ये विद्वानपि आस्तां तावदितरो योऽपि विदितवेद्योऽसावपि धर्मानुष्ठानं प्रति 'विषीदेत' शीतलविहारी भवेदिति ॥२६॥ एवं तावत्स्त्रीसान्निध्ये दोषान् प्रदर्श्यतत्सं स्पर्शजं दोषं दर्शयितुमाह-

टीकार्थ – कोई स्त्री यह बहाना बनाकर कि मैं श्राविका हूँ-श्रावक व्रतों का पालन करती हूँ साधुओं कि साधर्मिका हूँ, उनके द्वारा उपदिष्ट धर्म का पालन करती हूँ, साधु के समीप आती है, ऐसा प्रपंच जाल रचकर, वह साधु के सम्पर्क में आकर कूलवालुकि ज्यों उसको धर्म से भ्रष्ट, पतित कर देती है । कहने का अभिप्राय यह है कि स्त्री का सान्निध्य सम्पर्क ब्रह्मचारियों के लिए घोर अनर्थ जनक है । कहा भी है स्त्रियों के सम्पर्क में आते ही ज्ञान-विज्ञान तप, संयम यह सभी एक ही साथ नष्ट हो जाते हैं । इस सम्बन्ध में सूत्रकार एक दृष्टान्त देकर बताते हैं-जैसे लाख का घड़ा आग के पास रखे जाने पर गल जाता है उसी तरह स्त्री के समवास या सानिध्य में रहने से विद्वान पुरुष भी जो जानने योग्य पदार्थों को जानता है, धर्माचरण में, संयम परिपालन में शिथिल विहारी हो जाता है- ढीला पड़ जाता है, दूसरे किसी की तो बात ही क्या ?

❀ ❀ ❀

जतुकुंभे जोइउवगूढे, आसुऽभितत्ते णासमुवयाइ ।
एवित्थियाहिं अणगारा, संवासेण णासमुवयंति ॥२७॥

छाया – जतुकुम्भे ज्योतिरूपगूढः आश्वभितप्तो नाशमुपयाति ।
एवं स्त्रीभिरनगाराः संवासेन नाशमुपयान्ति ॥

अनुवाद – ज्योति-अग्नि द्वारा उपगूढ-आलिंगित या स्पर्श किया हुआ लाख का घड़ा चारों ओर से अभितप्त होकर, खूब तप कर शीघ्र ही गल जाता है, उसी प्रकार अणगार-गृहत्यागी साधु स्त्रियों के संवास-सम्पर्क में आकर शीघ्र नाश प्राप्त करता है, विनष्ट हो जाता ।

टीका – यथा जातुषः कुम्भो 'ज्योतिषा' अग्निनोपगूढः-समालिङ्गितोऽभितप्तोऽग्निनाभिमुख्येन सन्तापितः क्षिप्रं 'नाशमुपयाति' द्रवीभूय विनश्यति, एवं स्त्रीभिः सार्धं 'संवसनेन' परिभोगेनानगारा नाशमुपयान्ति, सर्वथा जातुषकुम्भवत् व्रतकाठिन्यं परित्यज्य संयमशरीराद् भ्रश्यन्ति ॥२७॥ अपिच -

टीकार्थ – इस प्रकार स्त्री के सान्निध्य में होने वाले दोषों को प्रदर्शित कर अब उसके संस्पर्शज-संस्पर्श से पैदा होने वाले दोषों को प्रगट करने हेतु कहते हैं । जैसे अग्नि द्वारा समालिंगित-संस्पृष्ट लाख का घड़ा चारों ओर से अग्नि द्वारा संतापित किये जाने पर द्रव के रूप में परिवर्तित होकर-गलकर नष्ट हो जाता है । जिस प्रकार लाख का घड़ा तपकर अपना कडापन छोड़ देता है, वैसे ही स्त्री के संवास से साधु व्रत का काठिन्य-कठिन व्रतों का आचरण छोड़कर संयम रूपी शरीर से भ्रष्ट पतित हो जाते हैं ।

❀ ❀ ❀

कुव्वंति पावगं कम्मं पुट्ठा वेगेवमाहिंसु ।
नोऽहं करेमि पावंति, अंके साइणा ममेसत्ति ॥२८॥

छाया – कुर्वन्ति पापकं कर्म, पृष्टा एके एवमाहुः ।
नाऽहं करोमि पापमिति अङ्केशायिनी ममैषेति ।

अनुवाद – कई पतित पुरुष जो दुष्कर्म करते हैं, जब उनसे पूछा जाता है तो कहते हैं कि हम पाप नहीं करते, यह स्त्री तो मेरी गोद में सोती रही है अर्थात् बचपन में मेरी गोदी में लेटती रही है ।

टीका – तासु संसाराभिष्वङ्गिणीष्वभिषक्ता अवधीरितैहिकामुष्मिकापायाः ''पापंकर्म'' मैथुनासेवनादिकं 'कुर्वन्ति' विदधति, परिभ्रष्टाः सदनुष्ठानाद् 'एके' केचनोत्कटमोहा आचार्यादिना चोद्यमाना 'एवमाहुः' वक्ष्यमाण मुक्तवन्तः, तद्यथा-नाहमेवम्भूतकुलप्रसूतः एतद्कार्यं पापोपादानभूतंकरिष्यामि, ममैषा दुहितृकल्पा पूर्वम् अङ्केशायिनी आसीत् तदेषा पूर्वाभ्यासेनैव मय्येवमाचरति, न पुनरहं विदितसंसारस्वभावः प्राणात्ययेऽपि व्रतङ्गं विधास्य इति ॥२८॥ किञ्च -

टीकार्थ – *संसार में फंसाने वाली स्त्री में संसक्त तथा संयममूलक सत् अनुष्ठान से पतित तथा ऐहिक* और पारलौकिक पतन से अभीत-नहीं डरने वाले, भ्रष्ट पुरुष दुष्कर्म करते हैं वे उत्कट घोर मोह से आच्छादित हैं, जब आचार्य आदि उससे पूछते हैं तो वे ऐसा बतलाते हैं कि मैं ऐसे कुल में-नीच कुल में पैदा नहीं हुआ हूँ कि इस प्रकार के पापजनक अनुचित कार्य करूँ । यह स्त्री तो मेरी बेटी के समान है, यह बचपन में मेरी

गोद में सोती थी । इसलिए अपने पहले के अभ्यास के कारण ही मेरे साथ इस प्रकार आचरण करती है । मैं तो संसार के स्वरूप को-वस्तुतत्व को जानता हूँ, प्राणों का नाश होने पर भी व्रत भंग नहीं करूँगा ।

❀ ❀ ❀

बालस्स मंदयं बीयं, जं कडं अवजाणई भुज्जो ।
दुगुणं करेई से पावं, पूयण कामो विसन्नेसी ॥२९॥

छाया – बालस्य मान्द्यं द्वितीयं, यच्च कृतमपजानीते भूयः ।
द्विगुणं करोति स पापं पूजन कामो विषण्णैषी ॥

अनुवाद – उस बाल-अज्ञानी पुरुष की दूसरी मंदता-मूर्खता यह है कि वह पाप कर्म करता है पर उसे स्वीकार नहीं करता, इस प्रकार वह दुगुना पाप करता है । वह संसार में अपनी कीर्ति और प्रतिष्ठा की कामना करता है ऐसा कर वह मानो असंयम की इच्छा करता है-असंयम की दिशा में आगे बढ़ना चाहता है।

टीका – 'बालस्य' अज्ञस्य रागद्वेषाकुलितस्यापरमार्थदृश एतद् द्वितीयं 'मान्द्यं' अज्ञत्वम् एकं तावदकार्यकरणेन चतुर्थ व्रतभङ्गो द्वितीयं तदपलपतेनमृषावादः, तदेव दर्शयति-यत्कृतमसदाचरणं 'भूयः' पुनरपरेण चोद्यमानः 'अपजानीते' अपलपति-नैतन्मया कृतमिति, स एवम्भूत असदनुष्ठानेन तदपलपवेन च द्विगुणं पापं करोति, किमर्थमपलपतीत्याह-पूजनं-सत्कारपुरस्कारस्तत्-कामः तदभिलाषी मा मे लोके अवर्णवाद स्यादित्यकार्यं प्रच्छादयति विषण्णः-असंयमस्तमेषितुं शीलमस्येति विषण्णैषी ॥२९॥ किञ्चान्यत् -

टीकार्थ – जो पुरुष राग द्वेष से आकुल है, अज्ञ-ज्ञान रहित है, अपरमार्थदर्शी परमार्थ या मोक्ष को नहीं देखता, उसकी दूसरी मूर्खता यह है कि एक ओर वह दुष्कार्य कर चतुर्थव्रत ब्रह्मचर्य का भंग करता है, दूसरी ओर वैसा करना स्वीकार नहीं करता है, वह मिथ्या भाषण करता है कि मैंने ऐसा नहीं किया । सूत्रकार इस का दिग्दर्शन कराते हुए कहते हैं कि उस अज्ञानी पुरुष ने जो असत्-दुषित कार्य किया, उसके सम्बन्ध में पूछे जाने पर वह अपलाप करता है, इन्कार करता है कि मैंने यह कुकृत्य नहीं किया इस प्रकार वह कुत्सित कर्म करने तथा उसे स्वीकार न करने के रूप में द्विगुणित पाप करता है, वह पाप करने पर भी फिर अस्वीकार क्यों करता है ? इसे स्पष्ट करते हुए सूत्रकार बतलाते हैं कि-संसार में अपनी पूजा-प्रतिष्ठा, कीर्ति की चाह करता है, वह सोचता है कि संसार में मेरी निन्दा अपकीर्ति न हो, इसलिए वह अपने कलुषित कार्य का प्रच्छादन-छिपाव करना चाहता है, वैसा करने वाला असंयम की इच्छा करता है ।

❀ ❀ ❀

संलोकणिज्जमणगारं, आयगयं निमंतणेणाहंसु ।
वत्थं च ताइ ! पायं वा, अन्नं पाणगंपडिग्गाहे ॥३०॥

छाया – संलोकनीयमनगार मात्मगतं निमन्त्रणेनाहुः ।
वस्त्रञ्च त्रायिन् पात्रं वा अन्नं पानकं प्रतिगृहाण ॥

अनुवाद – जो साधु संलोकनीय-देखने में सुन्दर लगता है, आत्मज्ञ-ज्ञानी है, स्त्रियाँ उसे अपनी ओर आकृष्ट करने हेतु आमंत्रित करने हेतु कहती हैं, संसार सागर से त्राण देने वाले-रक्षा करने वाले मुनिवर्य ! आप मेरे यहाँ से वस्त्र, पात्र, आहार, पेय पदार्थ ग्रहण करें, स्वीकार करें ।

टीका – संलोकनीयं-संदर्शनीयमाकृतिमन्तं कञ्चन 'अनगारं' साधुमात्मनि गतमात्मगतम् आत्मज्ञमित्यर्थः तदेवम्भूतं काश्चन स्वैरिण्यो 'निमन्त्रणेन' निमन्त्रणपुरःसरम् 'आहुः' उक्तवत्यः, तद्यथा-हे त्रायिन् ! साधोवस्त्रं पात्रमन्यद्वा पानादिकं येन केनचिद्भवतः प्रयोजनं तदहं भवते सर्वंददामीति मद्गृहमागत्य प्रतिगृहाण त्वमिति ॥३०॥ उपसंहारार्थमाह -

टीकार्थ – देखने में जो सुन्दर और उत्तम आकृति के प्रतीत होते हैं, ऐसे आत्मज्ञानी साधु को कई स्वैरिणी-व्यभिचारिणी स्त्रियाँ आमंत्रित करती हुई कहती हैं कि हे त्राण करने वाले ! रक्षा करने वाले मुनिवर ! वस्त्र, पात्र तथा पीने योग्य वस्तुएं आदि जो आपको चाहिए, वे सब मैं आपको दूंगी आप मेरे घर आकर उन्हें ग्रहण करें ।

❀ ❀ ❀

णीवार मेवं बुज्झेण, णो इच्छे अगारमागंतुं ।
बद्धे विसयपासेहिं, मोहमावज्जइ पुणो मंदे ॥३१॥त्तिबेमि॥

छाया – नीवारमेव बुध्येत, नेच्छेदगारमान्तुम् ।
बद्धो विषयपाशेन मोह मापद्यते पुनर्मन्दः ॥ इति ब्रवीमि ॥

अनुवाद – पूर्वोक्त रूप में दिए गए प्रलोभनों को साधु सूअर को फंसाने हेतु जाल में फैलाये गए चावल के दानों के समान समझे, वह वापस गृहस्थ में आने की इच्छा न करे । विषय रूपी फंदे में बंधा हुआ अज्ञानी पुरुष मोह को प्राप्त हो जाता है-मोह मूढ़ बन जाता है, ऐसा मैं कहता हूँ ।

टीका – एतघोषितां वस्त्रादिकमामन्त्रणं नीवारकल्पं 'बुध्येत' जानीयात्, यथा हि नीवारेण केनचिद्भक्ष्यविशेषेण सूकरादिर्वंशमानीयते, एवमसावपितेनामन्त्रणेन वशमानीयते, अतस्तन्नेच्छेद् 'अगारं' गृहं गन्तुं, यदिवा-गृहमेवावर्तो गृहावर्तो गृहभ्रमस्तं 'नेच्छेत्' नाभिलषेत्, किमिति ?, यतो 'बद्धो' वशीकृतो विषया एव शब्दादयः 'पाशा' रज्जूबन्धनानि तैर्बद्धः-परवशीकृतः स्नेह पाशानपत्रोटयितुमसमर्थः सन् 'मोहं' चित्तव्याकुलत्वमागच्छति-किंकर्त्तव्यतामूढो भवति पौनः पुन्येन 'मन्दः' अज्ञो जड इतिः परिसमाप्तौ । ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥३१॥ इति स्त्रीपरिज्ञायां प्रथमोद्देशकः समाप्तः ॥४-१॥

टीकार्थ – अब इस उद्देशक का उपसंहार करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि स्त्रियों द्वारा वस्त्र पात्र आदि देने के रूप में जो आमन्त्रण किया जाता है, साधु उसे चावल के दाने के समान समझे, जैसे चावल के दानों को बिखेर कर सूअर आदि को वश में किया जाता है, पकड़ा जाता है, उसी प्रकार स्त्री भी वस्त्र पात्र आदि देने हेतु आमंत्रित कर साधु को अपने अधीन बना लेती है । इसलिए साधु उस स्त्री के घर जाने की इच्छा न करे अथवा घर रूपी आवर्त्त में-जल के भँवर में गिरने का अभिलाषी न बने । शब्दादि विषय, पाश या बंधन के समान है, जिनसे बद्ध हुआ अज्ञानी जीव स्नेह के बंधन को तोड़ पाने में सक्षम नहीं होता, वह पुनः पुनः चिन्ता से व्याकुल होता है, किंकर्त्तव्यविमूढ़ बन जाता है । उसे क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए, इसका ज्ञान नहीं रहता । यहाँ इति शब्द समाप्ति के अर्थ में है, ब्रवीमि-बोलता हूँ यह पहले की ज्यों योजनीय है ।

स्त्री परिज्ञा का पहला उद्देशक समाप्त हुआ ।

❀ ❀ ❀

卐 卐 卐

द्वितीयः उद्देशकः

उक्तः प्रथमोद्देशकः, साम्प्रतं द्वितीयः समारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः-इहानन्तरोद्देशके स्त्री संस्तवाच्चारित्रस्खलनमुक्तं, स्खलितशीलस्य या अवस्था इहैव प्रादुर्भवति तत्कृतकर्मबन्धश्चतदिह प्रतिपाद्यते, इत्यनेन सम्बन्धेन नायातस्यास्योद्देशकस्यादि सूत्रम् -

पहले उद्देशक का वर्णन किया जा चुका है । अब दूसरा उद्देशक प्रारम्भ किया जा रहा है । इसका सम्बन्ध इस प्रकार है-पूर्व उद्देशक में स्त्री के संस्तव-परिचय एवं सम्पर्क से चरित्र स्खलन का विवेचन किया गया । जो शील से स्खलित-भ्रष्ट या पतित हो जाता है, ऐसे पुरुष की इस लोक में जो अवस्था होती है, जो कर्मबंध होता है, इस उद्देशक में उसका वर्णन किया जा रहा है । इस सम्बन्ध से आगत इस उद्देशक का यह आदि सूत्र है -

ओए सया ण रज्जेज्जा, भोग कामी पुणो विरज्जेज्जा ।
भोगे समणाणं सुणेह, जह भुंजंति भिक्खुणो एगे ॥१॥

छाया – ओजः सदा न रज्येत, भोगकामी पुनर्विरज्येत ।
भोगे श्रमणानां शृणुत, यथा भुञ्जन्ति भिक्षव एके ॥

अनुवाद – ओजस्वी-आत्म पराक्रम के धनी साधु को भोग वासना में अपना चित्त कभी नहीं लगाना चाहिए, यदि देवयोगवश वैसा हो जाय तो उसे ज्ञान के सहारे अपने आपको दूर कर लेना चाहिए । भोगोपभोग करना साधु के लिए अनुचित है, फिर भी कुछ साधु ऐसे होते हैं, जो भोग भोगते हैं, यह सुने ।

टीका – अस्य चानन्तरपरस्परसूत्रसम्बन्धो वक्तव्यः, स चायं सम्बन्धो-विषयपाशैर्मोहमागच्छति यतोऽत 'ओज एको रागद्वेषवियुतः स्त्रीषु रागं न कुर्यात्, परम्परसूत्रसम्बन्धस्तु संलोकनीयमनगारं दृष्ट्वा च यदि काचिद्योषित् साधुमशनादिना नीवारकल्पेन प्रतारयेत् तत्रौजः सन्न रज्येतेति तत्रौजो द्रव्यतः परमाणुः भावतस्तु रागद्वेषवियुतः, स्त्रीषुरागादिहैव वक्ष्यमाणनीत्या नानाविधा विडम्बना भवन्ति तत्कृतश्च कर्मबन्धः तद्विपाकाच्चामुत्र नरकादौ तीव्रा वेदना भवन्ति यतोऽत एतन्मत्वा भावौजः सन् 'सदा' सर्वकाले तास्वनर्थखनिषु स्त्रीषु न रज्येत, तथा तद्यपि मोहोदयात् भोगाभिलाषी भवेत् तथाप्यैहिकामुष्मिकापायान् परिगणय्य पुनस्ताभ्यो विरज्येत, एतदुक्तं भवति-कर्मोदयात्प्रवृत्तमपि चितं हेयोपोदयपर्यालोचयना ज्ञानाङ्कुशेन निवर्तयेदिति, तथा श्राम्यन्ति-तपसा खिद्यन्तीति श्रमणास्तेषामपि भोगा इत्येतच्छृणुत यूयं, एतदुक्तं भवति-गृहस्थानामपि भोग विडम्बनाप्राया यतीनां तु भोगा इत्येतदेव विडम्बनाप्रायं, किं पुनस्तत्कृतावस्थाः तथा चोक्तम्-'मुण्डं शिर' इत्यादि पूर्ववत्, तथा यथा च भोगान् 'एके' अपुष्टधर्माणो 'भिक्षवो' यतयो विडम्बनाप्रायान् भुञ्जते तथोद्देशकसूत्रेणैव वक्ष्यमाणेनोत्तरत्र महत्ता प्रबन्धेन दर्शयिष्यति अन्यैरप्युक्तम्-

"कृशः काणः खञ्जः श्रवणरहितः पुच्छविकलः, क्षुधाक्षामो जीर्णः पिठरककपालार्दितगलः । व्रणैः पूयक्लिन्नैः कृमिकुलशतैरावृतवपुः, शुनीमन्वेति श्वा हतमपि च हन्त्येव मदनः ॥१॥"

इत्यादि, ॥१॥ भोगिनो विडम्बनां दर्शयितुमाह -

टीकार्थ – यह सूत्र आगे पीछे के सूत्रों से सम्बद्ध है, वह संबंध इस प्रकार है-सांसारिक काम भोग रूपी पाश से मनुष्य मोहमूढ़ बनता है, अतएव रागद्वेष विवर्जित साधु स्त्रियों में राग न करे, आसक्त न बने,

परम्परित सूत्र के साथ इसका यह संबंध है-देखने में प्रतीत होने वाले किसी साधु को कोई स्त्री पशु को लुभाने को फैलाये गए चांवल के दानों के समान भोजन आदि देकर प्रतारित करना चाहे तो साधु राग द्वेष से ऊँचा उठकर उसमें अनुरक्त न बने । औज दो प्रकार का है-द्रव्य औज और भाव औज । द्रव्य औज परमाणु रूप है, तथा भाव औज राग द्वेष विवर्जित पुरुष रूप है । स्त्री में रागासक्त रहने से इसी लोक में तरह-तरह से कष्ट उठाने पड़ते हैं, जिनका आगे वर्णन होगा । उस राग से कर्मबन्ध होता है, तथा कर्मबंध के विपाक से-फल निष्पत्ति के रूप में नरक आदि में घोर यातनाएं भोगनी पड़ती है, अतः साधु को चाहिए कि वह इसे समझकर भाव औजयुक्त होकर-रागद्वेष रहित होकर सर्वदा अनर्थ-दुःख की खान स्त्रियों में वह अनुरक्त न बने । यदि कभी मोहोदय के कारण साधु में भोग की उत्कण्ठा उत्पन्न हो तो वह स्त्री संसर्ग से उत्पन्न होने वाले ऐहिक-इस लोक के तथा पारलौकिक-परलोक के दुःखों का विचार कर स्त्रियों से विरत रहे, दूर रहे। कहने का अभिप्राय यह है कि कर्मोदय के परिणामस्वरूप यदि चित्त स्त्री में संसक्त हो जाय तो हेय और उपादेय पदार्थों के स्वरूप पर चिंतन कर साधु ज्ञान रूपी अंकुश द्वारा उसको वहाँ से हटा दे । जो तपश्चरण द्वारा श्रान्त होता है, खिन्न होता है, उसे श्रमण कहा जाता है । इस कोटि के श्रमण भी भोगों में पड़ जाते हैं । यह सुने । कहने का अभिप्राय यह है कि गृहस्थों के लिए भी भोग विडम्बनामय है, संयतियों या साधुओं के लिए तो कहना ही क्या ? उनके लिए तो भोग अत्यन्त विडम्बना मूलक है । भोग भोगने में जैसी अवस्था होती है, उसका तो कहना ही क्या ? 'मुण्डं शिरः' इत्यादि पद द्वारा यह वर्णन पहले ही आ ही चुका है। भोग विडम्बना मूलक है किन्तु फिर भी शिथिल-आत्मबलविहीन साधु जिस प्रकार उन्हें भोगते हैं, इस उद्देशक के सूत्रों द्वारा विस्तार से दिखलाया जायेगा । कहा है-एक कुत्ता जो शरीर से दुबला है, जिसकी एक आंख फूटी हुई है, पैर लंगडाता है, कान कटा हुआ है, पूंछ भी कटी हुई है, भूख से क्षीण है, जीर्ण है, गले में लगे हंडिया के गलन ठींकरे से पीडित है, घावों से मवाद निकल रहा है, उन पर सैंकड़ों कीड़े बिल-बिला रहे हैं, कुत्तियां के पीछे दौड़ता है, कामदेव मानों हत-मरे हुए को भी मारता है ।

भोगासक्त जनों की विडम्बना का दिग्दर्शन कराते हुए कहते हैं ।

❀ ❀ ❀

अह तं तु भेदमावन्नं, मुच्छितं भिक्खुं काममतिवट्टं ।
पलिभिंदिया णं तो पच्छा, पादुद्धट्टु मुद्धि पहणंति ॥२॥

छाया – अथ तन्तु भदमापन्नं मूर्च्छितं भिक्षुं काममतिवर्तम् ।
परिभिद्य तत्पश्चात् पादावुध्धृत्य मूर्ध्नि प्रघ्नन्ति ॥

अनुवाद – साधु को, संयम से पतित नारी में आसक्त, काम भोग में सम्मूर्च्छित जानकर स्त्री उसके मस्तक पर अपने पैर से प्रहार करती है-सिर पर लात मारती है ।

टीका – 'अथे' त्यानन्तर्यार्थः तुशब्दो विशेषणार्थः, स्त्रीसंस्तवादनन्तरं 'भिक्षुं' साधुं 'भेदं' शील भेदं चारित्रस्खलनम् आपन्नं प्राप्तं सन्तं स्त्रीषु 'मूर्च्छित' गृद्धमध्युपन्नं, तमेव विशिनष्टि-कामेषु इच्छामदनरूपेषु मतेः-बुद्धे-र्मनसो वा वर्त्तो-वर्तनं प्रवृत्तिर्यस्यासौ काममतिवर्तः कामाभिलाषुक इत्यर्थः, तमेवम्भूतं 'परिभिद्य मदभ्युपगतः श्वेतकृष्णप्रतिपत्ता मद्वशकइत्येवं परिज्ञाय यदिवा-परिभिद्य-परिसार्यात्मकृतं तत्कृतं चोच्चार्येति, तद्यथा-मया तव लुञ्चित शिरसो जल्लमला विलतया दुर्गन्धस्य जुगुप्सनीयकक्षावक्षोबस्तिस्थानस्य कुलशीलमर्यादा

लज्जा धर्मादीन् परित्यज्यात्मा दत्तः त्वं पुनरकिञ्चित्करः इत्यादि भणित्वा, प्रकुपितायाः तस्या असौ विषयमूर्च्छितस्तत्प्रत्यायनार्थं पादयोर्निपतति, तदुक्तम्-

व्याभिन्नकेसरबृहच्छिरसश्चसिंहा, नागाश्च दान मदराजिकृशैः कपोलैः । मेधाविनश्च पुरुषाः समरे च शूराः स्त्रीसन्निधौ परमकापुरुषा भवन्ति ॥१॥

ततो विषयेष्वेकान्तेन मूर्च्छित इति परिज्ञानात् पश्चात् 'पादं' निजवामचरणम् ''उद्धृत्य'' उत्क्षिप्य 'मूर्ध्नि' शिरसि 'प्रघ्नन्ति' ताऽयन्ति, एवं विडम्बना प्रापयन्तीति ॥२॥ अन्यच्च -

टीकार्थ – सूत्रकार काम भोग में संलग्न पुरुष की बुरी दशा का दिग्दर्शन कराने हेतु कहते हैं -

यहाँ 'अथ' शब्द अनन्तर के अर्थ में है 'तु' शब्द विशेषणार्थक है । स्त्री के साथ संसर्ग हो जाने से संयम से पतित, स्त्री में आसक्त, काम वासना एवं भोग में संलग्नचेत्ता साधु को जब स्त्री जान जाती है, समझ लेती है कि मैं जिसे काला या सफेद जैसा कहूँगी, यह भी वैसा ही कहेगा, क्यों कि यह मेरे अधीन है, अथवा वह अपने कार्य का साधु पर किया गया बड़ा आभार बताती हुई तथा उसके कार्य को नगण्य बताती हुई, उसे कहती है कि तुम लुंचित मस्तक हो, तुम्हारी कांख, छाती तथा वस्तिस्थान दुर्गन्ध युक्त है, फिर भी मैंने अपना कुल, शील, प्रतिष्ठा, लज्जा, धर्म आदि सबका त्याग कर अपनी देह तुम्हें सौंपी किन्तु तुम मेरे लिए कुछ भी नहीं करते । वह भोगासक्त काम मूर्च्छित साधु जब उसको यों क्रोध पूर्ण शब्दों में बोलते हुए देखता है, तो उसे प्रसन्न करने हेतु उसके पैरों पर गिर पड़ता है । कहा है-सघन केसर-गले के केशों में आछन्न विशाल, मस्तक युक्त शेर, मदजल से संसिक्त कपोल युक्त हाथी, मेधावी-बुद्धिशील पुरुष तथा युद्ध में शौर्यशील जन का जब स्त्री से सामना होता है, तो अत्यन्त कायर-भीरू हो जाते हैं । जब स्त्री यह समझ लेती है कि यह साधु विषयों में एकान्त रूपेण मूर्च्छित है, तब वह अपना बायाँ पैर उठाकर उसके मस्तक पर प्रहार करती है-लात मारती है । यों वह उस साधु की विडम्बना या दुर्दशा करती है ।

❀ ❀ ❀

जइ केसिआ णं मए भिक्खू, णो विहरे सह णमित्थीए ।
केसाणविह लुंचिस्सं, नन्नत्थ मए चरिज्जासि ॥३॥

छाया – यदि केशिकया मया भिक्षो ! नो विहरेः सह स्त्रिया ।
केशानिह लुंचिष्यामि तान्यत्र मया चरेः ॥

अनुवाद – स्त्री साधु से कहती है कि मेरे मस्तक पर घने केश है । केशवाली के साथ विहार करने में यदि तुझे शर्म आती है तो मैं इसी स्थान पर अपने केशों का लुंचन कर डालूँगी, किन्तु मेरे सिवाय तुम्हें और किसी के यहाँ नहीं जाना है -

टीका – केशा विद्यन्ते यस्याः सा केशिका ण मिति वाक्यालङ्कारे, हे भिक्षो ! यदि मया 'स्त्रिया' भार्यया केशवत्या सह नो विहरेरक्त्वं, सकेशया स्त्रिया भोगान् भुञ्जानो व्रीडां यदि वहसि ततः केशानप्यहं त्वत्सङ्गमाकाङ्क्षिणी 'लुञ्चिष्यामि' अपनेष्यामि, आस्तां तावदलङ्कारादिकमित्यपिशब्दार्थः, अस्य चोपलक्षणार्थत्वाद्न्यदपि यद् दुष्करं विदेशगमनादिकं तत्सर्वमहं करिष्यते, त्वं पुनर्मया रहितो नान्यत्र चरेः, इदमुक्तं भवति-मया रहितेन भवता क्षणमपि न स्थातव्यम्, एतावदेवाहं भवन्तं प्रार्थयामि, अहयपि यद्भवानदिशति तत्सर्वं विधास्य इति ॥३॥ इत्येवमपिपेशलैर्विश्रम्भजननैरापातभद्रकैरालापैर्विश्रम्भयित्वा यत्कुर्वन्ति तद्दर्शयितुमाह -

टीकार्थ – जिसके केश होते हैं, उसे केशिका कहा जाता है । इस गाथा में 'णं' शब्द वाक्यालंकार के अर्थ में आया है । स्त्री कहती है कि हे मुनि ! यदि मेरे साथ तुम विहरण नहीं कर सकते, अर्थात् केशवाली औरत के साथ भोग भोगने में उन्हें शर्म आती है, तो मैं जो तुम्हारे संग-संसर्ग की कामना करती हूँ । अपने केशों का लुंचन कर लूंगी-उन्हें उखाड़ डालूंगी, फिर दूसरे गहनों की तो बात ही क्या है ? यही अपि शब्द का तात्पर्य है । यहाँ केशों का लुंचन तो उपलक्षण मात्र है तुम्हारे साथ विदेश गमन आदि और भी जो दुष्कर कार्य हैं, वे सब मैं सहूँगी, किन्तु तुम्हें मेरे सिवाय ओर कहीं पर नहीं जाना है । कहने का तात्पर्य यह है कि मेरे बिना तुम पलभर भी न रहो, मेरी तुम्हें यही अभ्यर्थना है, तुम जो भी मुझे आदेश दोगे, वह सब मैं करूँगी ।

इस प्रकार अत्यन्त कोमल, विश्वासोत्पादक, आपात भद्र-प्रारंभ में अच्छे लगने वाले, आलाप संलापों से विश्वास पैदा कर स्त्रियाँ जो करती हैं, उसका दिग्दर्शन कराने हेतु कहते हैं ।

❀ ❀ ❀

अह णं से होई उवलद्धो, तो पेसंति तहा भूएहिं ।
अलाउच्छेदं पेहेहि, वग्गुफलाइं आहाराहित्ति ॥४॥

छाया – अथ स भवत्युपलब्ध स्ततः प्रेषयन्ति तथा भूतैः ।
अलावूच्छेदं प्रेक्षस्व वल्गुफलान्याहर इति ॥

अनुवाद – जब वह साधु उपलब्ध हो जाता है-स्त्री के वश में हो जाता है, तब वह नौकर की ज्यों काम करने के लिए उसे प्रेषित करती है । वह कहती है-लौकी आदि काटने के लिए छुरी लाओ मेरे लिए छाँट-छाँटकर उत्तम फल लाओ ।

टीका – 'अथे'त्यानन्तर्यार्थः, णमिति वाक्यालङ्कारे, विश्रम्भालापानन्तरं यदाऽसौ साधुर्मदनुरक्त इत्येवम् 'उपलब्धो' भवति-आकारैरिङ्गितैश्चेष्टया वा मद्वशग इत्येवं परिज्ञातो भवति ताभिः स्त्रीभिः, ततः तदभिप्राय परिज्ञानादुत्तरकालं 'तथाभूतैः' कर्मकरव्यापारैरपशदैः 'प्रेषयन्ति' नियोजयन्ति यदिवा-तथाभूतैरितिलिङ्गस्थयोग्येर्त्यापारैः प्रेषयन्ति, तानेव दर्शयितुमाह-'अलाउ'त्ति अलाबु-तुम्बं छिद्यते येन तदलाबुच्छेदं-पिप्पलकादिशस्त्रं 'पेहाहि' त्ति प्रेक्षस्व निरूपय लभस्वेति, येन पिप्पलकादिना लब्धेन पात्रादेर्मुखादि क्रियत इति, तथा 'वल्गूनि' शोभनानि 'फलानि' नालिकेरादीनि अलाबुकानि वा त्वम् 'आहर' आनयेति, यदि वा-वाक्फलानि च धर्मकथारूपाया व्याकरणादिव्याख्यानरूपाया वा वाचो यानिफलानि-वस्त्रादिलाभरूपाणि तान्याहरेति ॥४॥ अपिच –

टीकार्थ – इस गाथा में 'अथ' शब्द अनन्तर के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, 'णं' शब्द वाक्यालंकार के रूप में है । विश्रम्भालाप-विश्वास उत्पन्न करने वाले, आलाप संलाप के बाद जब स्त्रियाँ साधु की आकृति भाव मुद्रा इंगित चेष्टा आदि से यह जान लेती है कि यह मेरे वश में आ गया है, मेरे अधीन है, तब वे जो छल में निपुण होती है, साधु को नौकर के समान नीचे से नीचे काम में नियुक्त करती है, वैसे कार्यों का दिग्दर्शन कराने हेतु सूत्रकार कहते हैं-जिससे तुम्बा या लौकी काटी जाती है, उसे अलाबुच्छेद कहते हैं । वह छुरी आदि के अर्थ में है, वह औरत उस साधु को कहती है-कि छुरी आदि शस्त्र लाओ, जिससे पात्र का मुख आदि ठीक किया जाय, नारियल आदि सुदूर फल तथा लौकी आदि सब्जियाँ लाओ, अथवा धर्मकथा

तथा व्याकरण आदि के व्याख्यान शिक्षण रूप वाणी का फल अर्थात् इन द्वारा धन अर्जित कर वस्त्र आदि लाओ ।

❀ ❀ ❀

दारूणि सागपागाए, पज्जोओ वा भविस्सती राओ ।
पाताणि य मे रयावेहि, एहि ता मे पिट्ठ ओमद्दे ॥५॥

छाया – दारूणि शाकपाकाय, प्रद्योतो वा भविष्यति रात्रौ ।
पात्राणि च मे रञ्जय एहि तावन्मे पृष्ठं मर्दय ॥

अनुवाद – हे मुनि ! शाक पकाने के लिए तथा रात्रि में रोशनी करने के लिए काष्ठ लाओ। मेरे इन वर्तनों को रंगो, अथवा मेरे पैरों के महावर आदि लगाओ । आओ मेरी पीठ पर मालिश करो ।

टीका – तथा 'दारुणि' काष्ठानि शाकं टक्कवस्तुलादिकं पत्रशाकंतत्पाकार्थं, क्वचिद् अन्नपाकायेति पाठः, तत्रान्नम्-ओदनादिकमिति, 'रात्रौ' रजन्यां प्रद्योतो वा भविष्यतीतिकृत्वा, अतो अटवीतस्तमाहरेति, तथा-[ग्रन्थाग्रम् ३५००] 'पात्राणि' पतद्ग्रहादीनि 'रञ्जय' लेपय, येन सुखेनैव भिक्षाटनमहं करोमि, यदि वा-पादावलक्तकादिना रञ्जयेति, तथा परित्यज्यापरं कर्म तावद् 'एहि' आगच्छ 'मे' मम पृष्ठम् उत्-प्राबल्येन मर्दय बाधते ममाङ्गमुपविष्टाया अतः संबाधय, पुनरपरं कार्यशेषं करिष्यसीति ॥५॥ किञ्च –

टीकार्थ – हे साधु ! टक्क, वस्तुल-बथुआ आदि पत्तियों के साग पकाने के लिए लकड़ी लाओ। कहीं 'अन्नपाकाय' ऐसा पाठ है तदनुसार अन्न चांवल आदि पकाने के लिए लकड़ी लाने का अभिप्राय है। अथवा रात में रोशनी करने हेतु जंगल से लकड़ी लाओ । मेरे वर्तनों को रंग दो जिन्हें लेकर मैं प्रसन्नता पूर्वक भिक्षा हेतु जाऊँगी अथवा मेरे पैरों पर महावर का लेप करो, उन्हें रंजित करो, दूसरे कार्य छोड़कर यहाँ आओ, मेरी पीठ पर अच्छी तरह मालिश करो । बैठे-बैठे मेरे अंगों में दर्द हो गया है । इसलिए उन्हें दबाओ, और काम फिर करना ।

❀ ❀ ❀

वत्थाणि य मे पडिलेहेहि, अन्न पाणं च आहाराहित्ति ।
गंधं च रओहरणं च, कासवगं च मे समणु जाणाहि ॥६॥

छाया – वस्त्राणि च मे प्रत्युपेक्षस्व, अन्नं पानञ्च आहर इति ।
गन्धञ्च रजोहरणञ्च काश्यपञ्च मे समनुजानीहि ॥

अनुवाद – हे साधो ! मेरे वस्त्रों का पडिलेहन-प्रतिलेखन करो, अथवा मेरे वस्त्र पुराने हो गए हैं, मुझे नए लाकर दो । मुझे भोजन और पानी लाकर दो । सुगन्धित पदार्थ और रजोहरण लाकर दो, मेरे लिए नाई को बुलाओ, और उससे मेरे बाल कटवाओ ।

टीका – 'वस्त्राणि च' अम्बराणि 'मे' मम जीर्णानि वर्तन्तेऽतः 'प्रत्युपेक्षस्व' अन्यानिनिरूपय यदिवा-मलिनानि रजकस्य समर्पय, मदुपधि वा मूषिकादिभयात्प्रत्युपेक्षस्वेति, तथा अन्नपानादिकम् 'आहार' आनयेति, तथा 'गन्धं' कोष्ठपुटादिकं ग्रन्थं वाहिरण्यं तथा शोभनं रजोहरणं तथा लोचं कारयितुमहं-मशक्तेत्यतः 'काश्यपं' नापितं मच्छिरोमुण्डनाय श्रमणानुजानीहि येनाहं वृहत्केशानपनयामीति ॥६॥ किञ्चान्यत्-

टीकार्थ – मेरे कपड़े जीर्ण-पुराने हो गए हैं, इसलिए मुझे दूसरे कपड़े लाकर दो, अथवा वे मलिन हो गए हैं, उन्हें धोने हेतु धोबी को दो, अथवा मेरी उपधि-वस्त्र आदि उपकरणों को चूहे आदि के भय से बचाकर सुरक्षित रखो । मेरे लिए भोजन पानी आदि लाओ । मेरे लिए कोष्टपुट आदि सुगन्धित द्रव्य तथा स्वर्ण तथा सुन्दर रजोहरण लाओ । मैं अपने केशों का लुंचन करने में अशक्त हूँ । इसलिए नाई को बुलाओ, तथा मुझे केश कटवाने की अनुज्ञा दो जिससे मैं अपने बड़े केशों को कटवा लूँ ।

❀ ❀ ❀

अदु अंजणिं अलंकारं, कुक्कयय मे पयच्छाहि ।
लोद्धं च लोद्धं कुसुमं च, वेणुपलासियं च गुलियं च ॥७॥

छाया – **अथाञ्जनिकामलङ्कारं, खुंखुणकं मे प्रयच्छ ।**
लोध्रञ्च लोध्रकुसुमञ्च वेणुपलाशिकाञ्च गुलिकाञ्च ॥

अनुवाद – जो साधु नारी में आसक्त होता है उसे वह कहती है कि मुझको अंजन, आंखों में डालने के काजल की डिबिया और घुंघरू युक्त वीणा लाकर दो लोध्र का फल और पुष्प एवं बाँस की चिकनी लकड़ी बांसुरी और पुष्टिप्रद गोलियाँ भी लाकर दो ।

टीका – अथ शब्दोऽधिकारान्तरप्रदर्शनार्थः पूर्वं लिङ्गस्थोपकरणान्यपिकृत्याभिहितम्, अधुना गृहस्थोपकरणान्यधिकृत्यामिधीयते, तद्यथा-'अंजणिमि 'त्ति अञ्जणिकां कज्जलाधारभूतां नलिकां मम प्रयच्छस्वेत्युत्तरत्र क्रिया, तथा कटककेयूरादिकमलङ्कारं वा, तथा 'कुक्कयय' ति खुंखुणकं 'मे' मम प्रयच्छ, येनाहं सर्वालङ्कारविभूषिता वीणा विनोदेन भवन्त विनोदयामि, तथा लोध्रं च लोध्रकुसुमं च, तथा 'वेणुपलासियं' ति वंशात्मिका श्लक्ष्णत्वक् काष्ठिका, सा दन्तैर्वामहस्तेन प्रगृह्य दक्षिणहस्तेन वीणावद्वाद्यते, तथौषधगुटिकां तथाभूतामानय येनाहं मविनष्ट-यौवना भवामीति ॥७॥ तथा कुष्ठम् -

टीकार्थ – इस गाथा में अथ शब्द अधिकार बताने के अर्थ में है । पहले साधु के वेश में रहने वाले पुरुष के उपकरणों-उपयोग की वस्तुओं के सम्बन्ध में कहा है । अब गृहस्थों के काम में आने वाली वस्तुओं के विषय में कहते हैं । स्त्री कहती है कि मुझे काजल रखने हेतु नली-पात्र लाकर दो । यहां पर पयच्छहि-प्रयच्छस्व, जो क्रिया पद आया है वह आगे के चरण से सम्बद्ध है वह कहती है मुझे कटक-कलाई में पहनने के कड़े केयूर-बाजू बंध, आदि गहने लाकर दो । मुझे एक घुंघरूदार वीणा लाकर दो जिससे मैं सभी प्रकार के आभरणों से अलंकृत हो कर वीणा वादन द्वारा आपका मनोविनोद करूं, आपको प्रसन्न करूं । मुझे लोध्र का फल और पुष्प लाकर दो चिकनी छाल के बांस की बंशी लाकर दो जो बायें हाथ से पकड़कर वीणा की तरह बजायी जाती है । मुझे पौष्टिक दवा की ऐसी गोली लाकर दो जिससे मेरा यौवन-जवानी अविनष्ट, कायम रहे ।

❀ ❀ ❀

कुट्ठं तगरं च अगरूं, संपिट्ठं सम्मं उसिरेणं ।
तेल्लं मुहभिलिंजाए, वेणुफलाइं सन्निधानाए ॥८॥

छाया – कुष्टं तगरञ्चागुरुं, सम्पिष्टं सममुशीरेण ।
तैलं मुखाभ्यङ्गाय, वेणु फलानि सन्निधानाय ॥

अनुवाद – उसीर-खस के साथ पीसा हुआ कुष्ट तगर और अगर लाकर दो । मुझे मुंह पर लगाने के लिए तेल, तथा वस्त्र आदि रखने के लिए बांस की पेटी लाकर दो ।

टीका – उत्पलकुष्ठं तथाऽगरं तगरं च, एतद्वै अपिगन्धिकद्रव्ये, एतत्कुष्ठादिकम् 'उशीरेण' वीरणी मूलेन सम्पिष्टं सुगन्धि भवति यतस्तत्तथाकुरु, तथा 'तैलं' लोध्रकुङ्कुमादिना संस्कृतं मुखमाश्रित्य 'भिलिंजए' त्ति अभ्यङ्गाय ढौकयस्व, एत दुक्तं भवति-मुखाभ्यङ्गार्थं तथाविधं संस्कृतं तैलमुपाहरेति, येन कान्त्यमुपेतं मे मुखं जायते, 'वेणुफलाइं' ति वेणुकार्याणि करण्डकपेटुकादीनि सन्निधिः सन्निधानं-वस्त्रादेर्व्यवस्थापनं तदर्थमानयेति ॥८॥ किञ्च -

टीकार्थ – कमल कुष्ठ को कुष्ठ कहा जाता है । अगर और तगर ये दो सुगन्धित पदार्थ हैं । कुष्ठ आदि ये सुगन्धित पदार्थ जब उसीर की जड़ के साथ पीसे जाते हैं तो और सुगन्धित हो जाते हैं । इसलिए तुम इनको खस की जड़ के साथ पीसो । लोध्र के पुष्प आदि द्वारा संस्कारित तेल मुँह पर लगाने हेतु लाकर दो । कहने का आशय यह है कि मुझे मुँह पर लगाने के लिए ऐसा तेल लाकर दो जिससे मेरा चेहरा चमकता रहे । कपड़े आदि रखने के लिए मुझे बाँस की पेटी, डलिया लाकर दो ।

❀ ❀ ❀

नंदी चूण्णगाइं पाहराहि, छत्तोवाणहं च जाणाहि ।
सत्थं च सूवच्छेज्जाए, आणीलं च वत्थयं रयावेहि ॥९॥

छाया – नन्दीचूर्णं प्राहर, छत्रोपानहौ च जानीहि ।
शस्त्रञ्च सूपच्छेदाय आनीलञ्च वस्त्रं रञ्जय ॥

अनुवाद – मुझे अपने ओष्ठ रंगने हेतु नंदी चुर्णक आदि लालिमामय द्रव लाकर दो । छाता, जूते साग काटने हेतु छुरी लाकर दो । उपयोग हेतु नीले वस्त्र रंगाकर ला दो ।

टीका – 'नन्दी चुण्णगाइं'त्ति द्रव्य संयोगनिष्पादितोष्ठम्रक्षणचूर्णोऽभिधीयते, तमेवम्भूतं चूर्णं प्रकर्षेण-येनकेनचित्प्रकारेण 'आहार' आनयेति, तथाऽऽतपस्य वृषटर्वा संरक्षणाय छत्रं तथा उपनहौ च ममानुजानीहि, न मे शरीरमेमिर्विना वर्वते ततो दवस्वेति, तथा 'शस्त्रं' दात्रादिकं 'सूपच्छेदाय' पत्रशाकच्छदनार्थं ढौकयस्व, तथा 'वस्त्रम्' अम्बरं परिधानार्थं गुलिकादिना रञ्जय यथा आमीलम्-ईषन्नीलं सामस्त्येन वा नीलं भवति, उपलक्षणार्थत्वाद्रक्तं वा यथा भवतीति ॥९॥ तथा -

टीकार्थ – होंठों को रंगने के लिए कई चीजों को मिलाकर बनाये गये चूर्ण को 'नंदी चूर्ण' कहते हैं । तुम वह चूर्ण मुझे जिस किसी तरह लाकर दो । आतप और वृष्टि से रक्षा के लिए, बचाव के लिए छाता, जूते पहनने की अनुज्ञा दो । इनके बिना मेरा शरीर ठीक नहीं रहता इसलिए ये मुझे ला दो । पत्ती आदि के शाक काटने हेतु चाकू लाकर दो । मेरे पहनने हेतु रंग से कपड़ा रंगकर दो, ऐसा रंगों की, वह कुछ-कुछ नीला हो जाये या पूरा का पूरा नीला हो जाये अथवा कुछ लाल हो जाये ।

❀ ❀ ❀

सुफणिं च साग पागाए, आमल गाइं दगाहरणं च ।
तिलग करणि मंजण सलागं, घिंसु मे विइणयं विजाणेहि ॥१०॥

छाया – सुफणिञ्च शाक पाकाय आमल कात्युद काहरणञ्च ।
तिलक करण्यञ्जन शालाकां ग्रीष्मे विधूनकमपि जानीहि ॥

अनुवाद – साग पकाने के लिए तपेली या देगची लाओ, आंवले, पानी रखने का बर्तन, तिलक-ललाट में बिंदियां लगाने, आंखों में अंजन लगाने के लिए सलाई और गर्मी में हवा करने के लिए पंखी लाकर दो।

टीका – सुष्ठु सुखेन वा फण्यते-क्वाथ्यते तक्रादिकं यत्र तत्सुफणि-स्थालीपिठरादिकं भाजनमभिधीयते तच्छाकपाकार्थमानय, तथा 'आमलकानि' धात्रीफलानि स्नानार्थं पित्तोपशमनायाभ्यवहारार्थं वा तथोदकमाहियते येन तदुदकाहरणं-कुटवर्धनिकादि, अस्य चोपलक्षणार्थत्वाद् घृततैलद्याहरेण सर्वं वा गृहोपस्करं ढौकयस्वेति, तिलकः क्रियते यया सा तिलककरणी-दन्तमयी सुवर्णात्मिका वा शलाका यया गोरोचनादियुक्तया तिलकः क्रियत इति, यदि वा गोरोचनया तिलकः क्रियते (इति) सैव तिलककरणीत्युच्यते तिलका वा क्रियन्ते-पिष्यन्ते वा यत्र सा तिलककरणीत्युच्यते, तथा अञ्जनं-सौवीरकादि शलाका-अक्ष्णोरञ्जनार्थं शलाका तामाहरेति। तथा 'ग्रीष्मे' उष्णाभितापे एति 'मे' मम 'विधुनकं' व्यजनकं विजानीहि ॥१०॥ एवं -

टीकार्थ – जिसमें सुविधा के साथ छाछ आदि पदार्थ उबाले जाते हैं उसे सुफणी कहा जाता है । देगची-तपेली आदि पात्र इस कोटि में आते हैं । साग पकाने के लिए ऐसे बरतन लाओ । नहाने में उपयोग हेतु पित्त के उपशमन के लिए आँवले लाओ । पानी रखने के लिए कलश आदि पात्र लाओ। यह उपलक्षण संकेत के रूप में कहा गया है । पानी के पात्र के साथ-साथ घृत तथा तेल रखने के लिए भी पात्र तथा और भी घर का सामान लाओ । जिससे तिलक किया जाता है उसे तिलक करनी कहा जाता है । वह हाथी दाँत या सोने की सलाई होती है । उससे गोरोचन आदि करके तिलक किया जाता है । गोरोचना को भी तिलक करणी कहा जाता है । जिसमें तिलकोपयोगी पदार्थ पीसे जाते है उसे तिलक करणी कहा जाता है । नेत्र में अंजन लगाने की काजल या सुरमा आंजने की जो सलाई होती है उसे अंजन श्लाका कहते हैं । ये सब वस्तुएँ मुझे लाकर दो । गर्मी के ताप के उपशमन हेतु मुझे पंखी लाकर दो ।

❀ ❀ ❀

संडासगं च फणिहं च, सीहलिपासगं च आणाहि ।
आदंसगं च पयच्छाहि, दंत पक्खालणं पवेसाहि ॥११॥

छाया – संडासिकञ्च फणिहं च, सीहलि पाशकञ्चानय ।
आदर्शकञ्च प्रयच्छ दन्त प्रक्षालनकं प्रवेशय ॥

अनुवाद – नाक के बालों को उखाड़ने के लिए संडासीक-छोटी कैंची या कतिया, बाल सँवारने के लिए कंघी, चोटी बाँधने हेतु ऊन की बनी हुई आँटी, मुँह देखने के लिए शीशा और दाँत साफ करने हेतु दातौन या ब्रुश लाओ ।

टीका – 'संगासकं' नासिकाकेशोत्पाटनं 'फणिहं' केशसंयमनार्थं कङ्कतकं, तथा 'सीहलिपासगं' ति वेणीसंयमनार्थंमूर्णामयं कङ्कणं च 'आनय' ढौकयेति, एवम् आ-समन्तादृश्यते आत्मा यस्मिन् स एव आदर्शकस्तं

'प्रयच्छ' ददस्वेति तथा दत्ताः प्रक्षाल्यन्ते-अपगतमलाः क्रियन्ते येन तद्दन्तप्रक्षालनं-दन्तकाष्ठं तन्ममान्तिके प्रवेशयेति ॥११॥

टीकार्थ – जिसके द्वारा नाक के बाल उखाड़े जाते हैं उसे संडासक कहा जाता है । जिस द्वारा बालों को सँवारा जाता है उसे फणिहक कहा जाता है ये कंघी का नाम है । चोटी बाँधने के लिए ऊन से निर्मित कंकण-गोल वर्तूल को सीहली पाषक कहा जाता है । ये सब वस्तुएँ लाकर मुझको दो । जिसमें चारों ओर से अपने आपको आदर्श या आदर्शक कहा जाता है यह दर्पण या शीशे का नाम है । यह मुझे लाकर दो । जिसके द्वारा दांतो का यैल अपगत किया जाता है, दूर किया जाता है उसे दंत प्रक्षालक कहा जाता है । वह दाँत साफ करने की पेड़ की टहनी के दतौन अथवा ब्रुश का नाम है ।

❀ ❀ ❀

पूयफलं तंबोलयं, सूई सुत्तगं च जाणाहि ।
कोसं च मोय मेहाए, सुप्पुक्खलगं च खारगालणं च ॥१२॥

छाया – पूगीफलं ताम्बूलं, सूत्रिसूत्रञ्च जानीहि ।
कोशंच मोचमेहाय, शूर्पौखलञ्च क्षारगालनकम् ॥

अनुवाद – मुझे सुपारी, पान, सुई-धागा, लघु शंका करने हेतु बर्तन, सूप-छाज, उखल तथा खार गलाने हेतु बर्तन लाकर दो ।

टीका – पूगफलं प्रतीतं 'ताम्बूलं' नागवल्लीदतं तथा सूचीं च सूत्रं च सूच्यर्थं वा सूत्रं 'जानीहि' ददस्वेति, तथा 'कोशम्' इति वारकादिभाजनं तत् मोचमेहाय समाहर, तत्र मोचः-प्रस्त्रवणं कायिकेत्यर्थः तेन मेहः-सेचनं तदर्थं भाजनं ढौकय, एतदुक्तं भवति बहिर्गमनं कर्तुमहमसमर्था रात्रौ भयाद्, अतो मम यथा रात्रौ बहिर्गमनं न भवति तथा कुरु, एतच्चान्यस्याप्यधमतमकर्तव्यस्योपलक्षणं द्रष्टव्यं, तथा 'शूर्पं' तन्दुलादिशोधनं तथोदूखलं तथा किञ्चन क्षारस्य-सर्जिकादेर्गालिनकमित्येवमादिकमुपकरणं सर्वमप्यानयेति ॥१२॥ किञ्चान्यत्-

टीकार्थ – पूंगी फल सुविदित है- सभी जानते हैं यह सुपारी का नाम है । नागर बेल का पत्ता ताम्बूल-पान कहा जाता है । सूई और सूत अथवा सूई में पिरोकर सीने का धागा मुझे लाकर दो । लघुशंका करने का पात्र कोश कहा जाता है, मुझे लाकर दो । कहने का अभिप्राय यह है कि मैं रात को बाहर जाने में डरती हूँ । इसलिए मुझे रात को बाहर न जाना पड़े ऐसा करो । दूसरे भी सामान्य कार्य के उपयोग में आने वाले बर्तन लाकर दो, ऐसा भी इससे संकेतिक है । चांवल आदि के शोधन हेतु जो उपयोग में आता है उसे शूर्प-सूप कहते हैं । मुझे सूप उखल और क्षार-साजी आदि गलाने हेतु बर्तन आदि लाकर दो ।

❀ ❀ ❀

चंदालगं च करगं च, वच्चघरं च आउसो ! खणाहि ।
सरपाययं च जायाए, गोरहगं च सामणेराए ॥१३॥

छाया – चन्दालकञ्च करकं वर्चोगृहञ्च आयुष्मन् ! खन ।
शरपातञ्च जाताय, गोरथकं श्रामणये ! ॥

अनुवाद – आयुष्मन् देवपूजन हेतु ताम्र पात्र, पानी रखने के लिए, मदिरा रखने के तदनरूप पात्र लाकर दो । मेरे लिए शौच गृह खुदवाओ, बनवाओ । पुत्र की क्रीड़ा के लिए एक धनुष ला दो उसकी गाड़ी में जोतने के लिए एक तरुण बैल ला दो ।

टीका – 'चन्दालकम्' इति देवतार्चनिकाद्यर्थं ताम्रमयं भाजनं; एतच्च मथुरायां चन्दालकत्वेन प्रतीतमिति, तथा 'करको' जलाधारो मदिराभाजनं वा तदानयेति क्रिया, तथा 'वर्चोगृहं' पुरीषोत्सर्ग स्थानं तदायुष्मन्! मदर्थं 'खन' संस्कुरु, तथा शरा-इषवः पात्यन्ते-क्षिप्यन्ते येन तच्छरपातं-धनुः तत् 'जाताय' मत्पुत्राय कृते ढौकय, तथा 'गोरहगंति त्रिहायणं बलीवर्दं च ढौकयेति, सामणेराए 'ति श्रमणस्थापत्य श्रमणपुत्राय त्वत्पुत्राय गन्त्र्यादिकृते भविष्यतीति ॥१३॥

टीकार्थ – देवपूजन के लिए मुझे तांबे का बर्तन ला दो । मधुरा में ऐसा बरतन चंदालक कहा जाता है । जिसमें पानी रखा जाता है वह कर्क अथवा करवा कहा जाता है । मदिरा का पात्र भी करक (कर्क) कहा जाता है । मुझे यह लाकर दो । जिसमें या जहाँ शौच किया जाता है उस स्थान को वर्चोगृह कहा जाता है । मेरे लिए वह खुदवादों-बनवादो । जिस पर रखकर बाण छोड़ा जाता है उसे शरपात कहा जाता है । यह धनुष का नाम है । अपने बेटे के क्रीड़ा-मनोविनोद आदि के लिए धनुष ला दो । तीन वर्ष का एक तरुण बैल ला दो जो तुम्हारे बेटे की गाड़ी खींचने के उपयोग में आये ।

❀ ❀ ❀

घडिगं च सडिंडिमयं च, चेलगोलं कुमार भूयाए ।
वासं समभिआवण्णं, आवसहं च जाण भत्तं च ॥१४॥

छाया – घटिकाञ्च सडिमडिमांच, चेलगोलकं च कुमारक्रीड़ाय,
वर्षञ्च समभ्यापन्न मावसथञ्च जानीहि भक्तञ्च ॥

अनुवाद – अपने पुत्र के खेलने के लिए मिट्टी की पुवलिका-खिलौना बाजा और कपड़े से मढ़ी हुई गेंद लाकर दो । वर्षा ऋतु आ गई है इसलिए आवास स्थान का और अन्न का इन्तजाम करो ।

टीका – तथा घटिकां मृन्मयकुल्लडिकां 'डिण्डिमेन' पटहकादिवादित्रविशेषेण सह, तथा 'चेल गोलं' त्ति वस्त्रात्मकं कन्दुकं 'कुमारभूताय' क्षुल्लकरूपाय राजकुमारभूताय वा मत्पुत्राय क्रीडनार्थमुपानयेति, तथा वर्षमिति प्रावृट्कलोऽयम् अभ्यापन्नः-अभिमुखं समापन्नोऽत 'आवसथं' गृहं प्रावृट्कालनिवासयोग्यं तथा 'भक्तं च' तन्दुलादिकं तत्कालयोग्यं 'जानीहि' निरूपय निष्पादय, येन सुखे नैवानागतपरिकल्पतावसथादिना प्रावृट्कालोऽतिवाह्यते इति, तदुक्तम्-

मासैरष्टभिरह्वा च, पूर्वेण वयसाऽऽयुषा । तत्कर्तव्यं मनुष्येण, यस्यान्ते सुख मेधते ॥१॥ इति ॥१४॥

टीकार्थ – राजकुमार के समान मेरे नन्हे से बेटे के लिए मिट्टी की पुत्रलिका या गुड़िया, बाजा, कपड़े से मढ़ी हुई गेंद लाकर दो । वर्षा ऋतु नजदीक है । इसलिए रहने योग्य उपयुक्त मकान व उस समय खाने के लिए चांवल आदि का इन्तजाम करो जिससे सुख सुविधा के साथ वर्षा ऋतु का समय बिताया जा सके। कहा गया है वर्ष के आठ माह में ऐसा कार्य करना चाहिए जिससे बरसात के चार महीने आराम से रह सके। *दिन में वह कार्य कर लेना चाहिए जिससे रात आनन्द से बितायी जा सके । उम्र के पूर्व भाग में ऐसे कार्य* करने चाहिए जिससे अन्त में सुख प्राप्त हो ।

❀ ❀ ❀

आसंदियं च नवसुत्तं, पाउल्लाइं संकमट्ठाए ।
अदू पुत्तदोहलट्ठाए आणप्पा हवंति दासा वा ॥१५॥

छाया – आसिन्द काञ्च नवसूत्रां पादुकाः संक्रमणार्थाय ।
अथ पुत्रदोहनार्थाय, आज्ञप्ताः भवन्ति दासाइव ॥

अनुवाद – नए सूत से बनी हुई एक आसन्दीका-खरीया लाओ । इधर उधर घूमने हेतु पैरों में पहनने हेतु पादुका-खड़ाऊ लाओ ! मैं गर्भवती हूँ मुझे दोहद विशेषइच्छा उत्पन्न हुई है । अतः मेरे लिए अमुक वस्तु लाओ । औरतें इस तरह नौकर की ज्यों पुरुष पर हुक्म चलाती हैं ।

टीका – तथा 'आसंदिय' मित्यादि, आसन्दिकामुपवेशनयोग्यां मञ्चिकां तामेव विशिनष्टि नवं-प्रत्यग्रं सूत्रं वल्कवलितं यस्यां सा नवसूत्राताम् उपलक्षणार्थत्वाद्व्रध्रचर्मावबद्धा वा निरूपयेति वा एवं च-मौञ्जे काष्ठपादुके दातुं समर्थेति, अथवा-पुत्रे गर्भस्थे दौहदःपुत्रदौहदः-अन्तर्वर्ती फलादावभिलाषविशेषस्तस्मै-तत्संपादन्यर्थं स्त्रीणां पुरुषाःस्ववशीकृता'दासाइव'क्रयक्रीताइव'आज्ञाप्या'आज्ञापनीया भवन्ति, यथा दासाः अलज्जितैर्योग्यत्वादाज्ञाप्यन्ते एवं तेऽपि वराकाः स्नेह पाशावपाशिता विषयार्थिनः स्त्रीभिः संसारावतरणवीथीभिरादिश्यन्त इति ॥१५॥ अन्यच्च-

टीकार्थ – बैठने हेतु एक छोटी खाट या माँचा लाओ । उसकी विशेषता बतलाते हुए कहते हैं कि वह नए सूत से बनी हो । यहाँ सूत की खटिया सांकेतिक है । उससे चमड़े की बाद से बनी हुई खटिया भी ग्रहित है । इधर उधर घूमने के लिए मूंज से बनी हुई या काठ से बनी हुई पादुका खड़ाऊ आदि मेरे लिये लाओ। क्योंकि मैं नंगे पैर जमीन पर एक कदम भी नहीं चल सकती । बच्चा गर्भ में होने पर औरत को फल आदि खाने की जो इच्छा पैदा होती है उसे दोहद कहा जाता है। उसे पूर्ण करने के लिए औरतें पुरुषों को खरीदे हुये नौकरों की ज्यों हुक्म देती हैं । जैसे लोग बेशर्म होकर नौकरों पर हुक्म चलाते हैं उसी तरह स्नेह के बंधन में बंधे हुए भोग लोलूप पुरुषों पर स्त्रियाँ आज्ञायें चलाती हैं जो संसार के परिभ्रमण का मार्ग है ।

❀ ❀ ❀

जाए फले समुप्पन्ने, गेण्हसु वा णं अहवा जहाहि ।
अहं पुत्त पोसिणो एगे, भारवहा हवंति उट्टा वा ॥१६॥

छाया – जाते फले समुत्पन्ने, गृहाणैन मथवा जहाहि ।
अथ पुत्र पोषिण एके भरवाहाः भवन्ति उष्ट्रा इव ॥

अनुवाद – पुत्र जन्म गृहस्थ का फल है । उसके उत्पन्न होने पर गर्वोद्धत स्त्री पुरुष को, पति को कहती है इस बच्चे को गोदी में ले लो या छोड़ दो । कई पुत्र के पालन-पोषण में आसक्त पुरुष पुत्र को ऊंट की तरह अपनी पीठ पर बैठाकर चलते हैं ।

टीका – जातः-पुत्रः स एव फलं गृहस्थानां, तथाहि-पुरुषाणां कामभोगाः फलं तेषामपि फलं-प्रधानकार्यं पुत्रजन्मेति, तदुक्तम् -

"इदं तत्स्नेहसर्वस्वं, सम माढ्यदरिद्रयोः । अचन्दनमनौशीरं, हृदयस्यानुलेपनम् ॥१॥
यतच्छपनिकेत्युक्तं, बालेनाव्यक्तभाषिणा । हित्वा सांख्यं च योगं च, तन्मे मनसि वर्तते ॥२॥"

यथां लोके पुत्रसु [मु] स्वं नाम, द्वितीयं सु [मु] खमात्मनः'इत्यादि, तदेवं पुत्रः पुरुषाणां परमाभ्युदयकारणं तस्मिन् 'समुत्पन्ने' जाते तदुद्देशेन या विम्बना पुरुषाणां भवन्ति ता दर्शयति-अमुं दारकं गृहाण त्वम्' अहं तु कर्माक्षणिका न मे ग्रहणावसरोऽस्ति, अथचैनं 'जहाहि परित्यज नाहमस्य वार्तामपि पृच्छामि एवं कुपिता सती ब्रूते, मयाऽयं नव मासानुदरेणोढः त्वं पुनरुत्सङ्गेनाप्युद्वहन् स्तोकमपि कालमुद्विजस, इति, दासदृष्टान्तस्त्वादेश दानेनैव साम्यं भजते, नादेशनिष्पादनेन, तथाहि-दासो भयादुद्विजन्नादेशं विधत्ते, स तु स्त्रीवशगोऽनुग्रहं मन्य मानो मुदितश्च तदादेशं विधते, तथा चोक्तम् -

"यदैव रोचते मह्यं, तदेव कुरुते प्रिया । इति वेत्ति न जानाति, तत्प्रियं यत्करोत्यसौ ॥१॥

ददाति प्रार्थिनः प्राणान्, मातरं हन्ति तत्कृते । किं न दद्यात् न किं कुर्यात्स्त्रीभिरभ्यर्थितो नरः ॥२॥

ददाति शौचपानीयं, पादौ प्रक्षालयत्यपि । श्लेष्माणमपि गृह्णाति, स्त्रीणां वशगतो नरः ॥३॥"

तदेवं पुत्र किमित्तमन्यद्वा यत्किञ्चिन्निमितमुद्दिश्य दासमिवादिशन्ति, अथ तेऽपि पुत्रान् पोषितुं शीलं येषां ते पुत्र पोषिण उपलक्षणार्थत्वाच्चास्य सर्वादेशकारिणः 'एके' केचन मोहोदये वर्तानाः स्त्रीणां निर्देशवर्तिनोऽपहस्तितैहिकामुष्मिकापाया उष्ट्रा इव परवशा भारवाहा भवन्तीति ॥१६॥ किञ्चान्यत् -

टीकार्थ – पुत्र का उत्पन्न होना गृहस्थों का फल है । काम भोग में प्रवृत्त होना पुरुषों का फल है । काम भोग का प्रधान-मुख्य फल पुत्र जन्म है । कहा है पुत्र जन्म स्नेह का सर्वस्व है । वह धनी और निर्धन दोनों के लिए समान है । दोनों इससे प्रसन्न होते हैं यह ऐसा लेपन है जो चन्दन और खस के बिना भी हृदय को शीतल बनाता है । तोतली वाणी में बोलते हुए बालक ने शयनिका कहने के बदले शपनिका कहा वह शान्त और योग को परिहित कर मेरे हृदय में विद्यमान रहता है। पुत्र लोक में पहला सुख है । दूसरा अपने शरीर का सुख स्वस्थता आदि है । इस प्रकार पुरुषों के लिए अत्यन्त अभुयदय-आनन्द का विषय है।

पुत्र उत्पन्न होने पर पुरुषों को जो कष्ट-असुविधाएँ झेलनी पड़ती हैं सूत्रकार उसका दिग्दर्शन कराते हुए कहते हैं । स्त्री पुरुष को कहती है प्रियतम् पुत्र को तुम लो । मैं अभी काम में लगी हुई हूँ । मुझे इसको लेने का समय नहीं है । यदि तुम इसे नहीं लेते हो तो मत लो मैं तो इसकी बात भी नहीं करूंगी । वह यों क्रोध में आकर कहती है । मैंने नौ महीने तक इस बच्चे को पेट में रखा किन्तु तुम इसे थोड़ी देर गोद में लेने से घबराते हो । जो नौकर का उदाहरण दिया गया है वह ठीक ही घटित होता है । वह स्त्री पुरुष को नौकर की तरह हुक्म देती है । पुरुष उसकी आज्ञा का पालन करता है । नौकर अपने मालिक से डरकर उसका हुक्म बजाता है, वैसा करते उसके मन में कोई खुशी नहीं होती किन्तु जो पुरुष स्त्री के वश में है-आसक्त है वह अपने पर उसकी कृपा मानता हुआ प्रसन्नता पूर्वक उसका पालन करता है । कहा है जो पुरुष स्त्री के वश में होता है वह ऐसा समझता है मेरी प्रियतमा वह कहती है जो मुझको प्रिय लगता है । किन्तु वास्तविकता यह है कि वही उसका प्रिय करता है, जिसे वह नहीं जानता । पुरुष स्त्री द्वारा अभ्यर्थना किये जाने पर अपने प्राण तक न्यौछावर कर देता है अपनी माँ की भी हत्या कर डालता है । स्त्री की अभ्यर्थना पर, अनुरोध पर उसे क्या नहीं दे सकता, उसके लिए क्या नहीं कर सकता अर्थात् वह सब कुछ दे सकता है । उसके लिए सब कुछ कर सकता है । जो पुरुष स्त्री के वशगत-अधीन है वह उसे शौच हेतु पानी लाकर देता है, उसके पाद प्रक्षालन करता है-उसके पैर धोता है । उसका थूक भी अपनी हथेली पर ले लेता है । इस प्रकार स्त्रियाँ पुत्र के निमित्त तथा अन्यान्य प्रयोजनों के लिए पुरुषों पर नौकर की ज्यों हुक्म चलाती है

। इस प्रकार पुत्र का पालन पोषण तथा इससे उपलक्षित स्त्री के सभी आदेशों का अनुवर्तन करने वाले, महामोहनीय कर्म के उदय में अवस्थित, स्त्री निर्देशवृत्ति-स्त्रियों के आज्ञापालक इस लोक और पर लोक के बिगड़ने की जरा भी परवाह न करने वाले पुरुष ऊँट की ज्यों भार ढोने का काम करते हैं ।

❀ ❀ ❀

राओवि उट्ठिया संता, दारगं च संठवंति धाई वा ।
सुहिरामणा वि ते संता, वत्थधोवा हवंति हंसा वा ॥१७॥

छाया – रात्रावप्युत्थिताः सन्तः दारकं संस्थापयन्ति धात्रीव ।
सुह्रीमनसोऽपि ते सन्तः, वस्त्रधावका भवन्ति हंसावा ॥

अनुवाद – जो पुरुष स्त्री के वशगत होते हैं वे रात में भी उठकर धाय की ज्यों बच्चे को गोद में ले लेते हैं वे अत्यन्त लज्जाशील होते हुए भी शर्माते हुए भी स्त्री और बच्चे के कपड़े धोते हैं ।

टीका – रात्रावप्युत्थिताः सन्तो रुदन्तं दारकं धात्रीवत् संस्थापयन्त्यनेकप्रकारैरुल्लापनैःसामिओसि णगरस्स य णक्कउरस्स य हत्थकप्पगिरिपट्टण सीह पुरस्स य उण्णयस्स निन्नस्स य कुच्छिपुरस्स य कण्णकुज्ज आया मुहसोरियपुरस्सय'' इत्येव मादिभिरसम्बद्धैः क्रीडनकालापैः स्त्रीचित्तानुवर्तिनः पुरुषास्तत् कुर्वन्ति येनो पहास्यतां सर्वस्य व्रजन्ति, सुष्ठु ह्रीः-लज्जा तस्यां मनः-अन्तःकरणं येषां ते सुह्रीमनसो-लज्जालवोऽपि ते सन्तो विहाय लज्जां स्त्रीवचनात्सर्वजघन्यान्यपि कर्माणि कुर्वते, तान्येव सूत्रावयवेन दर्शयति-'वस्त्रधावका' वस्त्रप्रक्षालका हंसा इव-रजका इव भवन्ति, अस्य चोपलक्षणार्थत्वादन्यदप्युदकवहनादिकं कुर्वन्ति ॥१७॥ किमेतत्केचन कुर्वन्ति येनैवमिधीयते ?, बाढं कुर्वन्तीत्याह –

टीकार्थ – जो पुरुष स्त्री के वश में होते हैं वे रात में भी उठकर रोते हुए बच्चे को धाय की ज्यों तरह-तरह के लाड़ प्यार के शब्दों से सांत्वना देते हुए अपनी गोद में रखते हैं । जैसे वे उसे कहते बेटा तुम नक्रपुर हस्तिपतन, कल्पपत्तन, सिंहपुर, उन्नत स्थान, निम्नस्थान, कुक्षिपुर, कान्यकुब्ज पीतामह मुख तथा शौर्यपुर के स्वामी हो, राजा हो, नारी के अधीन बने हुए पुरुष यों अनेक प्रकार से बालक के लिए विनोद जनक आलाप संलाप द्वारा उसे खिलाता है । इस प्रकार के कार्य करते हैं जिससे वे सभी के लिए उपहासात्मक बनते हैं । जिनका मन अत्यन्त लज्जाशील है, वैसे पुरुष भी लज्जा का परित्याग कर स्त्री के कहने से छोटे से छोटा काम कर लेते हैं । सूत्रकार सूत्र के अवयवों अंगों द्वारा यही दिग्दर्शन कराते हुए कहते हैं ऐसे पुरुष धोबी के ज्यों कपड़े धोते हैं । कपड़े धोना तो यहाँ उपलक्षण है । इससे संकेतिक है कि वे स्त्री के लिए पानी लाना आदि भी कार्य करते हैं । क्या कई पुरुष ऐसा करते हैं जिससे आप यों कहते हैं ? हाँ करते हैं। इसी बात को सूत्रकार बतलाते है ।

❀ ❀ ❀

एवं बहुहिं कय पुव्वं, भोगत्थाए जेऽभियावन्ना ।
दासे मिइव पेसे वा, पसुभूतेव से ण वा केई ॥१८॥

छाया – एवं बहुभिः कृतपूर्वं, भोगार्थाय येऽभ्यापन्नाः ।
दासमृगाविव प्रेष्य इव पशुभूत इव स न वा कश्चित् ॥

अनुवाद – स्त्री के वश में हुए ऐसे अनेक व्यक्ति उसकी आज्ञा का पालन करते रहे हैं । जो पुरुष काम भोग के निमित्त पाप कार्यों में संसक्त है, वह जाल में फंसे हिरण की तरह, खरीदे हुए नौकर की तरह, या जानवर की तरह अर्थात् वह सबसे अधम-गया गुजरा है ।

टीका – 'एव' मिति पूर्वोक्तं स्त्रीणामादेशकरणं पुत्रपोषणवस्त्रधावनादिकं तद्बहुभिः संसाराभिष्वङ्गिभिः पूर्वं कृतं कृतपूर्वं तथा परे कुर्वन्ति करिष्यन्ति च ये 'भोगकृते, कामभोगार्थमैहिकामुष्मिकापायभयमपर्यालोच्य आभिमुख्येन-भोगानुकूल्येन आपन्ना-व्यवस्थिताः सावद्यानुष्ठानेषु प्रतिपन्ना इतियावत्, तथा यो रागान्धः स्त्रीभिर्वशीकृतः स दासवदशङ्किताभिस्ताभिः प्रत्यपरेऽपि कर्मणि नियोज्यते, तथा वागुरापतितः परवशो मृग इव धार्यते, नात्मवशो भोजनादिक्रिया अपि कर्तुं लभते, 'प्रेष्य इव' कर्मकर इव क्रयक्रीत इव वर्चःशोधनादावपि नियोज्यते, तथा-कर्त्तव्याकर्तव्यविवेकरहितत्था हिताहितप्राप्तिपरिहाशून्यत्वात् पशुभूत इव, यथा हि पशुराहारभयमैथुनपरिग्रहाभिज्ञ एव केवलम्, एवम सावपि सदनुष्ठानरहितत्वात्पशुकल्पः, यदिवा-स स्त्रीवशगो दासमृगप्रेष्य पशुभ्योऽप्य धमत्वान्न कश्चित्, एतदुक्तं भवति-सर्वाधमत्वात्तस्य तत्तुल्यं नास्त्येव येनासावुपमीयते, अथवा-न स कश्चिदिति, उभयभ्रष्टत्वात्, तथाहि-न तावत्प्रव्रजितोऽसौ सदनुष्ठानरहितत्वात्, नापि गृहस्थः ताम्बूलादिपरिभोगरहितत्वाल्लोचिकामात्र धारित्वाच्च, यदिवा ऐहिकामुष्मिकानुष्ठायिनां मध्ये न कश्चिदिति ॥१८॥ साम्प्रतमुतसंहारद्वारेण स्त्रीसङ्गपरिहारमाह-

टीकार्थ – स्त्रियों की आज्ञा पालन करना, पुत्र का पोषण करना, वस्त्र प्रक्षालन करना आदि जो पूर्व वर्णित हैं, वे सब अनेक संसारी जीवों ने अतीत में किये हैं, वर्तमान में करते हैं और भविष्य में करेंगे । जो पुरुष कामात्मक विषय भोगों को प्राप्त करने हेतु ऐहिक तथा पारलौकिक भय को नहीं सोचते हुए-इस लोक और परलोक के बिगड़ने पर ध्यान नहीं देते हुए पाप युक्त कार्यों में प्रतिपन्न-प्रवृत्त रहते हैं, वे उन सभी कार्यों को करते हैं जिनका पहले वर्णन हुआ है । जो पुरुष राग से अन्धे हो गए हैं, स्त्रियों के अधीन हैं स्त्रियाँ निशंक होकर उन्हें नौकर की ज्यों पूर्व वर्णित कार्यों के अतिरिक्त और भी वैसे अनेक कार्यों में नियोजित करती हैं । जैसे जाल में पतित मृग परतन्त्र होता है, आत्मवश नहीं होता, भोजनादि क्रिया नहीं कर सकता उसी तरह स्त्री के वश में आया हुआ पुरुष परवश होता है, वह अपनी इच्छा के अनुरूप भोजन आदि क्रियाएं नहीं कर सकता । वह खरीदे हुए नौकर की तरह मल मूत्र आदि के शोधन में, सफाई में, उन्हें फैंकने आदि में लगाया जाता है, स्त्री के वश हुआ पुरुष करने योग्य और न करने योग्य कार्य के विवेक से रहित होता है । जैसे एक जानवर अपना हित पाने की ओर बढ़ना तथा अहित का त्याग करना नहीं जानता उसी तरह वह पुरुष हित अहित की उपादेयता और हेयता को नहीं समझता । अथवा स्त्री के वश में हुआ मनुष्य सेवक, हिरण, खरीदे हुए दास तथा पशु से भी अधम नीच या गया गुजरा होने के कारण कुछ भी नहीं है, नगण्य है । कहने का अभिप्राय यह है कि वह पुरुष सबसे नीच है । उसके समान कोई दूसरा नीच नहीं है । जिससे उसको उपमित किया जा सके वह उभयभ्रष्ट है, दोनों ओर से पतित है, सद्आचार से शून्य होने के कारण वह प्रव्रजित साधु नहीं है, और ताम्बूल-पान आदि पदार्थों के परिभोग न करने तथा लुंचन मात्र करने के कारण वह गृहस्थ भी नहीं है । ऐहिक इस लोक का तथा आमुष्मिक-परलोक का सम्पादन अनुष्ठान करने वाले पुरुषों में से वह कोई भी नहीं है, अर्थात् न उसका यह लोक सधता है, और न परलोक ही ।

अब इस अध्ययन का उपसंहार करते हुए सूत्रकार स्त्री संग का त्याग करना बतलाते है ।

❀ ❀ ❀

एवं खु तासु विन्नप्पं, संथवं संवासं च वज्जेज्जा ।
तज्जातिआ इमे कामा, वज्जकरा य एवमक्खाए ॥१९॥

छाया – एवं खलु तासु विज्ञप्तं, संस्तवं संवासंच वर्जयेत् ।
तज्जातिका इमे कामा अवद्यकरा एवमाख्याताः ॥

अनुवाद – स्त्री के सम्बन्ध में पहले जो उनका विवेचन किया गया है उसे ध्यान में रखते हुए साधु स्त्री के साथ संस्तव-परिचय और संवास-सहवास नहीं करे । तज्जनित-स्त्री के संसर्ग से उत्पन्न होने वाले काम भोग पापोत्पादक हैं, ऐसा सर्वज्ञों ने आख्यात किया है, बतलाया है ।

टीका – 'एतत्' पूर्वोक्तं खुशब्दो वाक्यालङ्कारे तासु यत्स्थितं तासां वा स्त्रीणां सम्बन्धि यद् विज्ञप्तम्-उक्तं, तद्यथा-यदि सकेशया मया सह न रमसे ततोऽहं केशानप्यपनयामीत्येवमादिकं, तथा स्त्रीभिः सार्धं 'संस्तवं' परिचयं तत्संवासं च स्त्रीभिः सहैकत्र निवासं चात्महितमनुवर्तमानः सर्वापायभीरूः 'त्यजेत्' जह्यात्, यतस्ताभ्यो-रमणीभ्यो जातिः-उत्पत्तिर्येषां तेऽमी कामास्तज्जातिका-रमणीसम्पर्कोत्यास्तथा 'अवद्यं' पापं व्रजं वा गुरुत्वादधः पातकत्वेन वापमेव तत्करणशीला अवद्यकरा व्रजकरा वेत्येवम् 'आख्याताः' तीर्थंकरगणधरादिभिः प्रतिपादिता इति'' ॥१९॥ सर्वोपसंहारार्थमाह -

टीकार्थ – इस गाथा में 'खु' शब्द वाक्यालंकार के रूप में आया है । पहले स्त्रियों की रीति किस प्रकार की होती है, यह वर्णित हुआ है । स्त्रियाँ साधु से अभ्यर्थना करती है कि मुझ केशों वाली के साथ यदि तुम रमण नहीं करते, ऐसा तुम्हें नहीं भाता तो मैं इन केशों को उपाड़ डालूं, यह सब कहा जा चुका है । इसलिए जो पुरुष अपनी आत्मा का हित कल्याण चाहता है, तथा सब प्रकार अपाय-विनाश से, पतन से डरता है, वह स्त्रियों के साथ परिचय संस्तव-सम्पर्क न बढ़ाये तथा उनके साथ एक स्थान में निवास न करे, क्यों कि स्त्री के संबंध से जनित काम भोग-काम वासना अवद्य-पाप उत्पन्न करती हैं, जो भारीपन के कारण अधः पतन करता है, वैसा करने वाले पाप प्रवण होते हैं । तीर्थंकर, गणधर आदि महापुरुषों ने ऐसा आख्यात किया है, प्रतिपादित किया है । अब सबका उपसंहार करते हुए कहते हैं ।

❀ ❀ ❀

एयं भयं ण सेयाय, इह से अप्पगं निरुंभित्ता ।
णो इत्थिं णो पसुं भिक्खु, णो सयं पाणिणो णिलिज्जेज्जा ॥२०॥

छाया – एवं भयं न श्रेयसे, इति स आत्मानं निरुध्य ।
नो स्त्रीं नो पशुं भिक्षुः नो स्वयं पाणिना निलीयेत ॥

अनुवाद – स्त्री के संसर्ग से पूर्वोक्त रूप में भयजनक स्थितियां उत्पन्न होती हैं । स्त्री का सम्पर्क आत्म कल्याण का निरोधक या बाधक है । इसलिए साधु स्त्री को या पशु को अपने हाथ से स्पर्श तक न करे।

टीका – 'एवम्' अनन्तरनीत्या भयहेतुत्वात् स्त्रीभिर्विज्ञप्तं तथा संस्तवस्तत्संवासश्च भयमित्यतः स्त्रीभिः सार्धं सम्पर्को न श्रेयसे असदनुष्ठानहेतुत्वात्तस्येत्येवं परिज्ञाय स भिक्षुरवगतकामभोगविपाक आत्मानं स्त्री सम्पर्कान्निरुध्य सन्मार्गे व्यवस्थाप्य यत्कुर्यात्तद्दर्शयति-न स्त्रियं नरकवीथीप्रायां नापि पशुं 'लीयेत' आश्रयेत स्त्रीपशुभ्यां सह

संवासं परित्यजेत्, 'स्त्रीपशुपण्ढकविवर्जिता शय्ये' तिवचनात्, तथा स्वकीयेन 'पाणिना' हस्तेनावाच्यस्य 'नणिलिज्जेज्ज' त्ति न सम्बाधनं कुर्यात्, यतस्तदपि हस्तसम्बाधनं चारित्रं शबलीकरोति, यदिवा स्त्रीपश्वादिकं स्वेन पाणिना न स्पृशेदिति ॥२०॥ अपिच -

टीकार्थ – जैसा पहले कहा गया है- स्त्रियों की विज्ञापना या अभ्यर्थना पर उनके साथ संस्तव-परिचय बढ़ाना, उनके साथ सम्पर्क करना, रहना भय का कारण है । अतएव वह भय है । स्त्री सम्पर्क असद् अनुष्ठान-अशुभ कर्म का कारण है । इसलिए वह अश्रेयस्कर-अकल्याणकारी है । यह जानकर काम भोग के विपाक-क्लेशप्रद फल को जानने वाले साधु को अपने आपको स्त्री के सम्पर्क से रोककर-दूर हटाकर, सन्मार्ग में स्थापित कर जो कार्य करना चाहिए, सूत्रकार उसका दिग्दर्शन कराते हैं-स्त्री नरक को ले जाने का मार्ग है । साधु उसका तथा पशु का आश्रय न लेवे अर्थात् उनके साथ संवास न करे । साधु की शैय्या, स्त्री, पशु तथा नपुंसक से रहित होनी चाहिए, ऐसा शास्त्र का वचन है । वह अपने हाथ से गुह्येन्द्रिय का संवाधन न करे । ऐसा करने से चारित्र विकृत होता है । वह स्त्री पशु आदि का अपने हाथ से संस्पर्श न करे ।

❀ ❀ ❀

सुविसुद्धलेसे मेहावी, परकिरिअं च वज्जए नाणी ।
मणसा वयसा कायेणं सव्व फाससहे अणगारे ॥२१॥

छाया – सुविशुद्धलेश्यः मेधावी परिक्रियाञ्च वर्जयेद्ज्ञानी ।
मनसा वचसा कायेन सर्व स्पर्श सहोऽनगारः ॥

अनुवाद – विशुद्ध चित्त युक्त मेधावी-प्रज्ञाशील, ज्ञानी विवेक युक्त साधु, मन वचन और कर्म द्वारा किसी दूसरे की क्रिया का वर्जन-परित्याग करे, जो पुरुष सभी शीत, उष्ण आदि स्पर्शों को-सर्दी गर्मी को सहन करता है, वह साधु है ।

टीका – सुष्ठु-विशेषेण शुद्धा-स्त्री सम्पर्क परिहार रूप तथा निष्कलङ्का लेश्या-अन्तःकरणवृत्तिर्यस्य स तथा स एवम्भूतो 'मेधावी' मर्यादावर्ती परस्मैस्त्र्यादिपदार्थाय क्रिया परक्रिया-विषयोपभोगद्वारेण परोपकारकरणं परेण वाऽऽत्मनः संबाधनादिका क्रिया परक्रिया तां च 'ज्ञानी' विदितवेद्यो 'वर्जयेत्' परिहरेत्, एतदुक्तं भवति-विषयोपभोगोपाधिना नान्यस्य किमपि कुर्यान्नाप्यात्मनः स्त्रिया पादधावनादिकमपि कारयेत्, एतच्च परक्रियावर्जनं मनसा वचसा कायेन वर्जयेत्, तथाहि-औदारिककामभोगार्थं मनसा न गच्छति नान्यं गमयति गच्छन्तमपरं नानुजानीते एवं वाचा कायेन च, सर्वेऽप्यौदारिके नव भेदाः, एवं दिव्येऽपि नव भेदाः, ततश्चाष्टादशभेदभिन्नमपि ब्रह्म बिभृयात्, यथा च स्त्रीस्पर्शपरीषहः सोढव्य एवं सर्वानपि शीतोष्णदंशमशकतृणादि स्पर्शानधिसहेत, एवं च सर्वस्पर्शसहोऽनगारः साधुर्भवतीति ॥२१॥ क एवमाहेति दर्शयति -

टीकार्थ – जिसके चित्त की वृत्ति स्त्री संसर्ग त्याग के कारण निष्कलंक-दोषरहित है, शुद्ध है, जो अपनी मर्यादाओं में टिका हुआ है, ऐसा ज्ञानवान पुरुष परक्रिया न करे । स्त्री आदि के लिए जो क्रिया की जाती है, उसे परक्रिया कहते हैं । विषय भोगों के साधन देकर, विषयोपभोग करवाकर जो दूसरे का उपकार उसके मनोनुकूल किया जाता है । दूसरे के द्वारा अपना शरीर आदि दबवाना भी परक्रिया है । ज्ञानी पुरुष इनका वर्जन करे । कहने का तात्पर्य यह है कि विषयोपभोग की सामग्री देकर ज्ञानवान पुरुष दूसरे को कुछ भी

सहयोग न करे, स्त्री आदि द्वारा अपने पैरों का प्रक्षालन न करवाये, वैसी सेवा न ले । साधु मन वचन एवं शरीर तीनों द्वारा परक्रिया का परित्याग करे । औदारिक काम भोग हेतु मन से भी न जाये-मन में भी वैसा न लाये, तथा अन्य को भी मन में न भेजे, जाते हुए को अच्छा न समझे, वाणी और देह से भी वैसा न करे, यह समझना चाहिए । औदारिक काम भोग के नौ प्रकार हैं, दिव्य-देव सम्बन्धी काम भोग के भी नौ प्रकार हैं-साधु अठारह प्रकार से ब्रह्मचर्य धारण करे, पालन करे । साधु जिस प्रकार स्त्री स्पर्श परीषह को सहन करे, उसी प्रकार सर्दी, गर्मी, डांस, मच्छर तथा तृण आदि सभी स्पर्शों को सहन करे । इस प्रकार समस्त स्पर्शों को जो सहन करता है, वह अनगार-साधु होता है । किसने यह कहा-ऐसा दिग्दर्शन कराते हैं ।

❀ ❀ ❀

इच्चेवमाहु से वीरे, धुअरए धुअमोहे से भिक्खू ।
तम्हा अज्झत्थविसुद्धे, सुविमुक्के आमोक्खाए परिवएज्जासि ॥२२॥त्तिबेमि

छाया – इत्येवमाहुः स वीरः धुतरजाः धुतमोहः स भिक्षुः ।
तस्मादात्मविशुद्धः सुविप्रमुक्तः आमोक्षाय परिव्रजेदिति ।ब्रवीमि॥

अनुवाद – जिन्होंने समस्त कर्मों को मिटा दिया, मोह को ध्वंस्त कर दिया, यों जो वीतराग अवस्था में संस्थित हुए उन प्रभु महावीर ने ये पूर्वोक्त बातें कही है । इसलिए आत्मविशुद्ध-शुद्ध आत्म भावयुक्त सुविप्रमुक्त-विषयवासनादि समस्त रागात्मक बंधनों से छूटा हुआ साधु जब तक मोक्ष प्राप्त हो जाए, तब तक परिव्रज्या में, संयम साधना में संप्रवृत्त रहे ।

टीका – 'इति' एवं यत्पूर्वमुक्तं तत्सर्वं स वीरो भगवानुत्पन्नदिव्यज्ञानः परहितैकरतः 'आह' उक्तवान्, यत एवमतो धूतम्-अपनीतं रजः-स्त्रीसम्पर्कादिकृतं कर्म येन स धूतरजाः तथा धूतो मोहो रागद्वेषरूपो येन स तथा । पाठान्तरं वा धूतः-अपनीतो रागमार्गो-रागपन्था यस्मिन् स्त्रीसंस्तवादिपरिहारे तत्तथा तत्सर्वं भगवान् वीर एवाह, यत एवं तस्मात् स भिक्षुः अध्यात्मविशुद्धः, सुविशुद्धान्तःकरणः सुष्ठु रागद्वेषात्मकेन स्त्रीसम्पर्केण मुक्तः सन् 'आमोक्षाय' अशेष कर्मक्षयं यावत्परि-समन्तात्संयमानुष्ठानेन 'व्रजेत्' गच्छेत्संयमोद्योगवान् भवेदिति, इतिः परिसमाप्त्यर्थे, ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥२२॥ इति चतुर्थं स्त्री परिज्ञाध्ययनं परिसमाप्तम् ॥

टीकार्थ – पहले जो वर्णन किया गया है, वह दिव्य ज्ञानी, परोपकार, परायण भगवान महावीर ने कहा है । उन्होंने स्त्री संपर्क आदि से उत्पन्न होने वाले, बंधने वाले समस्त कर्मों को अपगत कर दिया था, मिटा दिया था, रागद्वेषात्मक मोह को वे जीत चुके थे । यहाँ पाठान्तर भी है, तदनुसार भगवान महावीर ने यह कहा था कि स्त्री के साथ संस्तव-परिचय आदि का त्याग कर देना चाहिए, उसमें रागासक्त नहीं होना चाहिए । इसलिए साधु विशुद्ध अन्तःकरण युक्त तथा रागद्वेष स्वरूप स्त्री सम्पर्क से सर्वथा पृथक होकर जब तक समस्त कर्म सम्पूर्ण रूप से क्षीण न हो जाय, संयम में उद्यमशील रहे । यहाँ इति शब्द समाप्ति का बोधक है । ब्रवीमि यह पूर्ववत् है ।

चौथा स्त्री परीज्ञा अध्ययन समाप्त हुआ ।

❀ ❀ ❀

卐 卐 卐

पंचम नरकविभक्ति अध्ययनं

प्रथम उद्देशकः

पुच्छिस्सऽहं केवलियं महेसिं, कहं भितावाणरगा पुरत्था ? ।
अजाणओ मे मुणि बूहि जाणं, कहिं नु बाला नरयं उविंति ? ॥१॥

छाया – पृष्टवानह कवालन महाष, कथमाभतापाः नरकाः पुरस्तात् ।
अजानतो मे मुने ! ब्रूहि जानन्, कथं नु बालाः नरकमुपयान्ति ॥

अनुवाद – आर्य सुधर्मा स्वामी अपने अन्तेवासी जम्बू से कहते हैं कि मैंने केवली-सर्वज्ञ, महर्षि-वीतराग प्रभु महावीर से पहले यह पूछा था कि नरक में प्राणी किस प्रकार पीड़ा प्राप्त करते हैं, प्रभु मैं यह नहीं जानता, आप सम्यक जानते हैं । इसलिए आप मुझे यह बतलाये तथा यह भी प्रतिपादित करें कि अज्ञ प्राणी किस प्रकार नरक को प्राप्त करते हैं ।

टीका – जम्बूस्वामिना सुधर्मस्वामी पृष्टः, तद्यथा-भगवन् ! किंभूता नरकाः ? कैर्वा कर्मभिरसुमतां तेषूत्पादः ? कीदृश्यो वा तत्रत्या वेदना ? इत्येवं पृष्टः सुधर्मस्वाम्याह-यदेतद्भवताऽहं पृष्टस्तदेत् 'केवलिनम्' अतीतानागतवर्तमानसूक्ष्मव्यवहितपदार्थवेदिनं 'महर्षिम्' उग्रतपश्चरणकारिणमनुकूलप्रतिकूलोपसर्गसहिष्णुं 'श्रीमन्महावीरवर्धमानस्वामिनं' पुरस्तात्पूर्वं पृष्टवानहमस्मि, यथा 'कथं' किम्भूता अमितापान्विता 'नरका' नरकावासा भवन्तीत्येतदजानातो 'मे' मम हे मुने 'जानन्' सर्वमेव केवलज्ञानेनावगच्छन् 'ब्रूहि' कथय, 'कथं नु' केन प्रकारेण किमनुष्ठायिनो नुरिति वितर्के 'बाला' अज्ञा हिताहितप्राप्तिपरिहारविवेकरहितास्तेषु नरकेषूप-सामीप्येन तद्योग्य कर्मोपादानतया 'यान्ति' गच्छन्ति किम्भूताश्च तत्र गतानां वेदनाः प्रादुष्यन्तीत्येतच्चाहं 'पृष्टवानि'त्ति ॥१॥

टीकार्थ – जम्बू स्वामी ने श्री सुधर्मास्वामी से प्रश्न किया कि भगवन् ! नरक-नारक भूमियाँ किस प्रकार की होती हैं । प्राणी किन कर्मों के आचरण से उनमें उत्पन्न होते हैं । वहाँ उन्हें कैसी वेदना-यातना भोगनी पड़ती है । यों प्रश्न किये जाने पर श्री सुधर्मास्वामी बोले कि तुमने जो प्रश्न पूछा है, वह मैंने भी केवली-अतीत, अनागत, वर्तमान, सूक्ष्म तथा व्यवहित पदार्थों के वेत्ता महर्षि-उग्रतपश्चरणशील, अनुकूल एवं प्रतिकूल उपसर्ग सहिष्णु भगवान श्री महावीर से पहले पूछा था । मैंने जिज्ञासा की थी कि नारक भूमियाँ किस प्रकार के दुःखों से युक्त होती है, मैं यह नहीं जानता । हे मुनीश ! आप केवल ज्ञान से इसे जानते हैं । मुझे बतलाएँ, तथा यह भी कहें कि हित आत्मकल्याण की प्राप्ति और अहित-आत्मपतन के त्याग के ज्ञान से शून्य अज्ञजीव कैसे कर्म कर नरक गामी होते हैं, तथा नरक गत जीवों को कैसी वेदनाएं यातनाएं भोगनी पड़ती है, यह मैंने पूछा था ।

❀ ❀ ❀

एवं मए पुट्ठे महाणुभावे, इणमोऽब्बवी कासवे आसुपन्ने ।
पवेदइस्सं दुहमट्ठदुग्गं, आदीणियं दुस्कडियं पुरत्था ॥२॥

छाया – एवं मया पृष्टो महानुभाव, इदमब्रवीत् काश्यप आशुप्रज्ञः ।
प्रवेदयिष्यामि दुःखमर्थदुर्गमादीनिकं दुष्कृतिकं पुरस्तात् ॥

अनुवाद – मेरे द्वारा यों पूछे जाने पर महानुभाव-अतिशयों की महिमा से युक्त, आशुप्रज्ञ-समग्र वस्तुओं में सदा उपयोग युक्त, काश्यप गौत्र में समुत्पन्न भगवान् महावीर ने कहा कि नरक स्थान अत्यन्त दुःखप्रद है । अज्ञानी-असर्वज्ञ जीवों द्वारा अज्ञेय है । वह पापिष्ठ और दीन हीन जीवों का आवास स्थान है । मैं आगे यह बतलाऊँगा ।

टीका – तथा 'एवम्' अनन्तरोक्तं मया विनेयेनोपगम्य पृष्टो महांश्चतुस्त्रिंशदतिशयरूपोऽनुभावोमाहात्म्यं यस्य स तथा, प्रश्नोत्तरकालं च 'इदं' वक्ष्यमाणं मो इति वाक्यालङ्कारे, केवलालोकेन परिज्ञाय मत्प्रश्ननिर्वचनम् 'अब्रवीत्' उक्तवान् कोऽसौ ?-'काश्यपो' वीरो वर्धमानस्वामी आशुप्रज्ञः सर्वत्र सदोपयोगात्, स चैवं मया पृष्टो भगवानिदमाह-यथा यदेतद्भवता पृष्टस्तदहं 'प्रवेदयिष्यामि' कथयिष्याम्यग्रतो दत्तावधानः शृण्विति, तदेवाह-'दुःखम्' इति नरकं दुःखहेतुत्वात् असदनुष्ठानं यदिवा-नरकावास एव दुःखयतीति दुःखं अथवा-असातावेदनीयोदयात् तीव्रपीडात्मकं दुःखमिति, एतच्चार्थतः-परमार्थतो विचार्यमाणं 'दुर्गं' गहनं विषमं दुर्विज्ञेयं असर्वज्ञेन, तत्प्रतिपादक प्रमाणा भावादित्यभिप्रायः, यदिवा-'दुहमट्ठदुग्गंति दुःखमेवार्थो यस्मिन् दुःखनिमित्तो वा दुःखप्रयोजनो वा स दुःखार्थो-नरकः, स च दुर्गो-विषमो दुरुत्तरत्वात् तं प्रतिपादयिष्ये, पुनरपि तमेव विशिनष्टि-आसमन्ताद्दीनमादीनं तद्विद्यते यस्मिन् स आदीनिकः-अत्यन्तदीनसत्त्वाश्रयस्तथादुष्टं कृतं दुष्कृतम् असदनुष्ठानं पापं वा तत्फलं वा असातावेदनीयोदय रूपं तद्विद्यते यस्मिन्स दुष्कृतिकस्तं, 'पुरस्ताद्' अग्रतः प्रतिपादयिष्ये, पाठान्तरं वा 'दुक्कडिणं' ति दुष्कृतं विद्यते येषां ते दुष्कृतिनो-नारकास्तेषां सम्बन्धि चरितं 'पुरस्तात्' पूर्वस्मिन् जन्मनि नरकगतिगमनयोग्यं यत्कृतं तत्प्रतिपादयिष्य इति ॥२॥ यथाप्रतिज्ञातमाह -

टीकार्थ – भगवान महावीर के शिष्य श्री सुधर्मास्वामी कहते हैं कि मैंने उन चतुर्विंशति अतिशय युक्त प्रभुवर के समीप जाकर यह पूछा, तब उन्होंने इस प्रकार कहा-प्रश्न करने के अनन्तर भगवान ने वक्ष्यमाण रूप में जैसा आगे विवक्षित होगा, उत्तर दिया । इस गाथा में 'मो' वाक्यलंकार के अर्थ में आया है । प्रभु महावीर ने केवलज्ञान द्वारा सब पदार्थों को जानकर मेरे प्रश्न का उत्तर दिया था । भगवान् कौन हैं ? वे काश्यप गौत्र में समुत्पन्न प्रभु वर्धमान स्वामी हैं । वे आशुप्रज्ञ हैं, क्योंकि सदैव समस्त पदार्थों में उनका उपयोग रहता है। मेरे द्वारा जब प्रश्न किया गया तब भगवान् ने ऐसा कहा कि-तुमने जो पूछा है, मैं आगे बतलाऊँगा, तुम दत्तावधान होकर-ध्यान देकर श्रवण करो। वही कहते हैं-नरक भूमि दुःख का कारण है, वह दुष्कर्मों का फल होने के कारण दुःखात्मक है, अथवा वह जीवों के लिए दुःखप्रद है । अथवा असातावेदनीय कर्म के उदय के कारण नरक भूमि में तीव्र पीडाएँ भोगनी होती है । इसलिए वे दुःख रूप हैं । असर्वज्ञ प्राणी नरक भूमि को जान पायें, यह कठिन है, अर्थात् वे नहीं जान सकते, क्योंकि ऐसा कोई प्रमाण नहीं है, जो नरक के अस्तित्व को सिद्ध कर सके, इसका यह अभिप्राय है । अथवा नरक भूमि एक मात्र दुःख देने हेतु निर्मित है, इस लिए वह दुःखार्थ है । उस भूमि को पारकर पाना दुर्गम है, कठिन है । इसलिए वह दुर्ग है, मैं उसे बतलाऊँगा ।

पुनः सूत्रकार नरक भूमि की विशेषता बतलाते हैं-नरक भूमि ऐसी है जिसमें चारों ओर दीन हीन जीव निवास करते हैं, अर्थात् वह दैन्य युक्त प्राणियों का निवास स्थान है, उसमें दुष्कर्म, पाप अथवा पाप का फल असात वेदनीय विद्यमान रहता है, अतएव दुष्कृतिक कही जाती है । इसका आगे वर्णन

करूँगा । इस संदर्भ में 'दुक्कडिणं' ऐसा पाठान्तर भी प्राप्त होता है, जिसका अर्थ यह है कि नरक भूमि में जो पापी जीव निवास करते हैं, उन्होंने पूर्व भव में जो नरक भोगने योग्य कर्म अर्जित किये, बांधे, वह भी मैं बतलाऊँगा ।

❀ ❀ ❀

जे केइ बाला इह जीवियट्ठी, पावाइं कम्माइं करंति रुद्दा ।
ते घोररूवे तमिसंधयारे, तिव्वाभितावे नरए पडंति ॥३॥

छाया – ये केऽपि बाला इह जीवितार्थिनः पापानि कर्माणि कुर्वन्ति रौद्राः ।
ते घोर रूपे तमिस्त्रान्धकारे, तीव्राभितापे नरके पतन्ति ॥

अनुवाद – जो कतिपय बाल-अज्ञानी जीव अपने प्राणों की रक्षा के लिए, दूसरे प्राणियों की हिंसा आदि पाप कृत्य करते हैं, वे अत्यन्त भयानक अंधकार पूर्ण तीव्र अभिताप युक्त महादुःखप्रद नरक में पड़ते हैं, जाते है ।

टीका – ये केचन महारम्भपरिग्रहपञ्चेन्द्रियवधपिशितभक्षणादिके सावद्यानुष्ठाने प्रवृत्ताः 'बाला' अज्ञा रागद्वेषोत्कटास्तिर्यग्मनुष्या 'इह' अस्मिन्संसारे असय जीवितार्थिनः पापोपादानभूतानि 'कर्माणि' अनुष्ठानानि 'रौद्राः' प्राणिनां भयोत्पादकत्वेन भयानकाः हिंसानृतादीनि कर्माणि कुर्वन्ति, त एवम्भूतास्तीव्रपापोदयवर्तिनो 'घोररूपे' अत्यन्तभयानके 'तमिसंधयारे'त्ति बहलतमोऽन्धकारे यत्रात्मापि नोपलभ्यते चक्षुषा केवलमवधिनापि मन्दंमन्दमुलूका इवाह्निपश्यन्ति तथा चागमः-"किण्हलेसे णं भंते ! णेरइए किण्हलेस्सं णेरइअं पणिहाए ओहिणा सव्वओ समंता समभिलोएमाणे केवइयं खेत्तं जाणई ? केवइयं खेत्तं पासइ ? गोयमा ! णो बहुययरं खेत्तं जाणइ णो बहुययरं खेत्तं पासइ, इतिरियमेव खेत्तं जाणइ इत्त रियमेव खेत्तं पासइ" इत्यादि तथा तीव्रो-दुःसहः खदिराङ्गारमहाराशितापादनन्तगुणोऽभितापः-सन्तापो यस्मिन् स तीव्राभितापः तस्मिन् एवम्भूते नरके बहुवेदने अपरित्यक्त विषयाभिष्वङ्गाः स्वकृतकर्मगुरवः पतन्ति, तत्र च नानारूपा वेदनाः समनुभवन्ति, तथा चोक्तम्-

"अच्छड्डियविसयसुहो पडइ अविज्झायसिहि सिहाणि वहे । संसारोदहिवलयामुहंमि दुक्खागरे निरह ॥१॥
छाया- अत्यक्तविषय सुखःपतति अविध्यातशिखिशिखानिवहे। संसारोदधिवलयामुखे दुःखाकरे निरये॥१॥
पापक्कंतोरत्थलमुहकुहरूच्छलियरूहिरगंडूसे । करवत्तुक्कत्तदुहाविरिक्कविविईण्णदेहद्धे ॥२॥
छाया - पादाक्रान्तोरस्थलमुखकुहरोच्छलितरुधिरगंडूषे । करपत्रोत्कृत्तद्विधीभागविदीर्णदेहार्धे ॥१॥
जंतंतरभिज्जंतुच्छलंतसंसद्दभरियदिसिविवरे । डज्झंतुप्फिडियसमुच्छलंतसीसट्ठि संघाए ॥३॥
छाया - यंत्रान्तर्भिद्यदुच्छलत्संशब्दभृतदिग्विवरे । दह्यमानोत्स्फटितोच्छीर्षास्थिसंघाते ॥१॥
मुस्कक्कंदकडाहुक्कढ़तंदुक्कयकयंतकम्मंते । सूल विभिन्नुक्खित्तुद्धदेहणिट्ठंतपब्भारे ॥४॥
छाया - मुक्ताक्रंदकटाहोत्कह्यमानदुष्कृतान्त कर्मान्ते । शूलविभिन्नोत्क्षिप्तोर्ध्वदेहनिष्ठप्राग्भारे ॥१॥
सद्दंधयारदुग्गंधबंधणायारदुद्धरकिलेसे । भिन्नकरचरणसंकररूहिरवसादुग्गमप्पवहे ॥५॥
छाया - शब्दान्धकारदुर्गन्धबन्धनागारदुर्धरक्लेशो । भिन्नकरचरणसंकररूधिरवसादुर्गमप्रवाहे ॥१॥

गिद्धमुहणिद्दउक्खित्त बंधणोमुद्दकंवरिकबंधे । दढगहियतत्तसंडासयग्गविसमुक्खुडियजीहे ॥६॥

छाया-गृध्रमुखनिर्दयोत्क्षिप्तबन्धन्योन्मूर्धक्रन्दत्क बन्धे । दृढगृहीततप्तसंदशकाग्रविषयोत्पारित जिब्हे॥१॥

तिक्खङ्कुसग्गकड्ढियकंटयरुक्खग्गजज्जरसरीरे । निमिसंतरंपिदुल्लहसोक्खेऽवक्खे वदुक्खंमि ॥७॥

छाया - तीक्ष्णाङ्कुशाग्रकर्षितकंटकवृक्षाग्र जर्जरशरीरे । निमेषान्तरमपि दुर्लभसौख्येऽव्याक्षेपदु:खे॥१॥

इय भीसणंमि णिरए पंडति जे विविहसत्तवहनिरया । सच्चब्भट्ठा य नरा जयंति कम पावसंघाया ॥८॥ इत्यादि ॥३॥ किञ्चान्यत् -

छाया - इतिभीषवो निरये विविधसत्त्ववधनिरता: । सत्यभ्रष्टाश्चनरा जगति कृतपापसंघाता: ॥१॥

टीकार्थ – राग और द्वेष से युक्त जो मनुष्य एवं तिर्यञ्च प्राणी महा आरम्भ एवं महापरिग्रह में संलग्न हैं, तथा पंचेन्द्रिय प्राणियों के वध और अमिष सेवन आदि पापमय कार्यों में प्रवृत्त रहते हैं, असंयममय जीवन की इच्छा रखते हुए इस संसार में पापजनक कार्य करते हैं, प्राणियों के लिए भय जनक होने के कारण भयावह बनकर जीवों की हिंसा, असत्य भाषण आदि अकार्य करते हैं, ऐसे प्राणी अपने तीव्र पापों का उदय होने पर अत्यन्त भयोत्पादक तथा अपनी आँखों से जहाँ अपना शरीर भी दृष्टि गोचर नहीं होता, अवधि ज्ञान होते हुए भी दिन में उल्लू पक्षी की तरह जो अत्यल्प देख पाते हैं, ऐसे भयोत्पादक अंधकारमय नरक में पड़ते हैं ।

इस सम्बन्ध में आगम में वर्णन है -

हे भगवन् ! कृष्ण लेश्या युक्त नारक जीव, कृष्ण लेश्यामय अन्य नारक जीव को अवधि ज्ञान द्वारा चारों ओर देखता हुआ कितने क्षेत्र पर्यन्त जानता है, देखता है ?

गौतम ! बहुतर क्षेत्र तक नहीं जानता तथा नहीं देखता किन्तु इत्वरिक-स्वल्प क्षेत्र तक जानता है, और स्वल्प ही क्षेत्र तक देखता है । वह नारक तीव्र अर्थात् दु:सह-जिसे सहना बहुत कष्टकर होता है, खदिर के अंगार की महाराशि से भी अधिक ताप से युक्त होता है, जो विषय भोग के सुखों का त्याग नहीं करते, ऐसे भारी कर्मा प्राणी इस प्रकार के अत्यन्त वेदनामय नरकों में गिरते है, और वे वहाँ तरह-तरह की वेदनाएँ भोगते हैं । कहा है -

जो पुरुष विषय सुख का परित्याग नहीं करता, वह उस नरक में गिरता है, जिसमें प्रज्वलित अग्नि की शिखाएं-लपटें विद्यमान हैं जो संसार में दु:ख का बहुत बड़ा स्थान है । नरक में परमाधार्मिक देव नारकीय जीवों की छाती को इस प्रकार पैरों से रोंदते हैं, उछालते हैं कि उनके मुख से खून के फव्वारे छूटने लगते हैं, वे लौह के तीक्ष्ण आरे द्वारा उनके शरीर को चीर कर दो भाग कर देते हैं । नरक में छेदन भेदन किए जाते प्राणियों के कोलाहल से सब दिशाएं भरी रहती हैं, जलते हुए नारकीय जीवों की रक्तपड़ियां और अस्थियाँ चटकती हुई उछलती है । पीड़ा के कारण नारकीय जीव अत्यन्त क्रन्दन करते हैं । उन्हें कड़ाव में भूनकर उनके पापों का फल दिया जाता है । शूल में पिरोकर उनके शरीर ऊपर उठाये जाते हैं, वह ऐसा स्थान है, जहाँ बड़े भयानक शब्द होते हैं, घोर अंधेरा है तथा बड़ी तेज बदबू आती है । नारकीय जीवों के बंधन गृह हैं, जहाँ उन्हें असह्य कष्ट दिया जाता है, कटे हुए हाथ पैरों से रिसते रक्त और चर्बी का भीषण प्रवाह, जहाँ नारकीय जीवों के सिरों को काट-काटकर सिरों और धड़ों को अलग-अलग कर फेंका जाता है, जलती हुई संडासी द्वारा जहाँ नारकीय जीवों की जिह्वायें उत्पाटित की जाती हैं, जहाँ तीक्ष्ण किनारों वाले कांटों से युक्त पेड़ों के साथ नारकीय जीवों के शरीर रगड़कर जर्जर कर दिए जाते हैं, क्षत विक्षत कर दिए जाते हैं इस प्रकार जहाँ आँख की पलक झपकने तक के समय के लिए भी प्राणियों को सुख प्राप्त नहीं होता, निरन्तर दु:ख ही दु:ख होता है ।

नाना प्रकार के प्राणियों का व्यापादन करने वाले, असत्यवादी तथा पाप राशि उत्पन्न करने वाले पुरुष इस प्रकार के भयावह नरकों में जाते हैं -

❀ ❀ ❀

तिव्वं तसे पाणिगो थावरे य, जे हिसंती आयसुहं पडुच्चा ।
जे लूसए होइ अदत्त हारी, ण सिक्खती सेयवियस्स किंचि ॥४॥

छाया – तीव्रं त्रसान् स्थावरान् योहिनस्त्यात्मसुखं प्रतीत्य ।
योलूषको भवत्यदत्तहारी, न शिक्षते सेवनीयस्य किञ्चित् ॥

अनुवाद – जो पुरुष अपने सुख सुविधा हेतु त्रस एवं स्थावर प्राणियों की तीव्रता-निष्करूणता के साथ हिंसा करता है, उनका उपमर्दन करता है, कष्ट देता है तथा किसी अन्य व्यक्ति की वस्तु उसके बिना दिये ले लेता है, वह सेवनीय-सेवन करने योग्य संयम का जरा भी पालन नहीं करता ।

टीका – तथा 'तीव्रम्' अतिनिरनुकम्प रौद्रपरिणामतया हिंसायां प्रवृतः, त्रस्यन्तीति त्रसाः-द्वीन्द्रियादयस्तान् तथा 'स्थावरांश्च' पृथिवीकायादीन् 'यः' कश्चिन्महामोहोदयवर्ती 'हिनस्ति' व्यापादयति 'आत्मसुखं प्रतीत्य' स्वशरीरसुखकृते, नानाविधैरूपायैर्यः प्राणिनां 'लूषक' उपमर्दकारी भवति, तथा अदत्तमपहर्तुं शीलमस्या सावदत्तहारी-परद्रव्यापहारकः तथा 'नशिक्षते' नाभ्यस्यति नादत्ते 'सेयवियस्स' त्ति सेवनीयस्यात्महितैषिणा सदनुष्ठेयस्य संयमस्य किञ्चिदिति, एतदुक्तम् भवति-पापोदयाद्विरतिपरिणामं काकमांसादेरपि मनागपि न विधत्त इति ॥४॥ तथा -

टीकार्थ – जो पुरुष महामोहनीय कर्म के उदित होने पर अपने सुख हेतु अत्यन्त निर्दयतापूर्वक रौद्र परिणाम-क्रोधावेश के साथ हिंसा में संलग्न हैं, द्विन्द्रिय एवं त्रस प्राणियों और पृथ्वीकाय आदि स्थावर प्राणियों का विनाश करता एवं उन्हें तरह-तरह के उपायों से कष्ट देता है और बिना दिये किसी अन्य का द्रव्य हर लेता है, वह आत्म कल्याण के लिए आचरण करने योग्य संयम का जरा भी सेवन नहीं करता ।

❀ ❀ ❀

पागब्भि पाणे बहुणं तिवाति, अतिव्वतेघातमुवेति बाले ।
णिहो णिसं गच्छति अंतकाले, अहो सिरं कट्टु उवेइ दुग्गं ॥५॥

छाया – प्रागल्भी प्राणानां बहूनामतिपाती, अनिर्वृतो घातमुपैति बालः ।
न्यग् निशां गच्छत्यन्तकाले, अधः शिरः कृत्वोपैति दुर्गम् ॥

अनुवाद – जो पुरुष जीवों के अतिपात-व्यापादन में बड़ा प्रगल्भ-ढीठ है और धृष्टता पूर्वक बहुत से जीवों को नष्ट करता है, सदा क्रोध की आग से जलता रहता है वह अज्ञानी नर्क को प्राप्त करता है । वह मरकर नीचे-अधोलोक में अन्धकार में, नीचा सिर किये अत्यन्त पीड़ाप्रद स्थान को प्राप्त करता है।

टीका – 'प्रागल्भ्यं' धाष्टर्य तद्विद्यते यस्य स प्रागल्भी, बहूनां प्राणिनां प्राणानतीव पातयितुं शीलमस्य स भवत्यति पाती, एतदुक्तं भवति-अतिपात्यपि प्राणिनः प्राणानतिधार्ष्टाद्वदति यथा-वेदाभिहिता हिंसा हिंसैव न भवति, तथा राज्ञामयं धर्मो यदुत आखेटबकेन विनोदक्रिया, यदि वा -

"न मांस भक्षणे दोषो, न मद्ये न च मैथुने । प्रवृत्तिरेषा भूतानां, निवृत्तिस्तु महाफला ॥१॥"

इत्यादि तदेवं क्रूरसिंहकृष्ण सर्पवत् प्रकृत्यैव प्राणातिपातानुष्ठायी 'अनिर्वृतः' कदाचिदप्यनुपशान्तः क्रोधाग्निना दह्यमानो यदि वा-लुब्धकमत्स्यादिधकजीविकाप्रसक्तः सर्वदा वधपरिमामपरिणतोऽनुपशान्तो हन्यन्ते प्राणिनः स्वकृतकर्मविपाकेन यस्मिन् स घातो-नरकस्तमुप-सामीप्येनैति-याति, कः ?-'बालः' अज्ञो रागद्वेषोदयवर्ती सः 'अन्तकाले' मरणकाले 'निहो'त्ति न्यगधस्तात् 'णिसंति अन्धकारम्, अधोऽन्धकारं गच्छतीत्यर्थः तथा-स्वेन दुश्चरितेनाधः शिरः कृत्वा 'दुर्गं' विषमं यातनास्थानमुपैति, अवाक्शिरा नरके पततीत्यर्थः ॥५॥ साम्प्रतं पुनरपि नरकान्तर्वर्तिनो नारका यदनुभवन्ति तद्दर्शयितुमाह -

टीकार्थ – यहां ढीठ पन को प्रागल्भ भय या प्रगल्भता कहा जाता है । जो पुरुष ढीठ होता है उसे प्रागल्भी भी कहते हैं । जिसका स्वभाव बहुत से प्राणियों का अत्यन्त घात या हनन करने का है, वह अतिपाति कहा जाता है । कहने का तात्पर्य यह है कि जो पुरुष प्राणियों की हिंसा करता हुआ धृष्टता के साथ कहता है कि वेद में विहित हिंसा-वेद में जिस हिंसा का विधान है, वह हिंसा वास्तव में हिंसा नहीं है, अथवा राजाओं का तो यह धर्म आचार है, वे आखेट द्वारा अपना मनोविनोद करते हैं, मांस भक्षण, मदिरापान, अब्रह्मचर्य सेवन में दोष नहीं है क्योंकि ये कार्य जीवों के लिए स्वभाव सिद्ध है । इनसे निवृत्त-इनका त्याग करने का महान् फल है । जो निर्दय शेर और काले नाग के समान स्वभाव से ही प्राणियों का प्राणातिपात-घात करता है अथवा जो पशु वध, मत्स्यवध द्वारा आजीविका चलाता है, जो सदा वध परिणाम मारने की भावना लिए रहता है, कभी शान्त नहीं होता वह नर्क में जाता है । जहाँ अपने किये हुये कर्मों का फल भोगने के रूप में प्राणियों को मारा जाता है । वह कौन है ? वह अज्ञ है-विवेक रहित है । उसके राग और द्वेष उदित हैं । वह मरकर नीचे-अधोलोक में-अन्धकार में जाता है । अपने द्वारा किये गये पापों के फल स्वरूप नीचा सिर किये भयंकर यातनापूर्ण स्थान को प्राप्त होता है । इसका यह तात्पर्य है कि वह नीचा सिर किये नर्क में गिरता है ।

❀ ❀ ❀

हण छिंदह भिंदह णं दहेति, सद्दे सुणिंता परहम्मियाणं ।
ते नारगाओ भयभिन्नसन्ना, कंखंति कन्नाम दिसं वयामो ॥६॥

छाया – जहि छिन्धि भिन्धि दह इति शब्दान् श्रुत्वा परमाधार्मिकाणाम् ।
ते नारकाः भयभिन्नसंज्ञाः कांक्षन्ति कां नाम दिशं व्रजामः ॥

भावार्थ – परमाधार्मिक देवों द्वारा कहे गये मारो, छिन्न कर दो, काट डालो, भेदन करो, जला दो इत्यादि शब्द सुनकर नारक प्राणी भय से संज्ञाविहीन हो जाते हैं, अपना होश भूल जाते हैं । वे चाहते हैं कि हम किसी दिशा में कहीं भाग जाये ।

टीका – तिर्यङ्मनुष्यभवात्सत्त्वा नरकेषूत्पन्ना अन्तर्मुहूर्तेन निर्लूनाण्डजसन्निभानि शरीराण्युत्पादयन्ति, पर्याप्तिभावमागताश्चातिभयानकान् शब्दान् परमाधार्मिकजनितान् शृण्वन्ति, तद्यथा-'हत' मुद्गरादिना 'छिन्त' खड्गादिना 'भिन्त' शूलादिना 'दहत' मुर्मुरादिना, णमितिवाक्यालङ्कारे, तदेवम्भूतान् कर्णासुखान् शब्दान् भैरवान् श्रुत्वा ते तु नारका भयोद्भ्रान्तलोचना भयेनभीत्या भिन्ना-नष्टा संज्ञा-अन्तःकरणवृत्तिर्येषां ते तथा नष्टसंज्ञाश्च 'कां दिशं व्रजामः' कुत्रगतानामस्माकमेवम्भूतस्यास्य महाघोरवदारुणस्यदुःखस्य त्राणंस्यादित्येतत्काङ्क्षन्तीति ॥६॥ ते च भयोद्भ्रान्ता दिक्षुनष्टा यदनुभवन्ति तद्दर्शयितुमाह -

टीकार्थ – नरक में उत्पन्न प्राणी ज्यों दुःख अनुभव करते हैं उनका दिग्दर्शन कराने हेतु सूत्रकार कहते हैं-तिर्यंच योनि और मनुष्य योनि छोड़कर नर्क में पैदा होने वाले प्राणियों के शरीर अन्तमुहूर्त में अण्डे से निकले हुए रोम और पंख रहित पक्षी की तरह उत्पन्न होते हैं। तत्पश्चात् वे पर्याप्ती भाव को प्राप्त कर अत्यन्त भयोत्पादक नारद देवों के शब्द सुनते हैं। जैसे इन्हें मुद्गर आदि से मारो, तलवार आदि से इनका छेदन करो-काटो, शूल आदि द्वारा इनका वेधन करो-इनको उनमें पिरो लो, मुरमुर तुस याभुसे आदि द्वारा इन्हें जलाओ, यहाँ णं शब्द वाक्यालंकार के अर्थ में आया है। वे नारक इस प्रकार कानों के लिए कष्टप्रद अत्यन्त भयानक शब्दों को सुनकर भयभीत हो जाते हैं, उनकी आँखें चौंधिया जाती हैं तथा चित्त काँप उठता है। वे चाहते हैं कि हम किस दिशा में जांये, कहाँ जाये जिससे इन अत्यन्त घोर तथा दारूण दुःखों से अपने को बचा सके।

❀ ❀ ❀

इंगालरासिं जलियं सजोतिं, तत्तोवमं भूमिमणुक्कमंता।
ते डज्जमाणा कलुणं थणंति, अरहस्सरा तत्थ चिरट्ठितीया ॥७॥

छाया – अङ्गारराशिं ज्वलितं सज्योतिः तदुपमां भूमिमनुक्रामन्तः।
ते दह्यमानाः करुणं स्तनन्ति अरहस्वरा स्तत्र चिरस्थितिकाः॥

अनुवाद – जैसे जलते हुये अंगारों की राशि बहुत तप्त गर्म होती है तथा अग्नि सहित पृथ्वी अत्यन्त उष्ण होती है, आग उगलती है, उसी तरह नरक भूमि अत्यन्त परितप्त हैं। उस पर चलते हुए नरक के प्राणी जलते रहते हैं तथा बड़े जोर से क्रन्दन करते हैं। वे वहाँ दीर्घकाल तक निवास करते हैं।

टीका – 'अङ्गारराशिं' खरिदाङ्गारपुञ्जं 'ज्वलितं' ज्वालाकुलं तथा सह ज्योतिषा-उद्योतेन वर्तत इति सज्योर्तिभूमिः, तेनोपमा यस्याः सा तदुपमा तामङ्गारसन्निभां भूमिमाक्रमन्तस्ते नारका दन्दह्यमानाः 'करुणं' दीनं 'स्तनन्ति' आक्रन्दन्ति, तत्र बादराग्नेरभावात्तदुपमां भूमिमित्युक्तम्, एतदपि दिग्दर्शनार्थमुक्तम्, अन्यथा नारकातापस्येहत्याग्निना नोपमा घटते, ते च नारका महानगरदाहाधिकेन तापेन दह्यमाना 'अरहस्वरा' प्रकटस्वरा महाशब्दाः, सन्तः 'तत्र' तस्मिन्नरकावासे चिरं-प्रभूतं कालं स्तितिः-अवस्थानं येषां ते तथा तथाहि-उत्कृष्टतस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि जघन्यतो दशवर्षसहस्राणि तिष्ठन्तीति ॥७॥

टीकार्थ – जैसे जलते हुए खदीर-खैर के अंगारों की राशि होती है, अग्नि सहित पृथ्वी होती है नरक भूमि भी उन जैसी है-उपमित है। अंगारों के ढेर के सदृश उस भूमि पर चलते हुये और जलते हुये नरक के प्राणी करुण क्रन्दन करते हैं-बड़े दुःख के साथ चिल्लाते चीखते हैं। नरक में बादर-स्थूल अग्नि नहीं होती। इसलिए सूत्रकार ने नरक की भूमि को बादर अग्नि से उपमित किया है, उसके समान बतलाया है। यह उपमा तो दिग्दर्शन मात्र है क्योंकि नरक के ताप को यहाँ की अग्नि की उपमा नहीं दी जा सकती। किसी बड़े नगर में लगी हुई आग से भी अधिक, परिताप से जलते हुए नरक के प्राणी बड़ा क्रन्दन कोलाहल करते हैं। वे नरक में बहुत समय तक वास करते हैं। वे उत्कृष्ट-अधिक से अधिक तैंतीस सागरोपम काल तक तथा जघन्य कम से कम दस सहस्त्र वर्षों तक नरक में वास करते हैं।

❀ ❀ ❀

जइ ते सुया वेयरणी भिदुग्गा, णिसिओ जहा खुर इव तिक्खसोया।
तरंति ते वेयरणीं भिदुग्गां, उसु चोइया सत्तिसु हम्ममाणा ॥८॥

छाया – यदि ते श्रुता वैतरण्यमिदुर्गा निशितो यथा क्षुरइवतीक्ष्णस्त्रोताः ।
तरन्ति ते वैतरणी मभिदुर्गामिषु चोदिताः शक्तिसुहन्यमानाः ॥

अनुवाद – उस्तरे के समान तेज धार से युक्त वैतरणी नदी के सम्बन्ध में सम्भवतया तुमने सुना होगा। वह नदी बड़ी दुर्गम है । उसे पार करना उसके पास जाना बहुत कठिन है । तीक्ष्ण बाण-बाण जैसे तीखे लोहे के कांटे एवं शक्ति-शूल आदि तीखी नोंक वाले शस्त्रों से हन्यमान मारे जाते, सताये जाते नरक के प्राणी घबरा कर उस नदी में कूद पड़ते हैं ।

टीका – अपिच – सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिनं प्रतीदमाह-यथा भगवतेदमाख्यातं यदि 'ते'त्वया श्रुता-श्रवणपथमुपागता 'वैतरणी' नाम क्षारोष्णरूधिराकारजलवाहिनीनदी आभिमुख्येन दुर्गा अभिदुर्गा-दुःखोत्पादिका, तथा-निशितो यथा क्षुरस्तीक्ष्णो भवत्येवं तीक्ष्णानि-शरीरावयवानां कर्तकानि स्त्रोतांसि यस्याः सा तथा, ते च नारकास्तप्ताङ्गारसन्निभां भूमिं विहायोदकपिपासवोऽभितप्ताः सन्तस्तापापनोदायाभिषिषिक्षवो वा तां वैतरणी मभिदुर्गां तरन्ति, कथम्भूताः ? इषुणा-शरेण प्रतोदेनेव चोदिताः- प्रेरिताः शक्तिभिश्च हन्यमानास्तामेव भीमां वैतरणीं तरन्ति, तृतीयार्थे सप्तमी ॥८॥ किञ्च -

टीकार्थ – श्री सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी से कहते हैं कि भगवान महावीर ने जिसके विषय में आख्याद किया है-कहा है उस वैतरणी नामक नदी के सम्बन्ध में तुमने सुना होगा उस नदी में ऐसा पानी बहता रहता है, जो खारा है, उष्ण है और रक्त के सदृश है । जैसे एक उस्तरे की धार बड़ी तेज होती है उसी तरह उस नदी की धारा बड़ी तीव्र है । उस धारा के नारक जीवों के लगने से नारक जीवों के अंग कट जाते हैं । इसलिए बड़ी दुर्गम है-दुःखोत्पादक है । उसमें जो प्राणी बहते हैं, वह उनमें बड़ा दुःख उत्पन्न करती है, तप्त एवं पिपासित नरक के प्राणी अंगारों के समान अत्यन्त उष्ण नरक भूमि का परित्याग कर अपना ताप मिटाने हेतु स्नान करने हेतु उस भयानक नदी में कूद पड़ते हैं । वे नरक के प्राणी कैसे हैं ? मानों उनके बाण लोहे के तीखे काँटे अथवा शूल-तीखे अकुंश आदि चुभोकर उन्हें पीडित किया गया हो । वैसी दशा में वे भयंकर वैतरणी नदी में कूद जाते हैं तैरते है, यहाँ तृतीया विभक्ति के रूप में सप्तमी विभक्ति हुई है ।

❀ ❀ ❀

कीलेहिं विज्झंति असाहुकम्मा, नावं उविंते सइ विप्पहूणा ।
अन्ने तु सूलाहिं तिसूलियाहिं, दीहाहिं विध्धूण अहे करंति ॥९॥

छाया – कीलेषु विध्यन्ति, साधुकर्माणः नावमुपयतः स्मृति विप्रहीनाः ।
अन्ये तु शूलैस्त्रिशूलै दीर्घैर्विध्द्वऽधः कुर्वन्ति ॥

अनुवाद – वैतरणी के क्लेश से उत्पीड़ित नारक के प्राणी नौका पर चढ़ने के लिए आने लगते हैं तब उन पर पहले से स्थित नारक देव उन अभागों की गर्दन कीलों से भेद डालते हैं । जो वैतरणी के दुःख से पहले से ही अपना भान भूल चुके हैं, होश हवाश गवाँ चुके हैं । वे नरक के जीव इस दुःख से और अधिक व्यथित हो उठते हैं । उन्हें कहीं दूसरे नरक देव अपने मनोविनोद हेतु नर्क गत प्राणियों को शूलों, त्रिशूलों में पिरोकर पृथ्वी पर पटक डालते हैं ।

टीका – तांश्च नारकानत्यन्तक्षारोष्णेन दुर्गन्धेन वैतरणीजलेनाभिप्तानायसकीलाकुलां नावमुपगच्छतः पूर्वारूढा 'असाधुकर्माणः' परमाधार्मिकाः 'कीलेषु' कण्ठेषु विध्यन्ति, ते च विध्यमानाः लककलायमानेन

सर्वस्रोतोऽनुयायिना वैतरणीजलेन नष्टसंज्ञा अपि सुतरां 'स्मृतया विप्रहीणा' अपगतकर्तव्यविवेकाभवन्ति, अन्ये पुनर्नरकपालानारकैः क्रीडतस्तान्नष्टांस्त्रिशूलिकाभिः शूलाभिः 'दीर्घिकाभिः' आयताभिर्विध्वा अधोभूमौ कुर्वन्तीति ॥९॥ अपिच -

टीकार्थ – वैतरणी नदी के अत्यन्त खारे, उष्ण और दुर्गन्ध युक्त पानी से तपे हुये दुःखित बेचारे नारकीय प्राणी उस नदी में चलायी जाती लोहे के तीखे कीलों से युक्त-कांटों से युक्त नौका पर आने लगते हैं, तो पहले से ही उन नौकाओं पर बैठे हुये नारक देव उन प्राणियों के गले में तीखे कीले चुभोते हैं । वे नरकगत प्राणी कल-कल शब्द के साथ बहती हुई वैतरणी के जल से संज्ञाहीन होते ही है, फिर तीखे काँटों से पीड़ा पाते हुये और अधिक स्मृति शून्य हो जाते हैं । उन्हें अपने कर्त्तव्य का जरा भी ज्ञान नहीं रहता । दूसरे नरक पाल-नारक देव नरकगत जीवों के साथ क्रीड़ा करते हुए उन संज्ञारहित अभागे जीवों को लम्बे लम्बे शूलों-त्रिशूलों में पिरोकर जमीन पर पछाड़ देते हैं ।

❀ ❀ ❀

केसिं च बंधितु गले सिलाओ, उदगंसि बोलंति महालयंसि ।
कलुंबुयावालुय मुम्मुरे य लोलंति पच्चंति अ तत्थ अन्ने ॥१०॥

छाया – केषां च बद्धवा गले शिलाः, उदके मज्जयन्ति महालये ।
कलम्बुकाबालुकायां मुमुरि च लोलयन्ति पचन्ति च तत्राऽन्ये ॥

अनुवाद – नरक पर कई नरकपाल किन्हीं नरकगत प्राणियों के गले में पत्थर की शिला बाँधकर उन्हें अगाध जल में डूबो देते हैं । तथा कई अन्य नरकपाल अत्यन्त परितप्त गर्म बालू में तथा तुषाग्नि में उन नरक के प्राणियों को इधर उधर घसीटते हैं, रगड़ते हैं, या पकाते हैं ।

टीका – केषांचिन्नारकाणां परमाधार्मिका महतीं शिलां गले बद्धवा महत्युदके 'बोलंति' त्ति, निमज्जयन्ति, पुस्ततः समाकृष्य वैतरणीनद्याः कलम्बुकावालुकायां मुर्म्मुराग्नै च 'लोलयन्ति' अतितप्तवालुकायां चणकानिव समन्ततो घोलयन्ति, तथा अन्ये 'तत्र' नरकावासे स्वकर्मपाशावपाशितान्नकारन् सुण्ठके प्रोतकमांसपेशीवत् 'पचन्ति' भर्जयन्तीति ॥१०॥ तथा -

टीकार्थ – नारक देव किन्हीं नरकगत जीवों के गले में बड़ी-बड़ी पाषाण शिलायें बाँध देते हैं और उन्हें अगाध जल में निमज्जित कर देते हैं, डुबो देते हैं, फिर वे उनको वहाँ से खींच लेते हैं, और परितप्त-उष्णता से लाल बनी बालू में, तुषाग्नि में डालकर घिसते हैं, रगड़ते हैं । बहुत तपी हुई बालू में चनों की भूंजने की ज्यों इधर उधर घुमाते हैं । अन्य परमाधार्मिक देव अपने कर्मों के जाल में ग्रस्त उन नरकगत जीवों को शूल में पिरोकर पकाये जाने वाले मांस की तरह पकाते हैं ।

❀ ❀ ❀

आसूरियं नाम महाभितावं, अंधंतमं दुप्पतरं महंतं ।
उड्ढं अहेअं तिरियं दिसासु, समाहिओ जत्थऽगणी झियाई ॥११॥

छाया – असूर्य्यं नाम महाभितापमन्धन्तमं दुष्प्रतरं महान्तम् ।
ऊर्ध्वं मधस्तिर्य्यग्दिशासु समाहितो यत्राग्निः प्रज्वलति ॥

अनुवाद – पापी जीव ऐसे नरकों में जाते हैं, जहाँ सूर्य नहीं है, घोर परिताप है, जो अंधेरे में भरे हुए हैं, जिन्हें पार करना अत्यन्त दुष्कर है, जो बहुत विशाल है, उपर नीचे और तिर्यक् दिशाओं में सर्वत्र जहाँ आग जलती रहती है ।

टीका – न विद्यते सूर्यो यस्मिन् सः असूर्यो-नरको बहलान्धकारः कुम्भिकाकृतिः सर्व एव वा नरकावासोऽसूर्य इति व्यपदिश्यते, तमेवम्भूतं महाभिताम् अन्धतमसं 'दुष्प्रतरं' दुरुत्तरं 'महान्तं' विशालं नरकं महापापोदयाद्व्रजन्ति, तत्र च नरके ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् सर्वतः 'समाहितः' सम्यगाहितो व्यवस्थापितोऽग्निर्ज्वलतीति, पठ्यते च 'समूसिओ जत्थऽगणी झियाई' यत्र नरके सम्यगूर्ध्वं श्रितः-समुच्छ्रितोऽग्निः प्रज्वलित तं तथाभूतं नरकं वाराकाव्रजन्ति इति ॥१६॥ किञ्चान्यत् –

टीकार्थ – सूर्य रहित-जिसमें सूर्य नहीं रहता, घोर अंधकार मय, कुम्भिका के सदृश आकार युक्त असूर्य नामक एक नरक है । अथवा सभी नरक असूर्य कहे जाते हैं । पापी प्राणी अपने पाप के उदय के परिणाम स्वरूप ऐसे अत्यधिक तापयुक्त, सघन अंधकार पूर्ण, दुर्गम-दुःख से पार करने योग्य विशाल नरक में जाते हैं । वहाँ ऊपर से नीचे तथा सभी तिरछी दिशाओं में अग्नि प्रज्वलित रहती है। यहाँ 'समूसिओ-समुच्छ्रित पाठ भी प्राप्त होता है । उसके अनुसार वे पापी अभागे प्राणी ऐसे नरक में जाते हैं, जिसमें बहुत ऊपर तक उठी हुई लपटों से युक्त आग जलती रहती है ।

❀ ❀ ❀

जंसी गुहाए जलणेऽतिउट्टे, अविजाणओ उज्झइ लुत्तपण्णो ।
सया य कलुणं पुण धम्मठाणं, गाढोवणीयं अतिदुक्खधम्मं ॥१२॥

छाया – **यस्मिन् गुहायां ज्वलेनऽतिवृत्तोऽविजानन् दह्यते, लुप्त प्रज्ञः ।**
सदा च करुणं पुनर्धर्मस्थानं गाढोपनीत मतिदुःखधर्मम् ॥

अनुवाद – एक ऐसी नरक भूमि है, जिसमें गुफा की आकृति में अग्नि स्थापित है-आग जलती रहती है, जिसमें पड़े हुए नारकीय जीव आत्मविस्मृत और संज्ञा विहीन होकर जलते हैं, उन्हें अपने आपका जरा भी होश-हवाश नहीं रहता । नरक भूमि अत्यन्त करुणोत्पादक और परिताप पूर्ण स्थान है, अत्यधिक दुःखप्रद है, पाप कर्मों के परिणाम स्वरूप वहाँ जाना पड़ता है ।

टीका – 'यस्मिन्' नरकेऽतिगतोऽसुमान् 'गुहाया' मित्युष्ट्रिकाकृतौ नरके प्रवेशितो 'ज्वलने' अग्नौ 'अतिवृत्तः' अतिगतो वेदनाभिभूतत्वात्स्वकृतं दुश्चरितमजानन् 'लुप्तप्रज्ञः' अपगताविधिविवेको दन्दह्यते, तथा 'सदा' सर्वकालं पुनः करुणप्रायं कृस्नं वा 'धर्मस्थानम्' उष्णस्थानं तापस्थानमित्यर्थः 'गाढं'ति अत्यर्थम् 'उपनीतं' ढौकितं दुष्कृतकर्मकारिणां यत् स्थानं तत्ते व्रजन्ति, पुनरपि तदेव विशिनष्टि-अतिदुःखरूपो धर्मः-स्वभावो यस्मिन्निति, इदमुक्तं भवति-अक्षिनिमेषमात्रमपि कालं न तत्र दुःखस्य विश्राम इति, तदुक्तम् –

अच्छिणिमीलणमेत्तं णत्थि सुहं दुक्खमेव पडिबद्धं । णिरए णेरइयाणं अहोणिसं पच्चमाणाणं ॥१॥ ॥१२॥ अपिच –

छाया – अक्षिनिमीलनमात्रं नास्ति सुखं दुःखमेव प्रतिवद्धं । निरयैनैरयिकाणां अहर्निशं पच्यमानानाम् ॥१॥

टीकार्थ – जिस नरक में गत प्राणी गुफा के आकार में या ऊँट सदृश आकार में स्थित नरक भूमि में प्रविष्ट होकर वहाँ प्रज्वलित आग में जलता हुआ वेदना से अत्यन्त व्यथित होकर अपने पाप को नहीं जानता,

उसकी प्रज्ञा लुप्त हो जाती है । वह अपगत विवेक-विवेक शून्य होकर अत्यधिक जलता रहता है । वह नरक सभी काल-वर्तमान, भूत और भविष्य में करूणप्रायः-करुणोत्पादक है, अथवा सम्पूर्णतः ऊष्ण स्थान है । पाप करने वाले प्राणियों को वह प्राप्त होता है, अर्थात् पापी जीव उसमें जाते हैं । उस स्थान की विशेषता बताते हुए सूत्रकार कहते हैं-वह अत्यन्त दुःखरूप है । कहने का तात्पर्य यह है कि नेत्रनिमेष मात्र भी समय वहाँ दुःख से छूटने का नहीं मिलता । कहा है-नैत्र के पलक झपकने के समय में भी नारकीय जीव सुख नहीं पाते, वे निरन्तर नरक में पकते हुए, पीडित होते हुए कष्ट भोगते रहते हैं ।

❀ ❀ ❀

चत्तारि अगणीओ समारभित्ता, जहिंक्रूरकम्माऽभितविंति बालं ।
ते तत्थ चिट्ठंतऽभितप्पमाणा मच्छा व जीवंतु व जोतिपत्ता ॥१३॥

छाया – चतसृष्वग्नीन् समारभ्य, यस्मिन् क्रूरकर्माणोऽभितापयन्ति बालम् ।
ते तत्र तिष्ठन्त्यभितप्यमाना मत्स्या इव जीवन्त उपज्योतिः प्राप्ताः ॥

अनुवाद – नरक में परमाधामी देव चारों दिशाओं में चार प्रकार की अग्नियाँ जलाकर अज्ञजीवों को परितप्त करते हैं । जैसे जीवित मछली को आग में डाल दिया जाय तो वह वही परितप्त होती हुई, जलती हुई पड़ी रहती है, उसी तरह वे नारक आग में जलते हुए पड़े रहते हैं ।

टीका – चतसृष्वपि दिक्षु चतुरोऽग्नीन् समारभ्य 'प्रज्वाल्य' यत्र यस्मिन्नरकावासे 'क्रूरकर्माणो' नरक पाला आभिमुख्येनात्यर्थं तापयन्ति-भट्टित्रवत्पचन्ति 'बालम्' अज्ञं नारकं पूर्वकृतदुश्चरितं ते तु नारकजीवा एवम् 'अभितप्यमानाः 'कदर्थ्यमानाः स्वकर्मनिगडितास्तत्रैव प्रभूतं कालं महादुःखाकले नरके तिष्ठन्ति, दृष्टान्तमाह-यथा जीवन्तो 'मत्स्या' मीना 'उपज्योतिः' अग्नेः समीपे प्राप्ताः परवशत्वादन्यत्र गन्तुमसमर्थास्तत्रैव तिष्ठन्ति, एवं नारका अपि, मत्स्यानां तापासहिष्णुत्वादग्नावत्यन्तं दुःखमुत्पद्यत इत्यतस्तद्ग्रहणमिति ॥१३॥ किञ्चान्यत्-

टीकार्थ – नरक स्थान में क्रूर कर्मा-निर्दय नरकपाल चारों दिशाओं में चारों अग्नियाँ प्रज्वलित कर उन अज्ञानी नारक जीवों को जिन्होंने पूर्वजन्म में पाप किये, भट्टी की तरह अत्यन्त ताप देते हुए पकाते हैं, यों कदर्थित-उत्पीड़ित होते हुए वे नारक प्राणी अपने कर्मपाश में बंधे होने के कारण उस अत्यन्त दुःखप्रद नरक में दीर्घ काल तक पड़े रहते हैं । इस सम्बन्ध में एक दृष्टान्त देते हैं-जैसे एक जीवित मछली अग्नि के समीप पहुंचकर उसमें पड़कर परवश होने के कारण अन्यत्र नहीं जा सकती उसी जगह पड़ी रहती है, नारकीय प्राणी भी उसी की ज्यों नरक में पड़े रहते हैं, मछली परिताप नहीं सह सकती इसलिए उसे अग्नि में बहुत दुःख होता है, इसी कारण मछली का दृष्टान्त दिया गया है ।

❀ ❀ ❀

संतच्छणं नाम महाहितावं, ते नारया जत्थ असाहुकम्मा ।
हत्थेहि पाएहि य बंधिऊणं, फलगं व तच्छंति कुहाडहत्था ॥१४॥

छाया – संतक्षणं नाम महाभितापं ते नारका यत्र असाधुकर्माणः ।
हस्तैश्च पादैश्च बध्धवा फलकमिव तक्ष्णुवन्ति कुठारहस्ताः ॥

अनुवाद – संतक्षण नामक एक नरक है । वह प्राणियों को घोर परिताप देता है । उसमें क्रूरकर्मा परमाधामी देव अपने हाथ में कुल्हाड़े लिए रहते हैं, वे नारकीय प्राणियों के हाथ पैर बांध देते हैं और काठ की तरह कुल्हाड़े से उनका छेदन-भेदन करते है-काटते हैं ।

टीका – सम-एकीभावेन तक्षणं सन्तक्षणं, नामशब्दः सम्भावनायां, यदेतत्संतक्षणं तत्सर्वेषां प्राणिनां 'महाभितापं' महादुःखोत्पादकमित्येवं सम्भाव्यते, यद्येवं ततः किमित्याह-ते 'नारका' नरकपाला 'यत्र' नरकावासे स्वभवनादागताः 'असाधु कर्माणः' क्रूरकर्माणो निरनुकम्पाः 'कुठारहस्ताः' परशुपाणयस्तान्नारकानत्राणान् हस्तैः पादैश्च 'बध्ध्वा' संयम्य 'फलकमिव' काष्ठशकलमिव 'तक्ष्णुवन्ति' छिन्दन्तीत्यर्थः ॥१४॥ अपि च-

टीकार्थ – जो एकी भाव से प्राणियों को काटता है, उसे संतक्षण कहते हैं । यहाँ नाम शब्द सम्भावना के अर्थ में प्रयुक्त है । जो यह संतक्षण नामक नरक कहा गया है, वह समस्त प्राणियों के लिए अत्यन्त दुःख उत्पन्न करता है, यह संभावित है । यदि ऐसा है तो क्या ? इस प्रश्न का निराकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि उस नरक में क्रूरकर्मा-निर्दय कर्म करने वाले निरनुकम्प-अनुकम्पा रहित, दयाशून्य नरकपाल हाथ में कुल्हाड़े लिए हुए अपने भवन से आकर उन त्राण रहित-जिनका कोई रक्षक नहीं है, नारकीय जीवों के हाथ पैर बाँधकर उनका काठ के समान छेदन-भेदन करते हैं-काटते हैं चीरते हैं ।

❀ ❀ ❀

रुहिरे पुणो वच्चसमुस्सिअंगे, भिन्नुत्तमंगे वरिवत्तयंता ।
पयंति णं णेरइए फुरंते, सजीवमच्छे व अयोकवल्ले ॥१५॥

छाया – रूधिरे पुनः वर्चः समुच्छ्रिताङ्गान् भिन्नोत्तामाङ्गान् परिवर्त्तयन्तः ।
पचन्ति नैरयिकान् स्फुरतः सजीवमत्स्यानिवाय सकलवल्याम् ॥

अनुवाद – नरकपाल नारकीय जीवों का खून निकालकर, उसे गर्म कड़ाहे में डालकर उस खून में जीवित मछली के समान उन नारकों को डाल देते हैं और पकाते हैं । जिनके शरीर मल द्वारा समुच्छ्रित-सूजे हुए-फूले हुए हैं, तथा जिनके मस्तक चूर-चूर किये हुए हैं ।

टीका – ते परमाधार्मिकास्तान्नारकान्स्वकीये रूधिरे तप्तकवल्यां प्रक्षिप्ते पुनः पचन्ति वर्चः प्रधानानि समुच्छ्रितान्यन्त्रण्यङ्गानि वा येषां ते तथा तान् भिन्नं चूर्णितम् उत्तमाङ्गं शिरो येषां ते तया तानिति, कथं पचन्तीत्याह-'परिवर्तयन्तः' उत्तानानवाङ्मुखान् वा कुर्वन्तः णमिति वाक्यालङ्कारे तान्-'स्फुरत' इतश्चेतश्च विह्वलमात्मानं निक्षिपतः सजीवमत्स्यानिवायसकवल्यामिति ॥१५॥ तथा -

टीकार्थ – वे परमाधामी देव उन नरकगत जीवों को कड़ाही में उबलते उन्हीं के खून में डालकर पकाते हैं । उन नारकीय जीवों की अन्तड़िया तथा अन्य अंग मल के कारण समुच्छ्रित-सूजे हुए हैं । उनके मस्तक चूर-चूर किए हुए हैं । वे किस तरह पकाये जाते हैं इसका दिग्दर्शन करते हुए कहते हैं-जो नारकीय जीव उल्टे पड़े हुए हैं, उनको सीधे करके, जो सीधे पड़े हुए हैं, उनको उल्टे करके पकाते हैं । यहाँ 'णं' शब्द वाक्यालंकार के अर्थ में आया है । इस प्रकार पकाये जाते हुए नारकीय जीव व्याकुल होकर अपने शरीर को इधर उधर उलटते, पलटते हुए तड़फड़ाते हैं । नरकपाल सजीव मछली की ज्यों लोहे की कड़ाही में पकाते जाते हैं ।

❀ ❀ ❀

नो चेव ते तत्थ मसीभवंति, ण मिज्जती तिव्वभिवेयणाए ।
तमाणुभागं अणुवेदयंता, दुक्खंति दुक्खी इह दुक्कडेणं ॥१६॥

छाया – नो चैव ते तत्र मषीभवन्ति, न म्रियन्ते तीव्राभिवेदनया ।
तमनुभागमनुवेदयन्तः दुःख्यन्ति दुःखिन इह दुष्कृतेन ॥

अनुवाद – नारकीय प्राणी नरक की अग्नि में जलकर भस्म नहीं होते, तथा नरक की तीव्र यातना से वे मरते भी नहीं, किन्तु अपने द्वारा किए गए दुष्कृतों-पापों के कारण नरक की यातना भोगते रहते हैं, दुःखी रहते हैं ।

टीका – ते च नारका एवं बहुशः पच्यमाना अपि 'नो' नैव 'तत्र' नरके पाके वा नरकानुभावे वा सति 'मषीभवन्ति' नैव भस्मासाद्भवन्ति, तथा तत्तीव्राभिवेदनया नापरमग्निप्रक्षिप्तमत्स्यादिकमप्यस्ति यन्मीयते-उपमीयते, अनन्यसदृशीं तीव्रां वेदनां वाचामगोचरामनुभवन्तीत्यर्थः, यदि वा-तीव्राभिवेदनयाऽप्यननुभूतस्वकृत कर्मत्वान्न म्रियन्त इति, प्रभूतमपि कालं यावत्तत्तादृशं शीतोष्णवेदनाजनितं तथा दहनच्छेदनभेदनतक्षण त्रिशूलारोपणकुम्भी-पाकशाल्यल्यारोहणादिकं परमाधार्मिकजनितं परस्परोदीरणनिष्पादितं च 'अनुभागं' कर्मणा विपाकम् 'अनुवेदयन्तः' समनुवेदयन्तः समनुभवन्तस्तिष्ठन्ति तथा स्वकृतेन 'दुष्कृतेन' हिंसा दिनाऽष्टादशपापस्थान रूपेण सततोदीर्णदुःखेन दुःखिनो 'दुःख्यन्ति' पीड्यन्ते, नाक्षिनिमेषमपि कालं दुःखेन मुच्यन्त इति॥१६॥ किञ्चान्यत्-

टीकार्थ – वे नारकीय प्राणी जैसा पहले वर्णित हुआ है, अनेक बार पकाये जाने पर भी उस नरक में जलकर भस्म नहीं हो जाते, तथा वे जैसी घोर वेदना का अनुभव करते हैं, आग में जलती हुई मछली की वेदना से भी उनकी वेदना उपमित नहीं की जा सकती । वह ऐसी वेदना है, जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता, जिसे वे नारक भोगते हैं, अथवा तीव्र वेदना होने के बावजूद अपने द्वारा किये गए कर्मों का फल भोग अवशिष्ट-बाकी रहने के कारण वे नारकीय जीव मरते नहीं है । वे दीर्घकाल पर्यन्त जैसा पहले उल्लेख हुआ है अपने कर्मों के फलस्वरूप सर्दी गर्मी आदि से जनित पीड़ा, परमाधामी देवों द्वारा निष्पादित दहन-जलाना, छेदन-काटना, भेदन-अलग-अलग करना, तक्षण-छीलना, त्रिशूल में पिरोना, कुम्भी में पकाना, शाल्मलीवृक्ष पर चढ़ाना आदि एवं आपस में एक दूसरे द्वारा उत्पादित दुःखों को वहाँ भोगते हुए रहते हैं । नरक में आपतित जीव स्वकृतहिंसा आदि अठारह स्थान रूप पापों के परिणाम स्वरूप उत्पन्न दुःखों से उत्पीडित होते रहते हैं। नेत्र के पलक झपकने तक के समय में भी वे दुःख से छुटकारा नहीं पाते ।

❀ ❀ ❀

तहिं च ते लोलण संपगाढे, गाढं सुतत्तं अगणिं वयंति ।
न तत्थ सायं लहती भिदुग्गे, अरहियाभितावा तहवी तविंति ॥१७॥

छाया – तस्मिंश्च ते लोलन संप्रगाढे, गाढं सुतप्तमग्निं व्रजन्ति ।
न तत्र सातं लभन्तेऽभिदुर्गेऽरहिताभितापान् तथापि तापयन्ति ।

अनुवाद – नरक में सर्दी से पीडित नारकीय प्राणी उसे दूर करने हेतु प्रज्वलित अग्नि के समीप जाते हैं, परन्तु वे वहाँ सुख नहीं पाते । उस भयावह अग्नि से परितप्त होने लगते हैं । उन परिताप पाते नारक जीवों को परमाधामी देव और अधिक परितप्त करते हैं ।

टीका – 'तस्मिंश्च' महायातनास्थाने नरके तमेव विशिनष्टि-नारकाणां लोलनेन सम्यक् प्रगाढ़ो-व्याप्तो भूतः स तथा तस्मिन्नरके अतिशीतार्ताः सन्तो 'गाढ़म्' अत्यर्थं सुष्ठु तप्तम् अग्निं व्रजन्ति, 'तत्रापि' अग्निस्थानेऽभिदूर्गे दह्यमानाः 'सातं' सुखं मनागपि न लभन्ते, 'अरहितो' निरन्तरोऽभितापो-महादाहो येषां ते अरहिताभितापाः तथापि तान्नारकांस्ते नरकपालास्तापयन्त्यत्यर्थं तप्ततैलाग्निना दहन्तीति ॥१७॥ अपि च-

टीकार्थ – नरक ऐसा स्थान है, जहाँ अत्यधिक यातनाएँ हैं । उसकी विशेषता पर प्रकाश डालते हुए सूत्रकार कहते हैं -

नरक नारकीय जीवों के कोलाहल से, उनकी हलचल से भरा हुआ है । वहाँ अत्यधिक शीत से आर्त प्राणी अपनी ठंडक दूर करने के लिए अत्यधिक प्रदीप्त-तेज जलती हुई अग्नि के निकट जाते हैं । वह अग्नि अत्यन्त दाहक होती है । उसमें वे जलने लगते हैं, जरा भी सुख नहीं पाते । उस आग में वे लगातार जलते हैं, उन्हें बड़ा दाह होता है । तथापि परमाधामी देव खूब गरम किया हुआ तेल उन पर छिड़क कर उन्हें दग्ध करते हैं ।

❀ ❀ ❀

से सुच्चई नगरवहे व सद्दे, दुहोवणीयाणि पयाणि तत्थ !
उदिण्ण कम्माण उदिण्णकम्मा, पुणो पुणो ते सरहं दुहेंति ॥१८॥

छाया – अथ श्रूयते नगरवधइव शब्दः, दुःखोपनीतानि पदानि तत्र ।
उदीर्ण कर्मण उदीर्णकर्माणः पुनः पुनस्ते सरभसं दुःखयन्ति ॥

अनुवाद – जब कभी किसी नगर का विध्वंस होता है, तो वहाँ के लोगों का दुःख वश बड़ा कोलाहल होता है । वैसे ही उस नगर में कोलाहल सुनाई देता है, बड़े कारूणिक शब्द सुने जाते हैं, जिनके मिथ्यात्व आदि कर्म उदीर्ण-उदय प्राप्त है, जो पाप कर्म का फल देने की अवस्था में उपस्थित हैं, वे परमाधामी देव नारकीय जीवों को बड़े उत्साह के साथ पुनः पुनः पीड़ा देते हैं ।

टीका – से शब्दोऽथ शब्दार्थे, 'अथ' अनन्तरं तेषां नारकाणां नरकपालै रौद्रैः कदर्थ्यमानानां भयानको हाहारवप्रचुर आक्रन्दशब्दो नगरवध इव 'श्रूयते' समाकर्ण्यते दुःखेन पीडयोपनीतानि-उच्चारितानि करुणाप्रधानानि यानि पदानि हा मातस्तात ! कष्टमनाथोऽहं शरणागतस्तव त्रायस्व मामित्येवमादीनां पादानां 'तत्र' नरके शब्दः श्रूयते, उदीर्णम्-उदयप्राप्तं कटुविपाकं कर्म येषां ते तथा तेषां तथा 'उदीर्णकर्माणो' नरकपाला मिथ्यात्वहास्य-रत्यादीनामुदये वर्तमानाः 'पुनः पुनः' बहुशस्ते 'सरहं (दुहें) ति' सरभसं-सोत्साहं नारकान् 'दुःखयन्ति' अत्यन्तमसह्यं नानाविधैयरूपायैर्दुःखमसातवेदनीय मुत्पादयन्तीति ॥१८॥ तथा -

टीकार्थ – इस गाथा में 'से' शब्द अथ के अर्थ में आया है, इसके अनन्तर रौद्र-भयावह परमाधामी देवों द्वारा कदर्थित-उत्पीडित किये जाते उन नारकीय जीवों के हाहाकार से परिपूर्ण भयानक क्रन्दन, रूदन उस नगर के कोलाहल की ज्यों प्रतीत होता है, जिसका विनाश हो गया हो । उस नरक में दुःख के साथ उच्चारित किये जाते हुए करुणा प्रधान-करुणा पैदा करने वाले पद-शब्द सुनाई देते हैं-जैसे हे माता ! हे तात! मैं बड़े कष्ट में हूँ, अनाथ हूँ, मेरा कोई स्वामी नहीं है, तुम्हारा शरणागत हूँ, मुझे बचाओ, इत्यादि शब्द उस नरक में सुनाई देते हैं । मिथ्यात्व, हास्य, रति आदि के उदय में विद्यमान परमाधामी देव नारकीय जीवों को

पुनः पुनः उत्साह के साथ विभिन्न प्रकार से अत्यन्त असह्य दुःख देते हैं, जिनके कटु फलप्रद उदय में आये हुए हैं ।

❀ ❀ ❀

पाणेहि णं पाव विओजयंति, तं भे पवक्खामि जहातहेणं ।
दडेहिं तत्था सरयंति बाला, सव्वेहिं दंडेहि पुराकएहिं ॥१९॥

छाया – प्राणैः पापा वियोजयन्ति, तद् भवद्भ्यः प्रवक्ष्यामि याथातथ्येन ।
दण्डैस्तत्र स्मरयन्ति बालाः सर्वैः दण्डैः पुराकृतैः ॥

अनुवाद – पापी अज्ञानी नरक पाल नारक जीवों के शरीर के अंगों को नियोजितकर-काट काट कर पृथक्-पृथक् कर देते हैं । इसका कारण मैं आपको यथावत रूप में बतलाता हूँ । उन प्राणियों द्वारा अपने पूर्व भव में दूसरे प्राणियों को दिए गए दण्ड के अनुसार ही वे उन्हें दण्डित कर-पीड़ित कर उनके पूर्वकृत कर्मों को स्मरण कराते हैं ।

टीका – 'णमिति' वाक्यालङ्कारे, 'प्राणैः' शरीरेन्द्रियादिभिस्ते 'पापाः' पापकर्माणो नरकपाला 'वियोजयन्ति' शरीरावयवानां पाटनादिभिः प्रकारैविकर्तनादवयवान् विश्लेषयन्ति, किमर्थमेवं ते कुर्वन्तीत्याह-'तद्' दुःखकारणं 'भे' युष्माकं 'प्रवक्ष्यामि याथातथ्येन' अवितथं प्रतिपादयामीति, दण्डयन्ति-पीडामुत्पादयन्तीति दण्डा-दुःखविशेषास्तैर्नारकाणामापादितैः 'बाला' निर्विवेका नरकपालाः पूर्वकृतं स्मारयन्ति, तद्यथा-तदा हृष्टस्त्वं खादसि समुत्कृत्योत्कृत्य प्राणिनां मांसं तथा पिबसि तद्रसं मद्यं च गच्छसि परदारान् साम्प्रतं तद्विपाकापादितेन कर्मणाऽभितप्यमानः किमेवं रारटीषीत्येवं सर्वैः पुराकृतैः 'दण्डैः' दुःखविशेषैः स्मारयन्तस्तादृशभूतमेव दुःखविशेषमुत्पादयन्तो नरकपालाः पीडयन्तीति ॥१९॥ किञ्च -

टीकार्थ – इस गाथा में 'ण' शब्द वाक्यालंकार के रूप में आया है । पापकर्मा नरकपाल नारक जीवों के शरीर के अवयवों को काट काट कर अलग कर देते हैं, वे ऐसा क्यों करते हैं, इसका निराकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं-मैं इसका कारण सही सही बतलाता हूँ । विवेकशून्य नरकपाल नारक जीवों को भिन्न-भिन्न प्रकार से दण्ड देकर उन द्वारा पहले किये गए कर्मों को याद कराते हैं, जैसे तुम बड़े हृष्ट-प्रसन्न होकर प्राणियों का मांस काट काट कर खाते थे । उसका रस पीते थे, मद्यपान तथा परस्त्रीगमन करते थे, अब उन्हीं कर्मों का फल भोगते हुए तुम इस प्रकार क्यों चीख रहे हो, चिल्ला रहे हो, इस तरह नरकपाल नारक जीवों द्वारा पहले के जन्म में दूसरे प्राणियों को दिए गए दण्ड-उन्हें दी गई यातनाओं को स्मरण कराते हुए उनके सदृश ही उन्हें दुःख देते हैं, पीडित करते हैं ।

❀ ❀ ❀

ते हम्माणा णरगे पडंति, पुन्ने दुरुवस्स महाभितावे ।
ते तत्थ चिट्ठंति दुरुवभक्खी, तुट्टंति कम्मोवगया किमी हं ॥२०॥

छाया – ते हन्य माना नरके पतन्ति, पूर्णे दुरूपस्य महाभितापे ।
ते तत्र तिष्ठन्ति दुरुपभक्षिणः, तुट्यन्ते कर्मोपगताः कृमिभिः ॥

अनुवाद – नरकपालों द्वारा हन्यमान-मारे जाते हुए वे नारकीय जीव उस नरक से निकलकर ऐसे नरक में कूदकर गिर जाते हैं, जो मल और मूत्र से भरा हुआ है । वहाँ वे मल एवं मूत्र का भक्षण करते हुए दीर्घ काल पर्यन्त निवास करते हैं । उन्हें कीड़े काटते रहते हैं ।

टीका – 'ते' वराका नारका 'हन्यमानाः' ताड्यमाना नरकपालेभ्यो नष्टाअन्यस्मिन् घोरतरे 'नरके' नरकैकदेशे 'पतन्ति' गच्छन्ति, नरके ?-'पूर्णे' भृते दुष्टं रूपं यस्य तद्रूपं विष्ठासृग्मांसादिकल्मलं तस्य भृते तथा 'महाभितापे' अतिसन्तापोपेते 'ते' नारकाः स्वकर्मावबद्धाः 'तत्र' एवम्भूते नरके 'दुरुपभक्षिणः' अशुच्यादिभक्षकाः प्रभूतं कालं यावत्तिष्ठन्ति, तथा 'कृमिभिः' नरक पालापादितै परस्परकृतैश्च 'स्वकर्मोपगताः' स्वकर्म ढौकिताः 'तुद्यन्ते' व्यथ्यन्ते इति । तथा चागमः-छट्ठी सत्तमासु णं पुढवीसु नेरइया पहू महंताइं लोहिकुंथुरूवाइं विउव्वित्ता अन्नमन्नस्स कायं समतुरंगेमाणा अणुधायमाणा अणुधायमाणा चिट्ठंति ॥२०॥ किञ्चान्यात् –

टीकार्थ – वे अभागे नारकीय प्राणी नरकपालों द्वारा हन्यमान-ताड्यमान मारे पीटे जाते हुए दूसरे अत्यन्त घोर नरक में-नरक के एक भाग में गिर जाते हैं, चले जाते हैं । वह नरक कैसा है? वह मल, रूधिर, मांस आदि अपवित्र, गन्दे पदार्थों से परिपूर्ण है, तथा अत्यन्त अभिताप से युक्त है । अपने कर्म के जाल में परिबद्ध वे नारकीय प्राणी ऐसे नरक में अशुचि आदि पदार्थों का भक्षण करते हुए दीर्घकाल तक रहते हैं । वे नरक पालों द्वारा उत्पादित कीडों से तथा परस्पर एक दूसरे के द्वारा प्रेरित कीड़ों से अपने कर्मों के फलस्वरूप काटे जाते हैं । इस सम्बन्ध में आगम में उल्लेख है कि छठी तथा सातवीं नरक भूमि में नारक एक बहुत बड़े खूनी कुन्थु संज्ञक कीड़े का रूप बनकर एक दूसरे के शरीर को काटते हुए बड़ी पीड़ा करते हैं ।

❀ ❀ ❀

सया कसिणं पुण घम्मठाणं, गाढोवणीयं अतिदुक्खधम्मं ।
अंदूसु पक्खिप्प विहत्तु देहं, वेहेण सीसं सेऽभितावयंति ॥२१॥

छाया – सदा कृत्स्नं पुनर्धर्मस्थानं, गाढोपनीतमतिदुःखधर्मम् ।
अन्दूषु प्रक्षिप्य विहत्य देहं वेधेन शीर्षं तस्याभि तापयन्ति ॥

अनुवाद – नारकीय प्राणियों के आवास का स्थान सदा सर्वथा उष्ण रहता है । वह उनको निधत्त निकाचित आदि स्वसंचित कर्मों के कारण प्राप्त हुआ है । स्वभावतः ही वह स्थान अत्यधिक दुखप्रद है। नरकपाल वहाँ नारकीय जीवों के शरीर को तोड़ मरोड़ तथा उसे बेड़ी बन्धन आदि में डालकर उनके मस्तक में छेदकर उनको यातना देते हैं ।

टीका – 'सदा' सर्वकालं 'कृत्स्नं' संपूर्णं पुनः तत्र नरके 'घर्मप्रधानं' उष्णप्रधानं स्थितिः-स्थानं नारकाणां भवति, तत्रहि प्रलयातिरिक्ताग्निना वातादीनामत्यन्तोष्णरूपत्वात्, तच्च दृढैः-निधत्तनिकाचितावस्थैः कर्मभिर्नारकाणाम् 'उपनीतं' ढौकितं, पुनरपि विशिनष्टि-अतीव दुःखम्-असातावेदनीयं धर्मः-स्वभावो यस्य तत्तथा तस्मिंश्चैवंविधे स्थाने स्थितोऽसुमान् 'अन्दूषु' निगडेषु देहं विहत्य प्रक्षिप्य च तथा शिरश्च 'से' तस्य नारकस्य 'वेधेन' रन्ध्रोत्पादनेनाभितापयन्ति कीलकैश्च सर्वाण्यप्यङ्गानि वितत्य चर्मवत् कीलयन्ति इति ॥२१। अपिच –

टीकार्थ – नारकीय जीवों के आवास का स्थान सदैव उष्ण प्रधान-गर्मी की अधिकता लिए होता है । वहाँ पर वायु आदि प्रलयाग्नि से भी अधिक उष्ण होते हैं । वह नरक स्थान नारकीय जीवों को उन द्वारा

किये हुये निधत्त एवं निकाचित अवस्था युक्त कर्मों द्वारा प्राप्त हुआ है । नरक की ओर विशेषता बतलाते हुये कहते हैं कि वह अतीव दुःखरूप है, स्वभाव से ही कष्टप्रद है । नरकपाल इस प्रकार के नरक स्थान में विद्यमान प्राणियों के शरीर को तोड़ मरोड़ कर बेड़ी आदि के बन्धन में डालकर तथा उनके मस्तिष्क में छेदकर उन्हें कष्ट देते हैं । वे उनके अंगों को चमड़े की ज्यों फैलाकर उनमें कीलें ठोंकते हैं ।

❀ ❀ ❀

छिंदंति बालस्स खुरेण नक्कं, उट्ठेवि छिंदंति दुवेवि कण्णे ।
जिब्भं विणिक्कस्स विहत्थिमित्तं, तिक्खाहिं सूलाहिऽभिता वयंति ॥२२॥

छाया – **छिन्दन्ति बालस्य क्षुरेण नासिका मोष्ठौ च छिदन्ति द्वावपि कर्णौ ।**
जिह्वां विनिष्कास्य वितस्तिमात्रां तीक्ष्णाभिः शूलाभिरभितापयन्ति ॥

अनुवाद – नरकपाल अज्ञानी नारकीय जीवों का नाक, होंठ, दोनों कान तेज उस्तरे द्वारा काट देते हैं । उनकी जीभ को मुँह से एक बिलात बाहर खींच कर उसमें तीक्ष्ण शूल चूभो देते हैं, उनको इस प्रकार पीड़ा देते हैं ।

टीका – ते परमाधार्मिकः पूर्वदुश्चरितानि स्मरयित्वा 'बालस्य' अज्ञस्यनिर्विवेकस्य प्रायशः सर्वदा वेदनासमुद्घातोपगतस्य क्षुरप्रेण नासिकांछिन्दन्ति तथौष्ठावपि द्वावपि कर्णौ छिन्दन्ति, तथा मद्यमांस रसाभिलिप्सोर्मृषाभाषिणोजिह्वां वितस्तिमात्रामाक्षिप्य तीक्ष्णाभिः शूलाभिः 'अभितापयन्ति' अपनयन्ति इति ॥२२॥ तथा -

टीकार्थ – वे परमाधामीदेव सदैव पीड़ायुक्त ज्ञान शून्य नारकीय जीवों को उन द्वारा पूर्वजन्म में किये गये पापों को याद दिलाकर उस्तरे से उनके नाक काट लेते हैं और उनके होंठ तथा दोनों कान भी काट लेते हैं । वे मदिरा, माँस और रस के लोलुप, असत्य भाषी उन नारकीय जीवों की जीभ को मुँह से एक बिलात बाहर निकालकर तीक्ष्ण शूल द्वारा वेध डालते हैं, उन्हें पीड़ित करते हैं ।

❀ ❀ ❀

ते तिप्पमाणा तलसंपुडंव, राइंदियं तत्थ थणंति बाला ।
गलंति ते सोणिअपूयमंसं, पज्जोइया खारपइद्धियंगा ॥२३॥

छाया – **ते तिप्यमाना स्तालसंपुटाइव रात्रिंदिवं तत्र स्तनन्ति बालाः ।**
गलन्ति ते शोणितपूयमासं प्रद्योतिताः क्षारप्रदिग्धाङ्गा ॥

अनुवाद – वे ज्ञानशून्य नारकीय प्राणी जिनके शरीर के अंगों से खून टपकता रहता है, ताड़ के सूखे पत्तों की तरह रात-दिन शब्द करते रहते हैं । उनको आग में दग्ध कर उनके अंगों में क्षार लगा दिया जाता है इसलिए जिससे उनके घावों से खून, मवाद और मांस झरता रहता है ।

टीका – 'ते' छिन्ननासिकोष्ठजिह्वाः सन्तः शोणितं 'तिप्यमानाः' क्षरन्तो यत्र-यस्मिन् प्रदेशे रात्रिं दिनं गमयन्ति, तत्र 'बाला' अज्ञाः 'तालसम्पुटाइव' पवनेरितशुष्कतालपत्रसंचया इव सदा 'स्तनन्ति'

दीर्घविस्वरमाक्रन्दन्तस्तिष्ठन्ति तथा 'प्रद्योतिता' वह्निना ज्वलिताः तथा क्षारेण प्रदिग्धाङ्गाः शोणितं पूयं मांसं चाहर्निशं गलन्तीति ॥२३॥ किञ्च -

टीकार्थ – वे नारकीय प्राणी, जिनके नाक, होंठ, जीभ ये सब काट लिए गए हैं, जिनके शरीर से खून टपक रहा है । जिस स्थान में वे रातें तथा दिन बिताते हैं, वहाँ वे अज्ञानी हवा द्वारा प्रेरित ताड़ के सूखे पत्तों की तरह जोर-जोर से आवाज करते रहते हैं-रोते रहते हैं । आग में जलाये हुये और जले पर खार लगाये हुये उन नारकीय जीवों के शरीर के अंगों से खून मवाद और मांस चूता रहता है ।

❀ ❀ ❀

जइ ते सुता लोहितपूअपाई, बालागणी तेअगुणा परेणं ।
कुंभी महंताहियपोरसीया, समूसिता लोहियपूयपुण्णा ॥२४॥

छाया – यदि ते श्रुता लोहितपूयपाचिनी बालाग्निना तेजोगुणा परेण ।
कुम्भी महत्यधिकपौरूषीया समुच्छ्रिता लोहितपूयपूर्णा ॥

अनुवाद – खून और मवाद से पूर्ण कुंभी नामक नरक भूमि कदाचित् तुमने सुनी होगी । उसमें रक्त और मवाद को पकाया जाता है । नवीन अग्नि-तत्काल जलायी हुई आग के तेज से युक्त होने के कारण अत्यन्त ताप युक्त होती है । वह विस्तार में पुरुष प्रमाण से भी अधिक होती है ।

टीका – पुनरपि सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिनमुद्दिश्य भगवद्वचनमाविष्करोति-यदि 'ते' त्वया 'श्रुता' आकर्णिता-लोहितं-रुधिरं पूयं-रूधिरमेव पक्वं ते द्वे अपि पक्तुं शीलं यस्यां सा लोहितपूयपाचिनी-कुम्भी, तामेव विशिनष्टि-'बालः' अभिनवः प्रत्यग्रोऽग्निस्तेन तेजः-अभितापः स एव गुणो यस्याः सा बालाग्निते जोगुणा 'परेण' प्रकर्षेण तप्तेत्यर्थः, पुनरपि तस्या एव विशेषणं 'महती' वृहत्तरा अहियपोरूसीये 'त्ति' पुरुष प्रभणाधिका 'समुच्छ्रिता' उष्ट्रिकाकृतिरूर्ध्वं व्यवस्थिता लोहितेन पूयेन च पूर्णा, सैवम्भूता कुम्भी समन्ततोऽग्निना प्रज्वलिताऽतीव बीभत्सदर्शनेति ॥२४॥ तासु च यत्क्रियते तद्दर्शयितुमाह -

टीकार्थ – सुधर्मा स्वामी पुनः जम्बू स्वामी को उदिष्ट कर भगवान महावीर का वचन प्रस्तुत करते हैं । खून और मवाद इन दोनों को पकाना जिसका स्वभाव है, ऐसी कुंभी नामक नरक भूमि के सम्बन्ध में सम्भवतः तुमने सुना होगा । उसकी विशेषता बतलाते हुये कहते हैं नवीन-तत्काल प्रज्वलित अग्नि का जो तेज या ताप होता है, कुंभी का वही गुण है अर्थात् वह अत्यन्त तापयुक्त होती है । पुनः उस कुंभी की विशेषता बतलाते हैं, वह बहुत बड़ी है । वह विस्तार में पुरुष के प्रमाण से भी ज्यादा है । उसका आकार एक ऊँट की आकृति जैसा है । वह उसकी ज्यों ऊँची है । वह खून और मवाद से परिपूर्ण है । उसके चारों और आग जलती है । वह देखने में अत्यन्त वीभत्स-घृणोत्पादक है ।

❀ ❀ ❀

पक्खिप्प तासुं पययंति बाले, अदूस्सरे ते कलुणं रसंते ।
तण्हगाइया ते तउतंबतत्तं, पज्जिज्जमाणाऽट्टतरं रसंति ॥२५॥

छाया – प्रक्षिप्य तासु प्रपचन्ति बालान्, आर्त्तस्वरान् तान् करुणं रसतः ।
तृष्णार्दितास्ते त्रपुताम्रतप्तं, पाय्यमाना आर्त्तस्वरं रसन्ति ॥

अनुवाद – परमाधामी देव आर्त स्वर में करुण क्रन्दन करते हुए उन ज्ञान शून्य नारकीय प्राणियों को खून और मवाद से भरी हुई कुंभी में डाल देते हैं और पकाते हैं । तृष्णा-प्यास से आर्दित-पीड़ित उन नारकियों को वे सीसा और तांबा गलाकर पिलाते हैं । इसलिए वे नारकीय प्राणी और अधिक चिल्लाते हैं ।

टीका – 'तासु' प्रत्यग्राग्निप्रदीप्तासु लोहितपूयशरीरावयवकिल्बिषपूर्णासु दुर्गन्धासु च 'बालान्' नारकांस्त्राणरहितान् आर्तस्वरान् करुणं-दीनं रसतः प्रक्षिप्य प्रपचन्ति, 'ते च' नारकास्तथा कदर्थ्यमाना बिरसमाक्रन्दन्तस्तृडार्ताः सलिलं प्रार्थयन्तो मद्यं ते अजीव प्रियमासीदित्येवं स्मरयित्वा तप्तं पाय्यन्ते, ते च तप्तं त्रपु पाय्यमाना आर्ततरं 'रसन्ति' रारटन्तीति ॥२५॥ उद्देशकार्थोपसंहारार्थमाह -

टीकार्थ – नरकपाल नवीन अग्नि के सदृश प्रदीप्त-दहकती हुई, खून मवाद और देह के अंगों एवं गंदे पदार्थों से भरी हुई, दुर्गन्ध युक्त उस कुंभी में आर्त स्वर में करुण क्रन्दन करते हुए उन ज्ञान शून्य नारकीय प्राणियों को जिन्हें वहाँ कोई बचाने वाला नहीं हैं । डालकर पकाते हैं । वे नारकीय जीव उस प्रकार पीडित किये जाने पर बुरी तरह चीखते चिल्लाते हैं । वे जब त्रिशाकुल-प्यास से पीडित होकर पानी मांगते हैं तब नरक पाल उन्हें यह याद दिलाते हुये कि तुमको मदिरा बहुत प्रिय थी, परितप्त- गलाया हुआ सीसा और तांबा पिलाते हैं । वे उन्हें पीते हुए बड़े जोर से आर्त स्वर में चिल्लाते हैं ।

इस उद्देशक की विषय वस्तु का उपसंहार करते हुए कहते हैं ।

❀ ❀ ❀

अप्पेण अप्पं इह वंचइत्ता, भवाहमे पुव्वसते सहस्से ।
चिट्ठंति तत्था बहुकूरकम्मा, जहा कडं कम्म तहासि भारे ॥२६॥

छाया – **आत्मानाऽऽत्मानमिह वञ्चयित्वा भवाधमान् पूर्वं शतसहस्त्रशः ।**
तिष्ठन्ति तत्र बहुक्रूरकर्माणः, यथाकृतं कर्म तथाऽस्य भाराः ॥

अनुवाद – इस मनुष्य जीवन में नगण्य सुख के लालच में जो दूसरों को वंचित करते हैं-धोखा देते हैं, सैंकड़ों हजार बार लुगधक-आखेट जीवी जैसे निम्न स्थानों में जन्म प्राप्त करते हैं, पुनश्च नरक में जाते हैं । जिसने पूर्वजन्म में जैसे कर्मों का आचरण किया है उसे आगे वैसा ही फल मिलता है ।

टीका – 'अप्पेण'इत्यादि, 'इह' अस्मिन्मनुष्यभवे 'आत्मना' परवञ्चनप्रवृत्तेन स्वत एव परमार्थत आत्मानं वञ्चयित्वा 'अल्पेन' स्तोकेन परोपघातसुखेनात्मानं वञ्चयित्वा बहुशो भवानां मध्ये अधमा भवाधमाः -मत्स्यबन्धलुब्धकादीनां भवास्तान् पूर्वजन्मसु शतसहस्त्रशः समनुभूय तेषु भवेषु विषयोन्मुखतया सुकृतपराङ्मुखत्वेन चावाप्य महाघोरातिदारूणं नराकावासं 'तत्र' तस्मिन्मनुष्याः 'क्रूरकर्माणः' परस्परतो दुःखमदीरयन्तः प्रभूतं कालं यावत्तिष्ठन्ति, अत्र कारणमाह 'यथा' पूर्वजन्मसु याहाभूतेनाध्यवसायेन जघन्यजघन्य तरादिना कृतानि कर्माणि 'तथा' तेनैव प्रकारेण 'से' तस्य नारकजन्तोः 'भारा' वेदनाः प्रादुर्भवन्ति स्वतः परत उभयतो वेति, तथाहि-मांसादाः स्वमांसान्येवाग्निप्रताप्य भक्ष्यन्ते, तथा मांसरसपायिनो निजपूयरूधिराणि तपप्तत्रपूणि च पाय्यन्ते, तथा मत्स्यघातकलुब्धकादयस्तथैव छिद्यान्ते भिद्यन्ते यावन्मार्यन्त इति, तथाऽनृतभाषिणां तत्स्मारयित्वा जिह्वाश्चेच्छिद्यन्ते, [ग्रन्थाग्रम् ४०००] तथा पूर्वजन्मनि परकीयद्रव्यापहरिणामङ्गोपाङ्गायपहिन्ते तथा पारदारिकाणां वृषणच्छेदः शाल्मल्युपगूहनादि च ते कार्यन्ते एवं महापरिग्रहारम्भवतां क्रोधमानमायालोभिनां च जन्मांतरस्वकृतक्रोधादिदुष्कृत-

स्मारणेन तादृग्विधमेव दुःखमुत्पाद्यते, इतिकृत्वा सुष्ठूच्यते यथा वृत्तं कर्म तादृग्भूत एव तेषां तत्कर्मविपाकापादितो भार इति ॥२६॥ किञ्चान्यत् -

टीकार्थ – इस मनुष्य जीवन में जो पुरुष दूसरे को वंचित करने में-धोखा देने में प्रवृत्त रहता है वह अपने आपको ही वंचित करता है-धोखा देता है । वह थोड़े से नगण्य सुख के लालच से अन्य प्राणियों की हिंसा करता हुआ अपनी आत्मा को वंचित करता है । उसके परिणामस्वरूप वह अनेकानेक भव करता हुआ सैकड़ों हजारों बार मछली पकड़ने वाले मल्लाह तथा पशु वध करने वाले व्याघ्र-शिकारी आदि नीच जातियों में जन्म लेता है । उन जन्मों में वह सांसारिक भोग विषयों में लोलुप रहता है । पुण्य कार्यों के विपरीत आचरण करता है । फलतः वह बड़े घोर और अत्यन्त भयपुर नरक में जाता है । नरक में अवस्थित कर्मा प्राणी आपस में एक दूसरे के लिए दुःख पैदा करते हुये दीर्घकाल तक निवास करते हैं ।

सूत्रकार इसका कारण प्रकट करते हुये कहते हैं कि जिस जीव ने पूर्वजन्म में जैसे अध्यवसाय से परिणाम में जघन्य, घृणास्पद, तथा जघन्यतर उससे भी अधिक घृणास्पद कर्म किये हैं, उस जीव को इसी तरह की वेदना-पीड़ा प्राप्त होती है । वह वेदना स्वतः अपने आप भी होती है । परतः-दूसरों के द्वारा भी होती है तथा स्वतः एवं परतः दोनों प्रकार से भी होती है । जो अपने पहले के जन्म में माँस भक्षी थे, उनको उनका ही माँस अग्नि में पकाकर खिलाया जाता है । जो पूर्वजन्म में माँस रस का पान करते थे, उनको उनका ही रक्त और मवाद पिलाया जाता है तथा गलाया हुआ सीसा भी पिलाया जाता है । पूर्व जन्म के मत्स्य घाती-मछलियाँ मारने वाले और लुब्धक-पशुओं का शिकार करने वाले जैसे मछली और हिरण आदि को मारते काटते थे उसी प्रकार वे मारे जाते हैं, काटे जाते हैं । जो असत्य भाषण करते थे, उन्हें वह याद कराकर उनकी जिह्वाएं काट ली जाती हैं । जो पहले के जन्म में दूसरों के धन का अपहरण करते थे, उनके अंग-उपांग काट लिए जाते हैं । जो परस्त्री गामी होते थे, उनके अण्डकोष काट लिए जाते हैं तथा उन्हें शाल मलिनि-घोर कंटकाकीर्ण वृक्ष का आलिंगन कराया जाता है । इसी प्रकार जो महा आरंभि, महापरिग्रही, क्रोधी, अभिमानी तथा मायावी थे, उनको वह सब याद कराते हुये उसी प्रकार की यातनायें दी जाती हैं । इसलिए यह ठीक ही कहा है कि जिसने जैसा कर्म किया है उसको वैसा ही फल भोगना पड़ता है ।

❀ ❀ ❀

समज्जिणित्ता कलुसंअणज्जा, इट्ठेहि कंतेहि य विप्पहूणा ।
ते दुब्भिगंधे कसिणे य फासे, कम्मोवगा कुणिमे आवसंति ॥२७॥त्तिबेमि॥

छाया – समर्ज्य कलुषमनार्य्या इष्टैः कान्तैश्च विप्रहीनाः ।
ते दुरभिगन्धे कृत्स्नेऽस्पर्शे कर्मोपगता कुणिमे आवसन्तीति ब्रवीमि ॥

अनुवाद – अनार्य जन पापों का उपार्जन कर उनके फलस्वरूप नरक में निवास करते हैं जो इष्ट-अभिप्सित एवं प्रिय पदार्थों से रहित हैं, तथा दुर्गन्ध मय अशुभ स्पर्शयुक्त, माँस एवं रक्त आदि से पूर्ण हैं।

टीका – अनार्या अनार्य कर्मकारित्वाद्धिंसानृतस्तेयादिभिराश्रवद्वारैः 'कलुषं' पापं 'समर्ज्य' अशुभकर्मोपचयं कृत्वा 'ते' क्रूरकर्माणो 'दुरभिगन्धे' आवसन्तीति संकङ्क, किम्भूताः ? – "इष्टै" शब्दादिभिर्विषयैः 'कमनीयैः' कान्तैर्विविधं प्रकर्षेण हीना विप्रमुक्ता नरके वसन्ति, यदिवा-तदर्थं कलुषं समर्जयन्ति तैर्मातापुत्र

कलत्रादिभिः कान्तैश्च विषयैर्विप्रमुक्ता एकाकिनस्ते 'दुरभिगन्धे' कुथितकलेवरातिशायिनि नरके 'कृतस्ते' संपूर्णेऽत्यन्ताशुभस्पर्शे एकान्तोद्विजनीयेऽशुभ कर्मोपगताः 'कुणिमे'त्ति मांसपेशीरूधिरपूयान्त्रफिप्फिसकश्मलाकुले सर्वामेध्याधमे बीभत्सदर्शने हाहारवाक्रन्देन कष्टं मा तावदित्यादिशब्दबधिरितदिगन्तराले परमाधमे नरकावासे आ-समन्तादुत्कृष्टतस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि यावद्यस्यां वा नरकपृथिव्यां यावदायुस्तावद् 'वसन्ति' तिष्ठन्ति, इतिः परिसमाप्त्यर्थे, ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥२७॥

टीकार्थ – अनार्य पुरुष अनार्य कर्मों का सेवन करते हैं वे हिंसा, असत्य तथा चोरी आदि आश्रव द्वारों का सेवन कर अत्यधिक अशुभ कर्मों का उपचय करते हैं । ऐसा कर वे क्रूरकर्मी जीव दुर्गन्धमय नरक में जाते हैं, निवास करते हैं । वे नारकीय जीव कैसे हैं ? ये बतलाते हैं कि वे इष्ट-शब्दादि अभिप्सित विषयों तथा प्रिय-मनोज्ञ पदार्थों से रहित होकर नरक में अवस्थित होते हैं अथवा वे जीव जिन माता-पिता, पुत्र-स्त्री आदि के निमित्त पाप अर्जित करते हैं, उनसे रहित होकर अकेले ही सड़े हुये शव से भी अधिक दुर्गन्धयुक्त, अत्यधिक उद्वेजक उद्वेग जनक स्पर्शयुक्त माँस, चरबी, रुधिर, मवाद-आंत्र फिप्फिस आदि अपवित्र पदार्थों से परिपूर्ण अत्यन्त घृणाजनक तथा हाहाकार शब्द से दिशाओं को बहरा बना देने वाले अत्यन्त अधम नरक में उत्कृष्ट अधिक से अधिक तैंतीस सागरोपम् समयावधि तक निवास करते हैं । यहाँ इति शब्द समाप्ति के अर्थ में है, ब्रवीमि बोलता हूँ, यह पहले की ज्यों योजनीय है ।

इस प्रकार नरक विभक्ति का प्रथम उद्देशक समाप्त हुआ ।

❀ ❀ ❀

卐 卐 卐

द्वितीय उद्देशकः

उक्तः प्रथमोद्देशकः, साम्प्रतं द्वितीयः समारम्भते-अस्य चायमभिसम्बन्धः, इहानन्तरोद्देशके यैः कर्मभिर्जन्तवो नरकेपूत्पद्यन्ते यादृगवस्थाश्च भवन्त्येतत्प्रतिपादितम्, इहापि विशिष्टतरं तदेव प्रतिपाद्यते, इत्यनेव संबन्धे नायातस्यास्योद्देशकस्य सूत्रानुगमे अस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम् -

पांचवे अध्ययन का दूसरा उद्देशक प्रारम्भ किया जाता है । पहला उद्देशक कहा जा चुका है । अब उससे आगे दूसरा उद्देशक कहा जाता है । इनका परस्पर सम्बन्ध यह है कि जिन जिन कर्मों के आचरण से प्राणी नरक में पैदा होते हैं, और वहाँ उनकी जो दशा होती है, यह पहले उद्देशक में कहा गया है । अब इस दूसरे उद्देशक में भी वही बात विशिष्टतर अधिक विस्तार के साथ प्रतिपादित की जाती है । इस सम्बन्ध से आयात इस उद्देशक के सूत्रानुगम में अस्खलित आदि गुण पूर्वक सूत्र का उच्चारण किया जाना चाहिए । वह सूत्र इस प्रकार है ।

अहावरं सासयदुक्खधम्मं, तं भे पवक्खामि जहातहेणं ।
बाला जहा दुक्कडकम्मकारी, वेदंति कम्माइं पुरेकडाइं ॥१॥

छाया – अथापरं शाश्वदुःखधर्मं, तं भवतां प्रवक्ष्यामि याथातथ्येन ।
बाला यथा दुष्कृतकर्मकारिणो, वेदयन्ति कर्माणि पुराकृतानि ।

अनुवाद – श्री सुधर्मा स्वामी, जम्बुस्वामी आदि अपने अन्तेःवासियों से कहते हैं अब मैं दूसरे नरक के सम्बन्ध में, तथा दुष्कृत कर्म करने वाले प्राणी जिस प्रकार अपने पापों का फल भोगते हैं, इस सम्बन्ध में बतलाऊँगा ।

टीका – 'अथ' इत्यानन्तर्ये 'अपरम्' इत्युक्तादन्यद्वक्ष्यामीत्युत्तरेण सम्बन्धः शश्वद्भवतीति शाश्वतं-यावदायुस्तच्च तद्दुःखं च शाश्वतदुःखं तद्धर्मः-स्वभावो यस्मिन्यस्य वा नरकस्य स तथातम्, एवम्भूतं नित्यदुःखस्वभावमक्षिनिमेषमपि कालमविद्यमानसुखलेशं 'याथातथ्येन' यथाव्यवस्थितं तथैव कथयामि, नात्रौ पचारोऽर्थवादो वा विद्यत इत्यर्थः, 'बालाः' परमार्थमजानाना विषयसुखलिप्सवः साम्प्रतेक्षिणः कर्मविपाकमनपेक्षमाणा 'यथा' येन प्रकारेण दुष्टं कृतं दुष्कृतं तदेव कर्म-अनुष्ठानं तेन वा दुष्कृतेन कर्म-ज्ञानावरणादिकं तद्दुष्कृतकर्म तत्कर्तुं शीलं येषा ते दुष्कृतकर्मकारिणः त एवम्भूताः 'पुराकृतानि' जन्मान्तरार्जितानि कर्माणि यथा वेदयन्ति तथा कथयिष्यामीति ॥१२॥ यथा प्रतिज्ञात माह -

टीकार्थ – इस गाथा में अथ शब्द अनन्तर्ये-इसके पश्चात-इस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । जो बातें पहले कही जा चुकी है, उनसे आगे की दूसरी बातें अब मैं कहूँगा, ऐसा सन्दर्भ मिला लेना चाहिए । जो शाश्वत अर्थात् आयुपर्यन्त रहता है, उसे शाश्वत कहा जाता है । जो नरक स्वभावतः आयुपर्यन्त दुःख देता है, उसे शाश्वत दुःख धर्म कहा जाता है । वह नर्क प्राणियों को सदैव कष्ट देता रहता है । उसमें एक निमेषःआँख की पलक झपकने तक के समय के लिए सुख का अंश तक भी नहीं मिलता । ऐसे नरक का यथावत रूप में जैसा वह है, वैसा वर्णन करूँगा । उपचार या अर्थवाद के साथ जरा भी घटा बढ़ाकर नहीं कहूँगा । जो पुरुष, बाल, परमार्थ से अनभिज्ञ हैं सांसारिक सुख लिप्सु हैं, केवल वर्तमान को देखते हैं, कर्म विपाक-कर्मफल

का विचार नहीं करते, ज्ञानावरणीय आदि दूषित कर्मों का आचरण करते हैं वे पापिष्ठ प्राणी अपने पूर्व जन्मों में अर्जित-संचित दुष्कर्मों का फल जिस प्रकार नरक में भोगते हैं, वह बतलाऊँगा ।

❀ ❀ ❀

हत्थेहि पाएहि य बंधिऊणं, उदरं विकत्तंति खुरासिएहिं ।
गिण्हित्तु बालस्स विहत्तु देहं, वद्धं थिरं पिट्ठतो उद्धरंति ॥२॥

छाया – हस्तेषु पादेषु च बध्धवा, उदरं विकर्त्तयन्ति क्षुरप्रासिभिः ।
गृहीत्वा बालस्य विहतं देहं बध्न स्थिरं पष्ठत उद्धरन्ति ॥

अनुवाद – परमाधामी देव नारकीय जीवों के हाथ और पैर बांधकर उस्तरे तथा तलवार द्वारा उनके पेट चीर डालते हैं । अज्ञानमय नारकीय प्राणियों के शरीर को लाठी आदि प्रहारों द्वारा बुरी तरह मारते-पीटते हैं । फिर उन्हें पकड़कर पीठ की चमड़ी को उधेड़ डालते हैं ।

टीका – परमाधार्मिकास्तथाविधकर्मोदयात् क्रीडायमानाः तान्नारकान् हस्तेषु पादेषु बद्धवोदरं 'क्षुर प्रासिभिः'नानाविधैरायुधविशेषैः' विकर्तयन्ति' विदारयन्ति, तथा परस्य बालस्येवाकिञ्चित्करत्वाद्बालस्य लकुटादिभिर्विविधं 'हतं' पीडितं देहं गृहीत्वा 'वर्ध्रं' चर्मशकलं 'स्थिरं' बलवत् 'पृष्ठतः' पृष्ठिदेशे 'उद्धरन्ति' विकर्तयन्त्येवमग्रतः पार्श्वति श्चेति ॥२॥ अपिच –

टीकार्थ – पूर्व गाथा में जो सूचित किया गया है तदनुसार यहाँ वर्णन करते हैं । तथाविध कर्मोदय के कारण औरों को कष्ट देने में क्रीड़ा, एवं मनोविनोद की ज्यों सुख मानने वाले परमाधामी देव उन नारकीय प्राणियों के हाथ पैर बांधकर तेज धार युक्त उस्तरे एवं तलवार आदि अनेक प्रकार के शस्त्रों द्वारा उनके पेट चीर डालते हैं । एक बालक के समान कुछ भी प्रतिकार करने में जो समर्थ नहीं है ऐसे अन्य नारकीय जीवों के शरीर को लाठी आदि द्वारा वे परमाधामी देव तरह-तरह से मारते पीटते हैं फिर उन्हें पकड़कर बलपूर्वक उनकी पीठ की चमड़ी खींच लेते हैं, उधेड़ डालते हैं । इसी प्रकार पार्श्वभाग तथा अग्र भाग की चमड़ी भी उधेड़ डालते हैं ।

❀ ❀ ❀

बाहू पकत्तंति य मूलतो स, थूलं वियासं मुहे आइहंति ।
रहंसि जुत्तं सरयंति बालं, आरुस्य विज्झंति तुदेण पिट्ठे ॥३॥

छाया – बाहून् प्रकर्तयन्ति समूलतस्तस्य, स्थूलं विकाशे मुखे आदहन्ति ।
रहसि युक्तं स्मरयंति बाल आरूष्य तुदेन पृष्ठे विध्यन्ति ॥

अनुवाद – नरकपाल नारकीय जीवों की भुजाओं को जड़ से उखाड़ डालते हैं तथा उनका मुख फाड़कर उसमें लोहे के तपाये हुए गरम गोले डालकर उन्हें जलाते हैं, पीड़ित करते हैं । उन्हें वे एकान्त में ले जाकर उन द्वारा पूर्वाचरित कर्मों को स्मरण कराते हैं, तथा उन पर निष्कारण क्रोध करते हुए उनकी पीठ पर चाबुक फटकारते हैं, घायल कर डालते हैं ।

टीका – 'से' तस्य नारकस्य तिसृष नरकपृथिवीषु परमाधार्मिका अपरनारकाश्च अधस्तनचतसृषु चापरनारका एव मूलत आरभ्यबाहून् 'प्रकर्तयन्ति' छिन्दन्ति तथा 'मुखे' विकाशं कृत्वा 'स्थूलं' बृहत्तप्तायोगोलादिकं प्रक्षिपन्त आसमन्ताद्दहन्ति। तथा 'रहसि' एकाकिनं 'युक्तम्' उपपन्नं युक्तियुक्तं स्वकृतवेदनानुरूपं तत्कृतजन्मान्तरानुष्ठानं तं 'बालम्' अज्ञं नारकं स्मारयन्ति, तद्यथा-तप्तत्रपुपानावसरे मद्यपस्त्वमासीस्तथा स्वमांसभक्षणावसरे पिशिताशीत्वमासीरित्येवं दुःखानुरूपमनुष्ठानं स्मारयन्तः कदर्थयन्ति, तथा-निष्कारणमेव 'आरूष्य' कोपं कृत्वा प्रतोदादिना पृष्ठदेशे तं नारकं परवशं विध्यन्तीति ॥३॥ तथा -

टीकार्थ – तीन नरक भूमियों में परमाधामी देव नारकीय जीवों की भुजाओं को जड़ से काट डालते हैं, छिन्न भिन्न कर डालते हैं तथा वहाँ रहने वाले नारक जीव भी परस्पर एक दूसरे की भुजाओं को जड़ से काट देते हैं, छिन्न भिन्न कर देते हैं। नीचे की चार नरक भूमियों में रहने वाले नारक जीव ही परस्पर एक दूसरे की भुजाओं को जड़ से काटते रहते हैं, छिन्न भिन्न करते रहते हैं। परमाधामी देव नारकों के मुँह फाडकर उनमें तपे हुए गर्म लोहे के बड़े-बड़े गोले डालते हैं, जलाते हैं। उन नारकीय जीवों को एकांत में ले जाकर उन द्वारा किये गए पूर्वजन्म के कर्मों को उन अज्ञानियों को याद कराते हैं, जिनके फलस्वरूप वे उनके लिए वेदना उत्पन्न कर रहे हैं, यातनाएं दे रहे हैं। वे जब उन्हें गरम किया हुआ सीसा पिलाते हैं, तब कहते हैं कि याद करो, तुम बहुत मद्यपान करते थे। उन्हीं के शरीर का मांस उन्हें खिलाते समय कहते हैं कि याद करो, तुम बहुत मांस खाते थे। यों उनके दुःखों के अनुरूप उन नारक जीवों को पूर्वजन्म में उन द्वारा किये गए कर्मों को याद दिलाते हुए वे उन्हें कष्ट देते हैं निष्कारण ही क्रुद्ध होकर उन परवश नारक जीवों की पीठ पर कोड़े मारते हैं।

❀ ❀ ❀

अयंव तत्तं जलियंसजोई, तऊवमं भूमिमणुक्कमंता ।
ते डज्झमाणा कलुणं थणंति, उसुचोइया त्तत्त जुगेसु जुत्ता ॥४॥

छाया – अयइव ज्वलितां सज्योतिस्तदुपमां भूमिमनुक्रामन्तः ।
ते दह्यमानाः करुणं स्तनन्ति इषुचोदितास्तप्तयुगेषु युक्ताः ॥

अनुवाद – तपे हुए लोहे के गोले के समान प्रज्वलित ज्योतियुक्त अग्नि से आप्लावित भूमि पर चलते हुए नारकीय जीव जलते जाते हैं, करुण क्रन्दन करते जाते हैं। चाबुक मारकर चलाये जाते हैं। तप्त जुए में जुड़े बैल की ज्यों वे नारकीय जीव चीखते, चिल्लाते हैं।

टीका – तप्तायोगोलकसन्निभां ज्वलितज्योतिभूतांतदेवंरूपां तदुपमां वा भूमिम् 'अनुक्रामन्तः' तां ज्वलितां भूमिं गच्छन्तस्ते दह्यमानाः 'करुण' दीनंविस्वरं 'स्तनंति' रारटन्ति तथा तप्तेषु युगेषु युक्ता गलिबलीवर्दा इव इषुणा प्रतोदादिरूपेण विध्यमानाः स्तनन्तीति ॥४॥ अन्यच्च -

टीकार्थ – परितप्त लोहे के गोले के सदृश जलती प्रज्वलित, अग्नि आप्लावित पृथ्वी के तुल्य नरक भूमि पर चलते हुए नारकीय प्राणी जलते जाते हैं। करुण, दीन स्वर से रूदन करते हैं। तप्त गर्म जुए में जोते हुए बैल की ज्यों चाबुक मार-मार कर चलने के लिए प्रेरित किये जाते हैं और रोते चीखते हैं।

❀ ❀ ❀

बाला बला भूमिमणुक्कमंता, पविज्जलं लोहपहं च तत्तं ।
जंसीऽभिदुग्गंसि पवज्जमाणा, पेसेव दंडेहिं पुराकरंति ॥५॥

छाया – बालाः बलाद् भूमि मनुक्राम्यमाणाः पिच्छिलां लोहपथमिवत्तप्ताम् ।
यस्मिन् अभिदुर्गे प्रपद्यमानाः प्रेष्यानिव दण्डैः पुरः कुर्वन्ति ॥

अनुवाद – परमाधामी देव विवेकशून्य नारकीय जीवों को प्रज्वलित लौहपथ-लोहे के मार्ग के समान परितप्त भूमि पर नारकीय जीवों को बलपूर्वक चलाते हैं । खून और मवाद जहाँ कीचड़ की ज्यों फैले हुए हैं, वहाँ उन्हें चलने हेतु बाध्य करते हैं । जहाँ किसी दुर्गम स्थान की ओर जाते हुए नारकीय प्राणी रुकने लगते हैं, तब वे नरकपाल बैल की ज्यों डंडे आदि से मारकर उन्हें आगे चलाते हैं ।

टीका – 'बाला' निर्विवेकिनः प्रज्वलितलोहपथमिवतप्तां भुवं 'पविज्जलं' ति रूधिरपूयादिना पिच्छिलां बलादनिच्छन्तः 'अनुक्रम्यमाणाः' प्रेर्यमाणाविरसमारसन्ति, तथा 'यस्मिन्' अभिदुर्गे कुम्भीशाल्मल्यादौ प्रपद्यमाना नरकपालचोदिता न सम्यग्गच्छन्ति, ततस्ते कुपिताः परमाधार्मिकाः 'प्रेष्यानिव' कर्मकरानिव बलीवर्धवद्वा दण्डैर्हत्वा प्रतोदनेन प्रतुद्य 'पुरतः' अग्रतः कुर्वन्ति, न ते स्वेच्छया गन्तुं स्थातुं वालभन्ति इति ॥५॥ किञ्च -

टीकार्थ – नरकपाल विवेक शून्य नारकीय प्राणियों को प्रज्वलित लौहमय पथ के सदृश गर्म तथा कीचड़ की ज्यों अत्यधिक फैले हुए खून और मवाद से चिकनी भूमि पर नारकों को उनकी इच्छा न होते हुए बलपूर्वक चलाते हैं, उस भूमि पर चलते हुए नारकीय प्राणी बुरी तरह आवाजें करते हैं, चिल्लाते हैं । परमाधामी देव अत्यन्त विषम कुम्भी और शाल्मली आदि जिस नरक में जाने हेतु प्रेरित करते हैं, जब वे उस भूमि पर अच्छी तरह नहीं चलते हैं, तब परमाधामी देव उन पर क्रुद्ध होकर नौकर की ज्यों या बैल की ज्यों डंडे व चाबुक मार-मारकर उन्हें आगे चलाते हैं, वे नारकीय न तो अपनी इच्छा से कहीं आगे जा पाते हैं और न कहीं रुक पाते हैं ।

❀ ❀ ❀

ते संपगाढंसि पवज्जमाणा, सिलाहि हम्मंति निपातिणीहिं ।
संतावणी नाम चिरट्ठितीया, संतप्पती जत्थ असाहुकम्मा ॥६॥

छाया – ते सम्प्रगाढं प्रपद्यमानाः शिलाभिर्हन्यन्ते नियातिनीभिः ।
संतापनी नाम चिरस्थितिका सन्तप्यते यत्रासाधुकर्मा ॥

अनुवाद – अत्यन्त प्रगाढ गहरी पीड़ा से युक्त नरकगत प्राणी सामने से गिरती हुई पत्थर की शिलाओं से आहत प्रतिहत होते हैं । कुम्भी नामक नरक में गये हुए जीवों की स्थिति बहुत लम्बे समय की होती है। पापिष्ठ जीव चिरकाल तक वहाँ रहते हुए संतप्त होते रहते हैं ।

टीका – 'ते' नारकाः 'सम्प्रगाढ' मिति बहुवेदनमसह्यं नरकं मार्गं वा प्रपद्यमाना गन्तुं स्थातुं वा तत्राशक्नुवन्तोऽभिमुखपातिनीभिः शिलाभिरसुरैर्हन्यन्ते, तथा सन्तापयतीति सन्तापनी-कुम्भी सा च चिरस्थितिका तद्गतोऽसुमान् प्रभूतं कालं यावदतिवेदनाग्रस्त आस्ते यत्र च 'सन्तप्यते' पीड्यतेऽत्यर्थम् 'असाधुकर्मा' जन्मान्तरकृताशुभानुष्ठान इति ॥६॥ तथा -

टीकार्थ – अत्यन्त वेदनामय असह्य नरक में या वहाँ के किसी मार्ग में गए हुए, वहाँ से हट पाने में तथा वहाँ टिक पाने में असमर्थ होते हैं । असुरों द्वारा सामने से डाली जाती शिलाओं से प्रतिहत होते हैं। जो प्राणियों को चारों ओर से संताप देती है-संतप्त करती है उसे सन्तापनी कहा जाता है, वह कुम्भी नरक है, वह स्थिति बड़े समय की है, अर्थात उस कुम्भी नरक में गया हुआ प्राणी दीर्घकाल तक वहाँ अत्यधिक यातनाएं भोगता रहता है । पूर्व जन्म में जिसने पाप किये हो वैसा प्राणी कुम्भी नरक में जाकर अत्यन्त ताप से पीडित होता रहता है ।

❀ ❀ ❀

कंदूसु पक्खिप्प पंयति बालं, ततोपि दड्ढा पुण उप्पयंति ।
ते उड्ढकाएहिं पखज्जमाणा, अवरेहिं खज्जंति सणप्फएहिं ॥७॥

छाया – कन्दुसु प्रक्षिप्य पचन्ति बालं ततोऽपि दग्धाः पुनरुत्पतन्ति ।
ते ऊर्ध्वकायैः प्रखाद्यमाना अपरैः खाद्यन्ते सनखपदैः ॥

अनुवाद – नरकपाल विवेकशून्य नारकीय जीवों को कन्दुक गेंद के से आकार से युक्त कुम्भी नामक नरक में डाल देते हैं, पकाते हैं, फिर वे वहाँ से भूने जाते हुए चने की तरह उछलकर ऊपर जाते हैं, जहाँ द्रोण काक उन्हें चोचों से मार-मारकर खाते हैं, जब वे बचने के लिए दूसरी ओर जाते हैं तो शेर बाघ आदि उन्हें खाने लगते हैं ।

टीका – तं 'बालं' वराकं नारकं कुन्दुषु प्रक्षिप्य नरकपालाः पचन्ति, ततः पाकस्थानात् ते दह्यमानाश्चणका इव भृज्यमाना ऊर्ध्वं पतन्त्युत्पतन्ति, ते च ऊर्ध्वमुत्पतिताः 'उड्ढकाएहिं' ति द्रोणैः काकैर्वैक्रियैः 'प्रखाद्यमाना' भक्ष्यमाणा अन्यतो नष्टाः सन्तोऽपरैः 'सणप्फएहिं' ति सिंहव्याघ्रादिभिः 'खाद्यन्ते' भक्ष्यन्ते इति ॥७॥ किञ्च-

टीकार्थ – नरकपाल विवेकशून्य अभागे नारकीय जीव को कन्दुक जैसे आकार युक्त नरक में डाल देते हैं, पकाते हैं, चने के सदृश वहाँ पकते हुए वे जीव वहाँ से ऊपर उछल जाते हैं, वे ऊपर उछले हुए वैक्रिय शरीर युक्त द्रोण, काक द्वारा खाये जाते हैं । वहाँ से बचने हेतु जब दूसरी ओर जाते हैं तो शेर बाघ आदि जन्तुओं द्वारा वे खाये जाते हैं ।

❀ ❀ ❀

समूसियं नाम विधूमठाणं, जं सोयतत्ताकलुणं थणंति ।
अहोसिरं कट्टु विगत्तिऊणं, अयंव सत्थेहि समोसवेंति ॥८॥

छाया – समुच्छ्रितं नामं विधूमस्थानं, यत् शोकतप्ताः करूणं स्तनन्ति ।
अधः शिरः कृत्वा विकर्त्तायोवत् शस्त्रैः खण्डशः खण्डयन्ति ॥

अनुवाद – नरक में ऊँची चिता के सदृश निर्धूम अग्निमय स्थान है, वहाँ गए हुए नारक प्राणी शोक से संतप्त होकर करुण क्रन्दन करते हैं । परमाधामी देव उनके सिरों को नीचा कर उनके शरीर को काटते तथा लोहे के शस्त्रों से उसे छिन्न-भिन्न कर डालते हैं ।

टीका – सम्यगुच्छ्रितं-चितिकाकृति, नामशब्दः सम्भावनायां, सम्भाव्यन्ते एवं विधानि नरकेषु यातनास्थानानि, विधूमस्य-अग्नेः स्थानं विधूमस्थानं यत्प्राप्य शोकवितप्ताः 'ककणं' दीनं 'स्तनन्ति' आक्रन्दन्तीति, तथा अधः

शिरः कृत्वा देहं च विकर्त्तयोवत् 'शस्त्रैः' तच्छेदनादिभिः 'समोसर्वेति' त्ति खण्डशः खण्डयन्ति ॥८॥ अपिच -

टीकार्थ – नरक में चिता के समान एक धूम शून्य अग्निमय स्थान है । यहां नाम शब्द सम्भावना के अर्थ में प्रयुक्त है । इससे यह सूचित होता है कि नरक में ऐसे यातना प्रद स्थान हैं । उक्त निर्धूम अग्निमय स्थान को प्राप्त कर नारकीय जीव शोक से संतप्त हो जाते हैं, करुण क्रन्दन करते हैं । नरकपाल उनका सिर नीचा कर लोहे के हथियारों द्वारा उनकी देह को काटकर टुकड़े-टुकड़े कर डालते हैं ।

❀ ❀ ❀

समूसिया तत्थ विसूणियंका, पक्खीहिं खज्जंति अओमुहेहिं ।
संजीवणी नाम चिरट्ठितीया, जंसी पया हम्मइ पावचेया ॥९॥

छाया – समुच्छ्रित स्तत्र विशूणिताङ्गा पक्षिभिः खाद्यन्तेऽयोमुखैः ।
संजीवनी नाम चिरस्थितिका, यस्यां प्रजाः हन्यन्ते पापचेतसः ॥

अनुवाद – उस नरक में नीचा मुँह करके लटकाए हुए तथा शरीर की चमड़ी उखेड़े हुए नारकीय प्राणी लौहमय मुखयुक्त अथवा लोहे जैसी तीक्ष्ण चोंचों से युक्त पक्षियों द्वारा खाये जाते हैं । नरक की भूमि संजीवनी कही जाती है, क्योंकि मरणान्तिक कष्ट पाकर भी प्राणी वहाँ आयु शेष रहने के कारण मरते नहीं हैं । उस नरक में गये हुए प्राणियों का आयुष्य बहुत लम्बा होता है । पापी जीव वहाँ हत प्रतिहत होते रहते हैं ।

टीका – 'तत्र' नरके स्तम्भादौ ऊर्ध्ववाहवोऽधः शिरसो वा श्वपाकैर्बस्तवल्लम्बिता सन्तः 'विसूणियंग'त्ति उत्कृत्ताङ्गा अपगतत्वचः पक्षिभिः 'अयोमुखैः' व्रजचञ्चुभिः काकगृद्धादिभिर्भक्ष्यन्ते तदेवं ते नारका नरकपालापादितैः परस्परकृतैः स्वाभाविकैर्वा छिन्ना-भिन्नाः क्वथिता मूर्च्छिताः सन्तो वेदनासमुद्घातगता अपि सन्तो न म्रियन्ते अतो व्यपदिश्यते सञ्जीवनीवत् सञ्जीवनीजीवितदात्री नरकभूमिः न तत्र गतः खण्डशश्छिन्नोऽपि म्रियते स्वायुषि सतीति, सा च चिरस्थितिकोत्कृष्टतस्त्रयस्त्रिंशत् यावत्सागरोपमाणि, यस्यां च प्राप्ताः प्रजायन्त इति प्रजाः-प्राणिनः पापचेतसो हन्यन्ते मुद्गरादिभिः, नरकानुभावाच्च मुमूर्षवोऽप्यत्यन्तपिष्टा अपि न म्रियन्ते, अपितु पारदवन्मिलन्तीति ॥९॥ अपिच -

टीकार्थ - उस नरक में चांडाल खंभे आदि में ऊपर भुजाएं एवं नीचे मस्तक कर मुर्दे शरीर की तरह लटका देते हैं, चमड़ी उधेड़ देते हैं । उन लटकते जीवों को वज्रमय चौंचयुक्त काक और गिद्ध आदि पक्षी खाते हैं । नरकपाल उनका छेदन-भेदन करते हैं अथवा परस्पर वे एक दूसरे का छेदन-भेदन करते हैं, ऊबाले जाते हैं, मूर्च्छित हो जाते हैं । अत्यधिक वेदना का अनुभव करते हुए भी उनके प्राण नहीं छूटते । इसलिए नरक भूमि संजीवनी औषधि की तरह जीवनप्रदा कही जाती है क्योंकि नरक में गया हुआ प्राणी टुकड़े-टुकड़े कर दिए जाने पर भी आयु के शेष रहने के कारण प्राण नहीं छोड़ता, मरता नहीं । नरक की आयु उत्कृष्ट-अधिक से अधिक तैंतीस सागरोपम काल परिमित कही गई है । यों नरक चिरकालिक स्थिति युक्त है । वहाँ गये हुए पापिष्ठ प्राणी मुद्गर आदि द्वारा आहत प्रतिहत किये जाते हैं, नरक की पीड़ा से बेचैन होकर वे मरना चाहते हैं किन्तु अत्यधिक पीस दिये जाने पर भी उन्हें मौत नहीं आती । वे व उनके शरीर के खण्ड पारद की तरह परस्पर मिल जाते हैं ।

❀ ❀ ❀

तिक्खाहिं सूलाहि निवाययंति, वसोगयं सावययं व लद्धं ।
ते सूलविद्धा कलुणं थणंति, एगंतदुक्खं दुहओ गिलाणा ॥१०॥

छाया – तीक्ष्णाभिः शूलाभिर्निपातयन्ति वशंगतं श्वापदमिव लब्धम् ।
ते शूलविद्धाः करुणं स्तनन्ति, एकान्तदुःखाः द्विधा ग्लानाः ॥

अनुवाद – परमाधामी देव अधीन किये हुए जंगली जानवर की तरह नारकीय जीवों को तीक्ष्ण शूल से बींध डालते हैं । बाह्य रूप में और भीतरी रूप में सर्वथा सुखरहित एकांततः दुखित नारकीय जीव करुण क्रन्दन करते हैं ।

टीका – पूर्वदुष्कृतकारिणं तीक्ष्णाभिरयोमयीभिः शूलाभिः नरकपाला नारकमतिपातयन्ति किमिव ? वशमुपगतं श्वापदमिव कालपृष्ठशूकरादिकं स्वातन्त्र्येण लब्धवा कदर्थयन्ति, ते नारकाः शूलादिभिर्विद्धा अपि न म्रियन्ते, केवलं 'करुणं' दीनं स्तनन्ति, न च तेषां कश्चित्राणायालं तथैकान्तेन 'उभयतः' अन्तर्बहिश्च 'ग्लाना' अपगतप्रमोदाः सदा दुःखमनुभवन्तीति ॥१०॥ तथा -

टीकार्थ – नरकपाल उन नारकीय जीवों को जिन्होंने पूर्वजन्म में पाप किए हैं, तीक्ष्ण लोहे के शूलों से बींध डालते हैं, किसकी तरह ? बस में आए हुए-पकड़े हुए या अधीन किए हुए हिरण सूअर आदि की तरह उन्हें प्राप्त कर वे चाहे जैसी पीड़ा देते हैं । शूल आदि द्वारा बींध दिए जाने पर भी नारकीय प्राणी मरते नहीं । वे बुरी तरह चिल्लाते चीखते रहते हैं, उन्हें कोई नहीं बचा सकता। वे भीतर व बाहर दोनों ओर से सर्वथा सुखरहित हैं, सदा दुःख ही दुःख भोगते हैं ।

❀ ❀ ❀

सया जलं नाम निहं महंतं, जंसी जलंतो अगणी अकट्ठो ।
चिट्ठंति बद्धो बहुकूरकम्मा, अरहस्सरा केइ चिरट्ठितीया ॥११॥

छाया – सदा ज्वलन्नाम निहं महत्, यस्मिन् ज्वलन्वनग्निरकाष्ठः ।
तिष्ठन्ति बद्धाः बहुक्रूरकर्माणः अरहस्वराः केऽपि चिरस्थितिकाः ॥

अनुवाद – नरक में एक ऐसा प्राणियों का घात स्थान है, जो सदा प्रज्वलित रहता है, उसमें काष्ठ के बिना ही निरन्तर अग्नि जलती रहती है । पापिष्ठप्राणी उसमें बांध दिए जाते हैं । अपने पापों का फल भोगने हेतु दीर्घकाल तक निवास करते हैं और आर्त स्वर में निरन्तर चिल्लाते रहते हैं ।

टीका - 'सदा' सर्वकालं 'ज्वलत्' देदीप्यमानमुष्णरूपत्वात् स्थानमस्ति, निहन्यन्ते प्राणिनः कर्मवशगा यस्मिन् तन्निहम्-आघातस्थानं तच्च 'महद्' विस्तीर्णं यत्राकाष्ठोऽग्निर्ज्वलन्नास्ते, तत्रैवम्भूते स्थाने भवान्तरे बहुक्रूरकृत-कर्माणस्तद्विपाकापादितेन पापेन बद्धास्तिष्ठन्तीति, किम्भूताः ?-'अरहस्वरा' बृहदाक्रन्दशब्दाः 'चिरस्थितिकाः' प्रभूतकालस्थितय इति ॥११॥ तथा -

टीकार्थ – एक ऐसा स्थान है, जो उष्ण रूप होने के कारण सदा दैदीप्यमान-प्रज्वलित रहता है। कर्म के वश हुए प्राणी जिसमें मारे जाते हैं, उसे निह कहा जाता है । वह प्राणियों का घात स्थान है या वध्य स्थल है । वह अत्यन्त विस्तृत है । उसमें काष्ठरहित अग्नि प्रज्वलित रहती है । जिन्होंने अपने पूर्व जीवन

में अत्यन्त क्रूरता पूर्ण-निर्दयतापूर्ण कर्म किये हैं वे प्राणी स्वकृत पाप का फल भोगने हेतु बद्ध होकर वहाँ निवास करते हैं । वे प्राणी कैसे हैं ? वे जोर-जोर से क्रन्दन करते हैं, चीखते चिल्लाते हैं । वे दीर्घकाल पर्यन्त चीखते चिल्लाते रहते हैं ।

❀ ❀ ❀

चिया महंतीउ समारभित्ता, छुब्भंति ते तं कलुणं रसंतं ।
आवट्टती तत्थ असाहुकम्मा, सप्पी जहा पडियं जोइमज्झे ॥१२॥

छाया – चिताः महतीः समारभ्य, क्षिपन्ति ते तं करुणं रसन्तम् ।
आवर्तते तत्रासाधुकर्मा, सर्पिर्यथा पतितं ज्योतिर्मध्ये ॥

अनुवाद – परमाधामी देव एक बहुत बड़ी चिता बनाकर उसमें क्षुब्ध और करुण क्रन्दन करते हुए नारकीय जीवों को फेंक देते हैं । आग में डाला हुआ घी जैसे पिघल जाता है, वे प्राणी उसमें गलकर पानी से हो जाते हैं ।

टीका – महतीश्चिताः समारभ्य नरकपालाः 'तं' नारकं विरसं 'करुणं' दीनमारसन्तं तत्र क्षिपन्ति, स चासाधुकर्मा 'तत्र' तस्यां चितायां गतः सन् 'आवर्तते' विलीयते यथा-'सर्पिः' घृतं ज्योतिर्मध्ये पतितं द्रवीभवत्येवमसावपि विलीयते, न च तथापि भवानुभावात्प्राणैर्विमुच्यते ॥१२॥ अयमपरोनरकयातनाप्रकार इत्याह-

टीकार्थ – नरकपाल महत्ती-विशाल चिता बनाकर करुण क्रन्दन करते हुए, दीनता के साथ रोते चीखते हुए नारकीय जीव को उसमें डाल देते हैं । वह असाधुकर्मा पापी उस चिता में जाकर विलीन हो जाता है-गल जाता है । जैसे अग्नि में डाला हुआ घृत पिघल जाता है, उसी तरह वह नारकीय प्राणी द्रव रूप में परिणत हो जाता है किन्तु नरक के प्रभाव के कारण वह प्राण विमुक्त नहीं होता-नहीं मरता ।

यह नारकीय यातना का दूसरा प्रकार है ऐसा कहते हैं ।

❀ ❀ ❀

सदा कसिणं पुण घम्मठाणं, गाढोवणीयं इहदुक्खधम्मं ।
हत्थेहिं पाएहि य बंधिऊणं, सत्तुव्व डंडेहिं समारभंति ॥१३॥

छाया – सदा कृत्स्नं पुनर्धर्मस्थानं, गाढोपनीत मतिदुःखधर्मम् ।
हस्तैश्च पादैश्च बध्धवा शत्रु मिव दण्डैः समारभन्ते ॥

अनुवाद – वहाँ सदा प्रज्जवलित रहने वाला एक उष्ण स्थान है जो प्रगाढ कर्मों के फलस्वरूप प्राणियों को प्राप्त होता है । वह स्वभाव से ही अत्यन्त दुःखप्रद है । उस स्थान में नारकपाल नारकीय जीवों के हाथ पैर बांधकर शत्रु की ज्यों डण्डों से उन्हें पीटते हैं ।

टीका – 'सदा' सर्वकालं 'कृत्स्नं' सम्पूर्णं पुनरपरं 'घर्मस्थानं' उष्णस्थानं दृढैर्निधत्तनिकाचित्तावस्थैः कर्मभिः 'उपनीतं' ढौकितमतीव दुःखरूपो धर्मः-स्वभावो यस्मिंस्तदतिदुःखधर्मं तदैवम्भूते यातनास्थाने तमत्राणं नारकंहस्तेषु पादेषु च बध्ध्वा तत्र प्रक्षिपन्ति, तथा तदवस्थमेव शत्रुमिव दण्डैः 'समारभन्ते' ताडयन्ति ॥१३॥ किञ्च-

टीकार्थ – वहाँ एक ऐसा स्थान है जो सदैव सब ओर से अत्यन्त उष्ण बना रहता है । वह दृढ़ बन्धन युक्त निधत्त, निकाचित कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त होता है । वह स्वभाव से ही अत्यधिक क्लेशप्रद है। नरकपाल नारकीय जीवों को, जिन्हें कहीं भी वहाँ शरण नहीं मिलती, हाथ पैर बांधकर ऐसे दु:खपूर्ण स्थान में फेंक देते हैं, डाल देते हैं ओर वहाँ उस अवस्था में उन्हें दुश्मन की तरह डण्डों से पीटते हैं ।

❀ ❀ ❀

भंजंति बालस्स वहेण पुट्ठी, सीसंपि भिंदंति अओघणेहिं ।
ते भिन्न देहा फलगंव तच्छा, तत्ताहिं आराहिं णियोजयंति ॥१४॥

छाया – भञ्जन्ति बालस्य व्यधेन पृष्ठं, शीर्षमपि भिन्दन्त्य योघनेन ।
ते भिन्न देहाः फलकमिव तष्टा स्तप्ताभिरारााभिर्नियोज्यन्ते ॥

अनुवाद – नरकपाल लट्ठी आदि से मार मार कर अज्ञानी नारकीय प्राणी की पीठ तोड़ देते हैं । लोहे के हथोड़े मार मार कर उनका मस्तक छिन्न भिन्न कर देते हैं-फोड़ डालते हैं । उनके चूर-चूर हुए शरीर को वे तपाये हुए लोहे के आरे से काठ की तरह चीर डालते हैं ।

टीका – 'बालस्य' वराकस्य नारकस्य व्यथयतीति व्यथो-लकुटादिप्रहारस्तेन पृष्ठं 'भञ्जयन्ति' मोटयन्ति, तथा शिरोऽप्ययोमयेन घनेन 'भिदंन्ति' चूर्णयन्ति, अपिशब्दादन्यान्यप्यङ्गोपाङ्गानि दुघणघातैश्चूर्णयन्ति 'ते' नारका 'भिन्न देहाः' चूर्णिताङ्गोपाङ्गा फलकमिवोभाभ्यां पार्श्वाभ्यां क्रकचादिना 'अवतष्टाः' तनूकृताः सन्तस्तप्ताभिरारााभिः प्रतुद्यमानास्तप्तत्रपुपानादिके कर्मणि 'विनियोज्यन्ते' व्यापार्यन्त इति ॥१४॥ किञ्च -

टीकार्थ – नरकपाल पीड़ाप्रद लट्ठी आदि के प्रहार द्वारा पीट-पीटकर अभागे नारकीय प्राणी की कमर तोड़ देते हैं । लोहे के हथोड़े से मार मारकर उसका सिर फोड़ डालते हैं-चूर-चूर कर देते हैं । यहाँ प्रयुक्त अपि शब्द द्वारा यह संकेतिक है कि वे नारकीय जीव के दूसरे अंग उपांग भी छिन्न-भिन्न कर डालते हैं । आरे द्वारा उनके शरीर के दोनों पार्श्व चीरकर तराश दिये जाते हैं फिर उन्हें गर्म आरे द्वारा और पीड़ा दी जाती है तथा सीसा आदि पीने हेतु मजबूर किया जाता है ।

❀ ❀ ❀

अभिजुंजिया रूद्द असाहुकम्मा, उसुचोइया हत्थिवहं वहंति ।
एगं दुरुहित्तु दुवे ततो वा, आरुस्स विज्झंति ककाणओ से ॥१५॥

छाया – अभियोज्य रौद्रसाधुकर्मणः, इषुचोदितान् हस्तिवहं वाहयन्ति ।
एकं समारोह्य द्वौ त्रीन्वा, आरुष्य विध्यन्ति मर्माणि तस्य ॥

अनुवाद – नरकपाल पापकर्मा नारकीय जीवों के पूर्वजन्म में उन द्वारा किये गये अशुभकर्मों को याद कराकर उन्हें बाण के प्रहार से पीड़ित करते हैं । जैसे भार ढ़ोने के लिए अंकुश मार-मारकर हाथी को चलाया जाता है वैसा ही वे उनके साथ करते हैं । उनकी पीठ पर एक या दो या तीन दूसरे नारकीय प्राणी को बिठाकर उन्हें चलने को मजबूर करते हैं, तथा क्रुद्ध होकर उनके मर्मस्थानों पर चोटें लगाते हैं ।

टीका – रौद्रकर्मण्यपरनारकहननादिके 'अभियुज्य' व्यापार्य यदिवा जन्मान्तरकृतं ''रौद्रं'' सत्त्वोपघातकार्यम् 'अभियुज्य' स्मारयित्वा असाधूनि-अशोभनानि जन्मान्तरकृतानि कर्माणि-अनुष्ठानानि येषां ते तथा तान्

'इषुचोदितान्' शराभिघातप्रेरितान् हस्तिवाहं वाहयन्ति नरकपालाः, यथा हस्ती वाह्यते समारूह्य एवं तमपि वाहयन्ति, यदिवा-यथा हस्ती महान्तं भारं वहत्येवं तमपि नारकं वाहयन्ति, उपलक्षणार्थत्वाद स्योष्ट्रवाहं वाहयन्तीत्याद्यप्यायोज्यं, कथं वाहयन्तीति दर्शयति, तस्य नारकस्योपरि एकं द्वौ त्रीन् वा 'समारुह्य' समारोप्य ततस्तं वाहयन्ति, अतिभारारोपणे नावहन्तम् 'आरुष्य' क्रोधं कृत्वा प्रदांदादिना 'विध्यन्ति' तुदन्ति, 'से' तस्य नारकस्य 'ककाणओ' त्ति मर्माणि विध्यन्तीत्यर्थः ॥१५॥ अपिच -

टीकार्थ – नरकपाल नारकीय जीवों को अन्य नारकीय जीवों के प्रति रौद्रकर्म करने में, उनका घात-प्रतिघात करने में लगाकर अथवा उन द्वारा पूर्वजन्म में की गई जीव हिंसा आदि कार्यों को याद कराकर जन्मान्तर में अशुभ कर्म करने वाले उन नारक जीवों को शराभिघात द्वारा-बाणों के प्रहार द्वारा हाथी की ज्यों भार ढोने में प्रवृत्ति करते हैं । जैसे हाथी पर चढ़कर लोग उससे भार ढुहाते हैं, उसी तरह उन नारकीय जीवों को बाणों से आहत कर हाथी के समान उनसे भारवाही का काम लेते हैं । जैसे हाथी पर लोग सवारियाँ बिठाकर ले जाते हैं, उसी तरह उन नारकों पर भी नरकपाल सवारियाँ बिठाकर भार वहन कराते हैं । यहाँ पर हाथी द्वारा भार वहन कराया जाना उपलक्षण है । इससे ऊँट आदि द्वारा भार वहन कराये जाने की ज्यों नारकों से भार ढुवाया जाना संकेतित है । नरकपाल नारकीय जीवों से किस प्रकार भार वहन कराते हैं, शास्त्रकार इसका दिग्दर्शन कराते हुए कहते हैं कि वे परमाधामी देव उन नारकीय जीवों पर एक दो या तीन व्यक्तियों को बिठाकर उनको उन्हें लेकर चलने को मजबूर करते हैं । अत्यधिक भार के कारण जब वे नारक चल नहीं पाते तब परमाधामी देव क्रुद्ध होकर कोड़े आदि द्वारा उनको ताड़ित करते हैं । उनके मर्म स्थानों का बेध करते हैं ।

❀ ❀ ❀

बाला बाला भूमि मणुक्कमंता, पविज्जलं कंटइलं महंतं ।
विवद्धतप्पेहिं विवण्णचित्ते, समीरिया कोट्टबलिं करिंति ॥१६॥

छाया – बालाः बलाद् भूमिमनुक्राभ्यमाणाः, पिच्छिलां कण्टकिलां महतीम् ।
बिबद्धतर्पान् विषण्णचित्तान् समीरिताः कोट्टवलिं कुर्वन्ति ॥

अनुवाद – पापानुप्रेरित परमाधामी देव बच्चों के समान पराधीन अभागे नारकीय जीवों को कीचड़ के कारण फिसलन युक्त तथा कण्टकाकीर्ण विस्तृत भूमि पर चलने को बाधित करते हैं । वे अन्य मूर्च्छित-संज्ञाहीन नारकीय जीवों को बांध देते हैं । उनकी देह के टुकड़े-टुकड़े कर इधर उधर फेंक देते हैं ।

टीका – बाला इव बालाः परतन्त्राः, पिच्छिलां रूधिरादिना तथा कण्टकाकुलां भूमिमनुक्रामन्तो मन्दगतयो बलोत्प्रेर्यन्ते, तथा अन्यान् 'विषण्णचित्तान्' मूर्च्छितांस्तर्पकाकारान् 'विविधम्' अनेकधा बद्धव ते नरकपालाः 'समीरिताः' पापेन कर्मणा चोदितास्तान्नारकान् 'कुट्टयित्वा' खण्डशः कृत्वा 'बलिं करिंति', त्ति नगरबलिवदितश्चेतश्च क्षिपन्तीत्यर्थः, यदि वा कोट्टबलिं कुर्वन्तीति ॥१६॥ किञ्च -

टीकार्थ – नरकपाल बच्चों के समान परतन्त्र नारकीय जीवों को रुधिर आदि के फैलने से चिकनी, फिसलन युक्त तथा कण्टकाकीर्ण भूमि पर चलने को बाध्य करते हैं । वे जब धीरे-धीरे चलते हैं, तब वे उन्हें बलपूर्वक तेज चलाते हैं । पापानुप्रेरित नरकपाल अन्य मूर्च्छित-संज्ञाहीन नारकीय जीवों को अनेक प्रकार से बांधकर उनके शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर नगरबलि के समान इधर उधर फेंक देते हैं अथवा उन्हें नगर की बलि करते हैं ।

❀ ❀ ❀

वेतालिए नाम महाभितावे, एगायते पव्वयमंतलिक्खे ।
हम्मंति तत्था बहुकूरकम्मा, परं सहस्साण मुहुत्तगाणं ॥१७॥

छाया – वैक्रियो नाम महाभिताप एकायतः पर्वतोऽन्तरिक्षे ।
हन्यन्ते तत्स्थाः बहुक्रूरकर्माणः परं सहस्राणां मुहूर्त्तकाणाम् ॥

अनुवाद – अत्यन्त तापप्रद आकाश में परमाधामी देवों द्वारा निर्मित एक अत्यधिक विशाल शिलामय पर्वत है । वहां रहने वाले नारकीय प्राणी सहस्त्रों मुहूर्तों से भी अधिक समय तक परमाधामी देवों द्वारा हत-प्रतिहत किये जाते हैं ।

टीका – नाम शब्दः सम्भावनायां, सम्भाव्यते एतन्नरकेषु यथाऽन्तरिक्षे 'महाभितापे' महादुःखैककार्ये एकशिलाघटितो दीर्घः 'वेयालिए'त्ति वैक्रियः परमाधार्मिकनिष्पादितः पर्वतः तत्र तमोरुपत्वान्नरकाणामतो हस्त स्पर्शिकया समारूहन्तो नारका 'हन्यन्ते' पीड्यन्ते, बहूनि क्रूराणि जन्मान्तरोपात्तानि कर्माणि येषां ते तथा, सहस्रसंख्यानां मुहुर्तानां परं-प्रकृष्टं कालं, सहस्रशब्दस्योपलक्षणार्थत्वात्प्रभूतं कालं हन्यन्त इति यावत्॥१७॥

टीकार्थ – यहां नाम शब्द सम्भावना के अर्थ में आया है । उससे सूचित होता है कि वहाँ ऐसा होना संभव है । आकाश में परमाधामी देवों द्वारा एक शिला से रचित बड़ा पर्वत है । वह अत्यन्त तापप्रद, घोर दुखदायी और अन्धकारमय है । पूर्वजन्म में जिन्होंने अत्यन्त क्रूर कर्म किये हैं, वे नारकीय प्राणी हाथ से छू-छूकर उस पर्वत पर चढ़ते हैं । परमाधामी देवों द्वारा हजार मुहूर्तों से भी अधिक समय तक मारे पीटे जाते हैं । यहाँ सहस्त्र शब्द सांकेतिक है । उससे यह सूचित है कि वे नारकीय जीव दीर्घकालपर्यन्त वहाँ यातना पाते हैं ।

❀ ❀ ❀

संबाहिया दुक्कडिणो थणंति, अहो य राओ परितप्पमाणा ।
एंगत कूडे नरए महंते, कूडेण तत्था विसमे हता उ ॥१८॥

छाया – संबाधिताः दुष्कृतिनःस्तनन्ति, अह्नि च रात्रौ परितप्यमानाः ।
एकान्तकूटे नरके महति कूटेन तत्स्थाः विषमे हतास्तु ।

अनुवाद – सम्बाधित-अनवरत उत्पीड़ित किये जाते पापी प्राणी रात-दिन रोते चिल्लाते रहते हैं । एकान्त दुःखप्रद अत्यन्त विस्तीर्ण और कठोर नरक में पतित प्राणी गले में फांसी डालकर मारे जाते हैं, वे रोते रहते हैं ।

टीका – तथा सम्-एकीभावेन बाधिताः पीडिता दुष्कृतं-पापं विद्यते येषां ते दुष्कृतिनो महापापाः 'अहो' अहनि तथा रात्रौ च 'परितप्यमाना' अतिदुःखेन पीड्यमानाः सन्तः करुणं-दीनं 'स्तनन्ति' आक्रन्दन्ति, तथैकान्तेन 'कूटानि' दुःखोत्पत्तिस्थानानि यस्मिन् स तथा तस्मिन् एवम्भूते नरके 'महति' विस्तीर्णे पतिताः प्राणिनः तेन च कुटेन गलयन्त्रपाशादिना पाषाणसमूहलक्षणेन वा 'तत्र' तस्मिनन्विषमे हताः तु शब्दस्यावधारणार्थत्वात् स्तनन्त्येव केवलमिति ॥१८॥ अपिच -

टीकार्थ – एक साथ पीड़ित किये जाते हुये घोर पापी जीव अहर्निश कष्ट से व्यथित होकर बुरी तरह रोते रहते हैं । नरक एकान्त रूप से दुःखोत्पति का स्थान है । वह बड़ा विस्तृत है । पतित प्राणी वहाँ

गले में फाँसी का फन्दा डालकर मारे जाते हैं । पत्थरों के ढेर से वे उस विषम स्थान में पीटे जाते हैं । वे वहाँ केवल रो ही सकते हैं ओर कुछ नहीं कर पाते । यहाँ आया हुआ 'तु' शब्द अवधारणा सूचक है ।

❀ ❀ ❀

भंजंति णं पुव्वमरी सरोसं, समुग्गरे ते मुसले गहेतुं ।
ते भिन्नदेहा रुहिरं वमंता, ओमुद्धगा धरणितले पडंति ॥१९॥

छाया – भञ्जन्ति पूर्वारयः सरोषं समुद्गराणि मुसलानि गृहीत्वा ।
ते भिन्नदेहाः रुधिरं वमन्तोऽधोमुखाः धरणीतले पतन्ति ॥

अनुवाद – परमाधामी देव अपने पहले के दुश्मन के समान नारकीय प्राणियों को हाथ में मुद्गर और मूसल लेकर मारते हैं । उनके शरीर को छिन्न भिन्न कर डालते हैं । यों बुरी तरह मारे पीटे जाते हुए वे नारकीय प्राणी नीचा मुख किये भूमि पर गिर पड़ते हैं । उनके मुँह से खून बहता रहता है ।

टीका – 'णम्' इति वाक्यालङ्कारे पुर्वभरय इवारयो जन्मन्तरवैरिण इव परमाधार्मिका यदिवा-जन्मान्तरापकारिणो नारका अपरेषामङ्गानि 'सरोषं' सकोपं समुद्गराणि मुसलानि गृहीत्वा 'भञ्जन्ति' गाढप्रहारै रामर्दयन्ति, ते च नारकास्त्राणरहिताः शस्त्रप्रहारैर्भिन्नदेहा रुधिरमुद्वमन्तोऽधोमुखा धरणितले पतन्तीति ॥१९॥ किञ्च –

टीकार्थ – इस गाथा में 'णं' शब्द वाक्यालंकार के रूप में आया है । नारकीय जीवों को अपने पूर्व जन्म के शत्रु के समान मानते हुये परमाधामी देव तथा अन्य जन्म के नारकीय जीव जिनका अपकार किया गया हो, उन नारकीय जीवों के क्रोध के साथ मुद्गर, मूसल आदि की भारी चोटों द्वारा अंग अंग को तोड़ डालते हैं । वे नारकीय जीव, जिन्हें वहाँ कोई बचा नहीं पाता, शस्त्रों के प्रहार से जिनके मस्तक चूर-चूर हो गये हैं, मुँह से खून बह रहा है, नीचा मुँह किये भूमि पर गिर पड़ते हैं ।

❀ ❀ ❀

अणासिया नाम महासियाला, पागब्भिणो तत्थ सयायकोवा ।
खज्जंति तत्था बहुकूरकम्मा, अदूरगा संकलियाहि बद्धा ॥२०॥

छाया – अनशिता नाम महाशृगालाः प्रगल्भिणस्तत्र सदा सकोपाः ।
खाद्यन्ते तत्र बहुकूरकर्माणः अदूरगाः शृङ्खलैर्बद्धाः ॥

अनुवाद – उस नरक में विशालकाय, सदैव क्रोध से तमतमाते, अत्यन्त उद्दण्ड, भूखे गीदड़ निवास करते हैं । वे सांकलों से बंधे हुये परस्पर समीपवर्ती नारकीय पापी प्राणियों को खाते रहते हैं ।

टीका – महादेहप्रमाणा महान्तः-शृगाला नरकपालविकुर्विता 'अनशिता' बुभुक्षिताः, नामशब्दः सम्भावनायां, सम्भाव्यत एतन्नरकेषु, 'अतिप्रगल्भिता' अतिधृष्टा रौद्ररूपा निर्भयाः 'तत्र' तेषु नरकेषु सम्भवन्ति 'सदावकोपा' नित्यकुपिताः तैरेवम्भूतैः शृगालादिभिस्तत्र व्यवस्थिता जन्मान्तरकृत बहुक्रूरकर्माणः शृङ्खलादिभिर्बद्धा अयोमयनिगडिता 'अदूरगाः परस्परसमीपवर्तिनो 'भक्षयन्ते' खण्डशः खाद्यन्त इति ॥२०॥ अपि च –

टीकार्थ – उस नरक में नरकपालों द्वारा विकुर्वित-बनाये हुये विशालकाय, बुभुक्षित, अत्यन्त धृष्ट, भयानक रूप युक्त, निडर गीदड़ रहते हैं । इस गाथा में 'नाम' शब्द सम्भावना के रूप में प्रयुक्त हुआ है जिसका

आशय यह है कि नरक में ऐसा सम्भावित है । वे गीदड़ सदैव क्रोधाविष्ट रहते हैं वे उस नरक में निवास करने वाले एक दूसरे के निकटवर्ती तथा लोहे की सांकलों में बंधे हुये पूर्वजन्म के पापी नारक जीवों को खाते रहते हैं ।

❀ ❀ ❀

सयाजला नाम नदी भिदुग्गा, पविज्जलं लोह विलीणतत्ता ।
जंसीभिदुग्गंसि पवज्जमाणा, एगायऽताणुक्कमणं करेंति ॥२१॥

छाया – सदाजला नाम नद्यभिदुर्गा, पिच्छिला लोह विलीनतप्ता ।
यस्यामभिदुर्गायां प्रपद्यमाना एका अत्राणाः उत्क्रमणं कुर्वन्ति ॥

अनुवाद – नरक में सदाजला नामक एक नदी है । उसमें सदैव पानी रहता है । इसलिए वह सदाजला कही जाती है । वह नदी अत्यधिक कष्टप्रदा है । उसका पानी खारा, मवाद और खून से मलिन तथा आग से गले हुये लोहे के समान अत्यन्त गर्म है । बेचारे नारकीय प्राणी जिनका वहाँ कोई रक्षक नहीं है, अकेले उस नदी में बहते रहते हैं ।

टीका – सदा-सर्वकालं जलम्-उदकं यस्यां सा तथा सदाजलाभिधाना वा 'नदी' सरिद् 'अभिदुर्गा' अतिविषमा प्रकर्षेण विविधमत्युष्णं क्षारपूयरूधिराविलं जलं यस्यां सा प्रविजला यदिवा 'पविज्जले' त्ति रूधिरा विलत्वात् पिच्छिला, विस्तीर्णगम्भीर जला वा अथवा प्रदीप्तजला वा एतदेव दर्शयति-अग्निना तप्तं सत् 'विलीमं' द्रवतां गतं यल्लोहम्-अयस्तद्वत्तप्ता, अतितापविलीन लोह सदृशजलेत्यर्थः यस्यां च सदाजलायाम् अभिदुर्गायां नद्यां प्रपद्यमाना नारकाः 'एगाय' त्ति एकाकिनोऽत्राणा 'अनुक्रमणं' तस्यां गमनं प्लवनं कुर्वन्तीति ॥२१॥

टीकार्थ – जिसमें सब समय पानी भरा रहता है, उसे सदाजला कहा जाता है अथवा जिसका सदाजला नाम है ऐसी एक नदी नरक में है । वह बड़ी विषम-कष्टप्रदा है उसका पानी अत्यन्त गर्म, खारा तथा मवाद व खून से मलिन रहता है । अथवा रुधिर से भरी रहने के कारण वह बड़ी चिकनाई लिये हुये है अथवा वह विशाल-बहुत बड़ी है, उसका पानी गम्भीर-बहुत गहरा है । अथवा वह प्रदीप्त जला-अत्यन्त उष्ण जलयुक्त है । सूत्रकार इसी का दिग्दर्शन कराते हुए कहते हैं कि आग से गले हुए लोहे के समान वह नदी परितप्त है अथवा उसका पानी अत्यधिक ताप से तपकर-द्रवित लोहे के सदृश उष्ण रहता है । उस सदाजला नामक अत्यन्त विकराल नदी में पतित नारकीय प्राणी जिनको वहाँ कोई बचाने वाला नहीं है, बहते रहते हैं ।

❀ ❀ ❀

एयाइं फासाइं फुसंति बालं, निरंतरं तत्थ चिरट्ठितीयं ।
ण हम्ममाणस्स उ होइ ताणं, एगो सयं पच्चणुहोइ दुक्खं ॥२२॥

छाया – एते स्पर्शाः स्पृशन्ति बालं निरन्तरं तत्र चिरस्थितिकम् ।
न हन्यमानस्य तु भवति त्राणम्, एकः स्वयं पर्य्यनुभवति दुःखम् ॥

अनुवाद – वे दुःख जिनका पहले वर्णन हुआ है, अज्ञानी नारकीय जीव को निरन्तर होते रहते हैं। नारकीय प्राणी का आयुष्य-उम्र भी लम्बी होती है । उस दुःख से उसकी रक्षा नहीं हो सकती । वह एकाकी ही उन्हें भोगता है ।

टीका – साम्प्रतमुद्देशकार्थमुपसंहरन् पुनरपि नारकाणां दुःखविशेषं दर्शयितुमाह-'एते' अनन्तरोद्देशकद्वयाभिहिताः 'स्पर्शाः' दुःखविशेषाः परमाधार्मिकजनिताः परस्परापादिताः स्वाभाविका वेति अतिकटवो रुपरसगंधस्पर्शशब्दाः अत्यंतदुःसहा बालमिव 'बालम्' अशरणं 'स्पृशन्ति' दुःखयन्ति 'निरन्तरम्' अविश्रामं 'अच्छिनिमीलय' मित्यादि पूर्ववत् 'तत्र' तेषु नरकेषु चिरं-प्रभूतं कालं स्थितिर्यस्य बालस्यासौ चिरस्थितिकस्तं, तथाहिरत्नप्रभाया मुत्कृष्टा स्थितिः सागरोपमं, तथा द्वितीयायां शर्करप्रभायां त्रीणी, तथा बालुकायां सप्त, पङ्कायां दश, धूमप्रभायां सप्तदश तमःप्रभायां द्वाविंशतिर्महातमः प्रभायां सप्तमपृथिव्यां त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि उत्कृष्टा स्थितिरिति, तत्र च गतस्य कर्मवशापादितोत्कृष्ट स्थितिकस्य परैर्हन्यमानस्य स्वकृतकर्मफलभुजो न किञ्चित्त्राणं भवति, तथाहि-किल सीतेन्द्रेण लक्ष्मणस्य नरकदुःखमनुभवतस्तत्राणोद्यतेनापि न त्राणं कृतमिति श्रुतिः, तदेवमेकः-असहायो यदर्थं तत्पापं समर्जितं तैरहितस्तत्कर्मविपाकजं दुःखमनुभवति, न कश्चिद्दुःखसंविभागं गृह्णातीत्यर्थः, तथा चोक्तम् -

"मया परिजनस्यार्थे, कृतं कर्म सुदारूणम् । एकाकी तेन दह्योऽहं गतास्ते फलभोगिनः ॥१॥"

इत्यादि ॥२२॥ किञ्चान्यत् -

टीकार्थ – सूत्रकार इस उद्देशक का समापन करते हुए पुनः नारकीय जीवों का दुःख बतलाने हेतु प्रतिपादित करते हैं । पहले के दो उद्देशकों में जिनका वर्णन आया है, जो परमाधामी देवों द्वारा दिये जाते हैं अथवा नारक जीव परस्पर एक दूसरे को देते हैं अथवा स्वभाव से ही जो प्रतिफलित होते हैं, अत्यन्त कटु हैं । जो रूप, रस, गंध, स्पर्श शब्द की अपेक्षा से बड़े दुःसह हैं । शरण रहित हैं । वे नारकीय प्राणियों को सदैव व्यथित करते रहते हैं । उनको एक पलक झपकने के समय तक भी उनसे छुटकारा नहीं मिलता । वे नारकीय जीव लम्बे समय तक नरक में निवास करते हैं क्योंकि पहली रत्नप्रभा नामक नरक भूमि में उत्कृष्ट-अधिक से अधिक सागरोपम काल तक की स्थिति है । दूसरी शर्कराप्रभा नामक नरक भूमि में उत्कृष्ट तीन सागरोपम काल की स्थिति है । तीसरी बालुका में सात, चौथी पंक में दस, पाँचवी धूमप्रभा में सत्रह, छठी तनप्रभाः में बाईस, सातवीं महतमप्रभाः में तैंतीस सागरोपम काल की उत्कृष्ट स्थिति है । इन नारक भूमियों में गये हुए तथा अपने कृत कर्मों द्वारा उत्कृष्ट स्थिति पाये हुए, दूसरों द्वारा मारे जाते हुए अपने कृत कर्मों का फल भोगने वाले नारकीय जीव को वहाँ कोई भी त्राण नहीं दे सकता-बचा नहीं सकता क्योंकि ऐसा सुना जाता है कि नरक में पीड़ा पाते हुए लक्ष्मण को देखकर उसे दुःख से-नारकीय दुःख से बचाने हेतु उद्यत सीतेन्द्र भी रक्षा नहीं कर सके । बचा नहीं सके । इस प्रकार यह जीव एकाकी अर्थात् जिन लोगों के निमित्त उसने पापों का उपार्जन किया-पाप कर्म बाँधे उन लोगों से रहित होकर अपने कर्मों के परिणाम स्वरूप दुःख भोगता है । उसके दुःख भोग में कोई भी सहभागी नहीं बन पाता । कहा है-मैंने अपने परिवार के निमित्त अत्यन्त दारूण-कठोर, पापपूर्ण कर्म किये जिनके फलस्वरूप मैं एकाकी ही दुःख भोग रहा हूँ। कर्मों का फल भोगने वाले मुझको वे सभी छोड़कर चले गए इत्यादि ।

❀ ❀ ❀

जं जारिसं पुव्वमकासि कम्मं, तमेव आगच्छति संपराए ।
एगंत दुक्खं भवमज्जणित्ता, वेदंति दुक्खी तमणंतदुक्खं ॥२३॥

छाया – यद् यादृशं पूर्वमकार्षीत्कर्म, तदेवागच्छति सम्पराये ।
एकान्तदुःखं भवमर्जयित्वा, वेदयन्ति दुःखिनस्तमनन्त दुःखम् ॥

अनुवाद – जिस प्राणी ने जैसा कर्म किया है आगे के जन्म में उसको वैसा ही फल मिलता है। जिसने एकान्त दु:खात्मक नरक योनि में ले जाने वाला कर्म किया है, वह अनन्त दु:खमय नरक में जाता है, फल भोगता है।

टीका – 'यत्' कर्म 'यादृशं' यदनुभावं यादृक् स्थितिक् वा कर्म 'पूर्वं' जन्मान्तरे 'अकार्षीत्' कृतवांस्तत्रत्ताहगेव जघन्यमध्यमोत्कृष्टस्थित्यनुभावभेदं 'सम्पराये' संसारे तथा तेनैव प्रकारेणानुगच्छति, एतदुक्तं भवति तीव्रमन्दमध्यमैर्बन्धाध्यवसायस्थानैर्यादृशैर्यद्बद्धं तत्ताहगेव तीव्रमन्दमध्यमेव विपाकम्-उदयमा गच्छतीति, एकान्तेन-अवश्यं सुखलेशरहितं दु:खमेव यस्मिन्नरकादिके भवेस तथा तमेकान्त दु:खं 'भवमर्जयित्वा' नरकभवोपादानभूतानि कर्माण्युपादायैकान्तदु:खिनस्तत्पूर्व निर्दिष्टं दु:खम्-असातवेदनीय रूपमनन्तम्-अनन्योपशमनीय मप्रतिकारं 'वेदयन्ति' अनुभवन्तीति ॥२३॥ पुनरप्युपसंहारव्याजेनोपदेशमाह –

टीकार्थ – जीवों ने अपने पूर्व जन्म में जैसी स्थितियुक्त, जैसा प्रभावापन्न कर्म किया है वह वैसा ही जघन्य, मध्यम व उत्कृष्ट स्थिति युक्त तथा जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट प्रभावयुक्त उसी तरह उन्हें उसका फल प्राप्त होता है। कहने का अभिप्राय यह है कि तीव्र, मन्द और मध्यम जैसे अध्यवसायों-परिणामों से जो कर्म बांधा गया है उसका तीव्र मन्द और मध्यम विपाक युक्त फल उत्पन्न होता है-प्राप्त होता है। जिन जीवों ने सुख के लेश से भी शून्य एकान्त रूप से दु:खमय नरक योनि के कारण स्वरूप कर्मों का अनुष्ठान किया है, वे एकान्त रूप से दु:खित होकर पूर्वोक्त असातावेदनीय रूप, कष्ट भोगते हैं, जिसका कोई अन्त नहीं होता। जो किसी के द्वारा उपशान्त नहीं किये जा सकते हैं। जिसका कोई प्रतिकार नहीं किया जा सकता।

❀ ❀ ❀

एताणि सोच्चा णरगाणि धीरे, न हिंसए किंचण सव्वलोए।
एगंत दिट्ठी अपरिग्गहे उ, बुज्झिज्ज लोयस्स वसं न गच्छे ॥२४॥

छाया – **एतान् श्रुत्वा नरकान् धीरो, न हिंस्यात्किञ्चन सर्वलोके।**
एकान्त दृष्टिरपरिग्रहस्तु, बुध्येत लोकस्य वशं न गच्छेत् ॥

अनुवाद – धीर-धैर्यशील विज्ञजन इन नरकों के सम्बन्ध में सुनकर किसी भी जीव की हिंसा न करें। वह जीव आदि तत्व में भली भांति श्रद्धा रखता हुआ परिग्रह रहित होकर लोक का स्वरूप जाने।

टीका – 'एतान्' पूर्वोक्तान्नरकान् तास्थ्यात्तद्व्यपदेश इतिकृत्वा नरकदु:खविशेषान् 'श्रुत्वा' निशम्य धी:-बुद्धिस्तया राजत इति धीरो-बुद्धिमान् प्राज्ञ:, एतत्कुर्यादिति दर्शयति-सर्वस्मिन्नपि-त्रसस्थावरभेदभिन्ने 'लोके' प्राणिगणे न कमपि प्राणिनं 'हिंस्यात्' न व्यापादयेत्, तथैकान्तेन निश्चला जीवादितत्त्वेषु दृष्टि:-सम्यगदर्शनं यस्य स एकान्तदृष्टि: निष्प्रकम्पसम्यकत्व इत्यर्थ:, तथा न विद्यते परि-समन्तात्सुखार्थं गृह्यत इति परिग्रहो यस्यासौ अपरिग्रह:, तुशब्दादाद्यन्तोपादानाद्वा मृषावादादत्तादानमैथुनवर्जनमपि द्रष्टव्यं, तथा 'लोकम्' अशुभकर्मकारिणं तद्विपाकफलभुजं वा यदिवा-कषायलोकं तत्स्वरूपतो 'बुध्येत' जानीयात् न तु तस्य लोकस्य वशं गच्छेदिति ॥२४॥ एतदनन्तरोक्तं दु:खविशेषमन्यत्राप्यतिदिशन्नाह –

टीकार्थ – सूत्रकार पुन: इस उद्देशक की समाप्ति के संदर्भ में प्रतिपादन करते हैं। जिनका पहले वर्णन किया गया है, उन नरकों को अर्थात् उनमें होने वाले दु:खों को सुनकर बुद्धिमान पुरुष ऐसा कार्य करे।

शास्त्रकार उस कार्य का दिग्दर्शन कराते हुए कहते हैं कि वह त्रस तथा स्थावर आदि भेदयुक्त समस्त प्राणियों में किसी भी प्राणी की हिंसा न करें। वह जीव आदि तत्वों में निश्चिलत, स्थिर, अविचलदृष्टि, सम्यक दृष्टि धारण करता हुआ परिग्रह का वर्जन करता हुआ, जिसे लोग सुख हेतु चारों ओर से बटोरते रहते हैं, अशुभकर्म करने वाले अथवा अशुभ कर्मों का फल भोगने वाले जीवों के अथवा कषायों के स्वरूप को जाने, उनके वश में न हो। गाथा में आये तू शब्द में अथवा आदि एवं अन्त के उपादान से-ग्रहण से यहाँ मृषावाद, अदत्तादान और अब्रह्मचर्य के त्याग का भी आशय है।

❀ ❀ ❀

एवं तिरिक्खे मणुयासु (म) रेसुं, चतुरन्तऽणंतं तयणुव्विवागं।
स सव्वमेयं इति वेदइत्ता, कंखेज्ज कालं धुयमायरेजु ॥२५॥ त्तिबेमि॥

छाया – **एवं तिर्य्यक्षु, मनुजासुरेसु, चतुरन्तमनन्तं तदनुविपाकम्।**
स सर्वमेतदिति विदित्वा काङ्क्षेत काल धुवमाचरेदिति ब्रवीमि ॥

अनुवाद – पापी पुरुष नरक गति में जाता है, ऐसा कहा गया है। इसी प्रकार तिर्यंच गति मनुष्य गति और देवगति के संदर्भ में भी तदनुसार जानना चाहिए। चतुर्गतियुक्त इस अनन्त संसार में कर्मानुरूप फल प्राप्त होता है। अतः विज्ञ पुरुष इसे समझकर आजीवन संयम का परिपालन करे।

टीका – 'एवम्' इत्यादि एवमशुभकर्मकारिणामसुमतां तिर्यङ्मनुष्यामरेष्वपि 'चतुरन्तं' चतुर्गतिकम् 'अनन्तम्' अपर्यवसानं तदनुरूपं विपाकं 'स' बुद्धिमान् सर्वमेतदिति पूर्वोक्तया नीत्या 'विदित्वा' ज्ञात्वा 'ध्रुवं' संयममाचरन 'कालं' मृत्युकालमाकांक्षेत्, एतदुक्तं भवति-चतुर्गतिकसंसारान्तर्गतानामसुमतां दुःखमेव केवलं यतोऽतो ध्रुवो-मोक्षः संयमो वा तदनुष्ठानरतो यावज्जीवं मृत्युकालं प्रतीक्षेतेति, इतिः परिसमाप्तौ ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥२५॥

टीकार्थ – जिन विशेष दुःखों की पूर्व में चर्चा की गई है, वे अन्यत्र भी होते हैं, यह व्यक्त करने हेतु सूत्रकार कहते हैं -

जो प्राणी अशुभ कर्म करते हैं, उनको तिर्यञ्च भव, मनुष्यभव और देवभव में ही चतुर्गतिक-अनन्त कर्म विपाकानुरूप फल प्राप्त होते हैं। इन सबको पहले कहे अनुसार बुद्धिमान पुरुष जाने तथा संयम का अनुसरण करता हुआ मृत्युकाल की आकांक्षा करे। कहने का तात्पर्य यह है कि चतुर्गतिक संसार में आपतित प्राणियों को केवल दुःख ही प्राप्त होता है। अतएव बुद्धिमान यावज्जीवन मोक्ष-संयम के अनुष्ठान में संलग्न रहे, यहाँ इति शब्द समाप्ति के अर्थ का बोधक है, ब्रवीमि पहले की ज्यों है।

नरक विभक्ति नामक पांचवा अध्ययन समाप्त हुआ।

❀ ❀ ❀

卐卐卐

षष्ठम् वीरत्थुई अध्ययनं

पुच्छिस्सु णं समणा माहणा य, अगारिणो या परतित्थिआ य ।
से केइ णेगंतहियं धम्ममाहु, अणेलिसं साहु समिक्खयाए ।।१।।

छाया – अप्राक्षुः श्रमणाः ब्राह्मणाश्च, अगारिणो ये परतीर्थिकाश्च ।
स क एकान्तहितं धर्ममाह, अनीदृशं साधुसमीक्षया ।।

अनुवाद – श्रमण, ब्राह्मण, गृहस्थ तथा परतीर्थिक जनों ने पूछा-जिज्ञासा की कि एकान्त रूप से कल्याणकारी, अनुपम जिसके सदृश कोई अन्य न हो, धर्म का जिसने भली भाँति समीक्षापूर्वक निरूपण किया हो, वे कौन हैं ।

टीका – अस्य चानन्तरसूत्रेण सहायं सम्बन्धः तद्यथा-तीर्थकरोपदिष्टेन मार्गेण ध्रुवमाचरन् मृत्युकालमुपेक्षेतेत्युक्तं, तत्र किम्भूतोऽसौ तीर्थकृत् येनोपदिष्टो मार्ग इत्थेतत् पृष्टवन्तः 'श्रमणा' यतय इत्यादि, परस्पर सूत्रसम्बन्धस्तु बुद्धयेत यदुक्तं प्रागिति, एतच्च यदुत्तरत्र प्रश्नप्रतिवचनं वक्ष्यते तच्च बुद्धयेतेति, अनेन सम्बन्धेनाऽऽयातस्यास्य सूत्रस्य संहितादिक्रमेण व्याख्या प्रतन्यते, सा चेयम्-अनन्तरोक्तां बहुविधां नरकविभक्तिं श्रुत्वा संसारादुद्विग्नमनसः केनेयं प्रतिपादितेत्येतत् सुधर्मस्वाभिनम् 'अप्राक्षुः' पृष्ठवन्तः 'णम्' इति वाक्यालङ्कारे यदिवा जम्बू स्वामी सुधर्मस्वामिनमेवाह-यथा केनैवंभूतो धर्मः संसारोत्तारणसमर्थः प्रतिपादित इत्येतद्बहवो मां पृष्टवन्तः, तद्यथा-'श्रमणा' निर्ग्रन्थादायः तथा 'ब्राह्मणा' ब्रह्मचर्याद्यनुष्ठाननिरताः तथा 'अगारिणः' क्षत्रियादयो ये च शाक्यादयः परतीर्थिकास्ते सर्वेऽपि पृष्टवन्तः, किं तदिति दर्शयति-स को योऽसावेनं धर्मं दुर्गति प्रसृतजन्तुधारकमेकान्तहितम् 'आह' उक्तवान् 'अनीदृशम्' अनन्यसदृशम् अतुलमित्यर्थः, तथा-साध्वी चासौ समीक्षा च साधुसमीक्षा-यथावस्थिततत्त्वपरिच्छित्तिस्तया, यदिवा-साधु समीक्षया-समतयोक्तवानिति ।।१।। तथा तस्यैव ज्ञानादिगुणावगतये प्रश्नमाह -

टीकार्थ – इस सूत्र का अनन्तर सूत्र के साथ सम्बन्ध इस प्रकार है । पूर्व सूत्र में यह वर्णित हुआ है कि तीर्थंकर द्वारा प्रतिपादित मार्ग के अनुरूप संयम का प्रतिपालन करते हुए बुद्धिमान पुरुष को मृत्युकाल की आकांक्षा करनी चाहिए । यहाँ यह जिज्ञासित होता है कि वे तीर्थंकर कैसे है, जिन्होंने मोक्ष मार्ग का निरूपण किया । श्रमण आदि प्राश्निकों ने यह पूछा । परम्पर सूत्र के साथ यहाँ यह सम्बन्ध है । पहले सूत्र में कहा है कि जीव को बोध प्राप्त करना चाहिए । आगे चलकर जो उत्तर दिया जायेगा, उसे समझना चाहिए । इस सम्बन्ध से आयात इस सूत्र की संहिता आदि के क्रम से व्याख्या की जाती है, जो इस प्रकार है -

पहले जो बहुविध अनेक प्रकार की नरक विभक्ति-नरकों का विश्लेषण किया गया है, उसे सुनकर सांसारिक आवागमन से घबराए हुए पुरुषों ने श्री सुधर्मास्वामी से प्रश्न किया कि यह नरक विवेचन किसके द्वारा किया गया है । यहाँ णं शब्द वाक्यालंकार के अर्थ में आया है, अथवा श्री जम्बूस्वामी श्री सुधर्मा स्वामी से कहते हैं, पूछते हैं कि-जो संसार से पार लगाने में समर्थ है, वह धर्म किसने प्रतिपादित किया ? यह प्रश्न बहुत से जनों ने मुझसे पूछा है । श्रमण-निर्ग्रन्थ मुनि आदि, ब्राह्मण-ब्रह्मचर्य आदि के परिपालन में तत्पर, अगारी-क्षत्रिय आदि गृहस्थ तथा बौद्ध आदि परमतानुयायी इन सभी ने मुझसे पूछा है । क्या पूछा है ? यह बतलाते

हैं । वह पुरुष कौन है, जिसने कुगति में पतित होते प्राणी को धारण करने में, सहारा देने में, समर्थ, एकान्त हितप्रद अनन्यसदृश-अनुपम धर्म का, पदार्थ के यथार्थ स्वरूप का निश्चित रूप में या समभाव में निरूपण किया है ।

❀ ❀ ❀

कहं च णाणं कह दंसणं से, सीलं कहं नायसुतस्स आसी ? ।
जाणासि णं भिक्खू जहातहेणं, अहासुतं बूहि जहा णिसंतं ॥२॥

छाया – कथञ्च ज्ञानं कथं दर्शनं तस्य, शीलं कथं ज्ञातपुत्रस्य आसीत् ।
जानासि भिक्षो ! याथातथ्येन, यथाश्रुतं ब्रूहि यथा निशान्तम् ॥

अनुवाद – ज्ञातवंशीय भगवान महावीर का ज्ञान दर्शन और चारित्र कैसा था ? मुनिवर्य आपको यह ज्ञात है । जैसा आपने श्रवण किया, देखा एवं निश्चय किया वह हमें बतलाये ।

टीका – 'कथं' केन प्रकारेण भगवान् ज्ञानमवाप्तवान् ?, किम्भूतं वातस्य भगवतो ज्ञानं-विशेषावबोधकं ?, किम्भूतं 'से' तस्य 'दर्शनं' सामान्यार्थपरिच्छेदकं ? 'शीलं च' यमनियमरूपं कीदृक् ? ज्ञातः -क्षत्रियास्तेषां 'पुत्रो' भगवान् वीरवर्धमानस्वामी तस्य 'असीद्' अभूदिति, यदेतन्मया पृष्टं तत् 'भिक्षो !' सुधर्मस्वामिन् याथातथ्येन त्वं 'जानीषे' सम्यगवगच्छसि 'णम्' इति वाक्यालङ्कारे तदेतत्सर्वं यथाश्रुतं त्वया श्रुत्वा च यथा 'निशान्त' मित्यवधारितं यथा दृष्टं तथा सर्वं 'ब्रूहि' आचक्ष्वेति ॥२॥ स एवं पृष्टः सुधर्मस्वामी श्री मन्महावीरवर्धमानस्वामिगुणान् कथयितुमाह –

टीकार्थ – प्रभु महावीर स्वामी के गुणों की जानकारी हेतु प्रश्न करते हुए कहते हैं कि उन्होंने किस प्रकार ज्ञान प्राप्त किया, अथवा उनका ज्ञान-विशिष्ट अर्थ का प्रकाशक बोध कैसा था, तथा उनका सामान्य अर्थ का निश्चायक दर्शन कैसा था, यमनियम परिपालन के रूप में उनका शील कैसा था, ज्ञातक्षत्रिय पुत्र-क्षत्रिय कुलोत्पन्न भगवान महावीर के ये सब गुण कैसे थे, प्रभुवर सुधर्मा स्वामी ! मैंने जो प्रश्न किया है, वे सब आप भली भाँति जानते हैं । यहाँ णं शब्द वाक्यालंकार के अर्थ में आया है । तदनुसार जैसा आपने सुना है, श्रवण कर जो निश्चय किया है, जैसा देखा है-साक्षात्कार किया है, वह सब मुझे बतलाये ।

❀ ❀ ❀

खेयन्नए से कुसलासुपन्ने (ब्लेमहेसी), अणंतनाणी य अणंतदंसी ।
जंस सिणो चक्खुपहे ठियस्स, जाणाहि धम्मं च धिइं च पेहि ॥३॥

छाया – खेदज्ञः सकुशल आशुप्रज्ञ, अनन्तज्ञानी चानन्तदर्शी ।
यशस्विनश्चक्षुपथे स्थितस्य, जानासि धर्मञ्च धृतिञ्च प्रेक्षस्व ॥

अनुवाद – श्री सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामी आदि अपने अंते वासियों से कहते हैं कि-भगवान महावीर स्वामी खेदज्ञ-संसार के सभी जीवों का दुःख जानने वाले थे-अहिंसा मर्मज्ञ थे, कुशल-अष्टविध कर्मों का नाश करने वाले थे, आशुप्रज्ञ सदैव, सर्वत्र उपयोग युक्त थे, अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन के धनी थे । यशस्वी तथा जगत के लोचन पथ में विद्यमान थे । जगत के चक्षु रूप थे । उन भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित धर्म को तुम जानो और धीरता-मानसिक स्थिरता के साथ विचारो ।

टीका – स:-भगवान् चतुस्त्रिंशदतिशयसमेत: खेदं-संसारान्तर्वर्तिनां प्राणिन कर्मविपाकजं दु:खं जानातीति खेदज्ञो दु:खापनोदनसमर्थोपदेशदानात्, यदि वा 'क्षेत्रज्ञो' यथावस्थितात्मस्वरूप परिज्ञानादात्मज्ञ इति, अथवा-क्षेत्रम्-आकाशं तज्जानातीति क्षेत्रज्ञो लोकालोकस्वरूपपरिज्ञातेत्यर्थ:, तथा भावकुशान्-अष्टविधकर्म रूपान् लुनाति-छिनत्तीति कुशल: प्राणिनां कर्मोच्छित्तये निपुण इत्यर्थ:, आशु-शीघ्रं प्रज्ञा यस्या सावाशुप्रज्ञ:, सर्वत्र सदोपयोगाद्, न छद्मस्थ इव विचिन्त्य जानातीति भाव:, महर्षिरिति क्वचित्पाठ:, महांश्चासावृषिश्च महर्षि: अत्यन्तोग्रत पश्चरणानुष्ठायित्वादतुलपरीषहोपसर्गसहनाच्चेति, तथा अनन्तम्-अविनाश्यनन्तपदार्थपरिच्छेदकं वा ज्ञानं-विशेषग्राहकं यस्या सावनन्तज्ञानी, एवं सामान्यार्थपरिच्छेदकत्वेनानन्तदर्शी, तदेवम्भूतस्य भगवतो यशो नृसुरासुरातिशाय्य तुलं विद्यते यस्य स यशस्वी तस्य, लोकस्य 'चक्षु:पथे' लोचनमार्गे भवस्थकेवल्यवस्थायां स्थितस्य, लोकानां सूक्ष्मव्यवहितपदार्थाविर्भावनेन चक्षुर्भूतस्य वा 'जानीहि' अवगच्छ' धर्मं' संसारोद्धरणस्वभावं, तत्प्रणीतं वा श्रुतचारित्राख्यं, तथा तस्यैव भगवतस्तथोपसर्गितस्थापि निष्प्रकम्पां चारित्राचलन स्वभावां 'धृतिं' संयमे रतिं तत्प्रणीतां वा 'प्रेक्षस्व' सम्यक्कुशाग्रीयया बुद्धया पर्यालोचयेति, यदिवा-तैरेव श्रमणादिभि: सुधर्मस्वाम्य भिहितो यथात्वं तस्य भगवतो यशस्विनश्चक्षुष्पथे व्यवस्थितस्य धर्मं धृतिं च जानीषे ततोऽस्माकं 'पेहि' त्ति कथयेति ॥३॥ साम्प्रतं सुधर्मस्वामी तद्गुणान् कथयितुमाह -

टीकार्थ – इस प्रकार प्रश्न किये जाने पर श्री सुधर्मास्वामी भगवान महावीर के गुणों का कथन करते हैं-भगवान महावीर चौतीस अतिशयों के धारक थे। वे संसार में निवास करने वाले प्राणियों के कर्मों के फलस्वरूप होने वाले दु:ख को जानते थे। वे ऐसा उपदेश करते थे जो उनके दु:ख को मिटाने में सक्षम था, अथवा भगवान क्षेत्रज्ञ थे, वे आत्मा के यथार्थ-सत्य स्वरूप को जानने के कारण आत्मज्ञ-आत्मवेत्ता थे, अथवा क्षेत्र का आकाश भी नाम है, भगवान आकाश, लोक अलोक का स्वरूप जानते थे। जो अष्टविध कर्म रूप भाव कुशों का छेदन करता है, उसे कुशल कहा जाता है। भगवान प्राणियों के कर्मों का छेदन-नाश या विध्वंस करने में चतुर थे। चतुर होने के कारण कुशल थे। जिसकी बुद्धि शीघ्र या त्वरता युक्त होती है, उसे आशुप्रज्ञ कहा जाता है। भगवान् आशुप्रज्ञ थे, क्योंकि वे सदा सब जगह उपयोग रखते थे। इसका भावार्थ यह है कि वे छद्मस्थ-असर्वज्ञ की तरह सोच कर नहीं जानते थे। कहीं महर्षि:-पाठ मिलता है। उसका तात्पर्य यह है कि भगवान् अत्यन्त कठोर तपश्चरण करने तथा अपरिसीम परिषहों और उपसर्गों को सहन करने से महर्षि-महान ऋषि थे। जिसका विशेष ग्राहक ज्ञान अन्तरहित-अविनश्वर होता है अथवा अनन्त पदार्थों का निश्चायक होता है, उसे अनन्त ज्ञानी कहते है। भगवान् अनन्तज्ञानी थे। दर्शन या सामान्य अर्थ का निश्चय करने के कारण वे अनन्तदर्शी थे। भगवान का यश मानवों, देवों और असुरों से भी बढ़ा चढ़ा था। अतएव वे यशस्वी थे। भवस्थ केवली अवस्था में वे जगत के नेत्र पथ में अवस्थित थे, अथवा जगत के समस्त सूक्ष्म तथा व्यवधान युक्त पदार्थों को प्रकट करने के कारण वे जगत के नेत्र स्वरूप थे। उन भगवान द्वारा प्रतिपादित धर्म को जो संसार से उद्धार करने का स्वभाव लिए हुए है, उन द्वारा प्रातिपादित श्रुत एवं चारित्र रूप धर्म को जानो। उपसर्गों द्वारा बाधित किये जाने पर भी निष्प्रकम्प, अविचल चारित्र रूप स्वभाव तथा अविचल धृति-संयम में प्रीति को देखो तथा कुशाग्र-तीव्र बुद्धि द्वारा उन पर चिंतन करो। सारांश यह है कि उन्हीं श्रमण आदि ने श्री सुधर्मा स्वामी से पूछा कि यशस्वी और जगत के चक्षुरूप भगवान महावीर के धर्म को और उनके धैर्यशील-उत्कट संयममय जीवन को आप जानते हैं, इसलिए आप यह सब बतलाये।

❀ ❀ ❀

उड्ढं अहेयं तिरियं दिसासु, तसा य जे थावर जे य पाणा ।
से णिच्चणिच्चेहिं समिक्ख पन्ने, दीवेव धम्मं समियं उदाहु ॥४॥

छाया – ऊर्ध्वं मधस्तिर्य्यग्दिशासु, त्रसाश्च ये स्थावरा ये च प्राणाः ।
स नित्यानित्याभ्यां प्रसमीक्ष्य प्रज्ञः, दीपइव धर्मं समितमुदाह ॥

अनुवाद – केवल ज्ञान सम्पन्न भगवान् महावीर ने ऊर्ध्व, अध और तिर्यक्, दिशाओं में विद्यमान त्रस और स्थावर प्राणियों की नित्य और अनित्य दोनों प्रकार से समीक्षा कर दीपक के समान पदार्थ को प्रकाशित करने वाले धर्म का प्रतिपादन किया ।

टीका – ऊर्ध्वमधस्तिर्यक्षु सर्वत्रैव चतुर्दशरज्ज्वात्मके लोके ये केचन त्रस्यन्तीति त्रसास्तेजोवायु रूपविकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियभेदात् त्रिधा, तथा ये च 'स्थावराः' पृथिव्यम्बुवनस्पतिभेदात् त्रिविधा, एते उच्छ्वासादयः प्राणा विद्यन्ते येषां ते प्राणिन इति अनेन च शाक्यादिमतनिरासेन पृथिव्याद्येकेन्द्रियाणामपि जीवत्वमावेदितं भवति, स भगवांस्तान् प्राणिनः प्रकर्षेण केवलज्ञानित्वात् जानातीति प्रज्ञः (ग्रन्थाग्रम् ४२५०) स एव प्राज्ञो, नित्यानित्याभ्यां द्रव्यार्थपर्यायार्थाश्रयात् 'समीक्ष्य' केवलज्ञानेनार्थान् परिज्ञाय प्रज्ञापनायोग्या नाहेत्युत्तरेण सम्बन्धः तथा स प्राणिनां पदार्थाविर्भावनेन दीपवत् दीपः यदिवा-संसारार्णव पतितानां सदुपदेशप्रदानत आश्वासहेतुत्वात् द्वीप इवद्वीपः, स एवम्भूतः संसारोत्तारण समर्थं 'धर्मं' श्रुतचारित्राख्यं सम्यक् इतं-गतंसदनुष्ठानतया रागद्वेषरहितत्वेन समतया वा, तथा चोक्तम्-

"जहां पुण्णस्स कत्थइ तहा तुच्छस्स कत्थइ" इत्यादि, समं वा धर्मम् उत्-प्राबल्येन आह-उक्तवान् प्राणिनामनुग्रहार्थं न पूजासत्कारार्थमिति ॥४॥ किञ्चान्यात् -

टीकार्थ – अब श्री सुधर्मास्वामी भगवान् महावीर के गुणों का वर्णन करने हेतु कहते हैं-उर्ध्व, अध तिर्यक् दिशाओं में चतुर्दश रज्जु परिमित इस लोक में रहने वाले तेजो रूप और वायु रूप विकलेन्द्रिय एवं पञ्चेन्द्रिय भेद युक्त तीन प्रकार के त्रस प्राणी हैं । पृथ्वी, जल और वनस्पति के रूप में तीन प्रकार के स्थावर प्राणी है, इनके उच्छ्वास आदि प्राण होते हैं । इसलिए ये प्राणी कहे जाते हैं । इस प्रतिपादन द्वारा शाक्य-बौद्ध आदि सिद्धान्तों का खण्डन करते हुए पृथ्वी आदि एक इन्द्रिय युक्त प्राणियों को भी जीव कहा है । केवलज्ञानी होने के कारण भगवान इन प्राणियों को जानते हैं । इसलिए वे प्रज्ञ है । जो प्रज्ञ हैं उसी को प्राज्ञ कहा जाता है । भगवान् ने केवल ज्ञान द्वारा द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय का आश्रय लेकर समस्त पदार्थों को जानकर जो प्राणी सुलभ बोधि है, उनको उदिष्ट कर धर्म का कथन किया है । यह आगे के विवेचन के साथ संबद्ध कर लेना चाहिए । भगवान प्राणियों के लिए पदार्थों का स्वरूप प्रकट-उजागर करने से दीपक के सदृश हैं । इसलिए वे दीप हैं । उनको दीप के रूप में अभिहित किया है, अथवा संसार रूपी समुद्र में प्रपतित प्राणियों को सद्ज्ञान के उपदेश द्वारा विश्राम देते हैं । इसलिए वे समुद्र में विद्यमान द्वीप के समान हैं, जो लोगों के लिए विश्राम स्थल होता है । ऐसे विशिष्ट गुण युक्त भगवान् ने संसार से उद्धार करने में समस्त श्रुत चारित्र मूलक धर्म का आख्यान किया है । भगवान ने उक्त धर्म को सद् अनुष्ठान, तदनुरूप सदुद्यम शील होकर अथवा राग और द्वेष से विवर्जित होकर अथवा समत्व भाव के साथ बड़ा जोर देकर कहा है । अतएव कहा गया है-जैसे पुण्य-पुण्यात्मा धनी को धर्म का उपदेश करे। उसी तरह तुच्छ-निर्धन को भी धर्म का उपदेश करे । भगवान् ने प्राणियों पर अनुग्रह कर कृपा कर धर्म का प्रतिपादन किया है । पूजा सत्कार मान सम्मान आदि के लिए नहीं ।

❀ ❀ ❀

से सव्वदंसी अभीभूयनाणी, णिरामगंधे धिइमं ठितप्पा ।
अणुत्तरे सव्वजगंसि विज्जं, गंथा अतीते अभए अणाऊ ॥५॥

छाया – स सर्वदर्शी अभिभूय ज्ञानी, निरामगन्धो धृतिमांस्थितात्मा ।
अनुत्तरः सर्वजगत्सु विद्वान् ग्रन्था दतीतोऽभयोऽनायुः ।

अनुवाद – भगवान महावीर समस्त पदार्थों के दृष्टा केवलज्ञानी थे । वे मूल गुणों एवं उत्तर गुणों से परिमार्जित चारित्र के परिपालक धृति मान और स्थितात्मा थे, आत्म स्वरूप में समवस्थित थे। वे समस्त जगत में अनुत्तर ज्ञानी-सर्वाधिक ज्ञानवान तथा बाह्य एवं आभ्यन्तर ग्रन्थियों से अतीत निर्भय एवं निरायु थे ।

टीका – 'स' भगवान् सर्व-जगत् चराचरं सामान्येन द्रष्टुं शीलमस्य स सर्वदर्शी, तथा अभिभूय पराजित्य मत्यादीनि चत्वार्यपि ज्ञानानि यद्वर्तते ज्ञानं केवलाख्यं तेन ज्ञानेन ज्ञानी, अनेन चापरतीर्थाधिपाधिकत्वमावेदितं भवति, 'ज्ञान क्रियाभ्यां मोक्ष' इति कृत्वातस्य भगवतो ज्ञानं प्रदर्श्य क्रियां दर्शयितुमाह-निर्गतः-अपगत आमः -अविशोधिकोट्याख्यः तथा गन्धो-विशोधिकोटिरूपो यस्मात् स भवति निरामगन्धः, मूलोत्तरगुणभेदभिन्नां चारित्रक्रियां कृतवानित्यर्थः, तथाऽसह्य परीषहोपसर्गाभिद्रुतोऽपिनिष्प्रकम्पतया चारित्रे धृतिमान् तथा-स्थितो व्यवस्थितोऽशेष कर्म विगमादात्मस्वरूपे आत्मा यस्य स भवति स्थितात्मा, एतच्च ज्ञान क्रिययोः फलद्वारेण विशेषणं, तथा-नास्योत्तरं-प्रधानं सर्वस्यन्नपि जगति विद्यते (यः) स तथा, विद्वानिति सकल पदार्थानां करतलामलकन्यायेन वेत्ता, तथा बाह्यग्रन्थात् सचित्तादिभेदादान्तराच्च कर्मरुपाद् 'अतीतो' अतिक्रान्तो ग्रन्थातीतो-निर्ग्रन्थ इत्यर्थः, तथा न विद्यते सप्तप्रकारमपि भयं यस्यासावभयः समस्तभयरहित इत्यर्थः तथा न विद्यते चतुर्विधमप्यायुर्यक्य स भवत्यनायुः, दग्धकर्मबीजत्वेन पुनरूत्पत्तेरसंभवादिति ॥५॥ अपिच -

टीकार्थ – भगवान् महावीर स्वामी सर्वदर्शी-स्वभावतः समस्त चराचर जगत को सामान्य रूप से देखने वाले थे । जो मति आदि चार ज्ञानों को पराभूत कर सर्वाग्र रूप में रहता है, उसे केवल ज्ञान कहते हैं । भगवान् उससे समायुक्त थे । सूत्रकार यहाँ भगवान को केवल ज्ञानी बताकर अन्य मतानुयायियों के तीर्थंकरों से उनकी विशेषता प्रकट करते हैं । ज्ञान तथा क्रिया दोनों से मोक्ष होता है । अतएव सूत्रकार पहले भगवान् के ज्ञान का दिग्दर्शन कराकर अब उनकी क्रिया का निरूपण करने हेतु कहते हैं-विशुद्ध कोटि रूप और अविशुद्ध कोटि रूप दो प्रकार के गन्ध या दोष बतलाए गये हैं । जिसके ये दोष हट जाते हैं, उसे निरामगंध कहा जाता है । भगवान महावीर निरामगन्ध थे । इसका अभिप्राय यह है कि उन्होंने मूलगुणों और उत्तरगुणों से युक्त विशुद्ध चारित्रिक क्रिया का परिपालन किया था । असह्य परीषहों और उपसर्गों के रूप में बाधाएं प्राप्त होने पर भी वे निष्प्रकम्प-अविचल बने रहे । चारित्र में सर्वथा दृढ़ रहे । समग्र कर्मों के अपगत हो जाने से भगवान् आत्मस्वरूप में अवस्थित हुए । आत्मस्वरूप में स्थिर होना, भगवान के ज्ञान और क्रिया सम्पन्न होने की विशेषता का सूचक है । समस्त जगत में भगवान से अधिक कोई ज्ञानी नहीं था । वे हाथ में रखे आँवले की ज्यों जगत के समस्त पदार्थों के वेत्ता-ज्ञाता थे । वे सचित्तादि रूप बाह्य ग्रंथ तथा कर्मरूप आभ्यन्तर ग्रंथ से अतिक्रान्त थे-दूरवर्ती थे । अतएव निग्रन्थ थे । भगवान को सातों ही प्रकार के भय नहीं थे, अतः वे सर्वभयातीत थे । भगवान के चारों प्रकार का आयुष्य नहीं था (यहाँ वर्तमान आयु का अपवाद है) । कर्म रूप बीज के जल जाने से आयुष्य की उत्पत्ति असंभावित है ।

❀ ❀ ❀

से भूइपण्णे अणिए अचारी, ओहंतरे धीरे अणंत चक्खू ।
अणुत्तरं तप्पति सूरिए वा, वइरोयणिंदे व तमं पगासे ॥६॥

छाया – स भूतिप्रज्ञोऽनियताचारी, ओघन्तरो धीर अनन्तचक्षुः ।
अनुत्तरं तपति सूर्य्य इव, वैरोचनेन्द्र इवतमः प्रकाशयति ॥

अनुवाद – भगवान महावीर भूति प्रज्ञ-अनंत ज्ञान युक्त अनियताचारी-इच्छानुसार विचरणशील, संसार सागर के पारगामी धीर-बड़े बुद्धिशील, धैर्यशील, कष्टसहिष्णु और अणंत चक्षु, केवल ज्ञान सम्पन्न थे । वे सूर्य के सदृश तपनशील-ज्ञानोद्योत से युक्त थे । जैसे अग्नि अंधकार को नष्ट कर देती है, वैसे ही वे अज्ञान का नाश कर प्रकाश के प्रसारक थे ।

टीका – भूति शब्दो वृद्धौ मङ्गले रक्षायां च वर्तते, तत्र 'भूतिप्रज्ञः' प्रवृद्धप्रज्ञः अनन्तज्ञानवानित्यर्थः तथा-भूतिप्रज्ञो जगद्रक्षाभूतप्रज्ञः एवं सर्वमङ्गलभूतप्रज्ञ इति, तथा 'अनियतम्' अप्रतिबद्धं परिग्रहायोगाच्चरितुं शीलमस्यासावनियतचारी तथौघं-संसारसमुद्रंतरितुं शीलमस्या स तथा, तथा धीः-बुद्धिस्तया राजत इति धीरः परीषहोपसर्गाक्षोभ्यो वा धीरः, तथा अनन्तं-ज्ञेयानन्ततया नित्यतया वा चक्षुरिव चक्षुः केवलज्ञानं यस्यावन्तस्य वा लोकस्य पदार्थप्रकाशकतया चक्षुर्भूतो यः स भवत्यनन्तन्वक्षुः, तथा यथा-सूर्यः 'अनुत्तरं' सर्वाधिकं तपति न तस्मादधिस्तापेन कश्चिदस्ति, एवमसावपि भगवान् ज्ञानेन सर्वोत्तम इति, तथा वैरोचनः अग्निः स एव प्रज्वलितत्वात् इन्द्रो यथाऽसौ तमोऽपनीय प्रकाशयति, एव मसावपि भगवानज्ञानतमोऽपनीय यथावस्थित पदार्थ प्रकाशनं करोति ॥६॥ किञ्च

टीकार्थ – भूति शब्द बुद्धि, मंगल और रक्षण के अर्थों में प्रयुक्त होता है । भगवान महावीर भूति प्रज्ञ थे अर्थात् ज्ञान में बड़े चढ़े थे, अनन्त ज्ञानी थे । वे जगत का रक्षण करने वाली प्रज्ञा से युक्त थे । सबके लिए मंगल प्रज्ञ थे । उनकी प्रज्ञा में सबका मंगल या कल्याण समाया हुआ था । भगवान अनियताचारी-अप्रतिबद्ध विहारी थे । उनके विहरण या गति में कोई प्रतिबन्ध या अवरोध नहीं था । वे संसार रूपी औघ के-जगत प्रवाह के पारगामी थे । वे बुद्धिशील थे । परीषहों और उपसर्गों से विचलित न किये जाने योग्य धैर्य से युक्त थे । वे अनन्त चक्षु थे, अर्थात् ज्ञेय पदार्थों की अनन्तता और ज्ञान की नित्यता के कारण केवल ज्ञानात्मक चक्षु रूप थे । अथवा भगवान समग्रलोक के प्रत्येक पदार्थ का यथार्थ स्वरूप प्रकाशित करने के कारण अनन्त चक्षु थे । जिस प्रकार सूर्य सबसे अधिक तपता है, सर्वाधिक ज्योतिर्मय है, उससे अधिक कोई नहीं तपता, उसी प्रकार भगवान भी ज्ञान में सर्वोत्तम थे । प्रज्वलितता के कारण इन्द्र स्वरूप अग्नि अन्धकार को अपनीत कर-हटाकर प्रकाश का संप्रसार करती है, उसी प्रकार भगवान महावीर अज्ञान रूप अंधकार को अपनीत कर-मिटाकर पदार्थों का यथार्थस्वरूप प्रकाशित करते थे ।

❀ ❀ ❀

अणुत्तरं धम्ममिणं जिणाणं, णेया मुणी कासव आसुपन्ने ।
इंदेव देवाण महाणुभावे, सहस्सणेता दिवि णं विसिट्ठे ॥७॥

छाया – अनुत्तरं धर्ममिमं जिनानां, नेता मुनिः काश्यप आशुप्रज्ञः ।
इन्द्र इव देवानां महानुभावः सहस्त्रनेता दिविनं विशिष्टः ॥

अनुवाद – आशुप्रज्ञ-त्वरित बुद्धिशील, काश्यप गौत्रीय भगवान श्री महावीर, भगवान श्री ऋषभादि तीर्थंकरों के द्वारा प्रणीत उत्तम धर्म के नेता-वर्तमान युग में उपदेष्टा हैं । जैसे देवलोक में इन्द्र सब देवों में श्रेष्ठ है, इसी प्रकार भगवान महावीर इस जगत में सर्वश्रेष्ठ हैं ।

टीका – नास्योन्तरोऽस्तीन्यनुत्तरस्तमिममनुतरं धर्मं 'जिनानाम्' ऋषभादितीर्थकृतां सम्बन्धिनमयं 'मुनिः' श्रीमान् वर्धमानाख्यः 'काश्यप' गोत्रेण 'आशुप्रज्ञः' केवलज्ञानी उत्पन्नदिव्यज्ञानो 'नेता' प्रणेतेति, ताच्छीलिकस्तृन् तद्योगे नं लोकाव्ययनिष्ठें (पा.२-३-६९) त्यादिना षष्ठीप्रतिषेधाद्धर्ममित्यत्र कर्मणि द्वितीयैव, तथा चेन्द्रो 'दिवि' स्वर्गे देवसहस्त्राणां 'महानुभावो' महाप्रभाववान्' णम' इति वाक्यालङ्कारे तथा नेता' प्रणायको' विशिष्टो रूपबलवर्णादिभिः प्रधानः एवं भगवानपि सर्वेभ्यो विशिष्टः प्रणायकोमहानुभावश्चेति ॥७॥ अपिच -

टीकार्थ – केवल ज्ञान संपन्न, काश्यप गौत्रोत्पन्ना भगवान महावीर अनुत्तर-जिससे बढ़कर कोई नहीं है, सर्वोत्तम, भगवान ऋषभ आदि तीर्थंकरों द्वारा प्रणीत धर्म के नेता हैं । वर्तमान युग में उपदेष्टा हैं । यहाँ नेता शब्द में ताच्छील्यार्थक तृण प्रत्यय हुआ है । अतः उसके योग में 'न लोकाव्यय निष्ठा खलर्थतृनाम्' इत्यादि सूत्र द्वारा षष्ठी का प्रतिषेध होने से धर्म पद में कर्मणि द्वितीया हुई है ।

स्वर्ग लोक में जिस प्रकार इन्द्र सहस्त्रों देवों में महानुभाव-महाप्रभाववान है, सब का नेता है, रूप पराक्रम वर्ण आदि में सब से प्रधान-सर्वश्रेष्ठ है । उसी प्रकार भगवान महावीर सर्वश्रेष्ठ, सबके नायक, सर्वाधिक प्रभावशाली हैं । यहाँ णं शब्द वाक्यालंकार में आया है, यह ज्ञातव्य है ।

❀ ❀ ❀

से पन्नया अक्खयसागरे वा, महोदहीवाविअणंतपारे ।
अणाइले वा अकसाइ मुक्के, सक्केव देवाहिइव जुइमं ॥८॥

छाया – स प्रज्ञयाऽक्षयः सागर इव, महोदधिरिवानन्तपारः ।
अनाविलो वा अकसायिमुक्तः, शुक्रइव देवाधिपतिर्द्युतिमान् ॥

अनुवाद – भगवान सागर की ज्यों अक्षय-अविनश्वर प्रज्ञा के धनी हैं उनकी प्रज्ञा स्वयंभू रमण समुद्र के समान अपार है । जैसे उस समुद्र का जल निर्मल है, उसी प्रकार भगवान महावीर की प्रज्ञा निर्मल-विकार रहित है । भगवान कषायों से विमुक्त हैं । वे देवताओं के अधिपति इन्द्र के सदृश हैं । बड़े दितिमान-प्रतापशाली हैं ।

टीका – असौ भगवान् प्रज्ञायतेऽनयेति प्रज्ञा तया 'अक्षयः' न तस्य ज्ञातव्येऽर्थेबुद्धि प्रतिक्षीयते प्रतिहन्यते वा, तस्यहि बुद्धिः केवलज्ञानाख्या, सा च साद्यपर्यवसारनाकालतो द्रव्यक्षेत्रभावैरप्यनन्ता, सर्वसाम्येन दृष्टान्ताभावाद्, एकदेशेन त्वाह-यथा 'सागर' इति, अस्य चाविशिष्टत्वात् विशेषणमाह-'महोदधिरिव' स्वयम्भूरमण इवानन्तपारः यथाऽसौ विस्तीर्णो गम्भीरजलोऽक्षोभ्यश्च, एवं तस्यापि भगवतो विस्तीर्णा प्रज्ञा स्वयम्भूरमणानन्तगुणा गम्भीराऽक्षोभ्या च, यथा च असौ सागरः 'अनाविलः' अकलुषजलः, एवं भगवानपि तथाविधकर्मलेशा भावादकलुषज्ञान इति, तथा-कषाया विद्यन्ते यस्यासौ कषायी न कषायी अकषायी, तथा ज्ञानावरणीयादि कर्मबन्धनाद्वियुक्तो मुक्तः भिक्षुरिति क्वचित्पाठः तस्यायमर्थः- सत्यपि निःशेषान्तरायक्षये सर्वलोकपूज्यत्वे च तथापि भिक्षामात्रजीवित्वात् भिक्षुरेवासौ, नाक्षीणमहानसादिलब्धिमुप जीवतीति, तथा शक्रइव-देवाधिपतिः 'द्युतिमान्' दीप्तिमानिति ॥८॥ किञ्च -

टीकार्थ – जिसके द्वारा पदार्थों को जाना जाता है उसे प्रज्ञा कहा जाता है । भगवान महावीर प्रज्ञा की दृष्टि से अक्षय हैं । जो पदार्थ ज्ञेय है-जानने योग्य है, उसमें भगवान की बुद्धि क्षय को प्राप्त नहीं होती, प्रतिहत नहीं होती । किसी के द्वारा अवरुद्ध नहीं होती । उनकी बुद्धि का नाम केवल ज्ञान-सर्वज्ञत्व है । वह केवल-ज्ञान काल की दृष्टि से सादी आदि सहित और अनन्त-अन्तरहित है । द्रव्य, क्षेत्र एवं भाव की दृष्टि से अनन्त है । सम्पूर्ण रूप में उसकी समानता या तुल्यता का कोई उदाहरण नहीं मिलता । ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो सम्पूर्ण रूप में उसके समान हो, जिससे उसे उपमित किया जा सके । सूत्रकार एक देशीय-आंशिक दृष्टान्त देते है । समुद्र जिस प्रकार अक्षय जल युक्त होता है उसी प्रकार भगवान अक्षय ज्ञान युक्त हैं । समुद्र शब्द साधारण सागर का बोधक है । इसलिए उसके विशेषण-एक विशेष समुद्र की चर्चा करते हैं । जिस प्रकार स्वयं भू रमण नामक समुद्र अपार विशाल तथा गम्भीर, अत्यन्त गहरे जल से युक्त है तथा अक्षोभ्य है-क्षुब्ध नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार भगवान महावीर की प्रज्ञा-ज्ञान भी विस्तीर्ण तथा स्वयं भू रमण समुद्र से भी अत्यन्त अनन्त गुना गम्भीर गहरा तथा अक्षोभ्य है । जिस प्रकार स्वयं भू रमण का जल निर्मल-स्वच्छ है उसी प्रकार भगवान का ज्ञान भी लेश मात्र कर्म के अवशिष्ट न रहने के कारण निर्मल-निर्विकार शुद्ध है। जिसमें कषाय होते हैं, उसे कसाई या कषायवान कहते हैं । परन्तु भगवान कषाय वर्जित थे । अतः वे अकषाई थे । उनके ज्ञानावर्णीय आदि कर्मबन्ध नष्ट हो चुके थे, इसलिए वे मुक्त थे । कहीं भिक्खू-भिक्षु पाठ प्राप्त होता है । उसका अभिप्राय यह है कि भगवान के सभी अन्तराय-बाधक हेतु नष्ट हो चुके थे । वे समग्र संसार के पूज्य थे । ऐसा होते हुए भी भिक्षावृत्ति द्वारा अपना निर्वाह करते थे वे अक्षीण महानसादि-यथेच्छ भोज्यादि प्राप्त कराने में सक्षम, लब्धि-योग विभूति का उपयोग नहीं करते थे । भगवान इन्द्र की तरह देवताओं के अधिपति थे, दीतिमान-दीप्तिमान थे ।

❀ ❀ ❀

'से' वीरिएणं पडिपुन्नवीरिए, सुदंसणे वा णगसव्वसेट्ठे ।
सुरालए वासिमुदागरे से, विरायए णेगगुणो ववेए ॥९॥

छाया – स वीर्य्येण प्रतिपूर्णवीर्य्यः सुदर्शन इव नगसर्वश्रेष्ठः ।
सुरालयो वासिमुदाकरः स, विराजतेऽनेकगुणोपयेतः ॥

अनुवाद – भगवान् महावीर पूर्ण वीर्य-सम्पूर्ण आत्म पराक्रम युक्त हैं । पर्वतों में जिस प्रकार सुमेरु पर्वत सर्वश्रेष्ठ है, वे जगत में सर्वश्रेष्ठ-उत्तम हैं । देवताओं के लिए हर्षोत्पाद स्वर्ग की ज्यों वे अनेक उत्तमोत्तम गुणों से युक्त हैं ।

टीका – 'स' भगवान् 'वीर्येण' औरसेन बलेन धृतिसंहनवादिभिश्च वीर्यान्तरायस्य निःशेषतः क्षयात् प्रतिपूर्णवीर्यः, तथा 'सुदर्शनो' मेरुर्जम्बूद्वीप नाभिभूतः स यथा नगानां-पर्वतानां सर्वेषां श्रेष्ठः- प्रधानः तथा भगवानपि वीर्येणान्यैश्च गुणैः सर्वश्रेष्ठ इति, तथा यथा 'सुरालयः' स्वर्गस्तन्निवासिनां 'मुदाकरो' हर्षजनकः प्रशस्तवर्णरसगन्धस्पर्शप्रभावादिभिर्गुणैरुपेतो 'विराजते' शोभते, एवं भगवानप्यनेकैर्गुणैरूपेतो विराजत इति, यदिवा-यथा त्रिदशालयो मुदाकरोऽनेकैर्गुणैकपेतो विराजत इति एवमसावपि मेरुरिति ॥९॥ पुनरपि दृष्टान्त भूतमेरुवर्णनायाह-

टीकार्थ – वीर्य्यान्तराय कर्म के सम्पूर्ण रूप में क्षीण हो जाने से भगवान ओरस बल, धृती एवं संहनन-विशेष देहिक रचना आदि बलों से परिपूर्ण हैं । सुमेरु पर्वत जो जम्बू द्वीप की नाभि के सदृश है । जिस प्रकार

वह समग्र पर्वतों में श्रेष्ठ है, उसी तरह भगवान महावीर, वीर्य-आत्मपराक्रम तथा अनान्य गुणों में सर्वश्रेष्ठ हैं । स्वर्ग जिस पर देवता निवास करते हैं उनके लिए हर्षजनक है । प्रशस्त वर्ण, रस, गंध स्पर्श एवं प्रभाव आदि गुणों से विभूषित हैं उसी तरह भगवान भी अनेक गुणों से सुशोभित हैं अथवा जैसे स्वर्ग सुखप्रद है, अनेकानेक गुणों से शोभित है, उसी तरह वह सुमेरू पर्वत भी है । दृष्टान्त में कहे गये सुमेरु पर्वत का पुनः विवरण करते हुए कहते हैं ।

❀ ❀ ❀

सयं सहस्साण उ जोयणाणं, तिकंडगे पंडगवेजयंते ।
से जोयणे णवणवते सहस्से, उद्धुस्सितो हेट्ठ सहस्समेगं ॥१०॥

छाया – *शतं सहस्राणान्तु योजनानां, त्रिकण्डकः पण्डकवैजयन्तः ।*
स योजने नवनवतिसहस्राणि, ऊर्ध्वमुच्छ्रितोऽधः सहस्रमेकम् ॥

अनुवाद – सुमेरु पर्वत सत् सहस्र-सौ हजार योजन का ऊँचा है । उसके तीन विभाग हैं । उसके सर्वोच्च भाग पर स्थित पण्डक वन वैजयन्ती-पताका या ध्वजा के समान शोभित होता है, ऊँचा है । वह सुमेरु पर्वत निन्यानवें हजार योजन ऊँचा उठा हुआ है और एक हजार योजन भूमि में गड़ा है ।

टीका – स मेरुर्योजनसहस्राणां शतमुच्चैस्त्वेन, तथा त्रीणि कण्डान्यस्येति त्रिकण्डः, तद्यथा-भौमं जाम्बूनदं वैडूर्यमिति, पुनरप्यसावेव विशेष्यते-'पण्डकवैजयन्त' इति पण्डकवनं शिरसि व्यवस्थितं वैजयन्तीकल्पं-पताकाभूतं यस्य स तथा, तथाऽसावूर्ध्वमुच्छ्रितो नवनवतिर्योजनसहस्राण्यधोऽपि सहस्त्रमेकमवगाढ इति ॥१०॥ तथा -

टीकार्थ – वह सुमेरु पर्वत सौ हजार योजन ऊँचा है, उसके तीन विभाग है-(१) भूमिमय, (२) स्वर्णमय (३) वैडूर्यमय-मणिमय । पुनः सुमेरुपर्वत की विशेषता बतलाते हुये कहते हैं । उस सुमेरु पर्वत के मस्तक पर-सर्वोच्च शिखर पर विद्यमान पण्डक वन उसकी ध्वजा के समान शोभित होता है। सुमेरु निन्नानवें हजार योजन ऊँचा उठा हुआ है । और एक हजार योजन भूमि में गड़ा हुआ है ।

❀ ❀ ❀

पुट्ठे णभे चिट्ठइ भूमिवट्ठिए, जं सूरिया अणुपरिवट्टयंति ।
से हेमवन्ने बहुनंदणे य, जंसी रतिं वेदयंती महिंदा ॥११॥

छाया – *स्पृष्टो नभस्तिष्ठति भूमिवर्ती, यं सूर्या अनुवरिवर्त्तयन्ति ।*
स हेमवर्णो बहुनन्दनश्च यस्मिन् रतिं वेदयन्ति महेन्द्राः ॥

अनुवाद – वह सुमेरु पर्वत आकाश का स्पर्श करता हुआ तथा भूमि में सम्प्रविष्ट हुआ विद्यमान है । आदित्य-नक्षत्र वृन्द उसका अनुवर्तन करते हैं, उसके पार्श्वभाग से भ्रमण करते हैं, घूमते हैं । उसका रंग स्वर्ण जैसा है । उसमें अनेक नंदन वन हैं । महेन्द्र-विशिष्ट ऋद्धि शाली महान इन्द्र गण उस पर रति-रमण क्रीड़ा करते हैं ।

टीका – 'नभसि' 'स्पष्टो' लग्नो नभो व्याप्य तिष्ठति तथा भूमिं चावगाह्य स्थित इति ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्लोक संस्पर्शी, तथा 'यं' मेरुं 'सूर्या' आदित्या ज्योतिष्का 'अनुपरिवर्त्तयन्ति' यस्य पार्श्वतो भ्रमन्तीत्यर्थः, तथाऽसौ

'हेमवर्णो' निष्टप्तजाम्बूनदाभः तथा बहूनि चत्वारि नन्दनवनानि यस्य स बहुनन्दनवनः, तथाहि-भूमौ भद्रशाल वनं ततः पञ्च योजनशतान्यारुह्य मेखलायां नन्दं ततो द्विषष्टियोजनसहस्राणि पंचशताधिकान्यतिक्रम्य सौमनसं ततः षट्त्रिंशत्सहस्राण्यारुह्य शिखरे पण्डुकवनमिति, तदेवमसौ चतुर्ननन्दनवनाद्युपेतो विचित्रक्रीड़ास्थान समन्वितः, यस्मिन् महेन्द्रा अप्यागत्य त्रिदशालयाद्रमणीयतरगुणेन 'रतिं' रमणक्रीडां 'वेदयन्ति' अनुभवन्तीति ॥११॥ अपिच -

टीकार्थ – वह मेरु पर्वत आकाश का स्पर्श करता हुआ-उससे संलग्न तथा पृथ्वी का अवगान करता हुआ-उसमें सम्प्रविष्ट रूप में विद्यमान है । वह उर्ध्वलोक, अधोलोक तथा तिर्यक्लोक का संस्पर्श किये हुये है । आदित्य-ग्रह नक्षत्र आदि उस पर्वत के पार्श्वभाग से-तट-तट भाग से भ्रमण करते हैं-घूमते हैं । वह परितप्त स्वर्ण के समान पीत वर्णयुक्त है-पीले रंग का है । उसके ऊपर चार नन्दन वन है । वे इस प्रकार है - (१) भूमिमय विभाग में भद्रशाल वन है । (२) उससे ऊपर पाँच सौ योजन आरोहण करने पर मेखलाप्रदेश में-मध्य के ढलान में नन्दन वन है । (३) उससे ऊपर पाँच सौ बासठ हजार योजन आरोहण करने पर सौमनस वन है । (४) उससे ऊपर छतीस हजार योजन आरोहण करने पर शिखर-चोटी पर पण्डक वन है । इस प्रकार वह मेरू पर्वत चार नंदन वनों से युक्त विचित्र विविध क्रीड़ाओं का स्थल है । महेन्द्र गण स्वर्ण से भी अधिक रमणीय गुण युक्त होने के कारण उस पर्वत पर आकर रति-रमण क्रीड़ा का आनन्द लेते हैं ।

❀ ❀ ❀

से पव्वए सद्दमहप्पगासे, विरायती कंचणमट्ठवन्ने ।
अणुत्तरे गिरिसु य पव्वदुग्गे, गिरीवरे से जलिएव भोमे ॥१२॥

छाया – स पर्वतः शब्दमहाप्रकाशो, विराजते काञ्चनमृष्टवर्णः ।
अनुत्तरो गिरिषु च पर्वदुर्गो, गिरिवरोऽसौ ज्वलित इव भौमः ॥

अनुवाद – वह सुमेरु पर्वत संसार में अनेक नामों से विख्यात है, उसका रंग सोने के समान शुद्ध-उज्जवल है । वह जगत में समग्र पर्वतों से अनुत्तर-उन्नत है, दुर्गम है । वह मणियों-रत्नों और औषधियों से दैदिप्यमान होने के कारण प्रज्ज्वलित या ज्योर्तिमय भूखण्ड जैसा प्रतीत होता है ।

टीका – सः-मेर्वाख्योऽयं पर्वतो मन्दरो मेरुः सुदर्शनः सुरगिरिरित्येवमादिभिः शब्दैर्महान् प्रकाशः -प्रसिद्धिर्यस्य स शब्दमहाप्रकाशो 'विराजते' शोभते, काञ्चनस्येव 'मृष्टः' श्लक्ष्णः शुद्धो वा वर्णो यस्य स तथा, एवं न विद्यते उत्तरः-प्रधानो यस्यासावनुत्तरः, तथा गिरिषु च मध्ये पर्वभिः-मेखलादिभिर्दष्टापर्वतैर्वा 'दुर्गो' विषमः सामान्यजन्तूनां दुरारोहो 'गिरिवरः' पर्वतप्रधानः तथाऽसौ मणिभिरौषधिभिश्च देदीप्यमानतया 'भौम इव' भूदेश इव ज्वलित इति ॥१२॥ किञ्च -

टीकार्थ – वह सुमेरु पर्वत, मन्दर, मेरु, सुदर्शन एवं सुरगिरि इत्यादि अनेक नामों से प्रसिद्धि युक्त है-विख्यात है । उसका वर्ण-रंग सोने की तरह श्लक्ष्ण चिकना अथवा शुद्ध-स्वच्छ है । जगत में इससे बढ़कर दूसरा कोई पर्वत नहीं है । वह मेखला आदि से-अपने ढलाव चढ़ाव आदि के तथा उपपर्वतों के कारण दुर्गम है । उस पर सामान्य प्राणियों का चढ़ पाना बड़ा कठिन है । वह श्रेष्ठ पर्वत मणियों-रत्नों और औषधियों से दैदिप्यमान होने के कारण प्रज्ज्वलित या ज्योतिर्मय भूखण्ड जैसा प्रतीत होता है ।

❀ ❀ ❀

महीइ मज्झंमि ठिते णगिंदे, पन्नायते सूरियसुद्धलेसे ।
एवं सिरिए उ स भूरिवन्ने, मणोरमे जोयइ अच्चिमाली ॥१३॥

छाया – मह्यां मध्ये स्थितो नगेन्द्रः प्रज्ञायते सूर्य्यशुद्धलेश्यः ।
एवं श्रिया तु स भूरिवर्णः मनोरमो द्योतयत्यर्चिमाली ॥

अनुवाद – वह नगेन्द्र-पर्वतराज पृथ्वी के मध्यभाग में-बीचों बीच अवस्थित है । वह सूर्य के समान उज्जवल कांतियुक्त है । वह अनेक वर्णयुक्त एवं मनोरम है । वह अर्चिमाली-सूर्य के सदृश सब दिशाओं को उद्योदित करता है ।

टीका – 'मह्यां' रत्नप्रभापृथिव्यां मध्यदेशे जम्बूद्वीपस्तस्यापि बहुमध्यदेशे सौमनसविद्युत्प्रभगन्धमादन माल्यवन्तदेष्ट्रापर्वतचतुष्टयोपशोनितः समभूभागे दशसहस्त्रविस्तीर्णः शिरसि सहस्त्र मेकमधस्तादपिदशसहस्त्राणि नवतियोजनानि योजनैकादशभागैर्दशभिरधिकानि विस्तीर्णः चत्वारिंशद्योजनोच्छ्रितचूडोपशोभितो 'नगेन्द्रः' पर्वतप्रधानो मेरुः प्रकर्षेण लोके ज्ञायते 'सूर्यवच्छुद्धलेश्यः'-आदित्यसमानतेजाः,'एवम्' अनन्त रोक्तप्रकारयाश्रिया तुशब्दाद्विशिष्टतरया सः-मेरुः 'भूरिवर्णः' अनेकवर्णो अनेकवर्णरत्नोपशोभितत्वात् मनः-अन्तःकरणं रमयतीति मनोरमा 'अर्चिमालीव' आदित्य इव स्वतेजसाद्योतयति दशापि दिशः प्रकाशयतीति ॥१३॥ साम्प्रतं मेरुदृष्टान्तोपक्षेपेण दाष्ट्रान्तिकं दर्शयति-

टीकार्थ – रत्न प्रभा पृथ्वी के मध्य देश में बीच के भाग में जम्बूद्वीप है । उसके बहुमध्य देश में-ठीक बीच में सौमनस, विद्युत्तप्रभ, गन्धमादन तथा माल्यवान नामक इन चार उपपर्वतों से उपशोभित, समभूभाग में दस सहस्त्र योजन विस्तीर्ण मस्तक पर एक सहस्त्र योजन विस्तीर्ण पुनः नीचे दससहस्त्र योजन विस्तीर्ण तथा प्रत्येक नब्बे योजन पर, एक योजन के ग्यारवे भाग-१/११ कम विस्तारयुक्त बाकी का योजन के दसवें भाग जितना विस्तीर्ण मेरु पर्वत है । उसके मस्तक पर चालीस योजन ऊँचा शिखर है । गिरिश्रेष्ठ मेरु सूर्य के समान शुद्ध प्रकाशयुक्त है । उपर्युक्त विशेषताओं से समन्वित वह पर्वत अनेक प्रकार के रत्नों से शोभित होने के कारण अनेक वर्ण युक्त है । वह मन को बड़ा रमणीय प्रतीत होता है । सूर्य की तरह अपने तेज से दिशाओं को उद्योदित करता है।

मेरु पर्वत का दृष्टान्त बतलाकर सूत्रकार उसका सार बतलाते हैं ।

❀ ❀ ❀

सुदंसणस्सेव जसोगिरिस्स, पवुच्चई महतो पव्वयस्स ।
एतोवमे समणे नायपुत्ते, जातीजसोदंसण नाणसीले ॥१४॥

छाया – सुदर्शनस्येव यशोगिरेः प्रोच्यते महतः पर्वतस्य ।
एतदुपमः श्रमणो ज्ञातपुत्रः जातियशोदर्शन ज्ञानशीलः ॥

अनुवाद – पर्वतों में मेरु पर्वत की यशस्विता का पूर्वोक्त रूप में वर्णन किया गया है । भगवान महावीर स्वामी को उसी पर्वत से उपमित किया जाता है । जैसे सुमेरु अपने गुणों के कारण समग्र पर्वतों में श्रेष्ठ है। उसी तरह भगवान महावीर जाति, यश, दर्शन, ज्ञान और शील में सबसे उत्तम है।

टीका – एतदनन्तरोक्तं 'यशः' कीर्तनं सुदर्शनस्य मेरुगिरेः महापर्वतस्य प्रोच्यते, साम्प्रतमेतदेव भगवति दार्ष्टान्तिके योज्यते-एषा-अनन्तरोक्तोपमा यस्य स एतदुपमः, कोऽसौ ?-श्राम्यतीति श्रमणस्तपोनिष्टप्तदेहो ज्ञाताः

-क्षत्रियास्तेषां पुत्रः श्री मन्महावीरवर्द्धमानस्वामीत्यर्थः, स च जात्या सर्वजातिमद्भ्यो यशसा अशेषयशस्विभ्यो दर्शनज्ञानाभ्यां सकलदर्शनज्ञानिभ्यः शीलेन समस्तशीलवद्भ्यः श्रेष्ठः-प्रधानः, अक्षरघटना तु जात्यादीनां कृत द्वन्द्वानामतिशायने अर्शआदित्वादच्प्रत्ययविधानेन विधेयेति ॥१४॥ पुनरपि दृष्टान्तद्वारेणैव भगवतोव्यावर्णयाह-

टीकार्थ – पहले सुदर्शन-सुमेरु गिरि के यश का वर्णन किया गया है । अब उस यशस्विता को सूत्रकार भगवान महावीर से योजित करते हुए कहते हैं । भगवान को पूर्वोक्त रूप में सुमेरु की उपमा दी गई है । वे भगवान कैसे हैं ? वे तपश्चरण में श्रमशील है-कठोर तपस्याएँ करते हैं अर्थात् तप से जिन्होंने अपने शरीर को परितप्त किया है, जो ज्ञात नामक क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हैं, वे भगवान महावीर मेरु पर्वत के सदृश है। वे जाति में सब जाति युक्त जनों से श्रेष्ठ हैं, यश-कीर्ति में समस्त यशस्वियों-कीर्तिशाली पुरुषों से उत्तम हैं। ज्ञान एवं दर्शन में समग्र जनों से प्रधान हैं-सर्वोच्च हैं तथा शील में वे समस्त शील युक्त जनों से उत्तम हैं। व्याकरण की दृष्टि से यहाँ शब्द योजन इस प्रकार करनी चाहिए । जाति आदि पदार्थों में द्वंद्व समास कर अर्श आदि त्वात् सूत्र से अच् प्रत्यय कर जात्यादि पद को सिद्ध करना चाहिए ।

❀ ❀ ❀

गिरीवरे वा निसहाऽऽयायाणं, रूयए व सेठ्ठे वलयायताणं ।
तओवमे से जगभूइपन्ने, मुणीण मज्झे तमुवाहु पन्ने ॥१५॥

छाया – गिरिवर इव निषधआयतानां, रुचक इव श्रेष्ठः वलयायतानाम् ।
तदुपमः स जगद्भूतिप्रज्ञः, मुनीनां मध्ये तमुदाहुः प्रज्ञाः ॥

अनुवाद – जैसे आयत-प्रलम्ब-लम्बे पर्वतों में निषद पर्वत श्रेष्ठ है, वलयायत-वर्तुल या गोलाकार पर्वतों में रुचक पर्वत उत्तम है, उसी तरह संसार में सभी मुनियों में भगवान महावीर अनुपम, प्रज्ञाशील और सर्वश्रेष्ठ हैं, यह प्राज्ञजन बतलाते हैं ।

टीकार्थ – यथा 'निषधो' गिरिवरो गिरीणामायतानां मध्ये जम्बूद्वीपे अन्येषु वा द्वीपेषु दैर्ध्येण 'श्रेष्ठः' प्रधानः तथा-वलयायतानां मध्ये रुचकः पर्वतोऽन्येभ्यो वलयायतत्वेन यथा प्रधानः, स हि रुचकद्वीपान्तर्वर्ती मानुषोत्तरपर्वत इव वृत्तायतः सङ्ख्येययोजनानि परिक्षेपेणेति, तथा स भगवानपि तदुपमः यथा तावाय तवृत्त ताभ्यां श्रेष्ठौ एवं भगवानपि जगति-संसारे भूतिप्रज्ञः-प्रभूतज्ञानः प्रज्ञया श्रेष्ठ इत्यर्थः तथा अपरमुनीनां मध्ये प्रकर्षेण जानातीति प्रज्ञः एवं तत्स्वरूपविदः 'उदाहुः' उदाहृतवन्त उक्तवन्त इत्यर्थः ॥१५॥ किञ्चान्यत् -

टीकार्थ – जम्बूद्वीप में या अन्य द्वीपों में सभी आयताकार-लम्बे पर्वतों में निषद पर्वत श्रेष्ठ है तथा वलयायत-गोलाकार पर्वतों में रूचक पर्वत श्रेष्ठ है । वह रूचक द्वीप के अन्तरवर्ती मानुषोत्तर पर्वत के सदृश वृत्ताकार एवं दीर्घ है, उसका विस्तार संख्येय योजन परिमित है । भगवान महावीर भी ऐसे हैं, अर्थात् जैसे ये दो पर्वत लम्बाई और गोलाई में सर्वोत्तम, सर्वोच्च है, इसी प्रकार भगवान महावीर भी संसार में सभी प्रज्ञाशील जनों में उत्तम हैं, वे सभी मुनियों में श्रेष्ठ हैं । उनके स्वरूप के ज्ञाता बुद्धिमान पुरुषों ने ऐसा कहा है ।

❀ ❀ ❀

अणुत्तरं धम्ममुईरइत्ता, अणुत्तरं झाणवरं झियाइं ।
सुसुक्क सुक्कं अपगंडसुक्कं, संखिंदुएगंतवदात सुक्कं ॥१६॥

छाया – अनुत्तरं धर्ममुदीरयित्वाऽनुत्तरं ध्यानवरं ध्यायति ।
सुशुक्ल शुक्लमपगण्ड शुक्लं, शेखेन्दुवदेकान्तावदात शुक्लम् ॥

अनुवाद – भगवान महावीर अनुत्तर-सर्वश्रेष्ठ धर्म उदीरितकर-व्याख्यात कर अनुत्तर-सर्वोत्तम ध्यान ध्याते थे । उनका ध्यान अत्यन्त शुक्ल पदार्थ के तुल्य दोष रहित-निर्मल, शुक्ल था । वह शंख और चन्द्रमा के सदृश एकांत रूप में अवदात-शुद्ध और शुक्ल था ।

टीका – नास्योत्तरः-प्रधानोऽन्यो धर्मो विद्यते इत्यनुत्तरः तमेवम्भूतं धर्मम् 'उत्' प्राबल्येन 'ईरयित्वा' कथयित्वा प्रकाश्य 'अनुत्तरं' प्रधानं 'ध्यानवरं' ध्यानश्रेष्ठं ध्यायति, तथाहि-उत्पन्नज्ञानो भगवान् योगनिरोध काले सूक्ष्मं काययोगं निरुन्धन्शुक्लध्यानस्य तृतीयं भेदं सूक्ष्मक्रियमप्रतिपाताख्यं तथा निरुद्धयोगश्चतुर्थं शुक्लध्यानभेदं व्युपरतक्रियमनिवृत्ताख्यं ध्यायति, एतदेव दर्शयति-सुष्ठु शुक्लवत्शुक्लं ध्यानं तथा अपगतं गण्डम्-अपद्रव्यं यस्य तदपगण्डं निर्दोषार्जुनसुवर्णवत् शुक्लं यदिवा-अपगण्डम्-उदकफेनं तत्तुल्यमिति भावः। तथा शङ्खेन्दुवदेकान्तावदातं-शुभ्रं शुक्लं-शुक्लध्यानोत्तरं भेदद्वयं ध्यायतीति ॥१६॥ अपिच -

टीकार्थ – जिससे उत्तर-बढ़कर या श्रेष्ठ दूसरा धर्म नहीं होता, उसे अनुत्तर धर्म कहा जाता है । भगवान महावीर ऐसे धर्म को भली भाँति प्ररूपित कर, प्रकाशित कर उत्तम ध्यान ध्याते थे । भगवान को जब ज्ञान उत्पन्न हो गया, तब वे योग निरोधकाल में काय योग का निरोध करते हुए शुक्ल ध्यान का तृतीय भेद सूक्ष्मक्रियाप्रतिपात नामक ध्यान में अभिरत होते थे । जब योगों का निरोध हो गया, तब वे शुक्ल ध्यान के चौथे भेद व्युपरतक्रियानिवृत में संलग्न होते थे । शास्त्रकार इसी बात का दिग्दर्शन कराते हुए कहते है-जो ध्यान अत्यन्त उज्ज्वल, निर्मल, स्वच्छ पदार्थ की तरह, शुक्ल की तरह, शुक्ल है, जिससे दोष अपगत है, जो निर्दोष है, सोने के समान शुक्ल-निर्मल है अथवा जो अपगंड-अपद्रव्य रहित जल के फेन-झाग की ज्यों अत्यन्त विशद, निर्मल है, शंख तथा चन्द्र के समान एकांत रूप से अवदात शुभ्र तथा शुक्ल है, वह शुक्ल ध्यान कहा जाता है । भगवान महावीर उसके उक्त दो भेदों की साधना में निरत रहते थे ।

❀ ❀ ❀

अणुत्तरग्गं परमं महेसी, असेसकम्मं स विसोहइत्ता ।
सिद्धिं गते साइमणंतपत्ते, नाणेण सीलेण य दंसणेण ॥१७॥

छाया – अनुत्तराग्र्यां परमां महर्षिरशेष कर्माणि स विशोध्य ।
सिद्धिं गतः सादिमानन्तप्रज्ञो, ज्ञानेन शीलेन च दर्शनेन ॥

अनुवाद – महर्षि-महान् ऋषि, महान् द्रष्टा ज्ञान, दर्शन और चारित्र के प्रभाव से ज्ञानावरणीय आदि समस्त कर्मों को क्षीण कर-विध्वंस्त कर उस सर्वोत्तम मुक्ति रूपी सिद्धि को प्राप्त हुए, जिसका आरम्भ तो है, किन्तु अन्त नहीं है ।

टीका – तथाऽसौ भगवान् शैलेश्यवस्थापादितशुक्लध्यानचतुर्थभेदानन्तरं साद्यपर्यवसानां सिद्धिगतिं पञ्चमीं प्राप्तः, सिद्धिगतिमेव विशिनष्टि-अनुत्तरा चासौ सर्वोत्तमत्वादग्या च लोकाग्रव्यवस्थितत्वादनुत्तराग्र्यां तां 'परमां' प्रधानां महर्षिः असावत्यन्तोग्रतपोविशेषनिष्टप्तदेहत्वाद् अशेषं कर्म-ज्ञानावरणादिकं 'विशोध्य' अपनीयं च विशिष्ठेन ज्ञानेन दर्शनेन शीलेन च क्षायिकेन सिद्धिगतिं प्राप्त इतिमीलनीयम् ॥१७॥ पुनरपि दृष्टान्त द्वारेण भगवतः स्तुतिमाह -

टीकार्थ – भगवान महावीर शुक्ल ध्यान के चतुर्थ भेद को जो शैलेषी अवस्था में उत्पन्न होता है, स्वायत्त कर सिद्ध गति को प्राप्त हुए । जिसकी आदि-प्रारम्भ तो है किन्तु अंत नहीं । अन्त न होने का तात्पर्य यह है कि सिद्ध गति प्राप्त होने के बाद कभी अपगत नहीं होती । उस सिद्धगति की विशेषता बताते हुए सूत्रकार कहते हैं-वह सर्वोत्तम है-सबसे श्रेष्ठ है । अग्र लोक के अग्र भाग में अवस्थित होने के कारण सबसे आगे है । भगवान महावीर ने वही परमगति प्राप्त की । भगवान अत्यन्त उग्र तपश्चरण द्वारा अपनी देह को परितप्त कर तथा ज्ञानावरणीयादि समस्त कर्मों को विशिष्ट क्षायिक ज्ञान, दर्शन और चारित्र द्वारा क्षपित कर सिद्धत्व को प्राप्त हुए । सूत्रकार पुनः दृष्टान्त द्वारा भगवान की स्तुति का वर्णन करते हैं -

❀ ❀ ❀

रुक्खेसुणाते जह सामली वा, जस्सिं रतिं वेययती सुवन्ना ।
वणेसु वा णंदणमाहु सेट्ठं, नाणेण सीलेण य भूतिपन्ने ॥१८॥

छाया – वृक्षेषु ज्ञातो यथा शाल्मती वा, यस्मिन् रतिं वेदयन्ति सुपर्णाः ।
वनेषु वा नन्दनमाहुः श्रेष्ठं, ज्ञानेन शीलेन च भूतिप्रज्ञः ॥

अनुवाद – वृक्षों में जैसे शाल्मली नामक वृक्ष सुप्रसिद्ध है, श्रेष्ठ है, जहां सुपर्ण-भवनपति जाति के देव विशेष आकर रति-क्रीड़ा करते हैं । जैसे वनों में नन्दन वन श्रेष्ठ है, उसी प्रकार ज्ञान और शील में भूति प्रज्ञ-महान् प्रज्ञाशील भगवान महावीर श्रेष्ठ हैं ।

टीका – वृक्षेषु मध्ये यथा 'ज्ञातः' प्रसिद्धो देवकुरुव्यवस्थितः शाल्मलीवृक्षः, स च भवनपतिक्रीड़ास्थानं, 'यत्र' व्यवस्थिता अन्यतश्चागत्य 'सुपर्णा' भवनपतिविशेषा 'रतिं' रमणक्रीड़ां 'वेदयन्ति' अनुभवन्ति, वनेषु च मध्ये यथा नन्दनं वनं देवानां क्रीडास्थानं प्रधानं एवं भगवानपि 'ज्ञानेन' केवलाख्येन समस्तपदार्थाविर्भावकेन 'शीलेन' च चारित्रेण-यथाख्यातेन 'श्रेष्ठः' प्रधानः 'भूतिप्रज्ञः' प्रवृद्धज्ञानो भगवानिति ॥१८॥ अपि च -

टीकार्थ – जैसे वृक्षों में देवकुरु स्थित प्रसिद्ध शाल्मली वृक्ष श्रेष्ठ है, जो भवनपति देवों का क्रीड़ा स्थान है, जहाँ अन्य स्थानों से आकर सुपर्ण संज्ञक भवनपति देव रति-क्रीड़ा का आनन्द लेते हैं, वनों में जैसे देवों का क्रीड़ा स्थल नन्दनवन प्रधान-उत्तम है । इसी प्रकार भगवान महावीर भी समस्त पदार्थों के आविर्भावक, प्रकट कर्ता केवल ज्ञान तथा यथाख्यात चारित्र द्वारा सर्वोत्तम है । वे भूतिप्रज्ञ-प्रवृद्ध ज्ञान है, अर्थात् उनका ज्ञान बहुत बढ़ा चढ़ा है ।

❀ ❀ ❀

थणियं व सद्दाण अणुत्तरे उ, चंदो व ताराण महाणुभावे ।
गंधेसु वा चंदण माहु सेट्ठं, एवं मुणीणं अपडिन्नमाहु ॥१९॥

छाया – स्तनितमिव शब्दानामनुत्तरस्तु चन्द्रइव ताराणां महानुभावः ।
गन्धेषु वा चन्दन माहुः श्रेष्ठ मेवं मुनीनाम प्रतिज्ञमाहुः ॥

अनुवाद – जैसे समग्र शब्दों में मेघस्तनित-मेघ का गर्जन अनुत्तर-सर्वोत्तम है, सब तारागण में चन्द्र प्रधान है, समस्त गन्धों में-गन्धयुक्त पदार्थों में चन्दन का उच्च स्थान है, उसी प्रकार समग्र मुनिवृन्द में निष्काम अनासक्त भगवान महावीर प्रधान-श्रेष्ठ हैं ।

टीका – यथा शब्दानां मध्ये 'स्तनितं' मेघ गर्जितं तद् 'अनुत्तरं' प्रधानं, तु शब्दो विशेषणार्थः समुच्चयार्थो वा, 'तारकाणांच' नक्षत्राणां मध्ये यथा चन्द्रो महानुभावः सकलजननिर्वृत्तिकारिण्या कान्त्या मनोरमः श्रेष्ठः, 'गन्धेषु' इति गुणगुणिनोरभेदान्मतुब्लोपाद्गन्धवत्सु मध्ये यथा 'चन्दनं' गोशीर्षकाख्यं मलयजं वा तज्ज्ञाः श्रेष्ठमाहुः एवं 'मुनीनां' महर्षीणां मध्ये भगवन्तं नास्य प्रतिज्ञा इहलोकपरलोकाशंसिनी विद्यते इत्यप्रतिज्ञस्तमेवम्भूतं श्रेष्ठमाहुरिति ॥१९॥ अपि च -

टीकार्थ – सब प्रकार के शब्दों के बीच मेघ की गैर्जना-गड़गड़ाहट प्रधान-सबसे बढ़कर है, इस गाथा में 'तु' शब्द विशेषणार्थक या समुच्चयार्थक है । नक्षत्रों में परम आभामय चन्द्रमा प्रधान है, जो अपनी कांति द्वारा सबको आनन्द प्रदान करता है । गुण गुणी के अभेद की दृष्टि से गन्ध शब्द यहाँ गन्धवान पदार्थों के अर्थ में है । तदनुसार सभी गन्धयुक्त पदार्थों में गोशीर्ष या मलय चन्दन श्रेष्ठ है, उसी प्रकार मुनियों या महर्षियों के बीच ऐहिक और पारलौकिक सुखाभिवाञ्छा से विवर्जित भगवान महावीर श्रेष्ठ कहे जाते हैं ।

❀ ❀ ❀

जहा संयभू उदहीण सेट्ठे, नागेषु वा धरणिंदमाहुसेट्ठे ।
खोओदए वा रसवेजयंते, तवोवहाणे मुणि वेजयंते ॥२०॥

छाया – यथा स्वयम्भू रूदधीना श्रेष्ठः, नगेषु वा धरणेन्द्रं आहुश्रेष्ठं ।
इक्षुरसोदको वा रसवैजयन्तः, तपउपधाने मुनि वैजयन्तः ॥

अनुवाद – जैसे समग्र सागरों में स्वयंभू रमण सागर श्रेष्ठ है, नागों में धरणेन्द्र उत्तम है, सभी सरस स्थलों में इक्षुरसोदक सागर श्रेष्ठ है, उसी प्रकार समस्त तपश्चरण शील साधकों में भगवान महावीर श्रेष्ठ हैं।

टीका – स्वयं भवन्तीति स्वयम्भुवो-देवाः ते तत्रागत्य रमन्तीति स्वयम्भूरमणः तदेवम् 'उदधीनां' समुद्राणां मध्ये यथा स्वयम्भूरमणः समुद्रः समस्तद्वीप सागर पर्यन्तवर्ती 'श्रेष्ठः' प्रधानः 'नागेषु च' भवन पतिविशेषेषु 'धरणेन्द्रं' धरणं यथा श्रेष्ठमाहुः, तथा 'खोओदए' इति इक्षुरस इवोदकं यस्य स इक्षुरसोदकः स यथा रसमाश्रित्य 'वैजयन्तः' प्रधानः स्वगुणैपरसमुद्राणां पताकेवोपरिव्यवस्थितः एवं 'तप उपधानेन' विशिष्टतपोविशेषेणमनुते जगतस्त्रिकालवस्थामिति 'मुनिः' भगवान् 'वैजयन्तः' प्रधानः, समस्तलोकस्य महातपसा वैजयन्तीवोपरि व्यवस्थित इति ॥२०॥

टीकार्थ – जो स्वयं उत्पन्न होते हैं, उन्हें स्वयंभू कहा जाता है । देवता स्वयंभू शब्द से अभिहित होते हैं । वे देव वहां आकर रमण करते हैं, अतः वे स्वयंभूरमण कहे जाते हैं । स्वयंभूरमण समुद्र सभी द्वीपों और समुद्रों के अन्त में विद्यमान हैं । वह समस्त समुद्रों में उत्तम है । नागों में अर्थात् भवनपतियों में धरणेन्द्र श्रेष्ठ हैं । इक्षु के रस के समान जिसका जल मधुर-मीठा है । वह इक्षु रस समुद्र समस्त रस युक्त स्थलों में प्रधान है क्योंकि वह अपनी मधुरता के गुण से सब समुद्रों की पताका-ध्वजा के रूप में विद्यमान है । इसी प्रकार इस जगत की त्रैकालिक अवस्था के परिज्ञाता भगवान् महावीर स्वामी अपने विशिष्ट तपश्चरणमय जीवन के द्वारा समस्त लोक की वैजयन्ती के सदृश सर्वोपरि अवस्थित हैं ।

❀ ❀ ❀

हत्थीसु एरावणमाहु णाए सीहो मिगाणं सलिलाण गंगा ।
पक्खीसु वा गरुले वेणुदेवो, निव्वाणवादीणिह णायपुत्ते ॥२१॥

छाया – हस्तीष्वैरावणमाहुजतिं, सिंहो मृगाणां सलिलानां गङ्गा ।
पक्षिषु वा गरुड़ो वेणुदेवो, निर्वाणवादिनामिह ज्ञातपुत्रः ॥

अनुवाद – हस्तीवृन्द में ऐरावण, जन्तुओं में सिंह, सरिताओं में गंगा तथा पक्षियों में वेणुदेव गरुड़ ज्ञात है-सुप्रसिद्ध है, उसी प्रकार समस्त निर्वाण वादियों में-मोक्ष वादी सैद्धान्तिकों में भगवान महावीर प्रसिद्ध-श्रेष्ठ हैं ।

टीका – 'हस्तिषु' करिवरेषु मध्ये यथा 'ऐरावणं' शक्रवाहनं 'ज्ञातं' प्रसिद्धं दृष्टान्तभूतं वा प्रधानमाहुस्तज्ज्ञाः 'मृगाणां' च श्वापदानां मध्ये यथा 'सिंहः' केशरी प्रधानः तथा भरतक्षेत्रापेक्षया 'सलिलाणां' मध्ये यथा गङ्गासलिले प्रधानभाव मनुभवति, 'पक्षिषु' मध्ये यथा गरुत्मान् वेणुदेवापरनामा प्राधान्येन व्यवस्थित एवं निर्वाणं-सिद्धिक्षेत्राख्यं कर्मच्युतिलक्षणं वा स्वरूपतस्तदुपायप्राप्तिहेतुतो वा वदितुं शीलं येषां ते तथा तेषां मध्ये ज्ञाताः-क्षत्रियास्तेषां पुत्रः-अपत्यं ज्ञातपुत्रः श्रीमन्महावीरवर्धमानस्वामी स प्रधान इति, यथावस्थितनिर्वाणार्थवादित्वादित्यर्थः॥२१॥

टीकार्थ – जो बुद्धिमान पुरुष संसार की मुख्य-मुख्य वस्तुओं को जानते हैं वे हाथियों में जगत्प्रसिद्ध या दृष्टान्त स्वरूप इन्द्र के वाहन ऐरावण को सर्वोत्तम कहते हैं, जन्तुओं के मध्य केसरी सिंह सर्वोपरि है, भरत क्षेत्र की अपेक्षा सब जलों में गंगा का जल उत्तम है, पक्षियों में जैसे वेणुदेव संज्ञक गरुड़ मुख्य है, उसी प्रकार मोक्षवादी जनों में-सैद्धान्तिकों में भगवान महावीर सर्वोत्तम हैं । निर्वाण सिद्धि क्षेत्र को कहा जाता है। अथवा कर्मच्युति-कर्मक्षय का नाम निर्वाण है । उसके स्वरूप और साधनोंपाय द्वारा जो उसे पाने का मार्ग बताते हैं वे निर्वाणवादी कहे जाते हैं । उनके बीच ज्ञात क्षत्रिय कुलोत्पन्न भगवान महावीर वर्धमानस्वामी प्रधान हैं, क्योंकि वे निर्वाण-मोक्ष के वास्तविक स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं ।

❀ ❀ ❀

जोहेसु णाए जह वीससेणे, पुप्फेसु वा जह अरविंद माहु ।
खत्तीण सेट्ठे जह दंतवक्के, इसीण सेट्ठे तह वद्धमाणे ॥२२॥

छाया – योधेषु ज्ञातो यथा विश्वसेनः, पुष्पेषु वा यथाऽरविन्दमाहुः ।
क्षत्रियाणां श्रेष्ठो यथा दान्तवाक्यः, ऋषीणां श्रेष्ठस्तथा वर्धमानः ।

अनुवाद – जैसे योद्धाओं में पराक्रमी जनों में विश्वसेन चक्रवर्ती प्रधान है, पुष्पों में अरविन्द-कमल को उत्तम कहा जाता है, क्षत्रियों में दान्तवाक्य-चक्रवर्ती मुख्य है, उत्तम है, उसी प्रकार ऋषियों-दृष्टाओं या ज्ञानियों में श्री वर्धमान स्वामी उत्तम हैं ।

टीका – योधेषु मध्ये 'ज्ञातो' विदितो दृष्टान्तभूतो वाविश्वा-हस्त्यश्वरथपदातिचतुरङ्गबलसमेता सेना यस्य स विश्वसेनः-चक्रवर्ती यथाऽसौ प्रधानः, पुष्पेषु च मध्ये यथा अरविन्दं प्रधानमाहुः, तथा क्षतात् त्रायन्त इति क्षत्रियाः तेषां मध्ये दान्ता-उपशान्ता यस्य वाक्येनैव शत्रवः स दान्तवाक्यः-चक्रवर्ती यथाऽसौ श्रेष्ठः । तदेवं बहून् दृष्टान्तान् प्रशस्तान् प्रदर्श्याधुना भगवन्तं दार्ष्टान्तिकं स्वनामग्राहमाह-तथा ऋषिणां मध्ये श्रीमान् वर्धमानस्वामी श्रेष्ठ इति ॥२२॥ तथा -

टीकार्थ – हस्ति, अश्व, रथ एवं पदाति इन चार अंगों से युक्त सेना के अधिनायक सुप्रसिद्ध अथवा दृष्टान्तभूत चक्रवर्ती सब योद्धाओं में श्रेष्ठ है । पुष्पों में कमल सर्वश्रेष्ठ कहा जाता है । जो क्षत-पीड़ा या

नाश से प्राणियों की रक्षा करते हैं, वे क्षत्रिय कहे जाते हैं । उन क्षत्रियों के मध्य दान्त वाक्य चक्रवर्ती प्रधान है जिसके वाक्य-धाक से ही शत्रु शांत हो जाते हैं । इस प्रकार बहुत से प्रशस्त दृष्टान्त उपस्थित कर सूत्रकार द्राष्टान्ति स्वरूप भगवान का नाम ग्रहण करते हुए बतलाते हैं कि इसी प्रकार ऋषियों में श्रीमान् परम ऐश्वर्यशाली श्री वर्धमान स्वामी उत्तम हैं ।

❀ ❀ ❀

दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं, सच्चेसु वा अणवज्जं वयंति ।
तवेसु वा उत्तम बंभचेरे, लोगुत्तमे समणे नायपुत्ते ॥२३॥

छाया – दानानां श्रेष्ठमभयप्रदानं, सत्येषु वाऽनवद्यं वदन्ति ।
तपस्सुवोत्तमं ब्रह्मचर्य्यं, लोकोत्तमः श्रमणो ज्ञातपुत्रः ॥

अनुवाद – अभयदान-त्राण या शरण दान सब दानों में श्रेष्ठ है । सत्यों में वह सत्य श्रेष्ठ है जो अनवद्य-पापवर्जित हो । तपों में ब्रह्मचर्य उत्तम है । उसी प्रकार लोक में ज्ञातपुत्र भगवान महावीर सर्वोत्तम है ।

टीका – तथा स्वपरानुग्रहार्थमर्थिने दीयत इति दानमनेकधा, तेषांमध्ये जीवानां जीविताथिंनां त्राणकारित्वादभयप्रदानं श्रेष्ठं तदुक्तम् -

दीयते म्रियमाणस्य, कोटिं जीवितमेव वा । धनकोटिं न गृह्णीयात्, सर्वो जीवितुमिच्छति ॥१॥

इति, गोपालाङ्गनादीनां दृष्टान्त द्वारेणार्थोबुद्धौ सुखेनारोहतीत्यतः अभयप्रदान प्राधान्यख्यापनार्थं कथानकमिदं-वसन्तपुरे नगरे अरिदमनो नाम राजा, स च कदाचिच्चतुर्वधूसमेतो वातायनस्थः क्रीड़ायमानस्तिष्ठति, तेन कदाचिच्चौरो रक्तकणवीरकृतमुण्डमालो रक्तपरिधानो रक्तचन्दनोपलिप्तश्च प्रहतवध्यडिण्डिभो राजमार्गेण नीयमानः सपत्नीकेन दृष्टः, दृष्ट्वा च ताभिः पृष्टं-किमनेनाकारीति !, तासामेकेन राजपुरुषेणाऽऽवेदितं यथा-परद्रव्यापहारेण राज विरुद्धमिति, तत एकया राजा विज्ञप्तो यथा-यो भवता मम प्राग् वरः प्रतिपन्नः सोऽधुनादीयतां येनाहमस्योपकरोमि किञ्चित, राज्ञाऽपि प्रतिपन्नं ततस्तया स्नानादिपुरःसरमलङ्कारेणालङ्कृतो दीनारसहस्रव्ययेन पञ्चविधान्शब्दादीन् विषयानेकमहः प्रापितः, पुनर्द्वितीययाऽपितथैव द्वितीयमहो दीनाशतसहस्रव्ययेन लालितः, ततस्तृतीयया तृतीयमहो दीनारकोटिव्ययेन सत्कारितः, चतुर्थ्या तु राजानुमत्या मरणाद्रक्षितः अभयप्रदानेन, ततोऽसावन्याभिर्हसिता नास्यत्वया किञ्चिदत्तमिति, तदेवं तासां परस्परबहूपकार विषये विवादे राज्ञाऽसावेव चौरः समाहूय पृष्टो यथा केन तव बपहूपकृतमिति, तेनाप्यभाणि यथा-न मया मरण महाभयभीतेन किञ्चित् स्नानादिकं सुखं व्यज्ञायीति, अभयप्रदानाकर्णनेन पुनर्जन्मामिवात्मानमवैमीति, अतः सर्वदानानामभयप्रदानं श्रेष्ठमिति स्थितम् । तथा सत्येषु च वाक्येषु यद् 'अनवद्यम्' अपापं परपीडानुत्पादकं तत् श्रेष्ठं वदन्ति, न पुनः परपीडोत्पादकं सत्यं, सद्भ्यो हित सत्यमितिकृत्वा, तथा चोक्तम्-

"लोकेऽपि श्रूयते वादो, यथा सत्येन कौशिकः । पतितो वधयुक्तेन, नरके तीव्रवेदने ॥१॥"

अन्यच्च -

"तहेव काणं काणत्ति, पंडगं पंडगत्ति वा । वाहियं वावि रोगित्ति, तेणं चोरोक्ति नो वदे ॥१॥"

तपस्सु मध्ये यथैवोत्तमं नवविधब्रह्मगुप्त्युपेतं ब्रह्मचर्यं प्रधानं भवति तथा सर्वलोकोत्तमरूपसम्पदा सर्वातिशायिन्या शक्त्या क्षायिकज्ञानदर्शनाभ्यां शीलेन च 'ज्ञातपुत्रो' भगवान् श्रमणः प्रधान इति॥२३॥ किञ्च-

टीकार्थ – अपने एवं दूसरे के अनुग्रह के लिए अर्थी-याचक को जो दिया जाता है, उसे दान कहा जाता है । दान अनेक प्रकार का होता है । जीवन की वाञ्छा रखने वाले प्राणियों के त्राणकारित्व के कारण अभयदान सर्वश्रेष्ठ है । कहा है-किसी म्रियमान-मरणोन्मुख प्राणी को एक ओर करोड़ों का धन दिया जाय तथा दूसरी ओर जीवन दिया जाय, दोनों में से किसी एक को लेने का कहा जाय तो वह करोड़ों के धन को ग्रहण न कर जीवन को ही चाहेगा क्योंकि संसार के सभी प्राणियों में सहज रूप में जिजीविषा है, वे जीना चाहते हैं । ग्वालों और औरतों आदि को दृष्टान्त देकर समझाने में कोई बात तुरन्त उनके समझ में आ जाती है । इसलिए अभयदान की श्रेष्ठता को बताने हेतु एक कथानक यहाँ उपस्थित किया जाता है –

बसन्तपुर नामक नगर था । अरिदमन वहाँ का राजा था । वह अपनी चार रानियों के साथ झरोखे में बैठा हुआ मनोविनोद कर रहा था । तब उसने एक चोर को देखा । उसकी गर्दन में लाल कनेर की माला पहन रखी थी । लाल वस्त्र पहना रखे थे, शरीर पर लाल चन्दन लिप्त था, उसके पीछे-पीछे उसके मृत्युदण्ड का सूचक डिण्डिभ-ढ़ोल बज रहा था । चाण्डाल लोग उसे राजमार्ग से ले जा रहे थे । रानियों सहित राजा ने उस चोर को देखा । रानियों ने उसे देखकर प्रश्न किया कि इसने क्या कसूर किया । तब एक राजपुरुष ने उनसे कहा कि इसने दूसरे के द्रव्य का अपहरण-चोरी की है, जो राजाज्ञा के विरुद्ध कार्य है । यह सुनकर उन रानियों में से एक रानी ने राजा से निवेदन किया कि आपने पहले मुझे एक वरदान देने का वायदा किया था, वह आज दे दीजिए, जिसके द्वारा मैं इस चोर का कुछ उपकार कर सकूं, उसकी सहायता कर सकूं । राजा ने रानी का अनुरोध स्वीकार किया । उस रानी ने उस चोर को स्नान कराकर उत्तम अलंकारों से अलंकृत कर एक सहस्र स्वर्ण मुद्राओं के व्यय से उसे एक दिन के लिए शब्द आदि पांच प्रकार के विषयों का भोग प्राप्त करवाया । तत्पश्चात् दूसरी रानी ने भी अगले दिन एक लाख स्वर्ण मुद्राएं खर्च कर उसे सब प्रकार के भोग, सुख प्रदान करवाये । तीसरी रानी ने तीसरे दिन एक करोड़ स्वर्ण मुद्राएं व्यय कर उसे सब प्रकार के सुख, आनन्द, सत्कार आदि प्राप्त कराये । चौथी रानी ने राजा का आदेश प्राप्त कर उसकी मृत्यु से रक्षा की। उसे अभय दान दिलवाया । तब तीनों रानियाँ चौथी रानी का उपहास करने लगी कि इसने इस बेचारे को कुछ भी नहीं दिया । चौथी कहने लगी-मैंनें तुम सबसे अधिक उपकार किया है । इस प्रकार उन रानियों में उस चोर का किसने अधिक उपकार किया है इस संबंध में विवाद होने लगा। तब राजा ने उस चोर को ही बुलाया और उससे पूछा कि तुम्हारा अधिक उपकार किसने किया है ? यह सुनकर चोर बोला कि मैं मृत्यु के घोर भय से अत्यन्त डरा हुआ था । इसलिए स्नानादि सुखों को मैं जरा भी अनुभव नहीं कर सका । किन्तु जब मेरे कान में यह आवाज आई कि मुझे अभयदान दे दिया गया है, तो इसे सुनकर मैंने ऐसा माना कि मानों मेरा नया जन्म हुआ है । अत: दानों में अभयदान सर्वोत्तम है । यह सही है । सत्य वाक्यों में जो वाक्य दूसरों के मन में दु:ख पैदा नहीं करता, उसे श्रेष्ठ कहा जाता है । किन्तु जिससे दूसरों को क्लेश होता है वह वास्तव में सत्य नहीं है क्योंकि सत्य वह है जो सत्पुरुषों के लिए हितप्रद है । कहा है जगत में यह बात सुनी जाती है कि कौशिक मुनि वधयुक्त-हिंसा मिश्रित सत्य बोलकर तीव्र वेदनामय नरक में पतित हुए । और भी कहा है-काणे को काणा, नपुंसक को नपुंसक और चोर को चोर नहीं कहना चाहिए । तपो में नौ गुप्ति युक्त ब्रह्मचर्य सर्वोत्तम है । इसी प्रकार सर्वोत्तम रूप सम्पत्ति, सर्वोत्कृष्ट शक्ति, क्षायिक ज्ञान, दर्शन एवं शील में श्रमण भगवान महावीर सर्वश्रेष्ठ हैं ।

❀ ❀ ❀

ठिईण सेट्ठा लवसत्तमा वा सभा सुहम्मा व सभाण सेट्ठा ।
निव्वाण सेट्ठा जह सव्वधम्मा, ण णायपुत्ता परमत्थि नाणी ॥२४॥

छाया – स्थितीनां श्रेष्ठाः लवसप्तमा वा, सभा सुधर्मा व सभानां श्रेष्ठा ।
निर्वाणश्रेष्ठा यथा सर्वे धर्माः, न ज्ञातपुत्रात् परोऽस्ति ज्ञानी ॥

अनुवाद – जिस प्रकार सभी स्थिति युक्तों में पांच अनुत्तर विमानवासी देव प्रधान-श्रेष्ठ हैं, सभी सभाओं में जिस प्रकार सुधर्मा सभा उत्तम है, सभी धर्मों में जैसे निर्वाण-मोक्ष श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार ज्ञानियों में भगवान महावीर सर्वश्रेष्ठ है ।

टीका – स्थितिमतां मध्ये यथा 'लवसत्तमाः' पञ्चानुत्तरविमानवासिनो देवाः सर्वोत्कृष्टस्थितिवर्तिनः प्रधानाः, यदि किल तेषां सप्त लवा आयुष्यकर्मभविष्यत्ततः सिद्धिगमनमभविष्यदित्यतो लवसत्तमास्तेऽभिधीयन्ते 'सभानां च' पर्षदां च मध्ये यथा सौधर्माधिपपर्षच्छ्रेष्ठा बहुभिः क्रीड़ास्थानैरूपेतत्वात्तथा यथा सर्वेऽपि धर्मा 'निर्वाणश्रेष्ठाः' मोक्षप्रधानाः भवन्ति कुप्रावचनिका अपि निर्वाणफलमेव स्वदर्शनं ब्रुवते यतः एवं 'ज्ञातपुत्रात्' वीरवर्धमानस्वामिनः सर्वज्ञात् सकाशात् 'परं' प्रधानं अन्यद्विज्ञानं नास्ति, सर्वथैव भगवानपरज्ञानिभ्योऽधिक ज्ञानो भवतीति भावः ॥२४ किञ्चान्यत् -

टीकार्थ – सब स्थित युक्तों में लवसप्तम-पाँच अनुत्तर विमानवासी देव उत्कृष्ट स्थिति लिए होते हैं, इसलिए वे प्रधान है क्योंकि मनुष्य भव में धर्म का आचरण करते हुए यदि उनकी आयु सात लव अधिक होती तो वे केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष में चले जाते । इस कारण वे लवसप्तम् देव कहे जाते हैं । सभाओं में जिस प्रकार इन्द्र की सभा, जो सुधर्मा नाम द्वारा अभिहित है, सबसे उत्तम है क्योंकि उसमें अनेक क्रीड़ा स्थल बने हैं । समस्त धर्मों में जिस प्रकार मोक्ष प्रधान है क्योंकि कुप्रावचनिक-मिथ्यामतवादी भी अपने दर्शन का फल मोक्ष ही बतलाते हैं । इन सबकी तरह सभी ज्ञानियों में भगवान महावीर से बड़ा चढ़ा कोई दूसरा ज्ञानी नहीं है । वे सबसे अधिक ज्ञानी हैं । ज्ञान में सर्वश्रेष्ठ हैं ।

❀ ❀ ❀

पुढोवमे धुणइ विगयगेही, न सण्णिहिं कुव्वति आसपन्ने ।
तरिउं समुद्दं व महाभवोघं, अभयंकरे वीर अणंत चक्खू ॥२५॥

छाया – पृथ्व्युपमो धुनाति विगतगृद्धिः, न सन्निधिं करोत्याशुप्रज्ञः ।
तरीत्वा समुद्रमिव महा भवौघ मभयङ्करो वीरोऽनन्त चक्षुः ॥

अनुवाद – पृथ्वी जैसे समग्र प्राणियों का आधार है उसी तरह भगवान महावीर सबके आधार हैं । वे अपने अष्ठविध कर्मों का धुनन-नाश करने वाले हैं । विगत गृद्धि-आसक्ति रहित हैं । वे आशु प्रज्ञ-परम प्रखर प्रज्ञाशील हैं । क्रोध आदि के सम्पर्क से रहित हैं । समुद्र की तरह अनन्त संसार को पार कर वे मोक्षगत हैं। वे प्राणियों के लिए अभयप्रद हैं । वीर-परम पराक्रमशाली हैं और अनन्तज्ञानी हैं ।

टीका – स हि भगवान् यथा पृथिवी सकलाधारा वर्तते तथा सर्वसत्त्वानामभयप्रदानतः सदुपदेशदानाद्वा सत्त्वाधार इति, यदिवा-यथा पृथ्वी सर्वं सहा एवं भगवान् परीषहोपसर्गान् सम्यक् सहत इति, तथा 'धुनाति'

अपनयत्यष्ठप्रकारं कर्मेति शेषः, तथा-'विगता' प्रलीना सबाह्याभ्यन्तरेषु वस्तुषु 'गृद्धिः' गाद्धर्यमभिलाषो यस्य स विगतगृद्धिः, तथा सन्निधानं सन्निधिः, स च द्रव्यसन्निधिः धनधान्यहिरण्यद्विपदचतुष्पदरूपः भावसन्निधिस्तु माया क्रोधादयो वा सामान्येन कषायास्तमुभयरूपमपि संनिधिं न करोति भगवान्, तथा 'आशुप्रज्ञः' सर्वत्र सदोपयोगात् न छद्मस्थवन्मनसा पर्यालोच्य पदार्थपरिच्छित्तिं विधत्ते, स एवम्भूतः तरित्वा समुद्रमिवापारं 'महाभवौघं' चतुर्गतिक संसारसागरं बहुव्यसनाकुलं सर्वोत्तमं निर्वाणमासादितवान् पुनरपि तमेव विशिनष्टि-'अभयं' प्राणिनां प्राण् रक्षारूपं स्वतः परतश्च सदुपदेशदानात् करोतीत्यभयंकरः, तथाऽष्ट प्रकारं कर्म विशेषेणे रयति-प्रेरयतीति वीरः, तथा 'अनन्तम्' अपर्यवसानं नित्यं ज्ञेयानन्तत्वाद्वाऽनन्तं चक्षुरिव चक्षुः-केवलज्ञानं यस्य स तथेति । ।२५।। किञ्चान्यत् -

टीकार्थ – जैसे पृथ्वी सब प्राणियों का आधार है, उसी प्रकार भगवान महावीर सबके आधार है क्योंकि वे जीवों को अभय प्रदान करते हैं और सदुपदेश देते हैं । जैसे पृथ्वी सब सहन करती है, उसी प्रकार भगवान समग्र परिषहों और उपसर्गों को भलीभांति सहन करते हैं । वे अष्टविध कर्मों का अपनयन करते हैं-उन्हें अपने से दूर करते हैं । वे बाह्य-बाहरी तथा आभ्यन्तर-भीतरी वस्तुओं में आसक्ति रहित हैं ।

सन्निधान या नैकट्य को सन्निधि कहा जाता है । धन धान्य, द्विपद-दो पैरों वाले प्राणी-मनुष्य, चतुष्पद-चार पैरों वाले प्राणी-पशु, इनका सम्पर्क द्रव्य सन्निधि कहा जाता है । माया-छलना, प्रवंचना, क्रोध आदि अथवा सामान्य रूप से सब कषायों के सम्पर्क को भाव सन्निधि कहा जाता है । भगवान इन दोनों ही प्रकार की सन्निधियों को नहीं करते-इन दोनों में सम्पर्क नहीं रखते । वे आशुप्रज्ञ हैं, क्योंकि उनका ज्ञान सर्वत्र-सब जगह व्याप्त रहता है । वे छद्मस्थों-असर्वज्ञों की ज्यों मन द्वारा चिंतन कर पदार्थों का निश्चय नहीं करते । उन भगवान महावीर ने अत्यन्त दुःखपूर्ण, चार गतियुक्त संसार रूपी समुद्र को पार कर मोक्ष को-सर्वोत्तम स्थान को आत्मसात कर लिया है । उनकी विशेषताएँ बतलाते हुए कहते है भगवान प्राणियों को अभय के रूप में रक्षण देते रहे तथा सद्धर्म का उपदेश देकर उनको अभय करते रहे-निर्भीक बनाते रहे । भगवान् अष्टविध कर्मों को विशेष रूप से अपगत करते हैं-दूर करते हैं । अतः वे वीर-आत्म पराक्रमी हैं । केवल ज्ञान-सर्वज्ञत्व उनके नेत्र के समान है जिसका कोई अन्त नहीं है अर्थात् जो नित्य है, अथवा ज्ञेय पदार्थों की अनन्तता के कारण जो अनन्त हैं । इस प्रकार भगवान अनन्त चक्षु हैं ।

❀ ❀ ❀

कोहं च माणं च तहेव मायं, लोभं चउत्थं अज्झत्थदोसा ।
एआणि वंता अरहा महेसी, ण कुव्वई पाव ण कारवेइ ।।२६।।

छाया – क्रोधञ्च मानञ्च तथैव मायां, लोभञ्चतुर्थ ञ्चाध्यात्मदोषान् ।
एतान् वान्त्वाऽरहन्महर्षिर्नकरोति पापं न कारयति ॥

अनुवाद – भगवान महावीर महर्षि-महान् ऋषि, द्रष्टा हैं । वे क्रोध, अभिमान, माया और लोभ इन चार कषायों को पराभूत कर न स्वयं पाप-अशुभ कर्म करते हैं और न ओरों से वैसा कर्म कराते हैं ।

टीका – निदानोच्छेदेन हि निदानिन उच्छेदो भवतीं ति न्यायात् संसारस्थितेश्च क्रोधादयः कषायाः करणमत एतान् अध्यात्मदोषाश्चतुरोऽपि क्रोधादीन् कषायान् 'वान्त्वा' परित्यज्य असौ भगवान् 'अर्हन्' तीर्थकृत् जातः, तथा महर्षिः, एवं परमार्थतो महर्षिकत्वं भवति यद्यध्यात्मदोषा न भवन्ति, नान्यथेति, तथा न स्वतः 'पापं' सावद्यमनुष्ठानं करोति नाप्यन्यैः कारयतीति ।।२६।। किञ्चान्यत् -

टीकार्थ – न्याय शास्त्र का यह सिद्धान्त है कि कारण के नष्ट होने से कार्य नष्ट होता है। क्रोध आदि कषाय संसार की स्थिति के कारण हैं अध्यात्म दोष हैं। भगवान महावीर ने इन चारों कषायों का परित्याग कर तीर्थंकर महर्षि पद प्राप्त किया। वास्तव में कोई महर्षि तभी होता है जब ये आध्यात्मिक दोष-चार कषाय विजित हो जाते हैं। ऐसा न होने पर कोई महर्षि नहीं होता। भगवान् स्वयं सावद्य-पापयुक्त कर्म न करते हैं और न ओरों से वैसा कराते हैं।

❀ ❀ ❀

किरियाकिरियं वेणइयाणुवायं, अण्णाणियाणं पडियच्च ठाणं।
से सव्ववायं इति वेयइत्ता, उवट्ठिए संजमदीहरायं ॥२७॥

छाया – क्रियाक्रिये वैनयिकानुवाद मज्ञानिकानां प्रतीत्य स्थानम्।
स सर्ववादमिति वेदायित्वा, उपस्थितः संयमदीर्घरात्रम् ॥

अनुवाद – भगवान् क्रियावादी, अक्रियावादी, विनयवादी एवं अज्ञानवादी इत्यादि सभी मतवादियों के सिद्धान्तों को जानकर यावत् जीवन संयम के पालन में संलग्न रहे।

टीका – तथा च भगवान् क्रियावादिनामक्रियावादिनां वैनयिकानामज्ञानिकानां च 'स्थानं' पक्षमभ्युपगतमित्यर्थः, यदिवा-स्थीयतेऽस्मिन्निति स्थानं-दुर्गतिगमनादिकं 'प्रतीत्य' परिच्छिद्य सम्यगवबुध्येत्यर्थः, एतेषां च स्वरूप मुत्तरत्रन्यक्षेण व्याख्यास्यामः, लेशतस्त्विदं-क्रियैव परलोकसाधनायालमित्येवं वदितुं शीलं येषां ते क्रियावादिनः, तेवां हि दीक्षात एव क्रियारूपाया मोक्ष इत्येवमभ्युपगमः, अक्रियवादिनस्तु ज्ञानवादिनः तेषां हि यथावस्थितवस्तुपरिज्ञानादेवमोक्षः, तथा चोक्तम् -

"पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो, यत्र तत्राश्रमे रतः। शिखी मुण्डी जटी वापि, सिद्धद्यते नात्र संशयः ॥१॥"

तथा विनयादेव मोक्ष इत्येवं गोशालकमतानुसारिणो विनयेन चरन्तीति वैनयिका व्यवस्थिता तथाऽज्ञानमेवैहिकामुष्मिकायालमित्येवयज्ञानिका व्यवस्थिताः, इत्येवं रूपं तेषामभ्युपगमं परिच्छिद्यस्वतः सम्यगवगम्य सम्यगवबोधेन, तथा स एव वीरवर्धमानस्वामीं सर्वमन्य मपि बौद्धादिकं यं कञ्चन वादमपरान् सत्त्वान् यथावस्थिततत्त्वोपदेशेन 'वेदयित्वा' परिज्ञाप्योपस्थितः सम्यगुत्थानेन संयमे व्यवस्थितो न तु यथा अन्ये, तदुक्तम् -

"यथापरेषां कथका विदग्धाः, शास्त्राणि कृत्वा लघुतामुपेताः।
शिष्यैरनुज्ञामलिनोपचारैर्ववत्तृत्वदोषास्त्वयि ते न सन्ति ॥१॥"

इति 'दीर्घरात्रम्' इति यावज्जीवं संयमोत्थानेनोत्थित इति ॥२७॥ अपिच -

टीकार्थ – भगवान् महावीर ने क्रियावादी, अक्रियावादी, विनयवादी तथा अज्ञानवादी-इन मतवादियों के सिद्धान्तों को जानकर अथवा ये सभी मतवादी बुरी गति में जाते हैं, यह समझकर आजीवन संयम का पालन किया। इन मतवादियों का स्वरूप आगे विशद् रूप में बतलाया जायेगा। यहाँ अंशतः थोड़ा सा बतलाते हैं-परलोक की सिद्धि हेतु क्रिया ही पर्याप्त है जो ऐसा प्रतिपादन करते हैं उन्हें क्रियावादी कहा जाता है। इनका यह अभिमत है कि क्रिया रूप दीक्षा से ही मोक्ष प्राप्त होता है। अक्रियावादी-जो क्रियावाद में विश्वास नहीं करते। जो ज्ञानवादी हैं, उनके मतानुसार पदार्थ का यथार्थ स्वरूप जानने से ही मोक्ष प्राप्त हो जाता है। इनका कथन है कि वह पुरुष जो पच्चीस तत्वों को जान लेता है, चाहे वह किसी आश्रम में रहे, चाहे जटा रखे, चाहे सिर मुंडाये रखे, चाहे सिर पर चोटी रखे, मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इसमें जरा भी सन्देह नहीं है।

गौशालक मतवादी विनय द्वारा ही मोक्ष प्राप्त होना मानते हैं । वे विनय के साथ विचरण करते हैं, इसलिए वैनयिक कहलाते हैं । अज्ञान ही इस लोक और परलोक सिद्धि हेतु पर्याप्त है । उसी से उनकी सिद्धि हो जाती है । यह अज्ञानवादियों का सिद्धान्त है। भगवान महावीर इन सभी मतवादियों के सिद्धान्तों को भली-भांति समझकर तथा बौद्ध आदि अन्य मतों को भी जानकर एवं प्राणियों को उन सबसे अवगत कराकर संयम के सम्यक् परिपालन में निरत रहे। वे अन्य मतवादियों की तरह नहीं थे । वीतराग प्रभु का संस्तवन करते हुये एक जैनाचार्य कहते हैं-प्रभो ! अन्य मतवादियों में जो वक्तृत्व दोष हैं-बोलने में-विवेचन करने में दोष हैं वे आप में नहीं हैं । वे शास्त्रों की रचना करके भी लघुता को ही प्राप्त हुए क्योंकि वे तथा उनके शिष्य जो दूसरों को उपदेश देते हैं, स्वयं अपने सिद्धान्तों के अनुसार आचरण नहीं करते हैं । किन्तु आप जीवन भर संयम के परिपालन में निरत रहे ।

❀ ❀ ❀

से वारियाइत्थी सराइभत्तं, उवहाणवं दुक्खखयट्ठयाए ।
लोगं विदित्ता आरं परं च, सव्वं पभू वारिय सव्ववारं ॥२८॥

छाया – स वारायित्वा स्त्रियां सरात्रिभक्ता मुपधानवान् दुःखक्षयार्थम् ।
लोक विदित्वाऽऽरं परञ्च सर्वं प्रभु वारितवान् सर्ववारम् ॥

अनुवाद – भगवान महावीर ने दुःखक्षयार्थ अष्टविध कर्मों के क्षय हेतु स्त्री भोग तथा रात्रि भोजन का परित्याग कर दिया था । वे सदैव तपश्चरण में प्रवृत रहे । इस लोक और परलोक के स्वरूप को जानकर उन्होंने सब प्रकार के पापों का परिवर्जन किया ।

टीका – स भगवान् वारयित्वा-प्रतिषिध्य किं तदित्याह-'स्त्रियम्' इति स्त्रीपरिभोगं मैथुन-मित्यर्थः, सह रात्रिभक्तेन वर्तन इति सरात्रिभक्तं, उपलक्षणार्थ-त्वादस्यान्यदपि प्राणातिपातनिषेधादिकं द्रष्टव्यं, तथा उपधानं-तपस्तद्विद्यते यस्यासौ उपधानवान्-तपोनिष्टप्तदेहः, किमर्थमिति दर्शयति-दुःखयतीति दुःखम्-अष्टप्रकारं कर्म तस्य क्षयः-अपगमस्तदर्थं, किञ्च-लोकं विदित्वा 'आरम्' इहलोकाख्यं 'परं' परलोकाख्यं यदि वा-आरं-मनुष्यलोकं पारमिति-नारकादिकं स्वरूपतस्तत्प्राप्तिहेतुतश्च विदित्वा सर्वमेतत् 'प्रभु' भगवान् 'सर्ववारं' बहुशो निवारितवान्, एतदुक्तं भवति-प्राणातिपातनिषेधादिकं स्वतोऽनुष्ठाय परांश्च स्थापितवान्, न हि स्वतोऽस्थितः परांश्च स्थापयितुमलमित्यर्थः, तदुक्तम् -

"ब्रुवा णोऽपि न्याय्यं स्ववचनविरुद्धंव्यवहरन्, परान्नालं कश्चिद्दमयितुमदान्तः स्वयमिति ।
भवान्निश्चित्यैवं मनसि जगदाधाय सकलं, स्वमात्मानं तावद्दमयितुमदान्तं व्यवसितः ॥१॥"

इति, तथा-"तित्थयरो चउनाणी सुरमहिओ सिज्झियव्यधूयंमि । अणिगूहियबलविरओ सव्वत्थामेसु उज्जमइ ॥१॥ इत्यादि" ॥२८॥ साम्प्रतं सुधर्मस्वामीतीर्थकरगुणानाख्याय स्वशिष्यानाह -

टीकार्थ – भगवान महावीर ने नारी भोग तथा रात्रि भोजन का परित्याग कर दिया था । यह उपलक्षण मात्र है । इससे संकेतित है कि उन्होंने प्राणतिपात-हिंसा आदि अन्य पापों का भी परित्याग कर दिया था । उन्होंने तपश्चरण से अपने शरीर को तपा डाला । ऐसा उन्होंने क्यों किया ? इसका दिग्दर्शन कराते हुए सूत्रकार कहते हैं । जो प्राणियों को दुःख देता है उसे दुःख कहा जाता है । इसका आशय आठ प्रकार के कर्मों से है । उनका क्षय करने के लिए भगवान ने ऐसा किया । उन्होंने इस लोक और परलोक को जानकर अथवा मनुष्य लोक तथा नरक आदि के स्वरूप एवं उनके प्राप्त होने के कारणों को जानकर, तन्मूलक समग्र पापों

का सर्वथा परित्याग कर दिया था । कहने का अभिप्राय यह है कि भगवान ने स्वयं प्राणातिपात-हिंसा आदि पाप त्यागकर दूसरों को भी वैसा करने में स्थापित किया-इनके त्याग की प्रेरणा दी । जो पुरुष स्वयं धर्म में अवस्थित नहीं है, धर्म का पालन नहीं करता, वह अन्य को धर्म में स्थापित करने में सक्षम नहीं हो सकता। कहा है जो मनुष्य कहता तो न्याय संगत है किन्तु अपने कथन से विपरीत चलता है, ऐसा करने वाला स्वयं अदान्त है-अपनी इन्द्रियों का दमन नहीं कर सका है, उनका वशगामी है । वह दूसरे को इन्द्रिय जयी नहीं बना सकता । अतः हे भगवन् आप इसे जानकर समस्त जगत के स्वरूप को निश्चित कर पहले अपने आपका दमन करने में प्रवृत्त हुये । चार ज्ञान के अधिपति, देवपूज्य तीर्थंकर भगवान महावीर मोक्ष प्राप्ति हेतु अपने बलवीर्य-आत्मपराक्रम का समस्त बल का परिपूर्ण उपयोग करते हुए संयम पालन में उद्यत रहे ।

सुधर्मा स्वामी तीर्थंकर के गुणों का आख्यान कर अब अपने शिष्यों से कहते हैं ।

❀ ❀ ❀

सोच्चा य धम्मं अरहंतभासियं, समाहितं अट्ठपदोवसुद्धं ।
तं सद्दहाणा य जणा अणाऊ, इंदा व देवाहिव आगमिस्संति तिबेमि ॥२९॥

छाया – श्रुत्वा च धर्ममर्हद्भाषितं, समाहितमर्थपदोपशुद्धम् ।
तं श्रद्दधानाश्च जना अनायुष इन्द्र इव देवाधिपा आगमिष्यन्तीति ।ब्रवीमि ॥

अनुवाद – अर्हंत द्वारा प्ररूपित, समाहित-युक्ति संगत तथा शुद्ध अर्थ व पद युक्त धर्म का श्रवण कर जो जन इसमें श्रद्धा करते हैं, वे मोक्ष प्राप्त करते हैं अथवा इन्द्र की ज्यों देवाधिप-देवताओं के अधिपति या स्वामी होते हैं ।

टीका – 'सोच्चाय' इत्यिदि, श्रुत्वा च दुर्गतिधारणाद्धर्मं-श्रुत चारित्राख्यमर्हद्भिर्भाषितं-सम्यगाख्यातमर्थपदानि-युक्तयो हेतवो वा तैरुपशुद्धम्-अवदातं सद्युक्तिकं सद्धेतकुं वा यदि वा अर्थैः-अभिधेयैः पदैश्च-वाचकैः शब्दैः उप-सामीप्येन शुद्धं-निर्दोषं, तमेवम्भूतमर्हद्भिर्भाषितं धर्मंश्रद्दधानाः, तथाऽनुतिष्ठन्तो 'जना' लोका 'अनायुषः' अपगतायुः कर्माणः सन्तः सिद्धाः सायुषश्चेन्द्राद्या देवाधिपा आगमिष्यन्तीति । इति शब्दः परिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥२९॥ इति वीरस्तवाख्यं षष्ठमध्ययनं परिसमाप्तमिति ॥

टीकार्थ – जो दुर्गति में गिरने से बचाने का कारण है उसे धर्म कहा जाता है । वह श्रुत एवं चारित्र रूप है । वह अर्हंत्-तीर्थंकर द्वारा भाषित सम्यक् आख्यात है । युक्ति और हेतु से शुद्ध है, अर्थात् उत्तम समीचीन युक्ति तथा उत्तम समीचीन हेतु संगत है । वह अर्थ-अभिधेय तथा पद वाचक शब्दों की अपेक्षा से दोष रहित है, शुद्ध है । ऐसे अर्हंत भाषित धर्म में जो जीव श्रद्धा रखते हैं उसका आचरण-अनुसरण करते हैं । वे यदि आयुकर्म से रहित हो तो सिद्ध युक्त हो जाते हैं और यदि आयु सहित हो तो इन्द्र आदि के रूप में देवताओं के स्वामी होते हैं । यहाँ इति शब्द समाप्ति का द्योतक है । ब्रवीमि-बोलता हूँ यह पहले की ज्यों योजनीय है ।

वीरस्तुति नामक छठा अध्ययन समाप्त हुआ ।

卐 卐 卐

❀ ❀ ❀

सप्तकुशीलपरिज्ञाध्ययनं

पुढवी य आऊ अगणी य वाऊ, तण रुक्ख बाया य तसा य पाणा ।
जे अंडया जे य जराउ पाणा, संसेयया जे रसयाभिहाणा ॥१॥
एयाइं कायाइं पवेदितताइं, एतेसु जाणे पडिलेह सायं ।
एतेण कणए य आयदंडे, एतेसु या विप्परियासुविंति ॥२॥

छाया – पृथिवी चापश्चाग्निश्च वायुः, तृणवृक्षबीजाश्च त्रसाश्च प्राणाः ।
येऽण्डजा ये च जरायुजाः प्राणाः, संस्वेदजा ये रसजाभिधानाः ॥

छाया – एते कायाः प्रवेदिता, एतेषु जानीहि प्रत्युपेक्षस्व सातम् ।
एतैः कायै र्ये आत्मदण्डा एतेषु च विपर्य्यासमुपयान्ति ॥

अनुवाद – सर्वज्ञों ने पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, तृण, वृक्ष बीज तथा त्रस अण्डज, जरायुज, स्वेदज एवं रसज इनको जीव का शरीर कहा है । इनमें सुख की वाँछा रहती है । जो व्यक्ति इन शरीर युक्त प्राणियों का नाश कर पाप संचित करते हैं वे पुनः पुनः इन्हीं प्राणियों में जन्म प्राप्त करते हैं ।

टीका – 'पृथिवी' पृथिवीकायिकाः सत्त्वाः चकारः स्वगतभेदसंसूचनार्थः, स चायं भेदः-पृथिवी कायिकाः सूक्ष्मा बादराश्च, ते च प्रत्येकं पर्याप्तकापर्याप्तकभेदेन द्विधा, एवमप्कायिका अपि तथाऽग्निकायिका वायुकायिकाश्च द्रष्टव्याः, वनस्पतिकायिकान् भेदन् दर्शयति-'तृणानि' कुशादीनि 'वृक्षाश्च' अश्वत्थादयो 'बीजानि' शाल्यादीनि एवं वल्लीगुल्मादयोऽपि वनस्पतिभेदा द्रष्टव्याः, त्रस्यन्तीति 'त्रसा' द्वीन्द्रियादयः 'प्राणा' प्राणिनः ये चाण्डाज्जाता अण्डजाः-शकुनिसरीसृपादयः 'ये च-जरायुजा' जम्बालवेष्टिताः समुत्पद्यन्ते, ते च गोमहिष्यजाविक मनुष्यादयः, तथा संस्वेदाज्जाताः संस्वेदजा यूकामत्कुणकृम्यादयः 'ये च रसजाभिधाना' दधिसौवीरकादिषु रुतपक्ष्मसन्निभा इति ॥१॥' भगवद्भिः नानाभेदभिन्नं जीवसंघातं प्रदर्श्याधुना तदुपघाते दोषं प्रदर्शयितुमाह-'एते' पृथिव्यादयः 'काया' जीवनिकाया 'प्रवेदिताः' कथिताः, छान्दसत्वान्नपुंसकलिङ्गता, 'एतेषु' च पूर्वं प्रतिषादितेषु पृथिवीकायादिषु प्राणिषु 'सातं' सुखं जानीहि, एतदुक्तं भवति-सर्वेऽपि सत्त्वाः सातैषिणो दुःखद्विषश्चेति ज्ञात्वा 'प्रत्युपेक्षस्व' कुशाग्रीयया बुद्ध्या पर्यालोचयति, यथैभिः कायैः समारभ्यमाणैः पीड्यमानैरात्मा दण्ड्यते, एतत्समारम्भादात्मदण्डो भवतीत्यर्थः, अथवैभिरेव कायैर्ये 'आयतदण्डा' दीर्घदण्डाः, एतदुक्तं भवति-एतान् कायान् ये दीर्घकालं दण्डयन्ति-पीडयन्तीति, तेषां यद्भवति तद्दर्शयति-ते एतेष्वेव-पृथिव्यादिकायेषु विविधम्-अनेकप्रकारं परि-समन्ताद् आशु-क्षिप्रमुप-सामीप्येन यान्ति-व्रजन्ति, तेष्वेव पृथिव्यादिकायेषु विविधमनेकप्रकारं भूयो भूयः समुत्पद्यन्त इत्यर्थः, यदिवा-विपर्यासो-व्यत्ययः, सुखार्थिभिः कायसमारम्भः क्रियते तत्समारम्भेण च दुःखमेवावाप्यते न सुखामिति, यदि वा कुतीर्थिका मोक्षार्थमेतैः कायैर्यां क्रियां कुर्वन्ति तया संसार एव भवतीति ॥२॥ यथा चासावायतदण्डो मोक्षार्थी तान् कायान् समारभ्य तद्विपर्ययात् संसारमाप्नोति तथा दर्शयति-

टीकार्थ – पृथ्वी का अभिप्राय पृथ्वीकाय के जीव हैं । यहाँ चकार स्वगत भेद का सूचक है । वह भेद यह है कि पृथ्वी काय के प्राणी सूक्ष्मतया बादर व स्थूल दो प्रकार के होते हैं । उनमें से प्रत्येक के पर्याप्त

तथा अपर्याप्त दो-दो भेद हैं इसी प्रकार अपकाय, अग्निकाय तथा वायुकाय के जीव हैं, यह जानना चाहिए। वनस्पति काय के जीवों को भिन्न-भिन्न रूप में सूत्रकार बतलाते हैं । तृण-कुश आदि वृक्ष, अश्वस्त्था या पीपल आदि बीज-चांवल आदि धान्य, लता तथा झाड़ी आदि भी वनस्पति के भेद हैं यह जाने । जो त्रास पाते हैं वे द्वीइन्द्रिय आदि प्राणी एवं अण्डे से उत्पन्न पक्षी और सर्प आदि तथा जलायुज-जम्बाल जर से परिविष्ठत-जन्मने वाले गाय, भैंस, बकरी, भेड़ तथा मनुष्य आदि एवं स्वेद-पसीने से पैदा होने वाले खटमल कृमि आदि एवं दही और कांजी आदि से उत्पन्न सूक्ष्म पक्ष्मयुक्त-छोटे छोटे पंख वाले जीव-ये सब प्राणी हैं ।

जीवों के भेद दिखलाकर अब सूत्रकार उनके उपघात में-हिंसा में दोष बताने हेतु प्रतिपादित करते है । तीर्थंकरों ने इन पृथ्वीकाय आदि को जीव समूह कहा है । यहाँ छान्दस होने के कारण नपुंसक लिंग का प्रयोग है इन पृथ्वीकाय आदि जीवों में सुख की वाँछा होती है यह जानना चाहिए कहने का अभिप्राय यह है कि ये सभी प्राणी सुख चाहते है व दुःख से द्वेष करते है । यह जानकर कुशाग्र बुद्धि-तीव्र बुद्धि युक्त पुरुष ये विचार करें कि इनको उत्पीड़ित करने से अपनी आत्मा दण्डनीय होती है, अर्थात् इनकी हिंसा करने से आत्मा को दुःख भोगना पड़ता है । जो इन प्राणियों की दीर्घकाल पर्यन्त दण्ड देते है, हिंसा करते है उसके परिणामस्वरूप उनकी जो दशा होती है सूत्रकार उसका दिग्दर्शन कराते है । पूर्ववर्णित पृथ्वीकाय आदि जीवों को कष्ट देने वाले, पीड़ित करने वाले प्राणी इन पृथ्वीकाय आदि योनियों में ही पुनः पुनः जन्म प्राप्त करते है ।

प्राणी सुख पाने के लिए जीवों का आरम्भ समारंभ करते हैं । उनकी हिंसा करते हैं परन्तु उससे दुःख ही प्राप्त होता है । सुख प्राप्त नहीं होता, अथवा कुतीर्थिक मिथ्या मतवादी मोक्ष के हेतु इन प्राणियों द्वारा जो क्रिया करते हैं, इससे उनका संसार में आवागमन का चक्र बढ़ता है ।

इन प्राणियों को दण्ड देकर व्याहत्कर मोक्ष की कामना करने वाले पुरुष हिंसा के परिणामस्वरूप मोक्ष के प्रतिकूल संसार को ही प्राप्त करते हैं । सूत्रकार यह प्रकट करते हैं ।

❀ ❀ ❀

जाईपहं अणुपरिवट्टमाणे, तसथावरेहिं विणिघायमेति ।
से जाति जातिं बहुकूरकम्मे, जं कुव्वती मिज्जति तेण बाले ॥३॥

छाया – जाति पथमनुपरिवर्तनमानस्त्र–सस्थावरेषु विनिघातमेति ।
स जातिं जातिं बहुक्रूरकर्मा, यत् करोति म्रियते तेन बालः ॥

अनुवाद – एकेन्द्रिय आदि प्राणियों को जो दण्ड देता है, उनकी हिंसा करता है, वह उन्हीं एकेन्द्रिय आदि योनियों में उत्पन्न होता है, मरता है, वह त्रसों एवं स्थावरों में जन्म लेकर पैदा होकर नष्ट होता है। वह पुनः जन्म लेता हुआ क्रूरता पूर्ण कर्म करता हुआ, अपने ही कर्म से मरता हैं ।

टीका – जातीनाम्-एकेन्द्रियादीनां पन्था जातिपथः, यदिवा-जातिः-उत्पत्तिर्बधो-मरणं जातिश्च वधश्च जातिवधं तद् 'अनुपरिवर्तमानः' एकेन्द्रियादिषु पर्यटन् जन्मजरामरणानि वा बहुशोऽनुभवन् 'त्रसेषु' तेजोवायुद्वीन्द्रियादिषु 'स्थावरेषु' च पृथिव्याम्बुवनस्पतिषु समुत्पन्नः सन् कायदण्डविपाकजेन कर्मणा बहुशो 'विनिघातं' विनाशमेति-अवाप्नोति 'स' आयतदण्डोऽसुमान् 'जातिं जातिम्' उत्पत्तिमवाप्य बहूनि क्रूराणि-दारूणान्यनुष्ठानानि यस्य

स भवति बहुक्रूरकर्मा स एवम्भूतो निर्विवेकः सदसद्विवेकशून्यत्वात् बाल इव बालो यस्मामेकेन्द्रियादिकायां जातौ यत्प्राण्युपमर्दकारि कर्म कुरुते स तेनैव कर्मणा 'मीयते' म्रियते पूर्यते यदिवा 'मीङ् हिंसायां' मीयते हिंस्यते अथवा-बहु क्रूरकर्मेति चौरोऽयं पारदारिक इति वा इत्येवं तेनैव कर्मणा मीयते-परिच्छद्यत इति ॥३॥ क्व पुनरसौ तैः कर्मभिर्मीयते इति दर्शयति -

टीकार्थ – एकेन्द्रिय आदि जातियों का मार्ग-जातिपथ कहा जाता है, अथवा उत्पत्ति को जाति कहा जाता है एवं मरण को वध कहा जाता है । इन दोनों को जातिवध कहते हैं । यहाँ ज्ञातव्य है कि प्राकृत में आया हुआ 'ह' संस्कृत में थ और ध दोनों में परिवर्तित हो जाता है । अतएव यहाँ जातिपथ एवं जातिवध ये दो रूप प्रस्तुत हैं । वहाँ एकेन्द्रिय आदि जातियों में जीव परिभ्रमण करता है । बारबार जन्म और मृत्यु का अनुभव करता है । वह अग्नि, वायु तथा द्विइन्द्रिय आदि त्रस प्राणियों में एवं पृथ्वी, जल, वनस्पति आदि स्थावर प्राणियों में जन्म लेकर दण्ड-हिंसात्मक कर्म के परिणामस्वरूप बार-बार नष्ट होता है । प्राणियों के लिए अत्यन्त दण्डप्रद तथा पुनः पुनः जन्म लेकर उनके साथ अत्यन्त क्रूर निर्दयता पूर्वक कर्म करने वाला वह जीव सत् और असत् के विवेक से रहित होने के कारण बाल की ज्यों अज्ञ है । वह जिस एकेन्द्रिय आदि जाति में प्राणी विघातक कर्म करता है, उसी से वह मर जाता है, अथवा उसी कर्म के फलस्वरूप मारा जाता है, अथवा वह अत्यन्त क्रूर कर्मा पुरुष यह चोर है, पारदारिक-परस्त्रीगामी है, इत्यादि रूप में उसी कर्म के फलस्वरूप लोक में पहचाना जाता है । वह अपने कर्मों द्वारा कहाँ दुःख भोगता है ? सूत्रकार इसे प्रकट करते हुए कहते हैं ।

❀ ❀ ❀

अस्सिं चलोए अदुवा परत्था, सयग्गसो वा तह अन्नहा वा ।
संसारयावन्न परं परं ते, बंधंति वेदंति य दुन्नियाणि ॥४॥

छाया – अहिंसश्च लोकेऽथवा परस्तात्, शताग्रशो वा तथाऽन्यथावा ।
संसारमापन्नाः परं परन्ते, बध्नन्ति वेदयन्ति च दुर्नीतानि ॥

अनुवाद – कोई कर्म ऐसा है, जो करने वाले को इसी जन्म में फल देता है, तथा कोई कर्म आगे के जन्म में फल देता है । कोई कर्म एक ही जन्म में फल देता है, तो कोई सैंकड़ों जन्मों में फल देता जाता है । कोई कर्म जैसे किया जाता है उसी प्रकार फल देता है । तो कोई कर्म दूसरे प्रकार से फल देता है । अनाचारी पुरुष सदैव भवचक्र में भटकते रहते हैं । वे एक कर्म का दुःखमय फल भोगते हुए आर्त्तध्यान करते हैं जिससे और कर्म बंधते जाते हैं । यों वे अपने पापों का सदैव फल भोगते जाते हैं ।

टीका – यान्याशुकारीणि कर्माणि तान्यस्तिमन्नेव जन्मनि विपाकं ददति, अथवा परस्मिन् जन्मनि नरकादौ विपाकं ददति, एकस्मिन्नेव जन्मनि विपाकं तीव्रं ददति 'शताग्रशो वे' ति बहुषु जन्मसु, येनैव प्रकारेण तदशुभमाचरन्ति तथैवोदीर्यते तथा-'अन्यथा वेति, इदमुक्तं भवति-किञ्चित्कर्म तद्भव एव विपाकं ददाति किञ्चिच्च जन्मान्तरे, यथा-मृगपुत्रस्य दुःख विपाकाख्ये विपाक श्रुताङ्गश्रुतस्कन्धे कथितमिति, दीर्घकाल स्थितिकं त्वपरजन्मान्तरितं वेद्यते, येन प्रकारेण सकृत्तथैवानेकशो वा, यदिवाऽन्येन प्रकारेण सकृत्सहस्रसो वा शिरच्छेदादिकं हस्तपादच्छेदादिकं चानुभूयत इति, तदेवं ते कुशीला आयतदण्डाश्चतुर्गतिकसंसारमापन्ना अरहट्टघटीयन्त्रन्यायेन संसारं पर्यटन्तः 'परं परं' प्रकृष्टं प्रकृष्टं दुःखमनुभवन्ति अन्मान्तरकृतं कर्मानुभवन्तश्चैकमार्तध्यानोपहता

अपरं बध्नन्ति वेदयन्ति च, दुष्टं नीतानि दुर्नीतानि-दुष्कृतानि, न हि स्वकृतस्य कर्मणो विनाशोऽस्तीति-भावः, तदुक्तम् -

"मा होहि रे विसन्नो जीव ! तुमं विमण दुम्मणो दीणो । णहु चिंतिएण फिट्टइ तं दुक्खं जं पुरा रइयं ॥१॥

छाया- मा भव रे विषण्णो जीव ! त्वं विमना दुर्भवा दीनः। नैव चिन्तितेनस्फेटते तद्दुखं यत्पुरारचितं॥१॥

जइ पविससि पायालं अडविंव दरिं गुहं समुद्दं वा । पुव्वकयाउ न चुक्कसि अप्पाणं घायसे जइवि ॥२॥

छाया-यदि प्रविशसि पातालंअटवीं वादरीं गुहांसमुद्रंवा। पूर्वकृतान्नैव भ्रश्यसि आत्मानं घातयसि यद्यपि॥१॥

॥४॥ एवं तावदोघतः कुशीलाः प्रतिपादिताः, तदधुना पाषण्डिकानधिकृत्याह -

टीकार्थ – जो कर्म शीघ्र फलप्रद होते हैं, वे करने वाले को इसी जन्म में फल देते हैं, अथवा कई कर्म ऐसे हैं, जो दूसरे जन्म में नरक आदि में अपना फल देते हैं । कई कर्म केवल एक ही जन्म में अपने कर्मों के तीव्र विपाक स्वरूप कष्ट देते हैं, अथवा सैंकड़ों जन्मों में अपना फल देते हैं । प्राणी कोई एक अशुभ कर्म जिस प्रकार करता है, वह उसको उसी प्रकार से फल देता है, अथवा अन्य प्रकार से भी देता है । कहने का तात्पर्य है कि कोई कर्म उसी जन्म में विपाक-फल उत्पन्न करता है, तो कोई दूसरे जन्म में वैसा करता है । विपाक सूत्र के दुःखविपाक नामक श्रुत स्कन्ध में मृगापुत्र का वर्णन आया है । जो कर्म दीर्घ कालिकस्थिति लिए होता है, वह दूसरे जन्म में अपना फल देता है । जिस प्रकार वह कर्म किया गया है, वह करने वालों को उसी प्रकार एक बार में या एकाधिक बार में फल देता है, अथवा वह अन्य प्रकार से एक बार में या हजारों बार में व्यस्तक छेदन तथा हाथ पैरों का छेदन आदि के रूप में फल देता है । जो अनाचारी-कुशील प्राणी प्राणियों को बहुत दण्ड देते हैं, पीड़ित करते हैं वे चतुर्गति मय संसार में रहट की तरह बार-बार घूमते रहते हैं । जन्म मरण के चक्र में भटकते रहते हैं और प्रकृष्ट-घोरातिघोर दुःख भोगते हैं । पूर्व जन्म के एक कर्म का फल भोगते हुए जब वे आर्त्त ध्यान करते हैं तो उसके परिणाम स्वरूप अन्य कर्म बंधते जाते हैं तथा पाप कर्मों का फल भोगना होता है, इसका तात्पर्य यह है कि स्वकृत कर्म फल भोगे बिना नष्ट नहीं होते। इसलिए कहा गया है कि हे जीव ! तुम विषण्ण-विषादयुक्त, विमन, दुर्मन-उदास खिन्न तथा दीन एवं दुःखित चित्त मत बनो क्योंकि जो दुःख तुमने पहले औरों के लिए उत्पन्न किया है, वह चिन्ता करने से मिट नहीं सकता, चाहे पाताल में प्रवेश कर जाओ या किसी बीहड़ वन में चले जाओ, या पहाड़ की गुफा में छिप जाओ, अथवा आत्महत्या कर स्वयं मर जाओ तो भी पूर्व जन्म के कर्मों से तुम बच नहीं सकते । इस प्रकार सामान्य तथा कुशीलों का प्रतिपादन किया गया है । अब सूत्रकार पाखण्डियों के सम्बन्ध में बतलाते हैं ।

❀ ❀ ❀

जे मायरं वा पियरं च हिच्चा, समणव्वए अगणिं समारभिज्जा ।
अहाहु से लोए कुसील धम्मे, भूताइं जे हिंसति आयसाते ॥५॥

छाया – यो मातरं वा पितरञ्च हित्वा, श्रमणव्रतेऽग्निं समारभेत ।
अथाहुः स कुशील धर्मा भूतानि यो हिनस्त्यात्मसाते ॥

अनुवाद – जो पुरुष माता-पिता का परिहार-त्याग कर श्रमण व्रत स्वीकार कर लेते हैं, फिर अग्निकाय का आरम्भ समारम्भ करते हैं तथा अपनी सुख सुविधा के लिए प्राणियों की हिंसा करते हैं, वे कुशील धर्मा हैं, अधर्म सेवी है, सर्वज्ञों ने ऐसा कहा है ।

टीका – ये केचनाविदितपरमार्था धर्मार्थमुत्थिता मातरं पितरं च त्यक्त्वा, मातापित्रोर्दुस्त्यजत्वात् तदुपादानमन्यथा भ्रातृपुत्रादिकमपि त्यक्त्वेति द्रष्टव्यं श्रमणव्रते किल वयं समुपस्थिता इत्येवमभ्युपगभ्याग्निकायं समारभन्ते, पचनपाचनादिप्रकारेण कृतकारितानुपत्यौद्देशिकादिपरिभोगाच्चाग्निकायसमारम्भं कुर्युरित्यर्थः, अथेति, वाक्योपन्यासार्थः, 'आहु' रिति तीर्थकृद्गणधरादय एवमुक्तवन्तः यथा सोऽयं पाषण्डिको लोको गृहस्थलोको वाऽग्निकायसमारम्भात् कुशीलः-कुत्सितशीलो धर्मो यस्य स कुशीलधर्मा, अयं किम्भूत इति दर्शयति अभूवन् भवन्ति भविष्यन्तीति भूतानि-प्राणिनस्तान्यात्मसुखार्थं 'हिनस्ति' व्यापादयति, तथाहि-पञ्चाग्नितपसा निष्टप्तदेहास्तथाऽग्निहोत्रादिकया च क्रियया पाषण्डिकाः स्वर्गावाप्तिमिच्छन्तीति, तथा लौकिकाः पचनपाचनादिप्रकारेणाग्निकायं समारभमाणाः सुखमभिलषन्तीति ॥५॥ अग्निकायसमारम्भे च यथा प्राणातिपातो भवति तथा दर्शयितुमाह –

टीकार्थ – जो जीव परमार्थवेत्ता नहीं हैं, धर्माचरण में उद्यत होते हैं, माता-पिता का परित्याग कर हम श्रमण व्रत में अवस्थित हैं ऐसा स्वीकार करते हैं । किन्तु अग्निकाय का आरम्भ समारम्भ करते हैं अर्थात् पचन-पाचन आदि द्वारा कृतकारित अनुमोदित द्वारा उदिष्ट आहार का उपभोग करने हेतु अग्निकाय का आरम्भ करते हैं । वे पाखण्डी या सही माने में गृही लोग अग्निकाय का आरम्भ करने से कुशील है । यहाँ जो माता-पिता का त्याग करने का संकेत किया गया है, उसका आशय यह है कि माता-पिता को छोड़ना बड़ा कठिन है । इसलिए यहाँ उनका उल्लेख है । उनके साथ भाई पुत्र आदि को छोड़ना भी यहाँ ज्ञातव्य है । अस्तु: जिसके धर्म का स्वभाव कुत्सित है, वह कुशील कैसे है ? सूत्रकार यह दिग्दर्शन कराते हैं, जो हो चुके हैं, होते हैं एवं जो होंगे, उन्हें भूत कहा जाता है । भूत का आशय प्राणियों से है । अपने सुख के लिए जो प्राणियों की हिंसा करते हैं, वे कुशील है । पाखण्डी जन पंचाग्नि के रूप में तपश्चरण द्वारा अपनी देह को परितप्त करते हैं, तथा अग्नि में हवन आदि क्रियाओं द्वारा स्वर्ग पाने की अभिलाषा करते हैं । लौकिक सांसारिक जन स्वयं भोजन पकाना, दूसरों द्वारा पकवाना आदि के रूप में अग्निकाय का आरम्भ समारम्भ करते हुए सुख की वाञ्छा करते हैं, वे सब कुशील हैं । अग्निकाय के आरम्भ समारम्भ में जिस प्रकार प्राणियों का नाश होता है उसका दिग्दर्शन कराते हुए कहते हैं ।

❀ ❀ ❀

उज्जालयो पाण निवातएज्जा, निव्वावओ अगणि निवायवेज्जा ।
तम्हा उ मेहावि समिक्ख धम्मं, ण पंडिए अगणि समारभिज्जा ॥६॥

छाया – उज्ज्वालकः प्राणान् निपातयेत्, निर्वापकोऽग्निं निपातयेत् ।
तस्मात्तु मेधावी समीक्ष्य धर्मं न पण्डितोऽग्निं समारभेत् ॥

अनुवाद – जो पुरुष आग जलाता है, वह अग्निकाय के जीवों का तथा अन्य जीवों का घात करता है तथा जो आग बुझाता है, वह अग्निकाय के जीवों की घात करता है । अतः मेधावी-प्रज्ञाशील पुरुष अग्निकाय का आरम्भ समारम्भ न करे ।

टीका – तपनतापनप्रकाशादिहेतुं काष्ठादिसमारम्भेण योऽग्निकायं समारभते सोऽग्निकायमपरांश्च पृथिव्याद्याश्रितान् स्थावरांस्त्रसांश्च प्राणिनो निपातयेत्, त्रिभ्यो वा मनोवाक्कायेभ्य आयुर्बलेन्द्रियेभ्यो वा पातयेन्निपातयेत् (त्रिपातयेत्), तथाऽग्निकायमुदकादिना 'निर्वापयन्' विध्यापंयस्तदाश्रितान्यांश्च प्राणिनो निपातयेत्त्रिपातयेद्वा तत्रोज्ज्वालक

निर्वापकयोर्योऽग्निकायमुज्वलयति स बहूनामन्यकायानां समारम्भकः, तथा चागमः "दो भंते ! पुरिसा अन्नमन्नेण सद्धिं अगणिकायं समारंभंति तत्थ णं एगे पुरिसे अगणिकायं उज्जालेइ एगे णं पुरिसे अगणिकायं निव्ववेइ, तेसिं भंते ! पुरिसाणं कयरे पुरिसे महाकम्मतराए कयरे वा पुरिसे अप्पकम्मतराए ? गोयमा ! तत्थ णं जे से पुरिसे अगणिकायं उज्जालेइ से णं पुरिसे बहुतरागं पुढविकायं समारभति, एवं आउकायं वाउकायं वणस्सइकायं तसकायं अप्पतरागं अगणिकायं समारभइ, तत्थ णं जे से पुरिसे अगणिकायं निव्वावेइ से णं पुरिसे अप्पतरागं पुढविकायं समारभइ जाव अप्पतरागं तसकायं समारभइ जाव अप्परागं तसकायं समारभइ बहुतरागं अगणिकायं समारभइ, ते एतेणं अट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ" । अपि चोक्तम् -

"भूयाणं एसमाघाओ, हव्ववाओ ण संसओ"

छाया - भूतानामेष आघातो हव्यमानो न संशयः

इत्यादि । यस्मादेवं तस्मात् 'मेधावी' सदसद्विवेकज्ञः सश्रुतिकः समीक्ष्य धर्मं पापाङ्गीनः पण्डितोनाग्निकायं समारभते, स एव च परमार्थतः पण्डितो योऽग्निकायसमारम्भकृतात् पापान्निवर्तत इति ॥६॥ कथमग्निकायसमारम्भेणापरप्राणिवधो भवतीत्याशङ्क्याह -

टीकार्थ – अग्नि का तपने तपाने व प्रकाश करने आदि में उपभोग है, वह इनका कारण है । जो पुरुष काठ आदि डालकर आग जलाता है वह अग्निकाय के अतिरिक्त पृथ्वी आदि पर आश्रित-विद्यमान स्थावर एवं त्रस प्राणियों का हनन करता है, वह प्राणियों का मन, वचन, काय एवं आयुबल तथा इन्द्रिय बलनाश के रूप में घात करता है जो पुरुष जल आदि द्वारा अग्निकाय को बुझाता है, शांत करता है । वह अग्निकाय के जीव को तथा उनके आश्रित जीवों का विनाश करता है । जो आग जलाता है और जो आग बुझाता है, इन दोनों में जलाने वाला अग्निकाय के अतिरिक्त अन्य काय के बहुत जीवों का नाश करता है । इस सम्बन्ध में आगम में कहा है-गौतम स्वामी भगवान महावीर से प्रश्न करते हैं, भगवन् ! दो पुरुष अग्निकाय का आरम्भ समारम्भ करते हैं, एक उसे जलाता है तथा दूसरा उसे बुझाता है । इन दोनों में अधिक कर्म किसको लगता है तथा अल्पकर्म किसको लगता है, इसका समाधान देते हुए भगवान् महावीर कहते हैं कि गौतम ! जो पुरुष अग्नि को प्रज्ज्वलित करता है । वह पृथ्वीकाय, अपकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय तथा त्रसकाय का अधिक आरम्भ करता है । उनकी उपेक्षा अग्निकाय का कम आरम्भ करता है । परन्तु जो अग्नि काय को शान्त करता है या बुझाता है वह पृथ्वीकाय, अपकाय, वायुकाय वनस्पतिकाय एवं त्रस काय के जीवों का कम आरम्भ-अपेक्षाकृत न्यून हिंसा करता है । किन्तु अग्निकाय के जीव का अधिक आरम्भ-हिंसा करता है । वह वस्तुस्थिति है और भी कहा है, इसमें जरा भी संदेह नहीं कि अग्निकाय के आरम्भ से जीवों का विनाश होता है । अतः सत् असत् विवेक सम्पन्न पंडित-विज्ञजन, धर्मतत्व का चिंतन करते हुए अग्निकाय का आरम्भ समारम्भ नहीं करते । जो पाप से निवृत हैं, हटे हुए हैं उन्हें पण्डित कहा जाता है । वे ही वस्तुतः पंडित है जो अग्निकाय का समारम्भ नहीं करते । इस प्रकार पाप से निवृत रहते हैं । अग्निकाय के समारम्भ से अन्य प्राणियों का वध किस प्रकार होता है ? इसे स्पष्ट करते हुए सूत्रकार बतलाते हैं ।

❀ ❀ ❀

पुढवीवि जीवा आऊवि जीवा, पाणा य संपाइम संपयंति ।
संसेयया कट्ठसमस्सिया य, एते दहे अगणि समारभंते ॥७॥

छाया – पृथिव्यपि जीवा आपोऽपि जीवाः प्राणाश्च सम्पातिमाः सम्पतन्ति ।
संस्वेदजाः काष्ठसमाश्रिताश्चै, तान् दहेदग्निं समारभमाणः ॥

अनुवाद – जो व्यक्ति अग्नि जलाता है, वह पृथ्वी काय जो स्वयं जीव रूप है, अपकाय-पानी, संपातिम-आग में गिरकर जल जाने वाले, शलभ-पतंगे आदि स्वेदज-स्वेद या पसीने से उत्पन्न जीव तथा काठ में अवस्थित जीव-इन सबको जलाता है ।

टीका – न केवलं पृथिव्याश्रिता द्वीन्द्रियादयो जीवा यापि च पृथ्वी-मृल्लक्षणा असावपि जीवा, तथा आपश्चद्रवलक्षणा जीवास्तदाश्रिताश्च प्राणाः 'सम्पातिमाः' शलभादयस्तत्र सम्पतन्ति, तथा 'संस्वेदजाः' करीषादिष्विन्धनेषु घुणपिपीलिकाकृम्यादयः काष्ठाद्याश्रिताश्च ये ये केचन 'एतान्' स्थावरजङ्गमान् प्राणिनः स दहेत् योऽग्निकायं समारभेत, ततोऽग्निकायसमारम्भो महादोषायेति ॥७॥

टीकार्थ – पृथ्वी में आश्रित द्वीन्द्रियादि जीवों के साथ-साथ मृत् या मृत्तिका रूप पृथ्वी कायिक जीव, द्रवलक्षण-तरल जल रूप अपकायिक जीव, जल में आश्रित जीव, आग में गिरकर जल जाने वाले शलभ, पतंगे आदि जीव, संस्वेदज-कंडे आदि ईंधन में उत्पन्न घुण, चींटी, कीड़े आदि जीव तथा काठ आदि में अवस्थित जीव-इन सभी स्थावर, जंगम प्राणियों को वह जलाता है, जो अग्नि का आरंभ करता है । यों अग्निकाय का समारंभ अत्यधिक दोषोत्पादक है ।

❀ ❀ ❀

हरियाणि भूताणि विलंबगाणि, आहार देहा य पुढो सियाई ।
जे छिंदती आयसुहं पडुच्च, पागब्भि पाणे बहुणं तिवाती ॥८॥

छाया – हरितानि भूतानि विलम्बकानि, आहारदेहाय पृथक् भितानि ।
यच्छिनत्त्यात्मसुखं प्रतीत्य, प्रागल्भ्यात् प्राणानां बहुनामतिपाती ॥

अनुवाद – हरित-दूब एवं अंकुर आदि भी जीव हैं । वे वृक्षों की शाखाओं एवं पत्तों आदि में पृथक्-पृथक् निवास करते हैं । अपने सुख के लिए जो उनका छेदन-व्यापादन करता है, वह प्रगल्भता-धृष्टतापूर्वक बहुत से प्राणियों का नाश करता है ।

टीका – एवं तावदग्निकायसमारम्भकास्तापसाः तथा पाकादनिवृत्ताः शाक्यादयश्चापदिष्टाः साम्प्रतं ते चान्ये वनस्पतिसमारम्भादनिवृत्ताः परामृश्यन्ते इत्याह-'हरितानि दुर्वाङ्कुरादीन्येतान्यप्याहारादेर्वृद्धिदर्शनात् 'भूतानि' जीवाः तथा 'विलम्बकानीति' जीवाकारं यान्ति विलम्बन्ति-धारयन्ति, तथाहि-कललार्बुद्मांसपेशीगर्भप्रसव बालकुमारयुवमध्यस्थविरावस्थातो मनुष्यो भवति, एवं हरितान्यपि शाल्यादीनि जातान्यभिनवानि संजातरसानि यौवनवन्ति परिपक्वानि जीर्णानि परिशुष्का णि मृतानि तथा वृक्षा अप्यङ्कुरावस्थायां जाता इत्युपदिश्यन्ते मूलस्कन्धशाखाप्रशाखाभिर्विशेषैः परिवर्धमाना युवानः पोता इत्युपदिश्यन्त इत्यादि शेषास्वप्यवस्थास्वायोज्यं, तदेवं हरितादीन्यपि जीवाकारं विलम्बयन्ति, तत एतानि मूलस्कन्धशाखापत्रपुष्पादिषु स्थानेषु 'पृथक्' प्रत्येकं श्रितानि व्यवस्थितानि, तु मूलादिषु सर्वेष्वपि समुदितेषु एक एव जीवः एतानि च भूतानि सङ्ख्येयासङ्ख्येयानन्तभेदभिन्नानि वनस्पतिकायाश्रितान्याहारोर्थं देहोपचर्यार्थं देहक्षतसंरोहणार्थं वाऽऽत्मसुखं 'प्रतीत्य' आश्रित्य यच्छिनत्ति स 'प्रागल्भ्यात्' धाष्टर्यां वष्टम्भाद्बहनां प्राणिनामतिपाती भवति, तदतिपाताच्च निरनुक्रोशतया न धर्मो नाप्यात्मसुखमित्युक्तं भवति ॥८॥ किञ्च –

टीकार्थ – अग्निकाय का समारंभ करने वाले तापस एवं पाक-भोजन पकाने एवं पकवाने आदि से अनिवृत बौद्ध आदि परमतवादियों के सिद्धान्तों का निराकरण किया जा चुका है । अब उन अन्य मतवादियों के जो वनस्पति काय के समारंभ से निवृत्त नहीं है, सिद्धान्तों को परामृष्ट किया जाता है-समीक्षापूर्वक उनका वर्णन किया जाता है ।

दूब तथा अंकुर, हरे पदार्थ भी जीव है क्योंकि ये देखा जाता है कि आहार आदि द्वारा ये बढ़ते हैं, जीव की आकृति धारण करते हैं । कलल, अर्बूद, मांसपेशी, गर्भ, प्रसव, बाल कुमार, तरुण, मध्यस्थ तथा वृद्ध आदि मनुष्य की अवस्थाऐ होती है । इसी प्रकार हरे शाली-चांवल आदि भी जात-उत्पन्न, अभिनव-नूतन, संजातरसा-उत्पन्न रसयुक्त युवा-परिपक्व, जीर्ण-परिशुष्क एवं मृत आदि दशाओं को धारण करते हैं । वृक्ष भी जब अंकुरित होते हैं तब ये उत्पन्न हुए हैं । इस प्रकार कहा जाता है । फिर जब वे मूल, स्कन्ध, शाखा-डाली, प्रशाखा-टहनी, आदि के रूप में परिवर्द्धित होने लगते हैं, तब वे युवा अथवा पोध कहे जाते हैं । उसी प्रकार उनकी शेष अवस्थाए भी आयोजित कर लेनी चाहिए । जान लेनी चाहिए यों हरी दूब आदि भी जीवाकृति में परिणित होते हैं । वृक्षों के मूल, स्कन्ध, शाखा-पत्र, पुष्प आदि सभी स्थानों में जीव पृथक्-पृथक् रहते हैं । मूल से लेकर पत्र पर्यन्त सम्पूर्ण वृक्ष में एक ही जीव नहीं है किन्तु अनेक जीव हैं । वनस्पतिकाय में निवास करने वाले ये जीव संख्येय, असंख्येय तथा अनन्त इन तीन प्रकार के होते हैं । जो इन जीवों का आहार-खाने पीने के आदि निमित्त, शरीर की वृद्धि हेतु या शरीर में लगे घाव को मिटाने के लिए या अपने किसी भी सुख के लिए छेदन करता है या काटता है, वह धृष्टता-उद्धतता के साथ बहुत जीवों का विध्वंस करता है । निर्दयतापूर्वक इनका नाश करने से न तो धर्म ही होता है और न आत्म सुख ही ।

❀ ❀ ❀

जातिं च वुद्धिं च विणासयंते, बीयाइ अस्संजय आयदंडे ।
अहाहु से लोएँ अणज्जधम्मे, बीयाइ जे हिंसति आयसाते ॥९॥

छाया – जातिञ्च, वृद्धिञ्च विनाशयन् बीजान्यसंयत आत्मदण्डः ।
अथाहुः स लोके अनार्य्यधर्मा, बीजानि यो हिनस्त्यात्मसाते ॥

अनुवाद – जो पुरुष अपनी सुख सुविधा हेतु बीजों का-विविध अन्नों का विध्वंस करता है, वह बीज द्वारा होने वाले अंकुर, शाखा, पत्र, पुष्प, फल आदि की वृद्धि का भी ध्वंस करता है । वास्तव में वह पुरुष पाप द्वारा अपनी आत्मा को दण्ड योग्य बनाता है । तीर्थंकरों ने ऐसे पुरुष को अनार्य धर्मा बतलाया है।

टीका – 'जातिंम्' उत्पतिं तथा अङ्कुरपत्रमूलस्कन्धशाखाप्रशाखाभेदेन वृद्धिं च विनाशयन् बीजानि च तत्फलानि विनाशयन् हरितानि छिनत्तीति, 'असंयतः गृहस्थः प्रव्रजितो वा तत्कर्मकारी गृहस्थ एव स च हरितच्छेदविधाय्यात्मानं दण्डयतीत्यात्मदण्डः स हि परमार्थतः परोपघातेनात्मानमेवोपहन्ति, अथ शब्दो वाक्यालङ्कारे 'आहुः' एवमुक्तवन्तः, किमुक्तवन्त इति दर्शयति-यो हरितादिच्छेदको निरनुक्रोशः 'सः' अस्मिन् लोके 'अनार्यधर्माः' क्रूरकर्मकारी भवतीत्यर्थः, स च क एवम्भूतो यो धर्मापदेशेनात्मसुखार्थं वा बीजानि अस्य चोपलक्षणार्थत्वात् वनस्पतिकायं हिनस्ति स पाषण्डिकलोकोऽन्यो वाऽनार्यधर्मा भवतीति सम्बन्धः ॥९॥ साम्प्रतं हतिच्छेदकर्मपिपाकमाह-

टीकार्थ – जो पुरुष हरी वनस्पति का छेदन करता है-उसे काटता छाँगता है, वह उस द्वारा होने वाली अन्य वनस्पति की उत्पत्ति, अंकुर, पत्र, मूल, स्कन्ध, शाखा तथा प्रशाखा भेद से उसके संवर्द्धन का नाश

करता हुआ बीज एवं फल का विध्वंस करता है । ऐसा करने वाला सही मायने में साधु नहीं है किन्तु गृहस्थ ही है । जो साधु के रूप में प्रव्रजित-दीक्षित हैं वह भी यदि ऐसा कर्म करता है तो गृहस्थ ही है । हरी वनस्पति का छेदन भेदन करने वाला पुरुष अपनी आत्मा को दण्डित करता है । दूसरे प्राणी का विनाश कर वह वास्तव में अपनी आत्मा का ही हनन करता है । इस गाथा में अथ शब्द वाक्यालंकार के अर्थ में आया है । उस पुरुष के सम्बन्ध में तीर्थंकर आदि ने यह कहा है । क्या कहा है ? इसका स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार प्रतिपादित करते हैं कि जो निरनुकोष-दया हीन पुरुष हरी वनस्पति को काटता है वह इस लोक में अनार्य धर्मा है, क्रूर कर्मकारी है । वह कौन है यह बतलाते हुये कहते हैं कि जो पुरुष धर्म का नाम लेकर अपनी सुख सुविधा हेतु बीज का नाश करता है वह चाहे पाखण्डी हो या अन्य कोई हो, वह अनार्य धर्मा ही है। यहाँ बीज का नाश उपलक्षण है । उसका तात्पर्य वनस्पतिकाय के नाश से है । अब हरी वनस्पति के छेदन का कर्म विपाक बतलाते हुये सूत्रकार कहते हैं ।

❀ ❀ ❀

गब्भाइ मिज्जंति बुयाबुयाणा, णरा परे पंचसिहा कुमारा ।
जुवाणगा मज्झिम थेरगा य, (पाठांतरे पोरुसा य) चयंति ते आउखए पलीणा ॥१०॥

छाया – गर्भे म्रियन्ते ब्रुवन्तोऽब्रुवन्तश्च, नराः परे पञ्चशिखाः कुमाराः ।
युवानो मध्यमाः स्थविराश्च, त्यजन्ति ते आयुः क्षये प्रलीनाः ॥

अनुवाद – जो हरी वनस्पति का छेदन भेदन करते हैं, वैसे कई पुरुष अपनी माँ के गर्भ में ही नष्ट हो जाते हैं । कई स्पष्ट बोलने की अवस्था-जब साफ-साफ बोलने लगते हैं, तब मर जाते हैं । कई स्पष्ट बोलने की अवस्था आने के पहले ही मर जाते है । कई कुमार अवस्था, कई युवा अवस्था में, कई अर्धा अवस्था में-अधेड़ अवस्था में, कई वृद्धावस्था में मर जाते हैं । कहने का अर्थ यह है कि वे प्रत्येक अवस्था में मरण प्राप्त करते हैं ।

टीका – इह वनस्पतिकायोपमर्दकाः बहुषु जन्मसु गर्भादिकास्ववस्थासु कललार्बुदमांसपेशीरुपासु म्रियन्ते, तथा 'ब्रुवन्तोऽब्रुवतश्च' व्यक्तवाचोऽव्यक्तवाचश्च तथा परे नराः पञ्चशिखाः कुमाराः सन्तो म्रियन्ते, तथा युवानो मध्यमवयसः स्थविराश्च क्वचित्पाठो 'मज्झिमपोरुसा य' तत्र 'मध्यमा' मध्यमवयसः 'पोरुसा य' त्ति पुरुषाणां चरमावस्थां प्राप्ता अत्यन्तवृद्धा एवेतियावत्, तदेवं सर्वास्वप्यवस्थासु बीजादीनामुपमर्दकाः स्वायुषः क्षये प्रलीनाः सन्तो देहं त्यन्तीति, एवमपरस्थावरजङ्गमोपमर्दकारिणामप्यनियतायुष्कत्वमायो जनीयम् ॥१०॥ किञ्चान्यत् -

टीकार्थ – जो जीव वनस्पतिकाय का विनाश करते हैं वे बहुत जन्म तक कलल, अर्बुद मांस पेशी आदि गर्भावस्थाओं में ही समाप्त हो जाते हैं । कई जब वे साफ-साफ बोलने लगते हैं तब, तथा कई अन्य जब पंचशिक-पांच शिखायुक्त या घुंघराले बालों सहित कुमारावस्था में होते हैं तभी मर जाते है । कई तरुण होकर, कई बीच की आयु में, कई बूढ़े होकर मर जाते हैं । कहीं मज्झिम पुरुषाय ऐसा पाठ है उसका तात्पर्य यह है कि जो हरी वनस्पति का छेदन करता है, वह पुरुष मध्यम अवस्था में, कोई अन्तिम अवस्था में, अत्यन्त वृद्ध होकर मरता है । इस प्रकार जो हरी वनस्पति का छेदन करते हैं वे सभी अवस्थाओं में आयुष्य का क्षय होने पर देह त्याग कर जाते हैं । इसी प्रकार जो पुरुष अन्य स्थावर-स्थितिशील, तथा जंगम गतिशील प्राणियों का विनाश करते हैं उनकी आयु का भी अनिश्चित होना जोड़ लेना चाहिए, जान लेना चाहिए ।

❀ ❀ ❀

संबुज्झहा जंतवो ! माणुसत्तं, दट्ठुं भयं वालिसेणंअलंभो ।
एगंतदुक्खे जरिए व लोए, सकम्मुणा विप्परियासुवेइ ॥११॥

छाया – संबुध्यध्वं जन्तवो ! मनुष्यत्वं, दृष्ट्वा भयं वालिशेनालाभः ।
एकान्तदुःखो ज्वरित इव लोकः स्वकर्मणा विपर्य्यासमुपैति ॥

अनुवाद – प्राणी वृन्द बोध-ज्ञान प्राप्त करें । मनुष्य जन्म मिलना बहुत कठिन है । देखो नरक योनि में तथा तिर्यंच योनि में कितने कष्ट होते हैं । यह सब देखते हुए भी वालिश-विवेकशून्य जीव को बोध प्राप्त नहीं होता । ज्वर से पीड़ित पुरुष की तरह यह संसार निश्चित रूप में दुःखमय है । जीव सुख के लिए पाप करता है और उसके परिणाम स्वरूप दुःख भोगता है ।

टीका – हे ! जन्तवः प्राणिनः ! सम्बुध्यध्वं यूयं, नहि कुशीलपाषण्डिकलोक स्त्राणाय भवति, धर्मं च सुदुर्लभत्वेन सम्बुध्यध्वं, तथा चोक्तम् –

"माणुस्स खेत्तजाई कुलरूवारोग्गमाउयं बुद्धी । सवणोग्गहसद्धा संजमो य लोगंमि दुलहाइं ॥१॥"

छाया- मानुष्यंक्षेत्रं जातिः कुलंरूपमारोग्ययायुः बुद्धिः । श्रवणभवग्रहः श्रद्धा संयमश्च लोके दुर्लभानि॥१॥

तदेवमकृतधर्माणां मनुष्यत्वमतिदुर्लभमित्यवगम्य तथा जातिजरामरणरोगशोकादीनि नरकतिर्यक्षु च तीव्रदुःखतया भयं दृष्ट्वा तथा 'बालिशेन' अज्ञेन सदसद्विवेकस्यालम्भ इत्येतच्चावगम्य तथा निश्चयनयमवगम्य एकान्तदुःखोऽयं ज्वरित इवं 'लोकः' संसारिप्राणिगणः, तथा चोक्तम् –

"जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं रोगा य मरणाणिय । अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसंति पाणिणो ॥१॥"

छाया – जन्मदुःखं जरादुःखं रोगाश्च मरणं च । अहो दुःख एव संसारः यत्र क्लिश्यन्ति प्राणिणः ॥१॥

तथा –

"तण्हाइयस्स पाणं कूरो छुहियस्स भुज्जए तित्ती । दुक्खसयसंपउत्तं जरियमिव जगं कलयलेइ ॥१॥"

छाया – तृष्णार्दितस्य पानं कूरः क्षुधितस्य भुक्तौतृप्तिः । दुःखशतसम्प्रयुक्तं ज्वरितमिव जगत्कलति ॥१॥

इति, अत्र चैवम्भूते लोके अनार्यकर्मकारी स्वकर्मणा 'विपर्यासमुपैति' सुखार्थी प्राण्युपमर्दं कुर्वन् दुःखं प्राप्नोति, यदि वा मोक्षार्थी संसारं पर्यटतीति ॥११॥ उक्तः कुशीलविपाकोऽधुना तद्दर्शनान्यभिधीयन्ते-

टीकार्थ – प्राणियों तुम बोध-सम्यक् ज्ञान प्राप्त करो । कुशील, अनाचार्य, पाखण्डी मिथ्यावादी जन तुम्हें त्राण नहीं दे सकते । धर्म की प्राप्ति भी सुदुर्लभ है, इसे समझो । कहा है मनुष्य-मनुष्य योनि में जन्म, उत्तम क्षेत्र, जाति, कुल, रूप, आरोग्य-अच्छा स्वास्थ्य, आयु, बुद्धि, श्रमण-ग्रहण, श्रद्धा, संयम लोक में दुर्लभ हैं । जिन्होंने धर्म का आचरण नहीं किया उनको मनुष्य योनि में जन्म मिलना अत्यन्त कठिन है । इसे समझते हुये तथा जन्म, वृद्धावस्था, मृत्यु, रोग, शोक तथा नरक एवं त्रियंच गति में उत्पद्यमान तीव्र-दुःखों के भय को देखकर, अज्ञ-अज्ञानी जीव को सत् एवं असत् को समझने में अक्षम, समझते हुये सम्यक् बोध प्राप्त करो। यह भी समझो कि निश्चय नयानुसार समग्र संसार भय से आक्रान्त-उत्पीड़ित पुरुष की ज्यों एकान्त रूप से दुःखमय है । कहा गया है कि इस संसार में जन्म, वृद्धावस्था, रुग्णता एवं मृत्यु-ये सब दुःख ही दुःख हैं। इसलिए यह संसार दुःखरूप है । इसमें प्राणी क्लेश भोगते रहते हैं । पिपासित व्यक्ति को पानी पीने से, बुभुक्षित

को भोजन मिलने से ही तृप्ति होती है । इनके न मिलने से जैसे वे छटपटाते हैं उसी प्रकार सैकड़ों दु:खों से आपूर्ण है, ज्वर से पीड़ित की तरह तड़फड़ाता है । इस जगत में अनार्य कर्मकारी पुरुष अपने कर्म से दु:ख प्राप्त करता है । वह सुख हेतु प्राणियों का हनन करता है । परिणामस्वरूप कष्ट पाता है, मोक्ष हेतु जीव वध करता हुआ वह संसार में पर्यटन करता रहता है-भटकता रहता है ।

कुशील पुरुषों को जो कर्म विपाक-अपने द्वारा किये गये कर्मों का फल मिलता है वह बतला दिया गया है । अब उनके दर्शन-सैद्धान्तिक मन्तव्य बतलाये जा रहे हैं ।

❀ ❀ ❀

इहेग मूढा पवयंति मोक्खं, आहारसंपज्जणवज्जणेणं ।
एगे य सीओदगसेवणेणं, हुएण एगे पवयंति मोक्खं ॥१२॥

छाया – इहैके मूढा: प्रवदन्ति मोक्ष, माहारसम्पज्जनवर्जनेन ।
एके च शीतोदकसेवनेन, हुतेनैके प्रवदन्ति मोक्षम् ॥

अनुवाद – इस संसार में कई ऐसे मूढ-अज्ञानी हैं, जो यह मानते है कि भोजन में नमक खाना छोड़ देने से मोक्ष प्राप्त होता है । कई ऐसा कहते हैं कि ठण्डे पानी के सेवन से मुक्ति प्राप्त हो जाती है । कई हवन करने से मोक्ष मिलना प्रतिपादित करते हैं ।

टीका – 'इहे' ति मनुष्यलोके मोक्षगमनाधिकारे वा, एके केचन 'मूढ़ा' अज्ञानाऽऽच्छादितमतय: परैश्च मोहिता: प्रकर्षेण वदन्ति प्रवदन्ति-प्रतिपादयन्ति, किं तत् ? मोक्षं मोक्षावाप्तिं, केनेति दर्शयति-आहियत इत्याहार-ओदनादिस्तस्य सम्पद्-रसपुष्टिस्तां जनयतीत्याहारसम्पज्जननं-लवणं, तेन ह्याहारस्य रसपुष्टि: क्रियते, तस्य वर्जनं तेनाऽऽहारसम्पज्जननवर्जनेन-लवणर्जनेन मोक्षं वदन्ति, पाठान्तरं वा 'आहारसपंचयवज्जणेण' आहारेण सह लवणपञ्चकमाहारसपञ्चकं लवणपञ्चकं चेदं, तद्यथा-सैधवं सौवर्चलं विडंरौमंसामुद्रं चेति, लवणेन हि सर्व रसानामभिव्यक्तिर्भवति, तथा चोक्तम् –

''लवणाविहूणा य रसा चक्खु विहूणा य इंदियग्गामा । धम्मो दयाय रहिओ सोक्खं संतोसरहियं नो ॥१॥''

छाया - लवणविहीनाश्च रसाश्चक्षुर्विहीनाश्चेन्द्रियगामा: । धर्मोदययारहित: सौख्यं सन्तोषरहितं न ॥१॥

तथा लवणं रसानां तैलं स्नेहानां घृतं मेध्याना 'मिति, तदेवम्भूतलवणपरिवर्जनेन रसपरित्याग एव कृतो भवति, तत्त्यागाच्च मोक्षावाप्तिरित्येवं केचन मूढ़ा: प्रतिपादयन्ति, पाठान्तरं वा 'आहारओ पंचकवज्जणेणं' आहारत इति ल्यब्लोपे कर्मणि पञ्चमी आहारमाश्रित्य पञ्चकं वर्जयन्ति, तद्यथा-लसुनं पलाण्डु: करभीक्षीरं गोमांसं मद्यं चेत्येतत्पञ्चकवर्जनेन मोक्षं प्रवदन्ति, तथैके 'वारिभद्रकादयो 'भागवतविशेषा: शीतोदक सेवनेन सचित्तापूकायपरिभोगेन मोक्षं प्रवदन्ति, उपपत्तिं च ते अभिदधति-यथोदकं बाह्यमलमपनयति एवमान्तरमपि, वस्त्रादेश्च यथोदकाच्छुद्धिरूपजायते एवं बाह्यशुद्धिसामर्थ्यदर्शनावान्तरापि शुद्धिरूदकादेवेति मन्यन्ते, तथैके तापसब्राह्मणोदयो हुतेन मोक्षं प्रतिपादयन्ति, ये किल स्वर्गादिफलम नाशंस्य समिधा घृतादिभिर्हव्यविशेषैर्हुताशनं तर्पयन्ति ते मोक्षायाग्निहोत्रं जुह्वतिशेषास्त्वभ्युदयायेति, युक्तिं चात्र ते आहु: यथा ह्यग्नि: सुवर्णादीनां मलं दहत्येवं दहनसामर्थ्यदर्शनादात्मनोऽप्यान्तरं पापमिति ॥ १२॥ तेषामसम्बद्धप्रलापिनामुत्तरदानायाह –

टीकार्थ – इस मानव लोक में अथवा मोक्ष गमनाधिकार में-मोक्ष कैसे मिलता है, इस सन्दर्भ में अज्ञान से आवृत्त बुद्धि युक्त तथा औरों द्वारा मोह में संप्रवेशित मूढ-अज्ञ जन इस प्रकार कहते हैं कि नमक खाना छोड़ देने से मोक्ष प्राप्त हो जाता है । जो आहृत किया जाता है-खाया जाता है उसे आहार कहते हैं भात-पके हुए चांवल आदि को आहार कहा जाता है । जिससे आहार का रस परिपुष्ट होता है उसे आहार समपज्जन कहते हैं । उसका तात्पर्य लवण-नमक से है । क्योंकि खाद्य पदार्थों के रस का परिपोषण, संवर्द्धन उसी से होता है। कई लोग ऐसा कहते हैं कि नमक का त्याग कर देने से मोक्ष मिलता है । यहाँ आहार सपन्चवज्जणेण ऐसा पाठान्तर प्राप्त होता है । इसका आशय यह है कि भोजन के साथ पांच प्रकार के नमकों को त्याग देने से मोक्ष प्राप्त होता है । सैन्धव, सौवर्चल, विडं, रौम और सामुद्र-ये पाँच प्रकार के नमक हैं । समस्त रसों में नमक से ही उनकी अभिव्यक्ति-अनुभूति होती है । कहा गया है कि नमक रहित रस, नेत्र रहित इन्द्रिय गण, दया रहित धर्म, सन्तोष रहित सुख वास्तव में सुख नहीं है । रसों में नमक, स्निग्ध पदार्थों में तेल, मेध्य-शक्तिवर्द्धक पदार्थों में घृत सर्वोत्तम है । अतः नमक का त्याग करने से सभी रसों का परित्याग हो जाता है । और रस मात्र के त्याग से मोक्ष प्राप्त होता है, उन अज्ञजनों का ऐसा कथन है । 'आहारओ पंचकवज्जणेण यहाँ ऐसा पाठान्तर भी प्राप्त होता है, इसका अभिप्राय यह है कि पांच वस्तुओं का भोजन में परिवर्जन करने से मोक्ष प्राप्त होता है । ऐसा कतिपय अज्ञ जनों का कथन है । यहाँ आहारोपद में व्याकरण की दृष्टि से 'लयलोपेकर्माणिपञ्चमी' इस सूत्र द्वारा पञ्चमी विभक्ति हुई है । भोजन में उक्त त्याज्य पांच पदार्थ इस प्रकार है-लहसुन, प्याज, ऊँटनी का दूध, गौ मांस तथा मदिरा । इन पांचों पदार्थों का त्याग कर देने से कतिपय अज्ञानी जन मोक्ष प्राप्त होना प्रतिपादित करते हैं । वारीभद्रक आदि भागवत विशेष, शीतल उदक-सचित अपकाय-जल के परिभोग से मोक्ष प्राप्त होना निरूपित करते हैं । इस सम्बन्ध में वे अपनी उपपत्ती-युक्ति प्रस्तुत करते हैं, पानी जैसे बाहर के मैल का अपनयन करता है, उसे दूर करता है । इसी प्रकार वह भीतर के मल को भी प्रक्षालित कर देता है । कपड़े आदि की शुद्धि-स्वच्छता जल से होती है । यों जल में बाहरी मैल को प्रक्षालित करने की शक्ति विद्यमान है। इसे देखते हुये वे लोग भीतरी मल की शुद्धि-स्वच्छता जल से होती है ऐसा मानते हैं । कई तापस परम्परालु वृत्ति जन तथा ब्राह्मण आदि हवन करने से मोक्ष मिलता है, ऐसा प्रतिपादित करते हैं । वे कहते हैं जो पुरुष स्वर्ग आदि की कामना न कर समिधा, हवनीय काष्ठ तथा घृत आदि हव्य विशेष द्वारा अग्नि को तृप्त करते हैं, उनका यह अग्निहोत्र मोक्ष के लिए है । इस कर्म से उन्हें मोक्ष प्राप्त होता है । जो स्वर्ग आदि की आकांक्षा से हवन करते हैं उन्हें स्वर्ग प्राप्ति आदि के रूप में अभ्युदय-उन्नयन प्राप्त होता है । इस सम्बन्ध में वे यह युक्ति उपस्थित करते हैं । अग्नि स्वर्ण के मल को जला देती है । अतः अग्नि में मल को जलाने की शक्ति दृष्टिगोचर होती है । वह आत्मा के आन्तरिक पाप रूप मल को भी जला देती है । यह निश्चित है । इस प्रकार असम्बद्ध, असंगत, प्रलपनशील, परमतवादियों को उत्तर देने हेतु सूत्रकार प्रतिपादित करते हैं ।

❀ ❀ ❀

पाओसिणाणादिसुणत्थि मोक्खो, खारस्स लोणस्स अणासएणं ।
ते मज्जमंसं लसुणं च भोच्चा, अनत्थ वासं परिकप्पयंति ॥१३॥

छाया – प्रातः स्नानादिषु नास्ति मोक्षः, क्षारस्य लवणस्यानशनेन ।
ते मद्यमासं लशुनञ्च भुक्त्वाऽन्यत्र वासं परिकल्पयन्ति ॥

अनुवाद – प्रातःकाल स्नानादि करने से मोक्ष प्राप्त नहीं होता । कड़वे नमक का भोजन में त्याग करने से भी मोक्ष नहीं होता । अन्य मतवादी मद्य, मांस एवं लहसुन का सेवन करते हैं, जो मोक्ष के-मोक्ष धर्म के विपरीत है । ऐसा कर वे संसार में भटकते हैं ।

टीका – प्रातः स्नानादिषु नास्ति मोक्ष 'इति प्रत्यूषजलावगाहनेन निःशीलानां मोक्षो न भवति, आदि ग्रहणात् हस्तपादादिप्रक्षालनं ग्रह्यते, तथाहि-उदकपरिभोगेने तदाश्रितजीवानामुपमर्दः समुपजायते, न च जीवोपमर्दान्मोक्षावाप्तिरिति, न चै कान्तेनोदकं बाह्यमलस्याप्यपनयने समर्थम्, आथापि स्यात्तथा प्यान्तरं मलं न शोधयति, भावशुद्धया तच्छुद्धेः, अथ भावरहितस्यापि तच्छुद्धिः स्यात् ततो मत्स्यबन्धादीनामपि जलाभिषेकेण मुक्त्यवाप्तिः स्यात्, तथा ''क्षारस्य'' पञ्चप्रकारस्यापि लवणस्य 'अनशनेन' अपरिभोगेन मोक्षो नास्ति, तथाहि-लवणपरिभोग रहितानां मोक्षो भवतीत्ययुक्तिकमेतत् न चायमेकान्तो लवणमेव रसपुष्टिजनकमिति, क्षीरशर्करादिभिर्व्यभिचारात्, अपिचासौ प्रष्टव्यः-किं द्रव्यतो लवणवर्जनेन मोक्षावाप्तिः उत भावतः ?, यदिद्रव्यतस्ततो लवणरहित देशे सर्वेषां मोक्षः स्यात्, न चैवं दृष्टमिष्टं वा, अथ भावतस्ततो भाव एव प्रधानं किं लवणवर्जनेनेति, तथा 'ते' मूढा मद्यमांसं लशुनादिकं च भुक्त्वा 'अन्यत्र' मोक्षादन्यत्र संसारे वासम्-अवस्थानंतथाविद्यानुष्ठानसद्भावात् सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूपमोक्षमार्गस्यानुष्ठानाच्च 'परिकल्पयन्ति' समन्तान्निष्पादयन्तीति ॥१३॥ साम्प्रतं विशेषेण परिजिहीर्षुराह -

टीकार्थ – जो पुरुष निःशील-शीलवर्जित हैं, उन्हें प्रातःकाल स्नान आदि करने से मोक्ष प्राप्त नहीं होता । आदि शब्द के प्रयोग से हस्तपादादि प्रक्षालन-हाथ पैर आदि धोने का भी यहाँ ग्रहण है । जल का उपयोग करने से जलगत जीवों का उपदर्मन-हनन होता है, उससे मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता । जल एकांत रूप में-निश्चित रूप में बाहरी मैल को भी दूर करने में सक्षम नहीं होता । वह कथंचित् ऐसा होता है, फिर वह आभ्यन्तर मल के अपनयन में-दूर करने में समर्थ कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता, आन्तरिक शुद्धि भावों की शुद्धि से होती है । यदि भाव रहित प्राणी की भी जल द्वारा आन्तरिक शुद्धि हो तो मछलियों की हिंसा कर आजीविका चलाने वाले मल्लाह आदि की भी पानी में नहाने से मुक्ति होनी चाहिए । पांच प्रकार का नमक छोड़ने से भी मुक्ति नहीं मिल सकती । भोजन में नमक न लेने से मुक्ति मिल जाती है । यह कथन अयुक्तियुक्त है, नमक ही एकमात्र रसत्व का पोषक है, यह भी एकान्त रूप में सत्य नहीं है क्योंकि क्षीर-दूध, शर्करा-चीनी आदि भी इस पुष्टि के जनक हैं, अपने आप में रसत्व के परिपोषक हैं ।

उपर्युक्त मतवादी से यह प्रश्न किया जाना चाहिए कि द्रव्य से नमक का त्याग करने से मुक्ति प्राप्त होती है या भाव से । यदि द्रव्य से कहते हो तो जिस प्रदेश में नमक उत्पन्न नहीं होता, वहाँ निवास करने वाले सभी लोगों को सहज ही मुक्ति प्राप्त हो जानी चाहिए । ऐसा नहीं देखा जाता । न यह इष्ट-अभिप्सित या उपयुक्त ही है । यदि भाव से कहते हो तब तो फिर भाव की ही प्रधानता है । नमक का त्याग करने की क्या आवश्यकता है । वे अज्ञ जन मदिरा, मांस, लहसून, आदि का सेवन करते हुए संसार में निवास करते हैं, भटकते है, मोक्ष नहीं पाते, क्योंकि उनके अनुष्ठान-कार्य कलाप संसार में वास करने के ही योग्य हैं । वे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूप मोक्ष मार्ग का अनुसरण नहीं करते हैं । अतः वे मोक्ष से अन्यत्र संसार में ही वास करते हैं ।

अब सूत्रकार उक्त सिद्धान्तों का विशेष रूप से निराकरण-खण्डन करने के अभिप्राय से कहते हैं ।

❀ ❀ ❀

उदगेण जे सिद्धिमुदाहरंति, सायं च पायं उदगं फुसंता ।
उदगस्स फासेण सिया य सिद्धी, सिज्झिंसु पाणा बहवे दगंसि ॥१४॥

छाया – उदकेन ये सिद्धि मुदाहरन्ति, सायञ्च प्रातरुदकं स्पृशन्तः ।
उदकस्य स्पर्शेन स्याच्च सिद्धिः, सिध्येयुः प्राणाः बहव उदके ॥

अनुवाद – कई ऐसा बतलाते हैं कि प्रातः सायं जल स्पर्श करने से मुक्ति प्राप्त होती है, वे मिथ्यावादी हैं । यदि जल स्पर्श या पानी छूने से ही मोक्ष प्राप्त होता हो तो पानी में रहने वाले बहुत से प्राणियों को भी सिद्धि-मुक्ति प्राप्त होनी चाहिए ।

टीका – तथा ये केचन मूढा 'उदकेन' शीतवारिणा'' सिद्धिं' परलोकम् 'उदाहरन्ति' प्रतिपादयन्ति 'सायम्' अपराह्णे विकाले वा 'प्रातश्च' प्रत्युषसि च आद्यन्तग्रहणात् मध्यान्हे च तदेवं सन्ध्यात्रयेऽप्युदकं स्पृशन्तः स्नानादिकां क्रियां जलेन कुर्वन्तः प्राणिनो विशिष्टां गतिमाप्नुवन्तीति केचनोदाहरन्ति, एतच्चासम्यक् यतो यद्युदकस्पर्शमात्रेण सिद्धिः स्यात् तत उदकसमाश्रिता मत्स्यबन्धादयः क्रूरकर्माणो निरनुक्रोशा बहवः प्राणिनः सिद्धचेयुरिति, यदपि तैरुच्यते-बाह्यमलापनयनसामर्थ्यमुदकस्य दृष्टमिति तदपि विचार्यमाणं न चटते, यतो यथोदकमनिष्टमलमपनयत्येव-मभिमतमध्यङ्गरागं कुङ्कुमादिकमपनयति, ततश्च पुण्यस्यापनयनादिष्ट विघातकृद्विरुद्धः स्यात्, किञ्च-यतीनां ब्रह्मचारिणामुदकस्नानं दर्पायैव, तथा चोक्तम् -

''स्नानं मददर्पकरं, कामाङ्गं प्रथमं स्मृतम् । तस्मात्कामं परित्यज्य, न ते स्नान्ति दमे रताः ॥१॥''

अपिच-नोदकक्लिन्नगात्रो हि, स्नात इत्यभिधीयते । स स्नातो यो व्रतस्नातः, स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः॥१॥'' ॥१४॥ किञ्च -

टीकार्थ – जो कई मूढ-अज्ञानी ठण्डे जल से नहाना आदि द्वारा मुक्ति होना बतलाते हैं वे कहते है कि अपराह्न में तीसरे पहर अथवा विकाल में-संध्या के समय प्रातःकाल एवं ग्रहण के आदि-प्रारम्भ, अन्त-अवसान के बीच के समय में तथा तीनों संध्याओं में ठंडे पानी से स्नानादि करने वाले प्राणी विशिष्ट गति-मुक्ति प्राप्त करते हैं उनका ऐसा कहना असम्यक्-मिथ्या है । यदि जल को छूने मात्र से मुक्ति प्राप्त हो तो जल के आश्रय में रहने वाले मत्स्य बंध-मत्स्यजीवि, क्रूर कर्मा-निष्करुण मल्लाह आदि मोक्ष को प्राप्त कर लेते वे जो यह कहते हैं कि बाहरी मल का अपनयन करने का जल में सामर्थ्य है, वह भी चिन्तन करने पर सही प्रतीत नहीं होता, क्योंकि जल जैसे अनिष्ट-अप्रिय बुरे मल का प्रक्षालन करता है उसी प्रकार वह मनोनुकूल अंगराग-चंदन आदि तथा कुंकुम आदि को-प्रक्षालित कर डालता है । अतः जल द्वारा पाप की तरह पुण्यों का भी अपनयन-प्रक्षालन होता है । जो इष्ट अभिप्सित का विधातक-विरोधी है, अतएव वह अहितकर है । ब्रह्मचारी साधु को वास्तव में पानी में स्नान करने से दोष लगता है, इसलिए कहा गया है-स्नान, मद-अहंकार तथा दर्प-गर्व पैदा करता है, वह कामोद्दीपन का मुख्य हेतु है । अतएव जो पुरुष इन्द्रियों के दमन में अनिरत हैं, वे काम वासना से दूर रहते हुए स्नान नहीं करते । यह भी कहा है कि जो पुरुष पानी से क्लिन्नगात्र-आर्द्रशरीर युक्त है, वह वास्तव में स्नात-स्नान किया हुआ नहीं कहा जा सकता, किन्तु जो पुरुष व्रतस्नात-व्रतों के जल से नहाया हुआ है वह ही वास्तव में स्नात कहा जाता है, क्योंकि वह बाह्य और आभ्यन्तर दोनों ही प्रकार से शुद्ध है ।

❀ ❀ ❀

मच्छा य कुम्मा य सिरांसिवा य, मग्गू य उट्ठा (ट्ट) दगरक्खसा य ।
अट्ठाणमेयं कुसला वयंति, उदगेण जे सिद्धिमुदाहरंति ॥१५॥

छाया – मत्स्याश्च कूर्माश्च सरीसृपाश्च, मद्गवश्चोष्ट्रा उदकराक्षसाश्च ।
अस्थान मेतत्कुशला वदन्त्युदकेन ये सिद्धि मुदाहरन्ति ॥

अनुवाद – यदि पानी को छूने से ही मुक्ति प्राप्त हो तो मछलियां कछवे, सरीसृप तथा रेंगने वाले अन्य जन्तु तथा जल में रहने वाले दूसरे विशालकाय जीव सबसे पहले मुक्त हो जाते, परन्तु ऐसा नहीं होता। इसलिए जो जल के स्पर्श से मोक्ष होने का प्रतिपादन करते हैं, वह युक्ति संगत नहीं है। कुशल-तत्वज्ञ पुरुष ऐसा कहते हैं ।

टीका – यदि जलसम्पर्कात्सिद्धिः स्यात् ततो ये सततमुदकावगाहिनोमत्स्याश्च कूर्माश्च सरीसृपाश्च तथा मद्गवः तथोष्ट्रा-जलचरविशेषाः तथोदकराक्षसा जलमानुषाकृतयो जलचरविशेषा एते प्रथमं सिद्धचेयुः, न चैतद्दृष्टमिष्टं वा ततश्च ये उदकेन सिद्धिमुदाहरन्त्येतद् 'अवस्थानम्' अयुक्तम्-असाम्प्रतं 'कुशलाः' निपुणा मोक्षमार्गाभिज्ञा वदन्ति ॥१५॥ किञ्चान्यत् -

टीकार्थ – यदि जल के सम्पर्क या संस्पर्श से मोक्ष की प्राप्ति हो तो जो निरन्तर जल में डुबकी लगाते रहते हैं, उन मछलियों, कछवों, सरिसृपों, मद्गुवो तथा जलोष्ट्रों, जलराक्षसों-मनुष्य की आकृति के विशाल जलचर जीवों को सबसे पहले मोक्ष मिलना चाहिए, किन्तु ऐसा दृष्टिगोचर नहीं होता और न यह इष्ट ही है । अतः जो जल के स्पर्श से मुक्ति मिलना प्रतिपादित करते हैं, उनका मन्तव्य अयुक्ति युक्त है, मोक्ष मार्ग वेत्ता ज्ञानी पुरुष यह बतलाते हैं ।

❀ ❀ ❀

उदयं जइ कम्ममलं हरेज्जा, एवं सुहं इच्छामित्तमेव ।
अंधं व णेयारमणुस्सरित्ता, पाणाणि चेवं विणिहंति मंदा ॥१६॥

छाया – उदकं यदि कर्ममलं हरेदेवं शुभ मिच्छामात्र मेव ।
अन्धञ्च नेतार मनुसृत्य प्राणिनश्चैवं विनिघ्नन्ति मन्दाः ॥

अनुवाद – जल यदि कर्मफल-पाप का हरण करता है तो वह पुण्य कर्माणुओं का भी क्यों नहीं हरण करेगा । जल के छूने से मुक्ति मानना इच्छामात्र-केवल मन गढंत है । मंद-बुद्धि हीन पुरुष, ज्ञान शून्य नेता-मार्गदर्शक का अनुसरण करते हुए जल स्नान आदि द्वारा प्राणियों की हिंसा करते हैं ।

टीका – यद्यदुकं कर्ममलमपहरेदेवं शुभमपि पुण्यमपहरेत्, अथ पुण्यं नापहरेदेवं कर्ममलमपि नापहरेत्, अत इच्छामात्र मेवैतद्यदुच्यते-जलं कर्मापहारीति, एवमपि व्यस्थिते ये स्नानादिकाः क्रियाः स्मार्तमार्गमनुसरन्तः कुर्वन्ति व्यते यथा जात्यन्धा अपरं जात्यन्धमेव नेतारमनुसृत्य गच्छन्तः कुपथश्रिताः भवन्ति नाभिप्रेतं स्थानमबाप्नुवन्ति एवं स्मार्तमार्गानुसारिणो जलशौचपरायणा 'मन्दा' अज्ञाः कर्तव्याकर्तव्यविवेकविकलाः प्राणिन एव तन्मयान् तदाश्रितंश्च पूतरकादिन् 'विनिघ्नन्ति', व्यापादयन्ति अवश्यं जलक्रियया प्राणव्यपरोपणस्य सम्भवादिति ॥१६॥ अपिच -

टीकार्थ – यदि पानी कर्ममल-कर्मों के मैल को मिटा दे तो वह पुण्य कर्माणुओं का भी हरण करेगा। यदि वह पुण्य को नहीं मिटायेगा तो वह पाप कर्मों को भी नहीं मिटायेगा । अतः पानी कर्म का हरण करता हैं, मिटाता है, यह कथन वक्ता की केवल अपनी इच्छा है । वास्तव में पानी में स्नान करने से कर्मों का मल दूर नहीं होता । यह सुनिश्चित है । ऐसा होते हुए भी स्मार्त मार्ग का अनुसरण करने वाले जो पुरुष वैसा करते है एक जन्मांध-जन्म से अंधा, दूसरे जन्मांध का अनुसरण करता हुआ कुमार्ग में-विपरीत पथ में चला जाता है, अपने अभिप्सित स्थान में नहीं पहुंचता, उसी तरह जल शौचपरायण-जल द्वारा शुद्धि में विश्वास करने वाले-स्मार्त मार्ग का अनुसरण करने वाले अज्ञ, कर्त्तव्य अकर्त्तव्य के विवेक से रहित प्राणी जल स्नान द्वारा जल काय के जीवों का तथा तदाश्रित जीवों का व्यापादन-हनन करते हैं । वे जल क्रिया प्राण व्यपरोपण-प्राणनाश की संभावना से अवश्य ही हिंसक हैं ।

❀ ❀ ❀

पावाइं कम्माइं पकुव्वतो हि, सिओदगं तू जइ तं हरिज्जा ।
सिज्झिंसु एगे दगसत्तघाती, मुसं वयंते जल सिद्धिमाहु ॥१७॥

छाया – पापानि कर्माणि प्रकुर्वतोहि, शीतोदकन्तु यदि तद्धरेत ।
सिद्धयेयुरेके दकसत्त्वधातिनो, मृषा वदन्तो जलसिद्धि माहुः ॥

अनुवाद – पापकर्म करने वाले पापी का यदि जल पाप मिटा दे तो जल के जीवों का हनन करने वाले मछुए भी मोक्ष प्राप्त कर लें । अतः जो जल से मुक्ति होना बतलाते हैं, वे मिथ्याभाषी हैं ।

टीका – 'पापानि' पापोपादानभूतानि 'कर्माणि' प्राण्युपमर्दकारीणि कुर्वतोऽसुमतो यत्कर्मोपचीयते तत्कर्म यद्युदकमपहरेत् यद्येवं स्यात् तर्हि हिः यस्मादर्थे यस्मात्प्राण्युपमर्देन कर्मोपादीयते जलवगाहनाच्चापगच्छति तस्मादुदकसत्त्वघातिनः पापभूयिष्ठा अप्येवं सिद्धयेयुः न चैतद्दुष्टमिष्टं वा, तस्माद्ये जलावगाहनात्सिद्धिमाहुः ते मृषा वदन्ति ॥१७॥ किञ्चान्यत् -

टीकार्थ – जीव हिंसा आदि से पाप उत्पन्न होता है । वह अवश्य होता है । जीव हिंसादि करने वाले प्राणी के जो पाप कर्म का उपचय-संचय होता है, यदि जल उसका हरण कर ले, यदि ऐसा होता तो प्राणियों के व्यापादन से पाप होता है, तथा जल में अवगाहन करने से वह मिट जाता है, तो यह तथ्य सिद्ध होता है कि ऐसी स्थिति में जलचर प्राणियों का घात करने वाले पाप भूयिष्ठ-अत्यधिक पापी मछुए आदि भी मोक्ष प्राप्त कर लेते । पर ऐसा दृष्टिगोचर नहीं होता । यह इष्ट-अभिप्सित या उपयुक्त भी नहीं है । अतः जो जल में अवगाहन करने से मोक्ष प्राप्त होना प्रतिपादित करते है वे मृषावादी हैं ।

❀ ❀ ❀

हुतेण जे सिद्धि मुदाहरंति, सायं च पायं अगणिं फुसंता ।
एवं सिया सिद्धि हवेज्ज तम्हा, अगणिं फुसंताण कुकम्मिणंपि ॥१८॥

छाया – हुतेन ये सिद्धि मुदाहरन्ति, सायञ्च प्रातरग्निं स्पृशन्तः ।
एवं स्यात् सिद्धिर्भवेत्तस्मादग्निं स्पृशतां कुकर्मिणामपि ॥

अनुवाद – प्रातः काल तथा सायं काल अग्नि का संस्पर्श करते हुए-अग्नि में होम आदि करने से जो मोक्ष प्राप्त होना बतलाते हैं, वे मिथ्यावादी हैं । यदि इस प्रकार मोक्ष प्राप्त हो जाय तो अग्नि का संस्पर्श करने वाले कुत्सित कर्मा जनों को भी वह प्राप्त होना चाहिए ।

टीका – 'अग्निहोत्रं' जुहुयात् स्वर्गकाम 'इत्यस्माद्वाक्यात्' 'ये' केचन मूढा 'हुतेन' अग्नौ हव्यप्रक्षेपेण 'सिद्धिं' सुगतिगमनादिकां स्वर्गावाप्तिलक्षणाम् 'उदाहरन्ति' प्रतिपादयन्ति, कथम्भूताः ? – 'सायम्' अपराह्णे विकाले वा 'प्रातश्च प्रत्युषसि अग्नि 'स्पशन्तः' यथेष्टैर्हव्यैरग्निं तर्प्पयन्तस्तत एव यथेष्टगतिमभिलषन्ति, आहुश्चैव ते यथा-अग्निकार्यात्स्यादेव सिद्धिरिति, तत्र च यद्येवमग्निस्पर्शेन सिद्धिर्भवेत् ततस्तस्मादग्निं संस्पृशतां 'कुकर्मिणाम्' अङ्गारदाहककुम्भकारायस्कारादीनां सिद्धिः स्यात्, यदपि च मन्त्रपूतादिकं तैरूदाहियते तदपि च निरन्तरा सुहृदः प्रत्येष्यन्ति, यतः कुकर्मिणामप्यग्निकार्ये भस्मापादनमग्निहोत्रिकादीनामपि भस्मसात्कारण मिति नातिरिच्यते कुकर्मिभ्योऽग्निहोत्रादिकं कर्मेति यदप्युच्यते-अग्निमुखा वै देवाः, एतदपि युक्तिविकलत्यावत् वाङ्मात्रमेव, विष्ठादिभक्षणेन चाग्नेस्तेषां बहुतर दोषोत्पत्तेरिति ॥१८॥ उक्तानि पृथक् कुशीलदर्शनानि, अयम परस्तेषां सामान्योपालम्भ इत्याह-

टीकार्थ – जो पुरुष स्वर्ग की कामना करे उसे अग्निहोत्र-अग्नि में हवन करना चाहिए । इस वाक्य के आधार पर कई मूढ-अज्ञानी पुरुष यह बतलाते हैं कि अग्नि में हवन करने से स्वर्ग प्राप्ति के रूप में उत्तम गति सिद्ध होती है, प्राप्त होती है, वह कैसे हैं ? इसे स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि अपराह्न-तीसरे पहर अथवा सांयकाल तथा प्रातःकाल यथेष्ठ हव्य-हवनीय सामग्री द्वारा अग्नि को परितृप्त करते हुए वे अपने उस कर्म से अभिष्ट गति की कामना करते हैं । वे कहते हैं कि अग्नि कार्य-हवन करने से अवश्य सिद्धि होती है, परन्तु यदि अग्नि के स्पर्श मात्र से मुक्ति प्राप्त हो तो अग्नि जलाकर कोयला आदि तैयार कर आजीविका चलाने वाले, तथा मिट्टी के बर्तन पकाने वाले कुम्भकार-कुम्हार तथा लोहे का काम करने वाले लुहार आदि निम्न कर्म करने वालों को भी सिद्धि-मुक्ति प्राप्त होनी चाहिए । अग्नि स्पर्श से जो सिद्धि मानते हैं वे मंत्र से पवित्र अग्नि के स्पर्श से सिद्धि होती है ऐसा वर्णन करते हैं । इसे उनके निरन्तरसुहृद-मूढमित्र ही स्वीकार कर सकते हैं क्योंकि कुत्सित कर्मा जनों द्वारा अपने में डाली हुई वस्तु को अग्नि जैसे भस्म कर डालती है, उसी प्रकार अग्नि में हवन करने वाले पुरुष द्वारा डाली गई वस्तु को भी वह भस्म करती है । अतः कुत्सित कर्मा एवं अग्निहोत्री के अग्नि संबद्ध कार्य में एक दूसरे से परस्पर कोई विशेषता नहीं है । इसलिए यह कथन मात्र है । अग्नि तो विष्ठा को भी भस्म कर देती है । अतः उपर्युक्त सिद्धान्त को मानने से अनेक दोष उत्पन्न होते हैं । कुशीलों के दर्शनों का भिन्न-भिन्न वर्णन किया गया है । अब उनका सामान्य रूप में विवेचन करते हुए सूत्रकार कहते हैं ।

❀ ❀ ❀

अपरिक्ख दिट्ठं ण हु (एव) सिद्धी, एहिंति ते घायमबुज्झमाणा ।
भूएहिं जाणं पडिलेह सातं, विज्जं गहायं तसथावरेहिं ॥१९॥

छाया – अपरीक्ष्य दृष्टं नैवैवं सिद्धि रेष्यन्ति ते घातमबुध्यमानाः ।
भूतैर्जानीहि प्रत्युपेक्ष्य सातं, विद्यां गृहीत्वा त्रसस्थावरैः ॥

अनुवाद – जो पुरुष अग्नि में हवन करने से या जल में अवगाहन-स्नान आदि से सिद्धि प्राप्त होना प्रतिपादित करते हैं वे अपरीक्षदर्शी हैं । परीक्षा, विश्लेषण आदि किये बिना देखने वाले हैं । वास्तविकता यह

है कि इन कर्मों से सिद्धि प्राप्त नहीं होती । इसलिए जिनके ये सिद्धान्त हैं वे अज्ञानी हैं, इन कर्मों द्वारा वे *भव भ्रमण प्राप्त करेंगे । अतः यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर पुरुष त्रस-गतिशील, स्थावर-स्थितिशील प्राणियों की अपने* सुख के लिए हिंसा न करे ।

टीका – यैर्मुमुक्षुभिरूदकसम्पर्केणाग्निहोत्रेण वा सिद्धिरभिहिता वैः 'अपरीक्ष्य दृष्टमेतत्' युक्तिविकलमभिहितमेतत्, किमिति ? यतो 'नहु' नैव 'एवम्' अनेन प्रकारेण जलावगाहनेन अग्निहोत्रेण वा प्राण्युमर्दकारिणा सिद्धिरिति ते च परमार्थमबुद्धयमानाः प्राण्युपघातेन पापमेव धर्मबुद्धया कुर्वन्तो घात्यन्ते-व्यापाद्यन्ते नानाविधैः प्रकारैर्यस्मिन् प्राणिनः स घातः-संसारस्तमेष्यन्ति, अप्कायतेजःकायसमारम्भेण हि त्रसस्थावराणां प्राणिनामवश्यं भावी विनाशस्तद्विनाशे च संसार एव न सिद्धिरित्यभिप्रायः, यत एवं ततो 'विद्वान्' सदसद्विवेकी यथावस्थित तत्त्वं गृहीत्वा त्रस स्थावरैर्भूतैः-जन्तुभिः कथं साम्प्रतं-सुख मवाप्यत इत्येतत् प्रत्युपेक्ष्य जानीहि-अवबुद्धयस्व, एतदुक्तं भवति-सर्वेऽप्यसुमन्तः सुखैषिणो दुःखद्विषो न च तेषां सुखैषिणां दुःखोत्पादकत्वेन सुखावाप्तिर्भवतीति, यदि वा-'विज्जं गहाय' त्ति विद्यां ज्ञानं गृहीत्वा विवेकमुपादाय त्रसस्थावरैर्भूतैजन्तुभिः करणभूतैः 'सातं' सुखं 'प्रत्युपेक्ष्य' पर्यालोच्य 'जानीहि' अवगच्छेति, यत उक्तम् –

"पढमं नाणं तओ दया, एवं चिट्ठइ सव्व संजए । अन्नाणि किं काही, किं वा णाही हेय पावगं ॥१॥

छाया- प्रथमं ज्ञानं ततो दया एवं तिष्ठति सर्वसंयतेषु । अज्ञानि किं करिष्यति किं वा ज्ञास्यति छेकपापकं॥

इत्यादि ॥१९॥ ये पुनः प्राण्युपमर्देन सातमभिलषन्तीत्यशीलाः कुशीलाश्च ते संसारे एवं विधा अवस्था अनुभवन्तीत्याह –

टीकार्थ – मोक्ष की अभिलाषा रखते हुए भी जो लोग जल में अवगाहन स्नान आदि तथा अग्नि में हवन आदि द्वारा सिद्धि प्राप्त होना बतलाते हैं, वे यह ध्यान नहीं देते कि उनका यह अभिमत कितना युक्ति रहित है, क्योंकि जल में अवगाहन और अग्नि में हवन करने से जीवों का घात होता है । इस जीव हिंसा परक क्रिया से मोक्ष प्राप्त होना संभावित नहीं है । वास्तव में वे वस्तु तत्व के परिज्ञाता नहीं हैं अतएव वे धर्म मानकर प्राणियों की हिंसा करते हैं, पाप करते हैं । ऐसे पापकर्म के सेवन के परिणाम स्वरूप वे घात को ही प्राप्त होते हैं, जिसमें प्राणि भिन्न-भिन्न प्रकार से हतप्रतिहत किये जाते हैं, उसे घातक कहते हैं । यहाँ यह घात शब्द संसार का द्योतक है । उपर्युक्त सिद्धान्तों को मानने वाले वे घात-संसार में वास करेंगे, पर्यटन करेंगे, मोक्ष नहीं पायेंगे क्योंकि अपकाय तथा अग्निकाय के आरम्भ समारम्भ से त्रस तथा स्थावर प्राणियों का निश्चय ही ध्वंस होता है, और उनके परिणाम स्वरूप संसार-भव भ्रमण ही प्राप्त होता है । मुक्ति प्राप्त नहीं होती । अतएव सत् एवं असत् के परिज्ञाता विवेकशील विद्वान पुरुष को यही चिन्तन करना चाहिए कि जंगम एवं स्थावर प्राणियों के हनन-हिंसा से जीव को सुख कैसे हो सकता है । कहने का अभिप्राय यह है कि संसार में सभी जीव सुख की अभिप्सा करते हैं तथा दुःख को द्वेष्य-अप्रिय, अवाञ्छनीय मानते हैं, सुखाभिलाषी प्राणियों को दुःख, पीड़ा देने से सुख कभी भी प्राप्त नहीं हो सकता । अतएव कहा है पहले विद्या-यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर, विवेकशील बन, पुरुष को यह जानना चाहिए । त्रस एवं स्थावर प्राणियों को सुख देने से ही सुख प्राप्त होता है । इनका स्वरूप समझकर इनको त्राण देने से ही-रक्षा करने से ही सुख मिलता है । अतएव शास्त्र में कहा गया है कि पहले ज्ञानोपलब्धि तथा फिर दया-करुणा आदि धार्मिक क्रिया में प्रवृत्ति की जाती है । जो इस तथ्य को नहीं जानता, वह अज्ञ पुरुष क्या कर सकता है । वह पुण्य और पाप के स्वरूप को समझ ही नहीं पाता । जो प्राणियों

के उपमर्द-हिंसा द्वारा सुख की अभिलाषा करते हैं वे अशील-शील रहित सदाचरण शून्य तथा कुशील-कुत्सितशील अनाचार युक्त पुरुष संसार में ऐसी अवस्थाएं अनुभव करते हैं, यों बताते हुए सूत्रकार आगे कहते हैं -

❀ ❀ ❀

थणंति लुप्पंति तस्संति कम्मी, पुढो जगा परिसंखाय भिक्खू ।
तम्हा विऊ विरतो आयगुत्ते, दट्ठुं तसे या पडिसंहरेज्जा ॥२०॥

छाया – स्तनन्ति लुप्यन्ते त्रस्यन्ति कर्मिण, पृथक् जन्तवः परिसंख्याय भिक्षुः ।
तस्माद् विद्वान् विरत आत्मगुप्तो दृष्ट्वा त्रसांश्च प्रतिसंहरेत् ॥

अनुवाद – पाप कर्मा प्राणी नरक आदि में यातना भोगते हैं पीड़ित होते हैं, रोते चीखते हैं । यह जानता हुआ पाप से विरत, आत्मगुप्त हिंसा आदि से निवृत्त भिक्षु-मुनि त्रस तथा स्थावर प्राणियों का व्यापादन-हनन न करें ।

टीका – तेजः कायसमारम्भिणो भूतसमारम्भेण सुखमभिषन्तो नरकादिगतिं गतास्त्रीव्रदुः खैः पीड्यमाना असह्यवेदनाघ्रातमानसा अशरणाः 'स्तनन्ति' रुदन्ति केवलं करुणमाक्रन्दन्तीतियावत् तथा 'लुप्यंती' ति छिद्यन्ते खड्गादिभिरेवं च कदर्थ्यमानाः 'त्रस्यन्ति' प्रपलायन्ते, कर्माण्येषां सन्तीति कर्मिणः-सपापा इत्यर्थः, तथा पृथक् 'जगा' इति जन्तव इति, एवं 'परिसङ्ख्याय' ज्ञात्वा भिक्षणशीलो 'भिक्षुः' साधुरित्यर्थः, यस्मात्प्राण्युपमर्दकारिणः संसारान्तर्गता विलुप्यन्ते तस्मात् 'विद्वान्' पण्डितो विरतः पापानुष्ठानादात्मा गुप्तो यस्य सोऽयमात्मगुप्तो मनोवाक्कायगुप्त इत्यर्थः, दृष्ट्वा च त्रसान् च शब्दात्स्थावरांश्च 'दृष्ट्वा' परिज्ञाय तदुपघातकारिणीं क्रियां 'प्रतिसंहरेत्' निवर्तयेदिति ॥२०॥ साम्प्रतं स्वयूथ्याः कुशीला अभिधीयन्त इत्याह-

टीकार्थ – जो पुरुष अग्निकाय के समारंभ-हिंसा में प्रवृत होते हैं, प्राणियों की हिंसा से सुख पाने की अभिलाषा करते हैं, वे नरक आदि गतियों में जाकर घोर दुःखों से उत्पीड़ित किये जाते हैं । वे असह वेदना से परितप्त होकर करुण क्रन्दन करते रहते हैं क्योंकि वहाँ उन्हें कोई बचाता नहीं । वे तलवार आदि शस्त्रों से उच्छिन्न किये जाते हैं-काटे जाते हैं । यों पीड़ित होते हुए वे भयभीत होकर भागते हैं । जो पापयुक्त कर्म करते हैं, उन्हें कर्मी कहा जाता है । पाप सहित पुरुष कर्मी के रूप में अभिहित होते है । इन पापियों की भिन्न-भिन्न अवस्थाऐं होती हैं । जो प्राणियों का उपमर्दन-हनन करते हैं, वे संसार में रहते हुए कष्ट भोगते हैं । यह जानकर भिक्षु-भिक्षावृत्ति से स्वजीवन निर्वाहक विद्वान्-विवेकशील पापों से निवृत्त तथा मन-वचन एवं शरीर द्वारा आत्मगुप्त साधु त्रस एवं स्थावर प्राणियों को जानकर उनकी हिंसात्मक क्रिया से निवृत्त रहे। अब अपनी यूथगत कुशीलों की चर्चा की जा रही हैं ।

❀ ❀ ❀

जे धम्मलद्धं विणिहाय भुंजे, बियडेण साहट्टु य जे सिणाइं ।
जे धोवती लूसयतीव वत्थं, आहाहु से णागणियस्स दूरे ॥२१॥

छाया – यो धर्मलब्धं विनिधाय भुङ्क्ते विकटेन संहृत्य च यः स्नाति ।
यो धावति भूषयति च वस्त्रम् अथाहुः स नाग्न्यस्य दूरे ॥

अनुवाद – जो साधु वेश में विद्यमान पुरुष धर्मलब्ध-धर्मपूर्वक प्राप्त, निर्दोष आहार का परित्याग कर स्वादिष्ट भोजन करता है, अचित जल से अचित स्थान में अपने शरीर के अंगों को संकुचित कर स्नान करता है, सुन्दरता के लिए अपने पैर कपड़े आदि धोता है, तथा शृंगार हेतु जो छोटे वस्त्र को बड़ा और बड़े वस्त्र को छोटा करता है, वह संयम से दूर बहिर्गत है । तीर्थंकरों एवं गणधरों ने ऐसा प्ररूपित किया है।

टीका – 'ये' केचनशीतलविहारिणो धर्मेण-मुधिकया लब्धं धर्मलब्धं उद्देशकक्रीतकृतादिदोषरहित-मित्यर्थः, तदेवम्भूतमप्याहारजातं 'विनिधाय' व्यवस्थाप्य सन्निधिं कृत्वा भुञ्जन्ते तथा ये 'विकटेन' प्रासुकोदकेनापि सङ्कोच्याङ्गानि प्रासुकएव प्रदेशे देशसर्वस्नानं कुर्वन्ति यो वस्त्रं 'धावति' प्रक्षालयति तथा 'लूषयति' शोभार्थं दीर्घमुत्पाटयित्वा ह्रस्वं करोति ह्रस्वं वा सन्धाय दीर्घं करोति एवं लूषयति, तदेवं स्वार्थं परार्थं वा यो वस्त्रं लूषयति, अथासौ 'णागणियस्स' त्ति निर्ग्रन्थभावस्य संयमानुष्ठानस्य दूरे वर्तते, न तस्य संयमो भवतीत्येवं तीर्थंकरगणधरादय आहुरिति ॥२१॥ उक्ताः कुशीलाः, तत्प्रतिपक्षभूताः शीलवन्तः प्रतिपाद्यन्त इत्येतदाह –

टीकार्थ – जो शीतल विहारी-धर्म पालन में शिथिल पुरुष, धर्म प्राप्त औदेशिक तथा क्रीत आदि दोषों से वर्जित आहार का त्यागकर दूसरे दोष युक्त आहार का सेवन करते हैं तथा प्रासुक-अचित जल से भी प्रासुक भूमि में अपने शरीर के अंगों को संकुचित कर अंशतः या सम्पूर्णतः स्नान करते हैं, अपने कपड़े धोते हैं तथा जो शोभा के लिए बड़े वस्त्र को काटकर छोटा बना लेते हैं, छोटे वस्त्र को संधित कर-जोड़कर बड़ा बना लेते हैं, इस प्रकार जो अपने निमित्त या अन्य के निमित्त वस्त्र को छोटा या बड़ा करता है, वे निर्ग्रन्थ, भाव साधुत्व से या संयम के अनुष्ठान से दूरवर्ती हैं, उनके संयम नहीं है । वे असंयमी हैं । तीर्थंकर एवं गणधर आदि ऐसा कहते हैं ।

कुशीलों का वर्णन किया जा चुका है । अब उनके प्रतिपक्ष भूत-विपरीत शीलवान पुरुषों का वर्णन किया जा रहा है ।

❀ ❀ ❀

कम्मं परिन्नाय दगंसि धीरे, वियडेण जीविज्ज य आदिमोक्खं ।
से बीयकंदाइ अभुंजमाणे, विरते सिणाणाइसु इत्थियासु ॥२२॥

छाया – कर्म परिज्ञायोदके धीरो विकटेन जीवेच्चादि मोक्षम् ।
स वीजकन्दान् अभुञ्जानो विरतः स्नानादिषु स्त्रीषु ॥

अनुवाद – धीर-आत्म स्थिरतायुक्त विवेकी पुरुष जल स्नान से कर्मों का बंध होता है, यह समझकर मोक्ष पर्यन्त-जब तक मोक्ष प्राप्त न हो, तब तक अचित जल से अपना जीवन चलाये । संयत जीवन का निर्वहन करे वह बीज तथा कंद आदि का भोजन न करे । स्नान एवं अब्रह्मचर्य के सेवन से निवृत्त रहे ।

टीका – धिया राजते इति धीरो-बुद्धिमान् 'उदगंसि' त्ति उदकसमारम्भे सति कर्मबन्धो भवति, एवं परिज्ञाय किं कुर्यादित्याह-'विकटेन' प्रासुकोदकेन सौवीरादिना 'जीव्यात्' प्राणसंधारणं कुर्यात्, च शब्दात् अन्येनाप्याहारेण प्रासुकेनैव प्राणवृत्तिं कुर्यात्, आदिः-संसारस्तस्मान्मोक्ष आदि मोक्षः (तं) संसारविमुक्तिं यावदिति, धर्मकारणानां वाऽऽदिभूतं शरीरं तद्विमुक्तिं यावत् यावज्जीवमित्यर्थः, किं चासौ साधुर्बीजकन्दादीन् अभुञ्जानः, आदि ग्रहणात् मूलपत्रफलानि गृह्यन्ते, एतान्यप्यपरिणतानि परिहरन् विरतो भवति, कृत इति, दर्शयति-

स्नानाभ्यङ्गोद्वर्तनादिषु क्रियासु निष्प्रतिकर्मशरीरतयाऽन्यासु च चिकित्सादिक्रियासु न वर्तने, तथा स्त्रीषु च विरतः वस्तिनिरोधग्रहणात् अन्येऽप्याश्रवा गृह्यन्ते, यश्चैवम्भूतः सर्वेभ्योऽप्याश्रवद्वारेभ्यो विरतो नासौ कुशीलदोषैर्युज्यते तदयोगाच्च न संसारे बम्भ्रमीति, ततश्च न दुःखितः स्तनति नापि नानाविधैरुपायैर्विलुप्यत इति ॥२२॥ पुनरपिकुशीलानेवाधिकृत्याह -

टीकार्थ – जो पुरुष धीर-बुद्धि से राजित-शोभित होता है उसे धीर कहा जाता है । धीर का तात्पर्य बुद्धिमान से है । वैसा पुरुष जल के आरम्भ-हिंसा से कर्म बंधते हैं, यह जानकर क्या करे ? इस सम्बन्ध में शास्त्रकार प्रतिपादित करते हैं कि वह प्रासुक-अचित जल से अपना प्राण धारण करें-जीवन निर्वाह करें । यहाँ जो 'च' शब्द का प्रयोग हुआ है उससे यह सूचित है कि वह प्रासुक आहर से ही अपने प्राणों की रक्षा करे। संसार को आदि कहा जाता है । उससे मुक्त होना, छूटना आदि मोक्ष कहलाता है । वह जब तक प्राप्त न हो जाये तब तक साधु प्रासुक पदार्थों से जीवन निर्वाह करें । अथवा धर्म के कारण भूत इस देह का जब तक मोक्ष-समापन न हो जाये अर्थात् जीवनपर्यन्त साधु प्रासुक पदार्थों के द्वारा ही अपना निर्वाह करे । वह बीज एवं कन्द आदि का भी सेवन न करे । यहाँ आदि शब्द से मूल, फल निहित है । जो मूल पत्र एवं फल प्रासुक नहीं हैं उनका भी विरत-संयमी पुरुष परित्याग कर देते हैं । वे ऐसा किसलिए कर देते हैं ? सूत्रकार इसका दिग्दर्शन कराते हुए कहते हैं कि संयत पुरुष स्नान, शरीर के अंगों पर तेल मालिश, पिट्टी आदि का लेपन आदि क्रियाओं से पृथक् रहते हैं । शरीर की सज्जा नहीं करते । चिकित्सा आदि क्रियाओं द्वारा भी इसकी पूर्ति नहीं करते अब्रह्मचर्य-नारी भोग से निवृत रहते हैं । यहाँ वस्त्र निरोध से दूसरे आश्रव भी निहित होते हैं । जो पुरुष यों अपना जीवन व्यवतीत करता है, वह समस्त आश्रवों से निवृत है । वह कुशील-कुत्सित आचरण के दोषों से लिप्त नहीं होता । उनसे लिप्त न होने के कारण वह पुनः पुनः इस संसार में भ्रमण नहीं करता-भटकता नहीं, अतएव वह दुःखित होकर रोता नहीं तथा नाना प्रकार के दुःखों से उत्पिड़ित नहीं होता ।

पुनः कुशीलों को उद्दिष्ट कर कहते हैं ।

❀ ❀ ❀

जे मायरं च पियरं च हिच्चा, गारं तहा पुत्तपसुं धणं च ।
कुलाइं जे धावइ साउगाइं, अहाहु से सामणियस्स दूरे ॥२३॥

छाया – यो मातरञ्च पित्तरञ्च हित्वाऽगारं तथा पुत्रपशून् धनञ्च ।
कुलानि यो धावति स्वादुकानि, अथाहुः स श्रामण्यस्य दूरे ॥

अनुवाद – जो पुरुष माता-पिता, गृह, पुत्र, पशु-गाय, भैंस, अश्व आदि पशु धन, धन-वैभव, सम्पत्ति का त्यागकर दीक्षा ग्रहण करता है किन्तु वैसा करके भी स्वादिष्ट भोजन की लोलुपता वश वैसे घरों में जहाँ सुस्वादं भोजन मिलना सम्भावित हो दौड़ता हुआ जाता है । वह श्रामण्य-साधुत्त्व से दूरवर्ती है, तीर्थंकरों ने ऐसा कहा है ।

टीका – ये केचनापरिणतसम्यग्धर्माणस्त्यक्त्वा मातरं च पितरं च, मातापित्रोर्दुस्त्यजत्वादुपादानं, अतो भ्रातृदुहित्रादिकमपित्यकत्वेत्येतदपि द्रष्टव्यं, तथा 'अगारं' गृहं 'पुत्रम्' अपत्यं 'पशुं' हस्त्यश्वरथगोमहिष्यादिकं धनं च त्यक्त्वा सम्यक् प्रव्रज्योत्थानेनोत्थाय-पञ्चमहाव्रतभारस्य स्कन्धं दत्त्वा पुनर्हीनसत्त्वतया रससातादिगौरवगृद्धो यः 'कुलानि' गृहाणि 'स्वादुकानि' स्वादुभोजनवन्ति 'धावति' गच्छति, अथासौ 'श्रामण्यस्य' श्रमणभावस्य दूरे वर्त्तते एवमाहुस्तीर्थंकरगणधरादय इति ॥२३॥ एतदेव विशेषेण दर्शयितुमाह -(ग्रन्थाग्रम् ४७५०)

टीकार्थ – जो अपरिणित धर्म है-जिनकी धर्म भावना सम्यक्-परिपक्व नहीं है, वे मुख्यतः माता-पिता, घर पुत्रादि, परिवार, पशु-हाथी, घोड़े, रथ, गाय, भैंस आदि तथा धन सम्पत्ति का त्याग कर सम्यक् प्रवज्या स्वीकार कर यथाविधि दीक्षित होकर, पांच महाव्रत रूपी भार को अपने कन्धे पर धारण करता है । हीनसत्व-आत्मशक्ति विहीन होने के कारण वह रस, स्वादिष्ट भोजन, भौतिक सुख प्रशस्ति आदि में लोलुप बनकर वैसे घरों की ओर स्वादिष्ट भोजन हेतु दौड़ जाता है जहाँ वह मिलना सम्भावित हो । वह श्रामण्य भाव से-साधुत्त्व से दूर है, यह तीर्थंकरों तथा गणधरों ने कहा है । यहाँ माता-पिता के त्याग का जो उल्लेख आया है उसका आशय यह है कि उन्हें छोड़ पाना बहुत कठिन है । अतः यहाँ माता-पिता के साथ-साथ भाई, पुत्री आदि के त्याग को भी समझ लेना चाहिए । प्रस्तुत विषय का विशेष रूप से दिग्दर्शन कराते हुये कहते हैं ।-

❀ ❀ ❀

कुलाइं जे धावइ साउगाइं, आघाति धम्मं उदराणुगिद्धे ।
अहाहु से आयरियाणा सयंसे, जे लावएज्जा असणस्स हेऊ ॥२४॥

छाया – **कुलानि यो धावति स्वादुकानि, आख्याति धर्ममुदरानुगृद्धः ।**
अथाहुः स आचार्य्याणां शतांशे, य आलापयेदशनस्य हेतोः ॥

अनुवाद – जो उदरानुगृद्ध-पेट लोलुप, भोजनलोलुप पुरुष स्वादिष्ट भोजन हेतु जिन घरों में वैसा मिलना सम्भावित हो उस ओर दौड जाता है, वहाँ जाकर धर्मकथा-धर्मोपदेश सुनाता है, भोजन प्राप्त करने हेतु अपनी विशेषताओं का बखान करता है, वह आर्यगुणों में सौवें भाग जितना नहीं है-एक प्रतिशत भी सही नहीं है । तीर्थंकरों ने ऐसा कहा है ।

टीका – यः कुलानि स्वादुभोजनवन्ति 'धावति' इयर्ति तथा गत्वा धर्ममाख्याति भिक्षार्थं वा प्रविष्टो यद्यस्मै रोचते कथानकसम्बन्धं तत्तस्याख्याति, किम्भूत इति दर्शयति-उदरेऽनुगृद्ध उदरानुगृद्धः-उदरभरणव्यग्रस्तुन्दपरिमृज इत्यर्थः, इदमुक्तं भवति-यो ह्युदरगृद्ध आहारादिनिमित्तं दानश्रद्धकाख्यानि कुलानि गत्वाऽऽख्यायिकाः कथयति स कुशील इति, अथासावाचार्यगुणानामार्यगुणानां वा शतांशे वर्तते शतग्रहणमुपलक्षणं सहस्त्रांशादेरप्यधोवर्त्तते इति यो ह्यन्नस्य हेतुं-भोजननिमित्तमपरवस्त्रादिनिमित्तं वा आत्मगुणानपरेण 'आलापयेत्' भाणयेत्, असावप्यार्यगुणानां सहस्त्रांशे वर्तते किमङ्ग पुनर्यः स्वत एवाऽऽत्मप्रशंसां विदधातीति ॥२४॥ किञ्च -

टीकार्थ – जो साधु वेश में विद्यमान पुरुष सुस्वाद भोजन के लिए उन घरों में जाता है, जहाँ वह मिल सके, और जाकर वहाँ धर्मकथा-धर्मचर्चा करता है अथवा जो जिसे रुचिकर लगें ऐसी कथा कहता है-वह कैसा होता है ? इसका दिग्दर्शन कराते हुये सूत्रकार कहते हैं वह उदरानुगृद्ध है । अर्थात् वह अपना उदर-पेट भरने में ही लोलुप-आसक्त है । कहने का अभिप्राय यह है कि जो उदरासक्त पुरुष दान देने में श्रद्धाशील घरों में आहार आदि के निमित्त जाकर धर्मकथा करता है, वह कुशील-अनाचारी है । वह आचार्य या आर्य पुरुष के सौवें अंश में भी गिनने योग्य नहीं है । यहाँ शत का ग्रहण उपलक्षण है इससे यह संकेतित है कि वह हजारवें अंश में भी गिनने योग्य नहीं है । फिर जो स्वयं अपने मुख से अपनी प्रशंसा करता है उसका तो कहना ही क्या ?

❀ ❀ ❀

णिक्खम्म दीणे परभोयणंमि, मुहमंगलीए उदराणुगिद्धे ।
नीवारगिद्धेव महावराहे, अदूरए एहिइ घातमेव ॥२५॥

छाया – निष्क्रम्य दीनः परभोजने, मुखमाङ्गलिक उदरानुगृद्धः ।
नीवारगृद्ध इव महावराह अदूर एष्यति घातमेव ॥

अनुवाद – जो पुरुष अपना घर त्याग कर दीक्षित हो जाता है, फिर भी दूसरे के भोजन के लिए मुखमांगलिक, परस्तुति जीवी-भाट की ज्यों ओरों की प्रशंसा करता है, वह चांवल के दानों में आसक्त बड़े सूअर की तरह उदर लोलुप है, पेट भरने में ही तत्पर है । वह त्वरित ही नाश को प्राप्त होता है-संयम भ्रष्ट हो जाता है ।

टीका – यो ह्यात्मीयं धनधान्यहिरण्यादिकं त्यक्त्वा निष्क्रान्तो निष्क्रम्य च 'परभोजने' पराहारविषये 'दीनो' दैन्यमुपगतो जिह्वेन्द्रियवशार्त्तो वन्दिवत् 'मुखमाङ्गलिको' भवति मुखेन मङ्गलानि-प्रशंसावाक्यानि ईदृश स्तादृशस्त्वमित्येवं दैन्यभावमुपगतो वक्ति, उक्तं च-सो एसो जस्स गुणा वियरंतनिवारिया दसदिसासु । इहरा कहासु सुच्चसि पच्चक्खं अज्ज दिट्ठोऽसि ॥१॥" इत्येवमौदर्यं प्रति गृद्धः अध्युपपन्नः, किमिव ? 'नीवारः' सूकरादिमृगभक्ष्यविशेषस्तस्मिन् गृद्ध-आसक्तमना गृहीत्वा च स्वयूथं 'महावराहो' महाकायः सूकरः स चाहारमात्रगृद्धोऽतिसंकटे प्रविष्टः सन् 'अदूर एव' शीघ्रमेव 'घातं' विनाशम् 'एष्यति' प्राप्स्यति, एवकारोऽवधारणे, अवश्यं तस्य विनाश एव नापरा गतिरस्तीति, एवयसावपि कुशील आहारमात्रगृद्धः संसारोदरे पौनः पुन्येन विनाशमेवैति ॥२५॥ किंचान्यत् -

टीकार्थ – जो पुरुष धन धान्य सम्पत्ति का परित्याग कर घर से निकल गया है, यों गृह त्याग कर दूसरे से प्राप्य भोजन में दीनतापूर्ण आसक्ति लिए रहता है, वह जिह्वा का वशवृत्ति होकर बन्दी-भाट की तरह अपने मुँह से दूसरे के मंगल वाक्य, प्रशसांत्मक वचन बोलता है, आप ऐसे हैं, आप वैसे हैं इत्यादि के रूप में प्रशस्ति पूर्ण बातें कहता है, जैसे आप वही है, जिसके गुण दसों दिशाओं में व्याप्त है । पहले मैं केवल कथाओं में बातों के प्रसंगों में यह सुनता था किन्तु आज आपको प्रत्यक्ष देख रहा हूँ, आप वैसे ही हैं । वह पुरुष मात्र अपना उदर भरने में आसक्त रहता है । किसके समान ? यह प्रकट करते हुये सूत्रकार कहते हैं जैसे महावराह-विशाल शरीर युक्त सूअर, निवार-सूअर आदि पशुओं के खाने योग्य धान्य विशेष में गृद्ध-आसक्त होकर अपने यूथ-टोली को साथ लेकर उसे पाने के लोभ में भारी संकट में पड़ जाता है शीघ्र ही नाश को प्राप्त होता है उसी प्रकार अपना उदर भरने में आसक्त वह शील हीन पुरुष भी पुनः पुनः नाश को प्राप्त होता है । इस गाथा में आया हुआ एव शब्द अवधारणार्थक है । उसका आशय यह है कि अवश्य ही उसका नाश होता है, कोई दूसरी गति नहीं होती ।

❀ ❀ ❀

अन्नस्स पाणस्सिहलोइयस्स, अणुप्पियं भासति सेवमाणे ।
पासत्थयं चेव कुशीलयं च, निस्साइए होइ जहा पुलाए ॥२६॥

छाया – अन्नस्स पानस्यैहलौकिकस्यात्प्रियं भाषते सेवमानः ।
पार्श्वस्थताञ्चैव कुशीलताञ्च, निःसारो भवति यथा पुलाकः ॥

अनुवाद – जो पुरुष भोजन, पानी, वस्त्र आदि के लालच में दाता पुरुष की रुचि के अनुरूप बातें करता है, वह पार्श्वस्थ एवं कुशील है । उसका संयम भूसे के समान निस्सार है ।

टीका – स कुशीलोऽन्नस्य पानस्य वा कृतेऽन्यस्य वैहिकार्थस्य वस्त्रादेः कृते अनुप्रियं भासते यद्यस्य प्रियं तत्तस्य वदतोऽनु-पश्चाद्भाषते अनुभाषते, प्रतिशब्दकवत् सेवकवद्वा राजाद्युक्तमनुवदतीत्यर्थः, तमेव

दातारमनुसेवमान आहारमात्रगृद्धः सर्वमेतत्करोतीत्यर्थः, स चैवम्भूतः सदाचारभ्रष्टः पार्श्वस्थभावमेव व्रजति कुशीलतां च गच्छति, तथा निर्गतः-अपगतः सारः-चारित्रोख्यो यस्य स निःसारः, यदिवा-निर्गतः सारो निःसारः स विद्यते यस्यासौ निःसारवान्, पुलाक इव निष्कणो भवति यथा एवमसौ संयमानुष्ठानं निःसारीकरोति, एवंभूतश्चासौ लिङ्गमात्रावशेषो बहूनां स्वयूथ्यानां तिरस्कारतदवीमवाप्नोति, परलोके च निकृष्टानि यातनास्थानान्यवाप्नोति ॥२६॥ उक्ताः कुशीलाः, तत्प्रतिपक्षभूतान् सुशीलान् प्रतिपादयितुमाह -

टीकार्थ – जो पुरुष भोज्य, पेय पदार्थ, वस्त्र आदि सांसारिक पदार्थों को पाने हेतु अनुप्रिय-सम्मुखिन पुरुष को प्रिय लगे, उसके लिए प्रीतिकर हो, ऐसा भाषण करता है, वह कुशील है । जैसे राजा का सेवक अथवा उसकी हाँ में हाँ मिलाने वाला खुशामदी मनुष्य राजा के वचन के पीछे-पीछे बोलता है, उसी तरह वह कुशील दाता को खुश करने के लिए उसकी हाँ में हाँ मिलाता है । वह आहार मात्र में गृद्ध-खाद्यलोलुप होता हुआ यह सब करता है, जो पुरुष सत् आचार से भ्रष्ट-पतित है । वह पार्श्वस्थभाव को प्राप्त होता है तथा कुशीलता को पाता है । वह पुरुष चारित्र रूप सार से विरहित होने के कारण निस्सार-सारहीन है । जैसे अन्न के दाने निकाल लिए जाने पर भूसा निस्सार हो जाता है, उसी तरह वह पुरुष संयम रूप सार के अपगत हो जाने से निस्सार है । उसने केवल साधु का बाना धारण कर रखा है, संयम से रहित है । अतः वह स्वयूथ्य-अपने यूथ या समुदाय के साधुओं के तिरस्कार या अपमान का भाजन होता है । वह परलोक में निकृष्ट-अत्यन्त निम्न यातना स्थान प्राप्त करता है ।

कुशीलों का वर्णन किया जा चुका है । अब उनके प्रतिपक्ष भूत-उनके प्रतिपक्षी सुशीलों-उत्तम आचार शील पुरुषों का वर्णन करते हुए कहते हैं ।

❀ ❀ ❀

अण्णात पिंडेणऽहियासएज्जा, णो पूयणं तवसा आवहेज्जा ।
सद्देहिं रूवेहिं असज्जमाणं, सव्वेहि कामेहि विणीय गेहिं ॥२७॥

छाया – अज्ञात पिण्डेनाधिसहेत्, न पूजनं तपसाऽऽवहेत् ।
शब्दैः रूपै रसजन्, सर्वेभ्यः कामेभ्यो विनीय गृद्धिम् ॥

अनुवाद – साधु को अज्ञात आहार का-जिसके संबंध में पहले से ज्ञान नहीं है, जो औदेशिक आदि दोष से विवर्जित है, उस द्वारा अपना निर्वाह करना चाहिए । तपश्चरण द्वारा पूजा एवं सत्कार की कामना नहीं करनी चाहिए । उसे शब्द, रूप आदि सब प्रकार सांसारिक भोगों से पृथक् होते हुए शुद्ध संयम का परिपालन करना चाहिए ।

टीका – अज्ञातश्चासौ पिण्डश्चातपिण्डः अन्तप्रान्तः इत्यर्थः, अज्ञातेभ्यो वा पूर्वापरासंस्तुतेभ्यो वा पिण्डोऽज्ञातपिण्डोऽज्ञातोञ्छवृत्त्या लब्धस्तेनात्मानम् 'अधिसहेत्' वर्तयेत्-पालयेत्, एतदुक्तं भवति-अन्तप्रान्तेन लब्धेनालब्धेन वा न दैत्यं कुर्यात्, नाप्युत्कृष्टेन लब्धेन मदं विदध्यात्, नापि तपसा पूजनसत्कारनिमित्तं तपः कुर्यादित्यर्थः, यदि वा पूजासत्कारनिमित्तत्वेन तथाविद्यार्थित्वेन वा महतापि केनचित्तपो मुक्तिहेतुकं न निःसारं कुर्यात्, तदुक्तम् -

"परं लोकाधिकं धाम, तपःश्रुतमिति द्वयम् । तदेवार्थित्वनिर्लुप्तसारं तृणलवायते ॥१॥

यथा च रसेषु गृद्धिं न कुर्यात्, एवं शब्दादिष्वपीति दर्शयति-"शब्दैः' वेणुवीणादिभिराक्षिप्तः संस्तेषु 'असजन्' आसक्तिमकुर्वन् कर्कशेषु न द्वेषमगच्छत् तथा रूपैरपि मनोज्ञेतरै रागद्वेषमकुर्वन् एवं सर्वैरपि

'कामैः' इच्छामदनरूपैः सर्वेभ्यो वा कामेभ्यो गृद्धिं 'विनीय' अपनीय संयममनुपालयेदिति, सर्वथा मनोज्ञेतरेषु विषयेषु रागद्वेषं न कुर्यात् तथा चोक्तम -

"सद्देसु य भद्दयपावएसु, सोयविसयमुवगएसु । तुट्ठेण व रुट्ठेण व, समणेण सया ण होयव्वं ॥१॥
छाया - शब्देषु च भद्रकापापकेषु श्रोत्रविषयमुपगतेषु । तुष्टेन वा रुष्टेन वा श्रमणेन सदा न भवितव्यं ॥१॥
रुवेसु य भद्दयपावएसु, चक्खुविसय मुवगएसु । तुट्ठेण व रुट्ठेण व समणेण सया ण होयव्वं ॥२॥
गंधेसु य भद्दयपावएसु, घाणविसय मुव गएसु । तुट्ठेण व रुट्ठेण व समणेण सया ण होयव्वे ॥३॥
भक्खेसु य भद्दयपावएसु, रसणविसयमुवगएसु । तुट्ठेण व रुट्ठेण व समणेण सया ण होयव्वं ॥४॥
फासेसु य भद्दयपावएसु, फासविसयमुवगएसु । तुट्ठेण व रुट्ठेण व समणेण सया ण होयव्वं ॥५॥"
॥२७॥ यथा चेन्द्रियनिरोधो विधेय एवमपरसङ्गनिरोधोऽपि कार्य इति दर्शयति -

टीकार्थ – अज्ञात-जो नहीं जाना हुआ हो, वैसा पिण्ड-अन्न पानी या आहार अर्थात् जिसके साथ पूर्ववर्ती और पश्चातवर्ती परिचय नहीं जुड़ा हुआ हो वह आहार अज्ञात पिण्ड है । उसके द्वारा साधु को अपना जीवन चलाना चाहिए । इसका तात्पर्य यह है कि अन्तप्रान्त यत्किंचित आहार प्राप्त हो या न हो साधु को दीनता का अनुभव नहीं करना चाहिए । इसी प्रकार उत्तम आहार प्राप्त होने पर उसे मद-अभिमान नहीं करना चाहिए। उसे तपश्चरण कर सत्कार, सम्मान की अभिलाषा नहीं रखनी चाहिए अर्थात् वह तदर्थ तपश्चरण न करे । पूजा सत्कार हेतु अथवा तथाविध अन्य प्रकार की किसी अभिलाषा के निमित्त, साधु को मुक्ति हेतु-मोक्ष के कारण, भूत तपश्चरण को निःसार-सारहीन या व्यर्थ नहीं करना चाहिए । कहा है-परलोक में परम उत्तम स्थान प्राप्त कराने वाले तप एवं श्रुत ये ही दो हैं । इनके द्वारा सांसारिक पदार्थों की कामना करने पर यह तृणलव-तृण के टुकड़े की ज्यों निःसार-सारहीन हो जाते हैं । साधु रस में-आस्वाद में गृद्धि-लोलुपता या आसक्ति न रखे। इसी प्रकार शब्द आदि विषयों में भी आसक्ति न रखे । सूत्रकार यह व्यक्त करते हैं । वेणु-बांसुरी तथा वीणा आदि के शब्द सुनकर साधु उनमें संसक्त न हो तथा कर्कश-कठोर, अप्रिय वचन सुनकर वह द्वेष न करे । इसी प्रकार वह सुन्दर व असुन्दर रूप में राग तथा द्वेष भाव न रखे । वह समग्र कामभोग में आसक्ति छोड़कर संयम का अनुपालन करे । वह सुन्दर तथा असुन्दर विषयों से राग तथा द्वेष न करे, कहा है -

शब्द भद्र-सुन्दर या पापक-असुन्दर या खराब जैसा भी कान में पड़े तो साधु उससे प्रसन्नता या अप्रसन्नता का अनुभव न करे । सुन्दर या असुन्दर जो भी रूप नैत्रों के सामने आये तो वह उससे प्रसन्न या अप्रसन्न न हो । गन्ध उत्तम-सुगंध, अधम-दुर्गन्ध जैसे भी रूप में घ्राणेन्द्रिय में आये तो साधु उससे तुष्ट या अतुष्ट न हो । भोजन स्वादिष्ट या अस्वादिष्ट मुख के सामने आये तो साधु परितोष या अपरितोष अनुभव न करे। स्पर्श प्रिय या अप्रिय जैसा भी देह का प्राप्त हो, साधु उससे तुष्टि या अतुष्टि की अनुभूति न करे ।

जिस प्रकार इन्द्रियों का निरोध किया जाना चाहिए, उसी प्रकार अन्य आसक्तियों का भी निरोध किया जाना चाहिए, इसका दिग्दर्शन कराते हुए कहते हैं ।

❀ ❀ ❀

सव्वाइं संगाइं अइच्च धीरे, सव्वइं दुक्खाइं तितिक्खमाणे ।
अखिले अगिद्धे जणिएयचारी, अभयंकरे भिक्खुअणाविलप्पा ॥२८॥

छाया – सर्वान् सङ्गानतीत्यधीरः, सर्वाणि दुःखानि तितिक्षमाणः ।
अखिलोगृद्धोऽनियतचारी, अभयङ्करो भिक्षुरनाविलात्मा ॥

अनुवाद – धीर-बुद्धिमान साधु सब संग-आसक्तियों का त्याग कर सब प्रकार के कष्टों को सहन करता हुआ ज्ञान दर्शन तथा चारित्र से युक्त होता है । वह किसी भी विषय में प्रतिबद्ध नहीं होता । वह अप्रतिबद्ध विहारी होता है । वह सभी प्राणियों को अभय देता हुआ विषयों तथा कषायों से अलिप्त-अनासक्त रहता है। यथावथ संयम का पालन करता है ।

टीका – सर्वान् 'सङ्गान्' संबन्धान् आन्तरान् स्नेहलक्षणान् बाह्यांश्च द्रव्यपरिग्रहलक्षणान् 'अतीत्य' त्यक्त्वा 'धीरो' विवेकी सर्वाणि 'दुःखानि' शारीरमानसानि त्यक्त्वा परीषहोपसर्गजनितानि 'तितिक्षमाणः' अधिसहन् 'अखिलो' ज्ञानदर्शनचारित्रैः सम्पूर्णः तथा कामेष्वगृद्धस्तथा 'अनियतचारी' अप्रतिबद्धविहारी तथा जीवा नामभयंकरो भिक्षणशीलो भिक्षुः-साधुः एवम् 'अनाविलो' विषयकषायैरनाकुल आत्मा यस्यासावनाविलात्मा 'संयममनुवर्त्तत इति ॥२८॥ किञ्चान्यत् -

टीकार्थ – संबंध दो प्रकार के है-आन्तर संबंध तथा बाह्य सम्बन्ध । स्नेह आन्तरिक संबंध है, तथा द्रव्य परिग्रह बाह्य संबंध है । इन दोनों का परित्याग कर धीर-प्रज्ञा सम्पन्न विवेकी पुरुष दैहिक और मानसिक दुःखों का त्याग कर तथा परीषह और उपसर्गों से जनित दुःखों को सहन करता हुआ, ज्ञानदर्शन एवं चरित्र से सम्पूर्ण-सम्पन्न होता है । वह कामवासना में अगृद्ध-अलोलुप, अनासक्त रहता हुआ अप्रतिबद्ध विहारी होता है । वह समग्र जीवों को अभयदान देता हुआ विषयों एवं कषायों से अलिप्त अनाकुल रहता है । यथाविधि-सम्यक् संयम का परिपालन करता है ।

❀ ❀ ❀

भारस्स जाता मुणि भुंजएज्जा, कंखेज्ज पावस्स विवेग भिक्खू ।
दुक्खेण पुट्ठे धुयमाइएज्जा, संगामसीसे व परं दमेज्जा ॥२९॥

छाया – भारस्य यात्रायै मुनिर्भुञ्जीव, काङ्क्षेत् पापस्य विवेकं भिक्षुः ।
दुःखेन स्पृष्टो धूतमाददीत, सङ्ग्रामशीर्ष इव परं दमयेत् ॥

अनुवाद – मुनि भार यात्रा-संयम यात्रा के निर्वाह हेतु भोजन ग्रहण करे तथा अपने पूर्वाचरित पापों का अपनयन करने की इच्छा रखे । जब उस पर परीषहों और उपसर्गों का दुःख आये तो वह संयम में ध्यानावस्थित हो-एकमात्र उस ओर ही ध्यान रखे । जैसे समर भूमि में योद्धा शत्रुओं का दमन करता है, वह उसी तरह कर्म रूपी शत्रुओं का दमन-ध्वंस करे ।

टीका – संयमभारस्य यात्रार्थं-पञ्चमहाव्रतभारनिर्वाहणार्थं 'मुनिः' कालत्रयवेत्ता 'भुञ्जीत' आहारग्रहणं कुर्वीत, तथा 'पापस्य' कर्मणः पूर्वाचरितस्य 'विवेकं' पृथग्भावं विनाशमाकाङ्क्षेत् 'भिक्षुः' साधुरिति, तथा-दुःखयतीति दुःखं परीषहोपसर्गजनिता पीड़ा तेन 'स्पृष्टो' व्याप्तः सन् 'धूतं' संयमं मोक्षं वा 'आददीत' गृह्णीयात्, यथा सुभटः कश्चित् सङ्ग्रामशिरसि शत्रुभिरभिद्रुतः 'परं' शत्रुं दमयति एवं परं-कर्मशत्रुं परीषहोपसर्गाभिद्रुतोऽपि दमयेदिति ॥२९॥ अपिच -

टीकार्थ – वर्तमान, भूत एवं भविष्य तीनों कालों का वेत्ता मुनि, पंच महाव्रत रूप भार के निर्वाह हेतु आहार का ग्रहण करे, तथा अपने पूर्वाचरित पाप कर्म के विनाश की आकांक्षा-अभिलाषा रखे । जो दुःख देता है, पीड़ित करता है, उसे दुःख कहा जाता है । वह परीषहों एवं उपसर्गों से पैदा होता है । जब साधु उससे

उत्पीड़ित हो तो वह संयम या मोक्ष में अपना ध्यान जोड़े रखे । कोई वीर योद्धा संग्राम भूमि में प्रतिपक्षी के वीरों-सैनिकों द्वारा पीड़ित किया जाता हुआ उन शत्रु सैनिकों का दमन कर डालता है, उन्हें ध्वंस्त कर देता है, उसी प्रकार साधु परीषहों, एवं उपसर्गों से आक्रान्त, पीडित होता हुआ भी कर्मरूपी शत्रु का दमन-विनाश करे।

❀ ❀ ❀

अवि हम्ममाणे फलगावतट्ठी, समागमं कंखति अंतकस्स ।
णिधूय कम्मं ण पवंचुवेइ, अक्खक्खए वा सगडं तिबेमि ॥३०॥

छाया – अपि हन्यमानः फलकावतष्टी, समागमं काङ्क्षत्यन्तकस्य ।
निर्धूय कर्म न प्रपञ्चमुपैति, अक्षक्षय इव शकटमिति ब्रवीमि ॥

अनुवाद – परीषहों तथा उपसर्गों द्वारा हन्यमान-पीड़ित, प्रतिहत होता हुआ भी दोनों ओर से छीले जाते हुए काष्ठफलक-काठ के फाटके की ज्यों कष्ट पाता हुआ भी साधु राग द्वेष न करे, मरण की प्रतीक्षा करे । इस तरह अपना कर्मक्षय कर वह संसार को प्राप्त नहीं करता-भवचक्र में नहीं भटकता, जैसे धूरी के टूट जाने से गाड़ी नहीं चलती ।

टीका – परीषहोपसर्गैर्हन्यमानोऽपि-पीड्यमानोऽपि सम्यक् सहते, किमिव ? फलकवदवकृष्टः यथाफलकमुभाभ्यामपि पार्श्वाभ्यां तष्टं-घट्टितं सत्तनु भवति अरक्तद्विष्टं वा संभवत्येवमसावपि साधुः स बाह्याभ्यन्तरेण तपसा निष्टप्तदेहस्तनुः-दुर्बलशरीरोऽरक्त द्विष्टश्च, अन्तकस्य-मृत्योः 'समागमं' प्राप्तिम् 'आकाङ्क्षति' अभिलषति, एवं चाष्टप्रकारं कर्म 'निर्धूय' अपनीय न पुनः 'प्रपञ्चं' जातिजरामरणरोगशोकादिकं प्रपञ्च्यन्ते बहुधा नटवद्यस्मिन् स प्रपञ्चः-संसारस्तं 'नौपैति' न याति, दृष्टान्तमाह-यथा अक्षस्य 'क्षये' विनाशे सति 'शकटं' गन्त्र्यादिकं समविषमपथरूपं प्रपञ्चमुपष्टम्भकारणाभावान्नोपयाति, एवमसावपि साधुरष्टप्रकारस्य कर्मणः संसारप्रपञ्चं नोपयातीति, गतोऽनुगमो नयाः पूर्ववद् इति शब्दः परिसमाप्त्यर्थे ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥३०॥ समाप्तं च कुशीलपरिभाषाख्यं सप्तममध्ययनं ॥

टीकार्थ – साधु परीषहों और उपसर्गों द्वारा हन्यमान-पीड्यमान होता हुआ भी कष्ट को सम्यक् सहन करता है, किस प्रकार ? इसका स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं, जैसे काष्टफलक-काठ का फाटका दोनों ओर से छीला जाता हुआ भी, पतला किया जाता हुआ भी राग द्वेष नहीं करता, उसी प्रकार साधु बाह्य और आभ्यन्तर तपश्चरण द्वारा देह के परितप्त और दुर्बल होने पर भी राग द्वेष नहीं करता किन्तु मृत्यु के आने की प्रतीक्षा करता है । वह साधु इस प्रकार अष्टविध कर्मों को अपनीत कर-दूरकर फिर जन्म, वृद्धत्व, मृत्यु, रोग तथा शोक आदि अनेक प्रकार के प्रपञ्च युक्त नट के सदृश इस संसार को प्राप्त नहीं करता । इस संबंध में दृष्टान्त उपस्थित किया जाता है-जैसे अक्ष-धुरी के भग्न हो जाने पर गाड़ी सम-समान, विषम-असमान मार्ग में आधार रहित होने के कारण नहीं चलती। इसी तरह वह साधु अष्ट विध कर्मों के क्षीण हो जाने से संसार प्रपञ्च नहीं करता-संसार के झंझट में, गोरखधन्धे में नहीं पड़ता ।

अनुगम समाप्त हुआ, नय पूर्ववत है, इति शब्द समाप्ति के अर्थ में प्रयुक्त है । ब्रवीमि बोलता हूँ, पूर्ववत् योजनीय है ।

॥ कुशील परिभाषा नामक सप्तम अध्ययन समाप्त हुआ ॥

❀ ❀ ❀

卐 卐 卐

अष्टमं श्री वीर्याध्ययनं

दुहा वेयं सुयक्खायं, वीरियंति पबुच्चई ।
किं नु वीरस्स वीरत्तं कहं चेयं एवुच्चई ? ॥१॥

छाया – द्विधा वेदं स्वाख्यातं वीर्य्यमिति प्रोच्यते ।
किं नु वीरस्य वीरत्वं कथञ्चेदं प्रोच्यते ॥

अनुवाद – सर्वज्ञों ने वीर्य दो प्रकार का आख्यात किया है-बतलाया है । वीर पुरुष का वीरत्व-वीरता क्या है ? वह वीर क्यों कहा जाता है ? यह प्रश्न विवेच्य है ।

टीका – द्वे विधे-प्रकारावस्येति द्विविधं-द्विप्रकारं, प्रत्यक्षासन्नवाचित्वात् इदमो यदनन्तरं प्रकर्षेणोच्यते प्रोच्यते वीर्यं तद्विभेदं सुष्ठ्वाख्यातं स्वाख्यातं तीर्थकरादिभिः, वा वाक्यालङ्कारे, तत्र 'ईर गतिप्रेरण यो:' विशेषेण ईरयति-प्रेरयति अहितं येन तद्वीर्यं जीवस्य शक्तिविशेष इत्यर्थः, तत्र, किं नु 'वीरस्य' सुभटस्य वीरत्यं ?, केन वा कारणेनासौ वीर इत्यभिधीयते, नुशब्दों वितर्कवाची, एकद्वितर्कयति किं तद्वीर्यं ?, वीरस्य वा किं तद्वीरत्वमिति ॥१॥ तत्र भेदद्वारेणवीर्यस्वरूपमाचिख्यासुराह –

टीकार्थ – जिसके दो भेद होते है, उसे द्विविध कहा जाता है । इदं शब्द प्रत्यक्ष तथा आसन्न-समीपस्थ का वाचक है । अतः आगे जो प्रकर्ष के साथ-विस्तार के साथ विशद रूप में वक्ष्यमाण है, वह वीर्य दो प्रकार का है । तीर्थंकर आदि ने ऐसा सम्यक् आख्यात किया है । यहाँ 'वा' शब्द वाक्यालंकार के अर्थ में-वाक्य की शोभा हेतु प्रयुक्त हुआ है । 'ईरगति प्रेरणयोः" सूत्र के अनुसार ईर-धातुगति ओर प्रेरणा के अर्थ में है । विपूर्वक ईर धातुः से वीर्य शब्द निष्पन्न है । जो विशेष रूप से अहित को दूर करता है, वह वीर्य कहलाता है । वीर्य आत्मा की विशेष शक्ति है । यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि सुभट-योद्धा की वीरता क्या है? तथा वह किस प्रकार वीर कहा जाता है ? इस गाथा में 'नु' शब्द वितर्क अर्थ का सूचक है । यहाँ यह वितर्क-प्रश्न उपस्थित होता है कि वह वीर्य क्या है? वीर्ययुक्त पुरुष-वीर पुरुष की वीरता का क्या स्वरूप है ।

सूत्रकार भेदपूर्वक वीर्य के स्वरूप की व्याख्या करने हेतु प्रतिपादित करते हैं ।

❀ ❀ ❀

कम्ममेगे पवेदेंति, अकम्मं वावि सुव्वया ।
एतेहिं दोहि ठाणेहिं, जेहिं दीसंति मच्चिया ॥२॥

छाया – कर्मैके प्रवेदयन्त्यकर्माणं वाऽपि सुव्रताः ।
आभ्यां द्वाभ्यां स्थानाभ्यां, याभ्यां दृश्यन्ते मर्त्याः ॥

अनुवाद – श्री सुधर्मा स्वामी जम्बूस्वामी आदि शिष्यों को संबोधित कर कहते हैं कि हे व्रतशील साधकों! कई कर्म को वीर्य के रूप में प्रतिपादित करते हैं तथा कई अन्य अकर्म को वीर्य के नाम से अभिहित करते हैं । इस तरह उसके दो भेद हैं । इस मर्त्यलोक के सभी प्राणी इन दो भेदों के अन्तर्गत दृष्टिगोचर होते हैं ।

टीका – कर्म्म-क्रियानुष्ठानमित्येतदेके वीर्यमिति प्रवेदयन्ति, यदि वा-कर्माष्टप्रकारं कारणे कार्योपचारात् तदेव वीर्यमिति प्रवेदयन्ति, तथाहि-औदयिकभावनिष्पन्नं कर्मेत्युपदिश्यते, औदयिकोऽपि च भावः कर्मोदय निष्पन्न एवं बालवीर्यं द्वितीयभेद स्त्वयं-न विद्यते कर्मास्येत्यकर्मा-वीर्यान्तरायक्षयजनितं जीवस्य सहजं वीर्यमित्यर्थः, च शब्दात् चारित्रमोहनीयोपशमक्षयोपशमजनितं च, हे सुव्रता ! एवम्भूतं पण्डितवीर्यं जानीत यूयं । आभ्यामेव द्वाभ्यां स्थानाभ्यां सकर्मकाकर्मकापादितबालपण्डितवीर्याभ्यां व्यवस्थितं वीर्यमित्युच्यते, यकाभ्यां च ययोर्वा व्यवस्थिता मर्त्येषु भवा मर्त्याः 'दिस्संत' इति दृश्यन्तेऽपदिश्यन्ते वा, तथाहि-नानाविधासु क्रियासु प्रवर्तमानमुत्साहबलसंपन्नं मर्त्यं दृष्ट्वा वीर्यवानयं मर्त्य इत्येवमपदिश्यते तथा तदावारककर्मणः क्षया दनन्तबलयुक्तोऽथं मर्त्य इत्येवमपदिश्यते दृश्यते चेति ॥२॥ यह बलवीर्य कारणे कार्योपचारात्कर्मैव वीर्यत्वेनाभिहितं साम्प्रतं कारणे कार्योपचारादेव प्रमादं कर्मत्वेनापदिशन्नाह –

टीकार्थ – क्रिया का अनुष्ठान करना-उसे मूर्त रूप देना वीर्य है । ऐसा कई प्रतिपादित करते हैं । कई कारण में कार्य का उपचार करते हुए अष्टविध कर्मों को ही वीर्य के नाम से अभिहित करते हैं । जो उदय प्राप्त भाव से-औदयिक भाव से निष्पन्न होता है उसे कर्म कहा जाता है । औदयिक भाव भी कर्मोदय निष्पन्न है, वह बालवीर्य है ।

दूसरा भेद यह है कि जिसमें कर्म नहीं होते, उसे अकर्मा कहा जाता है । वह वीर्यान्तराय नामक कर्म के क्षीण होने से पैदा होने वाला जीव का स्वाभाविक-स्वभावगत वीर्य है । यहाँ च शब्द का जो प्रयोग हुआ है, तदनुसार चारित्रमोहनीय के उपशम या क्षयोपशम से उत्पन्न निर्मल, निर्दोष चारित्र वीर्य है । हे व्रतनिष्ठ साधकों ! वही पण्डित वीर्य है, इसे आप जाने । सकर्मक-कर्मसहित तथा अकर्मक-कर्मरहित नामक वीर्य के दो भेद निरूपित हुए हैं । इन्हीं के द्वारा बाल वीर्य और पण्डित वीर्य व्यवस्थित-व्याख्यात है । यों वीर्य दो भेद युक्त अभिहित हुआ है । मर्त्यलोक में जितने भी प्राणी हैं, वे इन्हीं दो भेदों में विभक्त हैं । यह देखा जाता है । अपदिष्ट किया जाता है-बताया जाता है । क्योंकि भिन्न-भिन्न प्रकार की क्रियाओं में उत्साह एवं बल सम्पन्न पुरुष को देखकर लोग कहते हैं, यह वीर्यवान पुरुष है । तथा वीर्यान्तराय कर्म के क्षीण होने से यह कहा जाता है कि यह अनन्त बलयुक्त पुरुष है ।

यहाँ कारण में कार्य का उपचार कर सूत्रकार ने कर्म को ही बालवीर्य कहा है । अब कारण में कार्य का उपचार कर सूत्रकार प्रमाद को कर्म के रूप में व्याख्यात करते हुए कहते हैं ।

❀ ❀ ❀

पमायं कम्ममाहंसु, अप्पमायं तहाऽवरं ।
तब्भावादेसओ वावि, बालं पंडियमेव वा ॥३॥

छाया – प्रमादं कर्ममाहुरप्रमादं तथाऽपरम् ।
तद्भावादेशतो वाऽपि बालं पण्डितमेव वा ॥

अनुवाद – प्रमाद को कर्म तथा अप्रमाद को अकर्म कहा गया है । अतः प्रमाद के सद्भाव से-होने से बालवीर्य तथा अप्रमाद के होने से पण्डितवीर्य घटित होता है ।

टीका – प्रमाद्यन्ति-सदनुष्ठानरहिता भवन्ति प्राणिनो येन स प्रमादो-मद्यादिः, तथा चोक्तम् –

मज्जं विसयकसाया णिद्दा विगहा य पंचमी भणिया । एस पमायपमाओ निद्दिट्ठो वीयरागेहिं ॥१॥''

छाया - मद्यं विषयाकषाया विकथा निद्रा चपंचमी भणिता । एष प्रमादप्रमादो निर्दिष्टो वीतरागैः ॥

तमेवम्भूतं प्रमादं कर्मोपादानभूतं कर्म 'आहुः' उक्तवन्तस्तीर्थकरादयः, अप्रमादं च तथाऽपरमकर्मकमाहुरिति, एतदुक्तं भवति-प्रमादोपहतस्य कर्म बध्यते, सकर्मणश्च यत्क्रियानुष्ठानं तद्बालवीर्यं, तथाऽप्रमत्तस्य कर्माभावो भवति, एवंविधस्य च पण्डितवीर्यं भवति, एतच्च बालवीर्यं पण्डितवीर्यमिति वा प्रमादवतः सकर्मणो बालवीर्यमप्रमत्तस्याकर्मणः पण्डितवीर्यमित्येव मायोज्यं, 'तब्भावादेसओ वावी' ति तस्य-बालवीर्यस्य कर्मणश्च पण्डितवीर्यस्य वा भावः सत्ता स तद्भावस्तेनाऽऽदेशो-व्यपदेशः ततः, तद्यथा-बालवीर्यमभव्यानामनादि अपर्यवसितं भव्यानामनादि सपर्यवसितं वा सादिसपर्यवसितं, पण्डितवीर्यं तु सादिसपर्यवसितमेवेति ॥३॥ तत्र प्रमादोपहतस्य सकर्मणो यद्बालवीर्यं तद्दर्शयितु माह -

टीकार्थ – प्राणी जिसके द्वारा सत् अनुष्ठान से-उत्तम आचार से रहित होते हैं, उसे प्रमाद कहा जाता है, वह मद्य आदि है । कहा है-वीतराग तीर्थंकरों ने मद्य, विषय, कषाय, नींद तथा विकथा इन पाँचों को प्रमाद कहा है । वह-प्रमाद कर्मों का उपादान भूत का कारण रूप है । अप्रमाद को अकर्म कहा गया है । प्रमाद को कर्म तथा अप्रमाद को अकर्म कहे जाने का यह अभिप्राय है कि प्रमादोहत-प्रमाद के कारण बेभान जीव कर्म बंध करता है । उसे सकर्म-कर्मसहित जीव का जो क्रियात्मक अनुष्ठान होता है, उसे बालवीर्य कहा जाता है। जो पुरुष अप्रमत्त-प्रमाद रहित होता है, उसके कर्त्तव्य में कर्म का अभाव है । अतः उस पुरुष का कार्य पंडित वीर्य कहा जाता है । यों जो पुरुष प्रमादयुक्त और कर्मयुक्त है, उसका वीर्य बालवीर्य तथा जो प्रमाद शून्य एवं कर्मरहित उसका वीर्य पण्डित वीर्य है, यह जानना चाहिए । बालवीर्य एवं पण्डित वीर्य इन दोनों की सत्ता या सद्भाव के कारण-दोनों के होने से क्रमशः बाल एवं पण्डित का व्यवहार होता है। इनमें उन जीवों का जो अभव्य है, बालवीर्य अनादि आदि रहित तथा अनन्त-अन्तरहित होता है, तथा भव्य जीवों का अनादि-आदिरहित तथा शांत-अन्तसहित होता है, तथा सादि-आदि सहित एवं शान्त-अन्तसहित भी होता है, किन्तु पण्डित वीर्य, सादि-आदि सहित तथा शांत अन्त सहित ही होता है । प्रमादोपहत-प्रमाद से मूढ सकर्मा-कर्मसहित पुरुष का जो बाल वीर्य होता है उसका दिग्दर्शन कराने हेतु सूत्रकार प्रतिपादित करते हैं-

❀ ❀ ❀

सत्थमेगे तु सिक्खंता, अतिवायाय पाणिणं ।
एगे मंते अहिज्जंति, पाणभूय विहेडिणो ॥४॥

छाया – शास्त्रमेके तु शिक्षन्ते, अतिपाताय प्राणिनाम् ।
एके मन्त्रानधीयते प्राणभूतविहेठकान् ॥

अनुवाद – कई अज्ञानी जीव प्राणियों का विनाश करने हेतु शस्त्र विद्या का अभ्यास करते हैं तथा कई प्राणियों के विध्वसंक मन्त्रों का अध्ययन-साधन करते हैं ।

टीका – शस्त्रं-खड्गादिप्रहरणं शास्त्रं वा धनुर्वेदायुर्वेदिकं प्राण्युपमर्दकारि तत् सुष्ठुसातगौरव गृद्धा 'एके' केचन 'शिक्षन्ते' उद्यमेन गृह्णन्ति, तच्च शिक्षितं सत् 'प्राणिनां' जन्तूनां विनाशाय भवति, तथाहि-तत्रोपदिश्यते, एवं विधमालीढप्रत्यालीढादिभिर्जीवे व्यापादयितव्ये स्थानं विधेयं, तदुक्तम् -

"मुष्टिनाऽऽच्छादयेल्लक्ष्यं, मुष्टौ दृष्टिं निवेशयेत् । हतं लक्ष्यं विजानीयाद्यदि मूर्धा न कम्पते ॥१॥"

तथा एवं लावकरसः क्षयिणे देयोऽभयानिष्टाख्यो मद्यविशेषश्चेति, तथा एवं शौरादेः शूलारोपणादिको दण्डो विधेयः तथा चाणक्याभिप्रायेण परो वञ्चयितव्योऽर्थोपादानार्थं तथा कामशास्त्रादिकं चोद्यमेनाशु माध्यवसायिनोऽधीयते, तदेवं शस्त्रस्य धनुर्वेदादेः शास्त्रस्य वा यदभ्यसनं तत्सर्वं, बालवीर्यं, किञ्च एके केचन पापोदयात् मन्त्रानभिचारकान (ते) थर्वणारश्चमेघपुरुषमेघसर्वमेधादियागार्थमधीयते, किम्भूतानिति दर्शयति-'प्राणा' द्वीन्द्रियादयः 'भूतानि' पृथिव्यादीनि तेषां 'विविधम्' अनेक प्रकारं 'हेटकान्' बाधकान् ऋक्संस्थानीयान् मन्त्रान् पठन्तीति, तथा चोक्तम् -

"षट् शतानि नियुज्यन्ते, पशूनां मध्यमेऽहनि । अश्वमेधस्य वचनान्यूनानि पशुभिस्त्रिभिः ॥१॥"

इत्यादि ॥४॥ अधुना 'सत्थ' मित्येतत्सूत्रपदं सूत्रस्पर्शिकया निर्युक्तिकारः स्पष्टयितुमाह -

टीकार्थ – कई सुख और यशोलिप्सा-लोलुप पुरुष-प्राणियों का उपमर्दन-विध्वंस वाले तलवार आदि शस्त्रों का तथा धनुर्वेद आदि शास्त्रों का बड़े उद्यम-लगन के साथ शिक्षण प्राप्त करते हैं । इन द्वारा शिक्षित-सीखी हुई वह विद्या जंतुओं के विनाश-हनन के लिए होती है क्योंकि उस विद्या में यह उपदेश दिया जाता है, सिखाया जाता है कि जीव को मारने के लिए इस प्रकार आलीढ़-प्रत्यालीढ़-निशाना लगाने की विशिष्ट स्थितियों में होकर पैरों एवं हाथों को विशेष रूप में आगे पीछे कर स्थित होना चाहिए । कहा गया है कि लक्ष्य-जहाँ निशाना लगाना हो या जिस पर लगाना हो, उसे अपनी मुट्ठी में आच्छादित करना चाहिए-उसके सामने अपनी मुट्ठी बांधकर अवस्थित होना चाहिए । बंधी हुई मुट्ठी पर अपनी नजर रखनी चाहिए । यों उस पर बाण छोड़ते हुए यदि अपना मस्तक न हिलें तो लक्षित पुरुष को हत्-मरा हुआ मानना चाहिए । वैद्यक शास्त्र में कहा गया है कि लावक-लवे नामक पक्षी का रस यक्ष्मा-थारसिस के रोगी को देना चाहिए । उसे अभयारिष्ट जो एक प्रकार का मद्य है वह भी देना चाहिए । चाणक्य के अर्थशास्त्र में प्रतिपादित हुआ है कि अर्थोपादान हेतु, धन प्राप्ति के लिए दूसरे की इस प्रकार वंचना करनी चाहिए-ठगना चाहिए । अतः इन शास्त्रों को और कामशास्त्र को अशुभ अधव्यसाय-दूषित परिणामयुक्त पुरुष ही पढ़ते हैं । इस प्रकार शस्त्रविद्या, हथियार चलाने की विद्या तथा धनुर्वेद आदि शास्त्रों का अध्ययन बाल वीर्य है, यह समझना चाहिये । कई पुरुष अशुभ कर्मों के उदय के परिणामस्वरूप अश्वमेध, नरमेध, सर्वमेध आदि यज्ञों के उद्देश्य से प्राणियों के विनाशकारी अथर्ववेद के मंत्रों को पढ़ते हैं । वे मन्त्र किस प्रकार के हैं । सूत्रकार यह दिग्दर्शन कराते हुए कहते हैं-द्वीन्द्रिय आदि प्राणियों तथा पृथ्वी आदि भूतों को विविध प्रकार से क्लेशोत्पादक ऋग्वेद के मन्त्रों को अशुभ विचारयुक्त व्यक्ति पढ़ते हैं । इस सम्बन्ध में कहा गया है कि अश्वमेध यज्ञ के नियमानुसार मध्यान्ह में तीन कम छः सौ-पाँच सौ सत्तानवे पशुओं का नियोजन्-व्यापादन किया जाता है ।

निर्युक्तिकार ने शस्त्रशब्द की जो व्याख्या की है, तद्विषयक गाथा द्वारा सूत्र में आये शस्त्र शब्द को स्पष्ट करने हेतु सूत्रकार यहाँ कहते हैं -

सत्थं असिमादीये विज्जामंते य देव कम्मकयं । पत्थिववारुण अग्गेय वाऊ तह मीसगं चेव ॥

टीका – शस्त्रं-प्रहरणंतच्च असिः-खड्गस्तदादिकं, तथा विद्याधिष्ठितं, मन्त्राधिष्ठितं देवकर्मकृतं-दिव्यक्रियानिष्पादितं, तच्च पञ्चविधं, तद्यथा-पार्थिवं वारुण माग्नेयं वयव्यं तथैवव्यादि मिश्रं येति । किञ्चान्यत् । -

अनुवाद – प्रहरण जिससे प्रहार किया जाता है, उसे शस्त्र-हथियार कहते हैं । तलवार आदि का उनमें समावेश है । विद्याधिष्ठित, मन्त्राधिष्ठित, देव कर्मकृत तथा दिव्य क्रिया से निष्पंद होता है, तब अस्त्र होता है। वह पार्थिव, वारुण, आग्नेय, वायव्य तथा इनमें से किन्हीं दो से मिश्रित यों पाँच प्रकार का होता है ।

❀ ❀ ❀

माइणो कट्टु माया य, कामभोगे समारभे ।
हंता छेत्ता पगब्भित्ता, आयसायाणुगामिणो ॥५॥

छाया – मायिनः कृत्वा मायाश्च, कामभोगान् समारम्भन्ते ।
हन्तारश्छेत्तारः प्रकर्त्तयितार आत्मसातानुगामिनः ॥

अनुवाद – मायावी-छली पुरुष, माया-छलकपट द्वारा दूसरों का धन आदि हरण कर काम भोगों का सेवन करते हैं । अपना सुख चाहने वाले वे, प्राणियों का हनन-मारना, छेदन-छिन्न भिन्न करना, करतन-काटना, चीरना आदि करते हैं ।

टीका – 'माया' परवञ्चनादि(त्मि)का बुद्धिः सा विद्यते येषां ते मायाविनस्त एवम्भूता मायाः -परवञ्चनानि कृत्वा एक ग्रहणे तज्जातीयग्रहणादेव क्रोधिनो मानिनो लोभिनः सन्तः 'कामान्' इच्छारुपान् तथा भोगांश्च शब्दादि विषयरूपान् 'समारभन्ते' सेवन्ते पाठान्तरं वा 'आरंभाय तिवट्टइ' त्रिभिः मनोवाक्कायैरारम्भार्थं वर्त्तते, बहून् जीवान् व्यापादयन् बध्नन् अपध्वंसयन् आज्ञापयन् भोगार्थी वित्तोपार्जनार्थं प्रवर्त्तत इत्यर्थः, तदेवम् 'आत्मसातानुगामिनः' स्वसुखलिप्सवो दुःखलिप्सवो दुःखद्विषो विषयेषु गृद्धाः कषाय कलुषितान्तरात्मानः सन्त एवम्भूता भवन्ति, तद्यथा-'हन्तारः' प्राणित्यापादयितारस्तथा छेत्तारः कर्णनासिकादेस्तथा प्रकर्तयितारः पृष्ठादरा देरिति ॥५॥ तदेतत्कथमित्याह –

टीकार्थ – वह बुद्धि जिससे प्रवंचना की जाती है, दूसरों को ठगा जाता है, माया कही जाती है। जिनमें वह होती है वे पुरुष मायावी-छली या कपटी कहलाते हैं । माया द्वारा अन्यों को ठगकर वैसे कपटी पुरुष सांसारिक भोगों का सेवन करते हैं । एक के ग्रहण से तज्जातीय-उससे सम्बद्ध ओर भी गृहित हो जाते हैं इसलिए यहाँ मायावी के साथ-साथ क्रोधी, मानी-अभिमान युक्त, लोभी-धनादि के लोभ में ग्रस्त जीव भी आ जाते हैं वे पूर्वोक्त रूप में शब्दादि विषयों का सेवन करते हैं । ऐसा समझ लेना चाहिए । वे आरंभाय तिवट्टइ ऐसा पाठान्तर भी प्राप्त होता है, जिसका यह तात्पर्य है कि भोगार्थी विषय भोग को चाहने वाला पुरुष मन, वचन तथा शरीर इन तीनों द्वारा आरम्भ, हिंसा आदि में वर्तनशील रहता-लगा रहता है । वह बहुत से प्राणियों को मारता हुआ, बांधता हुआ, उनका अपध्वंस-विनाश करता हुआ, उनको अपनी आज्ञा में प्रवृत्त करता हुआ-उनसे मनचाहे काम लेता हुआ, धनोपार्जन में प्रवृत्त-तत्पर रहता है । अपनी सुख सुविधा के अभिलाषी, दुःख क्लेश के द्वेषी विषय गृद्ध-भोग लोलूप तथा कषायों से कलुषित अन्तःकरण युक्त पुरुष इस प्रकार पाप कर्म करते हैं वे प्राणियों का व्यापादन करते हैं । उनके कान, नासिका आदि का छेदन करते हैं, काट देते हैं उनके पेट पीठ आदि को चीर डालते हैं ।

वे ये सब किस प्रकार करते हैं सूत्रकार प्रतिपादन कर रहे हैं ।

❀ ❀ ❀

मणसा वयसा चेव, कायसा चेव अंतसो ।
आरओ परमो वावि, दुहावि य असंजया ॥६॥

छाया – मनसा वचसा चैव, कायेन चैवान्तशः ।
आरतः परतोवाऽपि, द्विधाऽपि चासंयताः ॥

अनुवाद – असंयत-संयत रहित पुरुष मन द्वारा, वाणी द्वारा, शरीर द्वारा तथा यदि शरीर में सामर्थ्य न हो तो, मन-वचन द्वारा इस लोक एवं परलोक के निमित्त प्राणियों का हनन करते हैं । औरों द्वारा वैसा करवाते हैं ।

टीका – तदेतत्प्राण्युपमर्दनं मनसा वाचा कायेन कृतकारितानुमतिभिश्च 'अन्तशः' कायेनाशक्तोऽपि तन्दुलमत्स्यवन्मनसैव पापानुष्ठानुमत्या कर्मबध्नातीति, तथा आरतः परतश्चेति लौकिकी वाचो युक्ति रित्येवं पर्यालोच्य माना ऐहिकामुष्मिकयो:'द्विधापि'स्वयंकरणेन परकरणेन चासंयताजीवोपघातकारिण इत्यर्थः ॥६॥ साम्प्रतं जीवोपघात विपाकदर्शनार्थमाह -

टीकार्थ – असंयत पुरुष मन से, वचन से, तथा काया से कृत-स्वयं करना, कारित-औरों से कराना तथा अनुमति-करते हुये का अनुमोदन करना, यों प्राणियों का उपमर्दन-नाश करते हैं । शरीर का सामर्थ्य न रहने पर तन्दूल मत्स्य की ज्यों मन द्वारा ही अशुभ कर्म बाँध लेते हैं । यह तो केवल लौकिक शास्त्रों की युक्ति या प्रतिपत्ति है । ऐसा पर्यालोचित कर-विचार कर वे असंयत पुरुष इस लोक और परलोक के निमित्त स्वयं प्राणियों का घात करते हैं, औरों से करवाते हैं । इस प्रकार ये जीवोपघातकारी-प्राणियों का उपघात करने वाले हैं । अब जीवोपघात-जीव हिंसा करने के फल का दिग्दर्शन कराने हेतु सूत्रकार कहते हैं ।

❀ ❀ ❀

वनेराइं कुव्वई वेरी, तओ वेरेहिं रज्जती ।
पावोवगा य आरंभा, दुक्खफासा य अंतसो ॥७॥

छाया – वैराणि करोति वैरी, ततो वैरै रज्यते ।
पापोपगा आरम्भाः, दुःखस्पर्शा अन्तशः ॥

अनुवाद – जो पुरुष किसी जीव की हिंसा करता है, वह उसके साथ अनेक जन्मों के लिए शत्रुता बाँधता है । आरम्भ-जीवों की हिंसा पाप उत्पन्न करती है और उसका फल दुःखमय होता है ।

टीका – वैरमस्यास्तीति वैरी, स जीवोपमर्दकारी जन्मशतानुबन्धीनि वैराणि करोति, ततोऽपि च वैरादपैरवैरैरनुरज्यते-संबध्यते, वैरपरम्परानुषङ्गीभवतीत्यर्थः किमिति ?, यथः पापं उप-सामीप्येन गच्छन्तीति पापोपगाः, कएते ? आरम्भाः' सावद्यानुष्ठानरूपाः 'अन्तशो 'विपाककाले दुःखं स्पृशन्तीति दुःख स्पर्शा-असातोदय विपाकिनो भवन्तीति ॥७॥ किञ्चान्यत् -

टीकार्थ – जिसके वैर होता है या जो वैरयुक्त होता है, उसे वैरी कहा जाता है । वैसा जीवों का उपमर्दन करने वाला पुरुष सैकड़ों जन्मों तक के लिए अनुबद्ध रहने वाला वैर-शत्रुभाव उत्पन्न करता है । उस एक वैर-शत्रुत्व के कारण वह अनेक वैरों में सम्बद्ध-परिग्रहित हो जाता है अर्थात् वह वैर एक परम्परा पकड़

लेता है क्योंकि पापों पग-पाप के साथ चलने वाले पापों से जुड़े हुए सावद्य अनुष्ठान-अशुभकर्म जब परिपक्व होते हैं, उनके फल देने का समय आता है, तब वे दु:ख उत्पन्न करते हैं अर्थात् उनका विपाक-परिपाक असाता-वेदनीय के रूप में-दु:ख के रूप में उदित-प्रकटित होता है ।

❀ ❀ ❀

संपरायं णियच्छंति, अन्तदुक्कडकारिणो ।
रागदोसस्सिया बाला, पावं कुव्वंति ते बहुं ॥८॥

छाया – सम्परायं नियच्छन्त्यात्मदुष्कृत कारिणः ।
रागद्वेषाश्रिता बालाः, पापं कुर्वन्ति ते बहु ॥

अनुवाद – आत्म दुष्कृतकारी-स्वयं दूषित कार्य-पाप कार्य करने वाले जीव साम्परायिक् कर्म बाँधते हैं । वे राग द्वेषाश्रित-राग एवं द्वेष में संलग्न बाल अज्ञजन बहुत पापों का बंध करते हैं ।

टीका – 'सम्परायं णियच्छंती 'त्यादि, द्विविधं कर्म-ईर्यापथं साम्परायिकं च, तत्र सम्पराया-बादरकषायास्तेभ्य आगतं साम्परयिकं तत् जीवोपमर्दकत्वेन वैरानुषङ्गितया 'आत्मदुष्कृतकारिण:' स्वपापविधायिन: सन्तो 'नियच्छन्ति' बध्नन्ति, तानेव विशिनष्टि-'रागद्वेषाश्रिता:' कषायकलुषि तान्तरात्मान: सदसद्विवेकविकलत्वात् बाला इव बाला:, ते चैवम्भूता: 'पापम्' असद्वेद्यं 'बहु' अनन्तं 'कुर्वन्ति' विदधति ॥८॥ एवं बालवीर्यं प्रदर्शोपसंजिघृक्षुराह-

टीकार्थ – इर्या पथ एवं साम्परायिक के रूप में कर्म के दो प्रकार हैं । सम्पराय का आशय बादर-स्थूल कषाय से है, उससे जो दुष्कृत् होता है, वैरानुसंगीता शत्रुभाव से सम्बद्ध होने के कारण जो जीवों की हिंसा होती है, उससे प्राणी इस कर्म का बंध करते हैं । वैसे पापी विधायी-पाप कर्म करने वाले पुरुषों की विशेषता बताते हुए प्रतिपादन करते हैं कि राग तथा द्वेष से आश्रित-रागमय तथा द्वेषमय भावों से आपूर्ण, कषाय से कलुषित अन्त:करण युक्त पुरुष सत् और असत् के ज्ञान से शून्य होने के कारण एक बालक की ज्यों अज्ञ हैं । ऐसे ज्ञान विवर्जित जन अनन्त पाप करते हैं । इस प्रकार बालवीर्य वीर्य को प्रदर्शित कर उसका उपसंहार करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

❀ ❀ ❀

एयं सकम्मवीरियं, बालाणं तु पवेदितं ।
इत्तो अकम्मविरियं, पंडियाणं सुणेह मे ॥९॥

छाया – एतत् सकर्मवीर्य्यं, बालानान्तु प्रवेदितम् ।
अतोऽकर्मवीर्य्यं पण्डितानां शृणुत मे ॥

अनुवाद – बालकों-अज्ञानी जनों के सकर्म वीर्य का प्रवेदन-विवेचन किया गया है । अब यहाँ से पण्डितों-ज्ञानी जनों के अकर्म वीर्य का विवेचन मुझसे सुनो ।

टीका – 'एतत्' यत् प्राक् प्रदर्शितं, तद्यथा-प्राणिनामतिपातार्थं शस्त्रं शास्त्रं वा केचन शिक्षन्ते तथा परे विद्यामन्त्रान् प्राणिबाधकानधीयते तथाऽन्ये मायाविनो नानाप्रकारांमायां कृत्वा कामभोगार्थमारम्भान् कुर्वते

केचन पुनरपरे वैरिणस्तत्कुर्वन्ति येन वैररैनुबध्यन्ते (ते) तथाहि-जमदग्निना स्वभार्याऽकार्यव्यतिकरे कृतवीर्यो विनाशितः, तत्पुत्रेण तु कार्तवीर्येण पुनर्जमदग्निः, जमदग्निसुतेन परशुरामेण सप्तवारान् निःक्षत्रापृथिवीकृता, पुनः कार्तवीर्यसुतेन तु सुभूमेन त्रिःसप्तकृत्वो ब्राह्मणा व्यापादिताः, तथा चोक्तम् -

"अपकारसमेन कर्मणा न नरस्तुष्टि मुपैति शक्तिमान् ।
अधिकां कुरु वै (तेऽ) रियातनां द्विषतां जातम शेष मुद्धरेत् ॥१॥"

तदेवं कषायवशगाः प्राणिनस्तकुर्वन्ति येन पुत्रपौत्रादिष्वपि वैरानुबन्धो भवति, तदेतत्सकर्मणां बालानां वीर्यं तुशब्दात्प्रमादवतां च प्रकर्षेण वेदितं प्रवेदितं प्रतिपादितमिति यावत्, अत ऊर्ध्वमकर्मणां-पण्डितानां यद्वीर्यं तन्मे-मम कथयतः शृणुत यूयमिति ॥९॥ यथा प्रतिज्ञातमेवाह -

टीकार्थ – जैसा पहले विवेचन किया गया है, प्राणियों का अतिपात-नाश करने हेतु कई लोग शस्त्रविद्या तथा शास्त्र विद्या का अभ्यास करते हैं एवं कई अन्य लोग ऐसी विद्याओं और मंत्रों का साधन करते हैं जिनसे दूसरों को कष्ट दिया जा सके । कतिपय, कपटी, मायावी, छल प्रपंच कर काम भोग के निमित्त हिंसा करते हैं, तथा कितने ही ऐसे कर्म करते हैं जिससे शत्रुता की परम्परा अनुबद्ध होती है । उदाहरण है-जमदग्नि ने अपनी भार्या के साथ कुकर्म करने के प्रतिकार के रूप में कृतवीर्य का नाश कर डाला था । इस वैर के कारण उसके पुत्र कार्तवीर्य ने जमदग्नि का वध कर डाला । फिर जमदग्नि के पुत्र परशुराम ने सात बार इस भूमि को निःक्षत्रिय-क्षत्रिय विहीन कर दिया । तत्पश्चात् कातवीर्य के पुत्र सुभुम ने इक्कीस बार ब्राह्मणों का व्यापादन-विनाश किया कहा है । अपकार का-अपने प्रति किये गए विरुद्धाचरण का उसी के सदृश अपकार या विरुद्धाचरण कर शक्ति शाली पुरुष सन्तुष्ट नहीं होता वह तो शत्रु को अधिक से अधिक पीड़ा देना चाहता है और प्रयत्न करता है कि उसका मूलोच्छेद हो जाय । इस प्रकार कषाय के वशगामी-अधीन होकर प्राणी ऐसे कार्य करते हैं जिससे पुत्र-पौत्र पर्यन्त वह वैर चलता रहता है । इस प्रकार सकर्म-कर्मयुक्त बल अज्ञानी जनों का वीर्य प्रवेदित-विषद रूप में प्रतिपादित किया गया है ।

यहाँ तू शब्द से प्रमाद युक्त जनों का भी ग्रहण है । इससे आगे अकर्मा-कर्म रहित, पण्डित-ज्ञानीजनों के वीर्य का मैं वर्णन करता हूँ । तुम लोग सुनो । जैसा प्रतिज्ञात-संसूचित किया है तदनुसार सूत्रकार कहते हैं ।

❀ ❀ ❀

दव्विए बंधणुम्मुक्के, सव्वओ छिन्नबंधणे ।
पणोल्ल पावकं कम्मं, सल्लं कंतति अंतसो ॥१०॥

छाया – द्रव्यो बन्धनान्मुक्तः, सर्वतश्छिन्न बन्धनः ।
प्रणुद्य पापकं कर्म, शल्यं कृन्तत्यन्तशः ॥

अनुवाद – भव्य-मुक्ति प्राप्त करने योग्य पुरुष सब प्रकार के बन्धनों को उच्छिन्न कर-काटकर एवं उनसे छूटकर, पाप कृत्य का परिहार कर अष्टविध कर्मों को नष्ट कर डालता है ।

टीका – 'द्रव्यो' भव्यो मुक्तिगमनयोग्यः 'द्रव्यं च भव्ये' इति वचनात् रागद्वेषविरहाद्वा द्रव्य भूतोऽकषायीत्यर्थः, यदि वा वीतराग इव वीतरागोऽल्पकषाय इत्यर्थः, तथा चोक्तम् -

'किं सक्का वोत्तुं जे सरागधम्मंमि कोइ अकसायी । संतेवि जो कसाए निगिण्हइ सोऽवि तत्तुल्लो ॥१॥'

छाया- किं शक्यावक्तुं यत्सरागधर्मे कोऽप्य कषायः। सतोऽपि यः कषायान्निगृण्हाति सोऽपि तत्तुल्यः॥२॥

स च किम्भूतो भवतीति दर्शयति-बन्धनात्-कषायात्मकान्मुक्तो बन्धनोन्मुक्तः, बन्धनत्वं तु कसायाणां कर्मस्थिति हेतुत्वात्, तथा चोक्तम्-''बंधट्ठिई कसायवसा'' कषायवशात् इति, यदिवा बन्धनोन्मुक्त इव बन्धनोन्मुक्तः तथाऽपरः 'सर्वतः' सर्वप्रकारेण सूक्ष्मबादररूपं 'छिन्नम्' अपनीतं 'बन्धनं' कषायात्मकं येन स छिन्नबन्धनः, तथा 'प्रणुद्य' प्रेर्य 'पापं' कर्मकारणभूतान्वाऽऽश्रवानपनीय शल्यवच्छल्यं-शेषकं कर्म तत् कृन्तति-अपनयति अन्तशो-निरवशेषतो विघटयति, पाठान्तरं वा 'सल्लं कंतई अप्पणो' त्ति शल्यभूतं यदष्टप्रकारं कर्म तदात्मनः सम्बन्धि कृन्तति-छिनत्तीत्यर्थः ॥१०॥ यदुपादायशल्यमपनयतितद्दर्शयितुमाह -

टीकार्थ – जो पुरुष मुक्ति प्राप्त करने में योग्य होता है, वह भव्य कहलाता है । उसे द्रव्य भी कहते हैं । पाणीनिय व्याकरण में आये 'द्रव्यंच-भव्ये' सूत्र द्वारा भव्य के अर्थ में द्रव्य पद का प्रयोग सिद्ध है अथवा राग द्वेष से विरहित-पृथक् होने के कारण जो पुरुष द्रव्यभूत-कषाय रहित है, वह द्रव्य है। अथवा जो पुरुष वीतराग के सदृश अल्पकषाय है, वह द्रव्य कहा जाता है । कहा गया है सराग धर्म में अवस्थित-छठें, सातवें गुण स्थान में विद्यमान कोई पुरुष कषाय रहित है । क्या ऐसा कहा जा सकता है ? उत्तर में बतलाया गया है कि कषाय के होने पर भी जो पुरुष उनको उदय में आने से रोके रहता है वह भी वीतराग के सदृश ही है । उस अपेक्षा से कषाय रहित है । वह पुरुष कैसा होता है ? इसका स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि वह पुरुष कषायात्मक बन्धन से मुक्त है क्योंकि कषायों का बन्धनत्व तभी होता है जब वे कर्मस्थिति के हेतु हों । कहा गया है कि कर्मों के बन्धन की स्थिति कषाय के वश में है ।

अथवा वह पुरुष बन्धन मुक्त पुरुष के सदृश होने के कारण बन्धन मुक्त-बन्धन से छूटा हुआ है । वह दूसरे सूक्ष्म एवं स्थूल कषायों का छेदन-अपनयन करने के कारण छिन्न बन्धन है । उसके बन्धन छिन्न बन्धन हैं । पापों के कारण भूत आश्रवों का अपनयन का शल्य-कांटे की ज्यों अवशिष्ट कर्मों को निशेष रूप में काट डालता है, सम्पूर्णतः नष्ट कर देता है । यहाँ 'सल्लं कन्तइ अप्पणो' शल्यं किन्तति आत्मनः ऐसा पाठान्तरं प्राप्त होता है ।

इसका अभिप्राय यह है कि वह पुरुष लगे हुए शल्य-कांटे की तरह अपनी आत्मा के साथ संश्लिष्ट अष्टविध कर्मों को छिन्न नष्ट कर डालता है ।

जिसका आश्रय लेकर वह पुरुष शल्य रूप कर्मों का अपनयन करता है, उसका दिग्दर्शन कराते हुए सूत्रकार कहते हैं -

❀ ❀ ❀

नेयाउयं सुयक्खायं, उवादाय समीहए ।
भुज्जो भुज्जो दुहावासं, असुहत्त तहा तहा ॥११॥

छाया – नेतारं स्वाख्यात, मुपादाय समीहते ।
भूयो भूयो दुःखावास, मशुभत्वं तथा तथा ॥

अनुवाद – तीर्थंकरों ने मोक्ष की ओर ले जाने वाले मार्ग का-सम्यक् दर्शन ज्ञानचारित्रात्मक पथ का निरूपण किया है । अतएव बुद्धिशील पुरुष इन्हें स्वीकार कर मोक्षपथ की ओर गमनोद्यत हो । बालवीर्य-

अज्ञान मूलक पराक्रम जीव को पुनः पुनः कष्ट देता है, दुःख देता है । जीव ज्यों ज्यों दुःख भोगता है उसके अशुभ परिणाम बढ़ते जाते हैं ।

टीका – नयनशीलो नेता, नयतेस्ताच्छीलिकस्तृन्, स चात्र सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्रात्मको मोक्षमार्गः श्रुतचारित्ररूपो वा धर्मो मोक्षनयनशीलत्वात् गृह्यते, तं मार्गं धर्मं वा मोक्षं प्रति नेतारं सुष्ठु तीर्थकरादिभिवाख्यातं स्वाख्यातं तम् 'उपादाय' गृहीत्वा 'सम्यक्' मोक्षाय ईहते-चेष्टते ध्यानाध्ययनादावुद्यमं विधत्ते, धर्मध्यानरोहणा लम्बनाहाय-'भूयो भूयः' पौनः पुन्येन यद्बालवीर्यं तदतीतानागतानन्त भव ग्रहणे-(ग्र. ५०००) बु दुःख मावासयतीति दुःखावासं वर्तते, यथा-यथा च बालवीर्यवान् नरकादिषु दुःखावासेषु पर्यटति तथा तथा चास्याशुभाध्यवसायित्वादशुभमेव प्रवर्धते इत्येवं संसार स्वरूपमनुप्रेक्षमाणस्य धर्मध्यानं प्रवर्तत इति ॥२१॥

टीकार्थ – नयनशील नेता कहा जाता है । यहाँ नेता पद में ताच्छीलिक-तृन् के अनुसार 'नी' धातु के साथ तृन् प्रत्यय लगा है । जो ले जाता है-सन्मार्ग पर अग्रसर करता है, वह नेता या नायक कहा जाता है । यहाँ सम्यक्, ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र मूलक मोक्षमार्ग को नेता के रूप में अभिहित किया गया है, अथवा श्रुत एवं चारित्र मूलक धर्म यहाँ नेता पद से गृहीत होता है, क्योंकि वह जीव को मोक्ष की ओर ले जाता है । तीर्थंकरों ने उसी पथ को मोक्ष का नेता बताया । अतः बुद्धिशील पुरुष उसे ग्रहण कर ध्यान, अध्ययन आदि में उद्यमशील होते हैं । सूत्रकार जीव को ध्यान के पथ पर आरोहण करने में-उपर चढ़ाने में प्रेरित करने हेतु कहते हैं-कि बालवीर्य अतीत-भूत, अनागत-भविष्य में अनन्त भवों में पुनः पुनः दुःखावास मूलक है, अर्थात् बालवीर्य युक्त पुरुष ज्यों ज्यों नरक आदि यातना स्थानों में पर्यटन करता है, त्यों त्यों अपने अशुभ-दोष युक्त या सावद्य अध्यवसाय-परिणाम होने के कारण अशुभ की ही वृद्धि करता है । यों जो पुरुष संसार के दुःखमय स्वरूप की अनुप्रेक्षण चिंतन करता है, धर्म ध्यान में उसका चित्त प्रवृत्त होता है, लगता है ।

❀ ❀ ❀

ठाणी विविहठाणाणि, चइस्संति ण संसओ ।
अणियते अयं वासे, णाय एहि सुहीहि य ॥१२॥

छाया – स्थानिनो विविधस्थानानि त्यक्ष्यन्ति न संशयः ।
अनित्योऽयं वासः, ज्ञातिभिः सुहृद्भिश्च ॥

अनुवाद – विविध स्थानों के स्थानी-अधिपति या अधिनायक एक दिन अवश्य ही अपने स्थानों से च्युत होंगे । ज्ञातिजनों एवं मित्रों का संवास-साहचर्य्य भी अनित्य है ।

टीका – साम्प्रतम् नित्यभावनामधिकृत्याह-स्थानानि विद्यन्ते येषां ते स्थानिनः तद्यथा-देवलोके इन्द्रस्तत्सामानिकत्रायस्त्रिंशत्पार्षद्यादीनि मनुष्येष्वपि चक्रवर्तिबलदेववासुदेवमहामण्डलिकादीनि तिर्यक्ष्वपि यानिकानिचिदिष्टानि भोगभूम्यादौ स्थानानि तानि सर्वाण्यपि विविधानि-नाना प्रकाराण्युत्तमाधममध्यमानि ते स्थानिनस्त्यक्ष्यन्ति, नात्र संशयो विधेय इति, तथा चोक्तम् -

"अशाश्वतानि स्थानानि सर्वाणि दिवि चेह च । देवासुर मनुष्याणामृद्धयश्च सुखानि च ॥१॥"

तथाऽयं 'ज्ञातिभिः' बन्धुभिः सार्धं सहायैश्च मित्रैः सुहृद्भिर्यः संवासः सोऽनित्योऽशाश्वत इति, तथा चोक्तम् -

"सुचिरतरमुषित्वा बान्धवैर्विप्रयोगः, सुचिरमपि हि रन्त्वा नास्ति भोगेषु तृप्तिः ।
सुचिर मपि सुपुष्टं याति नाशं शरीरं, सुचिरमपि विचिन्त्यो धर्मः एकः सहायः ॥१॥"

इति, चकारौ धनधान्य द्विपदचतुष्पद शरीराद्यनित्यत्व भावनार्थौ (र्थं) अशरणाश्चशेषभावनार्थ वानुक्तसमुच्चयार्थमुपान्ताविति ॥१२॥ अपिच -

टीकार्थ – अब अनित्य को उदिष्ट कर आगमकार कहते हैं-जो स्थान या उच्च पद युक्त होते हैं, इनको स्थानी कहा जाता है । जैसे स्वर्ग में इन्द्र एवं उनके सामानिक तैंतीस पार्षद्य आदि स्थानी हैं । इसी प्रकार मानवों में चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, महामाण्डलिक-बड़े मण्डल या विशाल राज्य का स्वामी आदि स्थानी-उच्चपद युक्त है । इसी प्रकार तिर्यञ्च प्राणियों के संदर्भ में भी समझना चाहिए । इस भोग भूमि में जो भी स्थान हैं, वे सब भिन्न-भिन्न प्रकार से उत्तम, मध्यम एवं अधम कोटिके हैं । उनके स्थानी-अधिपति एक दिन निश्चय ही उनका त्याग कर देंगे, इसमें जरा भी संदेह नहीं है । कहा है जितने स्थान-उच्च पद स्वर्ग लोक में तथा मर्त्यलोक में है, सभी अशाश्वत-अस्थायी या स्वल्पकाल के लिए हैं । इसी प्रकार देवों असुरों एवं मानवों की ऋद्धि-वैभव एवं सुख भी अशाश्वत, स्वल्प कालिक है । ज्ञातिजनों, कुटुम्बीवृन्द तथा स्नेहशील मित्रों के साथ जो संवास-साहचर्य्य है, वह भी अनित्य है । अशाश्वत है । कहा है बहुत समय तक बन्धु बान्धवों के साथ रहकर अंत में उनसे विप्रयोग-वियोग हो जाता है, बहुत समय तक रमण-सांसारिक भोग सेवन करने पर भी तृप्ति नहीं होती । जिस शरीर को चिरकाल से पुष्ट करते रहे, वह भी नष्ट हो जाता है । किन्तु यदि धर्म का सच्चिन्तन किया, उसे आत्मसात् किया तो वही इस लोक में, और परलोक में सहायक बनता है । प्रस्तुत गाथा में 'च' का दो बार प्रयोग हुआ है । उसका आशय यह है कि धन-धान्य द्विपद एवं चतुष्पद आदि सांसारिक वैभव एवं परिग्रह में अनित्यत्व की भावना रहनी चाहिए । वे अनित्य हैं ऐसा हृदयंगम करना चाहिए । अशरण आदि बारह भावनाओं का अभ्यास करना चाहिए । 'च' शब्द से यह भी सूचित है कि जो बात यहाँ अनुक्त-नहीं कही गई हो, उस को भी जान लेना चाहिए ।

❀ ❀ ❀

एवमादाय मेहावी, अप्पणो गिद्धिमुद्धरे ।
आरियं उवसंपज्जे, सव्व धम्ममकोवि (५००) यं ॥१३॥

छाया – एवमादय मेघावी, आत्मनो गृद्धिमुद्धरेत् ।
आर्य्य मुपसंपद्येत, सर्व धर्मरकोपितम् ॥

अनुवाद – पहले जो वर्णित हुए हैं, वे सभी ऊँचे पद अनित्य-नश्वर हैं । यह जानकर विवेकशील पुरुष अपनी गृद्धि-आसक्ति या लोलुपता को त्याग दे । अन्य कुतीर्थिक जनों के धर्मों से अदूषित अप्रभावित-अविकृत आर्य-उत्तम धर्म को आत्मसात् करें ।

टीका – अनित्यानि सर्वाण्यपि स्थानानीत्येवम् 'आदाय' अवधार्य 'मेघावी' मर्यादाव्यवस्थितः सदसद्विवेकी वा आत्मनः सम्बन्धिनीं 'गृद्धिं' गार्द्धर्यं ममत्वम् 'उद्धरेद्' अपनयेत्, ममेदमहमस्य स्वामीत्येवं ममत्वं क्वचिदपि न कुर्यात् तथा आराघातः, सर्वहेयधर्मेभ्यइत्यार्थो-मोक्षमार्गः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मकः, आर्याणां वा-तीर्थकृदादीनामयमार्यो-मार्गस्तम् 'उपसम्पद्येत' अदितिष्ठेत् समाश्रयेदिति, किम्भूतं मार्गमित्याह-सर्वैः कुतीर्थिक

धर्मैः 'अकोपितो' अदूषितः स्वमहिम्नैवदूषयितुमशक्यत्वात् प्रतिष्ठांगतः (तं), यदि वा-सर्वैर्धर्मैः-स्वभावैरनुष्ठान रूपैगोपितंकुत्सितकर्त्तव्याभावात् प्रकटमित्यर्थः ॥१३॥

टीकार्थ – मेधावी-अपनी मर्यादा में विद्यमान अथवा सत्-असत् के विवेक युक्त पुरुष सभी स्थान पर अनित्य है, ऐसा चिन्तन कर उनके प्रति गृद्धि-ममत्व या आसक्ति का त्याग कर दे । वह कभी भी ऐसा न सोचे कि यह वस्तु मेरी है, मैं इसका मालिक हूँ । जो सभी हेय-त्यागने योग्य धर्मो से-असत् चिंतन और आचरण से दूरवर्ती है, उसे आर्य धर्म कहा जाता है । वह सम्यक दर्शन, सम्यक ज्ञान और सम्यक् चारित्र मूलक मोक्षधर्म है, अथवा-तीर्थंकर आदि आर्य पुरुषों का जो मार्ग है, उसे आर्य कहते हैं । मेधावी पुरुष उसे समाश्रित करे-ग्रहण करे । वह मार्ग कैसा है ? इसे स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि वह सभी कुतीर्थिकों धर्मों द्वारा मिथ्यावादी जनों के सिद्धान्तों द्वारा अदूषित-अविकृत है, अप्रभावित है । वह इतनी महिमा एवं गरिमामय है कि कुतीर्थिकों के सिद्धान्तों द्वारा दूषित नहीं किया जा सकता, अथवा वह सभी धर्मों इतर सिद्धान्तों या उनकी क्रियाओं से अगोपित है-अस्पृष्ट है । किसी भी कुत्सित कर्त्तव्य या क्रिया का सद्भाव न होने से यह अपने शुद्ध स्वरूप में प्रकट है ।

❀ ❀ ❀

सह संमइए णच्चा, धम्मसारं सुणेत्तु वा ।
समुवट्ठिए उ अणगारे, पच्चक्खाय पावए ॥१४॥

छाया – सह सन्मत्या ज्ञात्वा, धर्मसारं श्रुत्वा वा ।
समुपस्थितस्त्वनगारः प्रत्याख्यातपापकः ॥

अनुवाद – समुपस्थित-ज्ञानादि गुणों के उपार्जन में, आत्मोन्नति में संप्रवृत्तसाधु सन्मति-अपनी निर्मल बुद्धि द्वारा गुरु आदि से श्रवणकर धर्म के सार-सत्यस्वरूप को अवगत कर पाप का परित्याग करे ।

टीका – सुधर्मपरिज्ञानं च यथा भवति तद्दर्शयितुमाह-धर्मस्य सारः-परमार्थो धर्मसारस्तं 'ज्ञात्वा' अवबुद्धय, कथमिति दर्शयति-सह सन्-मत्या स्वमत्या-विशिष्टाभिनिबोधकज्ञानेन श्रुतज्ञानेनावधिज्ञानेन वा, स्वपरावबोधकत्वात् ज्ञानस्य, तेन सह, धर्मस्य सारं ज्ञात्वेत्यर्थः, अन्येभ्यो वा-तीर्थंकरगणधराचार्यादिभ्यः इलापुत्रवत् श्रुत्वा चिलातपुत्रवद्वा धर्मसारमुपगच्छति, धर्मस्य वा सारं-चारित्रं तत्प्रतिपद्यते, तत्प्रतिपत्तौ च पूर्वोपात्तकर्मक्षयार्थं पण्डितवीर्यसम्पन्नो रागादिबन्धनविमुक्तो बालवीर्यरहित उत्तरोत्तरगुणसम्पत्तये समुपस्थितोऽनगारः प्रवर्धमान परिणामः प्रत्याख्यातं-निराकृतं पापकं-सावद्यानुष्ठानरूपं येनासौ प्रत्याख्यातपापको भवतीति ॥१४॥ किञ्चान्यत् –

टीकार्थ – सुधर्म-उत्तम धर्म का मनुष्य को परिज्ञान जिस प्रकार हो, उसे बताने हेतु सूत्रकार प्रतिपादित करते हैं –

धर्म का सार या सच्चा स्वरूप परमार्थ है । वह किस प्रकार जाना जाए, इसे अवगत कराने हेतु कहते हैं कि-इसे बुद्धि द्वारा या अपने विशिष्ट अभिनि बोधिक ज्ञान-अपनीविशिष्ट मतिज्ञान प्रवण बुद्धि द्वारा या श्रुत ज्ञान द्वारा, अवधिज्ञान द्वारा धर्म के सार को जाने, इसका यह तात्पर्य है । अथवा तीर्थंकर, गणधर, आचार्य आदि से इलापुत्र की ज्यों या दूसरे से श्रवण कर चिलात पुत्र की ज्यों धर्म का सार वैसा पुरुष जानता है । अथवा धर्म का सार चारित्र है, उसे प्रतिपन्न-स्वायत्त करता है । चारित्र को प्राप्त कर पूर्वबद्ध कर्मों को क्षीण

करने हेतु वह पंडितवीर्य युक्त साधक राग आदि के बन्धनों से विमुक्त और बालवीर्य रहित होता हुआ उत्तरोत्तर गुण वृद्धि हेतु अपने उत्कर्ष की ओर बढ़ते हुए परिणामों से पापों का प्रत्याख्यान विवर्जन कर निर्मल, निष्पाप विशुद्ध होता है ।

❀ ❀ ❀

जं किंचुवक्कमं जाणे, आउक्खेमस्स अप्पणो ।
तस्सेव अंतरा खिप्पं, सिक्खं सिक्खेज्ज पंडिए ॥१५॥

छाया – **यं कञ्चिदुपक्रमं जानीया दायुःक्षेमस्यात्मनः ।**
तस्यैवान्तरा क्षिप्रं शिक्षां शिक्षेत् पण्डितः ॥

अनुवाद – पंडित-ज्ञानी पुरुष को यदि किसी प्रकार अपने आयुष्य क्षय का समय ज्ञात हो जाए तो वह उससे पूर्व ही संलेखना मूलक शिक्षा ग्रहण करे-संलेखना के पथ पर अग्रसर हो ।

टीका – उपक्रम्यते-संवर्त्यते क्षयमुपनीयते आयुर्येन स उपक्रमस्तं यं कञ्चन जानीयात् कस्य?-'आयुःक्षेमस्य' स्वायुषइति, इदमुक्तं भवति-स्वायुष्कस्य येनकेनचित्प्रकारेणोपक्रमो भवी यस्मिन् वा काले तत्परिज्ञाय तस्योपक्रमस्य कालस्य वा अन्तराले क्षिप्रमेवानाकुलो जीविताशंसी 'पण्डितो' विवेकी संलेखनारूपां शिक्षां भक्तपरिज्ञेङ्गितमरणादिकां वा शिक्षेत्, तत्र ग्रहणशिक्षया यथावन्मरणविधिं विज्ञायाऽऽसेवनाशिक्षयात्वासेवेतेति ॥१५॥

टीकार्थ – जिससे आयुष्य क्षय को प्राप्त होता है, उसे उपक्रम कहा जता है । यदि साधु को किसी प्रकार अपने आयुष्य के उपक्रम-क्षय के संदर्भ में ज्ञात हो जाए तो वह अपने आयुष्य का जिस प्रकार जिस समय समापन होने वाला हो, उसे जानकर उस समय के आने से पूर्व ही, वह अनकुल तथा जीने की अभिलाषा से रहित होता हुआ, संलेखना भक्तपरिज्ञा-अन्न त्याग या अन्न पानी दोनों के याग एवं इंगितमरण-मर्यादित स्थान में रहते हुए, शारीरिक सेवा के अपवाद के साथ अन्न पानी का त्याग नादि शिक्षा को ग्रहण करे । ग्रहण शिक्षा-तद्विषयक परिज्ञान द्वारा मरण की विधि को भली-भाँति अवगत क आ सेवना शिक्षा से यथावत आचार विधि से उसका सेवन करे ।

❀ ❀ ❀

जहा कुम्मे सअंगाई, सए देहे समाहरे ।
एवं पावाइं मेधावी, अज्झप्पेण समाहरे ॥१६॥

छाया – **यथा कूर्मः स्वाङ्गानि, स्वके देहे समाहरेत् ।**
एवं पापानि मेधावी, अध्यात्मना समाहरेत् ॥

अनुवाद – जैसे कच्छप अपने अंगों को अपने शरीर में सिकोड़ लेता है,उसी प्रकार मेधावी-प्रज्ञाशील पुरुष, अध्यात्म भावना से अपने पापों को उपसंहत करे-उन्हें संकुचित कर अपने से पृथक् कर दे ।

टीका – किञ्चान्यत्-'यथे' त्युदाहरण प्रदर्शनार्थः यथा 'कूर्मः' कच्छपः स्वान्यङ्गानि-शिरोधरादीनि स्वके देहे 'समाहरेद्' गोपयेद्-अव्यापाराणिकुर्याद् 'एवम्' अनयैव प्रक्रियया 'मेधवी' मर्यादावान् सहसद्विवेकी

वा 'पापानि' पापरुपाण्यनुष्ठानानि 'अध्यात्मना' सम्यग्धर्मध्यानादिभावनया 'समाहरेत्' उपसंहरेत्, मरणकाले चोपस्थिते सम्यक् संलेखनया संलिखितकायः पण्डितमरणेनात्मानं समाहरेदिति ॥१६॥ संहरणप्रकारमाह -

टीकार्थ – इस गाथा में 'यथा' शब्द उदाहरण प्रदर्शित करने हेतु आया है । जैसे एक कच्छप अपनी गर्दन आदि अंगों को अपनी देह में समाहृत कर लेता है-छिपा लेता है, व्यापार शून्य कर देता है, उसी तरह मेधावी, मर्यादाशील, सद् असद् विवेक शील साधक अपने पापमूलक अनुष्ठानों को अध्यात्म रत होता हुआ त्याग दे, तथा मृत्यु का समय आने पर संलेखना द्वारा अपनी देह को शुद्ध बनाकर पंडितमरणपूर्वक उसे त्याग दे ।

❀ ❀ ❀

साहरे हत्थपाए य, मणं पंचेंदियाणि य ।
पावकं च परीणामं, भासादोसं च तारिसं ॥१७॥

छाया – संहरेद्धस्तपादञ्च, मनः पञ्चेन्द्रियाणिच ।
पापकञ्च परिणामं, भाषादोषञ्च तादृशम् ॥

अनुवाद – साधु अपने हाथ, पैर, मन तथा पांचों इन्द्रियों को संहृत रखे-नियन्त्रित रखे । उनको विषयों से निवृत्त रखे । वह पापपूर्ण परिणाम-भाव मन में न आने दे तथा भाषा विषयक दोषों का भी परिवर्जन करे।

टीका – पादपोपगमने इङ्गिनीमरणे भक्तपरिज्ञायां शेषकाले वा कूर्मवद्धस्तौ पादौ च 'संहरेद्' व्यापारान्निवर्त्तयेत्, तथा 'मनः' अन्तःकरणं तच्चाकुशलव्यापारेभ्यो निवर्तयेत् तथा शब्दादि विषयेभ्योऽनुकूलेभ्योऽरक्त द्विष्टतया श्रोत्रेन्द्रियादीनि पञ्चापीन्द्रियाणि च शब्दः समुच्चये तथा पापकं परिणाममैहिकामुष्मिकाशंसारूपं संहरेदित्येवं भाषादोषं चतादृशं' पापरूपं संहरेत्, मनोवाक्कायगुप्तः सन् दुर्लभं सत्संयममवाप्य पण्डितमरणं वाऽशेषकर्मक्षयार्थं सम्यगनुपालयेदिति ॥१२७॥

टीकार्थ – कटे हुए वृक्ष की ज्यों चेष्टा रहित होकर सेवा तथा अन्नपान के त्याग रूप अनशन में एवं इंगितमरण-मर्यादित क्षेत्र में सेवा के अपवाद के साथ, अन्नजल त्याग रूप अनशन में, शेषकाल में अपने हाथ पैरों को कच्छप की ज्यों संकुचित करे, अर्थात् उन द्वारा प्राणियों के लिए दुःखप्रद व्यापार क्रियादि न करे, एवं मन को अकुशल व्यापारों-दुःसंकल्पों से निवृत्त करे । अनुकूल एवं प्रतिकूल शब्द आदि विषयों में रक्तता-अनुराग भाव, द्विष्टता-द्वैष भाव छोड़कर अपनी श्रौत्रेन्द्रिय आदि पाँचों इन्द्रियों को संकुचित करे । यहां 'च' शब्द समुच्चय के अर्थ में आया है । वह ऐहिक और आमुष्मिक आशंसा-इस लोक और परलोक में सुख पाने की कामना के पापमय परिणाम को एवं पापपूर्ण भाषा दोष का परिवर्जन करे । साधु मन-वचन और काय से गुप्त, पापनिवृत्त दुर्लभ सत् संयम में समवस्थित रहता हुआ कर्मक्षय हेतु पंडित मरण की अनुपालना करे, प्रतीक्षा करे ।

❀ ❀ ❀

अणुमाणं च मायं च, तं पडिन्नाय पंडिए ।
सातागारवणिहुए, उवसंते णिहे चरे ॥१८॥

छाया – अणुं मानञ्च मायाञ्च, तत्परिज्ञाय पण्डितः ।
सातागौरवनिभृत उपशान्तोऽनिहश्चरेत् ॥

अनुवाद – पंडित-प्रज्ञासम्पन्न साधु जरा भी मान अभिमान और माया छल प्रपंच न करे । इनका बड़ा दुष्फल होता है । यह जानकर वह उनसे दूर रहता हुआ सांसारिक सुख भोग की तृष्णा न रखे, तथा क्रोधादि का परित्याग कर उपशांत भाव से रहे ।

टीका – तं च संयमे पराक्रममाणं कश्चित् पूजा सत्कारादिना निमन्त्रयेत्, तत्रात्मोत्कर्षो न कार्य इति दर्शयितुमाह-चक्रवर्त्यादिना सत्कारादिना पूज्यमानेन 'अणुरपि' स्तोकोऽपि 'मान' अहङ्कारों न विधेयः , किमुत महान् ? यदिवोत्तममरणोपस्थितेनोग्रतपोनिष्टप्तदेहेन वा अहोऽहमित्येवंरूपः स्तोकोऽपि गर्वो न विधेयः , तथा पण्डुरार्ययेव स्तोकाऽपि माया न विधेया, किमुत महती ?, इत्येवं क्रोधलोभावपि न विधेयाविति, एवं द्विविधयापि परिज्ञया कषायांस्तद्विपाकांश्च परिज्ञाय तेभ्यो निवृत्तिं कुर्यादिति, पाठान्तरं वा 'अइमाणं च मायं च, तं परिण्णाय पंडिए' अतीव मानोऽतिमानः सुभूमादीनामिव तं दुःखावहमित्येवं ज्ञात्वा परिहरेत्, इदमुक्तं भवति-यद्यपि सरागस्य कदाचिन्तमानोदयः स्यात्तथाप्युदयप्राप्तस्य विफलीकरणं कुर्यादित्येवं, मायायामप्यायोज्यं, पाठान्तरं वा 'सुयं मे इहमेगेसिं, एयं वीरस्य वीरियं' येन बलेन सङ्ग्रामशिरसि महति सुभट संकटे परानीकं विजयते तत्परमार्थतो वीर्यं न भवति, अपि तु येन काम क्रोधादीन् विजयते तद्वीरस्य-महापुरुषस्य वीर्यम् 'इहैव' अस्मिन्नेव संसारे मनुष्यजन्मनि वैकेषां तीर्थकरादीनां सम्बन्धि वाक्यं मया श्रुतं, पाठान्तरं वा 'आयतट्ठं सुआदाय, एवं वीरस्स वीरियं' आयतो-मोक्षोऽपर्यवसितावस्थानत्वात् स चासावर्थश्च तदर्थो वा-तत्प्रयोजनो वा सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रमार्गः स आयतार्थस्तं सुष्ठ्वादाय-गृहीत्वा यो धृतिबलेन कामक्रोधादिजयाय च पराक्रमते एतद्वीरस्य वीर्यस्थिति, तदुक्तमासीत् किं नु वीरस्स वीरत्वमिति तद्यथा भवति तथाव्याख्यातं, किञ्चान्यत्-सातागौरवंनामसुखशीलता तत्र निभृतः-तदर्थमनुद्युक्त इत्यर्थः, तथा क्रोधाग्निजयादुपशान्तः-शीतीभूतः शब्दादिविषयेभ्योऽप्यनुकूलप्रतिकूलेभ्योऽरक्तद्विष्टतयोपशान्तो जितेन्द्रियत्वात्तेभ्यो निवृत्त इति, तथा निहन्यन्ते प्राणिनः संसारे यया सा निहा-माया न विद्यते सा यस्यासावनिहो मायाप्रपञ्चरहित इत्यर्थः तथा मानरहितो लोभवर्जित इत्यपि द्रष्टव्यं, स चैवम्भूतः संयमानुष्ठानं 'चरेत्' कुर्यादिति, तदेवं मरणकालेऽन्यदा वा पण्डितवीर्यवान् महाव्रतेषूद्यतः स्यात् । तत्रापि प्राणातिपात विरतिदेव गरीयसीतिकृत्वा तत्प्रतिपादनार्थमाह-

"उड्ढमहे तिरियं वा जे पाणा तसथावरा । सव्वत्थ निरतिं कुज्जा, संति निव्वाण माहियं ॥३॥"

अयं च श्लोकों न सूत्रादर्शेषु दृष्टः, टीकायां तु दृष्ट इति कृत्वालिखितः, इत्तानार्थश्चेति ॥१८॥ किञ्च-

टीकार्थ – संयम में पराक्रममाण-पराक्रमशील सोत्साह उद्यत किसी साधु को पूजा सत्कार आदि द्वारा निमन्त्रित करे, तो वह साधु वहाँ अपना बड़प्पन न दिखाये, इसका दिग्दर्शन कराते हुए सूत्रकार कहते हैं -

चक्रवर्ती आदि द्वारा साधु आदि सत्कृत् एवं पूजीत हो-सम्मानित हो तो उसे थोड़ा भी अहंकार नहीं करना चाहिए । फिर अधिक की तो बात ही क्या ? अथवा मैं उत्तम मरण में उपस्थित हूँ-जीवन की बाजी लगाकर अपने महान लक्ष्य की पूर्ति में लगा दूं, घोर तप द्वारा मेरा तप परितप्त है, यह सोचकर वह थोड़ा भी गर्व न करे । पण्डुरा आर्या की तरह थोड़ी भी माया न करे । अधिक की तो बात ही क्या ? इसी प्रकार वह क्रोध एवं लोभ भी न करे । वह ज्ञपरिज्ञा एवं प्रत्याख्यान परिज्ञा द्वारा कषाय एवं उनके विपाक-दुष्फल को जानकर उनका वर्जन करे, यहाँ पर 'अइमाणं च मायंच तं परिण्णायंपडिए' यहां यह पाठान्तर प्राप्त होता है । इसका तात्पर्य यह है कि हे पंडित बुद्धिमान पुरुष ! अत्यन्त मान दुःखदायी है । जैसा सुभूम चक्रवर्ती

के साथ घटित हुआ, यह जानकर उसका परित्याग कर दे । इसका अभिप्राय यह है कि सराग, संयम दशा में कभी मान का उदय हो तो वह उसे तुरन्त विफल-निष्फल कर दे अर्थात् दबा दे । इसी तरह माया आदि का भी दमन करे, 'सुयंमे इहमेगेसिं एयं वीरस्य वीरियं' यह पाठान्तर यहाँ प्राप्त होता है । इसका अभिप्राय यह है कि संग्राम के मस्तक में-अग्रभाग में बड़े-बड़े योद्धाओं द्वारा उपस्थापित संकट-कठिनाई में जिस सेना द्वारा शत्रु सेना को विजित किया जाता है वैसा करना वास्तव में वीर्य नहीं है । जिस आत्मपराक्रम द्वारा काम क्रोध आदि विजित किये जाते हैं, वही पुरुष का-महापुरुष का वास्तविक वीर्य-सच्चा शौर्य है । यह मैंने इस संसार में अथवा मनुष्य जन्म में तीर्थंकर आदि महापुरुषों के वचन सुने हैं । अथवा 'आयतट्ठं सुआदाय, एवं वीरस्स वीरियं' ऐसा यहां पाठान्तर प्राप्त होता है । उसका अभिप्राय यह है कि आयत-मोक्षकावाचक है, क्योंकि उसके अवस्थान का-निवास का पर्यवसान-अन्त नहीं है, उस मोक्षात्मक अर्थ को अथवा मोक्षप्रद-सम्यक् दर्शन ज्ञान एवं चारित्र रूप मोक्ष मार्ग को आयतार्थ कहा जाता है । उसे भली भाँति ग्रहण कर जो पुरुष धृतिबल-धैर्य की शक्ति से काम क्रोध आदि को जीतने के लिए जो पराक्रम प्रकट करता है, वही उस वीर का वास्तविक वीर्य है । पहले जो प्रश्न किया गया था कि वीर पुरुष का वीरत्व क्या है, वह इस रूप में व्याख्यात हुआ है । सुख भोग में लिप्सा या तृष्णा सातागौरव कहा जाता है । साधु उसके लिए उद्यम न करे । वह क्रोधाग्नि को विजित कर शीतल-शांत रहे अर्थात् अनुकूल या प्रतिकूल शब्दादि विषय यदि उसके सम्मुख आये तो वह उनमें रक्तता-अनुराग भाव, द्विष्टता-द्वेष भाव न करता हुआ जितेन्द्रिय होने के कारण उनसे निवृत्त-दूर रहे । प्राणी वर्ग जिसके द्वारा निहत किये जाते हैं, उसे निहा कहा जाता है । वह माया है । साधु माया, प्रपंच से पृथक् रहे । इसी प्रकार साधु मान रहित एवं लोभ वर्जित रहे यह जानना चाहिए । इस प्रकार वह संयम का अनुसरण करे । मृत्युकाल में अथवा अन्यकाल में साधु-पंडित वीर्ययुक्त तथा महाव्रतों में उद्यत रहे । उनके पालन में तल्लीन रहे । इन पांच महाव्रतों में प्राणातिपात-हिंसा में विरति बड़ा महत्वपूर्ण है । इसलिए इसे प्रतिपादित करने हेतु सूत्रकार कहते हैं-'उड्ढमहे आदि । यह श्लोक सूत्रादर्शों में-सूत्र की पाण्डुलिपियों में प्राप्त नहीं होता किन्तु टीका में मिलता है । इसलिए यहाँ इसका उल्लेख किया है-इसका अर्थ स्पष्ट है ।

❀ ❀ ❀

पाणे य णाइवाएज्जा, अदिन्नंपि य णादए ।
सादियं ण मुसं बूया, एस धम्मे बुसीमओ ॥१९॥

छाया – प्राणाञ्च नातिपातयेत्, अदत्तं पि च नाददीत ।
सादिकं न मृषा ब्रूया देष धर्मो वश्यस्य ॥

अनुवाद – वश्य-जितेन्द्रीय पुरुष का यही धर्म है कि वह प्राणियों का अतिपात-हिंसा न करें। न ही दी हुई किसी की वस्तु न ले । माया-छलकपट न करे और असत्य न बोले ।

टीका – प्राणप्रियाणां प्राणिनां प्राणान्नातिपातयेत्, तथा परेणादत्तं दन्तशोधनमात्रमपि 'नादरीत' न गृह्णीयात्, तथा-सहादिना-मायया वर्त्तत इति सादिकं-समायं मृषावादं न ब्रूयात्, तथाहि-परवञ्चनार्थंमृषावादोऽधिक्रियते, स च न मायामन्तरेण भवतीत्यतो मृषावादस्य माया आदिभूता वर्त्तते, इदमुक्तं भवति-यो हि परवञ्चनार्थं समायो मृषावादः स परिहियते, यस्तु संयम गुप्त्यर्थं न मया मृगा उपलब्धा इत्यादिकः स न दोषायेति, एष यः प्राक् निदृष्टो धर्मः-श्रुत चारित्राख्यः स्वभावो वा 'वुसीमउ' त्ति छान्तसत्वात्, निर्देशार्थस्त्वयं-वस्तूनि ज्ञानादीनि तद्वतो ज्ञानादिमत इत्यर्थः, यदि वा-बुसीमउत्ति वश्यस्य-आत्मवशगस्य-वश्येन्द्रियस्येत्यर्थः ॥१९॥

टीकार्थ – सभी प्राणियों को अपने प्राण प्रिय लगते हैं । अतः साधु किसी भी प्राणी का अतिपात-हिंसा न करे । दूसरे द्वारा नहीं दिया गया दांतों को कुरेदने का तिनका तक न ले । माया सहित मृषावाद असत्य भाषण न करे । क्योंकि औरों को ठगने के लिए असत्य भाषण किया जाता है । अतएव माया-छल कपट के बिना वह नहीं होता । इस प्रकार असत्य का मूल कारण माया ही है । कहने का अभिप्राय यह है कि दूसरों की प्रवंचना हेतु जो कपटपूर्ण असत्य भाषण किया जाता है, सूत्रकार यहाँ उसी का निषेध करते हैं । किन्तु संयम की गुप्ति-रक्षण के लिए जो असत्य बोला जाता है उसका निषेध नहीं करते । जैसे आखेटक द्वारा पूछे जाने पर कि क्या आपने मृगों को देखा है, यह कहना कि मृगों को नहीं देखा । यों असत्य कहने पर भी दोषजनक नहीं है । पूर्वकथित सूत्र-चारित्र मूलक स्वभाव ही धर्म है । यहाँ वुसीमओ यह छांदस प्रयोग है, यह ज्ञान आदि वस्तुओं तथा तदयुक्त जनों की ओर संकेत है । अथवा वश्य-आत्मवशग-जितेन्द्रीय का द्योतक है । जो धर्म से सम्बद्ध है ।

❀ ❀ ❀

अतिक्कम्मंति वायाए, मणसा वि न पत्थए ।
सव्वओ संवुडे दंते, आयाणं सुसमाहरे ॥२०॥

छाया – **अतिक्रमन्तु वाचा, मनसाऽपि न प्रार्थयेत् ।**
सर्वतः संवृतो दान्त आदानं सुसमाहरेत् ॥

अनुवाद – सर्वतः संवृत-सर्वथा संवर युक्त तथा दान्त-दमनशील इन्द्रियविजेता साधु वचन से या मन से किसी प्राणी को पीड़ा देने की इच्छा न रखे । वह भलीभांति आदान-ग्रहण किये हुए संवर का पालन करे।

टीका – अपिच-प्राणिनामतिक्रमं-पीडात्मकं महाव्रतातिक्रमं वा मनोऽवष्टब्धतया परतिरस्कारं वा इत्येवम्भूतमतिक्रमं वाचा मनसाऽपि च न प्रार्थयेत् एतद्द्वयनिषेधे च कायातिक्रमो दूरत एव निषिद्धो भवति, तदेवं मनोवाक्कायैः कृतकारितानुमतिभिश्च नवकेन भेदनातिक्रमं न कूर्यात्, तथा सर्वतःसबाह्याभ्यन्तरतः संवृतो-गुप्तः तथा इन्द्रियदमेन तपसा वादान्तः सन् मोक्षस्य 'आदानम्' उपादानं सम्यग्दर्शनादिकं सुष्ठूद्युक्तः सम्यग्विस्रोत सिकारहितः 'आहरेत्' आददीत-गृह्णीयादित्यर्थः ॥२०॥ किञ्चान्यत् -

टीकार्थ – प्राणियों का अतिक्रम-उन्हें पीड़ा देना महाव्रतों का उल्लंघन है । साधु ऐसा अतिक्रम तथा अहंकार वश औरों का तिरस्कार न वाणी द्वारा और न मन द्वारा ही करे । इन दोनों-वाणी और मन द्वारा अतिक्रम का निषेध किये जाने से, काय द्वारा अतिक्रम किये जाने का प्रतिषेध सहज ही हो जाता है । इस प्रकार साधु मन, वचन एवं शरीर द्वारा कृतकारित और अनुमोदित पूर्वक जीव हिंसा आदि पाप न करे । सब प्रकार से बाह्य और आभ्यन्तर रूप से संवृत-संवरयुक्त-जितेन्द्रीय तथा तप से दान्त-दमनशील साधु सम्यक् दर्शन आदि का, जो मोक्षप्रद है, विस्रोतिसिका-दुर्वसना का त्याग कर संयम का सम्यक् पालन करें ।

❀ ❀ ❀

कडं च कज्जमाणं च, आगमिस्सं च पावगं ।
सव्वं तं पाणु जाणंति, आयगुत्ता जिइंदिया ॥२१॥

छाया – **कृतञ्च क्रियमाणञ्च, आगमिष्यच्च पापकम् ।**
सर्वं तन्नानुजानन्त्यात्मगुप्ताः जितेन्द्रियाः ॥

अनुवाद – आत्मगुप्त-अपनी आत्मा को पाप पूर्ण कार्यों से बचाये रखने वाले तथा जितेन्द्रीय-इन्द्रियों को वश में रखने वाले पुरुष किसी द्वारा किये गये, किये जाते, भविष्य में किये जाने वाले पाप का अनुमोदन-समर्थन नहीं करते ।

टीका – साधूद्देशेन यदपरैरनार्यकल्पै: कृतमनुष्ठितं पापकं कर्म तथा वर्त्तमाने च काले क्रियमाणं तथाऽऽगामिनि च काले यत्करिष्यते तत्सर्वं मनोवाक्कायकर्मभि: 'नानुजानन्ति' नानुमोदन्ते, तदुपभोग परिहारेणेति भाव:, यदप्यात्मार्थं पापकं कर्म परै: कृतं क्रियते करिष्यते वा, तद्यथा-शत्रो: शिरश्छिन्नं छिद्यते, छेत्स्यते वा तथा चौरो हतो हन्यते हनिष्यते वा इत्यादिकं परानुष्ठानं 'नानुजानन्ति' न च बहुमन्यन्ते, तथा यदि पर: कश्चिद्शुद्धेनाहारेणोपनिमन्त्रयेत्तमपिनानुमन्यन्त इति, क एवम्भूता भवन्तीति दर्शयति-आत्माऽकुशलमनोवाक्कायनिरोधेन गुप्तो येषां ते तथा, जितानि-वशीकृतानि इन्द्रियाणि-श्रोत्रादीनि यैस्ते तथा, एवम्भूता: पापकर्म नानुजानन्तीति स्थितम् ॥२१॥

टीकार्थ – साधुओं को उद्दिष्ट कर अनार्यों जैसे पुरुषों ने जो पाप किये, वर्तमान में वे जो करते हों तथा भविष्य में जो करेंगे, साधु मानसिक, वाचिक एवं कायिक रूप से उनका अनुमोदन नहीं करते । उस पापमय पदार्थ का उपभोग नहीं करते । दूसरों ने अपने स्वार्थ हेतु जो पाप कर्म किये हों जो वे करते हों, करेंगे जैसे शत्रु का मस्तक छिन्न कर डाला गया, छिन्न किया जा रहा है या छिन्न किया जायेगा तथा चोर को मार डाला गया, वह मारा जा रहा है या मार डाला जायेगा इत्यादि कार्यों का साधु अनुमोदन नहीं करते दूसरा कोई अशुद्ध भोजन तैयार कर साधु को आमन्त्रित करें तो साधु उसे स्वीकार नहीं करते । ऐसे पुरुष कौन हैं, यह दिग्दर्शन कराने हेतु सूत्रकार कहते हैं कि अकुशल-सावद्य या पापपूर्ण मन, वचन एवं शरीर को-उनकी प्रवृत्तियों का अवरोध कर जिन्होंने अपने आपको गुप्त पापयुक्त बना रखा हो तथा श्रोत्र-कान आदि इन्द्रियों को अपने वश में किया हो-जीता हो, ऐसे पुरुष पहले कहे गये पापों का अनुमोदन-समर्थन नहीं करते।

❀ ❀ ❀

जे याबुद्धा महाभागा, वीरा असमत्तदंसिणो ।
असुद्धं तेसि परक्कंतं, सफलं होइ सव्वसो ॥२२॥

छाया – ये चाबुद्धा महाभागा वीरा असम्यक्त्वदर्शिन: ।
अशुद्धं तेषां पराक्रान्तं, सफलं भवति सर्वश: ॥

अनुवाद – जो महाभाग-लोगों द्वारा माननीय हैं, वीर-शौर्यशाली है पर यदि वे धर्म के यथार्थ तत्त्व को नहीं जानने वाले असम्यक् दृष्टि-मिथ्या दृष्टि हैं तो उनका पराक्रम-उन द्वारा किये गये पुण्य कार्य अशुद्ध हैं, वे कर्म बंध लिए हैं ।

टीका – अन्यच्च-येकेचन 'अबुद्धा' धर्मं प्रत्यविज्ञातपरमार्थाव्याकरणशुष्कतर्कादिपरिज्ञानेन जातावलेपा: पण्डितमानिनोऽपि परमार्थवस्तुतत्त्वा नव बोधाद् बुद्धा इत्युक्तं, न च व्याकरण परिज्ञान मात्रेण सम्यक्त्वव्यतिरेकेण तत्त्वा व बोधा भवतीति, तथा चोक्तम् -

"शास्त्रावगाहपरिघट्टनतत्परोऽपि, नैनाबुध: समभिगच्छति वस्तुतत्त्वम् ।
नानाप्रकाररसभावगताऽपिदर्वी, स्वादं रसस्य सुचिरादपि नैव वेत्ति ॥२॥"

यदि वाऽबुद्धा इव बालवीर्यवन्त:, तथा महान्तश्च ते भागाश्च महाभागा:, भाग शब्द: पूजावचन:, ततश्च महापूज्या इत्यर्थ:, लोकविश्रुता इति, तथा 'वीरा:' परानीकभेदिन: सुभटा इति, इदमुक्तं भवति-पण्डिता

अपि त्यागादिभिर्गुणैर्लोकपूज्या अपि तथा सुभटवादं वहन्तोऽपि सम्यक् तत्त्वपरिज्ञान विकला: केचन भवन्तीति दर्शयति-न सम्यगसम्यक् तद्भावोऽसम्यक्त्वं तद्द्रष्टुं शीलं येषां ते तथा, मिथ्यादृष्टय इत्यर्थः, तेषां च बालानां यत्किमपि तपोदानाध्ययन यमनियमादिषु पराक्रान्तमुद्यमकृतं तदशुद्धं अविशुद्धिकारि प्रत्युत कर्मबन्धाय, भावो पहतत्वात् सनिदानत्वाद्वेति कुवैद्यचिकित्सावद्वि परीतानुबन्धीति, तच्च तेषां पराक्रान्तं सह फलेन-कर्म बन्धेन वर्तत इति सफलं 'सर्वश' इति सर्वाऽपि तत्क्रिया तपोऽनुष्ठानादिका कर्मबन्धोयैवेति ॥२२॥ साम्प्रतं पण्डितवीर्यिणोऽधिकृत्याह-

टीकार्थ – जो पुरुष शुद्ध धर्म के रहस्य या सार को नहीं जानते, व्याकरण के शुष्क तर्कों के ज्ञान के बल पर अपने को अत्यन्त अहंकारी, पण्डित मानते हैं, वे परमार्थ वस्तु तत्व-यथार्थ ज्ञान से रहित हैं। इसलिए उनको अबुद्ध-अज्ञ कहा गया है। सम्यक्त्व के बिना केवल व्याकरण के परिज्ञान से पदार्थ के सत्यस्वरूप का अवबोध नहीं होता। कहा गया है कि शास्त्रों में अवगाहन-गहराई तक प्रविष्ट तथा उनकी व्याख्या करने में तत्पर-कुशल होते हुये भी अज्ञ पुरुष वस्तुतत्व-वस्तु के यथार्थ स्वरूप को नहीं जान पाता। जैसे गर्वी-कुर्छा या चम्मच तरह तरह के सरस पदार्थों में चिरकाल पर्यन्त पड़ा रहता हुआ भी उनके रस के स्वाद को नहीं जान पाता। अथवा बालवीर्य युक्त पुरुष को अबुद्ध कहा जाता है। भाग शब्द पूजा या सत्कार द्योतक है। जो लोगों द्वारा पूजनीय व माननीय होते हैं वे महाभाग कहें जाते हैं। वे लोक विश्रुत होते हैं। जो शत्रु की सेनाओं का भेदन करने में, उन्हें छिन्न-भिन्न करने में सक्षम होते हैं, वे सुघड़ कहे जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि कई पुरुष पण्डित व्याकरण आदि विषयों के विद्वान् तथा त्याग आदि विशेषताओं के कारण लोक में पूज्य-सत्कार योग्य तथा सुभट-युद्ध में शौर्यशाली होते हुये भी वस्तु के सत्य स्वरूप को नहीं जानते हैं, सूत्रकार ऐसा अभिव्यक्त करते हैं। जो सम्यक् यथार्थ-ठीक नहीं है, उसे असम्यक् कहा जाता है। असम्यक् भाव या स्वरूप असम्यक्त्व कहलाता है। जो असम्यक्त्व युक्त होते हैं वे मिथ्या दृष्टि हैं। वे बाल-धार्मिक दृष्टि से अज्ञ हैं। इन मिथ्यादृष्टि पुरुषों का तप, दान, अध्ययन, यम एवं नियम आदि में-तन्मूलक साधना में किया गया पराक्रम-उद्यम अशुद्ध है-अविशुद्धिकारी है। इसलिए वह कर्मबंध का हेतु है। क्योंकि वह सम्यक्त्व भाव से रहित है-तथा फलाभिकांक्षा युक्त है। जैसे कुवैद्य-अयोग्य चिकित्सक की चिकित्सा से रोग नष्ट नहीं होता किन्तु वह बढ़ता ही है, उसी प्रकार उन अज्ञ जनों का पराक्रम-उद्यम या क्रिया कलाप कर्म बंध सहित होता है। इस प्रकार मिथ्यात्वी द्वारा निष्पादित तपश्चरण आदि सभी क्रियायें कर्म बंध के लिए ही होती हैं।

अब पण्डित वीर्य युक्त पुरुषों के सम्बन्ध में सूत्रकार कहते हैं।

❀ ❀ ❀

जे य बुद्धा महाभागा, वीरा सम्मत्तदंसिणो।
सुद्धं तेसिं परक्कंतं, अफलं होइ सव्वसो ॥२३॥

छाया – **ये च बुद्धाः महाभागाः वीराः सम्यक्त्वदर्शिनः।**
शुद्धं तेषां पराक्रान्त मफलं भवति सर्वशः॥

अनुवाद – जो बुद्ध-वस्तुत्व वेत्ता, महाभाग पदपूजनीय तथा कर्मों के विदारण में समर्थ सम्यक् दृष्टि हैं उनके तपश्चरण आदि कार्य शुद्ध होते हैं। कर्मों के नाश हेतु, मोक्ष प्राप्ति हेतु होते हैं।

टीका – ये केचन स्वयम्बुद्धास्तीर्थकराद्यास्तीच्छिष्या वा बुद्धबोधिता गणधरा दयो 'महाभाग' महापूजाभाजो 'वीराः' कर्म विदारण सहिष्णवो ज्ञानादिभिर्वा गुणैर्विराजन्त इति वीराः, तथा 'सम्यक्त्वदर्शिनः' परमार्थ तत्ववेदिनस्तेषो

भगवतां यत्पराक्रान्तं-तपोऽध्ययनयमनियमा दावनुष्ठितं तच्छुद्धम्-अवदातं निरुपरोधं सात गौरव शल्यकषायादिदोषाकलङ्कितं कर्मबन्धं प्रति अफलं भवति-तन्निरनुबन्ध, निर्जरार्थमेव भवतीत्यर्थः, तथाहि-सम्यग्दृष्टीना सर्वमपि संयमतपः प्रधानमनुष्ठानं भवति, संयमस्य चानाश्रवकपत्वात् तपसश्च निर्जराफलत्वादिति, तथा च पठयते-संयमे अणण्ध्यफले तवे बोदाण फले इति ॥२३॥

टीकार्थ – जो स्वयं बुद्ध-अपने आप बोध प्राप्त तीर्थंकर आदि हैं, उनके शिष्य अथवा बुद्ध बोधित-ज्ञानी द्वारा बोध प्राप्त गणधर आदि हैं, जो महा पूजनीय हैं कर्मों के विदारण-उच्छेदन या विनाश में सक्षम हैं अथवा जो ज्ञानादि गुणों से सुशोभित हैं, परमार्थ तत्त्व वेदी-पदार्थों के सत्य स्वरूप को जानने वाले हैं उन महापुरुषों का तप, अध्ययन, यम एवं नियम आदि में अनुष्ठित उद्यम शुद्ध है अर्थात् वह सुख की अनिवांछा, क्रोधादि शल्य, कषाय रूप दोषों से कलंकित दूषित नहीं हैं । इसलिए वह कर्मबंध की दृष्टि से निष्फल हैं-निरूपबंध है । वह केवल निर्जरा-कर्म निरजरण के लिए होता है । क्योंकि सम्यक् दृष्टि पुरुषों के सभी उद्यम संयम एवं तप प्रधान होते हैं । संयम अनाश्रव रूप-संवर रूप है तथा तप का फल निर्जरा-कर्मक्षय है । अतएव यह शास्त्र पाठ है कि संयम से आश्रव का निरोध होता है तथा तपश्चरण से निर्जरा फलित होती है ।

❀ ❀ ❀

तेसिंपि तवो ण सुद्धो, निक्खंता जे महाकुला ।
जन्ने वन्ने वियाणंति, न सिलोगं पव्वेज्जए ॥२४॥

छाया – तेषामपि तपो न शुद्धं, निष्क्रान्ता ये महाकुलाः ।
यन्नैवाऽन्ये विजानन्ति, नश्लोकं प्रवेदयेत् ॥

अनुवाद – जो महाकुल-उच्चकुल में उत्पन्न है, प्रव्रजित है, वे यदि अपने तप की प्रशस्ति करते हैं अथवा सत्कार, सम्मान हेतु तपश्चरण करते हैं तो उनका वह उद्यम अशुद्ध है । साधु अपने तप को इस प्रकार गुप्त रखे जिससे अन्य-दान देने में श्रद्धाशील पुरुष उसे जान न पाये । अपने मुँह से कभी वह अपनी प्रशंसा न करे ।

टीका – किञ्चान्यत्-महत्कुलम्-इक्ष्वाकादिकं येषां ते महाकुला लोकविश्रुताः शौर्यादिभिर्गुणैर्विस्तीर्ण यशसस्तेषामपि पूजासत्काराद्यर्थमुत्कीर्त्तनेन वा यत्तपस्तदशुद्धं भवति, यच्च क्रियमाण मपि तपो नैवान्ये दानश्राद्धादयो जानन्ति तत्तथाभूतमात्मार्थिना विधेयम्, अतो नैवात्मश्लाघां 'प्रवेहयेत्' प्रकाशयेत्, तद्यथा अहमुत्तमकुलीन इभ्यो वाऽऽसं साम्प्रतं पुनस्तपोनिष्टप्तदेह इति, एवं स्वयमाविष्करणेन न स्वकीयमनुष्ठानं फल्गुना-मापादयेदिति ॥२४॥

टीकार्थ – जो इक्ष्वाकु आदि उच्च कुलों में उत्पन्न हैं तथा शौर्य पराक्रम आदि के कारण जगत में जिनकी कीर्ति व्याप्त है, उन द्वारा यदि पूजा सत्कार-मान प्रतिष्ठा पाने की अभिलाषा से तप किया गया हो अथवा वे अपने तप की प्रशंसा करते हों, तो वह अशुद्ध है, अध्यात्म की दृष्टि से निर्दोष नहीं है । अतः आत्मार्थी साधक प्रयत्नशील रहे कि वे पुरुष उसके तप को न जान सके । जो दान में श्रद्धा रखने वाले हैं, वह स्वयं अपनी प्रशंसा भी न करे कि मैं उत्तम कुल में उत्पन्न हुआ । धन, वैभव सम्पन्न रहा तथा अब तपश्चरण द्वारा अपनी देह को परितप्त करने वाला तपस्वी हूँ । इस प्रकार वह स्वयं अपने तपोमय अनुष्ठान को प्रकट करता हुआ, उसे निःसार न बनाये ।

❀ ❀ ❀

अप्प पिंडासि पाणामि, अप्पं भासेज्ज सुव्वए ।
खंतेऽभिनिव्वुडे दंते, वीतगिद्धी सदा जए ॥२५॥

छाया – अल्प पिण्डाशी पानाशी, अल्पं भाषेत सुव्रतः ।
क्षान्तोऽभिनिर्वृतो दान्तो वीतगृद्धिः सदा यतेत ॥

अनुवाद – सुव्रत-उत्तम व्रत युक्त साधु उदर निर्वाह हेतु अल्प भोजन करे, अल्प जल पीये, अल्प भाषण करे, क्षमाशील रहे, लोभ आदि से दूर रहे । अपनी इन्द्रियों को अपने वश में रखे । विषय भोग में गृद्ध-लोलुप-आसक्त न रहे तथा सदैव संयम पालन में उद्यत रहे ।

टीका – अपिच-अल्पं-स्तोकं पिण्डमशितुं शीलमस्यासावल्पपिण्डाशी यत्किञ्चनाशीति भावः, एवं पानेऽप्यायोज्यं, तथा चागमः-

'हे' जंवतं व आसीय जत्थ व तत्थ व सुहोवगय निद्दो । जेण व तेण (व) संतुट्ठ वीर ! मुणिओऽसि ते आपा ॥१॥

छाया - यद्वातद्वाअशिला यत्र तत्र वा सुखापगतनिद्रः । येन तेन वा सन्तुष्टः हे वीर ! त्वायात्मा ज्ञातोऽस्ति ॥१॥

तथा "अद्दुदुक्कुडिअंडग मेत्तप्पमाणे कवले आहारे पाणे अप्पाहारे दुवालसकलवलेहि अवड्ढोमोयरिया सोल सहिं दुभागेपत्ते चंउवीसं ओमोदरिया तीसं पमाणपत्ते बत्तीसं कवला संपुण्णाहारे" इति, अत एकैक कवल हान्यादिनोनोदरता विधेया, एवं पाने उपकरणे चोनोदरतां विदध्यादिति, तथा चोक्तम् -

"थोवा हारो थोवभणिओ अ जो होइ थोवनिद्दो अ । थोवोवहि उपकरणो तस्स हु देवाणि पण मंति ॥१॥"

छाया - स्तोकाहारः स्तोकभणितः स्तोकनिद्रश्च यो भवति । स्तोकोपधिकोपकरणस्तस्मै चदेवा अपि प्रणमन्ति ॥

तथा'सुव्रतः'साधुः'अल्पं'परिमितं हितं चभाषेत,सर्वदा विकथारहितो भवेदित्यर्थः, भावावमौदर्यमधिकृत्याह-भावतः क्रोधाद्युपशमात्'क्षान्तः'क्षान्तिप्रधानः तथा'अभिनिर्वृतो'लोभादिजयान्निरातुरः, तथा इन्द्रिय नोइन्द्रियदमनात् 'दान्तो' जितेन्द्रियः, तथा चोक्तम् -

"कषाया यस्य नोच्छिन्ना, यस्य नात्मवशं मनः । इन्द्रियाणि न गुप्तानि, प्रव्रज्या तस्य जीवनम् ॥१॥"

एवं विगता गृद्धिर्विषयेषु यस्य स विगतगृद्धिः-आशंसा दोष रहितः 'सदा' सर्वकालं संयमानुष्ठाने 'यतेत' यत्नं कुर्यादिति ॥२५॥

टीकार्थ – साधु स्वभाव से ही स्वल्प भोजी-थोड़ा भोजन करने वाला तथा स्वल्प जल पीने वाला हो । आगम में कहा गया है कि वीर-आत्मबल के धनी पुरुष तुम को जो कुछ प्राप्त होता है, उसे खाकर जिस किसी स्थान पर तुम सुख से सोते हो, जो कुछ मिलता है, उसी से संतुष्ट होकर विचरते हो । तुमने अपनी आत्मा को, अपने आप को पहचान लिया है । और भी कहा है जो मुर्गी के अण्डे के समान आठ कंवल-ग्रास भोजन करता है, वह अल्पाहार कहा जाता है । जो बारह ग्रास भोजन करता है वह अपार्ध-आधे से न्यून या अवमोदर्य कहा जाता है । सौलह कवल आहार करना स्वल्प अवमोदर्य है । चौबीस कवल आहार करना उससे अर्ध है-उससे आधा है । तीस कवल भोजन करना प्रमाण आहार है । बत्तीस कवल भोजन करना

सम्पूर्ण आहार है। साधु को चाहिये कि आहार में एक कवल-ग्रास कम करते जाने का अभ्यास करे। अवमोदर्य-उनोदरि करे। भूख से कम खाये। इसी प्रकार पान-पेय पदार्थों में तथा अन्य उपकरणों में भी अवमोदर्य करना चाहिए। कहा गया है कि जो स्तोक-थोड़ा खाता है। थोड़ा भाषण करता है, थोड़ी नींद लेता है, थोड़ी उपधि-उपकरण रखता है, उसे देव भी नमस्कार करते हैं। उत्तम व्रत युक्त साधु थोड़ा बोले, हितप्रद बोले। वह सदैव विकथा-जिससे चारित्र दूषित होने की आशंका हो, वैसी बात न करे।

अब सूत्रकार भाव अवयोदर्य के सम्बन्ध में बतलाते हैं। साधु क्रोध आदि को शान्त कर क्षमाशील बने। लोभ आदि को जीतकर अनातुर-आतुरता रहित बने। इन्द्रिय और मन का दमन कर जितेन्द्रीय बने। अतएव कहा है कि जिसने अपने कषायों का नाश नहीं किया तथा जिसका मन अपने नियन्त्रण में नहीं है, उसकी प्रव्रज्या केवल जीवन चलाने के लिए या पेट भरने के लिए है। अतः साधु ग्रिद्धि-वैषिक आसक्तता से पृथक् होकर सदैव संयम का अनुपालन करने में यत्नशील रहे।

❀ ❀ ❀

झाण जोगं समाहट्टु, कायं विउसेज्ज सव्वसो।
तितिक्खं परमं णच्चा, आयोक्खाए परिव्वएज्जासि त्तिबेमि ॥२६॥

छाया – ध्यान योगं समाहृत्य, कायं व्युत्सृजेत्सर्वशः।
तितिक्षां परमां ज्ञात्वाऽऽमोक्षाय परिव्रजेदिति ब्रवीमि॥

अनुवाद – साधु ध्यान योग-ध्यानात्मक साधना को स्वीकार समग्र असत कार्यों से मन वचन एवं शरीर का निरोध करे,-इन द्वारा वैसा न करे। परीषह और उपसर्ग को सहन करना श्रेयस्कर है। यह जानकर जब तक मोक्ष प्राप्त न हो जाए संयम का अनुपालन करे।

टीका – अपिच-'झाणजोगम्' इत्यादि, ध्यानं-चित्तनिरोधलक्षणं धर्मध्यानादिकं तत्र योगो विशिष्ट मनोवाक्काय व्यापारस्तं ध्यानयोगं 'समाहृत्य' सम्यगुपादायं 'कायं' देहमकुशलयोगप्रवृत्तं 'व्युत्सृजेत' परित्यजेत् 'सर्वतः' सर्वेणापि प्रकारेणा, हस्तपादादिकमपिपरपीड़ाकारिनव्यापारयेत् तथा 'तितिक्षां' क्षान्तिपरीषहोपसर्गसहनरूपां 'परमां' प्रधानां ज्ञात्वा 'आमोक्षाय' अशेष कर्मक्षयं यावत् 'परिव्रजेरि' ति संमानुष्ठानं कुर्यास्त्वमिति। इतिः परिसमाप्त्यर्थे। ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥२६॥ समाप्तं चाष्टमं वीर्याख्यमध्ययनमिति॥

टीकार्थ – चित्त का निरोध करना-असत् विषयों से उसे रोकना, धर्म का अनुचिन्तन करना आदि ध्यान कहा जाता है। उसमें-ध्यान में मन, वचन एवं शरीर द्वारा विशेष रूप से संलग्न होना उससे जुड़ना ध्यान योग है। ध्यान योग का अच्छी तरह उपादान कर-ग्रहण कर अकुशल-अशुभ योग में, प्रवृत्तियों में जाती हुई देह का निरोध करो, शरीर को उस ओर न जाने दो। अपने हाथ पैर आदि अंगों को भी पर पीड़ाकारी-अन्य प्राणियों के लिए पीड़ा उत्पन्न करने वाले कार्यों में संलग्न न होने दो। परिषह एवं उपसर्ग को परम प्रधान आत्म कल्याण हेतु अति उत्तम समझो। जब तक समस्त कर्मों का क्षय न हो जाए, संयम का अनुसरण करो, यह मैं कहता हूँ। इति शब्द समाप्ति के अर्थ में है, ब्रवीमि बोलता हूँ, यह पूर्ववत् योजनीय है।

वीर्य नामक आठवां अध्ययन समाप्त हुआ।

❀ ❀ ❀

卐 卐 卐

नवमं धर्माध्ययनं

कयरे धम्मे अक्खाए, माहणेण मतीमता ? ।
अजुं धम्मं जहातच्चं, जिणाणं तं सुणेह मे ॥१॥

छाया – कतरो धर्म आख्यातः, माहनेन मतिमता ।
ऋजुं धर्मं यथातथ्यं, जिनानां तं शृणुत मे ॥

अनुवाद – माहण-जीवों का हनन न करने का उपदेश देने वाले, तथा मतिमान प्रज्ञाशील-सर्वज्ञ भगवान महावीर स्वामी ने कौन से धर्म का आख्यान-प्रतिपादन किया ? जम्बू स्वामी आदि का वह प्रश्न श्रवण कर सुधर्मा स्वामी कहते हैं कि जिनेश्वरों द्वारा प्रतिपादित उस ऋजु-सरल धर्म को यथावत् रूप में मुझसे सुनो ।

टीका – जम्बूस्वामीसुधर्मस्वामिनमुद्दिश्येदमाह-तद्यथा-'कतरः' किम्भूतो दुर्गतिगमनधरणलक्षणो धर्मः 'आख्यातः' प्रतिपादितो 'माहणेणं' ति मा जन्तून् व्यापादयेत्येवं विनेयेषु वाक् प्रवृत्तिर्यस्यासौ 'माहनो' भगवान् वीरवर्धमानस्वामी तेन ?, तमेव विशिनष्टि-मनुते-अवगच्छति जगत्त्रयं कालत्रयोपेतं यया सा केवलज्ञानाख्या मतिः सा अस्यास्त्रीस्ति मतिमान् तेन-उत्पन्नकेवलज्ञानेन भगवता, इति पृष्टे सुधर्मस्वाम्याह-रागद्वेषजितो जिनास्तेषां सम्बन्धितं धर्मं 'अंजुम्' इति 'ऋजुं माया प्रपञ्चरहितत्वादवक्रं तथा-'जहातच्चं मे' इति यथावस्थितं मम कथयतः शृणुत यूयं, न तु यथाऽन्यैस्तीर्थिकैर्दम्भप्रधानो धर्मोऽभिहितस्तथा भगवताऽपीति पाठान्तरं वा 'जणगा तं सुणेह मे' जायन्त इति जना-लोकास्त एव जनकास्तेषामामन्त्रणं हे जनकाः । तं धर्मं शृणुत यूयमिति ॥१॥

टीकार्थ – जम्बू स्वामी श्री सुधर्मा स्वामी को उद्दिष्ट कर कहते हैं कि प्राणियों का व्यापादन मत करो ? इस प्रकार शिष्यों को उपदेश देने वाले भगवान् श्री महावीर ने प्राणियों को दुर्गति में गिरने से बचाने में समर्थ कौन सा धर्म प्रतिपादित किया ? वे प्रभु महावीर कैसे हैं ? भगवान की विशेषताएं बतलाते हुए इस प्रकार प्रतिपादत करते हैं । भूत-बीते हुए, भविष्यत्, आगे आने वाले तथा वर्तमान-हो रहे, इन तीनों कालों सहित इन तीनों लोकों को जिससे जाना जाता है उसे मति कहते हैं । वह केवल ज्ञान रूप है । भगवान् महावीर स्वामी ऐसे थे जिन्हें केवल ज्ञान उत्पन्न था । श्री सुधर्मास्वामी कहते हैं कि जिन्होंने राग और द्वेष को जीत लिया, जो राग और द्वेष से अतीत हो गए, ऊँचे उठ गए उन्हें जिन कहते हैं । उनका धर्म माया-छलना प्रपंच आदि से वर्जित होने के कारण ऋजु है-सीधा है । आप लोगों को मैं वह धर्म यथावत रूप में कहता हूँ । आप श्रवण करे । जैसे अन्य धर्मों के तथाकथित तीर्थंकरों ने माया प्रधान धर्म कहा है, भगवान महावीर ने वैसा नहीं कहा । 'जणगातं सुणेह' में 'ऐसा पाठान्तर प्राप्त होता है । जो उत्पन्न होते हैं, जन्मते हैं, उन्हें जन कहा जाता है । जन के ही साथ में क प्रत्यय होने के कारण जनक रूप है । उन्हें जन समुदाय को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि आप लोग उस धर्म का श्रवण करो ।

❀ ❀ ❀

माहणा खत्तिया वेस्सा, चंडाला अदु बोक्कसा ।
एसिया वेसिया सुद्दा, जे य आरंभणिस्सिया ॥२॥
परिग्गहनिविट्ठाणं, वेरं तेसिं पवड्ढई ।
आरंभसंभिया कामा, न ते दुक्खविमोयगा ॥३॥

छाया – **ब्राह्मणाः क्षत्रियाः वैश्या, श्चाण्डाला अथ बोक्कसाः ।**
एषिका, वैशिकाः शूद्राः, ये चारम्भनिश्रिताः ॥
परिग्रहनिनिष्ठानां, वैरं तेषां प्रवर्धते ।
आरम्भसम्भृताः कामा, न ते दुःखविमोचकाः ॥

अनुवाद – ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, चाण्डाल, वोक्कस, एषिक, वैशिक, शूद्र आदि प्राणी जो आरम्भ-हिंसा आदि में आसक्त है, परिग्रहानिविष्ट-परिग्रह में सन्निविष्ट-संलग्न है, उनका अन्य जीवों के साथ अनन्त काल वर्ती वैर बढ़ता है आरम्भ से संभृत, भोग लोलुप वे प्राणी दुःखों का जनक-दुःखजनक कर्मों का त्याग नहीं कर पाते ।

टीका – अन्वय व्यतिरेकाभ्यामुक्तोऽर्थः सूक्तो भवतीत्यतो यथोद्दिष्टधर्मप्रतिपक्षभूतोऽधर्मस्तदाश्रितांस्तावद्-र्शयितुमाह-ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्यास्तथा चाण्डालाः अथ बोक्कसा-अवान्तरजातीयाः, तद्यथा-ब्राह्मणेन शूद्यां जातो निषादो ब्राह्मणेनव वैश्यायां जातोऽम्बष्ठः तथा निषादेनाम्बष्ट्यां जातो बोक्कसः, तथा एषितुं शीलमे षामिति एषिका-मृगलुब्धकाहस्तितापसास्च मांसहेतोर्मृगान् हस्तिनश्च एषन्ति, तथा कन्दमूलफलादिकं च, तथा ये चान्ये पाखण्डिका नानाविधैरूपायैर्भक्ष्यमेषन्त्यन्यानि वा विषयसाधनानि ते सर्वेऽप्येषिका इत्युच्यन्ते, तथा 'वैशिका' वणिजो मायाप्रधानाः कलोपजीविनः, तथा शूद्राः कृषीवलादयः आभीरजातीयाः, कियन्तो वा वक्ष्यन्त इति दर्शयति-ये चान्ये वर्णापसदा नानारूपसावद्य 'आरम्भ (म्भे) निश्रिता' यन्त्रपीडननिलञ्छिन कर्माङ्गारदाहादिभिः क्रियाविशेषैर्जीवोपमर्दकारिणः तेषां सर्वेषामेव जीवापकारिणां वैरमेव प्रवर्धत इत्युत्तरश्लोके क्रियेति ॥२॥

टीका – किञ्च-परि-समन्तात् गृह्यत इति परिग्रहो-द्विपदचतुष्पदधनधान्यहिरण्यसुवर्णादिषु ममीकारस्तत्र 'निविष्टानाम्' अध्युपपन्नानां गाद्धर्यं गतानां 'पापम्' असातवेदनीयादिकं 'तेषां' प्रागुक्तानामारम्भनिश्रितानां परिग्रहे निविष्टानां प्रकर्षेण 'वर्द्धते' वृद्धिमुपयाति जन्मान्तरशतेष्वपि दुर्मोचं भवति, क्वचित्पाठः 'वेरं तेसिं पवडढइ' त्ति तत्र येन यस्य यथा प्राणिन उपमर्दः क्रियते स तथैव संसारान्तर्वर्ती शतशो दुःखभाक् भवतीति, जमदग्नि कृतवीर्यादीनामिव पुत्रपौत्रानुगं वैरं प्रवर्द्धत इति भावः, किमित्येवं ? यतस्ते कामेषु प्रवृताः, कामाश्चारम्भैः सम्यग् भृताः संभृता आरम्भपुष्टा आरम्भाश्च जीवोपमर्दकारिणः अतो न ते कामसम्भृता आरम्भनिश्रिताः परिग्रहे निविष्टाः दुःखयतीति दुःखम्-अष्टप्रकारं कर्म तद्विमोचका भवन्ति-तस्यापनेतारो न भवन्तीत्यर्थः ॥३॥

टीकार्थ – जो अर्थ अन्वय तथा व्यतिरेक द्वारा प्रतिपादित किया जाता है, वह सूक्त-समीचीन रूप में कहा हुआ माना जाता है । पहले जो धर्म वर्णित हुआ है उसका प्रतिपक्ष अधर्म है । जो प्राणी उस अधर्म का आश्रय लिए हुए हैं, उस पर टिके हुए हैं उनका दिग्दर्शन कराने हेतु सूत्रकार कहते हैं-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, चाण्डाल, बोक्कस आदि जो विविध प्रकार के आरम्भों में हिंसा आदि असत् कर्मों में आसक्त रहते है, यन्त्र पीडन, निर्लाञ्छन, अंगारदाह-अग्नि जलाकर कोयले बनाना आदि क्रियायों द्वारा जीवों का उपमर्द-

हिंसा करते हैं, वे सभी जीवों के उपकारी-अपकार, नाश करने वाले हैं । अत: जीवों के साथ उनका वैर बढ़ता है । यह आगे की गाथा का क्रिया पद है । ब्राह्मण से जो शूद्र स्त्री में उत्पन्न होता है, वह निषाद कहा जाता है । ब्राह्मण से वैश्य स्त्री में जो पैदा होता है उसे अम्बष्ठ कहा जाता है । निषाद से अम्बष्ठ जाति की स्त्री में जो उत्पन्न होता है, उसे वोक्कस कहा जाता है। मांस हेतु जो मृग एवं हाथी की एषणा करते हैं ढूंढते है, वे व्याघ्र एवं हस्तितापस ऐषिक कहलाते हैं । अथवा जो अपने आहार हेतु कन्द मूल आदि ढूंढते हैं, अथवा जो दूसरे पाखण्डी जन नाना प्रकार के उपायों से भक्ष्य-भोज्य पदार्थ तथा विषय साधन, भोग के उपकरण ढूंढते हैं, वे सब ऐषिक कहे जाते हैं । कलोपजीवि-जो कलाओं द्वारा अपनी जीविका चलाते हैं, वे माया प्रधान वैश्य या शूद्र, कृषि करने वाले एवं अहीर जाति के लोग पृथक-पृथक नामों से पुकारे जाते हैं ॥२॥

जो चारों ओर से ग्रहण किया जाता है, लिया जाता है वह परिग्रह कहलाता है । द्विपद, चतुष्पद, धन, धान्य, हिरण्य तथा स्वर्ण आदि में ममत्व रखना परिग्रह है । जो प्राणी परिग्रह में निविष्ट या लोलुप होते हैं, आरम्भ समारम्भ में आसक्त रहते हैं, जिसके सम्बन्ध में पूर्व गाथा में उल्लेख हुआ है, उनके पाप-असातावेदनीय कर्म की अत्यन्त वृद्धि होती है । वे सैंकड़ों जन्मों में भी उन कर्मों का नाश नहीं कर पाते, 'वेरं तेसिं पवड्ढइ' कहीं कहीं ऐसा पाठ मिलता है । इसका आशय यह है कि जो जिस प्रकार, जिस प्राणी का उपमर्द-व्यापादन करता है, वह उसी तरह सैकड़ों बार संसार में दु:ख भोगता है । जमदग्नि और कृतवीर्य्य आदि की ज्यों पुत्र-पौत्रों तक उनका वैर बढ़ता जाता है । ऐसा क्यों होता है ? इसका समाधान करते हुए कहते हैं-वे काम प्रवृत्त-भोग लोलुप, आरम्भ पुष्ट-जीवों के आरम्भ समारम्भ, घात आदि में संलग्न है । अत: एव वे काम सम्भृत-विषयासक्त तथा आरम्भमिश्रित-आरम्भ समारम्भ संलग्न परिग्रह संनिविष्ट-परिग्रह से बद्ध जीव दु:ख जनक अष्ट विध कर्मों का अपगम नहीं कर सकते ॥३॥

❀ ❀ ❀

आघाय किच्चमाहेउं, नाइओ विसएसिणो ।
अन्ने हरंति तं वित्तं कम्मी कम्मेहिं किच्चती ॥४॥

छाया – आघातकृत्यमाधातुं, ज्ञातयो विषयैषिण: ।
अन्ये हरन्ति तद् वित्तं, कर्मी कर्मभि: कृत्यते ॥

अनुवाद – ज्ञातिजन-स्वजन-पारिवारिक वृन्द, विषयैषी-सांसारिक सुख एवं धन के लोभी होते हैं, वे अपने मृत पारिवारिक के दाह संस्कार आदि मरण क्रिया करने के अनन्तर उसका धन हर लेते हैं । पाप कर्म पूर्वक जिसने धन का संचय किया वह मृत पुरुष एकाकी अपने पाप का फल भोगता है ।

टीका – किञ्चान्यत्-आहन्यन्ते-अपनीयन्ते विनाश्यन्ते प्राणिनां दश प्रकारा अपि प्राणा यस्मिन् स आघातो-मरणं तस्मै तत्र वा कृतम्-अग्निसंस्कारजलाञ्जलिप्रदानपितृपिण्डादिकमाघातकृत्यं तदाधातुम्-आधाय कृत्वापश्चात् 'ज्ञातय:' स्वजना: पुत्रकलत्रभ्रातृव्यादय:, किम्भूता: ?-विषयानन्वेष्टुं शीलं येषां तेऽन्येऽपि विषयैषिका: सन्तस्यस्य दु:खार्जितं 'वित्तं' द्रव्यजातम् 'अपहरन्ति' स्वीकुर्वन्ति, तथा चोक्तम् -

"तत स्तेनार्जितैर्द्रव्यैदारैश्च परिरक्षितै: । क्रीडन्त्यन्ये नरा राजन ! हृष्टास्तुष्टा ह्यलङ्कृता ॥१।"

स तु द्रत्यार्जनपरायण: सावद्यानुष्ठानवान्कर्मवान् पापी स्वकृतै: कर्मभि: संसारे 'कृत्यते' छिद्यते पीड्यत इतियावत् ॥४॥ स्वजनाश्च तद्द्रव्योपजीविनस्तत्राणाय न भवन्तीति दर्शयितुमाह -

टीकार्थ – जिसमें प्राणियों के दस प्रकार के प्राणों का आहनन या विनाश होता है, उसे आघात कहते हैं । वह मरण है । उसके होने के अनन्तर जो अग्नि संस्कार, जलाजंली प्रदान तथा पितृपिण्ड आदि कार्य किए जाते हैं, उन्हें आघात कृत्य कहा जाता है । उन्हें कर उसके पुत्र, स्व स्त्री, भतीजे आदि पारिवारिक जन जो सांसारिक सुख लिप्सु होते हैं, कष्टपूर्वक उस द्वारा अर्जित किए हुए धन को हर लेते हैं । जैसा किसी गुरु द्वारा किसी राजा को उदिष्ट कर कहा गया है कि–हे राजन् ! जिसने धन का अर्जन किया, स्त्रियों से विवाह किया, जिनका परिरक्षण किया, उसके मर जाने के बाद दूसरे लोग हर्षित परितुष्ट तथा आभूषणों से सुसज्जित होकर उसके धन व स्त्रियों के साथ क्रीड़ा करते हैं । किन्तु सावद्य-पापयुक्त कर्म द्वारा धन का अर्जन करने वाला वह मृत पापी पुरुष अपने किए हुए कर्मों के फलस्वरूप संसार में काटा जाता है, छेदन-भेदन आदि के रूप में तरह-तरह से यातनाएं पाता है । ॥४॥

उसके द्रव्य का भोग करने वाले पुरुष उसके लिए शरणप्रद नहीं होते । ऐसा दिग्दर्शन कराते हुए सूत्रकार कहते हैं ।

❀ ❀ ❀

माया पिता ण्हुसा भाया, भज्जा पुत्ता य ओरसा ।
नालं ते तव ताणाय, लुप्पंतस्स सकम्मुणा ॥५॥

छाया – माता, पिता, स्नुषा भ्राता, भार्य्या पुत्राश्चौरसाः ।
नालं ते तव त्राणाय, लुप्यमानस्य स्वकर्मणा ॥

अनुवाद – अपने द्वारा कृत पापों के परिणाम स्वरूप लुप्यमान-पीड्यमान कष्ट पाते हुए प्राणी को उसके माता-पिता पतोहु-पुत्र वधू, भाई, भार्या और सपुत्र आदि कोई भी त्राण नहीं दे सकते ।

टीका – 'माता' जननीं 'पिता' जनकः 'स्नुषा' पुत्रवधूः 'भ्राताः' सहोदरः तथा 'भार्या' कलत्रं पुत्राश्चौरसाः -स्वनिष्पादिता एते सर्वेऽपि मात्रादयो ये चान्ये श्वशुरादयस्ते तव संसारचक्रवाले स्वकर्मभिर्विलुप्यमानस्य त्राणाय 'नालं' न समर्थाभवन्तीति, इहापि तावन्नेमे त्राणाय किमुतामुत्रेति, दृष्टान्तश्चात्र काल सौकरिक सुतः सुलसनामा अभयकुमारस्य सखा, तेन महासत्त्वेन स्वजनाभ्यर्थितेनापि न प्राणिष्वपकृतम्, अपि त्यात्मन्येवेति ॥५॥

टीकार्थ – जन्म देने वाली माता-पिता, पुत्र वधू, सगा भाई, अपनी पत्नी एवं अपने और सुपुत्र ये सभी तथा श्वसुर आदि अन्य सभी संबंधी अपने द्वारा कृत कर्मों से संसार में पीड़ित होते हुए तुम्हें संसार में त्राण दे सकने में, तुम्हारी रक्षा करने में समर्थ नहीं हैं । जब वे इस लोक में भी तुम्हें दुःख से त्राण नहीं दे सकते, बचा नहीं सकते तो परलोक में त्राण देने की आशा ही कहाँ है । इस विषय में काल सौकरिक नामक कसाई के पुत्र सुलस का दृष्टान्त है । वह अभयकुमार का सखा-मित्र था । उसके पारिवारिक जनों ने प्राणी वध हेतु उसकी बहुत अभ्यर्थना की, जोर दिया, किन्तु उसने प्राणियों का जरा भी अपकार नहीं किया, हिंसा नहीं की, किन्तु अपने ही हाथ पर कुल्हाड़ी से प्रहार कर लिया ।

❀ ❀ ❀

एयमट्ठं सपेहाए, परमट्ठाणु गामियं ।
निम्ममो निरहंकारो, चरेभिक्खू जिणाहियं ॥६॥

छाया – एतदर्थं स प्रेक्ष्य, परमार्थानुगामुकम् ।
निर्ममो निरहङ्कारः, चरेद् भिक्षुर्जिनाहितम् ॥

अनुवाद – उपर्युक्त कथन को समझता हुआ, सम्यक् दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र ही मोक्ष का मार्ग है। यह जानकर निर्मम-ममत्वरहित, निरहंकार-अभिमान वर्जित भिक्षु वीतराग प्ररूपित धर्म का अनुसरण करे ।

टीका – किञ्चान्यत्-धर्मरहितानां स्वकृतकर्मविलुप्यमानानामैहिकामुष्मिकयोर्न कश्चित्राणायेति एनं पूर्वोक्तमर्थं स प्रेक्षापूर्वकारी 'प्रत्युपेक्ष्य' विचार्यावगम्य च परमः-प्रधानभूतो (ऽर्थो) मोक्षः संयमो वा तमनुगच्छतीति तच्छीलश्च परमार्थानुगामुकः-सम्यग्दर्शनादिस्तं च प्रत्युपेक्ष्य, क्त्वाप्रत्ययान्तस्य पूर्वकालवाचितया क्रियान्तर सव्यपेक्षत्वात् तदाह-निर्गतं ममत्वं बाह्याभ्यन्तरेषु वस्तुषु यस्मादसौ निर्ममः तथा निर्गतोऽहङ्कारः-अभिमानः पूर्वैश्वर्यजात्यादिमदजनितस्तथा तपः स्वाध्यायलाभादिजनितो वा यस्मादसौ निरहङ्कारो-रागद्वेषरहित इत्यर्थः, स एवम्भूतो भिक्षुर्जिनैराहितः-प्रतिपादितोऽनुष्ठितो वा यो मार्गो जिनानां वा सम्बन्धी योऽभिहितो मार्गस्तं 'चरेद्' अनुतिष्ठेदिति ॥६॥

टीकार्थ – अपने द्वारा किए हुए कर्मों द्वारा विलुप्यमान-पीड्यमान दुःख भोगते हुए धर्मरहित प्राणी को इस लोक या परलोक में कोई भी त्राण नहीं दे सकता । यह पहले कहा जा चुका है । बुद्धिमान पुरुष यह जानकर तथा सम्यक् दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र ही परमार्थ-मोक्ष या संयम का कारण है । यह विचारकर बाह्य एवं आभ्यान्तर वस्तुओं में ममत्व न रखे । व्याकरण की दृष्टि से क्त्वा प्रत्ययान्त शब्द पूर्वकालिक अर्थ की वाचिकता लिए रहता है । इसलिए वह अन्य क्रिया की अपेक्षा रखता है । अतएव शास्त्रकार ने इसी रूप में यहाँ बतलाया है । साधु अपने पहले ऐश्वर्य तथा जाति के मद से जनित तपश्चरण, स्वाध्याय एवं लाभ आदि से उत्पन्न अहंकार-अभिमान भी न करे किन्तु वह राग द्वेष रहित होकर वर्तनशील रहे । इस प्रकार रहता हुआ तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित अनुष्ठित-आचरित मार्ग का अनुसरण करे ।

❀ ❀ ❀

चिच्चा वितं च पुत्ते य, णाइओ य परिग्गहं ।
चिच्चा ण णंतगं सोयं, निरवेक्खो परिव्वए ॥७॥

छाया – त्यत्क्वा वित्तञ्च पुत्रांश्च, ज्ञातींश्च परिग्रहम् ।
त्यक्त्वाऽन्तगं शोकं, निरपेक्षः परिव्रजेत् ॥

अनुवाद – मनुष्य वित्त-धन सम्पत्ति, पुत्र ज्ञाति-स्वजाति जन तथा परिग्रह एवं आन्तरिक शोक-अशांत भाव का परित्याग कर निरपेक्ष सभी अपेक्षाओं, आसक्तियों से विवर्जित होकर परिव्रज्या का-संयम का पालन करे ।

टीका – अपिच-संसारस्वभावपरिज्ञानपरिकर्मितमतिर्विदितवेद्यः सम्यक् 'त्यस्त्वा' परित्यज्य किं तद्?-वित्तं द्रव्यजातंपुत्रांश्च त्यक्त्वा, पुत्रेष्वधिकः स्नेहो भवतीति पुत्रग्रहणं, तथा 'ज्ञातीन्' स्वजनांश्च त्यक्त्वा तथा 'परिग्रहं' चान्तरममत्वरूपंणकारो वाक्यालङ्कारे अन्तं गच्छतीत्यन्तगो दुष्परित्यज इत्यर्थः अन्तको वा विनाशकारीत्यर्थः आत्मनि वा गच्छतीत्यात्मग आन्तर इत्यर्थः तं तथाभूतं 'शोकं' संतापं 'त्यक्त्वा' परित्यज्य श्रोतो वा-मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषायात्मकं कर्माश्रवद्वारभूतं परित्यज्य पाठान्तरं वा 'चिच्चा णणंतगं सोयं' अन्त गच्छतीत्यन्तगं

न अन्तगमनन्तगं श्रोत: शोकं वा परित्यज्य 'निरपेक्ष:' पुत्रदारधनधान्यहिरण्यादिकमनपेक्षमाण: सन् आमोक्षाय परि-समन्तात् संयमानुष्ठाने 'व्रजेत्' परिव्रजेदिति, तथा चोक्तम -

"छलिया अवयक्खंता निरावयक्खा गया अविग्घेणं । तम्हा पवयण सारे निवायक्खेण होयत्वं ॥१॥

छाया - छलिता अपेक्षमाणा निरपेक्षमाणागता अविघ्नेन । तस्मात्प्रवचाहारे निरपेक्षेण भवितव्यम् ॥१॥

भोगे अवयक्खंता पडंति संसारसागरे घोरे । भोगेहि निरवयक्खा तरंति संसार कंतारं ॥२॥ इति ॥७॥

छाया - भोगानपेक्षमाणा: पतन्ति संसारसागरे घोरे । भोगेषु निरपेक्षास्तरन्ति संसारकान्तारं ॥१॥

टीकार्थ – संसार के स्वभाव के परिज्ञान से शुद्ध, बुद्धियुक्त-विदित वेद्य-जानने योग्य पदार्थों का परिज्ञाता पुरुष द्रव्यजात-द्रव्यसमूह-विपुल धन, वैभव का तथा पुत्रों का, स्वजन वर्ग का आभ्यन्तर ममत्व रूप परिग्रह का दु:ख से छोड़ने योग्य अथवा विनाशप्रद अथवा आत्मा के अन्तरवर्ती संताप को छोड़कर मिथ्यात्व अविरति प्रमाद एवं कषाय रूप कर्म के आश्रवद्वारों को छोड़कर अथवा 'चिज्जा णणंतगं सोयं' इस पाठान्तर के अनुसार अन्तरहित श्रोत या शोक को छोड़कर साधु पुत्र, स्त्री, धन-धान्य तथा हिरण्य आदि की जरा भी अपेक्षा न रखता हुआ, जब तक मोक्ष प्राप्त न हो जाय, संयम की साधना में उद्यत रहे । पुत्रों में मनुष्य का अधिक स्नेह होता है । इसलिए इस प्रसंग में पुत्र का ग्रहण विशेष रूप में किया गया है । यहाँ ण शब्द वाक्यालंकार के अर्थ में आया है । अस्तु कहा गया है कि-जिन्होंने परिग्रह आदि में ममत्व रखा, उनमें आसक्त रहे वे आध्यात्मिक दृष्टि से छले गए, ठगे गए, किन्तु जो इनसे निरपेक्ष रहे, वे बिना किसी विघ्न बाधा के इस संसार समुद्र को लांघ गए, पार कर गए । अतएव प्रवचन सारज्ञ-भगवान द्वारा निरूपित सिद्धान्त वेत्ता पुरुष सर्वथा निरपेक्ष रहें। जो भोगों में आसक्त रहते हैं, वे घोर संसार सागर में पतित होते हैं । जो भोगों में निरपेक्ष अनासक्त होते हैं वे संसार रूपी भयानक वन को लांघ जाते हैं ।

❀ ❀ ❀

पुढ़वी उ अगणी वाऊ, तणरुक्ख सबीयगा ।
अंडया पोयजराऊ, रससंसेयउब्भिया ॥८॥

छाया – **पृथिवीत्वग्निर्वायु स्तृणवृक्षा: सबीजका: ।**
अण्डजा: पोतजरायुजा:, रससंस्वेदीद्भिज्जा: ॥

अनुवाद – पृथ्वी, अग्नि, वायु, तृण, वृक्ष, बीज, अण्डज, पोतज, जरायुज, रसज, स्वेदज, उद्भिज्ज ये समस्त जीव हैं ।

टीका – स एवं प्रव्रजित: सुव्रतावस्थितात्माऽहिंसादिषु व्रतेषु प्रयतेत, तत्राहिंसाप्रसिद्ध्यर्थमाह-'पुढवी उ' इत्यादि श्लोकद्वयं, तत्र पृथिवीकायिका: सूक्ष्मबादरपर्याप्तकापर्याप्तकभेदभिन्ना: तथाऽप्कायिका अग्निकायिका वायुकायिकाश्चैवम्भूता एव, वनस्पतिकायिकान् लेशत: सभेदामाह-'तृणानि 'कुशवच्चकादीनि 'वृक्षा:' चूताशोकादिका: सह बीजैर्वर्तन्ते इति सबीजा:, बीजानि तु शालिगोधूमयवादीनि, एते एकेन्द्रिया: पञ्चापि काया: तथा पोता एव जाता: म्पोतजा-हस्तिशरभादय: तथा जरायुजा ये जम्बालवेष्टिता: समुत्पद्यन्ते गोमनुष्यादय: तथा रसात्दधिसौवीरकादेर्जाता रसजास्तथा संस्वेदाज्जाता: संस्वेदजा-यूकामत्कुणादय: 'उद्भिज्जा:' ॥ खञ्जरीटकदर्दुरादय इति, अज्ञातभेदा हि दु:खेन रक्ष्यन्त इत्यतो भेदेनोपन्यास इति ॥८॥

टीकार्थ – प्रव्रजित-दीक्षित साधु उत्तम व्रतों में स्थित होता हुआ अहिंसादि महाव्रतों की साधना में प्रयत्नशील रहे । अहिंसा की प्रसिद्धि-अभिव्यक्ति हेतु सूत्रकार 'पुढ़वीउ' इत्यादि दो श्लोक कहते हैं । पृथ्वीकाय के जीवसूक्ष्म बादर, स्थूल, पर्याप्त-पर्याप्ति सहित एवं अपर्याप्त-पर्याप्ति रहित भेद से भिन्न-भिन्न हैं । इसी प्रकार अपकाय के, अग्निकाय के तथा वायुकाय के जीव भी पृथ्वी काय के जीवों के सदृश ही भेदयुक्त है। सूत्रकार अब संक्षिप्त रूप में वनस्पति काय के जीवों के भेद ज्ञापित करते है-कुश और वच्चक आदि, तृण, आम एवं अशोक आदि वृक्ष, शालि-चांवल, गेहूँ और यव-जौ आदि बीज में ये पांचों ही जीवकाय एकेन्द्रिय हैं । अब शास्त्रकार छठे त्रसकाय का निरूपण करते हुए बतलाते हैं-अण्डे से उत्पन्न होने वाले शकुनि-बाज, गृह-कोकिल तथा सरिसृप-रेंगकर चलने वाले प्राणी अण्डज हैं । बच्चों के रूप में उत्पन्न होने वाले हाथी, सरभ आदि पोतज हैं । जम्बालजर से वेष्टित लिपटे हुए होकर पैदा होने वाले गाय तथा मनुष्य आदि जरायुज हैं । दही, सौवीर-कांजी आदि से उत्पन्न होने वाले जीव रसज हैं । स्वेद पसीने से पैदा होने वाले यूक-जूं, खटमल आदि प्राणी स्वेदज हैं । खञ्जरीट-टिड्डी, मेढ़क आदि प्राणी उदभिज्ज हैं । इनके भेद ज्ञात किए बिना-जाने बिना इनकी रक्षा कर पाना बड़ा कठिन है । अतः यहाँ इनके भेदों का उपन्यास-कथन किया गया है।

❀ ❀ ❀

एतेहिं छहिं काएहिं, तं विज्जं परिजाणिया ।
मणसा कायवक्केणं, णारंभी ण परिग्गही ॥९॥

छाया – एतैः षड्भिः कायैस्तद् विद्वान् परिजानीयात् ।
मनसा काय वाक्येन नारम्भी न परिग्रही ॥

अनुवाद – विद्वान-विवेकशील पुरुष इन छः कायों को जीव समझकर मन, वचन तथा शरीर द्वारा, इनका आरम्भ न करे, परिग्रह न करे ।

टीका –'एभिः'पूर्वोक्तैः षड्भिरपि'कायैः'त्रसस्थावर रूपैः सूक्ष्मबादरपर्याप्तकापर्याप्तकभेदभिननैर्नारम्भी नापि परिग्रही स्यादिति सम्बन्धः, तदेतद् 'विद्वान्' सुश्रुतिको ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया मनोवाक्कायकर्मभिर्ज्जीवोपमर्दकारिण मारम्भं परिग्रहं च परिहरेदिति ॥९॥

टीकार्थ – ये पहले कहे गए छः काय के जीव जो त्रस, स्थावर-सूक्ष्म, बादर-स्थूल पर्याप्त एवं अपर्याप्त भेद युक्त है, इनका न तो आरम्भ-अतिपात और न परिग्रह ही करे । विवेकशील पुरुष ज्ञपरिज्ञा द्वारा इन्हें परिज्ञात कर तथा प्रत्याखान परिज्ञा द्वारा तथा मन, वचन एवं शरीर द्वारा इनके हिंसा मूलक आरम्भ समारम्भ तथा परिग्रह का वर्जन करे ।

❀ ❀ ❀

मुसावायं बहिद्धं च, उग्गहं च अजाइया ।
सत्थादाणाइं लोगंसि, तं विज्जं परिजाणिया ॥१०॥

छाया – मृषावादं मैथुनञ्चा, ग्रहञ्चायाचितम् ।
शस्त्राण्यादानानि लोके, तद्विद्वान् परिजानीयात् ॥

अनुवाद – मृषावाद-असत्य भाषण करना, अब्रह्मचर्य सेवन करना, परिग्रह रखना एवं अदत्तादान-किसी द्वारा नहीं दी गई वस्तु अपने आप ले लेना ये सब लोक में शस्त्र के तुल्य हैं तथा कर्मबंध के कारण हैं । अतः विद्वान्-विवेकशील मुनि इन्हें ज्ञेय परीज्ञा द्वारा जाने ।

टीका – शेषव्रतान्यधिकृत्याह-मृषा असद्भूतो वादो मृषावादस्तं विद्वान् प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेत् तथा 'बहिद्धं' ति मैथुनं 'अवग्रहं' परिग्रहमयाचितम्-अदत्तादानं, (ग्रं. ५२५०) यदिवा बहिद्धमिति-मैथुनपरिग्रहौ अवग्रहमयाचितमित्यनेनादत्तादानं गृहीतं, एतानि च मृषावादादीनि प्राण्युपतापकारित्वात् शस्त्राणीव शस्त्राणि वर्तन्ते। तथाऽऽदायते-गृह्यतेऽष्टप्रकारं कर्मभिरिति (आदानानि) कर्मोपादानकारणान्यस्मिन् लोके, तदेतत्सर्वं विद्वान् ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेदिति ॥१०॥

टीकार्थ – सूत्रकार अब बाकी के व्रतों के सम्बन्ध में प्रतिपादित करते हैं । जो जैसा नहीं है उसे वैसा कहना मृषावाद कहलाता है । विद्वान्-ज्ञानी साधु प्रत्याख्यान परिज्ञा से इनका त्याग करे । मैथुन को 'बहिद्ध' कहा जाता है तथा परिग्रह को अवग्रह एवं अदत्तादान को अयाचित कहा जाता है । अथवा 'बहिद्ध' शब्द से अब्रह्मचर्य तथा परिग्रह दोनों का ग्रहण होता है । अवग्रह एवं अयाचित पद से अदत्तादान लिया जाता है। ये असत्य भाषण आदि प्राणियों के लिए दुःख उत्पन्न करने के कारण शस्त्र के सदृश हैं तथा अष्टविध कर्म के बंध हेतु हैं । विवेकशील पुरुष यह ज्ञपरिज्ञा द्वारा इन्हें जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा द्वारा इनका परित्याग करे।

❀ ❀ ❀

पलिउंचणं च भयणं च, थंडिल्लुस्सयणाणि या ।
धूणादाणाइं लोगंसि, तं विज्जं परिजाणिया ॥११॥

छाया – पलिकुञ्जनञ्च भजञ्च, स्थण्डिलोच्छयणाणि च ।
धूनयादानाति लोके, तद्विद्वान् परि जानीयात् ॥

अनुवाद – परिकुञ्चन-माया, भजन-लोभ, शण्डिल-क्रोध तथा उच्छयन-मान ये लोक में कर्म बंधन के कारण हैं । विवेकशील मुनि इनके स्वरूप को जानकर इनका परित्याग करें ।

टीका – किञ्चान्यत्-पञ्चमहाव्रतधारणमपि कषायिणो निष्फलं स्यादतस्तत्साफल्यापादनार्थं कषाय निरोधो विधेय इति दर्शयति-परि-समन्तात् कुञ्च्यन्ते वक्रतामापाद्यन्ते क्रिया येन मायानुष्ठाने तत्पलिकुञ्चनं मायेति भण्यते, तथा भज्यते सर्वत्रात्मा प्रह्वीक्रियते येन स भजनो-लोभस्तं, तथा यदुदयेन ह्यात्मा सदसद्विवेक विकलत्वात् स्थण्डिलवद्भवति स स्थण्डिलः-क्रोधः, यस्मिंश्च सत्यूर्ध्वं श्रयति जात्यादिना दर्पाध्मातः पुरुष उत्तानी भवति स उच्छ्रायो-मानः, छान्दसत्वान्नपुंसकलिङ्गता, जात्यादि मदस्थानानां बहुत्वात् तत्कार्यस्यापि मानस्य बहुत्वमतो बहुवचनं, चकाराः स्वगतभेदसंसूचनार्थाः समुच्चयार्था वा, धूनयेति प्रत्येकं क्रिया योजनीया, तद्यथा-पलिकुञ्चनं-मायां धूनय धूनीहि वा, तथा भजनं-लोभं तथा स्थण्डिलं-क्रोधं तथा उच्छ्रायं-मानं, विचित्रत्वात् सूत्रस्य क्रमोल्लङ्घनेन निर्देशो न दोषायेति, यदि वा-रागस्य दुस्त्यजत्वात् लोभस्य च मायापूर्वकत्वादित्यादावेव मायालोभयोरुपन्यास इति, कषायपरित्यागे विधेये पुनरपरं कारणमाह-एतानि पलिकुञ्चनादीनि अस्मिन् लोके आदानानि वर्त्तन्ते, तदेवाद्विद्वान् ज्ञपरिज्ञयापरिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया प्रत्याचक्षीत ॥११॥

टीकार्थ – जिस मनुष्य में कषाय विद्यमान रहते हैं उसका पंच महाव्रत धारण करना निष्फल-व्यर्थ है। अत: पंच महाव्रत को सफल-सार्थक बनाने हेतु कषाय का निरोध-अवरोध करना चाहिए। सूत्रकार इसका दिग्दर्शन कराते हैं। जिस द्वारा मनुष्य की क्रिया वक्रता-टेढापन प्राप्त करती है, सरलता को छोड़कर कुटिलता पूर्ण बन जाती है, उसे पलिकुन्चन कहते हैं। यह माया का नाम है। जिस द्वारा आत्मा सर्वत्र झुक जाती है, आकृष्ट हो जाती है, यह भजन कहा जाता है। यह लोभ का वाचक है जिसके उदित होने पर आत्मा सत् असत् के विवेक से विवर्जित होकर स्थडिंल के सदृश हो जाती है, मलिन हो जाती है, वह स्थडिंल कहा जाता है। ये क्रोध का नाम है जिसके होने से आत्मा जाति आदि के दर्प से उद्धत होकर उत्तान होती है। अहंकार से उद्धत बन जाती है। उसे उच्छाय कहा जाता है। यह मान का सूचक है। मान शब्द व्याकरण के अनुसार पुल्लिंग में है किन्तु छांदस या आर्ष प्रयोग होने के कारण यहाँ नपुंसक लिंग में आया है। मद के जाति आदि बहुत से स्थान है इसलिए यहाँ बहुवचन का प्रयोग हुआ है। यहाँ आया हुआ चकार स्वगत भेद के ससूंचक हेतु है अथवा वह समुच्य के अर्थ में है। यहाँ धूनय-धून डालो, समाप्त कर डालो, या त्याग दो, इस क्रिया का प्रत्येक के साथ योजन करना चाहिए, जोड़ना चाहिए। जैसे माया का धूनन करो, उसे त्यागो, लोभ को त्यागो इत्यादि। यहाँ माया, लोभ, क्रोध और मान इस प्रकार जो क्रमोलंघन हुआ है-ये यथाक्रम नहीं आये हैं इसका कारण सूत्र की अपनी विचित्रता, विविधता या विशेषता के कारण दोष नहीं है, अथवा राग दुष्त्याज्य है-उसे छोड़ना बहुत कठिन है तथा लोभ माया पूर्वक ही होता है-पहले माया होती है। फिर लोभ होता है। अत: शुरु में माया या लोभ का उपन्यास-निर्देश किया गया है। कषायों के त्याग के सन्दर्भ में सूत्रकार भी बतलाते हैं। तदनुसार संसार में माया आदि कर्मों के बंध के कारण है। विवेकी पुरुष ये जानकर इनका परित्याग करें।

❀ ❀ ❀

धोयणं रयणं चेव, बत्थीकम्मं विरयेण।
वमणंजण पलीमंथं, तं विज्जं परिजाणिया ॥१२॥

छाया – धावनं रञ्चनञ्चैव, बस्तिकर्म विरेचनम्।
वमनाञ्जनं पलिमन्थं, तद्विद्वान् परिजानीयात् ॥

अनुवाद – हाथ, पैर आदि का प्रक्षालन, रंजन, वस्तिकर्म, विरंचन वामन तथा नेत्राजंन आदि ये सब कार्य संयम को नष्ट कर डालते हैं। अत: ज्ञानी पुरुष ये जानकर इनका त्याग करे।

टीका – पुनरप्युत्तरगुणाधिकृत्याह-धावनं-प्रक्षालनं हस्तपादवस्त्रादे रञ्जनमपि तस्यैव, चकार: समुच्चयार्थ:, एवकारोऽव धारणे, तथा वस्तिकर्म-अनुवासना रूपं तया 'विरेचनं' निरुहात्मकमधोविरेको वा वमनम्-ऊर्ध्वविरेकस्तथाऽञ्जनं नयनयो:, इत्येवमादिकमत्यदपि शरीरसंस्कारादिकं यत् 'संयमपलिमन्थकारि' संयमोपधातरुपं तदेतद्विद्वान् स्वरूपतस्यद्विपाकतश्च परिज्ञाय प्रत्याचक्षीत् ॥१२॥ अपिच -

टीकार्थ – पुन:श्च सूत्रकार उत्तर गुणों को उदिष्ट कर कहते हैं कि हाथ पैर वस्त्र आदि का प्रक्षालन-धोना, रंजन-रंगना, बस्तीकर्म-एनीमा लेना, विरेचन-जुलाब लेना, वामन-औषधि आदि लेकर उल्टी करना अंजन-

आँख में सुरमा आदि डालना, तथा अन्य भी शरीर संस्कार, देह सज्जा आदि संयम के उपघातक-विनाशक हैं । विवेकशील मुनि उनके स्वरूप तथा विपाक-फल को जानकर उनका परित्याग करें ।

❀ ❀ ❀

गंधमल्लसिणाणं च, दंत पक्खालणं तहा ।
परिग्गहित्थिकम्मं च, तं विज्जं परिजाणिया ॥१३॥

छाया – गन्धमाल्यस्नानानि, दन्त प्रक्षालनं तथा ।
परिग्रहस्त्रीकर्माणि तद् विद्वान् परिजानीयात् ॥

अनुवाद – गंध-शरीर में सुगन्धित पदार्थ लगाना, माल्य-पुष्प माला धारण करना, स्नान करना, दंत प्रक्षालन करना, परिग्रह रखना हस्त कर्म करना-ये पाप के कारण हैं । विवेकशील मुनि ये जानकर इनसे पृथक् रहे, इनका त्याग करें ।

टीका – 'गन्धाः' कोष्ठपुटादयः 'माल्यं' जात्यादिकं 'स्नानं च' शरीरप्रक्षालनं देशतः सर्वतश्च, तथा 'दन्तप्रक्षालनं' कदम्बकाष्ठादिना तथा 'परिग्रहः' सचित्तादेः स्वीकरणं तथा स्त्रियो-दिव्यमानुषतैरश्चयः तथा 'कर्म' हस्तकर्म सावद्यानुष्ठानं वा तदेतत्सर्वं कर्मोपादानतया संसारकारणत्वेन परिज्ञाय विद्वान परित्यजेदिति ॥१३॥

टीकार्थ – कोष्टपूट आदि सुगन्धित पदार्थ, चमेली आदि के पुष्पों की माला, स्नान-शरीर के कुछ भाग को या सारे को प्रक्षालित करना-धोना कदम्ब आदि की टहनी से दातों का प्रक्षालन करना, सचित्त पदार्थग्रहण, स्वीकार करना, देव, मानव या तिर्यंच जाति की स्त्रियों के साथ अब्रह्मचर्य का सेवन करना तथा हस्तकर्म करना अथवा ओर भी जो सावद्य पापयुक्त अनुष्ठान कार्य हैं उन्हें करना, ये सब कर्म बंध के कारण हैं । इनसे संसार में जन्म मरण का चक्र चलता रहता है । विवेकशील मुनि यह जानकर इनका परित्याग करे ।

❀ ❀ ❀

उद्देसियं कीयगडं, पामिच्चं चेव आहडं ।
पूयं अणेसणिज्जं च, तं विज्जं परिजाणिया ॥१४॥

छाया – उद्देशिकं क्रीतक्रीतं पामित्यं चैवाहृतम् ।
पूय मनेषणीयञ्च, तद्विद्वान् परिजानीयात् ॥

अनुवाद – उद्देशिक-साधु को देने हेतु जो आहार-भोजन आदि तैयार किया गया है जो क्रीत, क्रय किया गया है, खरीदा गया है, पामित्य-साधु को देने हेतु जो अन्य किसी से उधार लिया गया हो, आहृत-जो गृहस्थों द्वारा लाया गया हो पूय-अशुद्ध जो आधाकर्मी आहार से मिश्रित हो तथा अनेषणीय-किसी भी कारण से दोषयुक्त या अशुद्ध हो, विवेकशील साधु उसे संसार बढ़ने का कारण जानकर त्यागें ।

टीका – किञ्चान्यत्-साध्वाद्युद्देशेन यद्दानाय व्यवस्थाप्यते तदुद्देशिकं, तथा क्रीतं क्रयस्तेन क्रीतं-गृहीतं क्रीतक्रीतं 'पामिच्चं'त्ति साध्वर्थमन्यत उद्यतकं यद्गृह्यते तत्तदुच्यते चकारः समुच्चयार्थः एवकारोऽवधारणार्थः, साध्वर्थं यद्गृहस्थेनानीयते तदाहृतं, तथा 'पूय' मिति आधाकर्मावयवसम्पृक्तं शुद्धमप्याहारजातं पूतिभवति, किं बहुनोक्तेन? यत् केनचिद्दोषेणानेषलीयम्-अशुद्धं तत्सर्वं विद्वान् परिज्ञाय संसारकारणतया निस्पृहः सन् प्रत्याचक्षीतेति ॥१४॥

टीकार्थ – साधु को देने हेतु जो आहार-भोजन आदि व्यवस्थापित किया जाता है-रखा जाता है, उसे उद्देशिक कहते हैं । जो आहार साधु के लिए क्रय किया जाता-खरीदा जाता है उसे क्रीत कहा जाता है। साधु को देने हेतु जो आहार अन्य किसी से उधार लिया जाता है उसे पामित्य कहा जाता है । यहाँ चकार समुच्चय के अर्थ में है । तथा एवकार अवधारणा के अर्थ में है । साधु को देने हेतु गृहस्थ जो आहार लाता है, वह अहत्त कहा जाता है । आधाकर्मी-सदोष आहार के एक कण से भी सप्रंत्त होने पर शुद्ध आहार अशुद्ध हो जाता है । ऐसे आहार को प्रय या पूति कहा जाता है । और अधिक क्या कहा जाये, किसी भी दोष से आहार अशुद्ध अनेषणीय-अग्राही हो तो निस्पृह आकांक्षा रहित विवेकशील मुनि उसको संसार का जन्म-मरण का कारण जानकर त्याग दें ।

❀ ❀ ❀

आसूणिमक्खिरागं च, गिद्धुवधायकम्मगं ।
उच्छोलणं च कक्कं च, तं विज्जं परिजाणिया ॥१५॥

छाया – आशून मक्षिरागञ्च, गृद्ध्युपघातकर्मकम् ।
उच्छोलनञ्च कल्कञ्च, तद्विद्वान् परिजानीयात् ॥

अनुवाद – रसायन आदि का सेवन करना, सुन्दरता के लिए आँखों में अंजन लगाना, शब्द आदि प्रीतिजनक विषयों में आसक्त रहना, जीव हिंसा मय कर्म करना जैसे शीतल-सचित जल से अयत्नपूर्वक हाथ पैर आदि का प्रक्षालन करना, शरीर में पिट्ठी आदि मलना, ये संसार बढ़ाने के कारण हैं । साधु यह जानकर इनका परित्याग करें ।

टीका – किञ्च-येन घृतपानादिना आहारविशेषेन रसायनक्रियया वा अशून: सन् आ-समन्तात् शूनी भवति-बलवानुपजायते । तदाशूनीत्युच्यते, यदिवा आसूणिति-श्लाघया क्रियमाणया आ-समन्तात् शूनवच्छूनो लघुप्रकृति: कश्चिद्दर्पाध्मातत्वात् स्तब्धो भवति, तथा अक्ष्णां 'रागो' रञ्जनं सौवीरादिकमञ्जनमिति यावत्, एवं रसेषु शब्दादिषु विषयेषु वा 'गृद्धिं' गाद्धर्यं तात्पर्यमासेवा, तथोपघातकर्म-अपरापकारक्रिया येन केन चित्कर्मणा परेषां जन्तूनामुपघातो भवति तदुपघातकर्मेत्युच्यते, तदेव लेशतो दर्शयति-'उच्छोलनं'त्ति अयतनया शीतोदकादिना हस्तपादादिप्रक्षालनं तथा 'कल्कं' लोध्रादिद्रव्यसमुदायेन शरीरोद्वर्तनकं तदेतत्सर्वं कर्मबन्धनाये त्येवं 'विद्वान्' पण्डितो ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञयापरिहरेदिति ॥१५॥

टीकार्थ – घृतपान, अथवा रसायन का सेवन या जिस आहार विशेष के सेवन से मनुष्य बलिष्ठ या पुष्ठ होता है, उसे आशूनी कहा जाता है अथवा प्रशंसा को भी आशूनी कहा जाता है क्योंकि ओछी प्रवृत्ति का व्यक्ति अपनी तारीफ सुनकर अहंकार से चूर हो जाता है । आशूनी का सेवन करना, सुन्दरता के लिए नेत्रों में सौवीरक आदि का अंजन लगाना, रसों में अथवा शब्दादि प्रिय विषयों में लोलुप बनना, प्राणियों के उपघातक, उपघात-व्यापादन करने वाले तथा उनके अपकारक-अपकार या बुरा करने वाले कर्म करना, इनके संक्षिप्त स्पष्टीकरण के रूप में अयत्न पूर्वक शीतल-सचित जल से हाथ पैर आदि प्रक्षालित करना तथा लोद्र आदि पदार्थों की पीट्ठी बनाकर उसका शरीर पर उद्वर्तन करना, मसलना, ये सभी कर्मबंध के हेतु हैं । विवेकशील मुनि यह जानकर इनका परित्याग करें ।

❀ ❀ ❀

संपसारीकयकिरिए, पसिणायतणाणि य ।
सागारियं च पिंड च, तं विज्जं परिजाणिया ॥१६॥

छाया – सम्प्रसारी कृतक्रियः प्रश्नायतनानि च ।
सागारिकञ्च पिण्डञ्च, तद्विद्वान् परिजानीयात् ॥

अनुवाद – असंयमी जनों के साथ सांसारिक विषयों पर बातचीत करना, असंयम पूर्ण कार्य की तारीफ करना, ज्योतिष के सवालों का जवाब देना तथा शैय्या तर का-जिसके भवन में रुके हो उसके स्वामी का आहार लेना-उसके यहां से भिक्षा लेना, यह संसार भ्रमण के कारण हैं । इन्हें जानकर विवेकशील साधु इनका त्याग करें ।

टीका – अपिच-असंयतै सार्धं सम्प्रसारणं-पर्यालोचनं परिहरेदिति वाक्यशेषः एवमसंयमानुष्ठानं प्रत्युपदेशदानं, तथा 'कयकिरिओ' नाम कृता शोभना गृहकरणादिका क्रिया येन स कृतक्रिय इत्येवमसंयमानुष्ठान प्रशंसनं, तथा प्रश्नस्य-आदर्शप्रश्नादैः 'आयतनम्' आविष्करणं कथनं यथाविवक्षितप्रश्ननिर्णयनानि, यदिवा-प्रश्नायतनानि लौकिकानां परस्परव्यवहारे मिथ्याशास्त्रगतसंशये वा प्रश्ने सति यथावस्थितार्थकथनद्वारेणायतनानि-निर्णयनानीति, तथा 'सागारिकः' शय्यातरस्तस्य पिण्डम् आहारं, यदिवा-सागारिकपिण्डमिति सूतकगृहपिण्डं जुगुप्सितं वर्णापसद्पिण्ड वा, चशब्दः समुच्चये, तदेतत्सर्वं विद्वान् ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेदिति ॥१६॥ किञ्चान्यत्-

टीकार्थ – संयम हीन पुरुषों के साथ लौकिक विषयों की बातें करना, विचार विमर्श करना साधु को त्याग देना चाहिए । उसे असंयम के अनुष्ठान आचरण का उपदेश नहीं करना चाहिए । जिस पुरुष ने अपने भवन आदि की शोभा सज्जा, सजावट की है साधु को उसके रस असंयम मूलक कार्य की प्रशंसा नहीं करनी चाहिए । उसे ज्योतिष सम्बन्धी सवालों का जवाब नहीं देना चाहिए । अथवा लौकिक पुरुषों का आपसी व्यवहार में, उनके मिथ्यात्व मूलक शास्त्रों के सम्बन्ध में उन्हें संशय होने पर अथवा उन द्वारा प्रश्न किये जाने पर साधु को उस शास्त्र के यथार्थ मन्तव्य प्रकट कर निर्णय नहीं करना चाहिए । शैय्यातर के यहाँ से, अथवा सूतक युक्त घर से, नीच के घर से साधु पिण्ड आहार न ले । साधु ज्ञपरिज्ञा से इनको जानकर इनका परित्याग करे ।

❀ ❀ ❀

अट्ठावयं न सिक्खज्जा, वेहाईयं चणो वए ।
हत्थकम्मं विवायं च, तं विज्जं परिजाणिया ॥१७॥

छाया – अष्टापदं न शिक्षेत, वेधातीतञ्च नो वदेत् ।
हस्तकर्म विवादञ्च, तत् विद्वान् परिजानीयात् ॥

अनुवाद – साधु अर्थपद-अर्थशास्त्र का अध्ययन न करे अथवा अष्टापद-द्युतक्रीड़ा का अभ्यास न करे तथा अधर्म पूर्ण वचन न बोले । वह हस्तकर्म व विवाद न करे । विवेकशील पुरुष इनको भव भ्रमण का हेतु मानकर इनका परित्याग करे ।

टीका – अर्यते इत्यर्थो-धनधान्यहिरण्यादिकः पद्यते-गम्यते येनार्थस्तत्पदं शास्त्रं अर्थार्थं परमर्थपदं चाणाक्यादिकमर्थशास्त्रं तन्न 'शिक्षेत्' नाभ्यस्येत् नाप्यपरं प्राण्युपमर्दकारि शास्त्रं शिक्षयेत्, यदिवा-'अष्टापदं द्यूतक्रीड़ाविशेषस्तं न शिक्षेत, नापि पूर्वशिक्षितमनुशीलयेदिति, तथा 'वेधो' धर्मानुवेधस्तस्मादतीतं सद्धर्मानुवेधातीतम्-अधर्मप्रधानं वचो नो वदेत् यदिवा-वेध इति वस्त्रवेधो द्यूतविशेषस्तद्गतं वचनमपि नोवदेद् आस्तां तावत्क्रीडनमिति, हस्तकर्म प्रतीतं, यदि वा-'हस्तकर्म' हस्तक्रिया परस्परं हस्तव्यापारप्रधानः कलहस्तं, तथा विरुद्धवादं विवादं शुष्कवादमित्यर्थः, चः समुच्चये, तदेतत्सर्वं संसारभ्रमणकारणं ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यान परिज्ञया प्रत्याचक्षीत् ॥१७॥

टीकार्थ – जो अर्जित किया जाता है उसे अर्थ कहते हैं । वह धन, धान्य तथा हिरण्य आदि है। वह अर्थ जिसके द्वारा उपलब्ध होता है, मिलता है उसे अर्थपद कहते हैं अथवा अर्थ या धन अर्जित करने के लिए जो शास्त्र है, उसे अर्थपद कहा जाता है । चाणक्य द्वारा रचित अर्थशास्त्र अर्थपद है । साधु उसका अभ्यास-अध्ययन न करे । उन दूसरे शास्त्रों का भी अभ्यास न करे, जो प्राणियों की हिंसा की शिक्षा देते हैं। गाथा में आये अट्ठावय पद का संस्कृत में अष्टापद् भी होता है । द्यूतक्रीड़ा को अष्टापद कहा जाता है । साधु उसका शिक्षण न ले । उसे न सीखे तथा यदि उसने पहले द्यूत-जूए का शिक्षण पाया हो तो उसका अनुशीलन न करे । धर्म का उल्लंघन वेध कहा जाता है । जिस द्वारा धर्म का उल्लंघन हो ऐसा अधर्ममय वचन साधु न कहे । अथवा वेध, वस्त्र वेध का भी बोधक है । वस्त्र वेध द्यूत का एक प्रकार है । साधु तद्विषयक वचन भी न बोले फिर द्यूत क्रीड़ा या जुआ खेलने की तो बात ही क्या । हस्तकर्म अथवा हस्तक्रिया परस्पर आपस में एक दूसरे को हाथों से-मुक्कों आदि से मारने पीटने के रूप में कलह तथा विरुद्ध वाद, शुष्क निरर्थकवाद-विवाद आदि संसार भ्रमण के कारण हैं । यह जानकर साधु उनका परित्याग करे । यहाँ चय शब्द समुच्चय के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ।

❀ ❀ ❀

पाणहाओ य छत्तं च, णालीयं वालवीयणं ।
परकिरियं अन्नमन्नं च, तं विज्जं परिजाणिया ॥१८॥

छाया – उपानहौ च छत्रञ्च, नालिकं बालव्यजनम् ।
परिक्रियाञ्चाऽन्योऽन्यं, तद्विद्वान् परिजानीयात् ॥

अनुवाद – उपानह-जूते खडाऊ पहनना, छत्र-छाता रखना, नालिक-द्युत क्रीड़ा करना, वाल व्यजन-पंखे से हवा लेना हिंसादि मूलक परीक्रिया-पारस्परिक क्रिया इनको कर्म बंधा का हेतु जानकर विवेकशील मुनि इनका परित्याग करे ।

टीका – किञ्च उपानहौ-काष्ठपादुके च तथा आतपादिनिवारणाय छत्रं तथा 'नालिका' द्यूतक्रीड़ा विशेषस्तथा वालैः मयूरपिच्छैर्वा व्यजनकं तथा परेषां सम्बन्धिनीं क्रियामन्योऽन्यं-परस्परतोऽन्यनिष्पाद्यामन्यः करोत्यपरनिष्पाद्यां चापर इति, चः समुच्चये, तदेतत्सर्वं 'विद्वान्' पण्डितः कर्मोपादानकारणत्वेन ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेदिति ॥१८॥

टीकार्थ – उपानह-काष्टपादुका धारण करना, धूप के आतप आदि के निवारण हेतु-धूप से बचने के लिए छाता लगाना, नालिका-द्यूत क्रीडा करना, मोर के पंख आदि से बने हुए पंखे से हवा लेा एवं हिंसा जनक पारस्परिक क्रिया आदि में संलग्न रहना, ये सब संसार भ्रमण-आवागमन के कारण हैं । यह जानकर साधु इनका त्याग करे ।

❀ ❀ ❀

उच्चारं पासवणं, हरिएसु ण करे मुणी ।
वियडेण वावि साहट्टु, णावमज्जे (यमेज्जा) कवाइवि ॥१९॥

छाया – उच्चारं प्रस्रवणं हरितेषु न कुर्य्यान्मुनिः ।
विकटेन वाऽपि संहृत्य, नाचमेत कदाचिदपि ॥

अनुवाद – मुनि हरी वनस्पति युक्त स्थान में मल प्रश्रवण त्याग रूप शौच क्रिया न करे । बीज आदि को दूरकर अचित जल से भी आचमन न करे ।

टीका – तथा उच्चारप्रस्रणादिकां क्रियां हरितेषूपरि बीजेषु वा अस्थिण्डिले वा 'मुनिः' साधुर्नकुर्यात्, तथा 'विकटेन' विगतजीवेनाप्युदकेन 'संहृत्य' अपनीय बीजानि हरितानि वा 'नाचमेत' न निर्लेपनं कुर्यात्, किमुताविकटे नेतिभावः ॥१९॥

टीकार्थ – विवेकशील मुनि हरी वनस्पति तथा बीज आदि के ऊपर अनुपयुक्त स्थान में मल मूत्र का त्याग न करे । बीज हरी वनस्पति आदि हटाकर भी वह वैसा न करे । अचित जल से भी आचमन न करे ।

❀ ❀ ❀

परमत्ते . अन्नपाणं, ण भुंजेज्ज कयाइवि ।
परवत्थं अचेलोऽवि, तं विज्जं परिजाणिया ॥२०॥

छाया – परामत्रेऽन्नपानं, न भुञ्जीत कदाचिदपि ।
परवस्त्र मचेलोऽपि, तद्विद्वान् परिजानीयात् ॥

अनुवाद – मुनि परामत्र-दूसरे के गृहस्थ के पात्र में आहार न करे, न जल का सेवन करे । वस्त्र न भी हों तो वह गृहस्थ के वस्त्र न पहने । ये सब मुनित्त्व के-मुनि धर्म के प्रतिकूल हैं । विवेकशील मुनि यह जानते हुए इसका परित्याग करे ।

टीका – किञ्च परस्य-गृहस्थास्यामत्रं-भाजनं परामत्रं तत्र पुरःकर्मपश्चात्कर्मभयात् हृतनष्टादिदोषसम्भावाच्च अन्नं पानं च मुनिर्न कदाचिदपि भुञ्जीत, यदिवा-पतद्ग्रहधारिणश्छिद्रपाणेः पाणिपात्रं परपात्रं, यदिवा-पाणिपात्र-स्याच्छिद्रपाणेर्जिनकल्पिकादेः पतद्ग्रहः परपात्रं तत्र संयतविराधनाभयान्न भुञ्जीत तथा परस्य-गृहस्थस्य वस्त्रं परवस्त्रं तत्साधुरचेलोऽपिसन् पश्चात्कर्मादिदोषभयात् हृतन-ष्टादिदोषसम्भवाच्च न बिभृयात्, यदिवा-जिनकल्पिकादिकोऽचेलो भूत्वा सर्वमपि वस्त्रं परवस्त्रमिति कृत्वा न बिभृयाद्, तदेतत्सर्वं परपात्रभोजनादिकं संयमविराधकत्वेन ज्ञपरिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेदिति ॥२०॥ तथा –

टीकार्थ – यहाँ परामत्र का अर्थ गृहस्थ का पात्र है । उस पात्र में मुनि भोजन न करे और पानी भी न पीये क्योंकि उस पात्र में आगे या पीछे के कर्म का-सचित पानी से धोये जाने का, हत होने का, चोरी चले जाने का, नष्ट होने का, हाथ से गिरकर टूट जाने का भय बना रहता है । अथवा स्थविर कल्पी साधुओं के लिए पात्र रखना विहित है । अतः वे पात्र रखते हैं, क्योंकि उनकी अंजलि छिद्रयुक्त होती है । इसलिए स्थविर मुनि का हाथ का पात्र भी परपात्र है । उसमें वह आहार न करें, तथा उस द्वारा जल न पीये । अथवा जिनकल्पी आदि मुनि पात्र नहीं रखते । उनका पाणी-पाथ या अंजलि ही पात्र है । उनका अछिद्र-छिद्र रहित-खूब सटाया हुआ हाथ या अंजलि ही उनका पात्र है । जिनकल्पी मुनि के लिए दूसरे सभी पात्र पर पात्र हैं। उनमें वे संयम की विराधना मानते हैं । अतः संयम टूटने के भय से वे वैसे पात्र में भोजन न करे, पानी न पीये । साधु वस्त्र रहित होते हुए भी पहले या पीछे कर्मादि दोष के भय से अचित्त जल से धोये जाने तथा चोरी हो जाने तथा नष्ट हो जाने आदि के भय से गृहस्थ का वस्त्र धारण न करे, अथवा जिनकल्पी मुनि वस्त्र रहित होते हैं, उनके लिए सभी वस्त्र मात्र ही परवस्त्र हैं । इसीलिए उन्हें वस्त्र धारण नहीं करना चाहिए । इस प्रकार सारांश यह है कि साधु द्वारा परपात्र में भोजन करना आदि संयम का विराधक है । ज्ञपरिज्ञा द्वारा यह जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा द्वारा उसका परित्याग करे ।

❀ ❀ ❀

आसंदी पलियंके य, णिसिज्जं च गिहंतरे ।
संपुच्छणं सरणं वा, तं विज्जं परिजाणिया ॥२१॥

छाया – **आसन्दीं, पर्य्यङ्कञ्च, निषद्याञ्च गृहान्तरे ।**
संप्रश्नं स्मरणं वापि, तद्विद्वान् परिजानीयात् ॥

अनुवाद – साधु आसंदी-मंच या कुर्सी पर न बैठे । वह पलंग पर शयन न करे । गृहस्थ के घर के अन्दर या दो घरों के मध्य में जो संकड़ी गली हो, उसमें न बैठे । वह गृहस्थ का कुशल क्षेम न पूछे तथा पूर्वजीवन में की हुई अपनी क्रीडा का स्मरण न करे । ये सभी बातें संसार में भटकाने वाली हैं । यह जानकर वह उनका परित्याग करे ।

टीका – 'आसन्दी' त्यासनविशेषः, अस्य चोपलक्षणार्थत्वात्सर्वोऽप्यासनविधिर्गृहीतः, तथा 'पर्यंकः' शयनविशेषः, तथा गृहस्यान्तर्मध्ये गृहयोर्वा मध्ये निषद्यां वाऽऽसनं वा संयमविराधनाभयात्परिहरेत्, तथा चोक्तम् -

"गभीर झुसिरा एते, पाणा दुप्पडिलेहगा । अगुत्ती बंभचेरस्स, इत्तीओ वावि संकणा ॥१॥"

छाया - गम्भीरच्छिद्राणि प्राणा दुष्प्रति लेख्याः । अगुप्ति ब्रह्मचर्यस्य स्त्रियो वापि शंकनं ॥२॥

इत्यादि, तथा तत्र गृहस्थगृहे कुशलादिप्रच्छनं आत्मीय शरीरावयवप्रच्छ (पुञ्छ) नं वा तथा पूर्व क्रीडितस्मरणं 'विद्वान्' विदितवेद्यः सन्ननर्थायेति ज्ञपरिज्ञयापरिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेत् ॥२१॥

टीकार्थ – आसन विशेष को आसंदी कहा जाता है, यह उपलक्षण है । इससे सब प्रकार की आसन विधि-आसन विषयक उपक्रम गृहीत होते हैं । शयन-विशेष विशेष रूप से जिसका शयन करने में उपयोग

होता है, उसे पर्यंक या पलंग कहते हैं । गृहस्थ के घर के भीतर या दो घरों के बीच के संकड़े स्थान में शयन करना या बैठना संयम की विराधना का हेतु है । अतः साधु इनका परित्याग करे । कहा गया है-गम्भीर-मांचे या खाट आदि आसनों में गम्भीर-गहरे छिद्र होते हैं, इसलिए उनमें जीव साक्षात् दिखलाई नहीं पड़ते, पर उनमें उनका होना आशंकित है । उनका प्रतिलेखन नहीं हो सकता तथा गृहस्थ के घर के भीतर या दो घरों के बीच स्थित होने से ब्रह्मचर्य की गुप्ति-रक्षा संभव नहीं है । वहाँ स्त्री संसर्ग की भी शंका बनी रहती है । गृहस्थ के घर के परिवार के कुशल क्षेम विषयक समाचार पूछना, अपनी देह के अंगों को पोंछना तथा पहले की हुई क्रीड़ाओं-भोगे हुए विषय भोगों को याद करना-ये सब अनर्थ के, आत्मा के अधः पतन के लिए हैं । अतएव विदित वैद्य-वस्तुतत्ववेत्ता विवेकशील मुनि ज्ञपरिज्ञा द्वारा इन सबको जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा द्वारा इनका परित्याग करे ॥२१॥

❀ ❀ ❀

जसं कितिं सलोयं च, जा य वंदणपूयणा ।
सव्वलोयंसि जे कामा, तं विज्जं परिजाणिया ॥२२॥

छाया – यशः कीर्तिः श्लोकश्च, या च वन्दना पूजना ।
सर्वलोके ये कामा स्तद् विद्वान् परिजानीयात् ॥

अनुवाद – यशस्विता, कीर्ति, प्रशस्ति, वन्दन, सत्कार तथा समस्त सांसारिक भोग संसार भ्रमण के कारण हैं, यह जानकर विवेकशील मुनि इनका त्याग कर दे ।

टीका – अपिच बहुसमरसङ्घट्टनिर्वहणशौर्यलक्षणं यशः दानसाध्या कीर्तिः जातितपोवाहुश्रुत्यादिजनिताश्लाघा, तथा या च सुरासुराधिपतिचक्रवर्तिबलदेववासुदेवादिभिर्वन्दना तथा तैरेव सत्कारपूर्विका वस्त्रादिना पूजना, तथा सर्वस्मिन्नापि लोके इच्छामदनरूपा ये केचन कामास्तदेतत्सर्वं यशःकीर्ति (श्लोकादिकः) मपकारितया परिज्ञाय परिहरेदिति ॥२२॥

टीकार्थ – बहुत बड़े संग्राम में युद्ध कर विजय प्राप्त करने से संसार में जो शौर्य की प्रसिद्धि या ख्याति होती है, उसे यश कहते हैं । अत्यधिक दान देने की जो प्रसिद्धि प्राप्त होती है, उसे कीर्ति कहा जाता है । उच्च जाति में जन्मने, तपश्चरण करने तथा शास्त्राध्ययन करने से जो जगत में ख्याति मिलती है उसे श्लाघा कहते हैं । देवेन्द्र, असुरेन्द्र, चक्रवती, बलदेव, वासुदेव आदि द्वारा जो वन्दन नमस्कार, वस्त्रादि द्वारा सत्कार एवं सम्मान किया जाता है, वह तथा समग्र लोक के कामभोग-इन सभी की यश, कीर्ति, प्रशस्ति आदि को परिज्ञात कर-इनके वास्तविक स्वरूप को आत्मसात् कर साधु इनका परित्याग करे ।

❀ ❀ ❀

जेणेहं णिव्वहे भिक्खू, अन्नपाणं तहाविहं ।
अणुप्पयाणमन्नेसिं, तं विज्जं परिजाणिया ॥२३॥

छाया – येनेह निर्वहेद् भिक्षु रन्नपानं तथाविधम् ।
अनुप्रदान मन्येषां, तद् विद्वान् परिजानीयात् ॥

अनुवाद – इस संसार में जिस अन्न, जल के सेवन करने से साधु का संयम विकृत हो जाता है, नष्ट हो जाता है, वैसा अन्न पानी आदि साधु किसी अन्य साधु को न दे । वह आवागमन को बढ़ाता है। विवेकशील मुनि यह जानता हुआ इसका परित्याग करे ।

टीका – किञ्चान्यत्-'येन' अन्नेन पानेन वा तथाविधेनेति सुपरिशुद्धेन कारणापेक्षयात्वशुद्धेन वा 'इह' अस्मिन् लोके इदं संयमयात्रादिकं दुर्भिक्षरोगातङ्कादिकं वा भिक्षुः निर्वहेत् निर्वाहयेद्वा तदन्नं पानं वा 'तथाविधं' द्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षया 'शुद्धं' कल्पं गृह्णीयात्तथैतेषाम्-अन्नादीनामनुप्रदानमन्यस्मै साधवे संयमयात्रा निर्वहणसमर्थमनुतिष्ठेत्, यदिवा-येन केनचिदनुष्ठितेन 'इमं' संयमं' निर्वहेत्' निर्वाहयेद् असारतामापादयेत्तथाविधमशनं पानं वाऽन्यद्वा तथाविधमनुष्ठानं न कुर्यात् तथैतेषामशनादीनाम् 'अनुप्रदानं' गृहस्थानां परतीर्थिकानां स्वयूथ्यानां वा संयमोपघातकं नानुशीलयेदिति, तदेवत्सर्वं ज्ञपरिज्ञया ज्ञात्वा सम्यक् परिहरेदिति ॥२३॥

टीकार्थ – जिस सुपरिशुद्ध अन्न जल से अथवा कारण की अपेक्षा से जिस अशुद्ध अन्न जल से साधु इस जगत में अपनी संयम यात्रा का, दुर्भिक्ष-अकाल, रोग, आतंक का निर्वाह करता है, ऐसे समयों में जीवन चलाता है, वह साधु सामान्य अवस्था में द्रव्यक्षेत्र काल एवं भाव की अपेक्षा से शुद्ध एवं कल्पनीय अन्न जल ग्रहण करे । तथा वैसा ही शुद्ध कल्पनीय अन्न जल संयम के निर्वहण हेतु अन्य साधु को दे । अथवा जो कार्य करने से साधु का संयम असार बनता है, विकृत या नष्ट होता है, वैसा भोजन तथा पानी उसे न दे । वैसे अन्य कार्य भी न करे, जिससे संयम नष्ट होता है । वैसा अशुद्ध भोजन आदि वह किन्हीं गृहस्थों को, परतीर्थिकों को-परमतवादियों को अथवा स्वयूथिको को न दे । साधु इन बातों को संयमोपघातक-संयम का उपघात करने वाली मानकर इनका परित्याण करे ।

❀ ❀ ❀

एवं उदाहु निग्गंथे, महावीरे महामुणी ।
अणंत नाणदंसी से, धम्मं देसितवं सुतं ॥२४॥

छाया – एवमुदाहृतवान् निग्रन्थो, महावीरो महामुनिः ।
अनन्तज्ञानदर्शनी स, धर्मं देशितवान् श्रुतम् ॥

अनुवाद – निर्ग्रन्थ-बाह्य और आभ्यन्तर ग्रंथियों से विमुक्त, अनंत ज्ञान, दर्शन के धनी भगवान महावीर ने इस धर्म-चारित्र एवं श्रुत-ज्ञान का उपदेश दिया है ।

टीका – यदुपदेशेनैतत्सर्वं कुर्यात्तं दर्शयितुमाह-'एवम्' अनन्तरोक्तया नीत्या उद्देशकादेरारभ्य 'उराहु' त्ति उदाहृतवानुक्तवान् निर्गतः सबाह्याभ्यन्तरो ग्रन्थो यस्मात्स निर्ग्रन्थो 'महावीर' इति श्रीमद्वर्धमानस्वामी महांश्चासौ मुनिश्च महामुनिः अनन्तं ज्ञानंदर्शनं च यस्यासावनन्तज्ञानदर्शनी स भगवान् 'धर्मं' चारित्रलक्षणं संसारोत्तारणसमर्थं तथा 'श्रुतं च' जीवादिपदार्थ संसूचकं 'देशितवान्' प्रकाशितवान् ॥२४॥ किञ्चान्यत् -

टीकार्थ – पूर्ववर्णित शिक्षाओं का, जिनके उपदेश से अनुसरण करना चाहिए, उस महापुरुष का दिग्दर्शन कराने हेतु सूत्रकार कहते हैं-जिनकी बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार की ग्रंथियां नष्ट हो गई हैं, जो अनन्त ज्ञान एवं दर्शन से युक्त हैं ऐसे भगवान महावीर स्वामी ने चारित्र रूप तथा श्रुत-जीवादि पदार्थ संसूचक ज्ञान रूप धर्म की देशना दी है ।

❀ ❀ ❀

भासमाणो न भासेज्जा, णेव वंफेज्ज मम्मयं ।
मातिट्ठाणं विवज्जेज्जा, अणुचिंतिय वियागरे ॥२५॥

छाया – भाषमाणो न भाषेत, नैवाभिलपेन्मर्मगम् ।
मातृस्थानं विवर्जयेद्, अनुचिन्त्य व्यागृणीयात् ॥

अनुवाद – जो मुनि भाषासमित-भाषा समिति से युक्त है, वह धर्म का अभिभाषण करता हुआ भी, उपदेश करता हुआ भी न बोलने वाले के सदृश है । जिससे किसी के हृदय को चोट पहुँचे, दुःख हो, साधु ऐसा वाक्य न बोले । वह कपटपूर्ण वचन नहीं बोले । जो भी बोले सोच विचार कर बोले ।

टीका – यो हि भाषासमितः स भाषमाणोऽपि धर्मकथासम्बन्धमभाषक एवस्यात्, उक्तं च-

"वयणविहत्तीकुसलोवओगयं बहुविहं वियाणंतो । दिवसंपि भासमाणो साहू वय गुत्तयं पत्तो ॥१॥"

छाया-वचनविभक्ति कुशलो वचोगतं बहुविधं विजानम्। दिवसमपि भाषमाणः साधुर्वचनगुप्तिसम्प्राप्तः॥१॥

यदि वा-यत्रान्यः कश्चिद्रत्नाधिको भाषमाणस्तत्रान्तर एव सश्रुतिकोऽहमित्येवमभिमानवान्नभाषेत, तथा मर्म गच्छतीति मर्मगं वचो न 'वफेज्ज' त्ति नाभिलषेत्, यद्वचनमुच्यमानं तथ्यमतथ्यं वा सद्यस्य कस्यचिन्मनः पीडामाधत्ते तद्विवेकी न भाषेतेति भावः यदिवा 'मामकं' ममीकारः पक्षपातस्तं भाषमाणोऽन्यदा वा 'न वंफेज्जति' नाभिलषेत्, तथा 'मातृस्थानं' मायाप्रधानं वचो विवर्जयेत्, इदमुक्तं भवति-परवञ्चनबुद्ध्या गूढचारप्रधानो भाषमाणोऽभाषमाणो वाऽन्यदा वा मातृस्थानं न कुर्यादिति, यदा तु वक्तुकामो भवति तदा नैतद्वचः परात्मनोरुभयोर्वा बाधकमित्येवं प्राग्विचिन्त्य वचनमुदाहरेत्, तदुक्तम्-

"पुव्विं बुद्धीए पेहित्ता, पच्छा वक्कमुदाहरे" इत्यादि ॥२५॥

छाया - पूर्वं बुद्ध्याप्रेक्षयित्वा पश्चाद् वाक्यमुदाहरेत ।

टीकार्थ – जो साधु भाषासमित है-भाषा समिति का पालन करता है, वह धर्मकथा का-धार्मिक सिद्धान्तों का उपदेश करता हुआ भी अभाषक-नहीं बोलने वाले के समान ही है । जैसे कहा गया है-जो साधु वचनविभक्ति में कुशल है, वाणी के संदर्भ में सूक्ष्मतया विशेष ज्ञाता है, वह दिनभर बोलता हुआ भी वचन गुप्ति से युक्त ही है । अथवा जहाँ कोई रत्नाधिक-संयम जीवितव्य में वरिष्ठ पुरुष बोल रहा हो, उसके बीच में ही, "मैं सश्रुतिक-उत्तम विद्वान हूँ, इस अभिमान से युक्त होकर साधु भाषण न करे । वह ऐसा न बोले, जो मर्मान्तक हो, मर्म को पीड़ित करने वाला हो । कहने का अभिप्राय यह है कि असत्य हो या सत्य हो, जिस वचन के बोलने से किसी के मन में पीड़ा पैदा हो, विवेकयुक्त पुरुष वैसा न बोले । अथवा साधु भाषण करता हुआ-बोलता हुआ पक्षपातपूर्ण-किसी एक का पक्ष लेते हुए वाणी न बोले । वह कपट एवं छलयुक्त भाषण न करे। कहने का तात्पर्य यह है कि दूसरे की वञ्चना करने की बुद्धि से, उसे ठगने के इरादे से वह गूढाचार प्रधान-तथ्य को छिपाकर बात न करे ।

वह बोलते समय या अन्य समय माया, कपट या छलपूर्ण व्यवहार न करे । जब साधु बोलना चाहे, तो यह मन में उहापोह करे, चिन्तन करे कि यह वचन अपने या अन्य के या दोनों के लिए बाधक-बाधाजनक

या पीडोत्पादक तो नहीं है । यह सोचने के बाद ही वह बोले । इसलिए कहा है कि साधु पहले बुद्धि द्वारा प्रेक्षण करे, विचार पूर्वक समझे, तत्पश्चात् वह वचन बोले ।

❀ ❀ ❀

तत्थिमा तइया भासा जं वदित्ताऽणुतप्पती ।
जं छन्नं तं न वत्तव्वं, एसा आणा णियंठिया ॥२६॥

छाया – तत्रेयं तृतीया भाषा यामुक्त्वाऽनुतप्यते ।
यत् छन्नं तन्नवक्तव्यम् एसाऽऽज्ञा नैर्ग्रंथिकी ॥

अनुवाद - भाषा के चार भेद माने गए हैं । उनमें असत्य से मिश्रित भाषा तीसरा भेद है । साधु वैसी भाषा न बोले । वह ऐसा भी वचन न बोले जिसके बोलने से उसे अनुताप-पश्चाताप करना पड़े । जिसे सब छन्न-गुप्त रखना चाहते हैं, छिपाते हैं साधु वैसा भी न बोले । निर्ग्रन्थ भगवान महावीर की यह आज्ञा है ।

टीका – अपिच-सत्या असत्या सत्यामृषा असत्यामृषेत्येवंरुपासु चतसृषु भाषासु मध्ये तत्रेयं सत्यामृषेत्येवंभिधाना तृतीया भाषा, सा च किञ्चिन्मृषा किञ्चित्सत्या इत्येवंरुपा, तद्यथा-दश द्वारका अस्मिन्नगरे जाता मृता वा, तदत्र न्यूनाधिक सम्भवे सति सङ्ख्याया व्यभिचारात्सत्या मृषात्वमिति, यां चैवं रूपां भाषामुदित्वा अनु-पश्चाद्भाषणाज्जन्मान्तरे वा तज्जनितेन दोषेण 'तप्यते' पीड्यते कलेश भाग्भवति, यदि वा-अनुतप्यते किं ममैवम्भूतेन भाषितेनेत्येवं पश्चात्तापं विधत्ते, ततश्चेदमुक्तं भवति-मिश्रापि भाषा दोषाय किं पुनरसत्या द्वितीया भाषा समस्तार्थ विसंवादिनी?, तथा प्रथमापि भाषा सत्या या प्राण्युपतापेन दोषानुषङ्गिणी सा न वाच्या, चतुर्थ्यप्य सत्यामृषा भाषा या बुधैरनाचीर्णा सा न वक्तव्येति, सत्याया अपि दोषानुषङ्गित्वमधिकृत्याह-यद्धच: 'छन्नति' क्षणु हिंसायां हिंसा प्रधानं, तद्यथा-वध्यतां चौरोऽयं लूयन्तां केदारा: दम्यंत्तां गोरथका इत्यादि, यदि वा-'छन्नन्ति' प्रच्छन्नं यल्लोकैरपि यत्नत: प्रच्छाद्यते तत्सत्यमपि न वक्तव्यमिति, 'एषाऽऽज्ञा' अयमुपदेशो निग्रन्थो-भगवांस्तस्येति ॥२६॥

टीकार्थ – भाषा के चार भेद माने गए हैं, (१) सत्या, (२) असत्या, (३) सत्यामृषा (४) असत्यामृषा। इनमें सत्यामृषा तीसरी भाषा है । वह कुछ सत्य होती है, और कुछ असत्य होती है । जैसे किसी ने कहा कि इस गाँव में दस बालक उत्पन्न हुए हैं, या मरे हैं । यहाँ दस से न्यून या अधिक बालकों का उत्पन्न होना या मरना भी संभावित है । इसलिए संख्या में व्यभिचार दोष या अन्तर हो के कारण यह वचन सत्य एवं असत्य दोनों ही है । जिस वचन को कहकर जीव जन्मान्तर में तज्जनित दोष के कारण परितप्त दोता है, पीड़ित होता है, क्लेश पाता है, पश्चाताप करता है कि मैंने क्यों ऐसा भाषण किया, मैंने ऐसा क्यों बोला । साधु ऐसा वचन भी न बोले । कहने का अभिप्राय यह है कि असत्य से मिश्रित तीसरी भाषा भी दोषोत्पादक है । फिर समस्त अर्थ की विसंवादिनी-विपरीत बताने वाली दूसरी असत्य भाषा का तो कहना ही क्या ? यद्यपि पहली भाषा सर्वथा सत्य है, किन्तु यदि उससे प्राणियों को उपताप होता है-पीड़ा उत्पन्न होती है, तो वह दोषानुषङ्गिणी है -दोष से अनुषक्त या प्रसक्त है । साधु को वह नहीं बोलनी चाहिए । चौथी भाषा न सत्य है, और न असत्य है । वह भी विद्वानों द्वारा अनाचीर्ण-असेवित है । विद्वान उसका प्रयोग नहीं करते । इसलिए नहीं बोलनी चाहिए। कहीं कहीं सत्य भाषा भी दोष उत्पन्न करती है । सूत्रकार यह बतलाए हुए कहते हैं-जैसे इसका वध करो, यह चोर है, क्यारियों को काटो, रथ के बैलों का दमन करो, नियन्त्रण करो, इत्यादि ये सत्य परक तो हैं,

किन्तु हिंसा प्रधान हैं, दोषोत्पादक हैं । जिस बात को लोग बड़े प्रयत्न के साथ प्रच्छादित करते हैं-छिपाये रखते है, वह सत्य हो तो भी नहीं कहनी चाहिए । यह निर्ग्रन्थ प्रभु की आज्ञा है, उपदेश है ।

❀ ❀ ❀

होलावायं, सहीवायं, गोयावायं च नो वदे ।
तुमं तुमंति अमणुन्नं, सव्वसो तं ण वत्तए ॥२७॥

छाया – होलावादे सखिवादं, गोत्रवादञ्च नो वदेत् ।
त्वं त्वमित्यमनोज्ञं सर्वश स्तन्न वर्तते ॥

अनुवाद – साधु किसी को निष्ठुर या नीच शब्द द्वारा सम्बोधित कर न बुलाये तथा किसी को मित्र आदि के रूप में उदिष्ट कर न बोले तथा किसी को प्रसन्न करने हेतु हे वाशिष्ट गौत्रीया ! हे काश्यप गौत्रीय! इत्यादि गोत्रों का नाम लेकर किसी को न बुलाये । जो अपने से बड़ा हो उसे तू या तुम कहकर न बुलावे। जो वचन दूसरों को अमनोज्ञ, अप्रीतिकर या अप्रिय लगे साधु सर्वथा वैसा न बोले ।

टीका – किञ्च-होलेत्येवं वादो होलावादः, तथा सखेत्येवं वादः सखिवादः, तथा गोत्रोद्घाटनेन वादोगोत्रवादो यथा काश्यपसगोत्र वशिष्ठसगोत्र वेति, इत्येवंरूपं वादं साधुर्नो वदेत्, तथा 'तुमं तुमं' त्ति तिरस्कारप्रधानमेकवचनान्तं बहुवचनोच्चारणयोग्ये 'अमनोज्ञं' मनः प्रतिकूल रूप मन्यदप्येवम्भूतमपमानापादकं 'सर्वशः' सर्वथा तत्साधूनां वक्तुं न वर्तत इति ॥२७॥

टीकार्थ – किसी व्यक्ति को नीच सम्बोधन से बुलाना होलावाद कहलाता है । हे सखा ! इस प्रकार के सम्बोधन से आहूत करना सखीवाद है । किसी को प्रसन्न करने हेतु उसके गौत्र का नाम लेकर हे वाशिष्ट गोत्रीय ! हे काश्यप गोत्रीय ! इत्यादि शब्दों द्वारा सम्बोधित करना गौत्रवान है । साधु इस प्रकार वचन न बोले। बहुवचन द्वारा उच्चारण करने योग्य-सम्बोधित करने, योग्य उत्तम पुरुष के लिये तू, तुम जैसे तिस्कारपूर्ण शब्दों का उपयोग न करे । दूसरों के लिये अपमानजनक वाक्य साधु कदापि न बोले। जो मन को बुरा लगे ।

❀ ❀ ❀

अकुसीले सयाभिक्खू, णेव संसग्गियं भए ।
सुहरूवा तत्थुवस्सग्गा, पडिबुज्झेज्ज तेविऊ ॥२८॥

छाया – अकुशीलः सदा भिक्षु नैंव संसर्गितां भजेत् ।
सुखरूपा स्तत्रोपसर्गाः, प्रतिबुध्येत तद्विद्वान् ॥

अनुवाद – साधु स्वयं सदा अकुशील रहे-अकुत्सितशील युक्त रहे-उच्च आचारवान रहे, कुशीलों की संगति न करे, क्योंकि उसमें सुखात्मक उपसर्ग विद्यमान रहते हैं । विवेकशील साधु इस ओर प्रतिबद्ध रहे । इसे जानकर अपने आप में जागरूक बना रहे ।

टीका – यदश्रित्योक्तं निर्युक्ति कारेण तद्यथा-"पासत्थोसण्ण कुसील संथवो ण किल वट्टए काउं" तदिदमित्याह-कुत्सितं शीलमस्येति कुशीलः स च पार्श्वस्थादीनामन्यतमः न कुशीलोऽकुशीलः 'सदा' सर्वकालं

भिक्षणशीलो भिक्षुः कुशीलो न भवेत्, न चापि कुशीलैः सार्धं 'संसर्गं साङ्गत्यंभजेत' सेवेत, तत्संसर्गदोषो द्विभावमिषयाऽऽह-''सुखरूपाः' सात गौरवस्वभावाः 'तत्र' तस्मिन् कुशीलसंसर्गे संयमोपघातकारिण उपसर्गाः प्रादुष्यन्ति, तथाहि-ते कुशीला वक्तारो भवन्ति-कः किल प्रासुकोदकेन हस्तपाददन्तादिके प्रक्षाल्यमाने दोषः स्यात् ?, तथा नाशरीरो धर्मो भवुति इत्यतो येन केनचित्प्रकारेणार्धा कर्म सान्निध्यादिना तथा उपानच्छत्रादिना च शरीरं धर्माधारं वर्तयेत्, उक्तं च - ''अप्पेण बहुमेसेज्जा, एयं पडियलक्खणं''

छाया - अल्पेन बहुएषयेत् एयं पंडित लक्षणं ।

इति तथा

''शरीरं धर्म संयुक्तं, रक्षणीयं प्रयत्नतः । शरीरात् स्रवते धर्मः पर्वतात्सलिलं यथा ॥१॥''

तथा साम्प्रतमल्पानि संहननानि अल्पधृतयश्च संयमे जन्तव इत्येवमादि कुशीलोक्तं श्रुत्वा अल्प सत्त्वास्तत्रानुषजन्तीति 'विद्वान्' विवेकी 'प्रतिबुध्येत' जानीयात् बुद्धवा चापायरुपं कुशील संसर्गं परिहरेदिति ॥२८॥ किञ्चान्यत् -

टीकार्थ – निर्युक्तिकार द्वारा पहले जो इस प्रकार कहा गया है कि पार्श्वस्थ अप्रसन्न तथा कुशील के साथ कभी परिचय नहीं करना चाहिये उस सम्बन्ध में सूत्रकार प्रतिपादित करते हैं कि जिसका शील या आचरण कुत्सित-असत् या बुरा होता है, उसे कुशील कहा जाता है । वह इन पार्श्वस्थ आदि में कोई भी है अर्थात् ये पार्श्वस्थ कुशील में आते हैं जो कुशील नहीं हैं उन्हें अकुशील कहा जाता है । भिक्षणशील-भिक्षोपजीवी-भिक्षावृत्ति से जीवन निर्वाह करने वाला साधु कभी कुशील न बने तथा वह कुशीलों के साथ संसर्ग-साङ्गत्य या संगति भी न करे, कुशीलों के संसर्ग से दोषों का उद्विभाव-उत्पत्ति होती है । आगमकार ऐसा बतलाते हैं । कुशीलों की संगति सुखात्मक भोगों की इच्छा के रूप में उपसर्ग उत्पन्न होते हैं, जो संयम को नष्ट करते हैं क्योंकि कुशील पुरुष कहते हैं कि प्रासुक-अचित जल से हाथ पैर तथा दन्त आदि प्रक्षालित करने में क्या दोष है ? शरीर के सहारे के बिना धर्म नहीं होता । इसलिये आधाकर्म-सदोष आहार का सेवन कर, खड़ाऊ, जूते तथा छाता धारण कर जिस किसी प्रकार से धर्म के आधारभूत इस शरीर की रक्षा करनी चाहिये । कहा है कि-यदि अल्प-थोड़े से दोष से अधिक लाभ प्राप्त होता है, तो उसे ले लेना चाहिये । यह विद्वान् का लक्षण है । बुद्धिमता का तकाजा है । शरीर धर्म संयुक्त है । अतः यत्नपूर्वक वह रक्षणीय है । जैसे पर्वत से जलस्रव होता है- पानी निकलता है, उसी तरह शरीर से धर्मस्रव होता है । कुशील व्यक्ति कहता है कि आजकल अल्प-कमशक्तियुत् संहनन-दैहिक संस्थान है, शरीरावस्था है तथा संयम में जीव अल्पधृति-थोड़ा धैर्य रखने वाले हैं । कुशील व्यक्ति का इस रूप में कथन श्रवण कर अल्पसत्व-अल्प आत्मबलयुक्त जीव उसके कथन में अनुपज्जित-संसक्त हो जाते हैं । अतः विवेक युक्त पुरुष यह जानकर अपायात्मक-आध्यात्मिक दृष्टि से विनाशकारी कुशील संसर्ग का अनाचरण युक्त पुरुषों की संगति का परित्याग करे ।

❀ ❀ ❀

नन्नत्थ अंतरायणं, परगेहे ण णिसीयए ।
गामकुमारियं किडुं नातिवेलं हसे मुणी ॥२९॥

छाया – नान्यत्रान्तरायेण प रगेहे न निषीदेत् ।
ग्राम कुमारिकां क्रीडां, नातिबेलं हसेन्मुनिः ॥

अनुवाद – साधु बिना किसी अन्तराय के, रोग आदि अनिवार्य कारण के बिना, गृहस्थ के घर में न बैठे तथा ग्रामकुमारिका-गांव के लड़कों के दूषित मनोविनोद परक खेल न खेले । अमर्यादित होकर हास्य न करे ।

टीका – तत्र साधुर्भिक्षादिनिमत्तं ग्रामादौ प्रविष्टः सन्परो-गृहस्थस्तस्यगृहं परगृहं तत्र 'न निषीदेत्' नोपविशेत् उत्सर्गतः, अस्यापवादं दर्शयति-नान्यत्र 'अन्तरायेणे'त्ति अन्तरायः शक्त्यभावः, स च जरसा रोगातङ्काभ्यां, स्यात्, तस्मिंश्चान्तराये सत्युपविशेत् यदि वा उपशमलब्धिमान् कश्चित्सुसहायो गुर्वनुज्ञातः कस्यचित्तथाविधस्य धर्मदेशना निमित्त मुपविशेदपि, तथा ग्रामे कुमारका ग्राम कुमारकास्तेषामियं ग्रामकुमारिका काऽसौ ? 'क्रीड़ा' हास्यकन्दर्पहस्त संस्पर्शनालिङ्गनादिका यदिवा वट्टकन्दुकादिका तां मुनिर्नकुर्यात्, तथा वेला मर्यादा मतिक्रान्तमतिवेलं न हसेत्, मर्यादामतिक्रम्य 'मुनिः' साधुः ज्ञानवरणीयाद्यष्ट विधकर्मबन्धनभयान्नहसेत्, तथा चागमः- जीवे णं भंते ! हस माणे (चा) उस्सूयमाणे वा कइ कम्मपगडीओ बंधइ ?, गोयमा !, सत्तविहबंधए वा अट्ठविहबंधए वा" इत्यादि ॥२९॥

टीकार्थ – भिक्षा आदि के निमित्त गांव आदि में प्रविष्ट होकर साधु गृहस्थ के घर में न बैठे । यह उत्सर्ग मार्ग है । अब सूत्रकार इसका अपवाद प्रकट करते हुए कहते हैं-शक्ति का अभाव अन्तराय कहा जाता है । वह वृद्ध रुग्णता एवं दुरुमय यदि ऐसी अन्तरायात्मक स्थितियों हों, तो वहां बैठने में कोई दोष नहीं माना जाता । अथवा कोई साधु उपशयलब्धि मान हो, साथ में अच्छा सहयोगी हो, गुरु से आज्ञप्त हो, गुरु ने वैसा करने की आज्ञा दी हो तथा किसी को धर्म देशना निमित्त उपदेश देना आवश्यक हो तो, यदि वह गृहस्थ में बैठे तो कोई दोष नहीं है । ग्राम निवासी कुमारों की-लड़कों की क्रीड़ा ग्राम-कुमारिका कही जाती है । हास्य, कामुकचेष्टा, हस्तस्पर्श, आलिंगन आदि के रूप में वह है साधु वैसा न करे अथवा गांव के लड़के गुल्ली डंडे या गेंद आदि से खेलते हैं । साधु वैसा न करे वह ज्ञानावरणीय आदि अष्टविधकर्मों के बंधन के भय से मर्यादा का परित्याग कर न हंसे । आगम में कहा है-हे भगवान् ! हंसता हुआ तथा उत्सुक होता हुआ प्राणी कितनी कर्म प्रवृत्तियों का बंधन करता है ? गौतम ने भगवान् महावीर से ऐसा प्रश्न किया ? जिसके उत्तर में भगवान ने बतलाया कि गौतम ! वह सात या आठ कर्मों प्रकृतियों का वन्ध करता है ।

❀ ❀ ❀

अणुस्सओ उरालेसु, जयमाणो परिव्वए ।
चरियाए अप्पमत्तो, पुट्ठो तत्थऽहियासए ॥३०॥

छाया – **अनुत्सुक उदारेषु, यतमानः परिव्रजेत् ।**
चर्य्याया मप्रमत्तः, स्पृष्ट स्तत्राधिषहेत् ॥

अनुवाद – साधु, उदार-मनोग्य, प्रिय शब्दादि विषयों में अनुसूख रहे-उत्सुकता न रखे । वह संयम के परिपालन में यत्नशील रहे । चर्या-भिक्षाचरी आदि क्रियाओं में अप्रमज्ञ-प्रमादशून्य रहे तथा परिसहों और उपसर्गों से आक्रान्त होता हुआ भी उन्हें सहन करे ।

टीका – किञ्च 'उराला' उदाराः शोभना मनोज्ञा ये चक्रवर्त्यादीनां शब्दादिषु विषयेषु कामभोगा वस्त्राभरणगीतगन्धर्वयानवाहनादयस्तथा आज्ञैश्वर्यादयश्च एतेषूदारेषु दृष्टेषु श्रुतेषु वा नोत्सुकः स्यात्, पाठान्तरं

वा न निश्रितोऽनिश्रितः-अप्रतिबद्धाः स्यात्, यत मानश्च-संयमानुष्ठाने परि-समन्तान्मूलोत्तरगुणेषु उद्यमं कुर्वन्-'व्रजेत्' संयमं गच्छेत् तथा 'चर्यायां' भिक्षादिकायां 'अप्रमत्तः स्यात्' नाहारादिषुरसगार्ध्यं विदध्यादिति, तथा 'स्पृष्टश्च' अभिद्रुतश्च परीषहो पसर्गैस्त त्रादीनमनस्कः कर्मनिर्जरां मन्यमानो 'विषहेत्' सम्यक् सह्यादिति ॥३०॥

टीकार्थ – सुन्दर और प्रिय विषय जो मन को आकृष्ट करते हैं उन्हें उदार कहा जाता है। शब्दादि विषयों में चक्रवर्ती सम्राट आदि के काम भोग, वस्त्र, अलंकार, गीत, गंधर्व-नृत्यादि मनोविनोद जनक ललित कलात्मक कार्य, यान-चढ़ने की सवारियाँ, वाहन-सामान ढ़ोने के गाड़े गाड़ियां, आज्ञापालक-सेवक वृन्द, ऐश्वर्य आदि उदार-मनोग्य या सुन्दर होते हैं। उन्हें देखकर या उनके सम्बन्ध में सुनकर साधु उनमें उत्सुक न बने,उत्कण्ठा न रखे अथवा पाठान्तर के अनुसार साधु उनमें अनिश्रित-अप्रतिबद्ध रहे। वह मूल गुण और उत्तर गुणों में उद्यमशील रहता हुआ संयम का प्रयत्न पूर्वक परिपालन करे। वह भिक्षाचारी आदि साधु की चर्यायों में अप्रमत्त-प्रमाद रहित रहे। वह भोजन आदि में लोलुपता न रखे। परिषहों और उपसर्गों से अभिद्रुत-आक्रान्त पीड़ित होता हुआ वह अपने मन में दीनता न लाये किन्तु इनसे कर्मों की निर्जरा होती है, कर्म कटते हैं, यों मानता हुआ उन्हें भली-भाँति सहन करे।

❀ ❀ ❀

हम्ममाणो ण कुप्पेज्ज, वुच्चमाणो न संजले।
सुमणे अहिया सिज्जा, ण य कोलाहलं करे ॥३१॥

छाया – **हन्य मानो न कुप्येत्, उच्यमानो न संज्वलेत्।**
सुमना अधिषहेत, न च कोलाहलं कुर्य्यात् ॥

अनुवाद – यदि कोई साधु को हतप्रतिहत करें-मारे, पीटे, गाली आदि के रूप में अपशब्द कहे तो साधु संज्वलित-उत्तेजित न हो किन्तु प्रसन्नता के साथ इन्हें सहन करे। कोलाहल न करे।

टीका – परीषहोपसर्गाधिसहनमेवाधिकृत्याह-'हन्य मानो' यष्टि मुष्टिलकुटादिभिरपि हतश्च 'न कुप्येत्' न कोपवशगो भवेत्, तथा दुर्वचनानि 'उच्यमानः' आक्रुश्यमानो निर्भत्स्यमानो 'न संज्वलेत्' न प्रतीपं वदेत्, न मनागपि मनोऽन्यथात्वं विदध्यात्, किंतु सुमनाः सर्वं कोलाहलमकुर्वन्नधिसहेतेति ॥३१॥

टीकार्थ – सूत्रकार प्रतिसहों और उपसर्गों को सहने के सन्दर्भ में कहते हैं यदि कोई साधु को लाठी, मुक्के, डण्डे आदि से हत्-ताडित करे तो साधु उस पर क्रुद्ध न हो। कोई उसे दुर्वचन-कठोर वचन कहे। उसके साथ गाली गलौच न करे। उसकी निर्भत्सना-तिरस्कार करे तो वह प्रतिकूल वचन न कहे तथा अपने मन में अन्यथा भाव-बुरे विचार न लाये, किन्तु प्रशान्त मन रहे। कोलाहल न करता हुआ, यह सब सहन करे।

❀ ❀ ❀

लद्धे कामे ण पत्थेज्जा, विवेगे एवमाहिए।
आयरियाइं सिक्खेज्जा, बुद्धाणं अंतिए सया ॥३२॥

छाया – लब्धान् कामान् न प्रार्थयेत्, विवेक एव माख्यातः ।
आर्य्याणि शिक्षेत्, बुद्धानामन्तिके सदा ॥

अनुवाद – साधु प्राप्त-जो मिल रहे हो ऐसे काम भोगों की वांछा न करे । ऐसा करने वाले के भाव विवेक-शुद्ध भाव उत्पन्न होता है । ऐसा कहा जाता है । साधु, आचार्य आदि ज्ञानी पुरुषों के सान्निध्य में रहता हुआ आर्यगुण-ज्ञानदर्शन एवं चारित्र की शिक्षा ग्रहण करता रहे ।

टीका – किञ्चान्यत्-लब्धान् प्राप्तानपि 'कामान्' इच्छामदनरुपान् गन्धालङ्कारवस्त्रादिरूपान्वा वैरस्वामिवत् 'न प्रार्थयेत्' नानुमन्येत न गृह्णीयादित्यर्थः यदि वा-यत्र कामावसामितया गमनादिलब्धिरुपान् कामांस्तपोविशेष लब्धानपि नोपजीव्यात्, नाप्य नागतान् ब्रह्मदत्तवत्प्रार्थयेद्, एवं च कुर्वतो भावविवेकः 'आख्यात' आविर्भावितो भवति, तथा 'आर्याणि' आर्याणां कर्तव्यानि अनार्य कर्त्तव्यपरिहारेण यदि वा आचर्याणि-मुमुक्षुणा यान्याचरणी यानि ज्ञान दर्शन चारित्राणि तानि 'बुद्धानाम्' आचार्याणाम् 'अन्तिके' समीपे 'सदा' सर्वकालं शिक्षेत 'अभ्यस्येदिति, अनेन हि शीलवता नित्यं गुरुकुलवास आसेवनीय इत्यावेदितं भवतीति ॥३२॥ यदुक्तं बुद्धानामन्तिके शिक्षेत्तत्सवरूप निरूपणायाह –

टीकार्थ – साधु प्राप्त होते हुए भी इच्छानुरुप विषय भोगों को अथवा सुगन्धित पदार्थ, आभूषण तथा वस्त्र आदि को वैरस्वामी की तरह स्वीकार न करे, ग्रहण न करें अथवा अपने विशिष्ट तपश्चरण के प्रभाव स्वरूप निष्पन्न गमनादि लब्धि जिसके द्वारा साधु जहाँ चाहे वहाँ जाकर विषय प्राप्त करने में सक्षम होता है, काम विवर्जित होने के कारण वह उसका उपयोग न करे । जो भोग्य पदार्थ अप्राप्त है, उनकी भी ब्रहदत्त के समान अभ्यर्थना न करे-उन्हें न चाहे । जो ऐसा करता है उसके भाव विवेक-उत्कृष्ट ज्ञानपूर्ण उच्च भाव उत्पन्न होते हैं । साधु अनार्य-अनुत्तम कर्मों, अधम कर्मों का त्याग कर आर्य-उत्तम गुणों का आचरण करे अथवा मुमुक्षु जन द्वारा आचरण करने योग्य ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र का आचार्य आदि ज्ञानी पुरुषों के सान्निध्य में रहता हुआ नित्य अभ्यास करे । इससे यह प्रकट है कि शील युक्त पुरुष सदा गुरुकुलवास में गुरु की सन्निधि में रहता हुआ नित्य अभ्यास करे । इससे यह प्रकट है कि शीलयुक्त पुरुष को सदा गुरुकुल वास में गुरु की सन्निधि में रहना चाहिए ।

ज्ञानी पुरुषों की सन्निधि में शिक्षा पानी चाहिए, ऐसा जो कहा है उसके स्वरूप का निरूपण करते हुए सूत्रकार कहते हैं ।

❀ ❀ ❀

सुस्सू समाणो उवासेज्जा, सुप्पन्नं सुतवस्सियं ।
वीरा जे अत्त पन्नेसी, धितिमन्ता जिइंदिया ॥३३॥

छाया – शुश्रूषमाण उपासीत्, सुप्रज्ञं सुतपस्विनम् ।
वीरा ये आप्तप्रज्ञैषिणः, धृतिमन्तो जितेन्द्रियाः ॥

अनुवाद – सुप्रज्ञ-उत्तम प्रज्ञाशील अपने दर्शन तथा अन्य दर्शन के वेत्ता, सुतपस्वी उत्कृष्ट तपश्चरण युक्त गुरु की सुश्रुषा करता हुआ, उन द्वारा बताये जाते तत्वज्ञान का श्रवण करता हुआ साधु उनकी उपासना

करे । जो पुरुष वीर कर्मों के निर्मूलन में सक्षम आप्त प्रज्ञेषी-आप्त प्रज्ञा या केवल ज्ञान के अन्वेष्टा धृतिमान, धैर्यशील तथा जितेन्द्रिय हैं वे ऐसा करते हैं ।

टीका – गुरोरा देशं प्रति श्रोतुमिच्छा शुश्रूषा गुर्वादेर्वैयावृत्यमित्यर्थः तां कुर्वाणो गुरुम् 'उपासीत' सेवेत्, तस्यैव प्रधान गुणद्वयद्वारेण विशेषणमाह-सुष्ठु शोभना वा प्रज्ञाऽस्येति सुप्रज्ञः-स्वसमयपरसमय वेदी गीतार्थ इत्यर्थः, तथा सुष्ठु शोभनं वा सबाह्याभ्यन्तरं तपोऽस्यास्तीति सुतपस्वी, तमेवम्भूतं ज्ञानिनं सम्यक्चारित्रवन्तं गुरुं परलोकार्थी सेवेत, तथा चोक्तम् -

"नाणस्स होइभागी, थिरचरओ दंसणे चरित्ते य । धन्ना आवकहाए गुरुकुल वासं न मुंचंति ॥१॥"

छाया - ज्ञानस्य भवति भागी स्थिरतरो दर्शने चारित्रे च । धन्या यावत् कथं गुरुकुल वासं न मुञ्चन्ति ।

य एवं कुर्वन्ति तान् दर्शयति-यदिवा के ज्ञानिनस्तपस्विनो वेत्याह-'वीराः' कर्म विदाहरण सहिष्णवो धीरा वा परीषहो पसर्गाक्षोभ्याः, धिया बुद्ध्या राजन्तीति वा धीरा ये केचनासन्नसिद्धि गमनाः, आप्तो-रागादिविप्रमुक्तस्तस्य प्रज्ञा-केवल ज्ञानाख्या तामन्वेष्टुं शीलं येषां ते आप्त प्रज्ञान्वेषिणः सर्वज्ञोक्तान्वेषिण इतियावत्, यदि वा आत्मप्रज्ञान्वेषिण आत्मनः प्रज्ञा-ज्ञानमात्मप्रज्ञा तदन्वेषिणाः आत्मज्ञत्वा (प्रज्ञा) न्वेषिण आत्म हितान्वेषिण इत्यर्थः तथा धृतिः -संयमे रतिः सा विद्यते येषां ते धृतिमन्तः, संयमधृत्या हि पञ्च महाव्रत भारोद्वहनं सुसाध्यं भवतीति, तपः साध्या च सुगतिर्हस्त प्राप्तेति, तदुक्तम् -

"जस्स धिई तस्सतपोजस्स तवो तस्स सुग्गई सुलहा ।
जे अधिइमंत पुरिसा तवोऽवि खलु दुल्लहो तेसिं ॥१॥"

छाया - यस्यधृतिस्तस्यतपो यस्यतपस्तस्य सुगतिस्सुलभा । ये धृति मन्त पुरुषास्तपोपिखलु दुर्लभं तेषाम् ॥

तथा जितानि-वशी कृतानि स्वविषय रागद्वेष विजयेनेन्द्रियाणि-स्पर्शनादीनि यैस्ते जितेन्द्रियाः शुश्रूषमाणाः शिष्या गुरवो वा शुश्रूषमाणा यथोक्त विशेषण विशिष्टा भवन्तीत्यर्थ - ॥३३॥

टीकार्थ – गुरु का आदेश-आज्ञा या शिक्षा श्रवण करने की इच्छा, अथवागुरुजन आदि की वैयावृत्य-सेवा को सुश्रुषा कहा जाता है । साधु वैसा करता हुआ गुरु की उपासना करे । गुरु के प्रमुख दो गुणों की विशेषता बतलाते हुये सूत्रकार कहते हैं-शोभन प्रज्ञाशील अर्थात् स्वसमय-अपने दार्शनिक सिद्धान्तों, परसमय-दूसरों के सिद्धान्तों का वेत्ता, गीतार्थ-विद्वान साधु सुप्रज्ञ कहा जाता है । जो बाह्य तथा आभ्यन्तर तप का आचरण करता है, वह सुतपस्वी कहा जाता है । परलोकार्थी-अपने परलोक को सुधारने का इच्छुक पुरुष ऐसे ज्ञानवान तथा सम्यक् चारित्रवान गुरु की उपासना-सेवा करे-कहा है गुरु की सेवा करने से पुरुष ज्ञान का भागी-विद्या का पात्र होता है । वह दर्शन, श्रद्धा तथा चारित्र चर्या में अत्यन्त स्थिर-सुदृढ़ होता है । अतएव वे धन्य हैं जो जीवन पर्यन्त गुरुकुल वास का त्याग नहीं करते । जो ऐसा करते हैं सूत्रकार उनके सम्बन्ध में बतलाते हैं । जो पुरुष कर्मों को विदीर्ण-उच्छिन्न करने में सक्षम है, जो परिषहों और उपसर्गों से आहत होने पर भी क्षुब्ध-व्यथित नहीं होते जो धीर-सद्बुद्धि शील स्थिरचेत्ता हैं, आसन्न-निकट भविष्य में मोक्षगामी है, रागद्वेष विवर्जित-आप्त सर्वज्ञ पुरुष की केवल ज्ञानरूप प्रज्ञा के अन्वेष्ट हैं, सर्वज्ञ प्रतिपादित वचन का अन्वेषण करते है, अथवा आत्मज्ञान या आत्महित के गवेषक हैं, संयम में रति-प्रीतिरूप, धीरता से युक्त हैं, तत्परिणाम स्वरूप जिनके लिए पाँच महाव्रतों के भार का वहन सुसाध्य है, तपश्चरण के परिणाम स्वरूप सुगति-उत्तमगति जिनके

हस्तगत जैसी है । भोग विषयगत रागद्वेष को नियंत्रित कर जो जितेन्द्रीय हैं वही शिष्य गुरुकुल में निवास कर गुरुजन की सेवा करते हैं । अथवा वैसे ही गुरु जैसा ऊपर कहा गया है, वैसी विशेषताओं से युक्त होते हैं। प्रस्तुत विवेचन में धृति की विशेषता बतलाते हुए कहा गया है कि जिसमें धृति होती है उसी का तपश्चरण सधता है । जो तप को साधता है उसे श्रेष्ठ गति प्राप्त होती है । जो व्यक्ति द्रति से रहित है उसके तप का सद् पाना कठिन है ।

❀ ❀ ❀

गिहे दीवमपासंता, पुरिसादाणियानरा ।
ते वीरा बंधणुम्मुक्का, नावकंखंति जीवियं ॥३४॥

छाया – गृहे दीप (द्वीप) मपश्यन्तः पुरुषादानीया नराः ।
ते वीरा बन्धनोन्मुक्ताः, नावकांक्षन्ति जीवितम् ॥

अनुवाद – घर में गृहस्थ, जीवन में दीप-ज्ञान की ज्योति का लाभ नहीं हो सकता, यह सोचकर जो पुरुष प्रव्रज्या स्वीकार कर लेते हैं, संयममूलक गुणों की वृद्धि करते जाते हैं, वे ही वीर-आत्मबल के धनी पुरुष बन्धन मुक्त होते हैं । कर्म बन्धन से छूटकर मुक्तिगामी होते हैं । वे असंयम मय जीवन की कांक्षा-अभिलाषा नहीं करते ।

टीका – यद्भि संधायिनः पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टा भवन्ति तदभिधित्सुराह 'गृहे'-गृहवासे गृहपाशे वा गृहस्थ भाव इति यावत् 'दीवं'ति 'दीपी दीप्तौ' दीपयति-प्रकाशयतीति दीपः स च भावद्वीपः श्रुतज्ञान लाभः यदिवा-द्वीपः समुद्रादौ प्राणिनामाश्वासभूतः स च भावद्वीपः संसार समुद्रे सर्वज्ञोक्त चारित्रलाभस्तदेवम्भूतं दीपं द्वीपं वा गृहस्थभावे 'अपश्यन्तः' अप्राप्नुवन्तः सन्तः समय्क् प्रव्रज्योत्थानेनोत्थिता उत्तरोत्तर गुण लाभेनैवम्भूता भवन्तीति दर्शयति-'नराः' पुरुषाः पुरुषोत्तमत्त्वाद्धर्मस्य नरोपादानम्, अन्यथा स्त्रीणामप्येतद्गुणभाक्त्वं भवति, अथवा देवादिव्युदासार्थमिति, मुमुक्षूणां पुरुषाणामादानीया-आश्रयणीयाः पुरुषादानीया महतोऽपि महीयांसो भवन्ति, यदि वा-आदानीयो-हितैषिणां मोक्षस्तन्मार्गो वा सम्यग्दर्शननादिकः पुरुषाणां-मनुष्याणामादानीयः पुरुषादानीयः स विद्यते येषा मिति विगृह्य मत्वर्थीथोऽर्शआदिभ्योऽजिति, तथा य एवं भूतास्ते विशेषेणेरयन्ति अष्ट प्रकारं कर्मेति वीराः, तथा बन्धनेन सबाह्याभ्यन्तरेण पुत्र कलत्रादिस्नेहरूपेणोत्-प्राबल्येन मुक्ता बन्धनोन्मुक्ताः सन्तो 'जीवितम्' असंयम जीवितं प्राणधारणं वा 'नाभिकाङ्क्षन्ति' नाभिलषन्तीति ॥३४॥

टीकार्थ – जिस तथ्य के अभिसंधान में-अनुसंधान में उद्यत पुरुष ज्ञान युक्त एवं तपशील होते हैं, उस संबंध में प्रकाश डालने हेतु सूत्रकार प्रतिपादन करते हैं । गृहवास-पाश या जाल के सदृश बन्धन है उसमें रहते हुए पुरुष दीपक के सदृश्य प्रकाश करने वाले श्रुत ज्ञानमय भाव प्रदीप को प्राप्त नहीं कर सकते । गाथा में आये दीव शब्द को दीप के अर्थ में लेते हुए टीकाकार विवेचन करते हैं कि समुद्र आदि में प्राणियों के विश्राम देने के लिये जैसे द्वीप होता है, वैसे ही सर्वज्ञ प्रतिपादित चरित्र, धर्ममूलक भाव द्वीप संसार समुद्र में बहते हुये प्राणियों को विश्राम देता है । वह गृहवास में प्राप्त नहीं होता । इस तथ्य के स्वायत्त कर जो पुरुष प्रव्रज्या-संयम मूलक दीक्षा स्वीकार करते हैं । आगे से आगे अपने गुणों की वृद्धि करते जाते हैं, वे मुमुक्षु *पुरुषों के लिये आदरणीय-आश्रयनीय, आश्रय लेने योग्य* हो जाते हैं । सूत्रकार इस संबंध में यह व्यक्त करते हैं कि धर्म के पुरुषों की मुख्यता है । इसलिए यहाँ पुरुषवाचक नर शब्द का ग्रहण है । अन्यथा स्त्रियां भी

इन गुणों से युक्त होती हैं अथवा देव आदि की व्यावृति-पृथकता-अपाकरण के लिये यहां नर शब्द का कथन है। स्त्रियों की व्यावृत्ति हेतु नहीं। यहां प्रयुक्त पुरुषादानीय का तात्पर्य यह है कि आत्म हितेच्छु पुरुष जिनका आदान-ग्रहण करते हैं वह मोक्ष या सम्यक् वर्णन, ज्ञान या चरित्र रूप मोक्ष मार्ग पुरुषादानीय हैं। वह पुरुषों द्वारा आदान ग्रहण किया जाता है। मोक्षरूप या मोक्ष मार्ग स्वरूप है। अतः पुरुषादानीय शब्द की यहाँ संगति है। व्याकरण के अनुसार पुरुषादानीय शब्द में मत्वर्थीय अच् प्रत्यय हुआ है। जो पुरुष इस प्रकार के होते हैं, वे ही अपने अष्टविध रूप कर्म का क्षय करते हैं, वीर हैं, तथा पुत्र, स्त्री आदि के मोहात्मक बाह्य तथा आन्तरिक बन्धनों से मुक्त हैं। वे असंयममय जीवन या प्राण धारण की आकांक्षा-कामना नहीं करते।

❀ ❀ ❀

अगिद्धे सद्दफासेसु आरंभेसु अणिस्सिए।
सव्वं तं समयातीतं, जमेतं लवियं बहु ॥३५॥

छाया – अगृद्धः शब्द स्पर्शेष्वारम्भेष्वनिश्रितः।
सर्वं तत्समयातीतं, यदेतल्लपितं बहु ॥

अनुवाद – साधु शब्द रूप, रस, गंध एवं स्पर्श मूलक इन्द्रिय भोगों में अगृध-अलोलुप रहे तथा वह आरम्भ-हिंसा आदि पाप युक्त अनुष्ठानों में अनिश्रित-असंलग्न रहे। इस अध्ययन के आदि में जो कहा गया है कि सर्वज्ञों द्वारा प्ररूपित सिद्धान्तों के विरुद्ध होने के कारण निषिद्ध है, उसका निषेध किया गया किन्तु जो सर्वज्ञ सिद्धान्तों के अनुरूप है उसका निषेध नहीं है।

टीका – किञ्चान्यत्-'अगृद्धः' अनध्युपपन्नोऽमूर्च्छितः क ?-शब्दस्पर्शेसु मनोज्ञेषु आद्यन्तग्रहणान्मध्य ग्रहण मतो मनोज्ञेषु रुपेषु गन्धेषु रसेषु वा अगृद्ध इति द्रष्टव्यं, तथेतरेषु वाऽद्विष्ट इत्यपि वाच्यं, तथा 'आरम्भेषु' सावद्यानुष्ठान रुपेषु 'अनिश्रितः' असम्बन्धोऽप्रवृत्त इत्यर्थ, उपसंहर्तुकाम आह-'सर्वमेतद्' अध्ययनादेराभ्य प्रतिषेध्यत्वेन यत् लपितम्-उक्तं मया बहु तत् 'समयाद्' आर्हतादागमादतीत मतिक्रान्तमितिकृत्वा प्रतिषिद्धं, यदपि च विधिद्वारेणोक्तं तदेतत्सर्वं कुत्सितसमयातीतं लोकोत्तरं प्रधानं वर्तते, यदपि च तैः कुतीर्थिकैर्बहुलपितं तदेतत्सर्वं समयातीत मिति कृत्वा नानुष्ठेयमिति ॥३५॥

टीकार्थ – यहाँ इन्द्रिय विषयों के सन्दर्भ में शब्द प्रारम्भ में आता है और स्पर्श अन्त में आता है। इसलिए इन दोनों के ग्रहण से इनके मध्यवर्ती विषयों को भी यहां ग्रहित समझना चाहिए। साधु मन को लुभाने वाले शब्द, रूप, गन्ध, रस तथा स्पर्श में लोलुप न बने एवं मन को अप्रिय लगने वाले विषयों में वह द्वेष न करे। वह सावद्य-पाप युक्त अनुष्ठान में प्रवृत्त न हो। प्रस्तुत अध्ययन के शुरुआत से लेकर निषेध रूप में जो बातें बतलायी गई हैं, वे सर्वज्ञ सिद्धान्त से विपरीत होने के कारण निषिद्ध-वर्जित है, जिनका विधान किया गया है वे कुतीर्थिकों-मिथ्यात्वी मतवादियों के सिद्धान्तों के प्रतिकूल होने के कारण लोकोत्तर-उत्तम श्रेष्ठ धर्म है-धर्मानुमोदित है। मिथ्यात्वी मतवादियों ने अपने सिद्धान्तों में जो बहुत कुछ कहा है, सर्वज्ञ सिद्धान्त से विपरीत मानकर उसका आचरण-अनुसरण नहीं करना चाहिए।

❀ ❀ ❀

अइमाणं च मायं च, तं परिण्णाय पंडिए ।
गारवाणि य सव्वाणि णिव्वाणं संधए मुणि ।त्तिबेमि ॥३६॥

छाया – अति मानञ्च मायाञ्च, तत् परिज्ञाय पण्डितः ।
गौरवाणि च स्ववाणि, निर्वाणं संधयेन्मुनिः ॥

अनुवाद – विद्वान् विवेकशील मुनि अतिमान-अत्यधिक अहंकार, तथा माया, छल, प्रपंच और सांसारिक भोगों को जानकर उनका परित्याग कर मोक्ष की प्रार्थना, आकांक्षा करे ।

टीका – प्रतिषेध्यप्रधाननिषेधद्वारेण मोक्षाभिसन्धानेनाह-अतिमानो महामानस्तं, च शब्दात्तत्सहचरितं क्रोधं च, तथा मायां च शब्दात्तत्कार्यभूतं लोभं च, तदेतत्सर्वं 'पण्डितो' विवेकी ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यान परिज्ञया परिहरेत्, तथा सर्वाणि 'गारवाणि' ऋद्धि रससात रुपाणि सम्यग् ज्ञात्वा संसारकारणत्वेन परिहरेत्, परिहृत्य च 'मुनिः' साधुः 'निर्वाणम्' अशेष कर्मक्षयरूपं विशिष्टाकाशदेशं वा 'सन्धयेत्' अभिसन्दध्यात् प्रार्थये दिति यावत् । इतिः परिसमाप्त्यर्थे, ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥३६॥

समाप्तं धर्माख्यं नवममध्ययनमिति ।

टीकार्थ – प्रतिसेध्य-प्रतिसेध करने योग्य वस्तुओं में जो प्रधान-मुख्य है, उनका निषेध करते हुए सूत्रकार मोक्ष प्राप्ति के सन्दर्भ में बतलाते हैं । अतिमान महान् मान या अत्यधिक अहंकार, च शब्द से संकेतित उसके सहचारी क्रोध तथा माया और च शब्द से सूचित माया का लोभ इनको विवेकशील पुरुष ज्ञेय परिज्ञा द्वारा जानकर, प्रत्याख्यान परिज्ञा द्वारा इनका परित्याग करे । ऋद्धि, रस तथा सुखरूप अभिप्सित पदार्थों को संसार का कारण-जन्म मरण का हेतु जानकर साधु इन्हें त्याग दे । समस्त कर्मों के क्षय रूप अथवा लोकाकाश के विशिष्ट भाग स्वरूप जो निर्वाण-मोक्ष पथ है उसकी कामना करे ।

यहाँ इति शब्द समाप्ति के अर्थ में है । ब्रवीमि-बोलता हूँ यह पहले की ज्यों योजनीय है।

धर्म नामक नवम् अध्ययन समाप्त हुआ ।

❀ ❀ ❀

卐卐卐

दशमं श्री समाध्ययनं

आघं मइमं मणुवीय धम्मं, अंजू समाहिं तमिणं सुणेह ।
अपडिन्न भिक्खू उ समाहिपत्ते, अणियाण भूतेसुपरिव्वएज्जा ॥१॥

छाया – आख्यातवान मतिमान, अनुविचिन्त्य धर्मम् ऋजुं समाधिं तमियं शृणुत ।
अप्रतिज्ञभिक्षुस्तु, समाधिप्राप्तोऽनिदानो भूतेषु परिव्रजेत् ॥

अनुवाद – मतिमान-प्रज्ञा के महान धनी, सर्वज्ञ प्रभु महावीर ने ऋजु-सरल तथा समाधिमय-मोक्षप्रद धर्म आख्यात किया है । शिष्य वृन्द ! उसका तुम श्रवण करो । अप्रतिज्ञ-अपने तपश्चरण के फल का अनभिलाषी समाधि प्राप्त-समाधियुक्त प्राणी हिंसा विवर्जित साधु परिव्रज्या-शुद्ध संयम का पालन करे ।

टीका – अस्य चायमनन्तरसूत्रेण सह सम्बन्धः, तद्यथाअशेषगारवपरिहारेण मु (ग्रं. ५५००) निर्निर्वाणमनुसन्धयेदित्येतद्भगवानुत्पन्नदिव्यज्ञानः समाख्यातवान् एतच्च वक्ष्यमाणमाख्यातवानिति,'आघ'त्ति आख्यातवान् कोऽसौ ? - 'मतिमान्' मननं मतिः-समस्तपदार्थपरिज्ञानं तद्विद्यते यस्यासौ मतिमान् केवलज्ञानीत्यर्थः, तत्रासाधारणविशेषणोपादानात्तीर्थकृद गृह्यते, असावपि प्रत्यासत्तेर्वीरवर्धमानस्वामी गृह्यते, किमाख्यातवान ? - 'धर्मं' श्रुतचारित्राख्यं, कथम् ? - 'अनुविचिन्त्य' केवलज्ञानेन ज्ञात्वा प्रज्ञापनायोग्यान् पदार्थानाश्रित्य धर्मं भाषते, यदिवा-ग्राहकमनुविचिन्त्य कस्यार्थस्यायं ग्रहणसमर्थः ? तथा कोऽयंपुरुषः ? कञ्चनतः ? किं वा दर्शनमापन्न? इत्येवं पर्यालोच्य, धर्मशुश्रूषवो वा मन्यन्ते-यथा प्रत्येकमस्मदभिप्रायमनुविचिन्त्य भगवान् धर्मं भाषते, युगपत्सर्वेषां स्वभाषापरिणत्या संशयापगमादिति, किंभूतं धर्मंभाषते ? - 'ऋजुम' अवक्रं यथावस्थितवस्तुस्वरूपनिरूपणतो, न यथा शाक्याः सर्वं क्षणिकमभ्युपगम्य कृतनाशा कृताभ्यागमदोषभयात्सन्तानाभ्युपगमं कृतवन्तः तथा वनस्पतिमचेतनत्वेनाभ्युपगम्य स्वयं न छिन्दन्ति तच्छेदनादावुपदेशं तु ददति तथा कार्षापणादिकं हिरण्यं स्वतो न स्पृशन्ति अपरेण तु तत्परिग्रहतः क्रयविक्रयं कारयन्ति, तथा साङ्ख्या सर्वमप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावं नित्यमभ्युपगम्य कर्मबन्धमोक्षाभावप्रसंगदोषभयादाविर्भावति-रोभावावाश्रितवन्त इत्यादि कौटिल्यभावपरिहारेणा वक्रं तथ्यं धर्ममाख्यातवान्, तथा सम्यगाधीयते-मोक्षं तन्मार्गं वा प्रत्यात्मा योग्यः क्रियते व्यवस्थाप्येत येन धर्मेणासौ धर्मः समाधिस्तं समाख्यातवान्, यदिवा-धर्ममाख्यातवांस्तत्समाधिं च धर्मध्यानादिक मिति । सुधर्मस्वाम्याह-तमिमं-धर्मं समाधिं वा भगवदुपदिष्टं शृणुत यूयं, तद्यथा-न विद्यते ऐहिकामुष्मिकरुपा प्रतिज्ञा-आकाङ्क्षा तपोऽनुष्ठानं कुर्वतो यस्यासावप्रतिज्ञो, भिक्षणशीलो भिक्षुः तुर्विशेषणे भावभिक्षुः, असावेव परमार्थतः साधुः, धर्मं धर्मसमाधिं च प्राप्तोऽसावेवेति, तथा न विद्यते निदानमारम्भरुपं 'भूतेषु' जन्तुषु, यस्यासावनिदानः स एवंम्भूतः सावद्यानुष्ठान रहितः परि-समन्तात्संयमानुष्ठाने व्रजेद्' गच्छेदिति, यदिवा-अनिदानभूतः अनाश्रवभूतः कर्मोपादानरहितः सुष्ठु परिव्रजेत् सुपरिव्रजेत्, यदिवा-अनिदानभूतानि-अनिदानकल्पानि ज्ञानादीनि तेषु परिव्रजेत्, अथवा निदानं हेतु-कारणं दुःखस्यातोऽनिदानभूतः कस्यचिद्दुःखमनुपपादयन् संयमे पराक्रमेतेति ॥१॥

टीकार्थ – प्रस्तुत सूत्र का पूर्वतन् सूत्र के साथ यह संबंध है, नवम् अध्याय की अन्तिम गाथा में प्रतिपादित हुआ है कि साधु समस्त सांसारिक सुख भोगों का परित्याग कर मोक्ष की साधना में संलग्न बने। सर्वज्ञ भगवान महावीर ने, जैसा आगे समुपवर्णित होगा-धर्म का आख्यान किया । अब यह बतलाते हैं । भगवान महावीर स्वामी की विशेषताओं के सम्बन्ध में जिज्ञासा करते हुए पूछते हैं कि भगवान कैसे हैं ?

उत्तर में बतलाया जाता है कि भगवान मतिशाली हैं । समग्र पदार्थों का ज्ञान मति कहलाता है, वैसा ज्ञान जिनमें होता है, वे सर्वज्ञ या केवलज्ञानवान महापुरुष मतिमान या मतिशाली कहे जाते हैं । यद्यपि केवलज्ञान के धारक-सर्वज्ञ अनेक हुए हैं किन्तु यहां मतिमान विशेषण असाधारण अर्थ के साथ प्रयुक्त है जो तीर्थंकर का द्योतक है । तीर्थंकरों में भगवान महावीर सर्वाधिक आसन्नवर्ती है । अत: इस विशेषण से यहां वे ही गृहीत होते हैं । भगवान महावीर ने श्रुतचारित्रमूलक धर्म का आख्यान किया ।

वैसा किस प्रकार किया ? इसके उत्तर में कहा जाता है कि उन्होंने केवलज्ञान-सर्वज्ञत्व के माध्यम से जगत के पदार्थों का स्वरूप जानते हुए उनमें से उपदेष्टव्य-उपदेश देने योग्य पदार्थों को गृहीत कर धर्म का आख्यान किया । भगवान ने पहले धर्म का श्रवण करने वाले पुरुष को लक्षित कर कहा था कि यह पुरुष किस पदार्थ को ग्रहण करने में सक्षम हो सकता है । यह कौन है ? किस देव या गुरु के प्रतिप्रणत हैं ? किसमें आस्था रखता है ? यह किस दार्शनिक-सिद्धान्त का अनुयायी है इत्यादि तत्त्वों को निश्चित कर उन्होंने धर्म का आख्यान किया ।

अथवा धर्म की उपासना करने वाले पुरुषों का ऐसा अभिमत है कि भगवान ने हम लोगों में से प्रत्येक को अभिलक्षित कर धर्म का अभिभाषण किया । भगवान द्वारा दिया गया धर्मोपदेश एक ही समय में समस्त प्राणियों की भाषा में परिवर्तित हो जाता है ।

भगवान किस प्रकार के धर्म का उपदेश करते हैं ? इसके उत्तर में प्रतिपादित किया जाता है कि भगवान ऋजु-अवक्र, टेढेपनरहित सरल धर्म का उपदेश करते हैं अर्थात् यथावस्थित वस्तु का यथावत स्वरूप निरूपित करते हैं जो वस्तु जैसी है, उसका वैसा ही स्वरूप प्रतिपादित करते हैं । बोद्ध आदि अन्य मतवादियों की तरह उपदेश नहीं करते । बौद्ध सभी पदार्थों को क्षणिक स्वीकार करते हैं जिससे उनके सिद्धान्त में कृतनाश-किए हुए का ध्वंस-मिटना तथा अकृताभ्यागम-नहीं किए हुए का आगमन-आना, ये दोष उपस्थित होते हैं। अतएव वे सन्तानवाद का सिद्धान्त स्वीकार करते हैं । वे वनस्पति को अचेतन-चेतनारहित, प्राणरहित मानते हैं । वे उसका स्वयं छेदन नहीं करते किन्तु उसके छेदन आदि का उपदेश करते हैं । यद्यपि वे स्वयं कार्षापण-रुपये पैसे आदि सिक्के हिरण्य स्वर्ण आदिबहुमूल्य धातुएं आदि नहीं छूते किन्तु अन्य के द्वारा उनका संग्रह करवाकर, खरीद बिक्री करवाते हैं ।

इसी प्रकार सांख्य मतवादी सभी पदार्थों को अप्रच्युत-विनाश रहित, अनुत्पन्न-उत्पत्ति रहित स्थिर स्वभाव तथा नित्य मानते हैं । ऐसा मानने से कर्मों का बंध घटित नहीं होता है और न मोक्ष ही सिद्ध होता है । ऐसा दोष आने के भय से वे सभी पदार्थों का आविर्भाव-प्राकट्य या तिरोभावलय मानते हैं । यह मान्यता कौटिल्यभाव-कुटिलता युक्त है । भगवान महावीर ने ऐसे कुटिलतापूर्ण भाव का परिहार करते हुए अवक्र-सरल तथ्य-सत्य सिद्धान्त युक्त धर्म का आख्यान किया, जिसके द्वारा आत्मा सम्यक्-भली भांति मोक्ष या मोक्ष के मार्ग में टिकायी जाती है, स्थापित की जाती है । उस ओर बढ़ने योग्य की जाती है, उसे धर्म कहा जाता है । अथवा भगवान ने धर्म का और उसकी समाधि का अर्थात् धर्मध्यान आदि का आख्यान किया ।

श्री सुधर्मास्वामी अपने अंतेवासियों से कहते हैं-तुम लोग उस धर्म या समाधि-साधना के संबंध में श्रवण करो, जिसे भगवान महावीर ने उपदिष्ट किया । जो पुरुष अपने तपश्चरण के फल के रूप में ऐहिक और पारलौकिक सुख की आकांक्षा नहीं रखता वही वास्तव में भिक्षोपजीविभावभिक्षु-सच्चा साधु है । उसी

ने धर्म समाधि-धर्म के साधना मूलक तत्त्व को आत्मसात् किया है । वह अनिदानभूत है । प्राणियों के प्रति आरंभ-हिंसा मूलक व्यवहार निदान कहा जाता है और वह प्राणी हिंसा से दूर रहने के कारण अनिदान है। सावद्य-पापपूर्ण अनुष्ठान रहित है । वह सर्वथा संयम के आचरण में गतिशील रहे अथवा अनिदानभूतका एक अर्थ अनाश्रवभूत या आश्रवरहित है । यों वह साधु कर्मों के उपादान से विवर्जित है । उस दिशा में वह सतत् उद्यत रहे । अथवा अनिदानभूत का अर्थ अनिदान सदृश ज्ञानादि है, उनमें साधु उद्यमशील रहे । निदान का एक अर्थ दुःख का हेतु या कारण है । वह साधु दुःख का अनिदान भूत है । किसी के लिये दुःख उपपन-उत्पन्न नहीं करता । वह सदैव संयम में पराक्रमशील रहे ।

❀ ❀ ❀

उड्ढं अहेयं तिरियं दिसासु, तसा य जेथावर जे य पाणा ।
हत्थेहिं पाएहिं य संजमित्ता, अदिन्नमन्नेसु य णो गहेज्जा ॥२॥

छाया – ऊर्ध्वमधस्तिर्य्यग्दिशासु, त्रसाश्च ये स्थावरा ये च प्राणाः ।
हस्तैः पादैश्च संयम्य, अदत्त मन्यैश्च न गृह्णीयात् ॥

अनुवाद – उर्ध्व-ऊपर की दिशा में, अधः-नीचे की दिशा में तिर्यक्-तिरछी दिशा में, तथा अन्य दिशाओं में जो त्रस एवं स्थावर प्राणी रहते हैं, अपने हाथ पैर आदि को नियंत्रित रखते हुए उन्हें कष्ट नहीं देना चाहिये । दूसरों के द्वारा नहीं दी गई वस्तु लेनी नहीं चाहिये ।

टीका - प्राणातिपातादीनि तु कर्मणो निदानानि वर्तन्ते, प्राणातिपातोऽपि द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदाच्चतुर्धा, तत्र क्षेत्रप्राणातिपातमधिकृत्याहसर्वोऽपि प्राणातिपातः क्रियमाणः प्रज्ञापकापेक्षयोर्ध्वमधस्तिर्यक् क्रियते, यदिवा-ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्लोकेषु त्रिषु लोकेषु तथा प्राच्यादिषु दिक्षु विदिक्षु चेति, द्रव्यप्राणातिपातस्त्वयं-त्रस्यन्तीति त्रसा-द्वीन्द्रियादयो ये च 'स्थावराः' पृथिव्यादयः, चकारः स्वगतभेदसंसूचनार्थः, कालप्राणातिपात संसूचनार्थो वा दिवा रात्रौ वा, 'प्राणाः' प्राणिनः भावप्राणतिपातं त्वाह-एतान् प्रागुक्तान् प्राणिनो हस्तपादाभ्यां "संयम्य" वद्धुवा उपलक्षणार्थत्वाद स्यान्यथा वा कदर्थ यित्वा यत्तेषां दुःखोत्पादनं तन्नकुर्यात्, यदि वैतान् प्राणिनो हस्तौ पादौ च संयम्य संयतकायः सन्न हिंस्यात्, च शब्दादुच्छ्वासनिश्वासकासितक्षुतवातनिसर्गादिषु सर्वत्र मनोवाक्कायकर्मसु संयतो भवन् भावसमाधिमनुपालयेत्, तथा परैरदत्तं न गृह्णीयादिति तृतीयव्रतोपन्यासः, अदत्तादाननिषेधाच्चार्थतः परिग्रहो निषिद्धो भवति, नापरिगृहीतमासेव्यत इति मैथुननिषेधोऽपयुक्तः समस्तव्रतसम्यक्पालनोपदेशाच्च मृषावादोऽप्यर्थतो निरस्त इति ॥२॥

टीकार्थ – प्राणातिपादादि कर्म के निदान या बंध के हेतु हैं । द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव की दृष्टि से प्राणातिपात के चार भेद हैं । इनमें क्षेत्र प्राणातिपात को अधिकृत कर कहा गयाहै । क्रियमाण-किये जाते सभी प्राणातिपात प्रज्ञापक-ज्ञापित करने वाले की अपेक्षा से ऊर्ध्व अधः तथा तिर्यक क्षेत्रों में किये जाते हैं अथवा ऊर्ध्व, अधः तिर्यक् रूप तीनों लोकों में किये जाते हैं तथा पूर्व आदि दिशाओं में तथा विदिशाओं में किये जाते हैं । वे तब क्षेत्र प्राणातिपात के अन्तर्गत आते हैं । द्रव्य प्राणातिपात इस प्रकार है-जो प्राणी त्रास पाते हैं-त्रस्त होते हुए प्रतीत होते हैं वे द्विइन्द्रियादि प्राणी हैं । जो स्थितिशील हैं, वे पृथ्वी आदि स्थावर प्राणी हैं। यहां च 'कार का प्रयोग स्वगत भेद के सूचन हेतु है । अथवा वह काल प्राणातिपात को सूचित करता है। दिन

में या रात में प्राणियों को पीड़ा देना काल प्राणातिपात है । भाव प्राणातिपात इस प्रकार है-इन पहले कहे गये प्राणियों के हाथ पैर बांधकर अथवा अन्य किसी प्रकार से पीड़ा देना इसके अन्तर्गत आता है । अपने हाथ पैर और देह को संयत रखते हुए इन प्राणियों की हिंसा नहीं करनी चाहिये । यहां आये हुए 'च' शब्द से सूचित होता है कि उच्छवास, नि:श्वास, कास-खांसी क्षुत-छींक, वातनिसर्ग-अधो वायु का निस्सरण तथा मानसिक, वाचिक एवं शारीरिक कर्म इन सबमें-सर्वत्र संयत होते हुए भाव समाधि का अनुपालन करना चाहिये। दूसरों द्वारा अदत्त-नहीं दिये पदार्थ को ग्रहण नहीं करना चाहिये । यह तृतीय व्रत का उपन्यास-उपदेश है । यहां अदत्तादान के निषेध से प्रसंगत: परिग्रह का भी निषेध हो जाता है । अपरिग्रहीत भाव-परिग्रह किये बिना किसी भी वस्तु का आसेवन नहीं किया जा सकता । अत: यहां परिग्रह के निषेध के कारण अब्रह्मचर्य्य का निषेध भी प्रसंगत: हो जाता है । समस्त व्रतों के सम्यक् परिपालन के उपदेश के कारण असत् भाषण का भी यहां सहज ही निषेध हो जाता है ।

❀ ❀ ❀

सुयक्खाय धम्मे वितिगिच्छतिण्णे, लाढे चरे आयतुले पयासु ।
आयं न कुज्जा इह जीवियट्ठी, चयं न कुज्जा सुतवस्सि भिक्खू ॥३॥

छाया – स्वाख्यातधर्मा विचिकित्सातीर्ण:, लाढश्चरेदात्मतुल्य: प्रजासु ।
आयं न कुर्य्यादिह जीवितार्थी, चयं न कुर्य्यात् सुतपस्वी भिक्षु: ॥

अनुवाद – स्वाख्यात धर्मा-श्रुत चारित्र मूलक धर्म का सुन्दर रूप में आख्यात करने वाला सर्वज्ञ प्ररूपित *धर्म में विचिकित्सा-शंका रहित अचित्त, एषणीय आहार द्वारा देह निर्वाहक सुतपस्वी-उत्तम तपश्चरण शील साधु* समस्त प्राणियों को आत्मतुल्य समझता हुआ संयम का परिपालन करे । संयत जीवन पूर्वक चिरकाल पर्यन्त जीने की इच्छा लिये वह आश्रवों का सेवन न करे । अनागत हेतु संचय-धन धान्यादि का संग्रह न करे ।

टीका – ज्ञानदर्शनसमाधिमधिकृत्याह-सुष्ठ्वाख्यात: श्रुतचारित्राख्यो धर्मो येन साधुनाऽसौ स्वाख्यातधर्मा, अनेन ज्ञानसमाधिरुक्तो भवति, न हि विशिष्टपरिज्ञानमन्तरेण स्वाख्यातधर्मत्वमुपपद्यत इति भाव: तथा विचिकित्सा-चित्तविप्लुतिर्विद्वज्जुगुप्सा वा तां '[वि] तीर्ण:'-अतिक्रान्त: 'तदेव च नि:शंक यज्जिनै: प्रवेदित मित्येवं नि: शंकतया न क्वचिच्चित्तविप्लुतिं विधत्त इत्यनेन दर्शनसमाधि: प्रतिपादितो भवति, येन केन चित्प्रासुक्रा हारोपकरणादिगतेन विधिनाऽऽत्मानं यापयतिपालयतीति लाढ:, स एवम्भूत: संयमानुष्ठानं 'चरेद्' अनुतिष्टेत्, तथा प्रजायन्त इति प्रजा:-पृथिव्यादयो जन्तवस्तास्वात्मतुल्य:, आत्मवत्सर्वप्राणिन: पश्यतीत्यर्थ, एवम्भूत एव भावसाधुर्भवतीति, तथा चोक्तम् -

"जह मम ण पियं दुक्खं, पाणिय एमेव सव्वजीवाणं । ण हणइ ण हणावेइ य सममणई तेण सो समणो ॥१॥"

छया – यथा मम न प्रियं दु:खं ज्ञात्वा एवमेव सर्वसत्त्वानां । न हन्ति, न घातयति च समंमन्यते तेन स श्रमण:॥१॥

यथा च ममाऽऽक्रुश्यमानस्याभ्याख्यायमानस्य वा दु:खमुत्पद्यते एवमन्येषामपीत्येवं मत्वा प्रजास्वात्मसमो भवति, तथा इहासंयमजीवितार्थी प्रभूतं कालं सुखेन जीविष्यामीत्येतदध्यवसायी वा 'आयं' कर्माश्रवलक्षणं न कुर्यात्, तथा 'चयम्' उपचयमाहारोपकरणादेर्धनधान्यद्विपद चतुष्पदादेर्वा परिग्रहलक्षणं संचयमायत्यर्थं सुष्ठु तपस्वी सुतपस्वी विकृष्टतपोनिष्टप्तदेहो भिक्षुर्न कुर्यादिति ॥३॥

टीकार्थ – सूत्रकार ज्ञानदर्शन तथा समाधि को अधिकृत कर कहते हैं –

जो श्रुत-सम्यग्ज्ञान तथा चारित्र-सम्यक् आचार रूप धर्म का सुष्ठु रीति से-भलीभांति उपदेश करता है वह साधु स्वाख्यातधर्मा कहा जाता है । इस विशेषण द्वारा साधु की ज्ञान समाधि प्रकट की गई है क्योंकि विशिष्ट परिज्ञान के बिना कोई धर्म को सुंदर रूप में प्रतिपादित नहीं कर सकता । चित्त विप्लुति-चैतसिक शंका या विद्वानों की जुगुप्सा-निन्दा को विचिकित्सा कहा जाता है । उसको अतिक्रान्त कर जिनेश्वर देव ने जो कहा है, वही सत्य है, यह मानकर, विश्वास कर चित्त में संदेह रहित होता हुआ तथा जो कुछ प्रासुक-ऐषणीय आहार या अन्य अपेक्षित सामग्री प्राप्त हो उसी से अपना निर्वाह करता हुआ संयम का परिपालन करे। जो बार-बार जन्म लेते हैं, उन्हें प्रजा कहा जाता है । पृथ्वी आदि प्राणी प्रजा के अन्तर्गत हैं । इनको जो अपनी आत्मा के तुल्य मानता है वह भाव साधु कहा जाता है । कहा गया है कि जैसे मुझे दुःख प्रीतिकर नहीं लगता-अच्छा नहीं लगता इसी तरह वह सभी प्राणियों के लिये प्रीतिकर नहीं है, यह जानकर जो प्राणियों का हनन नहीं करता औरों से उनका हनन नहीं करवाता, उनको समानभाव से मानता है, देखता है वह श्रमण कहा जाता है । वह यह अनुभव करता है कि जैसे मुझ पर कोई आक्रोश करता है, मुझे डराता है, मुझ पर कलंक-दोष लगाता है तो मुझे दुःख होता है उसी प्रकार अन्य प्राणियों को भी दुःख होता है, यह मानता हुआ-समझता हुआ साधु समस्त प्रजा-प्राणियों को आत्मसम-अपने समान समझता है । साधु इस लोक में असंयममय जीवन का अर्थी-इच्छुक न बने । अथवा मैं चिरकाल तक सुख के साथ जीवित रहूं, मन में ऐसा अध्यवसाय-भाव या परिणाम लाकर कर्माश्रव का सेवन न करे-कर्म न बांधे । सुतपस्वी-उत्तम तपश्चरण शील अथवा कठोर तप से संतप्त युक्त साधु धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद आदि धन का संचय न करे ।

❀ ❀ ❀

सव्विंदियाभिनिव्वुडे पयासु, चरे मुणी सुव्वतो विप्पमुक्के ।
पासाहि पाणे य पुढ़ोवि सत्ते, दुक्खेण अट्टे परितप्पमाणे ॥४॥

छाया – सर्वेन्द्रियाभिनिर्वृतः प्रजासु, चरेन्मुनिः सर्वतोविप्रमुक्तः ।
पश्य प्राणाँश्च पृथगपि सत्त्वान्, दुःखेनार्त्तान् परितप्यमानान् ॥

अनुवाद – मुनि प्रजा-स्त्रियों के संदर्भ में अपनी समस्त इन्द्रियों को नियन्त्रित रखे । सब प्रकार के बंधनों से विप्रमुक्त-उन्मुक्त होता हुआ शुद्ध संयम का परिपालन करे, इस संसार में पृथक्-पृथक् प्राणी दुःखों से आर्त्त है-परितप्त है, यह देखे ।

टीका – किञ्चान्यत्-सर्वाणि च तानि इन्द्रियाणि च स्पर्शनादीनि तैरभिनिर्वृतः संवृतेन्द्रियो जितेन्द्रिय इत्यर्थः, क्व ? - 'प्रजासु' स्त्रीषु, तासु हि पंचप्रकारा अपि शब्दादयो विषयो विद्यन्ते, तथा चोक्तम् –

"कलानि वाक्यानि विलासिनीनां, गतानि रम्याण्यवलोकितानि ।
रतानि चित्राणि च सुन्दरीणां, रसोऽपि गंधोऽपि च चुम्बनानि ॥१॥"

तदेवं स्त्रीषु पञ्चेन्द्रिय विषयसम्भवात्तद्विषये संवृतसर्वेन्द्रियेण भाव्यम्, एतदेव दर्शयति-'चरेत्' संयमानुष्ठानमनुतिष्ठेत् 'मुनिः' साधुः 'सर्वतः' सबाह्याभ्यन्तरात् सङ्गाद्विशेषेण प्रमुक्तौ विप्रमुक्तो निसङ्गो मुनिः निष्किञ्चनश्चेत्यर्थः, स एवम्भूतः सर्वबन्धनविप्रमुक्तः सन् 'पश्य' अवलोकय पृथक् पृथक् पृथिव्यादिषु कायेषु

सूक्ष्मबादरपर्याप्तकापर्याप्तकभेदभिन्नान् 'सत्वान्' प्राणिनः अपिशब्दाद्वनस्पतिकाये साधारण शरीरिणोऽनन्तानप्येकत्वमागतान् पश्य, किंभूतान् ? - दुःखेन असातवेदनीयोदयरूपेण दुःखयतीति वा दुःखम्-अष्ट प्रकारं कर्म तेनार्त्तान्-पीडितान् परि-समन्तात्संसारकटाहोदरे स्वकृतेनेन्धनेन 'परिपच्यमानान्' यदिवा-दुष्प्रणिहितेन्द्रियानार्तध्यानोपगतान्मनोवाक्कायैः परितप्यमानान् पश्येति सम्बन्धो लगनीय इति ॥४॥

टीकार्थ – साधु स्पर्शन आदि सभी इन्द्रियों को अपने अधीन कर नियन्त्रित कर जितेन्द्रिय बने। किनके संदर्भ में ? इनके उत्तर में कहते हैं कि स्त्रियों के संदर्भ में, पांचों ही शब्दादि विषय विद्यमान है । कहाँ है? स्त्रियों के वाक्य श्रवण करने में बड़े मधुर-प्रिय लगते हैं । उनका चलना, देखना रम्य प्रतीत होते हैं, उनके साथ रमण करना आश्चर्य जनक सुखप्रद है उनके मुखादि का चुम्बन रसमय एवं सुगन्धमय है । इस प्रकार स्त्रियों में पांचों ही विषय होने के कारण साधु को उनके संदर्भ में अपनी सभी इन्द्रियों को संवृत-नियन्त्रित या अपने अधीन रखना चाहिये । इसी का दिग्दर्शन कराते हुए कहते हैं-साधु बाह्य और आभ्यन्तर दोनों ही प्रकार के संग-संसर्ग से विप्रमुक्त-विशेष रूप से मुक्त, पृथक्, निःसंग, निष्किंचन-अकिंचन मुनि संयम का अनुसरण करे । वह पृथ्वी आदि कायों में पृथक् पृथक् रहने वाले सूक्ष्म, स्थूल, पर्याप्त, अपर्याप्त भेदयुक्त प्राणियों तथा अपि शब्द से सूचित वनस्पति कायिक साधारण शरीरयुक्त प्राणियों को देखे । वे प्राणी कैसे हैं ? इसके उत्तर में कहते हैं-वे असात वेदनीय के उदय के परिणामस्वरूप दुःखित हैं । आठ प्रकार के कर्मों से आर्त्त-पीडित हैं । वे संसार रूपी कड़ाह में अपने द्वारा आचरित कर्मरूपी ईंधन से पकाये जा रहे हैं अथवा दुष्प्रणिहीत इंद्रिययुक्त हैं-उनकी इन्द्रियां दुष्कृत्यों में संलग्न है । वे आर्त्तध्यान से आकुल हैं । मानसिक, वाचिक एवं कायिक दृष्टि से परिताप का अनुभव करते हैं । यह देखे ।

❀ ❀ ❀

एतेसु बाले य पकुव्वमाणे, आवट्टती कम्मसु पावएसु ।
अतिवायतो कीरिति पावकम्मं, निउंजमाणे उ करेइ कम्मं ॥५॥

छाया – एतेषु बालश्च प्रकुर्वाणः, आवर्तते कर्मसु पापकेषु ।
अतिपाततः क्रियते पापकर्म, नियोजयंस्तु करोति कर्म ॥

अनुवाद – अज्ञ जीव पृथ्वी काय आदि प्राणियों को पीड़ा देता हुआ पाप कर्म करता है । उन पाप कर्मों का फल भोगने हेतु वह पुनः पुनः पृथ्वीकाय आदि प्राणियों में उत्पन्न होता है । खुद जीवों की हिंसा करने और दूसरों द्वारा वैसा कराने से पाप बंध होता है ।

टीका – 'एतेषु' प्राङ्निर्दिष्टेषु प्रत्येक साधारण प्रकारेषूपताप क्रियया बालवत् 'बालः' अज्ञश्चशब्दादितरोऽपि सङ्घट्टनपरितापनापद्रावणादिकेनानुष्ठानेन 'पापानि' कर्माणि प्रकर्षेण कुर्वाणस्तेषु च पापेषु कर्मसु सत्सु एतेषु वा पृथिव्यादिजन्तुषु गतः संस्तेनैव संघट्टनादिना प्रकारेणानन्तशः 'आवर्त्यते' पीड्यते दुःखभाग्भवतीति, पाठान्तरं वा 'एवं तु बाले' एवमित्युपप्रदर्शने यथा चौरः पारदारिको वा असदनुष्ठानेन हस्तपादच्छेदान् बन्धवधादींश्चेहावाप्नोत्येवं सामान्य दृष्टेनानुमानेनान्योऽपि पापकर्मकारी इहामुत्र च दुःखभाग्भवति, 'आउट्टति' त्ति क्वचित्पाठः, तन्नाशुभान् कर्मविपाकान् दृष्ट्वा श्रुत्वा ज्ञात्वा वा तेभ्योऽसदनुष्ठानेभ्य 'आउट्टति' त्ति निवर्तते, कानि पुनः पापस्थानानि येभ्यः पुनः प्रवर्तते निवर्तते वा इत्याशङ्क्य तानि दर्शयति-'अतिपाततः' प्राणातिपाततः प्राणव्यपरोपणाद्धेतोस्तच्चाशुभं

ज्ञानावरणादिकं कर्म 'क्रियते' समादीयते, तथा परांश्च भृत्यादीन् प्राणातिपातादौ 'नियोजयन्' व्यापारयन् पापं कर्म करोति, तुशब्दान्मृषावादादिकं च कुर्वन् कारयंश्च पापकं कर्म समुच्चिनोतीति ॥५॥

टीकार्थ – पहले बनस्पति काय के प्रत्येक तथा साधारण जो दो भेद बतलाये गये हैं उनको जो अज्ञ पुरुष 'च' शब्द से सूचित कोई अन्य पुरुष पीड़ा देता है अर्थात् वह इन्हें तोडता है, काटता है, परितप्त करता है, द्रवित करता है, गलाता है एवं 'आदि' शब्द से वह सूचित है कि किसी अन्य प्रकार से कष्ट देता है, वह पुरुष अत्यन्त पापार्जन करता है । वह अपने पाप के फल भोग हेतु इन्हीं पृथ्वी आदि प्राणियों में पुनः पुनः जन्म लेता है तथा अनन्त काल पर्यन्त पीडित किया जाता है, कष्टभागी होता है । यहां 'एवं तु बाले' ऐसा पाठान्तर भी प्राप्त होता है । यहां प्रयुक्त 'एवं' शब्द उपदर्शन या उदाहरण सूचित करने हेतु है । जैसे चोर या परस्त्रीगामी पुरुष दूषित कर्म कर इस लोक में हस्तपाद छेदन-हाथ पैर काटा जाना तथा बंध-वध किया जाना आदि के रूप में यातना प्राप्त करता है इसी प्रकार अन्य पाप कर्मकारी पुरुष भी इस लोक में और परलोक में दुःखों के भागी बनते हैं । यह सामान्यतोदृष्ट अनुमान द्वारा साबित होता है । कहीं 'आउट्टति' पाठ प्राप्त होता है । इसका अभिप्राय यह है कि विवेकी पुरुष अशुभ कर्मों के विपाक-फल देखकर श्रवण कर या ज्ञात कर कर्मों से निवृत्त हो जाता है ।

वे कौन कौन से पाप के अधिष्ठान हैं ? जिनमें प्राणी प्रवृत्त होते हैं ? और जिनसे निवृत्त होते हैं? इसके उत्तर में कहते हैं-पुरुष प्राणियों के प्राणों का अतिपात-प्राणव्यपरोपण करने से ज्ञानावरणीय आदि अशुभ कर्मों का बंध करता है तथा जो अपने भृत्य आदि अन्य पुरुषों को प्राणातिपात हिंसा करने में नियोजित करता है, व्यावृत करता है, वह पाप का आचरण करता है । यहां आए 'तु' शब्द से सूचित है कि वह असत्य भाषण आदि करता है तथा औरों से वैसा करवाता है । यों करता हुआ वह पाप संचित करता है ।

❀ ❀ ❀

आदीणवित्तीव करेति पावं, मंता उ एगंत समाहिमाहु ।
बुद्धे समाहीय रते विवेगे, पाणातिवाता विरते ठियप्पा ॥६॥

छाया – आदीनवृत्तिरपि करोति पापं, मत्वात्वेकान्तसमाधि माहुः ।
बुद्धः समाधौ च रतो विवेके, प्राणातिपाताद् विरतः स्थितात्मा ॥

अनुवाद – जो पुरुष दीनता दिखलाकर भीख आदि द्वारा गुजारा करने वाले की ज्यों अपनी आजीविका चलाता है, वह भी पाप करता है । यह मानकर तीर्थंकरों ने भाव समाधि का निरूपण-प्रतिपादन किया । बुद्ध-ज्ञानयुक्त विवेकशील स्थिरचेता पुरुष समाधि में अभिरत होता हुआ हिंसा से निवृत्त रहे ।

टीका – किञ्चान्यत्-आ-समन्ताद्दीना-करुणास्पदा वृत्तिः-अनुष्ठानं यस्य कृपणवनीपकादेः स भवत्यादीनवृत्तिः, एवम्भूतोऽपि पापं कर्म करोति, पाठान्तरं वा आदीनभोज्यपि पापं करोतीति, उक्तं च-

"पिंडोलगेव दुस्सीले, णरगाओ ण मुच्चइ" छाया - पिण्डावलगकोऽपि दुःशीलो नरकान्न मुच्यते, स कदाचिच्छोभनमाहारमलभमानोऽज्ञत्वादार्त रौद्रध्यानोपगतोऽधः सप्तम्यामप्युत्पद्येत, तद्यथा-असावेव राजगृहनगरोत्सवनिर्गतजनसमूह वैभार गिरि शिलापात नोद्यतः स दैवात्स्वयं पतितः पिण्डोपजीवीति, तदेवमादीनभोज्यपि पिण्डोलकादिवज्जनः पापं कर्म करोतीत्येवं 'मत्वा' अवधार्य एकान्तेनात्यन्तेन च यो भावरूपो ज्ञानादिसमाधिस्तमाहुः

संसारोत्तरणाय तीर्थंकरगणधरादय: द्रव्यसमाधयो हि स्पर्शादिसुखोत्पादका अनेकान्तिका अनात्यन्तिकाश्च भवन्ति अन्ते चावश्यम समाधिमुत्पादयन्ति, तथा चोक्तम् -

"यद्यपि निषेव्यमाणा मनस: परितुष्टिकारका विषया: । किम्पाकफलादनवद्भवन्ति पश्चादतिदुरन्ता: ॥१॥"

इत्यादि, तदेवं 'बुद्ध:' अवगत तत्त्व: स चतुर्विधेऽपि ज्ञानादिके रतो-व्यवस्थितो 'विवेके वा' आहारोप करणकषाय परित्यागरूपे द्रव्यभावात्मके रत: सन्नेवंभूतश्च स्यादित्याह-प्रमानां दशप्रकाराणामप्यतिपातो-विनाशस्तस्माद्विरत: स्थित: सम्यग्मार्गेषु आत्मा यस्य स: पाठान्तरं वा 'ठियच्चि' त्ति स्थिता शुद्धस्वभावात्मना अर्चि:-लेश्या यस्य स भवति स्थितार्चि:-सुविशुद्धस्थिरलेश्य इत्यर्थ: ॥६॥

टीकार्थ – जो करुणास्पद-दयनीय वृत्ति-आजीविका करता है वह कंगला-भिखारी आदि आदीनवृत्ति कहा जाता है वह भी पाप का आचरण करता है । कहीं 'आदीन भोजी' पाठ प्राप्त होता है । उसका तात्पर्य यह है कि जो पुरुष बड़ी कठिनाई से पेट पालता है वह भी पाप करता है । कहा है-रोटी के टुकड़े के लिये भटकता हुआ दुशील-दुराचरण युक्त पुरुष नरक से नहीं छूट पाता । वह अज्ञ प्राणी कभी शोभन-उत्तम, प्रिय आहार न मिलने से आर्त्त एवं रौद्र ध्यान कर सातवीं नरक भूमि में भी पैदा हो सकता है । उदाहरणार्थ-राजगृह नगर में एक उत्सव के अवसर पर बाहर निकले हुए लोगों से भिक्षा न मिलने पर उन पर क्रुद्ध होकर एक भिक्षु उन पर शिला गिराने हेतु वैभार पर्वत पर चढ़ने को उद्यत हुआ-चढ़ने लगा किन्तु संयोग से उसका पैर फिसल गया। वह गिर गया और मर गया । अत: जो दीनतापूर्वक भिखारी की ज्यों दु:ख से पेट पालता है वह भी दुष्कर्म करता है । यह जानकर तीर्थंकर तथा गणधर आदि महापुरुषों ने संसार सागर से पार उतरने के लिये भाव रूप ज्ञानादि समाधि का आख्यान किया-प्रतिपादन किया जो एकान्तिक और आत्यन्तिक रूप में आत्मकल्याणकारी है । द्रव्य समाधि स्पर्श गत भौतिक सुखों को उत्पन्न करती है किन्तु वह एकान्तिक व आत्यन्तिक नहीं है - उनसे प्राप्त सुख अनिश्चित एवं स्वल्पकालिक होते हैं, अन्त में वे असमाधि-दु:ख पैदा करते हैं । कहा है - जैसे किंपाक नामक फल खाते समय बड़ा ही परितुष्टिकारक होता है किन्तु बाद में अत्यन्त दुख जनक सिद्ध होता है । उसी प्रकार सांसारिक भोग भी सेवन करते समय मन को परितुष्ट करते हैं किन्तु बाद में अत्यन्त दु:खोत्पादक होते हैं । अत: तत्वज्ञ-ज्ञानी पुरुष चतुर्विध ज्ञानादि समाधि में रत-अवस्थित रहे। अथवा आहार उपकरण कषाय का परित्याग कर द्रव्य-भावात्मक समाधि में संलग्न रहे । ऐसा कर वह दस विध प्राण विनाश से-हिंसा से विरत रहे । आत्मा को सम्यक् मार्ग में सम्यक् साधना पथ पर सुस्थिर बनाये रखे । अथवा 'ठियच्चि' पाठान्तर के अनुसार साधु विशुद्ध स्थिर लेश्यायुक्त रहे ।

❀ ❀ ❀

सव्वं जगं तू समयाणुपेही, पियमप्पियं कस्सइ णो करेज्जा ।
उट्ठाय दीणो य पुणो विसन्नो, संपूयणं चेवसिलोय कामी ॥७॥

छाया – सर्वं जगत्तु समतानुप्रेक्षी, प्रियमप्रियं कस्यचिन्न कुर्य्यात् ।
उत्थाय दीनश्च पुनर्विषण्ण: संपूजन ञ्चैव श्लोक कामी ॥

अनुवाद – साधु समग्र जगत समता से-समान भाव से देखे वह किसी का न प्रिय करे और न अप्रिय ही अथवा न किसी को प्रिय समझे और न अप्रिय ही । कई ऐसे होते हैं जो उत्थित होकर-प्रव्रज्या धारण

कर परिसहों और उपसर्गों के आने पर दीन दुर्बल हो जाते हैं और साधु जीवन का त्याग कर पतित हो जाते हैं । कई अपने संपूजन-सत्कार एवं श्लोक-यश के आकांक्षी बन जाते हैं ।

टीका – किञ्च-'सर्वं' चराचरं 'जगत' प्राणिसमूहं समतया प्रेक्षितुं शीलमस्य स समतानुप्रेक्षी समतापश्य को वा, न कश्चित्प्रियो नापि द्वेष्य इत्यर्थः, तथा चोक्तम्-"नत्थि य सि कोइ विस्सो पिओ व सव्वेसु चेव जीवेसु"- छाया - नास्ति तस्य कोऽपि द्वेष्यः प्रियश्च सर्वेषु चैव जीवेषु-तथा "जह मम ण पियं दुक्खमि' त्यादि, समतोपेतश्च न कस्यचित्प्रियमप्रियं वा कुर्यान्निःसङ्गतया विहरेद्, एं हि सम्पूर्णभाव समाधियुक्तो भवति, कश्चितु भाव समाधिना सम्यगुत्थानेनोत्थाय परीषहोपसर्गैस्तर्जितो दीनभावमुपगम्य पुनर्विषण्णो भवति विषयार्थी वा कश्चिद्गार्हस्थ्यमप्यवलम्बते रससाता गौरवगृद्धो वा पूजासत्काराभिलाषी स्यात् तदभावे दीनः सन् पार्श्वस्थादिभावेन वा विषण्णो भवति, कश्चित्तथा सम्पूजनं वस्त्रपात्रादिना प्रार्थयेत् 'श्लोककामी च' श्लाघाभिलाषी च व्याकरण गणित ज्योतिष निमित्त शास्त्राण्यधीते कश्चिदिति ॥७॥

टीकार्थ – साधु सभी चर-जंगम, अचर-स्थावर प्राणी समूहों को समतापूर्वक देखे । किसी को प्रिय-प्रीतिजनक, तथा अप्रिय-अप्रीतिजनक न माने । कहा है-समग्र प्राणियों में साधु का न कोई द्वेष्य-द्वेष करने योग्य या द्वेष का पात्र है और न कोई प्रिय-प्रीतिपात्र है । अतएव साधु यह चिंतन करता है कि जैसे मुझे दुःख प्रिय नहीं लगता उसी प्रकार दूसरे प्राणियों को भी वह प्रिय नहीं है । यों समभाव से समन्वित होकर वह न किसी का प्रिय करे और न अप्रिय ही । वरन् निःसंग-आसक्ति विवर्जित होकर विहरण करे । जो साधु इस प्रकार करता है वह सर्वथा भाव समाधियुक्त होता है किन्तु कोई पुरुष भाव समाधि से सम्यक् समुत्थित्-उत्साहित होकर-दीक्षित होकर भी परिषहों और उपसर्गों से तर्जित-आक्रान्त, व्यथित हो जाता है, दैन्य भाव अपना लेता है । विषन्न-विषादयुक्त बन जाता है । कोई विषयार्थी-सांसारिक भोग में लोलुप बन कर गृहस्थ बन जाता है अथवा रस मधुर स्वादिष्ट पदार्थ और सुख सुविधा में आसक्त होकर पूजा-प्रशस्ति एवं सत्कार का आकांक्षी हो जाता है । जब वैसा नहीं मिलता तब वही दीन-आत्मबल विहीन होता हुआ पार्श्वस्थ आदि हो जाता है । कोई वस्त्र पात्र आदि की अभ्यर्थना करता है तथा कोई अपनी शिलाधा-प्रशंसा या कीर्त्ति हेतु व्याकरण, गणित, ज्योतिष तथा निमित्त शास्त्र का अध्ययन करता है ।

❀ ❀ ❀

आहाकडं चेव निकाममीणे, नियामचारी य विसण्णमेसी ।
इत्थीसु सत्ते य पुढ़ो य बाले, परिग्गहं चेव पकुव्वमाणे ॥८॥

छाया – आधाकृतञ्चैव निकाममीणो, निकाम चारी च विषण्णेषी ।
स्त्रीषु सक्तश्च पृथक् च बालः परिग्रहञ्चैव प्रकुर्वाणः ॥

अनुवाद – जो प्रव्रजित पुरुष आधाकर्मी आहार-साधु को उद्दिष्ट कर बनाये गये भोजन की आकांक्षा करता है । उसे लेने हेतु बहुत घूमता फिरता है वह अनाचरणशील है । जो स्त्रियों में आसक्त होता हुआ उनके हाव भावों में मोहित रहता है तथा उन्हें प्राप्त करने हेतु परिग्रह-धनादि का संग्रह करता है वह अपना पाप बढ़ाता है ।

टीका – किञ्चान्यत्-साधुनाधाय-उद्दिश्य कृतं निष्पादितमाधाकर्मेत्यर्थः, तदेवम्भूतमहारोप करणादिकं निकामम्-अत्यर्थ यः प्रार्थयते स निकाममीणेत्युच्यते । तथा 'निकामम्' अत्यर्थं आधा कर्मादीनि तन्निमित्तं

निमन्त्रणादीनि वा सरति-चरति तच्छीलश्च स तथा, एवम्भूतः पार्श्वस्थावसन्नकुशीलानां संयमोद्योगे विषण्णानां विषण्णभावभेषते, सदनुष्ठान विषण्णतया संसारपङ्कावसन्नो भवतीतियावत्, अपिच 'स्त्रीषु' रमणीषु 'आसक्तः' अध्युपपन्नः पृथक् पृथक् तद्भाषितहसितदिव्वोकशरीरावयवेष्विति, बालवद् 'बाल' अज्ञः सदसद्विवेक-विकलः, तदवसक्ततया च नान्यथाद्रव्यमन्तरेण तत्सम्प्राप्तिर्भवतीत्यतो येन केनचिदुपायेन तदुपायभूतं परिग्रहमेव प्रकर्षेण कुर्वाणः पापं कर्म समुच्चिनोतीति ॥८॥

टीकार्थ – जो आहार-भोज्य पदार्थ आदि साधु को उद्दिष्ट कर निष्पादित किया जाता है उसे आधा कर्म कहते हैं। उस आधा कर्म-आहार अथवा उपकरण-उपयोगी सामग्री की जो अत्यधिक अभ्यर्थना-आकांक्षा करता है उसे निकाममीण कहा जाता है। जो आधा कर्म आहार आदि के निमित्त आमन्त्रण-आभूत किया जाना-बुलाया जाना आदि की अत्यधिक इच्छा लिये रहता है वह पुरुष संयम के उद्योग में-पालन में विषादयुक्त पार्श्वस्थ अवसन्न आदि कुशील अनाचरणयुक्त जनों के धर्म का-असत् अनुष्ठान का सेवन करता है। वह सत् अनुष्ठान में-संयम के आचरण में शिथिल होकर संसार के कीचड़ में फंस जाता है और वह स्त्रियों में आसक्त होता हुआ उनकी बोली-हंसी और हाव भाव तथा उनके शरीर के अंगों में अनुरक्त होकर बालक की ज्यों सत् असत् के विवेक से शून्य हो जाता है।

धन के बिना स्त्रियों की प्राप्ति नहीं होती। इसलिये वह जिस किसी प्रकार से परिग्रह-धन का संचय करता है वह पुरुष वैसा करता हुआ पाप का ही संचय करता है।

❀ ❀ ❀

वेराणुगिद्धे णिचयं करेति, इओ चुते स इहमट्ठदुग्गं।
तम्हा उ मेधाविसमिक्ख धम्मं, चरे मुणी सव्वउ विप्पमुक्के ॥९॥

छाया – वैरानुगृद्धो निचयं करोति, इतश्च्युतः स इद मर्थदुर्गम्।
तस्मात्तु मेधावी समीक्ष्य धर्मं चरेन्मुनिः सर्वतोविप्रमुक्तः ॥

अनुवाद – जो पुरुष प्राणियों के साथ वैर शत्रुभाव रखता है वह पाप की वृद्धि करता है। मरकर वह नरक आदि की यातनाएं भोगता है। अतः मेधावी-प्रज्ञाशील-विवेकशील मुनि धर्म का समीक्षण कर सब प्रकार के अनर्थों से पृथक रहे। संयम का पालन करे।

टीका – येन केन कर्मणा-परोपतापरूपेण वैरमनुबध्यते जन्मान्तर शतानुयायि भवति तत्र गृद्धो वैरानुगृद्धः, पाठान्तरं वा 'आरंभसत्तो' त्ति आरम्भे सावद्यानुष्ठानरूपे सक्तो-लग्नो निरनुकम्पो 'निचयं' द्रव्योपचयं तन्निमित्तापादित कर्म निचयं वा 'करोति' उपादत्ते 'स' एवम्भूत उपात्तवैरः कृतकर्मोपचय 'इतः' अस्मात्स्थानात् 'च्युतो' जन्मान्तरं गतः सन् दुःखयतीति दुःखं नरकादियातनास्थानमर्थतः-परमार्थतो दुर्गं-विषमं दुरुत्तरमुपैति, यत एवं तत्तस्मात् 'मेधावी' विवेकी मर्यादावान् वा सम्पूर्णसमाधिगुणं जानानो 'धर्मं' श्रुतचारित्राख्यं 'समीक्ष्य' आलोच्याङ्गीकृत्य 'मुनिः' साधुः 'सर्वतः' सबाह्याभ्यन्तरात्सङ्गात् 'विप्रमुक्तः' अपगतः संयमानुष्ठानं मुक्तिगमनै कहेतुभूतं 'चरेद्' अनुतिष्ठेत् स्त्यारम्भादि सङ्गाद्विप्रमुक्तोऽनिश्रितभावेन विहरेदितियावत् ॥९॥

टीकार्थ – जिन कर्मों के करने से प्राणियों को दुःख उत्पन्न होता है और उनके साथ सैंकड़ों जन्मों तक के लिये शत्रु भाव बनता है वैसे कर्म में जो आसक्त है अथवा 'आरम्भसत्तो' पाठान्तर के अनुसार जो

आरंभ-सावद्य कर्म में संलग्न हैं निरनुकंप-अनुकम्पा रहित है, ऐसे कार्य द्वारा द्रव्य का संग्रह करता है अथवा द्रव्य संग्रह हेतु कर्मों का निचय-संचय करता है, कर्म बांधता है वह प्राणियों के साथ शत्रुत्व के कारण तथा पाप संचय के कारण इस भव से च्युत होकर-मरकर जन्मांतर को प्राप्त होकर नर्क आदि में उत्पन्न होकर घोर यातना झेलता है। इसलिये मेधावी, विवेकवान्, मर्यादावान, सम्पूर्ण समाधिगुण वेत्ता साधु श्रुत तथा चारित्रमूलक धर्म की समीक्षा, आलोचना, चिन्तन, विमर्श कर उसे स्वीकार करे। वह बाहरी और भीतरी आसक्तियों का त्याग कर मोक्ष प्राप्ति के एकमात्र हेतु संयम का आचरण करे। वह स्त्री तथा आरम्भ-हिंसा आदि से विप्रमुक्त-अत्यन्त विमुक्त सर्वथा पृथक् होकर अनिश्चित भाव-अनासक्ति पूर्वक विचरण करे।

❀ ❀ ❀

आयं ण कुज्जा इह जीवियट्ठी, असज्जमाणो य परिव्वएज्जा ।
णिसम्मभासी य विणीय गिद्धिं, हिंसन्नियं वा ण कहं करेज्जा ॥१०॥

छाया – आयं न कुर्य्यादिह जीवितार्थी, असजमानश्च परिव्रजेत् ।
निशम्यभाषी च विनीय गृद्धिं हिंसान्वितां ना न कथां कुर्य्यात् ॥

अनुवाद – साधु इस संसार में जीवितार्थी चिरकाल तक जीने की इच्छा करते हुए द्रव्य का अर्जन न करे। वह आसक्ति से दूर रहता हुआ संयम में प्रवृत्त रहे। वह सुनकर, विचारकर संभाषण करे। शब्दादि विषयों में लोलुप न रहता हुआ हिंसान्वित-हिंसामूलक कथा न करे वैसा - आलाप संलाप ने करे।

टीका – किञ्चान्यत्-आगच्छतीत्यायो-द्रव्यादेर्लाभस्तन्निमित्तापादितोऽष्टप्रकारकर्मलाभो वा तम् 'इह' अस्मिन् संसारे 'असंयम जीवितार्थी' भोगप्रधानजीवितार्थीत्यर्थः, यदिवा-आजीविकाभयात् द्रव्यसञ्चयं न कुर्यात्, पाठान्तरं वा छन्दणं कुज्जा इत्यादि, छन्दः-प्रार्थनाऽभिलाष इन्द्रियाणां स्वविषयाभिलाषो वा तत् न कुर्यात् तथा 'असजमानः' सङ्गमकुर्वन गृहपुत्र-कलत्रादिषु 'परिव्रजेत्' उद्युक्त बिहारी भवेत् तथा 'गृद्धिं' गार्ध्यं विषयेषु शब्दादिषु 'विनीय' अपनाय 'निशम्य' अवगम्य पूर्वोत्तरेण पर्यालोच्य भाषको भवेत्, तदेव दर्शयति-हिंसयाप्राण्युपमर्दरुपया अन्वितां युक्तां कथां न कुर्यात्, न तत् ब्रूयात् यत्परात्मनोः उभयोर्वा बाधकं वच इति भावः तद्यथा-अश्नीत पिवत खादत मोदत हत छिन्त प्रहरत पचतेत्यादिकथां पापोपादानभूतां न कुर्यादिति ॥१०॥

टीकार्थ – जो आता है, मिलता है, उसे आय कहा जाता है। यहाँ आय शब्द द्रव्य लाभ के अर्थ में है अथवा द्रव्य लाभ के सन्दर्भ में जो अष्टविध कर्मों की प्राप्ति होती है, उसे आय कहा जाता है। साधु इस लोक मे संयममय जीवन की अभिलाषा से अथवा भोगमय जीवन जीने की कामना से आय-द्रव्य संग्रह न करे अथवा वह आजीविका के भय से-जीवन निर्वाह कैसे हो पायेगा इस आशंका से द्रव्य-धन संचित न करे। अथवा 'छंदणं कुज्जा' पाठान्तर के अनुसार साधु इन्द्रिय विषय के भोग की कामना न करे। घर, पुत्र स्त्रि आदि में अनासक्त रहता हुआ विहरण करे। वह शब्दादि भोगों से आसक्ति या लोलुपता मिटाकर आगे पीछे का चिंनत कर भाषण करे। सूत्रकार इसका दिग्दर्शन कराते हुए कहते हैं-साधु प्राणियों के उपमर्दन-व्यापादन मूलक हिंसा से युक्त कथा न करे तथा वह ऐसा वचन न बोले जो अपने तथा औरों के लिये दुः खोत्पादक हो। तथा अशन करो, पान करो, भोजन करो, प्रमोद करो, मारो, काटो, प्रहार करो, पकाओ इत्यादि के रूप में पापजनक कथा - आलाप संलाप न करे।

❀ ❀ ❀

आहाकडं वा ण णिकामएज्जा, णिकामयंते य ण संथवेज्जा ।
धुणे उरालं अणुवेहमाणे, चिच्चा ण सोयं अणवेक्खमाणो ॥११॥

छाया – आधाकृतं वा न निकामयेत्, निकामयतश्च न संस्तुयात् ।
धुनीयादुदारमनुप्रेक्षमाणः, त्यक्त्वा च शोकमनपेक्षमाणः ॥

अनुवाद – साधु आधा कर्म-औद्देशिक आहार की कामना न करे जो वैसी कामना करता है, उसके साथ संस्तव-परिचय न करे, निर्जरा हेतु शरीर का धुनन करे-तपश्चरण द्वारा उसे कृश बनाये। देह की परवाह न करता हुआ शोकातीत बन संयम का परिपालन करे ।

टीका – अपिच-साधूनाधाय कृतमाधाकृतमौद्देशिकमाधाकर्मेत्यर्थः, तदेवम्भूतमाहार जातं निश्चयेनैव 'न कामयेत्' नाभिलषेत् तथा विधाहारादिकं च 'निकामयतः' निश्चयेनाभिलषतः पार्श्वस्थादींस्तत्सम्पर्कदान-प्रतिग्रहसंवाससम्भाषणादिभिः न संस्थापयेत-नोपबृंहयेत् तैर्वा सार्धं संस्तवं न कुर्यादिति, किञ्च-'उरालं' ति औदारिकं शरीरं विकृष्टतपसा कर्मनिर्जरामनुपेक्षमाणो 'धुनीयात्' कृशं कुर्यात्, यदिवा 'उरालं' ति बहुजन्मान्तरसञ्चितं कर्म तदुदारं-मोक्षमनुपेक्षमाणो 'धुनीयाद्' अपनयेत्, तस्मिंश्च तपसा धूयमाने कृशीभवति शरीरके कदाचित् शोकः स्यात् तं त्यक्त्वा याचितोपकरणवदनुप्रेक्षमाणः शरीरकं धुनीयादिति सम्बन्धः ॥११॥

टीकार्थ – जो आहार साधु के लिये तैयार किया जाता है, उसे आधा कर्म कहेतहैं । ऐसे आहार की साधु कदापि कामना-अभिलाषा न करे । पार्श्वस्थ आदि असम्यक्त्वी मतवादी जो वैसै आहार की कामना अभिप्सा करते हैं, उनके साथ दान-देना, प्रतिग्रह-लेना, संवास-साथ रहना, संभाषण-वार्तालाप करना इत्यादि के रूप में साधु परिचय न करे, सम्पर्क न जोड़े । कर्म निर्जरण हेतु विकृष्ट-घोर तप द्वारा शरीर का धुनन करे, उसे कृश बनाये । अथवा साधु अनेक जन्म जन्मान्तरों से संचित कर्म का मोक्ष प्राप्ति के अभिप्राय से धुनन करे, नाश करे । तपश्चरण द्वारा कर्म क्षय करते हुए शरीर की कृशता हो जाने से साधु के मन में यदि उद्वेग हो तो वह याचित उपकरण की तरह-मांगकर लाई हुई वस्तु के समान जानकर उद्विग्न न बने वरन् शरीर के मैल के समान कर्मों का धुनन-अपगम या नाश करे ।

❀ ❀ ❀

एगत्तमेयं अभिपत्थएज्जा, एवं पमोक्खो न मुसंति पासं ।
एसप्पमोक्खो अमुसे वरेवि, अकोहणे सच्चरते तवस्सी ॥१२॥

छाया – एकत्वमेतदभिप्रार्थयेदेवं प्रमोक्षो न मृषेति पश्य ।
एष प्रमोक्षोऽमृषा वरोऽपि, अक्रोधनः सत्यरतस्तपस्वी ॥

अनुवाद – साधु एकत्त्व की भावना अभिप्रार्थित करे-एकत्व भावना का अनुचिन्तन करे । उसी से प्रमोक्ष-अनासक्तता प्राप्त होती है । एकत्व की भावना ही प्रमोक्ष-प्रकृष्ट या उत्तम मोक्ष है । जो इससे भावित होकर क्रोध नहीं करता, सत्य में तत्पर रहता है, तपश्चरण करता है, वही श्रेष्ठ है ।

टीका – किञ्चापेक्षेतेत्याह-एकत्वम्-असहायत्वमभिप्रार्थयेदएकत्वाध्यवसायी स्यात्, तथाहि-जन्मजरामरणरोग शोकाकुले संसारे स्वकृतकर्मणा विलुप्यमानानामसुमतां न कश्चित्त्राणसमर्थः सहायः स्यात् तथा चोक्तम् -

"एगो मे सासओ अप्पा, णाणदंसणसंजुओ । सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संयोगलक्खणा ॥१॥"

छाया - एको मे शाश्वत आत्मा ज्ञानदर्शन संयुतः । शेषा मे बाह्या भावाः सर्वे संयोग लक्षणाः ॥१॥

इत्यादि कामेकत्वभावनां भावयेद् एवमनयैकत्वभावनया प्रकर्षेण मोक्षः प्रमोक्षो-विप्रमुक्तसङ्गता, न 'मृषा' अलोकमेतद्भवतीत्येवं पश्य, एष एवैकत्वभावनाभिप्रायः प्रमोक्षोवर्तते, अमृषारूपः-सत्यश्चायमेव । तथा 'वरोऽपि' प्रधानोऽप्ययमेव भावसमाधिर्वा, यदिवा यः 'तपस्वी' तपोनिष्टप्तदेहोऽक्रोधनः, उपलक्षणार्थत्वादस्यामानो निर्मायो निर्लोभः सत्यरतश्च एष एव प्रमोक्ष 'अमृषा' सत्यो 'वरः' प्रधानश्च वर्तत इति ॥१२॥ किञ्चान्यत्-

टीकार्थ – साधु एकत्व-असहायत्व की अभिप्रार्थना करे । एकत्वभावना से अनुभावित हो, अन्य की सहायता की कामना न करे क्योंकि जन्म, वृद्धावस्था, मृत्यु, रुग्णता तथा शोक से आकुल इस जगत में स्वकृत कर्म के फलस्वरूप दुःखों से पीडित होते प्राणी को त्राण देने में, उनसे बचाने में कोई भी समर्थ नहीं है । अतएव कहा गयाहै-ज्ञान, दर्शन समायुक्त मेरी अपनी आत्मा ही शाश्वत है । सभी अवशिष्ट पदार्थ बाह्यभाव हैं, वे संयोग लक्षण हैं, संयोगवश प्राप्त है । यों साधु सदैव एकत्व की भावना भावित करे । इस एकत्व भावना के अनुभावन से प्रमोक्ष-प्रमुक्तता-समस्त आसक्तियों से उन्मुक्ति प्राप्त हो जाती है । इसमें जरा भी असत्य नहीं है, ऐसा देखो । विचार करो । एकत्व भावना का अभिप्राय-लक्ष्य मोक्ष है जो सत्य है । यही वर-प्रधान या श्रेष्ठ है । यही भाव समाधि है अथवा जो तपस्वी है जिसका शरीर तप से परितप्त है, जो क्रोध विवर्जित है, उपलक्षण से क्रोध के साथ साथ मान माया और लोभ से रहित है, सत्य में अभिरत है, वही पुरुष प्रमुक्त है । सचमुच सबसे श्रेष्ठ या प्रधान है ।

❀ ❀ ❀

इत्थीसु या आरय मेहुणाओ, परिग्गहं चेव अकुव्व माणे ।
उच्चावएसु विसएसु ताई, निस्संसयं भिक्खू समाहिपत्ते ॥१३॥

छाया – स्त्रीषुचारतमैथुनस्तु परिग्रहञ्चैवाकुर्वाणः ।
उच्चावचेषु विषयेषु त्रायी, निःसंशयं भिक्षुः समाधिं प्राप्तः ॥

अनुवाद – जो पुरुष स्त्रियों के साथ अब्रह्मचर्य सेवन नहीं करता, परिग्रह नहीं रखता, उच्चावच-ऊंचे नीचे तरह तरह के सुख भोगों में अलिप्त रहता है, जीवों का त्राण-रक्षण करता है, हिंसा नहीं करता, वह निश्चय ही समाधि को प्राप्त है ।

टीका – दिव्यमानुषतिर्यगूरुपासु त्रिविधास्वपि स्त्रीषु विषयभूतासु यत् "मैथुनम्" अब्रह्म तस्माद आ-समन्तान्नरतः-अरतो निवृत्त इत्यर्थः, तुशब्दात्प्राणातिपातादिनिवृतश्च, तथा परि-समन्ताद्गृह्यते इति परिग्रहो धनधान्यद्विपद चतुष्पदादिसंग्रह तथा आत्माऽऽत्मीयग्रहस्तं चैवाकुर्वाणः सन्नुच्चावचेषु-नानारूपेषु विषयेषु यदिवोच्चा-उत्कृष्टा अवचा-जघन्यास्तेष्वरक्तद्विष्टः 'त्रायी' अपरेषां च त्राणभूतो विशिष्टोपदेशदानतो 'निःसंशयं' निश्चयेन परमार्थतो 'भिक्षुः' साधुरेवम्भूतो मूलोत्तरगुणसमन्वितो भावसमाधिं प्राप्तो भवति, नापरः कश्चिदिति, उच्चावचेषु वा विषयेषु भाव समाधिं प्राप्तो भिक्षुर्न संश्रयं याति नानारूपान् विषयान् न संश्रयतीत्यर्थः ॥१३॥

टीकार्थ – जो देवांगना, मनुष्यांगना और तिर्यक् स्त्री रूपा-इन तीनों में अब्रह्मचर्य का सेवन नहीं करता, 'तु' शब्द द्वारा संकेतित प्राणातिपात-हिंसादि से निवृत्त रहता है, तथा जो परिग्रह-चारों ओर से जो गृहीत होता है-तन्मूलक, धन-धान्य, द्विपद, एवं चतुष्पदों का संग्रह नहीं करता है, उनमें अपना ममत्व स्थापन नहीं

करता है तथा भिन्न भिन्न प्रकार के सांसारिक सुख भोगों में लोलुप नहीं होता है, अथवा उच्चावच-उत्कृष्ट जघन्य विषयों में राग द्वेष युक्त नहीं होता है, अन्य प्राणियों का त्राण भूत होता है, वह मूल गुण तथा उत्तर गुण सम्पन्न साधु निश्चय ही भाव समाधि को प्राप्त कर लेता है, जो वैसा नहीं होता, उसे भाव समाधि प्राप्त नहीं होती । उच्चावच विषयों में भाव समाधि प्राप्त साधु विविध प्रकार के विषयों का संश्रय नहीं करता-सेवन नहीं करता ।

❀ ❀ ❀

अरइं रइं च अभिभूय भिक्खू, तणाइफासं तह सीयफासं ।
उण्हं च दंसं चऽहियासएज्जा, सुब्भिं व दुब्भिं व तितिक्खएज्जा ॥१४॥

छाया – अरतिं रतिञ्चाभिभूय भिक्षु स्तृणादिस्पर्शं तथा शीतस्पर्शम् ।
उष्णञ्च दंशञ्चाधिसहेत, सुरभिञ्चा दुरभिञ्च तितिक्षयेत् ॥

अनुवाद – साधु संयम में अरति-खिन्नता तथा असंयम में रति-अनुरक्तता का परित्याग कर तृण, सर्दी, गर्मी, डांस, मच्छर तथा सुगन्ध, दुर्गन्ध सबको सहन करे ।

टीका – विषयाननाश्रयन् कथं भावसमाधिप्त्युयादित्याह-स भावभिक्षुः परमार्थदर्शी शरीरादौ निस्पृहो मोक्षगमनैकप्रवणश्च या संयमेऽरतिरसंयमे च रतिर्वा तामभिभूयएतदधिसहेत, तद्यथा निष्किञ्चनतया तृणादिकान् स्पर्शानादिग्रहणान्निम्नोन्नतभूप्रदेशस्पर्शांश्च सम्यगधिसहेत, तथा शीतोष्णदंशमशकक्षुत्पिपासादिकान् परीषहानक्षोभ्यतया निर्जरार्थम् 'अध्यासयेद्' अधिसहेत तथा गंधंसुरभिमितरं च सम्यक् 'तितिक्षयेत्' सह्यात्, च शब्दादाक्रोशवधादिकांश्च परिषहान्मुमुक्षुस्तितिक्षयेदिति ॥१४॥

टीकार्थ – सूत्रकार यहां यह बतलाते हैं कि विषयों का सेवन न करता हुआ साधु किस तरह भाव समाधि स्वायत्त करता है । जो देह आदि में स्पृहा रहित, मोक्षगमनोद्यत होकर संयम में खिन्नता और असंयम में अनुरक्तता का परित्याग कर आगे वर्णित किये जाने वाले दुःखों को सहता है, वह भाव साधु परमार्थदर्शी है । अकिंचन-अपरिग्रही होने के कारण तृण आदि के स्पर्श तथा निम्न-नीचे, उन्नत-ऊंचे भू प्रदेश के स्पर्श को सम्यक्-भलीभांति सहन करता है, सर्दी, गर्मी, डांस, मच्छर, भूख, प्यास, आदि परीषहों को निर्जरा हेतु अक्षुब्ध होता हुआ सहन करता है । तथा सुगन्ध दुर्गन्ध आदि को बर्दाश्त करता है, 'च' शब्द से आक्रोश-तर्जन, वध-हनन प्रतिहनन आदि दुःखों को झेलता है, वही पुरुष वास्तव में मुमुक्षु है, वही सहिष्णु है ।

❀ ❀ ❀

गुत्तो वईए य समाहिपत्तो, लेसं समाहट्टु परिव्वएज्जा ।
गिहं न छाए णवि छायएज्जा, संमिस्सभावं पयहे पयासु ॥१५॥

छाया – गुप्तो वाचा च समाधिं प्राप्तो, लेश्यां समाहृत्य परिव्रजेत् ।
गृहं न छादयेन्नाऽपि छादये त्संमिश्रभावं प्रजह्यात्प्रजासु ॥

अनुवाद – जो साधु वाणी से गुप्त है - असत् वचन से परिवर्जित है, वह भाव समाधि को प्राप्त है । साधु शुद्ध लेश्या-दोष रहित अंतः परिणति स्वीकार कर परिव्रज्या का-संयम धर्म का पालन करे, वह खुद घर का छादन न करे-छत आदि न बनाये तथा अन्य द्वारा भी वैसा न करवाये । स्त्री संसर्ग का त्याग करे ।

टीका – किञ्चान्यत-वाचि वाचा वा गुप्तो वाग्गुप्तो-मौनव्रती सुपर्यालोचितधर्मसम्बन्धभाषी वेत्येवं भावसमाधिं प्राप्तो भवति, तथा शुद्धां 'लेश्यां' तेजस्यादिकां 'समाहत्य' उपादाय अशुद्धां च कृष्णादिकामपहृत्य परि-समन्तात्संयमानुष्ठाने 'व्रजेत्' गच्छेदिति, किञ्चान्यत्-गृहम्-आवसथं स्वतोऽन्येन वा न छादयेदुपलक्षणार्थत्वादस्यापरमपि गृहादेरुरगवत्परकृतबिलनिवासित्वात्संस्कारं न कुर्यात्, अन्यदपि गृहस्थकर्त्तव्यं परिजिहीर्षुराह-प्रजायन्त इति प्रजास्तासु-तद्विषये येन कृतेन सम्मिश्रभावो भवति तत्प्रजह्यात्, एतदुक्तं भवति-प्रव्रजितोऽपि सन् पचनपाचनादिकां क्रिया कुर्वन् कारयञ्च गृहस्थैः सम्मिश्रभावं भजते, यदिवा-प्रजाः-स्त्रियस्तासु ताभिर्वा य सम्मिश्रीभावस्तमविकलसंयमार्थी 'प्रजह्यात्' परित्यजेदिति ॥१५॥

टीकार्थ – जो साधु वाणी से गुप्त रहता है-मौनव्रती होता है या भलीभांति पर्यालोना कर, चिन्तन विमर्श कर धर्म विषयक बात कहता है, वह भावसमाधि को प्राप्त है, वह तेजस आदि शुद्ध लेश्याएं आत्मसात कर तथा कृष्ण आदि अशुद्ध लेश्याओं का अपहार-परिहार या त्याग कर संयम का सर्वथा आचरण करे। साधु स्वयं घर का छादन न करे तथा न दूसरे द्वारा ही वैसा करवावे। जैसे सांप अपने लिये बिल नहीं बनाता किन्तु दूसरे द्वारा बनाये बिल में निवास करता है उसी प्रकार साधु दूसरे के घर में निवास करता हुआ उसका संस्कार सज्जा सफाई आदि न करे। शास्त्रकार गृहस्थ के अन्य कार्यों का परिहार करने हेतु प्रतिपादित करते हैं। जो बार बार जन्मते हैं, उत्पन्न होते हैं, उन्हें प्रजा कहा जाता है। जिस कार्य से उनके साथ साधु का सम्मिश्र भाव-मेल जोल हो, उसे वह न करे। अथवा स्त्रियों को प्रजा कहा जाता है। अविच्छिन्न रूप में संयम का पालन करने वाला साधु उनके साथ मेल मिलाप का सम्पूर्णतः परिवर्जन करे।

❀ ❀ ❀

जे केइ लोगंमि उ अकिरिय आया, अन्नेण पुट्ठा धुयमादिसंति ।
आरंभ सत्ता गढिता य लोए, धम्मं ण जाणंति विमुक्खहेउं ॥१६॥

छाया – ये केऽपि लोकेत्वक्रियात्मानोऽन्येन पृष्टाः धुतमादिशन्ति ।
आरंभसक्ताः गृद्धाश्च लोके, धर्मं न जानन्ति विमोक्ष हेतुम् ॥

अनुवाद – इस लोक में जो यह मानते हैं कि आत्मा अक्रिय है-क्रियारहित है तथा किसी अन्य द्वारा प्रश्न किये जाने पर वे मोक्ष का आदेश-विधान करते हैं, अस्तित्व स्वीकार करते हैं। वे हिंसा आदि आरम्भ समारम्भ में संसक्त है, भोगों में लिप्त है। मोक्ष जो धर्म का कारण है, उसे वे नहीं जानते।

टीका – अपिच-ये केचन अस्मिन् लोके अक्रिय आत्मा येषामभ्युपगमे तेऽक्रियात्मानः-साङ्ख्याः, तेषां हि सर्वव्यापित्वादात्मा निष्क्रियः पठ्यते, तथा चोक्तम्-'अकर्ता निर्गुणो भोक्ता, आत्मा कपिलदर्शने'' इति तु शब्दो विशषणे, स चैतद्विशिनष्टि-अमूर्तत्वव्यापित्वाभ्यामात्मनोऽक्रियत्वमेव बुध्यते, ते चाक्रियात्मवादिनोऽन्येनाक्रियत्वे सति बन्धमोक्षौ न घटेते इत्यभिप्रायवता मोक्षसद्भावं पृष्टाः सन्तोऽक्रियावाद दर्शनेऽपि 'धूतं' मोक्षं तदभावम् (च) 'आदिशन्ति' प्रतिपादयन्ति, ते तु पचनपाचनादिके स्नानार्थं जलावगाहनरूपे वा 'आरम्भे' सावद्ये 'सक्ता' अध्युपपन्ना गृद्धास्तु लोके मोक्षैकहेतुभूतं 'धर्मं श्रुतचारित्राख्यं' 'न जानन्ति' कुमार्गग्राहिणो न सम्यगवगच्छन्तीति ॥१६॥ किञ्चान्यत् -

टीकार्थ – इस लोक में सांख्य आदि दर्शन वादी आत्मा को अक्रिय-क्रियाशून्य स्वीकार करते हैं। वे आत्मा को सर्वव्यापी मानते हैं। इसलिये उसे निष्क्रिय बतलाते हैं। कहा है-कपिलदर्शन में कपिल द्वारा

प्रणीत सांख्य सिद्धान्तानुसार आत्मा अकर्ता है । वह निर्गुण-गुणरहित है एवं भोक्ता-कर्मों के फल भोगने वाला है । यहां 'तु' शब्द विशेषण के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । वह आत्मा की विशेषता का सूचक है । सांख्यवादियों का ऐसा प्रतिपादन है कि अमूर्तत्व एवं व्यापित्व के कारण आत्मा अक्रिय है । ऐसा सिद्ध होता है । अक्रियात्मवादी सांख्य के सिद्धान्तानुसार क्रियारहित आत्मा में बंध और मोक्ष सिद्ध नहीं होते । किन्तु किसी के ऐसा पूछने पर वे अपने अक्रियावादी सिद्धान्त में भी बंध और मोक्ष होते हैं ऐसा प्रतिपादित करते हैं । सांख्यावादी पचन पाचन-भोजन पकाना, दूसरे द्वारा पकवाना, स्नान हेतु जल में अवगाहन करना-ये सब करते हैं । इस प्रकार वे आरम्भ-सावद्य कार्य में अध्युपन्न-लिप्त रहते हैं । मोक्ष के एकमात्र हेतु भूत श्रुतचारित्रमूलक धर्म को नहीं जानते । वे कुमार्ग को ग्रहण किये रहतेहैं । उन्हें धर्म का सम्यक् ज्ञान नहीं है ।

❀ ❀ ❀

पुढो य छंदा इह माणवा उ, किरियाकिरीयं च पुढो य वायं ।
जायस्स बालस्स पकुव्व देहं, पवड्ढती वेरमसंजतस्स ॥१७॥

छाया – पृथक् छंदा इह मानवास्तु, क्रियाऽक्रियं पृथग्वादम् ।
जातस्य बालस्य प्रकृत्य देहं, प्रवर्धते वैरमसंयतस्य ॥

अनुवाद – मनुष्यों की भिन्न-भिन्न प्रकार की अभिरूचि या पसंद होती है । अतएव कई क्रियावाद और कई अक्रियावाद में विश्वास करते हैं । कई ऐसे हैं जो सद्य जात बालक की देह को काटकर सुखानुभव करते हैं । असंयत पुरुष अपने कृत्यों द्वारा प्राणियों के साथ वैर की वृद्धि करता है ।

टीका – पृथक् नाना छंदः-अभिप्रायो येषां ते पृथक्छंदा 'इह' अस्मिन्मनुष्यलोके 'मानवा' मनुष्याः तुरवधारणे, तमेव नानाभिप्रायमाह-क्रियाऽक्रिययोः पृथक्त्वेन क्रियावादमक्रियावादं च समाश्रिताः, तद्यथा-

''क्रियेव फलदा पुंसां, न ज्ञानं फलदं मतम् । यतः स्त्रीभक्ष्यभोगज्ञो, न ज्ञानात्सुखितो भवेत ॥१॥''

इत्येवं क्रियैवफलदायित्वेनाभ्युपगता, क्रियावादमाश्रिताः एवमेतद्विपर्ययेणाक्रिया वादमाश्रिताः, एतयोश्चोत्तरत्र स्वरूपं न्यक्षेण वक्ष्यते, ते च नानाभिप्राया मानवाः क्रियाक्रियादिकं पृथग्वादमाश्रिता मोक्ष हेतुं धर्ममजानाना आरम्भेषु सक्ता इंद्रियवशगा रससातागौरवाभिलाषिण एतत्कुर्वन्ति, तद्यथा-'जातस्य' उत्पन्नस्य 'बालस्य' अज्ञस्य सदसद्विवेकविकलस्य सुखैषिणो 'देहं' शरीरं 'पकुव्व' त्ति खण्डशः कृत्वाऽऽत्मनः सुखमुत्पादयन्ति, तदेवं परापघातक्रियां कुर्वतोऽसंयतस्य कुतोऽप्यनिवृत्तस्य जन्मान्तरशतानुबन्धि बैरं परस्परोपमर्दकारि प्रकर्षेण वर्धते, पाठान्तरं वा-जायाएँ बालस्स पगब्भणाये-'बालस्य' अज्ञस्य हिंसादिषु कर्मसु प्रवृत्तस्य निरनुकम्पस्य या जाता 'प्रगल्भता' धाष्टर्य तया वैरमेव प्रवर्धत इति सम्बन्धः ॥१७॥

टीकार्थ – यह मनुष्य लोक ऐसा है, जिसमें भिन्न-भिन्न मनुष्यों की अपनी भिन्न-भिन्न रुचियां होती है । यहां 'तु' शब्द अवधारणा के अर्थ में आया है । सूत्रकार भिन्न भिन्न रुचियों का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं-क्रिया एवं अक्रिया पृथक् पृथक् हैं-भिन्न भिन्न है । अतः कई क्रियावाद में विश्वास करते हैं तथा कई अक्रियावाद में । क्रियावादियों का कथन है कि मनुष्यों के लिये क्रिया ही फलप्रद होती है क्योंकि स्त्री और खाने योग्य पदार्थों को जानने मात्र से क्या पुरुष उनका सुख अनुभव कर सकता है । इस प्रकार क्रिया ही फलप्रदा है । ऐसा मानते हुए वे क्रियावाद पर आश्रित हैं-टिके हुए हैं । इससे प्रतिकूल अक्रियावादी क्रिया

को निरर्थक बतलाते हैं । आगे इनके स्वरूप का विशद विश्लेषण किया जायगा । कहने का तात्पर्य यह है कि भिन्न-भिन्न अभिप्राय युक्त मनुष्य यथा रुचि क्रियावाद तथा अक्रियावाद का आश्रय लिये हुए हैं-उन पर टिके हुए हैं । धर्म जो मोक्ष का कारण है, उसे वे नहीं जानते । वे हिंसा आदि आरम्भों से प्रलिप्त तथा इन्द्रियों के अधीन होकर रस-स्वादिष्ट पदार्थ सुख-सुविधा आदि के अभिलाषी ऐसा-यहां तक करते हैं कि अज्ञ-ज्ञानरहित या भोले सद् असद् विवेक से वर्जित सुखाभिलाषी सद्य उत्पन्न शिशु के शरीर को टुकड़े-टुकड़े कर अपने लिये सुख मानते हैं। इस प्रकार जो दूसरों के लिये उपघात क्रिया-पीडोत्पादक क्रिया करता है, असंयत है, पाप से अनिवृत्त है वह प्राणियों के साथ सैंकड़ों जन्मों तक चलने वाले पारस्परिक उपमर्दन कारक-विनाशकारक शत्रु भाव का संवर्द्धन करता है । यहां 'जायाए बालस्स पगब्भणाए,' ऐसा पाठान्तर प्राप्त होता है । उसका अभिप्राय है कि हिंसादि कर्मों में प्रवृत्त-निरनुकम्प-अनुकम्पारहित निर्दय अज्ञ जीव की जो प्रगल्भता है- हिंसामूलक धृष्टता है । उससे प्राणियों के साथ उसका शत्रुभाव प्रवर्धित होता है ।

❀ ❀ ❀

आउक्खयं चेव अबुज्झमाणे, ममाति से साहसकारि मंदे ।
अहो य राओ परितप्पमाणे, अट्ठेसु मूढे अजरामरेव्व ॥१८॥

छाया – आयुःक्षयं चैवाबुध्यमानः, ममत्ववान् स साहसकारिमंदः ।
अहनि च रात्रौ च परितप्यमानः, अर्थेषु मूढोऽजरामर इव ॥

अनुवाद – वैसा-उपर्युक्त कोटि का आरंभ से संसक्त प्राणी यह नहीं जानता कि उसकी आयु क्षीण होती जा रही है । पदार्थों में उसका ममत्व बना रहता है । वह पाप करते डरता नहीं । वह अपने को अजर-वृद्धत्व रहित तथा अमर-मृत्यु रहित मानता हुआ अहर्निश धन की चिन्ता में परितप्त रहता है ।

टीका – अपिच-आयुषो-जीवनलक्षणस्य क्षय आयुष्कक्षयस्तमारभ्यप्रवृत्तः छिन्नह्रदमत्स्यवदुदकक्षये सति अबुध्यमानोऽतीव 'ममाइ' त्ति ममत्ववान् इदं मे अहमस्य स्वामीत्येवं स मन्दः अज्ञः साहसं कर्तुं शीलमस्येति साहसकारीति, तद्यथाकश्चिद्वणिग् महता क्लेशेन महार्घाणि रत्नानि समासाद्योज्जयिन्या बहिरावासितः, स च राज चौरदायादभयाद्रात्रौ रत्नान्येवमेवं च प्रवेशयिष्यामीत्येवं पर्यालोचना कुलो रजनीक्षयं न ज्ञातवान्, अहन्येव रत्नानि प्रवेशयन् राजपुरुषै रत्नेभ्यश्च्यावित इति, एवमन्योऽपि किंकर्त्तव्यताकुलःस्वायुषःक्षयमबुध्यमानःपरिग्रहेप्यारम्भेषु च प्रवर्तमानः साहसकारी स्यादिति, तथा कामभोगतृषितोऽह्नि रात्रौ च परि समन्तात् द्रव्यार्थी परितप्यमानो मम्मणवणिग्वदार्तध्यायी कायेनापि क्लिश्यते, तथा चोक्तम् -

"अजरामरवद्बालः, क्लिश्यते धनकाम्यया । शाश्वतं जीवितं चैव, मन्यमानोधनानि च ॥१॥" तदेवमार्तध्यानोपहतः 'कइया वच्चइ सत्थो ? किं भंडं कत्थ कित्तिया भूमी' त्यादि, छाया - कदा व्रजति सार्थः किं भाण्डं क्व च कियती भूमिः । तथा 'उक्खणइ खणइ णिहणह रतिं न सुयइ दियावि य संसको' छाया - उत्खनित खनति निहन्ति रात्रौ न स्वपिति दिवापि च सशंकः । इत्यादि चित्तसंक्लेशात्सुष्ठु मूढोऽजरामरवणिग्वदजरामरवदात्मानं मन्यमानोऽपगतशुभाद्यवसायोऽहर्निशमारम्भे प्रवर्तत इति ॥१८॥

टीकार्थ – हिंसादी आरम्भ में तत्पर जीव यह नहीं जानता कि उसकी आयु क्षीण होती जा रही है। वह उस मछली की ज्यों है, जो सरोवर का बांध टूट जाने पर भी उससे बाहर निकलते जल को नहीं जानती।

वह ममत्त्ववान् प्राणी अमुक वस्तु मेरी है, मैं उसका स्वामी हूँ । इस प्रकार आसक्त होता हुआ दुस्साहस पूर्ण-अनुचित साहसयुक्त कार्य करता है । इस संबंध में एक दृष्टान्त है - कोई वणिक अत्यन्त कष्ट सहकर बहुमूल्य रत्न अर्जित कर उज्जैनी नगरी के बाहर ठहरा । वह रात भर चिन्तन करता रहा कि कहीं ऐसा न हो कि मेरे रत्नों को राजा, चोर आदि तथा पारिवारिक जन ही ले ले । इसलिये इन रत्नों को मैं इस प्रकार सुरक्षित रखूं, यों सोचते-सोचते समग्र रात्रि व्यतीत हो गई । उसने यह नहीं जाना कि रात बीत रही है । बाद में दिन में-दिन उग जाने पर अपने रत्नों को किसी गुप्त स्थान पर छिपाने लगा । राजपुरुषों ने उसे देख लिया और उससे रत्न हथिया लिये । उसी प्रकार एक व्यक्ति किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर-मैं क्या करूं ? यह सोचता सोचता अपनी आयु क्षय को नहीं जानता । वह परिग्रह तथा आरंभ में प्रवृत्त होता हुआ दुस्साहस-पाप कार्य करता है । वह काम भोग में तृषित-लुब्ध रहता हुआ रात-दिन धन की चाह में संलग्न परितप्यमान मम्मण वणिक की तरह आर्त्त ध्यान करता है । शरीर को कष्ट देता है । कहा है- अज्ञ जीव अपने को अजर-अमर मानता हुआ-मैं न कभी वृद्ध हूंगा और न कभी मरूंगा । यह सोचता हुआ धन की कामना से कष्ट भोगता है । वह यह सोचता है कि मेरा जीवन तथा धन शाश्वत रहेगा । यों आर्त्त ध्यान से उपहत होता हुआ वह सोचता है कि सार्थ-व्यापारियों का संघ या समुदाय कब निकलेगा - यहाँ से कब निकलेगा । इसमें क्या-क्या माल भरा है। यह कितनी दूर जायेगा । वह अपने धन की सुरक्षा हेतु कभी पर्वत आदि ऊंचे स्थानों को खोदता है, कभी भूमि को खोदता है, कभी और किसी स्थान को देखता है । रात में सो तक नहीं पाता । दिन में भी सशंक रहता है । इस प्रकार चैतासिक संक्लेश-पीड़ा से मूढ़ बना हुआ वह पुरुष अजरामर नामक वणिक की ज्यों अपने को अजर-अमर मानता हुआ शुभ अध्यवसाय-पवित्र परिणामों से रहित होकर रात दिन हिंसा आदि आरम्भ में प्रवृत्त रहता है ।

❀ ❀ ❀

जहाहि वित्तं पसवो य सव्वं, जे बंधवा जे य पिया य मित्ता ।
लालप्पती सेऽवि य एइ मोहं, अन्ने जणा तंसि हरंति वित्तं ॥१९॥

छाया – जहाहि वितञ्च पशूँश्च सर्वान्, ये बांधवा ये च प्रियाश्च मित्राणि ।
लालप्यते सोऽपि चैति मोहमन्ये जनास्तस्य हरन्ति वित्तम ॥

अनुवाद – वित्त-धन सम्पत्ति तथा पशु आदि समस्त पदार्थों का परित्याग करो । पारिवारिक जन तथा प्रीतियुक्त मित्रगण कुछ भी उपकार नहीं करते । तो भी मनुष्य इनके लिये विलाप करता है-रोता है तथा मोहसक्त होता है । जब वह प्राणी मृत्युगामी हो जाता है तब दूसरे लोग उसके अर्जित धन का हरण कर लेते है-उस पर अधिकार कर लेते हैं ।

टीका – किञ्चान्यत् - 'वित्तं' द्रव्यजातं तथा 'पशवो' गोमहिष्यादयस्यान् सर्वान् 'जहाहि' परित्यज-तेषुममत्वं मा कृथाः, ये 'बान्धवा' मातापित्रादयः श्वसुरादयाश्च पूर्वापरसंस्तुता ये च प्रिया 'मित्राणि' सहपांसुक्रीडितादयस्ते एते मातापित्रादयो न किञ्चित्तस्य परमार्थतः कुर्वन्ति, सोऽति च वित्तपशुबांधव मित्रार्थी अत्यर्थं पुनः पुनर्वा लपति लालप्यते, तद्यथा-हे मात ! हे पितरित्येवं तदर्थं शोकाकुलः प्रलपति, तदर्जनपरश्च मोहमुपैति, रूपवानपि कण्डरीकवत् धनवानपि मम्मणवणिग्वत् धान्यवानपि तिलक श्रेष्ठिवद् इत्येवमसावप्यसमाधिमान् मुह्यते (ति), यच्च तेन महता क्लेशेनापरप्राण्युपमर्देनोपार्जितं वित्तं तदन्ये जनाः 'से' तस्यापहरन्ति जीवत एव मृतस्य वा तस्य च क्लेश एव केवलं पापबंध श्चेत्येवं मत्वा पापानि कर्माणि परित्यजेत्तपश्चरेदिति ॥१९॥

टीकार्थ – द्रव्यजात-विविध प्रकार के धन वैभव का तथा गाय भैंस आदि पशुधन का परित्याग कर दो । उनमें ममत्व-ये मेरे हैं ऐसा भाव मत रखो ! माता पिता आदि जो पूर्व परिचित या सम्बद्ध है तथा श्वसुर आदि पश्चात् परिचित या संबद्ध है-ये पारिवारिक जन तथा वे बालमित्र-जो शैशव में एक साथ मिट्टी में खेले हों, कुछ भी उपकार नहीं कर सकते किन्तु स्थिति यह है कि मनुष्य धन पशु पारिवारिक जन तथा मित्रवृन्द के लिये पुनः पुनः रोता है । हाय माता ! हाय पिता इत्यादि प्रलाप करता हुआ उनके लिये शोकाकुल होताहै। उनके लिये धनार्जन करता हुआ मोहमूढ़ बना रहता है । कण्डरीक के समान सुरुप तथा मम्मण वणिक की तरह धन सम्पन्न एवं तिलक श्रेष्ठी की तरह धान्यादि समृद्धियुक्त पुरुष भी समाधि के बिना मोहग्रस्त बना रहता है अत्यन्त कष्टपूर्वक अपर प्राणियों के उपमर्दन-हिंसादि द्वारा जो उसने धनार्जन किया उसे उसके जीते जी अथवा मृत्यु प्राप्त हो जाने पर अन्य लोग हरण कर लेते हैं । उसको केवल कष्ट ही मिलता है तथा कर्मबंध ही होता है । मनुष्य यह जानकर पाप पूर्ण कार्यों का परित्याग करे तथा तपश्चरण करे ।

❀ ❀ ❀

सीहं जहा खुड्डमिगा चरंता, दूरे चरंती परिसंकमाणा ।
एवं तु मेहावि समिक्ख धम्मं, दूरेण पावं परिवज्जएज्जा ॥२०॥

छाया – सिंहं यथा क्षुद्रमृगाश्चरन्तो दूरे चरंति परिशङ्कमानाः ।
एवं तु मेधावी समीक्ष्य धर्मं दूरेण पापं परिवर्जयेत् ॥

अनुवाद – जैसे हिरण आदि क्षुद्र प्राणी-छोटे छोटे जीव सिंह की शंका से दूर ही विचरण करते हैं उसी प्रकार मेधावी-प्रज्ञाशील पुरुष धर्म की समीक्षा कर पाप को दूर से परिवर्जित करे ।

टीका – तपश्चरणो पाय मधिकृत्याह-यथा 'क्षुद्रमृगा' क्षुद्राटव्यपशवो हरिणजात्याद्याः 'चरन्तः' अटव्यामटन्तः सर्वतो विभ्यतः परिशंकमानाः सिंह व्याघ्रं वा आत्मोपद्रवकारिणं दूरेण परिहृत्य 'चरन्ति' 'विहरन्ति, एवं 'मेधावी' मर्यादावान्, तुर्विशेषणे, सुतरां धर्मं 'समीक्ष्य' पर्यालोच्य 'पापं' कर्म असदनुष्ठानं दूरेण मनोवाक्कायकर्मभिः परिहृत्य परि-समन्ताद्वजेत् संयमानुष्ठानी तपश्चारी च भवेदिति, दूरेण वा पापं-पापहेतु त्वात्सावद्यानुष्ठानं सिंह मिव मृगः स्वहितमिच्छन् परिवर्जयेत-परित्यजेदिति ॥२०॥ अपिच.

टीकार्थ – सूत्रकार तपश्चरण के उपाय के सम्बन्ध में कहते हैं – जैसे मृग आदि छोटे-छोटे वन के जन्तु वहां विचरते हुए सिंह की शंका से भयभीत होते हुए आत्मोपद्रवकारी-अपने को नुकसान पहुंचाने वाले शेर या बाघ को दूर से ही छोड़कर अर्थात् जहाँ उनके होने की आशंका होती है उस स्थान को परिवर्जित कर दूर ही घूमते हैं उसी प्रकार मर्यादावान-संयम की मर्यादा में अवस्थित मेधावी मुनि धर्म का पर्यालोचन कर मन, वचन एवं शरीर से पाप का दूर से ही वर्जन कर संयम एवं तपश्चरण में लीन रहे अथवा जैसे अपना हित चाहने वाला मृग सिंह को दूर ही छोड़ देता है – उसके स्थान का दूर से ही परित्याग करता है उसी प्रकार आत्म कल्याण चाहने वाला पुरुष पाप का हेतु होने के कारण सावद्य कार्य का दूर से ही परित्याग करे।

❀ ❀ ❀

संबुज्झमाणे उ णरे मतीयं, पावाउ अप्पाण निवट्टएज्जा ।
हिंसप्पसूयाइं दुहाइं मत्ता, वेराणुबंधीणि महब्भयाणि ॥२१॥

छाया – संबुध्यमानस्तु नरो मतिमान् पापात्वात्मानं निवर्तयेत् ।
हिंसा प्रसूतानि दुःखानि मत्त्वा वैरानुबन्धीनि महाभयानि ॥

अनुवाद – मतिमान-प्रज्ञाशील, धर्मतत्त्व वेत्ता पुरुष हिंस-हिंसा प्रसूत कर्म बैर का अनुबन्धन करने वाले हैं, अत्यंत भयप्रद तथा दुःखोत्पादक है-यह जानकर पाप से आत्मनिवृत्त रखे ।

टीका – मननं मतिः सा शोभना यस्यास्त्यसौ मतिमान, प्रशंसायां मतुप्, तदेवं शोभनमतियुक्तो मुमुक्षुर्नरः सम्यक्श्रुतचारित्राख्यं धर्मं भावसमाधिं वा 'बुध्यमानस्तु' विहितानुष्ठाने प्रवृत्तिं कुर्वाणस्तु पूर्वं तावन्निषिद्धाचरणान्निवर्तेत अतस्तत् दर्शयति-'पापात्' हिंसानृतादि रूपात्कर्मण आत्मानं-निवर्तयेत् निदानोच्छेदेन हि निदानिन उच्छेदो-भवतीत्यतोऽशेषकर्मक्षयमिच्छन्नादावेव आश्रवद्वाराणि निरुन्ध्यादित्यभिप्रायः, किं चान्यत्-हिंसा-प्राणिव्यपरोपणं तया ततो वा प्रसूतानि-जातानि यान्यशुभानि कर्माणि तान्यत्यन्तं नरकादिषु यातनास्थानेषु दुःखानि-दुःखोत्पादकानि वर्तन्ते, तथा वैरमनुबन्धन्ति तच्छीलानि च बैरानुबन्धीनी-जन्मशत सहस्रदुर्मोचानि, अत एव महद्भयं येभ्यः सकाशात्तानि महाभयानीति, एवं च मत्वा मतिमानात्मानं पापान्निवर्तयेदिति, पाठान्तरं वा 'निव्वाणभूए व परिव्वएज्जा' अस्यायमर्थः-यथा हि निवृतो निर्व्यापारत्वात्कस्यचिदुपघाते न वर्तते एवं साधुरपि सावद्यानुष्ठानरहितः परिसमन्ताद् व्रजेदिति ॥२१॥

टीकार्थ – मतिमान उसे कहा जाता है जिसकी बुद्धिशोभन-उत्तम या प्रशंसनीय होती है । मतिमान पद में व्याकरण के अनुसार प्रशंसा के अर्थ में 'मतुप्' प्रत्यय का प्रयोग हुआ है । शोभनमतियुक्त-उत्तम प्रज्ञाशील मोक्षाभिलाषी पुरुष सम्यक्श्रुत अथवा चारित्रमूलक धर्म को या भावसमाधि को समझता हुआ शास्त्रों में जिन कर्मों के करने का विधान किया गया है, उनमें प्रवृत्ति करे तथा शास्त्रों में जिनकर्मों का प्रतिषेध किया गया हो, उनका परिवर्जन करे । सूत्रकार इस संबंध में दिग्दर्शन कराते हुए कहते हैं-प्रज्ञाशील पुरुष हिंसा अनृत-असत्य आदि कर्मों से पहले अपने आप को निवृत करे क्योंकि निदान-कारण के उच्छेद-नाश से ही कार्य का उच्छेद होता है । अतः जो पुरुष समस्त कर्मों का क्षय चाहता है, वह आश्रव के द्वारों का अवरोध करे, सूत्रकार का ऐसा अभिप्राय है । प्राणियों के प्राण व्यप-रोपण हिंसा से जो अशुभ कर्म-पाप उत्पन्न होते हैं वे जीव को नरक आदि यातनापूर्ण-घोर दुःखप्रद स्थानों में ले जाते हैं तथा सैंकड़ों हजारों वर्षों तक नहीं छूटने वाले बैर का अनुबन्ध करते हैं। अतएव वे अत्यन्त भयप्रद हैं । यह मानकर-जानकर मेधावी पुरुष अपने आपका पाप कर्मों से निवर्तन करे । यहां 'निव्वाण भूव्व परिवएज्जा' ऐसा पाठ भी प्राप्त होता है । इसका अभिप्राय यह है कि युद्ध से लौटा हुआ पुरुष निर्व्यापार-युद्ध कार्य से रहित होकर फिर किसी के उपघात-हिंसा में वर्तनशील नहीं होता-किसी प्रकार की हिंसा नहीं करता, उसी प्रकार सावद्य अनुष्ठान से-पापपूर्ण कार्यों से विवर्जित पुरुष संयम के पथ पर गतिशील रहे ।

❀ ❀ ❀

मुसं न बूया मुणि अत्तगामी, णिव्वाणमेयं कसिणं समाहिं ।
सयं न कुज्जा नय कारवेज्जा, करंतमन्नपि य णाणुजाणे ॥२२॥

छाया – मृषा न ब्रूयान्मुनिरात्मगामी, निर्वाणमेतत्कृत्स्नं समाधिम् ।
स्वयं न कुर्य्यान्न च कारये त्कुर्वन्तमन्यमपि च नानुजानीयात् ॥

अनुवाद – आप्तगामी-सर्वज्ञ प्ररूपित पथ पर गमनशील साधु असत्य भाषण न करे । असत्य का सर्वथा परित्याग, सम्पूर्ण समाधि या मोक्षकहा गया है । इसी प्रकार वह असत्यादि का न स्वयं सेवन करे, न दूसरे द्वारा करवाये तथा न वैसा करने वाले का अनुमोदन ही करे ।

टीका - तथा आप्तो-मोक्षमार्गस्तद्गामी-तद्गमनशील आत्महितगामी वा आप्तो वा प्रक्षीणदोषः सर्वज्ञस्त दुपदिष्टमार्गगामी 'मुनिः' साधुः 'मृषावादम्' अनृतमयथार्थं न ब्रूयात् सत्यमपि प्राण्युपघातकमिति, 'एतदेव' मृषावादवर्जनं 'कृत्स्नं' सम्पूर्णं भाव समाधि निर्वाणं चाहुः सांसारिका हि समाधयः स्नानभोजनादिजनिताः शब्दादिविषयसंपादिता वा अनैकान्तिकानात्यन्तिकत्वेन दुःख प्रतीकाररूपत्वेन वा असंपूर्णा वर्तन्ते । तदेवं मृषावादमेन्येषां वा व्रतानामतिचारं स्वयमात्मना न कुर्यान्नाप्येण कारयेत्तथा कुर्वन्तमप्यपरं मनोवाक्कायकर्मभिर्नानुमन्येत इति ॥२२॥

टीकार्थ – मोक्ष के मार्ग को आप्त कहा जाता है । उस पर चलने वाला आप्तगामी या आत्महितगामी कहा जाता है । अथवा जिसके राग, द्वेष, क्रोध, मान आदि दोष नष्ट हो गये हैं, उसे आप्त कहा जाता है। वह सर्वज्ञ है । उन द्वारा उपदिष्ट मार्ग पर चलने वाला पुरुष आप्तगामी कहा जाता है । वैसा आप्तगामी साधु मृषावाद-असत्य या अयथा जो जैसा नहीं हो वैसा भाषण न करे । सत्य होते हुए भी जिस वचन द्वारा प्राणियों का उपघात-बध, पीडा आदि हो वैसा सत्य भी न बोले । असत्य का वर्जन ही समग्रभाव समाधि और मोक्ष है-ऐसा ज्ञानी जन कहतेहैं । स्नान, भोजन आदि तथा शब्द आदि अनुकूल एवं प्रिय विषयों के सेवन से जो सांसारिक-भौतिक समाधि उत्पन्न होती है वह अनेकान्तिक-अनिश्चित है तथा अनात्यन्तिक-आत्यन्तिक नही है-सम्पूर्णतायुक्त नहीं है, वह मात्र दुःख प्रतिकारात्मक है । इसलिये असम्पूर्ण है । अतः साधु असत्य भाषण अथवा अन्य व्रतों के अतिचार का-विरुद्धाचरण का स्वयं सेवन न करे, औरों से भी वैसा न कराये तथा सेवन करते हुए व्यक्ति का मानसिक, वाचिक एवं कायिक कर्म द्वारा अनुमोदन-समर्थन न करे ।

❀ ❀ ❀

सुद्धे सिया जाए न दूसएज्जा, अमुच्छिए णय अज्झोववन्ने ।
धितिमं विमुक्के णय पूयणट्ठी, न सिलोयगामी य परिव्वएज्जा ॥२३॥

छाया – शुद्धेस्याज्जाते न दूषयेत्, अमूर्च्छितो न चाध्युपपन्नः ।
धृतिमान् विमुक्तो न च श्लोकगामी च परिव्रजेत् ॥

अनुवाद – शुद्ध-उद्गम आदि दोष रहित भोजन प्राप्त होने पर साधु राग आदि द्वारा अपने चारित्र को दूषित न करे । उत्तम भोजन में लोलुप न बने और न उसकी अभिलाषा ही करे । साधु धृतिमान-धैर्यशील तथा विमुक्त-परिग्रह से मुक्त रहे । वह अपनी पूजा सत्कार तथा यश की कामना न करे । अपने प्रव्रजित जीवन का-शुद्ध संयम का पालन करे ।

टीका – उत्तरगुणानधिकृत्याह-उद्गमोत्पादनैषाणाभिः 'शुद्धे' निर्दोषे 'स्यात' कदाचित् 'जाते' प्राप्ते पिण्डे सति साधू रागद्वेषाभ्यां न दूषयेत्, उक्तं च - "बायालीसे सणसंकडंमि गहणंमि जीव! नहु छलिओ। इण्हिं जह न छलिज्जसि भुंजंतो रागदोसेहिं ॥१॥" छाया - द्विचत्वारिंशदेषणादोषसंकटे गहने जीव ! नैव छलितः । इदानीं यदि न छल्यसे भुञ्जन् रागद्वेषाभ्या (तदासफलं तत्) ॥१॥

तत्रापि रागस्य प्राधान्यख्यापनायाह-नमूर्छितोऽमूर्छितः-सकृदपि शोभनाहारलाभे सति गृद्धिमकुर्वन्नाहारयति, तथा अनध्युपपन्नस्तमेवाहारं पौनःपुन्येनानभिलषमाणः केवलं संयमयात्रापालनार्थमाहारमाहारयेत्, प्रायो विदितवेद्यस्यापि विशिष्टाहारसन्निधावभिलाषातिरेको जायत इत्यतोऽमूर्छितोऽनध्युपपन्न इति च प्रतिषेधद्वयमुक्तम्, उक्तं च

भुत्तभोगो पुरा जोऽवि, गीयत्थोऽवि व भाविओ । संतेसाहारमाईसु, सोऽवि खिप्पं तु खुब्भइ ॥१॥

छाया - भुक्तभोगः पुरायोपि गीतार्थोऽपि च भावितः सत्स्वाहारादिषु सोऽपि क्षिप्रमेव क्षुभ्यति ॥१॥ तथा संयमे धृतिर्यस्यासौ धृतिमान् तथा सबाह्याभ्यन्तरेण ग्रन्थेन विमुक्तः तथा पूजनं वस्त्रपात्रादिना तेनार्थः पूजनार्थः स विद्यते यस्यासौ पूजनार्थी तदेवंभूतो न भवेत्, तथा श्लोकः-श्लाघा कीर्तिं स्तद्गामी न तदभिलाषुकः परिव्रजेदिति, कीर्त्यर्थी न काञ्चन क्रियां कुर्यादित्यर्थः ॥२३॥

टीकार्थ – सूत्रकार अब उत्तर गुणों को उदिष्ट कर कहते हैं - यदि साधु को उद्गम, उत्पादन तथा एषणा इन दोषों से वर्जित-दोष रहित भोजन प्राप्त हो तो वह राग द्वेष द्वारा अपने चारित्र को दूषित न बनावे । कहा गया है हे प्राणी ! बयालीस दोष रूप गहन संकट में तुम नहीं छले गये - तुमने धोखा नहीं खाया किन्तु अब यदि तुम भोजन करते समय नहीं छले जाओगे, धोखा नहीं खाओगे तब तुम सफल हो । वहां भी राग तथा द्वेष के बीच राग मुख्य है, यह निरूपित करने हेतु सूत्रकार बतलाते हैं - साधु शोभन-उत्तम स्वादिष्ट भोजन मिलने पर उसमें जरा भी मूर्छित-आसक्त न रहता हुआ आहार करे । पुनः पुनः वही भोजन मिले ऐसी अभिलाषा न करे किन्तु संयम यात्रा के पालन हेतु ही वह आहार का सेवन करे । विशिष्ट-श्रेष्ठ आहार मिलने पर प्रायः विज्ञ पुरुष के मन में भी तीव्र अभिलाषा जाग उठती है । इसलिये दो बार उसका प्रतिषेध किया गया है । कहा है जो भुक्त भोगी है-जिसने पहले भोग भोगे हैं, गीतार्थ है-शास्त्रों का गहन अध्येता है तथा सदा आत्मानुभावित है, वह पुरुष भी उत्तम भोजन मिलने पर शीघ्र ही उसका आकांक्षी हो जाता है । साधु संयम में धृतिमान-धैर्यशील-सुस्थिर रहे । वह बाहरी तथा भीतरी परिग्रह से मुक्त रहे । वह वस्त्र पात्र आदि द्वारा अपनी पूजा, सत्कार का अभिलाषी न बने एवं वह प्रशंसा और यशस्विता का इच्छुक भी न बने । वही कीर्ति-बढ़ाई हेतु कोई क्रिया प्रयत्न न करे ।

❀ ❀ ❀

निक्खम्म गेहा उ निरावकंखी, कायं विउसेज्ज नियाण छिन्ने ।
णो जीवियं णो मरणाभिकंखी, चरेज्ज भिक्खू वलया विमुक्के ॥२४॥त्तिबेमि ॥

छाया – निष्क्रम्य गेहात्तु निरवकांक्षी कायं व्युत्सृजेच्छिन्ननिदानः ।
नो जीवितं नो मरणमवकाङ्क्षी, चरेद्भिक्षुर्वलयाद् विमुक्तः ॥इति ब्रवीमि॥

अनुवाद – गृह से निष्क्रान्त-घर छोड़कर दीक्षित साधु अपने जीवन से निरवकांक्षी-आकांक्षा रहित निरपेक्ष होकर अपने शरीर का व्युत्सर्जन करे । उस पर मोह-ममत्व न रखे । वह अपने तपश्चरण के फल की कामना भी न करे । इस प्रकार वह जीवन तथा मृत्यु की आकांक्षा से विमुक्त होकर सांसारिक चक्र से पृथक् रहता हुआ संयम के अनुष्ठान में उद्यमशील रहे ।

टीका – अध्ययनार्थमुपसंजिघृक्षुराह-गेहान्निःसृत्य 'निष्क्रम्य च' प्रव्रजितोऽपि भूत्वा जीवितेऽपि निराकांक्षी 'कायं' शरीरं व्युत्सृज्य निष्प्रतिकर्मतया चिकित्सादिकमकुर्वन् छिन्ननिदानो भवेत्, तथा न जीवितं नापि मरणमभिकाङ्क्षेत्

'भिक्षुः' साधुः 'वलयात्' संसारवलयात्कर्मबन्धनाद्वा विप्रमुक्तः संयमानुष्ठानं चरेत्, इतिः परिसमाप्त्यर्थे, ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥२४॥

॥ इति समाध्याख्यं दशममध्ययनं समाप्तं ॥

टीकार्थ – इस अध्ययन में प्रतिपादित विषय का उपसंहार करते हुए सूत्रकार कहते हैं-जो पुरुष गृह से निष्क्रान्त होकर साधु बन गया हो वह जीवन में निराकांक्ष-आकांक्षा रहित रहे । देह का मोह छोड़कर उसकी सज्जा, सजावट तथा दवा, दारू आदि न करता हुआ छिन्न निदान बने । निदान का-जन्म मरण के कारण का छेदन करे-उसे नष्ट करे । वह न जीने की कामना करे और न मरने की। वह संसार वलय-संसार चक्र या कर्म बंध से विमुक्त होकर संयम के अनुष्ठान में संलग्न रहे ।

यहां इति शब्द परिसमाप्ति का द्योतक है । ब्रवीमि-बोलता हूँ यह पूर्ववत् हैं ।

'समाधि' नामक दसवां अध्ययन समाप्त हुआ ।

❀ ❀ ❀

卐 卐 卐

एकादशं श्रीमार्गाध्ययनं

कयरे मग्गे अक्खाए, माहणेणं मईमत्ता ? ।
जं मग्गं उज्जु पावित्ता, ओहं तरति दुत्तरं ॥१॥

छाया – कतरो मार्ग आख्यातो माहनेन मतिमता ।
यं मार्गमृजुं प्राप्य, ओघं तरति दुस्तरम् ॥

अनुवाद – मतिमान-सर्वज्ञाता, महाण-अहिंसा के उपदेष्टा भगवान महावीर ने मोक्ष का कौन सा सरल मार्ग बतलाया है जिसे प्राप्त कर प्राणी दुस्तर-कठिनाई से पार किये जा सकने योग्य संसार सागर को लांघ सकता है ।

टीका – विचित्रत्वात्त्रिकालविषयत्वाच्च सूत्रस्यागामुकं प्रच्छकमाश्रित्य सूत्रमिदं प्रवृत्तम्, अतो जम्बूस्वामी सुधर्मस्वामिनमिदमाह, तद्यथा-'कतरः' किंभूतो 'मार्गः' अपवर्गावाप्तिसमर्थोऽस्यां त्रिलोक्याम् 'आख्यातः' प्रतिपादितो भगवता त्रैलोक्योद्धरणसमर्थेनैकान्तहितैषिणा मा हनेत्येवमुपदेशप्रवृत्तिर्यस्यासौ माहनः-तीर्थकृत्तेन, तमेव विशिनष्टि-मतिः-लोकालोकान्तर्गतसूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टाती तानागतवर्तमानपदार्थाविर्भाविका केवल ज्ञानाख्या यस्यास्त्यसौ मतिमांस्तेन, यं प्रशस्तंभावमार्गं मोक्षगमनं प्रति 'ऋजुं' प्रगुणं यथावस्थितपदार्थस्वरूपनिरूपणद्वारेणावक्रं सामान्य विशेषनित्यानित्यादिस्याद्वादसमाश्रयणात्, तदेवंभूतं मार्गं ज्ञानदर्शन तपश्चारित्रात्मकं 'प्राप्य' लब्ध्वा संसारोदर विवरवर्ती प्राणी समग्रसामग्रीकः 'ओघ' मिति भवौघं संसारसमुद्रं तरत्यन्तन्तदुस्तरं तदुत्तरणसामग्रया एव दुष्प्रापत्वात्, तदुक्तम् -

माणुस्सखेत्तजाईकुलरुवारोगमाउयं बुद्धी । सवणोग्गहसद्धासञ्जमो य लोयंमि दुलहाइं ॥१॥

छाया-मनुष्यं क्षेत्रं जातिः कुलं रुपमारोग्यमायुः बुद्धि श्रवणमवग्रह श्रद्धा संयमश्च लोके दुर्लभानि इत्यादि॥१॥

टीकार्थ – सूत्र की रचना में अपनी विचित्रता-विशेषता होती है । वह वर्तमान, भूत, भविष्य-तीनों कालों को दृष्टि में रखकर की जाती है । अतएव आगामी काल के प्रच्छक-प्रश्न कर्ता को आश्रित कर इस सूत्र की रचना हुई है । जम्बू स्वामी श्री सुधर्मा स्वामी से प्रश्न करते हैं कि भगवन् ! तीनों लोकों का उद्धार करने में सक्षम, सबका एकान्त रूप से हित चाहने वाले, किसी भी प्राणी को मत मारो ! ऐसा उपदेश देने वाले, तीर्थंकर भगवान महावीर ने ऐसा कौनसा मार्ग बताया है, जो त्रैलोक्य-तीनों लोकों में अपवर्ग-मोक्ष प्राप्त कराने में समर्थ है । भगवान की विशेषताएं बतलाते हुए कहते हैं-वे मतिमान-महान् प्रज्ञाशील थे । मति उसे कहा जाता है जो लोक एवं अलोक में विद्यमान सूक्ष्म, व्यवहित-व्यवधानयुक्त, विप्रकृष्ट-दूरवर्ती अतीत-भूत, अनागत-भविष्य और वर्तमान के सभी पदार्थों को प्रकाशित करती है । वह केवलज्ञान या सर्वज्ञत्व रूप है। वह भगवान में विद्यमान है अतः भगवान मतिमान है । उन द्वारा निरूपित मोक्ष मार्ग प्रशस्त भाव मार्ग है । वह वस्तु तत्व का यथार्थ स्वरूप बतलाता है । अतएव मोक्ष प्राप्ति का अवक्र-वक्रता रहित या सरलमार्ग है। वस्तु के सामान्य विशेषात्मक तथा नित्य नित्यात्म स्वरूप को प्रतिपादित करते हुए स्याद्वाद का आश्रय लेने के कारण वह मार्गवक्र-टेढा न होकर ऋजु-सरल है । वह सम्यक् दर्शन सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र रूप है । उसे प्राप्त कर संसार के उदर-विवर में वर्तनशील-संसार के उदर की गुफा में-संसार के अन्तर्गत विद्यमान

प्राणी मोक्ष विषयक समस्त सामग्री स्वायत्त कर इस अत्यन्त दुस्तर संसार सागर को पार कर जाताहै । वास्तव में संसार सागर को पार करने की सामग्री ही दुष्प्राप्य है-बड़ी कठिनाई से प्राप्त होती है । कहा जाता है- मनुष्य जन्म, आर्यक्षेत्र, उत्तम जाति, उत्तम कुल, उत्तम रूप, स्वस्थ शरीर, आयु एवं बुद्धि धर्म श्रवण का अवसर, धर्म पर श्रद्धा एवं संयम-शुद्ध चारित्र इनका प्राप्त होना बड़ा दुर्लभ है ।

❀ ❀ ❀

तं मग्गं णुत्तरं सुद्धं, सव्वदुक्खविमोक्खणं ।
जाणासि णं जहा भिक्खू ! तं णो बूहि महामुणी ॥२॥

छाया – तं मार्गमनुत्तरं शुद्धं सर्वदुःखविमोक्षणम् ।
जानासि वै यथा भिक्षो ! तं नो ब्रूहि महामुने ॥

अनुवाद – जम्बू स्वामी श्री सुधर्मा स्वामी से निवेदित करते है कि महामुने ! आप अनुत्तर-सबसे उत्तम-सब दुःखों से विमुक्त कराने वाले मार्ग को जिसे भगवान महावीर ने उदिष्ट किया, जानते हैं, हमें वह बतलाये ।

टीका – स एव प्रच्छकः पुनरप्याह-योऽसौ मार्गः सत्त्वहिताय सर्वज्ञेनोपदिष्टोऽशेषैकान्तकौटिल्यवक्र (ता) रहितस्तं मार्गं नास्योत्तरः-प्रधानोऽस्तीत्यनुत्तरस्तं शुद्धः-अवदातो निर्दोषः पूर्वापरव्याहतिदोषापगमात्सावद्यानुष्ठानोपदेशाभावाद्वा तमिति, तथा सर्वाणि-अशेषाणि बहुभिर्भवैरूपचितानि दुःखकारणत्वादुःखानि-कर्माणि तेभ्यो 'विमोक्षणं'-विमोचकं तमेवंभूतं मार्गमनुत्तरं निर्दोषं सर्व दुःखक्षयकारणं हे भिक्षो ! यथा त्वं जानीषे 'ण' मिति वाक्यालङ्कारे तथा तं मार्गं सर्वज्ञ प्रणीतं 'नः' अस्माकं हे महामुने ! 'ब्रूहि' कथयेति ॥२॥

टीकार्थ – जिन्होंने पहले पूछा, वे ही फिर पूछते हैं-केवलज्ञानी भगवान महावीर ने सब प्राणियों के हित के लिये जो मार्ग बतलाया वह सम्पूर्ण-परिपूर्ण या किसी भी कमी से रहित है, निश्चित रूप से वक्रता वर्जित है । उस मार्ग से उत्तर-बढ़कर कोई मार्ग नहीं है, इसलिये वह अनुत्तर है-दोष रहित है । वह पूर्वा पर-आगे पीछे की परस्पर विरुद्ध बात नहीं कहता । वह सावद्य-पापयुक्त कार्यों का उपदेश नहीं देता । अनेक जन्मों के उपचित-संचित दुःखोत्पादक, दुःख रूप जोकर्म है उनसे छुटकारा दिलाता है । हे भिक्षो ! हे महामुने! जैसा-जिस प्रकार आप जानते हैं, उसी तरह उस अनुत्तर-सर्वोत्तम, निर्दोष एवं सर्वदुःख नाशक मार्ग को हमें बतलावें ।

❀ ❀ ❀

जइ णो केइ पुच्छिज्जा, देवा अदुव माणुसा ।
तेसिं तु कयरं मग्गं, आइक्खेज्ज ? कहाणि णो ॥३॥

छाया – यदि नः केऽपि पृच्छेयु र्देवा अथवा मनुष्याः ।
तेषान्तु कतरं मार्गमाख्यास्ये कथन नः ॥

अनुवाद – जम्बू स्वामी ने सुधर्मा स्वामी से कहा कि यदि कोई देव या मनुष्य हमसे प्रश्न करें तो हम उन्हें मोक्ष का कौन सा मार्ग बतलाये, आप कहें ।

टीका – यद्यप्यस्माकमसाधारणगुणोपलब्धेर्युष्मत्प्रत्ययेनैव प्रवृत्तिः स्यात् तथाप्येन्येषां मार्गः किंभूतो मयाऽऽख्येय इत्यभिप्रायवानाह-यदा कदाचित् 'नः' अस्मान् 'केचन' सुलभ बोधयः संसारोद्विग्नाः सम्यग्मार्गं पृच्छेयुः, के ते ? - 'देवाः' चतुर्निकायाः तथा मनुष्याः प्रतीताः बाहुल्येन तयोरेव प्रश्न सद्भावात्तदुपादानं, तेषां पृच्छतां कतरं मार्गमहम् 'आख्यास्ये' कथयिष्ये, तदेतदस्माकं त्वं जानानः कथयेति ॥३॥

टीकार्थ – यद्यपि हम तो आपकी असामान्य गुणों या लब्धि के कारण-आपके अनुत्तर गुणों को जानने के कारण आपके प्रत्यय-विश्वास से ही मान लेते हैं, किन्तु अन्य लोगों को हम किस प्रकार आख्यात करें-समझावे । इस अभिप्राय से जम्बू स्वामी निवेदित करते हैं-भगवन् ! कई सुलभ बोधी-संसार से उद्विग्न जन हमसे सम्यक् मार्ग-सही मार्ग पूछे तो हम उन्हें कौन सा मार्ग बतलाये । पूछने वालों के सम्बन्ध में कहते हैं वे कौन ? प्रश्न का समाधान करते हुए बतलाते हैं-चार निकायों के देव तथा मनुष्य बहुलता से देवों और मनुष्यों द्वारा ही प्रश्न पूछा जाना संभावित है । आप ये जानते हैं । इसलिये हमें कहें ।

❀ ❀ ❀

जइ वो केइ पुच्छिज्जा, देवा अदुव माणुसा ।
तेसिमं पडिसाहिज्जा, मग्गसारं सुणेह मे ॥४॥

छाया – यदि वः केऽपि पृच्छेयु र्देवा अथवा मनुष्याः ।
तेषामिमं प्रतिकथयेमार्गसारं शृणुत मे ॥

अनुवाद – श्री सुधर्मा स्वामी जम्बू स्वामी से कहते हैं कि यदि कोई देव या मानव मोक्ष के संबंध में प्रश्न करे तो तुम उन्हें वह बतलाना जो मैं कह रहा हूं, उसे सुनो ।

टीका – एवं पृष्टः सुधर्मस्वाम्याह-यदि कदाचित् 'वः' युष्मान केचन देवा मनुष्या वा संसारभ्रान्तिपरामग्नाः सम्यग्मार्गं पृच्छेयुस्तेषां 'इम' मिति वक्ष्यमाणलक्षणं षड्जीवनिकायप्रतिपादनगर्भं तद्रक्षाप्रवणं मार्गं 'पडिसाहिज्जे' ति प्रतिकथयेत्, 'मार्गसारम्' मार्गपरमार्थं यं भवन्तोऽन्येषां प्रतिपादयिष्यन्ति तत् 'मे' मम कथयतः शृणुत यूयमिति, पाठान्तरं वा "तेसिं तु इमं मग्गं आइक्खेज्ज सुणेह मे' त्ति उत्तानार्थम् ॥४॥ पुनरपि मार्गाभिष्टवं कुर्वन्सुधर्मस्वाम्याह -

टीकार्थ – यों पूछे जाने पर सुधर्मा स्वामी प्रतिपादित करते हैं कि यदि संसार के भ्रमण से परिखिन्न देव या मानव सम्यक् मार्ग-मोक्ष का सही पथ पूछे तो तुम उनसे छः कायों के जीवों की रक्षा का उपदेश देने वाले मार्ग का प्रतिपादन करना । तुम जो श्रेष्ठ मार्ग औरों को प्रतिपादित करोगे वह मैं बतलाता हूँ । श्रवण करो । यहां 'तेसिं तु इमं मग्गं आइक्खेज्ज सुणेह मे' यह पाठान्तर भी प्राप्त होता है । इसका अभिप्राय यह है कि तुम उनसे आगे कहे जाने वाले मार्ग का आख्यान करना । वह मुझसे सुनो । सुधर्मा स्वामी पुनः मार्ग को अभिस्तुत करते हुए कहते हैं ।

❀ ❀ ❀

अणुपुव्वेण महाघोरं, कासवेण पवेइयं ।
जमादाय इओ पुव्वं, समुद्दं ववहारिणो ॥५॥

छाया – आनुपूर्व्या महाघोरं, काश्यपेन प्रवेदितम् ।
यमादायेतः पूर्वं समुद्रं व्यवहारिणः ॥

अनुवाद – भगवान महावीर द्वारा प्रवेदित-परिज्ञापित मार्ग, मैं अनुपूर्वी पूर्वक-क्रमशः बतलाता हूँ । उसे सुनो । जैसे व्यवहारी-सामुद्रिक व्यापारी या सार्थवाह समुद्र को पार कर जाते हैं उसी प्रकार इस मार्ग का आश्रय लेकर अनेक जीवों ने संसार सागर को पार किया है ।

टीका – यथाऽहम् 'अनुपूर्वेण' अनुपरिपाट्या कथयामि तथा शृणुत, यदिवा यथा चानुपूर्व्या सामग्र्या वा मार्गोऽवाप्यते तच्छृणुत, तद्यथा-'पढमिल्लुगाण उदए' इत्यादि तावद्यावत् ''बारसविहे कसाए खविए उवसामिए व जोगेहिं । लब्भइ चरित्तलंभो''- छाया - प्राथमिकानामुदये-द्वादशविधेषु कषायेषु क्षपितेषूपशमितेषु वा योगैः। लभते चारित्रलाभं ॥ इत्यादि, तथा ''चत्तारि परमंगाणी'त्यादि-चत्वारि परमाङ्गानि- । किंभूतं मार्गं? तमेव विशिनष्टि-कापुरुषैः संग्रामप्रवेशवत् दुरध्यवसेयत्वात् 'महाघोरं' महाभयानकं 'काश्यपो' महावीर वर्धमान स्वामी तेन 'प्रवेदितं' प्रणीतं मार्गं कथयिष्यामीति, अनेन स्वमनीषिकापरिहारमाह, यं शुद्धं मार्गम् 'उपादाय' गृहीत्वा 'इत' इति सन्मार्गोपादानात् 'पूर्वम्' आदावेवानुष्ठितत्वाद्धुस्तरं संसारं महापुरुषास्तरन्ति, अस्मिन्नेवार्थे दृष्टान्तमाह-व्यवहारः-पण्यक्रयविक्रयलक्षणो विद्यते येषां ते व्यवहारिण-सांयात्रिकाः, यथा ते विशिष्टलाभार्थिनः किञ्चिन्नगरं यियासवो यानपात्रेण दुस्तरमपि समुद्रं तरन्ति एवं साधवोऽप्यात्यन्तिकैकान्तिकाबाधसुखैषिणः सम्यग्दर्शनादिना मार्गेण मोक्षं जिनभिषवो दुस्तरं भवौघं तरन्तीति ॥५॥

टीकार्थ – मैं अनुपरिपाटि-अनुक्रमपूर्वक या क्रमशः जैसा बतलाता हूँ उसे श्रवण करो । चार कषाय जब उदित होते हैं तब जीव सम्यक्त्व प्राप्त नहीं करता । अतः बारह प्रकार के कषायों के क्षय या उपशय करने पर जीव को चारित्र का लाभ होता है । मनुष्य जन्म, धर्म श्रवण, श्रद्धा तथा संयम में पराक्रम-ये चार बातें जब प्राप्त होती हैं तभी मोक्ष प्राप्त होता है । प्रश्न उपस्थित करते हुए कहते हैं वह मार्ग कौनसा है ? प्रश्न का उत्तर बतलाते हुए कहते हैं कि जैसे कायर पुरुषों के लिये संग्राम भूमि में प्रवेश करना बहुत कठिन है-उसके लिये अत्यन्त भयप्रद है, उसी प्रकार हीन आत्म बल युक्त पुरुषों के लिये यह मार्ग अत्यन्त भयानक है । भगवान महावीर ने इसका निरूपण किया है । वह मैं तुमको बतलाता हूँ । इससे यह संकेतित है कि मैं अपनी बुद्धि या कल्पना से नहीं कहता हूँ । जिसे मैं बतलाने जा रहा हूँ उस शुद्ध मार्ग को अंगीकार कर अनेक महापुरुषों ने इस दुश्तर संसार सागर को पार किया । इस संबंध में एक दृष्टान्त कहते हैं । माल की खरीद-बिक्री को व्यवहार कहा जाता है । जो व्यवहार करते हैं उन्हें व्यवहारी कहा जाता है । वे सांयात्रिक-सार्थवाह विशिष्ट-अत्यधिक लाभ पाने हेतु किसी नगर को जाते हुए जैसे यानपात्र-जहाज पर सवार होकर दुस्तर समुद्र को पार कर जाते हैं । उसी तरह आत्यन्तिक, एकान्तिक तथा बाधा रहित सच्चे सुख की अभिलाषा रखने वाले साधु सम्यक्दर्शन आदि युक्त मार्ग द्वारा मोक्ष जाने की अभिलाषा लिये हुए दुश्तर संसार सागर को पार कर जाते हैं ।

❀ ❀ ❀

अतरिंसु तरंतेगे, तरिस्संति अणागया ।
तं सोच्चा पडिवक्खामि, जंतवो तं सुणेह मे ॥६॥

छाया – अतार्षुस्तरन्त्येके तरिष्यन्त्य नागताः ।
तं श्रुत्वा प्रतिवक्ष्यामि, जन्तवस्तं शृणुत मे ।

अनुवाद – श्री सुधर्मा स्वामी अपने अन्तेवासियों से कहते हैं कि उस मार्ग को ग्रहण कर अनेक पुरुषों ने संसार सागर को पार किया है । वर्तमान में करते हैं और आने वाले समय में भी करते रहेंगे । मैंने भगवान महावीर से वह मार्ग सुना है, मैं उसे कहूंगा । तुम लोग श्रवण करो ।

टीका – मार्ग विशेषणायाह-यं मार्गं पूर्वं महापुरुषाचीर्णमव्यभिचारिणमाश्रित्य पूर्वस्मिन्ननादिके काले बहवोऽनन्ताः सत्त्वा अशेषकर्मकचवर विप्रमुक्ता भवौघं-संसारम् 'अतार्षुः'-साम्प्रतमप्येके समग्रसामग्रीकाः संख्येयाः सत्त्वास्तरन्ति, महाविदेहादौ सर्वदा सिद्धिसद्भावाद्वर्तमानत्वं न विरुध्यते, तथाऽनागते च काले अपर्यवसानात्मकेऽनन्ता एव जीवास्तरिष्यन्ति । तदेवं कालत्रयेऽपि संसार समुद्रो त्तारकं मोक्षगमनैक कारणं प्रशस्तं भावमार्ग मुत्पन्न दिव्यज्ञानैस्तीर्थकृद्भिरूपदिष्टं, तं चाहं सम्यक् श्रुत्वाऽवधार्य च युष्माकं शुश्रुषूणां 'प्रतिवक्ष्यामि' प्रतिपादयिष्यामि, सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिनं निश्रीकृत्यान्येषामपि जन्तूनां कथयतीत्येतद्दर्शयितुमाह हे जन्तवोऽभिमुखीभूय तं चारित्रमार्गं मम कथयतः शृणुत यूयं, परमार्तकथनेऽत्यन्तमादरोत्पादनार्थमेवमुपन्यास इति ॥६॥

टीकार्थ – सूत्रकार मार्ग की विशेषता परिज्ञापित करने हेतु कहते हैं-उस मार्ग का महापुरुषों ने आचरण किया है । वे उस पर चले हैं, वह निश्चित रूप से मोक्षप्रद है । उसका अवलम्बन कर अनादि काल से अनन्त जीवों ने कर्ममल से विप्रमुक्त होकर संसार सागर को पार किया है । वर्तमान काल में भी समग्र सामग्री युक्त-मोक्षोपयोगी समस्त साधन सम्पन्न संख्यात पुरुष आज भी संसार सागर को पार करते हैं । महाविदेह आदि क्षेत्रों में सदा सिद्धि कर सद्भाव रहता है-मोक्ष प्राप्त होने की स्थिति है । अतएव वर्तमान काल में मोक्ष प्राप्ति की बात कहना सिद्धान्त विरुद्ध नहीं है । अनंत अनांगत भविष्य काल में अनन्त जीव उस मार्ग का अनुसरण कर संसार सागर को तैरते जायेंगे । इस प्रकार तीनों समयों में यह मार्ग संसार सागर से तारक-पार लगाने वाला है-मोक्ष गमन का एक मात्र हेतु है, प्रशस्त भाव मार्ग है । जिन्हें दिव्य ज्ञान-सर्वज्ञत्व उत्पन्न हुआ । उन तीर्थंकरों ने इसे उपदिष्ट किया। उस मार्ग को मैंने भली भांति सुना है । उसकी अवधारणा की है । तुम लोग सुनने की उत्कंठा लिये हुए हो । यह जानकर प्रतिपादित करूंगा । श्री सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामी को आश्रित कर समस्त प्राणियों से यह कहते हैं । अतः इसका दिग्दर्शन कराने हेतु सूत्रकार बतलाते हैं-प्राणिवृन्द ! तुम अभिमुख होकर-सावधान होकर उस चारित्र मार्ग का अनुसरण करो जो मैं कह रहा हूँ । परमार्थ कथन में-परम तत्व के निरूपण में अत्यन्त आदर उत्पन्न करने हेतु इस प्रकार कहा गया है ।

पुढवीजीवा पुढो सत्ता, आउजीवा तहाऽगणी ।
वाउजीवा पुढो सत्ता, तणरुक्खा सबीयगा ॥७॥

छाया – पृथिवी जीवाः पृथक् सत्वाः, आपो जीवास्तथाऽग्निः ।
वायु जीवाः पृथक् सत्त्वा स्तृणवृक्षसबीजकाः ॥

अनुवाद – पृथ्वी स्वयं जीव है । पृथ्वी के आश्रय में टिके हुए और भी अनेक जीव हैं । जल और अग्नि जीव हैं तथा वायु के-वायु काय के भी पृथक्-पृथक् जीव है । तिनके, पेड़ तथा बीज भी जीव हैं।

टीका – चारित्रमार्गस्य प्राणातिपात विरमणमूलत्वात्तस्य च तत्परिज्ञानपूर्वकत्वादतो जीवस्वरूपनिरूपणार्थमाह-पृथिव्येव पृथिव्याश्रिता वा जीवाः पृथ्वीजीवाः, तेच प्रत्येकशरीरत्वात् 'पृथक्' प्रत्येकं 'सत्त्वा' जन्तवोऽवगन्तव्याः तथा आपश्च जीवाः, एवमग्निकायाश्च, तथाऽपरे वायुजीवाः, तदेवं चतुर्महाभूतसमाश्रिताः पृथक् सत्त्वाः प्रत्येक

शरीरिणोऽवगन्तव्याः एत एव पृथिव्यप्तेजोवायु समाश्रिताः सत्त्वाः प्रत्येकशरीरिणः, वक्ष्यमाणवनस्पतेस्तु साधारण शरीरत्वेनापृथक्त्वमप्यस्तीत्यस्यार्थस्य दर्शनाय पुनः पृथक्सत्वग्रहणमिति । वनस्पतिकायस्तु यः सूक्ष्मः स सर्वोऽपि निगोदरूपः साधारणो बादरस्तु साधारणोऽसाधारणश्चेति, तत्र प्रत्येक शरीरणिोऽसाधारणस्य कतिचिद्भेदान्निर्दिदिक्षुराह-तत्र तृणानि-दर्भ वीरणादीनि वृक्षाः-चूताशोकादयः सह बीजैः-शालिगोधूमादिभिर्वर्तन्त इति सबीजकाः, एते सर्वेऽपि वनस्पतिकायाः सत्त्वा अवगन्तव्याः अनेन च बौद्धादिमतनिरासः कृतोऽवगन्तव्य इति । एतेषा च पृथिव्यादीनां जीवानां जीवत्वेन प्रसिद्धिस्वरूप निरूपणमाचारे प्रथमाध्ययने शस्त्रपरिज्ञाख्ये न्यक्षेण प्रतिपादितमिति नेहप्रतन्यते ॥७॥

टीकार्थ – चारित्र मार्ग का हेतु प्राणातिपात से विरमण-हिंसा से निवृत्त होना है । जीवों के संबंध में ज्ञान होने पर ही ऐसा हो सकता है । अतः शास्त्रकार जीवों का स्वरूप बताने हेतु कहते हैं-'पृथ्वी स्वयं जीव है, पृथ्वी में आश्रित अन्य अनेक जीव हैं, उन में से प्रत्येक जीव का शरीर भिन्न भिन्न है । इससे यों समझना चाहिये कि इनमें भिन्न भिन्न शरीर युक्त जीव है । इसी भांति पानी भी जीव है, अग्नि भी जीव है तथा वायु भी जीव है । इन चार महाभूतों में समाश्रित-उनमें विद्यमान पृथक् पृथक् शरीर युक्त जीव हैं । यह अवगत करना चाहिये । यों पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु के आश्रयवासी भिन्न भिन्न देहयुक्त जीव विद्यमान है । वनस्पति जो आगे वक्ष्यमाण-बताई जाने वाली है, साधारण शरीर के नाम से अभिहित है । अतः उसके जीव पृथक् पृथक् नहीं भी होते हैं । इस बात का संकेत देने हेतु प्रस्तुत गाथा में "सत्त्व" शब्द का प्रयोग हुआ है । जो सुक्ष्म बनस्पतिकाय है वह निगोध रूप है । बादर बनस्पति साधारण एवं असाधारण दो भेदों में विभक्त है जिनमें प्रत्येक शरीरी-पृथक् पृथक् शरीर युक्त असाधारण बनस्पति के कई भेद बताये गये हैं । जैसे तृण-डाभ या कुश तथा वीरण आदि, वृक्ष-आम्र, अशोक आदि तथा बीज-शालि-चांवल विशेष तथा गेहूं आदि ये सब बनस्पति काय के जीव है । ऐसा अवगतकरना चाहिये । इस निरूपण से बौद्ध आदि मतों का निराकरण या खण्डन जानना चाहिये । इन पृथ्वी आदि जीवों की जीवत्व के रूप में प्रसिद्धि तथा इनके स्वरूप का निरूपण आचारांग सूत्र के शास्त्रपरिज्ञा नामक प्रथम अध्ययन में स्पष्ट रूप में प्रतिपादित किया गयाहै। अतः यहां विस्तार पूर्वक वर्णन नहीं किया जा रहा है ।

❀ ❀ ❀

अहावरा तसा पाणा, एवं छक्काय आहिया ।
एतावए जीवकाए, णावरे कोइ विज्जई ॥८॥

छाया – अथाऽपरे त्रसाः प्राणाः, एवं षट्काया आख्याताः ।
एतावान् जीवकायः नापरः कश्चिद्विद्यते ॥

अनुवाद – पहले बताए गये पांच तथा छट्ठे त्रसकाय युक्त जीव होते हैं । यों जीवों के छः भेद बतलाये गये हैं । इस प्रकार जीव इतने ही है, इनसे भिन्न कोई अन्य जीव नहीं है ।

टीका – षष्ठजीवनिकायप्रतिपादनायाह-तत्र पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतय एकेन्द्रियाः सूक्ष्मबादरपर्याप्तापर्याप्त-कभेदेन प्रत्येकं चतुर्विधाः, 'अथ' अनन्तरम् 'अपरे' अन्ये त्रस्यन्तीति त्रसाः-द्वित्रिचतुष्पञ्चेन्द्रियाः कृमिपिपीलिका-भ्रमरमनुष्यादयः, तत्र द्वित्रिचतुरिन्द्रियाः प्रत्येकं पर्याप्तकापर्याप्तक भेदात्षड्विधाः, पंचेन्द्रियास्तु संज्ञ्यसंज्ञिपर्याप्तकापर्याप्त-

कभेदाच्चतुर्विधाः । तदेवमनन्तरोक्तया नीत्या चतुर्दशभूतग्रामात्मकतया षट् जीवनिकाया व्याख्यातास्तीर्थंकरगणधरादिभिः, 'एतावान्' एतद्भेदात्मक एव संक्षेपतो 'जीवनिकायो' जीवराशिर्भवति, अण्डजोद्भिज्जसंस्वेदजादेरत्रैवान्तर्भावान्नापरो जीवराशिविद्यते कश्चिदिति ॥८॥ तदेवं षड्जीवनिकायं प्रदर्श्य यत्तत्रविधेयं तद्दर्शयितुमाह-

टीकार्थ – सूत्रकार अब षष्ठ जीव निकाय के प्रतिपादन हेतु-छट्ठी कोटि के जीवों को बताने के लिये कहते हैं - पृथ्वी, अप, तेज, वायु तथा बनस्पति-ये एकेन्द्रिय जीव हैं । सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त एवं अपर्याप्त के रूप में ये चार चार तरह के हैं । जो त्रस्त होते हैं या त्रास पाते हुए प्रतीत होते हैं वे त्रस कहे जाते हैं। ये द्वीन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरीन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय होते हैं। वे कृमि-कीटाणु, पिपीलिका-चींटी, भ्रमर-भंवरा, तथा मनुष्य आदि है । इन द्वि इन्द्रिय, ति-इन्द्रिय, चतुरीन्द्रिय जीवों में प्रत्येक पर्याप्त और अपर्याप्त भेद से छः तरह के हैं । पंचेन्द्रिय-संज्ञी समनस्क, असंज्ञी-अमनस्क पर्याप्त और अपर्याप्त रूप में चार तरह के हैं । तीर्थंकरों एवं गणधरों आदि ने चवदह प्रकार के छः निकाय व्याख्यात किये हैं । संक्षेप में इन भेदों से युक्त इतना ही जीवनिकाय-जीव राशि है । अण्डज, उद्भिज्ज, संस्वेदज, आदि का इन्हीं में अन्तर्भाव-समावेश हो जाता है । अतः इनसे भिन्न कोई अपर जीव राशि नहीं है ।

इस प्रकार छः जीव निकाय का दिग्दर्शन कराकर वहां क्या करणीय है, यह बताने हेतु सूत्रकार कहते हैं ।

❀ ❀ ❀

सव्वाहिं अणुजुत्तीहिं, मतिमं पडिलेहिया ।
सव्वे अक्कंतदुक्खा य, अतो सव्वे अहिंसया ॥९॥

छाया – सर्वाभिरनुयुक्तिभि र्मतिमान् प्रतिलेख्य ।
सर्वेऽकान्तदुःखाश्चातः सर्वान्न हिंस्यात् ॥

अनुवाद – मतिमान-मेधावी पुरुष सब अनुयुक्तियों से-न्याय एवं तर्क द्वारा इन जीवों का जीवत्व सिद्धकर यह जाने कि ये सभी प्राणी अकांत दुःख है, इन्हें दुःख कांत या प्रिय नहीं लगता-वे उसे नहीं चाहते । अतः उन सबकी या उनमें से किसी की भी वह हिंसा न करे ।

टीका – सर्वा याः काश्चनानुरूपाः-पृथिव्यादि जीव निकायसाधनत्वेनानुकूला युक्तयः-साधनानि, यदिवा असिद्ध विरुद्धानेकान्तिकपरिहारेण पक्षधर्मत्वसपक्षसत्त्वविपक्षव्यावृत्तिरुपतया युक्तिसंगता युक्तयः अनुयुक्तयस्ताभिरनुयुक्तिभिः 'मतिमान्' सद्विवेकी पृथिव्यादिजीवनिकायान् 'प्रत्युपेक्ष्य' पर्यालोच्य जीवत्वेन प्रसाध्य तथा सर्वेऽपि प्राणिनः 'अकान्तदुःखा' दुःखद्विषः सुखलिप्सवश्च मन्वानो मतिमान् सर्वानपि प्राणिनो न हिंस्यादिति। युक्तयश्च तत्प्रसाधिकाः संक्षेपेणेमा इतिसात्मिका पृथिवी, तदात्मनां विद्रुमलवणोपलादीनां समानजातीयाङ्कुरसद्भावाद्, अर्शोविकाराङ्कुरवत् । तथा सचेतनमम्भः भूमिखननादविकृत स्वभावसंभवाद् दर्दुरवत्। तथा सात्मकं तेजः तद्योग्याहारवृद्ध्या वृद्ध्युपलब्धेः, बालकवत् । तथा सात्मको वायुः अपराप्रेरितनियततिरश्चीनगतिमत्त्वात्, गोवत्। तथा सचेतना वनस्पतयः, जन्मजरामरणरोगादीनां समुदितानां सद्भावात्, स्त्रीवत, तथा क्षतसंरोहणाहारोपादानदोहदसद्भावस्पर्शसंकोच सायाह्नस्वापप्रबोधाश्रयोपसर्पणा दिभ्यो हेतुभ्यो वनस्पतेश्चैतन्य सिद्धिः । द्वीन्द्रियादीनां तु पुनः कृम्यादीनां स्पष्टमेव चैत्यं, तद्वेदनाश्चौपक्रमिकाः स्वाभाविकाश्च समुपलभ्य मनोवाक्कायैः कृतकारितानुमतिभिश्च नवकेन भेदेन तत्पीड़ाकारिण उपमर्दान्निवर्तितव्यमिति ॥९॥

टीकार्थ – जो पृथ्वी आदि जीव निकाय का जीवत्व सिद्ध करने में अनुकूल या सक्षम है, ऐसी युक्तियों द्वारा बुद्धिमान पुरुष पृथ्वी आदि का जीवत्व सिद्ध करे अथवा असिद्ध विरुद्ध और अनेकान्तिक संज्ञक हेत्वाभाषों को छोड़कर जो हेतु पक्ष में विद्यमान रहतेहैं तथा सपक्ष में भी अवस्थित रहतेहैं एवं विपक्ष में नहीं रहते । उन तर्क संगत सद्हेतुओं से पृथ्वी आदि जीवों का जीवत्व सिद्ध करें । वैसा कर इन सभी प्राणियों के लिये दु:ख अकांत-अप्रिय है, ये दु:ख नहीं चाहते हैं, सुख चाहते हैं । यह जानकर किसी की भी हिंसा न करे। पृथ्वी आदि पदार्थों का जीवत्व सिद्ध करने वाली युक्तियां संक्षेप में इस प्रकार है । पृथ्वी सात्मिका-आत्मा या जीव सहित है क्योंकि पृथ्वी रूप विद्रुम-मूंगा, लवण-नमक, उप्पल-पाषाण आदि अपने समाने जाति के अंकुर उत्पन्न करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं जैसे अर्श-बवासीर अपने विकारमय अंकुर पैदा करता है । पानी सचेतन-चेतनायुक्त है क्योंकि पृथ्वी का खनन करने से-उसे खोदने से, उसके स्वभाव में कोई विकार या परिवर्तन नहीं आता । जैसे मेढ़क के स्वभाव में कोई विकृति उत्पन्न नहीं होती । अग्नि भी आत्मा से युक्त है क्योंकि स्वयोग्य-अपने अनुकूल आहार प्राप्त होने पर वह वृद्धि प्राप्त करतीहै जैसे एक बच्चा आहार मिलते रहने से बढ़ता जाताहै । वायु भी जीवत्व युक्त है क्योंकि वह गायकी ज्यों किसी की प्रेरणा के बिना ही नियमत: तिर्यक गति करती है-तिरछा चलती है, बहती है । बनस्पतियां चैतन्ययुक्तहै क्योंकि स्त्री के तरह जन्म, वृद्धावस्था, मृत्यु, रुग्णता आदि सभी उसमें दृष्टिगोचर होते हैं । कोई बनस्पति काटकर उप्त करने से उगती है । वह आहार लेती है । उसको दोहद भी होता है । कोई बनस्पति छूने पर सिकुड जाती है । रात में शयन करती है, दिन में जागृत होती है । आश्रय प्राप्त कर बढ़ती है । इन कारणों को देखते हुए बनस्पति का जीवत्व सिद्ध होता है । द्वीन्द्रिय कृमि आदि में चैतन्य है । यह स्पष्ट दिखाई देता है । इन प्राणियों में स्वभावोत्पन्न तथा उपक्रम जनित वेदना को जानकर व्यक्ति मन, वचन तथा काय द्वारा कृतकारित एवं अनुमोदितपूर्वक नौ प्रकार से इनकी हिंसा, इनको पीड़ा देने से निवृत्त रहे ।

❀ ❀ ❀

एयं खु णाणिणो सारं, जं न हिंसति कंचण ।
अहिंसा समयं चेव, एतावंतं विजाणिया ॥१०॥

छाया – एवं खलु ज्ञानिन: सारं यन्न हिनस्ति कञ्चन ।
अहिंसा समय ञ्चैव, एतावन्तं विजाणिया ॥

अनुवाद – ज्ञानी पुरुष के ज्ञान का यही सार-फलवत्ता है कि वह किसी की हिंसा नहीं करता। अहिंसा का सिद्धान्त इसी आशय से जुड़ा है, यह जानना चाहिये ।

टीका – एतदेव समर्थयन्नाह-खुशब्दो वाक्या लङ्कारेऽवधारणे वा, 'एतदेव' अनन्तरोक्तं प्राणातिपातनिवर्तनं 'ज्ञानिनो' जीवस्वरूपतद्बधकर्मबन्धवेदिन: 'सारं' परमार्थत: प्रधानं, पुनरप्यादरख्यापनार्थमेतदेवाह-यत्कञ्चन प्राणिनमनिष्टदु:खं सुखैषिणं न हिनस्ति, प्रभूतवेदिनोऽपि ज्ञानिन एतदेव सारतरं ज्ञानं यत्प्राणातिपातनिवर्तनमिति, ज्ञानमपि तदेव परमार्थ तो यत्परपीडातो निवर्तनं तथा चोक्तम् -

"किं ताए पढियाए ? पयकोडीए पलालभूयाए । जत्थित्तियं ण णायं परस्स पीडा न कायव्वा ॥१॥"

छाया - किन्तया पठितया पदकोट्यापि पलालभूतया । यत्रैतावन्न ज्ञात परस्य पीडा न कर्त्तव्या ॥१॥

तदेवमहिंसाप्रधानः समय-आगमः संकेतो वो पदे शरूपस्तमेवंभूतमहिंसासमयमेतावन्तमेव विज्ञाय किमन्येन बहुना परिज्ञानेन ? एतावतैव परिज्ञानेन मुमुक्षोर्विवक्षितकार्यपरिसमाप्तेरतो न हिंस्यात्कञ्चनेति ।

टीकार्थ – अहिंसा का समर्थन करते हुए सूत्रकार प्रतिपादित करते हैं-यहां 'खु' शब्द वाक्य के अलंकरण-सुंदरता अथवा अवधारणा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । पहले वर्णित जीवों के प्राणिपात-हिंसा से निवर्तन ही ज्ञानी का-जीव का यथार्थ स्वरूप है तथा उसके वध के फलस्वरूप होने वाले कर्मबन्ध को जानने वाले ज्ञानी का यह सार है-मुख्य कर्त्तव्य है । अहिंसा के प्रति आदर ख्यापन हेतु पुनः यही बात कहते हैं कि जो प्राणी दुःख को अनिष्ट-अप्रिय मानते हैं, सुख की एषणा-वाञ्छा रखते हैं, उन्हें न मारना ही ज्ञानवान पुरुष के ज्ञान का सार है-साफल्य या सार्थक्य है । दूसरे शब्दों में जीवहिंसा से निवृत्त-पृथक् रहना ही ज्ञानी के ज्ञान की सारवत्ता-यथार्थता है । इतर प्राणी को पीड़ा देने से अपने आप का निवर्तन करना-उससे निवृत्त रहना ही यथार्थ ज्ञान है । इसलिये कहा है-पलाल-घास फूस के सदृश करोड़ों पदों के पढ़ने से क्या बना । उन्हें पढ़ने वाले ने इतना भी नहीं जाना कि अन्य किसी के लिये पीड़ा उत्पन्न नहीं करनी चाहिये । अहिंसा प्रधान आगम या शास्त्र का यही संकेत है-उपदेश है । इतना ही जान लेना यथेष्ट है । अन्य बहुविध परिज्ञान से बहुत बातों को जानने से क्या सधेगा । क्योंकि मुमुक्षु-मोक्ष के अभिलाषी पुरुष के अभिप्सित प्रयोजन की सिद्धि तो इतने से ही हो जातीहै । अतः किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिये ।

❀ ❀ ❀

उड्ढं अहे य तिरियं, जे केइ तसथावरा ।
सव्वत्थ विरतिं कुज्जा, संति निव्वाणमाहियं ॥११॥

छाया – ऊर्ध्वं मध स्तिर्य्यक् ये केचित् त्रसस्थावराः ।
सर्वत्र विरतिं कुर्य्यात् शांति निर्वाण माख्यातम् ॥

अनुवाद – ऊर्ध्व-ऊंचे या ऊपर, अधः नीचे, तिर्यक-तिरछे स्थान में या दिक् भाग में जो त्रस या स्थावर प्राणी रहते हैं, उन सबके प्रति विरत-हिंसा निवृत्त रहना चाहिये । उसी से शांतिमय मोक्ष प्राप्त होता है । ऐसा कहा गया है ।

टीका – साम्प्रतं क्षेत्रप्राणातिपातमधिकृत्याह-ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् च ये केचन त्रसाः-तेजोवायुद्वीन्द्रियादयः तथा स्थावराः-पृथिव्यादयः, किं बहुनोक्तेन ?, 'सर्वत्र' प्राणिनि त्रस स्थावरसूक्ष्म बादरभेदभिन्ने 'विरति' प्राणातिपातनिवृत्तिं 'विजानीयात्' कुर्यात्, परमार्थत एवमेवासौ ज्ञाता भवति यदि सम्यक् क्रियत इति, एषैव च प्राणातिपातनिवृत्तिः परेषामात्मनश्च शांतिहेतुत्वाच्छान्तिर्वर्तते, यतो विरतिमतो नान्ये केचन विभ्यति, नाप्यसौ भवान्तरेऽपि कुतश्चिद्बिभेति, अपिच-निर्वाणप्रधानैक कारणत्वान्निर्वाणमपि प्राणातिपात निवृत्तिरेव, यदिवा शांतिः-उपशान्तता निर्वृतिः-निर्वाणं विरतिमांश्चार्तरौद्रध्यानाभावादुपशांतिरूपो निर्वृतिभूतश्च भवति ॥११॥

टीकार्थ – सूत्रकार अब क्षेत्र प्राणातिपात के संदर्भ में प्रतिपादित करते हैं –

ऊर्ध्व, अधः और तिर्यक् क्षेत्र में जो कोई त्रस-अग्नि वायु और द्वीन्द्रिय आदि प्राणी रहते हैं तथा स्थावर-पृथ्वी आदि प्राणी है, अधिक क्या कहा जाये, उन सभी त्रस, स्थावर, सूक्ष्म एवं बादर प्राणियों की हिंसा से विरत रहना चाहिये । उनकी हिंसा नहीं करनी चाहिये । जो पुरुष ऐसा करता है, वही पारमार्थिक रूप में ज्ञाता-

ज्ञानी है । जीवहिंसा से निवृत्त रहना ही अपने लिये तथा अन्य किसी के लिये शांति का कारणहै-शांतिरूप है । जो हिंसा से विरत रहता है उनसे अन्य कोई भयभीत नहीं होते । वह भी भवान्तर में-दूसरे जन्म में किसी से भयभीत नहीं होता । जीव हिंसा से निवृत्ति मोक्ष प्राप्ति का प्रधान कारण है । अतः वह मोक्षरूप है अथवा शांति-क्रोधादि की उपशान्तता, निर्वृत्ति या निर्वाण है । जो पुरुष जीव हिंसा से विरत हैं उसे आर्त्त एवं रौद्र ध्यान नहीं होता, वह शांति रूप एवं सुख रूप होता है । उसे सच्ची शांति एवं सुख की अनुभूति होती है ।

❀ ❀ ❀

पभू दोसे निराकिच्चा, ण विरुज्झेज्ज केणई ।
मणसा वयसा चेव, कायसा चेव अंत सो ॥१२॥

छाया – प्रभुर्दोषं निराकृत्य, न विरुध्येत केनचित् ।
मनसा वचसा चैव, कायेन चैवान्तशः ॥

अनुवाद – प्रभु-इन्द्रिय जेता पुरुष दोषों को निराकृत कर-हटाकर मानसिक, वाचिक तथा कायिक रूप में आजीवन किसी के भी साथ विरोध न करे ।

टीका – किञ्चान्यत्-इंद्रियाणां प्रभवतीति प्रभुर्वश्येन्द्रिय इत्यर्थः, यदिवा संयमाबारकाणि कर्माण्यभिभूय मोक्षमार्गे पालयितव्ये प्रभुः-समर्थः, स एवंभूतः प्रभुः दूषयन्तीति दोषा-मिथ्यात्वाविरति प्रमाद कषाययोगास्तान् 'निराकृत्य' अपनीय केनापि प्राणिनासार्धं 'न विरुध्येत' न केनचित्सह विरोधं कुर्यात्, त्रिविधेनापि योगेनेति मनसा, वाचा, कायेन चैवान्तशोयावज्जीवं, पराकारक्रियया न विरोधं कुर्यादिति ॥१२॥ उत्तरगुणानधिकत्याह-

टीकार्थ – जिसने अपनी इन्द्रियाँ जीत ली है उसे प्रभु कहा जाताहै अथवा संयम के वारक या अवरोधक कर्मों को अभिभूत कर जो मोक्ष मार्ग के परिपालन में समर्थहै, उसे प्रभु कहा जाता है। वैसा पुरुष मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग रूप दोषों का निराकरण-अपनयन कर उन्हें हटाकर किसी भी प्राणी के साथ विरोध न करे । वह तीनों योगों द्वारा-मन, वचन, काय द्वारा यावज्जीवन दूसरों का अपकार-अहित कर किसी के साथ विरोध-शत्रु भाव न रखे ।

शास्त्रकार उत्तरगुणों को अधिकृत कर निरूपण करते हैं ।

❀ ❀ ❀

संवुडे से महापन्ने, धीरे दत्तेसणं चरे ।
एसणासमिए णिच्चं, वज्जयंते अणेसणं ॥१३॥

छाया – संवृत्तः स महाप्राज्ञो धीरो दत्तैषणाश्चरेत् ।
एषणा समितो नित्यं वर्जयन्तोऽनेषणाम् ॥

अनुवाद – जो साधु सदा अन्य द्वारा दिया हुआ एषणीय-निर्दोष आहार आदि ग्रहण करता है तथा एषणा समिति से युक्त रहता हुआ, अनेषणीय-दोषयुक्त आहार का वर्जन करता है वह वास्तव में बहुत ही प्रज्ञाशील और धैर्यशील है ।

टीका – आश्रवद्वाराणां रोधेनेन्द्रियनिरोधेन च संवृतः स भिक्षुर्महती प्रज्ञा यस्यासौ महाप्रज्ञोविपुलबुद्धिरित्यर्थः, तदनेन जीवाजीवादि पदार्थाभिज्ञतावेदिता भवति, 'धीरः' अक्षोभ्यः क्षुत्पिपासादिपरीषहैर्न क्षोभ्यते, तदेव दर्शयति-आहारोपधिशय्यादिके स्वस्वामिना तत्संदिष्टेन वा दत्ते सत्येषणां चरति एषणीयं गृह्णातीत्यर्थः, एषणाया एषणायां वा गवेषणग्रहणग्रासरुपायां त्रिविधाया मपि सम्यगितः समितः, स साधुर्नित्यमेषणासमितः सन्ननेषणां 'वर्जयन्' परित्यजन्संयममनुपालयेत्, उपलक्षणार्थत्वादस्य शेषाभिरपीर्यासमित्यादिभिः समितो द्रष्टव्य इति ॥१३॥

टीकार्थ – आश्रव द्वारों का तथा इन्द्रियों का अवरोध कर पापों से संवृत्त-बचा हुआ वह साधु बड़ा ही प्रज्ञाशील है । जीव-अजीव आदि पदार्थों का वेत्ता हैं, जो भूख प्यास आदि परिषहों से क्षुब्ध-विचलित नहीं होता । सूत्रकार इसका दिग्दर्शन कराते हुए कहते हैं कि वह भोजन, उपधि-साधु जीवनोपयोगी सामग्री तथा शैय्या आदि उनके मालिक द्वारा या उनके मालिक से संदिष्ट-आदिष्ट या नियुक्त दूसरे व्यक्ति के देने पर ही उन्हें परीक्षा कर एषणीय-निर्दोष ही ग्रहण करता है । जो साधु एषणा गवेषणा तथा ग्रास रूप में ग्रहण इन तीनों में सम्यक्-भलीभांति समित-समितियुक्त रहता है वह नित्य एषणायुक्त होता हुआ अनेषणा का वर्जन करता हुआ संयम का पालन करे । उपलक्षण से-संकेत रूप में ईर्या समिति आदि से भी वह युक्त रहे । यह दृष्टव्य-ज्ञातव्य है ।

❀ ❀ ❀

भूयाइं च समारंभ, तमुद्दिस्सा य जं कडं ।
तारिसं तु ण गिण्हेज्जा, अन्नपाणं सुसंजए ॥१४॥

छाया – भूतानि च समारम्भ, तमुद्दिश्यच यत्कृतम् ।
तादृशन्तु न गृह्णीयादन्नपानं सुसंयत ॥

अनुवाद – जो भोजन भूतों-प्राणियों के आरम्भ-हिंसामूलक उपक्रम द्वारा साधुओं को देने हेतु तैयार किया गया हो, संयमी साधु उसे ग्रहण न करे ।

टीका – अनेषणीयपरिहारमधिकृत्याह-अभूवन् भवन्ति भविष्यन्ति च प्राणिनस्तानि भूतानि प्राणिनः 'समारम्य' संरम्भसमारम्भारम्भैरूपताप्य तं साधुम् 'उद्दिश्य' साध्वर्थं यत्कृतं तदुपकल्पितमाहारोपकरणादिकं 'तादृशम्' आधाकर्मदोषदुष्टं 'सुसंयतः' सुतपस्वी तदन्नं पानकं वा न भुञ्जीत, तुशब्दस्यैवकारार्थत्वान्नैवाभ्यवहरेद्, एवं तेन मार्गोऽनुपालितो भवति ॥१४॥

टीकार्थ – सूत्रकार अब अनेषणीय-दोषयुक्त पदार्थ के त्याग के सम्बन्ध में कहते हैं । जो पूर्व में-अतीत में थे, वर्तमान में है तथा भविष्य में होंगे उन्हें भूत कहा जाता है । वे प्राणी हैं, उनके संरम्भ, समारंभ तथा आरम्भ द्वारा उन्हें उतप्त कर-पीडित कर तथा साधु को दान देने हेतु जो भोजन तथा अन्य उपकरण वस्तुएं तैयार की जाती है वे आधा कर्म रूप-औद्देशिक दोष से दूषित होतीहै । अतः उत्तम तपश्चरणशील साधु वैसे खाद्य, पेय पदार्थों का सेवन न करे । यहां आया हुआ 'तु' शब्द एव-ही के अर्थ में है जिसका अभिप्राय है कि इस प्रकार के भोजन का साधु कदापि सेवन न करे। ऐसा करने से ही उस साधु द्वारा मोक्ष का मार्ग अनुपालित होता है-वह मोक्ष मार्ग का सम्यक् परिपालन करता है ।

❀ ❀ ❀

पूईकम्मं न सेविज्जा, एस धम्मे वुसीमओ ।
जं किंचि अभिकंखेज्जा, सव्वसो तं न कप्पए ॥१५॥

छाया - पूर्तिकर्म न सेवेत, एषधर्मः संयमवतः ।
यत्किञ्चिदभिकाङ्क्षेत, सर्वशस्तन्न कल्पते ।

अनुवाद – जिस आहार में आधाकर्म-दोषयुक्त आहार का एक कण भी मिला हुआ हो, साधु उसे ग्रहण न करे । संयमशील साधु का यही धर्म है । यदि शुद्ध आहार में ऐसी शंका हो जाय कि वह वास्तव में शुद्ध नहीं है तो भी साधु उसे स्वीकार न करे ।

टीका – किञ्च-आधाकर्माद्य विशुद्धकोट्यवयवेनापि संपृक्तं पूर्तिकर्म, तदेवंभूतमाहारादिकं 'न सेवेत' नोपभुञ्जीत, एषः-अनन्तरोक्तो धर्मः कल्पः स्वभावः-'वुसीमओ' त्ति सम्यक्संयम वतोऽयमेवानुष्ठानकल्पो यदुताशुद्धमाहारादिकं परिहरतीति, किञ्चयदप्य शुद्धत्वेनाभिकाङ्क्षेत्-शुद्धमप्यशुद्धत्वेनाभिशङ्केत किञ्चिदप्याहारादिकं तत् 'सर्वशः' सर्वप्रकारमप्याहारोपकरणपूर्तिकर्म भोक्तुं न कल्पत इति ॥१५॥

टीकार्थ – जो आहार आधा कर्म आदिअविशुद्ध कोटि के-अशुद्धतापूर्ण आहार के एक कण से भी संपृक्त-सम्मिश्रित हो उसे पूति कर्म कहा जाता है । साधु इस प्रकार के आहार का उपभोग-सेवन न करे । संयम का सम्यक् पालन करने वाले साधु का यही धर्म है-स्वभाव है अथवा अनुष्ठान है । वह अशुद्ध आहार आदि का परिहार-परिवर्जन करता है । शुद्ध होते हुए भी जिस आहार में अशुद्धता की आशंका हो साधु के लिये वह आहार तथा सर्वविध आहारोपकरण जो पूति कर्म में आते हैं कल्पनीय-सेवन करने योग्य नहीं है।

❀ ❀ ❀

हणंतं णाणुजाणेज्जा, आयगुत्ते जिइंदिए ।
ठाणाइं संति सड्ढीणं, गामेसु नगरे सु वा ॥१६॥

छाया – घ्नन्तं नानुजानीयादात्मगुप्तो जितेन्द्रियः ।
स्थानानि सन्ति श्रद्धावतां ग्रामेषु नगरेषुवा ॥

अनुवाद – साधु को गांवों और नगरों में अपने श्रद्धावान उपासकों के स्थान आवास हेतु प्राप्त होते हैं । वहां यदि कोई जीव हिंसात्मक कार्य करे तो आत्मगुप्त-पाप निवृत्त, जितेन्द्रिय साधु उसकी अनुमति न दे।

टीका – किञ्चान्यत्-धर्म श्रद्धावतां ग्रामेषु नगरेषु वा खेटकर्बटादिषु वा 'स्थानानि' आश्रयाः 'सन्ति' विद्यन्ते, तत्र तत्स्थानाश्रितः कश्चिद्धर्मोपदेशेन किल धर्मश्रद्धालुतया प्राण्युपमर्दकारिणीं धर्मबुद्ध्या कूपतडागखननप्रपासत्रादिकां क्रियां कुर्यात् तेन च तथा भूत क्रियायाः कर्त्रा किमत्र धर्मोऽस्ति नास्तीत्येवं पृष्टोऽपृष्टो वा तदुपरोधाद्भायाद्वा तं प्राणिनो घ्नन्तं नानुजानीयात्, किंभूतः सन् ? - 'आत्मना' मनोवाक्कायरूपेण गुप्त आत्मगुप्तः तथा 'जितेन्द्रियो' वश्येन्द्रियः सावद्यानुष्ठानं नानुमन्येत ॥१६॥ सावद्यानुष्ठानानुमतिं परिहर्तुकाम आह-

टीकार्थ – धर्म में श्रद्धाशील जनों-श्रमणों, उपासकों के गांवों, नगरों, उपनगरों तथा आसपास के आवास स्थानों में साधुओं को रहने हेतु स्थान प्राप्त होता है । वहां रहने वाला कोई पुरुष धर्म श्रद्धालुता के कारण धर्मोपदेश से प्रेरित होकर धर्म बुद्धि से वैसी क्रियाएं जिनमें प्राणियों का उपमर्दन-व्याघात होता है-

जैसे कुआं खुदवाना, तालाब खुदवाना, प्याऊ लगवाना, अन्न क्षेत्र चलाना आदि करना चाहे और वह साधु से जिज्ञासित करे कि इसमें धर्म है या नहीं है अथवा वैसा वह जिज्ञासित न भी करे तो साधु उसके लिहाज से प्राणियों की हिंसा में उद्यत पुरुष को वैसा करने की अनुज्ञा न दे । प्रश्न उपस्थित करते हुए कहा जाता है कि कैसा होते हुए ? उत्तर के रूप में समाधान किया जाता है-मन, वचन एवं देह से आत्मगुप्त-पाप निवृत्त तथा जितेन्द्रिय होता हुआ वह साधु इस कार्य की अनुज्ञा न दे जो सावद्य है ।

सावद्य कार्य की अनुमति का परिहार-प्रतिषेध करते हुए कहते हैं ।

❀ ❀ ❀

तहा गिरं समारब्भ, अत्थि पुण्णंति णो वए ।
अहवा णत्थि पुण्णंति, एवमेयं महब्भयं ॥१७॥

छाया – तथा गिरं समारभ्य, अस्ति पुण्यमिति नो वदेत् ।
अथवा नास्ति पुण्य मित्येवमेतद् महाभयम् ॥

अनुवाद – यदि कोई पुरुष वैसा कार्य करना चाहता हुआ साधु से प्रश्न करे कि मेरे द्वारा किये जाते कार्य में पुण्य है अथवा पुण्य नहीं है, तो उस पर साधु पुण्य है, ऐसा न कहे तथा पुण्य नहीं है ऐसा कहना भी अत्यन्त भय का-दोष का हेतु है इसलिये वैसा भी न बोले ।

टीका – केनचिद्राजादिना कूपखननसत्रदानादिप्रवृत्तेन पृष्टः साधुः-किमस्मदनुष्ठाने अस्ति पुण्यमाहोस्विन्नास्तीति ? एवं भूतां गिरं 'समारभ्य' निशम्याश्रित्य अस्ति पुण्यं नास्ति वेत्येवमुभयथापि महाभयमिति मत्वा दोषहेतुत्वेन नानुमन्येत ॥१७॥

टीकार्थ – कुआँ खुदवाना या अन्नक्षेत्र चलाना आदि कार्य हेतु उद्यत् कोई राजा आदि साधु से प्रश्न करे कि मेरे इस कार्य में पुण्य है अथवा पुण्य नहीं है तो साधु उसकी इस प्रकार की वाणी सुनकर पुण्य है अथवा पुण्य नहीं है-इन दोनों ही प्रकार के उत्तर में अत्यन्त भय-दोष देखता हुआ दोनों में से किसी का भी अनुमोदन न करे ।

❀ ❀ ❀

दाणट्ठया य जे पाणा, हम्मंति तसथावरा ।
तेसिं सारक्खणट्ठाए, तम्हा अत्थित्ति णो वए ॥१८॥

छाया – दानार्थञ्च ये प्राणाः हन्यन्ते त्रस स्थावराः ।
तेषां संरक्षणार्थाय तस्मादस्तीति नो वदेत् ॥

अनुवाद – अन्नदान एवं जलदान करने हेतु जो त्रस या स्थावर प्राणी हत प्रतिहत किये जाते है उनके संरक्षण के दृष्टिकोण से साधु वैसा करने में पुण्य होता है, यह न कहे ।

टीका – किमर्थं नानुभन्येत इत्याह-अन्नपानदानार्थ-माहारमुदकं च पचनपाचनादिकया क्रियया कूपखननादिकया चोपकल्पयेत्, तत्र यस्माद् 'हन्यन्ते' व्यापाद्यन्ते त्रसाः स्थावराश्च जन्तवः तस्मात्तेषां 'रक्षाणार्थं' रक्षा निमित्तं साधुरात्मगुप्तो जितेन्द्रियोऽत्र भवदीयानुष्ठाने पुण्यमित्येवं नो वदेदिति ॥१८॥

टीकार्थ – ऐसा क्यों नहीं अनुमोदन करे ? इसका समाधान करते हैं कि अन्नदान, खाद्य पदार्थ देने हेतु पचन-पकाना, पाचन-पकवाना आदि क्रियाओं के माध्यम से भोजन तैयार किया जाता है तथा जलदान हेतु कूपखनन आदि क्रियाएं करनी पड़ती हैं, इनमें त्रस स्थावर प्राणी व्यापादित होते हैं, नष्ट होते हैं । अतः उनके रक्षण के अभिप्राय से आत्मगुप्त जितेन्द्रिय साधु ऐसा न बोले कि आपके इस कार्य में पुण्य है ।

❀ ❀ ❀

जेसिं तं उवकप्पंति, अन्नपाणं तहाविहं ।
तेसिं लाभंतरायंति, तम्हा णत्थिति णो वए ॥१९॥

छाया – येषान्तदुपकल्पयन्त्यन्नपानं तथाविधम् ।
तेषां लाभान्तराय इति, तस्मान्नास्तीति नो वदेत् ॥

अनुवाद – जिन प्राणियों को देने हेतु खाद्य पदार्थ तैयार किये जाते हैं, पानी की व्यवस्था की जाती है, उन प्राणियों को इनके मिलने में अन्तराय-बाधा उत्पन्न न हो इस हेतु साधु ऐसा भी न बोले कि इसमें पुण्य नहीं है ।

टीका – यद्येवं नास्ति पुण्यमिति ब्रूयात्, तदेतदपि न ब्रूयादित्याह-'येषां' जन्तूनां कृते 'तद्' अन्नपानादिकं किल धर्म बुद्धया 'उपकल्पयन्ति' तथाविधं प्राण्युपमर्ददोषदुष्टं निष्पादयन्ति, तन्निषेधे चयस्मात्' तेषाम्' आहारपानार्थिनां तत् 'लाभान्तरायो' विघ्नो भवेत्, तदभावेन तु ते पीडयेरन्, तस्मात्कूपखननसत्रादिके कर्मणि नास्ति पुण्यमित्येतदपि नो वदेदिति ॥१९॥

टीकार्थ – पुण्य नहीं है यों बोलना चाहिये किन्तु वैसा न बोले । इस प्रकार जो कहा-इस संबंध में स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं-जिन प्राणियों को धर्म बुद्धि से अन्नपान आदि का दान देना उपकल्पित करते हैं, वैसा करने में प्राणियों के उपमर्दन-हिंसा के दोष से वह कार्य दूषित होता है। उसका निषेध करने पर अन्न जल के इच्छुक प्राणियों के लाभ में अन्तराय या विघ्न होता है । उसके अभाव में वे पीडित होते हैं । अतः कुआँ खोदना अन्न क्षेत्र चलाना आदि कार्यों में पुण्य नहीं है, ऐसा भी नहीं कहना चाहिये ।

❀ ❀ ❀

जे य दाणं पसंसंति, वहमिच्छंति पाणिणं ।
जे य णं पडिसेहंति, वित्तिच्छेयं करंति ते ॥२०॥

छाया – ये च दानं प्रशंसन्ति वधमिच्छन्ति प्राणिनाम् ।
ये च तं प्रतिषेधन्ति, वृत्तिच्छेदं कुर्वन्ति ते ॥

अनुवाद – जो दान की प्रशस्ति करते हैं-उसे अच्छा बतलाते हैं, वे प्राणियों के वध-नाश की इच्छा करते हैं तथा जो दान का प्रतिरोध करते हैं वे प्राणियों की वृत्ति-आजीविका का छेद-हनन या नाश करते हैं।

टीका – एनमेवार्थं पुनरपि समासतः स्पष्टतरं विभणिषुराह-ये केचन प्रपासत्रादिकं दानं बहूनां जन्तूनामुपकारीतिकृत्वा 'प्रशंसन्ति 'श्लाघन्ते' ते 'परमार्थनभिज्ञाः प्रभूततरप्राणिनांतत्प्रशंसाद्वारेण' वधं 'प्राणातिपातमिच्छन्ति, तद्दानस्य प्राणातिपातमन्तरेणानुपपत्तेः, येऽपि च किल सूक्ष्मधियो वयमित्येवं मन्यमाना आगमसद्भावानभिज्ञाः

'प्रतिषेधन्ति' निषेधयन्ति तेऽप्यगीतार्थाः प्राणिनां 'वृत्तिच्छेदं' वर्तनोपायविघ्नं कुर्वन्तीति ॥२०॥ तदेवं राज्ञा अन्येन वेश्वरेण कूपतडागयागसत्रदानाद्युद्यतेन पुण्यसद्भावं पृष्टैर्मुमुक्षुभिर्यद्विधेयं तद्दर्शयितुमाह –

टीकार्थ – सूत्रकार इसी बात को संक्षिप्त रूप में स्पष्ट करने हेतु प्रतिपादित करते हैं-प्याऊ लगाना, अन्न क्षेत्र चलाना आदि दानमूलक कार्यों को यह जानकर कि इनसे बहुत से जीवों का उपकार सधता है, जो इनकी श्लाघा-बड़ाई करते हैं वे परमार्थ से-सत्य तत्त्व से अनभिज्ञ हैं, वास्तविकता नहीं जानते । वे उन कार्यों की श्लाघा द्वारा अनेक प्राणियों के प्राणातिपात-हिंसा की इच्छा रखते हैं क्योंकि प्राणियों के अतिपात-नाश के बिना ये कार्य उपपन नहीं हो सकते-सध नहीं सकते । हम सूक्ष्म बुद्धि के धनी हैं, यों मानते हुए आगमिक सिद्धान्त से अनभिज्ञ पुरुष इन दान कार्यों का निषेध करते हैं वे भी अगीतार्थ हैं-शास्त्र के रहस्य से अनभिज्ञ हैं, क्योंकि निषेध किये जाने से प्राणियों की जीविका का-आजीविका का विच्छेद होताहै । उसमें विघ्न होता है ।

राजा अथवा अन्य किसी वैभवशाली पुरुष द्वारा कुआँ खुदवाना, तालाब खुदवाना, यज्ञ करना, अन्नक्षेत्र चलाना आदि कार्य करने हेतु उद्यत होकर साधु से इन कार्यों में क्या पुण्य होता है ? यह पूछे जाने पर मोक्षार्थी साधु द्वारा जो किया जाना चाहिये, कहा जाना चाहिये, यह दिग्दर्शन कराने हेतु सूत्रकार बतलाते हैं ।

❀ ❀ ❀

दुहओवि ते ण भासंति, अत्थि वा नत्थि वा पुणो ।
आयं रयस्स हेच्चा णं निव्वाणं पाउणंति ते ॥२१॥

छाया – द्विधाऽपि ते न भाषन्ते, अस्ति वा नास्ति वा पुनः ।
आयं रजसो हित्वा, निर्वाणं प्राप्नुवन्ति ते ॥

अनुवाद – साधु अन्न विषयक तथा जल विषयक दान में पुण्य होता है या पुण्य नहीं होता है, ये दोनों ही बात नहीं कहते । वे कर्मरज का आगमन त्यागकर आश्रव निरोध कर मोक्ष प्राप्त करते हैं ।

टीका – यद्यस्ति पुण्यमित्येवमूचुस्ततोऽनन्तानां सत्त्वानां सूक्ष्मबादराणां सर्वदा प्राणत्याग एवं स्यात् प्रीणनमात्रं तु पुनः स्वल्पानां स्वल्पकालीयमतोऽस्तीति न वक्तव्यं नास्ति पुण्यमित्येवं प्रतिषेधेऽपि तदर्थिनामन्तरायः स्यादित्यतो 'द्विधापि' अस्ति नास्ति वा पुण्य मित्येव 'ते' मुमुक्षवः साधवः पुनर्न भाषन्ते, किंतु पृष्टै सद्भिर्मौनं समाश्रयणीयं, निर्बन्धे त्वस्माकं द्विचत्वारिंशद्दोषवर्जित आहारः कल्पते, एवंविधविषये मुमुक्षुणामधिकार एव नास्तीति, उक्तं च –

''सत्यंवप्रेषु शीतं शशिकरधवलं वारि पीत्वा प्रकामं, व्युच्छिन्नाशेषतृष्णाः प्रमुदितमनसः प्राणि सार्था भवन्ति।
शोषं नीते जलौघे दिनकर किरणैर्यान्त्यनन्ता विनाशं, तेनोदासीनभावं व्रजति मुनिगणः कूपवप्रादिकार्ये ॥१॥''

तदेवमुभयथापि भाषिते 'रजसः' कर्मण 'आयो' लाभो भवतीत्यतस्तमायं रजसो मौनेनानवद्यभाषणेन वा 'हित्वा' त्यक्त्वा 'ते' अनवद्यभाषिणो 'निर्वाणं' मोक्षं प्राप्नुवन्तीति ॥२१॥

टीकार्थ – अन्नक्षेत्र, जल प्रपा आदि के निर्माण या संचालन आदि में पुण्य होताहै-यदि साधु यों कहे तो उसके समक्ष यह स्थिति उत्पन्न होती है कि इन कार्यों में अनन्त सूक्ष्म और स्थूल जीवों का सदा विनाश होता है और थोड़े से जीवों को स्वल्पकाल तकतृप्ति मिलती है । अतः यह विचारते हुए इन दान कार्यों

में पुण्य होता है ऐसा प्रतिपादित न करे । इन दान कार्यों में पुण्य नहीं होता है-ऐसा प्रतिषेधात्मक वचन कहने पर उस दान से लाभान्वित होने वालों के अन्तराय या विघ्न होता है। अतः मोक्षाभिलाषी साधक इन दोनों में-न पुण्य कहतेहैं और न पाप कहते हैं । किन्हीं द्वारा पूछने पर वे मौन का आश्रय लेते हैं । किन्हीं द्वारा निर्बन्ध-अत्यधिक आग्रह किये जाने पर साधु को इतना मात्र ही बोलना चाहिये कि-हमारे लिये बयालीस दोष वर्जित आहार कल्पनीय है । ऐसे विषयों में कुछ बोलने का हम मुमुक्षुओं को अधिकार नहीं है । कहा है-सरोवरों में शीतल तथा चंद्र किरणों के सदृश निर्मल जल का यथेच्छ पान कर प्राणी समूह अपनी पिपासा को भली भांति विच्छिन्न करते हैं-मिटाते हैं । वैसा कर वे मन में प्रमुदित होते हैं । यह सच है । किन्तु सूर्य की किरणों द्वारा सरोवर का पानी जब सूख जाता है तो अनन्त प्राणी विनष्ट हो जाते हैं-मर जाते हैं । अतः मुनिवृन्द कुएँ, सरोवर आदि कार्यों में उदासीन-तटस्थ भाव लिये रहते हैं । दोनों ही तरह से संभाषण करने पर-कहने पर कर्मबंध होता है यह जानकर साधु इस संबंध में मौन रहकर अथवा अनवद्य-दोष रहित, पापरहित संभाषण द्वारा कर्मबंध का परिहार कर मोक्ष प्राप्त करते हैं ।

❀ ❀ ❀

निव्वाणं परमं बुद्धा, णक्खत्ताण व चंदिमा ।
तम्हा सदा जए दंते, निव्वाणं संधए मुणी ॥२२॥

छाया – **निर्वाणं परमं बुद्धाः नक्षत्राणामिव चन्द्रमाः ।**
तस्मात् सदा यतो दान्त निर्वाणं साधयेन्मुनि ॥

अनुवाद – जिस प्रकार समग्र नक्षत्रों में चंद्रमा उत्तम है उसी प्रकार मोक्ष जगत में सबसे उत्तम है। जो पुरुष यह जानता है वह सर्वश्रेष्ठ है । अतः साधु सदैव संयम में समुद्यत और जितेन्द्रिय होकर मोक्ष की साधना में आगे बढ़े ।

टीका – अपिच-निवृतिर्निर्वाणं तत्परमं-प्रधानं येषां परलोकार्थिनां बुद्धानां ते तथा तानेव बुद्धान् निर्वाणवादित्वेन प्रधानानित्येतदृष्टान्तेन दर्शयति-यथा 'नक्षत्राणाम्' अश्विन्यादीनां सौम्यत्वप्रमाणप्रकाशकत्वैरधिकश्चन्द्रमाः, एवं परलोकार्थिनां बुद्धानां मध्ये ये स्वर्गचक्रवर्तिसंपन्निदानपरित्यागेनाशेषकर्मक्षयरूपं निर्वाण मेवाभिसंधय प्रवृत्तास्त एवप्रधाना नापर इति, यदिवा यथा नक्षत्राणां चन्द्रमाः प्रधानभावमनुभवति एवं लोकस्य निर्वाणं परमं प्रधानमित्येवं 'बुद्धा' अवगत तत्त्वाः प्रतिपादयन्तीति, यस्माच्च निर्वाणं प्रधानं तस्मात्कारणात् 'सदा' सर्वकालं 'यतः' प्रयत प्रयत्नवा (ग्रं. ६०००) न इन्दियनोइन्द्रियदमनेन दान्तो 'मुनि' साधुः 'निर्वाणमभिसंधयेत्' निर्वाणार्थं सर्वाः क्रियाः कुर्यादित्यर्थः ॥२२॥

टीकार्थ – निर्वृत्ति-प्रशांतभाव को निर्वाण कहा जाता है । उसको सबसे प्रधान-उत्तम मानने वाले परलोकार्थी-अपने परलोक को सुधारने में समुद्यत, बुद्ध-तत्त्वज्ञ पुरुष निर्वाणवादित्व के कारण-निर्वाणवादी होने के कारण सबसे प्रधान है-श्रेष्ठ या उत्कृष्ट है । सूत्रकार दृष्टान्त द्वारा इसे प्रस्तुत करते हुए कहते हैं-जैसे अश्विनी आदि नक्षत्रों में सौम्यता, प्रमाण, प्रकाशकर्ता आदि गुणों के कारण चंद्रमा, सर्वप्रधान-सर्वोत्कृष्ट है, उसी प्रकार परलोकार्थी प्रबुद्ध जनों में स्वर्ग तथा चक्रवर्ती के वैभव पाने के निदान-अभिप्सा का परित्याग कर समस्त कर्मों के क्षयस्वरूप मोक्ष की साधना में संप्रवृत्त हैं, वे ही सर्वोत्तम हैं-अन्य नहीं । अथवा जिस प्रकार नक्षत्रों के

मध्य चंद्रमा श्रेष्ठ है उसी प्रकार मोक्ष सबसे श्रेष्ठ-उत्तम है । तत्त्वज्ञ पुरुष ऐसा कहते हैं । मोक्ष की सर्वोत्तमता को आत्मसात् करते हुए साधु संयम में सदा समुद्यत रहते हुए इन्द्रियों एवं मन को वशगत करते हुए मोक्ष हेतु सभी अपेक्षित साधनामूलक क्रियाएं करते रहे ।

❀ ❀ ❀

बुज्झमाणाण पाणाणं, किच्चंताण सकम्मुणा ।
आघाति साहु तं दीवं, पतिट्ठेसा पवुच्चई ॥२३॥

छाया – **उह्यमानानं प्राणानां, कृत्यमानानां स्वकर्मणा ।**
आख्याति साधु तद्द्वीपं, प्रतिष्ठैषा प्रोच्यते ॥

अनुवाद – भगवान महावीर आदि तीर्थंकरों, गणधरों ने उस धर्म का-मोक्ष मार्ग का आख्यान किया, जो मिथ्यात्व कषाय आदि की धारा में बहते जा रहे तथा अपने कर्मों के फलस्वरूप कष्ट पा रहे प्राणियों के लिये उत्तम द्वीप रूप-आश्रय स्थान स्वरूप है ।

टीका – किञ्चान्यत्-संसारसागर स्त्रोतोभिर्मिथ्यात्व-कषायप्रमादादिकै:'उह्यमानानां'तदभिमुखं नीयमानानां तथा स्वकर्मोदयेन निकृत्यमानानामशरणानामसुमतां परिहितैकरतोऽकारणवत्सलस्तीर्थकृदन्यो वा गणधराचार्यादिकस्तेषामाश्वासभूतं'साधुं'शोभनं द्वीपमाख्याति, यथा समुद्रान्त: पतितस्य जन्तोर्जलकल्लोलाकुलितस्य मुमूर्षोरतिश्रान्तस्य विश्राम हेतुं द्वीपं काश्चित्साधुर्वत्सलतया समाख्याति, एवं तं तथाभूतं "द्वीप" सम्यक्दर्शनादिकं संसार भ्रमण विश्राम हेतुं परतीर्थिकैरनाख्यातपूर्वमाख्याति, एवं च कृत्वा प्रतिष्ठानं प्रतिष्ठा-संसारभ्रमण विरति लक्षणैषा सम्यग्दर्शनाद्यवाप्तिसाध्या मोक्ष प्राप्ति: प्रकर्षेण तत्त्वज्ञै: 'उच्यते प्रोच्यत इति ॥२३॥

टीकार्थ – मिथ्यात्व कषाय एवं प्रमाद आदि द्वारा जो संसार रूपी सागर के स्रोत हैं, बहाये जा रहे-संसार की ओर ले जाये जा रहे तथा अपने कर्मों के उदय से कष्ट भोग रहे । त्राण रहित प्राणियों के विश्राम-अवलंबन हेतु परहित परायण अकारण वात्सल्यमय-कृपाशील तीर्थंकर, गणधर एवं आचार्य आदि सुन्दर द्वीप के आश्रयभूत सम्यक्दर्शन आदि का आख्यान करते हैं-जैसे समुद्र में पतित कोई प्राणी पानी की लहरों से आकुल-अत्यन्त परिश्रान्त तथा मरणासन्न हो रहा हो तो उसे विश्राम देने हेतु कोई सत्पुरुष वात्सल्यता-दयापूर्वक द्वीप का सहारा लेने का कथन करता है, उसी प्रकार संसार में भटकते रहने से परिश्रान्त बने प्राणियों के विश्राम हेतु तीर्थंकर आदि सम्यक्दर्शन आदि का उपदेश देते हैं । जैसा अन्य मतवादियों ने न कभी पहले किया और न करते हैं । तत्त्वदृष्टा पुरुष प्रतिपादित करते हैं कि सम्यक् दर्शन आदि से ही प्राणी प्रतिष्ठा-भव भ्रमण से छुटकारा-मोक्ष प्राप्त करते हैं ।

❀ ❀ ❀

आयगुत्ते सया दंते, छिन्नसोए अणासवे ।
जे धम्मं सुद्धमक्खाति, पडिपुन्नमणेलिसं ॥२४॥

छाया – **आत्मगुप्तः सदा दान्त च्छिन्नस्रोता अनाश्रवः ।**
यो धर्मं शुद्ध माख्याति प्रतिपूर्णं मनीदृशम् ॥

अनुवाद – सदा आत्मगुप्त, दांत-जितेंद्रिय तथा छिन्नस्रोत मिथ्यात्त्व आदि के स्रोत का उच्छेदक तथा आश्रव रहित पुरुष प्रतिपूर्ण शुद्ध एवं अनुपम धर्म का उपदेश करता है ।

टीका – किंभूतोऽसावाश्वासद्वीपो भवति ? की दृग्विधेन वाऽसावाख्यायत इत्येतदाहमनोवाक्कायैरात्मा गुप्तो यस्य स आत्मगुप्तः तथा 'सदा' सर्वकालमिन्द्रियनोइन्द्रियदमनेन दान्तो-वशेयन्द्रियो धर्मध्यानध्यायी वेत्यर्थः, तथा छिन्नानि-त्रोटितानि संसारस्रोतांसि येन स तथा, एतदेव स्पष्टतरमाह-निर्गत आश्रवः-प्राणातिपातादिकः कर्मप्रवेशद्वाररूपो यस्मात्स निराश्रवो य एवंभूतः स 'शुद्धं' समस्तदोषापेतं धर्ममाख्याति, किंभूतं धर्मं ? - 'प्रतिपूर्ण' निरवयवतया सर्वविरत्याख्यं मोक्षगमनैकहेतुम् 'अनीदृशम्' अनन्यसदृशम् द्वितीयमितियावत्॥२४॥ एवंभूतधर्मव्यतिरेकिणां दोषाभिधित्सयाऽऽह -

टीकार्थ – वह द्वीप जो प्राणियों के विश्राम का हेत भूतहै, कैसा है ? कैसा पुरुष उसका आख्यान-उपदेश करता है ? यह प्रकट करने हेतु सूत्रकार कहते हैं-जिसकी आत्मा मानसिक, वाचिक तथा कायिक असदाचरण से मुक्त है, जो सदैव इन्द्रिय तथा मन का दमन कर दांत-जितेन्द्रिय है, धर्मध्यान में अभिरत है, जिसने संसार के स्रोतों को उच्छिन्न कर डाला है-नष्ट कर डाला है, कर्मप्रवेश के द्वार रूप प्राणातिपात आदि आश्रव जिसके निर्गत-अपगत हो गये हैं, वैसा पुरुष शुद्ध-समग्र दोष रहित धर्म का आख्यान करता है, उपदेश करता है । प्रश्न उपस्थित करते हुए कहते हैं वह धर्म किस प्रकार का है ? उत्तर में निराकरण करतेहुए कहा जाता है-वह प्रतिपूर्ण है, अपने आप में संपूर्णता लिये हुए हैं । सब प्रकार के असत् विरमण से युक्त है, मोक्ष गमन का एकमात्र हेतु है, अनुपम है-जिसके सदृश दूसरा कोई नहीं है ।

जो ऐसे धर्म में विश्वास नहीं करते, उनके दोष प्रकट करने हेतु सूत्रकार कहते हैं ।

❀ ❀ ❀

तमेव अविजाणंता, अबुद्धा बुद्धमाणिणो ।
बुद्धा मोत्ति य मन्नंता, अंत एते समाहिए ॥२५॥

छाया – तमेवाविजानाना अबुद्धाः बुद्धमानिनः ।
बुद्धा स्मेति मन्यमाना अन्तएते समाधेः ॥

अनुवाद – जो धर्म के शुद्ध स्वरूप को नहीं जानते, जो अविवेक युक्त हैं हम ही तत्त्ववेत्ता हैं ऐसा समझते हैं वे अन्यमतवादी समाधी से दूर हैं ।

टीका – तमेवंभूतं शुद्धं परिपूर्णमनीदृशं धर्ममजानाना 'अप्रबुद्धा' अविवेकिनः 'पण्डितमानिनो' वयमेव प्रतिबुद्धा धर्मतत्त्वमित्येवं मन्यमाना भाव समाधेः-सम्यग्दर्शनाख्यादन्ते-पर्यन्तेऽतिदूरे वर्तन्त इति, ते च सर्वेऽपि परतीर्थिका द्रष्टव्या इति ॥२५॥

टीकार्थ – पहले जिसका उल्लेख हुआ है, वे ऐसे शुद्ध परिपूर्ण अनिदृश-अप्रतिम धर्म को जो नहीं जानते, जो विवेकशून्य हैं, हम ही प्रतिबुद्ध हैं-धर्मतत्त्व के ज्ञाता हैं, ऐसा मानते हैं किन्तु वे सम्यक्दर्शन मूलक भाव समाधि से दूर है ।

❀ ❀ ❀

ते य बीओदगं चेव, तमुद्दिस्सा य जं कडं ।
भोच्चा झाणं झियायंति, अखेयन्नाऽ (अ) समाहिया ॥२६॥

छाया – ते च बीजोदकं चैव तमुद्दिश्य च यत्कृतम् ।
भुक्त्वा ध्यानं ध्यायन्ति, अखेदज्ञा असमाहिताः ॥

अनुवाद – बीज-अन्न कण, उदक-सचित जल तथा अपने को उद्दिष्ट कर बनाये हुए आहार का सेवन करने वाले वे परमतवादी ध्यान-आर्त्तध्यान ध्याते हैं-उसमें लगे रहते हैं । वे भाव समाधि से दूर है।

टीका – किमिति ते तीर्थिका भावमार्गरूपात्समाधेर्दूरे वर्तन्त इत्याशङ्क्याह-'ते च' शाक्यादयो जीवाजीवानभिज्ञतया 'बीजानि' शालिगोधूमादीनि, तथा 'शीतोदकम्' अप्रासुकोदकं, तांश्चोद्दिश्य तद्भक्तैर्यदाहारादिकं 'कृतं' निष्पादितं तत्सर्वमविवेकितया ते शाक्यादयो 'भुक्त्वा' अभ्यवहृत्य पुनः सातर्द्धिरसगौरवासक्तमनसः संघभक्तादिक्रियया तदवाप्तिकृते आर्तं ध्यानं ध्यायन्ति, न ह्यैहिकसुखैषिणां दासीदासधनधान्यादि परिग्रहवतां धर्मध्यानं भवतीति, तथा चोक्तम् -

''ग्रामक्षेत्रगृहादीनां, गवां प्रेष्यजनस्य च । यस्मिन्परिग्रहो दृष्टो, ध्यानं तत्र कुतः शुभम् ? ॥१॥''

इति, तथा -

''मोहस्यायतनं धृतेरपचयः शान्तेः प्रतीपो विधिर्व्याक्षेपस्य सुहृन्मदस्य भवनं पापस्य वासो निजः ।
दुःखस्य प्रभवः सुखस्य निधनं ध्यानस्य कष्टोरिपुः, प्राज्ञस्यापि परिग्रहो ग्रह इव क्लेशाय नाशाय च ॥१॥''

तदेवं पचनपाचनादिक्रियाप्रवृत्तानां तदेव चानुप्रेक्षमाणाना कुतः शुभध्यानस्य संभवः ? इति । अपिच-ते तीर्थिका धर्माधर्म विवेके कर्त्तव्ये 'अखेदज्ञा' अनिपुणाः, तथाहिशाक्या मनोज्ञाहार वसतिशय्यासनादिकं रागकारणमपि शुभध्यान निमित्त त्वेनाध्यवस्यन्ति, तथा चोक्तम्मणुण्णं भोयणं भुच्चे'त्यादि, तथा मांसं कल्किकमित्युपदिश्य संज्ञान्तर समाश्रयणान्निदेर्षि मन्यन्ते, बुद्धसंङ्घादिनिमितं चारम्भं निर्दोषमिति, तदुक्तम् -

''मंसनिवत्तिं का उं सेवइ दंतिक्कगंति धणिभेया । इय चइऊणारंभं परववएसा कुणइ बालो ॥१॥''

छाया- मांसनिवृतिं कृत्वा सेवते इदं कल्किमिति ध्वनिभेदादेवं त्यक्त्वारम्भं परव्यपदेशात्करोति बालः॥१॥

न चैतावता तन्निर्दोषता, न हि लूतादिकं शीतलिकाद्यभिधानान्तरमात्रेणान्यथात्वं भजते, विषं वा मधुर काभिधाने नेति, एवमन्येषामपि कापिलादीनामाविर्भावतिरोभावाभिधानाभ्यां विनाशोत्पादावभिदधतामनैपुण्यमाविष्करणीयं। तदेवं ते वराकाः शाक्यादयो मनोज्ञोद्दिष्टभोजिनः सपरिग्रहतयाऽऽर्तध्यायिनोऽसमाहिता मोक्षमार्गाख्याद्भावसमाधेरसंवृत्ततया दूरेण वर्तन्त इत्यर्थः ॥२६॥

टीकार्थ – वे परमतवादी भावात्मक समाधि से क्यों दूर हैं ? यह प्रश्न उपस्थित करते हुए सूत्रकार उसका निराकरण करतेहुए कहते हैं । वे बौद्ध आदि अन्य मतवादी जीव अजीव आदि तत्त्वों को नहीं जानते हैं । अतः शालि-चांवल विशेष, गेहूँ आदि अन्न, सचित जल तथा उनको देने हेतु उनके उपासकों द्वारा तैयार किये गये भोजन का अज्ञानवश सेवन करते हैं एवं सुख, समृद्धि, रस, गौरव, मान, प्रतिष्ठा में आसक्त रहते हैं । अपने धर्म संघ के लिये आहार आदि तैयार करवाने एवं उसे प्राप्त करने हेतु आर्त्तध्यान में लीन रहते हैं । जो लोग ऐहिक सुख चाहते हैं तथा दासी, दास, धन, धान्य आदि परिग्रह युक्त है उनको धर्मध्यान नहीं होता । कहा है - जिसमें गांव, क्षेत्र, घर, गायें, नौकर, चाकर आदि का परिग्रह दृष्टिगोचर होता है जो एतन्मूलक परिग्रह से युक्त है उसको शुभ ध्यान कहां से सधेगा । और भी कहा है-परिग्रह, मोह का आयतन-आवास स्थान है, धीरता का अपचय है-नाश करता है-शांति का प्रतीप-बाधक है चित्त को व्याक्षिप्त-चंचल बनाता

है, मद-अहंकार का मित्र है, पाप का भवन-घर है, दुःख का प्रभव-उत्पत्ति हेतु है, सुख का विध्वंसक है, ध्यान के लिये कष्टप्रद शत्रु है । वह विद्वान को भी ग्रह की ज्यों कष्ट देता है-नष्ट कर डालता है । अतः भोजन पकाना पकवाना आदि क्रियाओं में संलग्न रहने वाले और उसी की फिक्र में जुटे हुए पुरुषों के लिये शुभ ध्यान कहां से संभावितहै । वे अन्य मतवादी धर्म अधर्म के विवेक में-उनके बीच भेद करने में अकुशल है क्योंकि वे शाक्य-बौद्ध मनोज्ञ-मन के लिये प्रीतिकर आहार, वसति-आवास स्थान, शैय्या आसन आदि जो वास्तव में रागोत्पादक हैं, उन्हें शुभ ध्यान का कारण मानते हैं । जैसा वे कहते हैं प्रिय स्वादिष्ट भोजन आदि के सेवन से शुभध्यान होता है । वे मांस को कल्किक नामांतर देकर उसे निर्दोष मानते हैं । बुद्ध संघ के निमित्त किये जाने वाले आरम्भ-हिंसा आदि उपक्रमों को निर्दोष कहतेहैं । कहा गयाहै कि अज्ञानी मांस निवृत्ति कर-अपने आपको मांस से निवृत्त बतलाकर भी मांस को कल्किक नाम देकर उसका सेवन करते हैं । आरम्भ को छोड़कर पर विपदेश से-संघ आदि औरों के नाम से वैसा करते हैं । किंतु ऐसा करने से-नाम परिवर्तन करने से दोष नहीं मिटता । जैसे लूता-ग्रीष्म ऋतु में अत्यधिक ताप को शीतलिका-ठंडक नाम देने से उसके गुण में विपरीतता नहीं आती अथवा विष को अमृत नाम देने से वह अमृत नहीं बन जाता । उसी तरह उत्पाद और विनाश को आविर्भाव एवं तिरोभाव शब्द द्वारा प्रतिपादित करने वाले कपिल सिद्धान्त वादियों-सांख्यो की भी यह अनिपुणता है, ऐसा जानना चाहिये । मन के लिये प्रिय-प्रीतिजनक एवं उदिष्ट आहार का सेवन करने वाले परिग्रह रखने के कारण आर्त्त ध्यान में संलग्न रहने वाले असमाहित बौद्ध आदि तो असंवृतता-अशुभ के संवरण से रहित होने से मोक्ष मार्गमूलक समाधि से दूर ही रहते हैं ।

❀ ❀ ❀

जहा ढंका य कंका य, कुलला मग्गुका सिही ।
मच्छेसणं झियायंति, झाणं ते कलुसाधमं ॥२७॥
एवं तु समणा एगे, मिच्छद्दिट्ठी अणारिया ।
विसएसणं झियायंति, कंका वा कलुसाहमा ॥२८॥

छाया – यथा ढङ्काश्च कङ्काश्च कुरारा मुद्गुकाः सिधाः ।
मत्स्यैषणं ध्यायन्ति, ध्यानं तत् कलुषाधमम् ॥
एवं तु श्रमणा एके मिथ्यादृष्टयोऽनार्य्याः ।
विषयैषणं ध्यायन्ति, ध्यानन्तत् कलुषाधमम् ॥

अनुवाद – जैसे ढंक, कंक, कुरर, जलमुर्ग एवं शिखी नामक जल में रहने वाले पक्षी सदैव मछलियां पकड़ने की फिराक में रहते हैं उसी तरह कतिपय मिथ्यादृष्टि अनार्य श्रमण तथा कथित साधु सदा कलुषित अधम विषय प्राप्तिमूलक ध्यान ध्याते रहते हैं ।

टीका – यथा चैते रससातागौरवतयाऽऽर्तध्यायिनोभवन्ति तथा दृष्टान्तद्वारेण दर्शयितुमाह-यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः 'यथा' येन प्रकारेण 'ढङ्कादयः' पक्षिविशेषा जलाशयाश्रया आमिषजीविनो मत्स्यप्राप्तिं ध्यायन्ति, एवंभूतं च ध्यानमार्तरौद्रध्यानरूपतयाऽत्यन्तकलुषमधमं च भवतीति ॥२७॥

दार्ष्टान्तिकं दर्शयितुमाह-'एव' मिति यथा ढङ्कादयो मत्स्यान्वेषणपरं ध्यानं ध्यायन्ति तद्ध्यायिनश्च कलुषाधमा भवन्ति एवमेव मिथ्यादृष्टयः श्रमणा 'एके' शाक्यादयोऽनार्यकर्मकारित्वासारम्भपरिग्रहतया अनार्याः सन्तो विषयाणां-शब्दादीनां प्राप्तिं ध्यायन्ति तद्ध्यायिनश्च कङ्का इव कलुषामा भवन्तीति ॥२८॥ किञ्च -

टीकार्थ – पहले जिनका वर्णन किया गया है वे अन्य मतवादी जीभ के स्वाद, सुख तथा अभिमान से युक्त होते हुए आर्त्तध्यान में संलग्न रहते हैं । दृष्टान्त द्वारा इसे समझाने हेतु सूत्रकार प्रतिपादित करते हैं। यहां 'यथा' शब्द उदाहरण को सूचित करने हेतु प्रयुक्त हुआ है । जलाशय में आश्रित आमिषजीवी ढंक आदि भिन्नभिन्न पक्षी सदैव मछलियां पकड़ने के ध्यान में संलग्न रहते हैं, जो आर्त्त रौद्र रूप लिये हुए होता है अत्यन्त कलुषित व अधम होता है ।

उदाहरण का सार बतलाते हुए कहते हैं कि जैसे ढंक आदि पक्षी मछलियों को पकड़ने की फिराक में ध्यान लगाये रहतेहैं वैसा ध्यान करते हुए वे कलुषित एवं अधम हैं उसी प्रकार कतिपय बौद्ध आदि मिथ्या दृष्टि श्रमण तथाकथित साधु अनार्य-अधम कर्म करने के कारण एवं आरम्भ व परिग्रह में ग्रस्त होने के कारण सदैव शब्दादि विषयों-भोगों की प्राप्ति का ध्यान करते हैं । वे कंक पक्षियों की ज्यों कलुषित एवं अधम हैं।

❀ ❀ ❀

सुद्धं मग्गं विराहित्ता, इहमेगे उ दुम्मती ।
उम्मग्गगता दुक्खं, घायमेसंति तं तहा ॥२९॥

छाया – शुद्धं मार्गं विराध्य, इहैके तु दुर्मतयः ।
उन्मार्गगताः दुःखं घातमेष्यन्ति, तत्तथा ॥

अनुवाद – इस संसार में शुद्ध-निर्दोष मोक्ष मार्ग की विराधना कर उन्मार्ग-दोषपूर्ण मार्ग में प्रवृत्त कतिपय दुर्मति-दुषित बुद्धियुक्त अथवा मिथ्यात्वग्रस्त अन्य मतवादी दुःख तथा विनाश को प्राप्त करते हैं ।

टीका – 'शुद्धम्' अवदातं निर्दोषं 'मार्गं' सम्यग्दर्शनादिकं मोक्षमार्गं कुमार्गप्ररुपणया 'विराध्य' दूषयित्वा 'इह' अस्मिन्संसारे मोक्षमार्गप्ररूपणप्रस्तावे वा 'एके' शाक्यादयः स्वदर्शनानुरागेण महामोहाकुलितान्तरात्मानो दुष्टा पापोपादानतया मतिर्येषां ते दुष्टमतयः सन्त उन्मार्गेणसंसारावतरणरूपेण गताः-प्रवृत्ता उन्मार्गगता दुःखयतीति दुःखम्-अष्ट प्रकारं कर्मासातोदयरूपं वा तद्दुःखं घातं चान्तशस्ते तथासन्मार्गविराधनया उन्मार्गगमनं च 'एषन्ते', अन्वेषयन्ति, दुःखमरणे शतशः प्रार्थयन्तीत्यर्थः ॥२९॥

टीकार्थ – दोष विवर्जित सम्यक्दर्शन आदि मोक्ष मार्ग है । शाक्य आदि कुमार्ग-कुत्सित या मिथ्या मार्ग का प्रतिपादन कर उसकी विराधना करते हैं । इस संसार में मोक्षमार्ग की प्ररुपणा करने के संदर्भ में उनका हृदय अपने दर्शन के प्रति अनुराग-आसक्त भाव के कारण अत्यधिक मोह से दूषित है तथा पाप के उपादान-ग्रहण या स्वीकार के कारण उनकी बुद्धि दुषित है । वे उस मार्ग पर चलते हैं जो संसार में उतारता है, ले जाता है, वे उन्मार्ग-विपरीतपथगामी है, जिससे वे अन्त में अष्टविध कर्म बांधते हैं । असातावेदनीय कर्म के उदय से दुःख पाते हैं । वे सन्मार्ग की विराधना करते हुए उन्मार्ग में चलते रहने की अभिप्सा लिये रहते हैं। वे सैंकड़ों बार दुःख एवं मरण की अभ्यर्थना करते हैं । अपने कर्मों के कारण इन्हें प्राप्त करते हैं ।

जहा आसाविणिं नावं, जाइअंधो दुरुहिया ।
इच्छई पारमागंतुं, अंतरा य विसीयति ॥३०॥
एवं तु समणा एगे, मिच्छदिट्ठी अणारिया ।
सोयं कसिणमावन्ना, आगंतारो महब्भयं ॥३१॥

छाया – यथाऽऽस्त्राविणीं नावं, जात्यन्धो दुरुह्य ।
इच्छति पार मागन्तु मन्तरा च विषीदति ॥३०॥
एवन्तु श्रमणा एके मिथ्यादृष्टयोऽनार्य्याः ।
स्रोतः कृत्स्नमापन्ना आगन्तारो महाभयम् ॥३१॥

अनुवाद – जन्म से चक्षुहीन पुरुष जिस प्रकार एक छिद्र युक्त नौका पर आरूढ़ होकर नदी को पार करना चाहता है, किन्तु वह बीच में ही डूब जाता है, उसी प्रकार कई मिथ्यादृष्टि अनार्य-अधम श्रमण-तथाकथित साधु जो सम्पूर्ण रूप में आश्रवों का सेवन करते हैं, वे अत्यन्त भय को प्राप्त करते हैं ।

टीका – शाक्यादीनां चापायं दिदर्शयिषुस्तावद्दृष्टातमाह-यथा जात्यन्ध 'आस्राविणीं' शतच्छिद्रां नावमारुह्य पारमागन्तुमिच्छति, न चासौ सच्छिद्रतया पारगामी भवति, किं तर्हि ? अन्तराल एव-विषीदतिनिमज्जतीत्यर्थः ॥

दार्ष्टान्तिकमाह-एवमेव श्रमणा 'एके' शाक्यादयो मिथ्यादृष्टयोऽनार्या भावस्रोतः-कर्माश्रवरूपं 'कृत्स्नं' सम्पूर्णमापन्नाः सन्तस्ते 'महाभयं' पौनःपुन्येन संसार-पर्यटनया नारकादिस्वभावं दुःखम् 'आगन्तारः' आगमनशीला भवन्ति, न तेषां संसारोदधेरास्त्राविणी' नावं व्यवस्थितानामिवोत्तरणं भवतीति भावः ॥३०॥३१॥

टीकार्थ – शाक्य आदि के अपाय-विनाश या अधःपतन को बताने हेतु सूत्रकार दृष्टान्त द्वारा प्रतिपादित करते हैं-एक जन्म से अन्धा मनुष्य सैंकड़ों छिद्र युक्त नौका पर आरूढ़ होकर नदी को पार करना चाहता है किन्तु सछिद्र-छिद्र सहित नौका होने के कारण वह पार नहीं जा सकता, बीच में ही पानी में डूब जाता है ।

इस दृष्टान्त का सार बताते हुए सूत्रकार कहते हैं-इसी प्रकार मिथ्यादृष्टियुक्त अनार्य-बौद्ध आदि श्रमण जो सम्पूर्णतः कर्मों के आश्रव-कर्मागम स्रोत में संपृक्त होते हैं वे पुनः पुनः संसार में भटकते हुए नरक आदि के दुःखों को भोगते हैं । छिद्रयुक्त नौका पर बैठे हुए जनों की ज्यों वे संसार रूपी सागर को पार नहीं कर सकते ।

❀ ❀ ❀

इमं च धम्ममादाय, कासवेण पवेदितं ।
तरे सोयं महाघोर, आत्तत्ताए परिव्वए ॥३२॥

छाया – इमञ्च धर्ममादाय, काश्यपेन प्रवेदितम् ।
तरेत्स्रोतो महाघोर मात्मत्राणाय परिव्रजेत् ॥

अनुवाद – काश्यप गौत्रीय भगवान महावीर द्वारा प्रवेदित-प्ररूपित इस धर्म को आत्मसात् कर मेधावी पुरुष महाघोर-अत्यन्त कष्टप्रद संसार के प्रवाह को पार करे । तथा आत्मत्राण-आत्मोत्थान हेतु अपने प्रव्रजित जीवन का-संयम का सम्यक् परिपालन करे ।

टीका – यतः शाक्यादयः श्रमणाः मिथ्यादृष्टयोऽनार्याः कृत्स्नं स्रोतः समापन्नाः महाभयमागन्तारो भवन्ति तत इदमुपदिश्यते-'इम' मिति प्रत्यक्षासन्नवाचित्वादिदमोऽनन्तरं वक्ष्यमाण लक्षणं सर्वलोक प्रकटं च दुर्गति-निषेधेन शोभनगतिधारणात् 'धर्मं' श्रुतचारित्राख्यं चशब्दः पुनः शब्दार्थे, स च पूर्वस्माद्व्यतिरेकं दर्शयति, यस्माच्छौद्धोदनिप्रणतिधर्मस्यादातारो महाभयं गन्तारो भवन्ति, इमं पुनर्धर्मम् 'आदाय' गृहीत्वा 'काश्यपेन' श्री

वर्धमानस्वामिना 'प्रवेदितं' प्रणीतं 'तरेत्' लङ्घयेद्भावस्रोतः संसारपर्यटनस्वभावं, तदेव विशिनष्टि-'महाघोरं' दुरुत्तरत्वान्महाभयानकं, तथाहितदन्तर्वर्तिनो जन्तवो गर्भाद्गर्भं जन्मतो जन्म मरणान्मरणं दुःखाद्दुःखमित्येवमरघट्टघटीन्यायेनानुभवन्तोऽनन्तमपि कालमासते । तदेवं काश्यप प्रणीत धर्मादानेन सता आत्मनस्त्राणं-नदकादिरक्षा तस्मै आत्मत्राणाय परिः-समन्ता (ह्रजे) त्परिव्रजेत्संयमानुष्ठायी भवेदित्यर्थः क्वचित्पश्चार्धस्यान्यथा पाठः-'कुज्जा भिक्खू गिलाणस्स, अगिलाए समाहिए' 'भिक्षुः' साधुः ग्लानस्य वैयावृत्यम् 'अग्लानः' अपरिश्रान्तः कुर्यात्सम्यक्समाधिनाग्लानस्य वा समाधिमुत्पादयन्निति ॥३२॥ कथं संयमानुष्ठाने परिव्रजे दित्याह -

टीकार्थ – मिथ्यादृष्टि अनार्य,-बौद्ध आदि परमतवादी इस संसार सागर में सर्वथा विनिमग्न होते हुए अत्यन्त दुःख प्राप्त करते हैं । अतः सूत्रकार उपदिष्ट करते हैं । यहां प्रयुक्त 'इदं' शब्द प्रत्यक्ष एवं आसन्नवर्ती पदार्थ का बोधक है । इसके अनुसार जिसका स्वरूप वक्ष्यमाण है-आगे कहा जाने वाला है, जो समग्र लोक में प्रकट-प्रसिद्ध है तथा जो जीव को दुर्गति में जाने से रोकता है शोभन-उत्तम गति में धारण करता है-ले जाता है वह श्रुत एवं चारित्रमूलक धर्म सबमें श्रेष्ठ है । यहां 'च' शब्द पुनः के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । वह पहले बतलाये गये शाक्य धर्म से इसके श्रुत और चारित्र की विशिष्टता सूचित करता है । सौद्धोदनि-बुद्ध द्वारा प्रणीत-प्ररूपित धर्म को ग्रहण करने वाले, मानने वाले अत्यन्त भय को प्राप्त होतेहैं किन्तु काश्यप गोत्रीय श्री वर्धमान स्वामी द्वारा प्रवेदित-प्रज्ञापित धर्म को अंगीकार कर भाव स्रोतः स्वरूप संसार समुद्र को पार कर जाते हैं । अब उसकी-संसार की विशेषता बताते हुए कहते हैं वह संसार महाघोर-दुरुत्तर होने से अत्यन्त भयानक है । उसके अन्तर्वर्ती जन्तु एक गर्भ से दूसरे गर्भ में, एक जन्म से दूसरे जन्म में, एक मरण से दूसरे मरण में तथा एक दुःख से दूसरे दुःख में रहट पर लगी घटिकाओं की तरह घूमते हुए अनन्त काल दुःख प्राप्त करते हैं । इस संसार सागर से रक्षा पाने हेतु जीव को चाहिये कि वह भगवान महावीर द्वारा प्ररूपित धर्म को स्वीकार कर संयम का अनुष्ठान करे । कहीं-कहींगाथा के उत्तरार्द्ध का पाठ 'कुज्जा भिक्खू गिलाणस्स अगिलाए समाहिए' यों प्राप्त होता है अर्थात् साधु ग्लान-रूग्ण साधु का अग्लानभाव से अपरिश्रान्त रूप में भली भांति समाधिपूर्वक सेवा करे । रूग्ण के मन में समाधि शांति उत्पन्न करे ।

साधु संयम के परिपालन में किस प्रकार गतिशील रहे, यह बतलाते हुए शास्त्रकार कहते हैं-

❀ ❀ ❀

विरए गामधम्मेहिं, जे केई जगई जगा ।
तेसिं अत्तुवमायाए, थामं कुव्वं परिव्वए ॥३३॥

छाया – विरतोग्रामधर्मेभ्यः, ये केचिद् जगति जगाः ।
तेषामात्मोपमया, स्थामं कुर्वन् परिव्रजेत् ॥

अनुवाद – साधु ग्राम धर्मों-शब्दादि इन्द्रिय विषयों से विरत होकर जागतिक प्राणियों को आत्मोपम-अपने सदृश समझता हुआ पराक्रम पूर्वक संयम का परिपालन करे ।

टीका – ग्रामधर्मः शब्दादयो विषयास्तेभ्यो विरता मनोज्ञेतरेष्वरक्तद्विष्टाः सन्त्येके केचन 'जगति' पृथिव्यां संसारोदरे 'जगा' इति जन्तवो जीविताथिनस्तेषां दुःख द्विषामात्मोपमया दुःखमनुत्पादयन् तद्रक्षणे सामर्थ्यं कुर्यात् कुर्वश्च संयमानुष्ठाने परिव्रजेदिति ॥३३॥

टीकार्थ – शब्द आदि इन्द्रिय विषय ग्रामधर्म कहलाते हैं । ऐसे कतिपय साधु हैं जो उनसे विरत, निवृत्त होते हैं । अर्थात् मनोज्ञ-मन के लिये प्रीतिप्रद शब्दादि विषयों में अनुराग तथा अमनोज्ञ-दुःखप्रद विषयों में द्वेष नहीं करते । संसार के उदर में-भीतर रहने वाले जो प्राणी हैं, वे सभी जीविताथीं हैं-जीने की कामना लिये रहते हैं । वे दुःख से द्वेष करते हैं-दुःख नहीं चाहते । अतः उन प्राणियों को आत्मोपम समझकर साधु उनको दुःख न देता हुआ उनके त्राण हेतु सामर्थ्य-पराक्रम प्रकट करता हुआ संयम का अनुष्ठान करे ।

❀ ❀ ❀

अइमाणं च मायं च, तं परिन्नाय पंडिए ।
सव्वमेयं णिराकिच्चा, णिव्वाणं संधए मुणी ॥३४॥

छाया – **अतिमानञ्च मायाश्च तत्परिज्ञाय पण्डितः ।**
सर्वमेतन्निराकृत्य, निर्वाणं संधयेन्मुनिः ॥

अनुवाद – पंडित-ज्ञानयुक्त साधु अभिमान तथा माया या प्रवञ्चना का स्वरूप समझकर तथा उनका परित्याग कर मोक्ष की साधना में तत्पर रहे ।

टीका – संयम विघ्नकारिणामपनयनार्थमाह-अतीव मानोऽतिमानश्चारित्रमतिक्रम्य यो वर्तते चकारादेतद्देश्यः क्रोधोऽपि परिगृह्यते, एवमतिमायां चशब्दादतिलोभं च, तमेवंभूतं कषायव्रातं संयमपरिपन्थिनं 'पण्डितो' विवेकी परिज्ञाय सर्वमेनं संसारकारणभूतं कषायसमूहं निराकृत्य निर्वाणमनुसंधयेत्, सति च कषायकदम्बके न सम्यक् संयमः सफलतां प्रतिपद्यते, तदुक्तम् -

"सामण्णमणुचरंतस्स, कसाया जस्स उक्कडा होंति । मण्णामि उच्छुपुप्फं व, निष्फलं तस्स सामण्णं ॥१॥"

छाया - श्रामण्यमनुचरतः कषाया यस्योत्कटा भवंति । मन्ये इक्षुपुष्पमिव निष्फलं तस्य श्रामण्यं ॥१॥

तन्निष्फलत्वे च न मोक्ष संभवः, तथा चोक्तम् -

"संसारादपलायन प्रति भुवो रागादयो मे स्थितास्तृष्णा बन्धनबध्यमानमखिलं किं वेत्सि नेदं जगत् ? ।
मृत्यो ! मुञ्ज जराकरेण परुषं केशेषु मा मा ग्रहीरेही त्यादर मन्तरेण भवतः किं नागमिष्याम्यहम् ? ॥१॥"

इत्यादि । तदेवमेवंभूतकषाय परित्यागादच्छिन्न प्रशस्तभावानुसंधनया निर्वाणानुसंधानमेव श्रेय इति ॥३४॥

टीकार्थ – संयम में विघ्न उपस्थित करने वाले दोषों का अपनयन करने हेतु सूत्रकार कहते हैं – जो मान या अहंकार चारित्र को अतिक्रान्त करता है-ध्वस्त करता है, उसे अतिमान कहा जाता है। यहां प्रयुक्त 'च' शब्द से इसी प्रकार क्रोध का भी ग्रहण है । अतिमाया और 'च' शब्द से अतिलोभ गृहीत है । यह कषाय संयम के परिपन्थी-विरोधी, शत्रु हैं । अतः पंडित-विवेकी मुनि संसार के कारणभूत इन कषायों का निराकरण कर-इनका त्याग कर निर्वाण का अनुसंधान करे । मोक्ष के मार्ग पर गमनोद्यत रहे । कषायों के रहते हुए संयम का भलीभांति-सफलतापूर्वक पालन नहीं किया जा सकता है । अतएव कहा है श्रामण्य-श्रमण जीवन का, संयम का अनुचरण-अनुपालन करते हुए जिस पुरुष के कषाय उत्कट-प्रबल बने रहते हैं, उसका श्रामण्य इक्षु के पुष्प की ज्यों निरर्थक है । श्रामण्य के निष्फल होने पर मोक्ष प्राप्त होना संभव नहीं है । अतएव कहा है-हे मृत्यु ! संसार से पलायन कर अन्यत्र न जाने देने वाले राग आदि मुझमें विद्यमान हैं।

यह समस्त जगत तृष्णा रूपी बंधन में बंधा हुआ है । क्या तुम यह नहीं जानते । इसलिये वृद्धत्व रूपी हाथ द्वारा मेरे बालों को कठोरता के साथ मत पकड़ों । इन्हें छोड़ दो, आ जाओ-यों आदरपूर्वक बुलाये बिना भी क्या मैं आपके पास नहीं आऊँगा । इसलिये साधु को कषायों का परित्याग कर अछिन्न-परिपूर्ण प्रशस्त भावपूर्वक मोक्ष के अनुसंधान-साधना में तत्पर रहना चाहिये । यही उसके लिये श्रेयस्कर है ।

❀ ❀ ❀

संधए साहधम्मं च, पावधम्मं णिराकरे ।
उवाणवीरिए भिक्खू, कोहं माणं ण पत्थए ॥३५॥

छाया – संधयेत्साहु धर्मञ्च, पापधर्मं निराकुर्य्यात् ।
उपधानवीर्य्यो भिक्षुः, क्रोधं मानञ्च वर्जयेत् ॥

अनुवाद – भिक्षु साधुधर्म-क्षांति आदि उत्तम धर्म का संधान करे, वृद्धि करे तथा पापमय कृत्यों का परित्याग करे । तपश्चरण में पराक्रम शील साधु क्रोध और मान का परिवर्जन करे ।

टीका - किञ्च-साधूनां धर्मः क्षान्त्यादिको दशविधः सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्राख्यो वा तम् 'अनुसंधयेत्' वृद्धिमापादयेत्, तद्यथा-प्रतिक्षणमपूर्वज्ञान ग्रहणेन ज्ञानं तथा शङ्कादिदोषपरिहारेण सम्यग्जीवादिपदार्थाधिगमेन च सम्यग्दर्शनम् अस्खलितमूलोत्तरगुण संपूर्णपालनेन प्रत्यहमपूर्वाभिग्रहग्रहणेन (च) चारित्रं (च) वृद्धिमा पादयेदिति, पाठान्तरं वा 'सद्दहे साधुधम्मं च' पूर्वोक्त विशेषणविशिष्टं साधुधर्मं मोक्षमार्गत्वेन श्रद्दधीत-निःशङ्कतया गृह्णीयात् च शब्दात्सम्यगनुपालयेच्च, तथा पापं-पापोपादानकारणं धर्मं प्राण्युपमर्देन प्रवृत्तं निराकुर्यात्, तथोपधानं-तपस्तत्र यथाशक्त्या वीर्यं यस्य स भवत्युपधानवीर्यः, तदेवंभूतो भिक्षुः क्रोधं मानं च न प्रार्थयेत न वर्धयेद्वेति ॥३५॥

टीकार्थ – क्षांति-क्षमाशीलता आदि साधुओं का दस प्रकार का धर्म है अथवा सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र उनका धर्म है । साधु उसकी वृद्धि करे-उसे बढ़ाता जाये । वह प्रतिक्षण अपूर्व अभिनव ज्ञान का ग्रहण कर उसे बढ़ाये तथा शंका आदि दोषों का परिहार कर जीवादि पदार्थों को भलीभांति अधिगत कर सम्यक्दर्शन का अभिवर्द्धन करे, उन्नयन करे । अस्खलित-अतिचार रहित मूलगुणों तथा उत्तरगुणों का पूर्णरूप से पालन कर प्रतिदिन नव-नव अभिग्रह स्वीकरण द्वारा चारित्र की वृद्धि करे । यहाँ 'सद्दहे साधु धम्मंच' ऐसा पाठान्तर प्राप्त होता है । उसका यह तात्पर्य है कि पूर्वोक्त विशेष-विशिष्ट विशेषताओं से युक्त साधु धर्म को श्रद्धापूर्वक मोक्ष का मार्ग समझे तथा निशंक होकर उसे ग्रहण करे । यहां प्रयुक्त 'च' शब्द के अनुसार उस धर्म का सम्यक् अनुपालन करे । जो धर्म प्राणियों के उपमर्द-हिंसा से युक्त है, पाप का हेतु भूत है । उसका परित्याग करे । तपश्चरण में यथाशक्ति संलग्न रहे । क्रोध और मान को अपने में न आने दे । न उन्हें बढ़ने दे।

❀ ❀ ❀

जे य बुद्धा अतिक्कंता, जे य बुद्धा अणागया ।
संति तेसिं पइट्ठाणं, भूयाणं जगती जहा ॥३६॥

छाया – ये च बुद्धा अतिक्रान्ता ये च बुद्धा अनागताः ।
शांतिस्तेषां प्रतिष्ठानं भूतानां जगती यथा ॥

अनुवाद – अतीत में जो तीर्थंकर हो चुके हैं तथा अनागत-भविष्य में जो होंगे उन सबका शांति ही प्रतिष्ठान-आधार या पृष्ठभूमि है । जैसे यह जगत प्राणियों का आधार है ।

टीका – अथैवंभूतं भावमार्गं किं वर्धमानस्वाम्येवोपदिष्टवान् उतान्येऽपीत्येत दाशङ्क्याह ये बुद्धाः -तीर्थकृतोऽतीतेऽनादिके कालेऽनन्ताः समतिक्रान्ताः ते सर्वेऽप्येवंभूतं भावमार्गमुपन्यस्तवन्तः, तथा ये चानागता भविष्यदनन्तकालभाविनोऽनन्ता एव तेऽप्येव मेवोपन्यसिष्यन्ति, च शब्दा द्वर्तमान काल भाविनश्च संख्येया इति। न केवलमुपन्यस्तवन्तोऽनुष्ठित वंतश्चेत्येतद्दर्शयति शमनं शान्तिः-भावमार्गस्तेषामतीतानागतवर्तमानकालभाविनां बुद्धानां प्रतिष्ठानम्-आधारो बुद्धत्वस्यान्यथानुपपत्तेः, यदिवा शान्तिः-मोक्षः स तेषा प्रतिष्ठानम्-आधारः, ततस्तदवाप्तिश्च भावमार्गमन्तरेण न भवतीत्यतस्ते सर्वेऽप्येनं भावमार्गमुक्तवन्तोऽनुष्ठितवन्तश्च (इति) गम्यते । शान्तिप्रतिष्ठानत्वे दृष्टान्तमाह-'भूतानां' स्थावरजङ्गमानां यथा 'जगती' त्रिलोकीप्रतिष्ठानं एवं ते सर्वेऽपि बुद्धाः शान्ति प्रतिष्ठाना इति ॥३६॥ प्रतिपन्नभावमार्गेण च यद्विधेयं तद्दर्शयितुमाह -

टीकार्थ – इस भावमार्ग का उपदेश क्या केवल वर्धमान स्वामी-भगवान महावीर ने ही किया अथवा अन्य तीर्थंकरों ने भी ? यह प्रश्न उपस्थित कर सूत्रकार इसका समाधान देते हुए कहते हैं -

अनादि-जिसका कोई आदि या प्रारंभ नहीं है उस काल में जो अनंत तीर्थंकर अतिक्रांत हो चुके हैं उन सबने इसी भावमार्ग का उपन्यास किया-निरूपण किया तथा अनागत-भावी अनन्तकाल में जो अनन्त तीर्थंकर होंगे, वे भी इस भावमार्ग का उपन्यास-उपदेश करेंगे । यहां प्रयुक्त 'च' शब्द के अनुसार वर्तमान काल में जो संख्यात तीर्थंकर विद्यमान हैं, वे भी इसी भार्ग का प्रतिपादन करते हैं । उन महापुरुषों ने इस मार्ग का केवल निरूपण ही नहीं किया वरन् इसका अपने जीवन में अनुष्ठान भी किया । सूत्रकार इसका दिग्दर्शन कराते हुए कहते हैं-शमन-कषायों का शमन करना शांति कहा जाता है । वह भाव मार्ग है । वही भूतकालीन, भविष्यकालीन तथा वर्तमानकालीन तीर्थंकरों का प्रतिष्ठान-आधार है । क्योंकि उसके बिना बुद्धत्व उत्पन्न-प्राप्त नहीं होता हैं । अथवा मोक्ष को शांति कहा जाता है, जो सभी तीर्थंकरों का प्रतिष्ठान या आधार हैं । उसी से शांति प्राप्त होती है । भावमार्ग के स्वीकार के बिना वह प्राप्त नहीं होती । अतएव सभी तीर्थंकरों ने भावमार्ग का आख्यान किया है-अनुष्ठान किया है, आचरण किया है । शांति ही तीर्थंकरों का प्रतिष्ठान-आधार है । इस संबंध में दृष्टान्त द्वारा बतलाते हैं-जैसे जीवों का आधार त्रैलोक्य है, उसी तरह तीर्थंकरों का आधार शांति है ।

जिसने भाव मार्ग स्वीकार किया है, ऐसे साधु को जो करना चाहिये, उसका दिग्दर्शन कराने हेतु कहते हैं ।

❀ ❀ ❀

अह णं वयमावन्नं, फासा उच्चावया फुसे ।
ण तेसु विणिहण्णेज्जा, वाएण व महागिरी ॥३७॥

छाया – अथ वै व्रतमापन्नं स्पर्शा उच्चावचाः स्पृशेयुः ।
न तेषु विनिहन्याद् वातेनेव महागिरिः ॥

अनुवाद – व्रत आपन्न-जिसने व्रत स्वीकार किए हैं, ऐसे साधु को यदि उच्चावच्च-बड़े या छोटे तरह तरह के परीषह एवं उपसर्ग स्पर्श करे-उसे उनका सामना करना पड़े तो जैसे महान् पर्वत हवा के झोके से डिगता नहीं, उसी प्रकार साधु संयम से विचलित न बने ।

टीका – 'अथ' भावमार्गप्रतिपत्त्यनन्तरं साधुं प्रतिपन्नव्रतं सन्तं स्पर्शाः-परीषहोपसर्गरूपाः 'उच्चावचा' गुरुलघवो नानारूपा वा 'स्पृशेयुः' अभिद्रवेयुः, स च साधुस्तैरभिद्रुतः संसारस्वभावमपेक्षमाणः कर्म निर्जरां च न तैरनुकूलप्रतिकूलैर्विहन्यात्, नैव संयमानुष्ठानान्मनागपि विचलेत्, किमिव ?, महावैतेनैव महागिरिः-मेरुरिति । परीषहोपसर्गजयश्चाभ्यासक्रमेण विधेयः, अभ्यासवशेन हि दुष्करमपि सुकरं भवति, अत्र च दृष्टान्तः, तद्यथा-कश्चिद्गोपस्तदहर्जातं तर्णकमुत्क्षिप्य गवान्तिकं नयत्यानयति च ततोऽसावनेनैव च क्रमेण प्रत्यहं प्रवर्द्धमानमपि वत्समुत्क्षिपन्नभ्यासवशाद्द्विहायनं त्रिहायणमप्युत्क्षिपति, एवं साधुरप्यभ्यासात् शनैः शनैः परिषहोपसर्गजयं विधत्त इति ॥३७॥

टीकार्थ – भावमार्ग की प्रतिपत्ति-स्वीकरण के अनन्तर व्रत प्रतिपन्न-व्रतधारक साधु भिन्न भिन्न प्रकार के छोटे बड़े परीषहों एवं उपसर्गों से अभिद्रूप हो-बाधित हो, तो वह संसार का स्वभाव तथा कर्म निर्जरा का चिन्तन करता हुआ उन्हें सहन करे । वह अनुकूल-प्रिय तथा प्रतिकूल-अप्रिय उपसर्गों द्वारा संयम के अनुष्ठान में जरा भी विचलित न बने । किसकी ज्यों ? महावात-प्रबल वायु से जिस प्रकार महागिरि-मेरू पर्वत विचलित नहीं होता है, वैसे ही वह अविचलित रहे । साधु परीषहों और उपसर्गों को जीतने का क्रमशः अभ्यास करता जाए क्योंकि दुष्कर-कठिन कार्य भी अभ्यास द्वारा सुकर-सरल हो जाता है । यहाँ एक दृष्टान्त उपस्थित किया जाता है । कोई ग्वाला उसी दिन जन्मे हुए गाय के बछड़े को उठाकर गाय के समीप ले जाता है, वापस ले आता है-यों वह इसी क्रम से हर रोज बढ़ते जाते बछड़े को निरन्तर गतिशील अभ्यास द्वारा उसके दो वर्ष के एवं आगे तीन वर्ष तक के होने पर भी लाना, ले जाना चालू रखता है । इसी प्रकार साधु भी धीरे धीरे अभ्यासरत रहता हुआ परीषहों एवं उपसर्गों को जीत लेता है ।

❀ ❀ ❀

संवुडे से महापन्ने, धीरे दत्तेसणं चरे ।
निव्वुडे कालमाकंखी, एवं (यं) केवलिणो मयं ॥३८॥त्तिबेमि॥

छाया – संवृत्तः स महाप्राज्ञः, धीरो दत्तैषणां चरेत् ।
निवृतः कालमाकाङ्क्षे देवं केवलिनो मतम् ॥इति ब्रवीमि॥

अनुवाद – संवृत-संवरयुक्त महाप्राज्ञ-अत्यन्त विवेकशील, धैर्यशील साधु अन्य द्वारा दिया हुआ एषणीय-कल्पनीय आहार आदि ग्रहण करे । वह निर्वृत्त-प्रशांतभाव युक्त होकर मरण काल की आकांक्षा करे । यह केवलज्ञानी भगवान का अभिमत-मन्तव्य या उपदेश है ।

टीका – साम्प्रतमध्ययनार्थमुपसंजिहीर्षुरुक्तशेषमधिकृत्याह-स साधुः एवं संवृताश्रवद्वारतया संवरसंवृतो महती प्रज्ञा यस्यासौ महाप्रज्ञः-सम्यग्दर्शनज्ञानवान्, तथा धीः-बुद्धिस्तया राजत इति धीरः परीषहोपसर्गाक्षोभ्यो वा स एवंभूतः सन् परेण दत्ते सत्याहारादिके एषणां चरेत्त्रिविधयाप्येषणया युक्तः सन् संयममनुपालयेत्, तथा निर्वृत'इव निर्वृतः कषायोपशमाच्छीतीभूतः 'कालं' मृत्युकालं यावदभिकाङ्क्षेत् 'एतत्' यत् मया प्राक् प्रतिपादितं तत् 'केवलिनः' सर्वज्ञस्य तीर्थकृतो मतं । एतच्च जम्बूस्वामिनमुद्दिश्य सुधर्मस्वाम्याह । तदेतद्यत्त्वया मार्गस्वरूपं प्रश्नितं तन्मया न स्वमनीषिकया कथितं, किं तर्हि ?, केवलिनो मतमेतदित्येवं भवता ग्राह्यं । इतिः परिसमाप्त्यर्थे, ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥३८॥

॥ इति मार्गाख्यमेकादशमध्ययनं समाप्तम् ॥

टीकार्थ - सूत्रकार अब इस अध्ययन को परिसमाप्त करने हेतु शेष कथ्य बतलाते हैं-आश्रवद्वारों का अवरोध कर संवरयुक्त महाप्राज्ञ-सम्यक्दर्शन एवं ज्ञान समन्वित धीर-मेधाशील, धैर्यशील अथवा परीषहों एवं उपसर्गों से अक्षुब्ध-घबराहट रहित साधु अन्य द्वारा दिया हुआ एषणीय आहार ही स्वीकार करे । वह विविध एषणाओं से युक्त होकर संयम का परिपालन करे । कषायों के उपशान्त हो जाने से शांत बना हुआ वह साधु मरण काल की अभिकांक्षा करे । मैंने जो यह पहले कहा है वही केवली भगवान का अभिमत है । यह श्री सुधर्मास्वामी श्री जम्बूस्वामी को अभिहित करते हैं । तुमने जो मुझसे मार्ग का स्वरूप पूछा उसका उत्तर मैंने अपनी मनीषा-मनःकल्पना द्वारा नहीं दिया है-अपनी ओर से नहीं कहा है किन्तु केवली भगवान के मत-अभिमत का कथन कियाहै । इसे ग्रहण करो ।

यहां इति शब्द परिसमाप्ति के अर्थ में है । ब्रवीमि-बोलता हूं-पूर्ववत् है ।

मार्ग नामक ग्यारहवाँ अध्ययन समाप्त हुआ

❀ ❀ ❀

卐卐卐

द्वादशं श्रीसमवसरणाध्ययनं

चत्तारि समोसरणाणिमाणि, पावादुया जाइं पुढो वयंति ।
किरियं अकिरियं विणियंति तइयं, अन्नाणमाहंसु चउत्थमेव ॥१॥

छाया – **चत्वारि समवसरणानीमानि, प्रावादुकाः यानि पृथग्वदन्ति ।**
क्रिया मक्रियां विनयमिति तृतीय मज्ञानमाहुश्चतुर्थमेव ॥

अनुवाद – प्रावादुक-अन्य दर्शनवादी जिन चार समोसरणों को-सिद्धान्तों को एकान्तररूप से प्रतिपादित करते हैं वे क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद एवं चौथा अज्ञानवाद है ।

टीका – अस्य च प्राक्तनाध्ययनेन सहायं संबन्धः, तद्यथा-साधुना प्रतिपन्नाभावमार्गेण कुमार्गाश्रिताः परवादिनः सम्यक् परिज्ञाय परिहर्तव्याः, तत्स्वरूपाविष्करणं चानेनाध्ययनेनोपदिश्यते इति, अनन्तरसूत्रस्यानेन सूत्रेण सह संबन्धोऽयं, तद्यथा-संवृतो महाप्रज्ञो वीरो-दत्तैषणां चरन्नभिनिर्वृतः सन् मृत्युकालमभिकाङ्क्षेद् एतत्केवलिनो भाषितं, तथा परतीर्थिकपरिहारं च कुर्यात् एतच्च केवलिनो मतम्, अतस्तत्परिहार्थं तत्स्वरूपणनिरुपणमनेन क्रियते। 'चत्वारी'' ति संख्यापदमपरसंख्यानिवृत्यर्थं 'समवसरणानि' परतीर्थिकाभ्युपगमसमूहरूपाणि यानि प्रावादुकाः पृथक् पृथग्वदन्ति, तानि चामूनि अन्वर्थाभिधायिभिः संज्ञापदैर्निर्दिश्यन्ते, तद्यथा-क्रियाम्-अस्तीत्यादिकां वदितुं शीलं येषां ते क्रियावादिनः, तथाऽक्रियां-नास्तीत्यादिकां वदितुं शीलं येषां तेऽक्रियावादिनः, तथा तृतीया वैनयिकाश्चतुर्थास्त्वज्ञानिका इति ॥१॥

टीकार्थ – इस अध्ययन का पहले के-ग्यारहवें अध्ययन के साथ यह सम्बन्ध है । ग्यारहवे अध्ययन में बतलाया गया है कि भावमार्ग को प्राप्त साधु कुमार्गाश्रित परवादियों को भली भांति जानकर त्याग दे । अतः इस अध्ययन में उनका स्वरूप निरूपित किया जा रहा है । पूर्व सूत्र के साथ इस सूत्र का यह सम्बन्ध है। उसमें कहा गया है कि संवृत-संवरयुक्त महाप्रज्ञ-परममेधावी वीर आत्मपराक्रमशील साधु अन्य द्वारा दिये गये एषणीय-दोष रहित आहार आदि ग्रहण करता हुआ निर्वृत-प्रशान्त भाव युक्त या कषाय रहित होकर मृत्यु काल की अभिकांक्षा करे । यह केवली भगवान का भाषित है-मन्तव्य है । वह अन्य तीर्थंकरों का परिहार-परित्याग करे । यह भी केवली प्रभु का अभिमत है । उनके परिहार-परित्याग हेतु उनके स्वरूप का वर्णन किया जा रहा है । यहां चार संख्यावचक पद का प्रयोग अन्य संख्याओं की निवृत्ति के लिये है । परतीर्थिकों द्वारा स्वीकृत सिद्धान्त चार प्रकार के हैं जिन्हें वे अलग-अलग आख्यात करते हैं । उनके अनवर्थक-अर्थ के अनुरूप नामों द्वारा सूत्रकार निर्देश करते हैं । वे जो इस प्रकार है-क्रिया का ही अस्तित्व है यों प्रतिपादित करने वाले क्रियावादी कहलाते हैं । क्रिया नहीं है-ऐसा कहने वाले अक्रियावादी हैं । तीसरे वैनयिक-विनयवादी तथा चौथे अज्ञानिक-अज्ञानवादी हैं ।

❀ ❀ ❀

अण्णाणिया ता कुसलावि संता, असंथुया णो वितिगिच्छतिन्ना ।
अकोविया आहु अकोवियेहिं, अणाणुवीइत्तु मुसं वयंति ॥२॥

छाया – आज्ञानिकास्ते कुशला अपि सन्तोऽसंस्तुताः नो विचिकित्सातीर्णाः ।
अकोविदा आहुरकोविदेभ्योऽननुविचिन्त्य तु मृषा वदन्ति ॥

अनुवाद – अज्ञानवादी यद्यपि अपने को कुशल-योग्य मानते हैं किन्तु वे अंशतः मिथ्याभाषी हैं, विचिकित्सा-संशय में निमग्न हैं, भ्रांत-अकोविद, अज्ञानी हैं तथा अज्ञानी शिष्यों को उपदेश करते हैं । वे सत्य तत्त्व का अनुचिन्तन न कर मिथ्या भाषण करते हैं ।

टीका – तदेवं क्रियाऽक्रियावैनयिकाज्ञानवादिनः सामान्येन प्रदर्श्याधुना तद्दूषणार्थं-तन्मतोपन्यासं पश्चानुपूर्व्यप्यस्तीत्यतः-पश्चानुपूर्व्यां कर्तुमाह, यदिवैतेसामज्ञानिका एव सर्वापलापितयाऽत्यन्तमसंबद्धा-अतस्तानेवादावाह-अज्ञानं विद्यतेयेषामज्ञानेन वा चरन्तीत्यज्ञानिकाः आज्ञानिका वा तावत्प्रदर्श्यन्ते, ते चाज्ञानिकाः किल वयं कुशला इत्येवंवादिनोऽपि सन्तः 'असंस्तुता' अज्ञानमेव श्रेय इत्येवंवादितया असंबद्धाः, असंस्तुतत्वादेव विचिकित्साचित्तविप्लुतिश्चित्तभ्रान्तिः संशीतिस्तां न तीर्णानाति-क्रान्ताः, तथाहि ते ऊचुः-य एते ज्ञानिनस्ते परस्परविरुद्धवादितया न यथार्थवादिनो भवन्ति, तथाहिएके सर्वगतमात्मानं वदन्ति तथाऽन्ये असर्वगतम् अपरे अंगुष्ठपर्वमात्रं केचन श्यामाकतण्डुलमात्रमन्ये मूर्तममूर्तं हृदयमध्यवर्तिनं ललाटव्यवस्थितनित्याद्यात्मपदार्थ एव सर्वपदार्थपुरः सरे तेषां नैकवाक्यता, न चातिशयज्ञानी कश्चिदस्ति यद्वाक्यं प्रमाणीक्रियेत्, न चासौ विद्यमानोऽप्युपलक्ष्यतेऽर्वाग्दर्शिना, 'नासर्वज्ञः सर्वज्ञं जानाती' ति वचनात्, तथा चोक्तम्-

"सर्वज्ञोऽसाविति ह्योतत्तत्कालेऽपि बुभुत्सुभिः । तज्ज्ञानज्ञेयविज्ञानशून्यैर्विज्ञायते कथम ? ॥१॥"

न च तस्य सम्यक् तदुपायपरिज्ञानाभावात्संभवः, संभवाभावश्चेतरेतराश्रयत्वात्, तथाहि-न विशिष्टपरिज्ञानमृते तदवाप्त्युपायपरिज्ञानमुपायमन्तरेण च नोपेयस्य विशिष्ट परिज्ञानस्यावाप्तिरिति, न च ज्ञानं ज्ञेयस्य स्वरूपं परिच्छेत्तुमलं, तथाहि-यत्किमप्युपलभ्यते तस्यार्वाग्मध्यपरभागैर्भाव्यं, तत्रार्वाग्भागस्यैवोपबन्धिर्नेतरयोः, तेनैव व्यवहितत्वात्, अर्वाग्भागस्यापि भागत्रयकल्पनात्तत्सर्वातीयभाग परिकल्पनया परमाणु पर्यवसानता, परमाणोश्च स्वभावविप्रकृष्टत्वादर्वाग्दर्शिनां नोपलब्धिरिति, तदेवं सर्वज्ञस्याभावादसर्वज्ञस्य च यथावस्थितवस्तुस्वरूपा-परिच्छेदात्सर्ववादिनां च परस्परविरोधेन पदार्थस्वरूपाभ्युपगमात् यथोत्तरपरिज्ञानिनां प्रमादवतां बहुतरदोषसंभवाद ज्ञानमेव श्रेयः, तथाहि-यद्यज्ञानवान् कथञ्चित्पादेन शिरसि हन्यात् तथापि चित्तशुद्धेर्न तथाविध दोषानुषङ्गी स्यादित्येवमज्ञानिन एवंवादिनः सन्तोऽसंबद्धाः, न चैवंविधां चित्तविप्लुतिं वितीर्णा इति । तत्रैवंवादिनस्ते अज्ञानिका 'अकोविदा' अनिपुणाः सम्यक्परिज्ञानविकला इत्यवगन्तव्याः, तथाहियत्तैरभिहितं 'ज्ञानवादिनः परस्पर विरुद्धार्थवादितया न यथार्थवादिन' इति, तद्भवत्वसर्वज्ञप्रणीतागमाभ्युपगमवादि नामयथार्थ वादित्वं, न चाभ्युपगमवादा एव बाधायै प्रकल्प्यन्ते, सर्वज्ञप्रणीतागमाभ्युपगमवादिनां तु न कश्चित्परस्परतो विरोधः, सर्वज्ञत्वान्यथानुपपत्तेरिति, तथाहि-प्रक्षीणाशेषावरणतया रागद्वेषमोहानानृतकारणानामभावान्न तद्वाक्यमयथार्थमित्येवं तत्प्रणीतागमवतां न विरोधवादित्वमिति। ननु च स्यादेतद् यदि सर्वज्ञः कश्चित्स्यात, न चासौ संभवतीत्युक्तं प्राक्, सत्यमुक्तमयुक्तं तूक्तं, तथाहि-यत्तावदुक्तं 'न चासौ विद्यमानोऽप्युपलक्ष्यतेऽर्वाग्दर्शिनेति' तदयुक्तं, यतो यद्यपि परचेतोवृत्तीनां दुरन्वयत्वात्सरागा वीतरागा इव चेष्टन्ते वीतरागाः सरागा इवेत्यतः प्रत्यक्षणानुपलब्धेः, तथापि संभवानुमानस्य सद्भावात्तद्बाधकप्रमाणाभावाच्च तदस्तित्वमनिवार्यं, संभवानुमानं त्विदं-व्याकरणादिना शास्त्राभ्यासेन संस्क्रियमाणायाः प्रज्ञाया ज्ञानातिशयो ज्ञेयावगमं प्रत्युपलब्धेः, तदत्र कश्चित्तथाभूताभ्यास वशात्सर्वज्ञोऽपि स्यादिति, न च तदभाव साधकं प्रमाणमस्ति, तथाहि-न तावदर्वाग्दर्शिप्रत्यक्षेण सर्वज्ञाभावः साधयितुं शक्यः, तस्या हि तज्ज्ञानज्ञेयविज्ञान शून्यत्वाद, अशून्यत्वाभ्युपगमे च सर्वज्ञत्वापत्तिरिति। नाप्यनुमानेन, तदव्यभिचारिलिङ्गाभावादिति । नाप्युपमानेन सर्वज्ञाभावः साध्यते, तस्य

सादृश्यबलेनप्रवृत्तेः, न च सर्वज्ञाभावे साध्ये तादृग्विधं सादृश्यमस्ति येनासौ सिध्यतीति । नाप्यर्थापत्त्या, तस्याः प्रत्यक्षादि प्रमाण पूर्वकत्वेन प्रवृत्तेः, प्रत्यक्षादीनां च तत्साधकत्वेनाप्रवर्तनात् तस्या अप्यप्रवृत्तिः । नाप्यागोमन, तस्य सर्वज्ञसाधकत्वेनापि दर्शनात्, नापि प्रमाणपञ्चकाभाव रूपेणाभावेन सर्वज्ञाभावः सिध्यति, तथाहि-सर्वत्र सर्वदा न संभवति तदग्राहकं प्रमाणमित्येत दर्वाग्दर्शिनो वक्तुं न युज्यते, तेन हि देशकाल-विप्रकृष्टानां पुरुषाणां यद्विज्ञानं तस्य ग्रहीतुम् शक्यत्वात्, तद्ग्रहणे वा तस्यैव सर्वज्ञत्वापत्तेः, न चार्वाग्दर्शिनां ज्ञानं निवर्तमानं सर्वज्ञाभावं साध्यति तस्याव्यापकत्वात्, न चाव्यापक व्यावृत्या पदार्थव्यावृत्तिर्युक्तेति, न च वस्त्वन्तरविज्ञानरूपोऽभावः सर्वज्ञाभावसाधनायालं, वस्त्वन्तरसर्वज्ञयोरेकज्ञानसंसर्गप्रतिबन्धाभावात् । तदेवं बाधकप्रमाणाभावात्संभवानुपानस्य च प्रतिपादितत्वादस्ति सर्वज्ञः, तत्प्रणीतागमाभ्युपगमाच्च मतभेद दोषो दूरापास्त इति, तथाहि-तत्प्रणीतागमाभ्युपगमवादिनामेकवाक्यतया शरीरमात्रव्यापी संसार्यात्माऽस्ति, तत्रैव तद्गुणोपलब्धेरिति, इतरेतराश्रयदोषश्चात्र नावतरत्येव, यतोऽभ्यस्यमानायाः प्रज्ञाया ज्ञानातिशयः स्वात्मन्यपि दृष्टो, न च दृष्टेऽनुपपन्नं नामेति । यदप्यभिहितं तद्यथा 'न च ज्ञानं ज्ञेयस्य स्वरूपं परिच्छेतुमलं, सर्वत्रावगिभागेन व्यवधानात्, सर्वातीयभागस्य च - परमाणुरूपतयाऽतीन्द्रियत्वा'दिति, एतदपि वाङ्मात्रमेव, यतः ज्ञानस्य देशकालस्वभावव्यवहितानामपि ग्रहणान्नास्तिव्यवधान संभवः, अर्वाग्दर्शिज्ञानस्याप्यवयबद्वारेणावयविनि प्रवृत्तेर्नास्ति व्यवधानं, न ह्यवयवी स्वावयवैर्व्यवधीयत इति युक्तिसंगतम्, अपिचअज्ञानमेव श्रेय इत्यत्राज्ञानमिति किमयं पर्युदास आहोस्वित्प्रसज्य-प्रतिषेधः ? तत्र यदि ज्ञानादन्यदज्ञानमिति ततः पर्युदासवृत्त्या ज्ञानान्तरमेव । समाश्रितं स्यात् नाज्ञानवाद इति, अथ ज्ञानं न भवतीत्यज्ञानं तुच्छो नीरूपो ज्ञानाभावः स च सर्वसामर्थ्यरहित इति कथं श्रेयानिति ? । अपिच-अज्ञानं श्रेय इति प्रसज्यप्रतिषेधेन ज्ञानं श्रेयो न भवतीति क्रियाप्रतिषेध एव कृतः स्याद्, एतच्चाध्यक्षबाधितं, यतः सम्यग्ज्ञानादर्थं परिच्छिद्य प्रवर्तमानोऽर्थक्रियार्थी न विसंवाद्यत इति । किंच-अज्ञानप्रमादबद्धिः पादेन शिरः स्पर्शनेऽपिस्वल्पदोषतां परिज्ञायैवाज्ञानं श्रेय इत्यभ्युपगम्यते, एवं च सति प्रत्यक्ष एव स्यादभ्युपगमविरोधो, नानुमानं प्रमाणमिति । तथा तेदवं सर्वथा ते अज्ञानवादिनः 'अकोविदा' धर्मोपदेशं प्रत्यनिपुणाः स्वतोऽकोविदेभ्य एव स्वशिष्येभ्य 'आहुः' कथितवन्तः, छान्तसत्वाच्चैकवचनं सूत्रे कृतमिति । शाक्या अपि प्रायशोऽज्ञानिकाः, अविज्ञोपचितं कर्म बन्धं न यातीत्येवं यतस्तेऽभ्युपगमयन्ति, तथा ये च बालमत्तसुप्तादयोऽस्पष्टविज्ञाना अबन्धका इत्येवमभ्युपगमं कुर्वन्ति, ते सर्वेऽप्यकोविदा दृष्टव्या इति । तथाऽज्ञानपक्षसमाश्रयणाच्चाननुविचिन्त्य भाषणान्मृथा ते सदा वदन्ति। अनुविचिन्त्य भाषणं यतो ज्ञाने सति भवति, तत्पूर्वकत्वाच्च सत्यवादस्य अतो ज्ञानानभ्युपगमादनुविचिन्त्य भाषणाभाव, तदभावाच्च तेषां मृषावादित्वमिति ॥२॥

टीकार्थ – क्रियावादियों, अक्रियावादियों, वैनयिको तथा अज्ञानवादियों का साधारणतया वर्णन कर अब उनके सिद्धान्तों के दोष बताने हेतु पीछे के क्रमानुसार उनके मन्तव्य प्रकट करते हैं क्योंकि पूर्व क्रम की ज्यों पीछे का क्रम भी ग्रहित होता है अथवा इन चारों मतवादियों में अज्ञानवादी ही अत्यन्त अपलापी-विपरीतभाषी है । अत्यन्त असंबद्ध है । अतः प्रारम्भ में उन्हीं को लेकर सूत्रकार विवेचन करते हैं ।

जिनमें अज्ञान विद्यमान है अथवा जो अज्ञान को लेकर ही आचरणशील है, वे अज्ञानिक कहे जाते हैं । उनका स्वरूप प्रदर्शित किया जाता है । वे अज्ञानिक-अज्ञानवादी हम ही कुशल-सुयोग्य हैं-यह कहते हुए अज्ञान ही श्रेयस का हेतु है इस प्रकार प्रतिपादित करते हैं, वे असंबद्ध भाषी है । विचिकित्सा-चित्तविप्लुति या भ्रांति से रहित नहीं हैं, संशयग्रस्त हैं । वे कहते हैं ये सभी ज्ञानवादी परस्पर विरुद्धभाषी हैं । अतः वे यथार्थवादी नहीं हैं । उनमें से कई आत्मा को सर्वगत-सर्वव्यापी मानते हैं । कई असर्वगत मानते हैं । कई कहते हैं कि

आत्मा अंगूठे के पर्व-पोर के समान है । कई उसे श्यामाक जाति के तंदुल-चावल के जितना मानते हैं । कई उसे मूर्त और कई अमूर्त कहतेहैं । कई कहते हैं कि आत्मा हृदय के मध्य में विद्यमान है । कइयों का कथन है कि ललाट में अवस्थित है । इस प्रकार समस्त पदार्थों में पुरःसर-प्रमुखतम आत्मा के सम्बन्ध में भी ज्ञानवादियों की एक वाद्यता-एक सा वचन प्रतिपादन नहीं है । जगत में कोई अतिशय ज्ञानी-असाधारण ज्ञानवान भी नहीं है जिसका वाक्य प्रमाणभूत माना जाये । यदि कोई अतिशय ज्ञानी हैं भी तो वह अल्पज्ञ व्यक्ति द्वारा जाना नहीं जा सकता क्योंकि जो असर्वज्ञ है वह सर्वज्ञ को जान नहीं सकता-ऐसा कहा जाता है अर्थात् सर्वज्ञ हों तो भी जिसको सर्वज्ञ के तुल्य उत्कृष्ट-उच्च ज्ञान नहीं है, जो वैसे ज्ञानज्ञेय विज्ञान से शून्य है, वह सर्वज्ञ को कैसे जान सकता है । वह असर्वज्ञ, सर्वज्ञों को जानने का उपाय भी तो नहीं जान सकता । अतः उपाय द्वारा सर्वज्ञ को जानने में इतरेतराश्रय-अन्यान्यश्रय दोष आने से सर्वज्ञ का ज्ञान संभव नहीं है । जैसे सर्वज्ञ को जानने का उपाय परिज्ञात होने से वह जाना जा सकताहै तथा स्वयं सर्वज्ञ होने की स्थिति में ही सर्वज्ञ को जानने का उपाय जाना जा सकता है । अतः उपाय ज्ञान व सर्वज्ञ ज्ञान में इतरेतराश्रय होने के कारण उपाय द्वारा सर्वज्ञ का ज्ञान होना सर्वथा असंभव है । ज्ञान ज्ञेय-जानने योग्य पदार्थ के स्वरूप को पूर्णतः नहीं बता सकता ।

जो पदार्थ उपलब्ध होता है-देखा जा सकता है, उसका बीच का भाग तथा पीछे का भाग भी है किन्तु वह दिखाई नहीं देता क्योंकि बीच का भाग व पीछे का भाग सामने के भाग से व्यवहित-व्यवधानयुक्त होते हैं जो सामने का भाग दृष्टिगोचर होता है उसके भी बीच का भाग व पीछे के भाग की परिकल्पना करने पर तथा फिर उनके सन्निकटवर्ती भागों में भी ये तीनों परिकल्पनाएं करते जाने पर अन्ततः वे कल्पनाएं परमाणु में जाकर समाप्त होगी परमाणु स्वभावतः विप्रष्ठ-अति दूरवर्ती है । अतः असर्वज्ञ पुरुष को उसका ज्ञान नहीं हो सकता । उसका ज्ञान न होने पर पदार्थ का यथार्थ ज्ञान भी उपलब्ध नहीं होता । इस प्रकार सर्वज्ञ पुरुष के अभाव से तथा असर्वज्ञ पुरुष को पदार्थ के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान न होने से एवं सभी ज्ञानवादियों के सिद्धान्त के अनुसार पदार्थों का आपस में विपरीत स्वरूप माने जाने से और ज्यों-ज्यों अधिक ज्ञान होता है त्यों-त्यों प्रमाद होने पर अधिक दोष समझे जाने से अज्ञान ही श्रेयस्कर है । यदि कोई अज्ञानी ज्ञान न होने से किसी के मस्तक परपैर से आघात करता है तो वह उतना बड़ा दोष भागी नहीं माना जाता क्योंकि उसका चित्त विशुद्ध है । इस प्रकार प्रतिपादित करने वाले अज्ञानवादी असंबद्ध है-सम्यक्ज्ञान से रहित है । वे चित्तविप्लुति-संशय सन्देह में ग्रस्त है । वे जो ये आक्षेप करते हैं कि ज्ञानवादी आपस में एक दूसरे के प्रतिकूल सिद्धान्त बताने के कारण सही नहीं है । यह ठीक है क्योंकि वे एक दूसरे के विपरीत सिद्धान्त प्रतिपादित करने वाले लोग उन आगमों में विश्वास करते हैं जो असर्वज्ञों के हैं-असर्वज्ञों द्वारा प्रणीत हैं । वे जो परस्पर विपरीत सिद्धान्त प्रकट करते हैं । उससे समस्त सिद्धान्त बाधित नहीं होते क्योंकि सर्वज्ञ द्वारा प्रतिवेदित आगम में विश्वास करने वाले वादियों के वचनों में कहीं भी आपस में प्रतिकूलता नहीं आती क्योंकि ऐसा हुए बिना सर्वज्ञता सिद्ध ही नहीं होती । इसका स्पष्टीकरण यों है-ज्ञान पर आया हुआ आवरण सम्पूर्ण रूप से क्षीण हो जाने से राग-द्वेष तथा मोह का, जो अयथार्थ भाषण के कारण है, का अभाव होने से सर्वज्ञ का वचन सत्य है । उसे अयथार्थ-मिथ्या नहीं कह सकते । सर्वज्ञ द्वारा प्रणीत आगमों में आस्थाशील पुरुष आपस में विपरीत-प्रतिकूल अर्थ-अभिप्राय प्रकट नहीं करते यह स्पष्ट है ।

अज्ञानवादी की ओर से शंका उठाते हुए कहते हैं यदि किसी सर्वज्ञ का अस्तित्व हो तब तो यह बात संभव हो सकती है पर वैसा नहीं है जो पहले कहा जा चुका है । इसके उत्तर में समाधान देते हुए कहते

हैं-जो तुम यह बात कहते हो वह युक्तिसंगत नहीं है । तुमने जो कहा है सर्वज्ञ का अस्तित्व हो तो भी वह असर्वज्ञ-अल्पज्ञ द्वारा जाना नहीं जा सकता । तुम्हारा यह कथन युक्तिसंगत नहीं है । यद्यपि दूसरे की चित्तवृत्ति को नहीं जाना जा सकता । सराग-राग सहित पुरुष वीतराग-राग रहित की ज्यों, वीतराग सराग की ज्यों चेष्टा करते हुए पाये जाते हैं । इसलिये प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा सर्वज्ञ की उपलब्धि नहीं होती किन्तु संभव तथा अनुमान प्रमाण के होने से एवं बाधक प्रमाण के अविद्यमान होने के कारण सर्वज्ञ का अस्तित्व विलुप्त नहीं हो सकता । संभव और अनुमान इस प्रकार है । व्याकरण आदि शास्त्रों के अभ्यास से संस्कारयुक्त बुद्धि ज्ञेय पदार्थों को अतिशय के साथ देखती है । ऐसा देखा जाता है-अज्ञानी की अपेक्षा व्याकरण का अध्ययन किया हुआ मनुष्य अधिक समझता है । उसी प्रकार विशेष अभ्यास-ध्यान आदि की साधना के परिणाम स्वरूप विशिष्ट ज्ञानवान-समस्त पदार्थों का ज्ञाता कोई सर्वज्ञ पुरुष ही हो सकता है । सर्वज्ञ नहीं हो सकता इस प्रकार का-सर्वज्ञत्व का कोई बाधक प्रमाण नहीं है क्योंकि अल्पज्ञ पुरुष प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा सर्वज्ञत्व का अभाव सिद्ध करने में सक्षम नहीं होता क्योंकि उसका ज्ञान स्वल्प है । वह सर्वज्ञ के ज्ञान व ज्ञेय विज्ञान से विरहित है। यदि वह अपने ज्ञान द्वारा सर्वज्ञ के ज्ञान व ज्ञेय को जानता है तो वह स्वयं सर्वज्ञ सिद्ध हो जाता है । फिर सर्वज्ञ न होने की बात ही कहां रही अनुमान प्रमाण से भी सर्वज्ञ का प्रतिरोध नहीं हो सकता । क्योंकि सर्वज्ञ के अभाव के साथ कोई अव्यभिचारी-निर्दोष हेतु नहीं है । उपमान प्रमाण द्वारा भी सर्वज्ञ का अभाव प्रमाणित नहीं किया जा सकता क्योंकि उपमान का आधार सदृशता-समानता है । उसी के साथ उपमान की प्रवृत्ति होती है किन्तु सर्वज्ञ के अभाव के साथ किसी का सादृश्य-समानता नहीं है । अत: पहले जैसा कहा गया है उपमान प्रमाण द्वारा सर्वज्ञ का अभाव साबित नहीं किया जा सकता । अर्था पत्ति प्रमाण द्वारा भी सर्वज्ञ का अभाव साबित नहीं होता क्योंकि अर्थापत्ति की प्रवृत्ति प्रत्यक्ष आदि पूर्वकृता से ही होती है, अर्थापत्ति प्रत्यक्ष आदि को आधार मान कर ही की जाती है । अत: प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से जब सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध नहीं होता तो अर्थापत्ति के द्वारा भी वह प्रमाणित नहीं हो सकता। आगम प्रमाण द्वारा भी सर्वज्ञ का अभाव-नास्तित्व घटित नहीं होता क्योंकि आगम सर्वज्ञ का सद्भाव या अस्तित्व प्रतिपादित करते हैं । यदि ऐसा कहो कि प्रत्यक्ष ज्ञान, उपमान, अर्थापत्ति तथा संभव इन पांचों प्रमाणों से सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता, अत: यह निर्णीत होता है कि कोई सर्वज्ञ नहीं है । यह कहना यथार्थ नहीं है क्योंकि सब स्थानों तथा सब समयों में सर्वज्ञ का बोध कराने वाला कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है । ऐसा एक अल्पज्ञ पुरुष कहने का अधिकारी नहीं है क्योंकि देश की अपेक्षा से, काल की अपेक्षा से जो पुरुष अत्यन्त विप्रपृष्ठ-दूर है अल्पज्ञ पुरुष उन्हें नहीं जान सकता। यदि वह उन्हें जान पाता हो तो खुद सर्वज्ञ सिद्ध हो जाता है तब यह कैसे कहा जा सकताहै कि कोई पुरुष सर्वज्ञ नहीं है । स्थूलदर्शी-स्थूल पदार्थों को देखने वाले पुरुष का विज्ञान सर्वज्ञ तक नहीं पहुँच पाता, स्थूलदृष्टा व्यक्ति का ज्ञान व्यापक नहीं होता। इस कारण उस द्वारा सर्वज्ञ का अभाव नहीं बतलाया जा सकता । यदि कोई पदार्थ अव्यापक होने के कारण किसी अन्य पदार्थ के सन्निकट नहीं पहुँच सके तो उस पदार्थ का अभाव नहीं कहा जा सकता यदि यों कहा जाय कि जिस ज्ञान द्वारा अन्य पदार्थ परिज्ञात होते हैं-जाने जाते हैं, उससे सर्वज्ञ का परिज्ञान नहीं होता, अत: सर्वज्ञ नहीं है यह साबित होता है । यह कहना यथार्थ नहीं है क्योंकि जिस ज्ञान द्वारा अन्य पदार्थ जाने जाते हैं, उस ज्ञान से सर्वज्ञ भी जाना जाये ऐसी कोई नियामकता नहीं है। अत: सर्वज्ञ के अस्तित्व में बाधा उपस्थित करने वाला कोई प्रमाण प्राप्त नहीं होता तथा उसे सिद्ध करने वाले संभव अनुमान प्रमाण प्राप्त है । अत: सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध होता है । सर्वज्ञ द्वारा प्रणीत-प्ररूपित आगम को अंगीकार करने से मतभेद-भिन्न भिन्न मन्तव्यों के रूप में किसी भी दोष का उद्भव नहीं होता । सर्वज्ञ प्रणीत आगम

में श्रद्धा रखने वाले सभी लोग एकमत से स्वीकार करते हैं कि आत्मा शरीर मात्र व्यापी है क्योंकि शरीर में ही आत्मा का गुण चैतन्य उपलब्ध होता है । पहले अज्ञानवादी ने इतरेतराश्रय-अन्योन्याश्रय दोष होने की चर्चा की है, वह भी यहां सम्भावित नहीं है क्योंकि शास्त्र आदि के अभ्यास से बुद्धि में अतिशय-अधिक या विशिष्ट ज्ञान होता है । ऐसा अपनी आत्मा में प्राप्त होता है-ज्ञात होता है । अत: जो वस्तु प्रत्यक्ष देखी जाती हो, उसमें कोई अनुपपत्ति-बाधा उपस्थित नहीं होती ।

अज्ञानवादी जो यह प्रतिपादित करते हैं कि ज्ञान ज्ञेय के स्वरूप को स्वायत्त करने में-भली भांति जानने में समर्थ नहीं होता क्योंकि सर्वत्र पदार्थ के आगे के हिस्से से पीछे का हिस्सा व्यवहित रहता है-आवृत्त या ढका रहता है तथा वस्तु का सबसे अन्तिम भाग परमाणु है जो अतीन्द्रिय है-इंद्रियों द्वारा गृहीत नहीं किया जा सकता ।

यह केवल कहने मात्र की बात है क्योंकि देश काल और स्वभाव से व्यवहित पदार्थ भी सर्वज्ञ के ज्ञान द्वारा अभिगत होते हैं । इसलिये सर्वज्ञ के ज्ञान में आवरण संभावित नहीं है । जो पुरुष सामान्य ज्ञानवान है, उनका ज्ञान भी अवयव के माध्यम से अवयवी में-अंग द्वारा अंगी में प्रवृत्त होता है । इसलिये उसमें व्यवधान नहीं है । अवयवी अपने अवयव द्वारा व्यवहित-आवृत्त हो जाता है । यह बात न्याय संगत नहीं है । अज्ञान ही श्रेयस्कर है । तुम्हारे इस कथन में जो अज्ञान पद आया है उसमें नय पर्युदास है या प्रसज्य प्रतिषेध है । यदि उसे पर्युदास मानकर एक ज्ञान से भिन्न किसी अन्य ज्ञान को तुम अज्ञान कहते हो, तब तो तुमने उस अन्य ज्ञान को ही कल्याण का साधन स्वीकार किया । इससे अज्ञानवाद सिद्ध ही नहीं होता । यदि प्रसज्य प्रतिषेध को स्वीकार कर ज्ञान के अभाव को तुम अज्ञान कहते हो तो वह ज्ञानाभाव अभाव रूप है-तुच्छ है उसका कोई अस्तित्व नहीं है, सर्वसामर्थ्य विरहित है । इसलिये वह किस प्रकार श्रेयस् का साधन हो सकता है । अज्ञान कल्याण का साधन है, ऐसा कहा जाय और इस वचन में प्रसज्य प्रतिषेध माना जाय तो अज्ञान के विपरीत ज्ञान कल्याण का साधन नहीं हैं-यह अर्थ होता है-ज्ञान से श्रेयस् प्राप्ति का प्रतिषेध होता है जो प्रत्यक्ष से विरुद्ध है क्योंकि सम्यक्ज्ञान-यथार्थ ज्ञान द्वारा पदार्थ के स्वरूप को अधिगत कर कार्य में प्रवृत्त होने वाला पुरुष अपना कार्य सिद्ध करता है। यह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है । अत: ज्ञान को असत्य-अनर्थक नहीं कहा जा सकता ।

अज्ञानवादी किसी द्वारा अज्ञान तथा प्रमादवश उसके पैर से किसी के मस्तक का स्पर्श हो जाने पर भी अल्पदोष जानकर अज्ञान को श्रेयस्कर कहते हैं । यह बात प्रत्यक्ष रूप से ही सिद्धान्त विरोधी है । यहां अनुमान की प्रामाणिकता नहीं है, आवश्यकता नहीं है । अज्ञानवादी इस प्रकार धर्मोपदेश में अनिपुण-अकुशल है किन्तु अपने अनिपुण-अयोग्य शिष्यों को वैसे ही धर्म का उपदेश करते हैं । यहां छान्दस प्रयोग के रूप में बहुवचन के स्थान पर एक वचन का प्रयोग हुआ है ।[1] बौद्ध भी प्राय: अज्ञानवादियों में ही आते हैं क्योंकि वे मानते हैं कि अविज्ञोपचित-अविज्ञ, अज्ञानी द्वारा उपचित-कृत कर्म बन्ध नहीं होता, उनका कथन है कि बालक, मत्त तथा सुप्त पुरुष विशद ज्ञानयुक्त नहीं होते । इसलिये उनके कर्मबन्ध नहीं होता ।

इन सभी वादियों को अज्ञानयुक्त समझना चाहिये । ये अज्ञान का आश्रय लिये, बिना विचार विमर्श बोलते रहते हैं । अत: मृषाभाषी हैं क्योंकि ज्ञान होने पर ही चिन्तन-विमर्शपूर्वक बोला जाता है। सत्यवाद-सत्यभाषण

१. यह संकेत प्रथमगाथा के तीसरे चरण में आये हुए किरियं अकिरियं पदों के सम्बन्ध में है ।

विचार पूर्वक ही होता है-वह विचार पर ही निर्भर है । ज्ञान को अस्वीकार करने के कारण ये अनुचिन्तन पूर्वक नहीं बोलते । अनुचिन्तन पूर्वक न बोलने के कारण वे मिथ्यावादी हैं, यह प्रमाणित होता है ।

❀ ❀ ❀

सच्चं असच्चं इति चिंतयंता, असाहु साहुत्ति उदाहरंता ।
जेमे जणा वेणइया अणेगे, पुट्ठावि भावं विणइंसु णाम ॥३॥

छाया – सत्यमसत्यमिति चिन्तयित्वा, असाधु साध्वित्युदाहरन्तः ।
य इमे जनाः वैनयिका अनेके पृष्टा अपि भावं व्यनैषुर्नाम ॥

अनुवाद – वैनयिक-विनयवादी सत्य को असत्य तथा साधु को असाधु बतलाते हैं । पूछने पर वे केवल विनय को ही मोक्ष का मार्ग प्रतिपादित करते हैं ।

टीका – साम्प्रतं वैनयिकवादं निराचिकीर्षुः प्रक्रमते-सद्भ्यो हितं 'सत्यं' परमार्थो यथावस्थित पदार्थ निरूपणं वा मोक्षो वा संयमः सत्यं तदसत्यम् 'इति' एवं 'विचिन्तयन्तो' मन्यमानाः, एवमसत्यमपि सत्यमिति मन्यमानाः, तथाहि-सम्यग्दर्शनचारित्राख्यो मोक्षमार्गः सत्यस्तमसत्यत्वेन चिन्तयन्तो विनयादेव मोक्ष इत्येतदसत्यमपि सत्यत्वेन मन्यमानाः, तथा असाधुमप्यविशिष्टकर्मकारिणं वन्दनादिकया विनयप्रतिपत्त्या साधुम् 'इति' एवम् 'उदाहरन्तः' प्रतिपादयन्तो न सम्यग्यथावस्थितधर्मस्य परीक्षकाः, युक्तिविकलं विनयादेव धर्म इत्येवमभ्युपगमात्, क एते इत्येतदाह-ये 'इमे' बुद्ध्या प्रत्यक्षासन्नीकृता 'जनाइव' प्राकृतपुरुषा इव जना विनयेन चरन्ति वैनयिका-विनयादेव केवलात्स्वर्गमोक्षावाप्तिरित्येवंवादिनः 'अनेके बहवो द्वात्रिंशद्भेदभिन्नत्वात्तेषां, ते च विनयचारिणः केन चिद्धर्मार्थिना पृष्टाः सन्तोऽपिशब्दात्पृष्टा वा 'भावं' परमार्थं यथार्थोपलब्धं स्वाभिप्रायं वा विनयादेव स्वर्गमोक्षावाप्तिरित्येवं 'व्यनैषुः' विनीतवन्तः सर्वदा सर्वस्य सर्वसिद्धये विनयं ग्राहितवन्तः, नामशब्दः संभावनायां, संभाव्यत एव विनयात्स्वकार्यसिद्धिरिति, तदुक्तम्-"तस्मात्कल्याणानां सर्वेषां भाजनं विनय" इति ॥३॥

टीकार्थ – सूत्रकार वैनयिकवाद का निराकरण करने का उपक्रम करते हैं-जो सब का हितप्रद होता है-सबके लिये श्रेयस्कर होता है, परमार्थ-वस्तु के यथावस्थित स्वरूप का निरूपण-प्रतिपादन होता है उसे सत्य कहा जाता है । अथवा मोक्ष या संयम को सत्य कहा जाता है । विनयवादी उस सत्य को असत्य मानते हैं तथा असत्य को सत्य मानते हैं । सम्यक्दर्शन तथा चारित्र मोक्ष का मार्ग है, विनयवादी उसे असत्य कहते हैं । केवल विनय से मोक्ष प्राप्त नहीं होता पर वे उसी से मोक्ष मानते हुए असत्य को सत्य के रूप में स्थापित करते हैं । जो पुरुष विशिष्ट कर्म-साधु जीवनोचित क्रियाशील नहीं है-असाधु है, उसे भी वे केवल वंदन आदि विनययुक्त क्रिया करने मात्र से साधु स्वीकार करते हैं । वे धर्म के यथार्थतः परीक्षक नहीं है क्योंकि वे केवल विनय से ही धर्म की निष्पत्ति मानते हैं जो युक्ति युक्त नहीं है । वे कौन हैं ? इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं-जो साधारणतः बुद्धि प्रत्यक्ष है-जानकारी में आते हैं-ऐसे सामान्य जनों के समान विनयवादी है, केवल विनय को अपनाए फिरते हैं, उसी से स्वर्ग तथा मोक्ष प्राप्त होना कहते हैं उनके बत्तीस भेद माने गये हैं । यों वे अनेक प्रकार के हैं । जब कोई धर्मार्थी-धर्म जिज्ञासु पुरुष उनसे पूछता है, अपि शब्द के संकेत के अनुसार नहीं भी पूछता हैं । तब वे अपना भाव-अभिप्राय परमार्थ बतलाते हुए कहते हैं कि केवल विनय द्वारा ही वैनयिकों ने-विनयवादियों ने स्वर्ग तथा मोक्ष की प्राप्ति बतलाई है । उन्होंने सबको सर्वसिद्धि हेतु विनय

की शिक्षा दी है । यहां नाम शब्दसम्भावना के अर्थ में है, जिसका अर्थ यह है कि वे विनय से अपने कार्य की सिद्धि होती है, ऐसा सम्भावित मानते हैं । अतएव उनकी उक्ति है कि समस्त कल्याण का भाजन विनय है-विनय से सर्वविध कल्याण सिद्ध होता है ।

❀ ❀ ❀

अणोवसंखा इति ते उदाहू, अट्ठे स ओभासइ अम्ह एवं ।
लवावसंकी य अणागएहिं, णो किरियमाहंसु अकिरियवादी ॥४॥

छाया – अनुपसंख्ययेति ते उदाहृतवन्तः अर्थः स्वोऽवभासतेऽस्माक मेवम् ।
लवावशङ्किनश्चानागतैर्नो क्रियामाहुरक्रियावादिनः ॥

अनुवाद – विनयवादी प्रतिपादित करते हैं कि हमें अपने प्रयोजन या लक्ष्य की सिद्धि विनय से ही प्राप्त होती दिखाई देती है । वास्तव में वे यथार्थ तत्त्व को नहीं समझते हुए ऐसा कहते हैं। इसी प्रकार कर्मबंध में आशंकाशील अक्रियावादी भूत और भविष्य द्वारा वर्तमान को असिद्ध मानकर क्रिया का निषेध करते हैं।

टीका – किंचान्यत्-संख्यानं संख्या-परिच्छेदः उप सामीप्येन संख्या उपसंख्या-सम्यग्यथावस्थितार्थपरिज्ञानं नोपसंख्याऽनुपसंख्या तयाऽनुपसंख्यया-अपरिज्ञानेन व्यामूढ़मतयस्ते वैनयिकाः स्वाग्रहग्रस्ता इति एतद्-यथा विनयादेव केवलात्स्वर्गमोक्षावाप्तिरित्युदाहृतवन्तः, एतच्च ते महामोहाच्छादिता 'उदाहुः' उदाहृतवन्तः, - यथैवं सर्वस्य विनयप्रतिपत्त्या स्वोऽर्थः-स्वर्गमोक्षादिकः अस्माकम् 'अवभासते' आविर्भवति प्राप्यते इतियावत्, अनुपसंख्योदाहृतिश्च तेषामेवमवगन्तव्या, तद्यथा-ज्ञान क्रियाभ्यां मोक्षसद्भावे सति तदपास्य विनयादेवैकस्मात्तदवाप्त्यभ्युपदमादिति यदप्युक्तं 'सर्वकल्याणभाजनं' तदापि सम्यग्दर्शनादिसंभवे सति विनयस्य कल्याणभाक्त्वं भवति नैककस्येति, तद्रहितो हि विनयोपेतः सर्वस्य प्रह्वतया न्यत्कारमेवापादयति, ततश्च विवक्षितार्थावभासनाभावात्तेषामेवंवादिनामज्ञावृतत्वमेवावशिष्यते, नाभिप्रेतार्थावाप्तिरित्युक्ताः वैनयिकाः ॥ साम्प्रतमक्रियावादिदर्शनं निराचिकीर्षुः पञ्चार्थमाहलवं-कर्म तस्मादपशङ्कितुम्-अपसर्तुं शीलं येषां ते लवापशङ्किनो-लोकायतिकाः शाक्यादयश्च, तेषामात्मैव नास्ति कुतस्तत्क्रिया तज्जनितो वा कर्मबन्ध इति, उपचारमात्रेण त्वस्ति बन्धः तद्यथा-

'बद्धामुक्ताश्च कथ्यन्ते, मुष्टिग्रन्थिकपोतकाः । न चान्ये द्रव्यतः सन्ति, मुष्टि ग्रन्थिकपोतकाः ॥१॥

तथाहि-बौद्धानामयमभ्युपगमो, यथा-'क्षणिकाः सर्वसंस्कारा' इति' अस्थितानां (च) कुतः क्रियेत्यक्रियावादित्वं, योऽपि स्कन्धपञ्चकाभ्युपगमस्तेषां सोऽपि संवृतिमात्रेण न परमार्थेन, यतस्तेषामयमभ्युपगमः, तद्यथा-विचार्यमाणाः पदार्था न कथञ्चिदप्यात्मानं निज्ञानेन समर्पयितुमलं, तथाहि-अवयवी तत्त्वान्यत्त्वाभ्यां विचार्यमाणो न घटां प्राञ्चति, नाप्यवयवाः परमाणुपर्यवसानतयाऽतिसूक्ष्मत्वाज्ज्ञानगोचरतां प्रतिपद्यन्ते, विज्ञानमपि ज्ञेयाभावेनामूर्तस्य निराकारतया न स्वरूपं बिभर्त्ति, तथा चोक्तम् -

"यथा यथाऽर्थाश्चिन्त्यन्ते, विविच्यन्ते तथा तथा । युद्येतत्स्वयमर्थेभ्यो, रोचते तत्र के वयम् ? ॥१॥"

इति, प्रच्छन्नलोकायतिका हि बौद्धाः तत्रानागतैः क्षणैः, चशब्दादतीतैश्च वर्तमानक्षणस्यासंगतेर्न क्रिया, नापि च तज्जनितः कर्मबन्ध इति । तदेवमक्रियावादिनो नास्तिकवादिनः सर्वापलापितया लवावशङ्किनः सन्तो न क्रियामाहुः, तथा अक्रिय आत्मा येषां सर्वव्यापितया तेऽप्यक्रियावादिनः सांख्याः तदेवं ते लोकायतिकबौद्धसांख्या अनुपसंख्यया-अपरिज्ञानेनेति-एतत् पूर्वोक्तमुदाहृतवन्तः तथैतत्त्वज्ञानेनैवोदाहृत-वन्तःतद्यथाअस्माकमेवमभ्युपगमेऽर्थोऽव-

भासते-युज्यमानको भवतीति, तदेवं श्लोकपूर्वार्द्धं काकाक्षिगोलकन्यायेना क्रियावादिमतेऽप्यायोज्यमिति ॥४॥ साम्प्रतमक्रिया वादिनामज्ञानविजृम्भितं दर्शयितुमाह -

टीकार्थ – संख्यान या वस्तु का ज्ञान संख्या कहा जाता है तथा सम्यक्-भली भांति वस्तु के यथार्थ स्वरूप का परिज्ञान उपसंख्या है । उसके बिना ही अर्थात् पदार्थ के यथार्थ स्वरूप के परिज्ञान के बिना ही व्यामूढमति-आग्रहग्रस्त वैनयिक केवल विनय से स्वर्ग एवं मोक्ष की प्राप्ति बतलाते हैं । वे महामोह-अत्यन्त घोर मोह से आच्छन्न होकर ऐसा कहते हैं कि सबके प्रति विनय करने से ही हमें स्वर्ग और मोक्ष प्राप्तहो जायेगा किन्तु उनका यह कथन विचारशून्य है । ज्ञान और क्रिया दोनों के सद्भाव से ही होने से मोक्ष होता है । इस बात का परित्यागकर वे केवल एकमात्र विनय से ही स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त होना बतलाते हैं । उनकी यहां यह उक्ति है कि विनय समस्त कल्याण का भाजन-कारण है । विनय तो सम्यक्दर्शन आदि के होने पर ही कल्याण का कारण होता है, केवल अकेला नहीं होता, जो सम्यक् दर्शन आदि से विरहित है, वह विनययुक्त होता हुआ भी सबके न्यत्कार-तिरस्कार का पात्र होता है । विवक्षित अर्थ-स्वर्ग या मोक्ष का अवस भासन-प्राकट्य या प्राप्ति केवल विनय से नहीं होती । अत: जो केवल विनय से ही स्वर्ग तथा मोक्ष का प्राप्त होना प्रतिपादित करते हैं, वे विनयवादी अज्ञान से आवृत्त हैं । उनको अभिप्रेत-अभिप्सित या इच्छित अर्थ की प्राप्ति नहीं होती ।

विनयवादियों का वर्णन हो चुका है । सूत्रकार अक्रियावादियों के दर्शन का निराकरण करने हेतु गाथा का उत्तरार्द्ध कहते हैं-'लव' कर्म को कहा जाता है । उसकी जो शंका करते हैं अथवा उससे जो अपसृत होते हैं उन्हें लवावशङ्की कहा जाता है । लोकायतिक तथा बौद्ध आदि उस कोटि में आते हैं । उन दोनों के सिद्धान्तानुसार आत्मा का अस्तित्व ही नहीं है । फिर उसकी क्रिया कहाँ से निष्पन्न होती है तथा उस क्रिया से जनित कर्म बंध भी कहां से हो सकता है । अतएव इनके सिद्धान्तानुसार वास्तव में बंध नहीं है, किन्तु आरोप मात्र है । उसी बात को प्रकट करते हुए कहतेहैं-जैसे लोक में कहा जाता है कि मैंने "मुष्ठिका बांध दी, मुष्ठिका खोल दी" वास्तव में रज्जु आदि से वह न बांधी जाती है और न खोली जाती है । केवल अंजलि को ही ग्रंथि की ज्यों बांधा खोला जाता है । वास्तव में न कुछ बांधा जाता है, न खोला जाता है । यह एक आरोपित व्यवहार है । इसी प्रकार संसार में बद्ध-बंधे हुए और मुक्त-छूटे हुए का व्यवहार समझना चाहिये। बौद्धों का यह सिद्धान्त है कि सभी पदार्थ क्षणिक हैं परन्तु क्षणिक पदार्थों में क्रिया का घटित होना संभावित नहीं हैं । अत: वे अक्रियावादी है । यद्यपि बौद्ध पांच स्कन्धों को स्वीकार न करते हैं किन्तु वह भी आरोपमात्र हैं, ऐसा वे मानते हैं, उनका पारमार्थिक रूप स्वीकार नहीं करते । उनका यह अभिमत है कि कोई भी पदार्थ विज्ञान द्वारा अपने स्वरूप को व्यक्त करने में सक्षम नहीं है अर्थात् विज्ञान द्वारा पदार्थों का स्वरूप परिज्ञात नहीं किया जा सकता क्योंकि अवयव युक्त पदार्थ तत्त्व एवं अतत्व दोनों भेदों द्वारा विचारित करने पर घटित नहीं होता, ज्ञात नहीं होता । इसी प्रकार अवयव भी परमाणु पर्यन्त विचार करने पर अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण ज्ञान गोचर नहीं बनता, ज्ञान का विषय नहीं होता । विज्ञान भी ज्ञेय के अभाव से अमूर्त की निराकारता के कारण स्वरूप धारण नहीं करता । कहा है-ज्यो ज्यो पदार्थों का चिन्तन किया जाता है । उनका विवेचन बढ़ता ही जाता है । इस प्रकार यदि पदार्थों को अपना विवेचन बढ़ाते जाना रूचिकर लगता है-अच्छा लगता तो हम क्या कर सकते हैं ? इस प्रकार के सिद्धान्त में आस्थाशील बौद्ध छिपे हुए रूप में लोकायतिक-नास्तिक हैं । बौद्धों के मत में अनागता क्षणों तथा अतीत क्षणों के साथ वर्तमान क्षणों की संगति घटित नहीं होती ।

इसलिये क्रिया निष्पन्न नहीं होती । तज्जनित कर्मबन्ध भी नहीं होता । इस प्रकार जो अक्रियावाद में विश्वास करते हैं वे नास्तिकवादी हैं । वे सब पदार्थों का अपलाप-खण्डन करते हुए कर्मबन्ध की आशंका से क्रिया का प्रतिषेध करते हैं । सांख्य दर्शन में विश्वास करने वाले आत्मा को सर्वव्यापक मानते हैं । अत: वे भी क्रिया को स्वीकार नहीं करते । वे अक्रियावादी हैं। लोकायतिक, बौद्ध तथा सांख्य मतवादी विचार-विमर्श बिना अज्ञानपूर्वक इस सिद्धान्त को प्रतिपादित करते हैं । वे ऐसा निरूपित करते हैं कि हमारे सिद्धान्तों के अनुसार ही पदार्थों का स्वरूप यथार्थत: अवभाषित होता है-घटित होता है । ऐसा कहना अज्ञान पूर्ण है । इस प्रकार इस श्लोक के पूर्वार्द्ध को कौवे की आँखों के-गोलक-कनिनीका (काकाक्षि गोलक न्याय) के उदाहरण से अक्रियावादी के मत में आयोजित करना चाहिये । अब सूत्रकार अक्रियावादियों के अज्ञानमूलक उपक्रम को बताने हेतु कहते हैं ।

❀ ❀ ❀

सम्मिस्सभावं च गिरा गहीए, से मुम्मुई होइ अणाणुवाई ।
इमं दुपक्खं इममेगपक्खं, आहंसु छलायतणं च कम्मं ॥५॥

छाया – सम्मिश्रभावञ्च गिरा गृहीते, स मूकमूकोभवत्यननुवादी ।
इदं द्विपक्ष मिदमेकपक्ष माहुच्छलायतनञ्च कर्म ॥

अनुवाद – पहले जिनका वर्णन हुआ है वे मतवादी अपनी वाणी द्वारा स्वीकृत पदार्थों का निषेध करते हुए सम्मिश्रभाव को-पदार्थ की सत्ता तथा असत्ता दोनों को स्वीकार करते हैं । वे स्याद्वाद में विश्वास रखने वाले वादियों के वचनों का अनुवाद करने में-प्रतिउत्तर देने में असमर्थ होकर मूक-चुप हो जाते हैं । वे अपने वाद को प्रतिपक्ष रहित तथा दूसरों के वाद को प्रतिपक्ष सहित मानते हैं । वे स्याद्वादियों के सिद्धान्तों का खंडन करने हेतु छलपूर्ण वाणी का प्रयोग करते हैं ।

टीका – स्वकीयया गिरा-वाचा स्वाभ्युपगमेनैव 'गृहीते' तस्मिन्नर्थे नान्तरीयकतया वा समागते सति तस्याऽऽयातस्यार्थस्य गिरा प्रतिषेधं कुर्वाणा: 'सम्मिस्त्रीभावम्' अस्तित्वनास्तित्वाभ्युपगमं ते लोकायतिकादय: कुर्वन्ति, वाशब्दात्प्रतिषेधे प्रतिपाद्येऽस्तित्वमेव प्रतिपादयन्ति, तथाहि-लोकायतिकास्तावत्स्वशिष्येभ्यो जीवाद्यभावप्रतिपादकं, शास्त्रं प्रतिपादयन्तो नान्तरीकतयाऽऽत्मानं कर्तारं कारणं च शास्त्रं कर्मतापन्नांश्च शिष्यानवश्यमभ्युपगच्छेयु, सर्वशून्यत्वे त्वस्य त्रितयस्याभावान्मिश्रीभावो व्यत्ययो वा । बौद्धा अपि मिश्रीभावमेव-मुपगता:, तद्यथा –

"गन्ता चनास्ति कश्चिद्गतय: षड् बौद्धशासनेप्रोक्ता: गम्यत इति च गति: स्याच्छ्रुति: कथं शोभना बौद्धी?॥१॥

तथा-'कर्म (च) नास्ति फलं चास्ती फलं चास्ती'त्यसतिचात्मनि कारके कथं षड्गतय: ? ज्ञानसन्तानस्यापि संतानि व्यतिरेकेण संवृतिमत्त्वात् क्षणस्य चास्थितत्वेन क्रियाऽभावान्न नानागतिसंभव: सर्वाण्यपि कर्माण्यबन्धनानि प्ररूपयन्ति स्वागमे, तथा पञ्च जातक शतानि च बुद्धस्योपदिशन्ति, तथा –

"माता पितरौ हत्वा बुद्ध शरीरे च रुधिरमुत्पाद्य । अर्हद्वधं च कृत्वा स्तूपं भित्त्वा च पञ्चैते ॥१॥

आवीचिनरकं यान्ति ।" एवमादिकस्यागमस्य सर्वशून्यत्वे प्रणयनमयुक्तिसंगतं स्यात्, तथा जातिजरामरणरोगशोकोत्तममध्यमाधमत्वानि च न स्यु:, एष एव च नानाविधकर्मविपाको जीवास्तित्वं कर्तृत्वं कर्मवत्त्वं चावेदयति, तथा-

'गान्धर्वनगरतुल्या मायास्वप्नोपपातघनसदृशाः । मृगतृष्णानीहाराम्बुचन्द्रिकालातचक्रसमाः ॥१॥'

इति भाषणाच्च स्पष्टमेव मिश्रीभावोपगमनं बौद्धानामिति । यदिवा-नानाविधकर्मविपाकाभ्युपगमात्तेषां व्यत्यय एवेति, तथा चोक्तम् -

'यदि शून्यस्तव पक्षो मत्पक्षनिवारकः कथं भवति? । अथ मन्यसे न शून्यस्तथापि मत्पक्ष एवासौ ॥१॥'

इत्यादि, तदेवं बौद्धाः पूर्वोक्तया नीत्या मिश्रीभावमुपगता नास्तित्वं प्रतिपादयन्तोऽस्तित्वमेव प्रतिपादयन्ति॥ तथा सांख्या अपि सर्वव्यापितया अक्रियमात्मानमभ्युपगम्य प्रकृतिवियोगान्मोक्षसद्भावं प्रतिपादयन्तुस्तेऽप्यात्मनो बन्धं मोक्षं च स्ववाचा प्रतिपादयन्ति, ततश्च बंधमोक्षसद्भावे सति स्वकीयया गिरा सक्रियत्वे गृहीते सत्यात्मनः सम्मिश्रीभावं व्रजन्ति, यतो न क्रियामन्तरेण बंधमोक्षौ घटेते, वा शब्दादक्रियत्वे प्रतिपाद्ये व्यत्यय एव-सक्रियत्व तेषां स्ववाचा प्रतिपद्यते । तदेवं लोकायतिकाः सर्वाभावाभ्युपगमेन क्रियाऽभावं प्रतिपादयन्ति बौद्धाश्च क्षणिकत्वात्सर्वशून्यत्वाच्चाक्रियामेवाभ्युपगमयन्तः स्वकीयागमप्रणयनेन चोदिताः सन्तः सम्मिश्रीभावं स्ववाचैव प्रतिपद्यन्ते, तथा सांख्याश्चाक्रियमात्मानमभ्युपगच्छन्तो बंधमोक्षसद्भावं च स्वभ्युपगमेनैव सम्मिश्रीभावं व्रजन्ति व्यत्ययं च एतत्प्रतिपादितं ।यदिवा बौद्धादिः कश्चित्तस्याद्वादिना सम्यग्हेतुदृष्टान्तै र्व्याकुलीक्रियमाणः सन् सम्यगुत्तरं दानुयसमर्थो यत्किञ्चनभाषितया 'मुम्मुई होइ' त्ति गद्गदभाषित्वेनाव्यक्तभाषी भवति, यदिवा प्राकृतशैल्या छान्तसत्वाच्चायमर्थो द्रष्टव्यः, तद्यथा-मूकादपि मूको मूकमूको भवति, एतदेव दर्शयति-स्याद्वादिनोक्तं साधनमनुवदितुं शीलमस्येत्यनुवादी तत्प्रतिषेधादननुवादी, सद्धेतुभिर्व्याकुलितमना मौनमेव प्रतिपद्यत इति भावः, अननुभाष्य च प्रतिपक्षसाधनं तथाऽदूषयित्वा च स्वपक्षं प्रतिपादयन्ति तद्यथा-'इदम्' अस्मदभ्युपगतं दर्शनमेकः पक्षोऽस्येति एकपक्षमप्रतिपक्षतयैकान्ति-कमविरुद्धार्थाभिधायितया निष्प्रतिबाधं पूर्वापराविरुद्धमित्यर्थः, इदं चैवंभूतमपि सदि (त्कमि) त्याह-द्वौ पक्षावस्येति द्विपक्षं-सप्रतिपक्षमनैकान्तिकं पूर्वापरविरुद्धार्थाभिधायितया विरोधिवचन मित्यर्थः, यथा च विरोधिवचनत्वं तेषां तथा प्राग्दर्शितमेव, यदिवेदमस्यदीयं दर्शनं द्वौ पक्षावस्येति द्विपक्षं कर्मबन्धनिर्जरणं प्रतिपक्षद्वयसमाश्रयणात् तत्समाश्रयणं चेहामुत्र च वेदनां चौरपारदारिकादीनामिव, ते हि करचरणनासिकादिच्छेदादिकामिहैव पुष्पकल्पां स्वकर्मणो विडम्बनामनुभवन्ति अमुत्र च नरकादौ तत्फलभूतां वेदनां समनुभवन्तीति, एवमन्यदपि कर्मोभयवेद्यमभ्युपगम्यते, तच्चेदं 'प्राणी प्राणिज्ञान' मित्यादि पूर्ववत्, तथेदमेकः पक्षो-स्येत्येक पक्षं इहैव जन्मनि तस्य वेद्यत्वात्, तच्चेदम्-अविज्ञोपचितं परिज्ञोपचितमीर्यापथं स्वप्नान्तिकं चेति । तदेवं स्याद्वादिनाऽभियुक्ताः स्वदर्शनमेवमनन्तरोक्तया नीत्या प्रतिपादयन्ति, तथा स्याद्वादिसाधनोक्तौ छलायतनंछलं नवकम्बलो देवदत्त इत्यादिकं 'आहुः' उक्तवन्तः, च शब्दादन्यच्च दूषणाभासादिकं, तथा कर्म च एक पक्षद्विपक्षादिकं प्रतिपादितवन्त इति, यदिवा षडायतनानि-उपादानकारणानि आश्रवद्वाराणि श्रोत्रेन्द्रियादीनि यस्य कर्मणस्तत्षडायतनं कर्मेत्येवमाहुरिति ॥५॥

टीकार्थ – पूर्व वर्णित अन्य मतवादियों की वाणी द्वारा ही अर्थात् उनके स्वीकृत सिद्धान्त से ही पदार्थ का अस्तित्त्व सिद्ध हो जाता है अथवा पदार्थ का अस्तित्त्व माने बिना उनका सिद्धान्त सिद्ध ही नहीं होता । ऐसा होने से वह पदार्थ स्वयं सिद्ध हो जाता है । वैसी स्थिति में वचन द्वारा उस पदार्थ का प्रतिषेध करते हुए वे लोकायतिक-चार्वाक आदि इन दोनों से मिश्रित-आपस में मिले हुए में इस सिद्धान्त को अंगीकार करते हैं । यहां प्रयुक्त 'वा' शब्द से यह जानना चाहिये कि पदार्थ का निषेध करते हुए लोकायतिक-चार्वाक एक प्रकार से उसका अस्तित्त्व ही प्रतिपादित करते हैं । इसे यों समझा जा सकता है । चार्वाक मतवादी अपने शिष्यों को जीव आदि तत्त्वों के अभाव प्रतिपादक शास्त्रों का उपदेश करते हैं । यहां वे शास्त्र प्रणेता आत्मा, उपदेश के साधनभूत शास्त्र, उपदीस्यमान शिष्य इनको तो वे अवश्य ही स्वीकार करते हैं । इन्हें माने बिना उपदेश

आदि तीनों ही घटित नहीं होते । सर्व शून्यत्व-सबको शून्य मानने के सिद्धान्त में या शून्यवाद में ये तीनों ही तत्त्व नहीं हैं । इस प्रकार वे मिश्रीभाव का-मिश्र पक्ष का आश्रय लेते हैं अर्थात् पदार्थ नहीं है-ऐसा भी प्रतिपादित करते हैं तथा उसका अस्तित्त्व भी मानते हैं ।

पदार्थ का निषेध करने के बावजूद वे उसकी सत्ता स्वीकार करतेहैं । बौद्ध भी इसी प्रकार मिश्रीभाव को उपगत है-परस्पर विपरीत मिश्रपक्ष को अपनाये हुए हैं । कहा है जिस सिद्धान्त में कोई गन्ता-गति करने वाला या जाने वाला ही नहीं है उसमें छः गतियां किस प्रकार प्रतिपादित की गई हैं । गमन करना गति कहलाताहै। यह श्रुति परम्परा से सुनी जाती हुई बात बौद्ध सिद्धान्त में किस प्रकार संगत हो सकती है । कर्म का तो अस्तित्त्व है ही नहीं किंतु उसकी फल निष्पत्ति होती है । यह कैसे संभव है । जब गति करने वाली आत्मा ही नहीं है तो उसकी छः गतियां कैसे घटित होंगी। बौद्धों ने जिस ज्ञान संस्थान की कल्पना की है वह भी ज्ञान से भिन्न नहीं है-आरोपित है । प्रत्येक ज्ञान-क्षण क्षण में होने वाला ज्ञान, क्षण विनाशी है-अगले क्षण विनष्ट हो जाता है । अतः स्थिर नहीं है । अतएव क्रिया का अस्तित्व न होने के कारण नानागतियों का होना इनके मतानुसार कभी भी संगत नहीं है । बौद्ध अपने आगम में-शास्त्र में सभी कर्मों को अबंधन-बंधन रहित बतलाते हैं । किन्तु वे यह भी तो प्रतिपादित करते हैं कि बुद्ध ने पांच सौ बार जन्म लिया । यह भी कहते हैं कि माता-पिता की हत्या कर, बुद्ध के शरीर से रुधिर निकाल कर, अर्हद् का वध कर-उन्हें मारकर, धर्म स्तूप को छिन्न भिन्न कर-तोड़कर व्यक्ति अविचि नामक नर्क में जाता है । जब कर्म का बन्धन नहीं होता, सर्वशून्य-जब सब कुछ शून्य है तब ऐसे शास्त्रों का प्रणयन अयुक्तिसंगत हो जाता है । यदि कर्म से बंधन नहीं होता तो जन्म, वृद्धावस्था, मृत्यु, रुग्णता, दुःख, उत्तम, श्रेष्ठ, मध्यम-बीच का, अधम-निम्न, यह सब किस प्रकार घटित हो सकते हैं । कर्म का भिन्न भिन्न प्रकार का विपाक-फल किस प्रकार होते हैं । इससे यह साबित होता है कि अवश्य ही जीव का अस्तित्व है, उसका कृत्वत्व है-वह कर्म करता है । कर्म का भी अपना अस्तित्त्व है । ऐसा होने के बावजूद वे जो यह कहतेहैं कि सभी सांसारिक पदार्थ गंधर्व नगर-आकाश में काल्पनिक नगर के दृश्य के समान असत्य है । वे माया, स्वप्न, मेघ, मृगतृष्णा, निहार-ओस की बूंद, चांदनी, अरातचक्र-चिंगारियों के घेरे के समान केवल मात्र आभास हैं । इससे यह स्पष्ट है कि बौद्ध मिश्रीभाव को स्वीकार करते हैं अथवा वे कर्मों का नानाविध-भिन्न भिन्न प्रकार का फल मानकर अपने शून्यवाद के प्रतिकूल प्रतिपादन करते हैं । अतएव कहा है कि यदि तुम्हारा पक्ष शून्य है-अस्तित्त्व हीन है तो वह मेरे पक्ष का निवारण-निराकरण या खण्डन कैसे कर सकता है । यदि तुम उसे शून्य नहीं मानते तो तुम्हारे द्वारा स्वीकृत पक्ष मेरा ही तो हुआ । इस प्रकार बौद्ध पूर्वोक्त रीति से मिश्र भाव को ही स्वीकार किये हुए हैं । वे पदार्थों के नास्तित्त्व का प्रतिपादन करते हुए उससे विपरीत अस्तित्त्व का ही आख्यान करते हैं ।

सांख्य दर्शनवादी भी आत्मा को सर्वव्यापी मानते हुए उसे क्रिया रहित स्वीकार करते हैं और प्रकृति के वियोग से उसका मोक्ष स्वीकार करते हैं । यों वे स्वयं अपनी वाणी से ही आत्मा का बंध और मोक्ष मान लेते हैं । इस प्रकार आत्मा का बंध और मोक्ष होता है तब उन्हीं की वाणी से आत्मा की सक्रियता-क्रिया युक्तता उत्पन्न हो जाती है । इस प्रकार सांख्य दर्शनवादी भी सम्मिश्री भाव को स्वीकार किये हुए है क्योंकि क्रिया के बिना बंध और मोक्ष नहीं होते । 'वा' शब्द से यहां प्रकट किया गया है कि सांख्यवादी आत्मा को अक्रिय साबित करते हुए अपनी ही वाणी से उसे सक्रिय-क्रियावान प्रतिपादित करते हैं ।

लोकायतिक-चार्वाक मतवादी सब पदार्थों का अभाव-नास्तित्व स्वीकार करते हैं । तदनुसार वे क्रिया का अभाव बतलाते हैं । बौद्ध मतवादी सब पदार्थों का क्षणिकत्व एवं शून्यत्व स्वीकार कर क्रिया

का अभाव मानते हैं किन्तु जब उनसे यह जिज्ञासित किया जाता है कि सभी पदार्थों का अस्तित्व नहीं है तो तुम आगम की रचना क्यों और कैसे करते हो । तब वे अपनी वाणी से सम्मिश्रभाव स्वीकार कर लेते हैं । इसी प्रकार सांख्य मतवादी आत्मा को अक्रिय मानते हुए भी उसका बंध और मोक्ष प्रतिपादित कर उसे सक्रिय-क्रियावान अंगीकार कर लेते हैं । यों वे मिश्रभाव का आश्रय लेते हैं ।

इस प्रकार पूर्व वर्णित सभी अक्रियावाद में विश्वास करने वाले अन्य मतवादी अपने पक्ष को प्रमाणित करते हुए, उसके प्रतिकूल क्रियावाद को भी जो उनका पक्ष नहीं है, प्रमाणित कर देते हैं, यह बतलाया जा चुका हैं । यदि कोई स्याद्वादी-स्याद्वाद या अनेकान्तवाद में विश्वास करने वाला सम्यक् हेतु-कारण दृष्टान्त आदि द्वारा जब बौद्ध आदि के सिद्धान्तों का खण्डन करता है तब वे समुचित उत्तर देने में असमर्थ हो जाते हैं । असंबद्ध-जैसा मन में आये वैसा प्रलाप करते हुए अव्यक्तरूप में बड़बड़ाने लगते हैं, अथवा प्राकृत की शैली से छांदस प्रयोग होने के कारण इसका यह अभिप्राय जानना चाहिये । स्याद्वादी द्वारा पूर्वोक्त में पूछे जाने पर वे बौद्ध आदि मूक से विमूक हो जाते हैं-मूकमूक हो जाते हैं-बिल्कुल चुप हो जाते हैं-हक्के बक्के रह जाते हैं । सूत्रकार इसी का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि स्याद्वादी द्वारा प्रस्तुत सम्यक् हेतु आदि का अनुवाद नहीं कर सकते-समझ कर उत्तर नहीं दे सकते । वे व्याकुल होकर मौन हो जाते हैं-चुप्पी साध लेते हैं । स्यादवादी द्वारा बौद्ध आदि के प्रतिकूल हेतु व दृष्टान्त प्रस्तुत किये जाने पर उनका अनुवाद किये बिना ही-प्रति उत्तर दिये बिना ही अपने सिद्धान्त का मण्डन करने लगते हैं । वे कहने लगते हैं कि हमारा दर्शन विरुद्ध पक्ष से विवर्जित है । वह एकमात्र पक्ष रूप है । एवं परस्पर अविरुद्ध अर्थाभिदायी होने के कारण-परस्पर विरुद्ध अर्थ न बताने के कारण वह प्रतिबाधा रहित है-पूर्वापर विरोध रहित है । उनका यह कहना यथार्थ नहीं है । यह पहले कहा जा चुका है । (जैन मतवादी कहते हैं) हमारा दर्शन द्विपक्ष-दो पक्ष युक्त है । वह सप्रतिपक्ष है, अनेकान्तिक है-अनेकान्तवाद पर टिका हुआ है । पूर्वापर विरुद्ध अर्थ का जो अभिधान करता है उसे विरोधी वचन कहा जाता है । ऐसे विरोधी अविरोधी-ऐसे दोनों वचनों का इसमें आपेक्षिक दृष्टि से स्थान है, यह पहले कहा जा चुका है । अथवा यों एक अन्य प्रकार से भी हमारा दर्शन दो पक्ष युक्त है। हमारा दर्शन कर्मबंध व निर्जरण की दृष्टि से दो पक्ष युक्त है । जैसे जीव अपने कर्म का फल, चोर, पर स्त्रीगामी आदि के समान इस लोक में और परलोक में-दोनों ही लोक में प्राप्त करता है । चोर एवं परस्त्री गामी के हाथ-पैर, नाक आदि का छेदन किया जाता है जिससे वे कष्ट पाते हैं जो मानों उनके कर्म का प्रभाव पुष्पवत है और परलोक में वे नारकीय यातनाएं झेलते हैं जो उनके कर्मों का विपाक फल के समान है जैसे इन कर्मों के फल दोनों लोकों में भुगतने पड़ते हैं। उसी तरह अन्य शुभ-पुण्य, अशुभ-पाप भी दोनों लोकों में ही भुगतने पड़ते हैं । जैन दर्शन ऐसी मान्यता के कारण द्विपक्ष युक्त है किन्तु बौद्ध आदि एक पक्षीय है । उनका कथन है कि कर्म का फल इसी जन्म में प्राप्त होता है, दूसरे में नहीं । 'प्राणी प्राणि ज्ञानं' के रूप में पहले कहा जा चुका है । वे कहते हैं कि अवज्ञोपचित, परिज्ञोपचित, ईर्य्यापथ, स्वप्नान्तिक, कर्मों का बंध केवल स्पर्श मात्र है । स्पर्शमात्र बन्धन का परलोक में कोई फल नहीं होता-इसलिये वे एक पक्षीय हैं । स्याद्वाद में आस्थावान पुरुष जब उनके सिद्धान्त में दोष दिखलाने लगता है तब वे पूर्णवर्णित नीति-पद्धति का अवलम्बन लेकर अपने दर्शन को ही उत्तम-श्रेष्ठ बताते हैं और स्याद्वादी द्वारा प्रस्तुत सम्यक् हेतु में छल प्रयोग करते हैं । उदाहरणार्थ देवदत्त का कम्बल नव-नवीन है । इस अभिप्राय से 'नवकम्बलोदेवदत्तः' यह वाक्य कहा गया है । नव शब्द द्वयर्थक है-नवीन का भी द्योतक है और नौ का भी । इसमें आये 'नव' शब्द का संख्यापरक नौ अर्थ कर

कोई उसका निषेध करता है । नवीन का विपरीत अर्थ करता है । उसी प्रकार बौद्ध आदि दार्शनिकों ने जैनों द्वारा उपस्थापित सत् हेतुओं में-यथार्थ कारणों में छल का प्रयोग किया है । यहां प्रयुक्त 'च' शब्द से दूसरे भी अयुक्तियुक्त दोष सूचित है । बौद्धों ने अपने दर्शन में कर्म को एक पक्ष तथा द्विपक्ष आदि के रूप में स्वीकार किया है । अथवा वे बौद्ध आदि कर्म को षडायतन के रूप में अभिहित करते हैं । श्रोत आदि इंद्रियां जिनके उपादान कारण हैं-आश्रवद्वार हैं, उन्हें षडायतन कहा जाता है । बौद्धों के अनुसार कर्म की षडायतन के रूप में ऐसी मान्यता है ।

❀ ❀ ❀

ते एवमक्खंति अबुज्झमाणा, विरुवरुवाणि अकिरियवाई ।
जे मायइत्ता बहवे मणूसा, भमंति संसार मणोवदग्गं ॥६॥

छाया – त एवमाचक्षतेऽबुध्यमानाः विरुपरुपाण्यक्रियावादिनः ।
यमादाय वहवो मनुष्याः भ्रमन्ति संसारमनवदग्रम् ॥

अनुवाद – जो वस्तु के यथार्थ स्वरूप को नहीं जानते वे अक्रियावादी तरह तरह के सिद्धान्तों का-शास्त्रों का प्रतिपादन करते हैं जिनका अवलम्बन लेकर बहुत से लोग अनन्त काल तक संसार में भटकते रहते हैं ।

टीका – साम्प्रतमेतद्दुषणायाह-'ते' चार्वाक बौद्धादयोऽक्रियावादिन एवमाचक्षते' सद्भावमबुध्यमाना मिथ्यामलपट लावृतात्मानः परमात्मानं च व्युद्ग्राहयन्तो 'विरुपरुपाणि' नानाप्रकाराणि शास्त्राणि प्ररुपयन्ति, तद्यथा-

"दानेन महाभोगाश्च देहिनां सुरगतिश्च शीलेन । भावनया च विमुक्तिस्तपसा सर्वाणि सिध्यन्ति ॥१॥"

तथा पृथिव्यापस्तेजो वायुरित्येतान्येव चत्वारि भूतानि विद्यन्ते, नापरः कश्चित्सुखदुःखभागात्मा विद्यते, यदि वैतान्यप्याविचारितरमणीयानि न परमार्थतः सन्तीति स्वप्नेन्द्रजालमरुमरीचिकानिचयद्विचन्द्रादिप्रतिभास-रूपत्वात्सर्वस्येति । तथा 'सर्वं क्षणिकं निरात्मकं' 'मुक्तिस्तु शून्यतादृष्टेस्तदर्थाः शेषभावना' इत्यादीनि नानाविधानि शास्त्राणि व्युद्ग्राहयन्त्यक्रियात्मानोऽक्रियावादिन इति । ते च परमार्थमबुध्यमाना यद्दर्शनम् 'आदाय' गृहीत्वा वहवो मनुष्याः संसारम् 'अनवदग्रम्' अपर्यवसानमरहट्टघटीन्यायेन 'भ्रमन्ति' पर्यटन्ति, तथाहि-लोकायतिकानां सर्वशून्यत्वे प्रतिपाद्ये न प्रमाणमस्ति, तथा चोक्तम् -

"तत्त्वान्युपप्लुतानीति, युक्त्यभावे न सिध्यति । साऽस्ति चेत्सैव नस्तत्त्वं, तत्सिद्धौसर्वमस्तुसत् ॥१॥

न च प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणम्, अतीतानागतभावतया पितृनिबन्धनस्यापि व्यवहारस्यासिद्धेः ततः सर्वसंव्यवहारोच्छेदः स्यादिति । बौद्धानामप्यत्यन्तक्षणिकत्वेन वस्तुत्वाभावः प्रसजति, तथाहि-यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थतः सत्, न च क्षणः क्रमेणार्थ क्रियां करोति, क्षणिकत्वहानेः, नापि योगपद्येन, [तत्कार्याणां] एकस्मिन्नेव क्षणे सर्वका-र्यापत्तेः, न चैतददृष्टमिष्टं वा, न च ज्ञानाधारमात्मानं गुणिनमन्तरेण गुणभूतस्य संकलनाप्रत्ययस्य सद्भाव इत्येतच्च प्रागुक्त प्रायं, यच्चोक्तं-'दानेन महाभोगा' इत्यादि तदार्हतैरपि कथञ्चि दिष्यत एवेति, न चाभ्युपगमा एव बाधायै प्रकल्प्यन्त इति ॥६॥

टीकार्थ – इस मत के दोष प्रकट करने हेतु सूत्रकार कहते हैं-चार्वाक एवं बौद्ध आदि अक्रियावादी जैसा पहले वर्णित किया गया है-अक्रियावाद का आख्यान करते हैं । वे वास्तव में सही तत्त्व को नहीं जानते, उनका हृदय मिथ्यात्त्व के मलपटल से-मैल के समूह से आवृत है । वे अपना सिद्धान्त औरों को तथा अपने

आपको हृदयंगम कराते हुए तरह तरह शास्त्रों का-सिद्धान्तों का निरूपण करते हैं । वे कहते हैं कि दान देने से बहुत बड़े भोग प्राप्त होते हैं । तथा शील का परिपालन करने से देव गति मिलती है । भावना से विमुक्ति प्राप्त होती है एवं तपश्चरण से सब सिद्ध हो जाता है । और भी वे कहते हैं-पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ये चार ही भूत हैं । इनके अतिरिक्त सुख एवं दुःख का अनुभव-भोग करने वाला कोई आत्मा संज्ञक पदार्थ नहीं है । वे पदार्थ भी अविचारित रमणीय है-विचार न करने से ही-तात्त्विक गहराई में न जाने से ही सुन्दर प्रतीत होते हैं किन्तु पारमार्थिक रूप में ये नहीं है-असत्य है क्योंकि सभी पदार्थ स्वप्न, इन्द्रजाल मरुमरीचिका, दो चन्द्र आदि के सदृश प्रतिभास मात्र है-केवल प्रतिभाषित होते हैं । सभी पदार्थ क्षणिक है-निरात्मक है, आत्मरहित है । शून्यत्व की दृष्टि से ही मुक्ति प्राप्त होतीहै । उसी मुक्ति को प्राप्त करने हेतु शेष भावनाएं अनुभावित होती है । इस प्रकार आत्मा को क्रियाशून्य मानने वाले अक्रियावादी भिन्न भिन्न प्रकार से अपने अपने सिद्धान्तों का आख्यान करते हैं । ये वस्तु के यथार्थ स्वरूप को नहीं जानते । अतएव जो इन सिद्धान्तों का अवलम्बन करते हैं, वे रहट की तरह अनन्त काल पर्यन्त संसार में चक्कर लगाते रहते हैं । लोकायतिक-चार्वाक सिद्धान्तवादी सर्वशून्यत्व में विश्वास करते हैं किन्तु उसकी सिद्धि में कोई प्रमाण नहीं है । (जैनों द्वारा) कहा गया है-तत्त्व अर्थात् पदार्थ सब असत् है युक्ति बल से-तर्क द्वारा यह सिद्ध किया जा सकता है किन्तु वह युक्ति-तर्क भी असत् है तो किसके सहारे पदार्थों की असत्ता प्रमाणित की जा सकेगी। यदि तुम युक्ति को सत्य स्वीकार करते हो तो हमारी ही मान्यता साबित होती है क्योंकि जैसे युक्ति सत्य है, उसी की ज्यों समग्र पदार्थ सत्य है । चार्वाक मतवादी एकमात्र प्रत्यक्ष को ही प्रमाण स्वीकार करते हैं किन्तु ऐसा मानना युक्तिसंगत नहीं है । इसका कारण यह है कि भूतकाल के साथ पिता का तथा भविष्य काल के साथ पुत्र का लोक में जो व्यवहार दृष्टिगोचर होताहै वह केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण स्वीकार करने पर सध नहीं सकता। क्योंकि अतीत और अनागत प्रत्यक्ष के विषय नहीं है । एकमात्र प्रत्यक्ष को ही प्रमाण स्वीकार करने पर सभी जागतिक व्यवहार उच्छिन्न हो जायेंगे । अतः अनुमान आदि प्रमाण भी मानने योग्य हैं । उन प्रमाणों को स्वीकार करना अज्ञान जनित है । इसी तरह बौद्ध दर्शन में विश्वास करने वाले समग्र पदार्थों को क्षणिक स्वीकार करते हैं किन्तु पदार्थों का क्षणिकत्व मानने पर उनका अस्तित्त्व भी प्रमाणित नहीं हो सकता क्योंकि पदार्थ का क्रिया कारित्व के साथ संबंध है । जो क्रिया करता है वास्तव में वही सत् है । यदि पदार्थ क्षणिक-क्षणवर्ती हो तो वह क्रमशः क्रियाएं निष्पादित नहीं कर सकता क्योंकि क्रमबद्ध क्रियाकारिता होने से क्षणिकत्व नहीं टिक सकता। यदि एक ही क्षण में सब कार्यों का किया जाना माना जाय तो वे सबके सब एक ही क्षण में निष्पादित हो जाने चाहिये किन्तु ऐसा न दृष्ट है-न दिखाई देता है और न ईष्ट-अभिप्सित है । समग्र ज्ञानों का आधार एक गुणी आत्मा है । ऐसा माने बिना "मैंने पांचों ही इन्द्रिय विषयों को जाना" ऐसा संकलना प्रत्यय-संकलना से प्रतीत होने वाला ज्ञान भी नहीं हो सकता । यह पहले बताया जा चुका है । बौद्ध मतानुयायियों ने जो यह कहा कि 'दान देने से अत्याधिक भोगों की उपलब्धि होती है यह तो कथञ्चित-एक अपेक्षा से आर्हत् जैन भी मानते हैं । इसलिये ऐसी मान्यता हमारे लिये कोई बाधा जनक नहीं है ।

❀ ❀ ❀

णोइच्चो उएइ ण अत्थमेति, ण चंदिमा वड्ढतिहायतीवा ।
सलिला ण संदंति ण वंति वाया, वंझो णियतो कसिणेहुलोए ॥७॥

छाया – नादित्य उदेति नास्तमेति, न चन्द्रमा वर्धते हीयते वा ।
सलिलानि न स्यन्दन्ते, न वान्ति वाताः वन्ध्योनियतः कृत्स्नोलोकः ॥

अनुवाद – जो शून्यवाद में विश्वास रखते हैं, उनका कहना है कि आदित्य-सूर्यनउदित होता है और न अस्त होता है । चन्द्रमा न वर्धित होता है और न ह्रसित होता है । पानी नहीं बहता, हवा नहीं चलती, यह समस्त लोक बन्ध्य-असत्य है, अभाव रूप है ।

टीका – पुनरपि शून्यमताविर्भावनायाह-सर्वशून्यवादिनो ह्यक्रियावादिनः सर्वाध्यक्षामादित्योद्गमनादिकामेव क्रियां तावन्निरुन्धन्तीति दर्शयति-आदित्योहि सर्वजनप्रतीतो जगत्प्रदीप कल्पो दिवसादिकालविभागकारी स एव तावन्न विद्यते, कुतस्तस्योद्गमनमस्तमयनं वा ? यच्च जाज्वल्यमानं तेजोमण्डलं दृश्यते तद् भ्रान्तमतीनां द्विचन्द्रादिप्रतिमासमृगतृष्णिकाकल्पं वर्ततो । तथा न चन्द्रमा वर्धते शुक्लपक्षे, नाप्यपरपक्षे प्रतिदिनमपहीयते, तथा 'न सलिलानि' उदकानि 'स्पन्दन्ते' पर्वतनिर्झरेभ्यो न स्रवन्ति । तथा वाताः सततगतयो न वान्ति । किं बहुनोक्तेन ?, कृत्स्नोऽप्ययं लोको 'वन्ध्यः' अर्थशून्यो 'नियतो' निश्चितः अभावरूप इतियावत्, सर्वमिदं यदुपलभ्यते तन्मायास्वप्नेन्द्र जालकल्पमिति ॥७॥

टीकार्थ – सूत्रकार सर्वशून्यत्व वाद का सिद्धान्त प्रकट करने हेतु प्रतिपादित करते हैं-सर्वशून्यवादी तथा अक्रियावादी सूर्य के उदगमन-उदय तथा अस्तगमन-अस्त होने की क्रियाएं सत्य प्रत्यक्ष है । सब देखते हैं किन्तु वे उनका भी निषेध करते हैं । शास्त्रकार इसका स्पष्टीकरण करते हुए बतलाते हैं कि सूर्य सब लोगों के लिये प्रत्यक्ष है, सब उसे साक्षात् देखते हैं । वह संसार के लिये प्रदीप के सदृश है ।दिवसादि के काल का विभागकारी है-विभाजक हैं किन्तु सर्वशून्यत्ववादी के अनुसार उसका भी अस्तित्त्व नहीं है । तब उसके उद्गमन एवं अस्तगमन की तो बात ही क्या ? जो जाज्वल्यमान-जलता हुआ आकाश में तेजोमंडल दृष्टिगोचर होता है वह भ्रान्तबुद्धियुक्त जनों के लिये दिखाई देता हुआ भी दो चन्द्र तथा मृगतृष्णा आदि की तरह काल्पित है-मिथ्या है । विभ्रान्त पुरुष ऐसा मानते हैं । चन्द्रमा शुक्ल पक्ष में वृद्धि नहीं पाता, कृष्ण पक्ष में घटता नहीं। पर्वतों से निर्झर-झरने गिरते नहीं, बहते नहीं । निरन्तर गतिशील वायु भी चलती नहीं । अधिक क्या कहा जाय, यह समस्त लोक वन्ध्य-अर्थशून्य और निश्चित रूप में अभावात्मक है । इस जगत में जो भी वस्तु उपलब्ध होती है, वह सब माया, स्वप्न और इन्द्रजाल-जादूगर के खेल की तरह असत्-असत्य है ।

❀ ❀ ❀

जहाहि अंधे सह जोतिणावि, रूवाइ णो पस्सति हीणणेत्ते ।
संतंपि ते एवमकिरिय वाई, किरियं ण पस्संति निरुद्धपन्ना ॥८॥

छाया – यथा ह्यन्धः सह ज्योतिषाऽपि रूपाणि न पश्यति हीननेत्रः ।
सतीमपि ते एवमक्रियावादिनः क्रियां न पश्यन्ति निरुद्धप्रज्ञाः ।

अनुवाद – जैसे एक नेत्रहीन पुरुष दीपक लिये हुए भी पदार्थों को नहीं देख पाता, उसी तरह जिनके ज्ञान चक्षुओं पर आवरण पड़ा हुआ है ऐसे प्रज्ञाविहीन अक्रियवादी, होती हुई क्रियाओं को भी नहीं देख पाते।

टीका – एतत्परिहर्तुकाम आह-यथा ह्यन्धो-जात्यन्धः पश्चाद्वा 'हीननेत्रः' अपगत चक्षुः 'रूपाणि' घटपटादीनि 'ज्योतिषापि' प्रदीपादिनापि सह वर्तमानो 'न पश्यति' नोपलभते, एवं तेऽप्यक्रियावादिनः सदपि घटघटादिकं वस्तु तत्क्रियां चास्तित्वादिकां परिस्पन्दादिकां वा (क्रियां) न पश्यन्ति । किमिति ?, यतो निरुद्धा-आच्छादिता ज्ञानावरणादिना कर्मणा प्रज्ञा-ज्ञानं येषां ते तथा, तथाहि-आगोपालाङ्गनादिप्रतीतः समस्तान्धकारक्षयकारी

कमलाकरोद्घाटनपटीयानादित्योदयः प्रत्यहंभवन्नुपलक्ष्यते, तत्क्रिया च देशाद्देशान्तरावाप्त्याऽन्यत्र देवदत्तादौ प्रतीताऽनुमीयते। चन्द्रमाश्च प्रत्यहं क्षीयमाणः समस्त क्षयं यावत्पुनः कलाभि वृद्ध्या प्रवर्धमानः संपूर्णावस्था (स्थां) यां यावदध्यक्षेणैवोपलक्ष्यते। तथा सरितश्च प्रावृषि जलकल्लोलाविलाः स्यन्दमाना दृश्यन्ते । वायवश्च वान्तो वृक्षभङ्ग कम्पादिभिरनुमीयन्ते यच्चोक्तं भवता-सर्वमिदं माया स्वप्नेन्द्रजालकल्पमिति, तदसत्, यतः सर्वाभावे कस्यचिदमायारूपस्य सत्यस्याभावान्मायाया एवाभावः स्यात्, यश्च मायां प्रतिपादयेत् यस्य च प्रतिपाद्यते सर्वशून्यत्वे तयोरेवामावात्कुतस्तद्वयवस्थितिरिति? तथा स्वप्नोऽपि जाग्रदवस्थायां सत्यां व्यवस्थाप्यते तस्या अभाव तस्याप्यभावः स्यात्ततः स्वप्नमभ्युपगच्छता भवता तन्नान्तरीयकतया जाग्रदवस्थाऽवश्यमभ्युपगता भवति, तदभ्युपगमे च सर्वशून्यत्वहानिः, न च स्वप्नोऽप्यभावरूप एव, स्वप्नेऽप्यनुभूतादेः सद्भावात्, तथा चोक्तम् -

"अणुहुयदिट्ठचिंतिय छयपयइवियारदेवयाऽणूया । सुमिणस्स निमित्ताइं पुण्णं पावं च णाभावो ॥१॥"

छाया - अनुभूतदृष्टचिन्तितश्रुतप्रकृति विकार देवतानूपाः । स्वप्नस्य निमित्तानि पुण्यं पापं न नाभावः ॥१॥

इन्द्रजालव्यवस्थाऽथपरसत्यतेव सति भवति, तदभावे तु केन कस्य चेन्द्रजालं व्यवस्थाप्येत ?, द्विचन्द्रप्रतिभासोऽपि रात्रौ सत्यामेकस्मिंश्च चन्द्रमस्युपलंभकसद्भावे च घटते न सर्वशून्यत्वे, न चाभावः कस्यचिदप्यत्यन्ततुच्छरूपोऽस्ति, शशविषाण कूर्मरोमगगनारविन्दादीनामत्यन्ताभावप्रसिद्धानां समास प्रतिपाद्यस्यैवार्थस्याभावो न प्रत्येकपदवाच्यार्थस्येति, तथाहि-शशोऽप्यस्ति विषाणमप्यस्ति किं त्वत्र शशमस्तकसमवायि विषाणं नास्तीत्येतत्प्रतिपाद्यते, तदेवं संबंधमात्रमय निषिध्यते नात्यन्तिको वस्त्वभाव इति, एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यमिति। तदेव(विद्यमानायामप्यस्तीत्यादिकायां क्रियायां निरुद्धप्रज्ञास्तीर्थिका अक्रियावादमाश्रिता इति ॥८॥ अनिरुद्धप्रज्ञास्तु यथावस्थितार्थं वेदिनो भवन्ति, तथाहि-अवधिमनःपर्यायकेवलज्ञानिनस्त्रैलोक्योदरविवरवर्तिनः पदार्थान् करतलामलकन्यायेन पश्यन्ति, समस्तश्रुतज्ञानिनोऽपि आगमबलेनातीतानागतानर्थान् विदन्ति, येऽप्यन्येऽष्टाङ्गनिमित्तपारगास्तेऽपि निमित्तबलेन जीवादिपदार्थपरिच्छेदं विदधति, तदाह -

टीकार्थ – सर्व शून्यत्व वादी के सिद्धान्त का खण्डन करने हेतु सूत्रकार प्रतिपादित करते हैं-जैसे एक जन्म से अंधा व्यक्ति या जन्म के बाद अंधा बना व्यक्ति दीपक आदि के प्रकाश के साथ होता हुआ भी घड़ा, कपड़ा आदि पदार्थों को देख नहीं पाता, इसी प्रकार अक्रियावादी भी विद्यमान घट-पटादि पदार्थों के अस्तित्त्व को तथा स्पन्दन-हिलना डुलना आदि क्रियाओं को देख नहीं सकते । क्यों नहीं देख सकते ? क्योंकि उनका ज्ञान ज्ञानावरणीय आदि कर्म से आच्छादित-ढका हुआ है । सूर्य का उदय ग्वालों, स्त्रियों आदि से लेकर सभी में प्रसिद्ध है-सभी जानते हैं । सूर्य समग्र अंधकार का क्षय करता है । कमलों को उद्घाटित-विकसित करता है । वह प्रतिदिन उदित होता हुआ उपलक्षित होता है, जैसे देवदत्त आदि गति करतेहुए एक देश से-एक स्थान से दूसरे स्थान में जाते हैं, उसी प्रकार सूर्य भी गति द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान में जाता है । चंद्रमा भी प्रतिदिन क्षीण होता हुआ सम्पूर्णतः क्षय को प्राप्त कर लेता है । फिर वह अपनी कलाभिवृद्धि द्वारा अभिवर्द्धित होता हुआ सम्पूर्णावस्था पा लेता है-परिपूर्ण रूप में वृद्धिगत हो जाता है, ऐसा प्रत्यक्ष उपलक्षित होता है । नदियां पावस में-वर्षा ऋतु में जल की कल्लोलों से-तरंगों से लहराती हुई बहती है । ऐसा प्रत्यक्ष देखा जाता है वृक्षों का भंग-टूटना, कम्पन-हिलना आदि द्वारा वायु के बहने का भी अनुमान होता है । जो आप इन समस्त वस्तुओं को माया स्वप्न तथा इन्द्रजाल के समान कल्पित या मिथ्या बतलाते हैं । यह समुचित नहीं है क्योंकि समस्त वस्तु का अभाव स्वीकार करने पर अमाया रूप किसी भी सत्य वस्तु का अस्तित्व न होने से माया का भी अस्तित्व टिक नहीं पायेगा, उसका भी अभाव सिद्ध होगा । जो माया का प्रतिपादन

करता है और जिसको उदिष्ट कर माया का प्रतिपादन कियाजाता है, इन दोनों का अभाव होने से फिर माया की अवस्थिति कैसे टिक सकती है । स्वप्न भी जाग्रत अवस्था की स्थिति होने पर ही होता है । अत: स्वप्न को स्वीकार करते हैं इससे जाग्रत अवस्था अवश्य ही स्वीकृत हो जाती है । जाग्रत अवस्था के स्वीकृत या सिद्ध होने पर सर्वशून्यत्त्व की हानि होती है-सर्वशून्यत्त्व टिक नहीं पाता । स्वप्न भी अभावात्मक नहीं है क्योंकि स्वप्न में भी अनुभूत-दृष्ट पदार्थों का लोक में अस्तित्त्व होता है । अतएव कहा गया है कि अनुभूत, दृष्ट, चिन्तित, श्रुत प्रकृति विकार, देवप्रभाव, पुण्य एवं पाप स्वप्न के हेतु होते हैं । किन्तु अभाव स्वप्न का हेतु नहीं होता । इन्द्रजाल की व्यवस्था भी तो अन्य वस्तु के सत्य होने पर ही की जाती है-वह सत्य का कृत्रिम रूप ही तो है किन्तु जब लोक में कोई पदार्थ सत्य है ही नहीं तब कौन किसे उदिष्ट कर इन्द्रजाल रचेगा? दो चन्द्रों का जो आभास होता है वह भी रात्रि के सत्य होने पर ही एवं उनका आभास कराने वाले एक चंद्र के सत्य होने पर ही संभावित है । सर्वशून्यत्व होने की स्थिति में यह घटित नहीं हो सकता । किसी भी वस्तु के अत्यन्त सूक्ष्म रूप का अभाव नहीं होता । अत्यन्त अभाव के रूप में शशविषाण-खरगोश के सींग, कूर्म रोम-कछुए के बाल तथा गगनारविन्द-आकाश में कमल इत्यादि के रूप में जो प्रसिद्ध है उनके समासयुक्त पदों के वाच्य अर्थ का ही अभाव हैं, समासगत प्रत्येक पद के वाच्य अर्थ का अभाव नहीं होता क्योंकि इस लोक में खरगोश भी प्राप्त है तथा सींग भी प्राप्त है । इसलिये यहां खरगोश के सिर पर समवाय संबंध से विद्यमान सींग का ही निषेध प्रतिपादित किया जाता है । इस प्रकार यहां केवल संबंध का निषेध है । वस्तु-पदार्थ का अत्यन्त अभाव नहीं है । अन्यत्र भी ऐसा जानना चाहिये । इस प्रकार अस्ति इत्यादि क्रिया के विद्यमान होने पर भी प्रज्ञाशून्य इतर मतावलम्बी अक्रियावाद का आश्रय लेते हैं-उसमें विश्वास करते हैं ।

जिनकी प्रज्ञा-बुद्धि अनिरुद्ध है, ज्ञानावरणीय आदि कर्मों से आवृत्त नहीं है वे पदार्थ के यथावस्थित-जैसा वह है, उस स्वरूप को जानते हैं । जैसे अवधि ज्ञानी, मन:पर्यव ज्ञानी तथा केवलज्ञानी तीनों लोकों में विद्यमान पदार्थों को हथेली में रखे हुए आंवले की तरह देखते हैं तथा समग्र श्रुतगामी भी आगम के सहारे भूत तथा भविष्य से सम्बद्ध अर्थ-पदार्थों को जानते हैं । अष्टांग निमित्तवेत्ता अन्य पुरुष भी निमित्त के माध्यम से जीव आदि पदार्थों का परिच्छेद करते हैं-पहचान करते हैं-जानते हैं ।

❀ ❀ ❀

संवच्छरं सुविणं लक्खणं च, निमित्तदेहं च उप्पाइयं च ।
अट्ठंगमेयं बहवे अहित्ता, लोगंसि जाणंति अणागताइं ॥९॥

छाया – **संवत्सरं स्वप्नं लक्षणञ्च, निमित्तं देहञ्चौत्पातिकञ्च ।**
अष्टांगमेतद् बहवोऽधीत्य लोके जानन्त्यनागतानि ॥

अनुवाद – संसार में ऐसे बहुत से व्यक्ति हैं जो ज्योतिष शास्त्र, स्वप्नशास्त्र, लक्षणशास्त्र, देहगत चिन्हों का ज्ञान सूचक शास्त्र, निमित्त शास्त्र, उल्कापात तथा दिग्दाह आदि के फल प्रतिपादन करने वाले अष्टांग शास्त्रों का अध्ययन कर अनागत काल की बातें बताते हैं ।

टीका – 'सांवत्सर' मिति ज्योतिषं स्वप्नप्रतिपादको ग्रन्थ: स्वप्नस्तमधीत्य 'लक्षणं' श्रीवत्सादिकं, च शब्दादान्तरबाह्यभेदभिन्नं, 'निमित्तं' वाक्प्रशस्तशकुनादिकं देहे भवं दैहं-मषकतिलकादि, उत्पाते भवमौत्पातिकम्-उल्कापातदिग्दाहनिर्घातभूमिकम्पादिकं, तथा अष्टांग च निमित्तमधीत्य, तद्यथा-भौममुत्पातं स्वप्नमान्तरिक्षमांगं

स्वरं लक्षणं व्यञ्जनप्रियेवंरूपं नवमपूर्वतृतीयाचारवस्तुविनिर्गतं सुखदुःख जीवितमरण लाभालाभादिसंसूचकं निमित्तमधीत्य लोकेऽस्मिन्नतीतानि वस्तूनि अनागतानि च 'जानन्ति' परिच्छिन्दन्ति, न च शून्यादिवादेष्वेतद् घटते, तस्माद-प्रमाणकमेव तैरभिधीयत इति ॥९॥

टीकार्थ – ज्योतिष शास्त्र को 'संवत्सर' कहा जाता है । सपने में देखी हुई घटनाओं का जो फल बताता है उसे स्वप्न या स्वप्नशास्त्र कहा जाता है-श्रीवत्स आदि चिन्ह विशेष को लक्षण कहा जाता है । वह बाहरी और भीतरी दो प्रकार का होता है । वाणी-मनुष्य या पक्षी की आवाज, उत्तम शकुन एवं शरीर में विद्यमान मषक-मस्सा, तथा तिल आदि का जो फल सूचित करता है, उसे निमित्त शास्त्र कहा जाता है । उल्कापात, दिग्दाह, मेघगर्जन तथा भूकम्प आदि फल ज्ञापक शास्त्र तथा अष्टांगयुक्त निमित्त शास्त्रों का अध्ययन कर पुरुष अनागत काल की घटनाओं को जानते हैं । निमित्त शास्त्र के आठ अंग ये हैं - १. भौम, २. उत्पात, ३. स्वप्न, ४. आन्तरिक्ष, ५. आंग, ६. स्वर, ७. लक्षण, ८. व्यंजन । चतुर्दश पूर्वों के अन्तर्गत नवम पूर्व के तृतीय आचार वस्तु प्रकरण से विनिर्गित-उद्धृत सुख, दुःख, जीवन, मृत्यु, लाभ, अलाभ आदि के संसूचक निमित्त शास्त्र का अध्ययन कर इस लोक में अतीत, अनागत, बातों को-घटनाओं को लोग जान लेते हैं, किन्तु शून्यवाद को स्वीकार करने पर यह संभव नहीं होता । इसलिये लोकायतिक आदि जो कहते हैं वह अप्रमाण-प्रमाण शून्य हैं ।

❀ ❀ ❀

केई निमित्ता, तहिया भवंति, केसिंचि तं विप्पडिएति णाणं ।
ते विज्जभावं अणहिज्जमाणा, आहंसु विज्जापरिमोक्खमेव ॥१०॥

छाया – कानिचिन्निमित्तानि सत्यानि भवन्ति, केषाञ्चित्तत् विपर्य्येति ज्ञानम् ।
ते विद्याभावमनधीयाना आहुर्विद्यापारिमोक्षमेव ॥

अनुवाद – कई निमित्त-निमित्त के आधार पर उपस्थापित तथ्य सच होते हैं तथा किन्हीं निमित्तवादियों का ज्ञान विपरीत होता है-जैसा वे बताते हैं, वैसा नहीं मिलता । यह देखकर अक्रियावादी विद्या का अध्ययन न करते हुए उसके त्याग को ही श्रेयस्कर बताते हैं ।

टीका – एवं व्याख्याते सति आह परः ननु व्यभिचार्यपि श्रुतमुपलभ्यते, तथाहि-चतुर्दशपूर्वविदामपि षट्स्थानपतित्वमागम उद्घुष्यते किं पुनरष्टाङ्गनिमित्तशास्त्रविदाम् ? अत्र चाङ्गवर्जितानां निमित्तशास्त्राणामानुष्टुभेन छन्दसाऽर्धत्रयोदश शतानि सूत्रं तावन्त्येव सहस्राणि वृत्तिस्तावत्प्रमाणलक्षा परिभाषेति, अङ्गस्य त्वर्धत्रयोदशसहस्राणि सूत्रं, तत्परिमाणलक्षा वृतिरपरिमितं वार्तिकमिति, तदेवमष्टाङ्गनिमित्तवेदिनामपि परस्परतः षट्स्थानपतितत्वेन व्यभिचारित्वमत इदमाह-'केई'त्यादि, छान्दसत्वात्प्राकृतशैल्या वा लिङ्गव्यत्ययः, कानिचिन्निमित्तानि 'तथ्यानि' सत्यानि भवन्ति, केषाञ्चित्तु निमित्तानां निमित्तवेदिनां वा बुद्धिवैकल्यात्तथाविधक्षयोपशमाभावेन तत् निमित्त ज्ञानं-'विपर्यासं' व्यत्ययमेति आर्हतानामपि निमित्त व्यभिचारः समुपलभ्यते, किं पुनस्तीर्थिकानां ? तदेवं निमित्तशास्त्रस्य व्यभिचारमुपलभ्य 'ते' अक्रियावादिनो 'विद्याभावं' विद्यामनधीयानाः सन्तो निमित्तं तथा चान्यथा च भवतीति मत्वा ते 'आहंसु विज्जापलिमोक्खमेव' विद्यायाः-श्रुतस्य व्यभिचारेण तस्य परिमोक्षं-परित्यागमाहुः-उक्तवन्तः, यदिवा-क्रियाया अभावाद्विद्यया-ज्ञानेनैव मोक्षं-सर्वकर्मच्युतिलक्षणमाहुरिति । क्वचिच्चरमपादस्यैवं

पाठः, 'जाणासु लोगंसि वयंति मंद' त्ति. विद्यामनधीत्यैव स्वयमेव लोकमस्मिन् वा लोकेभावान् स्वयं जानीमः, एवं 'मंदाः' जड़ा वदन्ति, न च निमित्तस्य तथ्यता, तथाहिकस्यचित्क्वचित्क्षुतेऽपि गच्छतः कार्यसिद्धिदर्शनाद, अतो निमित्तवलेनादेशविधायिनां मृषावाद एव केवलमिति, नैतदस्ति, न हि सम्यगधीतस्य श्रुतस्यार्थे विसंवादोऽस्ति, यदपि षट्स्थानपतितत्वमुदघोष्यते तदपि पुरुषाश्रित क्षयोपशमवशेन न च प्रमाणाभासव्यभिचारे सम्यक्प्रमाणव्यभिचाराशङ्का कर्तुं युज्यते, तथाहि-मरुमरीचिकानिचये जलग्राहि प्रत्यक्षं व्यभिचरतीतिकृत्वा किं सत्य जल ग्राहिणोऽपि प्रत्यक्षस्य व्यभिचारो युक्तिसंगतो भवति ? न हि मशकवर्तिरग्निसिद्धावुपदिश्यमाना व्यभिचारिणीति सत्यधूमस्यापि व्यभिचारो, न हि सुविवेचितं कार्यं कारणं व्यभिचरतीति, ततश्च प्रमातुरयमपराधो न प्रमाणस्य, एवं सुविवेचितं निमित्तश्रुतमपि न व्यभिचरतीति, यश्च क्षुतेऽपि कार्यसिद्धिदर्शनेन व्यभिचारः शङ्क्यते सोऽनुपपन्नः, तथाहि-कार्याकूतात् क्षुतेऽपि गच्छतो या कार्यसिद्धिः साऽपान्तराले इतरशोभननिमितबलात्संजातेत्येवमवगन्तव्यं, शोभननिमित्तप्रस्थितस्यापीतर-निमित्तबला-त्कार्यव्याघात इति, तथा च श्रुतिः-किल बुद्धः स्वशिष्यानाहूयोक्तवान्, यथा-'द्वादशवार्षिकमत्र दुर्भिक्षं भविष्यतीत्यतो देशान्तराणि गच्छत यूयं' ते तद्वचनाद्गच्छन्तस्तेनैव प्रतिषिद्धाः, यथा 'मा गच्छत यूयम्, इहाद्यैव पुण्यवान् महासत्त्वः संजातस्तत्प्रभावात्सुभिक्षं भविष्यति' तदेवमन्तराऽपरनिमित्तसद्भावात्तव्यभिचारशङ्केति स्थितम् ॥१०॥

टीकार्थ – इस प्रकार व्याख्यात करने पर-क्रियावाद का समर्थन करने पर परमतवादी प्रतिपादित करता है । श्रुतज्ञान, व्यभिचारी-दोषयुक्त या विपरीत भी उपलब्ध होता है क्योंकि चतुर्दश पूर्वधर-चौदह पूर्वों के ज्ञाता महापुरुष भी छः स्थानों परस्खलित होते हैं-भूल करते हैं । ऐसा शास्त्र में उद्घोषित-कहा गया है । फिर अष्टांग निमित्त वेत्ताओं की तो बात ही क्या ? अंग वर्जित-अंगों से पृथक् निमित्त शास्त्र बारह सौ पचास अनुष्टुप् श्लोक परिमित है । उन श्लोकों पर साढ़े बारह हजार श्लोक परिमित वृत्ति हैं । उस पर साढ़े बारह हजार श्लोक परिमित परिभाषा है । अंगों के सूत्र साढ़े बारह हजार हैं तथा उन पर साढ़े बारह लाख श्लोक परिमित वृत्ति है । उस पर अपरिमित-परिमाण रहित वार्तिक है । इस प्रकार अष्टांग निमित्त वेत्ताओं के भी परस्पर छः स्थानों पर स्खलित होने से उनका ज्ञान सदोष है । कहा गया है कि कई निमित्त तथ्य पूर्ण होते हैं तथा निमित्त वेत्ताओं के बुद्धि वैकल्य-मेधा की न्यूनता तथा उस प्रकार के क्षयोपशम के अभाव से उनके निमित्त ज्ञान में विपर्यास-विपरीतता, उनके कथन से प्रतिकूलता दृष्टिगोचर होती है । यहां केई इत्यादि पद छांदस होने से प्राकृत की शैली-पद्धति द्वारा नपुसंक लिंग के स्थान पर पुल्लिंग में प्रयुक्त हैं । आर्हतो-जैन वेत्ताओं के निमित्त ज्ञान में भी व्यभिचार-दोष या अन्तर उपलब्ध होता है । फिर अन्य मतवादियों के निमित्त ज्ञान में व्यभिचार-दोष होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है । इस प्रकार निमित्त शास्त्र के ज्ञान में व्यभिचार-दोष उपलब्ध कर अक्रियावादी विद्या का अध्ययन न करते हुए मिश्र शास्त्र को सच व झूठा दोनों ही प्रकार का मानते हुए विद्या-श्रुतज्ञान के त्याग का उपदेश देते हैं अथवा वे क्रिया के अभाव से-क्रिया को निरर्थक मानकर मात्र ज्ञान से ही सब कर्मच्युत-नष्ट हो जाते हैं, मोक्ष प्राप्त हो जाता है, ऐसा कहते हैं । कहीं कहीं इस गाथा के चौथे चरण का पाठ 'जाणासु लोगंसि वयंति मंदा' ऐसा प्राप्त होता है । इसका अभिप्राय यह है कि अक्रियावादी ऐसा मानते हैं कि विद्याध्ययन किये बिना ही हम लोक-लोकगत पदार्थों को जानते हैं । वे मंद-अज्ञानी हैं। वे निमित्त शास्त्र को तथ्यपूर्ण नहीं मानते । उनका कथन है कि कोई जा रहा हो और छींक हो जाये तो भी उसके कार्य की सफलता दृष्टिगोचर होती है तथा एक ऐसा पुरुष है जो शुभ शकुन के साथ जा रहा हो फिर भी उसकी सफलता अनिश्चित दिखाई देती है । अतः निमित्त के आधार पर जो नैमित्तिक-ज्योतिषी फलादेश कहते हैं

वह उनका मृषावाद है, असत्य भाषण है । इस पर जैन दार्शनिकों का यह कथन है कि वास्तविकता यह नहीं हैं । सम्यक्-भलीभांति शास्त्र का अभ्यास किया हो तो उसके कथन में विसंवाद-विपरीतता दिखाई नहीं देती। जो छः स्थानों पर पतित्व-स्खलन की बात कही गयी है वह मनुष्य के क्षयोपशय की तरतमता-न्यूनाधिकता के आधार पर है । प्रमाणाभास में दोष आने से सम्यक् प्रमाण में दोष की आशंका करना समुचित नहीं है। रेगिस्तान में मरु मरीचिका में जल का प्रत्यक्षीकरण व्यभिचार-दोषयुक्त है । वहां जल नहीं होता किन्तु इसके आधार पर सचमुच जहां जल है तद्विषयक प्रत्यक्ष को व्यभिचरित् या असत्य कहना युक्तियुक्त नहीं हो सकता। मशक में धुंआ भर कर कहीं ले जाकर उसका मुंह खोल दे तो उसमें से निकलता हुआ धुंआ उसमें अग्नि साबित करने में सक्षम नहीं होता । यह देखते हुए सचमुच जहां आग से निकलता हुआ धुंआ हैं वहां वह अग्नि सिद्ध करने में अक्षम नहीं बतलाया जा सकता । इस प्रकार सम्यक् विवेचनपूर्वक जो कार्य किया जाता है उसमें कदापि दोष-अन्तर नहीं आता । इसलिये प्रमाता-प्रमाणित करने वाले पुरुष के अपराध या अज्ञान से यदि कुछ प्रमाणित नहीं होता तो प्रमाण में दोष निरूपित करना उचित नहीं है । इसी प्रकार सुविवेचित विचारित पर्यालोचित कर प्रतिपादित किये जाने वाले निमित्त शास्त्र में भी व्यभिचार-दोष-अन्तर नहीं आता । छींक हो जाने पर भी जाने वाले व्यक्ति के कार्य सिद्ध होने की बात कह कर जो निमित्त शास्त्र को दोषयुक्त होने की शंका करते हैं । वह अनुपपन्न-अनुपयुक्त है । क्योंकि कार्य की जल्दी में छींक होने पर भी जाते हुए पुरुष का कार्य सिद्ध होता हुआ दृष्टिगोचर होता है वैसा अन्तराल में-बीच में निष्पन्न शोभन-उत्तम निमित्तों के कारण हुआ है । यह अवगत करना चाहिये । उत्तम निमित्त-शकुन को लेकर प्रस्थान करने वाले पुरुष का कार्य असिद्ध-असफल देखा जाता है । वह भी बीच में आये अन्य अशुभ निमित्तो के कारण होता है, यह जानना चाहिये । ऐसा सुना जाता है कि बुद्ध ने अपने शिष्यों को आहूत कर-बुलाकर कहा कि यहां द्वादश वर्षीय दुर्भिक्ष होगा अतः तुम लोग देशान्तर-अन्य देश में चले जाओ उनका यह वचन सुनकर जब वे जाने को उद्यत हुए तभी बुद्ध ने उन्हें रोका और कहा तुम लोग मत जाओ । आज ही यहां एक पुण्यवान् महासत्व-उत्तम पुरुष का जन्म हुआ है । इसलिये उनके प्रभाव से सुभिक्ष होगा-अच्छा जमाना होगा । इससे यह प्रतीत होता है कि बीच में आया हुआ अन्य निमित्त-शुभ शकुन पहले के विपरीत शकुन से प्रतिकूल-उससे उल्टा प्रभाव उत्पन्न करता है ।

❀ ❀ ❀

ते एवमक्खंति समिच्च लोगं, तहा तहा (गया) समणा माहणा य ।
सयं कडं णन्नकडं च दुक्खं, आहंसु विज्जाचरणं पमोक्खं ॥११॥

छाया – त एवमाख्यान्ति समेत्य लोकं तथा तथा (गता) श्रमणामाहनाश्च ।
स्वयं कृतं नाऽन्यकृतञ्च दुःखम् आहुर्विद्याचरणञ्च मोक्षम् ॥

अनुवाद – श्रमण-बौद्ध भिक्षु तथा माहण-ब्राह्मण परम्परानुगत पुरुष अपने अपने सिद्धान्तों के अनुसार लोक को जानकर प्रतिपादित करते हैं कि क्रियानुसार ही फल होता है । वे यह भी कहते हैं कि दुःख अपने द्वारा ही कृत है । दूसरे के द्वारा नहीं । किन्तु सर्वज्ञ तीर्थंकर ऐसा प्ररूपित करते हैं कि ज्ञान तथा क्रिया से ही मोक्ष प्राप्त होता है ।

टीका – साम्प्रतं क्रियावादिमतं दुदूषयिषुस्तन्मतमाविष्कुर्वन्नाह-ते क्रियात एव ज्ञाननिरपेक्षायाः दीक्षादिलक्षणाया मोक्षमिच्छन्ति ते एवमाख्यान्ति, तद्यथा-'अस्ति माता पिता अस्ति सुचीर्णस्य कर्मणः फल' मिति, किं कृत्वा

त एवं कथयन्ति ?-क्रियात एव सर्वं सिध्यतीति स्वाभिप्रायेण 'लोकं' स्थावरजङ्गमात्मकं 'समेत्य' ज्ञात्वा, किल वयं यथावस्थितवस्तुनो ज्ञातार इत्येवमभ्युपगम्य सर्वमस्त्येवेत्येवं सावधारण प्रतिपादयन्ति, न कथञ्चिन्नास्तीति, कथमाख्यान्ति ?-'तथा तथा' तेन (तेन) प्रकारेण, यथा यथा क्रिया तथा तथा स्वर्गनरकादिकं फलमिति, ते च श्रमणास्तीर्थिका ब्राह्मणा वा क्रियात एव सिद्धिमिच्छन्ति, किञ्च यत् किमपि संसारे दुःखं तथा सुखं च तत्सर्वं स्वयमेवात्मना कृतं, नान्येन कालेश्वरादिना, न चैतदक्रियावादे घटते, तत्र ह्यक्रियत्वादात्मनोऽकृतयोरेव सुखदुःखयो संभवः स्यात्, एवं च कृतनाशाकृताभ्यागमौ स्याताम्, अत्रोच्यते, सत्यमस्त्यात्मसुखदुःखादिकं, न त्वस्त्येव, तथाहि-यद्यस्त्येव इत्येवं सावधारणमुच्यते ततश्च न कथञ्चिन्नास्तीत्यापन्नम्,एवं च सति सर्वं सर्वात्मकमापद्येत, तथा च सर्वलोकस्य व्यवहारोच्छेदः स्यात्, न च ज्ञानरहितायाः क्रियायाः सिद्धिः, तदुपायपरिज्ञानाभावात्, न चोपायमन्तरेणोपेयमवाप्यत इति प्रतीतं, सर्वा हि क्रिया ज्ञानवत्येव फलवत्युपलक्ष्यते, उक्तञ्च -

"पढमं नाणं तओ दया, एवं चिट्ठति सव्वसंजए । अन्नाणी किं काही, किं वा नाही छेयपावयं ॥१॥"

छाया- प्रथमं ज्ञानं ततो दया एवं तिष्ठतिसर्वसंयतः। अज्ञानी किं करिष्यति किंवा ज्ञास्यति छेक पापकं॥१॥

इत्यतो ज्ञानस्य प्राधान्यं नापि ज्ञानादेव सिद्धि क्रिया रहितस्य ज्ञानस्य पङ्गोरिव कार्यसिद्धेरनुपपत्तेरित्यालोच्याह-'आहंसु विज्जाचरणं पमोक्खं' त्ति, न ज्ञाननिरपेक्षायाः क्रियायाः सिद्धिः, अन्धस्येव, नापि क्रियाविकलस्य ज्ञानस्य पङ्गोरिव, इत्येवमवगम्य 'आहुः' उक्तवन्तः, तीर्थकरगण-धरादयः, कमाहुः ?, मोक्षं, कथं ?, विद्या च-ज्ञानं चरणं च क्रिया ते द्वे अपि विद्येते कारणत्वेन यस्येति विगृह्यार्शआदित्वान्मत्वर्थीयोऽच्, असौ विद्याचरणो-मोक्षः-ज्ञानक्रियासाध्य इत्यर्थः, तमेवंसाध्यं-मोक्षं प्रतिपादयन्ति । यदिवाऽन्यथा पातनिका, केनैतानि समवसरणानि प्रतिपादितानि ? यच्चोक्तं यच्च वक्ष्यते इत्येतदाशङ्क्याह-'ते एवमक्खंती'त्यादि, अनिरुद्धा-क्वचिदप्यस्खलिता प्रज्ञायतेऽनयेति प्रज्ञाज्ञानं येषां तीर्थकृतां तेऽनिरुद्धप्रज्ञाः, त 'एवम्' अनन्तरोक्तया प्रक्रियया सम्यगाख्यान्ति-प्रतिपादयन्ति 'लोकं' चतुर्दशरज्ज्वात्मकं स्थावरजङ्गमाख्यं वा 'समेत्य' केवलज्ञानेन करतलामलकन्यायेन ज्ञात्वा तथागताः -तीर्थकरत्वं केवलज्ञानं न गताः, 'श्रमणाः' साधवो 'ब्राह्मणाः' संयतासंयताः, कौकिकी वा वाचोयुक्तिः किम्भूतास्त एवमाख्यान्तीति सम्बन्धः, तथा तथेति वा क्वचित्पाठः यथा यथा समाधिमार्गो व्यवस्थितस्तथा तथा कथयन्ति, एतच्च कथयन्ति-यथा यत्किञ्चित्संसारान्तर्गतानामसुमतां दुःखम्-असातोदयस्वभावं, तत्प्रतिपक्षभूतं च सातोदयापादितं सुखं, तत्स्वयम्-आत्मना कृतं, नान्येन कालेश्वरादिना कृतमिति, तथा चोक्तम् -

"सव्वो पुव्वकयाणं कम्माणं पावए फल विवागं । अवराहेसु गुणेसु य णिमित्तमित्तं परो होइ ॥१॥"

छाया - सर्वः पूर्वकृतानां कर्मणां प्राप्नोति फल विपाकं । अपराधेषु गुणेषु च निमित्तमात्रं परोभवति ॥१॥

एतच्चाहुस्तीर्थकरगणधरादयः, तद्यथा-विद्या-ज्ञानं चरणं-चारित्रं क्रिया तत्प्रधानो मोक्षस्तमुक्तवन्तो न ज्ञानक्रियाभ्यां परस्परनिरपेक्षाभ्यामिति, तथा चोक्तम -

क्रियां च सज्ज्ञानवियोग निष्फलां, क्रियाविहीनां च विबोधसम्पदम् ।
निरस्यता क्लेशसमूहशान्तये, त्वया शिवायालिखितेव पद्धतिः ॥१॥॥११॥

टीकार्थ – क्रियावादियों के सिद्धान्त का दोष बताने हेतु सूत्रकार उनका मन्तव्य प्रकट करते हैं । जो ज्ञान निरपेक्ष-ज्ञान रहित केवल प्रव्रज्या आदि क्रिया द्वारा ही मोक्ष प्राप्त होना स्वीकार करते हैं । उनका प्रतिपादन है कि माता-पिता है तथा सुष्ठु रूप में आचरित कर्म का-शुभ कर्म का फल भी है । वे क्या चाहकर के ऐसा कहते हैं ? यह प्रश्न उठाते हुए सूत्रकार अभिहित करते हैं । वे सब कार्य क्रिया से ही सिद्ध हो

जाते हैं, इस प्रकार अपने सिद्धान्त के अनुसार स्थावर और जंगम लोक को-तद्गत प्राणी वर्ग को-पदार्थ समूह को जानकर हम ही वस्तु के यथावस्थित स्वरूप को जानते हैं, ऐसा प्रकट करते हुए सबका अस्तित्व है-सब पदार्थ सद्भावयुक्त हैं, ऐसा अवधारणा के साथ-निश्चय के साथ प्रतिपादित करते हैं, किन्तु पदार्थ कथंचित्-किसी अपेक्षा से नहीं भी हैं । ऐसा वे नहीं कहते । उनका कथन है कि जीव जैसी जैसी क्रियाएं करताहै, वह वैसा ही स्वर्ग तथा नरक आदि के रूप में फल पाता है । वे श्रमण-अन्यतीर्थिक तथा ब्राह्मण ऐसा मानते हैं कि एकमात्र क्रिया से ही सिद्धि प्राप्त होती है । वे ऐसा बतलाते हैं कि इसलोक में कष्ट या सुख सुविधा जो भी है वह सब स्वकृत है, न कालकृत है और न ईश्वरादिकृत ही है । जो क्रियावाद में विश्वास नहीं करते, उनके सिद्धान्त में ये बातें घटित नहीं होती क्योंकि आत्मा के क्रिया रहित होने पर बिना किये सुख दुःख आदि का प्राप्त होना संभव नहीं है । यदि बिना किये ही सुख दुःख का मिलना संभव हो तो कृतनाश-किये हुए का विनाश तथा अकृताभ्यागम-बिना किये हुए का आगमन-ये दोनों दोष लागू होंगे । इस संदर्भ में जैनों का प्रतिपादन है कि तुम जो कहते हो वह सत्य है । आत्मा, सुख, दुःख आदि का अवश्य ही अस्तित्त्व है किन्तु वे सर्वथा हैं ही ऐसा नहीं है क्योंकि यदि वे हैं ही इस प्रकार निश्चय की भाषा में उनका अस्तित्त्व कहा जाता है तो वे कथंचित् नहीं है-किसी अपेक्षा से उनका अस्तित्त्व नहीं है, यह नहीं कहा जा सकता, ऐसा न होने पर सब कुछ सर्वात्मकता ले लेगा, इस प्रकार जगत मे समस्त व्यवहार उच्छिन्न हो जायेंगे-मिट जावेंगे तथा ज्ञानशून्य क्रिया द्वारा कोई कार्य सिद्ध नहीं होता, क्योंकि वहां उस कार्य के उपाय का परिज्ञान नहीं होता तथा उपाय का परिज्ञान न होने से उपेय-प्राप्त करने योग्य पदार्थ की अवाप्ति नहीं होती । यह सर्वत्र प्रतीत-प्रसिद्ध है । समस्त क्रिया ज्ञानवती होकर ही फलवती होती है-फल प्रदान करती है, ऐसा प्राप्त होता है । अतएव कहा है कि-पहले ज्ञान होता है-उसके बाद दया-तदनुष्ठान का अनुसरण या परिपालन होता है। अतः समस्त संयमी पुरुष पहले जीवों के संबंध में ज्ञान प्राप्त करते हैं क्योंकि अज्ञानी-जिसे जीवादि तत्त्वों का ज्ञान नहीं है वह क्या करेगा, वह कर्म के क्षेत्र में कैसे सम्यक् अग्रसर होगा, वह श्रेय-पुण्य और पाप को कैसे जान पायेगा । इसलिये ज्ञान का भी प्राधान्य-प्रधानता है किंतु एकमात्र ज्ञान से ही सिद्धि प्राप्त नहीं होती क्योंकि क्रिया विकल कर्म रहित ज्ञान पंगु के समान है । यह अवगत कर-जानकर सूत्रकार ज्ञापित करते हैं कि तीर्थंकर, गणधर आदि ने इस संबंध में यों कहा । प्रश्न उठाते हुए कहते हैं किसको कहां ? मोक्ष कैसे मिलता है ? इस पर क्या कहा ? इन प्रश्नों का समाधान करते हुए कहते हैं कि विद्या-ज्ञान तथा चरण-क्रिया ये दोनों जिसके होते हैं उसे मोक्ष प्राप्त होता है । यहां 'ज्ञानं च क्रिया च' ऐसा विग्रह कर अर्श आदित्वान्मत्वर्थीयोऽच् केअनुसार अच् प्रत्यय किया गया है । तदनुसार मोक्ष ज्ञान एवं क्रिया द्वारा साध्य है । अभिप्राय यह है कि तीर्थंकर और गणधर आदि ज्ञान एवं क्रिया द्वारा ही मोक्ष प्राप्त होना प्रतिपादित करते हैं अथवा इस गाथा की व्याख्या एक ओर प्रकार से भी की जाती है । प्रश्न उपस्थित करते हुए कहा जाता है कि इन समवसरणो का किसने प्रतिपादन किया जो तुमने पहले बतलाया है, और आगे बतलाओगे । यह शङ्का कर सूत्रकार कहते हैं-जिसके द्वारा पदार्थ का स्वरूप जाना जाता है उसे प्रज्ञा कहते हैं । प्रज्ञा ज्ञान का नाम है । जिनकी प्रज्ञा कहीं भी निरुद्ध-स्खलित नहीं होती उन्हें अनिरुद्ध प्रज्ञ कहा जाता है, वे तीर्थंकर हैं। वे जैसा पहले बताया गया है वस्तु का स्वरूप प्रतिपादन करते हैं । वे केवल ज्ञान द्वारा चतुर्दश रज्जु परिमित स्थावर जंगमात्मक इस लोक को हाथ में रखे आंवले की ज्यों परिज्ञात कर तीर्थंकर पद को केवल ज्ञान को प्राप्त हैं । श्रमण साधु या संयति तथा ब्राह्मण संयतासंयत-युक्तियुक्त वाणी द्वारा ऐसा आख्यान करते हैं । वे कैसे हैं यह बतलाते हैं कहीं कहीं 'तथा तयेति वा' ऐसा पाठ प्राप्त होता है । इसका यह अभिप्राय है कि

जैसे जैसे समाधि मार्ग-मोक्ष मार्ग व्यवस्थित है वैसे वैसे उस प्रकार से वे-तीर्थंकर प्रतिपादन करते हैं । उनका कथन है कि संसार में विद्यमान प्राणियों को असातावेदनीय के उदय के परिणामस्वरूप जो दुःख प्राप्त होता है तथा उसके विपरीत सातावेदनीय के उदय के परिणामस्वरूप जो सुख प्राप्त होता है वह स्वयं आत्मा द्वारा किया हुआ है । काल तथा ईश्वर आदि किसी अन्य द्वारा किया हुआ नहीं है । कहा गया है कि सभी प्राणी अपने द्वारा पहले किये गये कर्मों का फल विपाक प्राप्त करते हैं । अपराधों में-बुरे कृत्यों में या बुराई में तथा गुणों में-सत्कृत्यों में या भलाई में दूसरा केवल निमित्त बनता है । तीर्थंकर एवं गणधर आदि ऐसा कहते हैं कि विद्या-ज्ञान और चरण-चारित्र या क्रिया इन दोनों से ही मोक्ष फलित होता है । ज्ञाननिरपेक्ष-ज्ञान रहित क्रिया तथा क्रिया निरपेक्ष-क्रिया रहित ज्ञान से मोक्ष प्राप्त नहीं होता है । कहा है-भगवन् ! ज्ञान रहित निष्फल क्रिया को तथा क्रिया रहित ज्ञान सम्पदा का क्लेश समूह की शांति हेतु निर्सन करते हुए उन्हें निरर्थक बताते हुए आपने जगत को कल्याण का रास्ता दिखाया है ।

❀ ❀ ❀

ते चक्खु लोगंसिहणायगा उ, मग्गाणुसासंति हितं पयाणं ।
तहा तहा सासयमाहु लोए, जंसी पयामाणव ! संपगाढा ॥१२॥

छाया – **ते चक्षुर्लोकस्येह नायकास्तु मार्गमनुशासति हितं प्रजानाम् ।**
तथा तथा शाश्वत माहुर्लोक मस्मिन् प्रजाः मानव संप्रगाढाः ॥

अनुवाद – तीर्थंकर आदि महापुरुष इस लोक के चक्षु के समान है-उद्योतकर हैं, वे नायक हैं-सर्वश्रेष्ठ हैं । प्रजाओं-लोगों को श्रेयस के मार्ग की शिक्षा देते हैं । वे प्रतिपादित करते हैं कि ज्यों ज्यों मिथ्यात्व की वृद्धि होती है त्यों त्यों संसार शाश्वत-चिर स्थायी बनता जाता है, जिसमें लोग निवास करते हैं ।

टीका – किञ्च-'ते' तीर्थकरगणधरादयोऽतिशयज्ञानिनोऽस्मिन् लोके चक्षुरिव चक्षुर्वर्तन्ते, यथा हि चक्षुर्योग्यदेशावस्थितान् पदार्थान् परिच्छिनत्ति एवं तेऽपि लोकस्य यथावस्थितपदार्थाविष्करणं कारयन्ति, तथाऽस्मिन् लोके ते नायकाः-प्रधानाः, तुशब्दो विशेषणे, सदुपदेशदानतो नायका इति, एतदेवाह-'मार्गं' ज्ञानादिकं मोक्षमार्गं 'अनुशासति' कथयन्ति प्रजना-प्रजायन्त इति प्रजाः प्राणिनस्तेषां, किम्भूतं ? हितं, सद्गतिप्रापकमनर्थनिवारकं च, किञ्च-चतुर्दशरज्ज्वात्मके लोके पञ्चास्तिकायात्मके वा येन येन प्रकारेण द्रव्यास्तिक नयाभिप्रायेण यद्वस्तु शाश्वतं तत्तथा 'त आहुः' उक्तवन्तः, यदिवा लोकोऽयं प्राणिगणः संसारान्तर्वर्ती यथा यथा शाश्वतो भवति तथा तथैवाहुः, तद्यथा-यथा यथा मिथ्यादर्शनाभिवृद्धिस्तथा तथा शाश्वतो लोकः, तथाहि-तत्र तीर्थंकराहारकवर्ज्याः सर्व एव कर्मबन्धाः सम्भाव्यन्त इति, तथा च महारम्भादिभिश्चतुर्भिः स्थानैर्जीवा नरकायुष्कं यावन्निर्वर्तयन्ति तावत्संसारानुच्छेद इति, अथवा यथा यथा रागद्वेषादिवृद्धिस्तथा तथा संसारोऽपि शाश्वत इत्याहुः, यथा यथा च कर्मोपचयमात्रा तथा तथैव संसाराभिवृद्धिरिति । दुष्टमनोवाक्कायाभिवृद्धौ वा संसाराभिवृद्धिरवगन्तव्या, तदेवं संसारस्याभि वृद्धिर्भवति । 'यस्मिश्च' संसारे, प्रजायन्त इति 'प्रजाः' जन्तवः, हे मानव ! मनुष्याणामेव प्रायश उपदेशार्हत्वान्मानवग्रहणं, सम्यग् नारकतिर्यङ्नरामरभेदेन 'प्रगाढाः' प्रकर्षेण व्यवस्थिता इति ॥१२॥ लेशतो जन्तुभेदप्रदर्शनद्वारेण तत्पर्यटनमाह -

टीकार्थ – अतिशय ज्ञानी-विशिष्ट ज्ञान के धनी तीर्थंकर गणधर आदि इस लोक के चक्षु के सदृश्य हैं । जैसे योग्य देश में उचित स्थान में विद्यमान वस्तु को नेत्र प्रकाशित करता है उसी प्रकार वे भी लोक

के पदार्थों का सच्चा स्वरूप प्रकाशित करते हैं । वे इस जगत में नायक--प्रधान या सर्वश्रेष्ठ हैं । यहां आया हुआ तु शब्द विशेषण के अर्थ में है । उसके अनुसार सदुपदेश देने के कारण वे सर्वश्रेष्ठ हैं-यह अभिप्राय है । वे प्राणियों को मोक्ष मार्ग बतलाते हैं । वह मार्ग कैसा है ? यह स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि वह सद्गति को-उत्तम गति को प्राप्त कराता है तथा अनर्थ का-दुर्गति का निवारण करता है । वे चतुर्दश रज्जु परिमित पांच अस्तिकाय युक्त इस लोक में जिस जिस प्रकार से द्रव्यास्तिक नय के अनुसार जो वस्तु शाश्वत है, उसे उसी रूप में आख्यान करते हैं । अथवा इस लोक में प्राणीवृन्द जिस जिस प्रकार से संसार में शाश्वत होते जाते हैं । वैसा भी वे बतलाते हैं । उनके कथनानुसार ज्यों ज्यों मिथ्यादर्शन बढ़ता जाता है त्यों त्यों संसार शाश्वत-स्थिर होता जाता है क्योंकि तीर्थंकर और आहारक नाम कर्म वर्जित सभी कर्मबंध उसमें संभावित हैं । क्योंकि महा आरंभ आदि चार स्थानों द्वारा जीव नरकायुष्य का निर्वतन-बंध करते हैं । तब तक संसार का उच्छेद-नाश नहीं होता अथवा ज्यों ज्यों राग-द्वेष आदि की वृद्धि होती जाती है त्यों त्यों संसार भी सुस्थिर होता जाता है । ऐसा तीर्थंकरों ने प्ररूपित किया है । इसलिये ज्यों ज्यों कर्मों का उपचय संचय या बंध होता जाता है त्यों त्यों संसार बढ़ता जाता है । दुष्ट-दूषित मन वचन तथा शरीर की अभिवृद्धि होने पर-मन, वचन, शरीर के असत् कार्यों में प्रवृत्त होने पर संसार बढ़ता जाता है, ऐसा जानना चाहिये । संसार में जो उत्पन्न होते हैं उन्हें प्रजा कहा जाता है । सभी जंतु या प्राणी प्रजा के अन्तर्गत हैं । वे नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य एवं देव इन चार गतियों में विशेष रूप से अवस्थित है । उनमें उपदेश के योग्य प्रायः मनुष्य ही है। अतः यहां मानव को संबोधित कर यह कहा गया है कि तुम यह जानो । सूत्रकार संक्षेप में प्राणियों के भेद बतलाकर वे संसार में किस प्रकार पर्यटन करते हैं, यह प्रतिपादित करते हैं ।

❀ ❀ ❀

जे रक्खसा वा जमलोइया वा, जे वा सुरागंधव्वा य काया ।
आगासगामी य पुढोसिया जे, पुणो पुणो विप्परियासुवेंति ॥१३॥

छाया – ये राक्षसा वा यमलौकिका वा, ये वासुराः गन्धर्वाश्च कायाः ।
आकाशगामिनश्च पृथिव्याश्रिताश्च, पुनः पुनो विपर्य्यासमुपयान्ति ॥

अनुवाद – राक्षस संज्ञक व्यंतर यमलोकवर्ती जीव, देव, गंधर्व, गगनविहारी तथा पृथ्वी निवासी प्राणी-ये सभी पुनः पुनः विविध गतियों में पर्यटन करते हैं ।

टीका – 'ये' केचन व्यन्तरभेदा राक्षसात्मानः, तदग्रहणाच्च सर्वेऽपि व्यन्तरा गृहन्ते तथा यमलौकिकात्मानः, अ (म्बाम्ब) म्बर्ष्यादयस्तदुपलक्षणात्सर्वे भवनपतयः तथा ये च 'सुराः' सौधर्मादिवैमानिकाः, चशब्दाज्ज्योतिष्काः, सूर्यादयः, तथा ये 'गान्धर्वा' विद्याधरा व्यन्तरविशेषा वा, तद्ग्रहणं च प्राधान्यख्यापनार्थं, तथा 'कायाः' पृथिवीकायादयः षडपि गृह्यन्त इति । पुनरन्येव प्रकारेण सत्त्वान्संजिघृक्षुराह-ये केचन 'आकाशगामिनः' संप्राप्ताकाशगमनलब्धयश्चतुर्विधदेव निकाय विद्याधरपक्षिवायवः, तथा ये च 'पृथिव्याश्रिताः' पृथिव्यप्तेजोवनस्पतिद्वित्रिचतुष्पञ्चेन्द्रियास्ते सर्वेऽपि स्वकृतकर्मभिः पुनः पुनर्विविधम्-अनेकप्रकारं पर्यासंपरिक्षेपमरहट्टघटीन्यायेन परिभ्रमणमुप-सामीप्येन यान्ति-गच्छन्तीति ॥१३॥

टीकार्थ – यहां व्यन्तर जाति के अन्तर्गत जो राक्षस हैं उनको ग्रहण किया गया है जिससे सभी व्यन्तर यहां गृहीत होते हैं । अंब, अम्बरीष आदि यमलोकवासी जीव हैं । उनके उपलक्षण से यहां समस्त भवनपतियों

का ग्रहण होता है । यहां प्रयुक्त सुर शब्द से सौधर्म आदि वैमानिक देव गृहीत हैं। 'च' शब्द से सूरज आदि ज्योतिष्क देव लिये गये हैं । तथा गंधर्व शब्द से विद्याधर या व्यंतर विशेष का ग्रहण है । काय शब्द से पृथ्वीकाय आदि छहों काय लिये गये हैं ।

सूत्रकार फिरएक अन्य प्रकार से जीवों का विभाजन करते हुए कहते हैं-जो आकाशगामी हैं, जिनमें आकाश में गमन की-उड़ने की लब्धिशक्ति है वे चार प्रकार के देव, विद्याधर, पक्षी और वायु हैं । पृथ्वी पर आश्रित जो पार्थिव, जलीय, तेजस, वानस्पतिक, द्वि-इन्द्रिय, त्रिइन्द्रिय, चतुरीन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय प्राणी हैं। वे सभी अपने द्वारा किये हुए कर्मों के अनुसार अनेक रूपों में अरहट घटिकाओं-रहट्ट की ज्यों जगत में पर्यटन करते हैं-भटकते हैं ।

❀ ❀ ❀

जमाहु ओहं सलिलं अपारगं, जाणाहि णं भवगहणं दुमोक्खं ।
जंसी विसन्ना विसयंगणाहिं, दुहओऽवि लोयं अणुसंचरंति ॥१४॥

छाया – यमाहुरोघं सलिलमपारगं, जानीहि भवगहनं दुर्मोक्षम् ।
यस्मिन् विषण्णाः विषयाङ्गनाभिर्द्विधाऽपि लोकमनुसञ्चरन्ति ॥

अनुवाद – तीर्थंकर देव ने इस जगत को स्वयम्भूरमण समुद्र के समान अपार कहा है । अतः इसे गहन संसार को दुर्मोक्ष बड़ी कठिनता से छूटने योग्य समझो । सांसारिक भोगों और अंगनाओं में विषण्ण-विषम तथा आसक्त प्राणी इस संसार में पुनः पुनः स्थावर एवं जंगम योनियों में अनुसंचरण करते हैं-जाते रहते हैं ।

टीका – किञ्चान्यत्-'यं' संसार सागरम् आहुः-उक्तवन्तस्तीर्थकरगणधरादयस्तद्विदः, कथमाहुः ?-स्वयम्भुरमणसलिलौघवदपारं, यथा स्वयम्भूरमणसलिलौघो न केनचिज्जलचरेण स्थलचरेण वा लङ्घयितुं शक्यते एवमयमपि संसारसागरः सम्यग्दर्शनमन्तरेण लङ्घयितु न शक्यत इति दर्शयति-'जानीहि' अवगच्छ णमिति वाक्यालङ्कारे, भवगहनमिदं-चतुरशीतियोनिलक्षप्रमाणं यथासम्भवं सङ्ख्येयासङ्ख्येयानन्त स्थितिकं दुःखेन मुच्यत इति दुर्मोक्षं-दुरुत्तरमस्तिवादिनामपि, किं पुनर्नास्तिकानाम् ?, पुनरपि भवगहनोपलक्षितं संसारमेव विशिनष्टि 'यत्र' यस्मिन् संसारे सावद्यकर्मानुष्ठायिनः कुमार्गपतिता असत्समवसरणग्राहिणो 'विषण्णा' अवसक्ता विषयप्रधाना अङ्गना विषयाङ्गनास्ताभिः, यदिवा विषयाश्चाङ्गनाश्च विषयाङ्गनास्ताभिर्वशीकृताः सर्वत्र सदनुष्ठानेऽवसीदन्ति, त एवं विषयाङ्गनादिके पङ्के विषण्णा 'द्विधाऽपि' आकाशाश्रितं पृथिव्याश्रितं च लोकं, यदिवा स्थावरजङ्गमलोकं 'अनुसंचरन्ति' गच्छन्ति, यदिवा-'द्विधाऽपि' इति लिङ्गमात्रप्रव्रज्ययाऽविरत्या (च) रागद्वेषाभ्यां वा लोकं-चतुर्दशरज्ज्वात्मकं स्वकृतकर्मप्रेरिता 'अनुसञ्चरन्ति' बम्भ्रम्यन्त इति ॥१४॥

टीकार्थ – लोक के स्वरूप वेत्ता तीर्थंकर गणधर आदि ने संसार सागर के स्वरूप का विवेचन किया है । उसका स्वरूप कैसा है ? उस प्रश्न का समाधान करते हुए कहते हैं-यह संसार स्वयम्भू रमण समुद्र के जलौघ-जल समूह के सदृश्य अपार है । जिस प्रकार स्वयम्भूरमण समुद्र के जलोघ को कोई भी जलचर-पानी में रहने वाले प्राणी तथा स्थलचर-जमीन पर रहने वाले प्राणी लांघ नहीं सकते, उसी प्रकार सम्यक्दर्शन के बिना इस संसार सागर को लांघा नहीं जा सकता, ऐसा समझो । यहां 'णं' शब्द वाक्य अलंकार-वाक्य

की सज्ञा हेतु प्रयुक्त है । यह भव-गहन-संसार रूपी वन चौरासी लाख योनि परिमित है-इसमें चौरासी लाख योनियां हैं । तथा यहां यथासंभव संख्यात, असंख्यात और अनन्त कालिक स्थिति युक्त है । यह आस्तिक-धर्म में श्रद्धावान जीवों द्वारा भी बड़ी कठिनाई से पार किया जा सकता है । फिर नास्तिकों की तो बात ही क्या ? सूत्रकार-गहन भवयुत संसार की पुनः विशेषता प्रगट करते हुए कहते हैं-इस संसार में जो सावद्य-पापयुक्त कर्मों का अनुष्ठान करते हैं, वे कुत्सित मार्ग में पतित हैं । असत् सिद्धान्तों को ग्रहण किये हुए हैं। भोग प्रधान अंगनाओं-नारियों द्वारा वशीकृत है । अथवा सांसारिक भोगों के आधीन होकर वे कभी भी सत् अनुष्ठान-उत्तम आचरण का पालन नहीं करते । वे सांसारिक भोग तथा अंगना रूपी पंक-कीचड़ में ग्रस्त होते हुए आकाश आश्रित लोकों में-देवलोकों में तथा पृथ्वी आश्रित लोकों में-मनुष्य लोक, नारक लोक में अथवा स्थावर जंगमात्मक लोक में बार बार संचरण करते हैं-जन्म लेते हैं और मरते हैं । अथवा लिंग मात्र-वेश मात्र से प्रव्रज्या धारी-प्रव्रजित साधु होने से तथा विरति-व्रत पालन न करने से एवं राग द्वेष युक्त होने के कारण अपने द्वारा कृत कर्मों के परिणामस्वरूप चतुर्दश रज्जु परिमित इस लोक में अनुसंचरण करते हैं-पुनः पुनः भटकते हैं ।

❀ ❀ ❀

न कम्मुणा कम्म खवेंतिबाला, अकम्मुणा कम्म खवेंति धीरा ।
मेधाविणो लोभमयावतीता, संतोसिणो नो पकरेंति पावं ॥१५॥

छाया – न कर्मणा कर्म क्षपयन्ति बाला अकर्मणा कर्म क्षपयन्ति धीराः ।
मेधाविनो लोभमयादतीताः संतोषिणो न प्रकुर्वन्ति पापम् ॥

अनुवाद – बाल या अज्ञानी जीव अशुभ कर्मों द्वारा अपने पापों का क्षय नहीं कर सकते । धीर-धैर्यशील पुरुष अकर्म द्वारा-अशुभ कर्मों के त्याग द्वारा पाप का निरोध तथा क्षपण करते हैं । मेधावी-प्रज्ञाशील पुरुष लोभ से अतीत होते हैं । वे संतोषयुक्त होते हैं । पाप कर्म नहीं करते ।

टीका – किञ्चान्यत्-ते एवमसत्समवसरणाश्रिता मिथ्यात्वादिभिर्दोषैरभिभूताः सावद्येतरविशेषानभिज्ञाः सन्तः कर्मक्षपणार्थमभ्युद्यता निर्विवेकतया सावद्यमेव कर्म कुर्वते, न च 'कर्मणा' सावद्यारम्भेण 'कर्म' पापं 'क्षपयन्ति' व्यपनयन्ति, अज्ञानत्वाद्बाला इव बालास्त इति, यथा च कर्म क्षिप्यते तथा दर्शयति-'अकर्मणा तु' आश्रवनिरोधेन तु अन्तशः शैलेश्यवस्थायां कर्म क्षपयन्ति 'धीराः' महासत्त्वा सद्वैद्या इव चिकित्सयाऽऽमयानिति। मेधा-प्रज्ञा सा विद्यते येषां ते मेधाविनः-हिताहितप्राप्तिपरिहाराभिज्ञा लोभमयं-परिग्रहमेवातीताः परिग्रहातिक्रमाल्लोभातीता-वीतरागा इत्यर्थः, 'सन्तोषिणः' येन किनचित्सन्तुष्टा अवीतरागा अपीति, यदिवा यत एवातीतलोभा अतएव संतोषिण इति, त एवंभूता भगवन्तः 'पापम्' असदनुष्ठानापादितं कर्म 'न कुर्वन्ति' नाददति, क्वचित्पाठः, 'लोभभयादतीता' लोभश्च भयं च समाहारद्वन्द्वः, लोभाद्वा भयं तस्मादतीताः सन्तोषिण इति, न पुनरुक्ताशङ्का विधेयेति, अतो (विधेयाऽत्र यतो) लोभातीतत्वेन प्रतिषेधांशो दर्शितः, संतोषिण इत्यनेन च विध्यंश इति, यदिवा लोभातीतग्रहणेन समस्तलोभाभावः संतोषिण इत्येनेन तु सत्यप्यवीतरागत्वे नोत्कटलोभा इति लोभाभावं दर्शयन्नपरकषायेभ्यो लोभस्य प्राधान्यमाह, ये च लोभातीतास्तेऽवश्यं पापं न कुर्वन्ति इति स्थितम् ॥१५॥

टीकार्थ – असत् दर्शन-गलत सिद्धान्तों पर आश्रित-टिके हुए मिथ्यात्व आदि दोषों से अभिभूत सावद्य एवं निर्बंध कर्मों के भेद से अनभिज्ञ अज्ञानी प्राणी कर्मक्षय हेतु उद्यत होते हुए निर्विवेकता-विवेकशून्यता के

कारण सावद्य कर्म ही करते हैं । सावद्य-आरंभ-प्रवृति के कारण वे अपने पापों का क्षय नहीं कर सकते हैं। अज्ञान के कारण वे बालक के समान हैं । जिस प्रकार कर्मों का क्षय होता हैं उसका दिग्दर्शन कराने हेतु सूत्रकार प्रतिपादित करते हैं । अकर्म द्वारा-आश्रव के निरोध द्वारा अन्त में शैलेषी अवस्था प्राप्त कर वे धीर, महासत्व, महापुरुष जैसे उत्तम वैद्य चिकित्सा द्वारा रोगों को मिटाते हैं वैसे ही कर्मों का क्षय करते हैं । जिनमें मेधा-प्रज्ञा या बुद्धि होती है वे मेधावी कहे जाते हैं । वे हित-आत्मा के श्रेयस् की प्राप्ति तथा अहित-आत्मा के अश्रेयस् के परिहार-निवृत्ति से अभिज्ञ होते हैं-जानते हैं । लोभमय परिग्रह से अतीत होते हैं । वीतराग होते हैं । अथवा वीतराग न होने पर भी जो कुछ प्राप्त है उसमें परितुष्ट होते हैं । अथवा वे लोभ को लांघ चुके हैं । अतः संतोषयुक्त हैं । ऐसे महापुरुष, असत् अनुष्ठान-अशुभ आचरण से आपादित-निष्पन्न पापयुक्त कर्म नहीं करते । कहीं 'लोभभयादतीताः'-ऐसा पाठ प्राप्त होता है । यहां 'लोभस्य भयञ्च-यह विग्रह होता है । समाहार में द्वन्द्व समास होता है । अतः यहां द्वन्द्व समास है । अथवा "लोभाद् भयं" ऐसा विग्रह भी संभावित है । इसका अभिप्राय यह है कि महापुरुष लोभ से अतीत होते हैं । वे संतोषी होते हैं । इस प्रकार अर्थ करने से पुनरुक्तता की आशंका नहीं रहती क्योंकि लोभ के अतीत से-लोभ का उल्लंघन करना कहकर उसका प्रतिषेधा-निषेध पक्ष प्रकट किया गया है तथा संतोषी कह कर उसका विध्यंश-विधिपक्ष उपस्थित किया गया है । अर्थात् लोभातीत के ग्रहण से यहां समग्र लोभों का अभाव बतलाया गया है तथा संतोषी कहकर वीतरागत्व के न होने पर भी उत्कट-लोभ का न होना प्रतिपादित किया गया है । सूत्रकार लोभ का अभाव निरूपित करते हुए अन्य कषायों से लोभ का प्राधान्य प्रकट करते हैं । इसका सार यह है कि जो पुरुष लोभातीत हो जाते हैं वे निसन्देह पाप नहीं करते ।

❀ ❀ ❀

ते तीय उप्पन्नमणागयाइं, लोगस्स जाणंति तहागयाइं ।
णेतारो अन्नेसि अणन्नणेया, बुद्धा हुते अंतकडा भवंति ॥१६॥

छाया – **तेऽतीतोत्पन्नानागतानि लोकस्स जानन्ति तथागतानि ।**
नेतारोऽन्येषामनन्यनेयाः, बुद्धाश्चतेऽन्तकरा भवन्ति ॥

अनुवाद – वे वीतराग-राग द्वेष विजेता महापुरुष प्राणियों के अतीत, वर्तमान और अनागत-तीनों कालों के वृतान्तों को यथावत् रूप में जानते हैं । वे अन्य जीवों के नेता-मार्गदर्शक हैं किन्तु उनका कोई नेता नहीं है । वे स्वयं बुद्ध हैं । वे बुद्ध-स्वयंबुद्ध, संसार के आवागमन का अंत करते हैं ।

टीका – ये च लोभातीतास्ते किम्भूता भवन्ति इत्याह-'ते' वीतरागा अल्पकषाया वा 'लोकस्स' पञ्चास्तिकायात्मकस्य प्राणिलोकस्य वाऽतीतानि-अन्य जन्माचरितानि उत्पन्नानि-वर्तमानावस्थायीनि अनागतानि-च भवान्तरभावीनि सुखदुःखादीनि 'तथागतानि' यथैव स्थितानि तथैव अवितथं जानन्ति, न विभङ्गज्ञानिन इव विपरीतं पश्यन्ति, यथाह्यागमः-

"अणगारे णं भंते ! माई मिच्छादिट्ठी रायगिहे णयरे समोहए वाणारसीए नयरीए रूवाइं जाणइ पासइ ?, जाव से से दंसणे विवज्जासे भवती"

छाया - अनगारो भदन्त ! मायी मिथ्यादृष्टिः राजगृहे नगरे समवहतः वाराणस्यां नगर्यां रूपाणि जानाति पश्यति ? यावत्स तस्य दर्शनविपर्यासोभवति ।

त्यादि, ते चातीतानागत वर्तमानज्ञानिनः प्रत्यक्षज्ञानिनश्चतुर्दशपूर्वविदो वा परोक्ष ज्ञानिनः 'अन्येषां' संसारोत्तितीर्षूणां भव्यानां मोक्षं प्रति नेतारः सदुपदेशं वा प्रत्युपदेष्टारो भवन्ति, न च ते स्वयम्बुद्धत्वादन्येन नीयन्ते (धवन्तः क्रिय) न्त इत्यनन्यनेयाः, हिताहितप्राप्तिपरिहारं प्रति नान्यस्तेषां नेता विद्यतइति भावः। ते च 'बुद्धाः' स्वयंबुद्धास्तीर्थकरगण-धरादयः, हुशब्दश्चशब्दार्थे विशेषणे वा तथा च प्रदर्शित एव, ते च भवान्तकराः संसारोपादानभूतस्य वा कर्मणोऽन्तकरा भवन्तीति ॥१६॥ यावदद्यापि भवान्तं न कुर्वन्ति तावत्प्रतिषेध्यमंश दर्शयितुमाह –

टीकार्थ – जो महापुरुष लोभ से अतीत हैं वे किस प्रकार के होते हैं सूत्रकार यह प्रकट करते हैं- वे वीतराग होते हैं अथवा अल्प कषाय-अतिन्यून कषाय युक्त होते हैं। वे पंचास्तिकायात्मक लोक के प्राणियों के पूर्व जन्म के, वर्तमान के एवं भविष्य के सुखों एवं दुःखों को यथावस्थित रूप में-ज्यों के त्यों सत्य-सत्य जानते हैं। विभंग ज्ञानी की ज्यों विपरीत रूप में नहीं देखते। आगम में कहा है-भंते ! मायायुक्त मिथ्या दृष्टि अणगार-गृह त्यागी पुरुष राजगृह नगर में अवस्थित होता हुआ, क्या वाराणसी नगरी के रूपों को-मूर्त पदार्थों को जानता है या देखता है ? उत्तर में कहा जाता है कि देखता तो है किंतु कुछ विपर्यास के साथ देखता है इत्यादि। किन्तु अतीत, अनागत और वर्तमान के वेत्ता, प्रत्यक्ष ज्ञानी, केवल ज्ञानी तथा चतुर्दश पूर्वधर परोक्ष ज्ञानी संसार को पार करने के इच्छुक भव्य जीवों को मोक्ष की ओर ले जाते हैं। उन्हें सदुपदेश देते हैं। वे स्वयं बुद्ध होते हैं। इसलिये किसी अन्य द्वारा उन्हें तत्त्वावबोध नहीं कराया जाता। अर्थात् अन्य किसी के द्वारा उन्हें मार्गदर्शन नहीं दिया जाता। हित की प्राप्ति और अहित की निवृत्ति के संदर्भ में कोई दूसरा उनका नेता-मार्गदर्शक नहीं होता। वे स्वयं बुद्ध तीर्थंकर, गणधर आदि भव का-संसार के उपादान कारण रूप कर्मों का अन्त-नाश करने वाले होते हैं। यहां 'हु' शब्द 'च' शब्द के अर्थ में या विशेषण के अर्थ में आया है जो पहले बताया जा चुका है।

जब तक वे महापुरुष भव का अंत नहीं करते मोक्ष प्राप्त नहीं करते तब तक वे उन्हें जो नहीं करना चाहिये, उसका दिग्दर्शन कराने हेतु सूत्रकार कहते हैं।

❀ ❀ ❀

ते णेव कुव्वंति ण कारवंति, भूताहिसंकाइ दुगुंछमाणा ।
सया जता विप्पणमंति धीरा, विण्णत्ति (णणाय) धीरा य हवंतिएगे ॥१७॥

छाया – ते नैव कुर्वन्ति न कारयन्ति, भूताभिशङ्क्या जुगुप्समानाः ।
सदायताः विप्रणमन्ति धीराः, विज्ञप्तिधीराश्च भवन्त्येके ॥

अनुवाद – प्राणियों की हिंसा से घृणा करने वाले तीर्थंकर एवं गणधर आदि महापुरुष न स्वयं हिंसा आदि करतेहैं और न औरों द्वारा करवाते हैं। विज्ञप्ति धीर-प्रज्ञाशील एवं आत्म पराक्रमी-संयम पालने में समुद्यत वे असद् अनुष्ठान से निवृत्तरहतेहुए संयम का अनुशीलन करते हैं। जबकि अन्य दर्शनवादी मात्र ज्ञान से ही अपने आपको पराक्रमी सिद्ध करने का प्रदर्शन करते हैं, कर्म द्वारा नहीं।

टीका – 'ते' प्रत्यक्षज्ञानिनः परोक्षज्ञानिनो वा विदितवेद्याः सावद्यमनुष्ठानं भूतोपमर्दाभिशङ्क्या पापं कर्म जुगुप्समानाः सन्तो न स्वतः कुर्वन्ति, नाप्यन्येन कारयन्ति, कुर्वन्तमप्यपरं नानुमन्यन्ते। तथा स्वतो न मृषावादं जल्पन्ति नान्येन जल्पयन्ति नाप्यपरं जल्पन्तमनुजानन्ति, एवमन्यान्यपि महाव्रतान्यायोज्यानीति। तदेवं 'सदा' सर्वकालं

'यता:' संयता पापानुष्ठानान्निवृत्ता विविधंसंयमानुष्ठानं प्रति 'प्रणमन्ति' प्रह्वीभवन्ति । के ते ?-'धीरा' महापुरुषा इति । तथैके केचन हेयोपादेयं विज्ञायापिशब्दात्सम्यक्परिज्ञाय तदेव नि:शङ्कं यज्जिनै: प्रवेदितमित्येवंकृत निश्चया: कर्मणि विदारयितव्ये वीरा भवन्ति, यदिवा परीषहोपसर्गानीकविजयाद्वीरा इति पाठान्तरं वा 'विण्णत्तिवीरा य भवन्ति एगे' 'एके' केचन गुरुकर्माणोऽल्पसत्त्वा: विज्ञप्ति:-ज्ञानं, तन्मात्रेणैव वीरा नानुष्ठानेन, न च ज्ञानादेवाभिलषितार्थावाप्तिरूपजायते, तथाहि -

"अधीत्य शास्त्राणि भवन्ति मूर्खा, यस्तु क्रियावान पुरुष विद्वान ।
सं चिन्त्यतामौषधमातुरं हि, न ज्ञानमात्रेण करोत्यरोगम् ॥१॥" ॥१७॥

टीकार्थ – जो पापपूर्ण कृत्यों से घृणा करते हैं तथा ज्ञेय पदार्थों को जानते हैं, वे प्रत्यक्ष दृष्टा तथा परोक्ष दृष्टा पुरुष प्राणियों के उपमर्दन-हिंसा की शंका से-भय से न स्वयं पापाचरण करते हैं, न अन्यों से करवाते हैं और न पापचरण में उद्यत जनों का अनुमोदन ही करते हैं । वे न स्वयं मृषावाद-असत्य भाषण करते हैं, न औरों से वैसा करवाते हैं । तथा न वैसा करने वालों का अनुमोदन ही करते हैं । इसी प्रकार अन्यान्य महाव्रतों में भी इसी क्रम को जोड़ना चाहिये । वे इस प्रकार सर्वदा संयत-पापनुष्ठान से निवृत्त रहते हुए विविध रूप में धर्माराधनामूलक उपक्रमों में लीन रहते हैं । वे कौन हैं ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए कहते हैं- वे धीर-धैर्यशील महापुरुष हैं तथा कई ऐसे सत्पुरुष हैं जो हेय-त्यागने योग्य तथा उपादेय-ग्रहण करने योग्य वस्तु को जानकर-यहां प्रयुक्त अपि शब्द के संकेतानुसार सम्यक परिज्ञात कर, जो तीर्थंकरों ने प्रतिपादित किया है, वहीं नि:शंक-शंका विवर्जित मोक्ष मार्ग है, यह निश्चय कर कर्मों को विदीर्ण करने में-नष्ट करने में पराक्रमशील होतेहैं अथवा परीषहों और उपसर्गों को जीत लेते हैं । इस प्रकार वे वीर-शौर्यशाली हैं । यहां 'विण्णत्ति वीरा य भवंतिएगे' ऐसा पाठ भी प्राप्त होता है । इसका अभिप्राय यह है कि कोई गुरु कर्मा-भारी कर्म युक्त अल्पपराक्रमयुक्त जीव विज्ञप्तिमात्र से-ज्ञान मात्र से अपने आप को वीर कहते हैं । अनुष्ठान या आचरण से नहीं किन्तु मात्र ज्ञान से अभिप्सित प्रयोजन की उपलब्धि नहीं होती । अतएव कहा है-शास्त्रों का अध्ययन करके भी कई लोग मूर्ख-विवेकशून्य रह जाते हैं । वास्तव में विद्वान् वही है जो शास्त्रों में बताई गई क्रिया या आचार का अनुष्ठान-अनुसरण करता है क्योंकि औषधि का सम्यक् चिन्तन करने मात्र से रुग्णता निवृत्त नहीं हो जाती-मिट नहीं जाती ।

❀ ❀ ❀

डहरे य पाणे वुड्ढे य पाणे, ते आत्तओ पासइ सव्वलोए ।
उव्वेहती लोगमिणं महंतं, बुद्धेऽपमत्तेसु परिव्वएज्जा ॥१८॥

छाया – दहराश्च प्राणाः वृद्धाश्च प्राणा स्तानात्मवत् पश्यति सर्वलोके ।
उत्प्रेक्षते लोकमिमं महान्तं बुद्धोऽप्रमत्तेषु परिव्रजेत् ।

अनुवाद – इस संसार में छोटी छोटी कायावाले प्राणी हैं और बड़ी बड़ी काया के प्राणी भी हैं । इन सभी को अपने सदृश जानकर बुद्ध-तत्व दृष्टा पुरुष संयम परिपालक साधुओं की सन्निधि में प्रव्रज्या स्वीकार करे ।

टीका – कानि पुनस्तानि भूतानि ? यच्छङ्क्याऽऽरम्भंजुगुप्सन्ति सन्त इत्येतदाशङ्क्याह-ये केचन 'डहरे' नि लघव: कुन्थ्वादय: सूक्ष्मा वा, ते सर्वेऽपि प्राणा:-प्राणिन: ये च वृद्धा:-बादरशरीरिणस्तान्सर्वानप्यात्मतुल्यान्-

आत्मवत्पश्यति सर्वस्मिन्नपि लोके यावत्प्रमाणं मम तावदेव कुन्थोरपि, यथा वा मम दुःखमनभिमतमेवं सर्वलोकस्यापि सर्वेषामपि प्राणिनां दुःखमुत्पद्यते दुःखाद्वोद्विजन्ति तथा चागमः-"पुढविकाए णं भंते ! अक्कंते समाणे केरिसयं वेयणं वेएइ !" इत्याद्याः सूत्रालापकाः, इति मत्वा तेऽपि नाक्रमितव्या न संघट्टनीयाः, इत्येव यः पश्यति स पश्यति । तथा लोकमिमं महान्तमुत्प्रेक्षते, षड्जीव सूक्ष्मबादरभेदैराकुन्त्वालमहान्तं, यदिवाऽनाद्यनिधनत्वान्महान् लोकः, तथाहि-भव्या अपि केचन सर्वेणापि कालेन न सेत्स्यन्तीति, यद्यपि द्रव्यतः षड्द्रव्यात्मकत्वात् क्षेत्रतश्चतुर्दशरज्जुप्रमाणतया सावधिको लोकस्तथापि कालतो भावतश्चानाद्यनिधनत्वात्पर्यायाणां जानन्तत्वान्महान् लोकस्तुमत्प्रेक्षत इति । एवं च लोकमुत्प्रेक्षमाणो बुद्धः अवगततत्त्वः सर्वाणि प्राणिस्थानान्यशाश्वतानि, तथा नात्रापसदे संसारे सुखलेशोऽप्यस्तीत्येवं मन्यमानः 'अप्रमत्तेषु' संयमानुष्ठायिषु यतिषु मध्ये तथाभूत एव परिः -समन्ताद्व्रजेत् परिव्रजेत् यदिवाबुद्धः सन् 'प्रमत्तेषु' गृहस्थेषु अप्रमत्तः सन् संयमानुष्ठाने परिव्रजेदिति॥१८॥

टीकार्थ – वे भूत-प्राणी कौन हैं ? जिनकी हिंसा की आशंका से साधु आरम्भ समारम्भ नहीं करते। यह शंका उपस्थित करते हुए सूत्रकार कहते हैं-लघुकाय युक्त कुन्थु आदि एवं जो अन्य सूक्ष्म जन्तु हैं वे सभी प्राणों को धारण करते हैं, जो बादर शरीर युक्त हैं वे भी प्राणधारी हैं तत्त्वदृष्टा पुरुष उन सबको अपने सदृश मानते हैं । वे ऐसा समझते हैं कि समग्र लोक में मेरा जीव यावत् प्रमाण है-जितना परिमित है, प्रमाणयुक्त है कुन्थु आदि अन्यान्य प्राणियों के जीव भी उतने ही हैं । जिस प्रकार मुझे दुःख होता है, उसी तरह अन्य प्राणियों को भी दुःख होता है । दुःख से वे उद्वेजित-पीड़ित होते हैं । अतएव आगम में कहा है-भंते ! पृथ्वीकायिक जीव आक्रान्त होकर-दुःख से उत्पीड़ित होकर किस प्रकार की वेदना अनुभव करता है (संक्षेप में यही उत्तर है कि हमारी तरह ही वह दीनतापूर्वक वेदना अनुभव करता है) । इत्यादि सूत्रों के आलापक-कथनों को मानतेहुए किसी भी जीव पर आक्रमण-हिंसक उपक्रम नहीं करना चाहिये । जो ऐसा देखता है-समझता है, वही वास्तव में देखता है सत्यदर्शी है। तत्त्वदृष्टा इस लोक की महानता-विशालता को जानता है । यह लोक छः प्रकार के सूक्ष्म बादर भेदयुक्त जीवों से परिपूर्ण होने के कारण महान-विशाल है अथवा अनादि अनिधन-अनन्त होने के कारण महान है क्योंकि कई भव्य प्राणी सब कालों में सिद्धत्त्व नहीं पाते । द्रव्य दृष्टि से यह लोक षडद्रव्यात्मक है । क्षेत्र की दृष्टि से चतुर्दशरज्जु परिमित है । यों वह सावधिक-अवधि या सीमा सहित है किन्तु काल तथा भाव की अपेक्षा से यह अनादि एवं अनन्त है । पर्यायों की अपेक्षा से यह अनन्त है । अतः यह महान है । तत्त्वदृष्टा इसे इस रूप में देखते हैं । लोक का इस प्रकार उत्प्रेक्षण करता हुआ-देखता हुआ तत्त्वज्ञपुरुष सभी प्राणियों के स्थान अशाश्वत-अनित्य है । इस अपसद-दुःखपूर्ण संसार में सुख का अंश मात्र भी नहीं है यों मानता हुआ-अनुभव करता हुआ संयम परिपालक साधुओं के मध्य-उनके सान्निध्य में जाकर परिव्रज्या स्वीकार करे अथवा वह प्रमत्त-गृहस्थ में अप्रमत्त रहता हुआ संयम के अनुष्ठान में संलग्न रहे ।

❀ ❀ ❀

जे आयओ परओ वावि णच्चा, अलमप्पणो होति अलं परेसिं ।
तं जोइभूतं च सयावसेज्जा, जे पाउकुज्जा अणुवीति धम्मं ॥१९॥

छाया – **य आत्मनः परतोवाऽपि ज्ञात्वाऽलमात्मनोभवत्यलं परेषाम् ।**
तं ज्योतिर्भूतश्च सदा वसेद् ये प्रादुष्कुर्य्यरनुविचिन्त्य धर्मम् ॥

अनुवाद – जो अपने द्वारा या अन्य के द्वारा धर्म को परिज्ञात कर उसका उपदेश करता है, वह अपनी तथा अन्य की रक्षा करने में, असत् से बचाने में समर्थ है । जो अनुविचिन्तन कर-पुनः पुनः चिंतन विमर्श

कर धर्म को अभिव्यक्त करता है, उस ज्योतिर्मय-सद्ज्ञान के प्रकाशपुंज मुनि के सान्निध्य में सदैव निवास करना चाहिये ।

टीका – किञ्च-'यः' स्वयं सर्वज्ञ आत्मनस्त्रैलोक्योदर विवरवर्ति पदार्थ दर्शी यथाऽवस्थितं लोकं ज्ञात्वा तथा यश्च गणधरादिकः 'परतः' तीर्थंकरादेर्जीवादीन् पदार्थान् विदित्वा परेभ्य उपदिशति स एवंभूतो हेयोपादेयवेदी 'आत्मनस्त्रातुमलं' आत्मानं संसारावटात्पालयितुं समर्थो भवति, तथा परेषां च सदुपदेशदानतस्त्राता जायते, 'तं' सर्वज्ञं स्वत एव सर्ववेदिनं तीर्थंकरादिकं परतोवेदिनं च गणधरादिकं 'ज्योतिर्भूतं' पदार्थप्रकाशतया चन्द्रादित्यप्रदीपकल्पमात्महितमिच्छन् संसारदुःखोद्विग्नः कृतार्थमात्मानं भावयन् 'सततम्' अनवरतम् 'आवसेत्' सेवेत, गुर्वन्तिक एव यावज्जीवं वसेत्, तथा चोक्तम् –

"नाणस्य होइ भागी थिरयरओ दंसणे चरित्ते य । धन्ना आवकहाए गुरुकुलवासं ण मुंचंति ॥१॥"

छाया – ज्ञानस्यभवति भागी स्थिरतरो दर्शन चारित्रे च । धन्या यावत्कथं गुरुकुलवासं न मुञ्चन्ति ॥१॥

क एवं कुर्युः ? इति दर्शयति-ये कर्मपरिणतिमनुविचिन्त्य "माणुस्सखेत्त जाइ" इत्यादिना दुर्लभां च सद्धर्मावाप्तिं सद्धर्मं वा श्रुतचारित्राख्यं क्षान्त्यादिदशविधसाधुधर्मं श्रावकधर्मं वा 'अनुविचिन्त्य' पर्यालोच्य ज्ञात्वा वा तमेव धर्मं यथोक्तानुष्ठानतः 'प्रादुष्कुर्युः' प्रकटयेयु ते गुरुकुलवासं यावज्जीवमासेवन्त इति, यदिवा ये ज्योतिर्भूतमाचार्यं सततमासेवन्ति त एवागमज्ञा धर्ममनुविचिन्त्य 'लोकं' पञ्चास्तिकायात्मकं चतुर्दशरज्वात्मकं वा प्रादुष्कुर्युरिति क्रिया ॥१९॥

टीकार्थ – जो स्वयं सर्वज्ञ हैं, गणधर आदि पदाधिष्ठित हैं, वे त्रैलोक्य में विद्यमान समग्र पदार्थों को जिस रूप में वे अवस्थित हैं वैसे स्वयं जानकर अथवा तीर्थंकर आदि से पदार्थों को अवगत कर दूसरों को उपदेश करते हैं, वे हेय, उपादेय वेत्ता संसार रूपीगहन वन से अपना तथा सदुपदेश द्वारा औरों का त्राण करने में सक्षम होते हैं । वे स्वयं समग्र पदार्थों के ज्ञाता तीर्थंकर आदि तथा अन्य से पदार्थों को ज्ञात करने वाले गणधर आदि ज्योतिर्मय महापुरुष हैं । वे पदार्थों के प्रकाशक-तद्विषयक ज्ञान के उद्भाषक होने के कारण चन्द्र तथा सूर्य एवं दीपक के सदृश हैं । अतः आत्महितेच्छु, संसार के दुःखों से उद्विग्न अपने को कृतार्थ-धन्य अनुभव करता हुआ उनके सान्निध्य में निरन्तर आवास करे अर्थात् गुरु की सन्निधि में ही जीवन पर्यन्त रहे । कहा गया है-जो गुरुकुल में निवास करता है वह ज्ञान का भागी अधिकारी होता है । दर्शन और चारित्र में स्थिरतर-अत्यधिक दृढ़ होता है । इसलिये वे पुरुष धन्य हैं जो यावज्जीवन गुरुकुलवास का त्याग नहीं करते। कौन ऐसा करे ? इस प्रश्न का स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं-जो जीव कर्मों की परिणति-परिणाम या फल का अनुचिन्तन कर तथा मानव जीवन, आर्यक्षेत्र, उत्तम जाति तथा श्रुतचारित्रमूलक क्षांति आदि से युक्त दशविध साधु धर्म तथा श्रावक धर्म का अनुचिन्तन-पर्यालोचन करउसका यथाविधि अनुष्ठान-परिपालन करते हुए औरों के समक्ष उसे प्रकट करते हैं-बताते हैं, वे पुरुष यावज्जीवन गुरुकुल का आसेवन करते हैं । अथवा जो ज्योतिर्मय-प्रकाशपुंज आचार्य की सेवा में सदा रहते हैं वे ही आगमवेत्ता पुरुष धर्म का अनुविचिन्तन कर पंचास्तिकायात्मक चतुर्दशरज्जु परिमित इस लोक का औरों को ज्ञान कराते हैं ।

❀ ❀ ❀

अत्ताण जो जाणति जो य लोगं, गइं च जो जाणइ णागइंच ।
जो सासयं जाण असासयं च, जातिं (च)मरणं च जणोववायं ॥२०॥

अहोऽवि सत्ताण विउट्टणं च, जो आसवं जाणति संवरं च ।
दुक्खं च जो जाणति निज्जरं च, सो भासिउमरिहइ किरियवादं ॥२१॥

छाया – आत्मानं यो जानाति यश्च लोकं गतिं यो जानात्यनागतिञ्च ।
यः शाश्वतं जानात्यशाश्वतञ्च, जातिञ्च मरणञ्च जनोपपातम् ॥२०॥

अधोऽपि सत्त्वानां विकुट्टनाञ्च, य आस्रवं जानातिसंवरञ्च ।
दुःखञ्च यो जानाति निर्जराञ्च, सभाषितुमर्हति क्रियावादम् ॥२१॥

अनुवाद – जो आत्मा को जानता है । लोक-लोक के स्वरूप एवं लोकान्तरवर्ती पदार्थों को जानता है, जो शाश्वत-मोक्ष, अशाश्वत-संसार को जानता है, जो जन्म मृत्यु तथा गति एवं आगति-विभिन्न गतियों में आवागमन को जानता है । अधोगति में नरकादि में प्राणियों के वि कुट्टण-पीड़ाओं, और यातनाओं को जानता है, जो आश्रव संवर दुःख एवं निर्जरा को जानता है, वही यथार्थतः क्रियावाद का निरूपण कर सकता है ।

टीका – किंचान्यत्-यो ह्यात्मानं परलोकयायिनं शरीराद्व्यतिरिक्तं सुखदुःखाधारं जानाति यश्चात्महितेषु प्रवर्तते स आत्मज्ञो भवति । येन चात्मा यथावस्थितस्वरूपोऽहंप्रत्ययग्राह्यो निर्ज्ञातो भवति तेनैवायं सर्वोऽपि लोकः प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपो विदितो भवति, स एव चात्मज्ञोऽस्तीत्यादिक्रियावादं भाषितुमर्हतीति द्वितीयवृत्तस्यान्ते क्रिया । यश्च 'लोकं' चराचरं वैशाखस्थानस्थ कटिस्थकरयुग्मपुरुषाकारं चशब्दादलोकं चानन्ताकाशास्तिकायमात्रं जानाति, यश्च जीवानाम् 'आगतिम्' आगमनं कुतः समागता नारकास्तिर्यञ्चो मनुष्या देवाः ? कैर्वा कर्मभिर्नारकादित्वेनोत्पद्यन्ते? एवं यो जानाति, तथा 'अनागतिं च' अनागमनं च, कुत्र गतानां नागमनं भवति ? चकारात्तद्गमनोपायं च सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मकं यो जानाति, तत्रानागतिः-सिद्धिरशेषकर्मच्युतिरूपा लोकाग्राकाशदेशस्थानरूपा, वा ग्राह्या सा च सादिरपर्यवसाना । यश्च 'शाश्वतं' नित्यं सर्ववस्तुज्ञातं द्रव्यास्तिकनयाश्रयाद् 'अशाश्वतं' वाऽनित्यं प्रतिक्षण विनाशरूपं पर्यायनयाश्रयणात्, चकारान्नित्यानित्यं चोभयाकारं सर्वमपि वस्तुजातं यो जानाति, तथा ह्यागमः "णेरइया दव्वट्ठयाए सासया भाव ट्ठयाए असासया" छाया-नैरयिका द्रव्यार्थतयाशाश्वता भावार्थतया अशाश्वताः । एवमन्येऽपि तिर्यंगादयो द्रष्टव्याः । अथवा निर्वाणंशाश्वतं संसारः-अशाश्वतस्तद्गतानां संसारिणां स्वकृतकर्मवशगानामितश्चेतश्च गमनादिति । तथा 'जातिम्' उत्पत्तिं नारकतिर्यञ्चमनुष्यामरजन्मलक्षणां 'मरणं च' आयुष्कक्षयलक्षणं, तथा जायन्त इति जनाः-सत्त्वास्तेषामुपपातं यो जानाति, स च नारकदेवयोर्भवतीति, अत्रच जन्मचिन्तायामसुमतामुत्पत्तिस्थानं योनिर्भणनीया, सा च सचिताऽचित्ता मिश्रा च तथा शीता उष्णा मिश्रा च तथा संवृता विवृत्ता मिश्रा चेत्येवं सप्तविंशतिविधेति । मरणं-पुनस्तिर्यङ्मनुष्ययोः, च्यवनं ज्योतिष्कवैमानिकानाम् उद्वर्तना-भवनपतिव्यन्तरनारकाणामिति ॥२०॥ किञ्च –

सत्त्वानां स्वकृतकर्मफलभुजामधस्तान्नारकादौ दुष्कृतकर्मकारिणां विविधां विरुपां वा कुट्टनां-जातिजरामरणरोगशोककृतां शरीरपीड़ां, चशब्दात्तदभावोपायं यो जानाति, इदमुक्तं भवति-सर्वार्थसिद्धादारतोऽधः -सप्तमीं नरकभुवं यावदसुमन्तः स्वकर्माणो विवर्तन्ते, तत्रापि ये गुरुतर कर्माणस्तेऽप्रतिष्ठान नरकयायिनो भवन्तीत्येवं यो जानीते । तथा आश्रवत्यष्टप्रकारं कर्म येन स आश्रवः स च प्राणातिपातरूपो रागद्वेषरूपो वा मिथ्यादर्शनादिको वेदि तं तथा 'संवरम्' आश्रवनिरोधरूपं यावदशेषयोगनिरोधस्वभावं, – चकारात्पुण्यपापे च यो जानीते तथा

'दु:खम' असातोदयरूपं तत्कारणं च यो जानाति 'सुखं' च तद्विपर्ययभूतं यो जानाति, तपसा यो निर्जरां च इदमुक्तं भवति-य: कर्मबन्धहेतून् तद्विपर्यासहेतूंश्च तुल्यतया जानाति तथाहि -

"यथा प्रकारा यावन्त:, संसारावेशहेतव: । तावन्तस्तद्विपर्यासा, निर्वाणावेश हेतव: ॥१॥"

स एव परमार्थतो 'भाषितुं वक्तुमर्हति, किं तद् ? इत्याह-क्रियावादम्, अस्ति जीवोऽस्ति पुण्यमस्ति पापमस्ति च पूर्वाचरितस्य कर्मण: फलमित्येवंरूपं वादमिति । तथाहि-जीवाजीवास्त्रवसंवरबन्धपुण्यपापनिर्जरा मोक्षरूपा नवापि पदार्था: श्लोकद्वयेनोपात्ता:, तत्र य आत्मानं जानातीत्यनेन जीवपदार्थ:, लोक मित्यनेना जीवपदार्थ: तथा गत्यनागति: शाश्वतेत्यादिनाऽनयोरेव स्वभावोपदर्शनं कृतं, तथाऽऽश्रवसंवरौ स्वरूपेणैवोपात्तौ दु:खमित्यनेन तु बन्धपुण्यपापानि गृहीतानिं, तदविनाभावित्वाद्दु:खस्य, निर्जरायास्तु स्वाभिधाने नैवापादानं, तत्फलभूतस्य च मोक्षस्योपादान द्रष्टव्यमिति, तदेवमेतावन्त एव पदार्थास्तदभ्युपगमेन चास्तीत्यादिक: क्रियावादोऽभ्युपगतो भवतीति, यश्चैतान् पदार्थान् 'जानाति' अभ्युपगच्छति स परमार्थत: क्रियावादं जानाति । ननु चापरदर्शनोक्त पदार्थपरिज्ञानेन सम्यग्वादित्वं । कस्मान्नाभ्युपगम्यते ? तदुक्तपदार्थनामेवाघटमानत्वात्, तथाहि-नैयायिकदर्शनेन तावत्प्रमाणप्रमेयसंशय प्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवाद जल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजाति निग्रहस्थानानीत्येते षोडश पदार्था अभिहिता:, तत्र हेयोपादेय (निवृत्ति) प्रवृत्तिरूपतया येन पदार्थपरिच्छित्ति, क्रियते तत्प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणं, तच्च प्रत्यक्षानुमानोपमानशाब्दभेदाच्चतुर्द्धा, तत्रेन्द्रियार्थसंनिकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षं, तदेत्रेन्द्रियार्थयोर्य: संबन्धस्तस्मात्तदुत्पन्नं, नाभिव्यक्तं ज्ञानं, न सुखादिकम्, अव्यपदेश्यमिति व्यदेश्यत्वेशाब्दप्राप्ते; अव्यभिचारीताद्धिद्विचन्द्र ज्ञानवत् व्यभिचरतीति, व्यवसायात्मकमिति निश्चयात्मकं प्रत्यक्षं, तत्रास्य प्रत्यक्षता न बुध्य (युज्य) ते, तथाहियत्रात्माऽर्थग्रहणं प्रति साक्षाव्द्याप्रियते तदेव प्रत्यक्षं, तच्चावधिमन:पर्यायकेवलात्मकम्, एतच्चापरोपाधिद्वारेण । प्रवृत्तेरनुमानवत्परोक्षमिति, उपचारप्रत्यक्षं तु स्यात्, न चोपचारस्तत्त्वचिन्तायां व्याप्रियत इति । अनुमानमपि पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टमिति त्रिधा, तत्र कारणात्कार्यानुमानं पूर्ववत् कार्यात्कारणानुमानं शेषवत् सामान्यतोदृष्टं तु चूतमेकं विकसितं दृष्ट्वा पुष्पिताश्चूता जगतीतियदिवा देवदत्तादौ गतिपूर्विकां स्थानात् स्थानान्तरावाप्तिं दृष्ट्वाऽऽदित्येऽपि गत्यनुमानमिति, तत्राप्यन्यथानुपपत्तिरेव गमिका, न कारणादिकं, तया बिना कारणस्य कार्यं प्रति व्यभिचारात्, यत्र तु सा विद्यते तत्र कार्यकारणादिव्यतिरेकेणापि गम्यगमकभावौ दृष्ट:, तद्यथा-भविष्यति शकटोदय: कृत्तिकादर्शनादिति, तदुक्तम् -

"अन्यथाऽनुपपन्नत्वं, यत्र तत्र त्रयेण किम् ? । नान्यथाऽनुपन्नत्वं, यत्र यत्र त्रयेण किम् ? ॥१॥"

अपिच-प्रत्यक्षस्याप्रामाण्ये तत्पूर्वकस्यानुमानस्या प्रामाण्यमिति । प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानं, यथा गौर्गवयस्तथा, अत्र च सञ्ज्ञासञ्ज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिरूपमानार्थ: अत्रापि सिद्धायामन्यथाऽनुपपत्तावनुमानलक्षणत्वेन तत्रैवान्तर्भावात्पृथक्प्रमाणत्व मनुपपन्नमेव, अथ नास्त्यनुपपत्तिस्ततो व्यभिचारादप्रमाणतोपमानस्य । शाब्दमपि न सर्वं प्रमाणं, किं तर्हि ? आप्तप्रणीतस्यैवागमस्य प्रामाण्यं, न चार्हद्व्यातिरेकेणापरस्याप्तता युक्तियुक्तेति, एतच्चान्यत्र निर्लोठितमिति । किञ्च-सर्वमप्येतत्प्रमाणमात्मनो ज्ञानं ज्ञानं चात्मनो गुण: (गुणश्च) पृथक्पदार्थताऽऽपत्ते:, अथ प्रमेयग्रहणेनेन्द्रियार्थतया तेऽप्याश्रिता, सत्यमाश्रिता:, न तु युक्तियुक्ता:, तथाहि-द्रव्यव्यतिरेकेण तेषामभावात् तद्ग्रहणे च तेषामपि ग्रहणं सिद्धमेवेति न युक्तं पृथगुपादानम् । प्रमेयं त्वात्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमन:-प्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफल दु:खापवर्गा:, तत्रात्मा सर्वस्य द्रष्टोपभोक्ता चे (स चे) च्छाद्वेषप्रयत्नसुखदु:खज्ञानानुमेय:, स च जीवपदार्थतया गृहीत एवस्याभिरिति, शरीरं तु तस्य भोगायतनं, भोगायतननानीन्द्रियाणि भोक्तव्या इन्द्रियार्था:, एतदपि शरीरादिकं जीवाजीवग्रहणेनोक्तमस्माभिरिति । उपभोगो बुद्धिरित्येतच्च ज्ञानविशेष:, स च जीवगुणतया जीवोपादान तयो

(नेनो) पात्त एव । सर्वविषयमन्तःकरणं युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिलिङ्गं मनः, तदपि द्रव्यमनः पौद्गलिकमजीवग्रहणेन गृहीतं, भावमनस्त्वात्मगुणत्वाज्जीवग्रहणेनेति । आत्मनः सुखदुःखसंवेदनानां निर्वर्तनकारणं प्रवृत्तिः, सापि पृथक्पदार्थतया नाभ्युपगन्तुं युक्ता, तथाहि-प्रवृत्तिरित्यात्मेच्छा, सा चात्मगुण एव, आत्माऽभिप्रायतया ज्ञानविशेषत्वाद्, आत्मानं दूषयतीति दोषः, तद्यथा-अस्यात्मनो नेदं शरीरमपूर्वम्, अनादित्वादस्य, नाप्यनुत्तरम्, अनन्तत्वात्सन्ततेरिति, (शरीरेऽपूर्वतया सान्ततया वा) योऽयमात्मनोऽध्यवसायः स दोषो, रागद्वेषमोहादिको वा दोषः, अयमपि दोषो जीवाभिप्रायतया तदन्तर्भावीति न पृथग्वाच्यः । प्रेत्यभावः-परलोकसद्भावोऽयमपि ससाधनो जीवाजीवग्रहणेनोपात्तः, फलमपि-सुखदुःखोपभोगात्मकं, तदपि जीवगुण एवान्तर्भवतीति न पृथगुपदेष्टव्यमिति, दुःखमित्येतदपि विविधबाधन योगरूपमिति न फलादतिरिच्यते, जन्ममरणप्रबन्धोच्छेदरूपतया सर्वदुःखप्रहाणलक्षणो मोक्षः, स चास्माभिरूपात्त एवेति । किमित्यनवधारणात्मकः प्रत्ययः संशयः, असावपि निर्णयज्ञानवदात्मगुण एवेति, येन प्रयुक्तः, प्रवर्तते तत्प्रयोजनं, तदपीच्छाविशेष त्वादात्मगुण एव, अविप्रतिपत्तिविषयापन्नोऽर्थो दृष्टान्तः, असावपि जीवाजीवयोरन्यतरः न चैतावताऽस्य पृथक्पदार्थता युक्ता, अतिप्रसंगाद्, अवयवग्रहणेन च तस्योत्तरत्र ग्रहणादिति । सिद्धान्तश्चतुर्विधः तद्यथा -

सर्वतन्त्राविरुद्धस्तन्त्रेऽधिकृतोऽर्थः सर्वतंत्रसिद्धान्तः ! यथा स्पर्शनादीनीन्द्रियाणि स्पर्शादय इन्द्रियार्थाः प्रमाणैः प्रमेयस्य ग्रहणमिति !, समानतन्त्रसिद्धः परतन्त्रा सिद्धः प्रतितन्त्रसिद्धान्तो यथा साङ्ख्यानां नासत आत्मलाभो न च सतः सर्वथा विनाश इति, तथा चोक्तम्-''नासतो जायते भावो, नाभावो जायते सतः'' इति२, यत्सिद्धावन्यस्यार्थस्यानुषङ्गेण सिद्धिः सोऽधिकरणसिद्धान्तः ३, यथेन्द्रियव्यतिरिक्तो ज्ञाताऽऽत्माऽस्ति दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थ ग्रहणादिति, तत्रानुषङ्गिणोऽर्था १, इन्द्रियनानात्वं २ नियतविषयाणीन्द्रियाणि ३ स्वविषयग्रहणलिङ्गानि च ४ ज्ञातुर्ज्ञानसाधनानि ५ स्पर्शादिगुणव्यतिरिक्तं द्रव्यं ६ गुणाधिकरण ७ मनियत विषयाश्चेतनाः ८ इति, पूर्वार्थ सिद्धावेतेऽर्थाः सिध्यन्ति, नैतैर्विना पूर्वार्थः संभवतीति ३, अपरीक्षितार्थाभ्युपगमात्तद्विशेषपरीक्षणमभ्युपगमसिद्धान्तः ४, तद्यथा, किं शब्द इति विचारे कश्चिदाह-अस्तु द्रव्यं शब्दः, स तु किं नित्योऽथानित्यः ?, इत्येवं विचारः स चायं चतुर्विधोऽपि सिद्धान्तो न ज्ञानविशेषादतिरिच्यते, ज्ञान विशेषस्यात्मगुणत्वाद्गुणस्य च गुणिग्रहणेन ग्रहणाद् न पृथगुपादानमिति ४ । अथावयवाः-प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि, तत्र साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा, यथा नित्यः शब्दोऽनित्यो वेति, हिनोतिगमयति प्रतिज्ञातमर्थमिति हेतुः, तद्यथा-उत्पत्तिधर्मकत्वात्, साध्यसाधर्म्यवैधर्म्यभावी दृष्टान्तः उदाहरणं, यथा घट इति, वैधर्म्योदाहरणं यदनित्यं न भवति तदुत्पत्तिमदपि न भवति यथाऽऽकाशमिति, तथा न तथेति वा पक्षधर्मोपसंहार उपनयः, तद्यथा-अनित्यः शब्दः कृतकत्वाद् घटवत्तथा चायं, अनित्यत्वाभावे कृतकत्वमपि न भवत्याकाशवत् न तथाऽमिति, प्रतिज्ञाहेत्वोः पुनर्वचनं निगमनं, तस्मादनित्य इति, ते चामी पञ्चाप्यवयवा यदि शब्दमात्रं ततः शब्दस्य पौद्गलिकत्वात्पुद्गलानां चाजीवग्रहणेन ग्रहणान्न पृथगुपादानं न्याय्यम्, अथ तज्जं ज्ञानं ततो जीवगुणत्वात् जीवग्रहणेनैवोपादानमिति, ज्ञान विशेषपदार्थताऽभ्युपगमे च पदार्थ बहुत्वं स्याद्, अनेकप्रकारत्वाज्ज्ञान विशेषाणामिति । संशयादूर्ध्वं भवितव्यताप्रत्ययः सदर्थपर्यालोचनात्मकस्तर्कः यथा भवितव्यमत्र स्थाणुना पुरुषेण वेति, अयमपि ज्ञान विशेष एव, न च ज्ञानविशेषाणा ज्ञातुरभिन्नानां पृथक् पदार्थपरिकल्पनं समनुजानतेविद्वांसः । संशयतर्काभ्यामुत्तरकालभावी निश्चयात्मक प्रत्ययो निर्णयः, अयमपि प्राग्वन्न ज्ञानादतिरिच्यते, किञ्च-अस्य निश्चयात्मकतया प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तर्भावान्न पृथग् निर्देशोन्याय्य इति । तिस्रः कथाः-वादो जल्पो वितण्डा चेति, तत्र प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः, स च तत्वज्ञानार्थं शिष्याचार्ययोर्भवति, स एव विजिगीषुणा सार्धं छलजाति निग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः, स एव प्रतिपक्षस्थापना हीनो वितण्डेति, तत्रासां तिसृणामपि कथानां भेद एव नोपपद्यते, यतस्तत्त्वचिन्तायां तत्त्वनिर्णयार्थं वादो विधेयो,

न छलजल्पादिना तत्त्वावगमः कर्तुं पार्यते, छलादिकं हि परवञ्चनार्थमुपन्यस्यते, न च तेन तत्त्वावगतिः इति सत्यपि भेदे नैवासां पदार्थता, यतो यदेव परमार्थतो वस्तुवृत्त्यावस्त्वस्ति तदेव परमार्थतयाऽभ्युपगंन्तुं युक्तम्, वादास्तु पुरुषेच्छावशेन भवन्तोऽनियता वर्तन्ते (तत्) न तेषां पदार्थतेति, किञ्च-पुरुषेच्छानुविधायिनो वादाः कुक्कुटलावकादिष्वपि पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहेण भवन्त्यतस्तेषामपि तत्त्व प्राप्तिः स्यान्नचैतदिष्यत इति । असिद्धानैकान्तिकविरुद्धा हेत्वाभासाः, हेतुवदाभासन्त इति हेत्वाभासाः, तत्र सम्यग्घेतूनामपि न तत्त्वव्यवस्थितिः किं पुनस्तदाभासानां ? तथाहि-इह यन्नियतं वस्त्वस्ति तदेव तत्त्वं भक्तिुमर्हति, हेतवस्तु कचिद्वस्तुनि साध्ये हेतवः क्वचिदहेतव इत्यनियतास्त इति। अथ 'छलम्' अर्थविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्येति तत्रार्थ विशेषे विवक्षितेऽभिहिते वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पना वाक्छलं, यथा नवकम्बलोऽयं देवदत्तः अत्र च नवः कम्बलोऽस्येति वक्तुरभिप्रायो विग्रहे च विशेषो न समासे, तत्रायं छलवादी नव कम्बलाअस्येत्येतद्भवताऽभिहितमिति कल्पयति, न चायं तथेत्येवं प्रतिषेधयति, तत्र छलमित्यसदर्थाभिधानं, तद्यदि छलं न तर्हि तत्त्वं, तत्त्व चेन्न तर्हि छलं, परमार्थरूपत्वात्तत्त्वस्येति, तदेवं छलं तत्त्वमित्यतिरिक्ता वाचोयुक्तिः । दूषणाभासास्तु जातयः, तत्र सम्यग्दूषणस्यापि न तत्त्वव्यवस्थितिः, अनियतत्वात्, अनियतत्त्वं च यदेवैकस्मिनसम्यग्दूषणं तदेवान्यत्र दूषणाभासं, पुरुषशक्त्यवेक्षत्वाच्च दूषणदूषणाभासव्यवस्थितेरनियतत्वमिति कुतः पुनर्दूषणाभासरूपाणां जातीनाम् ? अवास्तवत्त्वात्तासामिति । वादकाले वादी प्रतिवादी वा येन निगृह्यते तन्निग्रहस्थानं, तच्चवादिनोऽसाधनाङ्गवचनं प्रतिवादिनस्तद्दो (श्च तत्तदो) षोद्भावनं विहाय यदन्यदभिधीयते नैयायिकैस्तत्प्रलापमात्रमिति, तच्च प्रतिज्ञाहानिः, प्रतिज्ञान्तरं, प्रतिज्ञाविरोध इत्यादिकम्, एतच्च विचार्यमाणं न निग्रहस्थानं भवितुमर्हति, भवदपि च पुरुषस्यैवापराधं कर्तुमलं, न त्वेत तत्त्वं भवितुमर्हति वक्तृगुणदोषौ हि पदार्थेऽनुमानेऽधिक्रियेते न तु तत्त्वमिति, तदेव न नैयायिकोक्तं तत्त्वं तत्त्वेनाश्रयितुं युज्यते, तस्योक्तनीत्या सदोषत्वादिति ॥ नापि वैशेषिकोक्तं तत्त्वमिति, तथाहि-द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेष समवायास्तत्त्वंमिति, तत्र पृथिव्यप्तेजोवायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति नव द्रव्याणि, तदत्र पृथित्यपृतेजोवायूनां पृथग्द्रव्यत्वमनुपपन्नं, तथाहि-त एव परमाणवः प्रयोगविस्रसाभ्यां पृथिव्यादित्वेन परिणमन्तोऽपि न स्वकीयं द्रव्यत्वं त्यजन्ति, न चावस्थाभेदेन द्रव्यभेदो युक्तः, अतिप्रसंगादिति । आकाशकालयोश्चास्माभिरपि द्रव्यत्वमभ्युपगतमेव, दिशस्त्वाकाशावयवभूताया अनुपपन्नं पृथग्द्रव्यत्वमति प्रसंगदोषादेव, आत्मनश्च स्वशरीरमात्रव्यापिन उपयोगलक्षणस्याभ्युपगतमेव द्रव्यत्वमिति, मनसश्च पुद्गलविशेषतया पुद्गलद्रव्येऽन्तर्भाव इति (परमाणुवत्), भावमनसश्च जीवगुणत्वादात्मन्यन्तर्भाव इति । यदपि तैरभिधीयते, यथा पृथिवीत्वयोगात्पृथिवीति तदपि स्वप्रक्रियामात्रमेव, यतो न हि पृथिव्याः पृथग्भूतं पृथिवीत्वमपि येन तद्योगात्पृथिवी भवेद्, अपितु सर्वमपि यदस्ति तत्सामान्यविशेषात्मकं नरसिंहाकारमुभयस्वभावमिति, तथा चोक्तम् -

"नान्वयः स हि भेदत्वान्न भेदोऽन्वयवृत्तितः । मृद्भेदद्वयसंसर्गवृत्तिजा (र्जा) त्यन्तरं घटः ॥१॥"

तथा -

"न नरः सिंहरूपत्वान्न सिंहो नररूपतः । शब्दविज्ञानकार्याणां, भेदाज्जात्यन्तरं हि सः ॥१॥"

इत्यादि ।

अथ रूपरसगंधस्पर्शा रूपिद्रव्यवृत्तेर्विशेषगुणाः, तथा सङ्ख्यापरिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे इत्येते सामान्यगुणाः सर्वद्रव्यवृत्तित्वात्, तथा बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मसंस्कारा आत्मगुणाः, गुरुत्वं पृथिव्युदकयोर्द्रवत्वं पृथिव्युदकाग्निषु स्नेहोऽभ्भस्येव वेगाख्यः संस्कारोमूर्तद्रव्येष्वेव आकाशगुणः शब्द इति ।

तत्र सङ्ख्यादयः सामान्यगुणा रूपादिवद्द्रव्यस्वभा (वाभा) वत्वेन परोपाधिकत्वाद्गुणा एव न भवन्ति, अथापि स्युस्तथापि न गुणानांपृथक्त्वव्यवस्था, तृत्पृथक्त्वभावे द्रव्यस्वरूपहानेः 'गुणपर्यायवद्द्रव्य' (तत्त्वा. अ. ५ सू.) मितिकृत्वा अतो नान्तरीयकतया द्रव्यग्रहणेनैव ग्रहणं न्याय्यमिति न पृथग्भावः । किञ्च तस्य भावस्तत्त्वमित्युच्यते, भावप्रत्ययश्च यस्य गुणस्य हि भावाद् द्रव्ये शब्दनिवेशस्तदभिधाने 'त्वतला' वित्यनेन भवति, तत्र घटो रक्त उदकस्याहारको जलवान् सवैरेव घट उच्यते, अत्र च घटस्य भावो घटत्वं रक्तस्य भावो रक्तत्वं आहारकस्य भाव आहारकत्वं जलवतो भावो जलवत्त्वमित्यत्र घटसामान्यरक्तगुणक्रियाद्रव्यसंबन्धरूपाणां गुणानां सद्भावात् द्रव्ये पृथुबुध्नाकार उदकाद्याहरणक्षमेकुटकाख्ये शब्दस्य घटादेरभिनिवेशस्तत्र त्वतलौ, इह च रक्ताख्यः को गुणो ? यद सद्भावात्, कतरच्च तद् द्रव्यं यत्र शब्दनिवेशो येन भावप्रत्ययः स्यादिति ? । किमिदानीं रक्तस्य भावो रक्तत्वमिति न भवितव्यं ?, भवितव्यमुपचारेण, तथाहि-रक्त इत्येतद्द्रव्यत्वेनोपचर्यं तस्य सामान्यं भाव इति रक्तत्वमिति, न चोपचारस्तत्त्वचिन्तायामुपयुज्यते, शब्दसिद्धावेव तस्य कृतार्थत्वादिति । शब्दश्चाकाशस्य गुण एव न भवति, तस्य पौद्गलिकत्वाद्, आकाशस्य चामूर्तत्वादिति । शेषं तु प्रक्रियामात्रं न साधनदूषणयोरङ्गम्। क्रियाऽपि द्रव्यसमवायिनी गुणवत्पृथगाश्रयितुं न युक्तेति । अथ सामान्यं, तद्द्विधा-परमपरं च, तत्र परं महासत्ताख्यं द्रव्यादिपदार्थव्यापि, तथा चोक्तम्-''सदिति यतो द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता'' अपरं च द्रव्यत्वगुणत्वकर्मत्वात्मकं, तत्र न तावन्महासत्तायाः पृथक्पदार्थता युज्यते, यतस्तस्यां यः सदिति प्रत्ययः स किमपरसत्तानिबन्धन उत स्वत एव ? तत् यद्यपरसत्तानिबन्धनस्तत्राप्ययमेव विकल्पोऽतोऽनवस्था, अथ स्वत एव ततस्तद्वद् द्रव्यादिष्वपि स्वत एव सत्प्रत्ययो भविष्यतीति किमपरसत्ताऽऽगालस्तनकल्पया । विकल्पितया ?, किञ्च-द्रव्यादीनां किं सतां सत्तया सत्प्रत्यय उतासतां ?, तत् यदि सतां स्वत एव सत्प्रत्ययो भविष्यति किं तया ? असत्पक्षे तु शशविषाणादिष्वपि सत्तायोगात्सत्प्रत्ययः स्यादिति, तथा चोक्तम् -

''स्वतोऽर्थाः सन्तु सत्तावत्सत्तया किं सदात्मनाम् ? । असदात्मसु नैषा स्यात्सर्वथाऽतिप्रसङ्गतः ॥१॥''

इत्यादि । एतदेव दूषणमपरसामान्येऽप्यायोज्यं, तुल्ययोगक्षेमत्वात् । किञ्च-अस्माभिरपि सामान्यविशेषरूपत्वाद्वस्तुनः कथञ्चित्तदिष्यत एवेति, तस्य च कथञ्चित्तदव्यतिरेकाद् द्रव्यग्रहणेनैव ग्रहणमिति। अथ विशेषाः, ते चात्यन्तव्यावृत्तिबुद्धि हेतुत्वेन परैराश्रीयन्ते, तत्रेदं चिन्त्यते-या तेषु विशेषबुद्धिः सा नापरविशेषहेतुकाऽऽश्रयितत्वा, अनवस्थाभयात्, स्वतः समाश्रयणे च तद्वद् द्रव्यादिष्वपि विशेषबुद्धिः स्यात्किं द्रव्यादिव्यतिरिक्तैर्विशेषैरिति ?, द्रव्याव्यतिरिक्तास्तु विशेषा अस्माभिरप्याश्रीयन्ते, सर्वस्य सामान्यविशेषात्मकत्वादिति। एतत्तु प्रक्रियामात्रं, तद्यथा-नित्यद्रव्यवृत्तयोऽन्त्या विशेषाः, नित्यद्रव्याणि च चतुर्विधाः परमाणवो मुक्तात्मानो मुक्तमनांसि च, इति । निर्युक्तिकत्वादपकर्णयितव्यमिति । समवायस्तु-अयुतसिद्धानामाधाराधेयभूतानां य इह प्रत्ययहेतुः स समवाय इत्युच्यते, असावपि नित्यश्चैक श्चाश्रीयते, तस्य च नित्यत्वात्समवायिनोऽपि नित्या आपद्येरन् तदनित्यत्वे च तस्याप्यानित्यवापत्तिः, तदाधाररूपत्वात्तस्य, तदेकत्वाच्च सर्वेषां समवायिनामेकत्वापत्तिः, तस्य चानेकत्वमिति । किञ्च-अयं समवायः संबन्धः, तस्य च द्विष्ठत्वाद् युतसिद्धत्वमेव। दण्डदण्डिनोरिव, वीरणानां च कटोत्पत्तौ तद्रूपतया विनाशः कटरूपतयोत्पत्तिरन्वयरूपतया व्यवस्थानमिति दुग्धदध्नोरिवेत्येवं वैशेषिकमतेऽपि न सम्यक् पदार्थावस्थितिरिति ॥ साम्प्रतं साङ्ख्यदर्शने तत्त्वनिरूपणं प्रक्रम्यते-तत्र प्रकृत्यात्मसंयोगात्सृष्टिरूपजायते, प्रकृतिश्च सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था ततो महान् महतोऽहंकारः अहङ्कारादेकादशेन्द्रियाणि पञ्च तन्मात्राणि तन्मात्रेभ्यः पञ्च भूतानीति, चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपं, स चाकर्ता निर्गुणो भोक्तेति । तत्र परस्परविरुद्धानां सत्त्वादीनां गुणानां प्रकृत्यात्मनां नियामकं गुणिनमन्तरेणैकत्रावस्थानं न युज्यते, कृष्णसितादिगुणानामिव, न च

महदादिविकारे जन्ये प्रकृतिवैषम्योत्पादने कश्चिद्धेतुः, तद्व्यातिरिक्तवस्त्वन्तरानभ्युपगमाद, आत्मनश्चाकर्तृत्वेनाकिञ्चित्करत्वाद् स्वभाववैषम्याभ्युपगमे तु निर्हेतुकत्वापत्तेर्नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा स्यादिति, उक्तं च –

"नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वाऽहेतोरन्यानपेक्षणात् । अपेक्षातो हि भावानां, कादाचित्कत्वसंभव ॥१॥"

अपिच-महदहङ्कारौ संवेदनादभिन्नौ पश्यामः, तथाहि-बुद्धिरध्यवसायोऽहङ्कारश्चाहं सुख्यहं दुःखीत्येवमात्मकः प्रत्ययः तयोश्चिद्रूपतयाऽऽत्मगुणत्वं, न जड़रूपायाः । प्रकृतेर्विकारावेताविति । अपिच-येयं तन्मात्रेभ्यो भूतोत्पत्तिरिष्यते, तद्यथा-गंधतन्मात्रात्पृथिवी रसतन्मात्रादापः रूपतन्मात्रात्तेजः स्पर्शतन्मात्राद्वायुः शब्दतन्मात्रादाकाशमिति, साऽपि न युक्तिक्षमा, यतो यदि बाह्यभूताश्रयेणैतदभिधीयते, तदयुक्तं, तेषां सर्वदा भावात्, न कदाचिदनीदृशं जगदितिकृत्वा, अथ प्रतिशरीराश्रयणादेतदुच्यते, तत्र किल त्वगस्थिकठिनलक्षणा पृथ्वी श्लेष्मासृग् द्रवलक्षणा आपः पक्तिलक्षणं तेजः प्राणापानलक्षणो वायुः शुषिरलक्षणमाकाशमिति, तदपि न युज्यते, यतोऽत्रापि केषाञ्चिच्छरीराणां शुक्रासृक्प्रभवोत्पत्तिः न तत्र तन्मात्राणां गंधोऽपि । समुपलक्ष्यते अदृष्टस्यापि । कारणत्वकल्पनेऽतिप्रसङ्गः स्यात्, अण्डजोद्भिज्जाङ्कुरादीनामप्यन्यत एवोत्पत्तिर्भवन्ती समुपलक्ष्यते, तदेव व्यवस्थिते प्रधानमहदहङ्कारादिकोत्पत्तिर्या सांख्यैः स्वप्रक्रिययाऽऽभ्युपगम्यते तत्तैर्निर्युक्तिकमेव सवदर्शनानुरागेणाभ्युपगम्यत इति । आत्मनश्चाकर्तृत्वाभ्युपगमे कृतनाशोऽकृतागमश्च स्यात् बन्धमोक्षाभावश्च, निर्गुणत्वे च ज्ञानशून्यतापत्तिरित्यतो बालप्रलापमात्रं, प्रकृतेश्चाचेतनाया आत्मार्थं प्रवृत्तिर्युक्ति विकलेति । अथ बौद्धमतं निरूप्यते-तत्र हि पदार्था द्वादशायतनानि, तद्यथा-चक्षुरादीनि पञ्च रूपादयश्च विषयाः पञ्च शब्दायतनं धर्मायतनं च, धर्माः-सुखादयो द्वादशायतनपरिच्छेदके प्रत्यक्षानुमाने द्वे एव प्रमाणे, तत्र चक्षुरादी (दिद्रव्ये) न्द्रियाण्यजीवग्रहणे नैवोपात्तानि, भावेन्द्रियाणि तु जीवग्रहणेनेति, रूपादयश्च विषया अजीवोपादाने नोपात्ता न पृथगुपादातव्याः, शब्दायतनं तु पौद्गलिककत्वाच्छाब्दस्याजीवग्रहणेन गृहीतं, न च प्रतिव्यक्ति पृथक्पदार्थता युक्तिसंगतेति, धर्मात्मकं सुखं दुःखं च यद्यसा (तासा) तोदयरूपं ततो जीवगुणत्वाज्जीवेऽन्तर्भावः, अथ तत्कारणं कर्म ततः पौद्गलिकत्वादजीव इति । प्रत्यक्षं च तैर्निर्विकल्पकमिष्यते, तच्चानिश्चयात्मकतया प्रवृत्तिनिवृत्योर नङ्गमित्यप्रमाणमेव तदप्रामाण्ये तत्पूर्वकत्वादनुमानमपीति, शेषस्त्वाक्षेपपरिहारोऽन्यत्र सुविचारित इति नेह प्रतन्यत इत्यनया दिशा मीमांसकलोकायतमताभिहिततत्त्वनिराकरणं स्वबुद्ध्या विधेयं, तयोरत्यन्तलोकविरुद्धपदार्थानां श्रयणान्न साक्षादुपन्यासः कृत इति । तस्मात्पारिशेष्यसिद्धा अर्हदुक्ता नव सप्त वा पदार्थाः सत्याः तत्परिज्ञानं च क्रियावादेहेतुः नापरपदार्थपरिज्ञानमिति ॥२१॥

टीकार्थ – जो पुरुष यह जानता है कि आत्मा परलोकयायि-परलोकगामी है, शरीर से व्यतिरिक्त-भिन्न है, वह सुख एवं दुःख का आधार है तथा जो आत्महित में प्रवृत्त होता है, वही आत्मज्ञ-आत्मवेत्ता है। जो मैं हूँ इस प्रत्यय से-अनुभव से ग्राह्य आत्मा को उसके यथार्थ रूप में जानता है वही प्रवृत्ति रूप एवं निवृत्ति रूप समस्त लोक को जानता है । वही आत्मज्ञानी पुरुष अस्ति-जीवादि पदार्थ है, इस क्रियावाद का भाषण-विवेचन करने में समर्थ है । यहां दूसरे वृत्त-छंद या गाथा के अंत में क्रिया है अर्थात् दोनों पद युग्मक है। नाट्यशाला में कमर पर दोनों हाथ रखकर खड़े हुए पुरुष के सदृश आकर युक्त लोक को तथा च शब्द द्वारा संकेतित अनंत आकाशास्तिकाय परिमित अलोक को जानता है एवं जो जीवों की आगति-आगमन को जानता है अर्थात् नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य एवं देव कहां से आये हैं ? किन कर्मों द्वारा नारक आदि के रूप में उत्पन्न होते हैं ? यह जानता है एवं कहां जाने पर फिर पुनः आगमन नहीं होता, यह जानता है । चकार शब्द से सूचित सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप उसके उपाय को जानता है ।

यहाँ अनागति का अर्थ सिद्धि है । वह अशेष-समग्र कर्मों के च्युत-क्षीण होने से निष्पन्न होती है। वह लोक के अग्रभाग में-आकाश के एक विशेष स्थान के रूप में है । वह आदि सहित है तथा अंतरहित है । द्रव्यार्थिक नय के अनुसार समस्त पदार्थ शाश्वत या नित्य है तथा पर्यायार्थिक नय के अनुसार सब अशाश्वत-अनित्य तथा प्रतिक्षण विनश्वर है, जो यह जानता है । यहां प्रयुक्त 'च' शब्द से जो समग्र पदार्थों को नित्य एवं अनित्य तथा उभयरूप जानता है । आगम में कहा गया है-नैरयिक-नारक जीव द्रव्यार्थिक नय के अनुसार नित्य है तथा पर्यायार्थिक नय के अनुसार अनित्य है। इसी प्रकार अन्य तिर्यञ्च आदि को भी जानना चाहिये। अथवा निर्वाण को शाश्वत कहा जाता है तथा संसार को अशाश्वत कहा जाता है क्योंकि तद्गत-सांसारिक प्राणी अपने द्वारा कृत कर्मों के परिणामस्वरूप इधर उधर जाते हैं । जो जाति को-नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य एवं देवों की उत्पत्ति को जानता है तथा आयुष्य के क्षय से जनित मृत्यु को जानता है । जो उत्पन्न होते हैं उन्हें जन कहा जाता है । उनके-सत्वों के, जीवों के उपपात को जानता है । उपपात नारकों और देवों में होता है । यहां जन्म का चिन्तन करते समय जीवों के उत्पत्ति स्थान योनि का कथन करना चाहिये । वह योनि सचित्त, अचित्त, मिश्र एवं शीत, उष्ण, मिश्र तथा संवृत, विवृत, मिश्र होती है । इस प्रकार वह सत्ताईस भेदों में विभक्त है। तिर्यञ्चों एवं मनुष्यों की मृत्यु होती है । ज्योतिष्क एवं वैमानिक देवों का च्यवन होता है । तथा भवनपति, व्यंतर तथा नारकों का उद्वर्तन होता है ॥२०॥

सत्व-प्राणी अपने द्वारा कृत कर्मों का फल भोगते हैं । दुष्कृत कर्मकारी-पापीजन नीचे नरकादि स्थानों में जन्म, वृद्धत्व, मृत्यु, रुग्णता एवं शोक से जनित विविध प्रकार की दैहिक पीड़ा को भोगते हैं, जो यह जानता है । 'च' शब्द से संकेतिक पीड़ा के अभाव-नाश के उपाय को जानता है । तात्पर्य यह है कि सर्वार्थ सिद्ध देवलोक से लेकर सातवीं नरक तक जितने प्राणधारी हैं वे सब कर्मों से युक्त हैं वहाँ भी जो सबसे अधिक भारी कर्मयुक्त है, वे अप्रतिष्ठान नामक नरक में जाते हैं जो यह जानता है । अष्टविध कर्म आश्रवित होते हैं-आत्मा में आते हैं, संश्लिष्ट होते हैं उसे आश्रव कहा जाता है । वह प्राणातिपात-हिंसा रूप हैं अथवा राग द्वेषात्मक है या मिथ्यादर्शन मूलक है, उसे जो जानता है तथा आश्रवों के निरोध-समस्त योगों-मानसिक, वाचकि एवं कायिक प्रवृत्तियों के अवरोध रूप संवर को जानता है । 'च' शब्द से संकेतित पुण्य पाप को जानता है। असातावेदनीय उदय के परिणामस्वरूप निष्पन्न दुःख को एवं उसके कारण को जानता है तथा उसके विपर्ययभूत सुख को जानता है । तप द्वारा निर्जरा होती है यह जानता है । कहने का अभिप्राय यह है कि जो कर्म बंध के हेतुओं को जानता है तथा बंध के विपरीत कर्मों के क्षय के हेतुओं को समान रूप से जानता है । कहा है-जिस प्रकार जितने पदार्थ संसार के आवेश-प्राप्त होने के कारण है-हेतु हैं, उतने ही उनसे विपरीत-मोक्ष प्राप्त करने के भी कारण हैं इत्यादि जो जानता है वही परमार्थतः-यथावत् रूप में आख्यात कर सकता है । किसे आख्यात कर सकता हैं ? इस प्रश्न के समाधान में कहते हैं कि क्रियावाद को आख्यात कर सकता है । जीव का अस्तित्व है, पुण्य, पाप तथा पूर्वाचरित कर्मफल का अस्तित्व है, इनका प्रतिपादन क्रियावाद कहा जाता है । उक्त दो गाथाओं द्वारा जीव, अजीव, आश्रव, संवर, बंध, पुण्य, पाप, निर्जरा व मोक्ष-यें नौ पदार्थ उपात्त है-गृहीत हैं । जो आत्मा को जानता है-यो कहने से जीव पदार्थ प्रतिपादित हुआ है । लोक का कथन कर अजीव पदार्थ का प्रतिपादन किया है तथा गति, आगति तथा शाश्वत इत्यादि का कथन कर इन्हीं का स्वरूप प्रतिपादित किया गया है । आश्रव और संवर अपने अपने स्वरूप के साथ कहे गये हैं । तथा दुःख का नाम लेकर बंध, पुण्य तथा पाप गृहीत कहे गये हैं क्योंकि दुःख के साथ इनका अविनाभावित्व-

अविनाभाव सम्बन्ध है, इनके बिना दु:ख उत्पन्न नहीं होता । निर्जरा का उसके अपने नाम के साथ उल्लेख हुआ है तथा उसके फलभूत मोक्ष का भी उपादान-ग्रहण किया गया है । इस प्रकार इतने ही पदार्थ मोक्ष के अभ्युपगम-प्राप्ति में उपयोगी हैं । अत: इनका अस्तित्व मानने से ही क्रियावाद अभ्युपगत्-स्वीकृत होता है। जो इन पदार्थों को जानता है, स्वीकार करता है वही वास्तव में क्रियावाद का वेत्ता है । कहते हैं कि अन्य दर्शनों में प्रतिपादित पदार्थों को जो जानता है उसे आप सम्यक्वादी क्यों नहीं स्वीकार करते हैं ? इसके उत्तर में बताते हैं कि न्याय दर्शन में प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति तथा निग्रह स्थान-ये सोलह पदार्थ स्वीकार हैं । इनमें हेय-त्यागने योग्य पदार्थों से निवृत्ति-हटना तथा उपादेय पदार्थों में प्रवृत्ति-प्रवृत्त होना इनके कारण जो पदार्थों के स्वरूप का निश्चय कराता है उसे प्रमाण कहा जाता है । जिसके द्वारा पदार्थ मापे जाते हैं-सम्यक् रूप में परखे जाते और जाने जाते हैं वह प्रमाण है । प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द-प्रमाण के चार भेद हैं । जो ज्ञान इन्द्रिय तथा पदार्थ के सन्निकट से निष्पन्न होता है, शब्द द्वारा व्यपदेश्य-अकथन योग्य तथा अव्यभिचारी-दोष रहित और व्यवसायात्मक-निश्चयात्मक होता है वह प्रत्यक्ष है । इसका अभिप्राय यह है कि जो इंद्रिय तथा पदार्थ के सम्बन्ध से निष्पन्न होता है किंतु अभिव्यक्त नहीं होता । जो सुख आदि रूप नहीं है वरन् ज्ञान है । वह शब्द द्वारा व्यपदिष्ट नहीं होता क्योंकि शब्द द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है वही व्यपदेश्य है । दो चन्द्रमाओं के ज्ञान की तरह जो व्यभिचार युक्त-दोष युक्त या भ्रम युक्त नहीं है, जो निश्चयात्मक है, न्याय दर्शन में उसे प्रत्यक्ष कहा जाता है किन्तु प्रत्यक्ष का यह स्वरूप युक्तियुक्त नहीं है । क्योंकि यहां अर्थ को ग्रहण करने-स्वायत्त करने में आत्मासाक्षात्-बिना किसी अन्य की अपेक्षा लिये स्वयं व्यापृत होती है-इन्द्रियों द्वारा वैसा नहीं करती, आत्मा का वह ज्ञान प्रत्यक्ष कहा जाता है । अवधिज्ञान मन:पर्याय ज्ञान तथा केवल ज्ञान प्रत्यक्ष हैं किन्तु अपरउपधि-इंद्रिय द्वारा होने वाला ज्ञान जिसे न्याय दर्शन प्रत्यक्ष कहता है वह अनुमान आदि के सदृश परोक्ष है, प्रत्यक्ष नहीं है, औपचारिक रूप में उसे प्रत्यक्ष कहा जा सकता है किन्तु जहा तत्त्व चिन्तन का प्रसंग हो वहां औपचारिकता व्यापृत नहीं होती है ।

न्याय दर्शन के अनुसार पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट-ये अनुमान के तीन भेद हैं । कार्य से जहां कारण का अनुमान किया जाता है उसे पूर्ववत् कहा जाता है । कार्य से जहां कारण का अनुमान होता जाता है उसे शेषवत् कहा जाता है । आम के एक पेड़ पर मंजरियां लगी हुई देखकर यह अनुमान किया जाता है कि संसार में सभी आमों के पेड़ों में मंजरियां लग गई है । इस प्रकार का अनुमान करना सामान्यतोदृष्ट कहा जाता है । अथवा गतिपूर्वक देवदत्त आदि व्यक्ति को एक स्थान से अन्य स्थान में देखकर, सूर्य में गति का अनुमान करना सामान्यतोदृष्ट कहा जाता है किंतु न्याय शास्त्र में प्रतिपादित यह सिद्धान्त अयुक्तियुक्त हैं क्योंकि अन्यथा अनुपपत्ति ही-अन्य प्रकार से उत्पन्न न होना ही अनुमिति का हेतु है । कारण आदि नहीं हैं क्योंकि अन्यथा अनुपपत्ति के बिना कारण का कार्य के प्रति व्यभिचार-दोष दृष्टिगत होता है । किन्तु जहां अन्यथानुपपत्ति है वहां कार्य कारण भाव विद्यमान न होने के बावजूद गम्यगमक भाव दृष्टिगोचर होता है । जैसे कहा जाता है शकट, तारा (मृगशिर) नक्षत्र उदित होगा क्योंकि कृतिका नक्षत्र का दर्शन होता है-वह दिखाई देता है । कहा गया है जहां अन्यथा अनुपपन्नत्व-अन्यथानुपपनत्व है, वहां पूर्ववत् शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट से क्या प्रयोजन है अर्थात् इनका कोई प्रयोजन नहीं है जहां अन्यथानुपपत्ति नहीं वहां भी इन तीनों से क्या सधेगा । ऐसा भी है जब न्याय शास्त्र में स्वीकृत प्रत्यक्ष प्रमाण की कोटि में आता ही नहीं तो तत्पूर्वक होने वाला अनुमान का भी अप्रामाण्य है-वह भी प्रमाण नहीं है ।

उपमान के संबंध में न्याय दर्शन में कहा जाता है-प्रसिद्ध पदार्थ की समानता से साध्य-अप्रसिद्ध पदार्थ का साधन करना-उसे सिद्ध करना उपमान प्रमाण कहा जाता है । यथा जैसी गाय होती है वैसा ही गवय-रोज होता है । संज्ञा के साथ संज्ञी-संज्ञा द्वारा सूचित पदार्थ के संबंध की प्रतिपत्ति-बोध होना इस प्रमाण का अर्थ-फल या प्रयोजन है किंतु उपमान को पृथक प्रमाण के रूप में स्वीकृत करना युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि यहा भी अन्यथा अनुपपत्ति से ही यह सिद्ध हो जाता है-संज्ञा व संज्ञी के संबंध का ज्ञान हो जाता है । अत: यहाँ अनुमान का भी लक्षण घटित होता है । अनुमान में ही इसका अन्तर्भाव-समावेश हो जाता है । इसलिये उपमान पृथक प्रमाण के रूप में उत्पन्न नहीं होता-सिद्ध नहीं होता । यदि कहा जाय कि उपमान के संदर्भ में अनुपपत्ति घटित नहीं होती तब तो व्यभिचार-दोष आने के कारण उपमान की अप्रामाणिकता स्पष्ट है । इसी प्रकार शाब्द-आगम भी सब प्रमाण नहीं है किन्तु जो आप्त पुरुष द्वारा प्रणीत हैं वे ही-उन्हीं आगमों का प्रामाण्य है-प्रामाणिकता है । अर्हन्-सर्वज्ञाता, तीर्थंकर ही आप्त पुरुष हैं । उनसे भिन्न अन्य किसी को आप्त मानना युक्तिसंगत नहीं है । यह अन्यत्र बतलाया जा चुका है । यह समस्त प्रमाण आत्मा के ज्ञान रूप है । ज्ञान आत्मा का गुण है । अत: उसे आत्मा से भिन्न पदार्थ मानना युक्तियुक्त नहीं है । वैसा मानने पर रूप, रस आदि गुणों को भी तत्तद् गुणवान पदार्थों से पृथक् पदार्थ मानना होगा। यदि कहा जाय रूप, रस आदि इंद्रियों के अर्थ हैं । अत: इनको प्रमेयों के रूप में भिन्न पदार्थ स्वीकार किया गया है, ठीक है आप स्वीकार कर सकते हैं किंतु ऐसा करना युक्ति संगत नहीं है क्योंकि द्रव्य से पृथक् उनका अस्तित्व नहीं है । अत: द्रव्य के ग्रहण से वे भी गृहित हो जाते हैं, ऐसा सिद्ध है । अत: उनका पृथक् पदार्थों के रूप में स्वीकार करना उपयुक्त नहीं है । इसी प्रकार न्याय दर्शन में आत्मा, शरीर, इन्द्रियार्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दु:ख एवं अपवर्ग-इन्हें प्रमेय कहा गया है । इनमें आत्मा को सर्वदृष्टा, सर्व भोक्ता माना गया है, उसे इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दु:ख तथा ज्ञान द्वारा अनुमेय बतलाया गया है । उसे हमने जैनों ने भी जीव पदार्थ के रूप में गृहीत किया है । शरीर उस आत्मा का भोगायतन है तथा इंद्रियां भी भोगायतन है । इंद्रियों के अर्थ विषय उसके भोग्य-भोगे जाने के योग्य हैं । यह शरीर आदि भी हम जैनों द्वारा जीवाजीव के रूप में स्वीकार किये गये हैं । उपयोग को बुद्धि कहा जाता है । वह ज्ञान का एक भेद है । अत: वह जीव का-आत्मा का गुण है । जीव के ग्रहण करने से यह भी गृहीत हो जाता है । समस्त पदार्थों को जो गृहीत करता है वह अन्त:करण है । उसे मन कहा जाता है । न्याय दर्शन के अनुसार युगपत-एक साथ समस्त इंद्रियों के ज्ञान अनुत्पन्न है । मन द्वारा उनका संकलनात्मक ज्ञान रहता है-अधिगत होता है । जैन दृष्टि से वह द्रव्य मन है तथा पौद्गलिक-पुद्गलमय है । जो अजीव के ग्रहण से गृहीत हो जाता है-अजीव के अन्तर्गत आ जाता है। भाव मन तो आत्मा का गुण है । वह जीव के ग्रहण से गृहीत हो जाता है । आत्मा के सुखदु:खात्मक संवेदन की निष्पत्ति का कारण प्रवृत्ति है । न्याय दर्शन में इसे आत्मा से पृथक् पदार्थ माना गया है जो युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि आत्मेच्छा-आत्मा की अभिलाषा या वाञ्छा को प्रवृत्ति कहा गया है । इसलिये वह आत्मा का ही गुण है । आत्मा के अभिप्राय का रूप लिये होने के कारण वह एक प्रकार से ज्ञान विशेष ही है । जो आत्मा को दूषित-विकृत करता है, उसे दोष कहा जाता है । जैसे इस आत्मा का यह शरीर अपूर्व नहीं है, पहले से चला आ रहा है क्योंकि यह अनादि है यह अन्तिम भी नहीं हैं, क्योंकि संतति-जन्म मरण के प्रवाह की दृष्टि से यह अनन्त है । इस शरीर को अपूर्व तथा शांत मानने का भी अध्यवसाय दोष है । अथवा राग द्वेष तथा मोह आदि दोष कहे जाते हैं, ये दोष भी जीव का विशिष्ट अभिप्राय है । इसलिये यह जीव में ही अन्तर्भूत-समाविष्ट हो जाता है, अत: इसे पृथक् पदार्थ नहीं कहा जा सकता । परलोक का सद्भाव-अस्तित्त्व प्रेत्यभाव

है, यह भी अपने साधनों के साथ जीव एवं अजीव के ग्रहण से उपात्त है । सुख तथा दुःख भोगना फल कहा जाता है, यह भी जीव का ही गुण है, अतः जीव के अन्तर्गत आ जाता है । इसको एक पृथक् पदार्थ के रूप में नहीं बताना चाहिये । दुःख विविध प्रकार की बाधाओं का रूप लिये हुए है, अतः वह भी फल से अतिरिक्त-भिन्न नहीं है । जो जन्म और मृत्यु के प्रबंध-परम्परा का विच्छेदन तथा समग्र दुःखों का विनाशक है उसे मोक्ष कहा जाता है । हम जैनों द्वारा वह इसी रूप में उपात्त-स्वीकृत है । यह क्या है ? इस प्रकार का अनवधारणात्मक-अनिश्चयात्मक ज्ञान संशय कहा जाता है । यह भी निर्णय ज्ञान की ज्यों आत्मा का ही गुण है । जिससे प्रयुक्त होकर-जिस अर्थ के निमित्त मनुष्य प्रवृत्त होता है उसे प्रयोजन कहते हैं, यह भी इच्छा का ही एक विशेष रूप है, अतः आत्मा का ही गुण है । जिस अर्थ में विप्रतिपत्ति-वादी एवं प्रतिवादी का कोई मतान्तर नहीं होता उसे दृष्टान्त कहा जाता है, वह भी जीव तथा अजीव में से अन्यत्तर है-कोई एक है, किसी एक से संबद्ध है, अतः उसकी पृथक् पदार्थता युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि ऐसा मानने से अतिप्रसंग-अप्रासांगिकता होगी ? न्यायदर्शन में आगे चलकर अवयवों के ग्रहण द्वारा उसे गृहीत किया गया है । सिद्धांत के चार भेद हैं-जैसे (१) अपने शास्त्र का वह अर्थ जो अन्य सभी शास्त्रों से अविरुद्ध-अप्रतिकूल या संगत हो, वह सर्वतन्त्र सिद्धान्त कहलाता है । उदाहरणार्थ-स्पर्शन आदि इंद्रियां हैं तथा स्पर्श आदि इंद्रियों के विषय है । प्रमाणों द्वारा प्रमेय का ग्रहण परिज्ञान होता है, ये सर्वतन्त्र सिद्धान्त है । (२) जो सिद्धान्त किसी एक शास्त्र में माना जाता है किन्तु अन्य शास्त्रों में नहीं माना जाता वह प्रतितन्त्र सिद्धान्त कहा जाता है जैसे सांख्य दर्शन में विश्वास करने वाले असत् का आत्म लाभ-असत् पदार्थ की सत्ता और सत् पदार्थ का सर्वथा विनाश नहीं मानते । कहा गया है, असत् का-असत् पदार्थ का भाव सत्ता नहीं होती और सत् पदार्थ का अभाव-असत्ता नहीं होती। यह सिद्धान्त अन्य दर्शनों द्वारा स्वीकृत नहीं है । (३) जिसके सिद्ध होने पर अन्य पदार्थ प्रासांगिक रूप में सिद्ध हो जाते हैं, उसे अधिकरण सिद्धान्त कहा जाता है । जैसे इंद्रिय व्यतिरिक्त-इंद्रियों से भिन्न ज्ञाता-जानने वाली आत्मा है क्योंकि दर्शन से तथा स्पर्श से एक अर्थ गृहीत होता है वहां प्रासांगिक रूप में अनेक अर्थ गृहीत हो जाते हैं जैसे इन्द्रियां भिन्नभिन्न है, वे नियत-अपने अपने निश्चित विषय को गृहीत करती है । अपने अपने विषयों का ग्रहण उनके अस्तित्व की पहचान है, वे ज्ञाता-आत्मा के ज्ञान की साधन है, स्पर्श आदि गुणों से व्यक्ति भिन्न उन गुणों का अधिकरण-आश्रय द्रव्य है । चेतना अनियत विषयक है-उसके कोई नियत विषय नहीं है, वह सब विषयों में व्याप्त है । यहां पहले अर्थ के सिद्ध हो जाने पर ये सब अर्थ अपने आप सिद्ध हो जाते हैं क्योंकि उनके बिना पहले का अर्थ संभव ही नहीं होता, अतः यह अधिकरण सिद्धान्त है । (४) अपरीक्षित-परीक्षा किये बिना ही किसी अर्थ को अभ्युपगत कर-स्वीकार कर उसकी विशेषताओं का परीक्षण करना अभ्युपगम सिद्धान्त है जैसे-शब्द के विचार के प्रसंग में कोई कहता है-शब्द द्रव्य भले ही हो पर क्या वह नित्य है या अनित्य है ? इस रूप में विचार करना अभ्युपगम सिद्धान्त है । न्याय दर्शन में स्वीकृत ये चारों ही सिद्धान्त ज्ञान विशेष से कुछ भिन्न नहीं है-ज्ञान के ही विशेष रूप है, इसलिये इन्हें पृथक् स्वीकार करना अयुक्तियुक्त है ।

अब अवयवों का वर्णन किया जाता है । प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय एवं निगमन-ये पांच अवयव है । साध्य का निर्देश-साध्य अर्थ को बताना प्रतिज्ञा है । जैसे शब्द नित्य है यह कहना तथा शब्द अनित्य है, यह कहना प्रतिज्ञा है । प्रतिज्ञा में निहित अर्थ को जो प्रति ज्ञात कराता है-स्वायत्त कराता है, उसे हेतु कहा जाता है जैसे शब्द अनित्य है क्योंकि उत्पन्न होना उसका स्वभाव है, यहां शब्द की उत्पत्तिधर्मकत्त्व हेतु है।

साध्य के साधर्म्य-समानता अथवा वैधर्म्य-असमानता को लेते हुए दृष्टान्त देना उदाहरण है, जैसे घट, यह साधर्म्य उदाहरण है । वैधर्म्य मूलक उदाहरण यह है-जैसे जो अनित्य नहीं होता वह उत्पत्ति मान-उत्पत्तियुक्त भी नहीं होता जैसे आकाश । यह तथा-वैसा है, उस प्रकार का है अथवा वैसा नहीं है, उस प्रकार का नहीं है यों पक्ष में धर्म का उपसंहार करना-सन्निहित करना उपनय है । जैसे शब्द अनित्य है क्योंकि उसमें कृतकत्व है-वह किसी द्वारा कृत-किया हुआ है । जैसे घट, उसी की ज्यों यह भी है अथवा अनित्यत्व का अभाव होने पर-अनित्य न होने पर कृतकृत्व भी नहीं होता, जो अनित्य नहीं है, नित्य है, वह किसी के द्वारा बनाया हुआ नहीं होता, जैसे आकाश । शब्द ऐसा आकाश जैसा नहीं है । प्रतिज्ञा तथा हेतु का पुनर्वचन-उन्हें फिर दोहराना निगमन कहा जाता है जैसे-वैसा होने के कारण-कृतक होने के कारण शब्द अनित्य है । ये पांच अवयव यदि केवल शब्द मात्र है तो पौद्गलिक है तथा अजीव के ग्रहण से पुद्गलों का ग्रहण हो जाता है, वे अजीव के अन्तर्गत आ जाते हैं इसलिये उनका पृथक् पदार्थ के रूप में उपादान-स्वीकरण न्यायसंगत नहीं है । यदि तज्जनित-शब्द जनितज्ञान को पांच अवयव कहा जाए तो वह-ज्ञान जीव का गुण है, अतः जीव के ग्रहण से उसका सहज ही उपादान-ग्रहण हो जाता है । यदि ज्ञान विशेष की पदार्थता मानी जाय-ज्ञान के भिन्न भिन्न भेदों या रूपों को पृथक् पृथक् पदार्थ माना जाय तब पदार्थों का बाहुल्य होगा क्योंकि ज्ञान के अनेक प्रकार हैं। संशय होने के अनन्तर किसी पदार्थ के होने की प्रतीति-पर्यालोचना तर्क कहा जाता है, जैसे-यहां स्थाणु-ठूँठ या पुरुष होना चाहिये। तर्क भी एक विशेष प्रकार का ज्ञान ही है । ज्ञान ज्ञाता से अभिन्न होता है । अतः उसके भेदों की पृथक् पदार्थों के रूप में परिकल्पना करना, विद्वत् सम्मत नहीं है । संशय और तर्क का उत्तरकालवर्ती-उनके पश्चात् होने वाला निश्चयात्मक ज्ञान निर्णय कहा जाता है । यह भी पहले की ज्यों ज्ञान से अतिरिक्त या भिन्न नहीं है । यह निश्चयात्मक है । इसलिये प्रत्यक्षादि प्रमाणों में इसका अंतरभाव हो जाता है । इसको पृथक् पदार्थ के रूप में निर्देश करना न्यायसंगत नहीं है । कथाओं के तीन भेद हैं-वाद, जल्प एवं वितण्डा। प्रमाण तथा तर्क द्वारा जहां अपने पक्ष को सिद्ध किया जाता है तथा प्रतिवादी के पक्ष को निरस्त किया जाता है, जो सिद्धान्त से अविरुद्ध-अप्रतिकूल या अनुकूल होता है, पांच अवयवों से उपपन्न होता है, पक्ष और प्रतिपक्ष को परिगृहीत करता है उसे वाद कहा जाता है । वह तत्त्व ज्ञान के हेतु-तात्त्विक विचार मंथन एवं निर्णय का लक्ष्य लिये शिष्य तथा आचार्य के मध्य होता है; यदि विजिगीषा-प्रतिवादी को जीतने की इच्छा से छल जाति तथा निग्रहस्थान द्वारा अपने पक्ष के साधन तथा पर पक्ष के निरसन-खण्डन सहित होता है तो वह जल्प कहलाता है । वह यदि प्रतिपक्ष की स्थापना से रहित होता है तो वितण्डा कहा जाता है । इस पर जैनों का कथन है-इन तीन कथाओं के भेद निष्पन्न-सिद्ध ही नहीं होते, क्योंकि तत्त्व चिंतन के प्रसंग में तत्त्व का निर्णय करने हेतु वाद ही किया जाना चाहिये । छल, जल्प आदि द्वारा अवगम-निश्चय नहीं होता, वे तो परवञ्चना हेतु-दूसरों को ठगने हेतु प्रयोग में लिये जाते हैं, उनसे तत्त्वावगति-तत्त्वबोध नहीं होता । यदि भेद हो तो भी इनकी पदार्थता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि जो वास्तव में परमार्थ रूप में वस्तु है, उसी को तत्त्वतः वस्तु स्वीकार करना युक्तियुक्त है । वाद तो मनुष्य की इच्छा के वशगत है, अतः वे अनियत है । उनकी पदार्थता असिद्ध है । वाद पुरुष की इच्छा के अनुविधायी है-इच्छानुसार होते हैं । कुक्कुट-मुर्गे तथा लावक-लवे पक्षियों के बीच भी पक्ष और प्रतिपक्ष को लेकर वह होता है, फिर तो उसे भी पदार्थ के रूप में स्वीकार करना चाहिये जो आपको अभीष्ट नहीं है ।

न्यायदर्शन में असिद्ध, अनेकान्तिक और विरुद्ध ये तीन हेत्वाभास माने गये हैं । जो हेतु के सदृश आभासित होते हैं, लगते हैं उन्हें हेत्वाभास कहा जाता है । यहां जैन दर्शन का यह चिन्तन है

कि-जो सम्यक्-यथार्थ हेतु है, वह भी तत्त्व के रूप में स्वीकृत नहीं है । फिर हेत्वाभास को तत्त्व मानने की तो बात ही कहां ? जो वस्तु नियत है-निश्चित है, वही तत्त्व हो सकती है किन्तु हेतु किसी साध्य वस्तु के प्रति होते हैं और वे ही अन्य वस्तु के प्रति अहेतु बन जाते हैं । अतः वे अनियत हैं ।

अब छल का प्रसंग आता है । अर्थ के विकल्प की उपपत्ति होने से-अर्थ का भेद हो सकने से वादी के वचन का-अर्थ का विघात करना-हनन करना उसके अर्थ को परिवर्तित कर देना छल है। वक्ता ने किसी अर्थ विशेष में-किसी विशेष अभिप्राय से शब्द का प्रयोग किया वहां उसके अभीप्सित अर्थ के भिन्न अर्थ की परिकल्पना करना वाक् छल है । जैसे एक वादी कहता है 'नव कम्बलोऽयं देवदत्तः' अर्थात् देवदत्त नूतन कम्बल युक्त है । यहां वक्ता के अभिप्राय के अनुसार इसका 'नवंकम्बलोऽस्य'-इसका कम्बल नया है यह विग्रह होता है । इस प्रसंग में विग्रह में ही विशेषता या भिन्नता है, समास में नहीं है । "नवः कम्बलोऽस्य" इसके पास नौ कम्बल है, छलवादी ऐसी कल्पना करता है । कहता है कि देवदत्त के पास नौ कम्बल है। यह आपने कहा है किन्तु उसके पास नौ कम्बले नहीं है। अतः आपका कथन युक्ति संगत नहीं है ।

इस संबंध में जैनों का कथन है कि जो वास्तव में नहीं है उसका कथन करना छल है । यदि वह छल है तो तत्त्व नहीं है । यदि वह तत्त्व है तो छल नहीं है । क्योंकि तत्त्वपरमार्थ रूप-सत्य होता है । अतः छल को तत्त्व कहना युक्ति विरुद्ध है ।

दूषणाभास-दोष का भास जाति कहा जाता है । जैनों का कहना है कि जो सही माने में दोष है वह तत्त्व के रूप में व्यवस्थित नहीं होता, तत्त्व नहीं माना जाता क्योंकि वह अनियत होता है । जो एक जगह भली भांति दोष के रूप में विद्यमान है, वही दूसरी जगह दूषणाभास हो जाता है । दूषण एवं दूषणाभास की व्यवस्थिति पुरुष की शक्ति-सामर्थ्य की अपेक्षा रखती है । अतः वह अनियत होती है । वह तत्त्व नहीं है । फिर जाति जो दूषणाभास का रूप लिये हुए है वह तत्त्व कैसे हो सकती है क्योंकि वे तो अवास्तविक है उनका अस्तित्व है नहीं । वाद के समय वादी अथवा प्रतिवादी जिसके द्वारा निगृहीत कर लिये जाते हैं वह निग्रह स्थान कहा जाता है । जैसे यदि वादी अपना ऐसा वचन प्रयोग करे जो उसके साध्य अर्थ को सिद्ध नहीं करता हो और प्रतिवादी उसके दोष को निगृहीत कर ले, तो वादी का निग्रह हो जाता है-वह पकड़ लिया जाता है, यह निग्रह स्थान है । इसके अतिरिक्त न्यायदर्शन में जो अन्य बातें प्रतिपादित हैं वे सब प्रलाप मात्र है । जैसे प्रतिज्ञा, हानि, प्रतिज्ञान्तर तथा प्रतिज्ञा विरोध इत्यादि । यदि चिन्तन किया जाये तो यह निग्रह स्थान नहीं हो सकता । फिर भी यदि इसे निग्रह स्थान कहा जाय तो यह पुरुष की त्रुटि है-दोष है । यह तत्त्व नहीं हो सकता । वक्ता के गुण एवं दोष पदार्थानुभाष में ही अधिकृत किये जाते हैं । वे तत्त्व रूप में निरूपित नहीं होते । इस प्रकार न्याय दर्शन में प्रतिपादित तत्त्व तत्त्वरूप में आश्रित किये जाने योग्य-माने जाने योग्य नहीं है ।

वैशेषिकों-वैशेषिक दर्शन में आस्थाशील लोगों द्वारा निरूपित तत्त्व भी तत्त्व के रूप में मानने योग्य नहीं है । उनके अनुसार द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष एवं समवाय ये छः तत्त्व हैं । इनमें पृथ्वी, अप-पानी, तेज-अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा तथा मन ये नौ द्रव्य हैं । इनमें पृथ्वी, पानी, अग्नि तथा वायु को पृथक् पृथक् स्वीकार करना अनुपपन्न-अनुपयुक्त है क्योंकि वे ही परमाणु प्रयोग तथा स्वभाव-प्राकृतिक संयोग से पृथ्वी आदि के रूप में परिणित होते हैं । अतः वे द्रव्यत्व का परित्याग नहीं करते, मात्र अवस्थाओं

का भेद होता है । इससे द्रव्य भेद मानना अप्रासंगिक है । आकाश, काल को तो हमने भी (जैनों ने भी) द्रव्य रूप में स्वीकार किया है । दिशा आकाश के अवयव का रूप लिये हुए हैं । अतः उसे भी पृथक् द्रव्य स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि ऐसा करना अप्रासंगिक होगा । आत्मा जो स्वशरीर व्यापी है तथा जिसका लक्षण-स्वभाव उपयोग है उसका द्रव्यत्व तो हमने भी स्वीकार किया है । मन पुद्गल विशेष का रूप लिये हुए है । अतः उसका परमाणु की ज्यों पुद्गल द्रव्य में ही अन्तरभाव-समावेश हो जाता है । भाव मन जीव का गुण है । इसलिये वह आत्मा में ही अन्तरभूत है । वैशेषिक मतवादी यों अभिहित करते हैं कि पृथ्वीत्व के योग से पृथ्वी है-पृथ्वी का अस्तित्व है इत्यादि । यह भी अपनी प्रक्रिया मात्र-अपने दर्शन की व्याख्या मात्र है क्योंकि पृथ्वी से पृथक् पृथ्वीत्व कोई तत्त्व-कोई पदार्थ नहीं है जिसके योग से पृथ्वी द्रव्य निष्पन्न हो । संसार में जो भी देखा जाता है वह सब सामान्य विशेषात्मक है । उदाहरणार्थ जैसे नरसिंह का आकार उभय-स्वभाव मानव एवं सिंह दोनों का रूप लिये हुए हैं । अतः कहा गया है घड़े का मृतिका के साथ एकान्त रूप में अभेद-अभिन्नता नहीं है क्योंकि इनमें स्पष्टतया भेद की प्रतीति होती है । एकान्ततः भेद भी नहीं है, क्योंकि घट में मृत्तिका का संसर्ग है-घट में मृत्तिका विद्यमान है । अतः घट जो मृत्तिका के साथ कथञ्चित् भेद युक्त तथा कथञ्चित् अभेद युक्त है । वह एक अन्य जाति का पदार्थ है तथा नरसिंह मात्र नर-मनुष्य नहीं है क्योंकि इसमें सिंह रुपत्व भी विद्यमान है-उसमें सिंह का रूप दृष्टिगत होता है, एवं वह सिंह भी नहीं है क्योंकि उसमें मनुष्य का रूप भी है । अतः शब्द, विशिष्ट ज्ञान तथा कार्य की भिन्नता होने के कारण नरसिंह एक भिन्न जातीय पदार्थ है, इत्यादि ।

वैशेषिकों की यह मान्यता है कि रूप, रस, गंध तथा स्पर्श-यह रूपी-मूर्त द्रव्यों में रहते हैं। इसलिये यह उनके विशेष गुण है, और संख्या, परिमाण, पृथकत्व, संयोग विभाग, परत्व एवं अपरत्व-ये सामान्य गुण है क्योंकि इनकी वृत्ति सभी द्रव्यों में है-ये सभी द्रव्यों में प्राप्त होते हैं । बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार-ये आत्म गुण हैं । पृथ्वी और उदक-जल में गुरुत्व है । पृथ्वी, जल एवं तेज-अग्नि में द्रव्यत्व है । स्नेह-चिकनापन केवल जल में ही है । वेग नामक संस्कार मूर्त द्रव्यों में ही अवस्थित है । शब्द आकाश का गुण है ।

इस संबंध में जैनों का कथन है कि संख्या आदि जो सामान्य गुण है वे रूप आदि की ज्यों द्रव्यों के स्वभाव नहीं है । अपितु वे पर-अन्यों के उपाधि रूप होते हैं । अतः वे गुण नहीं होते हैं। यदि उन्हें गुण कहा जाय तो भी उनको द्रव्यों से पृथक् व्यवस्थित नहीं किया जा सकता-नहीं माना जा सकता, क्योंकि उनको द्रव्यों से पृथक् स्वीकार करने पर द्रव्य के स्वरूप का भी अस्तित्व नहीं रहेगा । (तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ५ सूत्र के) अनुसार जो गुणों और पर्यायों से युक्त होता है, उसे द्रव्य कहा जाता है, गुणों के बिना द्रव्य नहीं होता, अतः द्रव्य के ग्रहण से गुण गृहीत हो जाते हैं । यह युक्तिसंगत है । उनका पृथकभाव-उन्हें पृथक् पदार्थ मानना आवश्यक नहीं है ।

"तस्यभावस्तत्वम्"-जिस पदार्थ का जो भाव-धर्म या स्वरूप होता है उसे तत्व कहते हैं । जिस गुण के होने से द्रव्य में शब्द का निवेश-प्रवेश या प्रयोग होता है, उस गुण को बताने हेतु "तत्त्वतत्वौ" सूत्र के अनुसार शब्द के साथ भाव प्रत्यय होता है । घट-घड़ा, रक्त-लाल रंग का है । जल का आहारक-लाने वाला है, जलवान है-अपने में जल को स्थापित रखता है-सभी द्वारा ऐसे पदार्थ-वस्तु को घट कहा जाता है । यहां घट का भाव घटत्त्व, रक्त का भाव रक्तत्व, आहार का भाव आहारकत्व तथा जलवान का भाव जलवत्व कहा

जाता है । यहां घटत्व से घट सामान्य का रक्तत्त्व से रक्त गुण का तथा आहारकत्व से आहारन क्रिया का जलवत्व से जल द्रव्य का सम्बन्ध सूचित है । इन गुणों से युक्त मोटे गोलाकार जतलाने में समर्थ कुटकाख्य संज्ञक जलपात्र में घट संज्ञक शब्द का अभिनिवेष-प्रवेश या प्रयोग होता है । इसलिये इन गुणों को ज्ञापित करने हेतु घट शब्द के साथ त्व और तल् प्रत्यय होते हैं । इसके स्पष्टीकरण हेतु प्रश्न उठाते हुए कहा जाता है-रक्त नामक यह कौनसा गुण है जिसके होने से घड़ा रक्त कहा जाता है । वह कौन सा द्रव्य है, जिससे शब्द सन्निवेश होता है, जिसके साथ भाव प्रत्यय होता है, क्या "रक्तस्य भावो रक्तत्वम्"-रक्त का-लाल का भाव रक्तत्व-लालिमा होता है । ऐसा होना चाहिये । उत्तर में कहा जाता है-होना चाहिये किंतु उपचार से-औपचारिक रूप में ऐसा हो सकता है क्योंकि जैसे रक्त को उपचार से द्रव्य मानकर उसके सामान्य भाव को रक्तत्व कहा जा सकता है किन्तु उपचार का तत्व चिंतन के प्रसंग में कोई उपयोग नहीं है । शब्द सिद्धि में ही-शब्द के साधन मात्र में ही उसकी कृतार्थता-उपयोगिता है । शब्द आकाश का गुण होता ही नहीं क्योंकि शब्द पौद्गलिक है-मूर्त्त है तथा आकाश अमूर्त्त है-वैशेषिक दर्शन में निरूपित बाकी के पदार्थ केवल उसकी प्रक्रिया मात्र-व्याख्या मात्र है । इसलिये वे न किसी प्रयोजन के साधक है तथा न उसके दूषण रूप या बाधक ही हैं । द्रव्य में समवाय संबंध से रहने वाली क्रिया भी गुण की ज्यों पृथक् तत्व नहीं है-यों मानना युक्तिसंगत है । अब सामान्य की चर्चा करते हैं । वैशेषिकों के अनुसार पर एवं अपर के रूप में सामान्य के दो भेद हैं । द्रव्य आदि पदार्थों में व्याप्त महासत्ता को परसामान्य कहा जाता है । कहा गया है-द्रव्य गुण तथा कर्म में जो सत्ता की-अस्तित्व की प्रतीति होती है वह सत्ता है । द्रव्यत्व, गुणत्व एवं कर्मत्व अपर सामान्य हैं । जैनों का कथन है कि महासत्ता को पृथक् पदार्थ स्वीकार करना युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि उस सत्ता में सत् होने की-अस्तित्व की ज्यों प्रतीति होती है । वह क्या किसी अपर-अन्य सत्ता से निबद्ध है ? अन्य के होने से होती है अथवा स्वतः होती है । यदि यह कहा जाय कि अपर सत्ता के निबन्धन से वह होती है तो फिर यह विकल्प होगा कि इस अपरसत्ता में सत् होने की प्रतीति किससे होती है । यह विकल्प आगे से आगे चलेगा । यों अनवस्था दोष उपस्थित होगा । यदि कहो कि महासत्ता में स्वतः ही सत् होने की-अस्तित्व की प्रतीति होती है, किसी अन्य वस्तु से नहीं तो फिर द्रव्य आदि में स्वतः ही सत् प्रत्यय-सत्ता की प्रतीति होगी । फिर अजा के गलस्तन-बकरी के गले के स्तन के समान निरर्थक ही एक अन्य सत्ता की कल्पना क्यों की जाय । दूसरी बात यह है-द्रव्य आदि जो सत् है उन्हें वैसा मानकर उनमें आप सत्ता के द्वारा सत् की प्रतीति स्वीकार करते हैं, या उनको असत् मानकर । यदि उन्हें सत् मानते हो तब तो स्वयं ही सत् की प्रतीति होगी । फिर सत् की प्रतीति हेतु सत्ता की क्या आवश्यकता रहेगी ? यदि द्रव्य आदि असत् मानते हुए उनमें सत्ता द्वारा सत् की प्रतीति स्वीकार करते हो, तब को शशविषाण-खरगोश के सींग आदि में भी सत्ता के योग से सत् की प्रतीति संभावित है । अतएव कहा गया है-पदार्थ स्वयं ही सत् है-स्वयं उनका अस्तित्व है जो सदात्मक है, उन्हें सत्ता की क्या आवश्यकता है । जो पदार्थ असदात्मक-असत् है, अस्तित्वहीन है, उनमें सत्ता स्वीकार ही नहीं की जा सकती, की जाय तो शशविषाण आदि में भी उसका प्रसंग बनेगा । जो अतिप्रसंग-अप्रासांगिक है । यही दोष जो यहां महासत्ता के संदर्भ में लागू होते हैं । द्रव्यत्व आदि अपर सामान्य में भी आयोजनीय है, क्योंकि इन दोनों का योगक्षेम-टिकाव एक ही है । हम भी कथंचित-किसी अपेक्षा से वस्तु को सामान्य विशेषात्मक स्वीकार करते हैं । सामान्य द्रव्य से किञ्चित् अव्यतिरिक्त-अभिन्न है, अतः द्रव्य के ग्रहण से वह भी गृहीत हो जाता है । अब विशेषों की चर्चा की जाती है । वैशेषिक दर्शन में विशेष नाम का एक पदार्थ माना जाता है । वैशेषिक ऐसा कहते हैं कि द्रव्यादि में विशेष ही अत्यन्त व्यावृत्ति बुद्धि के हेतु है-उस द्वारा

एक पदार्थ की अन्य पदार्थों से व्यावृत्ति-अलग पहचान प्राप्त होती है । उस संबंध में विचार करते हैं-उन विशेषों में जो विशेषात्मक बुद्धि होती है वह क्या किसी अन्य विशेष पर टिकी हुई है । यदि वह अपर विशेष-किसी अन्य विशेष पर आश्रित है, ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि आगे से आगे यह आश्रितता का प्रसंग चलता रहेगा जिससे अनवस्था दोष उपस्थित होगा । इसलिये जैसे अन्य विशेषों के बिना भी विशेषों में विशेष बुद्धि होती है, उसी प्रकार द्रव्यादि में भी विशेष बुद्धि मानी जा सकती है । फिर द्रव्यादि के अतिरिक्त विशेषनामक पृथक् पदार्थ क्यों माना जाय । द्रव्यों से अव्यतिरिक्त-अपृथक् विशेष तो हम भी स्वीकार करते हैं, क्योंकि सभी पदार्थ सामान्य विशेषात्मक है । वैशेषिक जो यह मानते हैं कि विशेष तो नित्य द्रव्य वृत्ति है-सदा द्रव्य में रहते हैं तथा अन्त्य है-सबके अंत में रहते हैं । नित्य द्रव्य चार प्रकार के हैं-परमाणु, मुक्तात्मा और मुक्तमन । इनमें विशेष विद्यमान रहता है । यह कथन निर्युक्तिक है-युक्तिशून्य है । अपकर्णयित्व-अश्रवणीय है और केवल उन द्वारा की गई व्याख्या है । वैशेषिक दर्शन में समवायनामक एक पदार्थ माना गया है । वहां कहा जाता है कि अयुक्तसिद्ध-परस्पर एक दूसरे के बिना नहीं रहने वाले आधार आधेयभूत जो पदार्थ है, उनमें जो प्रतीति का हेतु है, उनकी जो प्रतीति कराता है वह समवाय है । वह नित्य है, एक है । उसको नित्य मानने से जितने समवायी हैं वे सभी नित्य माने जायेंगे । यदि समवायियों को अनित्य माना जाय तो समवाय भी अनित्य सिद्ध होगा क्योंकि समवायी ही उसका आधार है । समवाय के एकत्व के कारण-समवाय एक है । ऐसा माना जाने से सभी समवायी भी एक माने जायेंगे-यह कठिनाई पैदा होगी । यदि समवायियों को अनेक कहा जाय तो समवाय भी अनेक होंगे ।

वैशेषिक दर्शन में समवाय को संबंध स्वीकार किया गया है । संबंध द्विष्ठ होता है-दो में रहता है। अतः दण्ड और दण्डी-दण्डधारी की तरह भिन्न भिन्न होने से उसके आश्रयभूत पदार्थयुत सिद्ध होते हैं-दोनों मिलकर सिद्ध होते हैं, वे अयुत सिद्ध नहीं होते । वीरणों से-लम्बे तृण आदि से कट-चटाई की उत्पत्ति होने पर वीरण रूप को नाश और कट रूप से उत्पाद होता है । दूध और दही के अन्वित होने की तरह यह है। इस प्रकार वैशेषिक दर्शन में उस द्वारा स्वीकृत पदार्थों की व्यवस्था सम्यक् घटित नहीं होती ।

अब सांख्य दर्शन के तत्त्वों का निरूपण किया जाता है । सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति तथा आत्मा या पुरुष के संयोग से सृष्टि की उत्पत्ति होती है । सत्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण की साम्यावस्था को प्रकृति कहा जाता है । प्रकृति से महत्-बुद्धि की उत्पत्ति होती है । महत् से अहंकार, अहंकार से एकादश इन्द्रिय एवं पांचतन्मात्राएं तथा पांच तन्मात्राओं से पांच महाभूतों की उत्पत्ति होती है । पुरुष-आत्मा का स्वरूप चैतन्य है । वह अकर्ता-कर्तृत्वयुक्त नहीं है । निर्गुण-गुणरहित है तथा भोक्ता है । जैन दर्शन के अनुसार कहते हैं-सत्त्व आदि गुण जो परस्पर विरुद्ध हैं, प्रकृत्यात्मक है, किसी नियामक गुणी के बिना एकत्र नहीं हो सकते। जैसे कृष्ण श्वेत आदि गुण नियामक के बिना एकत्र नहीं होते। महत् आदि विकारों के जन्य होने पर प्रकृति में विषमता उत्पादन हेतु सांख्यदर्शन में कोई हेतु नहीं माना गया है । इसलिये उसमें-प्रकृति में अपने अतिरिक्त अन्य वस्तु की उत्पत्ति नहीं हो सकती-विषमता निष्पन्न नहीं हो सकती । आत्मा का अकर्तृत्व मानने के कारण वह अकिञ्चित कर है-कुछ नहीं कर सकता । यदि प्रकृति में स्वभावतः वैषम्य है, यों माना जाय तो वह निर्हेतुक होगा । ऐसी स्थिति में सत्व-पदार्थ या तो नित्य होंगे अथवा असत्व-अनित्य होंगे । कहा है-यदि किसी अन्य हेतु के बिना ही प्रकृति में विषमता का उत्पन्न होना स्वीकार किया जाय तो सभी पदार्थ सत् होंगे या असत् होंगे क्योंकि हेतु की अपेक्षा से ही पदार्थ सत् होते हैं तथा कभी सत् नहीं होते हैं । महत् तथा अहंकार संवेदन से भिन्न नहीं है क्योंकि मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूँ ऐसा जो ज्ञान है वही बुद्धि अध्यवसाय या अहँकार है । वे-बुद्धि एवं अहंकार चिद्रूप होने के कारण आत्मगुण हैं । वे जड़ प्रकृति के विकार नहीं है-उससे उत्पन्न

नहीं हुए हैं । तन्मात्रों से भूतों की उत्पत्ति मानी जाती है । जैसे गंध तन्मात्रा से पृथ्वी की, रस तन्मात्रा से जल की, रूप तन्मात्रा से तेज या अग्नि की, स्पर्श तन्मात्रा से वायु की तथा शब्द तन्मात्रा से आकाश की उत्पत्ति होती है । सांख्य दर्शन की यह मान्यता अयुक्तियुक्त है क्योंकि यदि बाह्यभूतों के आश्रय से-ऐसा कहते हो तो वह ठीक नहीं है क्योंकि वे तो सदा से विद्यमान है। यह सारा जगत कभी ऐसा न रहा हों-अन्य प्रकार का रहा हो यह बात नहीं है । यदि प्रत्येक शरीर में आश्रितभूतों की उत्पत्ति पंच तन्मात्राओं से हुई हो, ऐसा कहो तो यह भी यथार्थ नहीं है । क्योंकि शरीर में त्वक-चमड़ी तथा अस्थि-हड्डियां हैं । वे कठिन स्वरूप युक्त पृथ्वी के अंश है तथा श्लेष्म-कफ और रक्त द्रव रूप जल है तो अग्नि अन्न का परिपाक करती है वह तेज है । प्राण एवं अपान वायु है । शरीर में जो शुषिर-रिक्त स्थान है वह आकाश है । इस प्रकार का शरीर तन्मात्रों से उत्पन्न होता है-यह मानना भी सही नहीं है । क्योंकि कतिपय शरीर, वीर्य तथा रक्त से उत्पन्न होते हैं । अत: उनमें तन्मात्रों की गंध तक उपलक्षित नहीं होती । जो वस्तु अदृष्ट है-दृष्टिगोचर नहीं होती उसकी कारण रूप में कल्पना करना अप्रासंगिक है । अंडज, उद्भिज, अंकुर आदि भी किसी अन्य से उत्पन्न होते हैं, ऐसा समुलपक्षित होता है । अत: सांख्यदर्शन में विश्वास करने वाले अपनी प्रक्रिया-उत्पत्ति क्रम के अनुसार प्रधान से महत् तथा महत् से अहंकार इत्यादि की जो सृष्टि बतलाते हैं वह युक्ति रहित है । वे अपने सिद्धान्तों में अनुरक्त-आसक्त होने के कारण ऐसा कहते हैं । आत्मा का अकृतित्व स्वीकार करने पर कृत नाश एवं अकृताभ्यागम का दोष आता है । इससे बंध तथा मोक्ष का भी अभाव फलित होता है । आत्मा का निर्गुणत्व स्वीकार करने पर उसमें ज्ञानशून्य होने की आपत्ति आती है-वह ज्ञानरहित सिद्ध होती है । इस प्रकार सांख्यमतवादियों का प्रतिपादित केवल एक बच्चे के प्रलाप के समान है-निरर्थक है । प्रकृति अचेतन-चैतन्य रहित है । वह आत्मा के लिये प्रवृत्त होती है । यह कथन भी युक्ति विवर्जित है ।

अब बौद्ध मत का निरूपण किया जाता है-वहां बारह आयतनों के रूप में पदार्थ स्वीकार किये गये हैं । जैसे नेत्र आदि पांच इन्द्रिय, रूप आदि पांच इन्द्रिय विषय, शब्दायतन एवं धर्मायतन । सुखादि को धर्म कहा जाता है । इन बारह आयतनों का परिच्छेद-निश्चय प्रत्यक्ष एवं अनुमान-इन दो प्रमाणों द्वारा होता है । इस संदर्भ में जैनों का कथन है कि चक्षु आदि इन्द्रियाँ हमारे द्वारा अजीव के ग्रहण से गृहीत की गई है । भावेन्द्रिय जीव के ग्रहण से गृहीत है । रूप आदि विषय भी अजीव के ग्रहण से ले लिये गये हैं । अत: वे भी पृथक् नहीं माने जाने चाहिये । शब्द पौद्गलिक है । अत: शब्दायतन भी अजीव के ग्रहण से उसके अन्तर्गत आ जाते हैं । इसलिये प्रत्येक को पृथक् पृथक् पदार्थ स्वीकार करना युक्तिसंगत नहीं है । सुख एवं दु:ख जिन्हें धर्मायतन कहा जाता है । यदि सातावेदनीय और असातावेदनीय के उदय स्वरूप है तो वे जीव के ही गुण हैं । अत: उनका जीव में ही अन्तर्भाव हो जाता है । यदि वे सुख दु:ख के कारण-स्वरूप है, कर्म है तब पौद्गलिक होने के कारण वे अजीव के अन्तर्गत आ जाते हैं । बौद्धों द्वारा प्रत्यक्ष को निर्विकल्पक कहा जाता है । निर्विकल्पक अनिश्चय रूप होता है । अत: वह प्रवृत्ति और निवृत्ति का अंग या कारण नहीं है । उसका प्रामाण्य-प्रमाण होना सिद्ध नहीं होता । इस तरह प्रत्यक्ष का अप्रामाण्य होने पर अनुमान भी प्रमाण नहीं हो सकता क्योंकि वह प्रत्यक्ष पूर्वक होता है । अन्य आक्षेपों-आरोपों का परिहार अन्यत्र भली भांति विचार पूर्वक किया गया है इसलिये उनका यहां विस्तार से निराकरण नहीं किया जा रहा है । मीमांसक तथा लोकायत-चार्वाक दर्शन में अभिहित-प्रतिपादित तत्त्वों का निराकरण अपनी बुद्धि द्वारा कर लेना चाहिये। वे अत्यन्त लोक विरुद्ध पदार्थों को स्वीकार करते हैं । अत: उनको यहां साक्षात् उपन्यस्त-प्रकट नहीं किया गया है । इस तरह इन सब से परिशिष्ट-बचे हुए या पृथक् तीर्थंकर निरूपित नौ या सात पदार्थ ही सत्य हैं । उनका परिज्ञान ही क्रियावाद में हेतु है । अन्य मतवादियों द्वारा स्वीकृत पदार्थों का परिज्ञान क्रियावाद में हेतु नहीं है ।

❀ ❀ ❀

सद्देसु रूवेसु असज्जमाणो, गंधेसु रसेसु अदुस्समाणे ।
णो जीवितं णो मरणाहिकंखी, आयाणगुत्ते वलया विमुक्के ॥२२॥ त्तिबेमि॥

छाया – शब्देषु रूपेष्वसज्जमानो गंधेषु रसेषु चाद्विषन् ।
नो जीवितं नो मरणावकांक्षी, आदानगुप्तोवलयाद् विमुक्त इति ब्रवीमि ॥

अनुवाद – साधु मनोज्ञ-प्रीतिपद शब्द, रूप, गंध तथा रस में अनासक्त रहे । वह अमनोज्ञ-अप्रीतिकर शब्द रूप गंध एवं रस में द्वेष न करें उन्हें बुरा न मानें । वह जीवन तथा मृत्यु की आकांक्षा न करे । वह आदान गुप्त-संयमयुक्त तथा वलयविमुक्त-माया रहित होकर विचरण करे । मैं ऐसा कहता हूँ ।

टीका – साम्प्रतमध्ययनार्थमुपसंजिहीर्षुः सम्यग्वादपरिज्ञानफलमादर्शयन्नाह-'शब्देषु' वेणुवीणादिषु श्रुतिसुखदेषु 'रूपेषु च' नयनानन्दकारिषु 'आसङ्गमकुर्वन्' गार्ध्यमकुर्वाणः, अनेन रागो गृहीतः, तथा 'गंधेषु' कुथितकलेवरादिषु 'रसेषु च' अन्तप्रान्ताशनादिषु अदुष्यमाणोऽमनोज्ञेषु द्वेषमकुर्वन्, इदमुक्तं भवति-शब्दादिष्विन्द्रियविषयेषु मनोज्ञेतरेषु रागद्वेषाभ्यामनपदिश्यमानो 'जीवितम्' असंयमजीवतं नाभिकाङ्क्षेत्, नापि परीषहोपसर्गैरभिद्रुतो मरणमभिकाङ्क्षेत्, यदिवा जीवितमरणयोरनभिलाषी संयममनुपालयेदिति । तथा मोक्षार्थिनाऽऽदीयते गृह्यत इत्यादानं-संयमस्तेन तस्मिन्वा सति गुप्तो, यदिवा-मिथ्यात्वादिनाऽऽदीयते इत्यादानम्-अष्टप्रकारं कर्म तस्मिन्नादातव्येमनोवाक्कायैर्गुप्तः समितश्च, तथा भाववलयं-माया तया विमुक्तो मायामुक्तः । इतिः परिसमाप्त्यर्थे । ब्रवीमीति पूर्ववत्। नयाः पूर्ववदेव ॥२२॥

॥ समाप्तं समवसरणाख्यं द्वादशमध्ययनमिति ॥

टीकार्थ – अब सूत्रकार इस अध्ययन का उपसंहार करने की इच्छा लिये सम्यकवाद् के परिज्ञान का फल बताने हेतु प्रतिपादित करते हैं । साधु श्रुति सुखद-कर्णप्रिय, वेणु तथा वीणा आदि के शब्दों में नयनानन्दकारी-आंखों के लिये आनन्दप्रद रूपों में मोहासक्त न बनें । उनमें गृद्धि-लोलुपता न रखे। यों कहकर राग को गृहीत किया गया है-राग के परित्याग का निर्देश किया गया है । साधु कथित कलेवर आदि के सड़े गले शरीर आदि के अप्रिय गंध में तथा अंत प्रांत आहारादि के अप्रिय रस में द्वेष न करे । कहने का अभिप्राय यह है कि साधु मनोज्ञ एवं अमनोज्ञ शब्द आदि इन्द्रिय विषयों में राग द्वेष से दूर रहता हुआ असंयममय जीवन की अभिकांक्षा न करे । वह परीषहों एवं उपसर्गों से अभिद्रुत-उद्वेजित होकर मृत्यु की अभिकांक्षा न करे । साधु जीवन एवं मृत्यु की अभिलाषा न करता हुआ संयम का अनुपालन करे । मुमुक्षु पुरुष जिसे ग्रहण करता है, उसे आदान कहा जाता है, वह संयम है । साधु उस द्वारा गुप्त होकर-आत्मरक्षित होकर रहे । अथवा मिथ्यात्व आदि द्वारा जो अपनाया जाता है वह आदान कहा जाता है, वह अष्टविधकर्म है । उसके आदातव्य-ग्राह्यत्व में या ग्रहण करने में वह मन, वचन, शरीर द्वारा गुप्त रहे-मानसिक, वाचिक तथा कायिक गुप्तियों का पालन करे । एवं समितियों से युत रहे । वह भाववलय-माया से विमुक्त रहे ।

यहां इति शब्द समाप्ति के अर्थ में है । ब्रवीमि पहले की ज्यों है । तथा नय भी पहले की ज्यों है।

॥ समवसरण नामक बारहवां अध्ययन समाप्त हुआ ॥

❀ ❀ ❀

卐卐卐

त्रयोदशं श्रीयाताथ्याध्ययनं

आहत्तहीयं तु पवेयइस्सं, नाणप्पकारं पुरिसस्स जातं ।
सओ अ धम्मं असओ असीलं, संतिं असंतिं करिस्सामि पाउं ॥१॥

छाया – याथातथ्यन्तु प्रवेदयिष्यामि, ज्ञानप्रकारं पुरुषस्यजातम् ।
सतश्च धर्म मसतश्चा शीलं शान्तिमशान्तिञ्च करिष्यामि प्रादुः ॥

अनुवाद – श्री सुधर्मा स्वामी प्रतिपादित करते हैं-मैं याथा तथ्य-सत्य तत्त्व प्रवेदित करूंगा-बतलाऊंगा। ज्ञान के प्रकार-भेद, उनका सार कहूँगा । जीवों के सत् असत् गुणों का वर्णन करूंगा। उत्तम साधुओं के शील-पवित्र आचरण तथा असाधुओं का कुशील-कुत्सित आचरण बताऊंगा । शांति-मोक्ष तथा अशांति-संसार का स्वरूप व्याख्यात करूंगा ।

टीका – अस्य चानन्तरसूत्रेण सहायं संबन्धः, तद्यथावलयाविमुक्तेत्यभिहितं, भाव वलयं रागद्वेषौ' ताभ्यां विनिर्मुक्तस्यैव याथातथ्यं भवतीत्यनेन संबंधेनायाततस्यास्य सूत्रस्य व्याख्याप्रतन्यते-यथातथाभावो याथातथ्यं-तत्त्वं परमार्थः, तच्च परमार्थचिन्तायां सम्यग्ज्ञानादिकं, तदेवदर्शयति-'ज्ञानप्रकार' मिति प्रकार शब्द आद्यर्थे, आदिग्रहणाच्च सम्यग्दर्शनचारित्रे गृह्येते, तत्र सम्यग्दर्शनम्-औपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिकं गृह्यते, चारित्रं तु व्रतसमितिकषायाणं धारणरक्षणनिग्रहादिकं गृह्यते, एतत्सम्यग्ज्ञानादिकं 'पुरुषस्य' जन्तोर्यज्जातम्-उत्पन्नं तदहं 'प्रवेदयिष्यामि' कथयिष्यामि, तुशब्दो विशेषणे, वितथा चारिणस्तद्दोषांश्चाविर्भावयिष्यामि, 'नानाप्रकारं' वा विचित्रं पुरुषस्य स्वभावम्-उच्चावचं प्रशस्ताप्रशस्तरूपं प्रवेदयिष्यामि । नानाप्रकारं स्वभावं फलं च पश्चार्धेन दर्शयति-'सतः' सत्पुरुषस्य शोभनस्य सदनुष्ठायिनः सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्रवतो 'धर्म' श्रुतचारित्राख्यं दुर्गतिगमनधरण लक्षणं वा तथा 'शीलम्' उद्युक्तविहारित्वं तथा 'शांतिं' निवृत्तिमशेषकर्मक्षयलक्षणां 'करिस्सामि पाउ' त्ति प्रादुष्करिष्ये प्रकटयिष्यामि यथावद् उद्भावयिष्यामि, [ग्रन्थाग्रं. ७०००] तथा 'असतः' अशोभनस्य परतीर्थिकस्य गृहस्थस्य वा पार्श्वस्थादेर्वा, चशब्दसमुच्चितमधर्म-पापं तथा 'अशीलं' कुत्सितशीलमशांतिं च-अनिर्वाणरूपां संसृतिं प्रादुर्भावियिष्यामीति। अत्र च सतोधर्म शीलं शान्तिं च प्रादुष्करिष्यामि, असतश्चाधर्ममशीलमशान्तिं चेत्येवं पदघटना योजनीया, अनुपात्तस्य (च) च शब्देनाक्षेपो द्रष्टव्य इति ॥१॥

टीकार्थ – इस सूत्र का पहले के सूत्र के साथ इस प्रकार संबंध है । पहले के अध्ययन के आखिरी सूत्र में बतलाया गया है कि साधु वलय-माया से विमुक्त रहे । यहाँ राग और द्वैषभाव वलय है, उनसे विनिर्मुक्त होकर-छूटकर जो रहता है, उसी को याथातथ्य-यथार्थतत्त्व या सत्यतत्त्व प्राप्त होता है । इस संबंध से आये हुए इस सूत्र की व्याख्या की जाती है । जो जैसा है-सत्य सत्त्व है उसको याथातथ्य कहा जाता है । अर्थात् परमार्थ ही याथातथ्य है । उसका चिन्तन करने पर सम्यग्ज्ञान आदि इस कोटि में हैं, सूत्रकार उसी का दिग्दर्शन कराते हुए कहते हैं । ''ज्ञान प्रकारम्'' प्रकार शब्द आदि के अर्थ में है । आदि से यहां सम्यक्दर्शन, सम्यक् चारित्र का ग्रहण होता है । उसके अन्तर्गत सम्यक्दर्शन के औपशमिक, क्षायिक एवं क्षायोपशमिक रूप गृहीत किये जाते हैं । चारित्र में व्रतों का धारण, समितियों का रक्षण तथा कषायों का निग्रह गृहीत किया जाता है। पुरुष को जो यह सम्यक् ज्ञान आदि उत्पन्न होते हैं, मैं उनको प्रवेदित करूंगा-कहूँगा । यहाँ प्रयुक्त 'तु' शब्द

विशेषण के अर्थ में है । जिससे सूचित है-वितथाचारी-असत् या विपरीत आचारवान पुरुषों के दोष भी आविर्भूत करूंगा-व्यक्त करूंगा । पुरुषों का स्वभाव तरह तरह का-विचित्र प्रकार का होता है । वह उच्च-प्रशस्त तथा अवच-अप्रशस्त दोनों ही तरह का होता है । उसे मैं प्रवेदित करूंगा-कहूंगा । पुरुषों के स्वभाव एवं उसके फल भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं । यह इस गाथा के आगे के आधे भाग में बतलाया गया है । जो पुरुष सात्त्विक होते हैं, शोभन-उत्तम या पवित्र आचरण करते हैं तथा सम्यक्दर्शन, सम्यकज्ञान एवं सम्यकदर्शन से युक्त, दुर्गति गमन में अवरोधक श्रुत चारित्र रूप धर्म का समुचित-यथाविधि पालन करते हैं, उसके फलस्वरूप समस्त कर्मों के क्षीण होने से जो शांति प्राप्त होती है इनके संबंध में मैं निरूपित करूंगा । असत् सदाचरण रहित अन्य मतवादी, गृहस्थ एवं पार्श्वस्थ आदि के अधर्म-पाप, कुत्सित आचार तथा संसार में परिभ्रमण कराने वाली अशांति का विवेचन करूंगा । यहां-सत्पुरुष के धर्म, सदाचरण तथा शांति का प्रतिपादन करूंगा एवं असत् पुरुष के अधर्म-अनाचरण तथा अशांति का प्रतिपादन करूंगा। इस तरह पद योजनीय है । इस गाथा में जो अनुपात्त है-नहीं कहा गया है उसको 'च' शब्द से गृहीत करना चाहिये ।

❀ ❀ ❀

अहो य राओ अ समुट्ठिएहिं, तहागएहिं पडिलब्भ धम्मं ।
समाहिमाघातमजोसयंता, सत्थारमेवं फरुसं वयंति ॥२॥

छाया – अहनि च रात्रौ च समुत्थितेभ्य स्तथागतेभ्यः प्रतिलभ्य धर्मम् ।
समाधिमाख्यात मजोषयन्तः शास्तारमेवं परुषं वदन्ति ॥

अनुवाद – अहर्निश समुत्थित-उत्तम धर्माचरण में समुद्यत तीर्थंकरों से धर्म का प्रतिलाभ करके भी उन द्वारा प्रतिपादित समाधि मार्ग का-मोक्षमार्ग का अनुसरण न करते हुए निह्नव शास्ता-तीर्थंकर के प्रति परुष-कठोर या निंदात्मक वचन बोलते हैं ।

टीका – जन्तोर्गुणदोषरूपं नानाप्रकारं स्वभावं प्रवेदयिष्यामीत्युक्तं तद्दर्शयितुकाम आह-'अहोरात्रम्' अहर्निशं सम्यगुत्थिताः समुत्थिता सदनुष्ठानवन्तस्तेभ्यः श्रुतधरेभ्यः, तथा 'तथागतेभ्यो' वा तीर्थकृद्भ्यो 'धर्मं' श्रुतचारित्राख्यं प्रतिलभ्यासंसारनिःसरणोपायं धर्ममवाप्यापि कर्मोदयान्मन्दभाग्यतया जमालिप्रभृतय इहात्मोत्कर्षात्तीर्थकृदाद्याख्यातं 'समाधिं' सम्यग्दर्शनादिकं मोक्षपद्धतिम् 'अजोषयन्तः' असेवन्तः । सम्यग्गुर्वाणा निह्नवा बोटिकाश्च स्वरूचिविरचितव्याख्याप्रकारेण निर्दोषं सर्वज्ञप्रणीतं मार्गंविध्वंसयन्तिकुमार्गं प्ररूपयन्ति, ब्रुवते च असौ सर्वज्ञ एव न भवति यः क्रियमाणं कृतमित्यध्यक्षविरुद्धं प्ररूपयति' तथा यः पात्रादि परिग्रहान्मोक्षमार्गमाविर्भावयति, एवं सर्वज्ञोक्त मश्रद्दधानाः श्रद्धानं कुर्वन्तोऽप्यपरे धृतिसंहननदुर्बलतया तथाऽऽरोपितं संयमभारं वोढुमसमर्थाः क्वचिद्विषीदन्तोऽपरेणाचार्यादिना वत्सलतया चोदिताः सन्तस्तं 'शास्तारम्' अनुशासितारं चोदकं पुरुषं वदन्ति 'कर्कशं' निष्ठुरं प्रतीपं चोदयन्तीति ॥२॥

टीकार्थ – सूत्रकार ने पूर्व में यह सूचित किया है कि-मैं प्राणियों के स्वभाव का आख्यान करूंगा, जो गुण दोष आदि की दृष्टि से नाना प्रकार का है । वह इस गाथा द्वारा प्रकट करते हैं-अहर्निश सम्यक् समुत्थित-सदनुष्ठान में संप्रवृत श्रुतजनों से तथा तीर्थंकरों से श्रुतचारित्रमूलक धर्म का जो संसार को पार करने का उपाय है, प्रतिलाभ करके भी अपने कर्मोदय तथा दुर्भाग्य के कारण जमाली आदि ने यहां-इस जगत में तीर्थंकर द्वारा

प्ररूपित सम्यक्दर्शन मूलक मोक्षमार्ग का अपने अहङ्कार या दुराग्रह के कारण स्वीकार नहीं करते हुए निह्नव तथा दिगम्बर अपनी रूचि नहीं करते हुए निह्नव तथा दिगम्बर अपनी रूचि द्वारा रचित सिद्धान्तों के आधार पर निर्दोष सर्वज्ञ प्रतिपादित मोक्ष मार्ग का विध्वंस करते हैं, कुमार्ग की प्ररूपणा करते हैं । उनका कथन है कि जो क्रियमान-किये जाते हुए कार्य को कृत्-किया हुआ कहता है वह प्रत्यक्ष विरुद्ध प्ररूपण करता है, सर्वज्ञ नहीं होता । जो पात्र आदि परिग्रह रखते हुए भी मोक्ष प्राप्त होने का निरूपण करता वह सर्वज्ञ नहीं हो सकता । इस प्रकार सर्वज्ञोक्त मोक्ष मार्ग में-मोक्ष निरूपक सिद्धान्तों में श्रद्धा नहीं करते । कई ऐसे हैं जो सर्वज्ञ द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्तों में विश्वास रखते हुए भी यथावत स्वीकार किये संयमरूपी भार को धृति-धैर्य संहनन-दैहिक स्थिति आदि की दुर्बलता के कारण वहन करने में-संयम का निर्वाह करने में सक्षम नहीं होते। कई ऐसे हैं जो संयम पालन में विषण्ण-शिथिल या अस्थिर होने लगते हैं, तब आचार्य आदि द्वारा वात्सल्यपूर्वक संयम पालन में प्रेरित किये जाने पर भी उपदेश या अनुशासन करने वालों में प्रति परुष, कर्कश या निष्ठुर, प्रतीप-विपरीत वचन बोलते हैं ।

❀ ❀ ❀

विसोहियं ते अणुकाहयंते, जे आतभावेण वियागरेज्जा ।
अट्ठाणिए होइ बहूगुणाणं, जे णाणसंकाइ मुसं वदेज्जा ॥३॥

छाया – विशोधितन्तेऽनुकथयन्ति, ये आत्मभावेन व्यागृणीयुः ।
अस्थानिको भवति बहुगुणानां ये ज्ञानशङ्क्या मृषा वदेयुः ॥

अनुवाद – वीतराग प्ररूपित मार्ग विशोधित-समग्र दोषरहित है तो भी वे निह्नव अहंकार के कारण उसके दोषों का अनुकथन करते हैं-दोषारोपण करते हैं । वे अपनी रूचि के अनुरूप परम्परा प्राप्त करते हैं। वे अपनी रूचि के अनुरूप परम्परा प्राप्त सद्दर्शन से भिन्न विवेचन अपलाप करते हैं। वे उत्तम गुणों के अस्थानिक-अपात्र हैं ।

टीका – किञ्च-विविधम्-अनेककारं शोधितः-कुमार्गप्ररूपणापनयनद्वारेण निर्दोषितां नीतो विशोधितः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राख्यो मोक्षमार्गस्तमेवंभूतं मोक्षमार्गं 'ते' स्वाग्रहग्रहग्रस्ता गोष्ठामाहिलवदनु-पश्चादाचार्यप्ररूपणातः कथयंति-अनुकथयन्ति । ये चैवंभूता आत्मोत्कर्षात्स्वरूचिविरचित व्याख्याप्रकार व्यामोहिता 'आत्मभावेन' स्वाभिप्रायेणाचार्यपारम्पर्येणायातमप्यर्थं व्युदस्यान्यथा 'व्यागृणीयुः' व्याख्यानयेषुः, ते हि गंभीराभिप्रायं सूत्रार्थं कर्मोदयात्पूर्वापरेण यथावत्परिणामयितुमसमर्थाः पंडितमानिन उत्सूत्रं प्रतिपादयन्ति । आत्मभावव्याकरणं च महतेऽनर्थायेति दर्शयति-'स' एवंभूतः स्वकीयाभिनिवेशाद् 'अस्थानिकः' अनाधारो बहूनां ज्ञानादिगुणानामभाजनं भवतीति, ते चामी गुणाः -

"सुस्सूसइ पडिपुच्छइ सुणेइ गेण्हइ य ईहए आवि । तत्तो अपोहए वा धारेइ करेइ वा सम्मं ॥१॥

छाया – शुश्रुषते प्रतिपृच्छति शृणोति गृह्णाति ईहतेचापि । ततोऽपोहते वा धारयति करोति वा सम्यक् ॥१॥

यदिवा गुरुशुश्रुषादिना सम्यग्ज्ञानावगमस्ततः सम्यगनुष्ठानमतः सकलकर्मक्षय लक्षणो मोक्ष इत्येवंभूतानां गुणानामनायतनमसौ भवति, क्वचित्पाठः 'अट्ठाणिए होंति बहूणिवेस'-त्ति अस्यायमर्थः अस्थानम्-अभाजनम-पात्रमसौ भवति सम्यग्ज्ञानादीनां गुणानां, किंभूतो ? बहुः अनर्थसंपादकत्वेनासदभिनिवेशो यस्य स

बहुनिवेशः, यदिवागुणानामस्थानिकः-अनाधारो बहुनां दोषाणां च निवेशः-स्थानम् आश्रय इति, किंभूताः पुनरेवंभवन्तीति दर्शयति-ये केचन दुर्गृहीतज्ञान लवावलेपिनो ज्ञानेश्रुतज्ञाने शंका ज्ञान शंका तथा मृषावादं वदेयुः, एतदुक्तं भवति सर्वज्ञप्रणीते आगमे शंका कुर्वन्ति, अयं तत्प्रणीत एव न भवेद् अन्यथा वाऽस्यार्थः स्यात्, यदिवा ज्ञानशङ्कया, पांडित्याभिमानेन मृषावादं वदेयुर्यथाऽहं ब्रवीमि तथैव युज्यते नान्यथेति ॥३॥

टीकार्थ – जो तरह तरह से परिशोधित है, मिथ्यामार्ग की प्ररूपणा के अपनयन से जो निर्दोष बनाया गया है, वह विशोधित मार्ग कहा जाता है, जो सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, तथा सम्याचारित्र मूलक मोक्ष का पथ है किन्तु अपने आग्रह रूपी ग्रह द्वारा ग्रस्त-दुराग्रहयुक्त गोष्ठामाहिल की तरह आचार्य परम्परागत धर्मोपदेश से प्रतिकूल कथन-अनुकथन करते हैं जो ऐसे लोग आत्मोकर्ष-अपने अहंकार के कारण अपनी रूचि के अनुरूप रचित व्याख्या में व्यामूढ़ होते हुए आचार्यों की परम्परा से आयात-समागत अर्थ का परित्याग कर उसके विरुद्ध अर्थ की विवेचना करते हैं वे सूत्र के गंभीर अभिप्राय-आशय को कर्मोदय के कारण पूर्वा पर संदर्भ के अनुसार आत्मसात् करने में असमर्थ हैं । वे अपने आपको पंडित-ज्ञानी मानते हैं तथा उत्सूत्र-सूत्र विरुद्ध प्रतिपादन करते हैं । आत्मभाव-अपनी अभिरूचि के अनुसार सूत्र का व्याकरण-व्याख्यान करना अत्यन्त अनर्थ का हेतु है । सूत्रकार यह व्यक्त करते हैं जो पुरुष अपने अभिनिवेश-दुराग्रह के कारण ऐसा करता है, वह ज्ञान आदि गुणों का स्थान-आधार या पात्र नहीं होता । वे गुण ये हैं-व्यक्ति पहले गुरु से ज्ञान सुनना चाहता है, प्रतिपृच्छा करता है, ग्रहण करता है, ईहा-तर्क करता है, अपोह-उहापोह करता है, समाधान होने पर धारण करता है, भली भांति उसे क्रियान्वित करता है। अथवा गुरु की शुश्रुषा आदि द्वारा सम्यक्ज्ञान का अवगम-बोध प्राप्त होता है तब सम्यक् आचरण फलित होता है और उससे समस्त कर्म क्षीण होने के परिणामस्वरूप मोक्ष प्राप्त करता है । वह निह्नव इन गुणों का आयतन-भाजन नहीं होता । कहीं कहीं 'अट्ठाणिए होंति बहूणिवेस' ऐसा पाठ प्राप्त होता है। उसका आशय यह है कि वह पुरुष सम्यग्ज्ञान आदि गुणों का अस्थान-अभाजन या अपात्र होता है । प्रश्न करते हुए कहा जाता है कि वह कैसा होता है ? कौन है ? उत्तर के रूप में समाधान देते हुए प्रतिपादित किया जाता है कि ज्यों अत्यधिक अनर्थों का सम्पादक-निष्पादक होते हुए दुराग्रही है अथवा वह पुरुष गुणों का पात्र नहीं होता किंतु बहुत से दोषों का निवेश-स्थान या आश्रय होता है। ऐसे पुरुष कौन से होते हैं, यह दिग्दर्शन कराते हुए कहते हैं-जो पुरुष ज्ञानलव-थोड़ा सा ज्ञान या विद्या प्राप्त कर अवलेप-अभिमान करते हुए श्रुतज्ञान में-सर्वज्ञनिरूपित आगम में शंका करते हुए मिथ्याभाषण करते हैं । कहने का अभिप्राय यह है कि ज्यों सर्वज्ञ प्रणति आगम में शंका करते हैं कि यह सर्वज्ञ प्रणीत हो ही नहीं सकता । या यों कहते हैं कि इसका अर्थ भिन्न है अथवा उसमें शंका करते हुए अपने पांडित्य-विद्वता के घमंड से असत्य भाषण करते हैं और कहते हैं कि जैसा मैं बोलता हूँ वही युक्त-उपयुक्त या सही है । उससे अन्यथा-अन्य प्रकार से सही नहीं है ।

❀ ❀ ❀

जे यावि पुट्ठा पलिउंचयंति, आयाणमट्ठं खलु वंचयित्ता (यन्ति) ।
असाहुणो ते इह साहुमाणी, मायण्णि एसंति अणंतघातं ॥४॥

छाया – येचाऽपि पृष्टाः परिकुञ्चयन्ति, आदानमर्थं खलु वञ्चयन्ति ।
असाधवस्ते इह साधुमानिनो मायान्विता एष्यन्त्यनन्तघातम् ॥

अनुवाद – जो पूछे जाने पर अपने गुरु का नाम छिपाते हैं, वे अपने को मोक्ष से वंचित करते हैं। वे वास्तव में असाधु हैं। किन्तु अपने को साधु माने हुए हैं। वे मायान्वित-छलना या प्रवञ्चना से युक्त पुरुष अनन्त बार संसार के दु:ख पाते हैं।

टीका – किञ्चान्यत्-ये केचिनाविदितपरमार्थ:स्वल्पतया समुत्सेकिनोऽपरेण पृष्टा:- कस्मादाचार्यात्सकाशादधीतं श्रुतं भवद्भिरिति, ते तु स्वकीयमाचार्यं ज्ञानावलेपेन निह्नुवाना अपरं प्रसिद्धं प्रतिपादयन्ति, यदिवा मयैवैतत्स्वत उत्प्रेक्षितमित्येवं ज्ञानावलेपात् 'पलिउंचयंति' त्ति निह्नुवते, यदिवा-सदपि प्रमादस्खलितमाचार्यादिनाऽऽलोचनादिके अवसरे पृष्टा: सन्तो मातृस्थानेनावर्णवादभयान्निह्नुवते। त एवं परिकुञ्चकानिह्नवं कुर्वाणा आदीयत इत्यादानं-ज्ञानादिकं मोक्षोवा तमर्थं वञ्चयन्ति-भ्रंशयन्त्यात्मन:, खलुरवधारणेवञ्चयन्त्येव। एवमनुष्ठायिनश्चासाधवस्ते परमार्थ तस्तत्त्वचिन्तायाम् 'इह' अस्मिन् जगति साधुविचारे वा 'साधुमानिन' आत्मोत्कर्षात् सदनुष्ठानमानिनो मायान्वितास्ते 'एष्यन्ति' यास्यन्ति 'अनन्तशो' बहुशो 'घातं' विनाशं संसारं वा अनवदग्रं संसारकान्तारमनुपरिवर्तयिस्यन्तीति, दोषद्वयदुष्टत्वात्तेषाम्, एकं तावत्स्वयमसाधवो द्वितीयं साधुमानिन:, उक्तंच-

"पावं काऊण सयं अप्पाणं सुद्धमेव बाहरइ। दुगुणं करेइ पावं बीयं बालस्स मंदत्तं ॥१॥"

छाया - पापं कृत्वा स्वयं आत्मानं शुद्धमेव व्याहरति। द्विगुणं करोति पापं द्वितीयं बालस्य मंदत्वम् ॥१॥

तदेवमात्मोत्कर्षदोषाद्बोधिलाभमप्युपहत्यानन्तसंसारभाजो भवन्त्यसुमन्त इति स्थितम् ॥४॥ मानविपाकमुपदर्श्याधुना क्रोधादिकषायदोषमुद्भावयितुमाह -

टीकार्थ – जो पुरुष परमार्थ-यथार्थ तत्त्व को-सत्य को नहीं जानते वे थोड़ी सी विद्या पाकर अत्यन्त समुत्सेक-अभिमान से भर जाते हैं। किसी द्वारा यह पूछे जाने पर कि 'आपने किन आचार्य से शास्त्राध्ययन किया है, तो वे ज्ञानावलेप-अपनी विद्या के गर्व के कारण अपने आचार्य का नाम निहनुत करते हैं-छिपाते हैं तथा किन्हीं दूसरे प्रसिद्ध आचार्य का नाम बता देते हैं अथवा मैंने तो खुद ही इन शास्त्रों को उत्प्रेक्षित किया है-इनका अध्ययन-अनुशीलन किया है।" यह कहकर अपनी विद्या के घमंड से गुरु का नाम छिपा लेते हैं अथवा प्रमादवश स्खलन हो जाय-भूल हो जाय तो वे आलोचना आदि के अवसर पर आचार्य द्वारा पूछे जाने पर इस भय से कि 'इससे-बताने से मेरी निन्दा होगी' वास्तविकता को छिपाते हैं। इस प्रकार वे अपने आचार्य का नाम छिपाने वाले पुरुष अपने आपको ज्ञान आदि से, मोक्ष से वंचित करते हैं। यहां प्रयुक्त 'खलु' शब्द निश्चय के अर्थ में है, तदनुसार वे अवश्य ही अपने को वंचित करते हैं-भ्रष्ट करते हैं, यह अभिप्राय है। इस प्रकार आचरण करने वाले वे तत्वत: असाधु है। वे इस जगत में साधुत्व की चर्चा के प्रसंग पर अभिमान के कारण अपने आपको साधु कहने का दम्भ करते हैं। परन्तु वे मायावी है-छलप्रपंच में लग्न है, साधु नहीं है। वे अनन्तकाल पर्यन्त विनाश को प्राप्त करेंगे। संसार रूपी गहन वन में भटकेंगे। वे दो प्रकार से दोषलिप्त है। एक तो वे स्वयं असाधु हैं तथा दूसरे साधु होने का दम्भ करते हैं। इसलिये कहा है कि जो स्वयं पाप करके भी अपने आपको शुद्ध-निष्पाप बतलाता है, वह दुगुना पाप करता है। यह बाल-अज्ञानी प्राणी की दूसरी मन्दता-मूर्खता है। इस प्रकार निह्नव अपने अहंकार के कारण बोधिलाभ को भी उपहत-विनष्ट कर देते हैं तथा वे अनन्त संसार भागी होते हैं-अनन्त बार संसार में आवागमन करते हैं। यह वस्तु स्थिति है।

अभिमान करने पर विपाक-फल उपदर्शित कर अब सूत्रकार क्रोध आदि कषायों के दोषों की उद्भावना करने हेतु कहते हैं -

❀ ❀ ❀

जे कोहणे होइ जगट्ठभासी, विओसियं जे उ उदीरएज्जा ।
अंधे वसे दंडपहं गहाय, अवि ओसिए धासतिपावकम्मी ॥५॥

छाया – यः क्रोधनो भवति, जगदर्थभाषी व्यवसितंयस्तूदीरयेत् ।
अन्ध इवासौ दण्डपथं गृहीत्वाऽव्यवसितो धृष्यतेपापकर्मा ॥

अनुवाद – जो पुरुष क्रोधन-क्रोधपूर्ण होता है-क्रोध करता है, दूसरों के दोषों को बखानता है, शांत हुए संघर्ष को फिर जागरित करता है-जगाता है, वह पाप कर्मकारी है । सदा संघर्ष-कलह आदि में ग्रस्त रहता है । दण्डपथ-सकड़े या छोटे मार्ग में जाते हुए अंधे की तरह धर्षित होता है-कष्ट पाता है ।

टीका – यो ह्यविदित कषाय विपाकः प्रकृत्यैव क्रोधनो भवति तथा 'जगदर्थभाषी' यश्च भवति, जगत्यर्था जगदर्था ये यथा व्यवस्थिताः पदार्थास्तानाभाषितुं शीलमस्य जगदर्थभासी तद्यथा-ब्राह्मण डोडमिति ब्रूयात्तथा वणिजं किराटमिति शुद्रमाभीरमिति श्वपाकंचाण्डालमित्यादि तथा काणं काणमिति तथा खञ्जं कुब्जं वउ भमित्यादि तथा कुष्ठिनं क्षयिणमित्यादि यो यस्य दोषस्तं तेन खरपरुषं ब्रूयात् यः स जगदर्थभाषी, यदिवा जयार्थभाषी यथैवाऽऽत्मनो जयो भवति तथैवाविद्यमानमप्यर्थं भाषते तच्छीलश्च-येन केनचित्प्रकारेणासदर्थभाषणेनाप्यात्मनो जयमिच्छतीत्यर्थः । 'विओसियं' त्ति विविधमवसितं-पर्यवसितमुपशांतं द्वन्द्व-कलहं यः पुनरप्युदारयेत्, एतदुक्तं भवतिकलहकारिभिमिथ्यादुष्कृतादिना परस्परं क्षामितेऽपि तत्तद् ब्रूयाद्येन पुनरपि तेषां क्रोधोदयो भवति । साम्प्रतमेतद्विपाकं दर्शयति-यथा ह्यन्धः-चक्षुर्विकलो 'दण्डपथं' गोदण्डमार्गं (लघुमार्गं) प्रमुखोज्ज्वलं 'गृहीत्वा' आश्रित्य व्रजन् सम्यगकोविदतया 'धृष्यते' कण्टकश्वापदादिभिः पीड्यते, एवमसावपि केवलं लिङ्गधार्यनुपशान्तक्रोधः कर्कशभाष्यधिकरणोद्दीपकः, तथा 'अविओसिए' त्ति अनुपशान्तद्वन्द्वः पापम्-अनार्यं कर्म-अनुष्ठानं यस्यासौ पापकर्माधृष्यते चतुर्गतिके संसारे यातनास्थानगतः पौनःपुन्येन पीड्यत इति ॥५॥

टीकार्थ – जो पुरुष कषायों के विपाक-परिणाम का वेत्ता नहीं है, जो प्रकृति से ही क्रोधी है, जो जगत में जैसा है उसे वैसे ही खुले शब्दों-अप्रिय शब्दों में कहता है । जैसे ब्राह्मण को डोड, बनिये को किराट, शुद्र को आभीर, श्वपाक को चाण्डाल, काने को काना, खञ्ज-लंगड़े को लंगड़ा, कुब्ज को कुब्ज, बधिर को बधिर, कोढी को कोढी, क्षयी को क्षयी-इस प्रकार जिसका दोष-हीनत्व है उसे खर परुष-तीखे कठोर शब्दों में कहता है । वह यहाँ जगदर्थभाषी कहा गया है अथवा जैसा कहने से अपनी विजय होती है, वैसा न होते हुए भी-मिथ्याभाषी जो कहता है, वैसा जयार्थभाषी भी इसका अभिप्राय है । इसका तात्पर्य यह है कि वह जिस किसी प्रकार से-असद् भाषण द्वारा भी अपनी जय चाहता है जो सर्वथा उपशांत-द्वन्द्व या कलह को पुनः उदीर्ण करता है-उत्पन्न करता है जैसे आपस में झगड़ने वाले 'मिच्छामिदुक्कडं' कहकर परस्पर क्षामित हो जाते हैं-एक दूसरे को क्षमा प्रदान कर शांत हो जाते हैं तो भी जो ऐसी बातें कहता हैं जिनसे उनके क्रोध आदि पुनः भड़क जाये । उस पुरुष के कर्म विपाक का-फल का दिग्दर्शन कराने हेतु सूत्रकार प्रतिपादन करते हैं-जैसे एक चक्षुर्विकल-नैत्रहीन पुरुष छोटी पगडंडी से जाता हुआ मार्ग को भली भांति न जानने के कारण झाड़ झंखाड़ तथा वन के जन्तुओं आदि से उत्पीडित-क्लेशान्वित होता है, उसी तरह जो केवल साधु के लिंग-वेश को धारण करता है, जिसने क्रोध को उपशांत नहीं किया है, जो कर्कश भाषी है तथा कलह आदि का उद्दीपक है, वह पाप कर्मा-पापाचारी पुरुष चतुर्गतिमय संसार में यातनास्थानों को-नरकादि दुःखों को प्राप्त होता है, पुनः पुनः पीड़ित होता है ।

❀ ❀ ❀

जे विग्गहीए अन्नायभासी, न से समे होइ अझंझपत्ते ।
उ (ओ) वायकारी य हरीमणे, य एगंतदिट्ठी य अमाइरूवे ॥६॥

छाया – यो विग्रहिकोऽन्यायभाषी न सः समी भवत्यझंझाप्राप्तः ।
उपपातकारी च ह्रीमनाश्च, एकान्तदृष्टिश्चामायिरूपः ॥

अनुवाद – जो विग्रह-झगड़ा करता है तथा अन्यायपूर्ण भाषण करता है, वह समत्त्व को प्राप्त नहीं होता-उसमें समताभाव नहीं पनपता । वह क्लेश रहित नहीं होता । जो गुरु की आज्ञा का पालन करता है, पाप करने में लज्जित होता है तथा तत्त्वों में निष्ठा रखता है वही अमायी-माया रहित है।

टीका – किञ्चान्यत्-यः कश्चिदविदितपरमार्थो विग्रहो-युद्धं स विद्यते यस्यासौ विग्रहिको यद्यपि प्रत्युपेक्षणादिका: क्रिया विधत्ते तथापि युद्धप्रिय: कश्चिद्भवति तथाऽन्याय्यं भाषितुं शीलमस्य सोऽन्याय्यभाषी यत्किञ्चनभाष्यस्थानभाषी गुर्वाद्यधिक्षेपकरो वा यश्चैवंभूतो नासौ 'समो' रक्तद्विष्टतया मध्यस्थो भवति, तथा नाप्यझञ्झां प्राप्त:-अकलहप्राप्तो वा न भवत्यमायाप्राप्तो वा, यदिवा अझञ्झाप्राप्तै:-अकलहप्राप्तै: सम्यग्दृष्टिभिरसौ समो न भवति यत: अतो नैवंविधेन भाव्यम्, अपि त्वक्रोधनेनाकर्कशभाषिणा चोपशान्तयुद्धानुदीरकेण न्याय्यभाषिणाऽझञ्झाप्राप्तेन मध्यस्थेन च भाव्यमिति । एवमनन्तरोद्दिष्टदोषवर्जी सन्नुपपातकारीआचार्यनिर्देशकारी-यथोपदेशं क्रियासु प्रवृत्त: यदिवा 'उपायकारि' त्ति सूत्रोपदेशंप्रवर्तक:, तथाह्री: लज्जा संयमो मूलोत्तरगुणभेदभिन्नस्तत्र मनो यस्यासौ-ह्रीमना:, यदिवा-अनाचारं कुर्वन्नाचार्यादिभ्यो लज्जते स एवमुच्यते तथैकान्तेन तत्त्वेषुजीवादिषु पदार्थेषुदृष्टिर्यस्यासावेकान्तदृष्टि:, पाठान्तरं वा 'एगंतसड्ढि' त्ति एकान्तेन श्रद्धावान मौनीन्द्रोक्तमार्गे एकान्तेन श्रद्धालुरित्यर्थ: चकार: पूर्वोक्तदोषविपर्यस्तगुणसमुच्चयार्थ:, तद्यथा-ज्ञानापलिकुञ्चकोऽक्रोधीत्यादि तावदझञ्झाप्राप्त इति, स्वत एवाह-' अमाइरूवे ' त्ति अमायिनो रूपं यस्यासावमायिरूपोऽशेषच्छद्मरहित इत्यर्थ:, न गुर्वादीन् छद्मनोपचरति नाप्यन्येन केन चित्साधं छद्मव्यवहारं विधत्त इति ॥६॥

टीकार्थ – जो परमार्थ को नहीं जानता, विग्रह-झगड़ा करता है, यद्यपि प्रतिक्रमण आदि क्रियाएं सम्पादित करता है, किन्तु युद्धप्रिय-झगडालू होता है, अन्याय पूर्ण भाषण करता है, चाहे जो बोल उठता है, अस्थानभाषी होता है-प्रसंग के बिना ही बोलता है, गुरु आदि पर अधिक्षेप करता है, वह रक्तता-राग द्विष्टता-द्वेष से युक्त होने के कारण मध्यस्थ-तटस्थ नहीं होता । कलहशून्य तथा मायावर्जित नहीं होता । कलहशून्य एवं सम्यक्दृष्टि प्राप्त पुरुषों के सदृश नहीं होता । उसे ऐसा नहीं होना चाहिये। उसे अक्रोधन-क्रोधरहित, अकर्कशभाषी, उपशान्त युद्ध-कलह का अनुदीरक, न्यायभाषी, कलह वर्जित एवं मध्यस्थ रहना चाहिये । इस प्रकार पूर्व सूचित दोषों का वर्जन कर जो आचार्य के निर्देश का पालन करता है, उनके उपदेश को क्रियान्वित करता है वह सूत्र में दी गई शिक्षा के अनुसार प्रवृत्ति करता है । मूलगुण तथा उत्तरगुण युक्त संयम के परिपालन में उसका मन संलग्न रहता है । अथवा वह अनाचार-दोष युक्त आचरण करता हुआ गुरु आदि के समक्ष लज्जा अनुभव करता है । वह जीव आदि पदार्थों में एकान्त दृष्टि रखता है-उनमें दृढ़ आस्था रखता है । यहाँ 'एगंतसड्ढि' यह पाठान्तर प्राप्त होता है। तदनुसार मौनीन्द्र-तीर्थंकर द्वारा प्रतिपादित मार्ग में एकांतरूप से श्रद्धावान् होता है । यहां प्रयुक्त चकार पहले कहे गये दोषों के विरुद्ध गुणसमुच्चय का ज्ञापक है । जैसे जो अपने आचार्य का नाम नहीं छिपाता-क्रोधाविष्ट नहीं होता तथा युद्धप्रिय नहीं होता वही पुरुष माया रहित-छलप्रपंच वर्जित होता है । वह छद्म-छल कपट के साथ गुरु की सेवा नहीं करता तथा अन्य किसी के साथ छद्म पूर्ण व्यवहार नहीं करता ।

❀ ❀ ❀

से पेसले सुहुमे पुरिसजाए, जच्चन्निए चेव सुउज्जुयारे ।
बहुंपि अणुसासिए जे तहच्चा, समे हु से होइ अझंझपत्ते ॥७॥

छाया – स पेशलः सूक्ष्मः पुरुषजातः जात्यन्वितश्चैव सुऋज्वाचारः ।
बह्वप्यनुशास्यमानो यस्तथार्चः समः स भवत्यझंझाप्राप्तः ॥

अनुवाद – जो साधु अनुशासित होने पर भी-त्रुटि होने पर आचार्य आदि द्वारा शिक्षा दिये जाने पर अपने चित्त को अविकृत रखता है वही पेसल-विनयादिगुणों से युक्त, सूक्ष्म अर्थ का दृष्टा और आत्म पराक्रमशील होता है, वही कुलीन होता है । संयम का पालन करता है तथा समत्व भाव और ऋजु आचार-सरल आचार से अन्वित है ।

टीका – पुनरपि सद्गुणोत्कीर्तनायाह-यो हि कटुसंसारोद्विग्नः क्वचत्प्रमादस्खलिते सत्याचार्यादिना बह्वपि 'अनुशास्यमानः' चौद्यमानस्तथैव-सन्मार्गानुसारिण्यर्चालेश्या चित्तवृत्तिर्यस्य स भवति तथार्चः, यश्च शिक्षां ग्राह्यमाणोऽपि तथार्चो भवति स 'पेशलो' मिष्टवाक्यो विनयादिगुणसमन्वितः 'सूक्ष्मः' सूक्ष्मदर्शित्वात्सूक्ष्मभाषि (वि) त्वाद्वा सूक्ष्मः 'स एव पुरुषजातः' स एव परमार्थतः पुरुषार्थकारी नापरो योऽनायुधतपस्विजनपराजितेनापि क्रोधेन जीयते, तथाऽसावेव 'जात्यन्वितः' सुकुलोत्पन्नः, सच्छीलान्वितो हि कुलीन इत्युच्यते, न सुकुलोत्पत्तिमात्रेण, तथा स एव सुष्ठु-अतिशयेन ऋजुः- संयमस्तत्करणशीलः-ऋजुकरः, यदिवा 'उज्जुचारे' त्ति पथोपदेशं यः प्रवर्तते न तु पुनर्वक्रतयाऽचार्यादिवचनं विलोमयति-प्रतिकूलयति, यश्च तथार्चः पेशलः सूक्ष्मभाषी जात्यादिगुणान्वितः क्वचिदवक्रः 'समो' मध्यस्थो निन्दायां पूजायां च न रुष्यति नापि तुष्यति तथा अझंझा-अक्रोधोऽमाया वा तां प्राप्तोऽझंझाप्राप्तः, यदिवाऽझंझाप्राप्तैः-वीतरागैः 'समः' तुल्यो भवतीति ॥७॥

टीकार्थ – सूत्रकार सद्गुणों का उत्कीर्तन करने हेतु कहते हैं-जो पुरुष कटु-कठोर दुःखमय संसार से उद्विग्न हैं, प्रमादवश कहीं स्खलित हो जाता है, वैसा होने पर आचार्य आदि द्वारा भलीभांति जब वह अनुशासित किया जाता है, पहले की ज्यों अपने चित्त वृत्ति को सन्मार्ग में लगा देता है अर्थात् आचार्य द्वारा शिक्षा दिये जाने पर अपने चित्त को शुद्ध बना लेता है वह पेसल-मधुरभाषी तथा विनयादि गुणों से युक्त होता है । सूक्ष्म-गंभीर अर्थ का दृष्टा होता है । अथवा उसका वक्ता होता है । अथवा स्वयं सूक्ष्म-गहरा होता है वह वास्तव में पुरुषार्थशील है-आत्मा पराक्रमोद्यत होता है । जो पुरुष आयुध रहित, तपस्वीजनों से पराजित क्रोध के वशीभूत हो जाता है वह पुरुषार्थशील नहीं होता । जो सत् शील से-पवित्र आचरण से युक्त होता है वही उच्च कुल उत्पन्न या कुलीन कहा जाता है । केवल उत्तम कुल में उत्पन्न होने से कोई कुलीन नहीं होता । वही-पवित्र आचरण युक्त ही संयम का परिपालक होता है । अथवा ऋजु आचार में, संयम में यथोपदेश गुरु के उपदेश के अनुसार प्रवर्तनशील होता है। जो वक्रता से गुरु के वचन के विरुद्ध नहीं चलता एवं अपने चित्त को निर्मल रखता है-सूक्ष्मार्थ भाषी होता है, जाति आदि गुणों से युक्त होता है, अथवा अवक्र-समत्व युक्त, मध्यस्थ होता है, निन्दा होने पर रुष्ट नहीं होता तथा पूजा सत्कार होने पर तुष्ट नहीं होता । क्रोध और माया से अव्याप्त रहता है वह क्रोध तथा मायाविहीन वीतराग महापुरुषों के तुल्य होता है ।

❀ ❀ ❀

जे आवि अप्पं व सुमंति यत्ता, संखाय वायं अपरिक्ख कुज्जा ।
तवेण वाहं सहिउत्ति मत्ता, अण्णंजणं पस्सति बिंबभूयं ॥८॥

एगंतकूडेण उ से पलेइ, ण विज्जतीमोणपयंसिगोत्ते ।
जे माणणट्ठेण विउक्कसेज्जा, वसुमन्नतरेण अबुज्झमाणे ॥९॥

छाया – यश्चाऽप्यात्मानं वसुमन्तं मत्त्वा, संख्यावन्तं वाग्यपरीक्ष्यकुर्य्यात् ।
तपसावाहं सहित इति मत्त्वाऽन्यं जनं पश्यति बिम्बभूतम् ॥८॥
एकान्तकूटेन तु स पर्य्येति, न विद्यते मौनपदे गोत्रे ।
यो मननार्थेन व्युत्कर्षयेत् वसुमदन्यतरेणाबुध्यमानः ॥९॥

अनुवाद – जो अपने आप को संयमी और ज्ञानी मान कर बिना परीक्षा किये-अपने वास्तविक स्वरूप को बिना समझे अपनी प्रशंसा करता है-मैं तपःश्चरणशील हूं, यह सोचकर अन्य पुरुष को जल में दिखाई देते चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब के समान तुच्छ या निरर्थक देखता है ।

वह अभिमानी पुरुष एकान्ततः मोह में ग्रस्त होकर संसार में पर्यटन करता है । वह सर्वज्ञ द्वारा प्ररूपित पथ का अनुगामी नहीं है । जो सम्मान तथा प्रशस्ति पाकर मदोन्मत्त हो जाता है, संयमी होता हुआ भी ज्ञानादि का गर्व करता है, वह परमार्थ को नहीं जानता ॥८॥९॥

टीका – प्रायस्तपस्विनां ज्ञानतपोऽवलेपो भवतीत्यतस्तमधिकृत्याह-यश्चापि कश्चिल्लघुप्रकृतिरल्पतयाऽऽत्मानं वसु-द्रव्यं तच्च परमार्थचिन्तायां संयमस्तद्वन्तमात्मानं मत्वाऽहमेवात्र संयमवान् मूलोत्तरगुणानां सम्यग्विधायी नापरः कश्चिन्मत्तुल्योऽस्तीति, तथा संख्यायन्तेपरिच्छिद्यन्ते जीवादयः पदार्था येन तज्ज्ञानं संख्येत्युच्यते तद्वन्तमात्मानं मत्वा तथा सम्यक्-परमार्थमपरीक्ष्यात्मोत्कर्षाभिमानीति 'अन्यं जनं' साधुलोकं गृहस्थलोकं वा 'बिम्बभूतं' जलचन्द्रवत्तदर्थशून्यं कूटकार्षापणवद्वा लिंगमात्रधारिणं पुरुषाकृतिमात्रं वा 'पश्यति' अवमन्यते । तदेवं यद्यन्मदस्थानंजात्यादिकं तत्तदात्मन्येवारोप्यापरमवधूतं पश्यतीति ॥८॥ किञ्चान्यत् -

कूटवत्कूटं यथा कूटेन मृगादिर्बद्धः परवशः सन्नेकान्तदुःखभाग्भवति एवं भावकूटेन स्नेहमयेनैकान्ताऽसौ संसार चक्रवालं पर्येति तत्र वा प्रकर्षेण लीयते प्रलीयते-अनेक प्रकारं संसार बंभ्रमीति, तुशब्दात्कामादिना वा मोहेन मोहितो बहुवेदने संसारे प्रलीयते, यश्चैवंभूतोऽसौ 'न विद्यते' न कदाचन संभवति मुनीनामिदं मौनं तच्च तत्पदं च मौनपदं-संयमस्तत्र मौनीन्द्रे वा पदे-सर्वज्ञप्रणीतमार्गे नासौ विद्यते, सर्वज्ञमतमेव विशिनष्टि-गां-वाचं त्रायते-अर्थाविसंवादनतःपालयतीति गोत्रं तस्मिन् समस्तागमाधारभूत इत्यर्थः, उच्चैर्गोत्रे वा वर्तमानस्तदभिमानग्रहग्रस्तो मौनीन्द्र पदे न वर्तते, यश्च माननं-पूजनं सत्कारस्तेनार्थः-प्रयोजनं तेन माननार्थेन विविधमुत्कर्षयेदात्मानं, यो हि माननार्थेन-लाभपूजासत्कारादिना मदं कुर्यान्नासौ सर्वज्ञ पदे विद्यतः इति पूर्वेण संबन्धः, तथा वसु-द्रव्यं तच्चेह संयमस्तमादाय तथाऽन्यतरेण ज्ञानादिना मदस्थानेन परमार्थमबुध्यमानो माद्यति पठन्नपि सर्वशास्त्राणि तदर्थं वावगच्छन्नपि नासौ सर्वज्ञमतं परमार्थतो जानातीति ॥९॥

टीकार्थ – तपस्वी जनों को अपने ज्ञान तथा तपश्चरण का प्रायः अवलेप-अभिमान होता है, अतः शास्त्रकार इस विषय को अधिकृत कर प्रतिपादन करते हैं-जो कोई लघुप्रकृति-ओछे स्वभाव से युक्त पुरुष अपने को वसुमान-द्रव्य या सम्पन्नता युक्त मानता है, तात्पर्यतः संयम ही पारमार्थिक वैभव है, अपने आपको उत्तम संयम तपश्चरणशील मानकर ऐसा सोचता हैं कि मैं ही मूल गुणों एवं उत्तरगुणों का भली भाँति परिपालन करने वाला संयमी हूँ, कोई और मेरे तुल्य नहीं है । जिसके द्वारा जीव आदि तत्वों का संख्यान-परिच्छेद-

निश्चय किया जाता है, वह ज्ञान संख्या कहलाता है । वह तपस्वी अपने आपको वैसा ज्ञानी मानकर परमार्थ का सम्यक् परीक्षण न कर आत्माभिमानी-गर्वान्वित होता हुआ, अन्य साधु जनों को सद्धर्मशील गृहस्थवृन्द को पानी में जल के प्रतिबिम्ब की ज्यों या खोटे सिक्के की ज्यों निरर्थक केवल वेशधारी या पुरुषाकृति मात्र देखता है, अवमानना करता है, तथा जाति आदि मदस्थानों का अपने आपमें आरोपकर-अपने को उच्च या उत्कृष्ट जाति आदि विशेषताओं से युक्तमानकर दूसरे को तिरस्कार या अवहेलना की दृष्टि से देखता है, वह विवेकशून्य है ।

जो कूट या पाश-फंदे के सदृश होता है उसे कूट कहा जाता है जैसे हिरण आदि पशु पाशबद्ध होकर परवश-पराधीन हो जाते हैं तथा एकान्त रूप में दुःखभागी होते हैं । उसी प्रकार वह साधु स्नेहमय भावात्मक पाश में बद्ध होकर संसार चक्र में भटकता है अथवा वह संसार में प्रलीन-अत्यन्त आसक्त होता हुआ बहुत तरह-पुनः पुनः संसार में जन्म मरण रूप आवागमन में चक्कर लगाता है । यहां आये हुए 'तु' शब्द से यह प्रकट किया गया है कि वह काम आदि द्वारा या मोह द्वारा विमूढ़ होकर अत्यन्त यातनामय संसार में प्रलीन होता हैं-निमग्न रहता है । जो पुरुष जैसा पहले कहा गया अभिमानी होता है वह मौन पद में-साधु जीवन में वर्तनशील नहीं होता । मुनियों से संबद्ध आचार या धर्म मौन कहलाता है । उसका पद या स्थान संयम है । अथवा मौनिन्द्र-सर्वज्ञ द्वारा प्ररूपित पद-मार्ग मौनिन्द्र पद है । वह उसका अनुसरण नहीं करता । सर्वज्ञ मत की विशेषता बतलाते हुए कहते हैं-जो गो-वाणी का त्राण करता है-अविसंवादि-अविरुद्ध या सत्य अर्थ का निरूपण कर वाणी का रक्षण करता है, उसे गोत्र कहा जाता है । सर्वज्ञ मत गोत्र है, वह समग्र आगमों का आधार है । अथवा जो उच्च गोत्र में-उत्तम कुल में जन्म लेकर उसका गर्व करता है, वह सर्वज्ञ के मार्ग में वर्तनशील नहीं है । जो मानन-पूजन, सत्कार का अर्थी-इच्छुक बना रहता है, उसे पाकर तरह-तरह से गर्व करता है, गर्व का प्रदर्शन करता है वह भी सर्वज्ञ के मार्ग में विद्यमान नहीं है । वसु का अर्थ द्रव्य है । वह यहां संयम के रूप में गृहीत है । उसे-संयम को ग्रहण कर जो व्यक्ति ज्ञान आदि मद स्थानों में ग्रस्त होकर परमार्थ को नहीं जानता हुआ मदोन्मत होता है, समस्त शास्त्रों को पढ़ता हुआ, उनका अर्थ जानता हुआ भी वास्तव में सर्वज्ञ का मत-सिद्धान्त नहीं जानता ।

❀ ❀ ❀

जे माहणो खत्तियजायए वा, तहुग्गपुत्ते तह लेच्छई वा ।
जे पव्वईए परदत्तभोई, गोत्ते ण जे थब्भति (थंभि) माणबद्धे ॥१०॥

छाया – यो ब्राह्मणः क्षत्रियजातको वा तथोग्रपुत्रस्तथा लेच्छको वा ।
यः प्रव्रजितः परदत्तभोजी गोत्रे न यः स्तब्धात्यभिमानबद्धे ॥

अनुवाद – ब्राह्मण, क्षत्रिय, उग्रपुत्र तथा लिच्छिवि वंशीय जो प्रवर्जित है अन्य द्वारा दिये हुए आहार का सेवन करता है । अपने उच्च कुल से स्तब्ध नहीं है-गर्वोद्धत नहीं है, वह सर्वज्ञ के मार्ग का अनुसरण करता है ।

टीका – सर्वेषां मदस्थानानामुत्पत्तेरारभ्य जातिमदो बाह्यनिमित्त-निरपेक्षो यतो भवत्यस्तमधिकृत्याह-यो हि जात्या ब्राह्मणो भवति क्षत्रियो वा-इक्ष्वाकुवंशादिकः, तद्भेदमेव दर्शयति-'उग्रपुत्रः' क्षत्रियविशेषजातीयः तथा 'लेच्छइ' त्ति क्षत्रिय विशेष एव, तदेवमादिविशिष्टकुलोद्भूतो यथावस्थितसंसारस्वभाववेदितया यः

'प्रव्रजितः' त्यक्तराज्यादिगृहपाशबन्धनः परैर्दत्तं भोक्तुं शीलमस्य परदत्तभोजी-सम्यक्संयमानुष्ठायी 'गोत्रे' उच्चैर्गोत्रे हरिवंशस्थानीये समुत्पन्नोऽपि नैव 'स्तम्भं' गर्वमुपेयादिति, किंभूते गोत्रे ? - "अभिमान बद्धे" अभिमानास्पदे इति, एतदुक्तं भवति-विशिष्टजातीयतया सर्वलोकाभिमान्योऽपि प्रव्रजितः सन् कृतशिरस्तुण्डमुण्डनो भिक्षार्थं परगृहाण्यटन् कथं हास्यास्पदं गर्वं कुर्यात् ? नैवासौ मानं कुर्यादिति तात्पर्यार्थः ॥१०॥

टीकार्थ – जितने मद के-अभिमान के स्थान-आधार हैं उन सभी में जाति का मद मुख्य है। क्योंकि वह बाह्य कारण पर टिका हुआ नहीं है, जन्म लेने मात्र से होता है । अतएव सूत्रकार उसे अधिकृत कर कहते हैं-जो पुरुष ब्राह्मण जाति में, ईक्ष्वाकु वंश उग्र कुल-लिच्छिवि आदि क्षत्रिय जाति में उत्पन्न हुआ है । इस प्रकार विशिष्ट कुल में उत्पन्न होकर जो संसार के वास्तविक स्वरूप को समझकर राज्यादि को बंधन का हेतु जानकर उनका परित्याग कर प्रव्रजित हो गया है । अन्य द्वारा दत्त-दिये गये आहार आदि का सेवन करता है । शुद्ध संयम का परिपालन करता है । हरिवंश के तुल्य उच्च गोत्र में समुत्पन्न होता हुआ भी वह स्तम्भ-गर्व न करे। किस प्रकार के गोत्र में ? इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि वैसे गोत्र में जो अनभिमान से बद्ध है अथवा अभिमानास्पद है-गर्व उत्पन्न करने का हेतु है । इसका अभिप्राय यह है कि विशिष्ट जाति में जन्म होने के कारण जो सब लोगों के लिये सम्माननीय रहा, प्रव्रजित होकर-मस्तक और मुँह के बाल मुंडाकर साधुत्व स्वीकार कर जब भिक्षा के लिये औरों के घर जाता है तब वह क्यों गर्व करे ? वैसा करना उसके लिये हास्यास्पद है । तात्पर्य यह है कि वह कभी भी अभिमान न करे ।

❀ ❀ ❀

न तस्स जाई व कुलं व ताणं, णण्णत्थ विज्जाचरणं सुचिण्णं ।
णिक्खम्म से सेवइऽगारि कम्मं, ण से पारए होइ विमोयणाए ॥११॥

छाया – न तस्य जातिश्च कुलं न त्राणं, नाऽन्यत्र विद्याचरणं सुचीर्णम् ।
निष्क्रम्य स सेवतेऽगारिकर्म, न स पारगो भवति विमोचनाय ॥

अनुवाद – जाति तथा कुल मानव को दुर्गति से त्राण नहीं दे सकते । वे उसे उससे नहीं बचा सकते। भलीभांति साधित विद्या-ज्ञान तथा चरण-चारित्र के अतिरिक्त और कोई भी मनुष्य को दुर्गति से-दुःख से नहीं बचा सकता । जो पुरुष घर से निष्क्रमण कर-दीक्षित होकर भी गृहस्थ के कर्मों का सेवन करता है-अनुसरण करता है वह अपने कर्मों के विमोचन में-उन्हें क्षीण करने में सक्षम नहीं होता ।

टीका – न चासौ मानः क्रियमाणो गुणायेतिदर्शयितुमाह-न हि 'तस्य' लघुप्रकृतेरभिमानोद्धुरस्य जातिमदः कुलमदो वा क्रियमाणः संसारे पर्यटतस्त्राणं भवति, न ह्यभिमानो जात्यादिक ऐहिकामुष्मिकगुणयोरूपकारीति, इह च मातृसमुत्था जातिः पितृसमुत्थं कुलम्, एतच्चोपलक्षणम्, अन्यदपि मदस्थानं न संसारत्राणायेति, यत्पुनः संसारोत्तारकत्वेन त्राणसमर्थं तद्दर्शयति-ज्ञानं च चरणं च ज्ञानचरणं तस्मादन्यत्र संसारोत्तारणत्राणाशा न विद्यते, एतच्च सम्यक्त्वोपबृंहितं सत् सुष्ठु चीर्णं संसारादुत्तारयति, 'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः' इति वचनात् एवंभूते सत्यपि मोक्षमार्गे 'निष्क्रम्यापि' प्रव्रज्यां गृहीत्वापि कश्चिदपुष्टधर्मा संसारोन्मुखः 'सेवते' अनुतिष्ठत्यभ्यस्यति पौनः पुन्येन विधत्ते अगारिणां-गृहस्थानामङ्गं-कारणं जात्यादिक मदस्थानं, पाठान्तरं वा 'अगारिकम्मं' त्ति अंगारिणां कर्म अनुष्ठानं सावद्यमारम्भं जातिमदादिकं वा सेवते, न चासावगारिकर्मणां सेवकोऽशेषाकर्ममोचनाय पारगो भवति, निःशेषकर्मक्षयकारी न भवतीति भावः । देश मोचना तु प्रायशः सर्वेषामेवासुमतां प्रतिक्षणमुपजायत इति ॥११॥

टीकार्थ – मान-गर्व करना, गुण के लिये नहीं होता-उससे कोई लाभ नहीं होता, सूत्रकार इसका दिग्दर्शन कराते हुए कहते हैं-जो लघु प्रकृति-ओछी वृत्ति से युक्त पुरुष गर्व से उद्धत या निरंकुश बन जाता है उसका जाति या कुल से जुड़ा हुआ अभिमान संसार में पर्यटन करने से उसे त्राण नहीं दे सकता-उससे उसकी रक्षा नहीं कर सकता । वह न इस लोक में और न परलोक में ही उसका कोई उपकार करता है । जाति 'मातृसमुत्था' माता से उत्पन्न होती है तथा कुल 'पितृसमुत्थ' पिता से उत्पन्न होता है । यहां जाति तथा कुल उपलक्षण है । इनसे यह सूचित है कि मद के अन्य स्थान भी संसार से त्राण देने में सक्षम नहीं है । संसार से पार लगाने में जो समर्थ है, सूत्रकार उसका दिग्दर्शन कराते हुए कहते हैं-ज्ञान एवं चारित्र संसार से त्राण-रक्षण करते हैं । इनके अतिरिक्त और किसी से संसार से पार कराने की, त्राण देने की आशा नहीं है । ज्ञान तथा चारित्र सम्यक्त्व से उपबृंहित-समाश्रित, संवर्धित होकर जब भली भांति आचरित किये जाते हैं, वे संसार से पार लगा देते हैं । कहा गया है ज्ञान तथा क्रिया से मोक्ष प्राप्त होता है । ऐसा होते हुए भी कोई अपुष्टधर्मा -धार्मिक दृढ़ता से रहित संसारोन्मुख-संसार में रचा पचा पुरुष प्रवर्जित होकर भी गृहस्थों से जुड़े जाति आदि से संबद्ध मद स्थान का पुनः पुनः सेवन करता है-अभिमान करता है अथवा 'अगारिकम्म' इस पाठान्तर के अनुसार सावद्य-पापमय कर्म का आचरण करता है अथवा जाति मद का सेवन करता है, वह अपने समस्त कर्मों के मोचन में-उनका क्षय करने में पारगामी-समर्थ नहीं होता । देशमोचन-आंशिक रूप से कर्मों का क्षय तो प्राय समस्त प्राणियों के प्रतिक्षण होता रहता है ।

❀ ❀ ❀

णिक्किंचणे भिक्खू सुलूहजीवी, जे गारवं होइ सलोगगामी ।
आजीवमेयं तु अबुज्झमाणो, पुणो पुणो विप्परियासुवेंति ॥११॥

छाया – निष्किञ्चनो भिक्षुः सुरुक्षजीवी यो गौरवो भवति श्लोककामी ।
आजीवमेतत्त्वबुध्यमानः पुनः पुनो विपर्य्यासमुपैति ॥

अनुवाद – निष्किंचन-द्रव्यादि परिग्रह रहित, सुरुक्षजीवी-रूखे सूखे भिक्षान्न से जीवन निर्वाहक भिक्षु यश की आकांक्षा करता हुआ यदि अभिमान करता है तो ये गुण मात्र उसकी आजीविका के साधन है । वह विवेक शून्य साधु पुनः पुनः विपर्यास-संसार के जन्म मरण के चक्र में भटकता है-क्लेश भोगता है ।

टीका – पुनरप्यभिमानदोषाविर्भावनायाह-बाह्येनार्थेन निष्किञ्चनोऽपि भिक्षणशीलो भिक्षुः-परदत्त भोजी तथा सुष्ठु रूक्षम्-अन्त प्रान्तं वल्लचणकादि तेन जीवितुंप्राणधारणं कर्तुं शीलमस्य स सुरुक्षजीवीएवं भूतोऽपि यः कश्चिद्गौरवप्रियोभवति तथा "श्लोक कामी" आत्मश्लाघोभिलाषी भवति, सचैवंभूतः परमार्थमबुध्यमानः एतदेवा किञ्चनत्वं सुरुक्ष जीवित्वं वाऽऽत्मश्लाघातत्परतया आजीवम्-आजीविकामात्मवर्तनोपायं कुर्वाणः पुनः पुनः संसारकान्तारे विपर्यासं-जातिजरामरणरोगशोकोपद्रवमुपैति-गच्छति, तदुत्तरणायाभ्युद्यतो वा तत्रैव निमज्जतीत्ययं विपर्यास इति ॥१२॥ यस्मादमी दोषाः समाधिमाख्यातमसेवमानानामाचार्यपरिभाषिणां वा तस्मादमीभिः शिष्यगुणैर्भाव्यमित्याह-

टीकार्थ – सूत्रकार अभिमान के दोषों को अभिव्यक्ति करने हेतु कहते हैं-जो पुरुष किसी भी प्रकार के बाह्य पदार्थ नहीं रखता-अकिंचन है, दूसरे द्वारा प्रदत्त भिक्षा के सहारे आजीविका चलाता है-रूखे सूखे अन्तप्रान्त-बचे खुचे आहार द्वारा जीवन निर्वाह करता है, ऐसा होते हुए भी वह यदि गौरवप्रिय, श्लोक कामी-

कीर्तिकांक्षी तथा आत्मप्रशंसा का अभिलाषी होता है तो वह परमार्थ को नहीं जानता । उसकी अकिंचनता-परिग्रहशून्यता तथा रूखे सूखे भोजन के सहारे जीवन निर्वाह-ये उसकी जीविका-आत्मवर्तन या जीवन चलाने के मात्र साधन हो जाते हैं । अतः वह इस संसार रूपी कान्तार-गहन वन में पुनः पुनः जन्म, वृद्धावस्था, मृत्यु, रुग्णता, शोक आदि उपद्रवों-दुःखों को प्राप्त करता है । संसार के पार जाने-उसे लांघने में अभ्युद्यत-तत्पर होता हुआ भी उसी में निमज्जित हो जाता है-डूब जाता है । यों विपरीत बात बन जाती है ।

आचार्य पदवर्ती किन्तु विशुद्ध समाधि-मोक्ष मार्ग का सेवन नहीं करने वाले जनों के ये दोष जिस प्रकार मिटे, उन्हें वैसा सीखना चाहिये, समझना चाहिये ।

❀ ❀ ❀

जे भासवं भिक्खु सुसाहुवादी, पडिहाणवं होइ विसरए य ।
आगाढपण्णे सुविभावियप्पा, अन्नं जणं पन्नया परिहवेज्जा ॥१३॥

छाया – योभाषावान् भिक्षुः सुसाधुवादी, प्रतिभानवान् भवति विशारदश्च ।
आगाढप्रज्ञः सुविभावितात्माऽन्यंजनं प्रज्ञयाऽभिभवेत् ॥

अनुवाद – जो साधु भाषावान्-भाषा के गुणों का वेत्ता, सुसाधुरूपी-मधुर संभाषणशील, प्रतिभावान्-प्रज्ञाशील, विशारद-शास्त्र के अर्थ में प्रवीण, आगाढप्रज्ञ-तत्वग्रहण में प्रगाढ़ प्रतिभाशील तथा सुभावितात्मा-जिसका हृदय धर्म भावना से अनुभावित है, वही वास्तव में साधु है । जो अपनी प्रज्ञा-बुद्धि तथा गुणों का गर्व करता है अन्य की अवहेलना करता है, वह साधु नहीं है ।

टीका – भाषागुणदोषज्ञतया शोभनभाषायुक्तो भाषावान् 'भिक्षुः' साधुः, तथा सुष्ठु साधु-शोभनं हितं मितं प्रियं वदितुं शीलमस्येत्यसौ सुसाधुवादी, क्षीरमध्वाश्रववादीत्यर्थः तथा प्रतिभा प्रतिभानम्-औत्पत्तिक्यादिबुद्धिगुणसमन्वितत्वेनोत्पन्नप्रतिभत्वं तत्प्रतिभानं विद्यते यस्यासौ प्रतिभानवान्-अपरेणाक्षिप्तस्तदनन्तरमेवोत्तरदान समर्थः यदिवा धर्मकथावसरे कोऽयं पुरुषः कं च देवताविशेषं प्रणतः कतरद्वा दर्शनमाश्रित इत्येवमासन्नप्रतिभतया (ऽवेत्य) यथायोगमाचष्टचे, तथा 'विशारदः' अर्थग्रहणसमर्थो बहु प्रकारार्थकथनसमर्थो वा, च शब्दाच्च श्रोत्रभिप्रायज्ञः, तथा आगाढ़ा-अवगाढ़ा. परमार्थपर्य व सिता तत्त्वनिष्टा प्रज्ञाबुद्धिर्यस्यासावागाढ़प्रज्ञः, तथा सुष्ठु विविधं भावितो-धर्मवासनया वासित आत्मा यस्यासौ सुविभावितात्मा, तदेवमेभिः सत्यभाषादिभिर्गुणैः शोभनः साधुर्भवति, यश्चेभिरेव निर्जरा हेतुभूतैरपि मदं कुर्यात्, तद्यथा-अहमेव भाषाविधिज्ञस्तथा साधुवाद्यहमेव च न मत्तुल्यः प्रतिभानवानस्ति नापि च मत्समानोऽलौकिकः लोकोत्तरशास्त्रार्थविशारदोऽवगाढप्रज्ञः सुभावितात्मेतिच, एवमात्मोत्कर्षवानन्यं जनं स्वकीययां प्रज्ञया 'परिभवेत्' अवमन्येत, तथाहि-किमनेन वाक् कुण्ठेन दुर्दुरूढेन कुण्डिताकापसिकल्पेन खसूचिना कार्यमस्ति ? क्वचित्सभायां धर्म कथावसरे वेति, एवमात्मोत्कर्षवान् भवति, तथा चोक्तम् -

अन्यैः स्वेच्छारचितानर्थ विशेषान् श्रमेण विज्ञाय ।
कृत्स्नं वाङ्मयमित इति खादत्यङ्गानि दर्पेण ॥१॥ इत्यादि ॥१३॥

टीकार्थ – भाषा के गुणों और दोषों को जानने के कारण जो साधु शोभन भाषायुक्त है-जो सुष्ठु-सुन्दर-प्रीतिकर, हितकर, परिमित और मधुर भाषण करता है । दूध तथा मधु की ज्यों मीठा बोलता है, औत्पातिकी आदि बुद्धि के गुणों से समन्वित है, दूसरे द्वारा किये गये आक्षेप-आरोप का तदनन्तर-तत्क्षण ही जो उत्तर दे

देता है, जो धर्म कथा प्रसंग में यह पुरुष कौन है ? कैसा है ? किस देवता विशेष में श्रद्धा रखता है ? किस दर्शन में इसका विश्वास है ? अपनी आसन्न प्रतिभा-प्रत्युत्पन्नमति के कारण जानकर जैसा समुचित होता है, बोलता है, उपदेश देता है तथा जो पदार्थों को ग्रहण करने में-आत्मसात करने में-समझने में समर्थ होता है अथवा जो सिद्धान्तों की अनेक प्रकार की व्याख्या करने में निपुण होता है तथा 'च' शब्द से सूचित जो श्रवणकर्त्ता के आशय को जान लेता है, जिसकी बुद्धि परमार्थ में-सत्य तत्त्व में सन्निविष्ट होती है, धर्म की भावना से जिसका हृदय अनुभावित होता है, वह साधु इन सत्य भाषादि गुणों से युक्त होने के कारण शोभन-श्रेष्ठ साधु हैं । किन्तु जो साधु निर्जरा के कारणभूत इन गुणों के कारण गर्व करता है जैसे "मैं ही भाषाविधि का वेत्ता हूं" साधुवादी-उत्तम वक्ता हूं । मेरे सदृश दूसरा प्रतिभा सम्पन्न नहीं है । मेरे समान अन्य अलौकिक-शास्त्रों के विशिष्ट-विशद ज्ञान में विशारद निपुण नहीं है तथा मैं ही ऐसा हूं जिसकी बुद्धि अवगाढ़-तत्त्वान्वेषण में गहरी पैठी हुई है । मेरे समकक्ष कोई सुभावितात्मा-धर्म की भावना से भावित उत्तम पुरुष नहीं है । यों आत्मोत्कर्ष-अभिमान या गर्व करता हुआ अपनी प्रज्ञा द्वारा दूसरे का परिभव या अवमानना करे । जैसे कहीं सभा में धर्मकथा-धर्म चर्चा के प्रसंग में इस वाक्कुण्ठ-कुण्ठित वाणी युक्त, दुर्दुरूढ़-जड़, कुण्डिका-कुण्डी में रखी हुए कपास के समान इस निस्सार तथा आकाश के समान शून्य पुरुष का यहां क्या काम है, ऐसा बोले । इस प्रकार वह अपने को गर्वोन्मत्त मानता है इसलिये कहा गया है-अन्यों द्वारा स्वेच्छा से प्रणीत कतिपय शास्त्रों को-विषयों को परिश्रमपूर्वक जानकर अभिमानी पुरुष दर्पपूर्वक यह समझता है कि समस्त वाङ्मय-सारे शास्त्र इतने ही हैं ।

❀ ❀ ❀

एवं ण से होइ समाहिपत्ते, जे पन्नवं भिक्खु विउक्कसेज्जा ।
अहवाऽवि जे लाभमयावलित्ते, अन्नं जणं खिंसति बालपन्ने ॥१४॥

छाया – एवं न स भवति समाधिप्राप्तः, यः प्रज्ञावान् भिक्षुर्व्युत्कर्षेत् ।
अथवाऽपि यो लाभमदावलिप्तः अन्यं जनं निन्दति बालप्रज्ञः ॥

अनुवाद – जो साधु प्रज्ञावान-मेधाशील होकर गर्व करता है, अथवा जो लाभ के मद से अवलिप्त होकर-अपनी उपलब्धियों से गर्वान्वित होकर अन्य की निन्दा करता है, वह बालप्रज्ञ है-बच्चे की सी बुद्धि बाला या अज्ञानी है । वह समाधि को प्राप्त नहीं करता है ।

टीका – साम्प्रतमेतद्दोषाभिधित्सयाऽऽह-'एवम्' अनन्तरोक्तया प्रक्रियया परपरिभवपुरःसरमात्मोत्कर्षं कुर्वन्नशेषशास्त्रार्थविशारदोऽपि तत्त्वार्थावगाढप्रज्ञोऽप्यसौ 'समाधिं' मोक्षमार्गं ज्ञानदर्शनचारित्र रूपं धर्मध्यानाख्यं वा न प्राप्तो भवति, उपर्येवासौ परमार्थोदन्वतः प्लवते, क एवंभूतो भवतीति दर्शयति-यो ह्यविदितपरमार्थतयाऽऽत्मानं सच्छेमुषीकं मन्यमानः स्वप्रज्ञया भिक्षुः 'उत्कर्षेद' गर्वं कुर्यात, नासौ समाधिं प्राप्तो भवतीति प्राक्तनेन संबंधः, अन्यदपि मदस्थानमुद्घट्टयति-'अथवे' त्ति पक्षान्तरे, यो ह्यल्पान्तरायो लब्धिमानात्मकृत परस्मै चोपकरणादि-कमुत्पादयितुमलं स लघुप्रकृतितया लाभमदावलिप्तो भवति, तदवलिप्तश्च समाधिमप्राप्तो भवति, स चैवंभूतोऽन्यं जनं कर्मोदयादलब्धिमन्तं 'खिंसइ' त्ति निन्दति परिभवति, वक्ति च-न मत्तुल्यः सर्व साधारणशय्यासंस्तारकाद्युपक-रणोत्पादको विद्यते, किमन्यैः स्वोदरभरणव्यग्रतया काकप्रायैः कृत्यमस्तीत्येवं 'बालप्रज्ञो' मूर्खप्रायोऽपरजनापवादं विदध्यादिति ॥१४॥

टीकार्थ – सूत्रकार पहले कहे गये दोष का फल बताते हुए कहते हैं-जो अनन्तरोक्त-पहले कहे गये प्रकार से परपरिभव-दूसरे का अपमान कर आत्मोत्कर्ष-अपनी उत्कृष्टता दिखाता है-बडप्पन बताता है, वह समग्र शास्त्रों के अर्थ में निष्णात एवं तत्त्वज्ञान में अवगाढप्रज्ञ-गहन प्रज्ञाशील होकर भी ज्ञान दर्शन चारित्र रूप मोक्षमार्ग की अथवा धर्मध्यान की प्राप्ति नहीं करता, वह परमार्थरूपी समुद्र के ऊपर ही प्लवन करता है-तैरता है । ऐसा पुरुष कौन होता है ? सूत्रकार यह दिग्दर्शन कराते हैं-जो पुरुष परमार्थ को-परम सत्य को न जानने के कारण अपने को श्रेष्ठ प्रज्ञाशील मानता हुआ अपनी प्रज्ञा का गर्व करता है, वह समाधि-मोक्ष मार्ग को नहीं पाता । पहले के वर्णन के साथ इसका सम्बन्ध है ।

सूत्रकार अब दूसरे मद स्थान का उद्घाटन करते हुए कहते हैं-गाथा में प्रयुक्त 'अहवा'-अथवा शब्द पक्षान्तर-दूसरे पक्ष के आशय में है । जो पुरुष अल्पान्तराय है-जिसका लाभान्तराय न्यून है, लब्धिमान-विशिष्ट शक्ति-योगविभूति युक्त है, वह अपने तथा अन्य के लिये उपकरण-जीवनोपयोगी सामग्री उत्पन्न करने में सक्षम होता है किन्तु वह यदि लघु प्रकृति युक्त है-उच्च स्वभाव का नहीं है तो वह अपने लाभ के मद से अवलिप्त-गर्वोद्धत होता है । इस तरह का समाधि को प्राप्त नहीं कर पाता । कर्मोदय से जो पुरुष लब्धिरहित है वैसे अन्य पुरुष की निन्दा करता है, तिरस्कार करता है, वह कहता है-सर्व साधारण हेतु शय्या संस्तारक-आस्तरण आदि उपकरण उत्पन्न करने में-उप स्थापित करने में मेरे समान कोई भी नहीं है । दूसरे तो केवल कौओं की ज्यों पेट भरने में ही व्यग्र-व्याकुलतापूर्वक उद्यत रहते हैं । अतः उनका यहां क्या कार्य है । इस प्रकार वह बालप्रज्ञ-मूर्खप्राय अन्य जनों का अपवाद-अपभाषण या निंदा करता है ।

❀ ❀ ❀

पन्नामयं चेव तवोमयं च, णिन्नामए गोयमयं च भिक्खू ।
आजीवगं चेव चउत्थमाहु, से पंडिए उत्तमपोग्गले से ॥१५॥

छाया – **प्रज्ञामदञ्चैव तपोमदञ्च, निर्नामयेद् गोत्रमदञ्च भिक्षुः ।**
आजीवगञ्चैव चतुर्थमाहुः स पंडित उत्तम पुद्गलः स ॥

अनुवाद – साधु अपनी प्रज्ञा, तपश्चरण, गौत्र तथा आजीविका का अभिमान न करे । वहीं पंडित-विवेकशील है तथा वही उत्तम पुद्गल-पवित्रात्मा है ।

टीका – तदेवं प्रज्ञामदावलेपादन्यस्मिन् जने निन्द्यमाने बालसदृशैर्भूयते यतोऽतः प्रज्ञामदो न विधेयो, न केवलमयमेव न विधेयः अन्यदपि मदस्थानं संसारजिहीर्षुणा न विधेयमिति तद्दर्शयितुमाह-प्रज्ञया-तीक्ष्णबुद्धया मदः प्रज्ञामदस्तं च, तपोमदं च निश्चयेन नामयेन्निर्नामयेद्-अपनयेद्, अहमेव यथाविधशास्त्रार्थस्य वेत्ता तथाऽहमेव विकृष्ट तपोविधायी नापि च तपसो ग्लानिमुपगच्छामीत्येवंरूपं मदं न कुर्यात्, तथा उच्चैर्गोत्रे इक्ष्वाकुवंशहरिवंशादिके संभूतोऽहमित्येवमात्मकं गोत्रमदं च नामयेदिति । आ-समन्ताज्जीवन्त्यनेनेत्याजीवः-अर्थनिचयस्तं गच्छति-आश्रयत्यसावाजीवगः-अर्थमदस्तं च चतुर्थं नामयेत्, च शब्दाच्छेषानपि मदान्नामयेत् तन्नामनाच्चासौ 'पंडितः' तत्त्ववेत्ता भवति, तथाऽसावेव समस्त पदापनोदक उत्तमः पुद्गल-आत्मा भवति, प्रधानवाची वा पुद्गलशब्दः, ततश्चायमर्थः-उत्तमोत्तमोमहतोऽपि महीयान् भवतीत्यर्थः ॥१५॥

टीकार्थ – अपनी प्रज्ञा के मद से अवलिप्त होकर जो पुरुष दूसरे की निन्दा करता है वह एक बच्चे के सदृश अज्ञानी है । अतएव साधु को चाहिये कि वह अपनी प्रज्ञा का अभिमान न करे । केवल प्रज्ञा का

मद ही नहीं किंतु जो संसार को पार करने की अभिकांक्षा लिये हो, वह अन्य प्रकार के मदस्थानों का सेवन न करे-अन्य प्रकार के गर्व या अभिमान भी न करे । सूत्रकार इसी का दिग्दर्शन कराते हुए कहते हैं-बुद्धि तीक्ष्ण होने से जो मद होता है उसे प्रज्ञामद कहते हैं । साधु प्रज्ञामद एवं तपोमद का अपनयन करे-उन्हें मिटा दे । अर्थात् मैं ही शास्त्र के अर्थ-रहस्य का यथावत वेत्ता हूं । मैं ही उत्कृष्ट तपश्चरण विधायी हूं । तप से कभी ग्लान-परिश्रान्त या खिन्न नहीं होता, साधु ऐसा गर्व न करे तथा मैं इक्ष्वाकुवंश हरिवंश आदि उत्तम गौत्रों में सम्भूत हूं-पैदा पुआ हूं । इस प्रकार गौत्रमद का भी वह उच्छेद करे । जिसके द्वारा प्राणी जीवित रहते हैं-जीवन निर्वाह करते हैं उसे आजीव कहा जाता है । वह अर्थनिचय-पदार्थ समुच्चय है-जीवनोपयोगी उपकरण एवं साधन है । साधु उनका भी मद न करे । यहां प्रयुक्त 'च' शब्द से सूचित अन्य मदों का भी साधु परिहार करे । मदों का परित्याग करने से ही वह पंडित-तत्त्ववेत्ता होता है । वह समस्त मदों का अपनोदक-परिहार कारी या परित्यागी पवित्रात्मा होता है । यहां पुद्गल शब्द प्रधानवाची है । इसका यह अभिप्राय है कि वही पुरुष उत्तमोत्तम-सर्वोत्तम-महान से भी महान होता है ।

❀ ❀ ❀

एयाइं मयाइं विगिंच धीरा, ण ताणि सेवंति सुधीरधम्मा ।
ते सव्वगोत्तावगया महेसी, उच्चं अगोत्तं च गतिं वयंति ॥१६॥

छाया – एतान् मदान् पृथक्कुर्य्युर्धीराः, न तान् सेवन्ते सुधीरधर्माणः ।
ते सर्वगोत्रापगता महर्षिण, उच्चामगौत्राञ्च गतिं व्रजन्ति ॥

अनुवाद – धीर पुरुष इन पूर्व प्रतिपादित मदस्थानों को पृथक् करे-अपने से दूर रखे । सुधीर धर्मा-ज्ञानदर्शन एवं चारित्र सम्पन्न धर्माचरणशील पुरुष गौत्रादिका अभिमान नहीं करते । वे सब प्रकार के गौत्रों से अपगत-अतीत महर्षि-महासत्त्व या महापुरुष सर्वोत्तम गति-मोक्ष को स्वायत्त करते हैं ।

टीका – साम्प्रतं मदस्थानानामकरणीयत्वमुपदर्श्योरपसंजिहीर्षुराह-'एतानि' प्रज्ञादीनि मदस्थानानि संसारकारणत्वेन सम्यक्परिज्ञाय 'विगिंच' त्ति पृथक्कुर्यादात्मनोऽपनयेदितियावत्, धीः-बुद्धिस्तया राजन्त इति धीरा-विदितवेद्या नैतानि जात्यादीनि मदस्थानानि सेवन्ति-अनुतिष्ठन्ति, के एते ?-ये सुधीरः सुप्रतिष्ठितो धर्मः-श्रुतचारित्राख्यो येषां ते सुधीरधर्माणः, ते चैवंभूताः परित्यक्त सर्वमदस्थाना महर्षयस्तपोविशेषशोषित कल्पषाः सर्वस्मादुच्चैर्गोत्रादेरपगताः गौत्रापगताः सन्त उच्चांमोक्षाख्यां सर्वोत्तमां वा गतिं व्रजन्ति-गच्छन्ति, च शब्दात्पञ्चमहाविमानेषु कल्पातीतेषु वा व्रजन्ति, अगोत्रोपलक्षणाच्चान्यदपि नामकर्मायुष्कादिकं तत्र न विद्यत इति द्रष्टव्यम् ॥१६॥ किञ्च -

टीकार्थ – मद स्थानों की अकरणीयता को उपदर्शित कर-आख्यात कर अब सूत्रकार इस विषय का उपसंहार करते हुए कहते हैं-प्रज्ञा आदि के मद संसार के कारण हैं यह भलीभांति परिज्ञात कर साधु उनका अपने से अपनयन करे-उन्हें हटाये । जो धीः-बुद्धि द्वारा शोभित होते हैं उन्हें धीर कहा जाता है । वैसे धीर-विदित वेद्य-जिन्होंने जानने योग्य तत्त्वों को जाना है । वे जाति आदि मद स्थानों का सेवन नहीं करते-तन्मूलक गर्व नहीं करते । वे कौन है ? कैसे है ? इसका समाधान करते हुए कहते हैं जिनके जीवन में श्रुत एवं चारित्रमूलक धर्म सुप्रतिष्ठित हैं-सम्यक् व्याप्त है, वे पुरुष अभिमान नहीं करते । इस प्रकार जिन्होंने समस्त मद स्थानों

का परित्याग कर दिया है जिन्होंने विशिष्ट तप द्वारा पापों को शोषित कर दिया है-सुखा दिया है, जला दिया है वे उत्तम गौत्र आदि से-आदि के मद से विवर्जित होकर उच्च-सर्वोत्तम मोक्षगति को उपलब्ध करते हैं। 'च' शब्द से सूचित करते है कि वे पंचमहा विमान या कल्पातीत देवों में उत्पन्न होते हैं। अगौत्र से यह उपलक्षित है कि मोक्ष गति में नाम, कर्म, आयुष्य आदि नहीं होते। यह समझ लेना चाहिये।

❀ ❀ ❀

भिक्खू मुयच्चे तह दिट्ठधम्मे, गामं च णगरं च अणुप्पविस्सा।
से एसणं जाणमणेसणं च, अन्नस्स पाणस्स अणाणुगिद्धे ॥१७॥

छाया – भिक्षुर्मुदर्च स्तथा दृष्टधर्मा, ग्रामञ्च नगरञ्चानुप्रविश्य।
स एषणां जानन्ननेषणाञ्च, अन्नस्य पानस्याननुगृद्धः॥

अनुवाद – उत्तम लेश्यायुक्त तथा दृष्टधर्मा-धर्मतत्त्व वेत्ता साधु भिक्षा हेतु गांव या शहर में अनुप्रविष्ट होकर ऐषणा एवं अनैषणा का विचार करता हुआ-उस ओर जागरूक रहता हुआ अन्नपान में-आहार, पानी में आसक्त न होकर शुद्ध भिक्षा ग्रहण करे।

टीका – स एवं मदस्थान रहितो भिक्षणशीलो भिक्षुः, तं विशिनष्टि-मृतेव स्नानविलेपनादिसंस्काराभावा दर्चातनुः शरीरं यस्य स मृतार्चः यदिवा मोदनं मुत् तद्भूता शोभनाऽर्चा-पद्मादिका लेश्या यस्य स भवति मुदर्चः प्रशस्तलेश्यः, तथा दृष्टः-अवगतो यथावस्थितो धर्मः-श्रुतचारित्राख्यो येन स तथा, स चैवंभूतः ÷ चिदवसरे ग्रामं नगर मन्यद्वा मडम्बादिकमनुप्रविश्य भिक्षार्थमसावुत्तमधृतिसंहननोपपन्नः सन्नेषणां-गवेषणग्रहणैषणादिकां 'जानन्' सम्यगवगच्छन्ननेषणां च-उद्गमदोषादिकां तत्परिहारं विपाकं, च सम्यगवगच्छन् अन्नस्य पानस्य वा 'अननुगृद्धः' अनध्युपपन्नः सम्यग्विहरेत्, तथाहिं-स्थविर कल्पिका द्विचत्वारिंशद्दोषरहितां भिक्षां गृह्णीयुः, जिनकल्पिकानां तु पञ्चस्वभिग्रहो द्वयोर्ग्रहः, ताश्चेमाः-

"संसट्ठमसंसट्ठा उद्धड तइ होति अप्पलेवा य। उग्गहियापग्गहिया उज्झियधम्मा य सत्तमिया ॥१॥"

छाया- संसृष्टाऽसंसृष्टा उद्धृत्ता तथा भवत्यल्पलेपाच्च। उद्गृहीता प्रगृहीता उज्झितधर्मा च सप्तमिका॥१॥

अथवा यो यस्याभिग्रहः सा तस्यैषणा अपरा त्वनेषणेत्योचमेषणानिषणाभिज्ञः क्वचित्प्रविष्टः समाहारादावमूर्छितः सम्यक् शुद्धा भिक्षां गृह्णीयादिति ॥१७॥

टीकार्थ – पहले जैसा वर्णन किया गया है, साधु मद स्थानों से विवर्जित रहता है। भिक्षा द्वारा जीवन निर्वाह करता है। उसकी विशेषता बताते हुए कहते हैं कि वह मृतार्च होता है। स्नान, चन्दन का लेप आदि संस्कार के न होने से जिसकी अर्चा-शरीर मृत जैसा है वह मृतार्च कहलाता है। अथवा जिसके मुत्-शोभन-सुंदर अर्चा-पद्म आदि लेश्या है उसे मुदर्च कहा जाता है। अर्थात् वह प्रशस्त लेश्यायुक्त होता है। वह श्रुत चारित्रमूलक धर्म को यथावत् जानता है, ऐसा साधु किसी अवसर पर भिक्षा हेतु ग्राम, नगर तथा मडम्ब-नगर के पास की बस्ती आदि में प्रविष्ट होकर उत्तम धृति-धैर्य तथा संहनन से उत्पन्न-युक्त होता हुआ गवेषणा तथा ग्रहणैषणा आदि को भली भांति अवगत करता हुआ-उनकी ओर ध्यान रखता हुआ उद्गम आदि दोष तथा उनके परिहार एवं ग्रहण का विपाक-फल जानता हुआ आहारपानी में अनासक्त होकर सम्यक् विहरणशील रहे। स्थविर कल्पी साधु ४२ दोष वर्जित भिक्षा स्वीकार करे तथा जिन कल्पी साधु पांच अभिग्रह तथा दो ग्रह स्वीकार करे। वे इस प्रकार हैं -

(१) **संसृष्टि** – जिस पदार्थ से हाथ लिप्त हो वही पदार्थ लेना ।

(२) **असंसृष्टि** – जिस पदार्थ से हाथ लिप्त न होता हो तो वस्तुएं लेना ।

(३) **उद्धृत** – गृहस्थ ने अपने खाने हेतु जो आहार पात्र में रखा हो उसी को लेना ।

(४) **अल्प लेप** – जिस आहार में घी या तेल आदि का थोड़ा लेप हो वही लेना ।

(५) **उद्गृहीत** – जो आहार परोसने हेतु उद्ग्रहित किया गया हो-निकाला गया हो वही लेना ।

(६) **प्रगृहीत** – परोसने से अवशिष्ट-बचा हुआ ही लेना ।

(७) **उज्झितधर्म** – जो आहार फेंक देने योग्य हो वह लेना ।

इनमें जिन कल्पी साधु के लिये अन्त के दो ही ग्राह्य है-कल्पनीय है. अथवा जिसका जैसा अभिग्रह हो उसके लिये वही ऐषणा है तथा अन्य अनेषणा है । यों ऐषणा एवं अनेषणा से अभिज्ञ साधु भिक्षा हेतु कहीं गया हो तो वह आहार में अलोलुप रहता हुआ शुद्ध भिक्षा ग्रहण करे ।

❀ ❀ ❀

अरतिं रतिं च अभिभूय भिक्खू, बहुजणे वा तह एगचारी ।
एगंत मोणेण वियागरेज्जा, एगस्स जंतो गतिरागती य ॥१८॥

छाया – अरतिं रतिञ्चाभिभूय भिक्षु र्बहुजनो वा तथैकचारी ।
एकान्तमौनेन व्यागृणीयात्, एकस्य जन्तोर्गतिरागतिश्च ॥

अनुवाद – साधु संयम में अरति-अप्रीति तथा असंयम में रति-प्रीति न रखे, वह संघ में अनेक साधुओं के साथ रहता हो या एकाकी रहता हो, ऐसा वचन न बोले जो संयम में बाधा उपस्थित करे। वह यह ध्यान में रखे कि संसार में जीव एकाकी ही आता है तथा एकाकी ही चला जाता है ।

टीका – तदेवं भिक्षोरनुकूलविषयोपलब्धिमतोऽप्यरक्तद्विष्टतया तथा दृष्टमप्यदृष्टं श्रुतमप्यश्रुतमित्येवंभावयुक्ततया च मृतकल्पदेहस्य सुदृष्टधर्मण एषणानेषणाभिज्ञस्यान्नपानादावमूर्छितस्य सतः क्वचिद् ग्रामनगरादौ प्रविष्टस्यासंयमे रतिररतिश्च संयमे कदाचित्प्रादुष्यात् सा चापनेतव्येत्येतदाह महामुनेरप्यस्नानतया मलाविलस्यान्तप्रान्तवल्लचणकादिभोजिनः कदाचित्कर्मोदयादरतिः संयमे समुत्पद्यते तां चोत्पन्नामसौ भिक्षुः संसारस्वभावं परिगणय्य तिर्यङ्नारकादिदुःखं चोत्प्रेक्षमाण, स्वल्पं च संसारिणामायुरित्येवं विचिन्त्याभिभवेद्, अभिभूय चासावेकान्तमौनेन व्यागृणीयादित्युत्तरेण संबन्ध, तथा रतिं च 'असंयमे' सावद्यानुष्ठाने अनादिभवाभ्यासादुत्पन्नामभिभवेदभिभूय च संयमोद्युक्तो भवेदिति । पुनः साधुमेव विशिनष्टि बहवो जनाः-साधवोगच्छवासितया संयमसहाया यस्य स बहुजनः, तथैक एव चरति तच्छीलश्चैकचारी, स च प्रतिभाप्रतिपन्न एकल्लविहारी जिनकल्पादिर्वा स्यात्, स च बहुजन एकाकी वा केन चित्पृष्टोऽपृष्टो वैकान्तमौनेन-संयमेन करणभूतेन व्यागृणीयात् धर्मकथावसरे, अन्यदा संयमबाधया किञ्चिद्धर्मसंबद्धं ब्रूयात्, किं परिगणय्यैतत्कुर्यादित्याह, यदिवा किमसौ ब्रूयादिति दर्शयति-'एकस्य' असहायस्य जन्तोः शुभाशुभसहायस्य 'गतिः' गमनं परलोके भवति, तथा आगतिः-आगमनं भवान्तरादुपजायते कर्मसहायस्यैवेति, उक्तं च-

'एकः प्रकुरुते कर्म, भुनक्त्येकश्चतत्फलम् । जायते म्रियते चैक, एको याति भवान्तरम् ॥१॥''

इत्यादि । तदेवं संसारे परमार्थतो न कश्चित्सहायो धर्ममेकं विहाय, एतद्विगणय्य मुनीनामयं मौनः -संयमस्तेन तत्प्रधानं वा ब्रूयादिति ॥१८॥

टीकार्थ – जो साधु, जिनका पहले वर्णन हुआ है उन अनुकूल-प्रिय विषयों की प्राप्ति होने पर न राग करता है न द्वेष करता है । देखे हुए को अनदेखे के समान, तथा सुने हुए को अनसुने के समान समझता है । तथा मृतदेह के समान अपने शरीर का संस्कार-सज्जा नहीं करता । धर्म को भली भांति दृष्टि में रखता है, ऐषणा और अनैषणा से अभिज्ञ तथा आहार पानी आदि में अनासक्त रहता है, किसी गांव या शहर में जाने पर यदि उसकी असंयम में रति तथा संयम में अरति पैदा हो तो वह उसका अपनयन करे, उसे अपने से दूर करे । इस संबंध में सूत्रकार प्रतिपादित करते हैं कि स्नान न करने से जिसका शरीर मैल से युक्त है, जो अन्त प्रान्त-रूखे सूखे चने आदि के आहार से जीवन निर्वाह करता है वैसे महान संत को यदि कर्मों के उदय से संयम में अप्रीति-अरुचि पैदा हो तो वह मुनि संसार के स्वभाव का परिगणन कर-उसे यथावत् जानकर नरक तिर्यक् योनि के दुःखों को उत्प्रेषित कर-देखकर या विचार कर कि संसारी जीवों का आयुष्य स्वल्प होता है-यह सोचकर उसे-संयम में आई हुई अरुचि को त्याग दे । वैसा कर वह एकान्त रूप से संयमानुकूल वाणी बोले । इस प्रसंग का आगे के साथ संबंध है । उस साधु को अनादि काल के अभ्यास के कारण यदि असंयम में-पापयुक्त आचरण में रति-रूचि पैदा हो तो वह उसको अभिभूत कर-दबाकर संयम के पालन में उद्यत रहे।

पुनः सूत्रकार साधु की विशेषता बतलाते हुए कहते हैं । साधु जो गच्छ में-संघ में वास करता है तो बहुत से साधु उसके संयम में सहयोगी होते हैं । कोई ऐसा साधु हो अथवा प्रतिमाप्रतिपन्न-प्रतिमाधारी एकाकी विहरणशील हो-अकेला विचरता हो या जिनकल्पी आदि हो, वह बहुत से साधुओं के साथ या अकेला विचरता हो, उससे कोई पूछे या न पूछे तो वह धर्मकथा-प्रवचन के अवसर पर अथवा अन्य समय ऐसा बोले जो संयमानुकूल हो, जिससे संयम में बाधा न हो, जो धर्म से संबद्ध हो । क्या परिगणन कर-चिंतन कर साधु ऐसा करे । अथवा वह क्या बोले ? इस संदर्भ में सूत्रकार कहते हैं-जीव एकाकी ही अपने शुभ अशुभ कर्मों को लेकर परलोक में जाता है । कोई उसका सहायक नहीं होता । वह अपने कर्मों के साथ ही भवान्तर से-अन्य भव से आता है । इसलिये कहा गया है-जीव अकेला ही कर्म करता है, उनका फल भी अकेला ही भोगता है, अकेला ही उत्पन्न होता है और अकेला ही मृत्यु को प्राप्त करता है, तथा अकेला ही अन्य भव में गमन करता है-इत्यादि । इसलिये इस संसार में एकमात्र धर्म के अतिरिक्त अन्य कोई भी वास्तव में सहायक नहीं है । यह विचार कर साधु संयमानुप्राणित वचन बोले ।

❀ ❀ ❀

सयं समेच्चा अदुवाऽवि सोच्चा, भासेज्ज धम्मं हिययं पयाणं ।
जे गरहिया सणियाणप्पओगा, ण ताणि सेवंति सुधीरधम्मा ॥१९॥

छाया – स्वयं समेत्याऽथवाऽपि श्रुत्वा, भाषेत धर्मं हितकं प्रजानाम् ।
ये गर्हिताः सनिदानप्रयोगाः न तान् सेवन्ते सुधीरधर्माणः ॥

अनुवाद – साधु धर्म को-धार्मिक सिद्धान्तों को स्वयं जानकर अथवा अन्य से श्रवण कर ऐसा उपदेश करे जो लोगों के लिये हितकर हो । जो कार्यगर्हित-निन्दित या बुरे हैं तथा जो सनिदान-फल पाने हेतु किये जाते हैं धीर-मेधावी, आत्मपराक्रमी साधु उन्हें नहीं करते ।

टीका – किञ्चान्यत्-'स्वयम्' आत्मनापरोपदेशमन्तरेण 'समेत्य' ज्ञात्वा चतुर्गतिकं संसारं तत्कारणानि च मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगरूपाणि तथाऽशेषकर्मक्षयलक्षणं मोक्षं तत्कारणानि च सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्राण्येतत्सर्वं स्वत एवावबुध्यान्यस्माद्वाऽऽचार्यादे, सकाशाच्छ्रुत्वाऽन्यस्मै मुमुक्षवे 'धर्मं' श्रुतचारित्राख्यं भाषेत, किंभूतं ?- प्रजायन्त इति प्रजाः-स्थावरजङ्गमाः जन्तवस्तेभ्यो हितं सदुपदेशदानतः सदोपकारिणं धर्मं ब्रूयादिति । उपादेयं प्रदर्श्य हेयं प्रदर्शयति-ये 'गर्हिता' जुगुप्सिता मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगाः कर्मबन्ध हेतवः सहनिदानेन वर्तन्त इति सनिदानाः प्रयुज्यन्त इति प्रयोगा-व्यापारा धर्मकथाप्रबन्धा वा ममास्मात्सकाशात्किञ्चित् पूजालाभसत्कारादिकं भविष्यतीत्येवंभूतनिदानाऽऽशंसारूपास्तांश्चारित्रविघ्नभूतान् महर्षयः सुधीरधर्माणो 'न सेवन्ते' नानुतिष्ठन्ति । यदिवा ये गर्हिताः सनिदाना वाक्प्रयोगाः, तद्यथा-कुतीर्थिकाः सावद्यानुष्ठानरता निःशीलानिर्व्रताः कुण्टलवेण्टलकारिण इत्येवंभूतान् परदोषोद्घट्टनया मर्मवेधिनः सुधीर धर्माणो वाक्कण्टकान् 'न सेवन्ते' न ब्रुवत इति ॥१९॥

टीकार्थ – संसार चार गतियुक्त है । मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद कषाय, योग संसार के-आवागमन के कारण हैं एवं अशेष-समग्र कर्मों के क्षय से मोक्ष प्राप्त होता है । सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र उसके हेतु हैं । साधु इन्हें स्वयं-अपने आप जानकर अथवा अन्य से-आचार्यादि से श्रवण कर अन्य मुमुक्षु-मोक्षार्थी पुरुष को श्रुत एवं चारित्र मूलक धर्म का उपदेश करे । किस प्रकार के धर्म का उपदेश करे इस संबंध में बतलाते है-जो उत्पन्न होते हैं, उन्हें प्रजा कहा जाता है, स्थावर एवं जंगम प्राणी प्रजा के अन्तर्गत आते है उनको उस धर्म का उपदेश करे जो उनके लिये सदैव हितकर हो । उपादेय को प्रदर्शित कर हेय को प्रकट करते हैं । जो गर्हित-जुगुप्सित या घृणा योग्य है, कर्म बंध के हेतु हैं जैसे मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय तथा योग इनको तथा धर्म कथा आदि प्रयोग-कार्य जो निदान-फल की आकांक्षा के साथ किये जाते हैं । जैसे मुझे इनसे पूजा-लाभ सत्कार आदि प्राप्त होते होंगे । इस आशंसा कामना से युक्त होते हुए जो चारित्र में विघ्न भूत-बाधक हैं इनको सुधीर धर्मा-धर्म में अत्यन्त दृढ़, महर्षि-महान संत, सेवन अनुसरण नहीं करते। अथवा जो गर्हित-निन्दित है तथा सनिदान-फलाभिकांक्षा युक्त है जैसे-कुतीर्थिक पापपूर्ण कार्यों में संलग्न रहते हैं, वे निःशील है, व्रतशून्य है, बेकार है ऐसे अन्यों के दोषों का उद्घाटन करने वाले मर्मवेदी-मर्मस्थान को पीड़ा देने वाले वचनों का सुधीर धर्मा संत सेवन नहीं करते-वैसे वचन नहीं बोलते ।

❀ ❀ ❀

केसिंचि तक्काइ अबुज्झ भावं, खुद्दंपि गच्छेज्ज असद्दहाणे ।
आउस्स कालाइयारं वघाए, लद्धाणुमाणे य परेसु अट्ठे ॥२०॥

छाया – केषाञ्चित्तर्कयाऽबुद्ध्वा भावं, क्षुद्रत्वमपि गच्छेदश्रद्दधानः ।
आयुषः कालातिचारं व्याघातं, लब्धानुमानः परेष्वर्थान् ॥

अनुवाद – बुद्धि द्वारा अन्य का आशय न जानकर धर्मोपदेश करने से वह अन्य पुरुष अश्रद्धा करता हुआ क्षुद्रत्व-क्रोध आदि ओछेपन को भी अपना सकता है । वह उपदेश देने वाले साधु का हनन भी कर सकता है । इसलिये साधु अनुमान द्वारा अन्य का अभिप्राय समझे तथा फिर उसे धर्म का उपदेश दे ।

टीका – किञ्चान्यत्-केषाञ्चिन्मिथ्यादृष्टीनां कुतीर्थिकभावितानां स्वदर्शनाऽऽग्रहिणां 'तर्कया' वितर्केण स्वमतिपर्यालोचनेन 'भावम्' अभिप्राय दुष्टान्तः करणवृत्तित्वमबुद्ध्वा कश्चित्साधुः श्रावको वा स्वधर्मस्थापनेच्छया

तीर्थिकतिरस्कारप्रायं वचो ब्रूयात्, स च तीर्थिकस्तद्वचः 'अश्रद्दधानः' अरोचयन्नप्रतिपद्यमानोऽतिकटुकं भावयन् 'क्षुद्रत्वमपि गच्छेद्' तद्विरुपमपि कुर्यात् पालकपुरोहितवत् स्कन्दकाचार्यस्येति । क्षुद्रत्वगमनमेव दर्शयति-स निन्दावचनकुपितो वक्तुर्यदायुस्तस्यायुषो 'व्याघातरूपं' परिपेक्षस्वभावं कालातिचारं-दीर्घस्थितिकमप्यायुः संवर्त्तयेत्, एतदुक्तं भवति-धर्मदेशना हि पुरुष विशेषं ज्ञात्वा विधेया, तद्यथा-कोऽयं पुरुषो राजादिः ? कं च देवताविशेषं नतः ? कतरद्वा दर्शनयाश्रितोऽभिगृहीतोऽनभिगृहीतो वाऽयमित्येवं सम्यक् परिज्ञाय यथार्हं धर्मदेशना विधेया, यश्चैतबुद्ध्वा किञ्चिद्धर्मदेशनाद्वारेण परविरोधकृद्धचो ब्रूयात् स परस्मादैहिकामुष्मिकयोर्मरणादिकमपकारं प्राप्नुयादिति, यत एवं ततो लब्धमनुमानं येन पराभिप्राय परिज्ञाने स लब्धानुमानः 'परेषु प्रतिपाद्येषु यथायोगं यथार्हप्रतिपत्त्या 'अर्थान्' सद्धर्मप्ररूपणादिकान् जीवादीन् वा स्वपरोपकाराय ब्रूयादिति ॥२०॥ अपि च -

टीकार्थ – जो कुतीर्थिकों से प्रभावित है, अपने सिद्धान्तों में आग्रहयुक्त है । ऐसे मिथ्यादृष्टि पुरुष की अन्तःकरणवृत्ति-अन्तरभावना दुष्ट-दूषित होती है उसे अपनी बुद्धि द्वारा पर्यालोचित कर समझे बिना कोई साधु अथवा श्रावक अपने धर्म की स्थापना की इच्छा से-अपना धर्म समझाने की भावना से कुतीर्थिकों को अपमानपूर्ण वचन कहता है तो वह उस साधु या श्रावक के कथन में श्रद्धा न करता हुआ, अरुचि दिखाता हुआ उसके वचन को अत्यंत कठोर मानकर क्रोध आदि ओछेपन तक पहुंच सकता है । क्रोधवश उस साधु को विरुप-अंक विहीन, क्षत-विक्षत भी कर सकता है । जैसे स्कन्दाचार्य को पालक पुरोहित ने कर डाला था । वह किस प्रकार क्षुद्रत्व तक पहुंच सकता है । इसका दिग्दर्शन कराते हुए कहते हैं । वह पुरुष अपने धर्म के विषय में कहे गये निन्दा युक्त वचन से क्रुद्ध होकर उस साधु के दीर्घ स्थिति युक्त-लम्बे आयुष्य का संवरण-विनाश भी कर सकता है-जान भी ले सकता है । कहने का अभिप्राय यह है कि पुरुष विशेष को जानकर-व्यक्ति को पहचान कर धर्म देशना-धर्म शिक्षा देनी चाहिये । जैसे यह राजा आदि पुरुष जिसे उपदेश देना है कौन है ? यह किस देव के प्रति भक्तिमान है ? किस दर्शन में आस्थाशील है ? तथा यह किस मत में अभिगृहीत-आग्रहयुक्त है ? अनभिगृहीत-आग्रहशून्य है ? यह भली भांति परिज्ञात कर जैसा योग्य हो धर्म देशना देनी चाहिये । जो यह न जानकर धर्म देशना के अन्तर्गत ऐसा वचन बोलता है जिसमें दूसरे का विरोध हो तो वह दूसरा व्यक्ति उसके प्राण तक ले सकता है या ऐसा अपकार कर सकता है जिससे उपदेश देने वाले साधु या श्रावक को यह लोक या परलोक दोनों अपकृत हो जाते हैं-बिगड़ जाते हैं । इसलिये अनुमान द्वारा दूसरे के भाव को परिज्ञात कर जिस प्रकार उचित हो उस प्रकार सद्धर्म के प्रतिपालक सिद्धान्तों का-जीवादि तत्त्वों का अपने और अन्य के उपकार हेतु निरूपण करना चाहिये ।

❀ ❀ ❀

कम्मं च छंदं च विगिंच धीरे, विणइज्ज उ सव्वओ (हा) आयभावं ।
रूवेहिं लुप्पंति भयावहेहिं, विज्जं गहाया तसथावरेहिं ॥२१॥

छाया – कर्म च छन्दश्च विवेचयेद्धीरः विनयेत्तु सर्वत आत्मभावम् ।
रूपैर्लुप्यन्ते भयावहैः विद्वान् गृहीत्वा त्रसस्थावरेभ्यः ॥

अनुवाद – धीर पुरुष जिन्हें धर्म देशना देनी हो, उनके कर्म एवं भाव को समझ कर उपदेश दे । उनके मिथ्यात्व का नाश करे । उन्हें समझाए कि रूप-नारी सौंदर्यादि भयप्रद है । जो उनमें लुब्ध रहता है-लोलुप रहता है, वह विनाश प्राप्त करता है । इसलिये ज्ञानी पुरुष दूसरों के अभिप्राय को समझ कर उन्हें वैसा उपदेश दे जिससे जंगम एवं स्थावर प्राणियों का हित सधे ।

टीका – 'धीरः' अक्षोभ्यः सद्बुद्ध्यलङ्कृतो वा देशनावसरे धर्मकथाश्रोतुः 'कर्म' अनुष्ठानं गुरुलघु कर्मभावंतातथा 'छन्द' अभिप्रायं सम्यक् 'विवेचयेत्' जानीयात्, ज्ञात्वा च पर्षदनुरूपामेव धर्मकथिको धर्म देशनां कुर्यात् सर्वथा यथा तस्य श्रोतुर्जीवादिपदार्थावगमो भवति यथा च मनो न दूष्यते, अपि तु प्रसन्नतां व्रजति, एतदभिसंधिमानाह-विशेषेण नयेद्-अपनयेत् पर्षदः 'पापभवम्' अशुद्धमन्तःकरणं, तुशब्दाद्विशिष्टगुणारोपण च कुर्यात्, 'आयभावं ति क्वचित्पाठः, तस्यायमर्थः-'आत्मभावं:' अनादिभवाभ्यस्तो मिथ्यात्वादिकस्तमपनयेत्, यदिवाऽऽत्मभावोविषयगृध्नुताऽतस्तमपनयेदिति । एतद्दर्शयति-'रूपैः' नय न मनोहारिभिः स्त्रीणामङ्गप्रत्यङ्गार्द्धकटाक्षनिरीक्षणादिभिरल्पसत्त्वा 'विलुप्यन्ते' सद्धर्माद्भाध्यन्ते, किंभूतै रूपैः ? 'भयावहैः' भयमावहन्ति भयावहानि, इहैव तावद्रूपादिविषयासक्तस्य साधुजनजुगुप्सा नानाविधाश्च कर्णनासिकाविकर्तनादिका विडम्बनाः प्रादुर्भवन्ति जन्मान्तरे च तिर्यङ्नरकादिके यातनास्थाने प्राणिनो विषयासक्ता वेदनामनुभवन्तीत्येवं 'विद्वान्' पण्डितो धर्मदेशनाभिज्ञो गृहीत्वा पराभिप्रायं-सम्यगवगम्य पर्षदं त्रसस्थावरेभ्यो हितं धर्ममाविर्भावयेत् ॥२१॥

टीकार्थ – धीर-अक्षोभ्य-क्षुब्ध नहीं होने वाला, सद्बुद्धि से अलंकृत-श्रेष्ठ बुद्धि से सुशोभित पुरुष धर्मदेशना के अवसर पर धर्मोपदेश सुनने वाले पुरुष के कर्म-आचरण अथवा उसके गुरु लघु कर्म भाव-यह पुरुष गुरु कर्मा है या लघु कर्मा है, उसका भाव कैसा है-यह भली भांति जाने, जानकर परीषद्-धर्मसभा के अनुरुप धर्म का कथन करे-धर्म देशना दे । जिससे श्रोता को जीवादि पदार्थों का अवगम-बोध हो तथा उनका मन दूषित-विकृत या व्यथित न हो किंतु प्रसन्नता पाए । इसकी अभिसंधि-अभिप्राय प्रकट करते हुए सूत्रकार कहते हैं-परिषद के श्रोताओं के अन्तःकरण के अशुद्ध भाव को अपनीत-दूर करे । यहां आये हुए 'तु' शब्द से यह सूचित है कि उसमें विशिष्ट गुणों का आरोपण-संस्थापन करे। कहीं 'आयभावं' ऐसा पाठ प्राप्त होता है । उस का यह आशय है कि अनादि काल से अभ्यस्त-मिथ्यात्व आदि आत्मभाव जिसे अपना रखा है, साधु उपदेश द्वारा दूर करे । अथवा विषयों में-भोगों में आसक्तियां लोलुपता को आत्मभाव कहा जाता है । साधु उसे दूर करे । शास्त्रकार इसका दिग्दर्शन कराते हुए कहते हैं-स्त्रियों के नयन-मनोहर नेत्रों को तथा मन को आकृष्ट करने वाले अंग प्रत्यंग, अर्द्ध कटाक्ष निरीक्षण-टेढी निगाहों से अवलोकन आदि द्वारा अल्प सत्व-अल्प आत्म पराक्रम विहीन जीव, धर्म से विलुप्त-पतित हो जाते हैं । किस प्रकार के रूपों द्वारा ? उत्तर में कहा जाता है-भयावह रूपों द्वारा । जो भय का आह्वान करते हैं-भय उत्पन्न करते हैं उन्हें भयावह कहा जाता है । स्त्री के रूप आदि विषयों में जो आसक्त-लोलुप होता है इस लोक में वह सतपुरुषों द्वारा निन्दित होता है । वह कान नाक आदि काट लिये जाने तक की विडम्बनाएं-यातनाएं प्राप्त करता है । जन्मान्तर-आगे के जन्म में वह नरक एवं तिर्यंच आदि यातना स्थानों में उत्पन्न होकर कष्ट भोगता है । धर्म देशना देने में कुशल विद्वान् पुरुष दूसरे के अभिप्राय-अन्तर्भाव को भलीभांति अवगत कर धर्म का उपदेश करे जो त्रस एवं स्थावर प्राणियों के लिये हितप्रद है ।

❀ ❀ ❀

न पूयणं चेव सिलोयकामी, पियमप्पियं कस्सइ णो करेज्जा ।
सव्वे अणट्ठे परिवज्जयंते, अणाउले या अकसाइ भिक्खू ॥२२॥

छाया – न पूजनञ्चैव श्लोक कामी, प्रियमप्रियं कस्यापिनोकुर्य्यात् ।
सर्वान् अनर्थान् परिवर्जयन् अनाकुलश्चाकषायी भिक्षुः ॥

अनुवाद – साधु धर्मोपदेश द्वारा अपनी पूजा-प्रतिष्ठा तथा श्लोक-यश की कामना न करे । वह ऐसा कुछ न करे जो किसी को प्रिय-प्रीतिकर लगता हो और किसी को अप्रिय-अप्रीतिकर प्रतीत होता हो । वह समस्त अनर्थों का-दुष्कार्यों का वर्जन करता हुआ अनाकुल-कषाय शून्य होकर धर्म का उपदेश करे ।

टीका – पूजासत्कारादिनिरपेक्षण च सर्वमेव तपश्चरणादिकं विधेयं विशेषतो धर्मदेशनेत्येतदभिप्रायवानाह-साधुर्देशनां विदधानो न पूजनं-वस्त्र-पात्रादिलाभरूपमभिकाङ्क्षेन्नापि श्लोकं-श्लाघां कीर्तिम् आत्मप्रशंसा 'कामयेद्' अभिलषेत् तथा श्रोतुर्यत्प्रियं राजकथाविकथादिकं छलितकथादिकं च तथाऽप्रियं च तत्समाश्रितदेवता विशेष निन्दादिकं न कथयेद्, अरक्तद्विष्टतया श्रोतुरभिप्रायमभिसमीक्ष्य यथावस्थितं धर्मं सम्यग्दर्शनादिकं कथयेत्, उपसंहारमाह-'सर्वाननर्थान्' पूजासत्कारलाभाभिप्रायेण स्वकृतान् परदूषणतया च परकृतान् 'वर्जयन्' परिहरन् कथयेद् 'अनाकुलः' सूत्रार्थादनुत्तरन् अकषायी भिक्षुर्धर्मवेदिति ॥२२॥

टीकार्थ – साधु पूजा-प्रतिष्ठा, सत्कार-सम्मान आदि से निरपेक्ष-निराकांक्ष होकर तपश्चरणादि धार्मिक कृत्य करे । धर्मदेशना तो विशेषतः ऐसी स्थिति में होता हुआ करे, इस अभिप्राय-आशय को उद्दिष्ट कर सूत्रकार कहते हैं-धर्म देशना करता हुआ-उपदेश देता हुआ साधु वस्त्र तथा पात्र आदि के लाभ के रूप में सत्कार सम्मान की कामना न करे और न वह अपनी प्रशस्ति की अभिलाषा रखे। श्रोता को जो प्रिय-प्रीतिप्रद लगे, ऐसी राजकथा, विकथा तथा छलित कथा आदि तथा श्रोता के लिये अपने अप्रीतिप्रद उस द्वारा समाश्रित अभिपूजित देवत्त्व की निन्दा आदि न करे । वह अरक्त अदृष्ट-राग द्वेष रहित होकर श्रवण करने के भाव का अभिसमिक्षण कर-भली भांति समझ कर यथावस्थित धर्म-सत्य धर्म जो सम्यक्दर्शन आदि रूप है-का कथन-प्रतिपादन करे। उपसंहार करते हुए-सार संक्षेप बतलाते हुए कहते हैं साधु सभी अनर्थों का-पूजा, सत्कार तथा लाभ पाने हेतु अपने द्वारा किये गये परदूषणता-औरों पर दोषारोपण करने के कारण दूसरों द्वारा किये गये अनर्थों का वर्जन-परिहार करते हुए वह उपदेश करे । धर्म देशना दे अनाकुल-आकुलता रहित आत्मस्थिर होता हुआ, सूत्र के अर्थ से नहीं हटता हुआ कषाय रहित होकर भाषण करे ।

❀ ❀ ❀

आहत्तहीयं समुपेहमाणे सव्वेहिं पाणेहिं णिहाय दंडं ।
णो जीवियं णो मरणाहिकंखी, परिव्वएज्जा वलयाविमुक्के
(मेहावी वलयविप्पमुक्के) ॥२३॥ त्तिबेमि ॥

छाया – याथातथ्यं समुत्प्रेक्षमाणः सर्वेषु प्राणिषु निधाय दण्डम् ।
नो जीवितं नो मरणाभिकाङ्क्षी, परिव्रजेद् बलयाद् विमुक्त ।इति ब्रवीमि ॥

अनुवाद – साधु याथातथ्य-यथार्थ या सत्य धर्म को समुत्प्रेक्षित करता हुआ भली भांति देखता हुआ-स्वायत्त करता हुआ समस्त प्राणियों की हिंसा का परिवर्जन कर जीवन तथा मृत्यु से निरांकाक्ष होकर माया का परित्याग करे-विहरण करे ।

टीका – संबाध्ययनोपसंहारार्थमाह-'आहात्तीय' मित्यादि, यथातथाभावो याथातथ्यंधर्ममार्गसमवसरणाख्याध्ययन त्रोयक्तार्थतत्त्वं सूत्रानुगतं सम्यक्त्वं चारित्रं वा ततः 'प्रेक्षमाणाः' पर्यालोचयन् सूत्रार्थं सदनुष्ठानतोऽध्यस्यन् 'सर्वेषु' स्थावरजङ्गमेषु सूक्ष्मबादरभेदभिन्नेषु पृथिवी कायादिषु दण्डयन्ते प्राणिनो येन स दण्डः प्राणव्यपरोपणविधिस्तं

'निधाय' परित्यज्य, प्राणात्ययेऽपि याथातथ्यं धर्मं नोल्लङ्घयेदिति । एतदेव दर्शयति-'जीवितम्' असंयमजीवितं दीर्घायुष्कं वा स्थावरजङ्गमजन्तुदण्डेन नाभिकांक्षी स्या (क्षे) त् परीषहपराजितो वेदनासमुद्घात (समव) हतो वा तद्वेदनाम (भि) सहमानो जलानलसंपातापादितजन्तूपमर्देन नापि मरणाभिकाङ्क्षी स्यात् । तदेवं याथातथ्यमुत्प्रेक्षमाणः सर्वेषु प्राणिषुपरतदण्डो जीवितमरणानपेक्षी संयमानुष्ठानं चरेद-उद्युक्तविहारी भवेत् 'मेधावी' मर्यादाव्यवस्थितो विदितवेद्यो वा वलयेन-मायारूपेण मोहनीय-कर्मणा वा विविधं प्रकर्षेण मुक्तो विप्रमुक्त इति ॥ इतिः परिसमाप्त्यर्थे ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥२३॥ समाप्तं च याथातथ्यं त्रयोदशमध्ययनमिति ॥

टीकार्थ – शास्त्रकार समग्र अध्ययन का उपसंहार करते हुए कहते हैं-जो जैसा है, उसका वैसा भाव याथातथ्य कहा जाता है । साधु धर्म, मार्ग तथा समोसरण नामक तीन अध्ययनों में वर्णित तत्त्व सम्यक्त्व एवं चारित्र का सूत्रानुगत-सूत्रानुरूप प्रेक्षण-पर्यालोचन करता हुआ उत्तम अनुष्ठान-उद्यम द्वारा सूत्र का अभ्यास करता हुआ, स्थावर एवं जंगम तथा सूक्ष्म और बादर भेदयुक्त पृथ्वीकाय आदि प्राणियों का जिससे नाश हो, उस दण्ड-प्राणव्ययरोपण रूपहिंसा का त्याग कर प्राण चले जाने की स्थिति आ जाये तो भी सत्य धर्म का लंघन न करे । शास्त्रकार इसी बात का दिग्दर्शन कराते हैं-साधु असंयम जीवन-असंयम के साथ जीने की तथा स्थावर एवं जंगम प्राणियों की हिंसा के साथ दीर्घ जीवन की अभिकांक्षा न करे । वह परीषह से पराजित-परिश्रान्त होकर अनेक वेदनाओं-पीड़ाओं से अभिहत होकर उन्हें सहने में अपने को अक्षम मानता हुआ पानी में डूबकर, अग्नि में जलकर अथवा किसी हिंसक जन्तु द्वारा अपना उपमर्द-व्यापादन कराकर मृत्यु की आकांक्षा न करे। इस प्रकार वह सत्यधर्म का उत्प्रेक्षण करता हुआ-उस पर दृष्टि रखता हुआ, सब प्राणियों की हिंसा से उपरत तथा जीवन एवं मृत्यु से निरपेक्ष-अपेक्षा रहित होकर संयम का अनुसरण करे-संयम के परिपालन में उद्यत रहे । मेधावी-शास्त्रीय मर्यादाओं के अनुरूप-व्यवस्थित विहरणशील तथा विदितवेद्य-जानने योग्य पदार्थों का वेत्ता साधु माया रूपात्मक मोहनीय कर्म से विप्रमुक्त-सर्वथा विमुक्त होकर विचरण शील रहे । यहां 'इति' शब्द समाप्ति के अर्थ में है । ब्रवीमि-बोलता हूं यह पहले की ज्यों है ।

यह याथातथ्य नामक तेरहवां अध्ययन समाप्त हुआ ।

❀ ❀ ❀

卐 卐 卐

ग्रन्थनामकं चतुर्थशमध्ययनं

गंथं विहाय इण सिक्खमाणो, उट्ठाय सुबंभचेरं वसेज्जा ।
ओवायकारी विणयं सुसिक्खे, जे छेय विप्पमायं न कुज्जा ॥१॥

छाया – ग्रन्थं विहायेह शिक्षमाणः, उत्थाय सुब्रह्मचर्य्यं वसेत् ।
अवपातकारी विनयं सुशिक्षेत्, यच्छेका प्रमादं न कुर्य्यात् ॥

अनुवाद – ग्रन्थ-परिग्रह का परित्याग कर शिक्षा प्राप्त करता हुआ पुरुष उत्थित-दीक्षित होकर भली भांति ब्रह्मचर्य-संयम का पालन करे । वह आचार्य के आदेश का परिपालन करता हुआ विनय की शिक्षा ले। छेक-विज्ञ या निपुण पुरुष संयम में कभी प्रमाद न करे ।

टीका – 'इह' प्रवचने ज्ञातसंसारस्वभावः सन् सम्यगुत्थानेनोत्थितो ग्रथ्यते आत्मा येन स ग्रन्थो-धनधान्य-हिरण्यद्विपदचतुष्पदादि 'विहाय' त्यक्त्वा प्रव्रजितः सन् सदुत्थानेनोत्थाय च ग्रहणरूपामासेवनारूपां च शिक्षां (च) कुर्वाणः-सम्यगासेवमानः सुष्ठु-शोभनं नवभिर्ब्रह्मचर्यगुप्तिभिर्गुप्तमाश्रित्य ब्रह्मचर्यं 'वसेत्' तिष्ठेत् 'सुब्रह्मचर्यं' मिति संयमस्तम् आवसेत्-तं सम्यक् कुर्यात् आचार्यान्तिके यावज्जीवं वसमानो यावदभ्युद्यतविहारं न प्रतिपद्यते तावदाचार्यवचनस्यावपातो-निर्देशस्तत्कार्यवपातकारीवचन निर्देशकारी सदाऽऽज्ञाविधायी, विनीयते-अपनीयते कर्म येन स विनयस्तं सुष्ठु शिक्षेद्-विदध्यात् ग्रहणासेवनाभ्यां विनयं सम्यक् परिपालयेदिति । तथा यः 'छेको' निपुणः स संयमानुष्ठाने सदाचार्योपदेशे वा विविधं प्रमादं न कुर्यात्, यथा हि आतुरः सम्यग्वैद्योपदेशं कुर्वन् श्लाघां लाभते रोगोपशमं च एवं साधुरपि सावद्यग्रन्थपरिहारी पापकर्मभेषजस्थानभूतान्याचार्यवचनानि विदधदपरसाधुभ्यः साधुकार म शेष कर्मक्षयं चावाप्नोतीति ॥१॥

टीकार्थ – जिसने जगत के स्वभाव को परिज्ञात किया है-जान लिया है, वह पुरुष सम्यक् उत्थान-आत्मकल्याण हेतु उत्थित-समुद्यत होकर धन, धान्य, सुवर्ण, द्विपद, चतुष्पद आदि परिग्रह का जिससे आत्माग्रथित-संसार के जाल में बद्ध होती है-गूंथी जाती है, परित्याग करे । वह प्रव्रजित होकर आत्मोत्थान के पथ पर अग्रसर होकर ग्रहण रूप एवं आसेवन रूप शिक्षा का सम्यक् परिपालन करता हुआ, नव गुप्तियों से गुप्त-अभिरक्षित उत्तम ब्रह्मचर्य का पालन करे अथवा संयम को सुब्रह्मचर्य कहा जाता है । उसका वह भली भांति अनुसरण करे । यह यावज्जीवन आचार्य के सान्निध्य में निवास करता हुआ, जब तक वह अभ्युद्यत विहार-एकाकी विहार की प्रतिमा स्वीकार न करे तब तक आचार्य के निर्देश-वचन निर्देश का अनुसरण करे, उनकी आज्ञानुसार कार्य करे, जिससे कर्म विनीत या अपनीत होता है-हटाया जाता है दूर किया जाता है उसे विनय कहा जाता है । उसका वह भली भांति शिक्षण प्राप्त करे । ग्रहण शिक्षा एवं आसेवन शिक्षा द्वारा उसका सम्यक्परिपालन करे । इस प्रकार जो पुरुष छेक-कुशल या विज्ञ है, वह संयम के अनुपालन में तथा आचार्य के उपदेश में-उपदेशानुसार चलने में कभी भी किसी प्रकार का प्रमाद न करे । जैसे रुग्ण पुरुष वैद्य के उपदेश-निर्देश का पालन करता हुआ प्रशंसित होता है-रोगमुक्त होता है, इसी प्रकार साधु सावद्यकार्यों का परिहार कर पाप कर्म के लिये औषधि के तुल्य आचार्य के वचनों का पालन करता हुआ अन्य साधुओं के द्वारा साधुकार-साधुवाद का पात्र होता है और वह मोक्ष प्राप्त करता है जो समस्त कर्मों के क्षय का परिणाम है ।

❀ ❀ ❀

जहा दियापोतमपत्तजातं, सावासगा पविउं मन्नमाणं ।
तमचाइयं तरुणमपत्तजातं, ढंकाइ अव्वत्तगमं हरेज्जा ॥२॥

छाया – यथा द्विजपोत मपत्रजातं, स्वावास कात् प्लवितुं मन्यमानम् ।
तमशक्नुवन्तं तरुणमपत्रजातं, ढङ्कादयोऽव्यक्तगमं हरेयुः ॥

अनुवाद – अपत्रजात-जिसके अभी पंख नहीं निकले हैं, ऐसा द्विजपोत-पक्षी का बच्चा जैसे उड़कर अपने घोंसले से दूर जाना चाहता है, उड़ने में सशक्त नहीं होता, व्यर्थ ही पंखों को फडफडाता है, वह ढ़ंक आदि आमिषभक्षी पक्षियों द्वारा मार डाला जाता है । इसी प्रकार जो साधु आचार्य के आदेश बिना एकाकी विचरणशील होता है, वह नष्ट हो जाता है ।

टीका – य पुनराचार्यौपदेशमन्तरेण स्वच्छन्दतया गच्छान्निर्गत्य एकाकिविहारितां प्रतिपद्यते स च बहुदोषभाग् भवतीत्यस्यार्थस्य दृष्टान्तमाविर्भावयन्नाह-'यथे'त्ति दृष्टान्तोप्रदर्शनार्थः 'यथा' येन प्रकारेण 'द्विजपोत' पक्षिशिशुरव्यक्तः, तमेव विशिनष्टि-पतन्ति-गच्छन्ति येनेति पत्रं-पक्षपुटं न विद्यते पत्रजातं-पक्षोद्भवो यस्यासावपत्रजातस्तं तथा स्वकीयादावासकात्-स्वनीडात् प्लवितुम्-उत्पतितुं मन्यमानं तत्र तत्र पतन्तमुपलभ्य तं द्विजपोतं 'अचाइयं' ति पक्षाभावाद्गन्तुमसमर्थमपत्रजातमितिकृत्वा मांसपेशी कल्पं 'ढङ्कादयः' क्षुद्रसत्वाः पिशिताशिनः 'अव्यक्तगमं' गमनाभावे नष्टुमसमर्थं हरेयुः' चञ्च्वादिनोत्क्षिप्य नयेयुर्व्यापादयेयुरिति ॥२॥

टीकार्थ – जो साधु आचार्य के उपदेश के बिना-अनुज्ञा के बिना स्वच्छन्दतापूर्वक संघ से निर्गत होकर एकाकी विहरणशील होता है, वह अनेक दोषों का भागी बनता है । इस संबंध में दृष्टान्त उपस्थित करते हुए सूत्रकार कहते हैं-यहां प्रयुक्त 'यथा' शब्द दृष्टान्त को सूचित करने हेतु है । जिस प्रकार एक पक्षी का बच्चा जो अव्यक्त-अविकसित, उड़ने में अयोग्य है, उसकी विशेषता बतलाते हुए कहते हैं-जिस द्वारा पक्षी उड़ते हैं उसे पत्र-पक्षपुट या पंख कहा जाता है । जिसके अब तक पंख नहीं निकले हैं वह पक्षी का बच्चा अपने आवास से-घोंसले से उड़ने का उपक्रम करता है, उसको उड़ते हुए-गिरते पड़ते देखकर तथा पंखों के न निकलने के कारण भली भांति उड़ने में असमर्थ जानकर उसको मांसपेशी-मांस के लोथड़े के समान समझकर ढंक आदि मांस भक्षी शुद्र प्राणी, वह दौड़कर छिप नहीं पाता अतः उसका हरण कर लेते हैं । उसे चोंच आदि द्वारा उठाकर ले जाते हैं और मार डालते हैं।

❀ ❀ ❀

एवं तु सेहंपि अपुट्ठधम्मं, निस्सारियं बुसिमं मन्नमाणा ।
दियस्स छायं व अपत्तजायं, हरिंसु णं पावधम्मा अणेगे ॥३॥

छाया – एवन्तु शिष्यमप्यपुष्टधर्माणं, निःसारितं वश्यं मन्यमानाः ।
द्विजस्य शावमिवापत्रजातं, हरेयुः पापधर्माणोऽनेके ॥

अनुवाद – जैसे पंख विहीन पक्षी के बच्चे को ढ़ंक आदि हिंसक पक्षी हर लेते हैं-मार डालते हैं, उसी प्रकार जो शिष्य धर्म में अपुष्ट-अपरिपक्व है निःसारित होकर एकाकी विचरण करता है, उसे बहुत से पाखण्डी अपने वश में कर बहका-फुसलाकर धर्म से भ्रष्ट कर डालते हैं ।

टीका – एवं दृष्टान्तं प्रदर्श्य दार्ष्टान्तिकं प्रदर्शयितुमाह-'एव' नित्युक्तप्रकारेण, तु शब्दः पूर्वस्माद्विशेषं दर्शयति, पूर्वं ह्यसंजात पक्षत्वादव्यक्तता प्रतिपादिता इह त्वपुष्टधर्मतयेत्ययं विशेषो, यथा द्विजपोतमसंजातपक्षं स्वनीडान्निर्गतं क्षुद्रसत्त्वा विनाशयन्ति एवं शिक्षमभिनवप्रव्रजितं सूत्रार्थानिष्पन्नमगीतार्थम् 'अपुष्टधर्माणं' सम्यगपरिणतधर्मपरमार्थं सन्तमनेके पापधर्माणः पाषण्डिकाः प्रतारयन्ति, प्रतार्य च गच्छसमुद्रान्निःसारयन्ति, निःसारितं च संतं विषयोन्मुखतामापादितमपगतपरलोकभयमस्माकं वस्यमित्येव मन्यमानाः यदिवा 'बुसिम'न्ति चारित्रं तद् असदनुष्ठानतो निःसारं मन्यमाना अजातपक्षं 'द्विजशावमिव' पक्षिपोतमिव ढङ्कादयः पापधर्माणो मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषायकलुषितान्तरात्मानः कुतीर्थिकाः स्वजना राजादयो वाऽनेके बहवो हृतवन्तो हरति हरिष्यन्ति चेति, कालत्रयोपलक्षणार्थं भूतनिर्देश इति, तथाहि-पाषण्डिका एवमगीतार्थं प्रतारयन्ति, तद्यथा-युष्मद्दर्शने नाग्निप्रज्वालनविषापहारशिखाच्छेदादिकाः प्रत्यया दृश्यन्ते तथाऽणिमाद्यष्टगुणमैश्वर्यं च नास्ति, तथा न राजादिभिर्बहुभिराश्रितं, याऽप्यहिंसोच्यते भवदागमे साऽपि जीवाकुलत्वाल्लोकस्य दुःसाध्या, नापि भवतां स्नानादिकं शौचमस्तीत्यादिकाभिः शठोक्तिभिरिन्द्रजालकल्पाभिर्मुग्धजनं प्रतारयन्ति, स्वजनादयश्चैवं विप्रलम्भयन्ति, तद्यथा-आयुष्मन् ! न भवन्तमन्तरेणास्माकं कश्चिदस्ति पोषकः पोष्यो वा, त्वमेवास्माकं सर्वस्वं, त्वया विना सर्वं शून्यमाभाति, तथा शब्दादिविषयोपभोगामन्त्रणेन सद्धर्माच्यावयन्ति, एवं राजादयोऽपि दृष्टव्याः, तदेवमपुष्टधर्माणमेकाकिनं बहुभिः प्रकारैः प्रतार्यापरेयुरिति ॥३॥

टीकार्थ – इस प्रकार दृष्टान्त उपस्थित कर अब उसका सार बतलाते हुए कहते हैं-यहां 'तु' शब्द पहले की अपेक्षा विशेषता को प्रकट करने के अर्थ में है। पहले की गाथा में पंख न निकलने के कारण अव्यक्तता-अविकसितता या असमर्थता बतलाई गई है। इस गाथा में अपुष्ट धर्मता-धर्म में अपुष्टता या अपरिपक्वता के कारण असमर्थता बतलाई गई है। यह विशेषता है। जैसे अपने घोंसले से निर्गत-निकले हुए पंख रहित पक्षी के बच्चे को शूद्र प्राणी-हिंसक जीव विनष्ट कर देते हैं, मार डालते हैं, उसी प्रकार सूत्र के अर्थ में अनिष्पन्न-अनिष्णात, अगीतार्थ-धर्म तत्त्व के अवेत्ता नवशिक्षित-नवदीक्षित शिष्य को बहुत से पाखण्डी-परमतवादी प्रतारित करते हैं-प्रवञ्चित करते हैं, ठगते हैं। संघ रूपी समुद्र से बाहर खींच लेते हैं। बाहर खिंचे हुए, निकाले हुए उस नव दीक्षित साधु को वे विषयोन्मुख बना देते हैं तथा परलोक के भय से रहित कर देते हैं। तत्पश्चात वह उसे वशगत मानते हुए अथवा असद् अनुष्ठान में निरत होने के कारण चारित्र को निःसार मानते हुए पंख रहित पक्षी के बच्चे को जिस प्रकार ढंक आदि हर लेते हैं वे पापधर्मा-पापिष्ठजन मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद तथा कषाय से कलुषितात्मा अन्य तीर्थिक अपने पारिवारिक जन, राजा आदि या अनेक दूसरे लोग वैसे व्यक्ति का हरण करते रहे हैं और करते रहेंगे। यहां तीनों कालों को उपलक्षित करने हेतु भूतकाल का प्रयोग हुआ है। पाखण्डी पुरुष धर्म में अगीतार्थ-अकुशल साधु को प्रवञ्चित करते हैं-धोखा देते हैं। वे कहते हैं कि तुम्हारे सिद्धान्त में अग्नि प्रज्वालन, विषापहरण तथा शिखाच्छेद आदि प्रत्यय-उपक्रम दृष्टिगोचर नहीं होते। तथा अणिमा आदि आठ विध ऐश्वर्य-सिद्धियों का भी प्रतिपादन नहीं है। राजा आदि बहुत से लोगों द्वारा वह अनाश्रित है। आपके आगम में जो अहिंसा का निरूपण है, वह भी इस जीवाकुल-जीवों से परिपूर्ण संसार में दुःसाध्य है-कठिनाई से सधने योग्य है अर्थात् असाध्यवत् हैं। स्नान, शौच दैहिक शुद्धि भी नहीं है, इस प्रकार वे इन्द्रजाल के समान शठतापूर्ण-मूर्खतायुक्त-दुष्टतायुक्त वचनों से भोले भाले लोगों को धोखा देते हैं-ठगते हैं। उनके पारिवारिक जन उसे इस प्रकार विप्रलब्ध करते हैं-ठगते हैं कि 'आयुष्मान ! तुम्हारे बिना हमारा कौन पोषक-परिलाभक है अथवा हमारा कौन पौष्य है-हम किसका पोषण करें तुम ही हमारे सर्वस्व

हो । तुम्हारे बिना हमको सब शून्यवत् आभासित होता है-प्रतीत होता है शब्दादि विषयों-भोग्य पदार्थों के उपभोग हेतु आमंत्रित करते हुए वे उसे सद्धर्म से च्युत कर देते हैं । इसी प्रकार राजा भी करते हैं, यह समझ लेना चाहिये । इस प्रकार धर्म से अपरिपक्व एकाकी विहरणशील साधु को अनेक प्रकार से प्रतारित कर वे हर लेते हैं, भ्रष्ट कर देते हैं ।

❀ ❀ ❀

ओसाणमिच्छे मणुए समाहिं, अणोसिए णंतकरिंति णच्चा ।
ओभासमाणे दवियस्स वित्तं, ण णिक्कसे बहिया आसुपन्नो ॥४॥

छाया – अवसानमिच्छेन्मनुजः समाधि मनुषितो नान्तकर इति ज्ञात्वा ।
अवभासयन् द्रव्यस्य वृत्तं, न निष्कसेद्बहिराशुप्रज्ञः ॥

अनुवाद – जो साधु गुरुकुल में निवास नहीं करता, वह कर्मों का उच्छेद नहीं कर सकता। यह जानकर उसे चाहिये कि वह सदैव गुरुकुल में निवास करे तथा समाधि के-उत्तम संयम के परिपालन की भावना लिये रहे । वह उस आचार को स्वीकार करे जिसके सहारे साधक मुक्ति प्राप्त करता है। वह गच्छ से वहिर्गत न हो ।

टीका – तदेवमेकाकिनः साधौर्यतो बहवो दोषाःप्रादुर्भवन्ति अतः सदा गुरुपादमूले स्थातव्यमित्येतद्दर्शयितुमाह-'अवसानं' गुरोरन्तिके स्थानं तद्यावज्जीवं 'समाधिं' सन्मार्गानुष्ठानरूपम् 'इच्छेद्' अभिलषेत् 'मनुजो' मनुष्यः साधुरित्यर्थः, स एव च परमार्थतो मनुष्यो यो यथाप्रतिज्ञातंनिर्वाहयति, तच्च सदा गुरोरन्तिके व्यवस्थितेन सदनुष्ठानरूपं समाधिमनुपालयता निर्वाह्यते, नान्यथेत्येतद्दर्शयति-गुरोरन्तिके 'अनुषितः' अव्यवस्थितः स्वच्छन्दविधायी समाधेः सदनुष्ठानुरूपस्य कर्मणो यथाप्रतिज्ञातस्य वा नान्तकरो भवतीत्येवं ज्ञात्वा सदा गुरुकुलवासोऽनुसर्तव्यः, तद्रहितस्य विज्ञानमुपहास्यप्रायं भवतीति, उक्तं च -

"न हि भवति निर्विगोपकमनुपासितगुरुकुलस्य विज्ञानम् । प्रकटितपश्चाद्भागं पश्यत नृत्यं मयूरस्य ॥१॥"

तथाऽजां गलविलग्नवालुकां पार्ष्णिप्रहारेण प्रगुणां दृष्ट्वाऽपरोऽनुपासितगुरुज्ञो राज्ञीं संजातगलगण्डां पार्ष्णिप्रहारेण व्यापादितवान्, इत्यादयः अनुपासितगुर्वोर्बहवो दोषाः संसारवर्धनाद्या भवन्तीत्यवगम्यानया मर्यादया गुरोरन्तिके स्थातव्यमिति दर्शयति-'अवभासयन्' उद्भासयन् सम्यगनुतिष्ठन् 'द्रव्यस्य' मुक्तिगमनयोग्यस्य सत्साधो रागद्वेषरहितस्य सर्वज्ञस्य वा वृत्तम्-अनुष्ठानं तत्सदनुष्ठानतोऽवभासयेद्, धर्मकथिकः कथनतो वोद्भासयेदिति। तदेवं यतो गुरुकुलवासो बहूनां गुणानामाधारो भवत्यतो 'न निष्कसेत्' न निर्गच्छेत् गच्छाद्गुर्वन्तिकाद्वा बहिः, स्वेच्छाचारी न भवेद्, 'आशुप्रज्ञ' इति क्षिप्रप्रज्ञः, तदन्तिके निवसन् विषयकषायाभ्यामात्मानं ह्रियमाणं ज्ञात्वा क्षिप्रमेवाचार्योपदेशात्स्वत एव वा 'निवर्तयति' सत्समाधौ व्यवस्थापयतीति ॥४॥ तदेवं प्रव्रज्यामभि उद्यतो नित्यं गुरुकुलवासमावसन् सर्वत्र स्थानशयनासनादावुपयुक्तो भवति तदुपयुक्तस्य च गुणमुद्भावयन्नाहं -

टीकार्थ – जैसा पहले बताया गया है कि एकाकी साधु में अनेक दोष प्रादुर्भूत हो जाते हैं, इसलिये उसे सदैव गुरु के पादमूल में-चरणों के आश्रय में ही रहना चाहिये । सूत्रकार यह दिग्दर्शन कराते हुए कहते हैं-मानव यावज्जीवन गुरु की सन्निधि में निवास और उत्तम मोक्ष मार्ग का अनुष्ठान-अनुसरण करने की अभिलाषा रखे । वही वास्तव में मानव है-साधु है जो जैसी प्रतिज्ञा की है, उसका यथावत् निर्वाह करता है । वह वास्तव

में सच्चा मानव है । वह प्रतिज्ञा सदैव गुरु के सान्निध्य में निवास करने और सदाचरणमय समाधि का-मोक्ष मार्ग का अनुसरण करने से निभ पाती है-अन्यथा नहीं । इसका दिग्दर्शन कराते हुए कहते हैं-जो गुरु के समीप निवास नहीं करता, वह अव्यवस्थित-व्यवस्थाविहीन होता है, स्वछन्दताचारी होता है । वह प्रतिज्ञात-प्रतिज्ञा किये हुए सदनुष्ठान रूप उत्तम आचारमूलक कर्म को पार लगाने में-भली भांति निभा पाने में समर्थ नहीं होता। यह जानकर सदैव गुरुकुल में वास करना चाहिये । सन्मार्ग का अनुसरण करना चाहिये जो उससे रहित होता है उसका विज्ञान-विद्या हास्यास्पद होती है । कहा गया है-जिसने गुरुकुल की उपासना नहीं की है उसका विज्ञान-उसका निर्विगोपक-निश्चय ही संरक्षक नहीं होता क्योंकि गुरु के शिक्षण के बिना नृत्य करते हुए मयूर की देह का पीछे का भाग प्रकटित-उद्घाटित रहता है । बकरे के गले में लगी हुई बालुका को एडी के प्रहार से झड़ी हुई देखकर एक अन्य अज्ञ-अविवेकी पुरुष ने जो गुरु की उपासना में वर्तनशील नहीं रहा अपनी एडी के प्रहार से उस राणी को मार डाला जिसके गले में गांठ हो गई थी इत्यादि । गुरु की उपासना जिसने नहीं की उसमें बहुत से दोष उत्पन्न हो जाते हैं, जिनसे संसार बढ़ता है । यह जानकर इस वक्ष्यमाण मर्यादा के साथ गुरु के समीप निवास करना चाहिये । सूत्रकार यह व्यक्त करते हुए कहते हैं-धर्म का व्याख्याता मुक्ति गमन योग्य उत्तम साधु के या राग द्वैष विवर्जित सर्वज्ञ के वृत-अनुष्ठान या उत्तम आचरण का अवभासन-प्रकाशन करना चाहिये । गुरुकुल में निवास करने से अनेकानेक गुण आते हैं । अतः साधु को चाहिये कि वह अपने गच्छ से या गुरु के पास से बाहर न जाये, स्वेच्छाचारी न बने । वह आशुप्रज्ञ-तीव्र मेधा का धनी गुरु के समीप रहता हुआ जब यह अनुभव करे कि विषय और कषाय उसकी आत्मा का हरण कर रहे हैं-अभिभूत कर रहे हैं तो वह आचार्य के आदेश या स्वयं आत्मा को, अपने आपको उधर से हटा लेता है तथा समाधि में व्यवस्थापित-संस्थित कर लेता है ।

इस प्रकार अपने प्रव्रजित जीवन में-उसके विकास में उद्यत-तत्पर साधु नित्य गुरु कुलवास में रहता हुआ सर्वत्र स्थान, शयन, आसन आदि में उपयुक्त-उपयोग सहित वर्तता है ।

उस ओर उद्यत साधु को जो गुण प्राप्त होते हैं उन्हें उद्भावित करते हुए सूत्रकार कहते हैं।

❀ ❀ ❀

जे ठाणओ य सयणासणे य, परक्कमे यावि सुसाहुजुत्ते ।
समितीसु गुत्तीसु य आयपन्ने, वियागरिंते य पुढो वएज्जा ॥५॥

छाया – **यः स्थानतश्च शयनासनाभ्याञ्च पराक्रमतश्च सुसाधुयुक्तः ।**
समितिषु गुप्तिषु चावगतप्रज्ञः, व्याकुर्वंश्च पृथग् वदेत् ॥

अनुवाद – गुरुकुल वासी साधु स्थान, शयन, आसन एवं पराक्रम-संयम विषयक उद्यम में उत्तम साधु के सदृश संलग्न रहता है । वह समितियों एवं गुप्तियों का सम्यक् ज्ञाता होता है, पालन करता है । वह अन्य जनों को उनका उपदेश देता है ।

टीका – यो हि निर्विण्णसंसारतया प्रव्रज्यामभि उद्यतो नित्यं गुरुकुलवासतः 'स्थानतश्च' स्थानमाश्रित्य तथा शयनत आसनतः, एकश्चकारः समुच्चये द्वितीयोऽनुक्तसमुच्चयार्थः चकारादमनमाश्रित्यागमनं च तथा तपश्चरणादौ पराक्रमतश्च, (सु) साधोः-उद्युक्तविहारिणो ये समाचारास्तैः समायुक्तः सुसाधुयुक्तः सुसाधुर्हि यत्र स्थानं-कायोत्सर्गादिकं

विधत्ते तत्र सम्यक् प्रत्युपेक्षणादिकां क्रियां करोति, कायोत्सर्गं च मेरुरिव निष्प्रकम्पः शरीर निःस्पृहो विधत्ते, तथा शयनं च कुर्वन् प्रत्युपेक्ष्य संस्तारकं तद्भुवं कायं चोदितकाले गुरुभिरनुज्ञातः स्वपेत्, तत्रापि जाग्रदिव नात्यन्तं निःसह इति। एवमासनादिष्वति तिष्ठता पूर्ववत्संकुचितगात्रेण स्वाध्यायध्यानपरायणेन, सुसाधुना भवितव्यामिति, तदेवमादिसुसाधुक्रियायुक्तो गुरुकुल निवासी सुसाधुर्भवतीति स्थितम् । अपिच-गुरुकुलवासे निवसन् पञ्चसु समितिष्वीर्यासमित्यादिषु प्रविचाररुपासु तथा तिसृषु च गुप्तिषु प्रविचाराप्रविचाररूपासु आगता-उत्पन्ना प्रज्ञा यस्यासावागतप्रज्ञः-संजातकर्त्तव्यविवेकः स्वतो भवति, परस्यापि च 'व्याकुर्वन्' कथयन् पृथक् पृथग्गुरोः प्रसादातापरिज्ञातस्वरूपः समितिगुप्तीनां यथावस्थितस्वरूपप्रतिपालनं तत्फलं च 'वदेत्' प्रतिपादयेदिति ॥५॥

टीकार्थ – संसार से निर्विण्ण-विरक्त होकर प्रव्रजित पुरुष सदा गुरुकुल में वास करने से स्थान, शयन, आसन तथा पराक्रम-तपश्चरण में सम्यक् यत्नशील रहता हुआ उत्तम साधु के सदृश आचरण करता है । श्रेष्ठ साधु जहां कायोत्सर्ग आदि करता है उस स्थान को वह भली भांति देखकर-प्रमार्जित कर कायोत्सर्ग करता है । कायोत्सर्ग में वह मेरु के सदृश निष्प्रकम्प रहता है । शरीर में स्पृहा-आकांक्षा नहीं रखता । शयन बेला में वह भली भांति प्रत्युपेक्षणा कर-आस्तरण, भूमि तथा अपने शरीर का समीक्षण कर गुरु की अनुज्ञा से शास्त्र प्रतिपादित समय में सोता है । सोता हुआ भी वह जागृत के सदृश रहता है, बेभान नहीं होता । इसी प्रकार आसनादि पर जो बैठता है तो वह अपने शरीर को संकुचित कर भली भांति सिकोड कर बैठता है, स्वाध्याय व ध्यान में परायण रहता है । गुरुकुल में निवास करने वाला साधु इस प्रकार श्रेष्ठ साधु की क्रिया में समायुक्त होता है । गुरुकुल में रहता हुआ वह ईर्या आदि प्रविचार रूप पांच समितियों में तथा प्रविचार-अप्रविचार रूप तीन गुप्तियों में कर्त्तव्य विवेक युक्त होता है । गुरु के प्रसाद-अनुग्रह से समितियों और गुप्तियों के स्वरूप को भली भांति जान लेता है। उनका यथावत रूप में-यथाविधि परिपालन करता है एवं उनके फल का-लाभ का औरों को उपदेश देता है ।

❀ ❀ ❀

सद्दाणि सोच्चा अदु भेरवाणि, अणासवे तेसु परिव्वएज्जा ।
निद्दं च भिक्खू न पमाय कुज्जा, कहं कहं वा वितिगिच्छतिन्ने ॥६॥

छाया – शब्दान् श्रुत्वाऽथभैरवान् अनाश्रवस्तेषु परिव्रजेत् ।
निद्राञ्चभिक्षुर्न प्रमादं कुर्य्यात्, कथं कथं वा विचिकित्सातीर्णः ॥

अनुवाद – अनाश्रव-आश्रव रहित, ईर्या आदि समितियों तथा गुप्तियों से युक्त साधु मधुर-कर्ण प्रिय तथा भैरव-भयंकर शब्दों का श्रवण कर राग-द्वेष न करे । वह निद्रामूलक प्रमाद का सेवन न करे तथा यदि किसी विषय में विचिकित्सा-शंका उत्पन्न हो तो गुरु से पूछ कर समाधान प्राप्त करे।

टीका – ईर्या समितित्याद्युपेतेन यद्विधेयं तद्दर्शयितुमाह-'शब्दान्' वेणुवीणादिकान् मधुरान् श्रुतिपेशलान् 'श्रुत्वा' समाकर्ण्यथवा 'भैरवान्' भयावहान् कर्णकटूनाकर्ण्य शब्दान् आश्रवति तान् शोभनत्वेन वा गृह्णातीत्याश्रवो नाश्रवोऽनाश्रवः, तेष्वनुकूलेषु प्रतिकूलेषु श्रवण पथमुपगतेषु शब्देष्वनाश्रवो-मध्यस्थो रागद्वेषरहितो भूत्वा परिसमन्ताद् व्रजेत्-संयमानुष्ठायी भवेत्, तथा 'निद्रांच' निद्राप्रमादं च 'भिक्षुः' सत्साधुः प्रमादाङ्गत्वान्न कुर्यात्, एतदुक्तं भवति-शब्दाश्रवनिरोधेन विषयप्रमादो निषिद्धो निद्रानिरोधेन च निद्राप्रमादः, च शब्दादन्यमपि प्रमादं विकथा

कषायादिकं न विदध्यात् । तदेवं गुरुकुलवासात् स्थानशयनासनसमितिगुप्तिष्वागतप्रज्ञः प्रतिषिद्धसर्वप्रमादः सन् गुरोरुपदेशादेव कथंकथमपि विचिकित्सां-चित्तविप्लुतिरुपां (वि) तीर्णः-अतिक्रान्तो भवति, यदिवा मद्गृहीतोऽयं पञ्चमहाव्रतभारोऽतिदुर्वहः, कथं कथमप्यन्तं गच्छेद् ? इत्येवंभूतां विचिकित्सां गुरुप्रसादाद्वितीर्णो भवति, अथवा यां काञ्चिच्चित्तविप्लुतिं देशसर्वगतां तां कृत्स्नां गुर्वन्तिके वसन् वितीर्णो भवति अन्येषामपि तदपनयनसमर्थः स्यादिति ॥६॥

टीकार्थ – ईर्याआदि समितियों से उपेत-युक्त साधु को जो करना चाहिये उसका दिग्दर्शन कराते हुए कहते हैं । वीणा तथा बांसुरी आदि के मधुर, कर्ण प्रिय शब्दों का अथवा भैरव-भयावह, कर्णकटु शब्दों का श्रवण कर साधु उनमें आश्रव न करें । वस्तु को शोभन और अशोभन रूप से जो ग्रहण करता है उसे आश्रव कहा जाता है । आश्रव का न होना अनाश्रव है । कानों में पड़े हुए अनुकूल और प्रतिकूल शब्दों में वह अनाश्रव भाव से रहे । मध्यस्थ तथा राग-द्वेष से रहित होकर संयम के अनुष्ठान में संलग्न रहे । श्रेष्ठ साधु निद्रा प्रमाद न करे । यहां शब्दाश्रव का निरोध बतलाकर विषय प्रमाद का प्रतिषेध किया है तथा निद्रा के निरोध का कथन कर निद्रामूलक प्रमाद का प्रतिषेध किया है । यहां आये हुए 'च' शब्द से विकथा और कषाय आदि प्रमाद न करने का उपदेश दिया है । इस प्रकार साधु गुरुकुल में वास करने से स्थान, शयन, आसन समिति और गुप्ति-इनमें आगतप्रज्ञः-विवेकशील रहता है तथा समस्त प्रमादों का प्रतिषेध-परित्याग करता हुआ गुरु के उपदेश से विचिकित्सा-चित्त विलुप्ति या शंका को अतिक्रान्त कर जाता है-लांघ जाता है, अथवा यदि साधु के मन में यह चिन्ता हो कि पांच महाव्रतों का यह दुर्वह भार, किसी तरह-बड़ी कठिनाई से पार लगाया जा सके तो अच्छा हो । इस प्रकार की शंका को वह गुरु कृपा से वितिरण कर जाता है-लांघ जाता है अथवा यदि कुछ शंका उत्पन्न होती है तो वह उसे स्वयं सर्वथा पार कर जाता है एवं दूसरों की शंका का भी अपनयन करने में सक्षम होता है ।

❀ ❀ ❀

डहरेण वुड्ढेणऽणुसासिए उ, रातिणिएणावि समव्वएणं ।
सम्मं तयं थिरतो णाभिगच्छे, णिज्जंतए वावि अपारए से ॥७॥

छाया – दहरेण वृद्धेनानुशासितस्तु रत्नाधिकेनाऽपि समवयसा ।
सम्यक्तया स्थिरतो नाभिगच्छेन्नीयमानो वाप्यपारगः सः ॥

अनुवाद – यदि कभी प्रमादवश स्खलना-भूल हो जाय तो अपने से बड़े या छोटे अथवा दीक्षा में बड़े या अपने समवयस्क-समान उम्र वाले साधु द्वारा अनुशासित किया जाय-त्रुटि सुधारने हेतु कहा जाय तो साधु उसे न मानकर कुपित होता है, वह जगत के प्रवाह में बहता रहता है । संसार-सागर को पार नहीं कर पाता ।

टीका – किञ्चान्यत-स गुर्वन्तिके निवसन् क्वचित्प्रमादस्खलितः सन् वयः पर्यायाभ्यां क्षुल्लकेन-लघुना, 'चोदितः' प्रमादाचरणं प्रति निषिद्धः, तथा 'वृद्धेन वा' वयोऽधिकेन श्रुताधिकेन वा 'अनुशासितः' अभिहितः, तद्यथा-भवद्विधानामिदमीदृक् प्रमादाचरणमासेवितुमयुक्तं, तथा 'रत्नाधिकेन वा' प्रवज्यापर्याया-धिकेनश्रुताधिकेन या समवयसा, वा 'अनुशासितः' प्रमादस्खलितापचरणं प्रति चोदितः कुप्यति तथा अहमप्यनेन द्रमक प्रायेणोत्तम कुलप्रसूतः सर्वजन संमत इत्येवं चोदित इत्येवमनुशास्यमानो, न मिथ्यादुष्कृतं ददाति न सम्यगुत्थानेनोत्तिष्ठति नापि तदनुशासनं सम्यक्

स्थिरतः-अपुनःकरणतयाऽभिगच्छेत्-प्रतिपद्येत, चोदितश्च प्रतिचोदयेद्, असम्यक् प्रतिपद्यमानश्चासौ संसारस्रोतसा 'नीयमान' उह्यमानोऽनुशास्यमानः कुपितोऽसौ न संसारार्णवस्य पारगो भवति। यदिवाऽऽचार्यादिना सदुपदेशदानतः प्रमादस्खलितनिवर्तनतो मोक्षं प्रति नीयमानोऽप्यसौ संसार समुद्रस्य तदकरणनोऽपारग एव भवतीति ॥७॥

टीकार्थ – गुरु के सान्निध्य में रहता हुआ साधु यदि किसी विषय में प्रमाद के कारण स्खलना-भूल करे तो उससे वय में अथवा दीक्षापर्याय में छोटा साधु प्रमाद करने का प्रतिषेध करता है अथवा श्रुत में-शास्त्र ज्ञान में या उम्र में बड़ा साधु उसे वैसा करने से रोकता है, उसे अनुशासित करता है-कहता है कि आप जैसे पुरुष के लिये ऐसा प्रमादपूर्ण आचरण करना उचित नहीं है अथवा रत्नाधिक-प्रव्रज्या के पर्य्याय में ज्येष्ठ या शास्त्र ज्ञान में विशिष्ट अथवा समवयस्क-समान आयु का साधु उसे अनुशासित करता है, प्रमाद न करने को प्रेरित करता है तो वैसा किये जाने पर वह साधु यदि अनुशासित करने वाले पर क्रोध करता है और कहता है-मैं उत्तम कुल में उत्पन्न हुआ हूं । सब लोगों द्वारा सम्मानित हूं-मुझ जैसे को यह तुच्छ प्राणी इस प्रकार अनुशासित कर रहा है-सीख दे रहा है । इस प्रकार अनुशासित किये जाने पर वह अपने आचरण के लिये मिच्छामिदुक्कडं नहीं कहता तथा सम्यक् उत्थान से उचित नहीं होता-अपने वास्तविक-साधुत्वानुकूल स्वरूप में नहीं आता, दिये गये अनुशासन में स्थिर नहीं होता। मैं फिर वैसा नहीं करूंगा, ऐसा स्वीकार नहीं करता। प्रेरणा देने वाले को प्रतिप्रेरणा देता है-शिक्षा देने लगता है तो वह साधु संसार के स्रोत में बहता जाता है-अनुशासित करने पर कुपित होता है । अतः वह संसार समुद्र को पार नहीं कर सकता अथवा आचार्य आदि उसे उत्तम उपदेश द्वारा प्रमादवश स्खलना न करने की प्रेरणा देकर मोक्ष की ओर ले जाने का उपक्रम करते हैं किन्तु वह उनके अनुशासन के अनुरूप नहीं चलता । अतः संसार समुद्र को वह पार नहीं कर पाता ।

❀ ❀ ❀

विउट्ठितेणं समयाणुसिट्ठे, डहरेण वुड्ढेण उ चोइए य ।
अच्चुट्ठियाए घडदासिए वा, अगारिणं वा समयाणुसिट्ठे ॥८॥

छाया – व्युत्थितेन समयानुशिष्टो दहरेण वृद्धेन तु चोदितश्च ।
अत्युत्थितया घटदास्यावाऽगारिणां वा समयानुशिष्टः ॥

अनुवाद – व्युत्थित-शास्त्र प्रतिकूल कार्यकारी गृहस्थ आदि द्वारा, अवस्था में छोटे या बड़े द्वारा अथवा अत्यन्त छोटे कार्य करने वाली घट दासी- पनिहारिन तक द्वारा यदि साधु को सद् आचरण की प्रेरणा दी जाय तो भी उसे क्रोध नहीं करना चाहिये ।

टीका – साम्प्रतं स्वपक्षचोदनानन्तरतः (रं) स्वपरचोदनामधिकृत्याह-विरुद्धोत्थानेनोत्थितो व्युत्थितः-परतीर्थिको गृहस्थो वा मिथ्यादृष्टिस्तेन प्रमादस्खलिते चोदितः स्वसमयेन तद्यथा-नैवंविधमनुष्ठानं भवतामागमे व्यवस्थितं येनाभिप्रवृत्तोऽसि, यदिवा व्युत्थितः-संयमाद्भ्रष्टस्तेनापरः साधुः स्खलितः सन् स्वसमयेन-अर्हत्प्रणीतागमानुसारेणानुशासितो मूलोत्तरगुणाचरणे स्खलितः सन् 'चोदित' आगमं प्रदर्श्याभिहितः, तद्यथा-नैतत्त्वरितगमनादिकं भवतामनुज्ञातमिति, तथा अन्येन वा मिथ्यादृष्ट्यादिना 'क्षुल्लकेन' लघुतरेण वयसा वृद्धेन वा कुत्सिताचारप्रवृत्तश्चोदितः, तुशब्दात्समानवयसा वा तथा अतीवाकार्यकरणं प्रति उत्थिता अत्युत्थिताः, यदि वा-दासीत्वेन अत्यन्तमुत्थिता दास्या अपि दासीति, तामेव विशिनष्टि-'घटदास्या' जलवाहिन्यापि चोदितो न

क्रोधं कुर्यात, एतदुक्तं भवति अत्युत्थितयाऽतिकुपितयाऽपि चोदितः स्वहितं मन्यमानः सुसाधुर्न कुप्येत्, किं पुनरन्येनेति ? तथा 'अगारिणां' गृहस्थानांयः 'समयः अनुष्ठानं तत्समयेनानुशासितो, गृहस्थानामपि एतन्न युज्यते कर्तुं यदारब्ध भवतेत्येयवमात्मावमेनापि चोदितो ममैवैतच्छ्रेय इत्येवंमन्यमानो मनागपि न मनो दूषयेदिति॥८॥ एतदेवाह-

टीकार्थ – अपने पक्षवर्ती साधुओं द्वारा प्रदत्त अनुशासन का प्रतिपादन करने के पश्चात् अपने तथा दूसरे पक्षवर्ती जनों द्वारा दिये जाने वाले अनुशासन के सम्बन्ध में सूत्रकार कहते हैं-विरुद्धोत्थापेनोत्थित-शास्त्र विरुद्ध कार्यकारी व्युत्थित कहलाते हैं । परतीर्थी, गृहस्थ और मिथ्यादृष्टि इनमें आते हैं । वे साधु द्वारा प्रमादवश भूल हो जाने पर उसे स्वसमय-साधु द्वारा स्वीकृत दर्शन के अनुसार प्रेरणा दे तथा कहे कि आपके आगम-शास्त्र में ऐसे अनुष्ठान-आचरण का विधान नहीं है जो आप कर रहे हैं अथवा संयम के पतित कोई साधु किसी दूसरे साधु को जो व्रत पालन में स्खलित हो रहा हो, तीर्थंकर प्रणीत आगमों के अनुसार मूल गुणों एवं उत्तर गुणों के आचरण से विचलित उस साधु को प्रेरणा दे । आगम को उद्धृत कर कहे कि-तेज गति से चलना आदि आचरण आपके लिए अनुज्ञात-शास्त्र अनुमोदित नहीं है। तथा दूसरा कोई मिथ्या दृष्टि, वय में कनिष्ठ अथवा ज्येष्ठ पुरुष कुत्सित-अशुभ या निन्दित आचार में प्रवृत्त साधु को सदाचरण की प्रेरणा दे। यहां 'तु' शब्द द्वारा सूचित समवयस्क-अपने समान उम्र का पुरुष भी प्रेरणा दे-अतीव अकार्य करते हुए देखकर प्रेरणा देने हेतु उद्यत अथवा दासी होने के नाते अत्यन्त उत्थित कार्य करने में बेहद उतावली, अतीव अकार्य एवं तुच्छ कार्य करने में निरत घट दासी-जलवाहिनी या पनिहारिन भी उसे सदाचरण की प्रेरणा दे तो वह साधु क्रोध न करे । कहने का तात्पर्य यह है कि वह दासी भी यदि उसे अनाचरणशील देख अत्यन्त कुपित होकर सदाचरण की प्रेरणा दे तो वह साधु उसे अपने लिये हितप्रद मानता हुआ, कुपित न हो, फिर अन्य किसी के द्वारा तो उपदेश दिये जाने पर कुपित होने की बात ही क्या है । गृहस्थों के समय-परम्परा या सद्व्यवहार के अनुसार उसे कोई अनुशासित करता हुआ कहे कि जो आप कर रहे है, वह तो गृहस्थों के लिये भी समुचित नहीं होता । इस प्रकार तिरस्कार के साथ भी यदि उसे सदाचार की ओर प्रेरित किया जाये तो वह यह समझता हुआ कि मेरे लिये यह श्रेयस्कर है, मन में जरा भी विकार न लाये । इसी बात को और कहते हैं -

❀ ❀ ❀

ण तेसु कुज्झे णय पव्वहेज्जा, ण यावि किंची फरुसं वदेज्जा ।
तहा करिस्संति पडिस्सुणेज्जा, सेयं खु मेयं ण पमाय कुज्जा ॥९॥

छाया – न तेषु क्रुध्येन्न च प्रव्यथयेन्न चाऽपि किञ्चित्परुषं वदेत् ।
तथा करिष्यामीति प्रतिशृणुयात्, श्रेयः खलुममेदं न प्रमादं कुर्य्यात् ॥

अनुवाद – पहले कहे अनुसार जो साधु को प्रेरित करे, शिक्षा दे, उन पर वह क्रोध न करे। उन्हें व्यथा-पीड़ा न दे तथा परुष-कठोर वचन न कहे । मैं ऐसा ही करूंगा, ऐसी प्रतिज्ञा करे, इसी में मेरा श्रेय-कल्याण है, यह सोचकर वह प्रमाद न करे-असावधानी न बरते ।

टीका - 'तेषु' स्वपरपक्षेषु स्खलित चोदकेष्वात्महितं मन्यमानो न क्रुध्येद् अन्यस्मिन् वा दुर्वचनेऽभिहिते न कुप्येद् एवं च चिन्तयेत्-

'आक्रुष्टेन मतिमता तत्त्वार्थविचारणे मतिः कार्या । यदि सत्यं कः कोपः ? स्यादनृतं किं नु कोपेन ? ॥१॥

तथा नाप्यपरेण स्वतोऽधमेनापि चोदितोऽहंन्मार्गानुसारेण लोकाचारगत्या वाऽभिहितः परमार्थं पर्यालोच्य तं चोदकं प्रकर्षेण 'व्यथेत्' दण्डादिप्रहारेण पीडयेत् न चापि किञ्चित्परुषं तत्पीड़ाकारि 'वदेत्' ब्रूयात्, ममैवायमसदनुष्ठायिनो दोषो येनायमपि मामेवं चोदयति, चोदितश्चैवंविधं भवता असदाचरणं न विधेयमेवंविधं च पूर्वर्षिभिरनुष्ठितमनुष्ठेयमित्येवंविधं वाक्यं तथा करिष्यादुष्कृतादिनानिवर्तेत, यदेतच्चोदनं नामैतन्ममव श्रेयो, यत एतद्भयात्कचित्पुनः प्रमादं न कुर्यान्नैवासदाचरण मनुतिष्ठेदिति ॥९॥

टीकार्थ – आचार स्खलित होने पर साधु को यदि स्वपक्षवर्ती तथा पर पक्षवर्ती उसकी स्खलना बताये व उसे दुर्वचन-कठोर वचन भी कहे, तो वह उनमें अपनी आत्मा का श्रेयस समझकर बताने वाले पर क्रोध न करे। वह चिन्तन करे कि आक्रोशयुक्त बुद्धिशील पुरुष ने जो कहा है मुझे उसकी वास्तविकता पर चिन्तन-मनन करना चाहिये। यदि सत्य है-उसका आक्रोश सत्य है तो क्रोध की क्या बात है ? यदि असत्य है तो क्रोध से लाभ क्या है ? यदि अपने से अधम-निम्न कोटिय पुरुष भी यदि तीर्थंकर प्ररूपित मार्ग के अनुरूप प्रेरणा दे, अथवा लोक व्यवहार की परम्परा के अनुसार कथन करे तो साधु परमार्थ की पर्यालोचना करता हुआ उस प्रेरक पुरुष को व्यथित-पीडित न करे तथा कठोर वचन कहकर उसे दुःखित न करे, परन्तु वह ऐसा कहे कि मैं असत् अनुष्ठान-अनाचरणीय कार्य में संलग्न हूं, यह मेरा ही दोष है, अतएव मुझे यह प्रेरित करता है। यदि प्रेरणा देने वाला उसे यों कहे कि आपको ऐसा असत् आचरण नहीं करना चाहिये, वरन् आपको तो पहले ऋषियों ने-सत्पुरुषों ने जैसा आचरण किया है, वैसा करना चाहिये, इस पर साधु मध्यस्थ वृत्ति से-तटस्थ भावना से चिन्तन कर यह प्रतिज्ञा करे कि मैं अब ऐसा ही करूंगा तथा अपने द्वारा आचरित दुष्कर्मों के लिये वह अपने को मिच्छामि दुक्कडं दे, मेरे द्वारा किया गया दुष्कृत मिथ्या हो, पुनः मेरे जीवन में न व्यापे, ऐसी भावना लाये। वह सोचे कि मुझे जो प्रेरणा दी गई है उसमें मेरा ही श्रेयस निहित है। साधु इसके भय से-ऐसा न करने से मेरा अहित होगा। यों आत्मभीतिपूर्वक प्रमाद न करे। असद् आचरण का अनुष्ठान न करे।

❀ ❀ ❀

वणंसि मूढस्स जहा अमूढ़ा, मग्गाणुसासंति हितं पयाणं ।
तणेव (तेणावि) मज्झं इणमेव सेयं, जं मे बुहा समणुसासयंति ॥१०॥

छाया – वने मूढस्य यथाऽमूढ़ाः, मार्गमनुशासति हितं प्रजानाम् ।
तेनाऽपि मह्यमिदमेव श्रेयः यन्मे वृद्धाः सम्यगनुशासति ॥

अनुवाद – जैसे वन में भटका हुआ-खोया हुआ पुरुष मार्गवेत्ताओं द्वारा बताये जाने पर प्रसन्न होता है और यह अनुभव करता है कि इससे मेरा हित सधेगा। इसी प्रकार जो ज्ञानीजन उत्तम मार्ग बतलाते हो, साधु यह सोचकर प्रसन्नता का अनुभव करे कि ये मुझे श्रेयस्कर मार्ग बता रहे है, मेरा यही इसमें कल्याण है।

टीका - अस्यार्थस्य दृष्टान्तं दर्शयितुमाह-'वने' गहने महाटव्यांदिग्भ्रमेण कस्यचिद्व्याकुलितमतेर्नष्टसत्पथस्य यथा केचिद परे कृपाकृष्टमानसा 'अमूढ़ाः' सदसन्मार्गज्ञाः कुमार्गपरिहारेण प्रजानां 'हितम्' अशेषापायरहितमीप्सितस्थान प्रापकं 'मार्ग' पन्थानम् 'अनुशासति' प्रतिपादयन्ति, स च तैः सदसद्विवेकिभिः सन्मार्गावतरणमनुशासित आत्मनः

श्रेयो मन्यते, एवं तेनाप्यसदनुष्ठायिना चोदितेन न कुपितव्यम्, अपितु ममायमनुग्रह इत्येवं मन्तव्यं, यदेतद् बुद्धाः सम्यगनुशासयन्ति सन्मार्गेऽवतारयन्ति पुत्रमिव पितरः तन्ममैव श्रेय इति मन्तव्यम् ॥१०॥

टीकार्थ – सूत्रकार इसी तथ्य को दृष्टान्त द्वारा प्रकट करते हुए कहते हैं-घोर अटवी में-भयानक जंगल में दिग्भ्रम हो जाने से कोई व्याकुलितमति हो गया हो-घबरा उठा हो-सही रास्ता भूल गया हो, तब कतिपय अन्य पुरुष जो सत् असत्-ठीक बेठीक मार्ग को जानते हों दया से आकृष्ट होकर उसे कुमार्ग से हटाकर वह रास्ता बतलाये जो समग्र विघ्नों से रहित तथा अभिप्सित स्थान तक पहुंचाने वाला हो। वह उन सत् असत् का विवेक रखने वाले पुरुषों द्वारा सन्मार्ग पर पहुंचा दिये जाने पर अपना कल्याण मानता है । इस प्रकार असद् आचरणशील पूर्वोक्त पुरुष यदि किसी द्वारा प्रेरित किया जाये तो उसे उन पर क्रोध नहीं करना चाहिये । इसने मुझ पर अनुग्रह किया है, यह मानना चाहिये । जिस प्रकार पिता पुत्र को सम्यक् अनुशासित करते हैं, सत् शिक्षा प्रदान करते हैं, सन्मार्ग पर लाते हैं, इसी प्रकार जिन ज्ञानीजनों द्वारा मुझे शिक्षा दी गई है, उसमें भी मेरा कल्याण है ।

❀ ❀ ❀

अह तेण मूढेण अमूढगस्स, कायव्व पूया सविसेसजुत्ता ।
एओवमं तत्थ उदाहु वीरे, अणुगम्म अत्थं उवणेति सम्मं ॥११॥

छाया – अथ तेन मूढ़ेनामूढ़स्स, कर्त्तव्या पूजा सविशेषयुक्ता ।
एतामुपमां तत्रो दाहृतवान् वीरः, अनुगम्यार्थमुपनयति सम्यक् ॥

अनुवाद – मूढ़-मार्गभ्रष्ट पुरुष अमूढ-मार्ग बताने वाले विज्ञजन की विशेष रूप से पूजा-सत्कार करता है । उसी प्रकार सन्मार्ग बताने वाले पुरुष का वह साधु जो संयम में च्युत हो रहा था विशेष रूप से सत्कार करे । उसके उपदेश का अनुगमन करता हुआ उसका उपकार माने । भगवान महावीर ने इस संदर्भ में यह उपमा-दृष्टान्त उदाहृत किया-उपस्थापित किया ।

टीका – पुनरप्यस्यार्थस्य पुष्ट्यर्थमाह-'अथे' त्यानन्तर्यार्थे वाक्योपन्यासार्थे वा, यथा 'तेन' मूढ़ेन सन्मार्गावतारितेन तदनन्तरं तस्य 'अमूढस्य' सत्पथोपदेष्टुः पुलिन्दादेरपि परमुपकारं मन्यमानेन पूजा विशेषयुक्ता कर्त्तव्या, एवमेतामुपमाम् 'उदाहृतवान्' अभिहितवान् वीरः तीर्थंकरोऽन्यो वा गणधरादिकः 'अनुगम्य' बुद्धवा 'अर्थं' परमार्थं चोदनाकृतं परमोपकारं सम्यगात्मन्युपनयति, तद्यथा-अहमनेन मिथ्यात्वनाज्जन्मजरामरणाद्यनेकोपद्रवबहुलात्सदुपदेशदानेनोत्तारितः, ततो मयाऽस्य परमोपकारिणोऽभ्युत्थानविनयादिभिः पूजा विधेयेति । अस्मिन्नथ बहवो दृष्टान्ताः सन्ति, तद्यथा –

"गेहंमि अग्निजालाउलंमि जह णाम डज्झमाणंमि । जो बोहेइ सुयंतं सो तस्स जणो परमबंधू ॥१॥
जह वा विससंजुत्तं भत्तं निद्धमिह भोतुकामस्स । जो वि सदोसं साहइ सो तस्स जणो परम बंधू ॥२॥"

छाया – गृहेऽग्नि ज्वालाकुले यथा नाम दह्यमाने । यो बोधयति सुप्तं स तस्य जनः परम बान्धवः ॥१॥
यथा विषसंयुक्तभक्तंस्निग्धंइह मौक्तुकामस्य योऽपि सदोषं साधयति से तस्य परम बन्धुर्जनः ॥२॥ ॥११॥

टीकार्थ – इसी अर्थ की परिपुष्टि-दृढ़ता हेतु सूत्रकार कहते हैं-यहां 'अथ' शब्द का प्रयोग पश्चात् के अर्थ में या वाक्य के उपन्यास-प्रारंभ के अर्थ में आया है । जैसे सन्मार्ग में अवतारित-लाये गये अज्ञ पुरुष

को सत्पथ के उपदेष्टा-सन्मार्ग बताने वाले पुलिंद-किरात आदि का भी परम उपकार मानकर विशेष रूप से सत्कार करना चाहिये । भगवान महावीर ने अथवा गणधरों ने इस संबंध में यह उपमा या उदाहरण प्रस्तुत किया है । उसे अनुगतकर-उसके तत्त्व या रहस्य को समझकर प्रेरणा द्वारा प्रदत्त उपकार को साधु अपनी आत्मा में भली भांति उपन्यस्त करता है-स्थापित करता है । जैसे मैं इस पुरुष द्वारा जन्म, वृद्धावस्था, मरण आदि अनेक उपद्रवों से परिव्याप्त मिथ्यात्व रूपी वन से सदुपदेश द्वारा निकाल दिया गया हूं । अतः मुझे इस परम उपकारी पुरुष का अभ्युत्थान-आने पर सामने खड़े होकर सत्कार विनय आदि द्वारा पूजा संप्रतिष्ठा करनी चाहिये । इस संबंध में बहुत से दृष्टान्त हैं । जैसे आग से जलते हुए घर में सुप्त पुरुष को जो जगाता है, वह उसका परमबन्धु-परमोपकारी होता है । तथा जहर से मिले हुए मधुर भोजन को खाने हेतु उद्यत पुरुष को उस भोजन को दोषयुक्त बताकर खाने से हटाता है-दूर करता है वह उसका परम बंधु-परम हितैषी है ।

❀ ❀ ❀

णेता जहा अंधकारंसि राओ, मग्गं ण जाणाति अपस्समाणे ।
से सूरिअस्स अब्भुग्गमेणं, मग्गं वियाणाइ पगासियंसि ॥१२॥

छाया – नेता यथाऽन्धकारायां रात्रौ, मार्गं न जानात्यपश्यन् ।
स सूर्य्यस्याभ्युद्गमेन, मार्गं विजानाति प्रकाशिते ॥

अनुवाद – जैसे नेता-पथदर्शक पुरुष अंधकारपूर्ण रात्रि में न देख पाने के कारण रास्ता नहीं जान सकता, किन्तु सूर्य उग जाने के पश्चात्-रोशनी हो जाने पर वह मार्ग जान लेता है ।

टीका – अयमपरः सूत्रेणैव दृष्टान्तोऽभिधीयते-यथा हि सजल जल धराच्छादितबहलान्धकारायां रात्रौ 'नेता' नायकोऽटव्यादौ स्वभ्यस्तप्रदेशोऽपि 'मार्गं' पन्थानमन्धकारावृतत्वात्स्वहस्तादिकमपश्यन्न जानातिः -न सम्यक् परिच्छिनत्ति । स एव प्रणेता 'सूर्यस्य' आदित्यस्याभ्युद्गमेनापनीते तमसि प्रकाशिते दिक्चक्रे सम्यगाविर्भूते पाषाणदरीनिम्नोन्नतादिके मार्गं जानाति-विवक्षितप्रदेशप्रापकं पन्थानमभिव्यक्त चक्षुः परिच्छिनत्तिदोषगुणविचारणतः सम्यगवगच्छतीति ॥१२॥ एवं दृष्टान्तं प्रदर्श्य दार्ष्टान्तिकमधिकृत्याह -

टीकार्थ – सूत्रकार इस सूत्र द्वारा उक्त विषय में दूसरा दृष्टान्त अभिहित करते हैं । वन आदि के प्रदेशों-स्थानों को भली भांति जानता हुआ भी कोई पुरुष सजल मेघों से आच्छादित घोर अंधकारमय रात्रि में अंधकार के आवरण से जहाँ हाथ से हाथ नहीं दीखता, वह मार्ग को भलीभांति नहीं जान पाता । वही पथ प्रदर्शक सूर्य के उदित हो जाने पर, अंधकार के नष्ट हो जाने और दिग्मण्डल के प्रकाशित हो जाने पर पथरीले-गुफाओं से युक्त ऊँचे नीचे स्थान दिखलाई देने लगते हैं, तब वह-उसकी नैत्र शक्ति अभिव्यक्त हो जाती है । और वह जहां अभिप्सित स्थान को पहुंचाने वाले रास्ते को, उसके गुण दोष जानता हुआ पहचान लेता है, निश्चित कर लेता है ।

यों दृष्टान्त उपस्थित कर सूत्रकार उनका सार बतलाते हैं ।

❀ ❀ ❀

एवं तु सेहेवि अपुट्ठधम्मे, धम्मं न जाणाइ अबुज्झमाणे ।
से कोविए जिणवयणे ण पच्छा, सूरोदए पासति चभ्खुणेव ॥१३॥

छाया – एवन्तु शिष्योऽप्यपुष्टधर्मा, धर्मं न जानात्यबुध्यमानः ।
स कोविदो जिनवचनेन पश्चात् सूर्योदये पश्यति चक्षुषेव ॥

अनुवाद – जो अपुष्ट धर्मा-धर्म में अपरिपोषित शिष्य सूत्रार्थ से अनभिज्ञ होने के कारण धर्म को नहीं जान पाता, वही जिन वचन में कोविद-निष्णात होकर सूर्योदय होने पर जैसे नेत्र व्यक्त हो जाते हैं-सब कुछ देखने लगते हैं, उसी प्रकार धर्म को जान लेता है ।

टीका – यथा ह्यसावन्धकारावृतायां रजन्यामतिगहनायामटव्यां मार्गं न जानाति सूर्योद्गमेनापनीते तमसि पश्याज्जानाति एवं तु 'शिष्यकः' अभिनवप्रव्रजितोऽपि सूत्रार्थानिष्पन्नः अपुष्टः-अपुष्कल सम्यगपरिज्ञातो धर्मः-श्रुतचारित्राख्यो दुर्गतिप्रसृतज-तुधरणस्वभावो येनासावपुष्टधर्मा, स चागीतार्थः-सूत्रार्थानभिज्ञत्वादबुध्यमानो धर्मं न जानातीति-न सम्यक् परिच्छिनत्ति, स एव तु पश्चादगुरुकुलवासाज्जिनवचनेन 'कोविदः' अभ्यस्तसर्वज्ञप्रणीतागमत्वान्निपुणः सूर्योदयेऽपगतावरणश्चक्षुषेव यथावस्थितान् जीवादीन् पदार्थान् पश्यति, इदमुक्तं भवति-यथाहि इन्द्रियार्थ संपर्कात्साक्षात्कारितया परिस्फुटा घटपटादयः पदार्थाः प्रतीयन्ते एवं सर्वज्ञ प्रणीतागमेनापि सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टस्वर्गापवर्गदेवतादयः परिस्फुटा निःशङ्कं प्रतीयन्त इति । अपिच कदाचिच्चक्षुषाऽन्यथाभूतोऽप्यर्थोऽन्यथा परिच्छिद्यते, तद्यथा-मरुमरीचिकानिचयो जलभ्रान्त्या किंशुकनिचयोऽग्न्याकारेणापीति । नच सर्वज्ञप्रणीतस्यागमस्य क्वाचिदपि व्याभिचारः तदव्यभिचारे हि सर्वज्ञत्वहानिप्रसङ्गात्, तत्संभवस्य चासर्वज्ञेन प्रविषेद्धुमशक्यत्वादिति ॥१३॥

टीकार्थ – जैसे एक पथिक अंधकारावृत-अंधेरे से ढ़की रात में अत्यन्त घने जंगल में रास्ते को नहीं जान पाता, किंतु सूरज के उग जाने पर जब अंधेरा हट जाता है तो वह रास्ता जान लेता है । उसी प्रकार अभिनव प्रव्रजित-नवदीक्षित शिष्य भी सूत्र के अर्थ में अनिष्पन्न-अनिष्णात होने के कारण श्रुत चारित्रमूलक धर्म को भली भांति नहीं जान पाता, जो दुर्गति में जाते हुए जीव को धारण करने में-उसे बचाने में समर्थ है । वह नवदीक्षित शिष्य अगीतार्थ-गीतार्थ नहीं होता, सूत्रार्थ को-तद्गत रहस्य को जानने में अक्षम होता है। अतः वह धर्म का स्वरूप भली भांति समझ नहीं पाता परन्तु वही शिष्य गुरुकुल वास में अर्हत् प्रणीत आगमों का अध्ययन-अभ्यास कर तत्व निष्णात हो जाता है, तथा जीवादि पदार्थों को यथावस्थित रूप में जानता है। कहने का अभिप्राय यह है कि जैसे इन्द्रियों और पदार्थों के संयोग से, साक्षात्कारिता से घट-घड़ा, पट-कपड़ा, आदि पदार्थ साफ साफ प्रतीत होने लगते हैं-दिखाई देने लगते हैं, उसी प्रकार सर्वज्ञ प्ररूपित आगम द्वारा-उनके अध्ययन द्वारा भी सूक्ष्म व्यवहित-व्यवधानयुक्त, विप्रकृष्ट-दूरंगत, स्वर्ग, मोक्ष, देव आदि सभी परिस्फुट-विशद रूप में निःशंक-असंदिग्ध रूप में प्रतीत-अनुभूत होते हैं । यद्यपि कभी कभी चक्षु द्वारा अन्यथाभूत-अन्य प्रकार का पदार्थ किसी और ही रूप में प्रतीत होने लगता है । जैसे मरु मरीचिकानिचय-मरुस्थल में सूर्य की किरणें पानी के रूप में दृष्टिगोचर होती है तथा पलाश के फूल अग्नि के रूप में परिज्ञात होते हैं, पर सर्वज्ञ प्ररूपित आगम में कहीं भी व्यभिचार-दोष या अन्तर नहीं आता । अन्तर आने पर सर्वज्ञत्व घटित नहीं होता । सर्वज्ञ द्वारा प्रतिपादित पदार्थों-तत्त्वों का असर्वज्ञ प्रतिषेध करने में सक्षम नहीं होता-वह वैसा नहीं कर सकता ।

❀ ❀ ❀

उड्ढं अहेयं तिरियं दिसासु, तसा य जे थावरा जे य पाणा ।
सया जए तेसु परिव्वएज्जा, मणप्पओसं अविकंपमाणे ॥१४॥

छाया – ऊर्ध्वमधस्तिर्य्यग्दिशासु, त्रसाश्च ये स्थावरा ये च प्राणाः ।
सदा यतस्तेषु परिव्रजेत् मनाक् प्रद्वेषमविकम्पमानः ॥

अनुवाद – ऊर्ध्व, अधस्तात, तथा तिर्यक् दिशाओं में जो त्रस एवं स्थावर प्राणी विद्यमान हैं-रहते हैं साधु सदैव उनका ध्यान रखता हुआ संयम पालन में उद्यत रहे । वह उनके प्रति जरा भी द्वेष न करता हुआ, अपनी साधना में अविचल रहे ।

टीका – शिक्षको हि गुरुकुलवासितया जिनवचनाभिज्ञो भवति, तत्कोविदश्च सम्यक्मूलोत्तरगुणान् जानाति, तत्र मूलगुणानधिकृत्याह-ऊर्ध्वमधस्तिर्यग् दिक्षु विदिक्षु चेत्यनेन क्षेत्रमङ्गीकृत प्राणातिपात विरतिरभिहिता, द्रव्यतस्तु दर्शयति-त्रस्यन्तीति त्रसाः-तेजो वायू द्वीन्द्रियादयश्च, तथा ये च स्थावराः-स्थावर नामकर्मोदयवर्तिनः पृथिव्यव्वनस्पतयः, तथा ये चैतद्भेदाः सूक्ष्मबादरपर्याप्तका पर्याप्तक रूपा दशविधप्राणधारणात्प्राणिनस्तेषु, 'सदा' सर्वकालम्, अनेन तु कालमधिकृत्य विरतिरभिहिता, यतः परिव्रजेत्-परिसमन्ताद् व्रजेत् संयमानुष्ठायी भवेत्, भावप्राणातिपातविरतिं दर्शयति स्थावरजङ्गमेषु प्राणिषु तदपकारे उपकारे वा मनागपि मनसा प्रद्वेषं न गच्छेद्आस्तांतावद्दुर्वचनदण्डप्रहारादिकं, तेष्वपकारिष्वपि मनसाऽपि नामङ्गलं चिन्तयेद्, 'अविकम्पमानः' संयमादचलन् सदाचार मनुपालयेदिति, तदेवं योगत्रिककरणत्रिकेण द्रव्यक्षेत्र कालभावरूपां प्राणातिपातविरतिं सम्यगरक्तद्विष्टतयाऽनुपालयेद्, एवं शेषाण्यपि महाव्रतान्युत्तरगुणांश्च ग्रहणासेवनाशिक्षासमन्वितः सम्यगनुपालयेदिति ॥१४॥

टीकार्थ – शिष्य गुरुकुल में निवास करने से जिनवचनों वचनों से-जिनेन्द्र की वाणी से अभिज्ञ हो जाता है-ज्ञाता हो जाता है, वैसा होकर वह मूल गुणों और उत्तर गुणों को भली भांति जान लेता है । वहां मूल गुणों को अधिकृत कर सूत्रकार प्रतिपादित करते हैं-यहां पर उर्ध्व, अधस्तात् तथा तिर्यक् दिशाओं एवं विदिशाओं में स्थित प्राणियों के प्राणातिपात-हिंसा से विरत होने का, हिंसा का परित्याग करने का अभिधान किया है-उपदेश दिया है, यह क्षेत्र को अंगीकृत कर कहा गया है । अब द्रव्य की दृष्टि से प्राणातिपात से विरत होने का दिग्दर्शन कराते हैं । जो त्रस्त होते हैं-भयभीत होते है, उन्हें त्रस कहा जाता है । वे अग्नि, वायु तथा द्वीइन्द्रिय आदि प्राणी हैं तथा जो स्थावर नाम कर्म के उदयवर्ती हैं जैसे पृथ्वी, जल तथा वनस्पति एवं सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त, अपर्याप्त के रूप में उनके भेद स्थावर कहलाते हैं-येदशविध प्राणधारण करने से प्राणी कहलाते हैं । उनके प्रति सदैव संयमाचरणशील रहे, उनको पीड़ा न दे । यहां काल को अधिकृत कर विरति का उपदेश दिया है । भाव प्राणातिपात से विरत होने की दृष्टि से कहते हैं-स्थावर तथा जंगम प्राणी उपकार करे-भला करे अथवा अपकार करे-बुरा करे, लाभ पहुंचावे या हानि पहुंचावे किंतु साधु उनके प्रति जरा भी अपने मन में द्वेष न लावे । फिर उन्हें दुर्वचन-कठोर वचन कहना और डंडे से पीटना आदि की तो बात ही क्या है । वे यदि बुरा भी करे तो मन से भी उनका अमंगल-अशुभ या बुरा न सोचे । इस प्रकार संयम में अविचलित रहता हुआ साधु सदाचार का अनुपालन करे एवं पूर्वोक्त रूप से मन, वचन, काय रूप तीन योग तथा कृतकारित एवं अनुमोदित रूप तीन करण द्वारा द्रव्य, क्षेत्र व काल एवं भाव मूलक प्राणातिपात विरति का साधु राग तथा द्वेष से अतीत होकर परिपालन करे । ग्रहण एवं आसेवन शिक्षा से युक्त होकर वह बाकी के महाव्रतों का एवं उत्तर गुणों का वह सम्यक् अनुपालन करे ।

❀ ❀ ❀

कालेण पुच्छे समियं पयासु, आइक्खमाणो दवियस्स वित्तं ।
तं सोयकारी पुढो पवेसे, संखा इमं केवलियं समाहिं ॥१५॥

छाया – कालेन पृच्छेत्समितं प्रजासु, आचक्षमाणो द्रव्यस्य वित्तम् ।
तच्छ्रोत्रकारी पृथक् प्रवेशयेत्, संख्यायेमं कैवलिकं समाधिम् ॥

अनुवाद – साधु अनुकूल अवसर जानकर समित-सदाचरण शील आचार्य से प्रजा-प्राणियों के संबंध में प्रश्न करे । सर्वज्ञोक्त आगम के उपदेष्टा आचार्य का सम्मान करे तथा उनके उपदेश को हृदय में प्रतिष्ठापित करे ।

टीका – गुरोरन्तिके वसतो विनयमाह-सूत्रमर्थं तदुभयं वा विशिष्टेन-प्रपृच्छ्यकालेनाचार्यादेरवसरं ज्ञात्वा प्रजामन्त इति प्रजा-जन्तवस्तासु प्रजासु-जन्तुविषये चतुर्दशभूतग्रामसंबंद्धं कञ्चिदाचार्यादिकं सम्यगितं-सदाचारानुष्ठायिनं सम्यक् वा समन्ताद्वा जन्तुगतं पृच्छेदिति । स च तेन पृष्ट आचार्यादिराचक्षाणः शुश्रुयितव्यो भवति, यदाचक्षाणस्तदृर्शयति-मुक्तिगमनयोग्यो भव्यो द्रव्यं रागद्वेषविरहाद्वाद्रव्यं तस्य द्रव्यस्य-वीतरागस्य वा वृत्तम्-अनुष्ठानं संयमं ज्ञानं वा तत्प्रणीतमागमं वा सम्यगाचक्षाणः सपर्ययाऽयं माननीयो भवति । कथमित्याह-'तद्' आचार्यादिना कथितं श्रोत्रे-कर्णे कर्तुं शीलमस्य श्रोत्रकारी-यथोपदेशकारी आज्ञाविधायी सन् पृथक् पृथगुपन्यस्तमादरेण हृदये प्रवेशयेत्-चेतसि व्यवस्थापयेत्, व्यवस्थापनीयं दर्शयति-'संख्याय' सम्यक् ज्ञात्वा 'इम' मिति वक्ष्यमाणं केवलिन इदं कैवलिकं-केवलिना कथितं समाधिं-सन्मार्गं सम्यग्ज्ञानादिकं मोक्षमार्गमाचार्यादिना कथितं यथोपदेशं प्रवर्त्तकः पृथग् विविक्तं हृदये पृथग्व्यवस्थापयेदिति ॥१५॥

टीकार्थ – अब सूत्रकार गुरु के समीप वास करने वाले शिष्य को विनय की शिक्षा देते हुए कहते हैं-शिष्य प्रष्टव्यकाल-प्रश्न करने के उचित समय को देखकर प्रजा-प्राणियों के संबंध में या चौदह प्रकार के भूतों के संबंध में सदाचार परायण आचार्य आदि से सूत्र एवं अर्थ दोनों ही को लेकर के प्रश्न करे । जो उत्पन्न होते हैं वे जीव प्रजा कहलाते हैं । पूछे जाने पर उत्तर देते हुए आचार्य का कथन शिष्य सम्मानपूर्वक श्रवण करे । आचार्य जो आख्यात करते हैं-उपदेश देते हैं, सूत्रकार उसका दिग्दर्शन कराते हुए कहते हैं-भव्य जन जो मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता लिये होता है, द्रव्य कहा जाता है अथवा जो राग एवं द्वेष रहित होता है उसे द्रव्य कहा जाता है ऐसे वीतराग तीर्थंकर के संयम या ज्ञान या उन द्वारा प्ररूपित आगम का भलीभांति उपदेश करने वाले आचार्य का वह शिष्य सम्मान सत्कार करे । किस प्रकार करे ? यह बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं-आचार्य आदि द्वारा दी गई शिक्षा को वह कानों में धारण करे-ध्यान से सुने तदनुसार आचरण करे। उनके आदेश का अनुसरण करे तथा आदर के साथ उसे अपने हृदय में उपन्यस्त करे-प्रतिष्ठापित करे । अब हृदय में व्यवस्थापनीय-प्रतिष्ठित करने योग्य विषय का सूत्रकार दिग्दर्शन कराते हुए कहते हैं-सर्वज्ञ द्वारा प्ररूपित सम्यक्ज्ञानादिमूलक मोक्ष मार्ग को, जो आगे कहा जायेगा, आचार्य आदि से श्रवण कर तदनुसार प्रवृत होता हुआ साधु उसे विवेक पूर्वक अपने हृदय में प्रतिष्ठापित करे ।

❀ ❀ ❀

अस्सिं सुठिच्चा तिविहेण तायी, एएसु या संति निरोहमाहु ।
ते एवमक्खंति तिलोगदंसी, ण भुज्जयेयंति पमायसंगं ॥१६॥

छाया – अस्मिन् सुस्थाय त्रिविधेन त्रायी, एतेषुच शान्तिं निरोधमाहुः ।
तएव माचक्षते त्रिलोकदर्शिनः न भूय एतन्तु प्रमादसङ्गम् ॥

अनुवाद – गुरु द्वारा प्रदत्त उपदेश के अनुसार वर्तनशील साधु मन, वाणी एवं शरीर द्वारा प्राणियों का त्राण-रक्षण करे । इस प्रकार-समितियों तथा गुप्तियों का पालन करने से ही कर्म निरोध-कर्म क्षय होता है । यह सर्वज्ञों ने बतलाया है । वे त्रिलोकदर्शी-तीन लोकों को देखने वाले महापुरुष ऐसा आख्यात करते हैं कि साधु कभी प्रमाद का सेवन न करे ।

टीका – किञ्चान्यत्-'अस्मिन्' गुरुकुलवासे निवसता यच्छ्रुतं श्रुत्वा च सम्यक् हृदयव्यवस्थापनद्वारेणावधारितं तस्मिन् समाधिभूते मोक्षमार्गे सुष्ठु स्थित्वा 'त्रिविधेने' त्ति मनोवाक्कायकर्मभिः कृतकारितानुमतिभिर्वाऽऽत्मानं त्रातुं शीलमस्येति त्रायी जन्तुनां सदुपदेशदानतस्त्राणकरणशीलो वा तस्य स्वपरत्रायिणः, एतेषु च समितिगुप्त्यादिषु समाधिमार्गेषु स्थितस्य शान्तिर्भवति-अशेषद्वन्द्वोपरमो भवति तथा निरोधम्-अशेषकर्मक्षयरूपम् 'आहुः' तद्विदः प्रतिपादितवन्तः, क एवमाहुरित्याह त्रिलोकभू-उर्ध्वाधस्तिर्यग्लक्षणं द्रष्टुं शीलं येषां ते त्रिलोकदर्शिनः-तीर्थकृतः सर्वज्ञास्ते 'एवम्' अनन्तरोक्तया नीत्या सर्वभावान् केवलालोकेन दृष्ट्वा 'आचक्षते' प्रतिपादयन्तीति । एतदेव समितिगुप्त्यादिकं संसारोत्तारणसमर्थं ते त्रिलोकदर्शिनः कथितवन्तो न पुनर्भूय एतं (नं) 'प्रमादसङ्गं' मद्यविषयादिकं संबन्धं, 'विधेयत्वेन प्रतिपादितवन्तः ॥१६॥ किञ्चान्यत् –

टीकार्थ – गुरुकुलवास में रहते हुए शिष्य ने जो श्रवण किया, श्रवण कर अपने हृदय में भली भांति स्थापित किया, अवधारित किया । वह उस समाधिमूलक मोक्षमार्ग में अच्छी तरह स्थित होकर मन, वाणी और शरीर द्वारा तथा कृत, कारित एवं अनुमोदित रूप तीन करणों द्वारा आत्मा का त्राण करे-रक्षण करे अथवा सदुपदेश देकर औरों का त्राण करे । इस प्रकार जो साधु अपनी आत्मा का तथा अन्यों का त्राण करता है, समिति तथा गुप्ति पूर्वक समाधि मार्ग-मोक्ष मार्ग में अवस्थित रहता है, वह शांति प्राप्त करता है । उसके सभी द्वन्द्व-झंझट मिट जाते हैं । तथा उसके समग्रकर्म क्षीण हो जाते हैं । ज्ञानी पुरुष ऐसा बतलाते हैं वे ज्ञानी पुरुष कौन हैं ? सूत्रकार यह प्रकट करते हुए कहते हैं-जो पुरुष उर्ध्व, अधः एवं तिर्यक वर्ती पदार्थों को देखते हैं वे त्रिलोकदर्शी-तीनों लोकों को देखने वाले तीर्थंकर सर्वज्ञ, जैसा पहले कहा गया है केवल दर्शन द्वारा समस्त भावों को-पदार्थों को देखकर प्रतिपादन करते हैं, उपदेश देते हैं । उन त्रिलोकदर्शी महापुरुषों ने समिति, गुप्ति आदि से युक्त मार्ग को ही संसार से पार लगाने वाला बताया है । उन्होंने प्रमाद से जुड़े हुए मद्य सेवन, विषय सेवन आदि को वैसा नहीं कहा है ।

❀ ❀ ❀

निसम्म से भिक्खु समीहियट्ठं, पडिभाणवं होइ विसारएय ।
आयाणअट्ठी वोदाणमोणं, उवेच्च सुद्धेण उवेति मोक्खं ॥१७॥

छाया – निशम्य स भिक्षुः समीहितार्थं, प्रतिभानवान् भवति विशारदश्च ।
आदानार्थी व्यवदामौन मुपेत्य शुद्धेनोपैति मोक्षम् ॥

अनुवाद – गुरुकुलवासी शिष्य साधु के आचार को श्रवण कर अपने अभिप्सित अर्थ-मोक्ष को जानकर प्रतिभाशाली तथा विशारद-धर्म सिद्धान्त का आख्याता-वक्ता हो जाता है । वह सम्यक्ज्ञान आदि का ही प्रयोजन लिये रहता है । व्यवदान-तप एवं मौन-संयम को प्राप्त कर शुद्ध आहार आदि का सेवन करता हुआ मोक्ष प्राप्त करता है ।

टीका – स गुरुकुलवासी भिक्षुः द्रव्यस्य वृत्तं 'निशम्य' अवगम्य स्वतः समीहितं चार्थं-मोक्षार्थं बुद्ध्वा हेयोपादेयं सम्यक् परिज्ञाय नित्यं गुरुकुलवासतः 'प्रतिभानवान्' उत्पन्नप्रतिभो भवति । तथा सम्यक् स्वसिद्धान्तपरिज्ञानाच्छ्रोतृणां यथावस्थितार्थानां 'विशारदो भवति' प्रतिपादकोभवति । मोक्षार्थिनाऽऽदीयत इत्यादानं सम्यग्ज्ञानादिकं तेनार्थः स एव वाऽर्थः आदानार्थः स विद्यते यस्यासावादानार्थी, स एवंभूतो ज्ञानादिप्रयोजनवान् व्यवदानं-द्वादशप्रकारं तपो मौनं-संयम आश्रवनिरोधरूपस्तदेवमेतौ तपःसंयमावुपेत्य-प्राप्य ग्रहणासेवनरुपया द्विविधयापि शिक्षया समन्वितः सर्वत्र प्रमादरहितः प्रतिभानवान् विशारदश्च 'शुद्धेन' निरुपाधिना उद्गमादिदोषशुद्धेन चाहारेणात्मानं यापन्नशेष कर्मक्षयलक्षणं मोक्षमुपैति 'न उवेइमार' ति क्वचित्पाठः, बहुशो म्रियन्ते स्वकर्मपरवशाःप्राणिनो यस्मिन् स मारः-संसारस्तं जातिजरामरणरोगशोकाकुलं शुद्धेन मार्गेणात्मानं वर्तयन्, न उपैति, यदिवा मरणं-प्राणत्यागलक्षणं मारस्तं बहुशोनौपैति, तथाहि-अप्रतिपतितसम्यक्त्व उत्कृष्टतः सप्ताष्टौ वा भवान् म्रियते नोर्ध्वमिति ॥१७॥

टीकार्थ – गुरुकुलवासी भिक्षु द्रव्यकृत-मोक्षोपयोगी साध्वाचार का श्रवण कर एवं अपने अभिप्सित प्रयोजन को समझकर तथा हेय एवं उपादेय पदार्थों को सम्यक् परिज्ञात कर सदा गुरुकुल में रहने के कारण प्रतिभाशील हो जाता है । वह अपने सिद्धान्त के परिज्ञान के कारण श्रोताओं को यथार्थ वस्तु स्वरूप समझाने में कुशल या प्रवीण हो जाता है । मोक्षार्थी द्वारा जो ग्रहण किया जाता है उसे आदान कहा जाता है, वह सम्यक्ज्ञान आदि है । उसको ही अपना प्रयोजन-लक्ष्य मानता हुआ वह साधु बारह प्रकार के तप तथा आश्रव निरोधात्मक संयम को अधिगत कर ग्रहण शिक्षा तथा आसेवना शिक्षा द्वारा तपश्चरण एवं संयम से अन्वित होकर उद्गम आदि दोषों से वर्जित आहार द्वारा अपना जीवन निर्वाह करता हुआ, समग्र कर्मों का क्षय करता है, मोक्ष प्राप्त करता है । ''न उवेइ मारं'' कहीं कहीं ऐसा पाठ प्राप्त होता है । इसका यह तात्पर्य है कि जिसमें प्राणी अपने कर्मों के परिणाम स्वरूप बार-बार मृत्यु प्राप्त करते हैं, उसे मार कहा जाता है, वह संसार है । शुद्ध मार्ग का अवलंबन करता हुआ जो साधु चलता है, संयम में वर्तनशील रहता है, वह इस संसार को प्राप्त नहीं करता। जो जन्म, वृद्धावस्था, मृत्यु, रोग तथा शोक से आकुल है-पीड़ित है, अथवा प्राण त्याग को मार कहा जाता है। वह बार बार उसे-मृत्यु को प्राप्त नहीं करता क्योंकि अप्रतिपाति सम्यक्त्व से युक्त होने के कारण वह अधिक से अधिक सात, आठ भव में ही मरण को प्राप्त होता है, उससे अधिक नहीं ।

❀ ❀ ❀

संखाइ धम्मं च वियागरंति, बुद्धा हु ते अंतकरा भवंति ।
ते पारगा दोण्हवि मोयणाए, संसोधितं पण्हमुदाहरंति ॥१८॥

छाया – संख्यया धर्मं व्यागृणन्ति, बुद्धाहि तेऽन्तकराभवन्ति ।
ते पारगा द्वयोरपि मोचनया, संशोधितं प्रश्न मुदाहरन्ति ॥

अनुवाद – गुरुकुल वासी साधक सद्बुद्धि द्वारा धर्म को स्वायत कर दूसरों को उसका उपदेश करते हैं । वैसे बुद्ध-ज्ञानी पुरुष कर्मों का अन्त-नाश करते हैं । वे अपने को तथा अन्यों को कर्म पाश से मुक्त कर संसार सागर को पार कर जाते हैं । वैसे महापुरुष संशोधन पूर्वक-सोच विचार कर प्रश्न का उत्तर देते हैं ।

टीका – तदेवं गुरुकुलनिवासितया धर्मे सुस्थिता बहुश्रुताः प्रतिभावनन्तोऽर्थविशारदाश्च सन्तो यत्कुर्वन्ति तद्दर्शयितुमाह-सम्यक् ख्यायते-परिज्ञायते यया सा संख्यासद्बुद्धिस्तया स्वतो धर्मं परिज्ञायापरेषांयथावस्थितं 'धर्मं'

श्रुतचारित्राख्यं 'व्यागृणन्ति' प्रतिपादयन्ति, यदिवा स्वपरशक्तिं परिज्ञाय पर्षदं वा प्रतिपाद्यं चार्थं सम्यगवबुध्य धर्मं प्रतिपादयन्ति । ते चैवंविधा बुद्धाः-कालत्रयवेदिनो जन्मान्तरसंचितानां कर्मणामन्तकरा भवन्ति अन्येषां च कर्मापनयनसमर्था भवन्तीति दर्शयति-ते यथावस्थितधर्मप्ररूपका 'द्वयोरपि' परात्मनोः कर्मपाशविमोचनया स्नेहादिनिगडविमोचनया वा करणभूतया संसारसमुद्रस्य पारगा भवन्ति । ते चैवंभूताः ? 'सम्यक् शोधितं' पूर्वोत्तर विरुद्धं 'प्रश्नं' शब्दमुदाहरन्ति, तथाहि-पूर्वं बुद्धया पर्यालोच्य कोऽयं पुरुषः कस्य चार्थस्य ग्रहणसमर्थोऽहं वाकिंभूतार्थप्रतिपादनशक्त इत्येवं सम्यक् परीक्ष्य व्याकुर्यादिति, अथवा परेण कञ्चिदर्थं पृष्टस्तं प्रश्नं सम्यग् परीक्ष्योदाहरेत्-सम्युगत्तरं दद्यादिति, तथा चोक्तम् -

"आयरियसयासा व धारिएण अत्थेण झरियमुणिएणं । तो संघमज्झयारे ववहरिउं जे सुहं होंति ॥१॥"

छाया - आचार्यसकाशाद् अवधारितेनार्थेन स्मारकेण ज्ञात्रा च ततः संघमध्ये व्यवहर्तुं सुखं भवति ॥१॥

तदेवं ते गीतार्था यथावस्थितं धर्मं कथयन्तः स्वपरतारका भवन्तीति ॥१८॥

टीकार्थ – इस प्रकार गुरुकुल में निवास करने के कारण धर्म में सुस्थित-सुदृढ़, बहुश्रुत-प्रतिभावान, बुद्धिशाली एवं अर्थ विशारद और पदार्थ ज्ञान में कुशल या निष्णात होकर जैसा करते हैं-जो कार्य करते हैं उसका दिक्दर्शन कराने हेतु सूत्रकार प्रतिपादित करते है कि जिसके द्वारा पदार्थ परिज्ञात होता है उसे संख्या कहा जाता है । वह सद्बुद्धि है । साधु सद्बुद्धि द्वारा श्रुत चारित्र मूलक धर्म के वास्तविक स्वरूप को परिज्ञात कर-भली भांति जानकर प्रतिपादित करता है अथवा सद्बुद्धि द्वारा वह साधु अपनी और औरों की योग्यता जानकर अथवा धर्म सभा की योग्यता जानता हुआ परिषद् को प्रतिपाद्य अर्थ या विषय को भली भांति समझ कर धर्म का प्रतिपादन करते हैं । इस प्रकार वे बुद्ध-त्रिकालवेत्ता पुरुष पूर्व जन्म के संचित कर्मों का विनाश करते हैं और दूसरों के कर्मों का अपनयन करने में सक्षम होते हैं । सूत्रकार इसका दिग्दर्शन कराते हुए कहते हैं-धर्म के सत्य स्वरूप के प्ररूपक-व्याख्याता वे महापुरुष अपने तथा औरों के कर्मपाश को विमोचित कर अथवा स्नेह रूपी निगड-सांकल या बेड़ी से छूटकर-औरों को छुड़ाकर संसार सागर को पार कर जाते हैं। वे महापुरुष भली भांति शोधित कर-परिष्कृत कर पूर्वोत्तर-पहले और पीछे से अविरुद्ध-अप्रतिकूल शब्दों को बोलते हैं । वे पहले ही अपनी बुद्धि द्वारा यह पर्यालोचित कर कि यह पुरुष कौन है किस अर्थ पदार्थ को ग्रहण करने में सक्षम हो सकता है तथा मैं किस प्रकार के अर्थ को प्रतिपादित करने में सशक्त हूँ । इनको सम्यक् परीक्षित कर वे व्याख्या-विवेचन करते हैं अथवा कोई पुरुष यदि साधु से किसी विषय में पूछे तो साधु उस प्रश्न का भली भांति परीक्षण कर, उसे समझकर फिर उसका उत्तर दे । कहा गया है-आचार्य के सकाश-पास जिसने अर्थ को धारण किया है, उनसे समझकर निश्चित किया है वह स्मृतिशाली पुरुष संघ या जन समूह के बीच में सुखपूर्वक-सफलता के साथ पदार्थ की व्याख्या कर सकता है। इस प्रकार गीतार्थ-धर्म सिद्धान्तों के गम्भीरवेत्ता धर्म के सच्चे स्वरूप को बतलाते हुए अपने आपको तथा औरों को संसार सागर से पार करते हैं ।

❀ ❀ ❀

णो छायए णऽविय लूसएज्जा, माणं ण सेवेज्ज पगासणं च ।
ण यावि पन्ने परिहास कुज्जा, ण याऽऽसियावाय वियागरेज्जा ॥१९॥

छाया – नो छादये न्नापिच लूसयेन्मानं न सेवेत प्रकाशनञ्च ।
न चाऽपि प्राज्ञः परिहासं कुर्य्यान्न चाप्याशीर्वादं व्यागृणीयात् ॥

अनुवाद – साधु जब किसी के प्रश्न का उत्तर दे तो वह शास्त्र के उत्तर को आच्छादित न करे, छिपावे नहीं तथा अपसिद्धान्त को आश्रित कर शास्त्र की व्याख्या न करे। अपने को बड़ा विद्वान तथा तपश्चरणशील मानता हुआ अभिमान न करे। अपने गुणों का प्रकाशन न करे। यदि सुनने वाला व्यक्ति उस द्वारा निरूपित अर्थ को समझ नहीं पाये तो उसका परिहास न करे एवं साधु किसी को आशीर्वाद न दे।

टीका – स च प्रश्नमुदाहरन् कदाचिदन्यथापि ब्रूयादतस्तत्प्रतिषेधार्थमाह-'स' प्रश्नस्योदाहर्ता सर्वार्थाश्रयत्वाद्रत्नकरण्डकल्पः कुत्रिकापणकल्पो वा चतुर्दशपूर्विणामन्यतरो वा कश्चिदाचार्या दिभिः प्रतिभानवान्-अर्थ विशारदस्तदेवंभूतः कुतश्चिन्निमित्तात् श्रोतुः कुपितोऽपि सूत्रार्थं 'न छादयेत्' नान्यथा व्याख्यानयेत् स्वाचार्यं वा नापलपेत् धर्मकथां वा कुर्वन्नार्थं छादयेद् आत्मगुणोत्कर्षाभिप्रायेण वा परगुणान्न छादयेत् तथा परगुणान्न लूषयेत्-न विडम्बयेत् शास्त्रार्थं वा नापसिद्धान्तेन व्याख्यानयेत् तथा समस्तशास्त्रवेत्ताऽहं सर्वलोकविदितः समस्तसंशयापनेता न मत्तुल्योहेतुयुक्तिभिरर्थप्रतिपादयिते त्येवमात्मकं मानम्-अभिमानं गर्वं न सेवेत, नाप्यात्मनो बहुश्रुतत्वेन तपस्वित्वेन वा प्रकाशनं कुर्यात्, च शब्दादन्यदपि पूजासत्कारादिकं परिहरेत्, तथा न चापि 'प्रज्ञावान' सश्रुतिकः 'परिहासं' केलिप्रायं ब्रूयाद् यदिवा कथञ्चिदबुध्यमाने श्रोतरितदुपहासप्रायं परिहासंन विदध्यात् तथा नापि चाशीर्वादं बहुपुत्रो बहुधनो (बहुधर्मो) दीर्घायुस्त्वं भूया इत्यादि व्यागृणीयात्, भाषासमितियुक्तेन भाव्यमिति ॥१९॥

टीकार्थ – प्रश्न का उत्तर देते हुए साधु कभी अन्यथा-प्रतिकूल उत्तर न दे। इस हेतु उसका निषेध करते हुए सूत्रकार प्रतिपादित करते हैं-प्रश्न का उत्तर देने वाला साधु समस्त पदार्थों का आश्रय-विज्ञाता होने के कारण चाहे रत्नपूर्ण मंजूषा के तुल्य हो अथवा कुत्रिकापण-जिस बाजार में तीनों लोकों के पदार्थ प्राप्त होते हों, उसके समान वह सब कुछ जानने वाला असाधारण ज्ञानी हो, अथवा चतुर्दशपूर्वधरों में से कोई एक हो अथवा आचार्य आदि की, शिक्षा से प्रतिभाशाली हो-विशिष्ट प्रज्ञायुक्त हो, पदार्थों के ज्ञान में विशारद-निपुण या निष्णात हो, उसे यदि किसी कारणवश श्रवण कर्ता पर क्रोध आये तो भी वह सूत्र के अर्थ को छादित न करे-उसे न छिपाये, उसकी अन्यथा व्याख्या न करे। अथवा वह व्याख्या करते समय अपने आचार्य का अपलाप न करे। धर्मकथा-धर्मोपदेश करता हुआ वह अपने गुणों की उत्कृष्टता-विशेषता ज्ञापित करने के अभिप्राय से अन्य के गुणों को छादित न करे-दूषित न करे, विडम्बित न करे अपसिद्धान्त द्वारा शास्त्र के अर्थ की व्याख्या न करे। "मैं समस्त शास्त्रों का वेत्ता हूं, सर्वलोक विदित हूं, समस्त संदेहों का अपनेता-नाशक हूं, मेरे तुल्य तर्क युक्ति पूर्वक तत्त्वों की व्याख्या करने वाला दूसरा नहीं है" ऐसा अभिमान या गर्व न करे। वह अपने आपको बहुश्रुत के रूप में तथा तपश्चरणशील के रूप में प्रकाशित-ख्यापित न करे। 'च' शब्द से यह सूचित है कि अन्य प्रकार के प्रतिष्ठा, सत्कार, सम्मान आदि का वह परिहार करे। प्रज्ञावान-सश्रुतिक, शास्त्रज्ञानी साधु परिहास या मजाक पूर्ण बातें न करे। किसी कारणवश सुनने वाला पुरुष यदि किसी पदार्थ-तत्त्व को न समझ पाये तो वह उसका उपहास न करे। तथा तुम्हारे बहुत से पुत्र हों, तुम्हारा धन बढ़े, तुम्हारी आयु लम्बी हो, इस प्रकार वह किसी को आशीर्वाद न दे। वह भाषा-समिति से अन्वित रहे।

❀ ❀ ❀

भूताभिसंकाइ दुगुंछमाणे, ण णिव्वहे मंतपदेण गोयं।
ण किंचि मिच्छे मणुए पयासुं, असाहुधम्माणि ण संवएज्जा ॥२०॥

छाया – भूताभिशंकया जुगुप्समानो, न निर्वहेन्मन्त्रपदेन गोत्रम्।
न किञ्चिदिच्छेन्मनुजाः प्रजासु, असाधुधर्मान्न संवदेत्॥

अनुवाद – पाप को जुगुप्सित-घृणित मानता हुआ साधु प्राणियों के विनाश की अभिशंका से किसी को आशीर्वाद न दे । वह मन्त्र प्रयोग द्वारा अपने संयम को सारहीन-विकृत न बनाये । वह लोगों से किसी वस्तु को पाने की चाह न करे । वह असाधु जनोचित धर्म का उपदेश न दे ।

टीका – किंनिमित्तमाशीर्वादो न विधेय इत्याह-भूतेषु-जन्तुषूपमर्दशङ्का तयाऽऽशीर्वादं 'सावद्यं' सपापं जुगुप्समानो न ब्रूयात तथा गास्त्रायत इति गोत्रं-मौनं वाक्संयमस्तं 'मंत्रपदेन' विद्यापमार्जनविधिना 'न निर्वाहयेत्' न निःसार कुर्यात् । यदिवा गोत्रं-जन्तूनां जीवितं 'मंत्रपदेन' राजादिगुप्तभाषणपदेन राजादीनामुपदेशदानतो 'न निर्वाहयेत्' नापनयेत्, एतदुक्तं भवति-न राजादिना सार्धं जन्तुजीवितोपमर्दकं मन्त्रं कुर्यात्, तथा प्रजायन्त इति प्रजाः-जन्तवस्तासु प्रजासु 'मनुजो' मनुष्यो व्याख्यानं कुर्वन् धर्मकथां वा न 'किमपि' लाभपूजा सत्कारादिकम् 'इच्छेद्' अभिलषेत्, तथा कुत्सितानाम्-असाधूनां धर्मान्-वस्तुदानतर्पणादिकान् 'न संवदेत्' न ब्रूयाद् यदिवा नासाधुधर्मान् ब्रूवन् संवादयेत् अथवा धर्मकथां व्याख्यानं वा कुर्वन प्रजास्वात्मश्लाघारूपां कीर्तिं नेच्छेदिति ॥२०॥ किञ्चान्यत् –

टीकार्थ – साधु किस कारण आशीर्वाद न दे ? इसे स्पष्ट करते हुए सूत्रकार प्रतिपादित करते हैं- प्राणियों के उपमर्द-नाश की आशंका से साधु सावद्य-पापयुक्त कार्यों से घृणा करता हुआ किसी को आशीर्वाद न दे । गो-वाणी का जो त्राण करता है, उसे गोत्र कहा जाता है । मौन या वाक्संयम गौत्र है । साधु विद्या के अपमार्जन की विधि से दुरुपयोग द्वारा अपने वाक्संयम को सारहीन न करे-उसे विकारयुक्त न बनाये अथवा प्राणियों का जीवन गौत्र कहलाता है । साधु, राजा आदि के साथ सावद्य गुप्त भाषण आदि द्वारा उसे तद्विषयक उपदेश दान द्वारा वाक् संयम का अपनयन न करे । कहने का अभिप्राय यह है कि राजा आदि के साथ ऐसा मन्त्र-विचार विमर्श या परामर्श आदि न करे जिससे प्राणियों का उपमर्दन हो । जो उत्पन्न होते हैं उन्हें प्रजा कहा जाता है, वे जन्तु हैं । उनके बीच धर्मकथा करता हुआ-व्याख्यान करता हुआ साधु उनसे लाभ, प्रतिष्ठा, सम्मान आदि पाने की अभिलाषा न करे। वस्तुदान तथा तर्पण आदि का जो असाधुजन स्वीकृत धर्म है, उपदेश न करे अथवा जो असाधु धर्मों का आख्यान करता हो उसका संवादन-समर्थन न करे अथवा धर्मकथा-धर्म प्रवचन करता हुआ वह लोगों में आत्मश्लाघात्मक कीर्ति की कामना न करे । अपनी बढ़ाई एवं यश न चाहे।

❀ ❀ ❀

हासं पि णो संधति पावधम्मे, ओए तहीयं फरुसं वियाणे ।
णो तुच्छए णो य विकंथइज्जा, अणाइले या अकसाइभिक्खू ॥२१॥

छाया – हासमपि न संधयेत्पापधर्मान्, ओजस्तथ्यं परुषं विजानीयात् ।
न तुच्छो न स विकत्थयेदना कुलोवाऽकषायी भिक्षुः ॥

अनुवाद – साधु ऐसा वचन न बोले तथा दैहिक चेष्टा न करे जिससे हास उत्पन्न होता हो, जिससे वह लोगों में उपहासास्पद प्रतीत होता हो । साधु हंसी में भी पापपूर्ण धर्म का कथन न करे जिससे अन्य को दुःख होता हो । राग द्वेष से ऊंचा उठा हुआ साधु वैसा वचन भी न कहे । वह प्रतिष्ठा सम्मान आदि पाकर भी अभिमान एवं आत्म प्रशंसा न करे । वह कषायों से अनाविल-निर्मल रहे ।

टीका – यथा परात्मनोर्हास्यमुत्पद्यते तथा शब्दादिकं शरीरावयवमन्यान् वा पापधर्मान् सावद्यान्मनोवाक्काव्यापारान् 'न संधयेत्' न विदध्यात्, तद्यथा-इदं छिन्द्धि भिन्द्धि, तथा कुप्रावचनिकान् हास्यप्रायं नोत्प्रासयेत्, तद्यथा-शोभनं-भवदीयं व्रतं, तद्यथा-

''मृद्वी शय्या प्रातरुत्थाय पेया, मध्ये भक्तं पानकंचापराह्णे ।
द्राक्षाखण्डं शर्कराचार्धरात्रे, मोक्षश्चान्ते शाक्यपुत्रेणदृष्टः ॥१॥''

इत्यादिकं परदोषाद्भावनप्रायं पापबन्धकमितिकृत्वा हास्येनापि न वक्तव्यं । तथा 'ओजो' राग द्वेषरहितः सबाह्याभ्यन्तरग्रन्थत्यागाद्वा निष्किञ्चनः सन् 'तथ्य' मिति परमार्थतः सत्यमपि परुषं वचोऽपरचेतोविकारि ज्ञपरिज्ञया विजानीयात्प्रत्याख्यानपरिज्ञया च परिहरेत्, यदिवा रागद्वेषविरहादोजाः 'तथ्यं' परमार्थभूतमकृत्रिममप्रतारकं 'परुषं' कर्मसंश्लेषाभावान्निर्ममत्वादल्पसत्त्वैर्दुरनुष्ठेयत्वाद्वा कर्कशमन्तप्रान्ताहारोपभोगाद्वा परुषं-संयमं' विजानीयात्' तदनुष्ठानतः सम्यगवगच्छेत्, तथा स्वतः कञ्चिदर्थविशेषं परिज्ञाय पूजासत्कारादिकं वाऽवाप्य 'न तुच्छा भवेत्' नोन्मादं गच्छेत्, तथा 'न विकत्थयेत्' नात्मानं श्लाघयेत् परं वा सम्यगनवबुध्यमानः 'नो विकत्थयेत्' नात्यन्तं चमढ़येत्, तथा 'अनाकुलो' व्याख्यानावसरे धर्मकथावसरे वाऽनाविलोलाभादिनिरपेक्षो भवेत् तथा सर्वदा 'अकषायः' कषायरहितो भवेद् 'भिक्षुः' साधुरिति ॥२१॥

टीकार्थ – जिससे अपने आपको या दूसरे को हास्य उत्पन्न होता हो-जो अपने को तथा औरों को उपहासजनक प्रतीत होता है, ऐसा कोई भी शब्द साधु न बोले । तथा अपने शरीर के अवयवों को पापपूर्ण चेष्टा युक्त न बनाये । मन, वचन एवं काय के व्यापारो-कार्यों को सावद्य न बनाये । जैसे-इसे छिन्न करो-काटो, इसे भिन्न करो-तोड़ो, इत्यादि वाक्य साधु न बोले । वह कुप्रावचनिको-मिथ्यात्वी अन्य मतवादियों का परिहास न करे । जैसे आपका व्रत कितना सुन्दर है, मृदु-कोमल शैय्या पर सोना, प्रातःकाल उठकर दुग्ध आदि पेय पदार्थ सेवन करना, मध्यान्ह में भात आदि का भोजन करना, अपराह्न-तीसरे पहर में पान-आसव, शरबत, ठंडाई आदि पीना, अर्द्ध रात्रि में दाखें और मिश्री खाना-शाक्यपुत्र ने-बुद्ध ने मोक्ष का कैसा अच्छा रूप दिखाया है इत्यादि । दूसरों के दोषों को उद्भावित-प्रकट करने वाली बातें पापबन्धक है, यह मानकर मजाक में भी वैसा न कहे । राग तथा द्वेष से विवर्जित बाह्य एवं आभ्यन्तर ग्रंथि के परित्याग के कारण निष्किञ्चन-परिग्रह शून्य-परिग्रह रहित साधु जो बात यद्यपि सत्यहै, पर अन्य के चित्त को विकृत-दुःखित करती है, उसे ज्ञपरिज्ञा द्वारा ज्ञात कर तथा प्रत्याख्यान-परिज्ञा द्वारा त्याग दे । अथवा साधु राग द्वेष विवर्जित होकर ओजस्विता स्वीकार करे । जो वास्तव में तथ्य-परमार्थभूत अकृत्रिम-स्वाभाविक, अप्रतारक-प्रतारणारहित कर्म संश्लेष-कर्मसंबन्ध के अभाव के कारण निर्ममत्व के कारण आत्मपराक्रमविहीन प्राणियों द्वारा दुःसाध्य है, परुष-कर्कश है, अन्तप्रांत आहार के उपभोग के कारण जो कठिन है, उस संयम को वह जाने । क्रियान्वयन द्वारा वह भली भांति स्वायत्त करे । साधु किसी विशिष्ट अर्थ को स्वयं जानकर अथवा प्रतिष्ठा सम्मान आदि प्राप्त कर तुच्छ न बने-उन्मत्त न बने । आत्मश्लाघा न करे । अथवा दूसरे को भली भांति न समझता हुआ उसकी अत्यधिक प्रशंसा न करे। वह व्याख्यान या धर्म कथा के अवसर पर अनाविल-निर्मल, लाभादि की अपेक्षा से विवर्जित रहे तथा सदा कषाय रहित रहे ।

❀ ❀ ❀

संकेज्ज याऽसंकितभाव भिक्खू, विभज्जवायं च वियागरेज्जा ।
भासादुयं धम्मसमुट्ठितेहिं, वियागरेज्जा समया सुपन्ने ॥२२॥

छाया – शङ्केत चाशङ्कितभावो भिक्षु, विभज्यवादञ्चव्यागृणीयात् ।
भाषाद्वयं धर्मसमुत्थितै र्व्यागृणीयात्समतया सुप्रज्ञः ॥

अनुवाद – सूत्र एवं अर्थ के संबंध में स्वयं को शंका न भी हो तो वह संकित वत वचन कहे । धर्म कथा या व्याख्यान आदि के अवसर पर वह विभज्यवाद-स्याद्वाद के आधार पर वचन प्रयोग करे । धर्म समुत्थित-धर्माचरण में संप्रवृत्त साधुओं के साथ विहरणशील होता हुआ वह भाषाद्वय-सत्यभाषा तथा असत्य विरहित, अमिथ्या (व्यवहार) भाषा का प्रयोग करे । विभव सम्पन्न एवं विभवहीन दोनों को समान रूप में धर्म का उपदेश दे ।

टीका – साम्प्रतं व्याख्याानविधिमधिकृत्याह-'भिक्षुः' साधुर्व्याख्यानं कुर्वन्नर्वाग्दर्शित्वादर्थनिर्णयं प्रति अशंकित-भावोऽपि 'शङ्कते' औद्धत्यं परिहरन्नहमेवार्थस्य वेत्ता नापरः कश्चिदित्येवं गर्वं न कुर्वीत किंतु विषयमर्थं प्ररुपयन् साशङ्कमेव कथयेद्, यदिवा परिस्फुटमप्यर्थंशंङ्कितभावमप्यर्थं न तथा कथयेत् यथा परः शंकेत, तथा विभज्यवादं-पृथगर्थनिर्णयवादं व्यागृणीयात् यदिवा विभज्यवादः स्याद्वादस्तं सर्वत्रास्खलितं लोकव्यवहाराविसंवादितया सर्वव्यापिनं स्वानुभवसिद्धं वदेद्, अथवा सम्यगर्थान् विभज्य-पृथक्कृत्वा तद्वादं वदेत् तद्यथा नित्यवादंद्रव्यार्थतया पर्यायार्थत्वनित्यवादं वदेत्, तथा स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः सर्वेऽपि पदार्थाः सन्ति परद्रव्यादिभिस्तु न सन्ति, तथा चोक्तम् -

"सदैव सर्वं को नेच्छेत्स्वरूपादिचतुष्टयात् ? । असदेव विपर्यासान्नचेन्न व्यवतिष्ठते ॥१॥"

इत्यादिकं विभज्यवादं वदेदिति । विभज्यवादमपि भाषाद्वितयेनैव ब्रूयादित्याह-भाषयोः आद्यचरमयोः सत्यासत्यामृषयोर्द्विकं भाषाद्विकं तद्भाषाद्वयं क्वचित्पृष्टोऽपृष्टो वा धर्मकथावसरेऽन्यदा वा सदा वा 'व्यागृणीयात्' भाषेत, किंभूतः सन् ? सम्यक्सत्संयमानुष्ठानेनोत्थिताः समुत्थिताः-सत्साधव उद्युक्तविहारिणो न पुनरुदायिनृपमारकवत्कृत्रिमास्तैः सम्यगुत्थितैः सह विहरन् चक्रवर्तिद्रमकयोः समतया रागद्वेषरहितो वा शोभनप्रज्ञो भाषाद्वयोपेतः सम्यग्धर्मः व्यागृणीयादिति ॥२२॥

टीकार्थ – सूत्रकार अब व्याख्यान विधि के संदर्भ में प्रतिपादित करते हैं-धर्म का व्याख्यान-विवेचन करता हुआ साधु अर्थ का निर्णय करने में निःशंक होता हुआ भी अर्वाक्दर्शिता-स्थूलदर्शिता के कारण शंकितवत् वचन बोले । वह अपने औद्धत्य-उदण्डता का परिहार करता हुआ यह घमंड न करे कि मैं ही इस तत्त्व का वेत्ता-विज्ञ हूं, अन्य दूसरा वैसा नहीं है । वह विषम-कठिन अर्थ की प्ररूपणा करता हुआ, शंका के साथ ही कथन करे अथवा ज्यों वस्तु अत्यन्त परिस्फुट-साफ हो जिसमें किसी शंका की गुंजाइश न हो, साधु उसे इस प्रकार न कहे जिससे श्रवण करने वाले के मन में शंका पैदा हो, पदार्थों को विभज्यवाद पूर्वक कहे-पृथक् पृथक् विवेचन के साथ आख्यात करे । विभज्यवाद का तात्पर्य स्याद्वाद से है स्याद्वाद कहीं भी स्खलित-व्याहत नहीं होता वह लोक व्यवहार से अविसंवादिता-अनुकूलता लिये हुए हैं । इसलिये वह सर्वव्यापी है तथा स्वानुभव सिद्ध है । साधु उसका आश्रय लेकर संभाषण करे अथवा पदार्थों को सम्यक्-भलीभांति से पृथक् पृथक् व्याख्यात कर बताये । जैसे वह द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से नित्यवाद की व्याख्या करे तथा पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से अनित्यवाद का विवेचन करे । अपने अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से सभी पदार्थ अपना अपना अस्तित्त्व लिये हुए हैं तथा वे अन्य द्रव्य अन्य क्षेत्र अन्य काल एवं अन्य भाव की दृष्टि से नास्तित्त्व लिये हुए हैं । अतएव कहा है-समस्त पदार्थ अपने-अपने स्वरूप आदि चार विकल्पों की दृष्टि से सत् है तथा पर रूप आदि चार की अपेक्षा से असत् है । ऐसा कौन नहीं चाहता ? कौन नहीं मानता ? ऐसा नहीं मानने से पदार्थों की व्यवस्था ही घटित नहीं होती । इस प्रकार साधु विभज्यवाद का संभाषण करे। विभज्यवाद को भी वह दो प्रकार की भाषाओं में व्याख्यात करे । सूत्रकार यह प्रतिपादित करते हैं । किसी

द्वारा पूछे जाने पर या न पूछे जाने पर अथवा धर्मकथा-धर्मप्रवचन के अवसर अथवा अन्य समय में साधु प्रथम और अन्तिम सत्य तथा असत्य अमृषा (व्यवहार) इन दो भाषाओं का प्रयोग करे । साधु किस प्रकार होता हुआ यह करे ? सूत्रकार इस संदर्भ में बतलाते हैं-सत्संयम-उत्कृष्ट संयम साधना में उत्थित, उद्यत-प्रयत्नशील, उद्यत विहरणशील, उदायी राजा के मारक-संहारक की ज्यों जो कृत्रिम-कपटी या छली नहीं है, वैसे मुनियों के साथ विहारण शील, राग द्वेष रहित होता हुआ उत्तम प्रज्ञावान साधु पूर्वोक्त दो भाषाओं का आश्रय लेता हुआ चक्रवर्ती एवं कंगाल को समान रूप से उपदेश दे ।

❀ ❀ ❀

अणुगच्छमाणे वितहं विजाणे, तहा तहा साहु अकक्कसेणं ।
ण कत्थई भास विहिंसइज्जा, निरुद्धगं वावि न दीह इज्जा ॥२३॥

छाया – अनुगच्छन् वितथं विजानीयात्, तथा तथा साधुरकर्कशेन ।
न कथयेद्भाषां विहिंस्यान्निरुद्धं वाऽपि न दीर्घयेत् ॥

अनुवाद – पूर्व सूचित भाषाद्वय का अवलम्बन लेकर धर्म की व्याख्या करते हुए साधु के विवेचन को कोई बुद्धिशील पुरुष यथावत् रूप में समझ लेता है, कोई बुद्धि की मन्दता के कारण विपरीत समझता है । वैसा समझने वाले मन्दमतिजनों को साधु अकर्कश-कोमल शब्दों द्वारा ज्ञापित करने का प्रयास करे । वह ऐसी अनादरपूर्ण भाषा न बोले जिससे सम्मुखीन जन का हृदय दुःखे । प्राश्निक की भाषा की निन्दा न करे। संक्षिप्त अर्थ को विस्तार से व्याख्यात न करे ।

टीका – किञ्चान्यत्-तस्यैवं भाषाद्वयेन कथयतः कश्चिन्मेधावितया तथैव तमर्थमाचार्यादिना कथितमनुगच्छन् सम्यगवबुध्यते, अपरस्तु मन्दमेधावितया वितथम्-अन्यथैवाभिजानीयात्, तं च सम्यगनवबुध्यमानं तथा तथा-तेन तेन हेतुदाहरणसद्युक्तिप्रकटनप्रकारेण मूर्खस्त्वमसि तथा दुर्दुरूढः खसूचिरित्यादिना कर्कशवचनेनानिर्भर्त्सयन् यथा यथाऽसौ बुध्यते तथा तथा 'साधुः' सुष्ठु बोधयेत् न कुत्रचित्क्रुद्धमुखहस्तौष्ठनेत्रविकारैरनादरेण कथयन् मनःपीडामुत्पादयेत्, तथा प्रश्नयतस्तद्भाषामप शब्दादिदोषदुष्टामपि धिग् मूर्खासंस्कृतमते ! किं तवानेन संस्कृतेन पूर्वोत्तरव्याहतेन वोच्चारिते नेत्येवं 'न विहिंस्यात्' न तिरस्कुर्याद् असंबद्धोद्घट्टनतस्तं प्रश्नयितारं न विडम्बयेदिति। तथा निरुद्धम्-अर्थस्तोकं दीर्घवाक्यैर्महता शब्ददर्दुरेणार्कविटपिकाष्टिकान्यायेन न कथयेत् निरुद्धं वा स्तोककालीनं व्याख्यानं व्याकरणतर्कादिप्रवेशनद्वारेण प्रसक्त्यानुप्रसक्त्या 'न दीर्घयेत्' न दीर्घकालिकं कुर्यात् तथा चोक्तम्-

"सो अत्थोवत्तब्बो जो भण्णइ अक्खरेहिं थोवेहिं । जो पुण थोवो बहुअक्खेरहिं सो होइ निस्सारो ॥१॥"

छाया - सोऽर्थो वक्तव्यो यो भण्यतेऽक्षरैः स्तौकैः । य पुनः स्तोको बहुभिरक्षरैः स भवति निस्सारः ॥१॥

तथा किंचित्सूत्रमल्पाक्षरमल्पार्थं वा इत्यादि चतुर्भङ्गिका, तत्र यदल्पाक्षरं महार्थं तदिह प्रशस्यत इति ॥२३॥

टीकार्थ – पूर्वोक्त दो भाषाओं द्वारा शास्त्रकार विवेचन करते हुए कहते हैं आचार्य आदि के कथन को कोई पुरुष मेधाविता-बुद्धिमत्ता के कारण यथावत रूप में समझ लेता है किंतु कोई अन्य मन्दमेधा के कारण उसे अन्यथा-विपरीत या उल्टा जान लेता है । यों विपरीत समझने वाले पुरुष को साधु समुचित हेतु उदाहरण एवं युक्ति द्वारा इस प्रकार समझावे जिससे वह समझ जाय किंतु तुम मूर्ख हो, तुम जड़ हो, तुम आकाश की

ज्यों शून्य हो इत्यादि कर्कश-कठोर वाक्यों द्वारा उसकी भर्त्सना न करे । जिस प्रकार वह समझ सके वैसे समीचीन रूप में उसे समझावे, क्रुद्धमुख, हाथ, ओष्ठ तथा नेत्र विकार-इन अंगों द्वारा अपमान पूर्ण संकेत करता हुआ वह साधु उस व्यक्ति के मन में पीड़ा उत्पादित न करे । उस प्राश्निक-प्रश्न करने वाले की भाषा यदि अपशब्द आदि के दोष से दूषित हों तो मूर्ख, असंस्कृतमति, तुम्हें धिक्कार है, संस्कारहीन तथा पहले और आगे के संदर्भ में शून्य, तुम्हारे इस कथन से क्या लाभ है इत्यादि द्वारा उसका तिरस्कार न करे । तथा असम्बद्ध वक्तृता का दोष लगाकर प्रश्नकर्ता की विडम्बना न करे । तथा जो अर्थ स्तोक छोटा या संक्षिप्त है उसे आक की लकड़ी कहने के बदले 'अर्क विटपिकाष्ठिका' जैसे प्रयोग सदृश जटिल शब्दाडम्बर मय लम्बे लम्बे वाक्यों द्वारा साधु कथन न करे । जो व्याख्यान-विवेचन अल्पकालीन हो उसे व्याकरण, तर्क आदि के प्रवेशन द्वारा, प्राप्ति अनुप्राप्ति द्वारा दीर्घकालीक-लम्बा न बनाये । कहा गया है-वैसा ही अर्थ वक्तव्य है-कहने योग्य है जो थोड़े अक्षरों में कहा जा सके । जो अर्थ थोड़ा होते हुए भी बहुत से अक्षरों द्वारा प्रतिपादित किया जाता है, वह निस्सार सार विवर्जित होता है । कोई सूत्र अल्पाक्षर-अल्प अक्षर युक्त तथा कोई अल्पार्थक-अल्प अर्थयुक्त होता है, इस संबंध में एक चौभंगी है, उसमें जो अर्थ अल्प अक्षरयुक्त तथा महान् अर्थयुक्त होता है, वही प्रशंसनीय है ।

❀ ❀ ❀

समालवेज्जा पडिपुन्नभासी, निसामिया समियाअट्ठदंसी ।
आणाइ सुद्धं वयणं भिउंजे, अभिसंधए पावविवेग भिक्खू ॥२४॥

छाया – समालपेत्प्रतिपूर्णभाषी, निशम्य सम्यगर्थदर्शी ।
आज्ञाशुद्धं वचन मभियुञ्जीत, अभिसन्धयेत्पापविवेकं भिक्षुः ॥

अनुवाद – जो अर्थ थोड़े शब्दों में कहे जाने योग्य नहीं है, साधु उसे विस्तीर्ण शब्दों में समझाये। वह गुरु से तत्त्व का श्रवण कर उसे भली भांति स्वायत्त कर शुद्ध वचन का प्रयोग करे । वह पाप का विवेक रखता हुआ ऐसा वचन बोले जो दोष रहित हो ।

टीका – अपिच-यत्पुनरतिविषमत्वादल्पाक्षरैर्न सम्यगवबुध्यते तत्सम्यग्-शोभनेन प्रकारेण समन्तात्पर्यायशब्दोच्चारणतो भावार्थकथनतश्चालपेद्-भाषेत समालपेत्, नाल्पैरेवाक्षरैरुक्त्वा कृतार्थो भवेद्, अपितु ज्ञेयगहनार्थभाषणे सद्धेतुयुक्त्यादिभिः श्रोतारमपेक्ष्य प्रतिपूर्णभाषी स्याद्-अस्खलितामिलिताहीनाक्षरार्थवादी भवेदिति। तथाऽऽचार्यादेः शकाशाद्यथावदर्थं श्रुत्वा निशम्य अवगम्य च सम्यगयथावस्थितमर्थं यथा गुरु सकाशादवधारितमर्थं-प्रतिपाद्यं द्रष्टुं शीलमस्य स भवति सम्यगर्थदर्शी, स एवंभूतः संस्तीर्थकराज्ञया-सर्वज्ञप्रणीतागमानुसारेण 'शुद्धम्' अवदातं पूर्वापराविरुद्धं निरवद्यं वचनमभियुञ्जीतोत्सर्गविषये सति उत्सर्गमपवाद विषये चापवादं तथा स्वपरसमययोर्यथास्वं वचनमभिवदेत् । एवं चाभियुञ्जन् भिक्षुः पापविवेकं लाभसत्कारादिनिरपेक्षतया काङ्क्षमाणो निर्दोषं वचनमभिसन्ध-येदिति ॥२४॥ पुनरपि भाषा विधिमधिकृत्याह -

टीकार्थ – जो तत्त्व अत्यन्त विषम-दिलष्ट होने के कारण थोड़े अक्षरों द्वारा भलीभांति समझाया नहीं जा सकता, उसे शोभन प्रकार से भलीभांति पर्यायवाची शब्दों का उच्चारण करते हुए अथवा उसका भावार्थ बतलाते हुए समझाये । ऐसे अर्थ को अल्पाक्षरों में आख्यात कर साधु अपने को कृतकृत्य न माने ऐसा न समझे

कि मैंने अपना कार्य कर दिया है किंतु श्रवणकर्ता की योग्यता की अपेक्षा से जानने योग्य गहन अर्थ को उत्तम हेतु तथा युक्ति आदि द्वारा पूरी तरह व्याख्यात करे। ऐसे विषय को ज्ञापित कराता हुआ साधु अस्खलित-स्खलन रहित, स्पष्ट अमिलित-पृथक् पृथक्, अहीन--किसी अक्षर को छोड़े बिना अर्थ का प्रतिपूर्णभाषी बने-विस्तार से अर्थ का अभिभाषण करे। आचार्य आदि से पदार्थ-तत्त्व श्रवण कर उसका अर्थ सही रूप में भली भांति अवगत कर वह गुरु के पास से गृहीत-अवधारित अर्थ को भली भांति जानता हुआ वह सर्वज्ञ प्रणीत आगमों के अनुसार शुद्ध, आगे पीछे के संदर्भ से अविरुद्ध अप्रतिकूल निरवद्य-निर्दोष पाप रहित वचन का प्रयोग करे। उत्सर्गमूलक तथा अपवाद के विषय में अपवादमूलक तथा अपने सिद्धान्त तथा दूसरों के सिद्धान्त जैसे हैं तदनुरुप वचन बोले। इस प्रकार पाप का विवेक रखते हुए वाणी का प्रयोग करता हुआ साधु लाभ सम्मान आदि पाने की आकांक्षा न रखे तथा निर्दोष वचन बोलने की भावना लिये रहे।

फिर भाषा विधि को अधिकृत कर सूत्रकार कहते हैं-

❀ ❀ ❀

अहाबुइयाइं सुसिक्खएज्जा, जइज्जाया णातिवेलं वदेज्जा।
से दिट्ठिमं दिट्ठि ण लूसएज्जा, से जाणई भासिउं तं समाहिं ॥२५॥

छाया – यथोक्तानि सुशिक्षेत, यतेत नातिबेलं वदेत्।
स दृष्टिमान् दृष्टिं न लूषयेत्, स जानातिभाषितुं तं समाधिम् ॥

अनुवाद – साधु तीर्थंकर तथा गणधर आदि महापुरुषों के वचनों का सदा अनुशीलन करे, तदनुसार आचरणशील रहे। वह मर्यादा का अतिक्रमण कर अधिक भाषण न करे। सम्यक् दृष्टि साधु दृष्टि को, सम्यक् दर्शन को लूषित-दूषित या दोषपूर्ण न बनाये। वही सर्वज्ञ-तीर्थंकर प्रतिपादित भाव समाधि को-मोक्षमूलक साधना को जानता है। प्राप्त करता है।

टीका - यथोक्तानि तीर्थकरगणधरादिभिस्तान्यहर्निशं 'सुष्ठु शिक्षेत' ग्रहण शिक्षया सर्वज्ञोक्तमागमं सम्यग् गह्णीयाद् आसेवनाशिक्षया त्वन वरतमुद्युक्तविहारितयाऽऽसेवेत, अन्येषां च तथैव प्रतिपादयेद्, अतिप्रसक्तलक्षणनिवृत्तये त्वपदिश्यते, सदा ग्रहणासेवनाशिक्षयोर्देशनायां यतेत, सदा यतमानोऽपि यो यस्य कर्त्तव्यस्य कालोऽध्ययनकालो वा तां वेलामतिलङ्घ्य नातिबेलं वदेद्-अध्ययन कर्त्तव्य मर्यादां नातिलङ्घयेत्स (दर्स) दनुष्ठानं प्रति व्रजेद्वा, यथावसरं परस्पराबाधया सर्वाः क्रियाः कुर्यादित्यर्थः। स एवं गुणजातीयो यथाकालवादी यथाकालचारी च 'सम्यग्दृष्टिमान्' यथा वस्थितान् पदार्थान् श्रद्दधानो देशनां व्याख्यानं वा कुर्वन् 'दृष्टिं' सम्यग्दर्शनं 'न लूषयेत्' न दुषयेत्, इदमुक्तं भवति-पुरुषविशेषं ज्ञात्वा तथा तथा कथनीयमपसिद्धान्तदेशनापरिहारेण यथा यथा श्रोतुः सम्यक्त्वं स्थिरीभवति, न पुनः शङ्कोत्पादनतो दूष्यते, यश्चैवंविधः स 'जानाति' अवबुध्यते 'भाषितुं' प्ररूपयितुं 'समाधि' सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राख्यं सम्यक्चित्तव्यवस्थानाख्यं वा तं सर्वज्ञोक्तं समाधिं सम्यगव-गच्छतीति ॥२५॥

टीकार्थ – तीर्थंकर, गणधर आदि महापुरुषों द्वारा प्रतिपादित वचनों का साधु अहर्निश भलीभांति अभ्यास करे। वह ग्रहण शिक्षा द्वारा सर्वज्ञ प्रणीत आगम को सम्यक् गृहीत करे-आत्मसात करे। आसेवना शिक्षा द्वारा संयम के परिपालन में प्रयत्नशील रहे। वह दूसरे लोगों को भी आगम का उपदेश दे। अनुचित-अवांछित

लक्षण की निवृत्ति हेतु ऐसा करे । वह सदा ग्रहण शिक्षा तथा आसेवना शिक्षा से युक्त होता हुआ धर्म देशना में यत्न शील रहे । वैसा यत्न करता हुआ, जो जिस कार्य का समय है अथवा अध्ययन का समय है उसका उल्लङ्घन न करे । वह अध्ययन एवं कर्त्तव्य की मर्यादा को न लांघे किंतु उत्तम आचरण में संलग्न रहे । परस्पर बाधा न आये । इसे ध्यान में रखते हुए क्रियाएं करे । वह अवसर के अनुरूप सब क्रियाएं करे । जो साधु ऐसा है अर्थात् काल या समय के अनुसार बोलता है, या आचरण करता है वह सम्यक् दृष्टियुक्त है अर्थात् वह पदार्थों के सत्य स्वरूप में श्रद्धा रखता है वह धर्म देशना या व्याख्यान देता हुआ सम्यकदर्शन को दूषित न करे । इसका यह अभिप्राय है कि पुरुष विशेष को जानकर उसकी योग्यता देखकर अपसिद्धांत का परिहार कर जैसे जैसे सुनने वाले का सम्यक्त्व स्थिर बने ऐसा उपदेश करे, किंतु ऐसा उपदेश न करे जिससे सुनने वाले के मन में शंका पैदा हो जाय उसका सम्यक्त्व दूषित हो जाय । जो इस प्रकार प्ररूपणा करना-उपदेश देना जानता है वह सम्यक्दर्शन ज्ञान चारित्र मूलक अथवा सर्वज्ञ प्रतिपादित सम्यक्चित्त व्यवस्था रूप समाधि को भलीभांति जानता है ।

❀ ❀ ❀

अलूसए णो पच्छन्नभासी, णो सुत्तमत्थं च करेज्ज ताई ।
सत्थारभत्ती अणुवीइ वायं, सुयं च सम्मं पडिवाययंति ॥२६॥

छाया – अलूषको नो प्रच्छन्नभाषी, न सूत्रमर्थञ्च कुर्य्यात् त्रायी ।
शास्तृभक्त्याऽनुविचिन्त्यवादं, श्रुतञ्च सम्यक् प्रतिपादयेत् ॥

अनुवाद – साधु आगम के अर्थ को लूसित-दोषयुक्त न करे । शास्त्र-सिद्धान्त को प्रच्छन्न न रखे-छिपावे नहीं । त्रायी-प्राणियों का त्राता-रक्षक साधु सूत्र एवं अर्थ को अन्यथा न करे । उनके विपरीत वचन न बोले । शास्ता-शिक्षा देने वाले गुरु की भक्ति का अनुचिन्तन करता हुआ वह विचार पूर्वक वचन कहे । गुरु से जैसा श्रवण किया वैसा ही वह सम्यक् प्रतिपादन करे-विवेचन करे ।

टीका – किंचान्यत्-'अलूसए' इत्यादि, सर्वज्ञोक्तमागमं कथयन् 'नो लूषयेत्' नान्यथाऽपसिद्धान्तव्याख्यानेन दूषयेत्, तथा 'न प्रच्छन्नभाषी भवेत्' सिद्धान्तार्थमविरुद्धमवदातं सार्वजनीनं तत्प्रच्छन्नभाषणेन न गोपयेत्, यदिवा प्रच्छन्नं वाऽर्थमपरिणताय न भाषेत, तद्धि सिद्धान्तरहस्यमपरिणत शिष्यविध्वंसनेन दोषायैव संपद्यते, तथा चोक्तम्-

"अप्रशान्तमतौ शास्त्रसद्भावप्रतिपादनम् । दोषायाभिनवोदीर्णे, शमनीयमिव ज्वरे ॥१॥"

इत्यादि, न च सूत्रमन्यत् एवमतिविकल्पनतः स्वपरत्रायी कुर्वीतान्यथा वा सूत्रं तदर्थं वा संसारात्त्रायी-त्राणशीलो जन्तूनां न विदधीत, किमित्यन्यथा सूत्रं न कर्त्तव्यमित्याह-परहितैकरतः शास्ता तस्मिन् शास्तरिया व्यवस्थिता भक्तिः-बहुमानस्तया तद्भक्त्या अनुविचिन्त्यममानेनोक्तेन न कदाचिदागमबाधा स्यादित्येवं पर्यालोच्य वादं वदेत्, तथा यच्छ्रुतमाचार्यादिभ्यः सकाशात्तन्तथैव सम्यक्त्वाराधनामनुवर्तमानोऽन्येभ्य ऋणमोक्षं प्रतिपद्यमानः 'प्रतिपादयेत्' प्ररूपयेन्न सुखशीलतां मन्यमानो यथाकथंचित्तिष्ठेदिति ॥२६॥

टीकार्थ – साधु सर्वज्ञ प्रतिपादित आगम का विवचेन करता हुआ अप सिद्धान्त-विपरीत सिद्धान्त का निरूपण कर आगम को दूषित न बनाये-दोषयुक्त न करे । जो सिद्धान्त शास्त्र से अविरुद्ध-अनुकूल, अवदात्त-निर्मल एवं सार्वजनीन है उसे प्रछन्न भाषण-अस्पष्ट प्रतिपादन द्वारा न छिपावे अथवा जो सिद्धांत प्रच्छन्न-गोपनीय

है, उसे किसी अपरिणीत-अपरिपक्व पुरुष को न कहे क्योंकि वैसे पुरुष के आगे सिद्धान्त का रहस्य प्रकट करने से वह दूषित-विकृत हो जाता है । इसलिये कहा गया है कि जिसकी बुद्धि अप्रशान्त है-विशेष रूप से शांत नहीं है, उसको शास्त्र का सद्भाव-श्रेष्ठ सिद्धान्त बतलाना दोष हेतु होता है । जैसे जिसको नया बुखार है-अभी बुखार चढ़ा है उसे बुखार को रोकने की औषधि देना दोषजनक है इत्यादि । स्वपरत्रायी-अपना तथा अन्य का त्राण करने वाला अथवा प्राणियों का रक्षण करने वाला साधु मनमानी कल्पना द्वारा सूत्र एवं उसके अर्थ को अन्यथा न करे-विपरीत न बनावे । वह सूत्र को अन्यथा क्यों नहीं करे ? इसका स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं परहित-लोगों के हित में रत, संलग्न शास्ता-उपदेष्टा साधु, आचार्य में जो अपनी भक्ति है, जो बहुमान है उसका अनुचिन्तन करता हुआ सोचे कि मेरे इस कथन से आगम में कोई बाधा तो उपस्थित नहीं होती है । तत् पश्चात् वह अपना वक्तव्य कहे । आचार्य आदि से जो सुना हो तदनुसार वह सम्यक्त्व की आराधना का अनुवर्तन करता हुआ गुरु के ऋण से मुक्त होने हेतु वैसी ही प्ररूपणा करे । अपनी सुखशीलता-सुविधा नहीं सोचता हुआ जिस किसी प्रकार से न कहे । जैसा मन में आवे वैसा न बोले ।

❀ ❀ ❀

से सुद्धसुत्ते अवहाणवं च, धम्मं च जे विंदति तत्थ तत्थ ।
आदेज्जवक्के कुसले वियत्ते, स अरिहइ भासिउं तं समाहिं ॥२७॥ त्तिबेमि॥

छाया – स शुद्धसूत्र उपधानवांश्च, धर्मञ्च यो विन्दति तत्र तत्र ।
आदेयवाक्यः कुशलो व्यक्तः सोऽर्हति भाषितुं तं समाधिम् ॥इति ब्रवीमि॥

अनुवाद – जो साधु सूत्र का शुद्ध उच्चारण करता है, जो शास्त्र विहीत तपश्चरण करता है, जो उत्सर्ग के स्थान पर उत्सर्ग मूलक धर्म को तथा अपवाद के स्थान पर अपवादमूलक धर्म को अपनाता है वही आदेय वाक्य है । उसी का वचन ग्राह्य है-इस प्रकार शास्त्र के अर्थ में कुशल तथा व्यक्त-विचारपूर्वक कार्यशील साधुसर्वज्ञ प्रणीत भाव समाधि का अभिभाषण प्रतिपादन कर सकता है ।

टीका – अध्ययनोपसंहारार्थमाह-'स' सम्यग्दर्शनस्यालूषको यथावस्थितागमस्य प्रणेताऽनुविचिन्त्यभाषकः शुद्धम्-अवदातं यथावस्थितवस्तुप्ररूपणोऽध्ययनतश्च सूत्रंप्रवचनं यस्यासौ शुद्धसूत्रः, तथोपधानं-तपश्चरणं यद्यस्य सूत्रस्याभिहितमागमेतद्विद्यते मस्यासावुपधानवान्, तथा 'धर्मं' श्रुतचारित्राख्यं यः सम्यक् वेत्ति विन्दते वा-सम्यग् लभते 'तत्र तत्रे' ति य आज्ञाग्राह्योऽर्थः स आज्ञयैव प्रतिपत्तव्यो हेतुकस्तु सम्यग्हेतुना यदिवा स्वसमयसिद्धोऽर्थः स्वसमय व्यवस्थापनीयः पर (समय) सिद्धश्च परस्मिन् अथवोत्सर्गापवादयोर्व्यवस्थितोऽर्थस्ताभ्यामेव यथास्वं प्रतिपादयितव्यः, एतद्गुणसंपन्नश्च 'आदेयवाक्यो' ग्राह्यवाक्यो भवति, तथा 'कुशलो' निपुणः आगमप्रतिपादने सदनुष्ठाने च 'व्यक्तः' परिस्फुटो नासमीक्ष्यकारी, यश्चैतद्गुणसमन्वितः सोऽर्हति-योग्यो भवति 'तं' सर्वज्ञोक्तं ज्ञानादिकं वा भावसमाधिं 'भाषितुं' प्रतिपादयितुं, नापरः कश्चिदिति । इति परिसमाप्त्यर्थे, ब्रवीमीति पूर्ववत्, गतोऽनुगमा, नयाः प्राग्वद्वाच्याख्येयाः ॥२७॥

॥ समाप्तं चतुर्दशं ग्रन्थाख्यमध्ययनमिति ॥

टीकार्थ – सूत्रकार इस अध्ययन का उपसंहार करते हुए कहते हैं-जो साधु सम्यक्दर्शन को दोषयुक्त-विकृत नहीं करता, आगम के यथावस्थित अर्थ का प्रणयन करता है-प्रकटन करता है, अनुचिन्तनपूर्वक भाषण

करता है, पदार्थ का शुद्ध-जैसा वह है, वैसा स्वरूप प्ररूपित करता है, अध्ययन पूर्वक-चिन्तन पूर्वक जो सूत्र का शुद्ध उच्चारण एवं प्रवचन करता है। जो शास्त्र विहित तपश्चरण करता है, जो शुद्ध चारित्रमूलक धर्म का भली भांति पालन करता है, जो अर्थ आज्ञाग्राह्य है उसे आज्ञा मात्र से प्रतिपन्न करता है, ग्रहण करता है, जो अर्थ हेतु ग्राह्य है, उसे हेतुपूर्वक ग्रहण करता है, स्वसिद्धान्त में जो सिद्ध है उसे स्व सिद्धान्त में ही स्थापित करता है, पर सिद्धान्त में जो सिद्ध है, उसे पर सिद्धान्त में ही स्थापित करता है। उत्सर्गमूलक अर्थ को उत्सर्ग रूप में और अपवाद मूलक अर्थ को अपवाद रूप में स्थापित करता है। जो इन गुणों से युक्त है-विशेषताओं से युक्त है वही आदेय वाक्य या ग्राह्य वाक्य होता है-उसकी बात मानने योग्य होती है। जो शास्त्र प्रतिपादन में तथा सत् अनुष्ठान में-उत्तम आचरण में व्यक्त-परिस्फुट या निपुण होता है, जो समीक्षा किये बिना भली भांति विचारे बिना कार्य नहीं करता-ऐसे गुणों से समन्वित होता है वही सर्वज्ञ प्ररूपित ज्ञानादि का अथवा भाव समाधि का भाषण-विवेचन कर सकता है, अन्य कोई वैसा नहीं कर सकता। यहां इति शब्द परिसमाप्ति के अर्थ में है। ब्रवीमि बोलता हूं, पूर्ववत् है। अनुगम समाप्त हुआ। नय पूर्ववत् आख्येय है।

चौदहवां ग्रन्थाध्ययन समाप्त हुआ।

❀ ❀ ❀

卐卐卐

आदाननामकं पञ्चदशमध्ययनं

जमतीतं पडुपन्नं, आगमिस्सं च णायओ ।
सव्वं मन्नति तं ताई, दंसणावरणंतए ॥१॥

छाया – यदतीतं प्रत्युत्पन्न मागमिष्यच्च नायकः ।
सर्वं मन्यते तत् त्रायी दर्शनावरणान्तकः ॥

अनुवाद – अतीत-जो पदार्थ हो चुके हैं, प्रत्युत्पन्न-जो विद्यमान हैं तथा जो आगमिष्यत्-आने वाले हैं-भविष्य में होने वाले हैं उन सब को वे जानते हैं जिन्होंने दर्शनावरणीय कर्म का क्षय कर दिया है, जो सब जीवों के त्रायी-त्राता या रक्षक हैं तथा नायक-सबके मार्गदर्शक हैं ।

टीका – अस्य चानन्तर सूत्रेण संबन्धो वक्तव्यः, स चायं तद्यथा-आदेयवाक्यः, कुशलो व्यक्तोऽर्हति तथोक्तं समाधि भाषितुं, यश्च मदतीतं प्रत्युत्पन्नमागामि च सर्वमवगच्छति स एव भाषितुमर्हति नान्य इति। परम्परसूत्रसंबन्धस्तु य एवातीतानागतवर्तमानकालत्रयवेदी स एवाशेषबन्धनानां परिज्ञाता त्रोटयिता वेत्येतद्बुध्येतेत्यादिकः संबन्धऽपरसूत्रैरपि स्वबुद्धया लगनीया इति । तदेव प्रतिपादित संबन्धस्यास्य सूत्रस्य व्याख्या प्रस्तूयते-यत्किमपि द्रव्यजातमतीतं यच्च प्रत्युत्पन्नं यच्चानागतम्-एष्यत्कालभावि तस्यासौ सर्वस्यापि यथावस्थितस्वरूप निरूपणतो 'नायकः' प्रणेता, यथावस्थितवस्तुस्वरूपप्रणेतृत्वं च परिज्ञाने सति भवत्यतस्तदुपदिश्यते-'सर्वम्' अतीतानागत वर्तमानकालत्रयभावतो द्रव्यादिचतुष्कस्वरूपतो द्रव्यपर्यायनिरूपण तश्च मनुते-असौ जानाति सम्यक् परिच्छिनत्ति तत्सर्वमवबुध्यते, जानानश्च विशिष्टोपदेशदानेन संसारोत्तारणतः सर्वप्राणिनां त्राय्यसौ-त्राणकरणशीलः, यदिवा-'अयवयपयमयचयतयणय गता' वित्यस्य धातोर्धञ्प्रत्यः तयनं तायः स विद्यते यस्यासौ तायी, 'सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्था' इतिकृत्वा सामान्यस्य परिच्छेदको, मनुते इत्यनेन विशेषस्य, तदनेन सर्वज्ञः सर्वदर्शी चेत्युक्तं भवति, न च कारणमन्तरेण कार्य भवतीत्यत इदमपदिश्यते-दर्शनावरणीयस्य कर्मणोऽन्तकः, मध्यग्रहणे (न) तु घातिचतुष्टयस्यान्तकृद् द्रष्टव्य इति ॥१॥

टीकार्थ – इस सूत्र के पहले के सूत्र के साथ संबंध व्यक्तव्य है, वह इस प्रकार है । पहले के सूत्र में कहा गया है कि जो पुरुष आदेयवाक्य है, कुशल-निपुण है, व्यक्त-विचारपूर्वक कार्यशील है, वहीं शास्त्रोक्त समाधी का प्रतिपालन कर सकता हैं अन्य नहीं । सूत्र के परम्परानुवर्ती संबंध के अनुसार जो पुरुष अतीत, वर्तमान एवं अनागत तीनों कालों को-तद्गत पदार्थों का वेत्ता है, वही समस्त बंधनों का परिज्ञाता अथवा त्रोटयिता-तोडने वाला है, ऐसा जानना चाहिये । इस प्रकार अन्य सूत्रों के साथ भी स्वबुद्धि द्वारा संबंध जोड़ लेना चाहिये। जिस सूत्र का संबन्ध प्रतिपादित किया जा चुका है । उसकी व्याख्या प्रस्तुत की जाती है । जो पदार्थ अतीत में हो चुके हैं जो वर्तमान में हैं तथा भविष्य में होंगे उनके यथावस्थित स्वरूप का निरूपण-विवेचन करने के कारण वह पुरुष नायक-प्रणेता है । परिज्ञान होने पर ही वस्तु के यथावत् स्वरूप का प्रणेतृत्व हो सकता है । अतः सूत्रकार उपदिष्ट करते हैं कि वह पुरुष भूत, भविष्य तथा वर्तमान तीनों कालों के पदार्थों को द्रव्यादि-द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से तथा द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से जानता है, भली भांति पहचानता है, अवबोधित करता है । यों जानता हुआ वह विशिष्ट उपदेश प्रदान कर समस्त प्राणियों को संसार

सागर से पार उतारता है । इसलिये वह सब का त्रायी-त्राणकरणशील है, रक्षक हैं । व्याकरण के अनुसार "अय वय पय मय चय तय णय गतौ" इस सूत्र से यहां तय धातु में घञ् प्रत्यय हुआ है जिससे तयनं रूप बनता है जिसका अर्थ त्राण है जो त्राण करता है उसे 'तायी'-त्रायी कहा जाता है । "सर्वेगत्यर्था ज्ञानार्था" के अनुसार वे सभी धातुएं जो गति के अर्थ में है ज्ञान के भी अर्थ में है । ज्ञान से सामान्य का परिच्छेद होता है । मनुते पद से वह पुरुष विशेष अर्थ का ज्ञाता है, सर्वज्ञ है, सर्वदर्शी है, यह कहा गया है । कारण के अभाव में कार्य निष्पन्न नहीं होता, अतः सूत्रकार यहां बतलाते हैं कि वह पुरुष दर्शनावरणीय कर्म का अन्तक-अन्त करने वाला है । दर्शनावरणीय कर्म के माध्यम से-उसके ग्रहण से चार प्रकार के घाती कर्मों का वह अन्तक-अन्त या नाश करने वाला है, ऐसा समझना चाहिये ।

❀ ❀ ❀

अन्तए वितिगिच्छाए, से जाणति अणेलिसं ।
अणेलिसस्स अक्खाया, ण से होइ तहिं तहिं ॥२॥

छाया – अन्तको विचिकित्साया: स जानात्यनीदृशम् ।
अनीदृशस्याख्याता, स न भवति तत्र तत्र ॥

अनुवाद – जो विचिकित्सा-संशय का अन्तक विनाशक होता है, संशयग्रस्त नहीं होता, वह अनीदृश-अप्रतिम वेत्ता-ज्ञानी होता है । वैसा विवेचक-वस्तु तत्त्व का व्याख्याता अन्य दर्शनों में नहीं है ।

टीका – यश्च घातिचतुष्टयान्तकृत्स ईदृग्भवतीत्याह-विचिकित्सा-चित्तविप्लुतिः संशयज्ञानं तस्यासौ तदावरणक्षयादंतकृत संशयविपर्ययमिथ्याज्ञानानामविपरीतार्थपरिच्छेदादन्ते वर्तते, इदमुक्तं भवति-तत्र दर्शनावरणक्षयप्रतिपादनात् ज्ञानाद् भिन्नं दर्शनमित्युक्तं भवति, ततश्च येषामेकमेव सर्वज्ञस्य ज्ञानं वस्तुगतयोः सामान्यविशेषयोरचिन्त्यशक्त्युपेतत्वात्परिच्छदकमित्येषोऽभ्युपगमः सोऽनेन पृथगावरणक्षयप्रतिपादनेन निरस्तो भवतीति, यश्च घातिकर्मान्तकृदति क्रान्तसंशयादिज्ञानः सः 'अनीदृशम्' अनन्यसदृशं जानीते न तत्तुल्यो वस्तुगतसामान्य विशेषांशपरिच्छेदक उभयरूपेणैव विज्ञानेन विद्यत इति, इदमुक्तं भवति-न तज्ज्ञानमितरजनज्ञानतुल्यम्, अतो यदुक्तं मीमांसकैः-सर्वज्ञस्य सर्वपदार्थपरिच्छेदकत्वेऽभ्युपगम्यमाने सर्वदा स्पर्शरूपरसगन्धवर्णशब्द परिच्छेदादनभिमत-द्रव्यरसास्वादनमपि प्राप्नोति, तदनेन व्युदस्तं द्रष्टव्यं, यदप्युच्यते-सामान्येन सर्वज्ञसद्भावेऽपि शेषहेतोरभावादर्हत्येव संप्रत्ययो नोपपद्यते, तथा चोक्तम् -

"अर्ह (रूह) न् यदिसर्वज्ञो, बुद्धो नेत्यत्र का प्रभा ? । अथोभावपि सर्वज्ञौ, मतभेदस्तयोः कथम् ? ॥१॥"

इत्यादि, एतत्परिहारार्थमाह-'अनीदृशस्य' अनन्यसदृशस्य यः परिच्छेदक आख्याता च नासौ 'तत्र तत्र' दर्शने बौद्धादिके भवति, तेषां द्रव्यपर्यायोरनभ्युपगमादिति, तथाहि-शाक्यमुनिः सर्वं क्षणिकमिच्छन् पर्यायानेवेच्छति न द्रव्यं, द्रव्यामन्तरेण च निर्बीजत्वात् पर्यायाणामप्यभावः प्राप्नोत्यतः पर्यायानिच्छताऽवस्यमकामेनापि तदाधारभूतं परिणामि द्रव्यमेष्टव्यं, तदनभ्युपगमाच्च नासौ सर्वज्ञ इति, तथा अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावस्य द्रव्यस्यैवैकस्याभ्युप-गमादध्यक्षाध्यवसीयमानानामर्थ क्रियासमर्थानां पर्यायाणामनभ्युपगमान्निष्पर्यायस्य द्रव्यस्याप्यभावात्कपिलोऽपि न सर्वज्ञ इति, तथा क्षीरोदकवदभिन्नयोर्द्रव्यपर्यायो भेदेनाभ्युपगमादुलूकस्यापि न सर्वज्ञत्वम्। असर्वज्ञत्वाच्च तीर्थान्तरीयाणां मध्ये न कश्चिदप्यनीदृशस्य-अनन्यसदृशस्यार्थस्यद्रव्यपर्यायोभयरूपस्याख्याता भवतीत्यर्हन्नेवातीतानागतवर्तमानत्रिकाल वर्तिनोऽर्थस्य स्वाख्यातेति न तत्र तत्रेति स्थितम् ॥२॥

टीकार्थ – जो पुरुष चतुर्विध घातिकर्मों का अन्तकृत-विनाशक है वह इस प्रकार का होता है-यह सूत्रकार प्रतिपादित करते हैं । चित्त की विप्लुति-अस्थिरता या संशयात्मक ज्ञान को विचिकित्सा कहा जाता है । उसके आवरक-उसे ढंकने वाले कर्मों को क्षीण करने के कारण जो पुरुष संशय का अन्त-नाश कर देता है, वह संशय, विपर्यय तथा मिथ्याज्ञान को अविपरीत-यथावत रूप में जानने के कारण इनके अन्त में वर्तमान होता है-निवास करता है । इसका तात्पर्य यह है कि यहां दर्शनावरणीय कर्म के क्षय का प्रतिपादन किया गया है । इसलिये दर्शन ज्ञान से भिन्न है यह प्रकट होता है । जिनका यह मन्तव्य है कि सर्वज्ञ का एक ही ज्ञान अचिन्त्य शक्ति से युक्त होता है । अत: पदार्थ के सामान्य तथा विशेष दोनों भावों का वह परिच्छेदक-निश्चायक है । यहां दर्शनावरणीय के पृथक् क्षीण होने का प्रतिपादन करने से उक्त मत खण्डित हो जाता है-निरस्त हो जाता है, यह जानना चाहिये । जो पुरुष घाति कर्मों का नाश कर चुका है, संशय आदि का उल्लंघन कर चुका है वह अनन्य सदृश-अप्रतिम-जिसके सदृश दूसरा कोई नहीं, पदार्थों का ज्ञाता है । वस्तुगत सामान्य और विशेष दोनों ही भावों का परिज्ञाता और कोई नहीं है । कहने का अभिप्राय यह है कि उस पुरुष का ज्ञान-अन्य जनों के ज्ञान के सदृश नहीं है । इसलिये मीमांसकों ने जो यह कहा है कि सर्वज्ञ में सब पदार्थों का परिच्छेदकत्व-सब पदार्थों का ज्ञान अभ्यपगत है-विद्यमान है तो उसे स्पर्श रूप रस गंध वर्ण शब्द का परिच्छेद-ज्ञान बने रहने से अनभिमत-अस्वीकृत वस्तु के रसास्वाद का ज्ञान भी होना चाहिये । यह इस कथन से निरस्त हो जाता है-यह जानना चाहिये । उन्होंने ऐसा कहा है । सामान्य रूप से सर्वज्ञ के सिद्ध हो जाने पर भी अर्हन् ही सर्वज्ञ है, यह सिद्ध करने में कोई हेतु प्राप्त नहीं है । इसलिये इस कथन में सम्प्रत्यय-प्रतीति घटित नहीं होती । उन्होंने और भी कहा है-यदि अर्हत् सर्वज्ञ है, बुद्ध सर्वज्ञ नहीं, इसमें क्या प्रमाण है । यदि अर्हत् और बुद्ध दोनों ही सर्वज्ञ हैं तो उन दोनों के सिद्धान्तों में अन्तर क्यों हैं ? इस आरोप का परिहार करते हुए कहते हैं-अर्हत् जिस प्रकार अनन्य सदृश पदार्थों का परिच्छेदक है-आख्याता या प्रतिपादक है, वैसा वह बुद्ध नहीं है क्योंकि वहां-बौद्ध आदि दर्शनों में द्रव्य एवं पर्याय दोनों का अभ्युपगम स्वीकार नहीं है । शाक्यमुनि-बुद्ध सब पदार्थों को क्षणिक मानते हैं तदनुसार वे केवल पर्याय को ही स्वीकार करते हैं । द्रव्य को स्वीकार नहीं करते परन्तु द्रव्य के बिना निर्बीजत्व होता है-द्रव्य पर्यायों के बीजरूप है, उनके न होने से पर्याय भी नहीं हो सकते । अत: जो पर्यायों को मानते हैं उन्हें पर्यायों के आधारभूत परिणमनशील द्रव्य को अवश्य स्वीकार करना चाहिये । बुद्ध ऐसा स्वीकार नहीं करते । इसलिये वे सर्वज्ञ नहीं है। कपिल अप्रच्युत-विनाश रहित अनुत्पन्न-उत्पत्ति रहित, स्थिर-एकस्वभाव-एक स्वभाव में स्थित द्रव्य को ही स्वीकार करते हैं । प्रत्यक्ष रूप में अनुभूत होने वाले अर्थ क्रिया समर्थ पर्यायों को नहीं मानते किंतु निष्पर्याय-पर्यायरहित द्रव्य हो नहीं सकता । अत: कपिल भी सर्वज्ञ नहीं है । दूध तथा पानी की ज्यों द्रव्य एवं पर्याय अभिन्न हैं । उन्हें सर्वथा भिन्न मानने वाले उलूक का भी सर्वज्ञत्व सिद्ध नहीं होता। यों असर्वज्ञ होने के कारण अन्य मतवादियों में कोई भी अनन्य सदृश-अप्रतिम अर्हत् के तुल्य उभयविद-द्रव्य पर्याययुक्त पदार्थ का आख्याता-वक्ता या प्रतिपादक नहीं है । अत: एकमात्र अर्हत् ही अतीत अनागत तथा वर्तमान-त्रिकाल पदार्थों के सुआख्याता-सुष्ठुरूप में, यथावस्थित रूप में विवेचक है, ऐसा सिद्ध होता है ।

❀ ❀ ❀

तहिं तहिं सुयक्खायं, से य सच्चे सुआहिए ।
सया सच्चेण संपन्ने, मित्तिं भूएहिं कप्पए ॥३॥

छाया – तत्र तत्र स्वाख्यातं, तच्च सत्यं स्वाख्यातम् ।
सदा सत्येन सम्पन्नो मैत्रीं भूतेषु कल्पयेत् ॥

अनुवाद – सर्वज्ञ-तीर्थंकरों ने भिन्न भिन्न स्थानों-प्रसंगों पर जीव आदि तत्वों को स्वाख्यात किया है-उनका सम्यक् विवेचन-विश्लेषण किया है, वही शाश्वत सत्य है, अतः मानव को सदैव उस सत्य से समाहित होकर मैत्री भाव रखना चाहिये ।

टीका – साम्प्रतमेतदेव कुतीर्थिकानाम सर्वज्ञत्वमर्हतश्च सर्वज्ञत्वं यथा भवति तथा सोपपत्तिकं दर्शयितुमिाह-तत्र तत्रेति वीप्सापदं यद्यत्तेनार्हता जीवाजीवादिकं पदार्थजातं तथा मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतव इतिकृत्वा संसारकारणत्वेन तथा सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्ग इति मोक्षाङ्गतयेत्येतत्सर्वं पूर्वोत्तरा विरोधितया युक्तिभिरूपपन्नतया च सुष्ट्वाख्यातं-स्वाख्यातं, तीर्थिकवचनं तु 'न हिंस्याद्भूतानां' ति भणित्वा तदुपमर्दकारम्भाभ्यनुज्ञानात्पूर्वोत्तर विरोधितया तत्र तत्र चिन्त्यमानं निर्युक्तिकत्वान्न स्वाख्यातं भवति, स चाविरुद्धार्थस्याख्याता रागद्वेषमोहानामनृतकारणानाम संभवात् सद्भ्यो हितत्वाच्च सत्यः 'स्वाख्यातः' तत्स्वरूपविद्भिः प्रतिपादिताः । रागादयो ह्यनृतकारणं ते च तस्य न सन्ति अतः कारणाभावात्कार्याभाव इतिकृत्वा तद्वचो भूतार्थप्रतिपादकं, तथा चोक्तम् -

"वीतरागा हि सर्वज्ञा, मिथ्या न ब्रूवते वचः । यस्मात्तस्माद्वचस्तेषां, तथ्यं भूतार्थ दर्शनम् ॥"

ननु च सर्वज्ञत्वमन्तरेणापि हेयोपादेयमात्रपरिज्ञानादपि सत्यता भवत्येव, तथा चोक्तम् -

"सर्वं पश्यतु वा मा वा, तत्त्वमिष्टं तु पश्यतु । कीटसंख्यापरिज्ञानं, तस्य नः क्वोपयुज्यते ? ॥१॥

इत्याशङ्क्याह-'सदा' सर्वकालं 'सत्येन' अवितथभाषणत्वेन संपन्नोऽसो अवितथभाषणत्वं च सर्वज्ञत्वे सति भवति, नान्यथा, तथाहि-कीट संख्यापरिज्ञानासंभवे सर्वत्रापरिज्ञानमाशङ्क्येत, तथा चोक्तम् -

"सदृशे बाधासंभवे तल्लक्षणमेव दूषितं स्याद्" इति सर्वत्रानाश्वासः, तस्मात्सर्वज्ञत्वं तस्य भगवत एष्टव्यम्, अन्यथा तद्वचसः सदा सत्यता न स्याद्, सत्यो वा संयमः सन्तः-प्राणिनस्तेभ्यो हितत्वाद् अतस्तेन तपःप्रधानेन संयमेन भूतार्थहितकारिणा 'सदा' सर्वकालं 'संपन्नो' युक्तः, एतद्गुणसंपन्नश्चासौ 'भूतेषु' जन्तुषु 'मैत्री' तद्रक्षणपरतया भूतदयां 'कल्पयेत्' कुर्यात्, इदमुक्तं भवति परमार्थतः स सर्वज्ञस्तत्त्वदर्शितया यो भूतेषु मैत्री कल्पयेत्, तथा चोक्तम् -

["मातृवत्परदाराणि, परद्रव्याणि लोष्टवत् ।] आत्मवत्सर्वभूतानि, यः पश्यति स पश्यति ॥१॥"॥३॥

टीकार्थ – अन्यमतवादी सर्वज्ञ नहीं हैं । अर्हत् में ही सर्वज्ञत्व विद्यमान है । यह जिस प्रकार संभावित है, सूत्रकार युक्तिपूर्वक उसे प्रकट करते हैं । प्रस्तुत गाथा में 'तहिं तहिं-तत्र तत्र' यह पद वीप्सा में द्विरुक्त हुआ है, तदनुसार तीर्थंकर देव ने जीव एवं अजीव आदि जो पदार्थ प्रतिपादित किये हैं तथा उन्होंने मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय एवं योग को बन्ध हेतु कहकर संसार का कारण बतलाया है एवं सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र को मोक्षमार्ग के रूप में निरूपित किया है । वह सब मोक्ष के अंगभूत है । पहले और आगे से अविरुद्ध-संगत एवं युक्तियुक्त हैं । अतएव वे स्वाख्यात हैं-सम्यक् निरूपित हैं । अन्य मतवादियों ने जीव की हिंसा नहीं करनी चाहिये, ऐसा कहकर स्थान-स्थान पर जीवों के उपमर्दक-हिंसा कारक आरम्भों-कार्यों की अनुज्ञा दी है-उन्हें विहित बताया है । अतः उनके सिद्धान्त पूर्वापर विरोधी है । चिन्तन करने पर युक्ति

रहित सिद्ध होते हैं । अत: उनका कथन स्वाख्यात-सुष्ठु या निर्दोष नहीं है । श्री तीर्थंकर देव अविरुद्ध-पूर्व पर संगत धर्म के व्याख्याता है क्योंकि राग द्वेष तथा मोह उनमें नहीं है जो असत्य भाषण के कारण हैं । जो सबके लिये हितकर होता है, उसे सत्य कहा जाता है वही स्वाख्यात है । उसके स्वरूप वेत्ताओं ने उसका प्रतिपादन किया है । राग आदि असत्य भाषण के कारण है, तीर्थंकर देव में वे विद्यमान नहीं है । अत: कारण के अभाव में कार्य का अभाव होता है । इसलिये उनका वचन भूतार्थ प्रतिपादक-पदार्थ के यथार्थ स्वरूप का परिज्ञापक है, कहा गया है, वीतराग सर्वज्ञ होते हैं, वे मिथ्या भाषण नहीं करते । अतएव उनका वचन तथ्य एवं पदार्थ के वास्तविक स्वरूप का दर्शक-बोधक होता है । यहां एक शंका उपस्थित की जाती है-सर्वज्ञत्व के बिना भी हेय-छोडने योग्य तथा उपादेय-लेने योग्य पदार्थ के परिज्ञान मात्र से सत्यता सिद्ध होती है । अतएव कहा है कि, कोई पुरुष सबको देखे या नहीं देखे किंतु अभिप्सित अर्थ को देखे, यह यथेष्ट है । कीडोंकी संख्या के परिज्ञान की, उनके लिये और हमारे लिये क्या उपयोगिता है । इस पर सूत्रकार कहते हैं-तीर्थंकर सदा-सर्वकाल सत्य भाषण से सम्पन्न होते हैं-सत्य बोलते हैं । सर्वज्ञत्व होने पर ही सत्य भाषणत्त्व हो सकता है अन्यथा नहीं हो सकता अर्थात् सर्वज्ञ ही सत्य भाषण कर सकते हैं क्योंकि कीडों की संख्या का यदि अपरिज्ञान है-ज्ञान नहीं है तो सर्वत्र-सब जगह पदार्थों में अपरिज्ञान-ज्ञान न होना आशंकित है । इसलिये कहा है-जैसे एक स्थान में यदि ज्ञान बाधित हो तो वह उसी के समान अन्यत्र भी बाधित हो सकता है। इस प्रकार सर्वत्र सत्यवादिता अनाश्वस्त होगी, कहीं भी विश्वसनीय नहीं रहेगी । अत: तीर्थंकर देव की ही सर्वज्ञता मानने योग्य है, अन्यथा ऐसा न माना जाये तो उनका वचन सदा सत्य नहीं हो सकता। अथवा सत्य का अर्थ संयम भी है । सत् शब्द प्राणीवाचक भी है जो उनके लिये हितकर होता है, वह सत्य है । इस प्रकार के तपश्चरण प्रधान प्राणियों के लिये हितप्रद संयम से सर्वदा सम्पन्न-इनगुणों से युक्त तीर्थंकर देव प्राणियों में मैत्री की प्रतिष्ठापना करते हैं । जीवों की रक्षण परायणता के कारण वे भूत दया-सब प्राणियों पर अनुकम्पाशील होने की प्रेरणा देते हैं, वैसा उपदेश देते हैं । कहने का तात्पर्य यह है कि वास्तव में वे ही सर्वज्ञ है, जो तत्त्वदर्शिता के कारण प्राणियों में मैत्री की कल्पना-संप्रतिष्ठा करते हैं । इसलिये कहा गया है कि जो पर स्त्रियों को माता के सदृश, दूसरों के धन को पत्थर के समान तथा समस्त प्राणियों को आत्मतुल्य समझता है, वही वास्तव में यथार्थ दृष्टा है ।

❀ ❀ ❀

भूएहिं न विरुज्झेज्जा, एस धम्मे वुसीमओ ।
वुसिमं जगं परिन्नाय, अस्सिं जीवितभावणा ॥४॥

छाया – भूतैर्न विरुद्धयेतैष धर्मः साधोः ।
साधुर्जगत्परिज्ञाया, स्मिन् जीवितभावना ॥

अनुवाद – भूतों-प्राणियों के साथ विरोध-शत्रुभाव नहीं रखना चाहिये । यह साधु का धर्म है। वह जगत के स्वरूप को परिज्ञात कर शुद्ध धर्म की भावना से अनुभावित रहे ।

टीका – यथा भूतेषु मैत्री संपूर्णभावमनुभवति तथा दर्शयितुमाह-'भूतैः' स्थावरजङ्गमै सह 'विरोधं न कुर्यात्' तदुपघातकारिणमारम्भं तद्विरोधकारणं दूरतः परिवर्जयेदित्यर्थः स 'एषः' अनन्तरोक्तो भूताविरोधकारी 'धर्मः' स्वभावः पुण्याख्यो वा 'बुसीमओ ' त्ति तीर्थकृतोऽयं सत्संयमवतो वेति । तथा सत्संयमवान् साधुस्तीर्थकृद्वा

'जगत्' चराचरभूतग्रामाख्यं केवलालोकेन सर्वज्ञ प्रणीता गम परिज्ञानेन वा 'परिज्ञाय' सम्यगवबुध्य 'अस्मिन्' जगति मौनीन्द्रे वा धर्मे भावना: पञ्चविंशतिरूपा द्वादशप्रकारा वा या अभिमतास्ता 'जीवितभावना' जीवसमाधानकारिणी: सत्संयमाङ्गतया मोक्षकारिणीर्भावयेदिति ॥४॥ सद्भावनाभावितस्य यद्भवति तद्दर्शयितुमाह -

टीकार्थ – इस प्रकार समग्र प्राणियों के साथ मैत्री भाव की अनुभूति हो, यह बताने हेतु सूत्रकार प्रतिपादित करते हैं-साधु भूत-स्थावर एवं जंगम सब प्रकार के जीवों के साथ विरोध न करे । प्राणियों के उपघात-हिंसा मूलक उपक्रम को जो विरोध का कारण है, दूर से ही परिवर्जित करे । प्राणियों के साथ विरोध नहीं करने वाला अनन्तरोक्त-जो पहले कहा गया है, वही तीर्थंकर का पवित्र-पावन स्वभाव है । अथवा यह सुसंयमी साधु का आचार है । इस प्रकार उत्तम संयमशील साधु अथवा तीर्थंकर चर, अचर-जंगम स्थावर जगत को केवलज्ञान द्वारा अथवा सर्वज्ञ प्ररूपित आगम ज्ञान द्वारा भली भांति परिज्ञात कर इस संसार में तीर्थंकर प्रणीत धर्म में स्वीकृत पच्चीस प्रकार की या बारह प्रकार की भावनाओं को, जो जीव के लिये समाधानप्रद, उत्तम संयम की अंगभूत तथा मोक्ष की कारणभूत है, भावित करे ।

सद्भावना-उत्तम भावना द्वारा भावित पुरुष की जो स्थिति होती है, उसका दिग्दर्शन कराने हेतु सूत्रकार कहते हैं -

❀ ❀ ❀

भावणाजोगसुद्धप्पा, जले णावा व आहिया ।
नावा व तीरसंपन्ना, सव्वदुक्खा तिउट्टइ ॥५॥

छाया – भावनायोगशुद्धात्मा, जले नौरिवाहितः ।
नौरिव तीर सम्पन्नः सर्वदुःखात् त्रुटयति ॥

अनुवाद – भावना योग द्वारा जिसकी आत्मा शुद्ध हो गई है, वह पुरुष जल में स्थित नौका से उपमित किया गया है । नौका जैसे तट को प्राप्त कर विश्रान्त होती है, उसी प्रकार वह समग्र दु:खों से मुक्त हो जाता है ।

टीका – भावनाभिर्योग:-सम्यक् प्रणिधानलक्षणो भावनायोगस्तेन शुद्ध आत्मा-अन्तरात्मा यस्य स तथा, स च भावनायोग शुद्धात्मा सन् परित्यक्त संसार-स्वभावो नौरिव जलोपर्यवतिष्ठते संसारोदन्वत इति, नौर्यथा जलेऽनिमज्जनत्वेन प्रख्याता एवमसावपि संसारोदन्वति न निमज्जतीति । यथा चासौ निर्यामकाधिष्ठिताऽनुकूलवातेरिता समस्त द्वन्द्वापगमात्तीरमास्कन्दत्येवमायतचारित्रवान् जीव पोत: सदागमकर्णधाराधिष्ठितस्तपोमारुतवशात्सर्वदु: खात्मकात्संसारात् 'त्रुटयति' अपगच्छति मोक्षाख्यं तीरं सर्व द्वन्द्वोपरमरूपमवाप्नोतीति ॥५॥

टीकार्थ – भावनाओं द्वारा जो सम्यक् प्रणिधान-विशुद्ध परिणामों एवं भावों का उपपादन होता है, उसे भावनायोग कहा जाता है । उसके द्वारा जिसकी अन्तरात्मा शुद्ध है वह पुरुष संसार के स्वभाव-भौतिक सुखों की अभिप्सा का त्याग कर जल के ऊपर विद्यमान नौका की ज्यों संसार सागर के जल के ऊपर रहता है, जैसे नौका जल में कभी निमज्जित नहीं होती यह सुविदित है, उसी प्रकार वह पुरुष संसार रूपी सागर में निमज्जित नहीं होता-नहीं डूबता । जैसे निर्यामक-परिचालक द्वारा अधिष्ठित अनुकूल वायु द्वारा प्रेरित नौका समस्त द्वन्द्वों-विघ्नों के अपगत हो जाने पर तीर को पा लेती है, उसी प्रकार सच्चारित्र युक्त आत्मारूपी नौका

श्रेष्ठ आगम रूप कर्णधार से अन्वित एवं तपश्चरण रूप पवन से प्रेरित होकर सर्व दुःखात्मक जगत से छूट जाती है-हट जाती है । मोक्ष रूप तीर को प्राप्त कर लेती है जहां समस्त द्वन्द्वों-दुःखों का उपरम-समापन या अभाव हो जाता है ।

❀ ❀ ❀

तिउट्टई उ मेधावी, जाणं लोगंसि पावगं ।
तुट्टंति पावकम्माणि, नवं कम्ममकुव्वओ ॥६॥

छाया – **त्रुटयति तु मेधावी जानन् लोके पापकम् ।**
त्रुटयन्ति पापकर्माणि नवं कर्माकुर्वतः ॥

अनुवाद – जो लोक में पाप कर्म को जानता है, वह मेधावी-प्रज्ञाशील पुरुष पापकर्मों-अशुभबन्धनों को तोड़ देता है-नष्ट कर देता है और नये कर्म नहीं बांधता ।

टीका – अपिच-स हि भावनायोगशुद्धात्मा नौरिव जले संसारे परिवर्तमानस्त्रिभ्योमनोवाक्कायेभ्योऽशुभेभ्यस्त्रुटयति, यदिवा अतीव सर्वबन्धनेभ्यस्त्रुटयति-मुच्यते अतित्रुटयति-संसारादतिवर्तते 'मेधावी' मर्यादाव्यस्थितः सदसद्विवेकी वाऽस्मिन् 'लोके' चतुर्दशरज्ज्वात्मके भूतग्राम लोके वा यत्किमपि 'पापकं' कर्म सावद्यानुष्ठानरूपं तत्कार्यं वा अष्ट प्रकारं कर्म तत् ज्ञपरिज्ञया जानन् प्रत्याख्यानपरिज्ञया च तदुपादानं परिहरन् ततस्त्रुटयति, तस्यै वं लोकं कर्म वा जानतो नवानि कर्माण्य कुर्वतो निरुद्धाश्रवद्वारस्य विकृष्टतपश्चरणवतः पूर्वं संचितानि कर्माणि त्रुटयन्ति निवर्तन्ते वा नवं च कर्माकुर्वतोऽशेषकर्मक्षयो भवतीति ॥६॥

टीकार्थ – भावना योग से जिसकी आत्मा शुद्ध है वह पुरुष जल में नौका की ज्यों संसार में रहता हुआ मन वचन और काया तीनों योगों द्वारा अशुभ कर्मों से-पापों से छूट जाता है । अथवा वह सब प्रकार के बंधनों से सर्वदा विमुक्त हो जाता है । वह संसार सागर को पार कर जाता है। मेधावी-प्रज्ञाशील मर्यादाओं में टिका हुआ, सत एवं असत् का विवेक रखने वाला पुरुष चौदह रज्जु परिमित विविध प्राणियों से युक्त लोक में सावद्य-पापयुक्त कार्य अथवा आठ प्रकार के कर्मों को ज्ञपरिज्ञा द्वारा जानकर तथा प्रत्याखान परिज्ञा द्वारा उनका परिहार कर उनसे छूट जाता है । इस तरह वह लोक अथवा कर्म को जानता है-नये कर्म नहीं करता-नहीं बांधता । आश्रव द्वारा उनको रोकता है तथा उत्तम तपश्चरण करता है । उसके पूर्व संचित-पहले बंधे हुए पाप कर्म टूट जाते हैं-नष्ट हो जाते हैं । वह नये कर्म नहीं करता । इस प्रकार उसके समस्त कर्म क्षीण हो जाते हैं ।

❀ ❀ ❀

अकुव्वओ णवं णत्थि, कम्मं नाम विजाणइ ।
विन्नाय से महावीरे, जेण जाई ण मिज्जई ॥७॥

छाया – **अकुर्वतो नवं नास्ति, कर्म नाम विजानाति ।**
विज्ञाय स महावीरो, येन याति न म्रियते ॥

अनुवाद – जो कर्म नहीं करता उसके नये कर्म नहीं बंधते । वह आठ प्रकार के कर्मों को जानता है । वह आत्म शौर्यशाली पुरुष उन्हें जानकर वैसा उद्यम करता है जिससे न उसको इस संसार में जन्म लेना होता है और न मरना ही होता है ।

टीका – केषाञ्चित्सत्यामपि कर्मक्षयानन्तरं मोक्षावाप्तौ (तथापि) स्वतीर्थ निकारदर्शनतः पुनरपि संसाराभिगमनं भवती (तो) दमाशङ्क्याह-तस्याशेषक्रियारहितस्य योगप्रत्ययाभावात्किमप्यकुर्वतोऽपि 'नवं' प्रत्यग्रं कर्म ज्ञानावरणीयादिकं 'नास्ति' न भवति, कारणाभावात्कार्याभाव इतिकृत्वा, कर्माभावे च कुतः संसाराभिगमनं?, कर्मकार्यत्वात्संसारस्य, तस्य चोपरताशेष द्वन्द्वस्य स्वपरकल्पनाऽभावाद्रागद्वेषरहिततया स्वदर्शननिकाराभिनिवेशोऽपि न भवत्येव, स चैतद्गुणोपेतः कर्माष्ट प्रकारमपि कारणतस्तद्विपाकतश्च जानाति, नमनं नाम-कर्म निर्जरणं तच्च सम्यक् जानाति, यदिवा कर्म जानाति तन्नाम च, अस्य चोपलक्षणार्थत्वाद्भेदांश्च प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशरूपान् सम्यगवबुध्यते, संभावनायां वा नामशब्दः, संभाव्यते चास्य भगवतः कर्मपरिज्ञानं विज्ञाय च कर्मबन्धं तत्संवरण निर्जरणोपायं चासौ 'महावीरः' कर्मदारणसहिष्णुस्तत्करोति येन कृतेनास्मिन् संसारोदरे न पुनर्जायते तदभावाच्च नापि म्रियते, यदिवा-जात्या नारकोऽयं तिर्यग्योनिकोऽयमित्येवं न म्रियते-न परिच्छिद्यते, अनेन च कारणाभावात्संसाराभावाविर्भावनेन यत्कैश्चिदुच्यते -

"ज्ञानमप्रतिघं यस्य, वैराग्यं च जगत्पतेः । ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च सहसिद्धं चतुष्टयम् ॥२॥"

इत्येतदपि व्युदस्तं भवति, संसारस्वरूपं विज्ञाय तदभावः क्रियते, न पुनः सांसिद्धिकः कश्चिदनादिसिद्धोऽस्ति, तत्प्रतिपादिकाया युक्तेरसंभवादिति ॥७॥

टीकार्थ – कई मतवादियों का यह सिद्धान्त है कि कर्मों के क्षीण हो जाने के अनन्तर जिनको मोक्ष प्राप्त हो गया वे भी अपने तीर्थ-धर्म सम्प्रदाय का निकार-तिरस्कार देखते हैं तो पुनः संसार में अभिगमन करते हैं । इस शंका का समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि वह पुरुष जो मोक्ष पा चुका है, सब प्रकार की क्रियाओं से वर्जित होता है । उसके योग मूलक-प्रवृति रूप कारण का अभाव होता है । इसलिये वह कुछ भी कार्य नहीं करता । अतः उसके ज्ञानावरणीय आदि नये कर्म नहीं बंधते । कारण के अभाव में कार्य नहीं होता । जब कर्मों का अभाव हो जाता है तो फिर संसार में अभिगमन कैसे हो सकता है ? क्योंकि कर्म ही संसार रूपी कार्य का कारण है । वास्तव में मोक्षगत जीव के समस्त द्वन्द्व-प्रपंच, सांसारिक झंझट उपरत-शांत हो जाते हैं । उसको अपनी तथा अन्य की कल्पना ही नहीं होती । वह राग द्वेष शून्य होता है । इसलिये अपने धर्म सम्प्रदाय के तिरस्कार की ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता । वह इस प्रकार के गुणों से मंडित होता है । आठ प्रकार के कर्मों के कारण को उनके विपाक-फलनिष्पत्ति को तथा कर्म निर्जरण-कर्मों के नाश को भी भली भांति जानता है अथवा वह कर्मों को और नामों को भी जानता है । इससे यह उपलक्षित है कि वह कर्मों के भेद, प्रकृति, स्थिति, अनुभाव एवं प्रदेश-इन्हें भी सम्यक् जानता है अथवा नाम शब्द यहां संभावना के अर्थ में है । तदनुसार उन भगवान द्वारा निरूपित कर्म विज्ञान, कर्म बंध तथा कर्मों के निरोध और नाश के उपाय को जानकर वह महावीर-आत्मयोद्धा कर्मों के विदीर्ण करने में-नष्ट करने में सक्षम होता है । वैसा करने से वह फिर संसार में उत्पन्न नहीं होता उत्पन्न न होने से उसकी मृत्यु भी नहीं होती है । अथवा वह जाति द्वारा यह नारक है, यह तिर्यञ्च योनिगत है इस प्रकार परिछिन्न नहीं होता-जाना नहीं जाता । यहां कारण का अभाव होने से संसार का अभाव बतलाया गया है । इसलिये जो कहते हैं कि इस जगत पति-संसार के स्वामी परम पुरुष परमात्मा के अप्रतिघ-अविनश्वर ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य और धर्म ये चारों साथ ही सिद्ध हैं-स्वभाव सिद्ध है । यह भी ऊपर निरूपण से व्युदस्त-खण्डित हो जाता है। क्योंकि संसार के स्वरूप को विज्ञात कर-भली भांति जानकर उसका अभाव किया जाता है । वह सांसिद्धिक-स्वयं सिद्ध नहीं होता । कोई अनादि सिद्ध पुरुष नहीं है । क्योंकि उसका प्रतिपादन करने वाली युक्ति प्राप्त नहीं होती ।

❀ ❀ ❀

ण मिज्जई महावीरे, जस्स नत्थि पुरेकडं ।
वाउव्व जालमच्चेति, पिया लोगं सि इत्थिओ ॥८॥

छाया – न म्रियते महावीरो, यस्य नास्ति पुराकृतं ।
वायुरिव ज्वालामत्येति, प्रिया लोकेषु स्त्रियः ॥

अनुवाद – जिसके पुराकृत-पहले के किए हुए कर्म नहीं है, वह पुरुष न जन्म लेता है और न मृत्यु को प्राप्त होता है जैसे पवन, आग की ज्वाला को अतिक्रांत कर जाता है-लांघ जाता है, उसी प्रकार वह आत्म पराक्रमी पुरुष प्रिय-लुभाविनी स्त्रियों को अतिक्रांत कर जाता है, उनके वश में नहीं होता ।

टीका – किं पुनः कारणमसौ न जात्यादिना मीयते इत्याशङ्क्याह-असौ महावीरः परित्यक्ताशेष कर्मा न जात्यादिनां 'मीयते' परिच्छिद्यते. न म्रियते वा, जाति जरा मरण रोग शोकैर्वा संसार चक्रवाले पर्यटन् न म्रियते-न पूर्यते, किमिति ? यतस्तस्यैव जात्यादिकं भवति यस्य पुरस्कृ (राकृ) तं जन्मशतोपात्तं कर्म विद्यते, यस्य तु भगवतो महावीरस्य निरुद्धाश्रवद्वारस्य 'नास्ति' न विद्यते पुरस्कृ (राकृ) तं, पुरस्कृ (राकृ) तकर्मोपादानाभावाच्च न तस्य जातिजरामरणैर्भरणं संभाव्यते, तदाश्रवद्वारनिरोधाद्, आश्रवाणां च प्रधानः स्त्रीप्रसङ्गस्तमधिकृत्याह-वायुर्यथा सतत गतिरप्रतिस्खलिततया 'अग्निज्वालां' दहनात्मिकामप्यत्येति-अतिक्रामति पराभवति, न तया पराभूयते, एवं 'लोके' मनुष्य लोके हावभावप्रधानत्वात् 'प्रिया' दयितास्तत्प्रियत्वाच्च दुरतिक्रमणीयास्ता अत्येति-अतिक्रामति न ताभिर्जीयते, तत्स्वरूपावगमात् तज्जयविपाकदर्शनाच्चेति, तथा चोक्तम् -

''स्मितेन भावेन मदेन लज्जया, पराङ्मुखैरर्धकटाक्षवीक्षितैः ।
वचोभिरीर्ष्याकलहेनलीलया, समस्तभावैः खलु बंधनं स्त्रियः ॥१॥

तथा-स्त्रीणां कृते भ्रातृयुगस्य भेदः, संबन्धिभेदे स्त्रिय एव मूलम् ।
अप्राप्तकामा बहवो नरेन्द्रा, नारीभिरूत्सादितराजवंशाः ॥२॥''

इत्येवं तत्स्वरूपं परिज्ञाय तज्जयं विधत्ते, नैताभिर्जीवत इति स्थितम्। अथ किं पुनः कारण स्त्रीप्रसङ्गाश्रवद्वारेण शेषाश्रवद्वारोपलक्षणं क्रियते न प्राणातिपातादिनेति ? अत्रोच्यते, केषाञ्चिदर्शनिनामङ्गनोपभोग आश्रव द्वारमेव न भवति, तथा चोचुः -

''न मांसभक्षणे दोषो, न मद्ये न च मैथुने । प्रवृत्तिरेषा भूतानां, निवृत्तिस्तु महाफला ॥१॥''

इत्यादि, तन्मतव्युदासार्थमेवमुपन्यस्तमिति, यदिवा मध्यम तीर्थकृतां चतुर्या एव धर्मः, इह तु पंचयामो धर्म इत्यस्यार्थस्याविर्भावनायानेनोपलक्षणमकारि, अथवा पराणि व्रतानि सापवादानि इदं तु निरपवाद मित्यस्यार्थस्य प्रकटनायैवमकारि अथवा सर्वाण्यपि व्रतानि तुल्यानि, एकखण्डने सर्वविराधन मितिकृत्वा येन केन चिन्निर्देशो न दोषायेति ॥८॥

अधुना स्त्री प्रसङ्गाश्रवनिरोधफलमावियवियन्नाह -

टीकार्थ – वह पुरुष जाति आदि द्वारा परिणीत सीमित नहीं होता । इसका क्या कारण है ? यह बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं-जिसने अशेष-समग्र कर्मों का परित्याग कर दिया है, वह आत्मबली पुरुष जाति आदि द्वारा परिछिन्न नहीं होता । उसकी वैसी पहचान विलुप्त हो जाती है । वह मरण से अतीत हो जाता है अथवा वह पुरुष संसार चक्र में परिभ्रमण करता हुआ जाति, वृद्धावस्था, मृत्यु, रुग्णता और दुःख के द्वारा

भृत-पूरित नहीं होता-इनसे वह सदा के लिये छूट जाता है। क्योंकि जन्म आदि उसी के होते हैं जिसके सैंकड़ों जन्मों के उपात्त-संचित कर्म विद्यमान होते हैं किंतु जिस आत्म पराक्रमी पुरुष ने अपने आश्रव द्वारों को अवरुद्ध कर दिया एवं जिसके पूर्वकृत कर्म भी अवशिष्ट नहीं है। उसका जन्म वृद्धावस्था तथा मरण संभावित नहीं है-कभी होता नहीं क्योंकि उसने अपने आश्रव द्वारों का निरोध कर दिया है। आश्रवों में स्त्री प्रसङ्ग प्रमुख है। अतः सूत्रकार उसे अधिकृत कर कहते हैं जैसे सतत् गतिशील-निरन्तर बहने वाली, अप्रतिस्खलित-कहीं नहीं रुकने वाली हवा दहनात्मक-अग्नि ज्वाला को अतिक्रांत कर जाती है-लांघ जाती है। उस द्वारा-अग्नि ज्वाला द्वारा वह पराभूत नहीं होती है। उसी प्रकार आत्म पराक्रमी पुरुष मनुष्य लोक में स्त्रियों को जिनमें हाव भाव आदि की विशेषताएं हैं जो बहुत ही प्रिय है, दुरतिक्रमणीय है, अतिक्रांत कर जाता है। उनके आधीन नहीं होता क्योंकि वह उनके स्वरूप को पहचानता है और वह यह भी जानता है कि स्त्रियों को जीतने का क्या फल है ? कहा गया है कि स्त्रियां स्मित-मंद मुस्कान, हाव-भाव, कटाक्ष आदि नाज, नखरे, मद, लज्जा, उल्टा मुख कर, अर्ध कटाक्ष-टेढ़ी निगाह से वीक्षण-देखना, वाणी, ईर्ष्या, कलह, लीला विनोद-इन द्वारा स्त्रियां पुरुषों को बांध लेती है-आकृष्ट कर लेती है। स्त्रियों के लिये दो भाइयों में भेद पड़ जाता है-फूट पड़ जाती है। सम्बन्धियों में भी भेद पड़ने में स्त्रियां ही कारण होती है तथा अनेक राजाओं ने कामनावश-अतृप्त वासनावश स्त्रियों हेतु युद्ध कर राजवंशों का विनाश किया है। इस प्रकार स्त्रियों का स्वरूप परिज्ञात कर आत्म पराक्रमी पुरुष उन्हें जीत लेता है। उन द्वारा जीता नहीं जाता यह वस्तु स्थिति है।

यहां यह शंका उपस्थित की जाती है कि स्त्री प्रसंगात्मक आश्रव द्वार का कथन कर उस द्वारा ही शेष आश्रव द्वारों को क्यों उपलक्षित कराया गया है। प्राणातिपात-हिंसादि आश्रव द्वारों को प्रतिपादित कर उन द्वारा बाकी के आश्रवों को क्यों नहीं संकेतित किया गया ? इसका समाधान यह है कि कतिपय दार्शनिक अंगनोपयोग-स्त्री सेवन को आश्रव द्वार नहीं मानते। उनका कथन है कि आमिस भोजन, मदिरापान और अब्रह्मचर्य सेवन ये तो प्राणियों की सहज प्रवृत्तियाँ है किन्तु इनकी निवृत्ति-इनसे हटना अत्यन्त फलदायक है। ऐसे मन्तव्य के खण्डन हेतु ही स्त्री प्रसङ्ग को आश्रव द्वार उपन्यस्त-प्रतिपादित किया गया है। उसके द्वारा शेष आश्रवों को उपलक्षित-संकेतित किया गया है। अथवा प्रथम तथा अंतिम तीर्थंकर के बीच के तीर्थंकरों का धर्म चतुर्याम मूलक रहा है किंतु भगवान महावीर के शासन में पंचयाम या पंच महाव्रत मूलक धर्म का अंगीकार है। इस अभिप्राय को व्यक्त करने हेतु यहां इसका-स्त्री प्रसंग का उल्लेख हुआ है। अथवा दूसरे व्रत सापवाद है-अपवाद युक्त है किंतु यह व्रत निरपवाद-अपवाद रहित है। इस तथ्य को प्रकट करने हेतु यहां स्त्री प्रसंग का-चौथे आश्रव द्वार का ग्रहण किया गया है। अथवा सभी व्रत तुल्य-समान हैं। यदि एक का खण्डन-विराधना हो तो सभी की विराधना हो जाती है। अतः चाहे जिस किसी का निर्देश-ग्रहण किया जाय कोई दोष नहीं है।

स्त्री सेवन रूप आश्रव के निरोध का फल प्रकट करने हेतु सूत्रकार कहते हैं।

❀ ❀ ❀

इत्थिओ जे ण सेवंति, आइमोक्खा हु ते जणा।
ते जणा बंधणुम्मुक्का, नावकंखंति जीवियं ॥९॥

छाया – स्त्रियो येन सेवन्ते, आदिमोक्षा हि ते जनाः।
ते जनाः बन्धनोन्मुक्ताः नावकाङ्क्षन्ति जीवितम् ॥

अनुवाद – जो पुरुष स्त्री सेवन नहीं करते, ब्रह्मचारी होते हैं, वे आदि मोक्ष-सबसे पहले मोक्षगामी होते हैं । जो बंधन से उन्मुक्त हैं वे असंयम-संयम रहित जीवन की कांक्षा-अभिलाषा नहीं करते ।

टीका – ये महासत्त्वाः कटुविपाकोऽयं स्त्री प्रसंग इत्यवमवधारण (त) या स्त्रियः सुगतिमार्गार्गलाः संसारवीथीभूताः सर्वाविनयराजधान्यः कपट जाल शताकुला महामोहनशक्तयो 'न सेवन्ते' न तत्प्रसंगमभिलषन्ति त एवंभूता जना इतरजनातीताः साधव आदौ-प्रथमं मोक्षः-अशेषद्वन्द्वोपरमरूपो येषां ते आदिमोक्षाः, हुरवधारणे, आदिमोक्षा एव तेऽवगन्तव्याः, इदमुक्तं भवति-सर्वाविनयास्पदभूतः स्त्रीप्रसंगो यैः परित्यक्तस्त एवादिमोक्षाः -प्रधानंभूतमोक्षाख्यपुरुषार्थोद्यताः, आदि शब्दस्य प्रधानवाचित्वात्, न केवलमुद्यतास्ते जनाः स्त्रीपाशबन्धनोन्मुक्ततयाऽशेषकर्मबन्धनोन्मुक्ताः, सन्तो 'नावकाङ्क्षन्ति' नाभिलषन्ति असंयमजीवितम् अपरमपि परिग्रहादिकं नाभिलषन्ते, यदिवा परित्यक्तविषयेच्छाः सदनुष्ठानपरायणा मोक्षैकताना 'जीवितं' दीर्घकालजीवितं नाभिकाङ्क्षन्तीति ॥९॥

टीकार्थ – महासत्व-अत्यन्त आत्म पराक्रमशील पुरुष यह निश्चित मानते हैं कि स्त्री प्रसंग कटु विपाक-कठोर या दुःखद फलयुक्त होता है । स्त्रियां उत्तम गति के मार्ग में अर्गला-आगल या विघ्न रूप हैं, वे संसार में भटकने हेतु वीथीभूत-मार्गरूप है । वे अविनय-विनयहीनता या उच्छृंखलता की राजधानियां हैं । सैंकड़ों छल-जालों से आकुल है-व्याप्त है । वे अत्यधिक मोहनशक्ति से समन्वित है। इसलिये जो उनके प्रसंग-संसर्ग की अभिलाषा नहीं करते वे अन्य लोगों से उत्कृष्ट है या ऊँचे हैं । वे साधु हैं, वे सबसे पहले मोक्ष को प्राप्त करते हैं । जहां समस्त द्वन्द्व उपद्रव उपरत-शांत या निवृत्त हो जाते हैं । यहां 'हु' शब्द अवधारणा के अर्थ में है । तदनुसार वैसे पुरुषों को आदि मोक्ष-सबसे पहले मोक्षगामी जानना चाहिये । कहने का अभिप्राय यह है कि जिन्होंने सब प्रकार के अविनयो-विनय रहित उच्छृंखल आस्पदभूत कारण रूप स्त्री प्रसंग का परित्याग कर दिया है वे मोक्ष संज्ञक मुख्य पुरुषार्थ को साधने में उद्यमशील है । यहां आदि शब्द प्रधान-मुख्य का बोधक है । तदनुसार वे पुरुष केवल उद्यत-उद्यमशील ही नहीं किन्तु स्त्री मूलक पाश बंधन से-जाल से उन्मुक्त, छूटे हुए होने के कारण समग्र कर्मों के बंधन से विमुक्त हैं । वे असंयम जीवित-संयम रहित जीवन की आकांक्षा-अभिलाषा नहीं करते। परिग्रहादि अन्य की भी वांछा नहीं करते ।.अथवा वे सांसारिक भोगों की लिप्सा का परित्याग कर उत्तम आचरण में संलग्न रहते हैं । एकमात्र मोक्ष में तन्मय पुरुष लम्बे समय तक जीने की कामना नहीं करते ।

❀ ❀ ❀

जीवितं पिट्ठओ किच्चा, अंतं पावंति कम्मुणं ।
कम्मुणा संमुहीभूता, जे मग्गमणुसासई ॥१०॥

छाया – **जीवितं पृष्ठतः कृत्वाऽन्तं प्राप्नुवन्ति कर्मणाम् ।**
कर्मणा सम्मुखीभूता, ये मार्गमनुशासति ॥

अनुवाद – सतपुरुष जीवन से निरपेक्ष रहकर ज्ञानावरणीय आदि कर्मों को नाश करते हैं । वे अपने पवित्र आचरण द्वारा मोक्ष के सन्मुख-मोक्ष के साधक हैं । मोक्ष मार्ग का अनुशासन करते हैं-शिक्षा देते हैं।

टीका – किंचान्यत्-'जीवितम्' असंयमजीवितं 'पृष्ठतः' 'कृत्वा' अनादृत्य प्राणधारण लक्षणं वा जीवितमनादृत्य सदनुष्ठानपरायणाः 'कर्मणा' ज्ञानवरणादीनाम् 'अन्तं' पर्यवसानं प्राप्नुवन्ति, अथवा 'कर्मणा'

सदनुष्ठानेन जीवितनिरपेक्षाः संसारोदन्वतोऽन्तं-सर्वद्वन्द्वोपरमरूपं मोक्षाख्यमाप्नुवन्ति, सर्वदुःखविमोक्षलक्षणं मोक्षमप्राप्ता अपि कर्मणा-विशिष्टानुष्ठानेन मोक्षस्य संसुखीभूताघातिचतुष्टयक्षयक्रियया उत्पन्नदिव्यज्ञानाः शाश्वतपदस्याभिमुखीभूताः, क एवंभूता इत्याह-ये विपच्यमानतीर्थकृन्नामकर्माणः समासादितदिव्यज्ञाना 'मार्गं' मोक्षमार्गं ज्ञानदर्शनचारित्ररूपम् 'अनुशासति' सत्त्वहिताय प्राणिनां प्रतिपादयन्ति स्वतश्चानुतिष्ठन्तीति ॥१०॥

टीकार्थ – जो पुरुष असंयम जीवन-संयमरहित केवल प्राणधारण रूप जीवन को अनादृत-उपेक्षित कर उत्तम आचरण में संलग्न रहते हैं। वे ज्ञानावरणीय कर्मों का पर्यवसान-अन्त कर डालते हैं। अथवा भौतिक जीवन से निरपेक्ष-अपेक्षा रहित, आकांक्षा रहित होकर सद् आचरण में संलग्न रहते हैं। वे संसार सागर का अन्त कर देते हैं। उसके पार पहुंच जाते हैं जहां समस्त द्वन्द्व-दुःख प्रपंच उपरत हो जाते हैं-मिट जाते हैं। वे मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। जहां समस्त दुःख छूट जाते हैं, उस मोक्ष को जो प्राप्त नहीं कर पाते वे अपने विशिष्ट आचरण द्वारा मोक्ष के सम्मुखीन होते हैं। वे चार प्रकार के घाती कर्मों को क्षीण कर दिव्य ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। वे मोक्ष के अभिमुख होते हैं। ऐसे महापुरुष कौन हैं ? इसका स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं-जिनका तीर्थंकर नाम कर्म विपच्यमान-विपक्व हो रहा है। जिन्हें दिव्य-उत्कृष्ट ज्ञान अधिगत हो गया है, जो जीवों के कल्याण के लिये सम्यक्ज्ञान, सम्यक्दर्शन तथा सम्यक् चारित्र मूलक मोक्षमार्ग का अनुशासन करते हैं-शिक्षा देते हैं। स्वयं उसका अनुष्ठान करते हैं-अनुसरण करते हैं। वे महापुरुष मोक्ष के अभिमुख-सम्मुख है।

❀ ❀ ❀

अणुसासणं पुढो पाणी, वसुमं पूयणासु (स) ते।
अणासए जते दंते, दढे आरयमेहुणे ॥११॥

छाया – अनुशासनं पृथक् प्राणिषु, वसुमान् पूजनास्वादकः।
अनाशयो यतो दान्तो दृढ़ आरतमैथुनः ॥

अनुवाद – अनुशासन-धर्म का उपदेश पृथक् पृथक् प्राणियों में पृथक् पृथक् रूप में परिणत होता है। संयम परिपालक देवादि से प्राप्त पूजा सत्कार में रूचि रहित, इन्द्रिय विजेता साधना में सुदृढ़ दांत-दमनशील तथा मैथुन रहित पुरुष मोक्ष के अभिमुख या सन्मुख हैं।

टीका – अनुशासनप्रकारमधिकृत्याह-अनुशास्यन्ते-सन्मार्गेऽवतार्यन्ते सदसद्विवेकतः प्राणिनो येन तदनुशासनं-धर्मदेशनया सन्मार्गावतारणं तत्पृथक् पृथक् भव्या-भव्यादिषु प्राणिसु क्षित्युदकवत् स्वाशयवशादनेकधा भवति यद्यपि च अभव्येषु तदनुशासनं न सम्यक् परिणमति तथापि सर्वोपायज्ञस्यापि न सर्वज्ञस्य दोषः, तेषामेव स्वभावपरिणतिरियं यया तद्वाक्यममृतभूतमेकान्तपथ्यं समस्तद्वन्द्वोपघातकारि न यथावत् परिणमति, तथा चोक्तम्-

"सद्धर्मबीजवपनानघकौशलस्य, यल्लोक बान्धव ! तवापि खिलान्यभूवन् ।
तन्नाद्भुतं खगकुलेष्विह तामसेषु, सूर्यांशवो मधुकरीचरणावदाताः ॥१॥"

किंभूतोऽसावनुशासक इत्याह-वसु-द्रव्यं स च मोक्षं प्रति प्रवृत्तस्य संयमः तद्विद्यते यस्यासौ वसुमान्, पूजनं-देवादिकृतमशोकादिकमास्वादयति-उपभुङ्क्त इति पूजनास्वादकः, ननु चाधाकर्मणो देवादि कृतस्य समवसरणादेरूपभोगात्कथमसौ सत्संयमवानित्याशङ्क्याह-न विद्यते आशयः पूजाभिप्रायो यस्यासावनाशयः, यदिवा

द्रव्यतो विद्यमानेऽपि समवसरणादिके भावतोऽनास्वादकोऽसौ, तदृतगार्ध्याभावात्, सत्यप्युपभोगे 'यतः' प्रयतः सत्संयमवानेवासावेकान्तेन संयमपरायणत्वात्, कुतो ? यत इंद्रियनोइन्द्रियाभ्यां दान्तः, एतद्गुणोऽपि कथमित्याह-दृढ़ः संयमे, आरतम्-उपरतमपगतं मैथुनं यस्य स आरतमैथुनः-अपगतेच्छामदनकामः, इच्छामदनकामाभावाच्च संयमे दृढोऽसौ भवति, आयतचारित्रत्वाच्च दान्तोऽसौ भवति, इन्द्रियनोइन्द्रियदमाच्च प्रयतः प्रयत्नवत्त्वाच्च देवादिपूजनानास्वादकः, तदनास्वादनाच्च सत्यपि द्रव्यतः परिभोगे सत्संयमवानेवासाविति ॥११॥

टीकार्थ – सूत्रकार अनुशासन-उपदेश या शिक्षा के प्रकार, भेद बताने हेतु कहते हैं-जिसके द्वारा प्राणी सन्मार्ग में लाये जाते हैं । सत्-अच्छे, असत्-बुरे के भेद का जिससे बोध कराया जाता है, उसे अनुशासन कहा जाता है । वह धर्म देशना है । उस द्वारा प्राणी सन्मार्ग में अवतीर्ण किये जाते हैं-लाये जाते हैं । किंतु वह सन्मार्गावतरण-उत्तम मार्ग में लाये जाने का उपक्रम प्राणियों के भव्य-अभव्य आदि भेदों के अनुसार अनेक प्रकार का होता है । जैसे एक ही जल भिन्न भिन्न पृथ्वी के भागों व खण्डों में गिरता है तो भिन्न भिन्न रूप में वह फलान्वित होता है । यद्यपि अभव्य-मोक्षगमन की योग्यता से विहीन प्राणियों में सर्वज्ञ का अनुशासन सम्यक् परिणत नहीं होता-उचित फलनहीं लाता, तो भी सर्व उपाय वेत्ता सर्वज्ञ का इसमें दोष या उनकी कोई कमी नही है क्योंकि उन अभव्य प्राणियों के स्वभाव का परिणमन ही ऐसा है जिससे सर्वज्ञ का अमृतभूत-एकान्त हितप्रद समस्त द्वन्द्वों को नाश करने वाला वचन भी उसमें यथावत परिणाम नहीं लाता, प्रभाव नहीं करता । अतएव कहा है-हे लोक बान्धव ! सर्व कल्याणकारिन् । यद्यपि सद्धर्णे बीजवपन में-बीज बोने में आपका अनघ-दोष रहित अद्भुत कौशल-नैपुण्य है, तो भी आपका प्रयास कहीं जो असफल रहा, इसमें कोई अचरज नहीं क्योंकि पक्षियों में उल्लू आदि तामस कोटि के जीवों को सूर्य की किरमें मधुकरी-भ्रमरी के पैरों की तरह काली प्रतीत होती है । अनुशासक-धर्मोपदेशक पुरुष कैसे हैं ? यह सूत्रकार प्रकट करते हैं-द्रव्य को वसु कहा जाता है, जो पुरुष मोक्ष की ओर गतिशील है, संयम ही उसके लिये द्रव्य-धन है । जिसके पास वह-वसु विद्यमान होता है, उसे वसुमान कहा जाता है । देव आदि द्वारा अशोक वृक्ष आदि के प्रस्तुतीकरण के रूप में जो पूजन सत्कार किया जाता है, उसका जो आस्वादन-उपभोग या सेवन करता है वह पूजना स्वादक-सत्कारोपभोगी कहा जाता है । प्रश्न उपस्थित होता है कि देव आदि द्वारा आधाकर्म के रूप में उपस्थापित समवसरण आदि का उपभोग-सेवन करने के कारण वे उत्तम संयम युक्त कैसे हो सकते हैं ? इस आशंका का समाधान करते हुए कहा जाता है-वे उसमें अनाशय-अभिप्राय या अभिरूचि रहित है । यद्यपि द्रव्य रूप में समवसरण आदि का उपभोग-सेवन करने के कारण वे उत्तम संयम युक्त कैसे हो सकते हैं । इस आशंका का समाधान करते हुए कहा जाता है, वे उसमें अनाशय-अभिप्राय या अभिरूचि रहित है । यद्यपि द्रव्य रूप में समवसरण आदि में विद्यमान होते हुए भी वे भाव रूप में अनास्वादक है-आस्वाद-रूचि या आसक्ति रहित है । उसमें उनका गार्ध्य-मूर्च्छा नहीं है । उनका उपभोग सेवन करते हुए भी वे प्रयत है-उत्तम संयम में तत्पर है । एकांत रूप से संयम परायण है । यह किस प्रकार है ? इसका समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं-भगवान इन्द्रियों एवं मन का दमन कर चुके हैं-जीत चुके हैं । ये गुण उसमें कैसे घटित हैं ? इसका समाधान करते हुए कहते हैं-वे संयम में दृढ़ है । मैथुन-अब्रह्मचर्य को अपगत-वर्जित किये हुए हैं, काम वासना से वे अतीत हैं । वैसा होने से वे संयम में दृढ़ है । वे आयत-विशाल परिपूर्ण या निर्दोष चारित्रयुक्त हैं, दांत हैं, इन्द्रिय और मन के विजेता हैं । इस कारण वे देवादि द्वारा किये गये सम्मान सत्कार के उपभोक्ता नहीं है क्योंकि उनमें आस्वादन या अभिरूचि का अभाव है । द्रव्य की दृष्टि से परिभोग या सेवन होने के बावजूद वे सत्संयमवान हैं ।

❀ ❀ ❀

णीवारेव ण लीएज्जा, छिन्नसोए अणाविले ।
अणाइले सया दंते, संधिं पत्ते अणेलिसं ॥१२॥

छाया – नीवार इव न लीयेत, छिन्नस्रोता अनाविलः ।
अनाविलः सदादान्तः सन्धिं प्राप्तोऽनीदृशम् ॥

अनुवाद – छिन्न स्रोत-आश्रव निरोधी, अनाविल-राग, द्वेष के मद से शून्य साधु नीवार-चावल विशेष के लोभ से आकृष्ट सूअर आदि प्राणियों की तरह सांसारिक आकर्षणों में लीन न हो । वह सदा विषय भोग से अलिप्त रहता हुआ दमनशील-आत्म विजेता पुरुष अनीदृश-अप्रतिम या अनुपम भाव संधि को प्राप्त करता है ।

टीका – अथ किमित्यसावुपरतमैथुन इत्याशङ्क्याह-नीवारः-सूकरादीनां पशूनां वध्यस्थानप्रवेशनभूतो भक्ष्यविशेस्तत्कल्पमैतन्मैथुनं, यथा हि असौ पशुर्नीवारेण प्रलोभ्य वध्यस्थानमभिनीय नानाप्रकारा वेदनाः प्राप्यते एवमसावप्यसुमान् नीवारकल्पेनानेन स्त्रीप्रङ्क्षेन वशीकृतो बहुप्रकारा यातनाः प्राप्नोति, अतो नीवारप्रायमेतन्मैथुनमवगम्य स तस्मिन् ज्ञाततत्त्वो 'न लीयेत' न स्त्रीप्रसङ्गं कुर्यात्, किंभूतः सन्नित्याह-छिन्नानि-अपनीतानिस्रोतांसि-संसारावतरणद्वाराणि यथा विषयमिन्द्रियप्रवर्तनानि प्राणातिपातादीनि वा आश्रवद्वाराणि येन स छिन्न स्रोताः, तथा 'अनाविलः' अकलुषो रागद्वेषासंपृक्ततया मलरहितोऽनाकुलो वा-विषयाप्रवृत्तेः स्वस्थचेता एवंभूतश्चानाविलोऽनाकुलो वा 'सदा' सर्वकालमपि मिन्द्रियनोइन्द्रियाभ्यां दान्तो भवति, ईदृग्विधश्च कर्मविवरलक्षणं भावसंधिम 'अनीदृशम' अनन्यतुल्यं प्राप्तो भवतीति ॥१२॥ किञ्च –

टीकार्थ – वह अब्रह्मचर्य से उपरत क्यों होता है-इसका स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार व्यक्त करते हैं, नीवार-एक धान्य विशेष है जिसके दानों को बिखेरकर सूअर आदि प्राणियों को वध्यस्थान में प्रवृष्ट होने हेतु आकृष्ट किया जाता है । स्त्री प्रसंग भी वैसा ही है । जैसे सूअर आदि को चावल के दानों से लुभाकर वध्यस्थान में ले जाकर तरह-तरह की यातनाएं दी जाती है, उसी प्रकार नीवार सदृश स्त्री प्रसंग से आकृष्ट होकर तरह-तरह की पीड़ाएं पाता है । अतएव तत्त्ववेत्ता-सत्यदृष्टा पुरुष अब्रह्मचर्य को नीवार धान्य की ज्यों जानकर स्त्री प्रसंग में लीन-संलग्न न हो । कैसा होते हुए भी वह लीन न हो ? इसका समाधान करते हुए कहते हैं-विषयानुरूप इंद्रियों की प्रवृत्ति अथवा प्राणापिात-हिंसा आदि आश्रवद्वार संसार में अवतीर्ण होने-उतरने या आने के मार्ग है-स्रोत हैं । जिसने इनको छिन्न-नष्ट किया है वह छिन्न स्रोत कहा जाता है । जो राग एवं द्वेष से असंपृक्त होने के कारण मल रहित है, अनाकुल है अथवा विषयों में अप्रवृत्त होने के कारण स्वस्थचित्त है, ऐसा अनाविल-निर्मल अनाकुल-आकुलतारहित पुरुष इन्द्रिय एवं मन को सदा अपने नियन्त्रण में रखता है । वह कर्म विवरात्मक-कर्म विदारणमूलक अनुपम भावसंधि को प्राप्त होता है ।

❀ ❀ ❀

अणेलिसस्स खेयन्ने, ण विरुज्झिज्ज केणइ ।
मणसा वयसा चेव, कायसा, चेव चक्खुमं ॥१३॥

छाया – अनीदृशस्य खेदज्ञो न विरुध्येत केनाऽपि ।
मनसा वचसा चैव कायेन चैव चक्षुष्मान् ॥

अनुवाद – जो पुरुष तीर्थंकर प्ररूपित संयम मार्ग में निरत है, वह मन वचन तथा शरीर से किसी भी प्राणी के साथ विरोध, शत्रुभाव न करे, वही वास्तव में चक्षुष्मान-नेत्रयुक्त या परमार्थ दृष्टा हैं ।

टीका – 'अनीदृशः' अनन्यसदृशः संयमो मौनीन्द्रधर्मो वा तस्य तस्मिन् वा 'खेदज्ञो' निपुणः, अनीदृशखेदज्ञश्च केनचित्सार्धं न विरोधं कुर्वीत, सर्वेषु प्राणिषु मैत्री भावयेदित्यर्थः, योगत्रिककरणत्रिकेणेति दर्शयति-'मनसा' अन्तःकरणेन प्रशान्तमनाः, तथा 'वाचा' हितमितभाषी तथा कायेन निरुद्धदुष्प्रणिहितसर्वकाय चेष्टो दृष्टिपूतपादचारी सन् परमार्थतश्चक्षुष्मान् भवतीति ॥१३॥

टीकार्थ – जिसके सदृश और कोई पदार्थ नहीं होता उसे अनन्यसदृश कहा जाता है, वह संयम है अथवा मौनीन्द्र-तीर्थंकर प्रतिपादित धर्म है । उसमें जो पुरुष खेदज्ञ-कुशल या निष्णात है, वह किसी भी प्राणी के साथ विरोध, शत्रुभाव न करे । सब प्राणियों के साथ मैत्री भाव रखे, वह मन, वचन, काय, रूप तीन योगों तथा कृतकारित अनुमोदित तीन करणों द्वारा किसी के साथ शत्रुता न रखे, शास्त्रकार यह प्रकट करते हैं । वह मन द्वारा प्रशान्त हो, वाणी द्वारा हित एवं परिमित भाषी हो तथा काय द्वारा समस्त दूषित-दोषयुक्त समग्र शारीरिक चेष्टाओं का निरोधक हो । दृष्टि द्वारा भली भांति भूमि का अवलोकन कर पादचारी हो-चलने वाला हो । इस प्रकार जो पारमार्थिक दृष्टि लिये प्रवृत्त होता है, वह वास्तव में चक्षुष्मान-नेत्रवान या दृष्टा है ।

❀ ❀ ❀

से हु चक्खू मणुस्साणं, जे कंखाए य अंतए ।
अंतेण खुरो वहती, चक्कं अंतेण लोट्टती ॥१४॥

छाया – सहि चक्षुर्मनुष्याणां, यः काङ्क्षायाश्चान्तकः ।
अन्तेन क्षुरो वहति चक्रमन्तेन लुठति ॥

अनुवाद – जो कांक्षा-वैषयिक तृष्णाका अनन्तक-अन्त करने वाला है, जो भोग वासना से अतीत हैं वही सब लोगों के लिए नैत्र के समान उत्तम मार्ग दर्शक हैं । जैसे उस्तरेका एवं चक्र का-पहिये का अन्त ही अन्तिम भाग ही चलता है-उसीतरह मोहनीय कर्म का अन्त ही संसार का क्षय करता है ।

टीका – अपिच-हुखधारणे, स एव प्राप्तकर्मविवरोऽनीदृशस्य खेदज्ञो भव्यमनुष्याणां चक्षुः-सदसत्पदार्थाविर्भावानान्नेत्रभूतो वर्तते, किंभूतोऽसौ ? यः 'काङ्क्षायाः' भोगेच्छाया अन्त को विषयतृष्णायाः पर्यन्तवर्ती। किमन्तवर्तीति विवक्षितमर्थं साधयति ? साधयत्येवेत्यमुमर्थं दृष्टान्तेन साधयन्नाह-'अन्तेन' पर्यन्तेन 'क्षुरो' नापितोपकरणं तदन्तेन वहति, तथा चक्रमपिरथाङ्गमन्तेनैव मार्गे प्रवर्तते, इदमुक्तं भवति-यथा क्षुरादिनां पर्यन्त एवार्थक्रियाकारी एवं विषयकषायात्मक मोहनीयान्त एवापसदसंसारक्षयकारीति ॥१४॥

टीकार्थ – गाथा में 'हु' शब्द अवधारण के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जिसने कर्म विवर को प्राप्त किया है, कर्मों को विदीर्ण किया है, वही अनुपम-सर्वोत्तम संयम में अथवा तीर्थंकर प्रतिपादित धर्म में निष्णात है वही पुरुष सत् असत् पदार्थों के आविर्भावन प्रकटीकरण के कारण भव्य जनों के लिये नेत्र के सदृश है। वह पुरुष किस प्रकार का है ? इसका स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं-जो कांक्षा भोगेच्छा का अंतक है-विषयवासना का पर्यंतवर्ती है । उनके अन्त में अवस्थित है-उनका अन्त या नाश कर चुका है; वही चक्षु के तुल्य है । क्या वह वासनाओं के अन्त में वर्तनशील होता हुआ विवक्षित-अभिप्सित अर्थ-लक्ष्य को सिद्ध

कर लेता है ? इसका समाधान करते हुए कहते हैं-वह निश्चय ही उसे प्राप्त कर लेता है । दृष्टान्त द्वारा इसे सिद्ध करते हुए बतलाते हैं-नाई का बाल काटने का उपकरण उस्तरा अन्त से-उनके अन्त में विद्यमान धार से चलता है वैसे ही रथ का पहिया भी अपने अन्तिम भाग से रास्ते पर प्रवृत्त होता है, चलता है । अभिप्राय यह है कि जैसे उस्तरे आदि का अन्त का हिस्सा ही अर्थ क्रियाकारी है-कार्य को साधता है, उसी प्रकार विषय-सांसारिक भोग तथा कषायात्मक मोहनीय कर्म का अन्त ही इस अपसद्-दुःखमय संसार का क्षय करता है ।

❀ ❀ ❀

अंताणि धीरा सेवंति, तेण अंतकरा इह ।
इह माणुस्सए ठाणे, धम्ममाराहिउं णरा ॥१५॥

छाया – अन्तान् धीराः सेवन्ते तेनान्तकरा इह ।
इह मानुष्यके स्थाने, धर्ममाराधयितुं नराः ॥

अनुवाद – धीर-धर्मोद्यत पुरुष अन्तप्रान्त-बचे खुचे या अति सामान्य आहार का सेवन कर संसार का-आवागमन का अन्त करते हैं । इस मनुष्य लोक में धर्म की आराधना करते हुए जीव अपना लक्ष्य साध लेते हैं-संसार सागर को पार कर जाते हैं ।

टीका – अमुमेवार्थमाविर्भावयन्नाह-'अन्तान्' पर्यन्तान् विषयकषायतृष्णायास्तत्परिकर्मणार्थमुद्यानादीनामाहारस्य वाऽन्तप्रान्तादीनि 'धीराः' महासत्त्वा विषयसुखनिःस्पृहाः 'सेवन्ते' अभ्यस्यन्ति तेनचान्तप्रान्ताभ्यसनेन "अन्तकरा" संसारस्य तत्कारणस्य वा कर्मणः क्षयकारिणो भवन्ति, 'इहे' ति मनुष्यलोके, आर्यक्षेत्रे वा, न केवलं त एव तीर्थंकरादयः अन्यऽपीह मानुष्यलोके स्थाने प्राप्ताः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मकं धर्ममाराध्य 'नराः' मनुष्याः कर्मभूमिगर्भव्युत्क्रान्तिजसंख्येयवर्षायुषः सन्तः सदनुष्ठानसामग्रीमवाप्य 'निष्ठितार्था' उपरतसर्वद्वन्द्वा भवति ॥१५॥

टीकार्थ – पूर्ववर्ती गाथा में व्यक्त अर्थ का आविर्भाव-स्पष्टीकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं-जो पुरुष सांसारिक भोगमय सुख, क्रोधादि कषाय तृष्णा के पर्यन्तवर्ती हैं-उनका अन्त कर चुके हैं अथवा उनके-विषयकषायादि के शोधन-परिष्करण हेतु उद्यान आदि के तथा आहार के अन्त प्रान्त का सेवन करते हैं, उस द्वारा अन्तप्रान्त के अभ्यास-तितिक्षामय चर्या के कारण संसार का अथवा कर्म का जो उसका कारण है, नाश करते हैं । इस मनुष्य लोक में केवल तीर्थंकर आदि ही नहीं अपितु अन्य जीव भी सम्यक् दर्शन, सम्यग्ज्ञान, एवं सम्यक् चारित्र मूलक धर्म की आराधना कर कर्मभूमि में संख्येय वर्षों की आयु युक्त गर्भोत्पन्न जीवों के रूप में उत्पन्न होते हैं । उत्तम धर्मानुकूल आचरण की सामग्री प्राप्त कर तदनुकूल संयम आराधना पूर्वक सब द्वन्द्वों-जागतिक प्रपंचों या बन्धनों से विमुक्त हो जाते हैं ।

❀ ❀ ❀

णिट्ठियट्ठा व देवा वा, उत्तरीए इयं सुयं ।
सुयं च मेयमेगेसिं, अमणुस्सेसु णो तहा ॥१६॥

छाया – निष्ठितार्थाश्च देवा वा, उत्तरीये इदं श्रुतम् ।
श्रुतञ्च मे इद मेकेषा, ममनुष्येषु नो तथा ॥

अनुवाद – उत्तरीय-लोकोत्तर प्रवचन या आगम में यह प्रतिपादित है कि मनुष्य ही कर्मों को क्षीण कर सिद्धत्व प्राप्त करते हैं या देव होते हैं । मैंने तीर्थंकर देव से यह श्रवण किया है । मनुष्येतर गतिवर्ती प्राणी सिद्धि प्राप्त नहीं करते ।

टीका – इदमेवाह-'निष्ठितार्थाः' कृतकृत्या भवन्ति, केचन प्रचुरकर्मतया सत्यामपि सम्यक्त्वादिकायां सामग्र्यां न तद्भव एव मोक्षमास्कन्दन्ति अपितु सौधर्माद्याः पञ्चो (ञ्चानु) त्तरविमानावसाना देवा भवन्तीति, एतल्लोकोत्तरीये प्रवचने श्रुतम्-आगमः एवंभूतः सुधर्मस्वामी वा जम्बूस्वामिनमुद्दिश्यैवमाहयथा मयैतल्लोकोत्तरीये भगवत्यर्हत्युपलब्धं, तद्यथा-अवाप्तसम्यक्त्वादिसामग्रीकं: सिध्यति वैमानिको वा भवतीति । मनुष्यगतमेवैतन्नान्यत्रेति दर्शयितुमाह-'सुयं मे' इत्यादि पश्चार्द्धं, तच्च मया तीर्थकरान्तिके' श्रुतम्' अवगतं, गणधरः स्वशिष्याणामेकेषामिदमाह-यथा मनुष्य एवाशेषकर्मक्षयात्सिद्धिगतिभाग्भवति नामनुष्य इति, एतेन यच्छाक्यैरभिहितं, तद्यथा-देव एवाशेषकर्मप्रहाणं कृत्वा मोक्षभाग्भवति, तदपास्तं भवति, न ह्यमनुष्येषु गतित्रयवर्तिषु सच्चारित्रपरिणामाभावाद्यथा मनुष्याणां तथा मोक्षावाप्तिरिति ॥१६॥ इदमेव स्वनामग्राहमाह -

टीकार्थ – मनुष्य उपर्युक्त रूप में निष्ठितार्थ-मोक्ष प्राप्त कर कृतकृत्य होते हैं, किंतु कई ऐसे होते हैं जो कर्मों की प्रचुरता के कारण सम्यक्त्व आदि सामग्री के प्राप्त होने के बावजूद उसी भव में मोक्ष प्राप्त नहीं करते किंतु सौधर्मादि अनुत्तर विमानवासी देव होते हैं । यह लोकोत्तर प्रवचन में प्रतिपादित है-आगम वचन है । सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामी को उद्दिष्ट कर कहते हैं कि मैंने लोकोत्तर-लोक में सर्वोत्तम तीर्थंकर देव से यह प्राप्त किया है, सुना है कि सम्यक्त्व आदि सामग्री को प्राप्त कर मनुष्य सिद्धत्व प्राप्त करता है या वैमानिक देव होता है । यह मनुष्यगत ही है-मनुष्य योनि में ही होता है, अन्यत्र नहीं होता है । इसका दिग्दर्शन कराने हेतु सूत्रकार कहते हैं-गणधर आदि अपने किन्हीं शिष्यों को सम्बोधित कर बतलाते हैं कि मैंने तीर्थंकर देव से यह श्रवण किया है कि मनुष्य ही समस्त कर्मों को क्षीणकर सिद्धि गति का भागी होता है । अमनुष्य-मनुष्यों के सिवाय अन्य नहीं होते । इससे बौद्धों का यह कथन कि समग्र कर्मों का प्रहाण-नाश कर देव ही मोक्ष भागी होता है, अपास्त-खण्डित हो जाता है क्योंकि मनुष्यों के अतिरिक्त जो तीन गतियां हैं, उनमें सम्यक्चारित्र की परिणति-उपलब्धि न होने के कारण मनुष्य की तरह मोक्ष की प्राप्ति संभव नहीं है ।

इसी को अपने नाम ग्रहण के साथ अभिहित करते हैं ।

❀ ❀ ❀

अंतं करंति दुक्खाणं, इहमेगेसि आहियं ।
आघायं पुण एगेसिं, दुल्लभेऽयं समुस्सए ॥१७॥

छाया – अन्तं कुर्वन्ति दुःखाना मिहैकेषामाख्यातम् ।
आख्यातं पुनरेकेषां दुर्लभोऽयं समुच्छ्रयः ॥

अनुवाद – गणधर आदि महापुरुषों द्वारा यह आख्यात हुआ हैं कि मनुष्य ही समस्त दुःखों का नाश करने में समर्थ हैं, अन्य प्राणी नहीं । पुनश्च किन्हीं का यह प्रतिपादन हैं कि समुच्छ्रय-मानवदेह या मानवभव प्राप्त करना बड़ा दुर्लभ हैं ।

टीका – न ह्यमनुष्या अशेषदुःखानामन्तं कुर्वन्ति, तथाविधसामग्र्यभावात्, यथैकेषां वादिनामाख्यातं, तद्यथा-देवा एवोत्तरोत्तरं स्थानमास्कन्दन्तोऽशेषक्लेशप्रहाणं कुर्वन्ति, न तथेह-आर्हते प्रवचने इति । इदमन्यत् पुनरेकेषां गणधरादीनां स्वशिष्याणां वा गणधरादिभिराख्यातं, तद्यथा-युगसमिलादिन्यायावाप्तकथञ्चित्कर्मविवरात् योऽयं शरीरसमुच्छ्रयः सौऽकृतधर्मोपायैरसुमद्भिर्महासमुद्रप्रभ्रष्टरत्नवत्पुनर्दुर्लभो भवति, तथा चोक्तम् -

"ननु पुनरिदमति दुर्लभमगाधसंसारजलधिविभ्रष्टम् ।
मानुष्यं खद्योतकतडिल्लताविलसितप्रतिमम् ॥१॥" इत्यादि ॥१७॥

टीकार्थ – जो मनुष्य नहीं है वे अपने अशेष-समस्त दुःखों का अन्त करने में समर्थ नहीं होते क्योंकि उन्हें उस प्रकार की सामग्री प्राप्त नहीं है । इस संदर्भ में किन्हीं-अन्य मतवादियों का यह अभिमत है कि देवता ही उत्तरोत्तर उत्तम स्थानों को उपलब्ध करते हुए समस्त क्लेशों-दुःखों का प्रहाण-क्षय या विनाश करते हैं किन्तु तीर्थंकर प्ररुपित सिद्धान्त में ऐसा नहीं है । गणधर आदि महापुरुषों ने अपने शिष्यों से कहा है कि-यह मनुष्य शरीर युगसमिल न्याय-जल में पतित भिन्न भिन्न दिशावर्ती दो काष्ठ खण्डों का जैसे कभी चिरकालानन्तर अनायास मिलन हो जाता है-दोनों मिल जाते हैं उसी तरह कर्म विदारण के परिणामस्वरूप बड़ी कठिनाई से प्राप्त होता है । जिन्होंने धर्मोपाय-धर्माराधना नहीं की, उन प्राणियों के लिये महासागर में गिरे हुए रत्न की तरह यह शरीर दुर्लभ है । कहा है-यह मनुष्य शरीर जुगनू के प्रकाश तथा विद्युत की चमक के समान अत्यन्त चंचल-अस्थिर है । अपार संसार समुद्र में विभ्रष्ट हो गया हो, खो गया हो विभिन्न योनियों में भटक रहा हो तो इसे पुनः प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है ।

❀ ❀ ❀

इओ विद्धंसमाणस्स, पुणो संबोहि दुल्लभा ।
दुल्लहाओ तहच्चाओ, जे धम्मट्ठं वियागरे ॥१८॥

छाया – इतो विध्वंसमानस्य, पुनः सम्बोधि र्दुर्लभा ।
दुर्लभा तथार्चा, ये धर्मार्थं व्यागृणान्ति ॥

अनुवाद – इस मनुष्य शरीर से जो जीव विभ्रष्ट हो गया हो-इतर योनियों में, संसार में भटकने लगे हो तो उसको फिर बोधि प्राप्त होना कठिन है । सम्यक्दर्शन के अनुरूप अर्चा-भावना की प्राप्ति कठिन है, जो जीव धर्म का आख्यान करते हैं-प्रतिपादन करते हैं तथा धर्म प्राप्ति के योग्य है । वैसी अन्तःपरिणति या लेश्या प्राप्त करना बहुत कठिन है ।

टीका – अपिच-'इतः' अमुष्मात् मनुष्यभवात्सद्धर्मत वा विध्वंसमानस्या कृतपुण्यस्य पुनरस्मिन् संसारे पर्यटतो 'बोधिः' सम्यग्दर्शनावाप्तिः सुदुर्लभा उत्कृष्टतः अपार्धपुद्गलपरावर्तकालेन यतो भवति, तथा 'दुर्लभा' दुरापा तथाभूता-सम्यग्दर्शनप्राप्तियोग्या 'अर्चा' लेश्याऽन्तः-करणपरिणतिरकृतधर्मणामिति, यदिवाऽर्चा-मनुष्यशरीरं तदप्यकृतधर्म बीजानामार्यक्षेत्रसुकुलोत्पत्तिसकलेन्द्रियसामग्र्यादिरूपं दुर्लभं भवति, जन्तूनां ये धर्मरूपमर्थं व्याकुर्वन्ति, ये धर्मप्रतिपत्तियोग्या इत्यर्थः, तेषां तथाभूतार्चा सुदुर्लभा भवतीति ॥१८॥

टीकार्थ – अकृत पुण्य-जिसने पुण्यात्मक कार्य नहीं किये हो, वह जीव इस मनुष्य भव से या सद्धर्म से विध्वस्त-विभ्रष्ट होकर इस संसार में पर्यटन करता है, उसे फिर सम्यक्दर्शन प्राप्त होना बहुत कठिन है

क्योंकि उत्कृष्ट रूप में अर्द्ध पुद्गलपरावर्तकाल के पश्चात् पुनः सम्यक्त्व प्राप्त हो सकता है । वैसे पुरुष को जिसने धर्माचरण नहीं किया है, सम्यक्दर्शन की प्राप्ति योग अर्चा-लेश्या, अन्तःपरिणति या आन्तरिक परिणामों का स्वायत्त होना बहुत कठिन है । अथवा मनुष्य शरीर अर्चा कहा जाता है। जिसने धर्मरूपी बीज का वपन नहीं किया है उसे वह उपलब्ध नहीं होता । आर्य क्षेत्र, उत्तम कुल में जन्म, समस्त इन्द्रिय रूप सामग्री, स्वस्थ सक्षम इंद्रिय, इत्यादि का मिलना अत्यन्त कठिन है । प्राणियों में जो धर्म रूप अर्थ का विवेचन करते हैं, धर्म प्रतिपत्ति के योग्य है । उन जैसी लेश्या प्राप्त करना अत्यन्त दुर्लभ है ।

❀ ❀ ❀

जे धम्मं सुद्धमक्खंति, पडिपुन्नमणेलिसं ।
अणेलिसस्स जं ठाणं, तस्स जम्मकहा कओ ॥१९॥

छाया – ये धर्मं शुद्ध माख्यान्ति, प्रतिपूर्णं मनीदृशम् ।
अनीदृशस्य यत् स्थानं, तस्य जन्म कथा कुतः ॥

अनुवाद – जो पुरुष प्रतिपूर्ण-समग्र अनीदृश-सर्वोत्तम एवं शुद्ध धर्म का आख्यान करते हैं-स्वयं आचरण करते हैं । वे सर्वोत्तम पुरुष का स्थान-पद प्राप्त करते हैं । फिर उनका जन्म नहीं होता-वे जन्म मरण से छूट जाते हैं ।

टीका – किञ्चान्यत्-ये महापुरुषा वीतरागाः करतलामलकवत्सकलजगद्द्रष्टारः त एवंभूताः परहितैकरताः 'शुद्धम्' अवदातं सर्वोपाधिविशुद्धं धर्मम् 'आख्यान्ति' प्रतिपादयन्ति स्वतः समाचरन्ति च 'प्रतिपूर्णम्' आयातचारित्र सद्भावात्संपूर्णं यथाख्यातचारित्ररूपं वा 'अनीदृशम्' अनन्य-सदृशं धर्मम् आख्यान्ति अनुतिष्ठन्ति (च)•। तदेवम् 'अनीदृशस्य' अनन्यसदृशस्य ज्ञानचारित्रोपेतस्य यत् स्थानं-सर्व द्वन्द्वोपरमरूपं तदवाप्तस्य तस्य कुतो जन्मकथा? जातो मृतो वेत्येवंरूपा कथा स्वप्नान्तरेऽपि तस्य कर्मबीजाभावात् कुता विद्यत ? इति, तथोक्तम् -

"दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं, प्रादुर्भवति नाङ्कुरः। कर्मबीजे तथा दग्धे, न रोहति भवाङ्कुर ॥१॥" इत्यादि ॥१९॥

टीकार्थ – जो महापुरुष वीतराग-रागशून्य होते हैं । हथेली में रखे आंवले की ज्यों समग्र संसार को देखते हैं तथा जो पर हित परायण है । जो समस्त उपाधियों से रहित शुद्ध धर्म का आख्यान करते हैं, स्वयं पालन करते हैं । आयत-चारित्र के सद्भाव से जो धर्म प्रतिपूर्ण है अथवा यथाख्यात चारित्र रूप तथा जो अनुपम-सर्वश्रेष्ठ है, वे उसका आख्यान करते हैं-उपदेश करते हैं तथा स्वयं उसका अनुसरण करते हैं । वे उस स्थान को प्राप्त करते हैं जो ज्ञान एवं चारित्र युक्त पुरुष का है-ज्ञान चारित्र युक्त पुरुष को प्राप्त होता है । जो द्वन्द्वों-संकटों और झंझटों से विमुक्त है । उनके पुनः इस जगत में जन्म लेने की तो बात ही कहाँ ? वे जन्मे, मरे ऐसा कहना सपने में भी संभव नहीं है क्योंकि उनके कर्मों के बीजों का अभाव हो गया है, इसलिये जन्म मरण कहां से हो । कहा है जैसे बीज के अत्यन्त दग्ध हो जाने पर बिल्कुल जल जाने पर अंकुर का प्रादुर्भाव नहीं होता, पौधा नहीं उगता । उसी प्रकार कर्म रूपी बीज के दग्ध हो जाने पर संसार रूपी अंकुर पैदा नहीं होता।

❀ ❀ ❀

कओ कयाइ मेधावी, उप्पज्जंति तहा गया ।
तहा गया अप्पडिन्ना, चक्खू लोगस्सणुत्तरा ॥२०॥

छाया – कुतः कदाचिन्मेधावी, उत्पद्यन्ते तथागताः ।
तथागता अप्रतिज्ञा श्चक्षु र्लोकस्यानुत्तराः ॥

अनुवाद – तथागत-इस जगत में पुनः नहीं आने वाले-जन्म मरण के चक्र में नहीं फंसने वाले मेधावी-प्रज्ञा सम्पन्न महान् ज्ञानी पुरुष जो मोक्षगत है, वे पुनः इस जगत में किस प्रकार आ सकते हैं ? अप्रतिज्ञ-निदान वर्जित-पराफलाभिकांक्षा रहित तीर्थंकर एवं गणधर आदि महापुरुष लोक के अनुत्तर-सर्वश्रेष्ठ नेत्र हैं।

टीका – किंचान्यत्-कर्मबीजाभावात् 'कुतः' कस्मात्कदाचिदपि 'मेधाविनो' ज्ञानात्मकाः तथाअपुनरावृत्त्या गतास्तथागताः पुनरस्मिन् संसारेऽशुचिनि गर्भाधाने समुत्पद्यन्ते ? न कथञ्चित्कदाचित्कर्मोपादानाभावादुत्पद्यन्त इत्यर्थः, तथा 'तथागताः' तीर्थकृद्गणधरादयो न विद्यते प्रतिज्ञा-निदानबन्धनरूपां येषां तेऽप्रतिज्ञा-अनिदाना निराशंसाः सत्त्वहितकरणोद्यता अनुत्तरज्ञानत्वादनुत्तरा 'लोकस्य' जन्तुगणस्य सदसदर्थनिरूपणकारणतश्चक्षुभूता हिताहितप्राप्तिपरिहारं कुर्वन्तः सकललोकलोचनभूतास्तथागताः सर्वज्ञा भवन्तीति ॥२०॥ किञ्चान्यत् -

टीकार्थ – मेधावी-प्रज्ञावान पुरुष जो कर्म रूप बीज के अभाव से-समस्त कर्मों को क्षीण करने के कारण मोक्षगत है । जहां जाने पर फिर कभी पुनरावृत्ति-संसार में पुनः आगमन नहीं होता, वे फिर इस अशुचि-अपवित्र गर्भाधानमूलक जगत में कैसे समुतपन्न हो सकते हैं ? कर्म के उपादान के अभाव से वे फिर कभी किसी भी तरह संसार में उत्पन्न नहीं होते । प्रतिज्ञा-निदानरूपी बंधन से रहित, निराशंस-आशंसा या कामना से वर्जित-प्राणियों का हित साधने में समुद्यत, अनुत्तर-सर्वश्रेष्ठ ज्ञान होने से अनुपम, प्राणियों के लिए सत् असत् अर्थ का निरूपण करने के कारण सर्वज्ञ तीर्थंकर तथा गणधर आदि महापुरुष चक्षुभूत हैं । वे सर्वज्ञ तीर्थंकर तथा महापुरुष सबको हित की प्राप्ति कराते हैं तथा अहित का परिहार करते हैं । वे सबके लिये लोचन तुल्य है ।

❀ ❀ ❀

अणुत्तरे य ठाणे से, कासवेण पवेदिते ।
जं किच्चा, णिव्वुडा एगे, निट्ठं पावंति पंडिया ॥२१॥

छाया – अनुत्तरञ्च स्थानं तत्, काश्यपेन प्रवेदितम् ।
यत् कृत्वा निर्वृता एके, निष्ठां प्राप्नुवन्ति पण्डिताः ॥

अनुवाद – काश्यपगोत्रोत्पन्न भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित स्थान-संयममूलक साधना पथ सर्वोत्तम है । पंडित-ज्ञानीजन इसका परिपालन कर निर्वाण-मोक्ष प्राप्त करते हैं । वे संसार का, आवागमन का अंत करते हैं ।

टीका – न विद्यते उत्तरं-प्रधानं यस्मादनुत्तरं स्थानं तच्च तत्संयमाख्यं 'काश्यपेन' काश्यप-गोत्रेण श्री मन्महावीरवर्धमानस्वामिना 'प्रवेदितम्' आख्यातं, तस्य चानुत्तरत्वमाविर्भावयन्नाह-'यद' अनुत्तरं संयमस्थानं 'एके' महासत्त्वाः सदनुष्ठायिनः 'कृत्वा' अनुपाल्य 'निर्वृताः' निर्वाणमनुप्राप्ताः, निर्वृताश्च सन्तः संसारचक्रवालस्य 'निष्ठां' पर्यवसानं 'पंडिताः' पापाङ्डीनाः प्राप्नुवन्ति, तदेवंभूतं संयमस्थानं काश्यपेन प्रवेदितं यदनुष्ठायिनः सन्तः सिद्धिं प्राप्नुवन्तीति तात्पर्यार्थः ॥२१॥

टीकार्थ – जिससे अनुत्तर या श्रेष्ठ दूसरा स्थान नहीं होता उसे अनुत्तर कहा जाता है । वह संयम है । काश्यप गोत्र में जन्मे श्रीवर्धमान स्वामी ने-भगवान श्री महावीर ने इसको-संयम को प्रवेदित-व्याख्यात

किया है । उसकी अनुत्तरता-सर्वश्रेष्ठता बताने हेतु सूत्रकार कहते हैं-सत् अनुष्ठान-उत्तम आचरण युक्त महासत्व-महापुरुष संयम का अनुपालन कर निर्वाण प्राप्त करते हैं । वे निवृत्त-निर्वाण युक्त, पण्डित-पाप रहित, ज्ञानी पुरुष संसार चक्र का जन्ममरण का पर्यवसान-अंत करते हैं । इस प्रकार के संयम स्थान का भगवान महावीर ने प्रतिपादन किया, जिसका अनुष्ठान-अनुसरण करते हुए पुरुष सिद्धि-मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं ।

❀ ❀ ❀

पंडिए वीरियं लद्धुं, निग्घायाय पवत्तगं ।
धुणे पुव्वकडं कम्मं, णवं वाऽवि ण कुव्वती ॥२२॥

छाया – पण्डितः वीर्यं लब्ध्वा, निर्घाताय प्रवर्तकम् ।
धुनीयात् पूर्वकृतं कर्म नवं वाऽपि न करोति ॥

अनुवाद – पंडित-ज्ञानी पुरुष कर्म का विनाश करने में सशक्त, वीर्य-आत्मपराक्रम प्राप्त कर पूर्वकृत कर्म का धुनन-नाश करे तथा नव-नया कर्म न बांधे ।

टीका – अपिच-'पण्डितः' सदसद्विवेकज्ञो 'वीर्यं' कर्मोद्दलनसमर्थं सत्संयमवीर्यं तपोवीर्यं वा 'लब्ध्वा' अवाप्य, तदेव वीर्यं विशिनष्टि-निःशेष कर्मणो 'निघाताय' निर्जरणाय प्रवर्तकं पण्डितवीर्यं, तच्च बहुभवशतदुर्लभं कथञ्चित्कर्मविवरादवाप्य 'धुनीयाद्' अपनयेत् पूर्वभवेष्वनेकेषु यत्कृतम्-उपात्तं कर्माष्टप्रकारं तत्पण्डितवीर्येण धुनीयात् 'नवं च' अभिनवं चाश्रवनिरोधान्न करोत्यसाविति ॥२२॥

टीकार्थ – पंडित-सत् एवं असत् का भेद करने में सक्षम विवेकशील पुरुष कर्मो का उद्दलन-नाश करने में समर्थ सत् संयम तथा तपश्चरण में वीर्य-पराक्रम प्राप्त करता है । उसकी विशेषता बतलाते हुए कहते हैं-जो समस्त कर्मों के निर्झरण-नाश में संप्रवृत्त होता है, वह पण्डित वीर्य कहा जाता है। सैंकड़ों जन्मों में जिसका प्राप्त होना बड़ा कठिन है, ज्ञानी पुरुष कर्मों का विदारण-नाश कर उसे अवाप्त-प्राप्त करता है । उसे चाहिये कि वह अनेकानेक पूर्व जन्मों में संचित आठ प्रकार के कर्मों का पण्डित वीर्य द्वारा धुनन-नाश करे। तथा वह आश्रव का निरोध कर अभिनव-नये कर्म न करे ।

❀ ❀ ❀

ण कुव्वती महावीरे, अणुपुव्वकडं रयं ।
रयसा संमुहीभूता, कम्मं हेच्चाण जं मयं ॥२३॥

छाया – न करोति महावीरः आनुपूर्व्या कृतं रयः ।
रजसा सम्मुखीभूताः कर्म हित्वा यन्मतम् ॥

अनुवाद – अन्य पुरुष मिथ्यात्वादि के कारण क्रमशः जो पाप करते हैं, महावीर-कर्मक्षय में सक्षम पुरुष वैसा नहीं करता क्योंकि वह पाप कर्म अपने द्वारा पहले किये गये अशुभ कर्मों से प्रभावित होते हैं-उनके प्रभाववश किये जाते हैं किंतु वह महान् आत्म पराक्रमी पुरुष अष्टविध कर्मों का क्षय कर मोक्ष के सम्मुखीन हैं ।

टीका – किञ्च-'महावीरः' कर्मविदारणसहिष्णुः सन्नानुपूर्व्येण मिथ्यात्वाविरति प्रमाद कषाययोगैर्यत्कृतं रजोऽपरजन्तुभिस्तदसौ 'न करोति' न विधत्ते, यतस्तत्प्राक्तनोपात्तरजसैवोपादीयते, स च तत्प्राक्तनं कर्माविष्टभ्य सत्संयमात्संमुखीभूतः, तदभिमुखीभूतश्च यन्मतमष्टप्रकारं कर्म तत्सर्वं 'हित्वा' त्यक्त्वा मोक्षस्य सत्संयमस्य वा सम्मुखीभूतोऽसाविति ॥२३॥

टीकार्थ – कर्मों को विदीर्ण करने में सक्षम पुरुष उन पाप कर्मों को नहीं करता जिन्हें अन्य जीव क्रमशः मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय तथा योग द्वारा करते हैं । क्योंकि वह पाप कर्म प्राक्तन-पहले के या पूर्व भवों में संचित अशुभ कर्मों द्वारा ही किया जाता है । पूर्वोक्त आत्म बली पुरुष उत्तम संयम को स्वीकार कर-आत्मसात् कर अपने द्वारा पहले के किये गये कर्मों को निर्जीर्ण-क्षीण कर वह मोक्षाभिमुख होता है । दूसरे शब्दों में आठ प्रकार के कर्मों का त्याग कर-परिहार कर मोक्ष या उत्तम संयम के सम्मुख है-संयम पालन में उद्यत होता है ।

❀ ❀ ❀

जं मयं सव्वसाहूणं, तं मयं सल्लगत्तणं ।
साहइत्ताण तं तिन्ना, देवा वा अभविंसु ते ॥२४॥

छाया – यन्मतं सर्वसाधूनां तन्मतं शल्यकर्त्तनम् ।
साधयित्वा तत्तीर्णाः देवा वा अभूवँस्ते ॥

अनुवाद – समस्त साधु जनों द्वारा सम्मत संयम शल्य-पाप का कर्त्तन-नाश करता है । प्राणियों ने उसकी साधना कर संसार समुद्र को पार किया है-मोक्ष प्राप्त किया है अथवा देवत्व पाया है-देवलोक में गये हैं ।

टीका – अन्यच्च-'जम्मय' मित्यादि, सर्वसाधूनां यत् 'मतम्' अभिप्रेतं तदेतत्सत्संयमस्थानं, तद्विशिनष्टि-शल्यं-पापानुष्ठानं तज्जनितं वा कर्म तत्कर्तयति-छिनत्ति यत्तच्छल्यकर्तनं तच्च सदनुष्ठान उद्युक्तविहारिणः 'साधयित्वा' सम्यगाराध्य बहवः संसारकान्तारं तीर्णाः, अपरे तु सर्वकर्मक्षयाभावात् देवा अभूवन्, ते चाप्तसम्यक्त्वाः सच्चारित्रिणो वैमानिकत्वमवापुः प्राप्नुवन्ति प्राप्स्यन्ति चेति ॥२४॥

टीकार्थ – संयम स्थान सभी साधु जनों को अभिप्रेत है-मान्य है-स्वीकृत है । उसकी विशेषता का वर्णन करते हुए सूत्रकार प्रतिपादित करते हैं-वह संयम स्थान शल्य-पापमयानुष्ठान अथवा तज्जनित कर्म का कर्तन-छेद या नाश करता है । शास्त्रानुसार धर्म पथ पर विचरणशील बहुत से पुरुष उसे साधकर-भली भांति उसकी आराधना कर संसार रूप भयानक घोर वन को पार कर चुके हैं । तथा अन्य जो समग्र कर्मों का क्षय नहीं कर सके हैं वे देव हुए हैं-देवयोनि में गये हैं ।

सम्यक्त्व युक्त सच्चारित्रशील पुरुष वैमानिक देव हुए हैं-होते हैं एवं भविष्य में भी होंगे ।

❀ ❀ ❀

अभविंसु पुरा धी (वी) रा, आगमिस्सावि सुव्वता ।
दुन्निबोहस्स मग्गस्स, अंतं पाउकरा तिन्ने ।त्तिबेमि॥२५॥

छाया – अभूवन् पुरा धीरा, आगामिन्यपि सुव्रताः ।
दुर्निबोधस्य मार्गस्यान्तं, प्रादुष्करास्तीर्णाः ।इति ब्रवीमि॥

अनुवाद – पूर्वकाल में बहुत से धीर या वीर आत्म बली पुरुष हुए हैं । भविष्य काल में भी बहुत से सुव्रत-उत्तम व्रतधारी पुरुष होंगे । वैसे महापुरुषों ने दुर्निबोध-जिसे प्राप्त करना बड़ा कठिन है, उस सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, तथा सम्यक् चारित्र मूलक मार्ग का अनुसरण कर उसे प्रकाशित कर संसार सागर से पार हुए हैं।

टीका – सर्वोपसंहारार्थमाह-'पुरा' पूर्वस्मिन्ननादिके काले बहवो 'महावीरा' कर्मविदारणसहिष्णवः 'अभूवन्' भूताः, तथा वर्तमाने च काले कर्मभूमौ तथाभूता भवन्ति तथाऽऽगामिनि चानन्ते कालेतथाभूताः सत्संयमानुष्ठायिनो भविष्यन्ति, ये किं कृतवन्तः कुर्वन्ति करिष्यन्ति चेत्याह-यस्य दुर्निबोधस्य-अतीव दुष्प्रापस्य (मार्गस्य) ज्ञानदर्शन चारित्राख्यस्य 'अन्तं' परमकाष्ठामवाप्य तस्यैव मार्गस्य 'प्रादुः' प्रकाश्यं तत्करणशीलाः प्रादुष्कराः स्वतः सन्मार्गानुष्ठायिनोऽन्येषां च प्रादुर्भावकाः सन्तः संसारार्णवं तीर्णास्तरन्ति तरिष्यन्ति चेति । गतोऽनुगमः, साम्प्रतं नयाः, ते च प्राग्वत दृष्टव्याः । इतिरध्ययनपरिसमाप्तो, ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥२५॥

॥ इति आदानीयाख्यं पञ्चदशाध्ययनं समाप्तम् ॥

टीकार्थ – सूत्रकार इस अध्ययन का उपसंहार करते हुए कहते हैं-कर्मों को विदीर्ण-क्षीण करने में सक्षम अनेक महान् वीर-परम पराक्रमी अनादि काल से होते रहे हैं । वर्तमान काल में भी कर्मभूमि में वैसे बहुत से महापुरुष होते हैं तथा आगामी-आने वाले अनन्त भविष्य काल में भी संयम का पालन करने वाले वैसे अनेक महापुरुष होंगे । उन्होंने क्या किया ? वे क्या करते हैं ? एवं क्या करेंगे ? इस संदर्भ में सूत्रकार प्रतिपादित करते हैं-वे महापुरुष दुर्निबोध-अतीव दुष्प्राप्य-बड़ी कठिनाई से प्राप्त होने योग्य सम्यक् ज्ञान, दर्शन तथा चारित्रमूलक मोक्षमार्ग की पराकाष्ठा-आखिरी सीमा-मंजिल पर पहुंच कर औरों के लिये उस मार्ग का-मोक्षानुगामी पथ का प्रकाशन करते हुए स्वयं उस पर गतिशील रहते हुए संसार सागर को पार कर चुके हैं, पार कर रहे हैं तथा पार करेंगे ।

अनुगम समाप्त हुआ । अब यहां नय पूर्ववत् दृष्टव्य है-देखने योग्य या समझने योग्य है । इति शब्द अध्ययन की परि समाप्ति हेतु प्रयुक्त हुआ है । ब्रवीमि-बोलता हूं यह पूर्ववत्-पहले की ज्यों है ।

आदानीय नामक पंचदश-पन्द्रहवां अध्ययन समाप्त हुआ ।

❀ ❀ ❀

卐卐卐

षोडशं श्री गाथाध्ययनं

अहाह भगवं–एवं से दंते दविए वोसट्ठकाएत्ति वच्चे माहणेत्ति वा समणेत्ति वा भिक्खूत्ति वा, णिग्गंथेत्ति वा, पडिआह–भंते ! कहं नु दंते दविए वोसट्ठकाएत्ति वच्चे माहणेत्ति वा समणेत्ति वा भिक्खूत्ति वा णिग्गंथेत्ति वा ? तं नो बूहि महामुणी ! ॥ इतिविरए सव्वपाव कम्मेहिं पिज्जदोसकलह० अब्भक्खाण० पेसुन्न० परपरिवाय० अरतिरति० मायामोस० मिच्छादंसणसल्लविरए सहिए समिए सया जए णो कुज्झे णो माणी माहणेत्ति वच्चे ॥१॥

छाया – **अथाह भगवान्–एवं स दान्तो द्रव्यः व्युत्सृष्टकाय, इति वाच्यः माहन इति वा श्रमण इति वा भिक्षुरिति वा निग्रन्थ इति वा । प्रत्याह भदन्त । कथं नु दान्तो द्रव्यः व्युत्सृष्टकाय इति वाच्यः माहन इति वा श्रमण इति वा भिक्षु रिति वा निग्रन्थ इति वा ? तन्नो ब्रूहि महामुने ! । इतिविरतः सर्वपापकर्मभ्यः प्रेमद्वेषकलहाभ्याख्यान पैशून्यपरप–रीवादारतिरतिमायामृषामिथ्यादर्शनशल्य विरतः समितः सहितः सदा यतः न क्रुध्येन्नो मानी माहन इति वाच्यः ।**

अनुवाद – इसके बाद भगवान ने कहा कि पन्द्रह अध्यायों में वर्णित अर्थ से युक्त जो पुरुष दांत-दमनशील है, इन्द्रिय एवं मन का विजेता है, व्युत्सृष्टकाय-जिसने देह का, दैहिक आसक्ति का व्युत्सर्ग-विसर्जन कर दिया है, उसे माहन, श्रमण, भिक्षु या निर्ग्रन्थ शब्द से अभिहित किया जाता है ।

शिष्य ने प्रश्न किया-भगवन् ! वह जो दमनशील है, दैहिक आसक्ति विवर्जित है, वह माहन, श्रमण, भिक्षु अथवा निर्ग्रन्थ शब्द द्वारा क्यों संबोधित किया जाना चाहिये ? हे महामुनि ! हमें आप यह बतलाये । जो सब पापों से विरत है, राग, द्वेष, कलह अभ्याख्यान, पैशून्य, पर परिवाद, अरति, रति, माया, मृषा तथा मिथ्यादर्शन शल्य का परिहार-परित्याग कर चुका है । सहित-स्व पर कल्याण में निरत है, समित-जो पांच समितियों से युक्त है अतः जो संयम में उद्यत है, जो क्रोध नहीं करता, मान नहीं करता वह माहन शब्द द्वारा वाच्य है ।

टीका – 'अथे' त्ययं शब्दोऽवसानमङ्गलार्थः, आदिमंगलं तु बुध्येतेत्यनेनाभिहितं, अत आद्यन्तयोर्मङ्गल-त्वात्सर्वोऽपि श्रुतस्कन्धो मङ्गलमित्येतदनेनावेदितं भवति । आनन्तर्ये वाऽथशब्दः, पञ्चदशाध्ययनानन्तरं तदर्थ-संग्राहीदं षोडशमध्ययनं प्रारम्भते । अथानन्तरमाह-'भगवान' उत्पन्न दिव्यज्ञानः सदेवमनुजायां पर्षदीदं वक्ष्यमाणमाह, तद्यथा-एवमसौ पञ्चदशाध्ययनोक्तार्थयुक्तः स साधुदन्ति इन्द्रियनोइन्द्रिय दमनेन द्रव्यभूतो मुक्तिगमनयोग्यत्वात् 'द्रव्यं च भव्ये' इति वचनात् राग द्वेष कालि कापद्रव्यरहितत्वाद्वा जात्यसुवर्णवत् शुद्धद्रव्यभूतस्तथा व्युत्सृष्टो निष्प्रतिकर्मशरीरतया कायः-शरीरं येन स भवति व्युत्सृष्टकायः, तदेवंभूतः सन् पूर्वोक्ताध्ययनार्थेषु वर्तमानः प्राणिनः स्थावरजङ्गमसूक्ष्मबादरपर्याप्तकापर्याप्तकभेदभिन्नान् मा हणत्ति प्रवृत्तिर्यस्यासौ माहनो नवब्रह्मचर्यगुप्तिगुप्तो

ब्रह्मचर्यधारणाद्वा ब्राह्मण इत्यनन्तरोक्तगुणकदम्बकयुक्तः साधुर्माहनो ब्राह्मण [ग्रंथाग्रम ८०००] इति वा वाच्यः, तथा श्राम्यति तपसा खिद्यत इतिकृत्वा श्रमणो वाच्योऽथवा समं-तुल्यं मित्रादिषु मनः-अन्तःकरणं यस्य स सममनाः सर्वत्र वासीचन्दन-कल्प इत्यर्थः, तथा चोक्तम् -

"णत्थि य सि कोइ वेसो" (छाया - नास्ति तस्य कोऽपिद्वेष्यः ।) इत्यादि । तदेवं पूर्वोक्त गुण कलितः श्रमणः सन् सममना वा इत्येवं वाच्यः साधुरिति । तथा भिक्षणशीलो भिक्षुर्भिनत्ति वाऽष्टप्रकारं कर्मेति भिक्षु स साधुर्दान्तादिगुणोपेतो भिक्षुरिति वाच्यः । तथा सबाह्याभ्यन्तरग्रन्थाभावान्निर्ग्रन्थः । तदेव मनन्तरोक्तं पञ्चदशाध्ययनोक्तार्थानुष्ठायी दान्तो द्रव्यभूतो व्युत्सृष्टकायश्च (स) निर्ग्रन्थ इति वाच्य इति । एवं भगवतोक्ते सति प्रत्याह तच्छिष्यः-भगवन् ! भदन्त ! भयान्त ! भवान्त ! इति वा योऽसौ दान्तो द्रव्यभूतो व्युत्सृष्टकायः सन् ब्राह्मणः श्रमणो भिक्षुर्निर्ग्रन्थ इति वाच्यः तदेतत्कथं ? यद्भगवतोक्तं ब्राह्मणादिशब्दवाच्यत्वं साधोरिति, एतन्नः-अस्माकं 'ब्रूहि' आवेदय 'महामुने !' यथावस्थितत्रिकालवेदिन् ॥१॥ इत्येवं पृष्टो भगवान् ब्राह्मणादीनां चतुर्णामप्यभिधानानां कथञ्चिद्भेदाद्भिन्नानां यथाक्रमं प्रवृत्तिनिमित्तमाह-'इति' एवं पूर्वोक्ताध्ययनार्थवृत्तिः सन् 'विरतो' निवृत्तः सर्वेभ्यः पापकर्मेभ्यः-सावद्यानुष्ठानरूपेभ्यः स तथा, तथा प्रेम-रागाभिष्वङ्ग लक्षणं द्वेषः अप्रीतिलक्षणः कलहो-द्वन्द्वाधिकरणमभ्याख्यानम्-असदभियोगः पैशुन्यं (कर्णेजपत्वं) परगुणासहनतया तद्दोषोद्धहनमितियावत् परस्य परिवादः कात्वा परदोषापादनं अरतिः-चित्तोद्वेगलक्षणा तया कुटिलमतेर्मृषावादः-असदर्थाभिधानं गामश्वं ब्रुवतो भवति, मिथ्यादर्शनम्-अतत्त्वे तत्त्वाभिनिवेशस्तत्त्वे वाऽतत्त्वमिति, यथा -

णत्थि ण णिच्चो ण कुणइ कयं ण वेएइ णत्थि णिव्वाणं । णत्थि य मोक्खोवाओ छम्मिच्छत्तस्स ठाणाइं ॥१॥

छाया-नास्तिनित्योनकरोति न कृतं वेदयति नास्ति निर्वाणं । नास्ति न मोक्षोपायः षण्मिथ्यात्वस्य स्थानानि ॥१॥

इत्यादि, एतदेव शल्यं तस्मिंस्ततो वा विरत इति, तथा सम्यगितः समित इत्यर्थः, तथा सह हितेन-परमार्थभूतेनवर्तत इति सहितः, यदिवा सहितो-युक्तो ज्ञानादिभिः तथा 'सदा' सर्वकाल 'यतः' प्रयतः सत्संयमानुष्ठाने, तदनुष्ठानमपि न कषायैर्निःसारीकुर्यादित्याह-कस्यचिदप्यपकारिणोऽपि न क्रुध्येत-आक्रुष्टः सन्न क्रोधवशगो भूयात्, नापि मानी भवेदुत्कृष्टतपोयुक्तोऽपि न गर्वं विदध्यात्, तथा चोक्तम् -

"जइ सोऽवि निज्जरमओ पडिसिद्धो अट्ठमाणमहणेहिं । अवसेसमयट्ठाणा परिहरियव्वा पयत्तेणं ॥१॥"

छाया-यदि सोऽपिनिर्जरामदः प्रतिषिद्धोऽष्टमानमथनैः। अवशेषाणि मदस्थानानि परिहर्त्तव्यानि प्रयत्नेन॥१॥

अस्य चोपलक्षणार्थत्वाद्रागोऽपि मायालोभात्मको न विधेय इत्यादिगुणकलितः साधुमहिन इति निः शङ्क वाच्य इति ॥१॥ साम्प्रतं श्रमणशब्दस्य प्रवृतिनिमित्तमुद्भावयन्नाह -

टीकार्थ – यहां प्रयुक्त 'अथ' शब्द अवसान मंगलार्थक है-ग्रंथ के अंत में मंगल द्योतक है । आदि मंगल तो बुज्झिज्जा-बुध्येत इस पद द्वारा अभिहित हुआ है, यों आदि और अंत के मंगलत्व से-दोनों स्थानों पर मंगल होने से समस्त श्रुतस्कन्ध मंगलमय है, यह आवेदित-परिज्ञापित या सूचित होता है । अथवा 'आय' शब्द का प्रयोग आनन्तर्य-अनन्तरता के अर्थ में है । पन्द्रह अध्ययनों के बाद उनके अर्थों का संग्राहक-उपसंहारक यह सोलहवां अध्ययन प्रारंभ किया जाता है । इसके अनन्तर दिव्य ज्ञान युक्त-सर्वज्ञ भगवान महावीर देवों और मनुष्यों से युक्त परिषद्-धर्म सभा में वक्ष्यमाण-आगे कहा जाने वाला प्रसंग बतलाते हैं । वह इस प्रकार है-पन्द्रह अध्ययनों में जो अर्थ-मन्तव्य या सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं उनके अनुसार आचरणशील साधु दांत-इन्द्रिय और मन का नियंत्रक-नियामक है, दमनशील है । वह मोक्ष प्राप्त करने के योग्य है, अतः द्रव्यभूत

है । द्रव्य शब्द भव्य के अर्थ में भी प्रयुक्त है । तदनुसार राग द्वेष कालिक-राग द्वेष युक्त अवस्था में होने वाले अपद्रव्य-विकारों से रहित होने के कारण वह उत्तम कोटि के स्वर्ण की ज्यों शुद्ध द्रव्यभूत, परम पवित्र संयमानुगत है । प्रतिकर्म-दैहिक साज सज्जा आदि से रहित होने के कारण जो व्युत्सृष्टकाय-दैहिक आसक्ति से विमुक्त है । इस प्रकार पूर्व अध्ययनों में वर्णित अर्थों मे-धर्माचरणमय कार्यों में-प्रवृत्तियों में विद्यमान साधु स्थावर, जंगम, सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त अपर्याप्त भेद युक्त प्राणियों का हनन-व्यापादन नहीं करता । वह माहम शब्द द्वारा अभिधेय है । अथवा जो ब्रह्मचर्य की नौ गुप्तियों-वृत्तियों, बाड़ों से रक्षित-अखंड ब्रह्मचर्य पालक पूर्व वर्णित गुण गण युक्त है वह माहन या ब्राह्मण शब्द से वाच्य है । जो श्रान्त होता है-तप द्वारा खिन्न होता है, वह श्रमण शब्द द्वारा वाच्य है, अथवा जिसका मन शत्रु मित्र आदि में सब जगह एक जैसा होता है, वह सममना है । वह बासी चन्दन के सदृश होता है-काटने वाले वसूले या कुठार के साथ चन्दन के वृक्ष का कोई द्वेष या शत्रुभाव नहीं होता, वैसे ही उसका अपकारी के प्रति द्वेष नहीं होता । अतएव कहा गया है, उसके लिये कोई भी द्वेष्य-द्वेष करने योग्य नहीं होता । इस प्रकार पहले जिन गुणों का कथन हुआ है, उन गुणों से शोभित होता हुआ साधु श्रमण या सममना कहा जाता है । भिक्षु का तात्पर्य भिक्षणशील-भिक्षोपजीवी साधु है । अथवा जो आठ प्रकार के कर्मों को भिन्न-छिन्न भिन्न करता है, नष्ट कर डालता है, वह भिक्षु है अर्थात् दमनशीलता-जितेन्द्रियता आदि गुणों से युक्त साधु भिक्षु कहा जाता है । वह बाहरी तथा भीतरी ग्रंथियों के अभाव के कारण-उनको मिटा देने के कारण निर्ग्रन्थ कहा जाता है अर्थात् जो साधु पूर्ववर्ती पन्द्रह अध्यायों में प्रतिपादित अर्थों का अनुसरण करता है-दांत, द्रव्यभूत तथा व्युत्सृष्ट काय है, वह निर्ग्रन्थ कहे जाने योग्य है ।

भगवान द्वारा यों कहे जाने पर शिष्य प्रश्न करता है-भगवन् ! भदन्त, भयान्त-भय नाशक, भवान्त-भव नाशक जो दांत द्रव्यभूत तथा व्युत्सृष्ट काय है, वह ब्राह्मण, श्रमण, भिक्षु एवं निर्ग्रन्थ क्यों कहा जाता है ? जैसा भगवान ने-आपने प्रतिपादित किया कि ब्राह्मण आदि शब्द साधु के वाचक है । हे महामुने ! हे तीनों कालों के यथार्थ वेत्ता ! हमें आप यह बतलाये-समझाएं ! यों पूछे जाने पर भगवान ने ब्राह्मण आदि चारों अभिधानों-नामों के जो कथञ्चित्-किन्हीं अपेक्षाओं से भिन्न भिन्न हैं क्रमशः उनके प्रवृत्त-प्रयुक्त होने के कारण बतलाते हैं । पूर्ववर्ती अध्ययन में कहे गये अर्थों में वृत्तियुक्त-वर्तनशील होता हुआ वह समस्त पापकर्मों-सावद्य अनुष्ठानों से विरत-निवृत्त रहता है तथा प्रेम-रागमूलक आसक्ति, द्वेष-अप्रीति, कलह-द्वन्द्वाधिकरण, संघर्ष, झगड़ा, अभ्याख्यान-असत् अभियोग, पैशून्य-चुगली, पर गुणासहनता-औरों के गुणों के प्रति असहिष्णुता उसके दोषों का उद्घाटन, पर परिवाद, काकु-विकृत कण्ठध्वनि द्वारा दूसरे पर दोषारोपण, अरति-संयम में चित्त की उद्विग्नता, रति-सांसारिक विषयों में आसक्ति, माया-परवञ्चना-औरों को ठगना, धोखा देना, माया द्वारा कुटिल बुद्धि पूर्वक असत्यभाषण, असत् अर्थ का अभिधान-कथन जैसे गाय को घोड़ा कहना, मिथ्यादर्शन-अतत्त्व में तत्त्वाभिनिवेष-अतत्त्व को तत्त्व मानने का आग्रह अथवा तत्त्व में अतत्त्व की मान्यता । जैसे आत्मा नहीं है, वह नित्य नहीं है, वह कुछ भी नहीं करती, कृत का फलवेदन नहीं करती । मोक्ष नहीं है तथा मोक्ष का उपाय नहीं है। ये मिथ्यात्व के छः स्थान है, इत्यादि । यह सब शल्य हैं । आत्मा में कांटे की भांति चुभने वाले हैं-पीड़ा देने वाले हैं । वह इन सबसे प्रथक् रहता है । ईर्या आदि समितियों को सम्यक् अन्वित होता है-समित होता है । वह परमार्थमूलक हित के साथ वर्तन शील है ! अतः सहित है । अथवा ज्ञान आदि से युक्त होने के कारण वह सहित है तथा वह सर्वदा यत्-संयम के आचरण में यत्नशील रहता है। उसे चाहिये कि वह अपने इस सद्आचरण को कषायों द्वारा निस्सार-सारहीन न बनाये । किसी अपकारी-बुरा करने वाले के

प्रति भी आक्रोश युक्त होकर क्रोध न करे-क्रोध के वशीभूत न हो । उत्कृष्ट-उत्तम तपश्चरण से युक्त होता हुआ भी वह मान-गर्व न करे । कहा है-आठ प्रकार के मद का मंथन करने वाले महापुरुषों ने निर्जरा एवं तपस्या के मद का भी प्रतिषेध किया है । अवशिष्ट-बाकी के मद स्थानों का प्रयत्नपूर्वक परिहार करना चाहिये। इसके उपलक्षण से माया लोभात्मक राग भी नहीं करना चाहिये । इत्यादि गुणों से सुशोभित साधु निस्संदेह माहन शब्द द्वारा वाच्य है । अब श्रमण शब्द के प्रयोग का हेतु प्रकट करते हुए कहते हैं ।

❀ ❀ ❀

एत्थवि समणे अणिस्सिए अणियाणे आदाणं च अतिवायं च मुसावायं च बहिद्धं च कोहं च माणं च मायं च लोहं च पिज्जं च दोसं च इच्चेव जओ जओ आदाणं अप्पणो पद्दोसहेऊ तओ तओ आदाणातो पुव्वं पडिविरते पाणाइवाया सिआदंते दविए वोसट्ठकाए समणेत्ति वच्चे ॥२॥

छाया – अत्रापि श्रमणोऽनिश्रितोऽनिदानः आदानञ्चातिपातञ्च मृषावादञ्च बहिद्धस्य क्रोधञ्च, मानञ्च, मायाञ्च लोमञ्च प्रेम च इत्येव यतो यत आदान मात्मनः प्रद्वेषहेतुन् ततस्तत आदानात् पूर्वं प्रतिविरतः प्राणातिपातात् स्याद् दान्तः द्रव्यः व्युत्सृष्टकायः श्रमण इति वाच्यः ।

अनुवाद – जो साधु अनिश्रित-दैहिक आसक्ति रहित, अनिदान-सांसारिक सुखमय फल की कामना से शून्य है, प्राणातिपात, मृषावाद, अब्रह्मचर्य, तथा परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रेम-राग, द्वेष नहीं करता तथा जिन जिन से आदान-कर्मबंध होता है, आत्मा-प्रद्वेष हेतु द्वेष का कारण या पात्र बनता है । उन कार्यों से प्रतिनिवृत्त होकर-हटकर दांत-इन्द्रिय विजेता मोक्ष पथगामी तथा देहातीत बन जाता है वह श्रमण शब्द से वाच्य है ।

टीका – अत्राप्यनन्तरोक्ते विरत्यादिके गुणसमूहे वर्तमानः श्रमणोऽपि वाच्यः एतद्गुणयुक्तेनापिभाव्यमित्याह-निश्चये नाधिक्येन वा 'श्रितो' निश्रितः न निश्रितोऽनिश्रितः-क्वचिच्छरीरादावप्यप्रतिबद्धः, तथा न विद्यते निदानमस्येत्यनिदानोनिराकाङ्क्षोऽशेषकर्मक्षयार्थी संयमानुष्ठाने प्रवर्तेत, तथाऽऽदीयतेस्वीक्रियतेऽष्टप्रकारं कर्म येन तदादानं-कषायाः परिग्रहः सावद्यानुष्ठानं वा, तथाऽतिपातनमतिपातः, प्राणातिपात इत्यर्थः, तं च प्राणातिपातं ज्ञपरिज्ञया ज्ञात्वा प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेद्, एवमन्यत्रापि क्रिया योजनीया । तथा मृषा-अली को वादो मृषावादस्तं च, तथा 'बहिद्धं'ति मैथुनपरिग्रहौ तौ च सम्यक् परिज्ञाय परिहरेत् । उक्ता मूलगुणाः, उत्तर गुणानधिकृत्याह-क्रोधम्-अप्रीतिलक्षणं मानं-स्तम्भात्मकं मायां च परवञ्चनात्मिकां लोभं-मूर्च्छास्वभावं तथा प्रेम-अभिष्वङ्गलक्षणं तथा द्वेषं-स्वपरात्मनोर्बाधारूपमित्यादिकं संसारावतरणमार्गं मोक्षाध्वनोऽपध्वंसकं सम्यक् परिज्ञाय परिहरेदिति। एवमन्यस्मादपि यतो यतः कर्मोपादानाद्-इहामुत्र चानर्थहेतोरात्मनोऽपायं पश्यति प्रद्वेषहेतूश्च ततस्ततः प्राणातिपातादिकानर्थदण्डादादानात् पूर्वमेवअनागतमेवात्महितमिच्छन् प्रति विरतोभवेत्-सर्वस्मादनर्थहेतुभूतादुभय लोक विरुद्धाद्वा सावद्यानुष्ठानान्मुमुक्षुविरंतिं कुर्यात् । यश्चैवंभूतो दान्तः शुद्धो द्रव्यभूतो निष्प्रतिकर्मतया व्युत्सृष्टकायः स श्रमणो वाच्यः ॥२॥

टीकार्थ – पहले वर्णित विरति आदि गुण समूह से युक्त साधु श्रमण शब्द द्वारा वाच्य है । वह श्रमण के गुणों से युक्त हो यह अपेक्षित है । सूत्रकार इस संदर्भ में प्रतिपादित करते हैं, जो किसी में-किसी पदार्थ में निश्चित रूप से-अधिकता से श्रित-टिका होता है, अवस्थित होता है उसे निश्रित कहा जाता है । जो शरीर आदि में अप्रतिबद्ध-अनासक्त होता है उसे अनिश्रित कहा जाता है । जिसके निदान-फल की अभिलाषा नहीं होती है वह अनिदान कहा जाता है । वह निराकांक्ष-आकांक्षा रहित होता हुआ समग्र कर्मों के क्षय का उद्देश्य लिये संयम के अनुष्ठान अनुसरण में प्रवृत्त रहे । जिससे आठ प्रकार के कर्म ग्रहण किये जाते हैं, स्वीकार किये जाते हैं या बांधे जाते हैं, उसे निदान कहा जाता है । कषाय, परिग्रह अथवा सावद्य अनुष्ठान-पापाचरण निदान के अन्तर्गत हैं । अतिपातन या अतिपात-हिंसा को प्राणातिपात कहा जाता है । उसको ज्ञपरिज्ञा द्वारा जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा द्वारा छोड़ना चाहिये । इस प्रकार अन्यत्र भी क्रियाओं को योजित करना चाहिये । असत्य बोलना मृषावाद है । अब्रह्मचर्य तथा परिग्रह को 'बहिद्ध' कहा जाता है, इन्हें सम्यक् परिज्ञात कर त्याग देना चाहिये । मूल गुण कहे जा चुके हैं । अब उत्तर गुणों को अधिकृत कर कहा जाता है । अप्रीति को क्रोध, स्तम्भ-घमण्ड को मान, प्रवञ्चना को माया, मूर्च्छा को लोभ तथा अनुराग को प्रेम एवं अपने तथा अन्य के लिये उपस्थापित बाधा को द्वेष कहा जाता है । ये संसार में अवतीर्ण होने के-उतरने या आने के मार्ग हैं । मोक्ष मार्ग के अपध्वंसक-नाशक है । इसलिये इन्हें सम्यक् परिज्ञात कर छोड़ देना चाहिये । इसी प्रकार अन्य भी जो जो कर्मों के उपादान हैं-कर्म बंधने के कारण हैं, इस लोक में और परलोक में अनर्थ के हेतु हैं । आत्मा के लिये अपाय विघ्न या कष्टकर हैं एवं प्रद्वेष के कारण हैं । उन्हें वह देखता है-समझता है । तथा प्राणातिपात आदि अनर्थ दण्ड-निरर्थक पाप युक्त कार्य हैं । आत्मा का हित-कल्याण चाहते हुए उसे उनसे पहले ही प्रतिवृत्त हो जाना चाहिये-हट जाना चाहिये । इस लोक एवं परलोक दोनों के विरुद्ध सावद्य पाप युक्त कार्य रूप अनर्थ दण्ड से मोक्षाभिलाषी पुरुष को दूर हट जाना चाहिये । ऐसा दान्त, शुद्ध संयमानुगत तथा बाह्य साज सज्जा से रहित देहातीत पुरुष श्रमण शब्द द्वारा वाच्य है ।

❀ ❀ ❀

एत्थवि भिक्खू अणुन्नए विणीए नामए दंते दविए वोसट्ठकाए संविधुणीय विरुवरुवे परीसहोवसग्गे अज्झप्पजोगसुद्धादाणे उवट्ठिए ठिअप्पा संखाए परदत्तभोई भिक्खूत्ति वच्चे ॥३॥

छाया – अत्रापि भिक्षुरनुन्नतो विनीतो नामको दान्तो द्रव्यो व्युत्सृष्टकायः संविधूय विरुपरुपान्परीषहोपसर्गान् अध्यात्मयोगशुद्धादान उपस्थितः स्थितात्मा संख्याय परदत्तभोजी भिक्षुरिति वाच्यः ।

अनुदान – जो साधु अनुन्नत-अभिमान रहित, पूर्वोक्त गुण सहित विनीत, नम्रतायुक्त, जितेन्द्रिय, संयम पथानुगत, देहासक्तिविहीन होता है, वह भिन्न भिन्न प्रकार के परीषहों एवं उपसर्गों को सहन करता है । अध्यात्म योग द्वारा शुद्ध एवं निर्मल होता है, स्थितात्मा-आत्म भाव में स्थित होता है, वह संसार का स्वरूप जानकर अन्य द्वारा दी गई भिक्षा मात्र से अपना जीवन चलाता है । वह भिक्षु शब्द द्वारा वाच्य है ।

टीका – साम्प्रतं भिक्षुशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तमधिकृत्याह-'अत्रापी'ति, ये ते पूर्वमुक्ताः पापकर्म विरत्यादयो माहन शब्द प्रवृत्तिहेतवोऽत्रापि भिक्षुशब्दस्य प्रवृत्ति-निमित्ते त एवावगन्तव्याः, अमीचान्ये, तद्यथा-न उन्न-

तोऽनुन्नतः, तत्र द्रव्योन्नतः शरीरेणोच्छ्रितः भावोन्नतस्त्वभिमानग्रहग्रस्तः, तत्प्रतिषेधात्तपोनिर्जरामदमपि न विधत्ते । विनीतात्मतया प्रश्रयवान् यतः, एतदेवाह-विनयालङ्कृतो गुर्वादावादेशदानोद्यतेऽन्यदा वाऽऽत्मानं नामयती ति नामकः-सदा गुर्वादौ प्रह्वो भवति, विनयेन वाऽष्टप्रकारं कर्म नामयति, वैयावृत्त्योद्यतोऽशेषं पापमपनयती-त्यर्थः । तथा 'दान्तः' इन्द्रियनोइन्द्रियाभ्यां, तथा 'शुद्धात्मा' शुद्धद्रव्यभूतो निष्प्रतिकर्मतया 'व्युत्सृष्टकायश्च' परित्यक्तदेहश्च यत्करोति तद्दर्शयति-सम्यक् 'विधूय' अपनीय 'विरुपरूपान्' नानारूपाननुकुलप्रतिकूलान्-उच्चावचान् द्वाविंशतिपरीषहान् तथा दिव्यादिकानुपसर्गाश्चेति, तद्विधूननं तु यत्तेषां सम्यक् सहनं-तैरपराजितता, परीषहोपसर्गाश्च विधूयाध्यात्मयोगेन-सुप्रणिहितान्तः करणतया धर्मध्यानेन शुद्धम्-अवदातमादानंचारित्रं यस्य स शुद्धादानो भवति । तथा सम्यगुत्थानेन-सच्चारित्रोद्यमेनोत्थितः तथा स्थितो-मोक्षाध्वनि व्यवस्थितः परीषहोपसर्गैरप्यधृष्य आत्मा यस्य स स्थितात्मा, तथा 'संख्याय' परिज्ञायासारतां संसारस्य दुष्प्रापतां कर्मभूमेर्बोधेः सुदुर्लभत्वं चावाप्य च सकलां संसारोत्तरणसामग्रीं सत्संयमकरणोद्यतः परैः-गृहस्थैरात्मार्थं निर्वर्तितमाहारजातं तैर्दत्तं भोक्तुं शीलमस्य परदत्तभोजी, स एवंगुणकलितो भिक्षुरिति वाच्यः ॥३॥ तथाऽत्रापि गुणगणे वर्तमानो निर्ग्रन्थ इति वाच्यः, अमी चान्ये अपदिश्यन्ते, तद्यथा -

टीकार्थ – अब भिक्षु शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त कारण बतलाते हुए सूत्रकार कहते हैं -

महान् शब्द की प्रवृत्ति या प्रयोग के हेतु भूत जिन पाप कर्म विरति आदि विशेषताओं की चर्चा की गई है । वे सभी भिक्षु शब्द की प्रवृत्ति के भी कारण हैं यह जानना चाहिये । तथा इनके अतिरिक्त और भी गुण हैं, वे इस प्रकार है । जो उन्नत-उद्यत या अभिमान युक्त नहीं होता है उसे अनुन्नत कहा जाता है । द्रव्योन्नत तथा भावोन्नत के रूप में वह दो प्रकार का होता है । जो शरीर से उच्छ्रित-उद्यत होता है वह द्रव्योन्नत है, जो भाव से उद्यत या अभिमान के ग्रह से ग्रस्त है-अभिमानी हैं वह भावोन्नत है । इसका यहां निषेध किया गया है । इससे यह फलित होता है कि तपस्या तथा निर्जरा का भी वह अभिमान नहीं करता । वह विनयशील प्रश्रयवान होता है । वही भिक्षु है । सूत्रकार प्रतिपादित करते हैं कि जो विनय से अलंकृत सुशोभित होता है, गुरु आदि द्वारा आदेश देते समय या अन्य समय विनम्र रहता है अर्थात् गुरु आदि पूज्य जनों के प्रति सदा नम्रतापूर्ण व्यवहार करता है अथवा विनय द्वारा आठ प्रकार के कर्मों नम्र करता है-मिटाता है तथा सेवा में उद्यत रहता हुआ समस्त पाप क्षीण करता है । वह इन्द्रिय व मन को जीत लेता है । आत्मा में शुद्ध भाव लिये रहता है । बाहरी साज सज्जा का त्याग करता हुआ देहातीत होता है । वह विविध प्रकार के अनुकूल-प्रिय, अप्रिय-प्रतिकूल-अप्रियाप्रिय-ऊँचे नीचे बाईस परिषहों को तथा देवादिकृत उपसर्गों को सहन करता है। उनका विधूनन-नाश करता है । उनसे पराजित नहीं होता अर्थात् परिषहों उपसर्गों को अध्यात्म योग द्वारा, धर्म ध्यान द्वारा मिटा देता है और शुद्ध चारित्र का परिपालन करता है । वह सम्यक् उत्थान-उत्तम चारित्र द्वारा धर्मोद्यित होता है तथा मोक्ष के मार्ग में व्यवस्थित होता है । वह परिषहों और उपसर्गों को धर्षित-तिरस्कृत कर आत्म भाव में स्थिर रहता है । वह संसार की असारता-सारहीनता को एवं कर्मभूमि में बोधि की-सम्यक्दर्शन की दुष्प्राप्यता को जानकर संसार को पार करने की समग्र धर्मोपयोगी सामग्री को प्राप्त कर उत्तम संयम की साधना में समुद्यत होता है । गृहस्थों द्वारा अपने लिये तैयार किये गये भोजन में से दी गई भिक्षा के आधार पर वह निर्वाह करता है । इस प्रकार जो गुणों से कलित-शोभित होता है, वह भिक्षु शब्द द्वारा अभिधेय है । जो इन गुणों में वर्तमान रहता है-इनसे युक्त होता है, वह निर्ग्रन्थ शब्द से वाच्य है । उसके लिये अपेक्षित कुछ अन्य गुण भी बताये जाते है । वे इस प्रकार हैं -

❀ ❀ ❀

एत्थवि णिग्गंथे एगे एगविऊ बुद्धे संछिन्नसोए सुसंजते सुसमिते सुसामाइए आयवायपत्ते विउ दुहओवि सोयपलिच्छिन्ने णो पूयासक्कार लाभट्ठी धम्मट्ठी धम्मविऊ णियागपडिवन्ने समि (म) यं चरे दंते दविए वोसट्ठकाए निग्गंथेत्ति वच्चे से एवमेव जाणह जमहं भयं तारो ।।त्तिबेमि।। इति सोलसमं गाहानामज्झयणं समत्तं ।।पढ़मो सुअक्खंधो समत्तो ।।१।।

छाया – अत्राऽपि निग्रन्थः एकः एकविद् बुद्धः संछिन्नस्रोताः सुसंयतः सुसमितः सुसामायिकः आत्मवादप्राप्तः विद्वान् द्विधाऽपि स्रोतः परिच्छिन्नः नो पूजा सत्कार लाभार्थी धर्मविद् नियागप्रतिपन्नः समतां चरेद् दान्तः द्रव्यः व्युत्सृष्टकायः निग्रन्थ इति वाच्यः तदेवमेव जानीत यदहं भयत्रातारः ।इति ब्रवीमि।।

अनुवाद – यहां पूर्वोक्त भिक्षु के गुण निर्ग्रन्थ में अपेक्षित है-उनके अतिरिक्त अन्य गुण इस प्रकार हैं, जो एक-एकाकी अकेला या रागद्वेष रहित है, एकविद्-आत्मा अकेली ही जाती है, वह जानता है । बुद्ध-जो वस्तु स्वरूप का परिज्ञाता है, संछिन्नस्रोत-जिसने आश्रवों के स्रोत-द्वार, अवरुद्ध कर दिये हैं, सुसंयत-श्रेष्ठ, उत्तम, संयमयुक्त है, सुसमित-जो पांच समिति युक्त है, सुसामायक-जो समत्व भाव संवलित है, आत्मवाद प्राप्त-आत्मा के सत्यस्वरूप का ज्ञाता है, विद्वान्-समस्त पदार्थों के स्वभाव का दृष्टा है, जिसने द्रव्य एवं भाव दोनों ही प्रकार के स्रोत-कर्म आगमन के द्वारों का उच्छेद कर दिया है, जो सम्मान सत्कार एवं लाभ का इच्छुक नहीं है । वरन् एकमात्र धर्मार्थी-धर्म का अर्थी, इच्छुक है, धर्मविद्-धर्म के स्वरूप को जानता है, नियाग प्रतिपन्न-जो मोक्ष के मार्ग को प्राप्त कर चुका है, जो समभाव से विचरणशील हैं, जो दांत-इन्द्रिय विजेता द्रव्यभूत-युक्ति मार्गानुयायी, व्युत्सृष्टकाय-दैहिक आसक्ति से अतीत होता है । वह निर्ग्रन्थ पद से वाच्य है । तुम इसे इसी प्रकार जानो, आत्मसात् करो, जो मैंने कहा है क्योंकि वह भयत्राता-सांसारिक प्राणियों को जन्म मरण के भय से रक्षा करने वाले सर्वज्ञ तीर्थंकर अन्यथा भाषण नहीं करते । मैं ऐसा कहता हूं ।

टीका – 'एको रागद्वेषरहिततया ओजाः, यदिवाऽस्मिन् संसारचक्रवाले पर्यटन्नसुमान् स्वकृतसुख दुःखफलभाक्त्वेनैकस्यैव परलोकगमनतया सदैकक एव भवति । तत्रोद्यतविहारी द्रव्य तोऽप्येक को भावतोऽपि, गच्छान्तर्गतस्तु कारणिको द्रव्यतो भाज्यो भावतस्त्वेकक एव भवति । तथैवमेवात्मानं परलोकगामिनं वेत्तीत्येकवित्, मे कश्चिद्दुःखपरित्राणकारी सहायोऽरूपीत्येवमेव वित् यदिवैकान्तविद्-एकान्तेन विदित संसार स्वभावतया मौनीन्द्रमेव शासनं तथ्यं नान्यदित्येवं वेत्तीत्येकान्तवित्, अथवैको-मोक्षः संयमो वा तं वेत्तीति, तथा बुद्धः -अवगततत्त्वः सम्यक्छिन्नानि अपनीतानि भावस्रोतांसिसंवृतत्वात्कर्माश्रवद्वाराणि येन स तथा, सुष्ठु संयतः कूर्मवत्संयतगात्रो निरर्थककायक्रियारहितः सुसंयतः, तथा सुष्ठु पंचभिः समितिभिः सम्यगितः-प्राप्तो ज्ञानादिकं मोक्षमार्गमसौ सुसमितः, तथा सुष्ठु समभावतया सामायिकं-समशत्रुमित्रभावो यस्य स सुसामायिकः । तथाऽऽत्मनः-उपयोग लक्षणस्य जीवस्यासंख्येय-प्रदेशात्मकस्य संकोचविकाशभाजः स्वकृतफलभुजः प्रत्येक साधारणशरीरतया व्यवस्थितस्य द्रव्यपर्यायतया नित्यानित्याद्यनन्तधर्मात्मकस्य वा वाद आत्मवा दस्तं प्राप्त आत्मवादप्राप्तः, सम्यग्यथावस्थितात्मस्वतत्त्ववेदीत्यर्थः । तथा 'विद्वान' अवगतसर्वपदार्थस्वभावी न व्यत्ययेन पदार्थानवच्छति ।

ततो यत् कैश्चिदभिधीयते, तद्यथा-एक एवात्मा सर्वपदार्थस्वभावतया विश्वव्यापी श्यामाकतण्डुलमात्रोऽङ्गुष्ठपर्वपरिमाणो वेत्यादिकोऽसद्भूताभ्युपगमः परिहृतो भवति, तथाविधात्मसद्भावप्रतिपादकस्य प्रमाणस्याभावादित्यभिप्रायः । तथा 'द्विधाऽपी'ति द्रव्यतो भावतश्च, तत्र द्रव्यस्रोतांसि स्रोतांसि यथास्वं विषयेष्विन्द्रिय प्रवृत्तयः भावस्रोतांसितु शब्दादिष्वेवानुकूलप्रतिकूलेषु रागद्वेषोभवास्तान्युभयरुपाण्यापिस्रोतांसि संवृतेन्द्रियतया रागद्वेषाभावाच्च परिच्छिन्नानि येन स परिच्छिन्नस्रोताः, तथा नो पूजासत्कारलाभार्थी किन्तु निर्जरापेक्षी सर्वास्तपश्चरणादिकाः क्रिया विदधाति, एतदेव दर्शयति-धर्मः-श्रुतचारित्राख्यस्तेनार्थः स एव वाऽर्थो धर्मार्थः स विद्यते यस्यासौ धर्मार्थीति, इदमुक्तं भवति-न पूजाद्यर्थं क्रियासु प्रवर्तते अपितु धर्मार्थीति । किमिति ? यतो धर्मं यथावत्तत्फलानि च स्वर्गावाप्तिलक्षाणनि सम्यक् वेत्ति, धर्मं च सम्यग् जानानो यत्करोति तद्दर्शयति-नियागो-मोक्षमार्गः सत्संयमो वा तं सर्वात्मना भावतः प्रतिपन्न नियागपडिवन्नेत्ति, तथा विधश्च यत्कुर्यात् तदाह-'समि (म) यं' ति समतां समभावरूपां वासीचन्दनकल्पां 'चरेत्' सततमनुतिष्ठेत् । किंभूत सन् ? आह-दान्तो द्रव्यभूतो व्युत्सृष्टकायश्च, एतद्गुणसमन्वितः सन् पूर्वोक्तमाहन श्रमणभिक्षु शब्दानां यत् प्रवृत्तिनिमित्तं तत्समन्वितश्च निर्ग्रन्थ इति वाच्यः । तेऽपि माहनादयः शब्दा निर्ग्रन्थशब्द प्रवृत्तिनिमित्ताविनाभाविनो भवन्ति, सर्वेऽप्येते भिन्नव्यञ्जना अपि कथञ्चिदेकार्था इति ॥५॥

साम्प्रतमुपसंहारार्थमाह-सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिप्रभृतीनुद्दिश्येदमाह-'से' इति तद्यन्मया कथितमेवमेव जानीत यूयं, नान्यो मद्वचसि विकल्पो विधेयः, यस्मादहं सर्वज्ञाज्ञया ब्रवीमि । न च सर्वज्ञा भगवन्तः परहितैकरता भयात्तातारो रागद्वेषमोहान्यतरकारणाभावादन्यथा ब्रुवते, अतो यन्मयाऽऽदितः प्रभृति कथितं तदेवमे वावगच्छतेति। इतिः परिसमाप्त्यर्थे । ब्रवीमीति पूर्ववत् । उक्तोऽनुगमः साम्प्रतं नयाः, ते च नैगमादयः सप्त, नैगमस्य सामान्यविशेषात्मकतया संग्रहव्यवहारप्रवेशात्संग्राहदयः षट्, समभिरूढ़ेत्थंभूतयोः शब्दनयप्रवेशान्नैगम-संग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दाः पञ्चः नैगमस्याप्यन्तर्भावाच्चत्वारो, व्यवहारस्यापि सामान्य विशेषरूपतया सामान्य विशेषात्मनोः संग्रहर्जुसूत्रयो रन्तर्भावात्संग्रहर्जुसूत्रशब्दास्त्रयः, ते च द्रव्यास्तिक पर्यायास्तिकान्तर्भावाद्द्रव्यास्तिकपर्यायास्तिकाभिधानौ द्वौ नयौ, यदिवा सर्वेषामेव ज्ञानक्रिययोरन्तर्भावात् ज्ञानक्रियाभिधानौ द्वौ, तत्रापि ज्ञाननयो ज्ञानमेव प्रधानमाह क्रियानयश्च क्रियामिति । नयानां च प्रत्येकं मिथ्यादृष्टित्वाज्ज्ञानक्रिययोश्च परस्परापेक्षितया मोक्षाङ्गत्वादुभयमत्र प्रधानं, तच्चोभयं सत्क्रियोपेते साधौ भवतीति, तथा चोक्तम् -

"णायम्मि गिण्हियव्वे अगिण्हियव्वंमि चे व अत्थंमि । जइयव्वमेव इति जो उवएसो सो नओ नाम ॥१॥"

छाया - ज्ञाते ग्रहीतव्येऽग्रहीतव्ये चैवार्थे यतितव्यमेवेति य उपदेशः स नयो नाम ॥१॥

"सव्वेसिंपि णयाणं वहुविहवत्तव्वयं णिसामेत्ता । तं सव्वनयविसुद्धं जं चरण गुणट्ठिओ साहू ॥२॥"

छाया - सर्वेषामपि नयानां बहुविधां वक्तव्यतां निशम्यत त्सर्वनयविशुद्धं यच्चरणगुणस्थितः साधुः॥२॥

त्ति, समाप्तं च गाथाख्यं षोडशमध्ययनं, तत्समाप्तौ च समाप्तः प्रथमः श्रुतस्कन्ध इति ॥ (ग्रन्थाग्रम् ८१०६)

टीकार्थ – जो पुरुष राग द्वेष से वर्जित होने के कारण एकाकी-अकेला है अथवा इस संसार चक्र में पर्यटन करता हुआ प्राणी अपने द्वारा किये गये कर्मों के सुख दुःख रूप फल को अकेला ही भोगने के कारण, अकेला ही परलोक में जाने के कारण वह सदा एकाकी या अकेला ही है । जो साधु संयमाचरण में उत्कृष्ट भाव से विहरणशील है, वह द्रव्य और भाव दोनों ही दृष्टियों से एकाकी है । कारणवश गच्छ-संघ के भीतर रहते हुए वह द्रव्य दृष्टि से भाज्य है-संघ का एक भाग है औरों के साथ है किंतु भावदृष्टि से वह अकेला ही होता है । इसी प्रकार जो यह जानता है कि आत्मा एकाकी ही परलोक में जाती है वह एकवित् है । अथवा दुःख से मेरा कोई परित्राण-रक्षण करने वाला सहायक नहीं है, ऐसा जो जानता है, वह

एकवित् है अथवा जो एकान्त वित् है-एकान्त रूप से सुनिश्चित रूप से संसार के स्वरूप को जानता हुआ तीर्थंकर का शासन-उन द्वारा प्रवर्तित धर्म या मोक्ष मार्ग ही सत्य है, अन्य नहीं, ऐसा जो जानता है वह एकान्तवित् है अथवा जो एक मात्र मोक्ष या संयम को जानता है, वह एकान्त वित् है । बुद्ध-जिसने तत्त्वों को अवगत-अधिगत किया है । संछिन्नस्रोत-जिसने कर्म आने के प्रवाह-आश्रवद्वार संवृत-अपनीत कर दिये हैं, रोक दिये है । सुसंयत-जो कछवे की तरह अपने अंगों को सिमेटे हुए है अर्थात् निरर्थक-निष्प्रयोजक कायिक क्रियाओं से विवर्जित है । सुसमित-जो पांचो समितियों से संयुक्त है, ज्ञानादिक मोक्षमार्ग को प्राप्त है । सुसामायक-जो सुष्ठु तथा समभाव में समवस्थित है-शत्रु एवं मित्र में जो समान है, आत्मवाद प्राप्त-जो आत्मवाद को प्राप्त किये हुए हैं, वह आत्मा के यथावत स्वरूप को जानता है । आत्मा का लक्षण उपयोग है, वह असंख्येय प्रदेशात्मक है, संकोच विकास युक्त है, अपने द्वारा किये गये फलों का भोक्ता है, प्रत्येक एवं साधारण शरीर के रूप में व्यवस्थित है, द्रव्य पर्याय नित्य अनित्य आदि अनन्त धर्मात्मक है । विद्वान-जो समस्त पदार्थों के स्वरूप को यथावत् जानता है, विपरीत नहीं जानता । जैसे कइयों का यह कथन है कि आत्मा एक ही है, सर्वपदार्थ स्वभाव होने से वह विश्व व्यापी है । कइयों का यह मत है कि वह श्यामाक-चावल जितना आकार लिये हुए हैं । कई उसे अंगूठे के पर्व-पौर जितना परिमाण मानते हैं । इत्यादि अयथार्थ स्वरूप का स्वीकार परिहत-खंडित हो जाता है, तर्क युक्ति संगत नहीं है क्योंकि वैसी आत्मा के अस्तित्व का प्रतिपादक प्रमाण का अभाव है-वैसा प्रमाण प्राप्त नहीं होता । परिछिन्न स्रोत-उसने कर्म आगमन के स्रोत-द्वार परिछिन्न-अवरुद्ध कर दिये हैं ; द्रव्यस्रोत एवं भावस्रोत के रूप में वे दो प्रकार के हैं, इन्द्रियों की अपने-अपने विषय में प्रवृत्तियां द्रव्य स्रोत है । शब्द आदि में अनुकूल प्रतिकूल होने पर राग द्वेष का उत्पन्न होना भावस्रोत है । उन दोनों प्रकार के स्रोतों को इन्द्रियों का संवरण कर, निरोध कर राग द्वेष के अभाव से, परिछेद-अवरोध कर दिया है । पूजा सत्कार लाभार्थी-पूजा, प्रशस्ति, सत्कार, सम्मान तथा लाभ का अनिच्छुक होते हुए जो केवल निर्जरा की अपेक्षा से समस्त तपश्चरण आदि क्रियाएं करता है । इसी का दिग्दर्शन कराते हुए कहते हैं-वह धर्मार्थी है-श्रुत चारित्र मूलक धर्म ही उसका अर्थ-प्रयोजन या लक्ष्य है । इसका तात्पर्य यह है कि वह प्रशस्ति सम्मान आदि के निमित्त क्रियाओं में प्रवृत्त नहीं होता किंतु धर्म हेतु होता है, ऐसा क्यों ? क्योंकि वह धर्म को तथा स्वर्ग प्राप्ति आदि उसके फलों को भली भांति जानता है । धर्म को सम्यक् जानता हुआ वह जो करता है, उसे दिखलाते हुए कहते हैं, वह नियाग-मोक्ष मार्ग या उत्तम संयम को सर्वात्म भाव से-उत्तम रूप से स्वीकार किये रहता है । वैसा पुरुष जो करता है, उसका प्रतिपादन करते हुए कहते हैं, वह वासी चंदन के तुल्य समता या समभाव का सतत अनुसरण करता है, कैसा होकर ? इस संबंध में बतलाते हैं । दांत-दमनशील या जितेन्द्रिय मोक्षानुगत तथा दैहिक आसक्ति विमुक्त होता हुआ वह पहले बतलाये गये माहन, श्रमण तथा भिक्षु शब्दों की प्रवृत्ति के जो हेतु हैं-गुण हैं, उनसे समन्वित-युक्त होता है । वह निर्ग्रन्थ शब्द से वाच्य-अभिधेय है । वे माहन आदि शब्द भी निर्ग्रन्थ शब्द की प्रवृत्ति के निमित्तों के साथ अविनाभाव सम्बन्ध से जुड़े हुए हैं, ये सभी शब्द रूप में भिन्न है किन्तु अर्थ रूप में एक ही है ।

अब इस अध्ययन का उपसंहार करते हुए सूत्रकार कहते हैं-श्री सुधर्मस्वामी ने जम्बूस्वामी आदि को उद्दिष्ट कर कहा-जो मैंने तुम्हें कहा है, उसे जानो !- मानो ! मेरे वचन में-कथन में किसी प्रकार के विकल्प-संदेह आदि की परिकल्पना मत करो क्योंकि मैंने सर्वज्ञ भगवान के आदेश-उपदेश के अनुसार ही यह कहा है सर्वज्ञ प्रभु सदा दूसरों का कल्याण साधने में निरत रहते हैं । वे प्राणियों को संसार के भय से त्राण देते

हैं । सन्मार्ग का निरूपण कर दुर्गति में जाने से उन्हें बचाते हैं । राग द्वेष तथा मोह में से कोई भी उनमें विद्यमान नहीं है । इसलिये वे अन्यथा-यथार्थ के विपरीत नहीं बोलते-उपदेश नहीं देते । इसलिये मैंने शुरु से लेकर अब तक जो कहा है, उसे तुम लोग ठीक उसी तरह समझो । यहां इति शब्द परि समाप्ति के अर्थ में आया है । ब्रवीमि-बोलता हूं-पूर्ववत् है । अनुगम का प्रतिपादन हो चुका है । अब नयों का निरूपण करते हैं । नैगम आदि सात नय है । नैगम नय सामान्य विशेषात्मक है । इसलिये वह संग्रह और व्यवहार में समाहित हो जाता है । अतः छः नय है । समभिरूढ़ एवं इत्थंभूत नय का शब्द नय में समावेश हो जाने से नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र तथा शब्द ये पांच नय रहते हैं । नैगम का भी व्यवहार में अन्तर्भाव हो जाता है । इसलिये नय चार हो जाते हैं । व्यवहार भी सामान्य विशेषात्मक होने से सामान्य की दृष्टि से संग्रह में और विशेष की दृष्टि से ऋजुसूत्र में अन्तर्भूत हो जाता हैं । इस प्रकार संग्रह ऋजुसूत्र एवं शब्द ये तीन नय रहते हैं । इनका द्रव्यास्तिक एवं पर्यायास्तिक में अन्तर्भाव करने से दो नय होते हैं अथवा सभी नयों का ज्ञान और क्रिया में समावेश करने से ज्ञान एवं क्रिया संज्ञक दो नय होते हैं । उनमें ज्ञान नय ज्ञान को तथा क्रिया नय क्रिया को प्रधान मानता है । पृथक पृथक नय-मात्र एक नय को पकड़कर चलना मिथ्या दृष्टित्व है । ज्ञान तथा क्रिया दोनों का परस्पर अपेक्षित रूप-सम्यक् ज्ञान पूर्वक, सम्यक् क्रिया अथवा सदाचरण मोक्ष का अंग है वही मुख्य है, ये दोनों सत्क्रियोपेत-उत्तम आचरण-संयमयुक्त साधु में प्राप्त होते हैं । कहा है, गृहीतव्य-ग्रहण करने योग्य तथा अगृहीत-व्यग्रहण नहीं करने योग्य पदार्थों के जानने के बाद प्रयोजनभूत-आत्मोपयोगी अनुष्ठान में ही यत्नशील होना चाहिये । ऐसा जो उपदेश है, वही नय है सभी नयों की बहुविध वक्तव्यता-अनेक प्रकार के वचन प्रयोगों को सुनते हुए सर्वनय विशुद्ध सदा आचरण रूप गुण में जो अवस्थित है, वही साधु है ।

॥ गाथा नामक सोलहवां अध्ययन समाप्त हुआ ।

इसके समाप्त होने पर सूत्रकृताङ्ग सूत्र का प्रथम श्रुत स्कन्ध समाप्त हुआ ॥

❀ ❀ ❀

卐 卐 卐

टीकानुवादक एवं विवेचक
ओजस्वीवक्ता श्रद्धेय प्रियदर्शन मुनिजी

✪ पौष सुदी २२ वि. सं. २०३० को राताकोट ग्राम में श्रीमान् जीवराजजी सा. कूमट के आत्मज श्री माणकचन्दजी ने जन्म लेकर धर्मानुरागिणी माता श्रीमती बादामबाई जी की रत्नप्रसविनी कुक्षि को सफल बनाया।

✪ प्रखर प्रतिभा के धनी श्री माणकचन्दजी बाल्यकाल में सुशिक्षा, सुसंस्कारों को ग्रहण करने में तल्लीन रहे। तभी से संसार में रहते हुए भी मन से विरक्त वे विनय-विवेक-विनम्रता के उपासक बने रहे। माता-पिता द्वारा दिए गए धार्मिक संस्कार श्रद्धेय आचार्य प्रवर श्री सोहनलालजी म. सा. का सान्निध्य पाकर पल्लवित, पुष्पित हुए एवं वि. सं. २०४१ में माघसुदी १० को बिजयनगर में आर्हती दीक्षा अंगीकार कर 'मुनि प्रियदर्शन' बनकर मोक्षमार्ग के सार्थवाह बन गए।

✪ हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं का अध्ययन कर न्याय, दर्शन, आगम, साहित्य-शास्त्र का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त करने में संलग्न हो गए। सम्यग् संयमाराधना के महापथ पर नीर सदृश निरन्तर गतिशील रहते हुए 'ओजस्वीवक्ता' का यशोपार्जन किया।

✪ शुभदृष्टा, शुभस्रष्टा, शुभकर्ता श्रद्धेय प्रियदर्शन मुनिजी महाराज का व्यक्तित्व सौहार्द्रता, सहिष्णुता व निश्छलता का प्रतीक रहा। 'यथा अंतो तथा बहिः' की उक्ति को अपने जीवन-व्यवहार से सार्थक किया।

✪ 'पुण्य के पथ पर' उपन्यास के यशस्वी रचनाकार के रूप में अपने कृतित्व को नए आयाम दिए हैं, वहीं 'अतीत की स्मृतियाँ' के रूप में श्रद्धेय आचार्य प्रवर श्री सोहनलालजी म. सा. के जीवन-संस्मरण प्रस्तुतकर अपने आराध्यदेव के चरणों में श्रद्धा-अभिव्यक्त की है।

✪ ✪ ✪

डॉ. छगनलालजी शास्त्री
एम. ए. (त्रय) पी.एच.डी.
काव्यतीर्थ, विद्यामहोदधि, निम्बार्क भूषण

भारतीय वाङ्मय, आर्हत दर्शन और साहित्य के राष्ट्रविश्रुत मर्मज्ञ प्रो. डॉ. छगनलालजी शास्त्री एक ऐसे विद्याव्यासंगी प्रबुद्ध मनीषी हैं, जिनके जीवन का क्षण-क्षण विगत पाँच दशाब्द से सारस्वताराधना में संलग्न हैं। डॉ. शास्त्री जी ने 'रिसर्च इन्स्टीट्यूट ऑफ प्राकृत जैनोलॉजी एवं अहिंसा, वैशाली तथा मद्रास विश्वविद्यालय चैन्नई जैसे उच्चतम शिक्षण-केन्द्रों में यशस्वी प्राध्यापक के रूप में अपनी सेवाएँ देते हुए युवा विद्वानों की एक सक्षम टीम तैयार की है जो देश के विभिन्न भागों में सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक क्षेत्र में कार्यशील हैं। साथ ही साथ अनेक साधु-साध्वियों ने भी डॉ. शास्त्रीजी से अध्ययन एवं शोधकार्य में मार्गदर्शन प्राप्त कर असाधारण विद्वत्ता समर्जित की है।

डॉ. शास्त्रीजी का साहित्य कृतित्व, उन द्वारा संपादित, अनूदित एवं व्याख्यात लगभग तीन दर्जन पुस्तकों के रूप में सुविदित है। प्रस्तुत कृति इसी शृंखला में एक महनीय अभिवृद्धि है।

✪ ✪ ✪

उरालं जगओ जोयं, विपरीयासं पलेंति य ।
सव्वे अक्कंत दुक्खाय, अतो सव्वे अहिंसिया ॥
सूत्र. १/४/८४

(औदारिक त्रस-स्थावर जीव रूप) जगत् का (बाल्य, यौवन, वृद्धत्व आदि) संयोग-अवस्थाविशेष अथवा योग [illegible] दार-स्थूल है-इन्द्रिय [illegible] होते हैं तथा सभी [illegible] अकान्त-अप्रिय है [illegible] नहीं-हैं ।

[illegible]

काम-भोगों (की तृष्णा) में और माता-पिता, स्त्री-पुरुष आदि) परिचित जनों में गृद्ध-आसक्त प्राणी (कर्म विपाक के समय) अवसर आने पर अपने कर्म का फल भोगते हुए आयुष्य का क्षय होने पर ऐसे टूटते (मर जाते) हैं, जैसे बन्ध से छूटा हुआ तालफल (ताड़ का फल) नीचे गिर जाता है ।

सव्वाइं संगाइं अइच्च धीरे, सव्वाइं दुक्खाइं तितिक्खमाणे ।
अखिले अगिद्धे अणिएयचारी, अभयंकरे भिक्खू अणाविलप्पा ॥
सूत्र. ७/४०८

धीर साधक सर्व (सभी-आसक्तिपूर्ण संबंधों) से अतीत (परे) होकर सभी परीषहोपसर्गजनित शारीरिक, मानसिक दुःखों को (समभावपूर्वक) सहन करता हुआ (विशुद्ध संयम का तभी पालन कर सकता है जब वह अखिल (ज्ञान, दर्शन, चारित्र से पूर्ण) हो, अगृद्ध (विषयभोगों में अनासक्त) हो, अनियतचारी (अप्रितबद्धविहारी) और अभयंकर (जो न स्वयं भयभीत हो और न दूसरों को भयभीत करे) तथा जिसकी आत्मा विषय-कषायों से अनाविल (अनाकुल) हो ।

If undelivered, please return to :

-मुद्रक : 'निओ' अजमेर